आर्यसमाज का इतिहास

प्रथम भाग

(प्रारम्भ से सन् १८८३ तक)

लेखक
डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, डी. लिट. (पेरिस)
तथा
प्रो. हरिदत्त वेदालंकार, एम. ए.
(सातवाँ और अठारहवाँ अध्याय
तथा बीसवें अध्याय का द्वितीय प्रकरण)

1982

प्रकाशक
आर्य स्वाध्याय केन्द्र
ए-१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव,
नयी दिल्ली-२९

प्रकाशक :
आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नयी दिल्ली
(सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में गठित)
ए-१/३२, सफदरजंग इन्कलेव,
नयी दिल्ली-११००२६

प्रधान सम्पादक—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट० (पेरिस)
(भूतपूर्व वाइस-चान्सलर व प्रोफेसर इतिहास, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय)

मुद्रक :
अजय प्रिण्टर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२
(भारत)

निवेदन

सदियों की मोह निद्रा के पश्चात् उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में पुन:जागरण (Renaissance) और धार्मिक सुधारणा (Reformation) के जिन आन्दोलनों का सूत्रपात भारत में हुआ, महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज का उनमें प्रमुख कर्तृत्व था। दयानन्द आधुनिक भारत के सबसे महान् चिन्तक थे। धर्म, दर्शन, समाज संगठन, राज्यसंस्था और आर्थिक व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में जो विचार उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किए हैं, उनसे न केवल भारत, अपितु सम्पूर्ण विश्व व मानवसमाज का वास्तविक हित-कल्याण हो सकता है। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना इसी प्रयोजन से की थी, कि उस द्वारा 'संसार का उपकार' व 'सब मनुष्यों का हित' किया जाए। पर वे यह भी मानते थे, कि भारत संसार का सर्वश्रेष्ठ देश है, किसी समय यह विश्व का शिरोमणि रहा है, और सत्य सनातन वैदिक धर्म के पुन:स्थापन द्वारा यह देश एक बार फिर संसार का नेतृत्व कर सकता है, और मानवमात्र को सुख-शान्ति, उन्नति एवं समृद्धि का मार्ग प्रदर्शित कर सकता है। उन्नीसवीं सदी में ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज आदि सुधार के जिन अन्य आन्दोलनों का भारत में सूत्रपात हुआ था, उनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा। विश्वव्यापी आन्दोलन के स्वरूप की प्राप्ति का तो प्रश्न ही क्या, वे भारत के भी बहुत थोड़े ही प्रदेश तथा जनता के बहुत थोड़े वर्ग को प्रभावित कर सके। लेकिन आर्यसमाज ने शीघ्र ही एक जन आन्दोलन का रूप प्राप्त कर लिया। भारत का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं रहा, जहाँ आर्यसमाजों की स्थापना न हुई हो। भारत के बाहर अफ्रीका, मारीशस, फिजी, सुरीनाम, गुयाना, ग्रेट ब्रिटेन, कानाडा, हालैण्ड, सिंगापुर, थाईलैण्ड आदि कितने ही देशों में आर्यसमाज स्थापित हो चुके हैं, और देश-विदेश के इन आर्यसमाजों की संख्या अब पाँच हजार के लगभग पहुँच गयी है। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रारम्भ किये गए वैदिक धर्म के पुनरुत्थान तथा समाज सुधार के आन्दोलन के इस विस्तार व प्रसार में केवल एक शताब्दी के लगभग का स्वल्प समय लगा है, जो वस्तुत: अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

आर्यसमाज का क्षेत्र जनता के किसी एक वर्ग तक ही सीमित नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ऊँची समझी जाने वाली जातियों के लोगों के साथ-साथ अछूत या दलित (हरिजन) जातियों के लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में आर्यसमाज में सम्मिलित हैं, और इस समाज में सम्मिलित हो जाने पर उनका 'अस्पृश्यता' का दोष स्वयं दूर हो जाता है। सामाजिक कुरीतियों के निवारण, पाखण्ड के खण्डन, अन्धविश्वासों और मिथ्या रूढ़ियों के निराकरण, स्त्रीशिक्षा, अछूतोद्धार, सामाजिक न्याय और समता की स्थापना, स्वदेशी और राष्ट्रीयता की भावनाओं के विकास आदि के लिए जो ठोस कार्य पिछली एक शताब्दी में आर्यसमाज द्वारा किया गया है, वह शायद किसी अन्य संस्था या संगठन द्वारा नहीं किया गया। आज भारत जो स्वतन्त्र है, यहाँ के जनसाधारण में जो राष्ट्रीय

चेतना, अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति गर्व की अनुभूति और आत्म-गौरव विद्यमान हैं, इस सबका बहुत कुछ श्रेय आर्यसमाज को दिया जा सकता है। आर्यसमाज द्वारा जिस व्यापक जन-आन्दोलन का प्रारम्भ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया था, उसके कारण जनता में जागृति उत्पन्न हुई और वह चिरनिद्रा से जागकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रवृत्त हो गयी। पर खेद है कि आधुनिक भारतीय इतिहास के लेखकों ने देश के नवजागरण का वृत्तान्त लिखते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज के प्रति न्याय नहीं किया है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि अभी तक ऐसे उच्च कोटि के ग्रन्थ पर्याप्त संख्या में नहीं लिखे गए, जिनमें कि महर्षि के मौलिक चिन्तन व मन्तव्यों का वैज्ञानिक ढंग से निरूपण किया गया हो और जिन द्वारा भारत के नवजागरण के सम्बन्ध में आर्यसमाज के कर्तृत्व पर उस शैली से प्रकाश डाला गया हो जो कि आधुनिक इतिहास लेखकों द्वारा अपनायी जाती है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर यह विचार किया गया, कि आर्यसमाज का एक विस्तृत इतिहास लिखा जाए जिसमें कि स्पष्ट व वैज्ञानिक ढंग से यह प्रकाश में लाया जाए कि आर्यसमाज की स्थापना किन परिस्थितियों में और किन उद्देश्यों को सम्मुख रखकर की गयी, उसका प्रसार व प्रचार किस प्रकार हुआ, कैसे उसके कार्यक्षेत्र में निरन्तर वृद्धि होती गयी, भारत में उसके द्वारा कैसे जन-जागरण उत्पन्न हुआ, समाज सुधार तथा शिक्षा के क्षेत्रों में उसने क्या महत्त्वपूर्ण कार्य किया, देश को स्वतन्त्रता तथा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए आर्यसमाज और उसके सभासदों का क्या योगदान रहा, किस प्रकार उसने एक विश्व-व्यापी संगठन का रूप प्राप्त कर लिया और अपने महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अभी आर्यसमाज को क्या-कुछ करना है। इस प्रकार के विस्तृत इतिहास के प्रकाशन से जहाँ महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज द्वारा किये गए महत्त्वपूर्ण कार्य के प्रति विश्व के उद्‌बुद्ध व सुशिक्षित लोगों का ध्यान आकृष्ट होगा, वहाँ साथ ही आर्यसमाज के विद्वान्, नेता तथा कार्यकर्ता भविष्य के लिए प्रेरणा भी प्राप्त कर सकेंगे।

पर आर्यसमाज के विस्तृत इतिहास को तैयार करने का कार्य इतना महान् है कि कोई एक लेखक अकेले इस इतिहास को नहीं लिख सकता। इसके लिए अनेक विद्वानों को परस्पर सहयोग से काम करना होगा। आर्यसमाज के इतिहास की आवश्यक सामग्री एकत्र करने के लिए अत्यधिक श्रम करना पड़ेगा और प्रचुर मात्रा में धन की भी आवश्यकता होगी। आर्यसमाज की स्थापना हुए एक शताब्दी से अधिक हो चुका है। इस काल के पूर्वार्द्ध में जो आर्य साहित्य प्रकाशित हुआ और जो पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रहीं, उन्हीं में वह सामग्री विद्यमान है जिसका उपयोग कर आर्यसमाज के प्रसार तथा कार्यकलाप का वृत्तान्त लिख सकना सम्भव है। पर दुर्भाग्यवश यह साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाएँ इस समय प्रायः अप्राप्य हैं, यद्यपि कतिपय आर्य परिवारों व पुस्तकालयों से इन पुरानी पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें या उनके कुछ अंश और पुराना आर्य साहित्य अब भी प्राप्त किया जा सकता है। सरकारी रिकार्डों में भी इस साहित्य के कतिपय अंशों की सत्ता सम्भव है। गत एक शताब्दी में भारत तथा ब्रिटेन के विविध समाचार-पत्रों में आर्यसमाज की गतिविधि तथा कार्यकलाप का जो उल्लेख होता रहा है और उसकी जो विवेचना की जाती रही है, उस सबको संकलित करना भी आर्यसमाज के इतिहास के लिए बहुत उपयोगी है। पर इस सबके लिए बहुत परिश्रम करना होगा, और इस कार्य

में व्यय भी बहुत होगा। कोई भी एक व्यक्ति न इतना श्रम कर सकता है और न आवश्यक धन ही जुटा सकता है। अतः यह विचार किया गया, कि इस महत्त्वपूर्ण व आवश्यक कार्य के सम्पादन के लिए 'आर्य स्वाध्याय केन्द्र' का गठन किया जाए, और आर्य जनता का सहयोग इस केन्द्र के कार्य में प्राप्त किया जाए। पर किसी नये संगठन के प्रति लोगों में विश्वास उत्पन्न कर सकना सुगम नहीं होता। जब काम लोगों के सम्मुख आ जाता है और उसकी उपयोगिता व महत्त्व को वे स्वयं प्रत्यक्ष रूप से देख लेते हैं, तब वे सब प्रकार से उसकी सहायता करने लगते हैं। पर शुरू में किसी भी नये संगठन को अनेकविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, और ईश्वर की कृपा तथा अपने ही साधनों से उसे आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना होता है। आर्य स्वाध्याय केन्द्र के सम्बन्ध में भी यही हुआ। श्रीमती सुशीला देवी जी ने दो हजार रुपये प्रदान कर 'इतिहास' की योजना को तैयार करने, आर्य जनता में उसे प्रचारित करने तथा उसके लिए उत्साह उत्पन्न करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया, और आर्य स्वाध्याय केन्द्र की एक तदर्थ समिति का गठन कर लिया गया। आर्यसमाज के अनेक संन्यासी, विद्वान् व नेताओं ने सहर्ष इसकी सदयस्ता स्वीकार कर ली। आर्थिक समस्या को हल करने के लिए यह निश्चय किया गया, कि आर्य स्वाध्याय केन्द्र के निम्नलिखित वर्गों के सदस्य बनाए जाएँ—(१) संरक्षक सदस्य—जो पाँच हजार या अधिक रुपये केन्द्र को प्रदान करें। (२) प्रतिष्ठित सदस्य—जो एक हजार या अधिक रुपये प्रदान करें। (३) सहायक सदस्य—जो आर्यसमाज के इतिहास के सब भागों का रियायती मूल्य पेशगी प्रदान कर दें। (४) सम्माननीय सदस्य—विद्या, ज्ञान, सेवा आदि के आधार पर सदस्य रूप से मनोनीत व्यक्ति। (५) प्रतिनिधि सदस्य—विविध आर्य संगठनों (सार्वदेशिक सभा, विविध प्रान्तीय व प्रादेशिक प्रतिनिधि सभाएँ) आर्य शिक्षणालय (डी० ए० वी० कालिज, गुरुकुल आदि) व अन्य आर्य संस्थाओं द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि। (६) साधारण सदस्य—जो दस रुपये प्रदान कर केन्द्र की सदस्यता स्वीकार करें।

आर्य जनता ने इस योजना का स्वागत किया, और अनेक आर्य नर-नारी केन्द्र की सदस्यता स्वीकार करने के लिए उद्यत होने लगे। शीघ्र ही, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नयी दिल्ली के प्रधान श्री रामगोपाल जी शालवाले का ध्यान इस योजना की ओर गया और उन्होंने इसका हार्दिक स्वागत करते हुए यह सुझाव दिया कि यह महत्त्वपूर्ण कार्य विश्वव्यापी आर्य संगठन की शिरोमणि सभा—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में किया जाना समुचित होगा। आर्य स्वाध्याय केन्द्र को इसमें क्या विप्रतिपत्ति हो सकती थी। फरवरी, १९८० में सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा का अधिवेशन उदयपुर में हुआ। आर्य स्वाध्याय केन्द्र के निदेशक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार को भी उसमें निमन्त्रित किया गया। आर्यसमाज के विस्तृत इतिहास की योजना को सार्वदेशिक आर्य नेताओं ने बहुत पसन्द किया और उसकी उपयोगिता को स्वीकार कर सभा के तत्त्वावधान में उसके सम्पादित किये जाने की अनुमति प्रदान कर दी। सार्वदेशिक सभा के प्रतिनिधि रूप में कौन महानुभाव आर्य स्वाध्याय केन्द्र में रहें, यह भी बाद में सभा-प्रधान श्री रामगोपाल जी द्वारा निर्धारित कर दिया गया। सार्वदेशिक सभा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था है, उसका कार्यक्षेत्र अत्यधिक विशाल है, उसके पास बहुत काम रहते हैं। इस बात को दृष्टि में रखकर यह भी तय कर दिया गया, कि आर्य स्वाध्याय केन्द्र

की स्थिति एक स्वायत्त संस्था की रहे, ताकि उसके निदेशक व अन्य कार्यकर्ता पूरी उत्तरदायिता के साथ स्वतन्त्र रूप से आर्यसमाज के इतिहास के लेखन, सम्पादन और प्रकाशन में अपनी शक्ति लगा सकें।

इस प्रकार सार्वदेशिक सभा का संरक्षण तथा आर्य नेताओं का आशीर्वाद प्राप्त कर आर्य स्वाध्याय केन्द्र अपने कार्य में जुट गया। इतिहास के लिए सामग्री एकत्र करने के अतिरिक्त उसके सम्मुख एक कार्य यह भी था कि आर्थिक साधनों की भी व्यवस्था की जाए। जो कार्य अभी केवल योजना की दशा में हो, जिसका स्थूल रूप अभी सामने न आया हो, उसके लिए धन प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। पर कार्य की उपयोगिता व महत्ता को अनुभव कर अनेक आर्य सज्जनों ने 'केन्द्र' की संरक्षक सदस्यता स्वीकार कर ली। पण्डित सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार न केवल प्रसिद्ध विद्वान् हैं, अपितु उच्च कोटि के उद्योगपति भी हैं। सरस्वती और लक्ष्मी की उन पर समान रूप से कृपा है। सबसे पूर्व वे और उनकी पत्नी श्रीमती गायत्री देवी जी केन्द्र के संरक्षक सदस्य बने और फिर स्वामी सर्वानन्द जी महाराज। श्री कृष्णलाल आर्य और चौधरी प्रतापसिंह आदि कितने ही महानुभावों ने केन्द्र का प्रतिष्ठित सदस्य बनने की कृपा की। धीरे-धीरे इन दोनों प्रकार के सदस्यों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी, जिसके कारण केन्द्र के लिए अपना कार्य आगे बढ़ा सकना सम्भव हो गया। इतिहास के सातों भागों का रियायती मूल्य पेशगी भेजकर अनेक आर्य देवियों और सज्जनों ने केन्द्र का सहायक सदस्य बनना स्वीकार किया। इन सब सदस्यों के सचित्र परिचय या नाम व पते इस इतिहास में प्रकाशित कर उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की गयी है।

इतिहास की आवश्यक सामग्री को एकत्र करने का कार्य अत्यन्त महत्त्व का है, विशेषतया विविध संग्रहालयों में विद्यमान उन रिकार्डों को ढूँढ़ निकालने का, जिनका सम्बन्ध आर्यसमाज के साथ है। यह कार्य श्री पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालंकार के सुपुर्द किया गया। उन्होंने नेशनल आर्काइव्स, नयी दिल्ली की छानबीन कर अनेक ऐसे रिकार्डों की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं, जिनका उपयोग 'आर्यसमाज और राजनीति' विषय पर प्रकाश डालने के लिए किया जाएगा। इसी काम के लिए डा० सत्यकेतु विद्यालंकार लण्डन गए, और वहाँ ब्रिटिश म्यूजियम लायब्रेरी, इण्डिया आफिस लायब्रेरी तथा पब्लिक रिकार्ड आफिस से ऐसी उपयोगी व महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त की, जिस द्वारा १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में साधु-संन्यासियों के योगदान पर नया प्रकाश पड़ता है। आर्यसमाज के इतिहास के लिए इस सामग्री का महत्त्व इस कारण है, क्योंकि सन् '५७ के संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले अन्यतम संन्यासी स्वामी विरजानन्द भी थे, और सम्भवतः स्वामी दयानन्द भी उस अवसर पर तटस्थ नहीं रहे थे। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के लण्डन जाने-आने का हवाई जहाज का टिकट सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रदान किया गया, जिसके लिए केन्द्र सभाप्रधान श्री रामगोपाल जी तथा सभा के कोषाध्यक्ष श्री सोमनाथ मरवाह का विशेष रूप से आभार मानता है। लण्डन रहकर डा० विद्यालंकार ने जहाँ इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्र की, वहाँ साथ ही आर्य स्वाध्याय केन्द्र के लिए धन जुटाने के कार्य पर भी ध्यान दिया। अनेक नर-नारियों को वे केन्द्र के संरक्षक-सदस्य, प्रतिष्ठित सदस्य तथा सहायक-सदस्य बनाने में सफल हुए। इसमें भी पण्डित सत्यदेव वेदालंकार की बहुमूल्य सहायता उन्हें प्राप्त रही। लण्डन जैसे मँहगे नगर में

डा० विद्यालंकार जो पाँच सप्ताह रह सके, उसका प्रधान श्रेय पण्डित अमृतपाल वेदालंकार को है, जिन्होंने अपने फ्लैट में न केवल उन्हें आतिथ्य ही प्रदान किया, अपितु पुस्तकालयों के अवगाहन में भी उनकी सहायता की।

आर्यसमाज के प्रारम्भिक इतिहास की सामग्री को एकत्र करना बहुत कठिन कार्य है। जिन महानुभावों ने इस कार्य में हमें सहायता प्रदान की, उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनका उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। सम्भवत:, वे इसकी अपेक्षा भी नहीं रखते। उनमें प्रयत्न एवं सहयोग द्वारा आर्यसमाज के आदिकाल के सम्बन्ध में कुछ नये तथ्य प्रकाश में आ सके, वे इसी से सन्तोष अनुभव करेंगे, इसमें हमें कोई सन्देह नहीं है। महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज के सम्बन्ध में जो बहुत-से ग्रन्थ इस इतिहास के लिखने में प्रयुक्त किये गए हैं, उन्हें जुटाने में श्रीमती शान्ता मल्होत्रा, श्री योगेन्द्र अवस्थी और वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों से जो सहायता प्राप्त हुई, उसके लिए हार्दिक धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। इतिहास के प्रथम भाग के मुद्रण में अजय प्रिण्टर्स, शाहदरा के स्वामी श्री अमरनाथजी ने जो तत्परता एवं आत्मीयता प्रदर्शित की, उसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। आर्य स्वाध्याय केन्द्र द्वारा आर्यसमाज के इतिहास के लेखन, सम्पादन और प्रकाशन का जो कार्य हाथ में लिया गया है, उसका कुछ अंश जो आर्य जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सक रहा है, उसका श्रेय उन अनगिनत नर-नारियों को है जिनका सहयोग हमें प्राप्त होता रहा और जो अनेक प्रकार से सहायता कर हमारे उत्साह को बढ़ाते रहे। इस प्रसंग में हम प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान प्रोफेसर वेदव्यास तथा मन्त्री श्री दरबारीलाल के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हैं, जिन्होंने डी० ए० वी० संस्थाओं के नाम एक प्रपत्र भेजकर उन्हें आर्य स्वाध्याय केन्द्र का सहायक-सदस्य बनने के लिए प्रेरित किया, जिसके परिणामस्वरूप चौबीस संस्थाएँ अब तक हमारी सहायक-सदस्य बन चुकी हैं, और निकट भविष्य अन्य भी अनेक के बनने की आशा है। अब तक जो भी आर्थिक सहायता हमें प्राप्त हुई है या आर्य जनता में आर्यसमाज के इतिहास के लिए जो उत्साह उत्पन्न हुआ है, वह बहुत संतोषजनक है, विशेषतया उस दशा में जब कि 'केन्द्र' द्वारा किया गया कोई कार्य अभी तक सामने नहीं आया। अब जब कि इतिहास का प्रथम भाग प्रकाशित हो गया है, हमें विश्वास है कि आर्य संन्यासी-महात्मा, विद्वान्, नेता तथा सर्वसाधारण पाठक उसे संतोषजनक पाएँगे और इतिहास के अन्य भागों के लिए उनका साहाय्य एवं सहयोग हमें और भी अधिक प्राप्त हो सकेगा।

पुस्तक को शुद्ध छपवाने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करने पर भी मुद्रण में कुछ गलतियाँ रह ही गई हैं। अधिक गलतियाँ तो प्रूफ ठीक तरह से शुद्ध न किए जाने के कारण हैं, पर कुछ प्रेस कापी के टाइपिंग में असावधानी का भी परिणाम हैं, यथा पृष्ठ ३२५ पर लार्ड रिपन के स्थान पर लार्ड लिटन छप जाना। हमें आशा है, कि विज्ञ पाठक ऐसी अशुद्धियों को स्वयं ठीक कर लेंगे, क्योंकि प्रसंग के अनुसार उन्हें शुद्ध कर सकने में विशेष कठिनाई नहीं होगी।

—आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नयी दिल्ली

आर्यसमाज का इतिहास

(प्रथम भाग)

विषय-सूची

पहला अध्याय—विषय प्रवेश १७

(१) महर्षि दयानन्द सरस्वती का 'आर्य' से अभिप्राय १७
(२) आर्यों के प्राचीन गौरव के विषय में महर्षि के मन्तव्य १९
(३) प्राचीन साहित्य से आर्य राज्यों के सम्बन्ध में परिचय २१
(४) प्राचीन संसार के विविध क्षेत्रों में आर्य सभ्यता की सत्ता के संकेत २५
(५) महर्षि दयानन्द सरस्वती की चक्रवर्ती आर्य राज्य की कल्पना ३०

दूसरा अध्याय—आर्यों की शक्ति का क्रमिक ह्रास और उसके पुनरुत्थान के प्रयत्न ३३

(१) महाभारत युद्ध के पश्चात् आर्यों की राजशक्ति का ह्रास ३३
(२) प्राचीन आर्य धर्म एवं सभ्यता में विकृति ३५
(३) आर्य धर्म में सुधार के आन्दोलन ३७
(४) विकृत आर्य धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया—जैन, बौद्ध तथा आजीवक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव ३८
(५) बौद्ध और जैन आचार्यों द्वारा एकांगी आर्य धर्म तथा संस्कृति का देश-देशान्तर में प्रचार ४१
(६) नये साम्प्रदायिक आन्दोलनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया और परिवर्तित रूप में सनातन आर्य धर्म का पुनरुत्थान—वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदाय ४३

तीसरा अध्याय—आर्य धर्म और सभ्यता के नव-उत्कर्ष का युग ५१

(१) अश्वमेधयाजी आर्य सम्राटों का शासन ५१
(२) आर्यों की शक्ति का देश-देशान्तर में प्रसार, दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा मध्य एशिया के क्षेत्रों में स्थापित आर्य राज्य ५४
(३) आर्य धर्म और संस्कृति का देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर में प्रचार—आर्यों का विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य ६४
(४) विदेशी व विधर्मी जातियों पर आर्यत्व का प्रभाव ७७
(५) आर्यों की शक्ति एवं धर्म का पुनः उत्कर्ष ८०
(६) भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के प्रारम्भिक प्रयत्नों की विफलता ८२

चौथा अध्याय—मध्य युग में आर्य धर्म और आर्य संस्कृति का आत्म रक्षा के लिए संघर्ष ८५

(१) आर्य धर्म में विकृति और ह्रास की प्रक्रिया ८५
(२) आर्यों के सामाजिक संगठन का विकृत रूप ९०
(३) भारत में तुर्क-अफगानों के शासन का सूत्रपात ९२

(४) आर्य (हिन्दू) धर्म में नयी जागृति ९९
(५) भारतीय इतिहास का मुगल-युग—इस काल में आर्य तथा मुस्लिम शक्ति व धर्मों की तुलनात्मक स्थिति १०२
(६) आर्य शक्ति का पुनरुत्थान १०६

पाँचवाँ अध्याय—भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना और पाश्चात्य संस्कृति से आर्य संस्कृति के संघर्ष का सूत्रपात ११२

(१) भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना ११२
(२) आर्य धर्म और संस्कृति पर शक्तिशाली आक्रमण ११७
(३) भारत में आधुनिक युग का प्रारम्भ १२१
(४) पाश्चात्य संस्कृति से आर्य धर्म तथा संस्कृति के संघर्ष का सूत्रपात १२९

छठा अध्याय—उन्नीसवीं सदी के मध्य का भारत १३३

(१) राजनीतिक दशा १३३
(२) आर्थिक दशा १४०
(३) धार्मिक दशा १४७
(४) सामाजिक दशा १५६

सातवाँ अध्याय—अन्धकार से प्रकाश की ओर—भारत में नवजागरण का सूत्रपात १५९

(१) नवजागरण का स्वरूप और महत्त्व १५९
(२) धार्मिक आन्दोलनों का वर्गीकरण १६०
(३) उग्र सुधार आन्दोलन (क) ब्राह्मसमाज (ख) प्रार्थनासमाज (ग) पारसी और मुस्लिम सुधार आन्दोलन १६१
(४) कट्टर सुधार आन्दोलन—रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, थियोसोफी १६५
(५) महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज १७१

आठवाँ अध्याय—महर्षि दयानन्द सरस्वती का आविर्भाव १८७

(१) महर्षि की जीवनी के सम्बन्ध में उपलब्ध साहित्य १८७
(२) बाल्यकाल तथा सच्चे शिव की तलाश १९०
(३) प्रचार कार्य का प्रारम्भ १९९
(४) प्रचार कार्य के प्रारम्भिक वर्ष २०३
(५) भारत में नवजागरण के आन्दोलनों तथा नये युग की प्रवृत्तियों के साथ सम्पर्क २१६
(६) पाठशालाओं की स्थापना २२०

नवाँ अध्याय—महर्षि द्वारा आर्यसमाज की स्थापना २२२

(१) बंगाल में चार मास २२२
(२) प्रचार कार्य की प्रगति २३०
(३) बम्बई में प्रचार कार्य २३६
(४) आर्यसमाज की स्थापना—बम्बई में प्रथम आर्यसमाज २४१
(५) साहित्य का सृजन २५७

परिशिष्ट १—बम्बई में निर्धारित आर्यसमाज के नियम २५८
परिशिष्ट २—बम्बई के आर्यसमाज के सभासदों के नाम, जाति, शिक्षा तथा व्यवसाय २६१
परिशिष्ट ३—आर्यसमाज की स्थापना तिथि २६५

दसवाँ अध्याय—महर्षि द्वारा उत्तरी भारत में आर्यसमाज का बीजारोपण २७४
(१) उत्तर प्रदेश में एक वर्ष २७४
(२) दिल्ली दरबार में स्वामी जी का कर्तृत्व २७८
(३) वेद भाष्य २८२
(४) पंजाब में आर्यसमाजों की स्थापना २९०
(५) आर्यसमाज के नये नियम और उपनियम २९८
(६) पंजाब में महर्षि दयानन्द सरस्वती की अनुपम सफलता ३०६

ग्यारहवाँ अध्याय—आर्यसमाज का प्रसार ३११
(१) उत्तर प्रदेश में आर्यसमाजों की स्थापना ३११
(२) राजस्थान में वैदिक धर्म का प्रचार और स्वामी जी का देहावसान ३२१
(३) शास्त्रार्थ ३२९
(४) परोपकारिणी सभा ३३३

बारहवाँ अध्याय—थियोसोफिकल सोसायटी के साथ सम्बन्ध ३४६
(१) थियोसोफिकल सोसायटी ३४६
(२) आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध का सूत्रपात ३४८
(३) कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की का स्वामी दयानन्द सरस्वती के साथ सम्पर्क ३५७
(४) मतभेद का प्रारम्भ ३६८
(५) थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज में सम्बन्ध विच्छेद ३७०

तेरहवाँ अध्याय—महर्षि दयानन्द सरस्वती की धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी मान्यताएँ ३७७
(१) वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप का पुनरुत्थान ३७७
(२) एकेश्वरवाद ३७९
(३) मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विरोध ३८१
(४) त्रैतवाद ३८६
(५) षड्दर्शनों में समन्वय ३९२
(६) वेदों के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्य, वेदों की अपौरुषेयता, वैदिक देवता और ऋषि, वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ ३९६
(७) जीवात्मा, पुनर्जन्म, कर्मफल और मोक्ष ४०४
(८) पितृतर्पण और श्राद्ध ४०९

चौदहवाँ अध्याय—राज्य और शासन के सम्बन्ध में महर्षि के विचार ४१०
(१) राष्ट्रीय स्वाधीनता और स्वराज्य ४१०
(२) स्वदेशी ४२०
(३) स्वदेशी शासन और स्वराज्य का स्वरूप ४२३
(४) चक्रवर्ती राज्य का संगठन तथा आदर्श ४२९
(५) राज्य शासन विषयक कतिपय अन्य मान्यताएँ ४३१
(६) विधि (कानून) और न्याय व्यवस्था ४३३

पन्द्रहवाँ अध्याय—समाज संगठन और आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में महर्षि के विचार ४३७
(१) सामाजिक न्याय की समस्या—वर्णव्यवस्था के विकृत रूप का विकास ४३७

(२) गुणकर्मानुसार चातुर्वर्ण्य का महर्षि द्वारा प्रतिपादित स्वरूप ४४३
(३) सामाजिक और आर्थिक न्याय पर आधारित समाज के निर्माण की समस्या और उसके समाधान के लिए महर्षि के विचार ४४६
(४) भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में समन्वय—वर्णाश्रम व्यवस्था ४५४
(५) स्त्रियों की स्थिति और स्त्री शिक्षा ४५८
(६) आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में महर्षि के विचार ४६३

सोलहवाँ अध्याय—शिक्षा प्रणाली और पठन-पाठन विधि ४६६

(१) महर्षि की दृष्टि में शिक्षा का महत्त्व ४६६
(२) महर्षि द्वारा प्रतिपादित गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के मूल तत्त्व ४७१
(३) पठन-पाठन विधि ४७५
(४) शिक्षा में विज्ञान का स्थान ४७८
(५) महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली का विवेचन ४७६

सतरहवाँ अध्याय—प्रचलित सामाजिक बुराइयाँ और उनके निवारण के सम्बन्ध में महर्षि के महत्त्वपूर्ण विचार ४८७

(१) बाल विवाह और अनमोल विवाह ४८७
(२) विधवा विवाह, नियोग और बहुविवाह ४६२
(३) अस्पृश्यता (अछूतपन) की समस्या ४६६
(४) विदेश यात्रा ५००
(५) खाद्य और अखाद्य ५०३

अठारहवाँ अध्याय—महर्षि दयानन्द के सहयोगी तथा उनसे सम्बद्ध कतिपय व्यक्ति ५०६

(१) श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ५०६
(२) गोपालरावहरि देशमुख लोकहितवादी ५२०
(३) महादेव गोविन्द रानाडे ५२४
(४) महात्मा जोतीराव गोविन्दराव फुले ५२६
(५) केशवचन्द्र सेन ५२८
(६) रमाबाई पण्डिता ५३१
(७) हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ५३४
(८) पण्डित भीमसेन शर्मा ५३५
(९) देवेन्द्रनाथ ठाकुर ५३८
(१०) मुंशी समर्थदान ५४०
(११) पण्डित ज्वालादत्त ५४५

उन्नीसवाँ अध्याय—सन् १८८३ तक स्थापित आर्यसमाज और उनका कार्यकलाप ५४६

(१) उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में आर्यसमाजों की स्थापना ५४६
रुड़की, मेरठ, आगरा, देहरादून, बिजनौर, नजीबाबाद, मोहम्मदपुर-देवमल, फर्रुखाबाद, मुरादाबाद, बदायूँ, शाहजहाँपुर, हरदोई आदि
(२) फर्रुखाबाद आर्यसमाज ५७३
(३) फर्रुखाबाद आर्यसमाज का कार्यकलाप ५७८
(३) फर्रुखाबाद आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव ५८४

(५) उत्तरी भारत के पूर्वी क्षेत्र में आर्यसमाजों की स्थापना ५८८
दानापुर, कानपुर, काशी, लखनऊ, मिर्जापुर आदि
(६) राजस्थान में स्थापित आर्यसमाज ५९३
अजमेर, जयपुर, शाहपुरा आदि
(७) पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश ५९५
(८) हरयाणा में स्थापित आर्यसमाज
रिवाड़ी, रोहतक, करनाल, पानीपत, कालका
(९) अन्य प्रदेशों में स्थापित आर्यसमाज ६०१
परिशिष्ट १—सन् १८८३ तक स्थापित आर्यसमाजों की सूची ६०३
परिशिष्ट २—बम्बई आर्यसमाज के नियमों में संशोधन ६०५
परिशिष्ट ३—लाहौर आर्यसमाज के सभासदों द्वारा अंग्रेजी वस्त्रों को प्रयुक्त न करने तथा स्वदेशी वस्त्रों के उपयोग का निर्णय (स्टेट्समैन की रिपोर्ट के अनुसार) ६०७
बीसवाँ अध्याय— शुद्धि (वैदिक धर्म में धर्मान्तरण) का पुनः प्रारम्भ ६०९
(१) प्राचीन एवं मध्य युगों में शुद्धि ६०९
(२) महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा शुद्धि का पुनः प्रारम्भ ६१६
इक्कीसवाँ अध्याय—आर्यसमाज का संगठन और प्रचार ६२१
(१) आर्यसमाज का संगठन ६२१
(२) आर्यसमाज के प्रचारक तथा प्रचार कार्य ६२५
साधु-संन्यासी, उपदेशक, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन
(३) वार्षिकोत्सव ६३८
बाईसवाँ अध्याय—महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा विरचित ग्रन्थ तथा पुस्तिकाएँ ६४२
(१) महर्षि की रचनाएँ ६४२
(२) वेद भाष्य तथा उससे सम्बद्ध ग्रन्थ ६४३
(३) सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण ६४९
(४) सत्यार्थप्रकाश एक सर्वांग सम्पूर्ण धर्मग्रन्थ या धर्मशास्त्र ६५३
(५) नैत्यिक और नैमित्तिक धर्मानुष्ठान के प्रतिपादक ग्रन्थ ६६६
(६) वेद विरुद्ध मतों के खण्डन के प्रयोजन से लिखी गयी पुस्तकें ६६७
(७) संस्कृत भाषा के पठन-पाठन के लिए विरचित पुस्तकें ६६८
(८) आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन एवं शोध के लिए उपयोगी पुस्तकें ६६८
(९) अन्य मत-मतान्तरों के अध्ययन एवं शोध के लिए उपयोगी पुस्तकें ६६९
(१०) शास्त्रार्थ और व्याख्यान ६६९
(११) अन्य विविध रचनाएँ ६७०
तेईसवाँ अध्याय—सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम और स्वामी दयानन्द सरस्वती ६७३
(१) विवादग्रस्त प्रश्न ६७३
(२) स्वाधीनता संग्राम या सिपाही विद्रोह ६८०
(२) सन् १८५७ के विस्फोट में साधु-संन्यासियों का योगदान ६८८
(२) सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम और स्वामी दयानन्द सरस्वती ६९३
परिशिष्ट—पंजाब में आर्यसमाज की अनुपम सफलता का विवेचन ७०७
संक्षिप्त ग्रन्थ सूची ७१८
शब्दानुक्रमणिका ७२१

प्रस्तावना

आर्यसमाज कोई नया सम्प्रदाय, मत या पन्थ नहीं है। वह एक ऐसा संगठन या समुदाय है, जिसके सुनिश्चित उद्देश्य और सुनिर्धारित नियम हैं। 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है' (आर्यसमाज का छठा नियम)। बम्बई में निर्धारित नियमों में इसी उद्देश्य को अन्य ढंग से प्रकट किया गया था—"सब मनुष्यों के हितार्थ आर्यसमाज का होना आवश्यक है।" आर्यसमाज की स्थापना का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि सम्पूर्ण संसार का उपकार किया जाए या मनुष्यमात्र का हित-कल्याण सम्पादित किया जाए। संसार के उपकार व मनुष्यों के हित-कल्याण का साधन यह है कि सबकी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति की जाए। प्रत्येक मनुष्य को जहाँ अपनी शारीरिक और आत्मिक उन्नति करनी चाहिए, वहाँ साथ ही सबकी सामाजिक या सामूहिक उन्नति के लिए भी प्रयत्न किया जाना चाहिए। आर्यसमाज के नौवें नियम में इसी बात को अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार कहा गया है—"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" मनुष्यों के वैयक्तिक एवं सामूहिक हित-कल्याण का यह महत्त्वपूर्ण कार्य ऐसे ही लोगों द्वारा सम्पादित किया जा सकता है जो 'सत्य विद्यादि गुणयुक्त, उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले, धर्मात्मा और परोपकारी' हों। ऐसे लोगों को ही महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य माना है और उन्हीं के संगठन को 'आर्यसमाज' की संज्ञा दी है। महर्षि को यही अभीष्ट था कि 'सत्पुरुष, सदाचारी और परोपकारी व्यक्ति' आर्यसमाज के सभासद् बनें (बम्बई में निर्धारित आठवाँ नियम) और वे मनुष्यमात्र के हित-कल्याण के सम्पादन के लिए प्रयत्न करें।

महर्षि का मन्तव्य था कि आर्य किसी विशेष जाति का नाम नहीं है, और न ही किसी देश विशेष के निवासियों की संज्ञा आर्य है। हिमालय से रामेश्वरम् तक विस्तीर्ण जो यह भारत भूमि है, उसके निवासी प्राचीन समय में 'आर्य' कहाते थे, क्योंकि वे श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभाव वाले थे और उन्हीं के कारण इस देश को 'आर्यावर्त' कहा जाता था। आर्य लोग वेदोक्त धर्म का पालन करते थे, और उनकी सभ्यता एवं संस्कृति बहुत उन्नत व उत्कृष्ट थीं। अन्य देशों के निवासी इस आर्यावर्त से ही धर्म और संस्कृति की शिक्षा ग्रहण किया करते थे। उस प्राचीन समय में आर्यावर्त के आर्य सम्पूर्ण संसार का नेतृत्व करते थे, सर्वत्र वैदिक धर्म का प्रचार था और अन्य देशों के राजा व शासक आर्यावर्त के चक्रवर्ती सम्राटों के आधिपत्य को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करते थे। महाभारत युद्ध के पश्चात् आर्यावर्त का पतन प्रारम्भ हो गया। आलस्य, प्रमाद, विषयासक्ति आदि दुर्गुणों के प्रादुर्भाव के कारण आर्यों की शक्ति का ह्रास होने लगा, और सनातन वैदिक धर्म की सत्य शिक्षाओं को भुलाकर वे ऐसे मत-मतान्तरों के जाल में फँसने लग गए, जो या तो वेद-विरोधी थे और या वैदिक धर्म के विकृत रूपों का अनुसरण करते थे। इसी का यह

परिणाम हुआ कि आर्यावर्त की सभ्यता, संस्कृति और राजशक्ति में क्षीणता आने लगी, इस देश पर विदेशी व विधर्मी लोगों के आक्रमण भी प्रारम्भ हो गए, और आर्यावर्त के लिए अपनी स्वतन्त्रता तक को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा। मनुष्यमात्र के हित-कल्याण के जिस महान् उद्देश्य को सम्मुख रखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य-समाज की स्थापना की थी, उसकी पूर्ति के लिए वे यह आवश्यक समझते थे कि पहले आर्यावर्त देश की दशा को उन्नत किया जाए। वे आर्यावर्त को संसार का सर्वश्रेष्ठ देश मानते थे, और उन्हें विश्वास था कि प्राचीन समय के समान भविष्य में भी इस देश के लोगों द्वारा सम्पूर्ण संसार का नेतृत्व किया जा सकता है। आर्यावर्त के बहुसंख्यक निवासी वर्तमान समय में भी वेदों को प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं, चाहे वे उनकी वास्तविक शिक्षाओं को भूल ही क्यों न गए हों। महर्षि का प्रयत्न था, कि भारत में प्रचलित आर्य या हिन्दू सम्प्रदायों में जिन वेदविरुद्ध मन्तव्यों का समावेश हो गया है उनका निराकरण कर सत्य सनातन वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप को पुनःस्थापित किया जाए, भारत-वासियों को सच्चे अर्थ में 'आर्य' बनाया जाए, और फिर उनके नेतृत्व में सम्पूर्ण मानव-समाज का हित-कल्याण सम्पादित किया जाए। अपने इसी महान् कार्य को जारी रखने के लिए उन्होंने आर्यसमाज को स्थापित किया था।

इसमें सन्देह नहीं, कि महर्षि को अपने उद्देश्य की पूर्ति में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में जो जागृति हुई, धर्म तथा समाज में जो सुधार हुए और चिरनिद्रा से जागकर भारत जो उन्नति के पथ पर अग्रसर होने को प्रवृत्त हुआ, उसका प्रधान श्रेय महर्षि तथा आर्यसमाज को ही दिया जाना चाहिए। पर अभी आर्यसमाज को बहुत कार्य करना है। कुरीतियों के निवारण, पाखण्ड के खण्डन तथा अन्धविश्वासों के निराकरण में आर्यसमाज ने अवश्य ही बहुत उपयोगी कार्य किया है। पर अभी न्याय पर आधारित वैसा समाज-संगठन कायम नहीं किया जा सका है, जिसका प्रतिपादन महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा किया गया था। न्याय पर आधारित समाज में ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि के कोई भेद नहीं होंगे, सबको अपनी वैयक्तिक (शारीरिक तथा आत्मिक) उन्नति करने का समान अवसर मिलेगा और सब कोई अपनी योग्यता व क्षमता के अनुसार कार्य, पद एवं सामाजिक स्थिति प्राप्त कर सकेंगे। ऐसे समाज की स्थापना की समस्या आज सम्पूर्ण संसार के सम्मुख विद्यमान है, और महर्षि द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था द्वारा उसका समुचित समाधान किया जा सकता है। आर्य-समाज को यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित कर सम्पूर्ण मानवसमाज का हित-कल्याण करना है।

आर्यसमाज के इतिहास का जो यह पहला भाग पाठकों के हाथों में है, उसमें उस पृष्ठभूमि का विशद रूप से निरूपण किया गया है जिसमें कि आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी। वैदिक धर्म को जो सत्य, सनातन कहा जाता है, वह निरर्थक नहीं है। प्राचीन संसार की बहुत-सी सभ्यताएँ अब नष्ट हो चुकी हैं। मिस्र, असीरिया, बैबिलोनिया आदि के अब नाम ही शेष बचे हैं। मिस्र के वर्तमान निवासियों का धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से उन प्राचीन लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, जिन्होंने नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण किया था, और जिन्होंने अपने पितरों की 'ममी' बनाकर उन्हें अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। यही बात असीरिया,

बैबिलोनिया आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मिस्र और असीरिया की सभ्यताएँ काल की दृष्टि से भारतीय सभ्यता के समान ही प्राचीन थीं। पर उनके बहुत समय पश्चात् यूनान (ग्रीस) और रोम की जो सभ्यताएँ विकसित हुईं, वे भी अब नष्ट हो चुकी हैं। आज प्राचीन ग्रीक एवं रोमन धर्मों का कोई अनुयायी नहीं है। जो विचार-धारा रोमन लोगों को देवी-देवताओं तथा प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिए प्रेरित करती थी, वह आज के रोमन (इतालियन) लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रखती। पर भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति हजारों साल बीत जाने पर भी अब तक कायम है। भारत का धर्म अब भी वैदिक है। इस देश के पुरोहित आज भी यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर वेद-मन्त्रों द्वारा याज्ञिक अनुष्ठान करते हैं। वेद और उपनिषदों द्वारा ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की गयी थी, वह आज भी अबाधित रूप से बह रही है। प्राचीन समय में जिन विधर्मियों ने भारत को आक्रान्त किया, वे इस देश के धर्म तथा संस्कृति को अपना कर पूर्णतया भारतीय या आर्य बन गए। जिस इस्लाम ने स्पेन के दक्षिण से लगाकर मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान तक सम्पूर्ण भूखण्ड को आक्रान्त कर वहाँ के निवासियों को मुसलमान बना लिया, सदियों तक संघर्ष करने के बाद भी भारत के बीस प्रतिशत लोगों को ही वह अपना अनुयायी बना सका। वस्तुतः, वैदिक धर्म में ऐसी अपूर्व शक्ति है, जिसके कारण वह कभी मर नहीं सकता। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसी धर्म के विशुद्ध रूप को पुनःस्थापित करने का प्रयत्न किया, ताकि आर्यावर्त या भारत में एक बार फिर उस शक्ति का संचार हो जाए जिस द्वारा वह सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व कर मानवमात्र का हित-कल्याण कर सके। इस इतिहास के प्रथम भाग में इसी तथ्य का विशद रूप से निरूपण किया गया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना एप्रिल, १८७५ में की थी। सन् १८८३ में उनका देहावसान हो गया। केवल आठ वर्ष वे आर्यसमाज के मार्ग का प्रदर्शन कर सके। आर्यसमाज के इतिहास में इन आठ वर्षों का बहुत महत्त्व है। इस काल में आर्यसमाज एक क्रान्तिकारी संस्था थी। तब उसके पास कोई धन-सम्पत्ति नहीं थी। लोगों में प्रचलित अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों का उस द्वारा खण्डन किया जाता था, ऊँच-नीच और छूत-अछूत के विरुद्ध आवाज उठायी जाती थी और स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, अछूतोद्धार आदि के लिए प्रयत्न किया जाता था। जो लोग उस समय आर्यसमाज के पदाधिकारी व सभासद् बने, वे वस्तुतः अत्यन्त साहसी थे। उन्हें जात-बिरादरी से बहिष्कृत किया गया, उन पर हमले भी किये गए, पर उन्होंने आर्यसमाज के कार्य में शिथिलता नहीं आने दी। ऐसे कर्मठ व्यक्तियों का ही यह कर्तृत्व था कि सन् १८८३ तक ८५ से भी अधिक आर्यसमाज भारत के विभिन्न नगरों में स्थापित हो गए थे और केवल दो साल बाद उनकी संख्या २०० तक पहुँच गयी थी। वर्तमान समय में भारत तथा विदेशों में ५००० के लगभग आर्यसमाज विद्यमान हैं। यह कितना महान् कार्य है, जो आर्य संन्यासियों, विद्वानों, उपदेशकों तथा सर्वसाधारण आर्य सभासदों के प्रयत्न से सम्पादित हुआ है। इस इतिहास में हमें इसी पर प्रकाश डालना है, और साथ ही उस मार्ग को भी प्रदर्शित करना है जिस पर चलकर आर्यसमाज की स्थापना के महान् उद्देश्य को पूरा किया जा सकता है।

आर्यसमाज के इतिहास के इस प्रथम भाग में अनेक कमियाँ रह गयी हैं। कोई

भी इतिहास-ग्रन्थ पूर्णतया निर्दोष तथा प्रमाणरूप अन्तिम रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकता। शोध द्वारा ज्यों-ज्यों नये तथ्य प्रकाश में आते जाते हैं, इतिहास में प्रतिपादित मन्तव्यों तथा वर्णित घटनाक्रम में भी परिवर्तन व संशोधन होता रहता है। इस इतिहास की कमियाँ भी शोध द्वारा धीरे-धीरे दूर की जा सकेंगी।

सन् १८८३ तक ८५ के लगभग जो आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे, उन सबकी स्थापना तथा प्रारम्भिक कार्यकलाप का विवरण इस इतिहास में नहीं दिया जा सका। प्रयत्न करने पर भी उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री व जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकी। पर इस सम्बन्ध में आर्य स्वाध्याय केन्द्र का प्रयत्न निरन्तर जारी रहेगा। इस इतिहास के द्वितीय भाग में आर्यसमाज के प्रसार व विस्तार का निरूपण किया जाना है। सन् १८८३ तक स्थापित आर्यसमाजों में भी बहुसंख्यक की स्थापना सन् १८८१-८३ के काल में हुई थी। उनका समुचित रूप से विकास तो सन् १८८३ के बाद ही हुआ था। अतः इसमें कोई हानि व अनौचित्य नहीं, कि उनकी स्थापना तथा प्रारम्भिक कार्यकलाप का विवरण इस इतिहास के द्वितीय भाग में दे दिया जाए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की जीवनी पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। उनके जीवनवृत्त का बहुत संक्षेप से ही इस इतिहास में उल्लेख किया गया है, और उनके जन्म-स्थान आदि के विषय में जो अनेक मतभेद हैं, उनका कोई विवेचन नहीं किया गया, क्योंकि उनका आर्यसमाज के इतिहास के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं है।

इस इतिहास में कतिपय बातों की पुनरावृत्ति भी हुई है, जिसका प्रयोजन सर्वसाधारण पाठकों के लिए विषय को सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना था। आशा है, विज्ञ व विद्वान् पाठक इसमें दोष-दर्शन नहीं करेंगे, क्योंकि यह इतिहास ऐसे पाठकों द्वारा भी रुचिपूर्वक पढ़ा जाएगा जो प्रौढ़ विद्वान् नहीं हैं। मुझे आशा है कि पाठक इस इतिहास को उपयोगी पाएँगे और इस द्वारा आर्यसमाज सम्बन्धी साहित्य की एक कमी कुछ-न-कुछ अवश्य पूरी हो सकेगी।

२ एप्रिल, १९८२ **—सत्यकेतु विद्यालंकार**

आर्यसमाज के संस्थापक
महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

(१) महर्षि दयानन्द सरस्वती का 'आर्य' से अभिप्राय

मनुष्य मात्र के हित-कल्याण, सुख-समृद्धि और उन्नति के प्रयोजन से महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस महत्वपूर्ण कार्य को प्रारम्भ किया था, उसे जारी रखने के लिए ही आर्यसमाज की स्थापना की गई थी। महर्षि ने स्वयं इस नये संगठन का नाम आर्य-समाज रखा था। ईसाई, मुसलमान, बौद्ध आदि के समान 'आर्य' किसी सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियों की संज्ञा नहीं है, और न ही इससे किसी पृथक् जाति का बोध होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार "जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्य विद्यादि गुण युक्त और आर्यावर्त्त देश में सब दिन से रहने वाले हैं, उनको आर्य कहते हैं।"[1] वेदों में अनेक स्थानों पर 'आर्य' और 'दस्यु' शब्दों का प्रयोग हुआ है। महर्षि दयानन्द के अनुसार "श्रेष्ठों का नाम आर्य, विद्वान्, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू-मूर्ख नाम होने से 'आर्य' और 'दस्यु' दो नाम हुए।"[2] ऋग्वेद भाष्य में अनेक मन्त्रों के अर्थ का प्रतिपादन करते हुए महर्षि ने 'आर्य' के अभिप्राय को स्पष्ट किया है। "वे ही आर्य हैं कि जो उत्तम विद्यादि के प्रचार से सबके उत्तम भोग की सिद्धि और अधर्मी दुष्टों के निवारण के लिए निरन्तर यत्न करते हैं।"[3] वेद भाष्य में महर्षि ने प्रायः सर्वत्र आर्य का अर्थ 'धर्मयुक्त गुणकर्म स्वभाव वाले', 'उत्तम गुण कर्म स्वभाव युक्त', उत्तम जन और 'समस्त शुभ गुण कर्म और स्वभावों में वर्तमान' रहना किया है।[4] उनके मत में सृष्टि के प्रारम्भ में केवल "एक मनुष्य जाति थी, पश्चात् 'विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः। (१/५१/८) यह ऋग्वेद का वचन है। श्रेष्ठों का नाम आर्य हुआ और दुष्टों का दस्यु।"[5] "आर्य नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है।"[6] आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् 'आर्य' और 'दस्यु' शब्दों से प्रायः दो पृथक् जातियों का ग्रहण करते हैं। उनके मत में आर्यों से पूर्व भारत में दस्यु जाति का निवास था, जिसे युद्ध में परास्त कर आर्यों ने इस देश में अपने अनेक

---

१. आर्योद्देश्य रत्नमाला, पृ० ४०।
२. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० २१२।
३. ऋग्वेद भाष्य १/५१/८।
४. वही ४/२६/२, १/१३०/८, ७/१८/६, १/१५६/५।
५. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० २११-१२।
६. वही, पृ० २१३।

राज्य स्थापित किये थे। पर यह मत महर्षि दयानन्द को स्वीकार्य नहीं है। महर्षि के अनुसार मनुष्यों की आदि सृष्टि त्रिविष्टप (तिब्बत) में हुई थी। "सृष्टि आदि में कुछ काल के पश्चात् आर्य लोग तिब्बत से सूधे इस देश (भारत) में आकर बसे। इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे।"[1]

भारत को सबसे पहले आर्यों द्वारा ही आबाद किया गया और उन्हीं के नाम से यह देश 'आर्यावर्त' कहाया। अपने मूल निवास स्थान त्रिविष्टप (तिब्बत) को छोड़कर आर्य लोग भारत में क्यों बसे, इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है— "जब आर्य और दस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव, अविद्वान् जो असुर, उनमें सदा लड़ाई बखेड़ा हुआ किया, जब बहुत उपद्रव होने लगा। तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर बसे और इसीसे इस देश का नाम 'आर्यावर्त' हुआ।"[2] महर्षि को आर्यावर्त से केवल उत्तरी भारत ही अभिप्रेत नहीं था। यद्यपि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती प्रदेश को आर्यावर्त कहा गया है, पर महर्षि के मत में आर्यावर्त का विस्तार हिमालय से रामेश्वरम् तक है। उनके शब्दों में "हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको आर्यावर्त इसलिये कहते हैं कि यह आर्यावर्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त कहाया है।"[3]

नसल और भाषा के आधार पर बहुत से आधुनिक विद्वानों ने मनुष्यों को अनेक जातियों में विभक्त किया है। विश्व की वर्तमान तथा प्राचीन भाषाओं का व्याकरण तथा शब्दकोश की दृष्टि से अध्ययन कर उन्हें अनेक भाषा-परिवारों में विभक्त किया गया और यह मन्तव्य प्रतिपादित किया गया कि एक भाषा-परिवार के लोग जातीय दृष्टि से भी एक हैं। फ्रेन्च, स्पेनिश, इतालियन, ग्रीक, केल्टिक, जर्मन, इंगलिश, ट्यूटानिक, स्लावोनिक, लिथुएनियन, लेटिन आदि यूरोपियन भाषाएं, उत्तरी भारत की हिन्दी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगाली, उड़िया आदि भाषाएं, पश्चिमी एशिया की पर्शियन, बलूची, पश्तो, कुर्द, आर्मीनियन आदि भाषाएं और संस्कृत, पाली, जन्द आदि प्राचीन एशियन भाषाएं एक विशाल भाषा-परिवार की अंग हैं। इन भाषाओं में व्याकरण और शब्दकोश की जो आश्चर्यजनक समता है, वह आकस्मिक नहीं हो सकती। इसका कारण यही हो सकता है कि इन विविध भाषाओं को बोलने वाले लोगों के पूर्वज किसी अत्यन्त प्राचीन काल में एक प्रदेश में निवास करते थे, और एक भाषा बोलते थे। बाद में जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर विविध देशों में बस गये, तो उनकी भाषाओं का भी पृथक् रूप से विकास होने लगा। पर उनमें वह एकता कायम रही जो वर्तमान समय में आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। यदि यह बात सत्य है कि अटलाण्टिक महासागर के समुद्र-तट से भारत तक विस्तृत इस विशाल क्षेत्र (पश्चिमी एशिया की सेमेटिक व तुर्क-मगयार-फिन भाषाओं के प्रदेशों को छोड़कर) में जो भाषाएं अब बोली जाती हैं उनका उद्गम एक है, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि इनको बोलने वाले किसी प्राचीन काल में एक ही प्रदेश में निवास करते थे और वे सब एक ही विशाल जाति के अंग हैं। अनेक

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० २१२।
२. वही पृ० २१२।
३. वही, पृ० २१२।

विद्वानों ने शरीर की रचना और आकृति के आधार पर भी इस मन्तव्य की पुष्टि की, और पाश्चात्य विद्वानों में यह बात सर्वमान्य-सी हो गई कि यूरोप, ईरान, अफगानिस्तान तथा भारत के बहुसंख्यक निवासी जाति की दृष्टि से एक हैं और उनके रंग, रूप व भाषा आदि में जो भेद इस समय दिखाई देता है उसका कारण जलवायु की भिन्नता तथा चिर काल तक एक-दूसरे से पृथक् रहना है। यूरोप और एशिया के बड़े भाग में बसी हुई इस विशाल जाति को अनेक नाम दिये गए हैं, जिनमें 'आर्य' भी एक है। आर्य संज्ञा इस जाति के लिए अधिक प्रचलित है। पाश्चात्य विद्वानों में इस प्रश्न पर बहुत मतभेद है कि इस आर्य जाति का मूल अभिजन कहाँ था? पर वे सब प्रायः इस विषय में एकमत हैं, कि आर्य भारत में बाहर से आये थे और उनसे पूर्व इस देश में जिन लोगों का निवास था वे आर्य भिन्न-भिन्न थे। अनेक विद्वानों के मत में इन आर्य-भिन्न लोगों के लिए ही वेदों में 'दस्यु' व 'दास' संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती का मत इससे सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार आदि सृष्टि में केवल एक ही मनुष्य जाति थी, बाद में जिसके दो भेद हो गये, आर्य और दस्यु। पर इस भेद का आधार न नसल थी और न भाषा। जो धार्मिक, विद्वान् एवं उत्तम गुण कर्म स्वभाव के थे, वे आर्य कहाए। इससे विपरीत जो दुष्ट प्रकृति के अधार्मिक व अविद्वान् थे, वे दस्यु कहे गये। हिमालय के दक्षिण में समुद्रपर्यन्त जो विशाल भूमिखण्ड है, वह पृथ्वी का अत्यन्त उत्तम भाग है। धार्मिक तथा उत्तम गुण कर्म स्वभाव के मनुष्यों (आर्यों) ने इसे अपने निवास के लिए चुना और इसे 'आर्यावर्त' नाम दिया।

ये आर्य वेदों में प्रतिपादित सत्य धर्म के अनुयायी थे। इनका विरोध उन लोगों से था, जो अधार्मिक तथा दुष्ट प्रकृति के थे। महर्षि के मत में ये लोग ही दस्यु, म्लेच्छ तथा असुर कहाते थे। राक्षस भी ऐसे ही लोगों की संज्ञा थी। इनका निवास आर्यावर्त से भिन्न अन्य देशों में था। इनके साथ आर्यों के अनेक युद्ध हुए, जिनमें अनार्य लोग परास्त हुए। आर्यों द्वारा इनके प्रदेशों में भी वेदोक्त धर्म का प्रचार किया गया। महर्षि के अनुसार "इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पाण्डव तक सर्व भूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों का थोड़ा-थोड़ा प्रचार आर्यावर्त से भिन्न देशों में भी रहता था।"[1]

महर्षि दयानन्द सरस्वती चाहते थे कि न केवल आर्यावर्त (भारत) में अपितु विश्व में सर्वत्र मनुष्य 'धर्मयुक्त गुणकर्म स्वभाव वाले बनें; वे श्रेष्ठ-स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी और सत्यविद्यादि गुणयुक्त हों।' महर्षि की दृष्टि में ऐसे व्यक्ति ही आर्य कहाने के अधिकारी हैं। विश्व-भर को 'आर्य' बनाने से उन्हें यही अभिप्रेत था, कि सब कोई सदाचारी और धार्मिक बने। जन्म-भर ब्रह्मचारी रहकर उन्होंने इसी के लिए प्रयत्न किया, और अपने कार्य को जारी रखने के लिये जब उन्होंने एक संस्था की स्थापना की, तो उसे 'आर्यसमाज' नाम दिया। इस समाज से महर्षि की यही अपेक्षा थी, कि इस द्वारा मनुष्यों को 'धर्मयुक्त गुण कर्म स्वभाव' वाला बनाया जाए।

(२) आर्यों के प्राचीन गौरव के सम्बन्ध में महर्षि के मन्तव्य

महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह मन्तव्य था कि प्राचीन काल में आर्यावर्त (भारत) के निवासी आर्य अत्यन्त उन्नत थे। सर्वत्र उनका सार्वभौम शासन था, और

१. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० २१४।

अन्य देशों के राजाओं की स्थिति उनके अधीन माण्डलिक राजाओं की थी। आर्यों के धर्म का अन्य देशों में भी प्रचार था, और सम्पूर्ण मानव-समाज आर्यावर्त के आचार्यों व विद्वानों से ही धर्म, सदाचार और ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण किया करता था। महर्षि के शब्दों में, "यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है, इसीलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है क्योंकि यही स्वर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसीलिए सृष्टि की आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे। ... जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है वह बात तो झूठी है परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं। ... सृष्टि से ले के पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था, अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे. क्योंकि कौरव-पाण्डव पर्यन्त यहाँ के राज्य और राजशासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा रहते थे। ... महाराजा युधिष्ठिर जी के राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध-पर्यन्त यहाँ के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो! चीन का ... भगदत्त, अमेरिका का बब्रुवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आँख वाले, यवन जिसको यूनान कह आये और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में आज्ञानुसार आये थे। जब रघुगण राजा थे तब रावण भी यहाँ के अधीन था। जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया तो उसको रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया था। स्वायम्भव राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा।"[1] महर्षि ने अनेक ऐसे राजाओं के नाम भी दिये हैं, जो चक्रवर्ती सार्वभौम शासक थे। मैत्रायण्युपनिषद् से एक उद्धरण देकर उन्होंने लिखा है कि "जैसे यहाँ सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, वद्ध्र्यश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीश, ननक्तु, सर्याति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त और भरत सार्वभौम सब भूमि में प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजाओं के नाम लिखे हैं, वैसे स्वायम्भवा आदि चक्रवर्ती राजाओं के नाम स्पष्ट मनुस्मृति, महाभारतादि ग्रन्थों में लिखे हैं। इनको मिथ्या करना अज्ञानी और पक्षपातियों का काम है।"[2]

महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार प्राचीन काल में आर्य लोग न केवल राजनीतिक दृष्टि से विश्व के अग्रणी थे, अपितु ज्ञान, विज्ञान, कला, धर्म और संस्कृति में भी वे सबके शिरोमणि थे। अन्य देशों के लोगों ने विद्या, धर्म आदि की शिक्षा आर्यावर्त के आर्यों से ही प्राप्त की थी। उनके शब्दों में, "जितनी विद्या भूगोल में फैली है वह सब आर्यावर्त देश से मिश्र वालों, उनसे यूनानी, उनसे रूम और उनसे यूरोप देश में और उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली हैं।"[3] "यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं वे सब आर्यावर्त देश से ही प्रचलित हुए हैं।"[4] मनुस्मृति (२/२०) के श्लोक—**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः, स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः** को उद्धृत कर महर्षि ने

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास, पृ० २६२।
२. वही पृ० २६३।
३. वही पृ० २६४।
४. वही पृ० २६५।

लिखा है कि 'इसी आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने-अपने योग्य विद्या चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।''[1] महर्षि ने यह भी प्रतिपादित किया है कि प्राचीन आर्यों ने पदार्थ विद्या (भौतिक विज्ञान) में भी बहुत उन्नति की थी। आग्नेयास्त्र वारुणास्त्र, मोहनास्त्र आदि अनेकविध अस्त्र-शस्त्र उन्होंने विकसित किये थे। तोप और बन्दूक आदि का भी वे निर्माण करते थे। युद्ध में शत्रुओं का संहार करने के लिए अत्यन्त भयंकर अस्त्र-शस्त्रों का उन्होंने आविष्कार किया हुआ था। वायुयानों का भी वे निर्माण करते थे। बिजली, तार आदि सबका उन्हें ज्ञान था। वे ऐसे यान बनाया करते थे, जो समुद्र तथा आकाश में समान रूप से आ-जा सकते हों। वेदों में सब सत्य विद्याएँ विद्यमान हैं। भौतिक ज्ञान विषयक विद्याएँ भी उनमें सूत्र रूप से प्रतिपादित हैं। प्राचीन आर्यों ने इन विद्याओं में भी बहुत उन्नति की थी। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा आदि सभी में वे पारंगत थे।[2] महाभारत युद्ध के पश्चात् आर्यों की शक्ति का ह्रास होना प्रारम्भ हो गया, और आर्यावर्त की निरन्तर अवनति होती गई। आर्यों के इस पतन के कारणों पर भी महर्षि ने प्रकाश डाला है। उन्हें यहाँ उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं। पर यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है, कि आर्यसमाज की स्थापना करते हुए महर्षि के सम्मुख यह विचार विद्यमान था कि आर्यों के विलुप्त गौरव तथा पराक्रम की पुनः स्थापना की जाए और एक बार फिर विश्व में उसी प्रकार श्रेष्ठ, सदाचारी व धार्मिक लोगों का प्रभुत्व हो जैसा कि अब से पाँच सहस्र वर्ष पहले था। आर्य समाज के रूप में महर्षि ने किसी नये सम्प्रदाय व मत का प्रवर्तन नहीं किया था। वे आर्यों के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने के लिए प्रयत्नशील थे, और आर्यसमाज की स्थापना इसी प्रयोजन से की गई थी।

(३) प्राचीन साहित्य से आर्य राज्यों के सम्बन्ध में परिचय

आर्यों के प्राचीन गौरव के विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती का जो मन्तव्य है, उसकी पुष्टि में कुछ निर्देश प्राचीन भारतीय साहित्य में भी विद्यमान हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में आकर आर्यों ने अपने अनेक राज्य स्थापित किये थे। इन राज्यों के राजाओं की वंशावलियां पुराणों में संकलित हैं। कतिपय राजा ऐसे भी थे, जिन्होंने अन्य राज्यों को अपने अधीन कर चक्रवर्ती, सार्वभौम व सम्राट् के पद प्राप्त किये थे। इनका शासन जहां सम्पूर्ण आर्यावर्त पर था, वहां साथ ही अनेक ऐसे देशों के राजा भी इनकी अधीनता स्वीकार करते थे जो आर्यावर्त के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं थे।[3]

भारत की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार स्वायम्भव मनु ने पृथ्वी को सात द्वीपों (भागों) में विभक्त कर अपने पुत्रों को उनका शासन करने के लिये नियुक्त किया था।[4] ये सात द्वीप निम्नलिखित थे—जम्बुद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप। जम्बुद्वीप का शासक आग्नीध्र था। उसके नौ पुत्र थे, जिनमें

१. सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास पृ० २६२।
२. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, १५, १७, २१, २२ और २३ प्रकरण।
३. मत्स्य पुराण ५३/१३-१६।
४. ब्रह्माण्ड पुराण १४/४४-५३।

नाभि ज्येष्ठ था। आग्नीध्र ने जम्बुद्वीप को नौ भागों में विभक्त किया, और अपने नौ पुत्रों को उनका शासक नियत किया। जम्बुद्वीप का जो भाग हिमालय पर्वतमाला के दक्षिण में था, वही बाद में 'भारतवर्ष' कहाया। नाभि को इसी का शासक आग्नीध्र द्वारा नियुक्त किया गया था। नाभि का पुत्र ऋषभ था, और ऋषभ का पुत्र भरत। जम्बुद्वीप के अन्यतम भाग (जिसकी स्थिति हिमालय के दक्षिण में थी) का भारत नाम सम्भवतः ऋषभपुत्र भरत के नाम से ही पड़ा था।

पौराणिक अनुश्रुति पर आधारित जो विवरण ऊपर दिया गया है, उससे यह सूचित होता है, कि भारतवर्ष (जिसे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यावर्त कहा है) जम्बुद्वीप का एक भाग है और अत्यन्त प्राचीन काल में केवल जम्बुद्वीप पर ही नहीं अपितु अन्य छह द्वीपों पर भी आर्य राजाओं का शासन था और उनमें भी आर्य लोग ही निवास करते थे। बाद में ऐसा समय आया, जब कि इस विशाल पृथ्वी के विविध प्रदेशों के निवासियों की भाषा में अन्तर आने लगा और उनके आचार-विचार में भी भेद उत्पन्न होने लग गये। इसी कारण स्वायम्भव मनु की सन्तति में ही अनेक वर्ग हो गये, और ऐसे राज्य स्थापित हुए जिनके निवासी धर्म, सदाचार आदि की दृष्टि से आर्य मर्यादा का पालन नहीं करते थे। यही लोग असुर, दस्यु, म्लेच्छ आदि कहाए। समयान्तर में जम्बुद्वीप में भी केवल भारतवर्ष ही ऐसा प्रदेश रह गया, जहाँ विशुद्ध आर्य धर्म तथा वेदानुकूल आचार-विचार कायम रहे। जम्बुद्वीप के अन्य भागों (वर्षों) तथा पृथ्वी के अन्य छह द्वीपों में ऐसे धर्म प्रचलित हो गये, जिन पर आर्य धर्म का प्रभाव तो अवश्य था, पर जिनमें बहुत से ऐसे तत्वों का समावेश हो गया था जो मूल आर्य मन्तव्यों के अनुकूल नहीं थे। भारतवर्ष के सीमान्तवर्ती प्रदेशों में किस प्रकार विशुद्ध आर्य धर्म से विमुख लोगों का निवास हो गया था, ब्रह्माण्ड पुराण से इस पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वहाँ लिखा है कि "कुमारी (कन्याकुमारी) से गंगा के उद्गम तक विस्तृत जो भारत है, उसके सीमान्तों पर म्लेच्छ जातियों का निवास है, पूर्वी सीमान्त पर किरात हैं, और पश्चिमी सीमान्त पर यवन। मध्य भाग (भारतवर्ष) में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (चातुर्वर्ण्य में विभक्त आर्य) रहते हैं।"[1]

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जो यह मत है कि प्राचीन काल में सम्पूर्ण पृथ्वी पर आर्यों का शासन था, उसकी पुष्टि पौराणिक अनुश्रुति द्वारा भी होती है इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। भारतवर्ष के अतिरिक्त पृथ्वी के अन्य भागों व द्वीपों पर स्वायम्भुव मनु के वंशजों ने किस प्रकार शासन किया—इस विषय में पुराणों से विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। पर भारत के क्षेत्र में आग्नीध्र के पुत्र नाभि के वंशजों ने किस प्रकार अपनी शक्ति का विस्तार किया और उनके कौन-से विविध राज्य स्थापित हुए, इसका परिचय पौराणिक अनुश्रुति से प्राप्त किया जा सकता है। भारतवर्ष के इन आर्य राजाओं में भी अनेक ऐसे थे, जिन्होंने चक्रवर्ती सार्वभौम विशाल साम्राज्य स्थापित किये थे, और जिनका शासन पृथ्वी के बड़े भाग पर विद्यमान था। ऐसे कुछ राजाओं का

---

१. द्वीपो ह्युपनिविष्टोऽयं म्लेच्छैरन्तेषु सर्वशः
पूर्वे किराता ह्यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः मध्ये शूद्राश्च भागशः ॥

(ब्रह्माण्ड पुराण १६/१२-१३)

यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा। यदुवंश के राजा शशबिन्दु को पुराणों में 'चक्रवर्ती' और 'महासत्व' कहा गया है। उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। शशबिन्दु का जामाता मान्धाता चक्रवर्ती व सार्वभौम सम्राट् था। वायु पुराण में उसके सम्बन्ध में लिखा है कि "जहाँ से सूर्य उदय होता है और जहाँ वह अस्त होता है, उनके बीच का सम्पूर्ण प्रदेश मान्धाता का शासन क्षेत्र है।"[1] इस प्रतापी राजा ने दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ की थीं। पुराणों और महाभारत में उसकी विजयों का विशद रूप से उल्लेख है। उसकी विजयों की स्मृति अश्वघोषकृत बुद्धचरित तथा बाणभट्ट के हर्षचरित में भी परिलक्षित है। बाण ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि मान्धाता पुत्र-पौत्रों के साथ पाताल (रसातल) देश तक भी चला गया था।[2] इसमें सन्देह नहीं कि मान्धाता का राज्य अत्यन्त विस्तृत था, और उत्तर-पश्चिम में गान्धार देश भी उसके अन्तर्गत था। मरुत्त भी एक प्रतापी चक्रवर्ती राजा था, और उसने दिग्विजय कर अश्वमेध यज्ञ का भी अनुष्ठान किया था। प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में कितने ही अन्य भी राजाओं का विवरण उपलब्ध है, जिन्होंने कि भारतवर्ष के विविध राज्यों एवं प्रत्यन्तवर्ती देशों को विजय कर सार्वभौम चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। शतपथ ब्राह्मण में बहुत से ऐसे राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने कि अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। मरुत्त का नाम भी इन राजाओं में है। मरुत्त के अतिरिक्त पुरुकुत्स, भरत, सात्रासाह, शतानीक आदि कितने ही राजाओं के नाम अश्वमेधयाजी के रूप में शतपथ ब्राह्मण में दिये गये हैं।[3] ऐतरेय ब्राह्मण और मैत्रायण्युपनिषद् में भी अनेक सार्वभौम चक्रवर्ती राजाओं का उल्लेख है। पर यह स्पष्ट नहीं है कि इन चक्रवर्ती सम्राटों की अधीनता में कोई ऐसे भी प्रदेश थे, जो भारतवर्ष के अन्तर्गत न हों। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन के द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञों का ही उल्लेख है। किन राजाओं से अधीनता स्वीकार कर इन सम्राटों ने सार्वभौम चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था, यह प्राचीन साहित्य में कहीं स्पष्ट नहीं किया गया।

महाभारत में जिन बहुत-से जनपदों या राज्यों का उल्लेख है, उनमें से कुछ ऐसे भी हैं, जो भारतवर्ष के क्षेत्र में नहीं आते। ऐसे राज्य यवन, गान्धार, चीन, तुषार, शक, पल्हव, हारहूण, कम्बोज, दरद, बर्बर, लम्पाक, दशेरक, तंगण, बाल्हीक आदि थे। इन विदेशी राज्यों में से कुछ की सेनाएँ कौरवों अथवा पाण्डवों का पक्ष लेकर महाभारत युद्ध में सम्मिलित भी हुई थीं। राजा युधिष्ठिर ने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए इनमें से अनेक राज्यों की विजय भी की थी, और कुछ विदेशी राजा उसकी राजसभा में उपस्थित भी हुए थे। महाभारत (कर्ण पर्व ७७/१९) के अनुसार शक, यवन और दरद राज्य महाभारत युद्ध में कौरवों के पक्ष में थे, और उनकी सेनाओं ने युद्ध में भाग भी

---

१. यावत्सूर्य उदयति यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद्योर्क्षैसयाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥

वायुपुराण ८८/६८

२. मान्धाता मार्गणव्यसनेन सपुत्र पौत्रो रसातलमगात्।

हर्षचरित (तृतीय उच्छ्वास)

३. शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १३, प्रपाठक ३।

४. शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १३, प्रपाठक ३।

लिया था। कौरव दुर्योधन की माता गान्धारी गान्धार देश के राजा सुबल की पुत्री थी,[1] और उसके भाई शकुनी का कौरवराज पर बहुत प्रभाव था। गान्धारराज सुबल की एक बहिन सत्या या सुकेशा भी थी, जिसका विवाह यादव कृष्ण के साथ हुआ था।[2] गान्धार देश की स्थिति सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश में थी, और वर्तमान समय के अफगानिस्तान का बड़ा भाग भी उसके अन्तर्गत था। पुष्करावती उसकी राजधानी थी। गान्धार के राजाओं में नग्नजित् बहुत प्रसिद्ध हुआ है। सुबल उसका पुत्र था। शतपथ ब्राह्मण में भी इस राजा का उल्लेख है।[3] पाण्डव युधिष्ठिर की दिग्विजय से पूर्व कर्ण ने जब पश्चिम दिशा में विजय यात्रा की, तो उसने गान्धार नग्नजित् को भी परास्त किया था।[4] गान्धार देश के राजा भारत के आर्य सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते थे। यही कारण है, जो गान्धार राजा सुबल युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करने के अवसर पर उसकी राजसभा में उपस्थित हुआ था। महाभारत के समय में गान्धार भी एक आर्य राज्य ही था। यही कारण है, जो वहाँ के राजकुल का भारत के अनेक राजकुलों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। वस्तुतः, गान्धार का राजवंश उन्हीं अर्थों में आर्य था, जिनमें कि अयोध्या का ऐक्ष्वाकव वंश और हस्तिनापुर के कुरु वंश आदि थे। प्रतिष्ठान के ऐल वंश में उत्पन्न राजा ययाति के अन्यतम पुत्र द्रुह्यु के वंश में राजा गन्धार हुआ था, जो सम्भवतः मान्धाता का समकालीन था। इसी गन्धार ने उत्तर-पश्चिम में जाकर गान्धार राज्य की स्थापना की थी। गान्धार के पश्चिम में यवन राज्य की स्थिति थी। अनुश्रुति के अनुसार इनके राजवंश का सम्बन्ध भी द्रुह्यु के भाई तुर्वसु के वंशजों के साथ था। आर्यावर्त से सुदूर प्रदेश में बस जाने के कारण यवनों का आर्यों की प्रमुख धारा से सम्बन्ध कम होता गया, और उनकी भाषा, आचार-विचार आदि में भी अन्तर आने लगा। पर महाभारत के समय तक भी यवन राज्य का भारत के आर्य राज्यों के साथ सम्बन्ध बना रहा। पाण्डव युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये यवन राजा भी इन्द्रप्रस्थ आया था। तुषार या तुखार देश मध्य एशिया में वंक्षु नदी के क्षेत्र में था। वहाँ का शासक युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित हुआ था, और महाभारत युद्ध में तुषार सेना ने दुर्योधन का साथ दिया था। शक राज्य की स्थिति भी मध्य एशिया के क्षेत्र में थी। भारत के साथ शकों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। महाभारत युद्ध में शक सैनिकों ने भी भाग लिया था, और वे कौरवों के पक्ष में थे। गान्धार, यवन, तुषार और शक के समान महाभारत में पल्हव, चीन, दरद और हूण का भी उल्लेख विद्यमान है। अन्य भी कितने ही विदेशी राज्यों व जातियों का विवरण महाभारत में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के प्रसंग में और महाभारत युद्ध का वर्णन करते हुए दिया गया है। ये सब राज्य

---

१. गान्धार राजपुत्रोऽभूच्छकुनिः सौबलस्तथा,
दुर्योधनस्य माता च जज्ञातेऽर्थविदावुभौ ॥

महाभारत, आदि पर्व ५७/६४।

२. तस्मिन् गान्धार राजस्य दुहिता कुलशालिनी।
सुकेशी नाम विख्याता केशवेन निवेशिता ॥

महाभारत, सभा पर्व ५७/२६।

३. शतपथ ब्राह्मण ८/१/४/१०।

४. महाभारत, द्रोण पर्व ४/५।

व प्रदेश उस क्षेत्र के अन्तर्गत थे, जिसे प्राचीन अनुश्रुति में जम्बुद्वीप संज्ञा दी गई है। प्लक्षद्वीप, शाल्मलि द्वीप आदि अन्य द्वीपों के निवासियों के साथ आर्यावर्त के आर्यों का सम्बन्ध चाहे चिरकाल तक न रहा हो, पर यह प्रायः सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जम्बुद्वीप के विविध देशों (यवन, शक, तुषार, दरद आदि) के साथ आर्यों का सम्बन्ध चिरकाल तक कायम रहा, और आर्यावर्त के प्रतापी सम्राट् समय-समय पर विजय यात्राएँ कर इन्हें अपने शासन में रखते रहे। मान्धाता, युधिष्ठिर आदि के सम्मुख इनकी स्थिति माण्डलिक राजाओं के सदृश ही थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसी तथ्य को प्रतिपादित किया है। वर्तमान समय में भारत के पश्चिम, उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में जो भी प्रदेश हैं, उनसे आर्य धर्म व आर्य आचार-विचार का प्रायः लोप हो चुका है। पर एक ऐसा युग अवश्य था (महर्षि के अनुसार यह युग आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व तक था), जब भारत के पश्चिम और उत्तर में स्थित सब प्रदेश आर्यों के प्रभाव में थे। राजनीतिक दृष्टि से वे समय-समय पर सार्वभौम आर्य-सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते रहे, और धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र में उनकी मान्यताएँ, विश्वास, आचरण तथा पूजा-पद्धति आदि आर्यों के सदृश ही रहीं।

(२) प्राचीन संसार के विविध क्षेत्रों में आर्य सभ्यता की सत्ता के संकेत

प्राचीन काल में आर्यावर्त (भारत) के अतिरिक्त पृथ्वी के अन्य अनेक क्षेत्रों में भी आर्य धर्म एवं संस्कृति की सत्ता थी, इस बात की पुष्टि पुरातत्व सम्बन्धी खोज द्वारा भी होती है। ईरान के दक्षिण-पश्चिम में युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों का मध्यवर्ती प्रदेश प्राचीन काल में सभ्यता का महत्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ की प्राचीनतम सभ्यता सुमेरियन थी, जिसकी लिपि को अभी पढ़ा नहीं जा सका है। बाद में इस क्षेत्र में कैल्डियन (काल्दी) लोगों ने अपना राज्य स्थापित किया और फिर बैबिलोनियन (बाबुली) लोगों ने। बैबिलोनियन लोगों का मुख्य देवता 'अस्सुर' था, जिसके नाम पर उन्होंने युफ्रेटिस नदी के पश्चिमी तट पर एक नगर भी बसाया था। अस्सुर के राजा शाल्मनेसर ने १३०० ई० पू० के लगभग प्रायः सम्पूर्ण बैबिलोनिया को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, और इस समय से बैबिलोनियन लोगों का राज्य अस्सीरिया कहाने लगा। इन बैबिलोनियन या असीरियन लोगों के धार्मिक मन्तव्यों की वैदिक आर्यों के धर्म से समता थी। इनके प्रधान देवता 'अनु' और 'बल' थे, जिन्हें ये 'अस्सुर' या 'असुर' भी कहते थे। असुर के उपासक होने के कारण ही सम्भवतः ईराक के इन प्राचीन निवासियों को अस्सुर (असीरियन) कहा जाता था। बल या बाल का ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में उल्लेख है। असुर के समान वह भी इन्द्र का विरोधी व शत्रु था, और उसे पराभूत करने के कारण इन्द्र के लिये 'बलरुज्' विशेषण भी प्रयुक्त किया गया है।[1] वैदिक आर्यों की दृष्टि में बल का वही रूप था, जो असुर का था। ईरान में आर्यों की जो शाखा जाकर बसी थी, वह भी असुर की उपासक थी। क्योंकि ईरानियों के समान असीरियन लोगों का भी प्रधान उपास्य देव असुर था, अतः यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा कि बैबिलोनियन या असीरियन

१. वृत्रखादो बलरुजः पुरां दर्मो अपामजः।
स्थाता रथस्य हर्य्योरभिस्वर इन्द्रो दृढा चिदारुजः॥
ऋग्वेद ३/४५/२।

लोग भी आर्यों की ही एक शाखा थे। आर्यों की मुख्य शाखा से कतिपय महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मतभेद हो जाने के कारण जैसे ईरानी (पारसी) लोग उससे पृथक् हो गये थे, वैसे ही आर्य होते हुए भी असीरियन लोग एक ऐसे धर्म का अनुसरण करने लगे थे जो कि भारत (आर्यावर्त) के आर्य धर्म से भिन्न था। असीरियन लोगों के अन्य देवता 'अनु' और 'दगनु' थे जिन्हें अग्नि और दहन के साथ मिलाया गया है। ये लोग वायु देवता को 'मनु' कहते थे, जो सम्भवतः मरुत् का अपभ्रंश है। सूर्य देवता के लिये ये 'दिग्रनगु' शब्द प्रयुक्त करते थे, जिसे दिनेश के साथ मिलाया जा सकता है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनका यह मत था, कि प्रारम्भ में केवल 'अप्सु' और 'तिग्रमत' की सत्ता थी। सृष्टि का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। वैदिक आर्य भी यही मानते थे कि सृष्टि से पूर्व सर्वत्र तम व्याप्त था, और फिर आपः द्वारा सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। 'तिअमत' तम का और 'अप्सु' आपः का ही रूप है। युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों के क्षेत्र की इन प्राचीन सभ्यताओं के जिन राजाओं के नाम वहाँ के भग्नावशेषों में उपलब्ध तख्तियों पर कीलांकित रूप से उत्कीर्ण मिले हैं, उनमें कतिपय नाम ऐसे भी हैं जो संस्कृत भाषा के नामों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

बैबिलोनियन (असुर) लोगों ने पश्चिम की ओर आगे बढ़कर एक नया उपनिवेश भी बसाया था, जिसे 'कानान' कहते थे। इसकी स्थिति उस प्रदेश में थी, जहाँ वर्तमान समय में पैलेस्टाइन (फिलिस्तीन) है। इसी काल में पश्चिमी एशिया के उस प्रदेश में जहाँ अब तुर्की नामक राज्य है, दो जातियों का निवास था जिन्हें हत्ती (खत्ती) या हित्ताइन और मित्तन्नी कहते थे। उस प्रदेश में इन जातियों के दो पृथक् राज्यों की सत्ता थी। पश्चिमी एशिया के अनेतोलिया क्षेत्र में बोगज-कोई नामक एक स्थान है जहाँ एक उत्कीर्ण लेख मिला है। इसमें एक सन्धिपत्र अंकित है। इस सन्धिपत्र में इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्यौ को साक्षी रूप से उल्लिखित किया गया है। ये वैदिक देवता हैं और इनके नाम घनपाठ पद्धति से बोगज-कोई लेख में विद्यमान हैं। खत्ती और मित्तमी के इन राजाओं का काल १४५० से १३५० ई० पू० के मध्य में माना जाता है। यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इस अत्यन्त प्राचीन काल में वर्तमान तुर्की के इस प्रदेश में वैदिक देवताओं की पूजा प्रचलित थी। यह कल्पना कर सकना असंगत नहीं होगा कि पन्द्रहवीं सदी ईस्वी पूर्व में पश्चिमी एशिया के इस क्षेत्र में एक ऐसा धर्म प्रचलित था, जो वैदिक आर्य धर्म से बहुत समता रखता था।

मित्तन्नी के क्षेत्र से एक प्राचीन पुस्तक भी मिली है, जो मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण है। इसका विषय रथ और अश्व है और इसका लेखक किक्कुली नामक एक व्यक्ति था, जो अश्वविद्या तथा रथ संचालन का विशेषज्ञ था। इस पुस्तक में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। रथ के पहियों के घूमने के लिये इस पुस्तक में 'आवर्तन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, और एक तीन, पाँच व सात चक्करों के लिये क्रमशः एकवर्तन्न, तेरवर्तन्न, पंचवर्तन्न तथा सातवर्तन्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं। आवर्तन्न संस्कृत के आवर्तन शब्द का रूपान्तर है। इस पुस्तक का काल चौदहवीं सदी ईस्वी पूर्व माना जाता है। मित्तन्नी राजाओं द्वारा भेजे गये कतिपय पत्र ईजिप्त (मिस्र) के एल-अमरना नामक स्थान पर मिले हैं। ये भी मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण हैं। इन पत्रों में मित्तन्नी के राजाओं के नाम अर्ततम, दशरत्त आदि हैं, जो संस्कृत के ही अपभ्रंश या रूपान्तर हैं।

इसी प्रकार खत्ती राज्य के राजाओं व अन्य व्यक्तियों के नाम स्वर्दत, सुबन्धु, सतुवरा, इद्रन्दत, वीरसेन, अर्तदम, सुमित रस आदि किये गये हैं, जो स्वर्दत्त, सुबन्धु, सत्वर, इन्द्रोत, ऋतदमन तथा सुमित्र के रूपान्तर हैं। इसमें सन्देह नहीं कि खत्ती जाति के ये नाम उनके 'आर्य' होने का संकेत करते हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार गान्धार के ऐल वंश की एक शाखा ने पश्चिम में जाकर अपने राज्य स्थापित किये थे। यदि तुर्की की इन प्राचीन खत्ती और मितन्नी जातियों का सम्बन्ध वैदिक युग के भारतीय आर्यों के साथ हो, तो इसे असम्भव नहीं समझा जा सकता।

बैबिलोनियन लोगों ने पश्चिमी एशिया के समुद्रतट के समीप (वर्तमान पैलेस्टाइन में) कानान नामक जिस उपनिवेश की स्थापना की थी, उसके निवासी पूनि (प्यूनिक) कहाते थे, जिसके कारण उसे पूनिच्चिया या फिनीशिया भी कहा जाता था। ये पूनि लोग प्राचीन इतिहास में नौकायन और सामुद्रिक व्यापार के लिये बहुत प्रसिद्ध थे। वैदिक साहित्य में सम्भवतः इन्हें ही 'पणि' कहा गया है, और इनकी गणना भी असुरों में की गई है। पूनि या पणि लोग भी अस्सुर के उपासक थे। अतः वैदिक साहित्य में उन्हें असुर कहा जाना सर्वथा संगत है।

पुराणों में नील नदी के उद्गम स्थान को कुशद्वीप कहा गया है। वहाँ इस द्वीप का जो वर्णन है, उसी का सहारा लेकर कैप्टेन स्पीक ने नील नदी के उद्गमस्थान का पता लगाया था। पुराणों में सम्पूर्ण पृथ्वी को जिन सात द्वीपों में विभक्त किया गया है, उनमें कुशद्वीप भी एक है। स्वायम्भव मनु ने पृथ्वी का शासन अपने वंशजों के सुपुर्द करते हुए कुशद्वीप का शासन ज्योतिष्मान् को दिया था। नील नदी का उद्गम स्थान अब अबीसीनिया राज्य में है। पर प्राचीन काल में यह कुशद्वीप कहाता था और इसमें आर्यों की उस शाखा का निवास था जिसका पूर्वपुरुष ज्योतिष्मान् था। प्राचीन ईजिप्ट के लोग जिन विविध देवी-देवताओं की पूजा करते थे उनमें एक कर्करी भी था। वहाँ के देवी-देवताओं में कर्करी का वही स्थान था, जो भारतीय देवताओं में गणेश का है। अथर्ववेद के कुन्ताक सूक्त में भी कर्करी का उल्लेख है और वहाँ भी उसका सम्बन्ध लेखन के साथ है। इससे यह संकेत मिलता है कि ईजिप्ट के प्राचीन निवासी भी एक ऐसे धर्म के अनुयायी थे, जिसका सम्बन्ध वैदिक आर्यों के धर्म के साथ था। प्राचीन ईजिप्ट के धार्मिक विश्वासों का अध्ययन का अनेक विद्वान् इस परिणास पर पहुंचे हैं कि उनमें और वैदिक आर्यों के धर्म में बहुत समता थी। ईजिप्ट के प्राचीन निवासियों का विश्वास था कि प्रारम्भ में यह पृथ्वी सब ओर जल से ढकी हुई थी। बाद में जल में एक फूल उत्पन्न हुआ और उससे 'रा' देवता की उत्पत्ति हुई। 'रा' की चार सन्तानें थीं, जिनसे सम्पूर्ण मनुष्य जाति का प्रादुर्भाव हुआ। भारत की पौराणिक गाथाओं के अनुसार भी कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए थे, और इनसे अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नाम के चार ऋषि। भारतीय आर्यों के समान ईजिप्ट के प्राचीन निवासी भी चार वर्गों या वर्णों में विभक्त थे—पुरोहित व धर्माचार्य, सैनिक, शिल्पी तथा व्यापारी और श्रमिक। ईजिप्ट के प्राचीन मन्दिरों, मूर्तियों आदि में भी अनेक ऐसे तत्वों की सत्ता है, जिन पर भारतीय प्रभाव के संकेत मिलते हैं। जैसी विशाल नृसिंह मूर्तियाँ ईजिप्ट के प्राचीन निवासियों ने प्रतिष्ठापित की थीं, वे पुराणों के नृसिंह अवतार की कल्पना के अनुरूप ही थीं। पुराणों में जिसे कुशद्वीप कहा गया है, ईजिप्ट और अबीसीनिया आदि

अफ्रीकन देश उसी के अन्तर्गत थे और उन पर भारतीय आर्यों के धर्म, सभ्यता आदि के प्रभाव का होना स्वाभाविक ही था।

मध्य अमेरिका के मेक्सिको आदि देशों में प्राचीन काल में अनेक सभ्य राज्यों की सत्ता थी। पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदियों में यूरोप के लोगों को जब अमेरिका महाद्वीप का पता चला, तो उन्होंने इन राज्यों को आक्रान्त कर वहां की प्राचीन सभ्यताओं को नष्ट कर दिया। मय, इन्का और एजटेक इन सभ्यताओं में प्रधान थीं। यद्यपि ये सभ्यताएँ अब नष्ट हो चुकी हैं, पर इनका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर अनेक विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इन पर एशिया की सभ्यताओं के प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। एजटेक लोगों में तो यह अनुश्रुति भी चली आती थी, कि क्वेट्सालकटल नाम का एक शुभ्र व्यक्ति प्राची से उनके देश में आया था। उसकी दाढ़ी बहुत लम्बी थी, कद ऊँचा बाल काले और रंग शुभ्र था। उसने एजटेक लोगों को खेती की शिक्षा दी, धातुओं का प्रयोग सिखाया और शासन व्यवस्था के कार्य में निपुणता प्राप्त कराई। एजटेक लोग इस महापुरुष की देवता के समान पूजा करने लगे और उस द्वारा उनके देश में सुवर्णीय युग का प्रारम्भ हुआ। सम्भवतः, एजटेक लोगों की इस अनुश्रुति की छाया वाल्मीकीय रामायण में भी विद्यमान है। वहाँ यह कथा आती है कि विष्णु से परास्त होकर सालकटंकट वंश के 'प्रख्यातवीर्य' राक्षस अपने देश लंका को छोड़कर पाताल देश चले गये थे। एजटक क्वेट 'सालकटल' और सालकटंकट में ध्वनिसाम्य है। यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस क्वेट् सालकटल ने प्राची से आकर एजटक लोगों को कृषि, धातुओं के उपयोग और शासन व्यवस्था की शिक्षा दी थी, वह लंका के राक्षस कुल का था। और भारत से ही पाताल देश (अमेरिका) गया था। असुर, दस्यु और राक्षस आदि आर्यों के ही विविध वर्ग थे, जिनके आर्यावर्तीय आर्यों से आचार-विचार एवं धार्मिक विश्वास आदि के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हो गये थे। रावण राक्षसों का राजा था, पर वह वेद शास्त्रों में निष्णात भी था। एजटक अनुश्रुति के अनुसार क्वेट् सालकटल स्थायी रूप से एजटक देश में नहीं बस गया था, बाद में वह अपने प्राच्य देश को लौट गया था। रामायण के अनुसार भी सालकटंकट पाताल से अपने देश लंका को वापस आ गया था। मय, इन्का और एजटक सदृश प्राचीन अमेरिकन सभ्यताओं पर एशिया के जिस प्रभाव को आधुनिक विद्वानों ने स्वीकार किया है, उसका कारण सम्भवतः सालकटंकट वंश के राक्षसों द्वारा वहां सभ्यता का प्रवेश कराना ही था।

ईरान (पर्शिया) के प्राचीन निवासियों का आर्यावर्त के आर्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, इस तथ्य को प्रायः सभी ऐतिसासिक स्वीकार करते हैं। ईरानी लोगों का प्रधान देवता अहुरमज्द या असुर-महत् था। प्राचीन भारतीय साहित्य में असुर शब्द का प्रयोग बुरे अर्थ में हुआ है, और प्राचीन ईरानी साहित्य (जेन्दवास्ता) में देव शब्द का। पर प्रारम्भ में यह बात नहीं थी। अत्यन्त प्राचीन काल में भारतीय साहित्य में भी असुर शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थों में होता था और वह देव का पर्यायवाची था। ईरानी लोग भी उन्हीं आर्यों की एक शाखा थी, जिन्होंने हिमालय के दक्षिण में विद्यमान भारत भूमि को आबाद किया था और उसे आर्यावर्त नाम दिया था। समयान्तर में उपास्य देवता, आचार-विचार आदि के सम्बन्ध में ईरानी आर्यों के भारतीय आर्यों से मतभेद हो गये, और इन मतभेदों के कारण उनमें संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट

रूप से लिखा है कि देव और असुर दोनों ही प्राजापत्य (प्रजापति की सन्तान) हैं। देव कनिष्ठ हैं, और असुर ज्येष्ठ हैं। यद्यपि देव और असुर परस्पर भाई-भाई थे, पर उनमें प्रतिस्पर्धा रहा करती थी। वही प्रतिस्पर्धा बढ़ते-बढ़ते उस घोर संघर्ष के रूप में परिवर्तित हो गई, जिसे देवासुर संग्राम कहा जाता है। यद्यपि आर्यों की ईरानी और भारतीय शाखाओं में विरोध बढ़ता गया, पर उनके धार्मिक मन्तव्यों व पूजाविधि में सादृश्य भी पर्याप्त रूप से विद्यमान रहा। भारतीय आर्यों के समान ईरानी आर्य भी अग्नि के पूजक थे। कुण्ड में अग्नि का आधान कर उसकी पूजा करना उनके धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग था। वर्तमान समय के पारसी लोग, जो प्राचीन ईरानी आर्यों के उत्तराधिकारी हैं और कुछ परिवर्तित रूप में उन्हीं के धर्म के अनुयायी हैं, अग्नि को पवित्र मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। अग्नि को पवित्र मानने के कारण ही पारसी लोग शव का दाह नहीं करते। सूर्य या मित्र भी अग्नि का ही एक रूप है। ईरानी आर्यों के धर्म में इस उपास्य देवता का विशिष्ट स्थान था, और वे मिथ्र (मित्र या सूर्य) की पूजा किया करते थे। मिथ्र के समान वे 'वरन' के भी पूजक थे। वरन वरुण का ही रूपान्तर है। ईरान में सोमलता को प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि यह उत्तर-पश्चिमी भारत के पार्वत्य प्रदेश में ही उत्पन्न होती थी। पर ईरानी आर्य सोम को भूले नहीं थे। उनके धर्मग्रन्थ जिन्दावेस्ता में 'होम' के नाम से सोम की महिमा का बखान किया गया है। 'होम' सोम को ही कहते थे। आर्यावर्त के आर्यों और ईरानी आर्यों के धर्मों में कितनी ही अन्य भी समताएं प्रदर्शित की जा सकती हैं। 'अपानपात' देवता वेदों में भी है, और अवेस्ता में भी। वेदों का गन्धर्व अवेस्ता में 'गन्दरव' रूप में विद्यमान है, और वेदों का कृशाणु 'करसामि' के रूप में। वैदिक साहित्य में यदि विवस्वान् के पुत्र यम का उल्लेख है, तो अवेस्ता में विवन्हन्त के पुत्र 'यम' को स्वर्गलोक का अधिपति कहा गया है। याज्ञिक कर्मकाण्ड के साथ सम्बन्ध रखने वाले कितने ही शब्द वैदिक और प्राचीन ईरानी साहित्य में एक सदृश हैं। अवेस्ता में होता को 'जोता', आहुति को 'आजुति' मन्त्र को 'मन्थ्र', गोमेध को 'गोमेज', अथर्वन् को 'अथ्रवन्' और यज्ञ को 'यश्न' कहा गया है। अवेस्ता के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ईरान और भारत के प्राचीन धर्मों में बहुत समता थी और प्राचीन ईरानी लोग आर्य धर्म व संस्कृति से बहुत प्रभावित थे। वस्तुतः, ईरन का प्राचीन धर्म, मूल वैदिक या आर्य धर्म का ही एक रूप था, जिसमें देश और काल की भिन्नता के कारण भेद आ गया था।

ग्रीस और इटली के प्राचीन निवासी भी आर्य ही थे। उनके धर्म व भाषा आदि में भी आर्यावर्त के प्राचीन धर्म आदि से अनेक समताएँ हैं। ग्रीस के समीप भूमध्य सागर में क्रीट नाम का एक द्वीप है। अनुश्रुति के अनुसार क्रीट के आदि शासक का नाम 'मीनस्' था, और उसी द्वारा वहाँ सभ्यता का विकास किया गया था। क्रीट की इस 'मीन' सभ्यता के अवशेष भी वर्तमान समय में उपलब्ध हुए हैं। भारत की प्राचीन अनुश्रुति में भी मीन लोगों की स्मृति के संकेत विद्यमान हैं, जिससे यह सूचित होता है कि आर्यावर्त के निवासी सुदूर पश्चिम की इस सभ्यता से भी परिचय रखते थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जो यह मन्तव्य था कि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व तक आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य था, और जितनी विद्या तथा धार्मिक विचार संसार में फैले, आर्यावर्त से ही उन सबका प्रसार हुआ था—आधुनिक

इतिहासज्ञ इसे स्वीकार करने में संकोच करेंगे। पर विश्व के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों की जो धारणाएँ हैं, उनमें निरन्तर परिवर्तन आते जा रहे हैं। पुरातत्व सम्बन्धी शोध द्वारा नये-नये तथ्यों के प्रकाश में आने और नृतत्त्वशास्त्र सदृश विज्ञानों में निरन्तर प्रगति के कारण पुरानी धारणाएँ परिवर्तित होती जा रही हैं। हमने ऊपर जिन तथ्यों का उल्लेख किया है, वे महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों की सत्यता के प्रति संकेत अवश्य करते हैं। आधुनिक इतिहासज्ञ भी इस बात को स्वीकार करते हैं, कि पन्द्रहवीं सदी ई० पूर्व में तुर्की और ईराक के निवासी ऐसे धर्मों के अनुयायी थे, वैदिक आर्य धर्म से जिनकी अनेक अंशों में समता थी। ईरान के लोग आर्यों की ही एक शाखा थे और उनके धर्म आदि का वैदिक धर्म से बहुत सान्निध्य था, यह तो सभी स्वीकार करते हैं। मध्य एशिया में निवास करने वाले शक लोग भी सूर्य के उपासक थे और उनके धार्मिक मन्तव्य भी आर्यों द्वारा प्रभावित थे। यह तथ्य भी गत वर्षों की पुरातत्व-सम्बन्धी शोध द्वारा सम्मुख आया है। इस दशा में महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों को निराधार कहना कदापि सम्भव नहीं है। महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ६४) में लिखा है कि यवन, किरात, गान्धार, चीन, शवर, बर्बर, शक, तुषार, कंक और पल्लव (पल्हव) सब म्लेच्छ जातियां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों से ही उत्पन्न हुई हैं। इन सब लोगों का उद्भव आर्यों से ही हुआ था, महाभारत में यही मत प्रतिपादित है। फिर इनके धर्म तथा आचार-विचार में आर्यों से कैसे भेद हो गया, इसका उत्तर मनुस्मृति में यह दिया गया है कि कम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्लव (पल्हव), चीन, किरात, खस आदि क्षत्रिय जातियाँ वृपलत्व (शूद्रत्व) को प्राप्त हो गईं, क्योंकि ब्राह्मणों से उनका सम्पर्क नहीं रह गया था। मनुस्मृति के इस कथन को निराधार नहीं माना जा सकता। इसमें किसी ऐसे अत्यन्त प्राचीन काल की स्मृति सुरक्षित है, जब (जैसा कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है) केवल एक ही जाति (मनुष्य जाति) थी, और उसका एक ही धर्म था। आदि सृष्टि के इन मनुष्यों ने आर्यावर्त देश को अपने स्थायी विकास के लिए चुना था। पर कालान्तर में जब इन मनुष्यों के कुछ भाग सुदूर देशों में जाकर बसने लगे, तो नये प्रदेशों की विभिन्न परिस्थितियों के कारण उनके रहन-सहन व आचार-विचार आदि में विभिन्नताएँ विकसित होने लगीं और आर्यावर्त के धार्मिक आचार्यों के साथ भी उनका सम्पर्क नहीं रह गया। इस दशा में स्वाभाविक था, कि उनके धर्म एवं संस्कृति में कतिपय ऐसे तत्त्वों का समावेश होने लगे, जो आर्य मर्यादा के अनुरूप न हों। इसी के परिणामस्वरूप यवन, शक, पल्हव आदि लोग आर्यावर्त के आर्यों से भिन्न होते गये, और उन्हें 'वृषल' समझा जाने लगा।

(५) महर्षि दयानन्द सरस्वती की चक्रवर्ती आर्य राज्य की कल्पना

महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह मन्तव्य है कि महाभारत-युद्ध के समय तक पृथ्वी पर आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि उस समय सम्पूर्ण पृथ्वी पर केवल एक ही राज्य की सत्ता थी। आर्यावर्त के अतिरिक्त अन्य देशों में उस समय अनेक पृथक् राज्य विद्यमान थे, पर वे सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न न होकर आर्यावर्त के चक्रवर्ती व सार्वभौम सम्राट् की अधीनता में होते थे। उनकी स्थिति 'माण्डलिक' राजाओं की थी। महर्षि के अनुसार पाण्डव युधिष्ठिर भी चक्रवर्ती आर्य सम्राट् था, और

चीन, यूरोप और यूनान आदि के राजा उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। इसीलिए वे सब युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित हुए थे। "स्वायम्भव राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गये, क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थरहितता, ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं, जैसे कि मद्य मांस सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते हैं, और जब युद्ध विभाग में युद्ध विद्या कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करने वाला भूगोल में दूसरा न हो तब उन लोगों में पक्षपात अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से कोई ऐसा समर्थ पुरुष खड़ा हो जाता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे, जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवाजी, गोविन्दसिंह जी ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।"[1] महर्षि के अनुसार इन्हीं कारणों से और इसी प्रक्रिया से आर्यों की शक्ति का ह्रास हुआ। महाभारत युद्ध से पूर्व ही आर्यों में उन दोषों व अवगुणों का प्रादुर्भाव होना प्रारम्भ हो गया था, जिनका वर्णन सत्यार्थप्रकाश के ऊपर दिये गये उद्धरण में किया गया है। इन्हीं के कारण महाभारत-युद्ध हुआ और महर्षि के शब्दों में "ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया है कि अब तक भी वह अपनी पूर्व दशा में नहीं आया।" महर्षि चाहते थे कि आर्यों के इस विलुप्त गौरव की पुनः स्थापना हो, एक बार फिर संसार में आर्यों का शासन हो और सर्वत्र आर्यधर्म का प्रचार हो। आर्यों के चक्रवर्ती सार्वभौम शासन की पुनःस्थापना से महर्षि का यह अभिप्राय नहीं था, कि किसी अन्य राज्य की सत्ता रहे ही नहीं। वे यह मानते थे कि सब राज्यों के ऊपर एक सार्वभौम चक्रवर्ती सत्ता का होना आवश्यक है। पर यह सत्ता किसी एक व्यक्ति की न होकर "सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज सभा" की होगी। महर्षि के अनुसार शासन की इकाई 'ग्राम' है। शासन की दृष्टि में सब ग्रामों को स्वायत्त और स्वशासित होना चाहिए। ग्राम के ऊपर दस बीस सौ, सहस्र, दस सहस्र और लक्ष ग्रामों के संगठन हों, और इन सबमें राज्य कार्य के सम्पादन के लिए राजसभाओं की सत्ता रहे। सबसे ऊपर सम्पूर्ण पृथ्वी के लिए जो शासन संस्था हो, उसमें भी एक राजसभा रहे जिसे महर्षि ने 'सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा' की संज्ञा दी है।[2] वंश-क्रमानुगत राजा महर्षि को अभिप्रेत नहीं थे। वे 'निर्वाचित सभापति' को ही राजा कहते थे। सभा के सदस्यों की नियुक्ति किस प्रकार की जाए, इस सम्बन्ध में महर्षि ने कोई निश्चित व्यवस्था नहीं दी है। पर उन्हें केवल ऐसे सभासद् ही अभीष्ट थे जो धर्मात्मा, सदाचारी एवं शास्त्रों में निष्णात हों। वे सच्चे अर्थों में आर्य (श्रेष्ठ) जनों का शासन स्थापित करना चाहते थे। सम्पूर्ण विश्व के मानवसमाज को 'आर्य' बनाना ही उन्हें अभीष्ट था। किसी सम्प्रदाय या मतविशेष के अनुयायियों के लिए 'आर्य' संज्ञा का प्रयोग उन्होंने

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास, पृ० २६२-२६३।

२. सत्यार्थ प्रकाश, छठा समुल्लास, पृ० १४०।

नहीं किया। मनुष्यों को श्रेष्ठ व सदाचारी बनाने के लिए जो महान् उद्योग महर्षि द्वारा प्रारम्भ किया गया था, उसी को जारी रखने के लिये उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की थी। आर्यसमाज के जो दस नियम उन्होंने बनाये थे, उनमें छठा नियम यह है—'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।' सम्पूर्ण संसार को सर्वतोमुखी उन्नति के लिए ही महर्षि ने आर्यसमाज नाम से एक संगठन का निर्माण किया था। उनका चरम लक्ष्य यह था कि संसार के सब निवासी आर्य या श्रेष्ठ होकर एक विश्वव्यापी संगठन में संगठित हो जाएँ। साथ ही, वे यह भी मानते थे कि यह महत्त्वपूर्ण कार्य आर्यावर्त (भारत) द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। उनका मन्तव्य था कि यह संसार का सर्वश्रेष्ठ देश है और यही वह सच्चा पारस मणि है जिसके सम्पर्क से लौहरूप अन्य देश सुवर्ण बन जाते हैं। प्राचीन समय में चिरकाल तक भारत और उसके निवासी आर्य लोग राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में विश्व का नेतृत्व करते रहे, क्योंकि वे 'श्रेष्ठ' थे, उनका सामाजिक जीवन आदर्श था, और वे वेदों द्वारा प्रतिपादित सदाचरण के नियमों का अविकल रूप से पालन करते थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती की कल्पना थी कि आर्यावर्त के लोग एक बार फिर विश्व का नेतृत्व करेंगे। पर यह तभी सम्भव हो सकेगा, जब वे सच्चे अर्थों में 'आर्य' हों। उन्हें आर्य बनाने के लिए ही 'आर्यसमाज' स्थापित किया गया था।

दूसरा अध्याय

आर्यों की शक्ति का क्रमिक ह्रास और उसके पुनरुत्थान के प्रयत्न

(१) महाभारत युद्ध के पश्चात् आर्यों की राजशक्ति का ह्रास

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत में युधिष्ठिर आर्यावर्त के अन्तिम चक्रवर्ती सार्वभौम राजा थे और उनके आधिपत्य को चीन, ईरान आदि के सब राजा स्वीकार करते थे। पर महाभारत युद्ध के पश्चात् आर्यों की राजशक्ति में ह्रास प्रारम्भ हो गया और स्वयं आर्यावर्त भी बहुत-से ऐसे छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त हो गया, जो परस्पर लड़ते रहते थे। आर्यावर्त की इस राजशक्ति की शिथिलता के कारण ही ईरान और यूनान आदि के राजाओं ने अपनी शक्ति को बढ़ाकर इस देश को भी आक्रान्त करना शुरू कर दिया।

वस्तुतः आर्यों की राजशक्ति का ह्रास महाभारत युद्ध से कुछ समय पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। उस काल में भी भारत में अनेक राज्यों की सत्ता थी, जिनके प्रतापी राजा समय-समय पर अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकार कराकर सार्वभौम चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते थे। पर ये महत्त्वाकांक्षी राजा अन्य राजवंशों व राजाओं की सत्ता को नष्ट नहीं करते थे। ये केवल उनसे अधीनता स्वीकार कराकर और 'समानों में ज्येष्ठ' स्थिति प्राप्त करके ही संतुष्ट हो जाते थे। इससे आर्यों की राजशक्ति में क्षीणता नहीं आने पाती थी, अपितु एक प्रतापी राजा या सम्राट् के नेतृत्व में संगठित हो जाने के परिणामस्वरूप उनकी शक्ति और भी बढ़ जाती थी। पर महाभारत युग के राजा जरासन्ध ने पुरानी आर्य मर्यादा का परित्याग कर एक नई नीति अपनाई। वह मगध का राजा था और अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था। अन्य राज्यों से अधीनता स्वीकार कराकर स्वयं चक्रवर्ती पद प्राप्त करना महत्त्वाकांक्षी आर्य राजाओं के लिए कोई नई बात नहीं थी। पर जरासन्ध ने अन्य राज्यों और उनके राजवंशों का मूलोच्छेद कर 'एकराट्' बनने का प्रयत्न किया और इस उद्देश्य से बहुत-से राजाओं को अपने बन्दीगृह में डाल दिया। महाभारत में लिखा है कि जरासन्ध शंकर को सन्तुष्ट करने के लिए यज्ञकुण्ड में राजाओं की बलि देता था और इस निमित्त बहुत-से राजाओं को उसने कैद कर रखा था। असम (प्राग्-ज्योतिष), चेदि, अंग, बंग, पौण्ड्र, कोशल, पाञ्चाल, मत्स्य आदि राज्यों को उसने अपने अधीन कर लिया था और मथुरा के क्षेत्र में वर्तमान अन्धक-वृष्णि संघ को अपने अभिजन का परित्याग कर सुदूर द्वारका में प्रवास करने के लिए विवश कर दिया था।

पर पाण्डव राजा युधिष्ठिर और अन्धक-वृष्णि संघ के संघमुख्य कृष्ण ने जरासन्ध के 'एकराट्' बनने के प्रयत्न का विरोध किया और आर्य मर्यादा के विरुद्ध मगध जिस ढंग के साम्राज्यवाद की स्थापना में तत्पर था उसे सफल नहीं होने दिया। जरासन्ध को मारकर पाण्डव बन्धुओं और कृष्ण ने उन सब राजाओं को बन्धनमुक्त कर दिया जो मगधराज की कैद में थे। कृष्ण की प्रेरणा से युधिष्ठिर ने प्राचीन आर्य मर्यादा का अनुकरण कर चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का प्रयत्न किया और इसमें उन्हें सफलता भी मिली। पर पाण्डवों का यह उत्कर्ष हस्तिनापुर के कौरवों को सहन नहीं हुआ। शिशुपाल, कर्ण और वक्र सदृश जो राजा जरासन्ध के मित्र थे, वे भी पाण्डवों के विरोधी थे। उन्होंने भी युधिष्ठिर के विरुद्ध कौरव राजा दुर्योधन का साथ दिया। इसी विरोध के कारण महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमें न केवल आर्यावर्त के अपितु पड़ौस में विद्यमान अन्य भी अनेक राज्यों के राजा सम्मिलित हुए। यद्यपि युद्ध में पाण्डवों की विजय हुई पर इससे दोनों पक्षों के धन-जन का इतना अधिक विनाश हुआ, कि आर्यावर्त की राजशक्ति में बहुत क्षीणता आ गई। महाभारत युद्ध में आर्यावर्त के प्रायः सभी राजाओं और राज्यों ने भाग लिया था। जिस विरोध व वैमनस्य के कारण वे एक-दूसरे का संहार करने में तत्पर हुए थे, युद्ध की समाप्ति पर भी उसका अन्त नहीं हो पाया। एक ही वंश के कौरव और पाण्डव जैसे एक-दूसरे के शत्रु थे, यादवों के विविध कुल भी उसी प्रकार एक-दूसरे के विरोधी होकर गृह कलह में तत्पर हो गये और उस द्वारा उन्होंने अपना विनाश कर लिया। महर्षि दयानन्द ने इस तथ्य को इस ढंग से प्रकट किया है—"आपस की फूट से कौरव-पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख सागर में डुबा मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक चलकर दुःख उठा रहे हैं।" एक अन्य स्थान पर महर्षि ने लिखा है—"स्वायम्भव मनु से पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध में लड़कर नष्ट हो गया।" इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत का युद्ध आपस की फूट के कारण हुआ था, और आपस का जो विरोध इस काल में शुरू हुआ, आर्यावर्त की राजशक्ति उसके परिणामस्वरूप निरन्तर शिथिल होती गई।

राजा युधिष्ठिर से पूर्व के काल में भी भारत में अनेक राज्य थे। पर क्योंकि वे सब एक सार्वभौम सम्राट् की अधीनता में संगठित थे, अतः उनमें परस्पर विरोध नहीं हो पाता था। पर महाभारत युद्ध के पश्चात् किसी केन्द्रीय सर्वोपरि सत्ता के अभाव में विविध राज्यों में ऐक्य व सहयोग सम्भव नहीं रह सका। परिणाम यह हुआ कि भारत पर विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गये। पाश्चात्य साहित्य में विद्यमान अनुश्रुति के अनुसार ईजिप्ट के राजा ओसिरिस ने पूर्व दिशा में अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए भारत पर भी आक्रमण किया था। ईजिप्ट के इतिहास में ओसिरिस का समय २२०० ई० पू० माना जाता है। यदि महाभारत युद्ध को ३००० ई० पू० के लगभग माना जाए, तो ओसिरिस का भारत-आक्रमण युधिष्ठिर से ८०० वर्ष पश्चात् हुआ था। निस्सन्देह, उस समय भारत की राजशक्ति का पर्याप्त ह्रास हो चुका था। एक अन्य पाश्चात्य अनुश्रुति के अनुसार २००० ईस्वी पूर्व के लगभग असीरिया की साम्राज्ञी सेमिरेमिस ने भी भारत को आक्रान्त किया था, यद्यपि इस देश पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में वह सफल

नहीं हो सकी थी। इन विदेशी आक्रान्ताओं के भारत पर आक्रमण यह सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि महाभारत युद्ध के पश्चात् भारत की राजशक्ति में ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी।

छठी सदी ईस्वी पूर्व में ईरान के हखामनी वंश के राजाओं ने भारत पर आक्रमण शुरू किये। इस वंश का राजा कुरु (काइरस) बड़ा प्रतापी था। पूर्व दिशा में उसने बाख्त्री (बैक्ट्रिया), शकस्थान (सीस्तान) और मकरान को जीतकर कपिश को आक्रान्त किया और हिन्दुकुश पर्वतमाला तक के प्रदेश को अपने अधीन कर लिया। हखामनी वंश का राजा दारयवहु (५२१-४८५ ई० पू०) या डेरियस और भी प्रतापी था। उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध को भी विजय किया। ये सब प्रदेश भारत या आर्यावर्त के अन्तर्गत थे। बाख्त्री और शकस्थान भी आर्यावर्त के ही अंग थे। युधिष्ठिर के समय तक इन सबके राजा आर्यावर्त के सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् की वंशवर्तिता में रहा करते थे। सम्भवतः यह पहला अवसर था, जबकि इन्होंने आर्यावर्त के आर्य सम्राट् के बजाय ईरान के सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार किया था। ईरान के राजा भी 'आर्य' थे, पर उनका धर्म आर्यावर्त के आर्यों से अनेक अंशों में भिन्न था।

चौथी सदी ईस्वी पूर्व में मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए भारत पर भी आक्रमण किया और विपाशा (व्यास) नदी तक आ पहुँचा। यद्यपि वह भारत के किसी भी भाग पर अपना स्थायी शासन स्थापित कर सकने में असमर्थ रहा, पर विजय-यात्रा करते हुए पंजाब में इतनी दूर तक जो वह आ सका, यह उस युग में भारत की राजशक्ति की शिथिलता को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

सिकन्दर के बाद भी भारत पर विदेशियों के आक्रमण निरन्तर होते रहे। यवन, शक, पल्हव, युइशि, हूण आदि जातियाँ समय-समय पर भारत को आक्रान्त करती रहीं, और इस देश के कतिपय प्रदेशों में अपने पृथक् राज्य स्थापित करने में भी उन्हें सफलता प्राप्त हुई। कहाँ तो राजा युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में इन सबके राजाओं ने सम्मिलित होकर आर्यावर्त के आर्य सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार किया था, और कहाँ अब इन्होंने भारत पर आक्रमण कर उसे पद-दलित करना प्रारम्भ कर दिया था।

(२) आर्य धर्म एवं सभ्यता में विकृति

महाभारत युद्ध के पश्चात् आर्यों के प्राचीन धर्म तथा सभ्यता में भी विकृति आनी प्रारम्भ हो गई थी। प्राचीन काल में आर्यों के धार्मिक अनुष्ठान व पूजा-पद्धति में यज्ञों का प्रमुख स्थान था। यज्ञ एक भावना के परिचायक थे। पर धीरे-धीरे यज्ञों का रूप जटिल होता गया और लोग उनके विधिपूर्वक अनुष्ठान द्वारा अभिलषित फल की आशा करने लगे। एक समय ऐसा भी आया, जबकि यज्ञों में पशुबलि भी दी जाने लगी और यज्ञकुण्डों के समीप ऐसे यूपों का निर्माण किया जाने लगा, जिनसे पशुओं को बाँधा जाता था। छठी सदी ईस्वी पूर्व तक यज्ञों में पशुओं की बलि अवश्य दी जाने लग गई थी और साथ ही उनके विधि-विधानों में आडम्बर भी बहुत बढ़ गया था। सम्भवतः, लोग वेदों की इस शिक्षा को भी भूल गये थे कि इन्द्र, मित्र, वरुण आदि एक ही परमेश्वर के विभिन्न नाम हैं, और पृथक् देवता मानकर इनकी पूजा करने लग गये थे।

प्राचीन समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित था। उसके चार वर्ण या वर्ग थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वस्तुतः किसी भी समाज के मनुष्यों को इन चार वर्णों में विभक्त किया जा सकता है। जो मनुष्य अध्ययन-अध्यापन, धार्मिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान तथा लोगों को धर्ममार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करने का कार्य करें उन्हें ब्राह्मण कहा जा सकता है। देश की बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करना और समाज में शान्ति व्यवस्था एवं सुरक्षा स्थापित रखना क्षत्रिय वर्ग का कार्य है। कृषि, पशु-पालन, व्यापार, उद्योग आदि द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन व उपार्जन जिन सर्व-साधारण लोगों द्वारा किया जाए, उन्हें वैश्य कह सकते हैं। जो अन्य तीनों वर्णों के लोगों की सेवा में रहकर जीवन व्यतीत करें, वे शूद्र हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में आर्य लोग इन्हीं चार वर्णों में विभक्त थे। पर वर्ण का आधार जन्म न होकर गुण, कर्म और स्वभाव था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय है, इसका निर्धारण उसकी योग्यता व कर्म में निपुणता को दृष्टि में रखकर ही किया जाता था। कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता, तप, धर्माचरण व विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण पद को प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर अन्य वर्णों का भी निर्णय होता था। यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय अन्य लोगों की तुलना में ऊँचे माने जाते थे, तो उसका कारण केवल यह था कि उनके कार्यों के सम्पादन के लिए उत्कृष्ट प्रकार की योग्यता अपेक्षित थी। सम्पूर्ण आर्य जनता एक है, यह भावना प्राचीन काल में भलीभाँति विद्यमान थी। जन्म के कारण न किसी को ऊँचा माना जाता था और न नीच। शिक्षा का सबको समान अवसर था। वेद पढ़ने का सबको समान अधिकार है और विद्या सबके लिए है, यह विचार तब भलीभाँति बद्धमूल था।

पर महाभारत युद्ध के पश्चात् इस दशा में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया था। वर्ण-भेद का आधार गुण, कर्म और स्वभाव के स्थान पर जन्म होने लगा था और ब्राह्मणों की स्थिति अन्य वर्णों की तुलना में ऊँची मानी जाने लगी थी। ऊँच-नीच का भेद भी विकसित हो गया था। सूत्र-ग्रन्थों की रचना के समय तक तो यह दशा आ गई थी, कि शूद्रों को अत्यन्त हीन व नीच समझा जाने लगा था। उन्हें न वेद पढ़ने का अधिकार था, और न यज्ञ करने का। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार यदि कोई शूद्र वेदमन्त्र सुन ले, तो उसके कानों में सीसे या लाख को पिघला कर डाल देना चाहिए, और यदि कोई शूद्र वेदमन्त्रों का उच्चारण करले तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए। शूद्रों के लिए उपनयन संस्कार निषिद्ध था, अतः उन्हें विद्याध्ययन का अवसर प्राप्त ही नहीं हो सकता था। समाज के सब वर्णों के लोगों की न केवल स्थिति ही एक समान नहीं थी, अपितु उनके लिए कानून भी पृथक्-पृथक् थे। एक ही अपराध करने पर विविध वर्णों के व्यक्तियों के लिए विभिन्न दण्डों का विधान था। छठी सदी ईस्वी पूर्व तक वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप अत्यन्त विकृत हो चुका था। यही कारण है कि महात्मा बुद्ध ने वर्णभेद की कटु आलोचना की और सामाजिक ऊँच-नीच के विरुद्ध आवाज उठाई। बुद्ध ने जन्म की तुलना में गुण और कर्म को बहुत महत्त्व दिया। वर्णों के जन्म पर आधारित हो जाने के कारण महाभारत काल के पश्चात् यह दशा हो गई थी, कि ऐसे व्यक्ति भी ब्राह्मण माने जाने लगे थे जिन्हें वेदों तथा धर्माचरण का ज़रा भी ज्ञान नहीं था। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न ऐसे व्यक्तियों को भी ब्राह्मण वर्ण का माना जाने लगा था जो चोर, जुआरी या भिखारी

हों। पतञ्जलि ने ऐसे ब्राह्मणों को 'जाति ब्राह्मण' की संज्ञा दी है, क्योंकि जातीय दृष्टि से जन्म के आधार पर वे ब्राह्मण ही थे।

तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना और अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों का भी महाभारत-युद्ध के पश्चात् प्राचीन आर्य धर्म में प्रवेश हो गया था।

(३) आर्य धर्म में सुधार के आन्दोलन

यद्यपि प्राचीन आर्य धर्म की पूजा-विधि में याज्ञिक कर्मकाण्ड का विशेष महत्त्व था, पर तत्त्ववेत्ता आर्य विद्वानों ने सृष्टि के गूढ़ तत्त्वों के परिज्ञान तथा अध्यात्म चिन्तन की भी उपेक्षा नहीं की थी। यज्ञों से इहलोक और परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है, यह मानते हुए भी वे इस प्रकार के विषयों के चिन्तन में तत्पर थे कि जिसे हम आत्मा कहते हैं उसका क्या स्वरूप है? शरीर और आत्मा भिन्न हैं या एक ही हैं? इस सृष्टि का कर्ता कौन है? यह सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई? इसी प्रकार के विविध प्रश्नों की जिज्ञासा थी जो अनेक व्यक्तियों को इस बात के लिए प्रेरित करती थी कि वे गृहस्थ-जीवन और सांसारिक सुख-भोग से विरत होकर आरण्यक-आश्रमों में निवास करें और वहाँ सृष्टि के गूढ़ तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करें। इन्हीं आश्रमों में उस गम्भीर ज्ञान का विकास हुआ, जो उपनिषदों में संकलित है। आर्य धर्म की पूजा-पद्धति में याज्ञिक कर्मकाण्ड जिस ढंग से जटिल होते जा रहे थे, आरण्यक आश्रमों में निवास करने वाले मुनि उससे सहमत नहीं थे। वे अनुभव करते थे कि यज्ञों द्वारा मनुष्य अभिलषित फल प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए उनका कथन था कि यज्ञरूपी नौकाएँ अदृढ़ हैं, संसार सागर को तरने के लिए उनपर भरोसा नहीं किया जा सकता। इन विचारकों ने यज्ञ के स्थान पर तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर दिया।

यज्ञों के जटिल कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया तत्त्वचिन्तक मुनियों द्वारा शुरू हुई थी, उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम वह विचारधारा थी, जिसके प्रवर्तक श्री कृष्ण थे और जिसके मन्तव्य श्रीमद्भगवद्गीता में संकलित हैं। इसे 'भागवत धर्म' भी कहा जाता है। बौद्ध युग के पश्चात् इस धर्म ने बहुत उन्नति की और यह भारत का प्रमुख धर्म बन गया। गुप्त सम्राटों के समय में इस धर्म का न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी बहुत प्रचार हुआ। पर इसका सूत्रपात महाभारत युद्ध के समय में व उससे कुछ पहले ही हो गया था। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में एक भारी विवाद उठ खड़ा हुआ था। कुछ ऋषि यज्ञों में पशुओं की बलि देने के पक्षपाती थे, और कुछ उसके विरुद्ध थे। राजा वसु ने यज्ञों में पशुबलि देने के विरुद्ध परिपाटी को अपनाया और हरि (भगवान्) इससे सन्तुष्ट हुए। अन्य भी अनेक राज्यों व जनपदों में वसु चैद्योपरिचर का अनुसरण किया गया और यह विचार जोर पकड़ने लगा कि यज्ञों में पशु-हिंसा तो पूर्णतया परिहेय है ही, पर साथ ही देवों के देव हरि की पूजा के लिए याज्ञिक कर्मकाण्ड की उतनी उपयोगिता नहीं है जितनी कि भक्ति और कर्त्तव्यपालन की है। इस नई विचारधारा के प्रमुख अनुयायी सात्वत लोग थे, जिनका निवास मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश में था। अन्धक-वृष्णि गण भी सात्वतों का ही था। इन सात्वत लोगों का मन्तव्य था कि हरि की पूजा का सर्वोत्तम ढंग भक्ति है, और हरि की भक्ति के साथ-साथ अपने कर्त्तव्यों को कुशलता के साथ करते रहने में ही

मनुष्य का कल्याण है। सात्वतों में वासुदेव कृष्ण, कृष्ण के भाई संकर्षण और संकर्षण के वंशज प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ने इस विचार को अपनाया। वासुदेव कृष्ण और उनके अनुयायी यज्ञों में पशुबलि के विरोधी थे और भगवान् की भक्ति तथा निष्काम कर्म के सिद्धान्त पर जोर देते थे। वसु चैद्योपरिचर के समय में जिस नई विचारधारा का सूत्र-रूप में प्रारम्भ हुआ था, वासुदेव कृष्ण द्वारा वह बहुत विकसित की गई। इसके प्रधान प्रवर्तक व प्रतिपादक वासुदेव कृष्ण ही थे, जो 'अन्धक-वृष्णि संघ के मुख्य' थे और जिनकी सहायता से पाण्डवों ने मगधराज जरासन्ध को पराभूत किया था। कृष्ण न केवल उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ ही थे, अपितु भागवत सम्प्रदाय के महान् आचार्य भी थे। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को आत्मा की अमरता और निष्काम कर्म का जो उपदेश उन्होंने दिया था, भगवद्गीता में उसी का विशद रूप से वर्णन है। गीता भागवत धर्म का प्रधान ग्रन्थ है। याज्ञिक कर्मकाण्ड का विरोध न करते हुए गीता में यज्ञ का एक नया रूप प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार तपोयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ आदि ही वास्तविक यज्ञ हैं और इनके अनुष्ठान के लिए विधि-विधानों व कर्मकाण्ड की विशेष आवश्यकता नहीं। ज्ञान-प्राप्ति, स्वाध्याय, चरित्रशुद्धि और संयम द्वारा ही वस्तुतः यज्ञ का अनुष्ठान होता है। यज्ञ कुण्ड में अग्नि का आधान कर जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है, कृष्ण ने उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार किया है। यज्ञ से पर्जन्य (बादल) उत्पन्न होते हैं, बादलों से वर्षा होती है और वर्षा द्वारा अन्न के प्रादुर्भाव में सहायता मिलती है। यज्ञ का यह विज्ञानसम्मत उपयोग है, पर उसके अनुष्ठान से कोई अलौकिक अभिलषित फल प्राप्त किया जा सकता है, यह मत कृष्ण को स्वीकार्य नहीं है।

वर्णव्यवस्था में जो विकृति आनी प्रारम्भ हो गई थी, कृष्ण ने उसका भी विरोध किया। जन्म के अनुसार किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र मानना उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उनका मन्तव्य था, कि चातुर्वर्ण्य का आधार गुण और कर्म है, जन्म नहीं। जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानने की जो प्रवृत्ति आर्यों के सामाजिक संगठन में प्रारम्भ हो गई थी, कृष्ण उसके विरोधी थे। प्राचीन आर्यधर्म से विकृति को दूर करने के सम्बन्ध में जो कार्य कृष्ण ने किया, उसमें उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई। प्राच्य भारत के क्षेत्र में जैन और बौद्ध धर्मों के रूप में जिन नये सम्प्रदायों का आगे चलकर प्रादुर्भाव हुआ, उनका उद्देश्य भी विकृतियों को दूर करना था। पर ये सम्प्रदाय प्राचीन आर्य परम्परा के अनुकूल नहीं थे। वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे और वर्णाश्रम-व्यवस्था में भी उन्हें विश्वास नहीं था। यज्ञों के वे विरोधी थे। आर्य परम्परा के प्रतिकूल होने के कारण भारत में उनका अधिक प्रचार नहीं हुआ और बौद्ध धर्म तो भारत से सर्वथा उठ ही गया। इसके विपरीत कृष्ण द्वारा प्रतिपादित भागवत धर्म प्राचीन आर्य परम्परा के अनुकूल था। वेदों की प्रामाणिकता को उसमें स्वीकार किया जाता था, वर्णाश्रम धर्म का वह समर्थक था और यज्ञों की उपयोगिता भी उसमें मान्य थी, यद्यपि इन सबका एक युक्तियुक्त तथा तर्कसम्मत स्वरूप उस द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। इसी का यह परिणाम हुआ कि कालान्तर में वह भारत का प्रधान धर्म बन गया।

(४) विकृत आर्य धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया

सनातन आर्य धर्म में जो अनेक विकृतियाँ आ गई थीं, उनमें सुधार करने के लिए

कृष्ण के नेतृत्व में जहाँ भागवत धर्म का सूत्रपात हुआ, वहाँ साथ ही कतिपय ऐसे आन्दोलन भी प्रारम्भ हुए जो परम्परागत आर्य धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में थे। ये आन्दोलन छठी सदी ईस्वी पूर्व में शुरू हुए थे, और इनके मुख्य प्रवर्त्तक वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध थे। इन आचार्यों ने याज्ञिक कर्मकाण्ड को सर्वथा निरुपयोगी माना, वर्ण-भेद का विरोध किया और वेदों के प्रामाण्य को भी स्वीकार नहीं किया। महावीर और बुद्ध दोनों का जन्म उत्तरी बिहार के गण-राज्यों में हुआ था। इस क्षेत्र में विशुद्ध आर्य धर्म का पहले भी विशेष प्रचार नहीं था। ज्ञातृक गण में उत्पन्न हुए वर्धमान महावीर ने जिस सम्प्रदाय का सूत्रपात किया था, उससे पूर्व भी उसमें अनेक तीर्थंकर व आचार्य हो चुके थे। इन जैन तीर्थंकरों की धार्मिक परम्परा में न याज्ञिक कर्मकाण्ड का स्थान था, और न ही वेदों के प्रामाण्य का। उत्तरी बिहार के अनेक गणराज्यों के निवासी पहले से ही एक ऐसे धर्म से परिचित थे, सनातन आर्य धर्म से जिसके मन्तव्य भिन्न थे। इसी कारण उन्हें जैन तथा बौद्ध धर्मों को अपनाने में संकोच नहीं हुआ।

यद्यपि जैन और बौद्ध लोग वेदों को नहीं मानते थे और उनकी पूजा-विधि भी आर्यों से भिन्न थी, पर सदाचरण आदि के सम्बन्ध में उनके मन्तव्य परम्परागत आर्य मन्तव्यों से बहुत मिलते-जुलते थे। वर्धमान महावीर ने पाँच अणुव्रतों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण) का विधान किया था, जो प्राचीन आर्य शास्त्रों के पाँच यमों से अभिन्न थे। सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को महावीर ने स्वीकार नहीं किया, पर वे 'सर्वज्ञ' के रूप में एक ऐसी सत्ता को अवश्य मानते थे जो पूर्ण ज्ञानी हो। मानव जीवन का चरम उद्देश्य उनके मत में मोक्ष या केवलित्व प्राप्त करना है, जिस के लिए मनुष्य को अपनी स्थिति के अनुसार निरन्तर साधना की आवश्यकता होती है। इस साधना से लिए मुमुक्षु को गृहस्थ दशा में पाँच अणुव्रतों का पालन करना चाहिए और मुनियों को पाँच महाव्रतों का। अणुव्रतों के समान महाव्रत भी अहिंसा आदि ही हैं। सर्वसाधारण गृहस्थों के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वे पूर्णतया अहिंसक हो सकें या अन्य व्रतों का अविकल रूप से पालन कर सकें। इसीलिए उनके लिए अणुव्रतों का विधान किया गया है। पर मुनियों के लिए, जोकि मोक्ष प्राप्त करने के प्रयोजन से सांसारिक जीवन का परित्याग कर साधना में तत्पर हुए हैं, पापों से पूर्णतया बचना अनिवार्य है। इसीलिए उन्हें 'महाव्रतों' का पालन करना चाहिये।

बुद्ध ने अपने धर्म को 'मध्य मार्ग' या 'मध्यमा प्रतिपदा' कहा था। उनका मन्तव्य था कि मनुष्यों को दो 'अतियों' का सेवन नहीं करना चाहिये, भोग-विलास में लिप्त रहना और शरीर को व्यर्थ कष्ट देना। इन दो अतियों से बचकर मध्यमार्ग का अनुसरण करना चाहिये। इस मध्य मार्ग के आठ अंग हैं—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीविका, (६) सम्यक् प्रयत्न, (७) सम्यक् विचार और (८) सम्यक् ध्यान या समाधि। इन आठ अंगों के कारण ही बुद्ध के धर्म को अष्टांगिक आर्य मार्ग भी कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन आठ बातों का पूर्णरूप से आचरण कर मनुष्य अपने जीवन को कल्याणमय बना सकता है। अत्यधिक भोगविलास और अत्यधिक तप दोनों को बुद्ध ने हेय माना है। संयम और सदाचारमय जीवन बुद्ध के धर्म का सार है।

महात्मा बुद्ध समाज में ऊँच-नीच के भेदभाव के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि

में कोई मनुष्य नीच व अछूत नहीं था। वे यह मानते थे कि न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है और न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म न लेने से अब्राह्मण होता है। अपने कर्मों से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण बन जाता है और कोई अब्राह्मण। बुद्ध के अनुसार समाज में मनुष्य की स्थिति उसके कर्म पर ही निर्भर करती है, जन्म पर नहीं।

महात्मा बुद्ध पशुहिंसा के विरोधी थे। अहिंसा उनके मन्तव्यों में प्रमुख है। वे न केवल यज्ञों में पशुबलि के विरुद्ध थे, पर प्राणियों को मारना व किसी प्रकार से उन्हें कष्ट देना भी वे अनुचित समझते थे। याज्ञिक कर्मकाण्ड का बुद्ध की दृष्टि में कोई उपयोग नहीं था। वे उसे निरर्थक मानते थे। उनका मत था कि जब तक चरित्र शुद्ध नहीं होगा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पर विजय नहीं की जाएगी, तबतक केवल यज्ञों के अनुष्ठान से कोई लाभ नहीं होगा।

बुद्ध के अनुसार जीवन का लक्ष्य निर्वाणपद को प्राप्त करना है। निर्वाण किसी पृथक् लोक का नाम नहीं है, और न ही निर्वाण कोई ऐसा पद है जिसे मनुष्य मृत्यु के बाद प्राप्त करता है। निर्वाण उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें ज्ञान के प्रकाश से अविद्या रूपी अन्धकार दूर हो जाता है। यह अवस्था इसी जन्म में, इसी लोक में प्राप्त की जा सकती है। एक स्थान पर बुद्ध ने कहा है—जो धर्मात्मा लोग किसी की हिंसा नहीं करते, शरीर की प्रवृत्तियों का संयम कर पापों से बचे रहते हैं, वे उस अच्युत निर्वाणपद को प्राप्त कर लेते हैं जहाँ शोक और सन्ताप का नाम भी नहीं होता।

बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म और जटिल दार्शनिक विचारों को अधिक स्थान नहीं दिया। इनकी उन्होंने उपेक्षा की। जीव का क्या स्वरूप है, सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर ने की या वह स्वयं ही बन गई, अनादि तत्त्व कितने और कौन से हैं—इस प्रकार के दार्शनिक प्रश्नों से वे सदा बचते रहे। उनका विचार था कि जीवन की पवित्रता और आत्मकल्याण के लिए इन बातों का विवेचन करना विशेष लाभकारी नहीं है। पर मनुष्यों में इन प्रश्नों के लिए स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। यही कारण है कि बाद में बौद्ध धर्म में बहुत-से दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं और यह निरूपित कर सकना सुगम नहीं है कि बुद्ध को कौन-से सिद्धान्त अभिप्रेत थे।

वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध द्वारा धार्मिक सुधार के जिन आन्दोलनों का सूत्रपात किया गया था, सर्वसाधारण जनता को उन्होंने बहुत प्रभावित किया। आर्य धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, जो कर्मकाण्ड, विधि-विधान और सदाचार का उपदेश कर जनता को धर्ममार्ग का प्रदर्शन करते थे। यह उचित भी था, क्योंकि ये ब्राह्मण विद्वान्, सदाचारी और त्यागी हुआ करते थे। पर बाद में उन व्यक्तियों को भी केवल ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण ही ब्राह्मण समझा जाने लगा, जो चाहे दुराचारी व मूर्ख ही क्यों न हों। जैन और बौद्ध नेताओं द्वारा इन 'जातिब्राह्मणों' की सर्वोच्च सामाजिक स्थिति का विरोध किया गया। उनका स्थान अब श्रमणों, मुनियों और स्थविरों ने लेना प्रारम्भ कर दिया जो तप और त्याग का जीवन बिताते थे और ज्ञान के उपार्जन में तत्पर रहते थे। इन श्रमणों और मुनियों में जन्म की दृष्टि से सभी वर्णों के लोग सम्मिलित होते थे और अपने गुणों के कारण ही समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। धर्म का नेतृत्व अब जाति-ब्राह्मणों के हाथ से निकल कर ऐसे लोगों के हाथ में आने लग गया, जो मनुष्यमात्र के

हित व कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते थे। निस्सन्देह, यह एक बहुत बड़ी सामाजिक क्रान्ति थी। भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ सदा से अपने कुलक्रमानुगत धर्म का पालन करते रहे हैं। ब्राह्मणों का वे आदर करते थे, उनके उपदेशों का वे श्रवण करते थे और उनके बताये कर्मकाण्ड का वे अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण एक ऐसा वर्ग था, जो अध्ययन-अध्यापन में व्यापृत रहता था, त्याग, तपस्या और सदाचार का जीवन बिताता था, और सबके हितकल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता था। पर महावीर और बुद्ध के समय से पूर्व ही बहुत-से ब्राह्मण अपने आदर्शों से च्युत हो गये थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि उनके मुकाबले में श्रमणों, मुनियों और स्थविरों का एक नया वर्ग संगठित हो जाए, और सर्वसाधारण गृहस्थ न केवल उनका सम्मान ही करने लगे, अपितु उन द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण भी करने लगे।

क्योंकि प्राचीन आर्य धर्म में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गई थीं, और उसके नेता धार्मिक आदर्शों से विमुख हो गये थे, अतः जैन और बौद्ध धर्मों की लोकप्रियता में निरन्तर वृद्धि होती गई। यद्यपि इन धर्मों द्वारा प्रतिपादित नैतिक मन्तव्य और सदाचार-सम्बन्धी नियम प्रायः वही थे, जो सनातन आर्य धर्म के थे, पर इनकी पूजाविधि में बहुत अन्तर था और ये वेदों के प्रामाण्य को भी स्वीकार नहीं करते थे। इस दशा में यह अस्वाभाविक नहीं था कि पुरातन आर्य धर्म और इन नये सम्प्रदायों में विरोधभाव होने लगे। पर इसमें सन्देह नहीं कि चार सदी के लगभग तक इन सम्प्रदायों की निरन्तर उन्नति होती रही और कुछ समय के लिए ये भारत के प्रमुख धर्म बन गये। भारत से बाहर भी इन धर्मों का प्रचार हुआ और चारों दिशाओं में इनकी—विशेषतया बौद्ध धर्म की विजय पताका फहराने लगी।

सनातन आर्य धर्म की विकृति के परिणामस्वरूप कतिपय ऐसे सम्प्रदायों का भी प्रादुर्भाव हुआ, जो वेदों की निन्दा करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। ऐसा एक सम्प्रदाय चार्वाक लोगों का था। अध्यात्मवाद के रूप में आर्य धर्म की जो मूल भावना का है, उसका भी इनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था। शरीर से पृथक् आत्मा की कोई सत्ता है, यह मत भी इन्हें स्वीकार्य नहीं था। ये घोर भौतिकवादी थे और इनके सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव एक उग्र प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। एक अन्य सम्प्रदाय आजीवनों का था, जो 'नियति' में विश्वास रखते थे। उनका मन्तव्य था कि "जो नहीं होना है, वह नहीं होगा। जो होना है, वह प्रयत्न के बिना भी हो जाएगा। नियति के बल से जो कुछ होना है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, अवश्य होकर रहेगा। मनुष्य चाहे कितना भी प्रयत्न करे, जो होनहार है उसे बदला नहीं जा सकता।" पौरुष और कर्म का आजीवकों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था। उनके अनुसार मानव जीवन में सदाचरण तथा नैतिकता का भी विशेष स्थान नहीं था।

(५) बौद्ध और जैन आचार्यों द्वारा एकांगी आर्य संस्कृति का देश-देशान्तर में प्रचार

सनातन आर्य धर्म में विकृति उत्पन्न हो जाने पर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में जिन नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ था, उनमें अनुपम जीवनी शक्ति थी। इसीलिए वे न केवल भारत के विविध प्रदेशों में ही अपितु विदेशी राज्यों में भी अपने

धर्मों के प्रसार के लिए प्रयत्नशील हुए और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। धर्म-प्रचार का यह कार्य मुख्यतया भिक्षुओं, मुनियों और स्थविरों द्वारा किया गया था। गृहस्थ जीवन को न अपना कर महावीर और बुद्ध के जो अनुयायी मनुष्यमात्र के कल्याण और सब प्राणियों के हित के लिए अपना जीवन लगा देना चाहते थे, वे भिक्षुव्रत ग्रहण कर संघ में सम्मिलित हो जाते थे। सब जगह भिक्षुओं के संघ विद्यमान थे, जिनमें रहते हुए भिक्षुओं को कठोर संयम का जीवन बिताना होता था। बौद्ध धर्म में संघ का बहुत महत्त्व था। भिक्षुओं के लिए आवश्यक था, कि वे संघ के सब नियमों का पालन किया करें। भिक्षुओं का व्यक्तिगत जीवन जहाँ पवित्र एवं सदाचारमय होता था, वहाँ वे मनुष्यमात्र के हित व कल्याण के लिए भी प्रयत्नशील रहा करते थे। वह स्वाभाविक था कि सर्व-साधारण जनता भिक्षुओं के प्रति आकृष्ट हो और उनके प्रवचनों का श्रद्धापूर्वक श्रवण करे। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म की लोकप्रियता में निरन्तर वृद्धि होती गई। राजा अशोक के समय में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए विशेष प्रयत्न किया गया। आचार्य तिस्स (उपगुप्त) के नेतृत्व में इस प्रयोजन से एक महान् योजना तैयार की गई, जिसके अनुसार भिक्षुओं की अनेक मण्डलियाँ विविध देशों में धर्मप्रचार के लिए भेजी गई। लंका की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार कश्मीर, गान्धार, यवनदेश, सुवर्णभूमि, लंका तथा हिम-वन्त प्रदेशों में भिक्षु-मण्डलियों ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यवन देश से पश्चिम के सीरिया, यूनान आदि वे प्रदेश अभिप्रेत हैं जहाँ यवनों (यूनानियों) का निवास था, और सुवर्णभूमि में बरमा और उसके पूर्व में स्थित प्रदेश सम्मिलित थे। राजा अशोक ने धर्म-विजय की जिस नीति को अपनाया था, उससे भी देश-विदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार में सहायता मिली। इसमें सन्देह नहीं कि तीसरी सदी ईस्वी-पूर्व में लंका, बरमा, अफगा-निस्तान तथा मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात हो चुका था, और इन प्रदेशों में अनेक बौद्ध बिहार भी स्थापित हो गये थे। राजा कनिष्क (पहली सदी) के समय में बौद्ध धर्म का बहुत उत्कर्ष हुआ। इस बौद्ध राजा का साम्राज्य अफगानिस्तान और मध्य एशिया में भी विस्तृत था। कनिष्क के शासन काल में मध्य एशिया बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया और वहाँ के संघारामों में निवास करने वाले भिक्षु चीन आदि अन्य देशों में प्रचार के लिए जाने आने लगे। छठी सदी के अन्त तक यह दशा आ गई थी कि चीन, तिब्बत, मध्य एशिया, अफगानिस्तान, विएतनाम, सुमात्रा, बरमा, मलाया आदि सर्वत्र तथागत बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टांगिक आर्य मार्ग का अनुसरण किया जाने लगा था। निःसन्देह, यह भारत की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक विजय थी।

जैन धर्म का प्रचार भारत के तो बहुत-से प्रदेशों में हुआ, पर विदेशों में उसका अधिक प्रचार नहीं हुआ। जैन साहित्य के एक ग्रन्थ के अनुसार कालकाचार्य नामक जैन मुनि सिन्ध के पश्चिम के उस प्रदेश में गये थे, जहाँ शकों का शासन था। शक राज्य का अधिपति साहानुसाहि कहाता था और उसके अधीन ९६ साहियों की सत्ता थी। काल-काचार्य ने एक साही की राजसभा में आश्रय ग्रहण किया और धीरे-धीरे वहाँ उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया। उन्हीं की प्रेरणा से शकों की सेना ने पूर्व की ओर आगे बढ़कर पहले लाट देश (गुजरात) पर अधिकार स्थापित किया और फिर उज्जैन पर। उस समय उज्जैन पर राजा गर्दभिल्ल का शासन था। कालकाचार्य की बहिन सरस्वती के रूप सौन्दर्य पर आकृष्ट होकर गर्दभिल्ल ने उसका अपहरण कर लिया था। अपनी बहिन को

बन्धन मुक्त कराने के लिए ही कालकाचार्य ने शकों को उज्जैन पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था। युद्ध में गर्दभिल्ल परास्त हो गया, और शकों ने उज्जैन पर कब्जा कर लिया। पर वे देर तक उसपर अधिकार नहीं रख सके। गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों की शक्ति का विध्वंस कर अपने पिता के राज्य को हस्तगस्त कर लिया। शकों को परास्त करने के कारण ही वह 'शकारि' कहाया। कालकाचार्य की इस कथा द्वारा यह सूचित होता है कि सिन्ध के पश्चिम में स्थित शक राज्यों में भी जैन धर्म का प्रवेश हुआ था और शक लोग भी इस धर्म से प्रभावित हुए थे।

मौर्य राजा अशोक का पौत्र राजा सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था। जैन धर्म के इतिहास में उसका वही स्थान है, जो बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक का है। सुदूर दक्षिण तथा सीमान्तवर्ती जिन प्रदेशों में जैन धर्म का प्रचार नहीं था, उन्हें साधुओं (मुनियों) के लिए 'सुख प्रचार' बनाने के लिये सम्प्रति ने बहुत उद्योग किया और उसी के प्रयत्न से महाराष्ट्र, आन्ध्र और द्रविड़ देशों में जैन धर्म का प्रवेश हुआ। प्राचीन भारतीय राजवंशों के अनेक राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। कलिंग, कर्णाटक आदि में चिरकाल तक इस धर्म का प्रचार रहा। गुजरात के भी अनेक प्रतापी राजा जैन थे।

राजा अशोक ने कलिंग विजय के बाद यह अनुभव किया था, कि युद्धों में व्यर्थ ही लाखों मनुष्यों का संहार होता है, बच्चे अनाथ हो जाते हैं और स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं। धन-सम्पत्ति का भी भयंकर रूप से विनाश होता हैं। साथ ही, शस्त्रों द्वारा की गई विजय स्थायी नहीं होती। शस्त्र विजय के स्थान पर अशोक ने धर्म विजय की नीति को अपनाया था। बौद्ध और जैन प्रचारकों ने देश-देशान्तर में अपने-अपने धर्मों के प्रचार के लिए जो प्रयत्न किया और उनके इस कार्य में अशोक और सम्प्रति जैसे राजाओं ने जो सहायता की, उसके परिणामस्वरूप एशिया के बड़े भाग में भारत का ऐसा सांस्कृतिक साम्राज्य कायम हुआ जो सैकड़ों वर्ष बीत जाने के पश्चात् आज तक भी विद्यमान है। इसे आर्य धर्म और संस्कृति की विजय भी कहा जा सकता है, यद्यपि बौद्ध और जैन आचार्यों ने सनातन आर्य धर्म के एक अंश या एक अंग को ही आर्यवर्त से बाहर प्रसारित किया था। इन आचार्यों के प्रयत्न से संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का विदेशों में प्रसार हुआ, भारतीय कलाओं (स्थापत्य, मूर्तिनिर्माण, संगीत, चित्रकला आदि) को विदेशी लोगों ने अपनाया, और बौद्ध व जैन सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित उन नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों को ग्रहण किया जो वस्तुतः आर्य धर्म के ही मूल तत्व हैं। यद्यपि बौद्ध और जैन वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते, पर सदाचारमय जीवन, अध्यात्म भावना, त्याग, तपस्या, परोपकार, संयम आदि के जो उपदेश वे देते हैं, वे सब आर्य धर्म के मूल तत्व हैं। इस प्रकार यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बौद्धों का धार्मिक साम्राज्य वस्तुतः आर्य धर्म की सांस्कृतिक विजय का ही परिणाम था। बुद्ध के धर्म को अष्टांगिक आर्य-मार्ग भी कहा जाता था। वस्तुतः, वह भी आर्य धर्म ही था, यद्यपि उस द्वारा आर्य धर्म के एक अंग का ही प्रतिपादन किया जाता था।

(६) नये साम्प्रदायिक आन्दोलनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया और परिवर्तित रूप में सनातन आर्य धर्म का पुनरुत्थान

बौद्ध और जैन धर्मों के उत्कर्ष से सनातन वैदिक आर्य धर्म का लोप नहीं हो गया

था। भारत के अनेक प्रदेशों में वह फलता-फूलता रहा, यद्यपि उसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन होता गया और वेदों में आस्था न रखने वाले इन नये सम्प्रदायों से वह अप्रभावित नहीं रह सका। मौर्य वंश के पतन के पश्चात् शुंग वंश के शासन काल में प्राचीन वैदिक धर्म में नई शक्ति का संचार होना प्रारम्भ हुआ और गुप्त युग में वह एक बार फिर भारत का प्रधान धर्म बन गया।

धर्म विजय की धुन में राजा अशोक ने सैन्य शक्ति की उपेक्षा कर दी थी। परिणाम यह हुआ कि भारत की राजशक्ति क्षीण होने लगी, और उत्तर-पश्चिम की ओर से विदेशी यवनों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। सिकन्दर और सैल्यूकस सदृश यवन आक्रान्ता भारत में अपने पैर जमाने में असमर्थ रहे थे। पर अशोक के निर्बल उत्तराधिकारियों ने धर्म विजय की नीति का जिस ढंग से दुरुपयोग किया, उसके कारण मौर्य साम्राज्य की सैन्य शक्ति बहुत क्षीण हो गई और डेमेट्रियस तथा मिनान्दर जैसे यवन राजा उत्तर-पश्चिमी भारत के अच्छे बड़े भाग में अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल हो गये। यह स्वाभाविक था कि मौर्य राजाओं की धर्मविजय की नीति की असफलता से जनता में बौद्ध धर्म के प्रति भी असन्तोष उत्पन्न होने लगे। भिक्षु संघ भी इस समय बड़ा ऐश्वर्यशाली हो गया था। अनाथपिण्डक जैसे सम्पन्न गृहपतियों और अशोक जैसे राजाओं ने संघ के लिए अपार धनराशि दान में दी थी, जिसके कारण बहुत से विशाल एवं वैभवपूर्ण विहारों तथा संघारामों की स्थापना हो गई थी। मनुष्य-मात्र की सेवा में तत्पर, प्राणिमात्र का हित सम्पादन करने वाले, भिक्षावृत्ति से दैनिक भोजन प्राप्त करने वाले और निरन्तर घूम-घूमकर जनता को कल्याण मार्ग दिखाने वाले भिक्षुओं का स्थान अब सम्राटों के आश्रय में सब प्रकार के सुख भोगने वाले भिक्षुओं ने ले लिया था। सर्वसाधारण जनता के हृदय में भिक्षुओं और स्थविरों के प्रति आदर की जो भावना थी, यदि अब उसमें न्यूनता आने लगी, तो वह स्वाभाविक ही था। इसी का यह परिणाम हुआ कि भारत में बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और लोगों की दृष्टि उस प्राचीन सनातन आर्य धर्म की ओर आकृष्ट होने लगी जिसके अनुयायी राजा शत्रुओं को परास्त कर और सर्वत्र दिग्विजय कर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया करते थे। यही कारण है कि सेनानी पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मारकर जब राजसिंहासन प्राप्त किया, तो यवन आक्रान्ताओं के विरुद्ध उसने तलवार उठाई और सर्वत्र दिग्विजय कर अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। सातवाहन राजा सातकर्णि ने भी इसी काल में दो बार अश्वमेध यज्ञ किये। शुंग काल में अश्वमेध यज्ञ करने की एक प्रवृत्ति-सी उत्पन्न हो गई थी और इस प्रवृत्ति के पीछे प्राचीन वैदिक आर्य धर्म का पुनरुत्थान करने की प्रबल भावना काम कर रही थी।

शुंगकाल में जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, वह प्राचीन आर्य धर्म से अनेक अंशों में भिन्न था। बौद्ध और जैन सम्प्रदायों ने जिन विचारधाराओं का प्रचार किया था, वे अन्य धर्मावलम्बियों के विचारों पर प्रभाव न डालतीं, यह सम्भव नहीं था। प्राचीन वैदिक युग में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि के नाम से ईश्वर की उपासना व स्तुति की जाती थी। पर अब बौद्धों और जैनों के अनुसरण में उन महापुरुषों की पूजा प्रारम्भ हुई, जिनका कि सर्वसाधारण जनता में उनके लोकोत्तर गुणों के कारण अनुपम आदर था। शुंग काल में जिस सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, उसके उपास्य देव वासुदेव, संकर्षण और

शिव थे। बौद्ध और जैन ऐसे परमेश्वर को नहीं मानते थे, जो सृष्टि का कर्ता, पालक और संहर्ता हो। पर वे बुद्ध और महावीर को सर्वज्ञ, पूर्णज्ञानी एवं पूर्ण पुरुष मानते थे, और उनकी पूजा करते थे। निर्गुण व निराकार ब्रह्म की पूजा करने के स्थान पर उनकी दृष्टि में यह अधिक क्रियात्मक व उपयोगी था, कि ऐसे पूर्ण पुरुषों की पूजा की जाए जिनके गुणों को सब कोई जान सकें, जिनके चरित्र का अनुशीलन कर शिक्षा ग्रहण की जा सके और जिनकी मूर्ति के सम्मुख श्रद्धापूर्वक सिर नवा कर जिनका साक्षात्कार भी किया जा सके। बौद्धों ने इसीलिए महात्मा बुद्ध की मूर्तियों को अपने चैत्यों व संघारामों में प्रतिष्ठापित किया, और जैनों ने महावीर की मूर्तियों को। भारत में मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ जैनों और बौद्धों द्वारा ही किया गया। जैनों के अनुसार वर्धमान महावीर से पूर्व २३ तीर्थंकर और हो चुके थे, जो पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण पुरुष थे। बौद्ध लोगों का मन्तव्य था, कि कोई भी मनुष्य जन्म-जन्मान्तर में निरन्तर साधना करता हुआ 'बोधिसत्त्व' का पद प्राप्त कर सकता है, और फिर बुद्धत्व का। जैन और बौद्ध इन्हीं तीर्थंकरों, बुद्धों और बोधिसत्त्वों की पूजा करते थे, और उनकी पूजा के लिए वे मूर्तियों का आश्रय लेते थे। शुंग काल में जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो इस प्राचीन धर्म पर भी जैनों व बौद्धों का प्रभाव पड़ा, और इस धर्म के नेताओं ने भी वासुदेव, संकर्षण और शिव सदृश महापुरुषों में देवत्व की कल्पना कर उनकी मूर्तियाँ बनाना प्रारम्भ कर दिया। जैन और बौद्ध धर्मों में जो स्थान तीर्थंकरों, बुद्ध और बोधिसत्त्वों का था, नये वैदिक धर्म में वही वासुदेव आदि का हो गया। इन्हें ईश्वर का अवतार माना जाने लगा। यदि महावीर और गौतम बुद्ध सर्वज्ञानी और पूर्ण पुरुष थे, तो वासुदेव कृष्ण के रूप में साक्षात् भगवान् ही पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। प्राचीन वैदिक धर्म में याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। पर जैन और बौद्ध धर्मों के प्रभाव से जब एक बार यज्ञों की परिपाटी में शिथिलता आ गई तो वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के काल में भी उसका पूर्णतया पुनः प्रचलन नहीं हुआ। यज्ञों का स्थान अब मूर्तिपूजा ने ले लिया। निर्गुण और निराकार ईश्वर की पूजा के स्थान पर अब ऐसे सगुण भगवान् की पूजा प्रारम्भ हुई, जिसकी मूर्ति को मन्दिर में प्रतिष्ठापित किया जाता था।

इस नये वैदिक धर्म की दो प्रधान शाखाएँ थीं—भागवत और शैव। भागवत धर्म के मुख्य उपास्य देव वासुदेव कृष्ण थे। कृष्ण जहाँ अन्धक-वृष्णि संघ के 'मुख्य' थे, वहाँ गम्भीर विचारक, दार्शनिक और धर्मोपदेशक भी थे। कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अपने निकट सम्बन्धियों को युद्ध के लिए सम्मुख खड़ा देखकर जब अर्जुन दुविधा में पड़ गया था, तो कृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दिया था। उन्हीं के उपदेश से अर्जुन में बल का संचार हुआ और वह कर्तव्यपालन के लिए तत्पर हो गया। वृद्धावस्था में कृष्ण योगी हो गये थे, और अन्धक-वृष्णि संघ का नेतृत्व छोड़कर उन्होंने मुनियों का जीवन व्यतीत किया था। निस्सन्देह, कृष्ण आदर्श गृहस्थ, आदर्श राजनीतिज्ञ और पूर्ण योगी थे। प्राचीन आर्य मर्यादा का अनुसरण कर उन्होंने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमों के कर्तव्यों का पालन किया था। वे वास्तविक अर्थों में लोकोत्तर पुरुष थे। अब जब कि जैन और बौद्ध धर्मों के प्रभाव से सनातन आर्य धर्मावलम्बी लोग भी लोकोत्तर सर्वज्ञ पुरुषों में ईश्वरीय शक्ति का आभास देखने के लिए उद्यत थे, कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर उनकी पूजा का प्रचलित हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। कृष्ण को

महावीर और बुद्ध के समकक्ष समझा जा सकता था। बुद्ध और महावीर के रूप में जिस प्रकार के लोकोत्तर पुरुषों की पूजा का जनता को सदियों से अभ्यास था, कृष्ण का रूप उसके अनुकूल था। कृष्ण को ईश्वर या विष्णु का अवतार माना जाने लगा और उनके विषय में बहुत-सी गाथाओं का विकास प्रारम्भ हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि कृष्ण लोकोत्तर पुरुष थे। उनका जीवन आदर्श था और उनकी शिक्षाएँ अपूर्व थीं। श्रीमद्-भगवद्गीता को भागवत धर्म के रूप में पुनःस्थापित आर्य धर्म के मान्य ग्रन्थ की स्थिति प्राप्त हुई, और भागवत पुराण द्वारा कृष्ण के दैवी रूप व माहात्म्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली गाथाओं का बखान किया जाने लगा।

बौद्ध धर्म आचारप्रधान था। याज्ञिक कर्मकाण्ड का उसमें कोई स्थान नहीं था। चार सदियों तक बौद्ध धर्म भारत का प्रधान धर्म रहा था। इस सुदीर्घ काल में भारत की जनता में निम्नलिखित विचारों ने भलीभाँति घर कर लिया था—(१) याज्ञिक कर्मकाण्ड उपयोगी नहीं हैं। (२) यज्ञों व धार्मिक अनुष्ठानों में हिंसा व पशुबलि उचित नहीं है। (३) अपनी उन्नति के लिए मनुष्य को चाहिये कि एक पूर्ण पुरुष को आदर्श रूप में अपने सम्मुख रखे। उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकना तभी सम्भव है, जबकि बुद्ध व महावीर सदृश सगुण पुरुष को आदर्श रूप से सम्मुख रखा जाए, ताकि उसके चरित्र व जीवन से लाभ उठाया जा सके। ये विचार जनता में इतने बद्धमूल हो चुके थे कि दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने लगा तो याज्ञिक कर्मकाण्ड को वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ, जो पहले था। वैदिक धर्म का जो नया संस्करण इस समय प्रचलित हुआ, उसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—(१) याज्ञिक कर्मकाण्ड का इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था। पशुबलि का इस द्वारा समर्थन नहीं किया जाता था। (२) यदि बौद्ध और जैनों के पास बुद्ध और महावीर के रूप में आदर्श पुरुष थे, तो भागवत (नये वैदिक) धर्म के पास कृष्ण के रूप में एक ऐसा पुरुष था जो आदर्श बालक, आदर्श युवा, आदर्श राजनीतिज्ञ, आदर्श योगीराज और पूर्ण तत्त्वज्ञानी था। वैदिक धर्म के अनुयायियों को अब न निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की आवश्यकता थी, और न जटिल याज्ञिक अनुष्ठानों द्वारा अभिलषित फल प्राप्त करने का प्रयत्न करने की। उनके सम्मुख अब एक ऐसा पूर्ण पुरुष विद्यमान था, जो ब्रज में शरीर धारण कर ग्वाल-बालों के साथ खेलता है, जरासंध और कंस जैसे अत्याचारियों का बध करता है, कुरुक्षेत्र के मैदान में गीता का उपदेश करता है और मुनिवृत्ति स्वीकार कर योग द्वारा शरीर का त्याग करता है। इस पुरुष के सुदर्शन चक्र में अपूर्व शक्ति है। वह अपने भक्तों की सहायता व उद्धार के लिए सदा तत्पर रहता है। (३) वासुदेव कृष्ण विष्णु का अवतार था। यदि गौतम बुद्ध ने अनेक पूर्व जन्मों की साधना द्वारा पूर्णता को प्राप्त किया था, तो कृष्ण के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् ने अवतार लिया था। (४) नये आर्य धर्म में ईश्वर की पूजा के लिए मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं। ये मूर्तियाँ कृष्ण सदृश पूर्ण पुरुषों की होती थीं और इन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया जाता था। मन्दिरों में पूजा की जो नई पद्धति अब प्रारम्भ हुई, उसमें विधि-विधान व कर्मकाण्ड की अपेक्षा भक्ति का मुख्य स्थान था। भक्त लोग मन्दिर में एकत्र होते थे और गीत गाकर, नैवेद्य चढ़ाकर तथा पूजा करके वे अपने उपास्य देव को रिझाते थे। सर्वसाधारण जनता के लिए यज्ञों की तुलना में धर्म का यह रूप बहुत सरल व क्रियात्मक था। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि भागवत धर्म का

जो रूप आजकल प्रचलित है, वह शुंग काल (दूसरी सदी ई० पू०) में नहीं था। उस समय तक इस धर्म में गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं की कहानियाँ नहीं जुड़ी थीं। उस समय कृष्ण का रूप एक ऐसे आदर्श पुरुष का था, जिनमें नर-नारायण के सब गुण अविकल रूप से प्रकट हुए थे। यही कारण है, कि उन्हें विष्णु से अभिन्न माना जाने लगा था।

बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर वैदिक आर्य धर्म का पुनरुत्थान जिन रूपों में हुआ, कृष्ण का भागवत धर्म उनमें से एक था। नये आर्य धर्म का एक अन्य रूप शैव धर्म था, जो स्वयं अनेक सम्प्रदायों में विभक्त था। शैव धर्म के प्रधान सम्प्रदाय 'पाशुपत' का प्रवर्त्तक लकुलीश नामक आचार्य था। पुराणों के अनुसार वह शिव का अवतार था और गुजरात में भरुकच्छ के समीप कारोहण या कायावरोहण नामक स्थान पर प्रकट हुआ था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में शैव धर्म भी भलीभाँति विकसित होने लग गया था। उसके अनुयायी 'शिव-भागवत' या 'शैव' कहाते थे। इनके मन्दिरों में शिव की मूर्ति स्थापित की जाती थी। वेदों में ईश्वर के जो अनेक नाम आये हैं, शिव भी उनमें एक है। सृष्टि के पालनकर्त्ता के रूप में ईश्वर को 'शिव' व 'शंकर' कहते हैं, और संहारक के रूप में 'रुद्र'। वस्तुतः, शिव और रुद्र एक ही ईश्वर के दो रूप हैं और उनमें भिन्नता नहीं है। शैव धर्म के पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी लकुलीश को शिव का अवतार मानते थे।

भागवत और शैव धर्मों के समान अन्य भी अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का विकास दूसरी सदी ई० पू० के लगभग हुआ। इन सम्प्रदायों द्वारा सूर्य, शक्ति, श्री (लक्ष्मी) आदि की पूजा की जाती थी, और इनकी पूजा की पद्धति भी यही थी कि इनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जायें।

जैन और बौद्ध लोग न वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते थे, और न किसी ऐसे ईश्वर की सत्ता उन्हें स्वीकार्य थी जो सृष्टि का कर्त्ता हो। इसीलिए इन्हें 'नास्तिक' समझा जाता था। इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर जिन धार्मिक सम्प्रदायों का विकास हुआ, वे वेदों को अपौरुषेय व प्रमाणरूप स्वीकार करते थे और ईश्वर की सत्ता में भी उनको विश्वास था। इसी कारण यह माना जाता है, कि सनातन वैदिक या आर्य धर्म का उन द्वारा पुनरुद्धार हुआ, यद्यपि इन नये धार्मिक सम्प्रदायों का स्वरूप प्राचीन वैदिक धर्म वे बहुत भिन्न था। यह भिन्नता केवल पूजा विधि में ही नहीं थी। सामाजिक व्यवस्था में भी अब अनेक ऐसे परिवर्तन आ गये, जो प्राचीन समाज से बहुत भिन्न थे। आर्यों का प्राचीन सामाजिक संगठन वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। छठी सदी ई० पू० से पहले ही वर्ण व्यवस्था में बहुत विकृतियाँ आ चुकी थीं और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों का आधार गुण, कर्म, स्वभाव के स्थान पर जन्म को माना जाने लगा था। बुद्ध ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई थी, और उनके अनुयायी जन्म के कारण किसी को उच्च या नीच नहीं मानते थे। होना तो यह चाहिये था, कि बौद्ध धर्म के प्रभाव से सनातन आर्य धर्म (जिसका कि अब परिवर्तित रूप में पुनरुत्थान हुआ था) के सामाजिक संगठन में भी ऊंच-नीच का कोई भेद न रहता। पर ऐसा नहीं हुआ। बौद्ध धर्म के प्रभाव से सनातन आर्य धर्म में मूर्तिपूजा का अवश्य प्रवेश हुआ, पर सामाजिक संगठन को वह प्रभावित नहीं कर सका। वर्ण-व्यवस्था का रूप अब पहले की तुलना में भी अधिक विकृत हो गया।

महर्षि पतंजलि शुंग काल में हुए थे। यही वह समय था, जब बौद्ध धर्म के विरुद्ध

प्रतिक्रिया होकर पुरातन वैदिक आर्य धर्म का पुनरुत्थान शुरू हुआ था। उनके महाभाष्य में अनेक ऐसे संकेत विद्यमान हैं, जिनसे यह भली भाँति जाना जा सकता है कि वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस काल में वर्ण-व्यवस्था का क्या स्वरूप था। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, पतंजलि ने 'जातिब्राह्मण' संज्ञा ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त की है जो ब्राह्मण माता-पिता की सन्तान होते हुए भी ऐसे कर्मों में व्यापृत रहते थे जो ब्राह्मण वर्ण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे। पतंजलि ने शूद्रों के भी दो भेद किये हैं: 'अनिरवसित' और 'निरवसित'। चाण्डालों को निरवसित शूद्र कहा जाता था। ये नगरों और ग्रामों के बाहर निवास किया करते थे। यदि ये किसी के पात्र को छू दें, तो वह अपवित्र हो जाता था और अग्नि द्वारा शुद्ध कर लेने पर भी उच्च वर्णों के व्यक्ति उसे प्रयोग में नहीं ला सकते थे। अनिरवसित शूद्रों में धीवरों (कहारों), तन्तुवायों (जुलाहों), कुम्भकारों (कुम्हारों), अयस्कारों (लुहारों), रथकारों, नापितों (नाइयों), चर्मकारों (चमारों), आभीरों और धोबियों को गिना जाता था। ये सब विविध शिल्पियों के वर्ग थे, जो श्रेणियों (गिल्ड) में संगठित थे। श्रेणियों में संगठित होने के कारण इनके ऐसे वर्ग विकसित हो गये थे, जिनमें सब कोई के लिए प्रवेश सम्भव नहीं था। सम्भवतः, पहले इन्हें सर्वसाधारण 'विशः' (जनता) के ही अन्तर्गत किया जाता था। पर अब इनकी पृथक्ता मानी जाने लगी थी, और इन्हें शूद्र वर्ण में सम्मिलित कर लिया गया था। पर ये अस्पृश्यों (अछूतों) या चाण्डालों से भिन्न थे, और इनके स्पर्श से अपवित्रता नहीं मानी जाती थी। शूद्रों को यह अधिकार नहीं था कि वे वानप्रस्थ तथा संन्यासी बन सकें। उनका उपनयन-संस्कार भी नहीं होता था, अतः वे ब्रह्मचारी होकर विद्याध्ययन भी नहीं कर सकते थे।

जाति भेद का विकास वैदिक आर्य धर्म के पुनरुत्थान के युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। वर्ण और जाति पर्यायवाची नहीं हैं। वर्ण संख्या में चार हैं, पर जातियों की संख्या सैकड़ों में है। कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं, जिन्हें किस वर्ण के अन्तर्गत किया जाए यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कायस्थ जाति को न ब्राह्मण वर्ण में सम्मिलित किया जा सकता है, और न क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्णों में। जाट जाति के लोगों का प्रधान कार्य खेती है। स्मृतियों और नीति ग्रन्थों के अनुसार कृषि कार्य वैश्यों का है। पर जाट कभी अपने को वैश्य कहलाना स्वीकार नहीं करेंगे। खत्री, अरोड़ा, महाजन सदृश अनेक जातियों का मुख्य कार्य व्यापार है। पर वे अपने को क्षत्रिय वर्ण का समझते हैं। सैनी, कोरी, मुरई आदि जातियों के लोगों के धन्धों का सम्बन्ध प्रधानतया खेती से है, पर वे वैश्य नहीं माने जाते। वास्तविकता यह है, कि जाति वर्ण से पृथक् है और जातिभेद का विकास वर्णों से सर्वथा पृथक् रूप से हुआ है। प्राचीन काल में (महाभारत के समय तक) आर्यों के सामाजिक संगठन में वर्णों का भेद तो था, पर जातियों का विकास तब तक प्रायः नहीं हुआ था। यद्यपि जातियों का विकास बौद्ध युग व उससे पूर्व भी प्रारम्भ हो चुका था, पर शुंग काल में तथा उसके पश्चात् जातियों का विशेष रूप से विकास हुआ। इसके अनेक कारण थे। भारत की अनेक जातियों का विकास उन गणराज्यों द्वारा हुआ, जो मौर्य साम्राज्य से पूर्व इस देश में सैकड़ों की संख्या में विद्यमान थे। प्रत्येक गणराज्य में प्रायः एक-एक 'जन' (कबीले) का निवास था, और इन जनों को अपने कुल की उच्चता तथा रक्तशुद्धता पर बड़ा गर्व था। मागध साम्राज्य के विस्तार द्वारा इन गणों की

राजनीतिक स्वतन्त्रता नष्ट होनी प्रारम्भ हुई। जरासन्ध और उसके उत्तराधिकारी अनेक मागध सम्राटों की यह नीति थी कि अन्य राज्यों (राजतन्त्र तथा गणतन्त्र) को जीत कर, न केवल उनसे अधीनता ही स्वीकार कराई जाए, अपितु उनकी स्वतन्त्रता का पूर्णतया अन्त कर दिया जाये। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार जैसे मौर्य वंशी मागध राजा भारत के बड़े भाग को जीतकर अपना साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे और गणराज्यों की स्वतन्त्रता का उन्होंने अन्त कर दिया था। पर उनकी यह नीति भी थी कि गणों के 'स्वधर्म' को नष्ट न किया जाए। इनमें जो अपने रीति-रिवाज व स्थानीय कानून प्रचलित थे, उन्हें मागध सम्राटों ने न केवल स्वीकार ही किया था, अपितु उन्हें साम्राज्य के कानून का अंग भी मान लिया था। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक स्वाधीनता के नष्ट हो जाने पर भी गणों की सामाजिक व आर्थिक स्वाधीनता कायम रही। उनके लोग अपने स्थानीय धर्म, व्यवहार व कानून का पहले के समान ही पालन करते रहे। इसी कारण वे धीरे-धीरे जातियों या बिरादरियों के रूप में परिणत हो गये। वर्तमान समय की बहुत-सी जातियों का मूल प्राचीन गणराज्यों में ढूँढा जा सकता है। प्राचीन वाहीक देश के आरट्ट और क्षत्रिय गण इस समय की अरोड़ा और खत्री जातियों के रूप में विद्यमान हैं। अग्रवालों का मूल प्राचीन 'आग्रेय' गण में है। कम्बोह जाति का उद्भव कम्बोज गण से, कोरी जाति का कोलिय गण से, रस्तौगी जाति का रोहितक गण से, सैनी जाति का श्रेणि गण से और अरायन जाति का उद्भव आर्जुनायन गण से हुआ है। जातिभेद के विकास का एक अन्य कारण प्राचीन भारत में शिल्पियों की ऐसी 'श्रेणियों' की सत्ता है, जो अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों के विषय में स्वयं नियम बनाती थीं और जिनके नियमों व कानूनों को राज्य संस्था द्वारा मान्यता प्राप्त थी। सुवर्णकार, वर्धकि (बढ़ई), लौहकार (लुहार), तन्तुवाय (जुलाहा), तुन्नवाय (दरजी), रजक (धोबी) आदि विविध प्रकार के शिल्पी 'श्रेणियों' में संगठित थे। इन सब श्रेणियों के अपने-अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार हुआ करते थे, जिनके कारण ये 'स्वशासित' स्थिति रखती थीं। सुनार, बढ़ई, लुहार, धोबी आदि जो बहुत-सी जातियाँ इस समय भारत में हैं, उनका उद्भव इन्हीं शिल्पी-श्रेणियों द्वारा हुआ है। भारत की अनेक जातियाँ ऐसी भी हैं जिनकी उत्पत्ति उन विदेशी लोगों से हुई है, जो इस देश के कतिपय प्रदेशों को जीतकर स्थायी रूप से यहीं बस गये थे। अग्नि-कुलीय राजपूत, गुर्जर आदि इसी प्रकार की जातियाँ हैं।

जाति भेद के इस विकास ने प्राचीन वैदिक आर्य धर्म द्वारा अभिमत सामाजिक संगठन को एक नया रूप प्रदान कर दिया। आर्य धर्म के अनुसार संगठित समाज में चार वर्णों की सत्ता थी। समाज को एक शरीर माना जाता था। जैसे शरीर के विविध अंग एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं, वैसे ही चारों वर्ण भी समाज रूपी शरीर के अंग होते हुए अन्योन्याश्रित होकर रहते हैं। पर अब जिन बहुत-सी जातियों का भारत में विकास हो गया था, वे अपनी पृथक् व स्वतन्त्र स्थिति रखती थीं। उन्हें एक-दूसरे पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं थी। अग्रवाल, खत्री, सैनी, कोरी आदि जातियों का स्वरूप ऐसे संगठनों का था, जो राजनीतिक क्षेत्र को छोड़कर अन्य सब दृष्टियों से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखते थे। इनके कारण समाज ऐसे विभागों में विभक्त हो गया था, जिनमें एक-दूसरे के साथ सहयोग का अभाव था। आर्यों का सामाजिक संगठन इससे बहुत

शिथिल हो गया, और उनकी शक्ति में भी ह्रास होने लगा।

आर्यों के सामाजिक जीवन में वर्ण व्यवस्था के समान आश्रम व्यवस्था का भी बहुत महत्त्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम थे। प्रत्येक आर्य से यह आशा की जाती थी कि वह अपना सारा जीवन सांसारिक झंझटों में ही न बिता दे। पहले पच्चीस साल ब्रह्मचर्य आश्रम के थे, जिसमें मनुष्य को बुद्धि के विकास, शिक्षा के ग्रहण और शक्ति-संचय के लिए उद्योग करना था। पच्चीस वर्ष गृहस्थ जीवन के लिए नियत थे, जिसमें मनुष्य को धर्मपूर्वक धन का उपार्जन तथा सांसारिक सुखों का भोग करना होता था। पचास वर्ष की आयु हो जाने पर गृहस्थों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे आरण्यक आश्रमों में निवास करें और वहाँ अध्यात्म चिन्तन में समय लगाएं। पचहत्तर साल के हो जाने पर विशेष रूप से ज्ञानी व्यक्तियों से यह आशा की जाती थी कि वे अपना शेष जीवन परोपकार में व्यतीत करें। संन्यास आश्रम में मनुष्य को तप, त्याग और संयम का चरम आदर्श अपने सम्मुख रखना होता था। वह अकिंचन होकर भैक्षचर्या द्वारा निर्वाह करता था और मनुष्यमात्र के हित कल्याण के लिए उद्योग करता था। प्राचीन काल में आश्रम व्यवस्था का यही रूप था। पर जैन और बौद्ध सम्प्रदायों ने आश्रम व्यवस्था की उपेक्षा की और गृहस्थ तथा वानप्रस्थ हुए बिना ही किशोरवय पुरुषों तथा स्त्रियों को भिक्षुव्रत ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। परिणाम यह हुआ कि भारत में भिक्षुओं और भिक्षुणियों की संख्या बहुत बढ़ गई और गृहस्थ जीवन को हीन समझा जाने लगा। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के काल में इसके विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई। गृहस्थ आश्रम सबसे श्रेष्ठ है, गृहस्थ रहते हुए भी मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है, इस विचार का इस काल में पुनः उदय हुआ।

तीसरा अध्याय

आर्य धर्म और सभ्यता के नव-उत्कर्ष का युग

(१) अश्वमेधयाजी आर्य सम्राटों का शासन

शुंग काल (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व) में जब बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप सनातन वैदिक आर्य धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो भारत की राजशक्ति भी ऐसे राजवंशों और राजाओं के हाथ में आ गई जो प्राचीन आर्य मर्यादा में विश्वास रखते थे और राजकीय नीति में उसका पालन करने का प्रयत्न करते थे। राजाओं की यह महत्वाकांक्षा आर्य परम्परा के अनुकूल थी, कि राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान कर 'सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट्' पद प्राप्त करें। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—'राजा के लिए ही राजसूय है। राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान से ही राजा बनता है।' जो राजा सम्राट् पद प्राप्त करना चाहे, उसके लिए वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का विधान था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार "वाजपेय से सम्राट् बनता है। राज्य हीन है, साम्राज्य श्रेष्ठ है। राजा सम्राट् बनने की कामना करे।" वाजपेय के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करके ही कोई राजा सम्राट् बन सकता था। महाभारत से पूर्व और उसके कुछ समय पश्चात् तक भारत के अनेक आर्य राजा इन यज्ञों द्वारा 'सार्वभौम चक्रवर्ती' पद प्राप्त करते रहे। ये राजा अन्य राजाओं को जीतकर अपनी सार्वभौम सत्ता को स्थापित करने का प्रयत्न अवश्य करते थे, पर उनकी स्वायत्त व पृथक् सत्ता को नष्ट करना वे आर्य मर्यादा के प्रतिकूल मानते थे। उनसे अधीनता स्वीकार करा लेना ही उनकी दृष्टि में पर्याप्त होता था।

पर मगध के राजाओं ने आर्यों की प्राचीन परम्परा के प्रतिकूल आचरण करना प्रारम्भ किया। ये राजा दूसरों से अधीनता स्वीकार करा के ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे, अपितु उनका मूलोच्छेद कर अपना एकच्छत्र शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया करते थे। इसीलिए मगधराज जरासन्ध को कृष्ण और पाण्डव युधिष्ठिर ने परास्त किया, और कुछ समय के लिए वे प्राचीन आर्य परम्परा को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुए। पर अन्य राजवंशों का मूलोच्छेद कर 'एकराट्' बनने की जो प्रवृत्ति मगध के राजाओं में विद्यमान थी, वह देर तक दबी नहीं रही। जरासन्ध के वंशज रिपुञ्जय ने फिर आर्य मर्यादा का अतिक्रमण कर एकराट् बनने का प्रयत्न किया, और उसके बाद पुलिक, भट्टिय आदि मागध राजा उसी का अनुसरण करते रहे। पुराणों में इन राजाओं को 'नय-वर्जित' कहा गया है। वस्तुतः प्राचीन आर्यनीति का इन्होंने परित्याग कर दिया था। छठी

सदी ईस्वी पूर्व में जब वैदिक आर्य धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर जैन और बौद्ध धर्मों का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ, तब भारत के राजाओं की राजकीय नीति में भी ऐसे तत्त्व प्रबल हो गये, जो प्राचीन आर्य 'नय' के विपरीत थे। बार्हद्रथ, शैशुनाग और नन्द वंशों के मागध राजाओं का झुकाव प्रायः ऐसे सम्प्रदायों की ओर था, जो वेदों में विश्वास नहीं रखते थे, और जिनकी मान्यताएँ सनातन आर्य धर्म से भिन्न थीं। राजनय में भी इन्होंने पुरातन आर्य मर्यादा का पालन नहीं किया। इसी कारण प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें 'जघन्यज' शूद्र और 'शूद्रप्राय' आदि कहा गया है। नन्द वंश का अन्त कर जिस मौर्य वंश का मगध में शासन स्थापित हुआ, उसके भी अनेक राजा बौद्ध और जैन धर्मों के अनुयायी थे। अशोक और उसके उत्तराधिकारियों ने क्षात्र धर्म की उपेक्षा की, जिसके कारण भारत की राजशक्ति बहुत क्षीण हो गई। उस युग के विचारकों ने इसके लिए बौद्धों को भी दोषी माना। बौद्ध संघ में भिक्षु जीवन का महत्त्व जिस ढंग से बढ़ गया था और किशोरवय व्यक्ति जिस प्रकार भिक्षु बनने लग गये थे, उसी के कारण सम्भवतः आचार्य चाणक्य को यह व्यवस्था करने की आवश्यकता हुई थी, कि केवल ऐसे व्यक्ति ही परिव्राजक बन सकें जिनकी सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो चुकी हो और अपने परिवार के पालन की समुचित व्यवस्था जिन्होंने कर दी हो। जो ऐसा किये बिना प्रव्रज्या ग्रहण करे या संन्यासी बने, उसे दण्ड दिया जाए। पर अशोक, सम्प्रति और शालिशुक सदृश मौर्य राजाओं के शासन काल में गृहस्थ आश्रम तथा क्षत्रशक्ति की निरन्तर उपेक्षा होती रही। बौद्धों के विरुद्ध जब प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य वंश का अन्त कर पाटलिपुत्र का शासनसूत्र जब अपने हाथों में ले लिया, तब उसने भारत की सैन्यशक्ति के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया, जो वस्तुतः इस युग में प्रारम्भ हुए वैदिक आर्य धर्म के पुनरुत्थान का ही एक अंग था। मौर्य राजाओं की निर्बलता से लाभ उठाकर जिन यवनों ने उत्तर-पश्चिमी भारत को आक्रान्त किया हुआ था, पुष्यमित्र ने उन्हें परास्त कर सिन्धु नदी के पश्चिम में धकेल दिया, और आर्य भूमि में फिर से आर्य शासन स्थापित करने के प्रयोजन से दो बार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। पुष्यमित्र की विजयों के कारण एक बार फिर भारत में ऐसे सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की स्थापना हुई, जो प्राचीन आर्य मर्यादा के अनुरूप था। वाहीक (पंजाब), कुरुदेश (हरियाणा) आदि में अब फिर अनेक गणराज्य (यौधेय, मालव, आर्जुनायन, आग्रेय आदि) स्वायत्त एवं पृथक् रूप में स्थापित होने प्रारम्भ हुए। भारत की राजशक्ति अब ऐसे लोगों के हाथों में आ गई थी, जो सनातन आर्य धर्म में विश्वास रखते थे। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में स्थापित हुए प्रायः सभी गणराज्यों के निवासी शिव, विष्णु, स्कन्द आदि के उपासक थे और वेद शास्त्रों में उनकी आस्था थी। पुष्यमित्र शुंग द्वारा दो अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया जाना ही यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि वह वैदिक आर्य धर्म का अनुयायी था।

शुंग वंश के पश्चात् कण्व, आन्ध्र-सातवाहन, भारशिव और वाकाटक वंशों ने भारत के बड़े भाग पर शासन किया। इन राजवंशों के प्रायः सभी राजा वैदिक आर्य धर्म को मानने वाले थे, और वेद शास्त्रों में उनकी आस्था थी। राजा अशोक और उस के उत्तराधिकारियों ने धर्मविजय की नीति का अनुसरण कर क्षत्रशक्ति की जो उपेक्षा की थी, उसके परिणामस्वरूप यवनों ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। यद्यपि पुष्यमित्र शुंग यवनों को परास्त करने में समर्थ हुआ

था, पर भारत की क्षत्रशक्ति को भली-भाँति पुनःस्थापित कर सकने में शुंग राजा असमर्थ रहे। इसीलिए उन तथा उन के उत्तराधिकारी कण्व तथा आन्ध्र-सातवाहन राजाओं के शासनकाल में भारत पर विदेशी आक्रमण फिर शुरू हो गये और यवन, शक, पल्हव (पार्थियन) और कुशाण लोगों ने इस देश के विविध प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। भारत के आर्य राजा उनके विरुद्ध संघर्ष करने में निरन्तर व्यापृत रहे, पर उन्हें पूर्णरूप से परास्त कर सकना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ। इस युग के जिन राजाओं ने विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध युद्ध में विशेष पराक्रम प्रदर्शित किया, उनमें गौतमीपुत्र श्रीसातकर्णि का नाम उल्लेखनीय है। नासिक के त्रिरश्मि पर्वत की एक गुफा की दीवार पर उत्कीर्ण प्रशस्ति के अनुसार यह राजा 'शक, यवन, पल्हवों का निषूदक था, और इन विदेशियों को पराभूत कर वह आर्यों की राजशक्ति को पुनः स्थापित करने में सफल हुआ था।' पर विदेशियों के आधिपत्य से भारत को मुक्त कराने का मुख्य श्रेय नाग-भारशिव वंश के राजाओं को प्राप्त है। इस वंश में सात राजा हुए, जिन्होंने अपनी विजयों के उपलक्ष में काशी में दस बार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया। सम्भवतः, नाग-भारशिवों के इन्हीं दस यज्ञों की स्मृति काशी के दशाश्वमेध घाट में सुरक्षित है। कुशाण सम्राट् कनिष्क ने भारत तथा उसके बाहर के भी अनेक प्रदेशों में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित किया था। गंगा-यमुना के प्रदेश को कुशाणों के आधिपत्य से मुक्त कराना नाग-भारशिव राजाओं के लिए अत्यन्त गौरव की बात थी। सम्भवतः, इसी कारण इन्होंने गंगा-यमुना को अपना राजचिह्न बनाया था। गंगा-यमुना के पवित्र जल से अपना राज्याभिषेक कर इन राजाओं ने चिरकाल पश्चात् इन पवित्र नदियों के गौरव का पुनरुद्धार किया था। नाग-भारशिव राजाओं में सबसे प्रसिद्ध वीरसेन था। कुशाणों को बार-बार युद्ध में परास्त कर अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान प्रधानतया उसी ने किया था।

नाग-भारशिव वंश के पश्चात् वाकाटक वंश का शासन हुआ। इस वंश का राजा प्रवरसेन अत्यन्त प्रतापी था। उसने भी अपनी विजयों के उपलक्ष में चार अश्वमेध यज्ञ किये थे। इन वंशों के समय में शक, कुशाण आदि विदेशी आक्रान्ताओं के राज्यों के विरुद्ध जो संघर्ष जारी था, गुप्त वंश के प्रतापी सम्राटों ने सफलतापूर्वक उसका पारायण किया। समुद्रगुप्त (३२८-३७८ ईस्वी) ने न केवल उत्तरी भारत में अपना एकच्छत्र शासन स्थापित किया, अपितु सुदूर दक्षिण तक विजय-यात्राएँ कर वहाँ के राजाओं को अपना आधिपत्य स्वीकृत करने के लिए विवश किया। वाहीक देश के विविध गणराज्यों को अपना आज्ञानुवर्ती बनाकर समुद्रगुप्त ने उत्तर-पश्चिमी भारत के 'दैवपुत्र शाहानुशाहि' और 'शक-मुरुण्ड' राजाओं को इस बात के लिए विवश किया कि वे 'आत्मनिवेदन, कन्योपायन, दान और गरुड़ध्वज से अंकित आज्ञापत्रों के ग्रहण' आदि उपायों से गुप्त-सम्राट् को सन्तुष्ट रखें। आत्मनिवेदन का अभिप्राय है अपनी सेवाओं को सम्राट् के लिए अर्पित करना। कन्योपायन का अर्थ है कन्या विवाह में देना। दान से भेंट उपहार अभिप्रेत है। समुद्रगुप्त के आज्ञापत्रों को भी ये राजा ग्रहण करते थे और इन विविध उपायों से ये महाप्रतापी गुप्त सम्राट् को सन्तुष्ट रखते थे तथा उसके कोप से बचे रहते थे। 'दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहि' से कुशाण राजा का अभिप्राय है, और शक मुरुण्ड से वे शक-क्षत्रप अभिप्रेत हैं, जिनके अनेक राज्य इस काल में भी उत्तर-पश्चिमी भारत में

विद्यमान थे। भारशिव और वाकाटक राजाओं ने उत्तरी भारत से कुशाणों और शकों के शासन का अन्त कर दिया था, पर उनके अनेक राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत में अभी तक कायम थे, जिन सबको समुद्रगुप्त ने अपना आधिपत्य स्वीकृत करने के लिए विवश किया। सम्पूर्ण भारत में अपना एकच्छत्र शासन स्थापित कर और दिग्विजय को पूर्ण कर समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया। शिलालेखों में समुद्रगुप्त को 'अनेकाश्वमेधयाजी' (अनेक अश्वमेध यज्ञ करने वाला) कहा गया है।

गुप्त वंश के सम्राटों में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७८-४१४) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुशाणों और शकों की शक्ति का अन्त करने के सम्बन्ध में इस सम्राट् का विशेष कर्तृत्व था। यद्यपि समुद्रगुप्त इनसे अपना आधिपत्य स्वीकृत कराने में सफल हुआ था, पर उसकी मृत्यु के पश्चात् जब उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त गुप्त-साम्राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो शक-कुशाणों ने विद्रोह कर दिया। रामगुप्त निर्बल, कामुक तथा नपुंसक था। वह शक-कुशाणों को वश में नहीं ला सका। यह कार्य उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया। वह केवल शक और कुशाण राजाओं से अधीनता स्वीकार करा के ही सन्तुष्ट नहीं हो गया, अपितु उनकी राजशक्ति का मूलोच्छेद कर देने में ही उसने आर्यावर्त का कल्याण समझा। दिल्ली के समीप महरौली में विष्णुध्वज पर उत्कीर्ण लेख में राजा चन्द्र की विजयों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उसने सिन्धु के सप्तमुखों (प्राचीन सप्तसैन्धव देश की सात नदियों) को पार कर वाल्हिक (बल्ख) तक के प्रदेशों को युद्ध में विजय किया था। ऐतिहासिकों का मत है कि महरौली के विष्णुध्वज पर जिस चन्द्र की विजयों का उल्लेख है, वह गुप्तवंशी सम्राट् चन्दगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ही था। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतापी गुप्त सम्राटों ने आर्यों की क्षत्रशक्ति का पुनरुद्धार करने में इतनी अधिक सफलता प्राप्त कर ली थी, कि न केवल सम्पूर्ण आर्यावर्त में ही अपितु वाल्हिक तक भी वे अपना सार्वभौम चक्रवर्ती शासन स्थापित करने में सफल हुए थे। बौद्ध धर्म के अनुयायी राजाओं ने अहिंसा और धर्म-विजय की जिस नीति का अनुसरण किया था, उसके परिणामस्वरूप आर्यों की क्षत्रशक्ति का ह्रास हो गया था। इसीलिए यवन, शक, पल्हव और कुशाण आक्रान्ता भारत के अनेक प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित करने में सफल हो गये थे। पर वैदिक आर्य धर्म का पुनरुत्थान होने पर जिन राजाओं के हाथों में राजशक्ति आ गई थी, वे बौद्ध न होकर आर्य धर्म के अनुयायी थे। इसीलिए उनका यह प्रयत्न रहा कि प्राचीन आर्य 'नय' के अनुसार सार्वभौम चक्रवर्ती पद प्राप्त करें। उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई, यद्यपि यह सफलता स्थायी नहीं थी। पर यह स्वीकार करना होगा, कि प्रतापी गुप्त सम्राटों की प्रायः वही सार्वभौम स्थिति थी, जो महाभारत काल से पूर्व के आर्य राजा मान्धाता, भरत, और सुद्युम्न आदि की थी।

(२) आर्यों की शक्ति का देश-देशान्तर में प्रसार

शुंग काल (१८५-६३ ईस्वी पूर्व) में जब सनातन वैदिक आर्य धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ, तो आर्यावर्त में नये जीवन और नई शक्ति का संचार होने लगा। इसके कारण जहाँ एक ओर आर्य धर्मावलम्बी राजा यवन, शक, पल्हव आदि विदेशी आक्रान्ताओं का सफलतापूर्वक सामना कर सकने में समर्थ हुए, वहाँ साथ ही दूसरी ओर भारतीय

सभ्यता और धर्म का अन्य देशों में इस प्रबलता से प्रचार होना शुरू हुआ कि कुछ ही सदियों में एक विशाल बृहत्तर भारत का विकास हो गया। आर्यावर्त के क्षेत्र के बाहर भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति का जो प्रचार हुआ, उसके दो प्रधान क्षेत्र थे, दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा पश्चिमी और मध्य एशिया। इनमें जिस बृहत्तर भारत का निर्माण हुआ था, सदियाँ बीत जाने पर आज तक भी वह आंशिक रूप में विद्यमान है और इसके अन्तर्गत देशों के धर्म, कला, भाषा और संस्कृति आदि वर्तमान समय में भी भारत से प्रभावित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय सभ्यता और धर्म के देश-देशान्तर में प्रसार-कार्य में बौद्ध लोगों का विशेष कर्तृत्व था, पर सनातन वैदिक आर्य धर्म के अनुयायियों ने भी इस सम्बन्ध में जो कार्य किया, वह कम महत्त्व का नहीं है। वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचारक भी विदेशों में गए और वहाँ उन्होंने आर्यधर्म की विजय-पताका फहराई। भारत के प्राचीन आर्य समुद्र यात्रा को पाप नहीं समझते थे। वे प्रधानतया तीन प्रयोजनों से विदेशों में आया-जाया करते थे—(१) व्यापार के लिए, (२) धर्म-प्रचार के लिए, और (३) उपनिवेश बसाने के लिए। भारत के व्यापारी पूर्व में चीन से शुरू कर पश्चिम में सिकन्दरिया (ईजिप्ट में नील नदी के मुहाने पर स्थित बन्दरगाह) और उससे भी परे तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। इन व्यापारियों की अनेक कथाएँ कथासरित्सागर, बृहत्कथा-मंजरी, बृहत्कथा-संग्रह तथा जातकों में पायी जाती हैं। इन व्यापारियों का विचार था कि वरमा, मलाया आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देश समृद्ध तथा धन-धान्य से परिपूर्ण हैं और वहाँ सोने की खानें भी हैं। अतः अनेक साहसी तथा महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति व्यापार द्वारा धन कमाने के लिए इन देशों में जाया करते थे। वहाँ उन्हें धन उपार्जन में अच्छी सफलता भी प्राप्त होती थी, जिसके कारण इन प्रदेशों का नाम ही 'सुवर्णभूमि' पड़ गया था।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों तथा द्वीपों के साथ भारत का सम्बन्ध यद्यपि व्यापार द्वारा प्रारम्भ हुआ था, पर बाद में उपनिवेशों की स्थापना तथा धर्मप्रचार के लिए भी भारतीय लोग वहाँ जाने-आने लगे। बहुत-से साहसी भारतीय युवक, विशेषतया आर्य क्षत्रिय कुमार इन देशों में गये और स्थायी रूप से वहाँ बस गये। इस प्रकार उन उपनिवेशों का विकास हुआ, जो भाषा, संस्कृति, धर्म आदि की दृष्टि से उसी प्रकार भारतीय या आर्य थे, जैसे कि कलिंग, बंग, मगध आदि आर्यावर्त के क्षेत्र में स्थित राज्य। भारत से गये उपनिवेशकों ने विदेशों में जाकर जो नगरियाँ व बस्तियाँ बसाईं, उनके नाम उन्होंने भारतीय रखे। इन उपनिवेशों में मुख्य निम्नलिखित थे—

कम्बुज—वर्तमान कम्पूचिया (कम्बोडिया) के क्षेत्र में भारतीय आर्यों ने अनेक उपनिवेश स्थापित किये थे। इनमें एक का नाम फूनान था, जिसकी स्थापना कौण्डिन्य नाम के ब्राह्मण ने की थी। तीसरी सदी ईस्वी में फूनान की बहुत उन्नति हुई, और पश्चिम में मलाया तक के प्रदेश उसके आधिपत्य में आ गये। छठी सदी के प्रारम्भ में फूनान के राजसिंहासन पर जयवर्मा विराजमान था। उसने भारत और चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये थे और अपने राजदूत इनके राजाओं की राजसभाओं में भेजे थे। फूनान के राजा शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनकी भाषा संस्कृत थी। जयवर्मा की रानी का नाम कुलप्रभावती था। फूनान के राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये गये अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। ये लेख शुद्ध संस्कृत भाषा में हैं, और यह प्रमाणित करने के

लिए पर्याप्त हैं कि फूनान धर्म, सभ्यता, भाषा और संस्कृति की दृष्टि से भारत के ही सदृश था।

वर्तमान समय के कम्बोडिया के क्षेत्र में फूनान के उत्तर में कम्बुज राज्य की स्थिति थी। यह पहले फूनान के अधीन था। छठी सदी में यह राज्य न केवल फूनान की अधीनता से स्वतन्त्र हो गया, अपितु इसके प्रतापी राजाओं ने फूनान तथा उसके अधीनस्थ प्रदेशों को भी अपने आधिपत्य में ले लिया। छठी सदी में कम्बुज का जो उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ, वह प्रायः सात सौ साल तक कायम रहा। जिस राजा ने कम्बुज को फूनान की अधीनता से मुक्त कर स्वतन्त्र किया था, उसका नाम श्रुतवर्मा था। श्रुतवर्मा का पुत्र श्रेष्ठवर्मा था। कम्बुज की राजधानी का 'श्रेष्ठपुर' नाम इसी राजा के नाम पर रखा गया था। कम्बुज के राजाओं में भववर्मा बहुत प्रसिद्ध हुआ है। वह एक महान् विजेता था, और उसके द्वारा कम्बुज राज्य का बहुत उत्कर्ष हुआ। सियाम के सीमान्त क्षेत्र में एक शिवलिंग मिला है, जिसकी पीठिका पर यह लेख उत्कीर्ण है—"धनुष के पराक्रम से जीती गई निधियों को प्रदान कर उभयलोक कर-धारी राजा श्रीभववर्मा ने त्र्यम्बक के इस लिंग की प्रतिष्ठा की।" भववर्मा का उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मा था। उसके एक उत्कीर्ण लेख में 'शिवपद' या 'शम्भुपद' का वर्णन है। भारत में विष्णुपद की पूजा तो अब तक होती है, गया में विष्णुपद विद्यमान भी है, पर 'शिवपद' की पूजा भारत में नहीं होती। परन्तु वर्तमान कम्बोडिया में सातवीं सदी में शिवपद की पूजा भी प्रचलित थी, और राजा महेन्द्रवर्मा ने उसकी प्रतिष्ठा भी करवायी थी। कम्बुज के राजाओं के सब शिला-लेख संस्कृत भाषा में हैं और उनसे सूचित होता है कि यह राज्य भारत के आर्य धर्म तथा संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओं की वहाँ पूजा हुआ करती थी, और इसके लिए वहाँ बहुत से मन्दिर विद्यमान थे। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहाँ उसी प्रकार अध्ययन-अध्यापन होता था, जैसे कि भारत में। महेन्द्रवर्मा के उत्तराधिकारी राजा ईशानवर्मा (सातवीं सदी) ने कम्बुज में अनेक आश्रमों का निर्माण कराया था। जैसे बौद्ध धर्म के मठ विहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक आर्य धर्म के मठों को 'आश्रम' कहा जाता था। इनमें संन्यासी निवास करते थे, और वे बौद्ध भिक्षुओं तथा स्थविरों के समान धर्मप्रचार, विद्याध्ययन और अध्यापन के कार्यों में व्यापृत रहते थे।

कम्बुज राज्य के राजनीतिक इतिहास का संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकना यहाँ सम्भव नहीं है, और न उसकी आवश्यकता ही है। पड़ौस के राज्यों के साथ उसके संघर्ष होते रहे, और अनेक बार उसकी स्वतन्त्र सत्ता भी खतरे में पड़ गई। पर कम्बुज के प्रतापी राजा न केवल अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने में समर्थ रहे, अपितु अनेक प्रदेशों को जीतकर उन्होंने अपने राज्यक्षेत्र का विस्तार भी किया। एक अभिलेख के अनुसार राजा यशोवर्मा (दसवीं सदी) के राज्य की सीमा चीन के समुद्रतट तक विस्तृत थी। इसी प्रकार राजेन्द्र वर्मा आदि अन्य भी अनेक ऐसे राजा वहाँ हुए, जिनके शासन-काल में कम्बुज की शक्ति का बहुत उत्कर्ष हुआ। तेरहवीं सदी के अन्त तक इस भारतीय उपनिवेश की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। सन् १२९६ में मंगोल सम्राट् कुबले खाँ ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए कम्बुज को भी जीत लिया।

चम्पा—कम्बोडिया के पूर्व में वियतनाम की स्थिति है। वहां भी भारत के आर्यों

ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की थी। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण चम्पा का राज्य था, जिसकी स्थापना दूसरी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में हुई थी। चम्पा का प्रथम राजा श्रीमार था, जो विशुद्ध भारतीय था। श्रीमार तथा उसके उत्तराधिकारी राजाओं की भाषा संस्कृत थी और वे शैव धर्म के अनुयायी थे। चम्पा का यह भारतीय या आर्य राज्य उन्नीसवीं सदी तक कायम रहा, यद्यपि इसके राज्यक्षेत्र में शासकवर्ग की शक्ति के अनुसार निरन्तर परिवर्तन होते रहे। सोलह सदियों के सुदीर्घ काल में चम्पा के राज्य पर अनेक राजवंशों ने शासन किया, जिनमें पाण्डुरंग वंश और भृगुवंश उल्लेखनीय हैं। इन वंशों में अनेक प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने न केवल पड़ौस के राज्यों के आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना ही किया, अपितु अनेक सीमान्तवर्ती प्रदेशों पर अपना आधिपत्य भी स्थापित किया था। चम्पा के उत्तर में अनाम और चीन की स्थिति थी, और पश्चिम में कम्बुज की। इनके साथ चम्पा के राजाओं का संघर्ष होता रहता था। सुदूर पूर्व में स्थित इस भारतीय राज्य के राजनीतिक इतिहास को उल्लिखित करने का इस ग्रन्थ के लिए कोई उपयोग नहीं है। पर महत्त्व की बात यह है, कि चम्पा के प्रायः सभी राजा वेद-शास्त्रों के ज्ञाता थे, और उन द्वारा भारतीय आर्य धर्म का अनुसरण किया जाता था। इन राजाओं के शिलालेखों में उनके शास्त्रज्ञ होने तथा धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करने का पुनः-पुनः उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ, एक अभिलेख में राजा इन्द्रवर्मा तृतीय (६११-६७२) को मीमांसा आदि षड्दर्शन, बौद्ध दर्शन, काशिकावृत्तिसहित पाणिनीय व्याकरण, आख्यान तथा शैव आगम का प्रकाण्ड पण्डित कहा गया है। इसी प्रकार एक अभिलेख में राजा कंदर्पवर्मा (६२६ ईस्वी) के लिए 'साक्षाद्धर्म इवापरः' विशेषण का प्रयोग कर उसे 'प्रजा का सन्तान के समान पालन करने वाला' कहा गया है। राजा धर्ममहाराज श्रीभद्रवर्मा (चौथी सदी) के लिए एक अभिलेख में 'चारों वेदों का ज्ञाता' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इस आर्य राजा ने भद्रेश्वरस्वामी शिव की मूर्ति को प्रतिष्ठापित करने के लिए एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था, जो चिरकाल तक धर्म और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। यह मन्दिर भग्न दशा में अब तक भी विद्यमान है।

मलाया के भारतीय उपनिवेश—दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया (मलयद्वीप) में भी प्राचीन समय में भारतीयों ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की थी। इनमें प्रमुख लंकाशुक (लिंग-किया-सू) था। अनुश्रुति के अनुसार इसे पाटलिपुत्र के एक राजकुमार द्वारा स्थापित किया गया था। छठी सदी के प्रारम्भ में लंकाशुक के राजसिंहासन पर राजा भगदत्त विराजमान था, जिसने कि आदित्य नामक राजदूत को चीन भेजा था। चीन के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार लंकाशुक के राजाओं की भाषा संस्कृत थी, और वे आर्य धर्म के अनुयायी थे। मलाया के अन्य भारतीय उपनिवेश द्वारवती, चर्मरंग, कलशपुर और पा-हो-अंग थे। चीन के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। यही कारण है कि प्राचीन चीनी ग्रन्थों में इनके राजाओं के विषय में अनेक कथाएँ विद्यमान हैं। इनके नाम श्रीपालवर्मा, श्रीवर नरेन्द्र, प्रियवर्मन् आदि थे, जो इनके भारतीय मूल के होने को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। प्राचीन समय में मलाया में भारतीय आर्य धर्म का भी प्रचार था। इसीलिए वहाँ हिन्दू (आर्य) मन्दिरों तथा देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के अनेक अवशेष विद्यमान हैं, जिनमें गरुड़ पर आरूढ़ विष्णु की मूर्त्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मलाया से संस्कृत के अनेक उत्कीर्ण लेख भी उपलब्ध हुए हैं। चीनी

ग्रन्थों में मलाया के अन्यतम राज्य पन-पन के विषय में यह लिखा गया है कि वहाँ का राजा ब्राह्मणों का अत्यधिक सम्मान करता था, और इससे लाभ उठाने के लिए भारत के बहुत-से ब्राह्मण उसके दरबार में आते रहते थे।

सुमात्रा—मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में सुमात्रा की स्थिति है। इण्डोनीसिया के गणराज्य में जो हजारों द्वीप अन्तर्गत हैं, सुमात्रा उनमें सबसे बड़ा है। इस द्वीप में भी भारतीयों ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की थी, जिनमें श्रीविजय सबसे प्रसिद्ध है। यह चौथी सदी ईस्वी से पूर्व ही स्थापित हो चुका था, पर सातवीं सदी में इसका विशेष रूप से उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ और इसके प्रतापी राजाओं ने पड़ोस के अनेक प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया। श्रीविजय के शैलेन्द्रवंशी राजा बड़े वीर और महत्त्वाकांक्षी थे, और एक विशाल साम्राज्य को स्थापित करने में उन्होंने सफलता प्राप्त की थी। सुमात्रा के निकटवर्ती जावा (यवद्वीप) की विजय कर मलाया, कम्बोडिया और दक्षिणी वर्मा पर भी उन्होंने अपना आधिपत्य स्थापित किया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य भी अनेक प्रदेशों व द्वीपों पर उनका शासन विद्यमान था। शैलेन्द्र वंश के राजाओं के उत्कीर्ण लेख न केवल सुमात्रा में अपितु जावा आदि अन्य द्वीपों में भी अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। ये लेख संस्कृत भाषा में हैं, और इनसे शैलेन्द्र राजाओं के वैभव तथा शक्ति का परिचय सुचारु रूप से प्राप्त किया जा सकता है। भारत के साथ भी शैलेन्द्र राजाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध था। नालन्दा से प्राप्त एक ताम्रपत्र में "शैलेन्द्र वंश-तिलक यवभूमिपाल महाराज श्रीबालपुत्रदेव" का उल्लेख है और यह कहा गया है कि इस राजा ने नालन्दा में एक बिहार का निर्माण कराया और उसके लिए राजा देवपाल (गुप्तवंशी) से कहकर राजगृह विषय (जिले) के नन्दिवनक, मणिवाटक, नाटिकाग्राम तथा हस्तिग्राम और गया विषय (जिले) के पामालक गाँव को दान में दिया। शैलेन्द्र राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और उनकी कीर्ति व प्रताप के स्मारक रूप अनेक विहार तथा स्तूप अब तक भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में विद्यमान हैं। शैलेन्द्र साम्राज्य की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति बोरोबदूर का महाचैत्य है। कम्बुज, चम्पा आदि के समान श्रीविजय का राज्य भी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की दृष्टि से भारतीय ही था। उसके राजाओं के संग्राम विजयोत्तुंग वर्मा सदृश नामों से ही यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है, कि शैलेन्द्र राज्य पर भारत का प्रभाव कितना अधिक था। यह राज्य चौदहवीं सदी के तृतीय चरण तक पृथक् व स्वतन्त्र रूप से कायम रहा। बाद में इसे जावा द्वारा अपने अधीन कर लिया गया।

जावा (यवद्वीप)—इण्डोनीसिया के अन्तर्गत द्वीपों में जावा का विशेष महत्त्व है। दूसरी सदी तक वहाँ भारतीयों के उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। इनकी स्थापना अस्तिन (हस्तिनापुर) तथा कलिंग से गये भारतीय आर्यों द्वारा की गई थी। पाँचवीं सदी के प्रारम्भ (४१४ ईस्वी) में प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत से चीन वापस जाता हुआ जावा में ठहरा था। उसके यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय जावा में भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में बसे हुए थे, और उनमें से बहुत-से शैव धर्म के अनुयायी थे। पांचवीं-छठी शताब्दियों के जो अनेक उत्कीर्ण लेख जावा से उपलब्ध हुए हैं, उनसे भी यही सूचित होता है कि इस काल में जावा के निवासी वैदिक (पौराणिक) आर्य धर्म के अनुयायी थे। इस युग के तीन अभिलेखों में पूर्णवर्मा नामक एक राजा का उल्लेख

है, जिसकी राजधानी तारुमानगरी थी। इन अभिलेखों में पूर्णवर्मा को 'अवनिपति' तथा 'प्रचुररिपुशराभेद्य विख्यातवर्मा' (बहुत-से शत्रुओं के शर जिसे कभी परास्त नहीं कर सके) कहा गया है। एक अभिलेख स्वयं राजा पूर्णवर्मा का है, जिसमें उसके पितामह के लिए 'राजर्षि' और पिता के लिए 'राजाधिराज' विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं। इस अभिलेख के अनुसार पूर्णवर्मा के पिता ने एक नहर का निर्माण कराया था, जिसका नाम 'चन्द्रभागा' था। पूर्णवर्मा ने भी गोमती नाम की एक नहर बनवायी थी, जिसके तैयार हो जाने पर उसने ब्राह्मणों को एक सहस्र गौवें दक्षिणा के रूप में प्रदान की थीं (ब्राह्मणैर्गो-सहस्रेण प्रयाति कृतदक्षिणः)। छठी सदी के एक अन्य अभिलेख पर सोलह आकृतियाँ या चिह्न उत्कीर्ण हैं, और उन सबका सम्बन्ध पौराणिक हिन्दू धर्म के साथ है। इनमें शंख, गदा, त्रिशूल, परशु, भाला, कमल और कुम्भ के चिह्न महत्त्व के हैं। त्रिशूल का सम्बन्ध शिव से है, शंख, गदा आदि का विष्णु से, कुम्भ का अगत्स्य से और परशु का परशुराम से। ये अभिलेख इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि पाँचवीं-छठी सदियों में जावा में नये परिवर्तित वैदिक आर्य (पौराणिक) धर्म का प्रचार था, और वहाँ के निवासियों की भाषा संस्कृत थी।

जावा के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। वहाँ भी अनेक ऐसे वीर प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने समीप के द्वीपों व प्रदेशों को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार किया। कुछ समय के लिए जावा श्रीविजय के शैलेन्द्र राजाओं के आधिपत्य में भी रहा। जावा के इस राजनीतिक इतिहास का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उल्लेख कर सकना भी यहाँ सम्भव नहीं है। उल्लेखनीय बात यह है कि वहाँ के विविध राजवंशों के राजा धर्म, संस्कृति आदि की दृष्टि से उसी प्रकार भारतीय थे, जैसे कि कम्बुज और चम्पा आदि के राजा। आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध के जावा में उपलब्ध एक अभिलेख में राजा सन्नाह का उल्लेख है, जिसे शत्रुओं को परास्त कर मनु के समान शासन करने वाला और जनक के समान प्रजापालक कहा गया है। सन्नाह का उत्तराधिकारी संजय था, जिसके लिए अभिलेख में 'बुद्धिमान् लोगों द्वारा माननीय' (श्रीमान् यो माननीयो बुद्धजननिकरैः) और 'शास्त्रों के गूढ़ तत्त्वों का ज्ञाता (शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी) विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। जावा के राजाओं में एरलङ्गदेव का विशेष महत्त्व है। शत्रुओं के आक्रमण के कारण देश में अव्यवस्था फैल जाने पर ब्राह्मणों तथा प्रमुख व्यक्तियों ने उससे राज्य का भार सम्भालने की प्रार्थना की थी (१०१० ईस्वी), और उसे जावा में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने में अनुपम सफलता प्राप्त हुई थी। राज्याभिषिक्त होकर उसने 'श्री लोकेश्वर धर्मवंश एरलङ्ग अनन्त विक्रमोत्तुङ्गदेव' की उपाधि धारण की और गरुड़मुख को अपना राजकीय चिह्न नियत किया था। एरलङ्गदेव भगवान् विष्णु का उपासक था और उसने 'पुण्याश्रम' नाम से एक मठ भी स्थापित किया था। भारत के प्राचीन आर्य राजाओं के आदर्श का अनुसरण कर वृद्धावस्था में एरलङ्ग ने मुनिव्रत ग्रहण कर लिया था, और वह ऋषि जन्टयु (जटायु) कहाने लगा था। सात वर्ष ऋषि के रूप में जीवन व्यतीत कर चुकने पर सन् १०४२ में इस राजा का देहावसान हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि जावा के इतिहास में एरलङ्गदेव का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। वह वीर, राजनीतिविशारद तथा प्रजापालक राजा था। उसने जावा में सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की और उसकी उन्नति के लिए सब सम्भव प्रयत्न किये।' 'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां' के आर्य आदर्श को अपना

कर जीवन के अन्तिम समय में उसने मुनिव्रत भी ग्रहण किया। एर्लङ्गदेव को साहित्य से भी अनुराग था। जावा के इतिहास में साहित्य की दृष्टि से उसका शासन काल सुवर्ण युग था, जिसमें अर्जुनविवाह, भीमकाव्य, सुमनसान्तक, स्मरदहन, अर्जुनविजय, कृष्णायन आदि अनेक काव्यों की रचना हुई।

जावा में कितने ही अन्य भी ऐसे राजा हुए, जिन्होंने कि प्राचीन आर्य आदर्श का अनुसरण कर दूर-दूर तक दिग्विजय कीं, और धर्म के अनुसार अपने राज्य का शासन किया। ऐसा एक राजा कृतनगर (१२६८ ई०) था, जिसने बाली, मलाया, मध्य सुमात्रा और बकुलपुर (दक्षिण-पश्चिमी बोर्नियो) आदि को अपने अधीन किया था। एक अभिलेख में उसके लिए 'चतुर्द्वीपेश्वर', 'मुनि', 'धर्मशास्त्रवित्' सदृश विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। राजा कृतनगर के बाद जावा में शासन करने वाले व्यक्तियों में त्रिभुवनोत्तुंगदेवी जयविष्णुवर्धिनी गीतार्या और राजसनगर के नाम उल्लेखनीय हैं। जावा के इतिहास में इनका बहुत महत्त्व है। पर यहाँ इनका उल्लेख केवल इस प्रयोजन से किया गया है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के जावा क्षेत्र में तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों में भी विशुद्ध आर्य शासन की सत्ता थी, इस तथ्य को इनके नामों तथा विरुदों द्वारा सूचित किया जा सके। पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में इस प्रदेश में राजा गिरीन्द्रवर्धन रणविजय का शासन था, जिसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उस द्वारा राम और ऋषि भारद्वाज की मूर्तियों की प्रतिष्ठा के साथ विष्णु, यम और दुर्गा की पूजा की व्यवस्था की गई थी। इस राजा के अभिलेखों का अध्ययन करने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि पन्द्रहवीं सदी के अन्त तक भी जावा में हिन्दू (आर्य) शासन विद्यमान था, और वहाँ की जनता भी प्रधानतया पौराणिक आर्य धर्म की अनुयायी थी। पर इस काल में दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों तथा द्वीपों में इस्लाम का प्रवेश प्रारम्भ हो गया था, और जावा के विविध सामन्त राजकुलों के अनेक व्यक्तियों ने भी इस धर्म को अपना लिया था। सोलहवीं सदी के मध्य तक जावा की राजशक्ति प्रधानतया ऐसे व्यक्तियों के हाथों में आ गई थी, जो इस्लाम को अपना चुके थे। इन मुसलिम राजाओं के शासनकाल में जावा के क्षेत्र से न केवल हिन्दू धर्म का ही अन्त हुआ, अपितु बहुत-से हिन्दू मन्दिर भी नष्ट कर दिए गये।

बोर्नियो—क्षेत्रफल की दृष्टि से दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों में बोर्नियो सबसे बड़ा है। वर्तमान समय में उसका एक भाग मलायीसिया के अन्तर्गत है, और एक इण्डोनीसिया के। इस द्वीप में भी प्राचीन समय में भारतीय आर्यों द्वारा अनेक उपनिवेशों की स्थापना की गई थी, जिनका परिचय वहाँ उपलब्ध हुए अभिलेखों से प्राप्त होता है। कुछ अभिलेख उन प्रस्तरस्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं, जिनका निर्माण यज्ञों के लिए यूपों (यज्ञ-स्तम्भों) के रूप में कराया गया था। ये अभिलेख शुद्ध संस्कृत भाषा में हैं, और इन्हें पाँचवीं सदी के प्रारम्भ का माना जाता है। बोर्नियो के प्रदेश में उस समय राजा मूलवर्मा का शासन था, जिसके वंश का परिचय देते हुए एक अभिलेख में यह कहा गया है कि कुण्डुङ्ग नामक नरेन्द्र के पुत्र अश्ववर्मा ने एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया था। मूलवर्मा उसी का पुत्र था। मूलवर्मा द्वारा बहुसुवर्णक यज्ञ का अनुष्ठान किया गया था, और उसी के उपलक्ष में वह यूप (प्रस्तर द्वारा निर्मित यज्ञस्तम्भ) स्थापित किया गया था, जिस पर कि मूलवर्मा का लेख उत्कीर्ण है। रामायण में बहुसुवर्णक यज्ञ का परिगणन

अश्वमेध, अग्निस्तोम, गोमेध और राजसूय के साथ किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुसुवर्णक यज्ञ भी अश्वमेध और राजसूय यज्ञों के समान ही महत्त्वपूर्ण था और प्राचीन आर्य राजाओं का अनुसरण कर मूलवर्मा ने भी उसका अनुष्ठान किया था। एक अन्य अभिलेख में राजा मूलवर्मा द्वारा वप्रकेश्वर के पुण्य क्षेत्र में ब्राह्मणों को बीस हजार गौवें दक्षिणा में दिये जाने का उल्लेख है। सम्भवतः, भारत के बदरीनाथ और अमरनाथ के समान बोर्नियो में भी वप्रकेश्वर के रूप में शिव की पूजा प्रचलित थी, और उसी के मन्दिर के कारण उस स्थान का नाम भी वप्रकेश्वर-क्षेत्र पड़ गया था। बोर्नियो में इस क्षेत्र का वैसा ही महत्त्व रहा होगा, जैसा कि भारत में बदरीनाथ एवं विश्वनाथ के मन्दिरों के कारण उन तीर्थ-स्थानों का है जिनका सम्बन्ध शिव के साथ है। संस्कृत के अभिलेखों के अतिरिक्त बोर्नियो से अनेक पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जो दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस क्षेत्र में आर्य धर्म और संस्कृति की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। इन अवशेषों में शिव, गणेश, अगस्त्य, ब्रह्मा, नन्दीश्वर, स्कन्द और महाकाल आदि की मूर्तियाँ विशेष महत्त्व की हैं। महादेव शिव की एक मूर्ति खड़े रूप में बनायी गई है। शिव कमलासन पर खड़े हैं। उनकी चार भुजाएँ हैं, दायीं ओर की दो भुजाओं में माला और त्रिशूल हैं, और बायीं ओर की ऊपर वाली भुजा ने चमर लिया हुआ है, निचली भुजा खाली है। सिर पर मुकुट, गले में माला, यज्ञोपवीत और पैरों में कड़े पहने हुए हैं। मूर्तियों के अतिरिक्त प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के अवशेष भी बोर्नियो में विद्यमान हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया के सुविस्तृत क्षेत्र में आर्य धर्म का जो स्वरूप इस युग में प्रचलित था, उसमें जहाँ शिव, विष्णु आदि देवताओं की मूर्तियों की पूजा की जाती थी, वहाँ साथ ही प्राचीन वैदिक धर्म द्वारा अभिमत याज्ञिक अनुष्ठानों का भी उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह राजा मूलवर्मा के बोर्नियो में उपलब्ध अभिलेखों से स्पष्ट है।

बाली—जावा के समीप पूर्व की ओर स्थित बाली द्वीप में भी एक समृद्ध आर्य राज्य की सत्ता थी। चीनी अनुश्रुति के अनुसार छठी सदी ईस्वी में बाली में भारतीयों द्वारा स्थापित उपनिवेश विद्यमान था। संस्कृत भाषा में लिखा हुआ एक प्राचीन ताम्र-पत्र वहाँ ८९६ ईस्वी का प्राप्त हुआ है, और ९१५ ईस्वी के वहाँ से मिले एक अभिलेख से सूचित होता है कि दसवीं सदी के प्रारम्भ में बाली में उग्रसेन नाम के राजा का शासन था। उग्रसेन के बाद वहाँ क्रमशः राजा तवनेन्द्रवर्मदेव और चन्द्राभयसिंहवर्मदेव ने शासन किया। समय-समय पर जावा के शक्तिशाली राजा बाली द्वीप पर आक्रमण कर उसे अपने आधिपत्य में लाने का प्रयत्न करते रहे, और अनेक राजा अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुए। सोलहवीं सदी में जब जावा की राजशक्ति मुसलमानों के हाथों में जाने लगी, तो हिन्दुओं के लिए वहाँ अपने धर्म पर सुदृढ़ रह सकना सुगम नहीं रहा। इस दशा में जावा के बहुत से हिन्दू अपने देश को छोड़कर बाली चले जाने के लिए विवश हो गये। इस प्रकार बाली हिन्दू शरणार्थियों का कैम्प बन गया, और जावा की प्राचीन आर्य संस्कृति वहाँ केन्द्रित हो गई। बाली पर मुसलमान अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सके। वहाँ के निवासी अब तक भी आर्य धर्म के अनुयायी हैं, और वहाँ सुवर्णद्वीप (इण्डोनीसिया, मलायीसिया आदि) की प्राचीन आर्य संस्कृति की धारा वर्तमान काल में भी प्रवाहित हो रही है। उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक बाली में हिन्दुओं का शासन कायम रहा। १८३९ में वहाँ के हिन्दू राजा ने हालैंड के आधिपत्य को स्वीकार कर

लिया और हालैण्ड के वशवर्ती रूप में बाली के हिन्दू राज्य की पृथक् स्थिति सन् १९११ तक कायम रही, जबकि उसकी पृथक् सत्ता का अन्त कर उसे डच साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

सियाम या थाईलैण्ड—कम्पूचिया (कम्बुज) के पश्चिम और बरमा के पूर्व में सियाम राज्य की स्थिति है। वर्तमान समय में इस देश के बहुसंख्यक निवासी थाई जाति के हैं, और वे बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। पर थाई लोगों का वहाँ प्रवेश बारहवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ था और तेरहवीं सदी में ही यह जाति वहाँ अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हो गई थी। इससे पूर्व वहाँ बहुत-से भारतीय व आर्य उपनिवेशों की सत्ता थी, और उनके निवासी प्रधानतया पौराणिक हिन्दू (आर्य) धर्म के अनुयायी थे। ईस्वी सन् की पहली दो सदियों तक इस देश में भारतीय सभ्यता और संस्कृति भलीभाँति स्थापित हो चुकी थी। सियाम में अनेक स्थानों पर पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ पायी गई हैं, मूर्तिकला की दृष्टि से जो गुप्त युग की शैली से निर्मित हैं। मुंग सी तेप नामक स्थान पर अनेक शैव तथा वैष्णव मूर्तियों के साथ संस्कृत भाषा का एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के भग्नावशेष भी सियाम में अनेक स्थानों पर विद्यमान हैं। सियाम के पुराने भारतीय उपनिवेशों या राज्यों में द्वारवती और हरिपञ्जय उल्लेखनीय हैं। द्वारवती राज्य की स्थिति सियाम के पश्चिमी क्षेत्र में थी, और उसकी राजधानी का नाम लवपुरी था। सियाम के पुराने ग्रन्थों के अनुसार हरिपञ्जय राज्य की स्थापना ६६१ ईस्वी में ऋषि वासुदेव द्वारा की गई थी।

सियाम में प्रवेश से पूर्व थाई लोगों का निवास चीन के दक्षिण-पूर्वी प्रदेशों में था। तब ये प्रदेश चीन के अन्तर्गत नहीं माने जाते थे, और वहाँ थाई लोगों के अनेक स्वतन्त्र राज्य विद्यमान थे। इनमें एक राज्य का नाम गान्धार था, और उसका एक भाग या प्रान्त विदेह कहाता था। सुदूर पूर्व के इस विदेह की भी राजधानी मिथिला थी। नवीं सदी के पूर्वार्द्ध में चन्द्रगुप्त नाम का एक हिन्दू (आर्य) धर्माचार्य थाई लोगों के इस प्रदेश में गया था, और उसने वहाँ अपने धर्म का प्रचार किया था। चन्द्रगुप्त मगध का निवासी था, और 'मागध' कहाता था। चीन के दक्षिणी एवं दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र (जिसे वर्तमान समय में 'युन्नान' कहते हैं) में स्थित यह गान्धार राज्य तेरहवीं सदी तक स्वतन्त्र रूप से कायम रहा। इसके अनेक राजा अत्यन्त शक्तिशाली थे, और उन्होंने चीन में भी दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ की थीं। गान्धार के ये आर्य राजा 'महाराज' कहाते थे। १२५३ ईस्वी में चीन के मंगोल सम्राट् कुबले खाँ ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए गान्धार पर भी आक्रमण किया और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। मंगोलों के आक्रमणों से विवश होकर ही गान्धार के थाई लोगों ने सियाम में प्रवेश किया था, और वहाँ अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया था।

गान्धार के अतिरिक्त थाई लोगों के अन्य भी अनेक राज्य थे, जिनके नाम कौशाम्बी, सुवर्णग्राम, अलाविराष्ट्र आदि थे। यद्यपि थाई लोग पहले पौराणिक आर्य धर्म के अनुयायी थे, पर बाद में उन्होंने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। तेरहवीं सदी में जब उन्होंने सियाम में प्रवास किया, तब वे बौद्ध हो चुके थे। पर उनकी संस्कृति तथा परम्पराएँ भारतीय आर्यों की ही थीं। सियाम में उन्होंने जो राज्य स्थापित किये, उनमें 'सुखोदय' सर्वप्रधान था। राजा इन्द्रादित्य के शासनकाल में इस राज्य की बहुत उन्नति

हुई। समीप के अनेक प्रदेशों को जीत कर उसने 'श्री सूर्य फा: महाराजा धर्माधिराज' की उपाधि धारण की। इन्द्रादित्य का एक वंशज राजा श्रीधर्मराज था। स्वयं बौद्ध होते हुए भी हिन्दू (आर्य) धर्म के प्रति उसकी श्रद्धा थी, और इसीलिए उसने शिव और विष्णु की मूर्तियों को भी प्रतिष्ठापित कराया था। सुखोदय राज्य के समीप उत्तोंग नाम का एक अन्य थाई राज्य था। १३५० ईस्वी में वहाँ के राजा ने अयोध्या (अयुथिया) नाम से एक नये नगर की स्थापना की, और उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया। इस राज्य में भी बौद्ध धर्म के साथ-साथ पौराणिक धर्म का भी प्रचार था और अब तक भी वहाँ कतिपय हिन्दू मन्दिरों की सत्ता है।

फिलिप्पीन और सेलेबस—बोर्नियो के पूर्व तथा फिलिप्पीन के दक्षिण में केंकड़े की आकृति का एक द्वीप है, जिसे सेलेबस या सुलवेसि कहते हैं। प्राचीन समय में यह द्वीप भी आर्य संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यही दशा फिलिप्पीन की भी थी। इन द्वीपों में अनेक स्थानों पर पुरातत्त्व सम्बन्धी ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो वहाँ प्राचीन काल में भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता को प्रमाणित करते हैं। १८२० ईस्वी में सीबू नामक स्थान से ताँबे की एक शिवमूर्ति उपलब्ध हुई थी। मिनदानो के स्पेरांजा नामक कस्बे के समीप सोने की एक मूर्ति मिली है, जिसका वजन दो सेर के लगभग है। यह मूर्ति एक देवी की है। फिलिप्पीन की प्राचीन लिपियाँ भी ब्राह्मीमूलक थीं। वहाँ के निवासी यह मानते हैं कि उनकी आचार-संहिता मनु और लाओ-त्से की स्मृतियों पर आधारित थी। फिलिप्पीन के अनेक प्रदेश अब तक भी 'विषय' कहाते हैं। गुप्त युग में प्रान्त या उसके भाग (जिले) के लिए भारत में 'विषय' शब्द प्रयुक्त हुआ करता था। भारतीयों के सम्पर्क व प्रभाव से ही फिलिप्पीन में इस शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ था।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विशाल क्षेत्र में प्राचीन काल (ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग से पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदियों तक) में आर्य धर्म, आर्य संस्कृति तथा आर्यों की राजशक्ति की सत्ता का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से यहाँ उल्लेख किया गया है। बौद्ध, चार्वाक और आजीवक सदृश सम्प्रदाय वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते थे। प्राचीन आर्य धर्म के अन्य भी बहुत-से मन्तव्य उन्हें अमान्य थे। कुछ सदियों तक भारत में इन सम्प्रदायों की प्रबलता रही। पर दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में जब सत्य सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो आर्यों की राजशक्ति में भी नवजीवन का संचार हुआ। उसी के परिणामस्वरूप दक्षिणी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों और प्रदेशों में आर्यों का शासन स्थापित हुआ और पन्द्रह सदियों के लगभग तक ये सब बृहत्तर भारत के अंग रहे।

उपरला हिन्द—भारत से बाहर आर्य धर्म और संस्कृति का प्रसार एक अन्य सुविस्तृत क्षेत्र में भी हुआ था, जिसे 'उपरला हिन्द' कहते हैं। यह क्षेत्र वर्तमान समय के अफगानिस्तान, मध्य एशिया, तिब्बत तथा उसके उत्तर में स्थित विविध प्रदेशों का है। सिन्ध नदी के पश्चिम में प्राचीन समय में पश्चिमी गान्धार (राजधानी पुष्कलावती) और कपिश देश की स्थिति थी। कपिश के पश्चिम-उत्तर में आजकल बदख्शां और बल्ख हैं, जिन्हें प्राचीन काल में कम्बोज और बाल्हिक कहते थे। ये प्रदेश अब भारत के अन्तर्गत नहीं है, पर पहले ये भारत के ही अंग थे, और इनमें भारतीय आर्यों के अनेक राज्यों की सत्ता थी। बौद्ध साहित्य में गान्धार और कम्बोज की गिनती भारत के सोलह महाजनपदों में की गई है, और इसमें सन्देह नहीं कि सिन्ध नदी के पश्चिम तथा उत्तर-

पश्चिम में स्थित ये राज्य उसी प्रकार भारतीय व आर्य थे, जैसे कि कुरु और कौशल राज्य। बल्ख (बाल्हिक) के उत्तर में आमू (वंक्षु) नदी बहती है। आमू और सीर (रसा) नदियों के बीच का प्रदेश प्राचीन समय में सुग्धदेश कहलाता था। वहाँ भी भारतीय आर्यों के ही राज्यों की सत्ता थी। छठी सदी ईस्वी पूर्व में ईरान के सम्राटों ने इसे अपने अधीन कर लिया था, और बाद में यवन (ग्रीक), शक और पार्थिव (पार्थियन) लोगों ने कम्बोज, बाल्हिक और सुग्ध पर शासन किया, जिसके कारण राजनीतिक दृष्टि से ये देश भारत से पृथक् हो गये। पर जहाँ तक धर्म तथा संस्कृति का सम्बन्ध है, इन देशों के नये शासक भी आर्य धर्म एवं संस्कृति के प्रभाव में आ गये थे और उन्होंने भारतीय भाषा तथा लिपि को भी अपना लिया था। बाल्हिक और सुग्ध देशों के पूर्व की ओर तिब्बत के उत्तर में जो विस्तृत पठार है, वर्तमान समय में उसे सिंगकियांग (चीनी तुर्किस्तान) कहते हैं। प्राचीन समय में वहाँ भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रचार था। यह सुविस्तृत प्रदेश राजनीतिक दृष्टि से कभी भारत के अन्तर्गत नहीं रहा। पर यह भी बृहत्तर भारत का अंग था। इसमें भारतीयों के अनेक उपनिवेश विद्यमान थे, और उनमें मुख्यतया बौद्ध धर्म का प्रचार था। यही कारण है, कि वहाँ बहुत-से बौद्ध बिहारों व चैत्यों के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। भारतीयों द्वारा इस क्षेत्र में संस्कृत भाषा, ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों एवं भारतीय स्थापत्य तथा चित्रकलाओं का प्रवेश हुआ और वहाँ के निवासी आर्य संस्कृति के रंग में रंग गये। मध्य एशिया के प्राचीन भारतीय राज्यों (कम्बोज, बाल्हिक और सुग्ध) द्वारा सुदूर पूर्व के चीन आदि देशों में भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रसार हुआ और दक्षिण-पूर्वी एशिया के बृहत्तर भारत के समान उत्तर-पश्चिमी तथा उत्तर-पूर्वी एशिया में भी एक बृहत्तर भारत का विकास हो गया।

(३) आर्य धर्म और संस्कृति का देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में प्रचार

पिछले प्रकरण में हमने अत्यन्त संक्षेप से यह प्रदर्शित किया है कि दूसरी सदी ईस्वी-पूर्व में वैदिक आर्य धर्म का पुनरुत्थान होने पर भारत के बाहर के प्रदेशों तथा द्वीपों में किस प्रकार आर्य उपनिवेशों तथा राज्यों की स्थापना हुई, और किस प्रकार सभ्य संसार के बड़े भाग पर आर्यों का प्रभुत्व पुनःस्थापित हुआ। प्रसंगवश पिछले प्रकरण में यह भी निर्दिष्ट कर दिया गया है कि भारत के बाहर के इन क्षेत्रों में किस प्रकार आर्य धर्म का प्रचार हुआ, यद्यपि यह आर्य धर्म सत्य सनातन वैदिक धर्म न होकर उसका एक परिवर्तित रूप था। विदेशों में आर्य धर्म तथा संस्कृति के प्रचार पर अब हम अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

इण्डोनीसिया के क्षेत्र में आर्य धर्म—जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो, मलाया आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों की धार्मिक दृष्टि से प्राचीन काल में वही दशा थी, जो भारत की थी। भारत के जिन आर्य उपनिवेशकों ने इन प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित किये, वे अपने धर्म को भी साथ ले गये और उन प्रदेशों के पुराने निवासियों को भी उन्होंने अपने धर्म का अनुयायी बना लिया। अत्यन्त प्राचीन समय में आर्य धर्म में याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रमुख स्थान था। इसलिए दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों में भी यज्ञप्रधान आर्य धर्म का प्रचार हुआ। बोर्नियो से राजा मूलवर्मा के यूपों

(यज्ञस्तम्भों) पर जो लेख संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण हैं, उनमें बहुसुवर्णक यज्ञ के अनुष्ठान तथा ब्राह्मणों को दी गई दान-दक्षिणा का वर्णन इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

जैसे भारत में यज्ञप्रधान वैदिक आर्य धर्म का स्थान उस पौराणिक धर्म ने ले लिया था, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं की पूजा की जाती थी और उनकी मूर्तियों को मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया जाता था, वैसे ही दक्षिण-पूर्वी एशिया के राज्यों में भी हुआ। आठवीं सदी के प्रारम्भ तक इन राज्यों में पौराणिक हिन्दू धर्म का भली-भाँति प्रचार हो चुका था, और प्राचीन याज्ञिक कर्मकाण्ड का स्थान मूर्ति-पूजा ने ले लिया था। पौराणिक देवी-देवताओं में मुख्य महेश थे। उनके दो रूप थे, शिव और महाकाल। शिव उनका कल्याणकारी रूप था, और महाकाल रौद्र रूप। शिव या महादेव की शक्ति देवी, पार्वती, उमा या महादेवी थी, और महाकाल की महाकाली या भैरवी। शिव के पुत्र गणेश और कार्तिकेय थे। इन सबकी मूर्तियाँ जावा में अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। लिंग (शिवलिंग) के रूप में भी वहाँ भगवान् शिव की पूजा प्रचलित थी। बहुत-से शिवलिंग भी वहाँ मिले हैं। शिव के अतिरिक्त विष्णु और ब्रह्मा की पूजा भी दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रचलित थी, यद्यपि इन देवताओं ने वहाँ वह स्थान प्राप्त नहीं किया था जो शिव का था। विष्णु की मूर्तियाँ चतुर्भुज रूप में बनायी जाती थीं, और उनके चार हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण कराये जाते थे। विष्णु की शक्ति श्री या लक्ष्मी थी, और उनके वाहन गरुड़ थे। ब्रह्मा की शक्ति सरस्वती थी, और उनका वाहन हंस था। इन सबकी मूर्तियाँ दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रायः उसी ढंग की बनायी जाती थीं, जैसी कि भारत में, और उनके साथ उसी प्रकार की गाथाएँ इस क्षेत्र में भी प्रचलित थीं जैसी कि भारत में थीं। पौराणिक हिन्दू धर्म के यम, अग्नि, वरुण, इन्द्र, कुबेर और सूर्य आदि अन्य देवताओं की मूर्तियाँ भी इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों व द्वीपों से प्राप्त हुई हैं। सात अश्वों द्वारा खींचे जाते हुए रथ पर आरूढ़ सूर्य तथा पुष्प लिये कामदेव की अनेक कलात्मक मूर्तियाँ भी इण्डोनीसिया क्षेत्र के जावा आदि द्वीपों में बनायी गई थीं। वहाँ से ऐसी भी कतिपय मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिन्हें 'कुम्भोद्भव' अगस्त्य की मूर्तियाँ माना जाता है। जावा के अनेक अभिलेखों से वहाँ अगस्त्य की पूजा का संकेत मिलता है। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार अगस्त्य ने समुद्र को सुखा कर मनुष्यों के लिए आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त किया था। इस दशा में समुद्रपार के प्रदेशों में अपने उपनिवेश बसाने वाले भारतीय आर्य यदि अगस्त्य की पूजा करते हों, तो यह स्वाभाविक ही था। इस क्षेत्र की मूर्तियाँ प्रधानतया पत्थर की हैं, पर ऐसी मूर्तियाँ भी अच्छी बड़ी संख्या में मिली हैं, जिनके निर्माण के लिए पीतल, कांस्य सदृश धातुओं का प्रयोग किया गया है। भारत के पौराणिक आर्य धर्म में शायद ही कोई ऐसा देवी-देवता हो, जिसकी मूर्ति दक्षिण-पूर्वी एशिया के जावा आदि द्वीपों में न पायी गई हो। वहाँ ऐसा साहित्य भी विकसित हुआ, जो भारत के धार्मिक साहित्य पर आधारित था। इस साहित्य में देवी-देवताओं की वैसी ही कथाएँ वर्णित हैं, जैसी कि भारत के पौराणिक साहित्य में पायी जाती हैं।

यद्यपि इण्डोनीसिया के क्षेत्र में प्राचीन समय में प्रधानतया पौराणिक आर्य धर्म का प्रचार था, पर बाद में वहाँ बौद्ध धर्म का भी प्रवेश प्रारम्भ हो गया था। श्रीविजय

के शैलेन्द्र वंश के अनेक राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और उनके संरक्षण में इस धर्म ने अच्छी उन्नति की थी। बौद्ध धर्म के अनेक प्रसिद्ध आचार्य समय-समय पर इण्डोनीसिया के अन्तर्गत विविध द्वीपों में आते-जाते रहते थे और उनके कारण वहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में बहुत सहायता मिलती थी। वस्तुतः, इस क्षेत्र में पौराणिक आर्य धर्म और बौद्ध धर्म साथ-साथ फलते-फूलते रहे, और धीरे-धीरे उनमें इतना अधिक समन्वय हो गया कि उनके देवी-देवताओं में अभेद माना जाने लगा। जिस प्रकार पौराणिक आर्य धर्म में विष्णु और शिव में अभेद मानकर हरिहर की संयुक्त मूर्ति बनने लगी थी, वैसे ही जावा में बुद्ध और शिव में अभेद मानकर उनकी भी संयुक्त मूर्तियाँ बनायी गई थीं। पौराणिक और बौद्ध धर्मों में समन्वय हो जाने के परिणामस्वरूप वहाँ के धर्म ने एक ऐसा रूप प्राप्त कर लिया था, जिसे 'शिव-बुद्ध' सम्प्रदाय या 'शिव मार्ग' तथा 'बुद्ध मार्ग' दोनों कहा जाता था।

पौराणिक और बौद्ध धर्मों में अभेद एवं समन्वय हो जाने पर भी इण्डोनीसिया क्षेत्र के द्वीपों में पूजा व कर्मकाण्ड की प्रायः वही विधि प्रचलित रही, जो भारत के आर्यों में थी। मलाया, सुमात्रा, जावा आदि से अब पौराणिक व बौद्ध धर्मों का लोप हो चुका है, और वहाँ के निवासियों ने इस्लाम को अपना लिया है। पर जावा के पूर्व में बाली नामक छोटे-से द्वीप में धर्म का वही स्वरूप अब तक भी विद्यमान है, जो इस्लाम के प्रचार से पूर्व इण्डोनीसिया के सम्पूर्ण क्षेत्र में था। बाली में सूर्य के रूप में शिव की पूजा का प्रमुख स्थान है। इसे 'सूर्यसेवन' कहते हैं, और यह पूजा पदण्ड (पण्डित) द्वारा करायी जाती है। गृह्यसूत्रों में जिन विविध संस्कारों (जातकर्म, मुण्डन, नामकरण, विवाह आदि) का विधान किया गया है, बाली में उनका निष्ठापूर्वक अनुष्ठान किया जाता है, और वहाँ अनेक धार्मिक उत्सव सामूहिक रूप से मनाये जाते हैं। पितरों के श्राद्ध का बाली के धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूजा और श्राद्ध आदि में वेद मंत्रों का प्रयोग किया जाता है। पूजा की सामग्री में घृत, मधु, कुशा तथा तिल प्रयुक्त होते हैं। पदण्ड (पण्डित) प्रायः ब्राह्मण वर्ण का होता है, और संस्कृत तथा 'कवि' (जावा तथा बाली की पुरानी स्थानीय भाषा) भाषाओं और धार्मिक ग्रन्थों का ज्ञान गुरु से प्राप्त करके ही वह इस पद का अधिकारी बनता है। बाली में गंगा, यमुना, सरयू, सिन्धु, कावेरी और नर्मदा नाम की नदियाँ विद्यमान हैं, और इनके जल को मन्त्रपूत कर धार्मिक कृत्यों के लिए उसका उपयोग किया जाता है। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व इण्डोनीसिया में सर्वत्र धर्म का प्रायः यही रूप था, और यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं होगा कि अब से पाँच सौ के लगभग वर्ष पूर्व तक इस विशाल क्षेत्र में एक ऐसे धर्म की सत्ता थी जिसके आदिस्रोत वेद थे और जो प्राचीन आर्य धर्म का ही परिवर्तित रूप था। इसके अनेक मन्दिरों के भग्नावशेष अब भी वहाँ विद्यमान हैं। ऐसे कुछ मन्दिर मध्य जावा में दिएंग नामक पथार पर हैं। ये 'पाण्डवों के मन्दिर' के नाम से विख्यात हैं, और संख्या में आठ हैं। इनसे जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, वे शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु आदि पौराणिक देवी-देवताओं की हैं। स्थापत्य कला की दृष्टि से इन मन्दिरों और मूर्तियों को गुप्त काल का माना जा सकता है। दिएंग पथार के उत्तर-पश्चिम में केदू का मैदान है, जहाँ पुराने मन्दिरों के बहुत-से ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। इनका सम्बन्ध पौराणिक और बौद्ध दोनों धर्मों के साथ है। मध्य जावा में ही मन्दिरों का एक अन्य समूह भी है, जो चण्डी लर-जोग्रंग नामक स्थान

पर स्थित है। यहाँ जो बहुत-से छोटे-बड़े मन्दिर बने हुए हैं, उनकी कुल संख्या १५६ है। बीच का मन्दिर सबसे बड़ा है, और उसमें शिव की मूर्ति प्रतिष्ठापित है। मन्दिर के चारों ओर सात फीट चौड़ा प्रदक्षिणापथ है। मन्दिर, चबूतरा और उसका जंगला अनेक रूपावलियों द्वारा अलंकृत है, जिनमें रामायण की कथा को अंकित किया गया है। मध्यवर्ती शिव मन्दिर के दोनों ओर ब्रह्मा और विष्णु के मन्दिर हैं। विष्णु के मन्दिर में कृष्णलीला सम्बन्धी चित्र अंकित हैं। राम और कृष्ण विषयक ये चित्रावलियाँ कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। इनका काल नौवीं सदी में माना जाता है। जावा के अन्य भी कितने ही प्रदेशों में प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के अवशेष विद्यमान हैं, और इण्डोनीसिया के कतिपय अन्य द्वीपों में उनकी सत्ता के चिह्न अब तक भी सुरक्षित व खण्डित दशा में देखे जा सकते हैं।

इण्डोनीसिया के क्षेत्र में पौराणिक और बौद्ध धर्मों के जो मन्दिर तथा धर्म-स्थान विद्यमान हैं, उनमें सबसे प्रसिद्ध बोरोबदूर का महाचैत्य है। यह मध्य जावा में है और एक पहाड़ी की चोटी पर बना है। इस महाचैत्य का निर्माण नौ चबूतरों या चक्करों से मिलकर हुआ है, जिनमें से प्रत्येक ऊपर का चक्कर अपने से नीचे वाले चक्कर की तुलना में थोड़ा भीतर की ओर सिमटा हुआ है। सबसे निचले चक्कर की लम्बाई ४०० फीट है, और सबसे ऊपर वाले की ९० फीट। महाचैत्य के विविध चक्करों की दीवारों पर रूपावलियाँ अंकित हैं, और उनके बीच-बीच में गवाक्ष बने हैं, जिनमें से प्रत्येक में ध्यानी बुद्धों की एक-एक मूर्ति प्रतिष्ठापित है। सारे महाचैत्य में ऐसी ४३२ मूर्तियाँ हैं, और उसके गलियारों में जो रूपावलियाँ या चित्रफलक हैं, उनकी संख्या १५०० है। कला की दृष्टि से बोरोबदूर के इस महाचैत्य को अनुपम माना जाता है। इसका निर्माण शैलेन्द्र सम्राटों के संरक्षण में आठवीं-नवीं सदियों में हुआ था। इस काल में जावा पर श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राटों का आधिपत्य स्थापित था।

कम्पूचिया (कम्बोडिया)—दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य भारतीय उपनिवेशों के समान कम्बुज या कम्पूचिया में भी प्राचीन समय में हिन्दू या आर्य धर्म का प्रचार था। पौराणिक धर्म में शिव और विष्णु की पूजा का विशेष महत्त्व है। कम्बुज में इन दोनों की पूजा प्रचलित थी, और बहुत-से मन्दिरों में इन देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गई थीं। शिव की पूजा के लिए शिवलिंग के साथ-साथ शिव और पार्वती की मानवाकार मूर्तियाँ भी बनायी जाती थीं। कम्बुज के प्राचीन अभिलेखों में स्थान-स्थान पर शिव की पूजा का उल्लेख है, और वहाँ के भग्नावशेषों में शिव आदि पौराणिक देवताओं की बहुत-सी मूर्तियाँ पायी भी गई हैं। जैसे भारत में विष्णुपद की पूजा का चलन था, वैसे ही कम्बुज में शिवपद की भी पूजा की जाती थी और उसका प्रारम्भ सातवीं सदी के शुरू में ही हो चुका था। कम्बुज का धार्मिक वातावरण प्राचीन युग के भारत से कितना सादृश्य रखता था, यह प्रदर्शित करने के लिए सातवीं सदी में उत्कीर्ण कराये गये एक अभिलेख को उद्धृत करना उपयोगी होगा। इस अभिलेख में त्रिभुवनेश्वर शिव की मूर्ति के प्रतिष्ठापित किये जाने का वर्णन है जिसे राजा भववर्मा की बहिन और वीरवर्मा की कन्या द्वारा प्रतिष्ठापित कराया गया था। इस अभिलेख के अनुसार "....वह श्रीभववर्मा की भगिनी तथा वीरवर्मा की पुत्री थी, जो अपने पति तथा धर्म की भक्ति में दूसरी अरुन्धती थी। हिरण्यवर्मा की उस माता को जिसने पत्नी रूप में ग्रहण किया, ब्राह्मणों में सोम के समान,

स्वामी, सामवेदविद् अग्रणी, उस श्रीसोमशर्मा ने पूजा-विधि और अतुल दान के साथ सूर्य और त्रिभुवनेश्वर की प्रतिष्ठा की। प्रतिदिन अखण्ड पाठ के लिए उसने रामायण और पुराण के साथ सम्पूर्ण (महा) भारत को प्रदान किया।" शिव की मूर्तियों की केवल मन्दिरों में प्रतिष्ठा ही नहीं की जाती थी, अपितु शिविका (पालकी) में रख कर उनकी यात्रा भी निकाली जाती थी। शिव के लिंग को मन्दिरों के अतिरिक्त ऊँचे मूलाधारों पर भी स्थापित किया जाता था। एक अभिलेख में ८१ हाथ ऊँचे मूलाधार का उल्लेख है, जिस का निर्माण राजा जयवर्मा चतुर्थ ने शिवलिंग की स्थापना के लिए कराया था। कम्बुज के अभिलेखों में शिव के लिए शम्भु, रुद्र, त्र्यम्बक, शंकर, महेश्वर, ईशान, गिरीश आदि कितने ही ऐसे नामों का प्रयोग किया गया है, जो भारत में भी प्रयुक्त होते थे। पर इन अभिलेखों में शिव के कतिपय ऐसे नाम या विशेषण भी आये हैं, जिनका सम्बन्ध या तो किसी स्थान विशेष के साथ है और या उस व्यक्ति के साथ जिस द्वारा कि शिवमूर्ति या शिवमन्दिर की स्थापना की गई थी। ऐसे नामों में आम्रातकेश्वर, गम्भीरेश्वर, पिंगलेश्वर, सिद्धेश्वर, उत्पन्नकेश्वर, राजेन्द्रभद्रेश्वर और त्रिभुवनमहेश्वर आदि उल्लेखनीय हैं। प्राचीन भारतीय मान्यता का अनुसरण करते हुए कम्बुज देश में भी शिव की अष्टमूर्तियाँ या अष्टतनु प्रतिपादित हैं।

शिव के समान विष्णु की पूजा भी कम्बुज देश में प्रचलित थी। वहाँ विष्णु के लिए हरि, माधव, अच्युत, नारायण, वासुदेव, कृष्ण, त्रिविक्रम, पद्मनाभ आदि नामों का प्रयोग किया जाता था। ये सब विष्णु के पर्यायवाची हैं। पाँचवीं सदी के अन्तिम भाग के कम्बुज के एक अभिलेख में उस भगवान् विष्णु की स्तुति की गई है जो क्षीरसमुद्र में भुजंग के फण को पर्यङ्क (पलंग) के रूप में प्रयुक्त कर शयन करता है। राजा जयवर्मा की अग्रमहिषी (पटरानी) कुलप्रभावती ने विष्णु की एक मूर्ति को प्रतिष्ठापित कराने के लिये मन्दिर के साथ तटाक (तालाब) और आराम (निवासगृह) का भी निर्माण कराया था। कुलप्रभावती के पुत्र गुणवर्मा के एक अभिलेख में चक्रतीर्थस्वामी विष्णु के "वैष्णवपद" को प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। पाँचवीं-छठी सदियों में कम्बोडिया के क्षेत्र में विष्णु और विष्णुपद की पूजा भलीभाँति प्रचलित थी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। शिव और विष्णु में अभेद मानकर उनकी संयुक्त मूर्तियों के निर्माण तथा पूजा की प्रथा भी कम्बुज में प्रारम्भ हो गई थी। राजा ईशानवर्मा के अभिलेख में शंकर और अच्युत (शिव और विष्णु) की अर्द्धशरीर प्रतिमा के बनाये जाने का वर्णन है। अनेक अभिलेखों में शिव-विष्णु, हरिहर आदि के रूप में इन प्रमुख पौराणिक देवताओं की संयुक्त मूर्तियों को प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। विष्णु ने तीन पादों से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अतिक्रान्त कर दिया था, पुराणों की यह गाथा भी कम्बुज के अभिलेखों में परिलक्षित है। एक मन्दिर में विष्णु को तीन पगों द्वारा सम्पूर्ण विश्व को अतिक्रान्त करते हुए चित्रित किया गया है, और वहीं के एक अन्य चित्र में कृष्ण को गोवर्धन पर्वत उठाये हुए प्रदर्शित किया गया है। पौराणिक आर्य धर्म की देव-त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) में ब्रह्मा की पूजा भी कम्बुज देश में प्रचलित थी। इस देवता के लिए वहाँ ब्रह्मा के अतिरिक्त पद्मोद्भव, चतुर्मुख, नाभिनलिनोत्पन्न, अम्भोजजन्मा आदि कितने ही नामों या विशेषणों का प्रयोग किया गया है। सूर्य, गणेश, कार्तिकेय, गणपति, यम आदि देवताओं तथा दुर्गा, गंगा, वागीश्वरी, गौरी, सरस्वती, चतुर्भुजा आदि देवियों का भी कम्बुज के अभिलेखों में उल्लेख मिलता

है। इन विविध देवी-देवताओं की भी वहाँ मूर्तियाँ बनायी जाती थीं, और पूजा के प्रयोजन से उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया जाता था।

प्राचीन वैदिक धर्म में याज्ञिक कर्मकाण्ड का बहुत महत्त्व था। नये परिवर्तित आर्य धर्म में मूर्ति पूजा को महत्त्वपूर्ण स्थान अवश्य प्राप्त हो गया था, पर यज्ञों का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। विशेष अवसरों पर तथा विशेष प्रयोजनों के लिए यज्ञों का अनुष्ठान भारत में तो किया ही जाता था, पर यही दशा कम्बुज में भी थी। इसी कारण वहाँ के अभिलेखों में अनेक स्थानों पर याज्ञिक कर्मकाण्ड का भी उल्लेख मिलता है। दसवीं सदी के फनोम प्र: नेत प्र: मन्दिर अभिलेख में मध्यदेशा नाम की एक स्त्री का वर्णन है, जो राजकीय मन्दिर की मालिनी (मालिन) थी। उसने ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान किया था। इस यज्ञ के सम्बन्ध में अभिलेख में यह कहा गया है कि सहस्रों यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ 'महत्तर' है। राजा उदयादित्य वर्मा के एक अभिलेख के अनुसार जयेन्द्रपण्डित इस राजा के राजगुरु थे। उन्होंने भुवनाध्व तथा ब्रह्मयज्ञ सदृश अनेक यज्ञ राजा से करवाये थे, और उनके अनुष्ठान के पश्चात् जो दक्षिणा राजा द्वारा दी गई थी, उसमें बहुत से मुकुट, कुण्डल, केयूर, कटक, रूप्यपीठ, सुवर्णकलश, मणिमाणिक्य, सुवर्ण, चाँदी आदि के अतिरिक्त एक सहस्र गौवें, दो सौ हाथी, एक सौ घोड़े, एक-एक सौ बकरियाँ तथा भैंसें और एक सहस्र दास-दासी भी थे। राजा सूर्यवर्मा द्वितीय (ग्यारहवीं सदी) के एक अभिलेख में इस राजा द्वारा लक्षहोम और कोटिहोम यज्ञों के अनुष्ठान तथा उनके अनन्तर प्रदान की गई दक्षिणा का उल्लेख है। राजा सूर्यवर्मा प्रथम के दसवीं सदी के एक अभिलेख में उन पण्डितों की वंशावली दी गई है, जो राजाओं के 'होता' पद पर अधिष्ठित रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि मूर्ति पूजा के साथ-साथ कम्बुज के आर्य धर्म में यज्ञों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था।

यद्यपि कम्बुज देश में पौराणिक आर्य धर्म का प्राधान्य था, पर बौद्ध धर्म भी वहाँ प्रविष्ट होने लग गया था। कम्बुज में बौद्ध धर्म की सत्ता का सबसे पुराना प्रमाण आठवीं सदी ईस्वी का मिलता है। नवीं सदी के अन्त तक यह धर्म कम्बुज में इतना अधिक प्रचारित हो चुका था कि राजा यशोवर्मा (८८९ ई०) ने विविध धार्मिक आश्रमों व मठों को दान-दक्षिणा देते हुए बौद्धों की ओर भी ध्यान दिया था, और उनके लिए भी एक सौगत आश्रम का निर्माण कराया था। ग्यारहवीं सदी में कम्बुज में बौद्ध धर्म की विशेष उन्नति हुई और वहाँ का राजा सूर्यवर्मा (१००२-४९) भी इस धर्म का अनुयायी हो गया। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि कम्बुज में बौद्ध धर्म के प्रचार व उत्कर्ष का यह अभिप्राय नहीं है, कि वहाँ पौराणिक आर्य धर्म का स्थान बौद्ध धर्म ने ले लिया था। वहाँ जिन राजाओं व साधारण जनों ने बौद्ध धर्म को अपनाया था, उन्होंने परम्परागत शैव व वैष्णव धर्म का परित्याग नहीं कर दिया था। वस्तुत:, कम्बुज के लोगों ने बुद्ध को भी एक देवता के रूप में स्वीकार कर लिया था, और उसे भी ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की त्रिमूर्ति के साथ चौथे देवता का स्थान दे दिया था। १०६७ ईस्वी का राजा उदयार्कवर्मा का एक अभिलेख है, जिसमें एक प्राचीन शिवलिंग की पुन:स्थापना के साथ-साथ ब्रह्मा, विष्णु और बुद्ध की मूर्तियों के प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ बुद्ध को भी सम्मिलित कर लेने के कारण अब त्रिमूर्ति के स्थान पर 'चतुर्मूर्ति' को उपास्य माना जाने लगा था। वस्तुत:, कम्बुज में बौद्ध धर्म पौराणिक हिन्दू धर्म का विरोधी व प्रतिस्पर्धी नहीं था। वहाँ इन धर्मों में बहुत सुन्दर

सामञ्जस्य की स्थापना हो गई थी।

कम्बुज देश के पौराणिक आर्य मन्दिरों के साथ आश्रमों व मठों की भी सत्ता थी, जिनके लिये राजाओं तथा अन्य सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा प्रभूत मात्रा में दान दिया जाता था। इन आश्रमों के सम्बन्ध में अनेकविध नियम थे, जिन्हें राजकीय आज्ञा के रूप में जारी किया गया था। ऐसी एक राजकीय आज्ञा राजा यशोवर्मा (८८९ ई०) के प्रह् वत अभिलेख में विद्यमान है। यशोवर्मा ने यशोधराश्रम नाम से एक आश्रम का निर्माण कराया था, और उसके लिए प्रभूत मात्रा में रत्न, काञ्चन, रूप्य, पशु, उद्यान, भूमि आदि को दान में दिया था। इस सब दान का विवरण देकर यशोवर्मा ने अपना यह आदेश भी उत्कीर्ण करा दिया था कि अन्य कोई व्यक्ति तो क्या स्वयं राजा भी दान दी गई वस्तुओं को आश्रम से वापस नहीं ले सकेगा। ये आश्रम प्रधानतया शिक्षणालयों के रूप में थे, और इनमें जो अध्यापक और विद्यार्थी अध्यापन तथा अध्ययन के लिए निवास करते थे उनके भोजन-वस्त्र आदि की व्यवस्था राजा व अन्य सम्पन्न व्यक्तियों की ओर से की जाती थी। राजा जयवर्मा सप्तम (११८१ ई०) के एक अभिलेख में यह उल्लिखित है कि मन्दिर के सत्र से अध्यापकों तथा उनके अन्तेवासियों (विद्यार्थियों) के लिए कितनी-कितनी भोजन-सामग्री राजा की ओर से प्रतिवर्ष प्रदान की जाती थी। अध्यापन का कार्य करने वाले गुरुओं के अनेक वर्ग होते थे, यथा कुलपति, कुलाध्यक्ष, आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक। कुलपति आश्रम का व्यवस्थापक एवं प्रधान अधिकारी होता था। किसी तपस्वी (तापसोत्तम) व्यक्ति को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। कतिपय अभिलेखों में ऐसे विद्वानों के नाम भी आए हैं, जिन्हें अपनी विद्या व ज्ञान के कारण कुलपति व अध्यापक आदि के पदों पर नियुक्त किया गया था। ऐसे एक विद्वान् जयमंगलार्थ थे, जो शास्त्रों और व्याकरण में पारंगत थे और 'अध्यापकाधिप' (प्रधान अध्यापक) के पद पर जिनकी नियुक्ति की गई थी। आश्रमों में वेद, शास्त्र, पुराण आदि के अतिरिक्त व्याकरण, काव्य, संगीत, नृत्य, कला, ज्योतिष आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। कम्बुज देश के आश्रमों के वातावरण के सम्बन्ध में राजा उदयादित्यवर्मा के एक अभिलेख से अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस अभिलेख में भूपेन्द्र पण्डित के आश्रम का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वहाँ यज्ञ में निरन्तर दी जाने वाली आहुतियों के धूम की सुगन्ध व्याप्त रहती थी, और शास्त्रों के कठिन सन्दर्भों के विषय में मतिभेद के कारण विद्यार्थियों में जो वाद-विवाद चलते रहते थे, उनकी ध्वनि से वह आश्रम सदा गुञ्जायमान रहता था। विद्या के केन्द्र होने के साथ-साथ ये आश्रम धर्म के भी केन्द्र हुआ करते थे और धर्मशास्त्रों का इनमें विशेष रूप से अध्ययन-अध्यापन हुआ करता था। राजा जयवर्मा पंचम के एक अभिलेख में आश्रम के कुलपति को दिया गया यह आदेश उत्कीर्ण है कि वह सब आश्रमवासियों के भोजनादि की तथा अतिथियों के आतिथ्य की समुचित व्यवस्था करे, और अध्यापक लोग आलस्य का परित्याग कर निरन्तर ब्रह्मसत्र (वेद के पठन-पाठन) में तत्पर रहा करें। आश्रमों के नियमों का उल्लंघन करने पर किसे कितना दण्ड दिया जाए, इस विषय में भी सब व्यवस्थाएँ अभिलेखों में उल्लिखित हैं। ये दण्ड राजपुत्रों, राजा के सम्बन्धियों तथा मन्त्रियों के लिए बहुत अधिक हैं, और व्यापारियों तथा सर्वसाधारण लोगों के लिए अपेक्षया कम हैं। इन आश्रमों में गुरु और शिष्यों में पिता और पुत्र का सम्बन्ध रहता था। वस्तुतः, इन आश्रमों का रूप गुरुकुलों का था। इसीलिए उदयादित्यवर्मा के एक अभिलेख में एक आश्रम के

गुरुओं और शिष्यों के सम्बन्ध को इस प्रकार प्रकट किया गया है—"जैसे पिता अपनी सन्तान का यत्नपूर्वक पालन करता है, वैसे ही यहाँ गुरु अपने शिष्यों का ध्यान रखते हुए उन्हें शिक्षा प्रदान करते हैं।"

कम्बुज देश के राजा अपने राज्य के समाज-संगठन को भारत के चातुर्वर्ण्य पर आधारित समाज के अनुरूप बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। एक अभिलेख में राजा सूर्यवर्मा के विषय में कहा गया है कि उसने अपने राज्य में वर्णभाग (वर्ण व्यवस्था) का स्थापन किया था। कम्बुज के अभिलेखों में वेद, वेदांग, दर्शन शास्त्र आदि का बार-बार उल्लेख हुआ है, जिससे सूचित होता है कि इस वैदिक वाङ्मय का वहाँ भलीभाँति प्रचार था और आश्रमों के निवासी अध्यापक व विद्यार्थी इनके पठन-पाठन में वैसे ही तत्पर रहते थे जैसे कि भारत में। वस्तुतः, धर्म, संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से कम्बुज में आर्य परम्पराएँ पूर्णतया सुरक्षित थीं, और उसे एक आर्यदेश कहा जा सकता था।

क्योंकि कम्बुज देश में मूर्तिपूजा-प्रधान पौराणिक आर्य धर्म का प्रचार था, अतः वहाँ बहुत-से मन्दिरों का निर्माण कराया गया था, जिनमें से कतिपय अब तक भी पर्याप्त रूप से सुरक्षित अथवा भग्न दशा में विद्यमान हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'अङ्कोरवात है। यह एक विशाल मन्दिर है, जिसके चारों ओर की परिखा की चौड़ाई ६५० फीट है। मन्दिर ढाई मील के घेरे में स्थित है। परिखा के साथ-साथ अन्दर की ओर एक प्राचीर है, जो मन्दिर के चारों ओर बनी है। जल से भरी परिखा को पार कर मन्दिर में जाने के लिए एक पुल है, जो छत्तीस फुट चौड़ा है। पुल से परिखा को पार कर जब प्राचीर पर पहुँचते हैं, तो वहाँ से अन्दर जाने के लिए एक विशाल द्वार बना है जिसके दोनों ओर पहले दो इमारतें थीं जो पुस्तकालय के काम आती थीं। द्वार से अन्दर प्रविष्ट होते ही एक लम्बी गैलरी मिलती है जो चतुर्भुज आकार की है। यह गैलरी पूर्व से पश्चिम की ओर २६५ गज है, और उत्तर से दक्षिण की ओर २२४ गज। इसके बड़े भाग में बहुत-सी चित्रावलियाँ अंकित हैं, जिनका सम्बन्ध विष्णु और यमलोक के कथानकों के साथ है। यह गैलरी एक ऐसे पथ के रूप में है जो ऊपर से ढका हुआ है और जिसने मन्दिर के सबसे निचले भाग को चारों ओर से घेरा हुआ है। गैलरी तथा मन्दिर की भित्तियों में पाषाण को काटकर जो अलंकरण बनाये गये हैं, वे अत्यन्त सुन्दर तथा कलात्मक हैं। इनमें फूल-पत्तियों और देवकन्याओं को बहुत बारीकी से उत्कीर्ण किया गया है। प्रस्तरों पर उत्कीर्ण कर जो चित्रावलियाँ बनायी गई हैं, उनका सम्बन्ध केवल देवी-देवताओं से ही नहीं है, अपितु राजपरिवार के सदस्यों, मन्त्रियों, सैनिकों आदि के चित्र भी इन चित्रावलियों के अन्तर्गत हैं। अङ्कोरवात के मन्दिर की ऊँचाई भूमि की सतह से २१० फीट है, और इसका निर्माण राजा सूर्यवर्मा द्वितीय (१११२-५२) द्वारा कराया गया था। कम्बुज देश के अन्य पौराणिक मन्दिरों में बायोन, नेअक पेअन, बन्ते स्रेई और फ्नोम बखेंग के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। ये मन्दिर तथा इनमें प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ इस देश में पौराणिक आर्य धर्म के उत्कर्ष के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

वियतनाम—वियतनाम के क्षेत्र में स्थित चम्पा के राज्य का पिछले प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है। कम्बुज के समान चम्पा के लोग भी पौराणिक आर्य धर्म के अनुयायी थे, यद्यपि बौद्ध धर्म का भी वहाँ प्रचार था। जैसे कि पौराणिक धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व भारत में यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म की सत्ता थी, और मूर्तिपूजा के प्रचार के पश्चात्

भी यज्ञों का अनुष्ठान होता रहा, यही दशा चम्पा में भी थी। इसीलिए वहाँ के अनेक अभिलेखों में यज्ञों का उल्लेख मिलता है। राजा श्री भद्रवर्मा के एक अभिलेख में 'अग्नये त्वा जुष्टं करिष्यामि' मन्त्र द्वारा यज्ञ में आहुति देने के लिए प्रयुक्त होने वाले घृत आदि को पवित्र किये जाने का उल्लेख है। श्रीभार राजकुल के एक अभिलेख में विश्वजित् अतिरात्र यज्ञ के अनुष्ठान का संकेत स्पष्ट रूप से विद्यमान है। अभिलेख के अनुसार इस यज्ञ के अनुष्ठाता द्वारा सब स्वर्ण-रजत तथा सब स्थावर व जंगम सम्पत्ति दान में दे दी गई थी। राजा प्रकाशधर्म के एक अभिलेख में अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख कर उसे सर्वाधिक पुण्य देने वाला कहा गया है।

पर भारत, कम्बुज, जावा आदि के समान चम्पा में भी जो आर्य धर्म प्रचलित था, उसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड की तुलना में शिव, विष्णु आदि की मूर्तियों की पूजा का स्थान अधिक महत्त्व का था। चम्पा में तीन ऐसे स्थान हैं, जहाँ बहुत से प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें दो ऐसे हैं, जिनमें शैव मन्दिरों की ही सत्ता है। इन मन्दिरों का निर्माण शिव तथा उनसे सम्बद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियों को प्रतिष्ठापित करने के लिए ही किया गया था। सम्भवतः, राजा भद्रवर्मा द्वारा बनवाया हुआ भद्रेश्वर शिव का मन्दिर चम्पा में सबसे पुराना शिवमन्दिर था। राजा भद्रवर्मा ने अपने नाम से उसमें प्रतिष्ठापित शिव-मूर्ति को 'भद्रेश्वरशिव' नाम दिया था। अपने नाम से शिव का विशेषण रखने की जो प्रथा भद्रवर्मा द्वारा प्रारम्भ की गई थी, बाद के राजाओं ने उसका अनुसरण किया और शम्भुवर्मा से शम्भुभद्रेश्वर, इन्द्रवर्मा से इन्द्रभद्रेश्वर व इन्द्रपरमेश्वर, विक्रान्तवर्मा से विक्रान्तरुद्रेश्वर और जयहरिवर्मा से जयहरिलिंगेश्वर सदृश नामों से शिवलिंगों को प्रतिष्ठापित किया गया। राजा भद्रवर्मा का समय चौथी-पाँचवीं सदी में माना जाता है। चम्पा में शिव की पूजा के लिए मुख्यतया लिंग का ही आश्रय लिया जाता था, पर मानव रूप में शिव की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा भी वहाँ विद्यमान थी। मानव रूप में शिव की जो मूर्तियाँ चम्पा में प्राप्त हुई हैं, उनके सिर पर मुकुट है, जटाएँ कन्धों पर फैली हुई हैं, और साँप उनके कण्ठ से लिपटे हुए हैं। शिव के अतिरिक्त शैव धर्म के अन्य देवी-देवताओं की पूजा भी चम्पा में प्रचलित थी। देवी (उमा या पार्वती), गणेश, स्कन्द आदि की मूर्तियाँ भी वहाँ अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान हैं।

शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव धर्म का भी चम्पा में प्रचार था। वहाँ के अभि-लेखों में नारायण, पुरुषोत्तम, हरि, गोविन्द, माधव आदि अनेक नामों से विष्णु का उल्लेख किया गया है। चम्पा में विष्णु की भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं। एक मूर्ति में विष्णु पद्मासन लगाये बैठे हैं। उनके चार हाथों में पद्म, चक्र, शंख और गदा हैं। उन्होंने यज्ञोपवीत भी पहना हुआ है। कुछ मूर्तियों में वे गरुड़ पर आसीन हैं, और कुछ में अनन्त-नाग पर लेटकर विश्राम कर रहे हैं। उनकी नाभि से कमल निकला हुआ है, जिस पर ब्रह्मा ध्यानावस्था में बैठे हैं। एक ऐसी मूर्ति भी मिली है, जिसमें कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठाया हुआ है। शिव और विष्णु के अतिरिक्त ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, वासुकि, वरुण, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि की पूजा भी चम्पा में प्रचलित थी, और इनकी भी मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाती थीं।

पौराणिक आर्य धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी चम्पा तथा वियतनाम के अन्य प्रदेशों में फल फूल रहा था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक अन्य देशों व द्वीपों के समान

इस क्षेत्र में भी इन धर्मों में विरोधभाव न होकर समन्वय व सामंजस्य की प्रवृत्ति विद्यमान थी, और चम्पा में अनेक ऐसे राजा हुए जिन्होंने कि पौराणिक और बौद्ध दोनों धर्मों के मन्दिरों का निर्माण कराया और दोनों को प्रभूत मात्रा में धन-सम्पत्ति प्रदान कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की। पर इस क्षेत्र में मुख्यतया पौराणिक आर्य धर्म का ही प्रचार रहा, और वहाँ के राजा तथा प्रजा सब कोई वेद शास्त्रों को प्रमाण रूप से स्वीकार करते रहे। एक अभिलेख में चम्पा के राजा भद्रवर्मा को चारों वेदों का ज्ञाता कहा गया है, और ९१४ ईस्वी में उत्कीर्ण हुए एक अभिलेख में राजा इन्द्रवर्मा के विषय में यह उल्लिखित है कि वह मीमांसा, षट्तर्क (षड्दर्शन), बौद्धदर्शन, काशिका सहित व्याकरण, आख्यान तथा शैव उत्तरकल्प (शैव आगम) में निष्ठावान् तथा विद्वानों में मूर्धन्य था १०८० के एक अभिलेख के अनुसार राजा हरिवर्मा बृहस्पति के समान शास्त्रों का ज्ञाता था, और नानाविध विषयों के पण्डित भी उसके सम्मुख मुख नहीं खोल सकते थे। रामायण, महाभारत, पुराण तथा संस्कृत काव्यों का चम्पा में इतना अधिक प्रचार था, कि वहां के अभिलेखों में बारम्बार रामायण आदि के पात्रों के नाम देकर उनसे राजाओं की तुलना की गई है। दशरथ और उनके पुत्र राम का अभिलेखों में अनेक बार उल्लेख हुआ है, और गोवर्धन को धारण करने वाले, मधु कंस केशी व चाणूर का संहार करने वाले मधुकैटभारि कृष्ण से भी राजाओं की तुलना अभिलेखों में विद्यमान है। इसी प्रकार युधिष्ठिर, धनंजय, दुर्योधन आदि का भी चम्पा के अनेक अभिलेखों में उल्लेख है। इसमें सन्देह नहीं कि चम्पा में भी भारत के धार्मिक एवं लौकिक साहित्य का उसी प्रकार से पठन-पाठन होता था, जैसा कि भारत में।

चम्पा में पौराणिक आर्य धर्म की सत्ता पर प्रकाश डालते हुए यह बता देना भी आवश्यक है कि स्वर्ग और नरक तथा लोक और परलोक आदि के जो विचार भारत में प्रचलित थे, चम्पा में भी वे विद्यमान थे। वहाँ के अभिलेखों में स्वर्ग और नरक का बहुत बार उल्लेख हुआ है। देव मन्दिरों को दी गई दान-दक्षिणा एवं धन-सम्पत्ति का हरण करने वाले व्यक्ति सदा-सदा के लिए (यावच्चन्द्रदिवाकरौ) अपने परिवार सहित नरक में निवास करते हैं और देवमन्दिरों की सम्पत्ति की रक्षा करने वाले लोग सुरगणों के साथ स्वर्ग में रमण करते हैं, इस भाव के श्लोक या वाक्य प्रायः उन सभी अभिलेखों में विद्यमान हैं, जिनमें किसी मन्दिर को दिए गए दान का उल्लेख हो।

दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया के अन्य प्रदेश—इस अध्याय के द्वितीय प्रकरण में उन भारतीय व आर्य उपनिवेशों का उल्लेख किया जा चुका है, जो मलाया और थाईलैण्ड (सियाम) में विद्यमान थे और जिनमें पौराणिक आर्य धर्म तथा आर्य संस्कृति का प्रचार था। वहाँ की धार्मिक एवं सांस्कृतिक दशा पर भी पहले संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। पर दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया के दो अन्य प्रदेश हैं जिनमें आर्य संस्कृति की सत्ता का अभी उल्लेख नहीं किया गया। ये प्रदेश बरमा और लंका हैं। इनकी स्थिति भारत के बहुत समीप है, अतः सुमात्रा, जावा, कम्बूचिया आदि से पहले ही इनमें भारतीय आर्यों ने अपने उपनिवेश स्थापित करने प्रारम्भ कर दिये थे, और धर्मप्रचारकों ने भी वहाँ जाना शुरू कर दिया था। बरमा की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार कपिलवस्तु का शाक्य राजकुमार अधिराज एक सेना के साथ उत्तरी बरमा गया था और वहाँ उसने अपने राज्य की स्थापना की थी। इस राज्य की राजधानी संकिस्सा थी।

३१ पीढ़ी बाद बुद्ध के समय में क्षत्रियों की एक अन्य मण्डली गंगा की घाटी से इस प्रदेश में आयी। यदि एक पीढ़ी को २० वर्ष का माना जाए, तो अभिराज ने बरमा में अपने राज्य की स्थापना बारहवीं सदी ईस्वी पूर्व में की थी। दक्षिणी बरमा में भारतीयों द्वारा स्थापित एक अन्य राज्य की सत्ता थी, जिसकी राजधानी श्रीक्षेत्र थी। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक भारतीय उपनिवेश या राज्य बरमा में विद्यमान थे, जिनके राजाओं के नाम जयचन्द्रवर्मा, हरिविक्रम, सिंहविक्रम और सूर्यविक्रम आदि थे। अराकान में भी एक भारतीय राजवंश का शासन था। उसकी पुरानी राजधानियाँ रामावती और धान्यवती थीं। बाद में वहाँ के चन्द्र राजवंश ने वैशाली नगरी को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के राजाओं के नाम बालचन्द्र, देवचन्द्र, धर्मचन्द्र आदि थे। बरमा के इन प्राचीन राज्यों के राजा तो भारतीय आर्य थे ही, पर साथ ही उनमें आर्य धर्म तथा संस्कृति का भी प्रचार था। आर्यों के प्रवेश से पूर्व बरमा के विविध प्रदेशों में जिन अन्य लोगों का निवास था, भारतीयों के सम्पर्क में आकर उन्होंने भी आर्य धर्म एवं आर्य संस्कृति को अपना लिया था। प्राचीन काल में बरमा में पौराणिक आर्य धर्म का प्रचार था, इसके प्रमाण पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेषों द्वारा प्राप्त होते हैं। इस देश में भी पौराणिक देवी-देवताओं की कतिपय मूर्तियाँ तथा प्राचीन मन्दिरों के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। राजा अशोक के समय (तीसरी सदी ईस्वी पूर्व) में जब देश-देशान्तर में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए आयोजन किया गया, तो शोण और उत्तर नामक स्थविरों को सुवर्णभूमि के क्षेत्र में प्रचार कार्य के लिए भेजा गया था। इन्हीं स्थविरों द्वारा बरमा में भी बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ होगा, यह कल्पना असंगत नहीं है। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म बरमा का मुख्य धर्म बन गया, पर पौराणिक आर्य धर्म का वहाँ सर्वथा लोप नहीं हो गया। बरमा की एक ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार ग्यारहवीं सदी के मध्य भाग में पेगू का राजा तिस्स (१०४३-५७) था, जो पौराणिक आर्य धर्म का अनुयायी था और बौद्धों के प्रति विद्वेष-भाव रखता था। उसने बुद्ध की मूर्तियों को खाइयों और खड्डों में फेंकवा दिया था। बाद में महादेवी नामक एक वणिक् कन्या, जो बौद्ध थी, के सम्पर्क से तिस्स किस प्रकार बुद्ध का अनुयायी बना, यह भी बरमा की अनुश्रुति में वर्णित है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के साथ-साथ पौराणिक आर्य धर्म की भी बरमा में सत्ता रही। इसी कारण वहाँ के कतिपय राजाओं के सिक्कों पर शैव और वैष्णव धर्मों के चिह्न अंकित हैं, और पगान के बौद्ध विहारों के भित्ति-चित्रों में बुद्ध और बोधिसत्त्वों के साथ-साथ ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश आदि पौराणिक देवता भी अंकित हैं।

वर्तमान समय में श्रीलंका एक पृथक् राज्य है, पर सांस्कृतिक दृष्टि से उसे भारत का एक भाग समझा जा सकता है। रामायण की कथा में रावण को लंका का राजा कहा गया है। यद्यपि रावण राक्षस जाति का था, पर वह वेद शास्त्रों का पण्डित था और आर्यों की धार्मिक व नैतिक मान्यताओं के प्रति आस्था रखता था। रावण जिस लंका का राजा था, वह आधुनिक श्रीलंका ही थी इस विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। पर इसमें सन्देह नहीं कि बहुत प्राचीन समय से भारतीय आर्यों ने श्रीलंका में बसना प्रारम्भ कर दिया था। वहाँ की एक पुरानी अनुश्रुति के अनुसार लाट (गुजरात) देश का राजकुमार विजयसिंह अपने साथियों के साथ उसी साल लंका में उतरा था, जिस साल कि भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ था (४८३ ईस्वी पूर्व)। उस समय इस द्वीप को ताम्रपर्णी कहते थे।

विजयसिंह के पिता का नाम सिंहबाहु या सिंहल था। उसी के नाम से ताम्रपर्णी का सिंहल नाम पड़ा। वर्तमान समय में इस द्वीप के बहुसंख्यक निवासी सिंहल हैं और उनकी भाषा भी सिंहल कहाती है जो आर्य भाषा परिवार के साथ सम्बन्ध रखती है। लंका का अशोककालीन राजा तिस्स विजयसिंह का ही वंशज था। अशोक के समय में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो महान् आयोजन हुआ, उसके अनुसार कुमार महेन्द्र लंका गया और वहाँ उसने तथागत बुद्ध की मध्यमा प्रतिपदा के प्रचार में अनुपम सफलता प्राप्त की। पर तीसरी सदी ईस्वी पूर्व से पहले लंका में प्रधानतया वैदिक आर्य धर्म ही विद्यमान था, और बाद में भी ऐसे समय आये, जबकि भारत के पाण्ड्य और चोल राजाओं के प्रभाव से वहाँ पौराणिक आर्य धर्म का पुनः प्रवेश हुआ। यही कारण है कि लंका में पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं और हिन्दू मन्दिरों के अवशेष भी वहाँ विद्यमान हैं। लंका में नटराज शिव, पार्वती, गणेश, कार्तिकेय, विष्णु, लक्ष्मी, सूर्य, बालकृष्ण, हनुमान आदि की ऐसी मूर्तियाँ भी मिली हैं जो ताम्र व कांस्य से निर्मित हैं। इनकी उपलब्धि यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि प्राचीन समय में श्रीलंका भी आर्य धर्म के पौराणिक रूप से प्रभावित था।

यह सही है कि बरमा और लंका में वैदिक धर्म के पौराणिक रूप को उस ढंग से महत्त्वपूर्ण स्थान कभी प्राप्त नहीं हुआ, जैसे कि कम्बुज, जावा, चम्पा आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों व द्वीपों में प्राप्त हुआ था। इनमें प्रधानतया बौद्ध धर्म का ही प्रचार हुआ। सियाम और वियतनाम के क्षेत्रों में भी बाद में बौद्ध धर्म ने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। पर इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के माध्यम से लंका, बरमा, सियाम आदि देशों में भी उन मन्तव्यों का प्रचार हुआ, जिनका प्रतिपादन वैदिक युग के ऋषि-मुनियों द्वारा किया गया था। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म का एक नाम 'अष्टांगिक आर्य मार्ग' है। बुद्ध अपने धर्म को 'आर्य मार्ग' कहते थे। यह सही है कि वेदों के प्रामाण्य को बुद्ध ने प्रतिपादित नहीं किया। सृष्टि के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता भी उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। आत्मा, परमात्मा आदि के स्वरूप के सम्बन्ध में वे प्रायः मौन ही रहे। पर अहिंसा, प्राणिमात्र के प्रति करुणा, सबके सुख व हित के साधन के लिए प्रयत्न, सदाचारमय जीवन, तप, संयम, नैतिकता आदि की जो शिक्षाएं बुद्ध ने दीं, वे पूर्णतया सत्य सनातन आर्य धर्म के अनुसार ही थीं। बौद्ध स्थविरों और भिक्षुओं ने इन्हीं का देश-देशान्तर में प्रचार किया। आर्य धर्म के आधारभूत मन्तव्यों और आदर्शों के साथ-साथ भारत की भाषाओं और संस्कृति का भी बौद्धों द्वारा विदेशों में प्रवेश हुआ। बौद्ध युग में भारत की मुख्य भाषाएँ संस्कृत और पालि थीं, जिन्हें ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखा जाता था।

मध्य एशिया—बौद्ध प्रचारक संस्कृत भाषा को मध्य एशिया, सिंगकियांग और चीन में अपने साथ ले गये थे, और पालि भाषा को बरमा तथा लंका में। मध्य एशिया के पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेषों के साथ संस्कृत भाषा के जो अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, उनसे यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि अब से सैकड़ों वर्ष पूर्व उत्तरी एशिया के विशाल क्षेत्र में भी आर्य संस्कृति की सत्ता थी। इनमें एक ग्रन्थ 'बावर मैन्युस्क्रिप्ट' नाम से विख्यात है। यह भूर्जपत्रों पर लिखा हुआ है, और इसे कुची के समीप एक पुराने स्तूप से प्राप्त किया गया था, इसके सात भाग हैं, या यह कहा जा सकता है कि इसमें सात

पुस्तिकाएँ संग्रहीत हैं। पहली पुस्तिका 'नवनीतक' है। इसमें चिकित्साविषयक पुराने ग्रन्थों का सार नवनीत या मक्खन के रूप में है, और हारीत, अग्निवेश, भेद, जातुकर्ण, क्षारपाणि, पराशर और सुश्रुत सदृश प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों से उद्धरण देकर विविध प्रकार के चूर्णों, तैलों, भस्मों आदि के निर्माण की विधियाँ दी गई हैं। दवाइयों के बहुत-से नुस्खे भी इस पुस्तिका में विद्यमान हैं। दो अन्य पुस्तिकाओं में सर्पदंश की चिकित्सा का वर्णन है। बावर मैनुस्क्रिप्ट की भाषा संस्कृत है और लिपि ब्राह्मी। इसी प्रकार के कितने ही अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ मध्य एशिया के खोतन, कुची आदि प्रदेशों से प्राप्त हुए, जो अब पेरिस, मोस्को आदि के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। पर प्राचीन ग्रन्थों का सबसे महत्त्वपूर्ण संग्रह उत्तर-पश्चिमी चीन के तुङ्ह्वाँग नामक स्थान के समीप गुहामन्दिरों की उस श्रृंखला से प्राप्त हुआ, जो 'सहस्र बुद्ध बिहार' के नाम से जानी जाती है। यहाँ एक ऐसी गुहा मिल गई, जो हस्तलिखित पुस्तकों तथा चित्रों से परिपूर्ण थी। इसे ढूंढ़ निकालने का श्रेय पेलिओ नामक फ्रेञ्च विद्वान् को प्राप्त है। पेलिओ द्वारा प्राप्त ग्रन्थों की संख्या १५००० से भी अधिक थी। ये ग्रन्थ मुख्यतया संस्कृत, चीनी, तिब्बती और उइगूर भाषाओं में हैं। यद्यपि बहुसंख्यक ग्रन्थों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म के साथ है, पर इतिहास, भूगोल, दर्शन, साहित्य आदि विषयों पर भी बहुत-सी पुस्तकें तुङ्ह्वाँग की गुहा से उपलब्ध हुई हैं। ये ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दोनों लिपियों में हैं। संस्कृत के अनेक नाटक भी मध्य एशिया में मिले हैं। इनमें महाकवि अश्वघोष द्वारा विरचित 'शारिपुत्रप्रकरण' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ताड़पत्रों पर लिखा हुआ यह नाटक तुर्फान से उपलब्ध हुआ है। वहीं से 'कल्पनामण्डीतिका' नाम का एक अन्य संस्कृत ग्रन्थ भी मिला है, जिसके लेखक आचार्य कुमारलात थे। मध्य एशिया के विशाल व सुविस्तृत प्रदेशों में स्तूपों, चैत्यों तथा संधारामों के बहुत-से अवशेष भी विद्यमान हैं, जो वहाँ आर्य संस्कृति पर आधारित बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस क्षेत्र में गुहामन्दिरों की उसी प्रकार की श्रृंखलाओं की सत्ता है, जैसे कि भारत में अजन्ता तथा एल्लोरा आदि में है। मध्य एशिया के इन गुहामन्दिरों की भित्तियों व छतों पर बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं तथा देवी-देवताओं को चित्रित किया गया है, और तथागत बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ भी वहाँ प्रतिष्ठापित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ समय पूर्व से लगाकर दसवीं सदी के अन्त तक इस सुविशाल क्षेत्र में बुद्ध के अष्टांगिक आर्य धर्म का प्रचार रहा, और वहाँ के निवासी आर्य संस्कृति के आधारभूत मन्तव्यों के अनुसार अपना जीवन बिताते रहे। ग्यारहवीं सदी में मध्य एशिया के इन प्रदेशों में मुसलिम तुर्कों के शासन स्थापित हुए, जिनकी असहिष्णुता एवं धर्मान्धता के कारण आर्य संस्कृति का वहाँ ह्रास होना शुरू हो गया। पर तेरहवीं सदी में जब मार्को पोलो ने चीन जाते हुए हुए मार्ग में मध्य एशिया की यात्रा की थी, उस समय भी वहाँ अनेक स्थानों पर बौद्ध धर्म फल-फूल रहा था। पर बाद में इस क्षेत्र के प्रायः सब निवासी इस्लाम के अनुयायी हो गये।

मध्य एशिया के पूर्वी भाग (जो सिंगकियाँग या चीनी तुर्किस्तान कहाता है) के समान पश्चिमी भाग (रूसी तुर्किस्तान) में भी भारतीय धर्मों तथा संस्कृति का प्रचार रह चुका है, और इस्लाम के प्रवेश से पूर्व इस क्षेत्र में भी बहुत-से बौद्ध संघारामों, चैत्यों तथा स्तूपों की सत्ता थी। पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज से वहाँ भी इनके अनेक भग्नावशेष एवं

मूर्तियाँ आदि प्राप्त हुई हैं। समरकन्द से चालीस मील पूर्व में पैन्भीकन्त नामक स्थान पर नीले रंग की एक ऐसी मूर्ति मिली है, जो नृत्य की मुद्रा में है। यह या तो नटराज शिव की मूर्ति है और या नटराज से प्रेरणा प्राप्त कर इसका निर्माण किया गया था। मध्य एशिया के जो प्रदेश इस समय रूस के अन्तर्गत हैं, उनमें बौद्ध धर्म के अतिरिक्त पारसी सदृश अन्य प्राचीन धर्मों की भी प्राचीन समय में सत्ता रही है। कोई आश्चर्य नहीं कि पौराणिक आर्य धर्म का भी वहाँ प्रवेश हुआ हो, जिसके कारण नटराज शिव की यह मूर्ति बनायी जा सकी थी। इस प्रसंग में यह निर्दिष्ट कर देना भी आवश्यक है कि प्राचीन काल में सीरिया और मेसोपोटामिया में भी भारतीय आर्यों के अनेक उपनिवेश विद्यमान थे। युफ्रेटिस नदी के तट पर उनके दो बड़े मन्दिर थे, जिन्हें ३०४ ईस्वी में सेन्ट ग्रेगरी ने नष्ट कराया था।

इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत युद्ध के पश्चात् भी एक ऐसा समय आया, जब कि सभ्य संसार के बहुत बड़े भाग में ऐसे धर्मों, सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार रहा, जिनका प्रेरणा-स्रोत प्राचीन सत्य सनातन आर्य धर्म था। यह समय तेरह-चौदह सदियों (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व से बारहवीं सदी या कुछ प्रदेशों में उसके भी बाद तक) तक रहा। यद्यपि इस काल का भारतीय सांस्कृतिक साम्राज्य पूर्ण व शुद्ध रूप से वैदिक आर्यों का नहीं था, पर इस तथ्य को अवश्य स्वीकार करना होगा कि अपने विकृत व परिवर्तित रूप में भी आर्य धर्म व संस्कृति में इतनी शक्ति थी कि विश्व के बड़े भाग पर उनका प्रभाव स्थापित हो सका था।

(४) विदेशी व विधर्मी जातियों पर आर्यत्व का प्रभाव

दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ था, और सेनानी पुष्यमित्र शुंग के प्रयत्न से भारत में एक बार फिर क्षत्रशक्ति तथा नवजीवन का संचार हो गया था। यद्यपि पुष्यमित्र ने यवन आक्रान्ताओं को युद्ध में परास्त कर दो बार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था, पर राजा अशोक के उत्तराधिकारियों की क्षात्रबल की उपेक्षा की नीति के कारण भारत के शासनतन्त्र में जो निर्बलता आ गई थी, उसे दूर कर सकना सुगम नहीं था। इसी का यह परिणाम हुआ कि दूसरी सदी ईस्वी पूर्व से तीसरी सदी ईस्वी तक कोई ऐसी प्रधान राजशक्ति नहीं रही, जो भारत के बड़े भाग को अपने शासन में रख सकने में समर्थ होती। पुष्यमित्र शुंग यवनों को सिन्ध नदी के पार धकेल देने में अवश्य समर्थ हुआ, पर सम्पूर्ण भारत पर वह अपना शासन स्थापित नहीं कर सका। जिस समय शुंग वंश के राजा मगध और मध्यदेश पर शासन कर रहे थे, सातवाहन वंश के राजा दक्षिणापथ में अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थे, उत्तर-पश्चिमी भारत में यवन लोग अपना आधिपत्य स्थापित करने में लगे थे, और शक-आक्रान्ता सिन्ध तथा राजपूताना को अपनी अधीनता में ले आने के लिए प्रयत्नशील थे। बाद में पल्हवों (पार्थियनों) और कुशाणों ने शकों का अनुसरण कर भारत में प्रवेश किया, और अपने-अपने राज्य स्थापित किये। यवन, शक, पल्हव और कुशाण सदृश विदेशी व विधर्मी आक्रान्ता भारत में अपनी राजनीतिक सत्ता कायम करने में अवश्य सफल हुए, पर इस देश के आर्य धर्मों तथा आर्य संस्कृति के सम्पर्क में आकर वे भी भारतीय व आर्य ही बन गये। जिस प्रकार जल की धारा ऊपर से नीचे की ओर बहती

है, वैसे ही सभ्यता का बहाव भी ऊंचाई से निचाई की ओर होता है। जब कोई दो जातियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं, तो उनमें जो सभ्यता की दृष्टि से अधिक उन्नत होती है, वह अवनत जाति को अपने प्रभाव में ले आती है। यही प्रक्रिया भारत में हुई। यवन, शक, पार्थियन और कुशाण लोगों की सभ्यता, धर्म और संस्कृति की तुलना में भारत की आर्य संस्कृति बहुत उन्नत थी। इसी कारण ये विदेशी जातियाँ भारतीय आर्यों के सम्पर्क में आकर भारतीय रंग में रंग गईं। इस युग में भारत में तीन धार्मिक सम्प्रदायों का प्रमुख रूप से प्रचार था, बौद्ध, जैन और पौराणिक आर्य धर्म। विदेशी जातियाँ एवं उनके राज-नेता इन तीनों के ही प्रभाव में आये। बौद्ध, शैव, वैष्णव एवं जैन धर्मों को उन्होंने अपना लिया और राज्यकार्य के लिए तथा अपने वैयक्तिक जीवन में वे संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का प्रयोग करने लगे। उनका रहन-सहन भी भारतीय हो गया। इस प्रकार वे विदेशी व विधर्मी न रहकर पूर्णतया भारतीय बन गये। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण देना उपयोगी होगा।

यवन राजा मिनान्दर (मिलिन्द) का बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य नागसेन से दीक्षा लेकर मिनान्दर ने न केवल बौद्ध धर्म को स्वीकार ही किया, अपितु सियाम की अनुश्रुति के अनुसार अर्हत पद को भी प्राप्त कर लिया। इसी कारण उसके मरने पर लोग उसकी अस्थियों को अपने नगरों में ले गये और वहाँ आदरपूर्वक उन्हें प्रतिष्ठापित किया गया। अपने गुरु नागसेन से धर्म के सम्बन्ध में जो प्रश्न यवनराज मिनान्दर ने पूछे थे, वे ही 'मिलिन्दपन्हो' (मिलिन्दप्रश्नाः) नामक पुस्तक में संगृहीत हैं। कितने ही ऐसे उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जिनका सम्बन्ध यवन शासकों व यवन नागरिकों के धर्मदान के साथ है। अनेक यवन राजाओं के सिक्कों पर प्राकृत भाषा का प्रयोग, धर्मचक्र का चिह्न एवं राजा के नाम के साथ 'ध्रमिक' (धार्मिक) विशेषण इस तथ्य को सूचित करते हैं कि यवन लोग इस देश के धर्म व संस्कृति से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने अपने नाम भी भारतीय रख लिये थे। नासिक की एक गुफा में एक यवन द्वारा उत्कीर्ण कराया गया यह लेख ध्यान देने योग्य है :

'सिद्धि ! ओतराह (उत्तरापथ) के दातामितियक (दिमित्र द्वारा स्थापित दात्तामित्री नगरी के निवासी) योनक (यवन) धम्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त का (दान)। (उस) धर्मात्मा ने यह गुहा तिरन्हु पर्वत में खुदवाई, और गुहा के भीतर चैत्यत था पौड़ियाँ।' यह लेख जिस यवन ने उत्कीर्ण करवाया था, उसका नाम इन्द्राग्निदत्त था और उसने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। तक्षशिला के यवन राजा ने हेलियदोर नाम के जिस यवन को अपना राजदूत बना कर मगध के शुंग राजा की राजसभा में भेजा था, उसने पौराणिक आर्य धर्म को अंगीकार कर लिया था, और भगवान् विष्णु के गरुड़ध्वज का निर्माण करा के उस पर यह लेख उत्कीर्ण कराया था—"देवों के देव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज यहाँ बनवाया ··· योनदूत हेलिउदोर ने।"

शक लोग जैन, बौद्ध और पौराणिक तीनों धर्मों से प्रभावित हुए थे। शक महा-क्षत्रप नहपान के जामाता उसवदात का यह अभिलेख नासिक की एक गुहा में विद्यमान है—"सिद्धि हो। राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीना के पुत्र, तीन लाख गौवों का दान देने वाले, वर्णसा (नदी) पर सुवर्णदान करने और तीर्थ बनवाने वाले, देवताओं और ब्राह्मणों को सोलह ग्राम देने वाले, पूरे सात लाख ब्राह्मणों को खिलाने

वाले ···धर्मात्मा उसवदात ने गोवर्धन में त्रिरश्मि पर्वत पर गुहा बनवाई ···।" शक-क्षत्रप नहपान का जामाता प्राचीन वैदिक या पौराणिक आर्य धर्म का अनुयायी था, यह इस लेख से स्पष्ट है। मथुरा का शक महाक्षत्रप रजुल बौद्ध था। उसकी पटरानी का यह लेख मथुरा से उपलब्ध हुआ है—"महाक्षत्रप रजुल की अग्रमहिजी युवराज खरओस्त्र की बेटी ···की माँ अयसिअ अमुइज ने ···शाक्य मुनि बुद्ध का शरीरधातु प्रतिष्ठापित किया और स्तूप व संघाराम भी, सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के चातुर्दिश संघ के परिग्रह के लिए।" मथुरा का ही एक शक महाक्षत्रप जैन धर्म का भी अनुयायी था। उसके एक अभिलेख में लिखा है—"अर्हत् वर्धमान को नमस्कार। स्वामी महाक्षत्रप शोडास के ४२वें वर्ष में ···हारिती के पुत्र पाल की भार्या श्रमणों की श्राविका कोछी अमोहिती ने अपने पुत्रों के साथ आर्यवती प्रतिष्ठापित की। आर्यवती अर्हत् की पूजा के लिए है।" अर्हत् की पूजा के लिए मूर्ति को प्रतिष्ठापित करने वाली कोशी निस्सन्देह शक जाति की ही थी।

पार्थियन और कुशाण लोगों ने भी भारत में आकर बौद्ध तथा वैदिक आर्य धर्मों को स्वीकार कर लिया था। नासिक की अन्यतम गुहा में उत्कीर्ण पार्थियन लोगों से सम्बद्ध यह अभिलेख उल्लेखनीय है—"सिद्धि! ···अबुलामा के निवासी सोवसक सेतफरण के पुत्र हरफरण का यह देवधर्म नवगर्भमण्डप महासांघिकों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह में दिया गया।" अबुलासा या अम्बुलिम सिन्ध नदी के तट पर स्थित एक नगरी थी, और सेतफरण तथा हरफरण पार्थियन नाम हैं। कुशाण वंश की शक्ति के संस्थापक राजा कुजुल कुशाण के सिक्कों पर अन्य विशेषणों के साथ 'सचध्रमथितस' (सत्यधर्मस्थितस्य) विशेषण भी विद्यमान है। कुजुल कुशाण का उत्तराधिकारी विम 'माहेश्वर' या शैव था। कनिष्क के सिक्कों पर यवन (ग्रीक), जरथुस्त्री और भारतीय सभी प्रकार के देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ अंकित हैं। ईरान के अग्नि (आतश), चन्द्र (माह) और सूर्य (मिहिर), ग्रीक देवता हेलिय, प्राचीन एलम की देवी नाना और भारत के शिव, स्कन्द, वायु, और बुद्ध—ये सब देवता उसके सिक्कों पर नाम या चित्र द्वारा विद्यमान हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कनिष्क सब धर्मों का समान रूप से सम्मान करता था। पर यह भी सत्य है कि उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में वासुदेव शैव धर्म का अनुयायी था, और हुविष्क बौद्ध धर्म का।

दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में यवन, शक आदि जिन विदेशी व विधर्मी जातियों ने भारत में प्रवेश कर यहाँ अपने विविध राज्य स्थापित करने प्रारम्भ किये थे, दो तीन शताब्दियों के स्वल्प काल में उन्होंने पूर्णतया भारतीय धर्मों तथा संस्कृति को अपना लिया था। उनकी भाषा संस्कृत हो गई थी, और उनका रहन-सहन भारतीय। वस्तुतः वे भारतीय आर्यों की ही अंग बन गई थीं और उन्हें वर्णव्यवस्था पर आधारित समाज में क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत मान लिया गया था। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में यह मत प्रतिपादित किया गया कि यवन, शक, पल्हव, कम्बोज आदि सब जातियाँ मूलतः क्षत्रिय थीं, पर ब्राह्मणों के साथ सम्पर्क न रहने के कारण वृषलत्व (म्लेच्छत्व) को प्राप्त हो गयी थीं। पर भारत में आ जाने पर इन्हें फिर से ब्राह्मणों का सम्पर्क मिल गया और इन्होंने आर्य धर्म को अपना लिया। अतः इन्हें क्षत्रिय मान लेने में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती थी। गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार इन जातियों के लोग क्षत्रिय थे ही।

पाँचवीं सदी ईस्वी में एक अन्य शक्तिशाली व प्रतापी विदेशी व विधर्मी जाति

ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ किये, और इस देश के कतिपय प्रदेशों में अपना शासन स्थापित करने में सफलता भी प्राप्त की। इस जाति को हूण कहते थे। भारतीय आर्यों के सम्पर्क में आकर वे भी पूर्णतया भारत के समाज में सम्मिलित हो गये। हूण राजा मिहिरगुल ने शैव धर्म को स्वीकार कर लिया था। एक शिलालेख के अनुसार स्थाणु शिव के अतिरिक्त यह हूण राजा किसी अन्य के सम्मुख सिर नहीं झुकाता था। उसके जो सिक्के मिले हैं, उन पर त्रिशूल और नन्दी के चिह्न अंकित हैं, और 'जयतु वृषः' उत्कीर्ण है। यवन, शक, पल्हव तथा कुशाण लोगों के समान हूण लोग भी धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से भारतीय या आर्य बन गये थे। इस युग के भारत की इस प्रवृत्ति (विदेशियों व विधर्मियों को आत्मसात् करने की क्षमता) को पुराणों में बड़े सुन्दर रूप से वर्णित किया गया है। शक, यवन, हूण आदि जातियों को गिना कर पुराण के लेखक ने भक्ति के आवेश में आकर यह कहा है कि ये और अन्य जो भी पापयोनि जातियाँ हैं, वे सब जिस विष्णु के सम्पर्क में आकर शुद्ध हो जाती हैं, उस प्रभविष्णु विष्णु को नमस्कार हो। भगवान् विष्णु की यह पतितपावनी शक्ति पाँचवीं सदी तक भी कायम थी। इसी का यह परिणाम था कि शक, यवन, पल्हव, हूण सदृश जो भी विदेशी व विधर्मी लोग भारत में प्रविष्ट हुए, उन सब को इस देश के आर्यों ने आत्मसात् कर लिया और उन्हें अपने समाज का अंग बना लिया। इस समय यह बता सकना कठिन है कि शक, यवन, युइशि, हूण आदि के वर्तमान प्रतिनिधि या उत्तराधिकारी कौन लोग हैं। शक आदि बहुत बड़ी संख्या में भारत में प्रविष्ट हुए थे। पर अब हिन्दू समाज में उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वस्तुतः, वे भारत के समाज में पूर्णतया घुल-मिल गये, और उन्होंने पृथक् जातियों का रूप ग्रहण कर लिया। जहाँ भारत की वर्तमान अनेक जातियाँ पुराने गणराज्यों की प्रतिनिधि हैं, वहाँ अनेक इन 'म्लेच्छ' आक्रान्ताओं का भी प्रतिनिधित्व करती हैं। इन सब को अब क्षत्रिय मान लिया गया है, और इनमें पापयोनिपन का नाम भी शेष नहीं है।

(५) आर्यों की शक्ति एवं धर्म का पुनः चरम उत्कर्ष

दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के कारण भारत के आर्यों में नवजीवन तथा नई स्फूर्ति का संचार हो गया था, जिसके कारण वे जहाँ शक, यवन आदि विदेशी आक्रान्ताओं से सफलतापूर्वक संघर्ष करने में समर्थ हुए, वहाँ साथ ही उन्होंने इन विधर्मी लोगों को अपने धर्म का अनुयायी भी बना लिया। इस प्रकार आर्यों की जिस नई शक्ति का विकास प्रारम्भ हुआ था, उसका चरम उत्कर्ष चौथी-पांचवीं शताब्दियों में गुप्त वंश के प्रतापी सम्राटों के समय में हुआ। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७८-४१४ ई०) के शासन काल में एक बार फिर आर्य लोग विश्व के अच्छे बड़े भाग पर अपना राजनीतिक व सांस्कृतिक आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हुए। गुजरात-काठियावाड़ के शकों का उच्छेद कर इस प्रतापी गुप्तवंशी राजा ने 'शकारि' की उपाधि धारण की। इस विजय के कारण गुप्त साम्राज्य की पश्चिमी सीमा अरब सागर तक विस्तृत हो गई। गुजरात-काठियावाड़ के शक महाक्षत्रपों के अतिरिक्त गान्धार-कम्बोज के शक-मुरुण्डों (कुशाणों) को भी चन्द्रगुप्त ने पराभूत किया। दिल्ली के समीप महरौली में लोहे का एक विष्णुध्वज (स्तम्भ) है, जिस पर चन्द्र नाम के एक प्रतापी सम्राट् का अभिलेख उत्कीर्ण है। इसमें चन्द्र की विजयों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उसने सिन्धु नदी के

सप्तमुखों (प्राचीन सप्तसैन्धव देश की सात नदियों) को पार कर बाह्लिक (बल्ख) देश तक विजय प्राप्त की थी। इन विजयों के परिणामस्वरूप गुप्त साम्राज्य का विस्तार पश्चिम में अरब सागर तक और हिन्दुकुश पर्वत के परे वंक्षु नदी तक हो गया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य उन्हीं अर्थों में चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् था, जिनमें कि महाभारत युद्ध से पहले के मान्धाता, रघु, अम्बरीष आदि थे।

गुप्तवंशी सम्राट् पौराणिक आर्य धर्म के अनुयायी थे। उनके काल में वैष्णव धर्म की बहुत उन्नति हुई, और बहुत-से विष्णु-मन्दिरों तथा विष्णुध्वजों का निर्माण हुआ। विष्णु के दस अवतारों में वराह तथा कृष्ण की पूजा इस युग में विशेष रूप से प्रचलित थी। अनुश्रुति के अनुसार प्रलय के समय जलमग्न होती हुई पृथिवी का वराह ने उद्धार किया था। म्लेच्छों के आक्रमणों से भारत भूमि में जो एक प्रकार का प्रलय-सा उपस्थित हो गया था, उससे देश का उद्धार करने वाले गुप्तवंशी राजाओं ने यदि विष्णु भगवान् के वराहावतार को विशेष रूप से पूजा की हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? विष्णु, शिव आदि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा के साथ-साथ याज्ञिक अनुष्ठानों ने भी इस काल में बहुत जोर पकड़ा। प्राचीन आर्य परम्परा का अनुसरण कर गुप्त सम्राटों ने अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया, और यज्ञों की परिपाटी इस काल में पुनः प्रारम्भ हो गई। सम्राट् समुद्रगुप्त को शिलालेखों में 'अनेकाश्वमेधयाजी' और 'चिरोत्सन्नअश्वमेधाहर्ता' कहा गया है। केवल अश्वमेध यज्ञ का ही नहीं, अपितु अग्निष्टोम, वाजपेय, वाजसनेय, बृहस्पति-सव आदि अन्य अनेक प्राचीन वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का भी इस युग के अभिलेखों तथा साहित्य में उल्लेख आता है। इन यज्ञों के अवसर पर जो यूप बनाए गए थे, उनमें से कतिपय के भग्नावशेष भी वर्तमान समय में उपलब्ध हुए हैं। अनेक स्मृतियों को गुप्त युग की कृति माना जाता है। उनमें यज्ञों की उपयोगिता पर बहुत बल दिया गया है। यज्ञों को निमित्त बनाकर मनुष्य दीन, अनाथ, आतुर और दुखी लोगों की सहायता कर सकता है, यह विचार इस काल में बहुत जोर पकड़ गया था। प्रयाग की प्रशस्ति में इसका स्पष्ट रूप से संकेत है। सम्भवतः, इसीलिए समुद्रगुप्त ने यज्ञ की भावना को इन सुन्दर शब्दों में प्रकट किया था, "पृथ्वी को जीतकर अब वह अपने सुकर्मों से स्वर्ग की विजय में तत्पर है।" वैदिक आर्य धर्म का जो रूप गुप्त युग में प्रचलित था, याज्ञिक कर्मकाण्ड का उसमें स्थान अवश्य था, पर यह स्वीकार करना होगा कि विविध पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियों को मन्दिरों में प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा करना इस काल के धर्म में सर्वाधिक महत्त्व की बात थी।

सनातन वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से बौद्ध और जैन धर्मों के प्रचार में कमी अवश्य आ गई थी, पर अभी उनका लोप नहीं हुआ था। वस्तुतः, ये दोनों धर्म भी पौराणिक आर्य धर्म के साथ-साथ फल-फूल रहे थे। अनेक सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के एक साथ रहते हुए भी इस काल में साम्प्रदायिक विद्वेष का अभाव था। विभिन्न मतों के आचार्य व पण्डित यद्यपि आपस में शास्त्रार्थों में व्यस्त रहते थे, पर इनके कारण जनता में धार्मिक विद्वेष उत्पन्न नहीं होता था। इस काल के राजा भी धर्म के मामले में बहुत सहिष्णु थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त वैष्णव धर्म का अनुयायी था, पर उसने अपने राजकुमारों की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु को नियुक्त किया था। वैष्णव गुप्त सम्राटों के कितने ही राजपदाधिकारी बौद्ध थे। नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध विहार के वैभव का

सूत्रपात इन वैष्णव सम्राटों के दान व संरक्षण से ही हुआ था। धार्मिक सहिष्णुता वैदिक आर्य धर्म की अनुपम विशेषता है। गुप्त युग में इसीलिए सब धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया गया था। जहाँ तक परिवर्तित वैदिक धर्म या पौराणिक आर्य धर्म का सम्बन्ध है, उसके विविध सम्प्रदायों में भी एकत्व या सामञ्जस्य की भावना का इस युग में विकास हुआ। शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा आदि देवी-देवता एक ही भगवान् के विविध रूप हैं, इस विचार का विकास इस युग में भलीभाँति प्रारम्भ हो चुका था। निःसन्देह, यह आर्यों की शक्ति तथा धर्म के चरम उत्कर्ष का युग था। जहाँ एक ओर इस काल में मध्य एशिया में वंक्षु नदी तक आर्यों के राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना हुई, वहाँ दूसरी ओर न केवल भारत में अपितु दक्षिणी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों तथा द्वीपों में भी ऐसे आर्य धर्मों का प्रचार हुआ, जिनके अनुयायी वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते थे, शास्त्र-मर्यादा का पालन करते थे और याज्ञिक कर्मकाण्ड में विश्वास रखते थे।

(६) भारत में मुसलिम शासन की स्थापना के प्रारम्भिक प्रयत्नों की विफलता

सातवीं सदी में अरब में एक महापुरुष का जन्म हुआ, जिनका नाम मुहम्मद था। उस समय अरब में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, जो सदा आपस में लड़ते रहते थे। राजनीतिक एकता का तब अरब में सर्वथा अभाव था। अरब के लोग विविध देवी-देवताओं की पूजा करते थे। स्त्रियों की स्थिति वहाँ बहुत हीन थी। अरब पुरुष जितनी स्त्रियों से चाहे विवाह कर सकते थे। इस दशा से मुहम्मद ने अपने देश का उद्धार किया। उन्होंने अरब के धर्म में बहुत-से सुधार किये। उन्होंने कहा—परमेश्वर एक है, उसकी मूर्ति नहीं होती, और उसकी उपासना के लिए मन्दिरों में मूर्तियों को प्रतिष्ठापित करना निरर्थक है। सब मनुष्य एक-दूसरे के बराबर हैं, कोई ऊँच या नीच नहीं है। मुहम्मद के धर्म-विषयक विचारों का पहले बहुत विरोध हुआ, पर धीरे-धीरे अरब लोगों ने उनकी उत्कृष्टता तथा सचाई का अनुभव किया और वे उनके अनुयायी होने लगे। मुहम्मद ने जिस नये धर्म का प्रारम्भ किया, वह 'इस्लाम' कहाता है, और ईश्वर ने जिस ज्ञान को मनुष्यों के हित-कल्याण के लिए मुहम्मद द्वारा अभिव्यक्त किया था, वह कुरान में संकलित है। मुसलमान लोग मुहम्मद को ईश्वर का पैगम्बर मानते हैं, और कुरान को ईश्वरीय ज्ञान। मुहम्मद केवल धर्म-सुधारक ही नहीं थे। उन्होंने अरब के विविध कबीलों व जातियों को एक सूत्र में संगठित करने के लिए भी अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया। अरब के छोटे-छोटे राज्यों का अन्त कर उन्होंने एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करने में अनुपम सफलता प्राप्त की। मुहम्मद द्वारा अरब लोगों में इस ढंग से नवजीवन तथा शक्ति का संचार किया गया कि वे पिछड़े हुए न रहकर एक शक्तिशाली व महत्त्वाकांक्षी राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो गये। मुहम्मद के उत्तराधिकारियों ने अरब की इस नयी शक्ति का उपयोग साम्राज्य विस्तार के लिए किया, और शीघ्र ही वे एक अत्यन्त विशाल साम्राज्य का निर्माण कर सकने में सफल हो गये।

६३२ ईस्वी में हजरत मुहम्मद की मृत्यु हुई थी। उस समय उनका प्रभुत्व केवल अरब प्रायद्वीप तक ही सीमित था। पर उनके उत्तराधिकारी (खलीफा) ने केवल आठ

वर्षों के स्वल्प काल में सीरिया और ईजिप्ट को जीत कर अपने अधीन कर लिया। ७०६ ईस्वी तक अफ्रीका महाद्वीप के सब उत्तरी प्रदेशों पर अरबों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था, और ७१३ ई० तक उन्होंने स्पेन को भी जीत लिया था। पूर्व की ओर अरबों ने पर्शियन साम्राज्य पर आक्रमण किये थे और ६३७ ईस्वी तक वह भी उनके अधीन हो गया था। पर्शिया को जीत कर अरब सेनाएँ उत्तर व पूर्व में और आगे बढ़ीं। ६५० ईस्वी तक उत्तर में वंक्षु नदी और पूर्व में हिन्दूकुश पर्वतमाला तक के सब प्रदेश उन द्वारा जीत लिये गये। पूर्वी रोमन साम्राज्य (राजधानी—कोन्स्टेन्टिनोपल) इससे पूर्व ही अरबों की अधीनता में आ चुका था। एक सदी के लगभग समय में अरबों ने स्पेन से लगाकर अफगानिस्तान तक के विशाल क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, और वहाँ के बहुसंख्यक निवासियों को इस्लाम का अनुयायी भी बना लिया था। पूर्व में पर्शिया और हिन्दुकुश तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने पर अरबों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे भारत की ओर रुख करें। पहले उन्होंने जलमार्ग द्वारा सिन्ध को आक्रान्त करने का प्रयत्न किया, और फिर ६४३ ईस्वी में सिन्धु नदी के मुहाने पर स्थित देवल पर धावा बोल दिया। पर इसे जीतने में उन्हें सफलता नहीं हुई। आधी सदी से भी अधिक समय तक निरन्तर प्रयत्न करने के पश्चात् आठवीं सदी के प्रारम्भ में अरब लोग सिन्ध को अपने अधिकार में ला सकने में समर्थ हुए। वे चाहते थे कि भारत में और आगे बढ़ें, और पर्शियन साम्राज्य के समान इस देश को भी अपने आधिपत्य में ले आयें। इसके लिए अरबों ने जो युद्ध किये, उनका संक्षिप्त रूप से भी यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। पर यह ध्रुव सत्य है कि अरब लोग सिन्ध से आगे भारत के किसी भी प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर सके। अवन्ति के गुर्जर-प्रतिहार राजा नागभट और लाट देश (दक्षिणी गुजरात) के चालुक्य राजा अवनिजनाश्रय पुलकेशीराज ने अरबों को भारत में सिन्ध से आगे नहीं बढ़ने दिया। अरबों के विरुद्ध संघर्ष में इन दो के अतिरिक्त अन्य भी कितने ही राजा और सामन्त सम्मिलित थे। अनेक अभिलेखों में इस काल के राजाओं द्वारा म्लेच्छों के संहार का उल्लेख है। ये म्लेच्छ अरब ही थे, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। अरब सेनाएँ भारत में सिन्ध से आगे तो बढ़ ही नहीं सकी थीं, पर सिन्ध में भी उनका शासन देर तक कायम नहीं रह सका था। एक अरब इतिवृत्त के अनुसार आठवीं सदी के मध्य भाग में सिन्ध में कोई भी स्थान ऐसा नहीं रह गया था, जहाँ मुसलमान अपने को सुरक्षित समझ सकते। इस प्रकार सिन्ध पर भी अरबों का प्रभुत्व चौथाई सदी से भी कम समय तक कायम रहा, और सिन्ध के अतिरिक्त भारत के किसी अन्य प्रदेश पर वे अपना शासन स्थापित ही नहीं कर सके, यद्यपि जुनैद के नेतृत्व में उन्होंने दूर-दूर तक विजय यात्राएँ अवश्य की थीं। प्रायः यह समझा जाता है कि अरबों के आक्रमणों के साथ आठवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में मुसलिम शासन का सूत्रपात हो गया था। पर यह सत्य नहीं है। कुछ समय के लिए अरब लोग सिन्ध को अपने प्रभुत्व में ले आने में अवश्य सफल हो गए थे, पर वहाँ भी उनका शासन चौथाई सदी के लगभग तक ही रहा। पूर्व और उत्तर दोनों दिशाओं में वे निरन्तर आगे बढ़ने का प्रयत्न करते रहे, और समुद्र मार्ग द्वारा भी उन्होंने भारत में प्रवेश करने के अनेक यत्न किए। पर वे सफल नहीं हुए। गुर्जर-प्रतिहार राजा नागभट ने राजपूताना और मालवा में उनके पैर नहीं जमने दिए और चालुक्य राजा अवनिजनाश्रय पुलकेशीराज ने दक्षिणापथ में। उत्तर

दिशा में अरब लोग जो आगे नहीं बढ़ सके, उसका श्रेय कन्नौज के राजा यशोवर्मा और काश्मीर के राजा ललितादित्य को प्राप्त है। अरबों की जिन सेनाओं ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और पर्शियन साम्राज्य को धूल में मिला दिया था, ईजिप्ट और उत्तरी अफ्रीका को जीत कर यूरोप में स्पेन को भी जिन्होंने विजय कर लिया था, और मध्य एशिया के बौद्ध राज्य भी जिनके सामने नहीं टिक सके थे, वे भारत को जीत सकने में असमर्थ रहीं। भारत के आर्य राज्यों की सैन्यशक्ति आठवीं-नवीं सदियों में अरबों की तुलना में उत्कृष्ट थी, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

मौर्य वंश के राजा अशोक और उसके उत्तराधिकारियों ने बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर क्षात्रशक्ति की जो उपेक्षा की थी, उसके दुष्परिणाम उस समय दूर होने प्रारम्भ हो गए थे, जबकि दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में वैदिक आर्य धर्म का पुनरुत्थान हुआ था। मौर्यों के बाद भारत में शुंग, कण्व, सातवाहन, वाकाटक, भारशिव, गुप्त आदि जिन विविध राजवंशों का शासन रहा, वे सब प्रायः वैदिक धर्म के अनुयायी थे, यद्यपि उनका धर्म शुद्ध वैदिक नहीं था। पर प्राचीन आर्य परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने क्षात्रशक्ति को समुचित महत्त्व दिया और इसी का यह परिणाम हुआ कि भारत की राजशक्ति इतनी बलवती बनी रही कि विश्वविजयी अरब सेनाएँ भी उसके सम्मुख नहीं टिक सकीं और दो सदियों तक निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर भी वे इस देश में अपने पैर जमा सकने में असमर्थ रहीं।

चौथा अध्याय

मध्य युग में आर्य धर्म और आर्य संस्कृति का आत्मरक्षा के लिए संघर्ष

(१) आर्य धर्म में विकृति और ह्रास की प्रक्रिया

वेदों में विश्वास न रखने वाले नास्तिक सम्प्रदायों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप जिस धर्म का दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ था, वह विशुद्ध वैदिक धर्म नहीं था। उसके विविध सम्प्रदाय देवी-देवताओं की मूर्तियों को मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करते थे, और मूर्तिपूजा ही उनके धार्मिक अनुष्ठान का प्रधान अंग था। कृष्ण, राम आदि महापुरुषों को इन सम्प्रदायों द्वारा ईश्वर का अवतार भी माना जाने लगा था। निस्सन्देह, मूर्तिपूजा और अवतारवाद प्राचीन वैदिक धर्म के अनुरूप नहीं थे। शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों में अन्य भी अनेक ऐसे तत्त्वों व मन्तव्यों का समावेश हो गया था, जो वेदों द्वारा प्रतिपादित नहीं थे। पर यह सब होते हुए भी इन धर्मों व सम्प्रदायों के सदाचरण सम्बन्धी आदर्श और मान्यताएँ सनातन आर्य परम्परा के अनुरूप थीं, और इन द्वारा आर्यों की शक्ति की वृद्धि में सहायता ही मिली थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे सम्राट् जो बाल्हिक (बल्ख) देश तक विजय-यात्राएँ कर सके, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विशाल भूखण्ड में जो आर्य धर्म की विजय पताका फहराई, उसका कारण यही था कि सत्य सनातन वैदिक धर्म का रूप इतना विकृत नहीं हो गया था कि उसमें शक्ति का अभाव हो जाता। पर मध्य युग (सातवीं सदी और उसके पश्चात्) में आर्य धर्म में विकृति की वह प्रक्रिया आरम्भ हुई जिसके परिणामस्वरूप आर्यों की शक्ति का ह्रास होने लग गया और उनके अपने देश में भी विदेशी व विधर्मी लोग चिर काल तक अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हो गये। आर्यों की वह पतित-पावनी शक्ति, जिसने शक, यवन, पल्हव, हूण आदि विदेशी लोगों को वैदिक सम्प्रदायों का अनुयायी बनाकर पूर्णतया आत्मसात् कर अपने समाज का अंग बना लिया था, मध्य काल में क्षीण हो गई थी, और वे तुर्क, अफगान तथा मुगल लोगों को आत्मसात् नहीं कर सके थे।

आर्य धर्म में जो यह विकृति उत्पन्न हुई, उस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इस विकृति का मूर्त्त रूप वाममार्ग था, आर्य धर्म में जिसका विकास बौद्ध धर्म के वज्रयान सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण हुआ था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, और शैव तथा वैष्णव आदि पौराणिक सम्प्रदाय प्रबल होने लग गये थे। पर इनके कारण बौद्ध धर्म का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के साथ-साथ भारत के अनेक प्रदेशों में उसकी भी सत्ता थी, और मध्य एशिया,

चीन, तिब्बत आदि में तो उसने मुख्य धर्म की स्थिति प्राप्त कर ली। बौद्ध धर्म में वज्रयान सम्प्रदाय का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, इसका निरूपण कर सकना इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं है। पर यह निर्दिष्ट कर देना आवश्यक है कि बौद्ध धर्म के भी अनेक सम्प्रदाय या निकाय थे, जिनमें एक योगाचार सम्प्रदाय था। इस द्वारा एक ऐसी साधना का सूत्रपात किया गया जिसमें गूढ़ मन्त्रों और धारणियों (मन्त्रपदों) का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यह माना जाता था कि इनका पाठ या जप करने से साधक सब विपत्तियों व संकटों से बचा रहता है। योगाचार सम्प्रदाय में धारणियों के साथ-साथ अनेकविध गुह्य साधनाओं का भी निरूपण किया जाता था, जो गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलती जाती थीं। गुह्य साधनाओं में विश्वास रखने वाले इसी सम्प्रदाय से वज्रयान का विकास हुआ, और धीरे-धीरे यही वज्रयान बौद्ध धर्म का प्रमुख सम्प्रदाय बन गया। मध्य युग में न केवल भारत में अपितु तिब्बत आदि अन्य देशों में भी बौद्ध धर्म का स्वरूप प्रायः वही प्रचलित था, जिसका प्रतिपादन वज्रयान के आचार्यों द्वारा किया जाता था। वज्रयानी आचार्य भी यह मानते थे कि धारणियों तथा मन्त्रों का जप व पाठ कर साधक अभिलषित फल प्राप्त कर सकता है। साथ ही वे गुह्य साधनाओं में भी विश्वास रखते थे और इन गुह्य साधनाओं में मैथुन का स्थान भी पर्याप्त महत्त्व का था। बौद्ध संघ में जो व्यक्ति भिक्षु या भिक्षुणी बनने के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करते थे, उनमें युवकों और युवतियों की भी पर्याप्त संख्या होती थी। ये सब कामवासना को वशीभूत करने में समर्थ हों, यह सम्भव नहीं था। भिक्षु व्रत ग्रहण कर लेने के पश्चात् भी इनमें मैथुन की इच्छा बनी रहती थी। इसी कारण एक बौद्ध सम्प्रदाय (वैपुल्यवाद) ने 'विशेष अभिप्राय' (एकाभिप्रायेण) से भिक्षु तथा भिक्षुणियों को मैथुन की भी अनुमति प्रदान कर दी थी। मानव शरीर की प्राकृतिक आवश्यकता को गृहस्थाश्रम के सीधे और सरल मार्ग द्वारा पूर्ण न कर सकने के कारण बौद्ध आचार्यों ने 'विशेष अभिप्राय' की आड़ ली और रहस्यपूर्ण व जटिल शब्द-जाल द्वारा मैथुन क्रिया को 'सम्यक् संबुद्ध' बनने के लिए सहायक प्रतिपादित करना प्रारम्भ कर दिया। यह माना जाने लगा कि साधक कामवासना की पूर्ति के लिए मैथुन का सेवन नहीं करता, अपितु सिद्ध व सम्यक् संबुद्ध बनने के विशेष प्रयोजन से ही इसका प्रयोग करता है। जो साधक इस स्थिति में आ जाए, कि सिद्धि के लिए ही मैथुन करे, उसे 'वज्रगुरु' कहते थे। सिद्ध या वज्रगुरु बनने के लिए बौद्ध साधक ऐसी साधनाओं का प्रयोग करने लगे जो गुह्य और रहस्यमय होती थीं और जिनमें मैथुन क्रिया को भी स्थान प्राप्त था। आठवीं सदी तक वज्रयान का भलीभाँति विकास हो गया था, और उसके अनुयायी सिद्धि को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति भैरवी चक्र का आश्रय ले ऐसी बातें व क्रियाएँ करने लगे, जो धार्मिक संघ व सम्प्रदाय के लिए तो क्या सभ्य समाज के लिए भी घृणास्पद थीं। वज्रयान के आचार्यों का चरम उद्देश्य 'वज्रगुरु' बनना होता था, जिसके लिए गुह्य साधना तथा रहस्यमय यौगिक क्रियाओं का आश्रय लिया जाता था। जो साधक वज्रगुरु या सिद्ध बन जाता था, उसके लिए न सदाचारमय जीवन की आवश्यकता रहती थी और न इन्द्रियजय की। उचित-अनुचित, खाद्य-अखाद्य और गम्य-अगम्य का कोई विचार इनके सम्मुख नहीं होता था, क्योंकि ये इन तुच्छ बातों से ऊपर उठकर सिद्ध दशा को प्राप्त कर चुके थे। जब मनुष्य साधारण जीवन से ऊँचा उठकर सिद्ध बन जाता है तो उसके लिए कर्तव्य-अकर्तव्य और उचित-अनुचित का विवेक रह ही नहीं जाता।

इन विचारों से ऊँचा उठ जाने के लिए ही वह सब पदार्थों को खाद्य मानता है, स्त्रीमात्र से मैथुन करना साधना में सहायक समझता है, और मदिरा सेवन को गुह्य साधना के लिए आवश्यक मानता है। मध्य युग में भारत में बौद्ध धर्म का जो रूप था, वह वज्रयान का ही था और जनता वज्रगुरुओं व सिद्धों के प्रति अत्यधिक श्रद्धा की भावना रखने लग गई थी।

जिन प्रवृत्तियों और विचारसरणी द्वारा बौद्ध धर्म में वज्रयान का विकास हुआ था, उन्हीं के कारण प्राचीन आर्य धर्म के पौराणिक रूप में तान्त्रिक सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। शक्ति रूप देवी की पूजा भारत में चिर काल से प्रचलित थी। शक्ति को तीन रूपों में पूजा जाता था, सौम्य रूप में, प्रचण्ड रूप में और कामप्रधान रूप में। शक्ति का एक रूप कामप्रधान भी है। कामप्रधान रूप में शक्ति की पूजा की परम्परा से ही उस सम्प्रदाय का विकास हुआ, जिसे तन्त्रवाद व वाममार्ग कहते हैं। इस सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थ 'तन्त्र' कहाते हैं और उनमें सिद्धि व मोक्ष प्राप्त करने के लिए जिन विधि-विधानों व साधनाओं का प्रतिपादन किया गया है, वे अत्यन्त जटिल हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक मनुष्यों के लिए प्रगति की तीन सीढ़ियाँ या दशाएँ (भाव) हैं, जिन्हें पशु, वीर और दिव्य की संज्ञा दी गई है। वीर और दिव्य दशा में साधक जो गुह्य साधनाएँ करता है, उनमें समाज की मान्यताओं की जरा भी परवाह नहीं की जाती, और सर्वसाधारण लोग जिन बातों को सदाचार या नैतिक समझते हैं उन्हें स्वीकार्य या अनुकरणीय नहीं माना जाता। क्या खाद्य है और क्या अखाद्य, क्या करणीय है और क्या अकरणीय—ऐसी बातों का कोई विचार वीर और दिव्य साधक नहीं करते। उनकी दृष्टि में सब स्त्रियाँ कुलनायिका, भैरवी व योगिनी के रूप में शक्ति की प्रतीक होती हैं, और पुरुष भैरव के रूप में शिव के प्रतीक होते हैं। साधक सभी स्त्रियों को गम्य समझता है, किसी के साथ भी यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इसी प्रकार माँस, मदिरा और मत्स्य के सेवन में भी उसके लिए कोई बाधा नहीं होती। इन सब का सेवन गुह्य साधना का अंग माना जाता है। दिव्य भाव (दशा) में साधक सब नैतिक मान्यताओं, सदाचार के नियमों, पाप-पुण्य के भेद, घृणा, प्रीति, विधि-निषेध आदि से ऊपर उठ जाता है। जैसे ईश्वर के लिए कोई विधि-निषेध नहीं होते, उसकी इच्छा ही सर्वोपरि होती है, ऐसे ही दिव्यभाव को प्राप्त तान्त्रिक साधक के लिए किसी भी मर्यादा की सत्ता नहीं रह जाती। वह स्वच्छन्द रूप से आचरण करता है। पर इस दशा को उच्छृङ्खलता कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि अत्यन्त कठोर साधना द्वारा ही यह दशा प्राप्त होती है। यह सही है कि इस साधना मार्ग की आड़ लेकर मनुष्य उच्छृंखल व अनैतिक जीवन की ओर भी प्रवृत्त हो सकता है। इसी कारण तान्त्रिक व वाममार्ग सम्प्रदाय के अनुसार गुरु के मार्ग प्रदर्शन में ही इस साधना पद्धति का अनुसरण आवश्यक कहा गया है। पर यह सर्वथा स्वाभाविक था कि दिव्य एवं मुक्त भाव को प्राप्त करने के लिए की जाने वाली गुह्य साधनाओं की आड़ लेकर बहुत-से स्त्री-पुरुष पतन के मार्ग पर भी चलने लग जाएँ। इसी कारण वज्रयान के समान तान्त्रिक सम्प्रदाय व वाममार्ग ने भी एक ऐसा रूप प्राप्त कर लिया, जो अत्यन्त विकृत था।

शैव धर्म में भी एक ऐसे सम्प्रदाय का विकास हुआ, जिसके अनेक मन्तव्य तथा अनुष्ठान आर्य सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं थे। इसे कापालिक कहते हैं और इसका उपास्य

देवता भैरव है। भैरव को कापालिक लोग शिव का अवतार मानते हैं, और उनके मत में सृष्टि का सृजन तथा संहार यही देवता करते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भी सुरापान करना तथा अभक्ष्य भोजन करना साधना का अंग मानते हैं। मध्य युग में कापालिक सम्प्रदाय का भी पर्याप्त प्रचार हुआ। महाकवि भवभूति (आठवीं सदी) ने अपने नाटक मालतीमाधव में श्रीशैल को कापालिकों का प्रधान पीठ (केन्द्र) बताया है। इस सम्प्रदाय की पूजाविधि का भी इस नाटक से परिचय प्राप्त होता है। कपालकुण्डला नामक स्त्री, जो इस सम्प्रदाय की अनुयायी थी, नरकपालों की माला धारण कर नाटक की नायिका मालती को सोती हुई दशा में उसके पिता के घर से उठा ले जाती है, और श्मशान के समीप स्थित कराला-चामुण्डा की मूर्ति के सम्मुख इस प्रयोजन से प्रस्तुत करती है ताकि आचार्य अघोरकण्ठ उसकी बलि दे सकें। इससे सूचित होता है कि कापालिक लोग नरबलि को भी अपनी पूजा व साधना का अंग समझते थे। इसी सम्प्रदाय का एक वर्ग 'कालमुख' था। इसकी साधना-पद्धति और भी अधिक रौद्र थी। इसके अनुयायी भोजन तथा जल पीने के लिए नरकपाल का प्रयोग करते थे, शवभस्म को शरीर पर लगाते थे और सुरापान को साधना के लिए अनिवार्य मानते थे। शक्ति रूपी देवी के प्रचण्ड रूप को दृष्टि में रखकर दुर्गा, काली, चण्डी, चामुण्डी आदि जिन देवियों की कल्पना की गई थी, उनकी पूजा विधि में पशुओं की बलि को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

निस्सन्देह, मध्य युग में प्राचीन आर्य धर्म के परिवर्तित पौराणिक रूप में ऐसे तत्त्वों का समावेश होना प्रारम्भ हो गया था, जो मूल वैदिक धर्म में कहीं नहीं पाये जाते। इसी काल में नाथ सम्प्रदाय और सिद्धों की परम्परा का भी सूत्रपात हुआ। नाथ सम्प्रदाय की साधना में योग का स्थान बहुत महत्त्व का है, और उसमें हठयोग का प्रतिपादन किया जाता है। इस योग द्वारा साधक प्राणवायु का अवरोध कर कुण्डलिनी को जागृत करता है, और जागृत होकर कुण्डलिनी षट् चक्रों को भेदती हुई अन्तिम चक्र में पहुँच कर शिव से जा मिलती है। यही परम आनन्द है और इससे आत्मा तथा परमात्मा के भेद का अन्त हो जाता है। यद्यपि नाथ सम्प्रदाय के मन्तव्यों में अनेकविध गुह्य साधना-विधियों को स्थान प्राप्त था, पर पंच मकारसेवन सदृश बातों का उसमें समावेश नहीं किया गया था। इस कारण वज्रयान और वाममार्ग की तुलना में सर्वसाधारण जनता को नाथ सम्प्रदाय अधिक ग्राह्य प्रतीत हुआ और ईरान से कामरूप (असम) तक सर्वत्र नाथ योगियों को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। साधना द्वारा जो योगी सिद्धियाँ प्राप्त करने में समर्थ हुए, उन्हें 'सिद्ध' कहा जाता था। नाथ सम्प्रदाय में ऐसे चौरासी सिद्ध हुए, जिनमें गोरखनाथ, जालन्धरनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ बहुत प्रसिद्ध हैं।

पर यह नहीं समझना चाहिए कि जिस प्रकार मध्य युग में बौद्ध धर्म का प्रचलित रूप वज्रयान ही रह गया था, वैसे ही पौराणिक धर्म में भी वाममार्ग को प्रमुखता प्राप्त हो गई थी। गुह्य साधनाओं की महत्ता होते हुए भी इस काल में भक्ति और ज्ञान मार्गों को समुचित महत्त्व प्राप्त था। भक्ति मार्ग का विशेष रूप से उत्कर्ष दक्षिणी भारत में हुआ था। वहाँ बहुत से ऐसे सन्त हुए, जिन्होंने भगवान् की भक्ति को ही मनुष्यों के हित व कल्याण का मुख्य साधन प्रतिपादित किया। इनका मत था कि भगवान् के प्रति अगाध प्रेम रखते हुए उसे रिझाने में ही मनुष्य का हित है। भक्तिमार्ग का उपदेश देने वाले वैष्णव सन्त 'आलवार' कहाते थे, और शैव सन्त 'नायन्मार'। ज्ञानमार्ग के प्रतिपादकों

में शंकराचार्य प्रधान हैं। उनके मत में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि वह ब्रह्म ही है, उससे भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं है। जैसे सदियों सहस्राब्दियों का अन्धकार दीपशिखा द्वारा क्षण भर में दूर हो जाता है, वैसे ही यह ज्ञान हो जाने पर कि मनुष्य या आत्मा ब्रह्म ही है, मनुष्य के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों वैदिक धर्म के अनुकूल हैं। वैदिक धर्म में भक्ति और ज्ञान दोनों को स्थान प्राप्त है। साथ ही, वेद शास्त्रों द्वारा कर्ममार्ग भी विहित है। वस्तुतः, वेद कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों का ही उपदेश करते हैं। तीनों का साथ-साथ अनुसरण ही वैदिक धर्म को अभिमत है। मध्य युग के आचार्यों ने जो भक्ति या ज्ञान पर ही अत्यधिक बल दिया, वह सत्य सनातन आर्य धर्म के अनुरूप नहीं था। पर ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग द्वारा आर्यों के धर्म में वैसी विकृति नहीं आई, जैसी कि वाममार्ग से आई थी। पर कर्म और ज्ञान की उपेक्षा कर भक्ति पर ही अत्यधिक बल देने का यह परिणाम हुआ कि अनेक ऐसे सम्प्रदाय विकसित हो गए, जिनके मन्तव्यों तथा पूजाविधि को सनातन आर्य धर्म के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। भक्तिमार्ग के प्रतिपादकों ने चार प्रकार की भक्ति का निरूपण किया है; दासमार्ग—उस ढंग से भक्ति करना जैसे कि दास स्वामी की करता है, सत्पुत्र मार्ग—उस ढंग से भक्ति करना जैसे अच्छा पुत्र अपने माता-पिता की करता है, सखामार्ग—उस प्रकार से भक्ति करना जैसे मित्र मित्र या सखी सखी से करता है और सन्मार्ग—भक्ति का सच्चा मार्ग। इन विविध प्रकार की भक्तियों को दृष्टि में रखकर निम्बार्काचार्य ने कृष्ण-भक्ति पर जोर देते हुए यह प्रतिपादित किया कि गोपियों और राधा का कृष्ण के प्रति जैसा प्रेम था वह आदर्श है और मनुष्यों को कृष्ण के प्रति वैसा ही प्रेम व भक्ति रखनी चाहिए। भक्तिमार्ग के एक अन्य आचार्य श्री वल्लभाचार्य ने एक नए सम्प्रदाय का श्रीगणेश किया, जिसे वल्लभ सम्प्रदाय कहते हैं। इसे 'पुष्टिमार्ग' भी कहा जाता है। पुष्टिमार्ग द्वारा उपदिष्ट भक्ति का अनुसरण करने वाला भक्त पूर्ण प्रेम के साथ भगवान् की परिचर्या करता है। भक्ति के साथ की गई परिचर्या से संतुष्ट होकर भगवान् भक्त पर जो अनुग्रह करता है, वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी उसे ही 'पुष्टि' कहते हैं। उनके मन्दिरों में कृष्ण की विविध रूपों में पूजा की जाती है। कृष्ण की मूर्ति का शृंगार करना, उसे स्नान कराना, उस पर केसर का लेप करना, भोग अर्पित करना और उसे शयन कराना आदि इस सम्प्रदाय की पूजाविधि की विशेषताएँ हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार कृष्णभक्तों को यह चाहिए कि वे अपने उपास्य देव के साथ सखीभाव स्थापित करें और उसी प्रकार से उनसे प्रेम करें जैसे कि राधा और गोपियाँ कृष्ण के साथ करती थीं। वल्लभ सम्प्रदाय का आराध्य देव कृष्ण का वह स्वरूप है, जिसमें वे अलौकिक लीलाएँ करते हैं और एक प्रकार का सरस लोकोत्तर जीवन व्यतीत करते हैं। भक्ति के इस रूप को सनातन आर्य धर्म में एक प्रकार की विकृति ही समझा जा सकता है।

मध्य युग में ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और वाममार्ग तीनों की साथ-साथ सत्ता थी। ज्ञानमार्ग का अनुसरण केवल उच्च कोटि के ज्ञानी व विद्वान् ही कर सकते थे। सर्वसाधारण लोग या तो भक्तिमार्ग के अनुयायी थे और या वाममार्ग के। इसीलिए इस काल में इन्हीं के मन्दिरों का विशेष रूप से निर्माण हुआ। भक्तिमार्ग का सूत्रपात दक्षिण भारत

में हुआ था, और मध्य युग में वहीं इसका अत्यधिक उत्कर्ष हुआ। वहाँ जो विशाल मन्दिर बने, उनमें प्रधानतया वैष्णव और शैव सम्प्रदायों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हैं और ये मन्दिर स्वाभाविक रूप से भगवान् विष्णु और शिव के विविध रूपों की भक्ति के केन्द्र हैं। मध्य प्रदेश और उड़ीसा में अनेक ऐसे मन्दिर वर्तमान समय में भी विद्यमान हैं, जिन पर वाममार्ग का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इनमें खजुराहो के मन्दिर विशेष महत्त्व के हैं। वहाँ के कन्दर्य महादेव के मन्दिर के आभ्यन्तर तथा बाह्य भागों में प्रस्तर-फलकों को तराश कर बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ बनायी गई हैं जिनमें काम कला को प्रत्यक्ष व मूर्त्त रूप से प्रदर्शित किया गया है और जिन्हें अश्लील कहा जा सकता है। ये मूर्तियाँ अपने समय की उन कामप्रधान प्रवृत्तियों की द्योतक हैं, जिनका प्रादुर्भाव वाममार्ग के कारण उस युग में हो गया था। खजुराहो के समान पुरी (उड़ीसा) में भी ऐसे मन्दिर विद्यमान हैं, जिनमें अश्लील मूर्तियों की सत्ता है।

सनातन वैदिक धर्म में जो अनेकविध विकृतियाँ मध्य युग में उत्पन्न हो गई थीं, आर्यों की शक्ति का ह्रास होने में उनसे बहुत सहायता मिली, और बारहवीं सदी के अन्तिम चरण में भारत पर विदेशी व विधर्मी तुर्क अफगानों के जिस आधिपत्य का प्रारम्भ हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण आर्यों के धर्म में इन विकृतियों का प्रादुर्भाव भी था।

(२) आर्यों के समाज-संगठन का विकृत रूप

प्राचीन भारत का समाज संगठन वर्णाश्रम पर आधारित था। आर्य चिन्तकों ने मानव समाज को चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में और मानव जीवन को चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) में विभक्त किया था। साथ ही, उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया था कि विविध वर्णों व आश्रमों के कौन-कौन से स्वधर्म (कर्त्तव्य) हैं, और सब को अपने-अपने वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म का पालन करना चाहिए। वर्ण का निश्चय जन्म के अनुसार न होकर गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर किया जाना चाहिए, यह भी प्राचीन आर्यों को अभिप्रेत था। पर महाभारत से कुछ समय पूर्व ही इस समाज-संगठन में विकृति के चिह्न प्रकट होने लग गये थे और जनता के एक वर्ग को जन्म के कारण ही नीच व अस्पृश्य समझा जाने लगा था। बौद्ध, जैन और भागवत धर्मों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई और यह प्रतिपादित किया कि समाज में मनुष्यों की स्थिति उनके कर्मों के अनुसार ही निर्धारित की जानी चाहिए। पर इन्हें अपने प्रयत्न में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में वैदिक धर्म के नये परिवर्तित रूप में उत्थान के पश्चात् के काल में वर्ण-व्यवस्था का रूप निरन्तर विकृत होता गया और मध्य युग में यह स्थिति आ गई कि वर्ण तथा जाति का आधार पूर्णतया जन्म को माना जाने लगा और जन्म के कारण ही किसी व्यक्ति को पूज्य व उच्च तथा नीच व अछूत समझा जाने लगा। गुप्त वंश के शासन काल (चौथी, पाँचवीं तथा छठी सदी) तक यह स्थिति आ गई थी कि मनुष्य के कर्म चाहे कोई भी क्यों न हों, उसे उसी वर्ण का माना जाता था जिसमें कि वह उत्पन्न हुआ था। यही कारण है कि इस युग में अनेक ऐसे भी राजा हुए, जो जन्म से क्षत्रिय नहीं थे। शुंग और कण्व वंशों के राजा ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण माने जाते थे, यद्यपि उनके गुण कर्म क्षत्रियों के थे। गुप्तवंश के प्रतापी राजा सम्भवतः जन्म से वैश्य वर्ण के थे। मञ्जुश्रीमूलकल्प में उन्हें स्पष्ट रूप से

वैश्य ही कहा गया है। स्थाण्वीश्वर (थानेसर) के वर्धन वंश के राजाओं को भी वैश्य वर्ण का माना जाता है। ह्य एन्त्सांग (सातवीं सदी) के अनुसार उज्जैन, जिझोती और महेश्वरपुर के राजा ब्राह्मण वर्ण के थे और सिन्ध के राजा शूद्र वर्ण के। जन्म के आधार पर चातुर्वर्ण्य को स्वीकार कर लेने का यह परिणाम था कि ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च मानी जाने लगी थी, चाहे वे अयोग्य व अशिक्षित भी क्यों न हों। इसीलिए महाकवि बाण (सातवीं सदी) ने लिखा है कि 'असंस्कृत' ब्राह्मण भी अपनी जाति के कारण 'माननीय' होता है। अब यह सम्भव नहीं रहा था कि कोई व्यक्ति ज्ञान व विद्वता के कारण ब्राह्मण वर्ण में या वीरता के आधार पर क्षत्रिय वर्ण में प्रवेश पा सके। यदि किसी का जन्म वैश्य कुल में हुआ हो, तो परम विद्वान् हो जाने पर भी वह वैश्य ही कहाता था और अपने बाहुबल से एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लेने पर भी उसकी गिनती क्षत्रिय वर्ण में नहीं की जाती थी। क्षत्रिय वर्ण के लोगों का कार्य सैनिक जीवन विताना व देश की रक्षा करना माना जाता था। पर मध्यकाल में क्षत्रिय कुल में उत्पन्न व्यक्ति आजीविका के लिए पशु-पालन, व्यापार आदि में भी संकोच नहीं करते थे। यही बात ब्राह्मणों के सम्बन्ध में भी थी।

वर्ण विभाग के जन्म पर आधारित हो जाने के कारण समाज में ऊंच-नीच के भेद का विकसित हो जाना स्वाभाविक था। शूद्रों की स्थिति बहुत हीन हो गई थी। न वे वेदाध्ययन कर सकते थे और न याज्ञिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान की ही उन्हें अनुमति थी। उनके लिए यही पर्याप्त था कि इतिहास-पुराण का श्रवण कर अपनी धर्मपिपासा या ज्ञानप्राप्ति की इच्छा को पूरा कर लें। उनके लिए यज्ञों का निषेध था। सामान्यतया, उनकी अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती थी। उनके लिए दण्ड विधान भी अत्यन्त कठोर था। यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण स्त्री के साथ सम्भोग कर ले, तो उसके लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी। पर यदि किसी ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय या वैश्य स्त्री से सम्भोग किया जाए, तो केवल अर्थदण्ड का विधान था। यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण को गाली दे, तो उसकी जीभ काट ली जाती थी। इसके विपरीत यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्र को गाली दे तो उसे केवल १२ पण जुर्माने की सजा दी जाती थी। शूद्रों को यह अधिकार नहीं था कि वे वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में प्रविष्ट हो सकें। उनका उपनयन संस्कार भी नहीं होता था, अतः वे ब्रह्मचारी होकर विद्याध्ययन भी नहीं कर सकते थे।

विविध वर्णों में भी अनेक भेद मध्य युग में प्रारम्भ हो गये थे। ब्राह्मण वर्ण में गौड़, सरयूपारीण, कान्यकुब्ज आदि जो बहुत-सी जातियां वर्तमान समय में विद्यमान हैं, उनका पृथक् रूप से विकास भी मध्य युग में शुरू हो चुका था। इन जातियों का आधार भौगोलिक है। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के क्षेत्र में निवास करने वाले ब्राह्मण कन्नौजिए, सरयू नदी के परे के प्रदेश के सरयूपारीण, सरस्वती नदी के समीपवर्ती क्षेत्र के सारस्वत और द्रविड़ देश में बसे ब्राह्मण द्राविड़ कहाने लगे। इनकी पृथक् जातियाँ बन गईं और विवाह-सम्बन्ध उनके अपने वर्ग में ही होने लगे। मध्य युग में क्षत्रियों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया था, जिसे 'राजपूत' कहते थे। इस काल के बहुत-से राजवंश राजपूतों के थे। गुर्जर-प्रतिहार, परमार, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चाहमान आदि राजपूत राजवंशों के राज्य इस युग में स्थापित हुए। अनेक ऐतिहासिकों का मत है कि ये सब उन कुशाण, हूण आदि विदेशी आक्रान्ताओं के वंशज थे, जिन्होंने कि भारत में प्रवेश कर इस देश के

धर्म, भाषा, सभ्यता और संस्कृति को पूर्णरूप से अपना लिया था। राजपूत जातियों के लोग प्राचीन क्षत्रिय कुलों के लोगों से पृथक् थे। केवल ब्राह्मणों और क्षत्रियों में ही नहीं, वैश्य और शूद्र वर्णों में भी इस युग में बहुत-सी जातियों का विकास हो गया था। भारत में जाति-भेद का विकास किन परिस्थितियों में और किन कारणों से हुआ, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर इस ग्रन्थ में प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन जनपद, शिल्पियों की श्रेणियाँ, व्यापारियों के निगम और इसी प्रकार के अन्य अनेक संगठन कालान्तर में जातियों के रूप में परिवर्तित हो गये। कितनी ही ऐसी भी जातियाँ हैं, जिन्हें किस वर्ण के अन्तर्गत किया जाए, यह निर्धारित कर सकना कठिन है। कायस्थ, जाट, बढ़ई आदि इसी प्रकार की जातियाँ हैं। भारत के सुदीर्घ इतिहास में जाति-भेद जिस ढंग से निरन्तर विकसित होता गया, उसके कारण आज जातियों की संख्या हजारों तक पहुँच गई है। इससे भारत का समाज बहुत-से ऐसे वर्गों में विभक्त हो गया है, जिनकी अपनी पृथक् सत्ता है, जिनके अपने रीति-रिवाज हैं, जिनकी अपनी परम्पराएँ व मान्यताएँ हैं और खान-पान तथा आचरण के सम्बन्ध में जिनके अपने नियम हैं। इस जाति-भेद के परिणाम-स्वरूप भारत का सामाजिक संगठन बहुत निर्बल हो गया है और उसके विविध घटकों में परस्पर सम्बन्ध का प्रायः अभाव है। यह जाति-भेद प्राचीन वैदिक धर्म द्वारा प्रतिपादित वर्ण-विभाग से सर्वथा भिन्न है। वेदों में समाज की उपमा एक ऐसे शरीर से दी है, ब्राह्मण जिसके सिर है, क्षत्रिय जिसकी भुजाएँ हैं, वैश्य जिसके उदर व जंघा हैं, और शूद्र जिसके पैर हैं। शरीर के विविध अंग एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं, एक-दूसरे के पूरक होते हैं। सबकी महत्ता व उपयोगिता एकसदृश मानी जाती है। प्राचीन आर्यों में वर्ण विभाग का यही स्वरूप था। पर मध्य युग में जिस ढंग के जाति-भेद का विकास भारत में हो गया था, वह वर्ण-व्यवस्था से बहुत भिन्न था। वर्ण विभाग से समाज की शक्ति में वृद्धि होती है, पर जाति-भेद से वह ऐसे खण्डों में विभक्त हो जाता है जिनमें परस्पर एकता नहीं रह पाती। इससे समाज की सामूहिक शक्ति में क्षीणता आने लगती है। इसमें सन्देह नहीं कि मध्यकाल में आर्यों के सामाजिक संगठन का स्वरूप बहुत विकृत हो गया था और उसमें वह शक्ति नहीं रही थी जो प्राचीन समय में थी।

(३) भारत में तुर्क-अफगानों के शासन का सूत्रपात

सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अरबों की राजशक्ति का किस प्रकार उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ और कुछ ही समय में वे एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में सफल हो गये, पिछले अध्याय में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। पूर्व की ओर अग्रसर होती हुई अरब सेनाओं ने सिन्ध को भी जीत लिया था, पर गुर्जर-प्रतिहारों की शक्ति के कारण वे भारत में और अधिक आगे नहीं बढ़ सकी थीं। आठवीं और नवीं सदियों में भारत के अन्य प्रदेशों में अपने प्रभुत्व का प्रसार करने के जो भी प्रयत्न अरबों ने किए, वे सफल नहीं हो सके। आर्य धर्म और संस्कृति में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाने पर भी भारत में अभी इतनी शक्ति विद्यमान थी कि अरब की विश्वविजयी मुस्लिम सेनाएँ आर्यों से परास्त होती रहीं। सिन्ध पर भी अरबों का शासन देर तक कायम नहीं रह सका।

पर इस्लाम के आक्रमण से भारत देर तक बचा नहीं रहा। पूर्व में अपने साम्राज्य

का विस्तार करते हुए अरबों ने पर्शिया को जीत लिया था और वहाँ से उनकी सेनाएँ मध्य एशिया की ओर अग्रसर हुई थीं। उस समय धर्म, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से मध्य एशिया भारत का ही अंग था। इस क्षेत्र के विविध भारतीय राज्य आधी सदी के लगभग अरबों का सफलतापूर्वक मुकाबिला करते रहे। पर नवीं सदी के प्रारम्भ तक मध्य एशिया के अनेक प्रदेश अरबों के प्रभुत्व में आ गए थे, और उनके सम्पर्क से उस क्षेत्र के बौद्ध लोग इस्लाम को अपनाने लगे। परिणाम यह हुआ कि मध्य एशिया के सुप्रसिद्ध बौद्ध बिहार मुसलिम धर्म के अध्ययन के केन्द्र बन गए और उनके आचार्यों, स्थविरों और श्रमणों ने इस्लाम की दीक्षा ग्रहण कर ली।

मध्य एशिया के उत्तर के प्रदेशों में तब तुर्क जाति का निवास था। वहाँ के भारतीयों के सम्पर्क में आकर तुर्कों ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। ये तुर्क हूणों की एक शाखा थे। जिस प्रकार कुछ सदी पहले भारत में गुप्त साम्राज्य और यूरोप में रोमन साम्राज्य पर हूणों के आक्रमण प्रारम्भ हुए थे और उनके कारण ये विशाल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गए थे, वैसे ही दसवीं सदी में हूणों की बौद्धधर्मानुयायी तुर्क शाखा ने उत्तर-पूर्व की ओर से विशाल अरब साम्राज्य पर हमले शुरू कर दिए। अरब उनके सम्मुख नहीं टिक सके, उनका साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया और उसके भग्नावशेषों पर अनेक तुर्क राज्यों की स्थापना हुई। पर इस्लाम में अनुपम शक्ति थी। राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से विजेता होते हुए भी तुर्क लोग धार्मिक क्षेत्र में अरबों से परास्त हो गए और उन्होंने इस्लाम को अपना लिया। विशाल अरब साम्राज्य के खण्डहरों पर जो अनेक तुर्क राज्य कायम हुए थे, उनमें गजनी के राज्य का भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके अन्यतम राजा सुबुक्तगीन (९७७-९९७) ने अपने राज्य का विस्तार करते हुए पूर्व में हिन्दूसाही या ब्राह्मणसाही राज्य पर आक्रमण किया। इसकी स्थिति हिन्दुकुश पर्वतमाला के पूर्व में थी, और इसकी राजधानी उद्भाण्डपुर नगरी थी। काबुल का प्रदेश भी इस राज्य के अन्तर्गत था। तुर्क आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा करने के लिए ब्राह्मणसाही राजा जयपाल ने भारी तैयारी की और दिल्ली, अजमेर तथा कालिञ्जर के राजा उसकी सहायता के लिए रणक्षेत्र में उपस्थित हो गए। पर वे सुबुक्तगीन को परास्त नहीं कर सके और पेशावर तक के प्रदेश पर तुर्कों का अधिकार हो गया। प्राचीन समय में यही प्रदेश गान्धार कहाता था और यह भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

सुबुक्तगीन के पश्चात् उसका पुत्र महमूद गजनी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह अत्यन्त प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी राजा था। गजनी के साम्राज्य का विस्तार करने के लिए उसने भारत में दूर-दूर तक आक्रमण किए। उस समय भारत में राजनीतिक एकता का अभाव था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सदृश कोई ऐसा सम्राट् न था, जिसका एक-च्छत्र शासन सम्पूर्ण भारत या देश के बड़े भाग पर विद्यमान हो। इस दशा में महमूद को अपने आक्रमणों में अच्छी सफलता प्राप्त हुई, और वह विजय-यात्राएँ करता हुआ स्थाण्वीश्वर (थानेसर), कन्नौज, ग्वालियर और सोमनाथ तक चला आया। पर इन विजयों के परिणामस्वरूप वह भारत पर अपना प्रभुत्व या शासन स्थापित नहीं कर सका। जहाँ तक भारत को अपनी अधीनता में ले आने का प्रश्न है, महमूद के निरन्तर आक्रमण केवल उत्तर-पश्चिमी भारत के हिन्दूसाही राज्य को ही स्थायी रूप से गजनी के साम्राज्य के अन्तर्गत कर सके। भारत के अन्य सब राज्य इन आक्रमणों के बाद भी

अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहे। इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूसाही राज्य को अधिगत करने में तुर्क राजाओं को पच्चीस साल से भी अधिक समय लगा था। सुबुक्तगीन के समय में ही तुर्कों ने इस राज्य पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए थे और महमूद वर्षों के निरन्तर संघर्ष के पश्चात् इसे अपने अधीन करने में समर्थ हुआ था। जिन मुसलमानों ने आधी सदी के लगभग समय में पश्चिम में स्पेन से लगाकर पूर्व में ईरान तक के सब देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, भारत के सीमान्तवर्ती इस राज्य को जीतने में उन्हें चौथाई सदी लग गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दूसाही राज्य के राजा वीर और योग्य थे। अलबरूनी ने उनकी न्यायप्रियता और महत्ता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सन् १०३० ईस्वी में महमूद की मृत्यु हुई और उसका पुत्र मसूद गजनी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। महमूद का अनुसरण कर उसने भी भारत पर आक्रमण जारी रखे और विजय यात्रा करता हुआ एक बार वह वाराणसी तक भी चला आया। पर पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी भारत से पूर्व के प्रदेशों पर वह अपना शासन स्थापित नहीं कर सका। पंजाब पर से भी तुर्कों के शासन का अन्त करने के लिए भारत के राज्यों ने अपने को संगठित किया और परस्पर मिलकर तुर्क राज्य पर आक्रमण किया। परिणाम यह हुआ कि लाहौर से पूर्व के सब प्रदेश तुर्कों के आधिपत्य से मुक्त हो गए। मसूद के उत्तराधिकारी भी भारत में अपनी सत्ता के विस्तार के लिए प्रयत्न करते रहे, पर उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। गजनी के शक्तिशाली तुर्क सुलतान भारत के एक छोटे-से भाग पर ही अपना शासन स्थापित कर सकने में समर्थ हुए।

इतिहास की अनेक पुस्तकों में भारत में मुसलिम शासन के काल का प्रारम्भ महमूद गजनवी के आक्रमणों के साथ कर दिया गया है। कुछ ऐतिहासिकों ने तो अरबों की सिन्ध विजय से भारतीय इतिहास के मुसलिम काल का प्रतिपादन करने में भी संकोच नहीं किया। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि न अरब आक्रान्ता भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके थे और न गजनी के तुर्क सुलतान। भारत के बहुत छोटे-से कोने को ही वे अपनी अधीनता में ला सके थे। इसमें सन्देह नहीं कि महमूद गजनवी ने भारत में दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ की थीं और सोमनाथ आदि के प्रसिद्ध व वैभवपूर्ण मन्दिरों से और कन्नौज सदृश समृद्ध नगरियों से अपार धन-सम्पत्ति लूट कर वह अपनी राजधानी गजनी को ले गया था। पर उसकी ये विजय-यात्राएँ आर्यों की राजशक्ति को नष्ट नहीं कर सकीं और वह भारत को अपनी अधीनता में ले आ सकने में असमर्थ रहा। विदेशी तुर्कों का सामना करने के लिए भारत के विविध राजाओं को परस्पर मिलकर संघर्ष करना चाहिए, यह विचार भी उस समय विद्यमान था। हिन्दूसाही या ब्राह्मणसाही राजाओं की सहायता के लिए गुर्जर-प्रतिहार, चन्देल आदि राजवंशों के राजा अपनी सेनाओं को साथ लेकर कितनी ही बार पंजाब गए और उन्होंने तुर्क सुलतानों की गति अवरुद्ध करने में सफलता भी प्राप्त की। यह समझना कि उस समय भारत के विविध राजाओं में परस्पर सहयोग से काम करने और विदेशी शत्रु का मिलकर मुकाबिला करने की भावना का सर्वथा अभाव था, किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है। सामान्यतया यह समझा जाता है कि जब महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया, तो उस प्रदेश की राजशक्ति ने उसका प्रतिरोध करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि सोमनाथ के पुजारियों को यह विश्वास था कि भगवान् शिव अपने रुद्र रूप में प्रकट होकर स्वयं

म्लेच्छों का संहार कर देंगे। तथ्य यह है कि न केवल राजशक्ति द्वारा ही तुर्क आक्रान्ताओं का सामना किया गया, अपितु सोमनाथ के हजारों भक्त भी तुर्कों का सामना करने के लिए मन्दिर के द्वार पर सन्नद्ध हो गए और जब तक भगवान् शिव का एक भक्त भी जीवित रहा, तुर्क सैनिक मन्दिर के प्रांगण में प्रवेश नहीं कर सके। वस्तुत:, दसवीं सदी में भी भारत के आर्यों में इतनी शक्ति विद्यमान थी कि वे विदेशी व विधर्मी आक्रान्ताओं का परस्पर मिलकर सामना करते थे और इस पवित्र आर्यभूमि में उनके पैर नहीं जमने देते थे। आर्यों के धर्म में भी अभी पर्याप्त बल था। इसी कारण महमूद गजनवी भी इस देश की आर्य संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। उसके कुछ सिक्के ऐसे उपलब्ध हुए हैं, जिन पर संस्कृत में यह लेख उत्कीर्ण है—"अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन संवत् ...।" इसका अर्थ है—अव्यक्त एक है, जिसका अवतार मुहम्मद है, राजा महमूद का यह टंक महमूदपुर की टकसाल में पीटकर बनाया गया, हजरत के हिजरी संवत् ..." ये सिक्के यह सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं कि महमूद गजनवी भी भारत की आर्य संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा था।

तुर्कों के आक्रमण के दो सदी बाद तक भी प्राय: सम्पूर्ण भारत में राजपूत राजवंशों के स्वतन्त्र राज्य कायम रहे। उत्तरी भारत में कन्नौज में गुर्जर-प्रतिहार और गाहड्वाल वंश, अजमेर तथा दिल्ली में चाहमान या चौहान वंश, जेजाकभुक्ति में चन्देल वंश, मालवा में परमार वंश, त्रिपुरी में कलचूरी वंश, गुजरात में चौलुक्य वंश, काश्मीर में लोहर वंश और बंगाल में सेन वंश के पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों की सत्ता रही। दक्षिण भारत में कल्याणी और वेङ्गि के चालुक्यों, देवगिरि के यादवों और द्वारसमुद्र के होयसलों के और सुदूर दक्षिण में पल्लवों और चोलों के स्वतन्त्र राज्य कायम रहे। इन विविध राजवंशों के कितने ही राजा अत्यन्त प्रतापी और शक्तिशाली थे, और राजशक्ति की दृष्टि से वे तुर्क सुलतानों से किसी भी प्रकार कम नहीं थे।

बारहवीं सदी के अन्त (११९१ ईस्वी) में एक बार फिर उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की ओर से भारत पर आक्रमण प्रारम्भ हुए। ये आक्रमण अफगानों के थे। अन्य साम्राज्यों के समान गजनी के तुर्क साम्राज्य की शक्ति में भी कालान्तर में क्षीणता आ गई थी और तुर्क सुलतानों के अधीन सामन्त राजाओं ने स्वतन्त्र हो जाने के लिए प्रयत्न शुरू कर दिया था। गजनी के उत्तर में एक छोटा-सा राज्य था, जिसे 'गोर' कहते थे। गोर का शासन अफगान सरदारों के हाथ में था, जो पहले गजनी की अधीनता स्वीकार करते थे। अफगान लोग प्राचीन काल में आर्य धर्म के अनुयायी थे, और बाद में उन्होंने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। अरबों के सम्पर्क व प्रभाव के कारण इस समय वे इस्लाम के अनुयायी बन चुके के। तुर्क सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठाकर गोर के सरदार (सामन्त शासक) अलाउद्दीन ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया, और अवसर पाकर गजनी को भी जीत लिया। गजनी का शासन करने के लिए उसने अपने भाई शहाबुद्दीन गोरी को नियत किया। शहाबुद्दीन बहुत प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। केवल गजनी के शासन से ही सन्तुष्ट न रहकर उसने पहले उत्तर-पश्चिमी भारत से तुर्कों के शासन का अन्त किया, और फिर पंजाब से भी आगे बढ़कर दिल्ली के चौहान तथा कन्नौज के गाहड्वाल राजाओं के साथ युद्ध किये। कुछ ही समय में वह दिल्ली और कन्नौज पर अपना आधिपत्य स्थापित

करने में समर्थ हो गया। यह पहला अवसर था, जब कि इस्लाम के अनुयायी विदेशी आक्रान्ता ठेठ उत्तरी भारत के एक अच्छे बड़े भाग को अपने आधिपत्य में ले आने में सफल हुए थे। भारत के अपने 'विजित' प्रदेश का शासन करने के लिए शहाबुद्दीन गोरी ने अपने अन्यतम सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को नियत किया, जो जाति से तुर्क था। अपने स्वामी की मृत्यु के पश्चात् ऐबक स्वतन्त्र रूप से दिल्ली को राजधानी बनाकर भारत के उस प्रदेश का शासन करने लगा, जो इस समय तक तुर्क-अफगान प्रभुत्व में आ चुका था। तीन सदी से भी अधिक समय (१५२५ ई०) तक भारत में तुर्क-अफगानों का शासन रहा। यहाँ यह सम्भव नहीं है कि इनके विविध सुलतानों के शासन व कर्तृत्व का संक्षेप के साथ भी उल्लेख किया जा सके। उत्तरी भारत के सभी प्रदेश कुतुबुद्दीन ऐबक के समय तक ही तुर्क-अफगानों के प्रभुत्व में आ चुके थे। उसके उत्तराधिकारियों में अलाउद्दीन ने दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण में दूर-दूर तक विजय यात्राएँ कीं। पर वह स्थायी रूप से दक्षिणी भारत को अपने शासन में नहीं ला सका। राजस्थान के विविध राजपूत राज्यों को भी अपने प्रभुत्व में ले आ सकने में वह असमर्थ रहा, और मेवाड़ सदृश राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। जिन प्रदेशों व राजवंशों को अपनी अधीनता में ले आने में अलाउद्दीन समर्थ भी हुआ था, उसकी मृत्यु के पश्चात् (१३२६ ई०) वे भी सब प्रायः स्वतन्त्र हो गए और अनेक प्रान्तीय अफगान शासकों ने भी दिल्ली की सल्तनत के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ कर दिए। सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में जब मुगल आक्रान्ता बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, तो उत्तरी भारत की प्रधान राजशक्ति दिल्ली के सुलतान न होकर मेवाड़ के राणा थे, जिनका शासन न केवल राजस्थान में अपितु समीप के अन्य अनेक प्रदेशों में भी विस्तृत था। दक्षिणी भारत में विजयनगर साम्राज्य के रूप में एक प्रबल हिन्दू राजशक्ति स्थापित हो गई थी (१३३८ ई०), जिसके कारण अफगानों के लिए दक्षिण दिशा में अपना विस्तार कर सकना सम्भव नहीं रहा था। इस युग के राजनीतिक इतिहास में यह बात बड़े महत्त्व की है कि मुहम्मद तुगलक के शासन काल (१३२८-१३५१) में हिन्दुओं या आर्यों की राजशक्ति बड़े प्रबल रूप से पुनःस्थापित हो गई थी। बाद के अफगान सुलतान हिन्दू राजाओं को अपना वशवर्ती बनाने में सर्वथा असमर्थ रहे थे। जिन प्रदेशों में हिन्दू राजवंशों का शासन कायम नहीं हुआ, उनमें भी बहुत-से चौदहवीं सदी के द्वितीय चरण में दिल्ली की अधीनता में नहीं रहे। बंगाल, जौनपुर, गुजरात और मालवा में इस समय नये मुसलिम राजवंशों के शासन स्थापित हुए, जिनके सुलतान दिल्ली के प्रभुत्व से पूर्णतया मुक्त थे। पर यह स्वीकार करना होगा, कि भारतीय इतिहास के तुर्क-अफगान युग (१२०६ से १५२५ ईस्वी तक) में आर्यों की राजशक्ति में बहुत क्षीणता आ गई थी, और उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग पर ऐसे सुलतानों के शासन स्थापित हो गए थे जो आर्यों से भिन्न थे और जिनकी आर्य धर्म व संस्कृति में आस्था नहीं थी।

विदेशी व विधर्मी लोगों का आक्रमण भारत के लिए कोई नयी बात नहीं थी। अरबों और तुर्कों से पहले भी अनेक विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपने राज्य स्थापित किए थे। पर यवन, शक, कुषाण, हूण आदि भारत में आकर पूर्णतया भारतीय बन गए थे और उन्होंने इस देश के धर्मों तथा संस्कृति को अपना लिया था। बहुत पुराने समय से भारत में 'व्रात्यस्तोम' यज्ञ की परिपाटी थी, जिससे कि आर्य लोग अपने से भिन्न व विधर्मी जातियों को अपने समाज का अंग बना लिया करते थे। प्राचीन

काल में भगवान् विष्णु की पावनी शक्ति का उपयोग करके भी इस देश के आर्यों ने विविध 'पाप' या 'पापयोनि' जातियों को आत्मसात् कर लिया था। यह पहला अवसर था, जब कि आर्य लोग अरबों और तुर्क-अफगानों के रूप में भारत में प्रविष्ट होने वाले 'व्रात्यों' या 'पापयोनि' लोगों को अपना अंग बना सकने में असमर्थ रहे। इसका कारण यह था कि इस्लाम में अपूर्व जीवनी शक्ति थी, उसमें अदम्य उत्साह था, और उसके अनुयायियों की यह महत्त्वाकांक्षा थी कि विश्व के सम्पूर्ण निवासियों को अपने धर्म में दीक्षित कर लें। इसके विपरीत मध्य युग में आर्यों की शक्ति, धर्म एवं संस्कृति में क्षीणता आने लग गई थी, और उनके धर्म तथा समाज-संगठन में विकृति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। पर साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अरबों और तुर्क-अफगानों को भी धार्मिक व सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में वह सफलता नहीं हुई, जो अन्य देशों में हुई थी। अरब साम्राज्य के उत्कर्ष काल में जहाँ कहीं भी मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हुआ, वहाँ की जनता ने पूर्ण रूप से अरब के धर्म को अपना लिया। प्राचीन ईजिप्ट और प्राचीन पर्शिया की समुन्नत सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ इस्लाम के सामने नहीं टिक सकीं। मध्य एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया और अन्यत्र जहाँ कहीं भी इस्लाम के अनुयायियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया, वहाँ के प्रायः सभी निवासियों को उन्होंने अपने धर्म का अनुयायी बना लिया। इस्लाम की दृष्टि में सब मनुष्य एक बराबर थे, बशर्ते कि वे मुसलमान बन जाएँ। इस्लाम को अपना लेने के बाद ऊँच-नीच, छूत-अछूत और स्वामी-दास के सब भेदों का अन्त हो जाता था। भारत के जाति-भेद-प्रधान हिन्दू धर्म की तुलना में इस्लाम की यह विशेषता बड़े महत्त्व की थी। इस देश के शूद्रों और नीच समझे जाने वाले अन्य लोगों के लिए अपनी स्थिति को ऊँचा बनाने का यह सुवर्णीय अवसर था। हिन्दू धर्म का परित्याग कर इस्लाम को स्वीकार कर लेने मात्र से वे शूद्र या अछूत की हीन स्थिति से ऊँचे उठकर मुसलमानों के समान स्थिति प्राप्त कर सकते थे। इस कारण मुसलमानों को भारत में अपने धर्म के प्रसार का अच्छा अवसर प्राप्त था। ईजिप्ट, पर्शिया, पूर्वी रोमन साम्राज्य आदि में इसी कारण इस्लाम को अनुपम सफलता मिली थी। पर फिर भी अरब और तुर्क-अफगान आक्रान्ता भारत में अपने धर्म का प्रसार करने में जो अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सके, उसका कुछ श्रेय इस तथ्य को भी देना चाहिए कि मध्य युग में भी आर्यों के धर्म व संस्कृति में पर्याप्त शक्ति विद्यमान थी। सम्भवतः, वे यवनों, शकों और हूणों के समान अरबों और तुर्क-अफगानों को भी आत्मसात् करने में सफलता प्राप्त कर लेते, क्योंकि आर्यों के धर्म में सामञ्जस्य और समन्वय की प्रवृत्ति का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। उनके लिए यह असम्भव नहीं था कि वे 'अल्लाह' को भी शिव या विष्णु का ही रूप मान लेते और रसूल मुहम्मद को बुद्ध के समान एक अवतार। 'अल्लोपनिषद्' की रचना इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। पर इस्लाम का अल्लाह 'लाशरीक' था, और मुसलमान लोग 'शिरकत' को बहुत बड़ा कुफ्र समझते थे। इस दशा में यह कैसे सम्भव था कि मानव मात्र को अपने दायरे में ले आने के लिए उत्सुक मुसलमान आर्य धर्म में अपने को विलीन होने दे सकते। जहाँ एक ओर इस्लाम में अपूर्व जीवनी शक्ति थी, वहाँ दूसरी ओर पौराणिक आर्य धर्म में निर्बलता आ गई थी। वाममार्ग सदृश सम्प्रदायों के विकास के कारण आर्य धर्म का स्वरूप ऐसा हो गया था कि उसमें लोकहित और मानव कल्याण की भावना का अन्त होकर गुह्य सिद्धियों की उत्कण्ठा प्रबल हो गई

थी। धर्म का कुछ सामाजिक व सामूहिक प्रयोजन भी है, यह विचार इस युग के आर्य धर्म में न के बराबर रह गया था। जाति-भेद के विकास के कारण भारत का जन समाज बहुत से छोटे-छोटे वर्गों में विभक्त हो गया था। जब इस देश के उच्च वर्गों के लोग अपने धर्म के अनुयायी निम्न वर्गों के व्यक्तियों से ही पृथक्त्व अनुभव करते हों, तो उनसे यह आशा कैसे की जा सकती थी कि वे मुसलमानों को आत्मसात् कर सकें। धर्म के 'लोक-हितकारी' क्रियात्मक रूप को आंखों से ओझल कर पौराणिक आर्य धर्म के नेता व आचार्य इस समय या तो गुह्य साधनाओं में तत्पर थे, और या यथार्थ ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करने अथवा भक्ति द्वारा भगवान् को रिझाने में लगे थे। कुछ धार्मिक नेताओं ने इस काल में शुद्धि द्वारा तुर्कों को आत्मसात् करने का प्रयत्न किया भी, और महमूद गजनवी के सिन्ध के मरुस्थल में भटक गए तुर्क सैनिकों को उन्होंने हिन्दू बना भी लिया, पर इसके पीछे वह प्रेरणा नहीं थी जिससे विदेशी व विधर्मी लोगों को अपना अभिन्न अंग बनाया जा सकता है।

पर इस इतिहास के लिए अधिक महत्त्व की बात इस प्रश्न पर विचार करना है, कि वे कौन से कारण थे, जिनसे अरब और तुर्क-अफगान आक्रान्ता भारत की हिन्दू या आर्य जनता को इस्लाम का अनुयायी बना सकने में असमर्थ रहे। इस्लाम को सर्वभक्षी धर्म कहा जा सकता है। पूर्वी रोमन साम्राज्य (राजधानी-कोन्स्टेन्टिनोपल), ईजिप्ट, पर्शिया, मध्य एशिया आदि जहाँ कहीं भी मुस्लिम सेनाओं द्वारा विजय की गई, जहाँ कहीं भी अरबों, तुर्कों, अफगानों व अन्य मुस्लिम शासकों का आधिपत्य स्थापित हुआ, वहाँ के सब निवासियों को कुछ ही समय में मुसलमान बना लिया गया। पर भारत ही एक ऐसा देश है, जिसके अच्छे बड़े भाग पर तीन सदी से भी अधिक समय तक तुर्क-अफगानों का शासन रहने पर भी वहाँ के लोग अपने पुराने आर्य धर्म पर दृढ़ रहे और बहुत कम लोगों ने इस्लाम को अपनाया। इसके तीन प्रधान कारण थे—(१) तुर्क-अफगानों की सैन्य शक्ति के मुकाबिले में आर्य राजपूत राजाओं की शक्ति नगण्य नहीं थी। दो सदी के लगभग समय तक निरन्तर आक्रमण करते रहने पर भी अरब सेनाएँ भारत के राजपूत राज्यों को पराभूत नहीं कर सकी थीं और तुर्क-अफगान सुलतान जहाँ दक्षिणी भारत को अपने आधिपत्य में ले आ सकने में असमर्थ रहे थे, वहाँ साथ ही राजस्थान के विविध राज्यों को भी वे अपना वशवर्ती नहीं बना सके थे। उत्तरी भारत के जिन प्रदेशों पर उनका शासन था, वहाँ भी पुराने राजकीय एवं सैनिक तत्त्वों द्वारा उनके विरुद्ध निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। (२) सत्य सनातन आर्य धर्म में अनेक विकृतियां उत्पन्न हो जाने पर भी उसके अनुयायियों में अपने धर्म के प्रति अगाध आस्था थी। इसी का यह परिणाम था कि मुसलिम शासकों के उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने के प्रयत्न सफल नहीं हो पाते थे। इब्नबतूता ने लिखा है कि जब कोई हिन्दू इस्लाम को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाता था, तो उसे सुलतान के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। सुलतान उसे उत्तम वस्त्र और सुवर्ण के आभूषण प्रदान करता था, और ऐहलौकिक सुख तथा उत्कर्ष का मार्ग उसके लिए खुल जाता था। पर इस प्रकार के प्रलोभन उस युग के हिन्दुओं को अपने धर्म से विचलित करने में असमर्थ रहे। साथ ही, तुर्क-अफगान सुलतानों द्वारा हिन्दुओं पर अनेकविध अत्याचार भी किए गए। अल्लाउद्दीन खिलजी ने यह व्यवस्था की थी कि हिन्दुओं से उपज का आधा भाग कर के रूप में लिया जाए, उनके चरागाहों

और मकानों पर भी टैक्स लगाया जाए और हिन्दू जमींदारों को करों से इतना अधिक लाद दिया जाए कि आर्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति अत्यन्त हीन हो जाए। बरानी ने हिन्दुओं की इस दुर्दशा से संतोष अनुभव करते हुए लिखा है कि वे सिर उठाकर नहीं चल सकते और उनके घरों में सोना-चाँदी व सिक्के का नाम भी शेष नहीं बचा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सुलतानों के न प्रलोभन इस युग के हिन्दुओं को इस्लाम को अपनाने के लिए प्रेरित कर सके और न अत्याचार। अपने सनातन आर्य धर्म के प्रति सुदृढ़ आस्था ने ही उन्हें अपने धर्म पर स्थिर रखा। हिन्दुओं की यह धार्मिक आस्था आर्य धर्म की उस आन्तरिक शक्ति की परिचायक है, ईजिप्ट, पर्शिया आदि के प्राचीन धर्मों में जिसका अभाव था। (३) तुर्क-अफगान युग में भारत में अनेक ऐसे सन्त, महात्मा और धर्माचार्य हुए, जिन्होंने कि प्राचीन आर्य धर्म में नई जागृति उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनके प्रयत्न से हिन्दुओं में नवजीवन का संचार हुआ और वे अपने धर्म में सुदृढ़ रह सके। इस विषय पर हम अगले प्रकरण में अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

(४) हिन्दू (आर्य) धर्म में नई जागृति

तुर्क-अफगानों के आक्रमणों से उत्पन्न परिस्थिति से सनातन हिन्दू (आर्य) धर्म में नवजीवन का संचार हुआ। विदेशी व विधर्मी जातियों से युद्ध में परास्त हो जाना भारत के लिए एक असाधारण व अप्रत्याशित बात थी। मुस्लिम आक्रमण से पूर्व भी भारत पर विदेशी लोगों के आक्रमण हुए थे। पर या तो आक्रान्ता इस देश में स्थायी रूप से अपना शासन स्थापित कर सकने में असमर्थ रहे थे और या यहाँ बस कर वे आर्य सभ्यता और संस्कृति के रंग में रंग गये थे। दारयवहु और सिकन्दर के आक्रमण विजय-यात्रा मात्र थे। भारत पर अपना स्थायी प्रभुत्व वे स्थापित नहीं कर सके थे। यवन, शक, पार्थिव, कुशाण और हूण आक्रान्ता भारत के एक भाग में अपना शासन कायम करने में अवश्य सफल हुए थे, पर भारतीयों के सम्पर्क में आकर वे भारतीय बन गए थे। उन्होंने इस देश के धर्म, भाषा, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया था। पर तुर्कों और अफगानों के रूप में जिन नवीन हूणों ने भारत में अपने राज्य स्थापित किए थे, वे एक ऐसे धर्म के अनुयायी थे जिसमें अनुपम शक्ति थी और जो सम्पूर्ण मानव समाज को आत्मसात् कर लेने की महत्वाकांक्षा लिए हुए था। मनुष्यमात्र की समता और ईश्वर एवं रसूल पर दृढ़ विश्वास ऐसे तत्त्व थे, जिनसे इस नये धर्म ने अपूर्व बल प्राप्त किया हुआ था। इन्हीं के कारण ईजिप्ट, सीरिया, पर्शिया आदि के पुराने धर्म इस्लाम के सम्मुख नहीं टिक सके। मुसलमान कहते थे, जो कोई मनुष्य अल्लाह और रसूल पर ईमान ले आएगा, वह नीच या अस्पृश्य नहीं रहेगा। मुसलिम समाज में सबकी स्थिति एक समान रहेगी। अल्लाह और रसूल पर विश्वास केवल इस लोक में ही मनुष्य को सुख प्रदान नहीं करेगा, पर बहिश्त का द्वार भी उसके लिए खुल जाएगा। इहलोक में अभ्युदय और मृत्यु के बाद निःश्रेयस की प्राप्ति का इससे सुगम उपाय अन्य क्या हो सकता था? भारत में इस्लाम का प्रवेश होने पर देश के धार्मिक आचार्यों के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ। क्या वाममार्ग और शाक्त सम्प्रदायों की गुह्य साधनाओं, मीमांसकों के कर्मकाण्ड और अद्वैतवाद के ज्ञानमार्ग की तुलना में इस्लाम का यह मार्ग (अल्लाह और

रसूल में विश्वास) अधिक क्रियात्मक नहीं है ? यह तो स्पष्ट ही था कि इस्लाम को अपना कर मनुष्य इहलोक में अपना अभ्युदय कर सकता था। उसे जजिया कर देने की आवश्यकता नहीं रहती थी, और राजकीय सेवा का मार्ग भी उसके लिए खुल जाता था। केवल धर्म परिवर्तन करके कोई हिन्दू भारत के नये शासक वर्ग का अंग बन सकता था। यदि वह किसी अछूत या नीच समझी जाने वाली जाति का हो, तो इस्लाम की दीक्षा लेकर वह 'पाक' हो जाता था। और मृत्यु के पश्चात् ? अल्लाह और रसूल में ईमान लाकर मनुष्य बहिश्त को प्राप्त कर लेता है। सर्वसाधारण लोगों की दृष्टि में निःश्रेयस, स्वर्ग या बहिश्त का यह उपाय वाममार्गियों की गुह्य साधनाओं और वेदान्तियों के तत्त्वज्ञान की अपेक्षा कितना सरल था। यदि इस युग के आर्य धर्म में जीवनी शक्ति, कल्पना एवं चिन्तन का सर्वथा अभाव होता, तो इस्लाम के सम्पर्क के कारण उसकी भी वही गति होती, जो पर्शिया, ईजिप्ट आदि के पुराने धर्मों की हुई थी। बिजली की लहर निर्बल प्राणियों के जीवन का अन्त कर देती है, पर उन मनुष्यों में वह जीवन का संचार कर देती है, जिनमें अभी शक्ति का बहुत अधिक क्षय न हुआ हो। इस्लाम के सम्पर्क से हिन्दू (आर्य) धर्म में नवजीवन का संचार हुआ, क्योंकि उसकी आन्तरिक क्षमता और शक्ति का सर्वथा ह्रास नहीं हो गया था। इसी का यह परिणाम हुआ कि विविध हिन्दू सम्प्रदायों के आचार्य अपने धर्म को एक ऐसा रूप प्रदान करने के लिए तत्पर हो गए, जिस द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनने से रोक सकना सम्भव था। इसी कारण इस युग में अनेक ऐसे हिन्दू सन्त-महात्मा हुए, जिन्होंने जाति-भेद का विरोध करते हुए यह प्रतिपादित किया कि भगवान् की दृष्टि में न कोई मनुष्य नीच है और न कोई उच्च। अपने गुण, कर्म, सदाचार व भक्ति द्वारा भी कोई मनुष्य ऊँचा पद प्राप्त कर सकता है। साथ ही, इन सन्त-महात्माओं ने यह भी प्रतिपादित किया कि ईश्वर पतितपावन है, भक्ति द्वारा वह प्रसन्न होता है, भक्तों का उद्धार करने के लिए उनकी सहायता करता है और उस तक पहुँचने के लिए गुरु की अत्यधिक आवश्यकता होती है। इस्लाम के समान इस युग के भारतीय धार्मिक आन्दोलन भी ईश्वर पर दृढ़ विश्वास, उसकी भक्ति और गुरु (रसूल) के महत्त्व पर बल देने लगे और उन्होंने भगवान् के एक ऐसे रूप को जनता के सम्मुख उपस्थित किया जो दुष्टों का दलन करने और साधु लोगों का परित्राण करने के लिए मानव तन धारण करने में भी संकोच नहीं करता। इन्हीं आन्दोलनों के परिणाम-स्वरूप हिन्दू (आर्य) धर्म इस्लाम के आक्रमण से अपनी रक्षा करने में समर्थ हुआ और उसमें ऐसी जागृति, स्फूर्ति और शक्ति प्रादुर्भूत हो गई, जिससे कि इस्लाम भी अनेक अंशों में उसके प्रभाव में आ गया।

मध्य युग में हिन्दू धर्म में सुधार व जागृति उत्पन्न करने के लिए जिन सन्त-महात्माओं ने नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ किया, भारत के इतिहास में उनका बहुत महत्त्व है। पर इस ग्रन्थ में उनका अत्यन्त संक्षेप के साथ निर्देश ही किया जा सकता है। ऐसे एक आचार्य स्वामी रामानन्द थे, जिनका काल पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में था। वे सुलतान सिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७) के समकालीन थे और वैष्णव भक्ति आन्दोलन के प्रसिद्ध आचार्य रामानुज स्वामी की शिष्य-परम्परा में हुए थे। रामानन्द से पूर्व रामानुज सम्प्रदाय में केवल द्विजातियों को ही दीक्षा दी जाती थी, पर रामानन्द ने रामभक्ति का द्वार सब जातियों के लिए खोल दिया। उनके प्रधान शिष्य निम्नलिखित

थे—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसरानन्द, नरहर्यानन्द, भवानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धन्ना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इन बारह शिष्यों में कबीर जाति के जुलाहे थे और सेन नाई। रैदास जाति के चमार थे। नीची समझी जाने वाली जातियों के लोगों को अपनी शिष्य मण्डली में सम्मिलित करना वैष्णव आचार्यों के लिए एक नई बात थी। इस्लाम के कारण हिन्दू धर्म को जो एक जबर्दस्त धक्का लगा था और उसके आचार्य अपने मन्तव्यों व आचरणों के दोषों और कमियों को जो अनुभव करने लगे थे, उसी का यह परिणाम था। अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए रामानन्द ने बौद्धों के भिक्षुसंघ के समान साधुओं के एक नये दल का संगठन किया, जो वैरागी कहाते हैं। वैरागी साधुओं का सम्प्रदाय अब तक भी विद्यमान है।

स्वामी रामानन्द के समय में ही बंगाल में एक अन्य वैष्णव सन्त हुए, जिनका नाम चैतन्य था। वे नदिया के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे और हरि या विष्णु के कृष्णावतार के उपासक थे। उनके मत में कृष्ण भक्ति ही मोक्ष का एकमात्र साधन थी। उनके अनुसार कृष्ण के प्रति प्रेम ही मानव जीवन की परम साधना है। कृष्ण की भक्ति में वे ऊँच-नीच के भेदभाव को कोई स्थान नहीं देते थे। उनका एक शिष्य हरिदास अछूत जाति का था। हरिदास ने एक बार चैतन्य से कहा कि वे उसे स्पर्श न करें, क्योंकि वह अछूत है। इस पर चैतन्य आवेश में आ गए। प्रेम के आवेश में आकर उन्होंने उसे छाती से लगा लिया और कहा—तुम्हारा यह शरीर मेरा अपना है, इसमें एक ऐसी आत्मा का निवास है जो प्रेम और समर्पण की भावना से परिपूर्ण है। तुम्हारा यह शरीर एक मन्दिर के समान पवित्र है। ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान सब चैतन्य के उपदेशों को भक्ति से सुनते थे और उनके अनुकरण में सब भेदभाव भूल जाते थे।

रामानन्द के शिष्यों में कबीर प्रधान थे। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई को पाटने तथा इन दोनों धर्मों में समन्वय व सहयोग की भावना को विकसित करने का प्रयत्न किया। हिन्दू और मुसलिम धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों और आडम्बरों की उपेक्षा कर उन्होंने दोनों की आन्तरिक एकता का प्रतिपादन किया। समाज में ऊँच-नीच के भेदभाव को दूर करने के सम्बन्ध में भी उन्होंने उपयोगी कार्य किया। उनकी शिष्य मण्डली में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। स्वामी रामानन्द के एक अन्य शिष्य रैदास थे, जो जाति के चमार थे। इन्हीं द्वारा उस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे "रैदासी" कहते हैं। यद्यपि ये एक अछूत समझी जाने वाली जाति में उत्पन्न हुए थे, पर इनकी भक्ति भावना से आकृष्ट होकर बहुत-से ब्राह्मण और अन्य द्विज भी इन्हें दण्डवत् किया करते थे।

जिस समय वर्तमान काल के उत्तर प्रदेश में स्वामी रामानन्द हिन्दू धर्म में नये जीवन का संचार करने में व्यापृत थे, प्रायः उसी समय पंजाब में एक अन्य महान् सन्त सुधार का कार्य कर रहे थे, जिनका नाम गुरु नानक था। उनका जन्म १४६९ ईस्वी में हुआ था। गृहस्थ होते हुए भी उनका ध्यान भगवान् की ओर आकृष्ट हुआ और सांसारिक सुखों को लात मारकर वे भगवान् के साक्षात्कार तथा लोकोपकार के लिए प्रवृत्त हुए। इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण भारत की यात्रा की और मक्का आदि अनेक विदेशी स्थानों पर भी गए। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं था। वे न हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई भेद करते थे और न ऊँची तथा नीची जातियों

में। उनके सम्मुख सब मनुष्य एक समान थे और भगवान् की भक्ति तथा सदाचरण द्वारा ही इहलोक तथा परलोक में सुख प्राप्त किया जा सकता था। नानक द्वारा जो पन्थ या मार्ग प्रदर्शित किया गया, वही आगे चलकर 'सिक्ख' कहाया। पंजाब तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों के निवासियों में इस धर्म का बहुत प्रचार हुआ और इसी के कारण वे अपने सनातन धर्म पर दृढ़ रह सके। तुर्क-अफगानों के आक्रमणों का सबसे अधिक प्रभाव पंजाब पर ही पड़ा था। यह स्वाभाविक था कि वहाँ के लोगों में इस्लाम का प्रचार सबसे अधिक होता। पर पर्शिया व मध्य एशिया के समान पंजाब जो एक मुस्लिम देश बनने से बचा रहा, उसका मुख्य श्रेय गुरु नानक तथा उनकी शिष्य परम्परा को ही दिया जाना चाहिए। इस युग में अन्य भी अनेक ऐसे सन्त महात्मा हुए जिन्होंने जात-पाँत व ऊँच-नीच के भेद-भाव की उपेक्षा कर सब मनुष्यों को एकता और भक्ति मार्ग का उपदेश दिया। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव के शिष्य चोखमेला जाति के महार थे। महार भी एक अछूत जाति है। जब सन्त चोखमेला पंढरपुर के प्रसिद्ध मन्दिर का दर्शन करने के लिए गए, तो वहाँ के ब्राह्मण पुरोहितों ने उन्हें मन्दिर में प्रविष्ट होने से रोका। इस पर उन्होंने कहा—ईश्वर अपने बच्चों से प्रेम और भक्ति चाहता है, वह उनकी जाति नहीं देखता। यह हिन्दू धर्म का दुर्भाग्य था कि जात-पाँत की उपेक्षा करने की जो प्रवृत्ति इस युग से प्रारम्भ हुई थी, वह पूर्णतया सफल नहीं हो सकी। यदि रैदास जैसे उच्च कोटि के सन्त सब हिन्दुओं के लिए समान रूप से पूज्य रहते और उन्हें तथा उनके सहकर्मियों को हिन्दू समाज में उच्च एवं सम्माननीय स्थान प्राप्त हो सकता, तो हिन्दू समाज को निर्बल बनाने वाला एक तत्व समूल नष्ट हो जाता। पर ऐसा नहीं हुआ और सन्त रैदास तथा उनके सजातीय अनुयायियों से एक नए पन्थ का प्रादुर्भाव हो गया, जिसे 'रैदासी' कहते हैं। पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मध्य युग के सन्त-महात्माओं के कारण सनातन हिन्दू (आर्य) धर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो गई थी, जिससे कि इस्लाम भारत के निवासियों को आत्मसात् नहीं कर सका, यद्यपि राजशक्ति सदियों तक तुर्क-अफगानों के हाथों में रही।

(५) भारतीय इतिहास का मुगल युग

सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में मुगल आक्रान्ता बाबर ने भारत पर आक्रमण कर दिल्ली-आगरा के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। शहाबुद्दीन गोरी और बाबर के बीच में सवा तीन सौ वर्षों का अन्तर था। इस सुदीर्घ काल में भारत विदेशी आक्रमणों से प्रायः मुक्त रहा, यद्यपि दिल्ली के तुर्क-अफगान सुलतान दक्षिणी भारत को अपनी अधीनता में ले आने के विफल प्रयत्न करते रहे और तैमूर लंग ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए एक बार (१३९८ ईस्वी) दिल्ली तक भी विजय यात्रा की। बाबर ने तुर्क-अफगानों के शासन का अन्त कर भारत में किस प्रकार मुगलों का आधिपत्य स्थापित किया, इस पर यहाँ प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। १५३० ईस्वी में जब उसकी मृत्यु हुई, तो मुगलों का भारत में प्रभुत्व पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक और उत्तर में हिमालय से लगाकर दक्षिण में मालवा तक विस्तृत हो चुका था। पर भारत में मुगलों की शक्ति का वास्तविक संस्थापक अकबर (१५५६-१६०५) था। बाबर ने जिस साम्राज्य की स्थापना की थी, वह उसके निर्बल उत्तराधिकारी हुमायूँ के समय में नष्टप्राय हो गया था। बंगाल, जौनपुर, मालवा, गुजरात और सिन्ध आदि में विविध अफगान

सुलतान स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगे थे और मेवाड़, जोधपुर, जैसलमेर, जयपुर आदि में राजपूतों ने अपने स्वतन्त्र राज्य फिर से स्थापित कर लिए थे। इतना ही नहीं, दिल्ली और आगरा तक पर अफगानों ने अधिकार कर लिया था। हेमू नामक भार्गव-वंशी हिन्दू के सेनापतित्व में अफगान शक्ति का इस क्षेत्र में भी पुनरुद्धार हुआ और 'विक्रमादित्य' की प्राचीन गौरवशाली उपाधि धारण कर हेमू ने अपने को दिल्ली का सम्राट् घोषित कर दिया। इस स्थिति में भारत में मुगलों की सत्ता स्थापित करने के लिए अकबर ने जो कर्तृत्व प्रदर्शित किया, वह वस्तुतः अद्भुत था। भारत में अकबर को दो राजशक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना था, मुसलिम-अफगान और हिन्दू राजपूत। इन दोनों से एक साथ युद्ध कर सकना सम्भव व क्रियात्मक नहीं था। अफगानों और मुगलों का धर्म एक था, पर धर्म की एकता उनमें मैत्री स्थापित कर सकने में असमर्थ रही। इस दशा में अकबर का ध्यान राजपूतों की ओर गया, जो वीरता, साहस आदि में संसार की किसी भी जाति से कम नहीं थे। अकबर ने भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना करने के लिए राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया, और इसमें वह सफल भी हुआ। इसी प्रयोजन से उसने राजपूतों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए। सबसे पूर्व जयपुर के राजा भारमल ने अपनी कन्या का उसके साथ विवाह करना स्वीकार किया। अकबर ने राजपूतों को अपने साम्राज्य में ऊँचे पद प्रदान किए और उनकी सैन्यशक्ति का उपयोग करके ही वह उत्तरी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुआ। यद्यपि अन्य राजपूत राजाओं ने अकबर के साथ मेल कर लिया था, पर मेवाड़ के राजा उसे अपना अधिपति मानकर उससे मैत्री करने के लिए तैयार नहीं हुए। राणा प्रताप के नेतृत्व में मेवाड़ के राजपूतों ने मुगलों के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा। पर प्रताप के अतिरिक्त अन्य राजपूत राजा अकबर की नीति से सन्तुष्ट थे और उन्होंने स्वेच्छापूर्वक उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। अपने छोटे-छोटे राज्यों के स्वतन्त्र शासक होने की अपेक्षा उन्हें विशाल मुगल साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी, सेनापति तथा सूबेदार आदि होने में अधिक गौरव अनुभव होता था, और वे यह भी भलीभाँति समझते थे कि मुगलों की सत्ता व शक्ति उन्हीं के सहयोग पर निर्भर है।

अकबर ने हिन्दुओं के प्रति उदारता की नीति का अनुसरण किया। तुर्क-अफगान सुलतानों ने हरिद्वार, मथुरा, प्रयाग आदि तीर्थों की यात्रा के लिए आने वाले हिन्दुओं पर जो तीर्थ-कर लगाया हुआ था, अकबर ने उसे हटा दिया। उसने हिन्दुओं से जजिया वसूल करना भी बन्द कर दिया। जहाँ तक शासन का सम्बन्ध था, अब मुसलिम और हिन्दू प्रजा में कोई भेद नहीं रह गया था। तुर्क-अफगान युग में भारत में मुसलिम वर्ग का शासन था। तब हिन्दुओं को शासन में कोई महत्त्व व स्थान प्राप्त नहीं था। पर अकबर ने अपने साम्राज्य में एक ऐसे शासन की नींव डाली जो किसी सम्प्रदायविशेष या किसी विशिष्ट वर्ग का न होकर सब जातियों व सम्प्रदायों का सम्मिलित शासन था। उसने अपने राज्य में ऊँचे-से-ऊँचे पद हिन्दुओं को प्रदान किए। राजा टोडरमल उसका दीवान या अर्थ-सचिव था। राजा भगवानदास और मानसिंह उसके सबसे बड़े सेनापति थे। अफगानिस्तान जैसे मुसलिम-प्रधान प्रदेश का शासक उसने मानसिंह को नियुक्त किया। इसी प्रकार बंगाल आदि अन्य अनेक सूबों के शासक या सूबेदार भी हिन्दू थे। इस सब का परिणाम यह हुआ कि भारत में मुगलों के शासन का स्वरूप 'राष्ट्रीय' हो गया।

अकबर के साम्राज्य को किसी भी अर्थ में इस्लामी या मुसलिम राज्य कहना कदापि समुचित नहीं है।

पन्द्रहवीं सदी में भारत में जो नये धार्मिक आन्दोलन जोर पकड़ रहे थे, उन्होंने हिन्दुओं (आर्यों) में नवजीवन व नई शक्ति का संचार कर दिया था। इस दशा में इस्लाम के अनुयायी मुगल बादशाहों के लिए यह सम्भव नहीं रहा था कि वे उन पर अत्याचार कर सकते या उन्हें हीन समझ कर उनके प्रति ऐसा व्यवहार कर सकते जो पददलित लोगों से किया जाता है। हिन्दुओं के प्रति उदारता की नीति और राजपूतों को शासन तथा सेना में उच्च स्थान देने की बात जहाँ अकबर के दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होने का परिणाम थी, वहाँ साथ ही यह सम्भव भी नहीं था कि उनसे वह व्यवहार किया जा सकता, जो तुर्क-अफगान सुलतानों के शासन में किया जाता था, क्योंकि अब हिन्दुओं में नई शक्ति व स्फूर्ति का संचार हो चुका था। इसी का यह भी परिणाम हुआ कि अकबर ने अपने समय के विख्यात हिन्दू विद्वानों व आचार्यों के सम्पर्क में आने की आवश्यकता अनुभव की और उनके प्रभाव से उसके धार्मिक विचारों में भारी परिवर्तन हुआ। उसने अपनी राजधानी फतहपुरी सीकरी में एक इबादतखाने (पूजागृह) का निर्माण कराया, जिसमें प्रति बृहस्पतिवार को एक सभा हुआ करती थी। इस सभा में हिन्दू, जैन, पारसी, यहूदी, ईसाई, शिया, सुन्नी आदि सम्प्रदायों के विद्वान् धार्मिक विषयों पर विचार-विमर्श किया करते थे। अकबर स्वयं इस सभा में सभापति का आसन ग्रहण करता था। विविध धर्मों के आचार्यों के प्रवचनों व विचार-विमर्श को सुनकर अकबर ने एक ऐसे नए धर्म के विकास का यत्न किया, जिसमें सब धर्मों के अच्छे तत्त्वों का समावेश हो। इस नए धर्म का नाम 'दीने-इलाही' रखा गया। अकबर स्वयं इस धर्म का प्रवर्तक और गुरु बना। उसके बहुत-से दरबारी दीने-इलाही के अनुयायी बन गए, पर इसमें उनका प्रधान हेतु बादशाह को प्रसन्न करना ही था। वे इसके मन्तव्यों से आकृष्ट होकर उसमें सम्मिलित नहीं हुए थे। यही कारण है कि यह धर्म देर तक नहीं चल सका और अकबर के साथ ही इसकी भी समाप्ति हो गई।

भारत के एक अच्छे बड़े भाग में मुसलिम शासन का सूत्रपात हुए अब चार सदी के लगभग समय हो चुका था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस सुदीर्घ काल में भी इस देश में इस्लाम की जड़ें मजबूत नहीं हो पायी थीं। पूर्वी रोमन साम्राज्य, ईजिप्ट, सीरिया ईरान, मध्य एशिया आदि अन्यत्र जहाँ कहीं भी अरबों या अन्य मुसलिम लोगों के शासन स्थापित हुए, वहाँ के प्रायः सभी निवासी बहुत थोड़े समय में ही इस्लाम के अनुयायी हो गए। पर पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल और मध्यप्रदेश में चिरकाल तक मुसलिम सुलतानों व सूबेदारों के शासन होते हुए भी इन प्रदेशों के बहुसंख्यक निवासी अपने सत्य सनातन आर्य धर्म पर दृढ़ रहे। इतना ही नहीं, उन्होंने मुसलिम वर्ग को भी धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र में प्रभावित किया। कितने ही मुसलमान भारत के योगियों, सन्त-महात्माओं और दार्शनिकों के प्रभाव में आए और उनके प्रति श्रद्धा रखने लगे। यह सब हिन्दू धर्म में नव जागरण की उस लहर के कारण हुआ, जिसका प्रारम्भ तुर्क-अफगान युग में हुआ था और मुगल युग में अकबर सदृश बादशाहों के कारण जिसे बहुत बल मिला था। स्वामी रामानन्द द्वारा रामभक्ति की जिस परम्परा का प्रारम्भ किया गया था, तुलसीदास (जो अकबर के समकालीन थे) ने उसे जनसाधारण तक पहुँचा दिया।

उत्तरी भारत की बहुसंख्यक जनता संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण स्वयं वेद-शास्त्र पढ़ सकने में असमर्थ है। राम के चरित्र को निमित्त बना कर तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में उस ज्ञान के अच्छे बड़े अंश को सरल भाषा में प्रस्तुत कर दिया है जो वेदशास्त्रों में विद्यमान है। उपनिषदों का अध्यात्मवाद, दर्शनों का तत्त्वचिन्तन और पुराणों की गाथाएँ—ये सब रामचरितमानस में उपलब्ध हैं और वे भी ऐसी सरल भाषा में जिसे कि सर्वथा निरक्षर व्यक्ति भी सुगमता से समझ सकते हैं। तुलसीदास की इस कृति से सर्वसाधारण जनता के लिए अपने धर्म के सिद्धान्तों व आख्यानों को जान सकना बहुत सुगम हो गया। इससे हिन्दू (आर्य) धर्म में शक्ति का संचार होने में बहुल सहायता मिली। हिन्दू धर्म के लिए तुलसी का यह कार्य अत्यन्त महत्त्व का था। पर उनका कार्य यहीं तक सीमित नहीं था। उन्होंने राम को विष्णु का अवतार मानते हुए उनके एक ऐसे रूप को जनता के सम्मुख रखा, जो धनुषबाण हाथ में लेकर राक्षसों का संहार करने में तत्पर था। बाँसुरी बजाकर भक्तों के मन को मोह लेने वाले कृष्ण का रूप उन्हें आकृष्ट नहीं करता था। उनका मस्तक उस भगवान् के सम्मुख झुकता था जो हाथ में धनुषबाण धारण करता है। उस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता यही थी। जो हिन्दूजाति तुर्क-अफगान युग में विदेशी व विधर्मी शासकों से निरन्तर पदाक्रान्त होती रही थी और चिर काल तक विधर्मी शासन में रहते रहने के कारण जिसमें हीन भावना उत्पन्न हो गई थी, वह अब रावण के हाथ में पड़ी सीता का शस्त्रशक्ति द्वारा उद्धार करने वाले राम को अपना उपास्य व आदर्श मान कर नये जीवन तथा स्फूर्ति से पूर्ण हो गई और उसने मुगलों के शासन में अपने लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त कर लिया। अत्याचारी व अधार्मिक रावण का नाश करने वाले राम के वीर एवं पुनीत चरित्र को जनता के सम्मुख रखकर तुलसीदास ने कहा—"रामराज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम सदा विजयी है।" इस सन्देश से, राम के सदा विजयी होने की बात से हिन्दू जाति में नवीन उत्साह का संचार हुआ, और वह भारत में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गई। इसी कारण मुगल युग में हिन्दू लोग पददलित व हीन दशा में नहीं रह गए थे। वे मुगलों व अन्य मुसलमानों के समकक्ष स्थिति में विविध सूबों का शासन करते थे, विद्रोही मुसलिम सरदारों के विरुद्ध युद्ध करते थे और मुगल साम्राज्य में अत्यन्त उच्च व प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किये हुए थे।

अकबर के बाद जहाँगीर (१६०५-२६) और शाहजहाँ ने हिन्दुओं के प्रति प्रायः उसी नीति का अनुसरण किया, जिसका सूत्रपात अकबर द्वारा किया गया था। ये दोनों बादशाह उदार थे और अकबर द्वारा मुगल साम्राज्य का जो 'राष्ट्रीय' रूप कायम किया गया था, उसे उन्होंने नष्ट नहीं होने दिया। पर शाहजहाँ के उत्तराधिकारी औरंगजेब ने अकबर की नीति का परित्याग कर मुगल साम्राज्य को एक इस्लामी राज्य बनाने का प्रयत्न किया। इस्लाम के मन्तव्यों के अनुसार अपने शासन का संचालन करने के लिए उसने हिन्दुओं पर फिर से जजिया लगाया, विश्वनाथ (काशी), सोमनाथ (गुजरात), केशवराय (मथुरा) आदि के प्रसिद्ध हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने की आज्ञा जारी की, व्यापार और व्यवसाय आदि में हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रति भिन्न नीति अपनायी और यह आदेश दिया कि हिन्दू लोग सार्वजनिक रूप से अपने त्यौहार व उत्सव न मना सकें। जो हिन्दू इस्लाम की दीक्षा ले लेते थे, उन्हें इनाम दिए जाने लगे और हिन्दुओं को उच्च

राजकीय पदों से हटाकर उनके स्थान पर मुसलमानों को नियुक्त करने की नीति को अपनाया गया। औरंगजेब की इस साम्प्रदायिक नीति का परिणाम मुगल साम्राज्य के लिए बहुत बुरा हुआ। मुगल साम्राज्य की नींव राजपूतों और हिन्दुओं के सहयोग एवं साहाय्य पर ही रखी गई थी। हिन्दुओं की जो शक्ति मुगल बादशाहत के लिए सहारा बनी हुई थी, वह अब उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई। मथुरा के समीप जाटों ने विद्रोह कर दिया और नारनौल के समीप सतनामियों ने। पंजाब में सिक्ख औरंगजेब के विरुद्ध उठ खड़े हुए, और दक्षिण में मराठे। राजपूताना में दुर्गादास राठौर ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और मेवाड़ के राणा राजसिंह ने भी उसका साथ दिया। औरंगजेब भारत में न केवल इस्लामी शासन स्थापित कर सकने में असमर्थ रहा, अपितु उसकी हिन्दू-विरोधी नीति के कारण ही मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया और राजपूत, सिक्ख, जाट, मराठे आदि विविध हिन्दू राजशक्तियाँ मुगलों के शासन का अन्त कर अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए तत्पर हो गईं। १७०७ ईस्वी में औरंगजेब की मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी अयोग्य और निर्बल थे और हिन्दुओं का सहयोग व साहाय्य उन्हें अविकल रूप से प्राप्त नहीं था। वस्तुतः, अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही मुगलों के प्रताप का अन्त हो गया था और भारत के बहुत बड़े भाग पर विविध हिन्दू राज्य फिर स्थापित हो गए थे। पंजाब में सिक्खों के शासन की नींव पड़ गई थी और बुन्देलखण्ड, राजपूताना तथा मध्यप्रदेश में अनेक स्वतन्त्र व अर्धस्वतन्त्र राजपूत राज कायम हो गए थे। जाटों ने मथुरा-आगरा के समीपवर्ती प्रदेश में अपने राज्य स्थापित कर लिये थे और मराठों ने दक्षिणापथ में। मराठे न केवल दक्षिणापथ में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में ही समर्थ हुए, अपितु अटक से कटक तक और हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक अपने प्रभुत्व की स्थापना के उद्देश्य से विजययात्राएँ करने के लिए भी प्रवृत्त हुए। मुगल बादशाहों द्वारा नियुक्त प्रान्तीय सूबेदार भी दिल्ली दरबार की उपेक्षा कर स्वतन्त्र राजाओं के समान आचरण करने की प्रवृत्ति रखने लगे। ऐसी दशा थी, जब १७३९ ईस्वी में पर्शिया के शाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। मुगल बादशाह उसकी गति को नहीं रोक सका और मुगल सेना को परास्त कर उसने दिल्ली पर कब्जा कर लिया। यद्यपि नादिरशाह ने दिल्ली पर स्थायी रूप से अपना अधिकार कायम करने का प्रयत्न नहीं किया, पर उसके आक्रमण से मुगल बादशाह की रही सही शक्ति भी नष्ट हो गई। मराठों राजपूतों, जाटों और सिक्खों ने उसे पहले ही खोखला कर दिया था। जो शक्ति उसमें शेष थी, वह भी अब नादिरशाह द्वारा नष्ट कर दी गई। इसके बाद मुगल बादशाह नाम को ही भारत के सम्राट् रह सके। वास्तविक शक्ति अब (अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में) मराठों के हाथों में आ गई थी, जिनके हाथों में मुगल बादशाह कठपुतली के समान थे और जिनका आधिपत्य भारत के बहुत बड़े भाग में स्वीकार किया जाने लगा था।

(६) आर्य शक्ति का पुनरुत्थान

बारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों से शुरू कर अठारहवीं सदी के प्रथम चरण तक पाँच सदी से कुछ अधिक समय तक भारत के बड़े भाग की राजशक्ति प्रायः ऐसे राजवंशों के हाथों में रही, जिनके राजा इस्लाम के अनुयायी थे। यह मानना तो सही नहीं होगा कि इस काल में सम्पूर्ण भारत या देश का बहुत बड़ा भाग मुसलिम सुलतानों या बादशाहों

के प्रभुत्व में था; पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन सदियों में भारत के हिन्दू या आर्य लोग तुर्क-अफगानों तथा मुगलों से दबे रहे, यद्यपि आत्मरक्षा के लिए उन्होंने अपने संघर्ष को निरन्तर जारी रखा। मुगल लोग जो डेढ़ सदी के लगभग तक भारत में शान्तिपूर्वक शासन करते रह सके, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि उन्होंने हिन्दुओं की सद्भावना को प्राप्त कर लिया था। मुगलों का राज्य इस्लामी राज्य नहीं था, उसमें मुसलिम वर्ग को शासक श्रेणी की स्थिति प्राप्त नहीं थी। वह काल सामन्तपद्धति का था और मुगल बादशाहों के अधीन सामन्तवर्ग के जिन व्यक्तियों के हाथों में शासन का सूत्र था, उसमें बड़ी संख्या हिन्दू राजपूतों की थी। उस युग में बहुत से मुसलमान ऐसे भी थे, जिनका पेशा जुलाहे, धोबी, तेली, रंगरेज, नाई आदि का था। यद्यपि इन्होंने इस्लाम को अपना लिया था, पर शासन शक्ति का कोई भी अंश इनके हाथों में नहीं था। अपने हिन्दू सहकर्मियों के समान ये भी विविध स्तरों के सामन्तों (जो हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों के थे) के अधीन रहते हुए अर्द्धदासों का सा जीवन व्यतीत करते थे। इस दशा में यदि औरंगजेब अकबर द्वारा प्रारम्भ की गई राष्ट्रीय नीति का परित्याग न करता, तो शायद भारत में साम्प्रदायिक समस्या उत्पन्न ही न होती। पर जब मुगल बादशाह ने इस्लामी राज्य की स्थापना का प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि पर्शिया, सीरिया और मध्य एशिया के पुराने निवासियों के समान भारत के हिन्दू लोग सर्वथा निर्वीर्य नहीं थे और पंद्रहवीं-सोलहवीं सदियों के धार्मिक आन्दोलनों ने उनमें नवजीवन तथा स्फूर्ति का संचार भी कर दिया था। औरंगजेब की नीति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आर्य शक्ति का जो पुनरुत्थान भारत में हुआ, इतिहास में उसका बहुत महत्त्व है। इस द्वारा कुछ समय के लिए भारत के बहुत बड़े भाग पर एक बार फिर आर्यों का शासन स्थापित हुआ और मुसलिम प्रभुत्व के उस युग का अन्त हो गया जिसका प्रारम्भ बारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में हुआ था।

इस प्रसंग में यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए, कि आर्यों की शक्ति के इस पुनरुत्थान का बहुत कुछ श्रेय उन सन्त-महात्माओं को प्राप्त है जिन्होंने कि हिन्दू धर्म में सुधार के लिए प्रबल आन्दोलन किये थे। महाराष्ट्र के इन सन्तों में तुकाराम, रामदास, वामन-पण्डित और एकनाथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्वामी समर्थ रामदास सत्रहवीं सदी में हुए थे। उन्होंने न केवल महाराष्ट्र में धर्म के सुधरे हुए रूप का प्रतिपादन किया, अपितु वहाँ के निवासियों का ध्यान अपने देश और जाति के प्रति भी आकृष्ट किया। रामदास ने महाराष्ट्र में वह लहर चलाई जिससे मराठों में आत्मसम्मान तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष की भावना जागृत हुई। वे उपदेश करते थे कि 'जो मराठे हैं उन सबको मिलाकर एक कर दो। महाराष्ट्रीय धर्म की वृद्धि करो। धर्म के लिए बलि देने को तत्पर रहो, धर्म के शत्रुओं का संहार करो।' रामदास सदृश सन्त-महात्माओं के प्रयत्न से महाराष्ट्र में जो नव-जीवन तथा संगठन विकसित हो रहा था, शिवाजी द्वारा उसे मूर्त्त रूप प्राप्त हुआ। दक्षिणापथ के अन्यतम मुसलिम राज्य बीजापुर की आदिलशाही से युद्ध कर शिवाजी ने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। कालान्तर में यह मराठा राज्य अत्यन्त शक्तिशाली हो गया और औरंगजेब के उत्तराधिकारियों की निर्बलता से लाभ उठाकर इस राज्य के शासकों ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली। पेशवा बाजीराव (१७२०-४०) के समय में मराठों का प्रभुत्व केवल दक्षिण भारत तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने पश्चिम तथा

उत्तर की ओर आगे बढ़कर गुजरात और मध्य प्रदेश आदि पर भी आक्रमण शुरू कर दिए। इनके परिणामस्वरूप मराठों के चार नए राज्य कायम हुए—नागपुर में भौंसले राज्य, गुजरात में गायकवाड़ राज्य, इन्दौर में होल्कर राज्य और ग्वालियर में सिन्धिया राज्य। ये सब पेशवाओं को अपना अधिपति मानते थे और पेशवा शिवाजी के वंशज छत्रपति राजा के नाम पर शासनसूत्र का संचालन करते थे। सिन्धिया, गायकवाड़, होल्कर और भौंसले क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र राजा थे और अपने शासन-क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। बाजीराव पेशवा की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बालाजी बाजीराव (१७४०-६१) पेशवा के पद पर अधिष्ठित हुआ। उसके शासन काल में मराठा साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा को पहुँच गया। उड़ीसा, रुहेलखण्ड और पंजाब पर भी मराठे अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुए और सिन्ध नदी के तट पर स्थित अटक के दुर्ग पर मराठों का भगवा झण्डा फहराने लगा। दिल्ली का मुगल बादशाह इस समय मराठों के हाथ में कठपुतली के समान था। वास्तविक राजशक्ति मराठों के पास थी जो पुरातन आर्य धर्म एवं संस्कृति के अनुयायी थे। अठारहवीं सदी के मध्य तक मराठे लोग भारत की प्रधान राजशक्ति बन गये थे। मुगलों का तेज उनके सम्मुख सर्वथा मन्द पड़ गया था।

पर मराठों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रहा। पहले अफ़गानिस्तान मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत था। औरंगजेब के बाद मुगलों की शक्ति के क्षीण होने पर पर्शिया के शाह नादिरशाह ने उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया था। पर अफ़गानिस्तान पर्शियन साम्राज्य में भी सम्मिलित नहीं रहा। नादिरशाह की मृत्यु के पश्चात् अहमदशाह अब्दाली ने वहाँ अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिया और अपने राज्य क्षेत्र में वृद्धि करने के लिए उसने उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब पर आक्रमण किये। सन् १७६० से पूर्व ही पंजाब मराठों के प्रभुत्व में आ चुका था और वहाँ मराठों द्वारा नियुक्त सूबेदार का शासन था। १७६१ के आक्रमण में अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब के मराठा सूबेदार को परास्त किया और दिल्ली पर भी कब्जा कर लिया। जब यह समाचार मराठों को ज्ञात हुआ तो उन्होंने अब्दाली का सामना करने के लिए भारी तैयारी की। सदाशिवराव भाऊ और बालाजी बाजीराव पेशवा के पुत्र विश्वासराव के नेतृत्व में एक शक्तिशाली मराठा सेना ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सब मराठे राजा अपनी सेनाएँ लेकर इस युद्ध में पेशवा की सहायता के लिए आये थे। अनेक राजपूत राजाओं ने भी अब्दाली के विरुद्ध युद्ध में मराठों से सहयोग किया। पहले दिल्ली की विजय की गई। फिर पानीपत के रणक्षेत्र में अब्दाली की सेनाओं के साथ युद्ध हुआ, जिसमें मराठों की पराजय हुई। सदाशिवराव भाऊ, विश्वासराव और अन्य अनेक प्रमुख मराठे सरदार युद्ध में मारे गए। पानीपत की इस पराजय (१७६१) से मराठों की शक्ति को बहुत धक्का लगा। उनके चरम उत्कर्ष का काल अब समाप्त हो गया था। मराठे लोग जो भारत में स्थायी रूप से अपना शासन कायम नहीं कर सके, उसके कारणों पर विचार कर सकना इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं है। इतना ही निर्देश कर देना पर्याप्त है कि अहमदशाह अब्दाली के रूप में जिस विदेशी शक्ति का उन्हें मुकाबिला करना था, उसके विरुद्ध अन्य भारतीय राजशक्तियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त कर सकने में उन्हें सफलता नहीं हुई थी। दिल्ली पर कब्जा करने के पश्चात् सदाशिवराव भाऊ ने अपने उद्दण्ड व्यवहार से जाटों

और राजपूतों को नाराज कर दिया था। उसने दिल्ली के लाल किले और जामा मस्जिद आदि के प्रति जो असम्मान प्रदर्शित किया था, वह जाटों और राजपूतों को अच्छा नहीं लगा था। अकबर ने हिन्दुओं के प्रति जिस उदार नीति का अनुसरण किया था, उसके कारण राजपूत और जाट राजाओं में मुगल राजवंश के प्रति आदर का भाव विकसित हो गया था और मुसलिम धर्मस्थानों को भी वे सम्मान की दृष्टि से देखने लगे थे। अनुपम वीर तथा योग्य राजनीतिज्ञ होते हुए भी मराठे लोग भारत की अन्य राजशक्तियों की सद्भावना तथा सहयोग प्राप्त कर सकने में समर्थ नहीं हो सके। केवल यही नहीं, उनके अपने क्षेत्र में भी एकता तथा संगठन का अभाव था। मराठों के नेतृत्व में आर्य जाति की शक्ति को पुन: स्थापित करने और भारत को एक शक्तिशाली व सुसंगठित आर्य राज्य बनाने का जो सुअवसर मुगल साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर उपस्थित हुआ था, बालाजी बाजीराव के उत्तराधिकारी उससे लाभ नहीं उठा सके और भारत की राजशक्तियाँ पूर्ववत् असंगठित ही बनी रहीं।

पर आर्यों की शक्ति के पुनरुत्थान की जिस प्रक्रिया का प्रारम्भ औरंगजेब की संकीर्ण साम्प्रदायिक नीति के कारण हुआ था, पानीपत के युद्ध में मराठों की पराजय से उसका अन्त नहीं हो गया। यद्यपि दिल्ली, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी भारत एवं गंगा-यमुना के दोआब पर मराठों का शासन कायम नहीं रहा, पर भारत के मध्य भाग एवं दक्षिणापथ में स्थापित उनके राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता अक्षुण्ण बनी रही। समीप के प्रदेशों में विद्यमान कितने ही अन्य राज्य भी मराठों के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे और उन्हें चौथ तथा सरदेशमुखी प्रदान करते थे। दक्खन के निजाम जो अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहे थे, उसका कारण यही था कि इन करों को देकर वे मराठों को सन्तुष्ट रखते थे। अन्य भी अनेक 'मुगलिया' प्रदेशों पर मराठों का आधिपत्य था, क्योंकि उनसे वे चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे। ग्वालियर, नागपुर, इन्दौर, बड़ौदा और महाराष्ट्र में तो उनके स्वतन्त्र व शक्तिशाली राज्य कायम थे ही। वस्तुत: अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी भारत की प्रधान राजशक्ति मराठों की ही थी, मुगलों की नहीं।

औरंगजेब की साम्प्रदायिक नीति का सिक्खों के नवें गुरु तेगबहादुर ने घोर विरोध किया था, जिसके कारण बादशाह के खिलाफ बगावत फैलाने के अपराध में उनका क्रूरतापूर्वक वध किया गया। पर इससे सिक्ख दबे नहीं। उनमें एक वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने उन्हें संगठित कर एक प्रबल शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। ये महापुरुष गुरु गोविन्द सिंह थे। उनके प्रयत्न से सिक्ख एक प्रबल सैनिक शक्ति बन गए और मुगलों के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर हुए। १७६१ में पानीपत के रणक्षेत्र में मराठों के परास्त हो जाने पर पंजाब में अपनी राजशक्ति के विकास का उन्हें अनुपम अवसर मिला, और १८६७ में अहमदशाह अब्दाली को परास्त कर उन्होंने अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। अठारहवीं सदी के अन्त तक सिक्ख पंजाब की प्रधान राजशक्ति बन गये थे और भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों पर भी उन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था। इस क्षेत्र के पठान सिक्खों की शक्ति के सम्मुख थर-थर कांपने लग गये थे। राजा रणजीतसिंह (१७९२-१८३९) के नेतृत्व में सिक्खों की राजशक्ति का बहुत उत्कर्ष हुआ और भारत के प्राय: सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी

क्षेत्र पर उनका स्वतन्त्र शासन स्थापित हो गया। इस क्षेत्र पर अब मुगलों का नाम को भी आधिपत्य कायम नहीं रहा।

मुगल साम्राज्य की शक्ति के क्षीण हो जाने पर अठारहवीं सदी के मध्य तक दिल्ली और आगरा के समीपवर्ती प्रदेशों में जाटों द्वारा अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये गये थे। १७६१ में मराठों की पराजय के बाद इन राज्यों को अपने उत्कर्ष का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हो गया। सूरजमल के नेतृत्व में जाटों ने आगरा, धौलपुर, हाथरस, मैनपुरी, अलीगढ़, इटावा, मेरठ, रोहतक, फर्रुखनगर, रिवाड़ी, गुड़गांव, मेवात और मथुरा के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया और भरतपुर को राजधानी बनाकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में जाटों का यह राज्य भी भारत की प्रधान राजशक्तियों में अन्यतम था।

मुगल बादशाह के उत्कर्ष काल में भी राजपूताना के राजपूत राज्य अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे। मुगलों को उनका सहयोग प्राप्त था और साम्राज्य के अनेक प्रदेशों के सूबेदार एवं सेनापति के पदों पर नियुक्ति के कारण राजपूत राजाओं की शक्ति तथा वैभव में बहुत वृद्धि हो गई थी। औरंगजेब के बाद जब मुगलों की शक्ति का ह्रास होने लगा तो विविध राजपूत राज्य क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गये और मुगल दरबार की राजनीति में खुलकर खेलने लगे।

ये तथ्य यह प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त हैं कि अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत की राजशक्ति मुख्यतया हिन्दुओं के हाथों में आ गई थी। बारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में इस देश में मुसलिम शासन का जो सूत्रपात हुआ और अकबर सदृश मुगल बादशाहों के प्रयत्न से जिसका क्षेत्र भारत के बड़े भाग में विस्तृत हो गया था, अब साढ़े पांच सदी के पश्चात् उसकी प्रायः समाप्ति हो गई थी। दिल्ली के राजसिंहासन पर अब भी एक मुगल बादशाह विराजमान था, पर उसकी शक्ति सर्वथा नगण्य थी। उत्तरी भारत के अनेक प्रदेशों (अवध, बंगाल आदि) का शासन मुसलिम सूबेदारों के हाथों में था, जो नाम को तो दिल्ली के बादशाह के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे, पर जिनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओं व नवाबों के समान थी। दक्खन का निजाम भी क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र था, यद्यपि नाम को वह भी मुगल बादशाह के आधिपत्य को स्वीकार करता था। पर मुसलमान बादशाहों व सूबेदारों द्वारा शासित प्रदेशों की तुलना में मराठों, सिक्खों, राजपूतों और जाटों के राज्यों का क्षेत्र बहुत अधिक था और भारत की प्रधान राजशक्ति अब ऐसे राजवंशों के हाथों में आ गई थी, जिन्हें वंश, जाति, अभिजन, धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से 'आर्य' कहा जा सकता था।

पर आर्यों की शक्ति का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रहा। इस समय एक अन्य विदेशी व विधर्मी जाति भारत में अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थी। इस जाति ने हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत में प्रवेश नहीं किया था। यह समुद्र के मार्ग से भारत में आई थी। यह जाति अंग्रेजों की थी और ईसाई धर्म को मानने वाली थी। भारत की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर इसने इस देश में अपने पैर जमाने प्रारम्भ कर दिये और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में प्रायः सम्पूर्ण भारत में इसने अपना प्रभुत्व व शासन स्थापित कर लिया।

आर्य राजशक्ति जो भारत में स्थायी नहीं हो सकी, उसके अनेक कारण थे।

विकेन्द्रीकरण की जो प्रवृत्तियाँ भारत को राजनीतिक दृष्टि से निर्बल बनाती रही हैं, वे इस काल में भी बलवती थीं। मराठे लोग राजपूतों, जाटों और सिक्खों का सहयोग प्राप्त करने में तो असमर्थ रहे ही, साथ ही वे अपना भी एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन स्थापित नहीं कर सके। उनका अपना 'स्वराज्य' भी एक सुसंगठित राज्य का रूप नहीं प्राप्त कर सका। सिक्खों, जाटों और राजपूतों के राज्यों में भी आन्तरिक झगड़ों का बोलबाला था। राजनीतिक एकता और राष्ट्रीय भावना के महत्त्व का उन लोगों को कोई परिज्ञान नहीं था, जिनके हाथों में उस समय राजशक्ति थी। इस दशा का यह परिणाम हुआ कि आर्यों की राजशक्ति रूपी चिन्गारी अठारहवीं सदी में प्रकट अवश्य हुई, पर वह एक ज्वाला का रूप प्राप्त नहीं कर सकी।

पाँचवाँ अध्याय

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना और पाश्चात्य संस्कृति से आर्य संस्कृति के संघर्ष का सूत्रपात

(१) भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना

जिस जाति के कारण आर्य धर्म और आर्य संस्कृति को एक नई व प्रबल चुनौती का सामना करना पड़ा था, उसने भारत में किस प्रकार अपना प्रभुत्व स्थापित किया, इसका भी संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी होगा। पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप के लोगों का बाहरी दुनिया से बहुत कम परिचय था। उस समय समुद्र में जो जहाज चलते थे, उन्हें चप्पुओं द्वारा खेया जाता था। दिग्दर्शक यन्त्र के अभाव के कारण मल्लाहों के लिए महासमुद्रों में दूर-दूर तक आना-जाना तब सम्भव नहीं था। सामुद्रिक व्यापार तब समुद्र तट के साथ-साथ ही होता था। इस दशा में यह सम्भव ही नहीं था कि यूरोप के लोग महासमुद्रों के पार जाकर एशिया तथा अफ्रीका में अपने साम्राज्यों का विस्तार कर सकें, या उनके साथ सीधा व्यापार-सम्बन्ध रख सकें। अमेरिका के महाद्वीप का तो तब परिज्ञान भी नहीं हुआ था। परन्तु पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में इस दशा में परिवर्तन होने लगा और यूरोप के व्यापारियों में एक नई प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ। यूरोप और एशिया के बीच में व्यापार बहुत प्राचीन समय से चला आता था, और इनके बीच का प्रधान व्यापारिक मार्ग लाल सागर से ईजिप्ट होता हुआ भूमध्य सागर पहुँचता था। भारत आदि एशियन देशों के माल को समुद्र के मार्ग से पहले अदन पहुँचाया जाता था और वहां से लाल सागर से ईजिप्ट तक। तब स्वेज की नहर नहीं थी। अतः भूमध्य सागर के अलेग्जेण्ड्रिया (ईजिप्ट में) सदृश बन्दरगाहों तक इस माल को पहुँचाने के लिए ऊंटों का प्रयोग किया जाता था। भारत के माल को यूरोप के विविध देशों में बिक्री के लिए ले जाने का काम प्रधानतया इटालियन व्यापारी किया करते थे। वे अलेग्जेण्ड्रिया, बैरूत आदि से भारत के माल को पश्चिमी यूरोप के देशों में ले जाकर अपार धन कमाते थे, क्योंकि मसाले, चन्दन, मलमल, हीरे-मोती आदि भारतीय माल की इन देशों में बहुत मांग थी। पहले इन व्यापार-मार्गों पर अरबों का अधिकार था। अरब लोग व्यापार के महत्त्व को समझते थे, और स्वयं भी अच्छे व्यापारी थे। सन् १४५३ में तुर्क विजेता मुहम्मद

द्वितीय ने कौंस्टेन्टिनोपाल को जीत लिया, और पश्चिमी एशिया के देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। तुर्क लोग सभ्यता के क्षेत्र में पिछड़े हुए थे, और व्यापार का उनकी दृष्टि में अधिक महत्त्व नहीं था। इस कारण अब पश्चिमी एशिया के व्यापारिक मार्गों का प्रयोग सुरक्षित नहीं रह गया। इस दशा में यूरोपियन व्यापारियों को यह चिन्ता हुई कि भारत व अन्य एशियन देशों के माल को प्राप्त करने के लिए नये मार्गों की खोज की जाए। इसमें पोर्तुगाल और स्पेन ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। पोर्तुगीज लोगों ने कल्पना की, कि अफ्रीका का चक्कर काटकर प्राच्य देशों तक पहुंचा जा सकता है। इसी विचार से अनेक पोर्तुगीज मल्लाहों ने अफ्रीका के पश्चिमी समुद्रतट के साथ-साथ यात्रा प्रारम्भ की। अन्त में १४९८ ईस्वी में वास्को डी गामा नामक पोर्तुगीज मल्लाह अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुंचने में सफल हो गया, और इस प्रकार यूरोप और एशिया के मध्य व्यापार के एक नये सामुद्रिक मार्ग का आविष्कार हुआ। इस नए मार्ग से व्यापार कर पोर्तुगीज व्यापारियों की बहुत समृद्धि हुई, और उनकी देखा-देखी अन्य यूरोपियन राज्यों के व्यापारी भी इस सामुद्रिक मार्ग से एशिया आने-जाने लगे। हालैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों में पूर्वी व्यापार को हस्तगत करने के लिए कम्पनियाँ खड़ी की गईं, जो भारत आदि एशियन देशों के बन्दरगाहों में अपनी व्यापारी कोठियाँ कायम करती थीं, और अधिक-से-अधिक व्यापार को अधिगत करने के लिए प्रयत्नशील रहती थीं। पूर्व और पश्चिम के व्यापार के लिए नये सामुद्रिक मार्ग की खोज के प्रयत्न में ही कोलम्बस नामक मल्लाह उस महाद्वीप का पता लगाने में समर्थ हुआ, जिसे 'अमेरिका' कहा जाता है।

सोलहवीं और सतरहवीं सदियों में भारत में प्रतापी मुगल बादशाहों का शासन था। पर पोर्तुगीज लोगों का प्रधान केन्द्र गोआ नगरी थी, जो मुगलों के साम्राज्य के बाहर थी। दक्षिणी भारत में उस समय किसी एक शक्तिशाली राजा का शासन नहीं था। पोर्तुगीज व्यापारियों ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और केवल व्यापार से ही संतुष्ट न रहकर उन्होंने गोआ तथा उनके समीपवर्ती प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया। पर वे भारत में अपने प्रभुत्व का अधिक विस्तार नहीं कर सके। पोर्तुगीज लोग धर्मान्ध ईसाई थे। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को जबर्दस्ती ईसाई बनाने का प्रयत्न किया, और अनेक हिन्दू मन्दिरों को ईसाई गिरजों के रूप में परिवर्तित कर दिया, जिसके कारण जनता उनके विरुद्ध हो गई। शाहजहाँ के शासन काल में जब दक्षिणी भारत में मुगलों के आधिपत्य की स्थापना के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, तो मुगलों के पोर्तुगीजों से भी संघर्ष हुए। पहले मुगलों और फिर मराठों की शक्ति के उत्कर्ष के कारण पोर्तुगीज लोग भारत में अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरा कर सकने में असमर्थ रहे। उनके अनुकरण में हालैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड के जिन व्यापारियों ने भारत में आना शुरू किया, वे भी सोलहवीं और सतरहवीं सदियों में केवल व्यापार से ही संतुष्ट रहे। पर औरंगजेब के बाद जब मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई और भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य कायम हो गए, तो इन यूरोपियन व्यापारियों ने देश की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाया और व्यापार के साथ-साथ अपनी राजसत्ता स्थापित करना भी प्रारम्भ कर दिया। इस कार्य में इंग्लैण्ड और फ्रांस के व्यापारियों ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। भारत के विविध राज्यों में राजसिंहासन

के लिए जो झगड़े चल रहे थे, उनमें उन्होंने हस्तक्षेप करना शुरू किया और इन्हीं आन्तरिक झगड़ों से लाभ उठाकर राजशक्ति प्राप्त करने में वे सफल हो गए। भारत को अपने प्रभुत्व में लाने के लिए इंगलैण्ड और फ्रांस ने अपने देशों से कोई सेनाएँ नहीं भेजीं। उन्होंने भारत की विजय के लिए प्रधानतया भारतीय सेनाओं का ही प्रयोग किया। भारत की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर अपनी सत्ता इस देश में स्थापित की जा सकती है, यह विचार सबसे पहले फ्रांस में उत्पन्न हुआ था। डूप्ले पहला यूरोपियन राजनीतिज्ञ था, जिसने भारत में फ्रांस के प्रभुत्व को स्थापित करने का स्वप्न लिया। पर फ्रेंच लोग इस स्वप्न को चरितार्थ नहीं कर सके। इसका प्रधान कारण यह था, कि अठारहवीं सदी में फ्रांस में बूर्बों वंश के स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं का शासन था, जो अत्यधिक विकृत भी था। भारत में अपनी राजसत्ता स्थापित करने के लिए फ्रेंच लोग जो प्रयत्न कर रहे थे, उनका संचालन फ्रांस की निरंकुश व विकृत सरकार द्वारा ही होता था। इसके विपरीत इंगलैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण से प्रायः स्वतन्त्र थी। उसके लिए यह अधिक सुगम था, कि वह समय और परिस्थिति के अनुसार स्वतन्त्रता के साथ कार्य कर सके। डूप्ले के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी क्लाइव को यह आवश्यकता नहीं थी, कि वह अपने प्रत्येक कार्य के लिए सरकार से अनुमति प्राप्त करे। डूप्ले को कोई भी पग उठाने से पूर्व फ्रेंच सरकार का मुँह देखना पड़ता था, और इस युग की फ्रेंच सरकार सर्वथा विकृत तथा दुर्दशाग्रस्त थी। भारत के विविध राजाओं, नवाबों तथा मुगल सरदारों के आपसी झगड़ों का लाभ उठाकर ब्रिटेन की ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के अनेक समुद्रतटवर्ती प्रदेशों पर अठारहवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही अपना शासन स्थापित करने में किस प्रकार समर्थ हो गई थी, इसका वृत्तान्त लिखने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। भारत में ब्रिटिश शासन की नींव क्लाइव ने डाली थी। बाद में वारेन हेस्टिंग्स, कार्नवालिस, वेलेज्ली, हार्डिंग और डलहौजी ने भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व का विस्तार किया। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक प्रायः सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया था, और जिन राजाओं व नवाबों की पृथक् सत्ता कायम रह गई थी, वे भी अंग्रेजों की अधीनता स्वीकृत करने लग गए थे। ब्रिटिश लोग जो इस देश में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके, उसका प्रधान श्रेय क्लाइव, कार्नवालिस आदि गवर्नर-जनरलों को ही है। वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से नियुक्त हुए थे, और भारत की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर उन्होंने इस देश पर कम्पनी का आधिपत्य व शासन स्थापित करने में असाधारण सफलता प्राप्त की थी।

भारत जो अंग्रेजों के अधीन हुआ, विश्व इतिहास की पृष्ठभूमि में उसपर दृष्टिपात करना उपयोगी होगा। अकेले अंग्रेजों में ही कोई ऐसी विशेषता नहीं थी, जिससे कि वे भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में पश्चिमी यूरोप के अन्य अनेक देश भी पृथ्वी के विविध भागों को अपनी अधीनता में ले आने में तत्पर थे। फ्रांस यद्यपि भारत के बहुत थोड़े-से भाग पर अपना प्रभुत्व कायम कर सका था, पर इण्डोचायना (वियतनाम, कम्बोडिया और लाओस) को उसने अपने अधीन कर लिया था। इण्डोनीसिया के अन्तर्गत सैकड़ों द्वीपों पर हालैण्ड ने अपना शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। अफ्रीका महाद्वीप के सुविस्तृत प्रदेशों पर ब्रिटेन के अतिरिक्त फ्रांस, बेल्जियम, स्पेन और पोर्तुगाल ने भी कब्जा कर लिया था।

इसी प्रकार अमेरिका महाद्वीप के विविध भागों पर स्पेन, पोर्तुगाल, ब्रिटेन और फ्रांस ने अपने साम्राज्य स्थापित कर लिये थे। रूस मध्य एशिया तथा चीन के उत्तर के विशाल भूखण्ड को अपनी अधीनता में ले आया था। पश्चिमी एशिया के विविध देश तथा चीन भी यूरोप के साम्राज्यवादी देशों से अपनी रक्षा कर सकने में असमर्थ रहे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि साम्राज्यवाद की इस दौड़ में ब्रिटेन को सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई थी, और वह न केवल एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के बहुत-से देशों पर प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुआ था, अपितु न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया सदृश कितने ही विशाल द्वीप भी उसके कब्जे में आ गए थे।

पश्चिमी यूरोप के विविध देश विश्व के बड़े भाग को अपने आधिपत्य में ले आ सकने में क्यों समर्थ हुए—यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। प्राचीन काल में भारत और चीन सदृश एशियन देश पाश्चात्य देशों की तुलना में अधिक सभ्य व उन्नत थे। मध्य काल को यूरोप के इतिहास में 'अन्धकार का युग' कहा जाता है, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अकबर और जहाँगीर के समकालीन फ्रांस, ब्रिटेन या जर्मनी के राजा इन भारतीय बादशाहों की तुलना में कम शक्तिशाली थे। फिर क्या कारण है, जो अठारहवीं सदी में पश्चिमी यूरोप के देश एशिया आदि के बड़े भाग को अपने आधिपत्य में ले आ सके। अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि यूरोपियन देशों का आर्थिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि दो हजार साल पहले सीजर व सिकन्दर के समय में था। उस समय यूरोप का किसान लकड़ी के हलों से जमीन जोतता था, खुरपी से उसकी नलाई करता था, और दराँती से फसल काटता था। कारीगर चरखे या तकुए पर सूत कातते थे और लकड़ी की खड्डियों पर कपड़े की बुनाई करते थे। लुहार पुराने ढंग के घन और हथौड़े से अपना काम करते थे। घोड़े की अपेक्षा तेज चलने वाली किसी सवारी (मोटर, रेल आदि) का उस समय के यूरोपियन लोगों को कोई परिज्ञान नहीं था। समुद्र में आने-जाने वाले जहाज चप्पुओं और पाल से चलते थे। उस समय में यूरोप का आर्थिक व औद्योगिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि भारत, चीन आदि एशियन देशों का था। पर अठारहवीं सदी के मध्य भाग तथा उत्तरार्द्ध में इस दशा में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। इस काल में ऐसे अनेक नये आविष्कार हुए, जिनके कारण यूरोप में आर्थिक उत्पादन के लिए यान्त्रिक शक्ति तथा नये साधनों का उपयोग किया जाने लगा। इसी को 'औद्योगिक क्रान्ति' कहा जाता है। इस क्रान्ति का प्रारम्भ एकदम व अचानक नहीं हो गया था। यह धीरे-धीरे विकसित हुई थी। पर इसके कारण यूरोप के जीवन में एक मौलिक परिवर्तन आ गया, और एक नई सभ्यता का सूत्रपात हुआ। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ इंग्लैण्ड में हुआ था। वहीं से वह पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों में फैली और बाद में संसार के प्रायः सभी देशों में व्याप्त हो गई। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों ने यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश किया, उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ऐसे यान्त्रिक आविष्कार, जिनसे मानव श्रम की बचत हो। (२) जल, कोयला, भाप और बिजली को यान्त्रिक शक्ति के काम में लाया जा सकता है, इस बात का परिज्ञान। (३) रसायन शास्त्र की नई विधियों व प्रक्रियाओं का आविष्कार। इस औद्योगिक क्रान्ति और नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण पश्चिमी यूरोप के देशों के हाथों में ऐसी शक्ति आ गई थी, जिसका उपयोग कर वे उन

देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते थे, जिनमें अभी औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई थी। बारूद का आविष्कार सबसे पहले मंगोल लोगों ने किया था। इस आविष्कार के कारण मंगोलों को एक ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई थी, जो किसी अन्य जाति व देश के पास नहीं थी। इसी कारण वे प्रशान्त महासागर से लेकर कैस्पियन सागर व उससे भी पश्चिम तक अपना विशाल साम्राज्य स्थापित कर सके थे। अठारहवीं सदी के नए वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण पश्चिमी यूरोप के हाथों में भी ऐसे साधन आ गए थे, जिनका उपयोग कर इंग्लैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड, स्पेन, पोर्तुगाल आदि देश एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के विविध प्रदेशों को अपने आधिपत्य में ले आने में समर्थ हो गए थे। भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना का भी यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद यूरोप में राज्यक्रान्तियों का सिलसिला भी शुरू हुआ। मुद्रण यन्त्र और कागज से पुस्तकों और पत्रिकाओं की उपलब्धि सुलभ हो गई, और नए विचारों का सर्वसाधारण जनता में प्रचार सम्भव हो गया। १७८९ ई० में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, और वहां की जनता ने बूर्बों वंश के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर गणशासन की स्थापना की। फ्रेंच राज्यक्रान्ति का प्रभाव यूरोप के अन्य देशों पर भी पड़ा, और उनके शासन, समाज तथा आर्थिक संगठन में ऐसे तत्त्वों का समावेश होने लगा, जो आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के अनुरूप थे। राष्ट्रीयता की भावना एक ऐसा ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। मध्य काल में यूरोप में भी राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था। इटली और जर्मनी सदृश यूरोपियन देश उसी प्रकार बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त थे, जैसे कि भारत। पूर्वी यूरोप के कितने ही देश रूस, आस्ट्रिया, तुर्की आदि के साम्राज्यवाद के शिकार थे। पर आधुनिक युग की नई प्रवृत्तियों ने यूरोप के देशों को राष्ट्रीयता के आधार पर पुनःसंगठित करना प्रारम्भ कर दिया था, और ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस सदृश देश राष्ट्रीय राज्यों के रूप में परिवर्तित हो गए थे। औद्योगिक क्रान्ति और राज्यक्रान्तियों के परिणामस्वरूप पश्चिमी यूरोप के देशों के सैन्य संगठन, युद्धनीति और शासनव्यवस्था आदि में भी ऐसे परिवर्तन आए, जिनके कारण उनकी शक्ति में वृद्धि हुई और पिछड़े हुए देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकना उनके लिए सम्भव हो गया।

अठारहवीं सदी में जब यूरोप में नवयुग का प्रारम्भ हो रहा था, भारत की दशा निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। मुगल साम्राज्य की शक्ति में ह्रास हो जाने के कारण देश में कोई ऐसा केन्द्रीय सुदृढ़ शासन नहीं रह गया था, जो भारत की राजनीतिक एकता को स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहता। मुगल साम्राज्य के खण्डहरों पर जो बहुत-से छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गए थे, वे परस्पर संघर्ष में तत्पर रहते थे। राष्ट्रीय भावना और राजनीतिक एकता के विचार उस समय भारत में विकसित ही नहीं हुए थे। मराठों, राजपूतों, सिक्खों और जाटों के रूप में जिन आर्य शक्तियों का इस काल में पुनरुत्थान हो रहा था, उनमें भी हिन्दू या आर्य के रूप में अपने एक होने और इस देश को फिर से सच्चे अर्थों में 'आर्यावर्त' बनाने की कल्पना का सर्वथा अभाव था। भारत का समाज व शासन तब सामन्त पद्धति पर आधारित था, जिसके कारण न यहाँ केन्द्रीय सुदृढ़ शासन स्थापित हो सकता था और न न्याय व समता पर आधारित सामाजिक संगठन। इस दशा में यदि ब्रिटेन (जहाँ औद्योगिक क्रान्ति के कारण नवयुग का

सूत्रपात हो चुका था) के लोग भारत में अपनी प्रभुता स्थापित करने में समर्थ हो गए, तो यह स्वाभाविक ही था।

(२) आर्य संस्कृति और धर्म पर शक्तिशाली आक्रमण

भारत पर विदेशी व विधर्मी जातियों का आक्रमण कोई नई व असाधारण बात नहीं थी। बहुत प्राचीन काल (छठी सदी ईस्वी पूर्व) में पर्शिया के शक्तिशाली सम्राट् दारयवहु (५२१-४८५ ई० पू०) ने भारत पर आक्रमण कर उसके उत्तर-पश्चिमी प्रदेश को अपने साम्राज्य के अंतर्गत कर लिया था। चौथी सदी ईस्वी पूर्व में मैसिडोनिया का राजा सिकन्दर दिग्विजय करता हुआ विपाशा (व्यास) नदी तक चला आया था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में यवनराज सैल्युकस ने भारत को आक्रान्त किया, पर उसे यहाँ अपने पैर जमा सकने में सफलता नहीं मिली। भारत पर हुए इन विविध आक्रमणों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं हुआ, और इन द्वारा इस देश के आर्यों की राजशक्ति किसी भी प्रकार शिथिल नहीं हुई। मौर्य राजा अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण जब मागध साम्राज्य की सैन्यशक्ति क्षीण हो गई, तो यवन, शक, पल्हव और कुशाण आक्रान्ताओं को भारत के कतिपय प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित करने का अवसर मिल गया, और कुछ सदियों तक वे उत्तर-पश्चिमी एवं पश्चिमी भारत पर शासन करते रहे। पर रणक्षेत्र में विजयी हो जाने और भारत में अपने छोटे-बड़े राज्य स्थापित कर सकने में समर्थ हो जाने पर भी ये विदेशी आक्रान्ता इस देश के धर्म तथा संस्कृति से पराभूत हो गए। इन्होंने आर्य धर्मों, आर्य भाषाओं और आर्य संस्कृति को अपना लिया, और भारत में स्थायी रूप से बसकर ये सब पूर्णतया भारतीय आर्य बन गए। यही गति हूण आक्रांताओं की भी हुई। इन विदेशी जातियों के कारण आर्य धर्म और संस्कृति के लिए कोई खतरा उत्पन्न नहीं हुआ। तथ्य तो यह है, कि इनसे आर्यों की शक्ति में वृद्धि ही हुई। पुष्यमित्र शुंग के समय (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व) में प्राचीन सनातन वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, उसने न केवल यवन, शक, कुषाण, हूण आदि विदेशी आक्रांताओं को पूर्णतया आत्मसात् कर लिया था, अपितु साथ ही दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों तथा प्रदेशों में आर्य धर्म तथा संस्कृति के प्रसार में भी उससे बहुत सहायता मिली थी।

आठवीं सदी के प्रारम्भ में भारत पर अरबों के आक्रमण शुरू हुए। पर विश्व विजयी अरब सेनाएँ भारत को जीत सकने में असमर्थ रहीं, और इस्लाम का प्रथम सम्पर्क इस देश के धर्म एवं संस्कृति में निर्बलता लाने या उसे प्रभावित कर सकने में असफल रहा। दसवीं सदी के तुर्क आक्रमण भी भारत के आर्यों की शक्ति को नष्ट नहीं कर सके। बारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में उत्तरी भारत के कतिपय प्रदेशों पर स्थायी रूप से अपना प्रभुत्व स्थापित करने में तुर्क-अफगान आक्रान्ता सफल हुए, और उनके विविध राजवंश दिल्ली को राजधानी बनाकर सोलहवीं सदी के प्रारम्भ तक शासन करते रहे। पर तीन सदी से कुछ अधिक समय का यह मुसलिम शासन भारत से आर्य धर्म और आर्य संस्कृति को नष्ट कर सकने में असमर्थ रहा। इस्लाम की वह अनुपम शक्ति, जिसने पूर्वी रोमन साम्राज्य, ईजिप्ट, पर्शिया, मध्य एशिया आदि के प्राचीन धर्मों को पूर्णतया नष्ट कर वहां के निवासियों को मुसलमान बना लिया था, भारत में आकर बहुत कुछ

शिथिल हो गई थी और वह इस देश के बहुत थोड़े से निवासियों को ही अपने धर्म का अनुयायी बना सकी थी। मध्य युग में किस प्रकार प्राचीन हिन्दू (आर्य) धर्म में सुधार के नये आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ और आर्य सन्त-महात्माओं ने अपने सनातन धर्म की रक्षा के लिए कैसे प्रयत्न किया, इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। तुर्क-अफगानों के शासन का अन्त कर जिन मुगलों ने भारत में अपनी सत्ता स्थापित की थी, वे हिन्दू धर्म के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके थे, और उन्होंने एक ऐसी शासन नीति का अनुसरण किया था जिसमें हिन्दुओं के प्रति समुचित व्यवहार किया जाता था और जिसके कारण मुगल साम्राज्य के शासन में हिन्दुओं को सम्मानास्पद स्थान प्राप्त था। इस्लाम जो पर्शिया, ईजिप्ट आदि के समान भारत को आत्मसात् नहीं कर सका, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि हिन्दू धर्म की तुलना में उसमें कोई विशेष उत्कृष्टता नहीं थी। यह सही है कि इस्लाम मनुष्यमात्र की समता का प्रतिपादन करता था, ऊंच-नीच के भेद का उसमें अभाव था और एक ईश्वर तथा एक रसूल में विश्वास के कारण उसके अनुयायियों में एकता तथा शक्ति भी बनी रहती थी। जात-पाँत और छूत-अछूत के भेदों के कारण हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था मुसलिम समाज की तुलना में दूषित थी, और बहुत-से देवी-देवताओं में विश्वास के कारण हिन्दुओं में वह धार्मिक ऐक्य तथा संगठन भी विकसित नहीं हो पाता था, जो मुसलमानों में था। पर नानक, रामानन्द, चैतन्य आदि सन्त-महात्माओं ने सब मनुष्यों की समता और ईश्वर की भक्ति के जो आन्दोलन चलाये थे, उनके कारण मध्य युग का हिन्दू धर्म इस्लाम की तुलना में हीन नहीं रह गया था। इसके अतिरिक्त हिन्दू (आर्य) धर्म में जो अत्यन्त उत्कृष्ट प्रकार की आध्यात्मिकता तथा साधना थी, इस्लाम भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा था। मुसलिम फकीर और पीर हिन्दू सन्तों के सम्पर्क में आकर उनसे प्रेरणा प्राप्त करते थे, जिसके परिणाम-स्वरूप इस्लाम में भी ऐसे अनेक तत्त्वों का समावेश हो गया था, जो मूल व वास्तविक मुसलिम धर्म के अनुरूप नहीं थे। इस दशा में यदि इस्लाम भारत में उस प्रकार की सांस्कृतिक विजय स्थापित नहीं कर सका, जैसी कि उसने पर्शिया आदि में की थी, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

पर अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जिस अंग्रेज जाति ने भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करना प्रारम्भ किया था, वह एक ऐसे देश से आई थी, जहाँ औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी, नये वैज्ञानिक आविष्कार होने लग गए थे, पुनःजागरण और धार्मिक सुधारणा ने जहाँ लोगों की मानसिक दासता को बहुत अंशों में दूर कर दिया था, जहाँ की शासन-व्यवस्था में लोकतन्त्र के तत्त्व समाविष्ट होने लग गए थे, और जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में तेजी के साथ अग्रसर होना शुरू कर चुका था। मध्य काल के अन्धकार युग का अन्त हो जाने के कारण अब ब्रिटेन में विचार-स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी, और उस सामाजिक संकीर्णता एवं कुरीतियों को दूर करने का भी वहाँ सफल प्रयत्न किया जा रहा था, मध्य काल में जिनकी सत्ता संसार के प्रायः सभी देशों में थी। ब्रिटिश लोग केवल आक्रान्ता और विजेता के रूप में ही भारत में प्रविष्ट नहीं हुए थे, वे एक ऐसी सभ्यता एवं संस्कृति को भी अपने साथ में लाए थे, जो विज्ञान पर आधारित थी। उनकी न केवल युद्धनीति ही उस समय के भारतीय राज्यों की युद्ध-पद्धति की तुलना में अधिक उत्कृष्ट थी, अपितु शासनव्यवस्था, सैन्यसंगठन और

राष्ट्रीय भावना में भी अंग्रेज लोग भारतीयों से अधिक उन्नत थे। ग्रेट ब्रिटेन में जो साहित्य इस काल तक विकसित हो चुका था, वह केवल काव्यों तथा ललित-कलाओं तक ही सीमित नहीं था। भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों पर भी वहाँ उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ लिखे जाने प्रारम्भ हो चुके थे। इसके विपरीत अठारहवीं सदी के भारतीय साहित्य का सम्बन्ध प्रधानतया धर्म और कविता से था। भौतिकी, रसायन आदि भौतिक विज्ञानों और राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों का तब भारत में न पठन-पाठन होता था, और न इन पर कोई ग्रन्थ ही लिखे जाते थे। जहाँ तक ज्ञान-विज्ञान का सम्बन्ध है, अंग्रेज लोग उस समय के भारतीयों की तुलना में अवश्य ही आगे बढ़े हुए थे। अंग्रेजी शासन के साथ-साथ ईसाई धर्म का भी भारत में प्रवेश हुआ। भारत के निवासी इस धर्म से चिरकाल से परिचित थे। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार सेण्ट टामस नामक ईसाई पादरी प्रथम शताब्दी ईस्वी में भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर धर्म प्रचार के लिए आया था, और उसने केरल के क्षेत्र में अनेक परिवारों को ईसाई धर्म में दीक्षित भी किया था। पन्द्रहवीं सदी के अन्त में जब पोर्तुगीज लोगों ने गोआ और समीपवर्ती प्रदेश में अपनी व्यापारिक कोठियाँ कायम करनी प्रारम्भ कीं, तो वहाँ के निवासियों को उन्होंने बलपूर्वक ईसाई बनाने में भी संकोच नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं, कि पश्चिमी यूरोप के व्यापारियों के सम्पर्क से ईसाई धर्म भी भारत में प्रवेश पाने लग गया था, और उसके प्रचारक इस देश में सक्रिय रूप से अपने धर्म का प्रचार करने में तत्पर हो गए थे। ज्यों-ज्यों भारत के विविध प्रदेशों पर यूरोपियन देशों का प्रभुत्व स्थापित होता गया, ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ भी जोर पकड़ती गईं। अठारहवीं सदी के मध्य तक यह भली भाँति स्पष्ट हो गया था, कि फ्रांस सदृश अन्य यूरोपियन देश साम्राज्यवाद की दौड़ में ब्रिटेन से पिछड़ जाएँगे, और भारत पर अंग्रेज ही अपना आधिपत्य स्थापित कर सकेंगे। पूरी एक सदी तक ब्रिटिश लोग भारत को अपनी अधीनता में ले आने के लिए संघर्ष में व्यापृत रहे। इस बीच में ईसाई पादरियों का प्रचार कार्य भी निरन्तर बढ़ता गया।

अंग्रेजी प्रभुत्व और ईसाई धर्म के प्रचार के कारण भारतीय आर्यों के धर्म तथा संस्कृति पर जो आक्रमण अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ, वह अत्यन्त शक्तिशाली था। इसके पीछे केवल राज्य की ही शक्ति नहीं थी। ज्ञान-विज्ञान में अंग्रेजों की उत्कृष्टता के कारण ईसाई धर्म को अनुपम बल मिल रहा था। ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप भारत का सम्पर्क जिस पाश्चात्य सभ्यता के साथ हुआ था, वह यान्त्रिक शक्ति तथा विज्ञान पर आधारित थी। यद्यपि ईसाई धर्म के साथ उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था, पर जो अंग्रेज मिशनरी भारत में ईसाई धर्म के प्रचार में संलग्न थे, उन्हें अंग्रेज शासकों से पृथक् रख सकना सम्भव नहीं था। इन ईसाई प्रचारकों की पीठ पर ब्रिटिश सरकार की राजशक्ति भी थी, और पाश्चात्य सभ्यता का विज्ञान या यांत्रिक बल भी। इस दशा में उनका कार्य अधिक कठिन नहीं था। वे सुगमता से भारतीयों को अपने धर्म का अनुयायी बना सकते थे। इस अनुकूल परिस्थिति का उन्होंने पूरी तरह से उपयोग किया, और जहाँ-जहाँ अंग्रेजी शासन की स्थापना होती गई, ईसाई मिशनरी भी अपने कार्य का विस्तार करते गए।

जो आर्य कितनी ही विदेशी व विधर्मी जातियों के आक्रमणों का सफलतापूर्वक

प्रतिरोध करते रहे थे, विधर्मी शासनों के अधीन रहकर भी जिन्होंने अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति निष्ठा का त्याग नहीं किया था, और इस्लाम सदृश शक्तिशाली धर्म के सम्मुख भी जिन्होंने अपनी सत्ता तथा गौरव को कायम रखा था, अब उन्हें एक ऐसे नये धर्म,सभ्यता और संस्कृति का सामना करना था, जिसे शासन के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान की शक्ति भी प्राप्त थी। अंग्रेजों का रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, विश्वास, मान्यताएं, समाज-संगठन सब भारतीयों से भिन्न थे। अपनी सभ्यता और संस्कृति को वे बहुत ऊँचा समझते थे, और पराभूत लोगों को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखते थे। यूरोप के लोगों ने जब अमेरिका महाद्वीप के विविध प्रदेशों में प्रवेश किया, तो वहाँ के मूल निवासियों का उन्होंने क्रूरता के साथ संहार किया। अजटेक, मय और इन्का सदृश जो अनेक सभ्यताएँ वहाँ विद्यमान थीं, उन्हें नष्ट करने में उन्होंने जरा भी संकोच नहीं किया। वे इन सभ्यताओं का आमूल विनाश कर सके, क्योंकि उनके पास युद्ध और संहार के बारूद सदृश ऐसे साधन थे जो अमेरिका के मूल निवासियों के पास नहीं थे। अफ्रीका महाद्वीप के मूल निवासियों को नष्ट करने और उनके प्रदेशों को अपने अधिकार में ले आने में भी पाश्चात्य यूरोपियन लोगों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। पशुओं के समान अफ्रीकन लोगों को यूरोप और अमेरिका की मण्डियों में बेचा गया, और उन्हें दास बनाकर अपने खेतों में काम करने के लिए रख लिया गया। सोलहवीं सदी में पोर्तुगीज लोगों ने भारत में भी उसी नीति को अपनाना चाहा, जो कि पाश्चात्य लोग अफ्रीका तथा अमेरिका में प्रयुक्त कर रहे थे। समुद्रतट के समीपवर्ती जिन प्रदेशों पर पोर्तुगीज लोगों ने अधिकार कर लिया था, उनके निवासियों के प्रति उन्होंने अत्यन्त क्रूरता का बरताव किया। पर भारतीय लोग सभ्यता के क्षेत्र में उस प्रकार पिछड़े हुए नहीं थे, जैसे कि अमेरिका और अफ्रीका के मूल निवासी थे। वे भी बारूद का प्रयोग जानते थे, और अपने कारखानों में यान्त्रिक शक्ति के बिना ही बहुत बढ़िया कपड़ा तथा अन्य औद्योगिक माल तैयार करते थे। इस दशा में यहाँ के निवासियों को सर्वथा नष्ट कर सकना या उन्हें अपना गुलाम बना कर रख सकना तो अंग्रेजों के लिए सम्भव नहीं था, पर वे उनके धर्म तथा संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न अवश्य कर सकते थे। अन्य देशों पर अपने प्रभुत्व को स्थायी रखने का एक साधन जो अंग्रेजों ने अपनाया, वह यह था कि वहाँ के निवासियों में हीन भावना उत्पन्न कर दी जाए। वे यह विश्वास करने लगें, कि अंग्रेज शासकों का रहन-सहन, शासन-संस्थाएँ, धर्म, समाज-संगठन, आचार-विचार सब उनकी अपनी तुलना में बहुत उत्कृष्ट हैं। अपने अधीनस्थ देशों के लोगों को मानसिक दृष्टि से गुलाम बना लेने की नीति का अवलम्बन करके ही अंग्रेज अपने साम्राज्य को स्थिर रख सकते थे। भारत में भी उन्होंने इसी नीति को अपनाया। ईसाई मिशनरी तो इस देश में अपने धर्म का प्रचार करने में तत्पर थे ही, अंग्रेजों द्वारा जिस शिक्षा को भारत में प्रचारित किया गया, उसका उद्देश्य भी अपनी भाषा, संस्कृति और साहित्य आदि की उत्कृष्टता का सिक्का भारतीयों के दिलों और दिमागों पर जमा देना था। आर्यों पर यह एक ऐसा सांस्कृतिक आक्रमण था, जैसा कि भारत के सुदीर्घ काल के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था।

इसमें सन्देह नहीं, कि ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना के समय भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। मध्य युग में भारत में धार्मिक

सुधारणा के जिन आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ था, उन्होंने हिन्दू जनता को इस्लाम का अनुयायी होने से अवश्य बचा लिया था, पर उनके कारण इस देश से वे कुरीतियाँ व बुराइयाँ दूर नहीं हो पाई थीं, जिन्होंने यहाँ के समाज को शक्तिहीन बनाया हुआ था। जात-पाँत और ऊँच-नीच के भेद पूर्ववत् विद्यमान थे, जनता का बड़ा भाग पूर्णतया निरक्षर था और उसे शिक्षा देने की न केवल आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी, अपितु धार्मिक दृष्टि से यह भी प्रतिपादित किया जाता था कि शूद्रों और स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए। जनता में अनेक प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित थे और युक्ति तथा तर्क द्वारा सत्य पर पहुँचने की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव था। राजनीतिक एकता भारत में थी ही नहीं। ऐसी दशा में पश्चिमी यूरोप की जिस उन्नतिशील जाति ने भारत में प्रवेश कर यहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, उससे अपने धर्म तथा संस्कृति की रक्षा कर सकना भारतीय आर्यों के लिए सुगम बात नहीं थी। पर आर्य धर्म और संस्कृति में एक ऐसी अनुपम विशेषता है, कि जब कभी इस पर घोर विपत्ति आती है, कोई-न-कोई ऐसे महापुरुष उत्पन्न हो जाते हैं जो इसमें नवजीवन का संचार कर देते हैं और जिनके प्रयत्न से इसका नाश नहीं हो पाता। गीता में श्रीकृष्ण ने इसी तथ्य को आलंकारिक रूप से इस प्रकार कहा है—"जब कभी धर्म का ह्रास एवं अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब मैं उत्पन्न होकर साधुजनों का परित्राण और दुष्कर्म करने वालों का विनाश करता हूँ। इस प्रकार मैं युग-युग में धर्म की स्थापना के लिए जन्म लिया करता हूँ।" गीता के इन श्लोकों में एक सत्य को प्रकट किया गया है। परमेश्वर न कभी जन्म लेता है और न कभी अवतार ग्रहण करता है, क्योंकि वह 'अजन्मा' है। पर ऐसी मुक्त आत्माएं समय-समय पर अवश्य शरीर धारण करती हैं, जिन द्वारा धर्म की रक्षा, अधर्म का विनाश और सद्धर्म का पुनः स्थापन किया किया जाता है। सत्य सनातन आर्य धर्म की रक्षा एवं स्थापना के लिए ऐसी कितनी ही आत्माएँ समय-समय पर महापुरुषों के रूप में जन्म लेती रही हैं। राम और कृष्ण इसी प्रकार के महापुरुष थे। आधुनिक युग में जब अंग्रेजों के आधिपत्य और ईसाइयों के प्रचार द्वारा आर्य धर्म के लिए एक प्रबल संकट उपस्थित हुआ, तो महर्षि दयानन्द सरस्वती के रूप में एक ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हुआ, जिसने कि आर्यों में नवजीवन का संचार कर उन्हें उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अनुपम प्रेरणा प्रदान की। इस महापुरुष के जीवन एवं कर्तृत्व पर प्रकाश डालने से पूर्व यह उपयोगी होगा, कि उन नई प्रवृत्तियों तथा आन्दोलनों का संक्षेप से उल्लेख कर दिया जाए जिनका सूत्रपात महर्षि के आविर्भाव से पूर्व भारत में हो चुका था।

(३) भारत में आधुनिक युग का प्रारम्भ

यूरोप के इतिहास में मध्य काल को 'अन्धकार युग' कहा जाता है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। धीरे-धीरे वहाँ अन्धकार का अन्त होकर ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश फैलना शुरू हुआ। बुद्धि-स्वातन्त्र्य और धार्मिक सुधार के आन्दोलन, औद्योगिक क्रान्ति, नये वैज्ञानिक आविष्कार और राज्यक्रान्तियाँ यूरोप में नया युग लाने में सहायक हुईं और इन्हीं के परिणामस्वरूप यूरोप से अन्धकार युग का अन्त हुआ। अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद भारत के इतिहास में भी एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'आधुनिक' या

'नया' युग कहा जा सकता है। इस युग में भारत में भी औद्योगिक क्रान्ति तथा नए ज्ञान-विज्ञान का प्रवेश हुआ, और उन सब प्रवृत्तियों ने इस देश की जनता को प्रभावित करना शुरू किया जिनके कारण यूरोप में नये युग का सूत्रपात हुआ था। ज्ञान-विज्ञान तथा विचार किसी एक देश व जाति की सम्पत्ति बनकर नहीं रह सकते। वे वायु के समान होते हैं, जो शीघ्र ही सर्वत्र फैल जाते हैं। आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान का प्रादुर्भाव पश्चिमी यूरोप के देशों में हुआ था। बाद में उसे पूर्वी और मध्य यूरोप के देशों ने अपनाया और फिर वे एशिया में भी प्रसारित हो गए। इतिहास का यही क्रम है। यदि भारत पर अंग्रेजी शासन स्थापित न भी होता, तो भी यहाँ नये ज्ञान-विज्ञान का अवश्य प्रवेश हो जाता। जापान कभी किसी पाश्चात्य देश के प्रभुत्व में नहीं रहा, फिर भी उसने नए ज्ञान-विज्ञान को अपनाया और आधी सदी के स्वल्प काल में ही वह देश उन्नत पाश्चात्य यूरोपियन राज्यों के समकक्ष हो गया। पर हमें यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि ब्रिटिश शासन की स्थापना के कारण पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान तथा राजनीतिक प्रवृत्तियों के भारत में प्रविष्ट होने की प्रक्रिया में सहायता अवश्य मिली। ब्रिटिश शासकों ने जान-बूझकर व स्वेच्छापूर्वक नये ज्ञान-विज्ञान तथा नई राजनीतिक प्रवृत्तियों का भारत में प्रवेश नहीं कराया। उनकी आर्थिक नीति यह थी कि भारत ब्रिटेन की आर्थिक समृद्धि का साधनमात्र बना रहे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल के वस्त्र उद्योग को नष्ट किया, ताकि ब्रिटेन अपने कारखानों में तैयार हुए कपड़े को भारत में सुगमता से बेच सके। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक अंग्रेजों का यही प्रयत्न रहा कि भारत में कल-कारखानों का विकास न होने पाए, और इस देश का आर्थिक जीवन इस प्रकार का बना रहे, जिससे कि ब्रिटेन को अपने कारखानों के लिए आवश्यक कच्चा माल सस्ती कीमत पर प्राप्त हो सके और उनमें तैयार माल यहाँ मुनाफे से बेचा जा सके। पर अंग्रेजों की इस नीति के बावजूद भी यह सम्भव नहीं था कि यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति का भारत पर कोई प्रभाव न पड़ता। इसीलिए उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही यहाँ कल-कारखाने स्थापित होने शुरू हो गए थे, और बीसवीं सदी के प्रारम्भ के स्वदेशी आन्दोलन ने भारत में औद्योगिक क्रान्ति के सूत्रपात में बहुत सहायता पहुँचाई।

पर यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि भारत में आधुनिक या नवयुग के प्रारम्भ होने में ब्रिटिश आधिपत्य ने अनेक प्रकार से सहायता भी पहुँचाई। सम्पूर्ण देश में एक सुव्यवस्थित व सुसंगठित सरकार स्थापित कर अंग्रेजों ने भारत में वही कार्य किया, जो चौदहवें लुई ने फ्रांस में, फिलिप द्वितीय ने स्पेन में और पीटर द ग्रेट ने रूस में किया था। इन शक्तिशाली राजाओं से पूर्व फ्रांस आदि यूरोपियन देशों में राजनीतिक एकता का अभाव था। वहाँ बहुत-से छोटे-बड़े राजाओं व सामन्तों की सत्ता थी, जो परस्पर युद्धों में व्यापृत रहा करते थे। शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अभाव के कारण राज्य में शान्ति व व्यवस्था स्थापित नहीं हो पाती थी। फ्रांस में लुई चौदहवें ने विविध सामन्त राजाओं को अपना वशवर्ती बनाया, और एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना की। औरंगजेब की साम्प्रदायिक नीति के परिणामस्वरूप भारत में केन्द्रीय शासन का प्राय: अभाव हो गया था, और बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों के कायम हो जाने के कारण भारत की राज-शक्ति बुरी तरह से बिखर गई थी। इस स्थिति का अन्त कर अंग्रेजों ने भारत में न केवल सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन ही स्थापित किया, अपितु राजनीतिक एकता भी कायम की।

अंग्रेजी शासन द्वारा भारत में नई शिक्षा और अंग्रेजी भाषा का भी प्रवेश हुआ। अंग्रेज शासकों ने अपनी भाषा को ही सरकारी कार्यों के लिए प्रयुक्त करने की नीति अपनाई, और विवश होकर उन भारतीयों को अंग्रेजी भाषा सीखनी पड़ी जो राज्यकार्य में ब्रिटिश सरकार के सहयोगी बने। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रवेश के कारण उन सब ज्ञान-विज्ञानों का स्रोत भारत के लिए खुल गया, जिनका विकास इस युग में ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य देशों में हो रहा था। इससे न केवल भारत की औद्योगिक उन्नति में ही सहायता मिली, अपितु राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र शासन और समाजवाद आदि के नए विचार भी इस देश में प्रसारित होने लगे। ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी भाषा के कारण भारत का अन्य देशों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित होने में भी सहायता मिली।

भारत में नवयुग का प्रारम्भ होने में नई शिक्षा का कर्तृत्व भी बड़े महत्त्व का था। अठारहवीं सदी के मध्य भाग में जब बंगाल पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हुआ, तो वहाँ शिक्षा के केन्द्र वे मदरसे और पाठशालाएं थीं, जिनका संचालन धार्मिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था। इनमें प्रधानतया अरबी, फारसी और संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी। गणित, इतिहास, भूगोल, रसायन, भौतिकी आदि के पठन-पाठन की उनमें व्यवस्था नहीं थी। पुराने ग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों में जो कुछ ज्ञान उपलब्ध था, विद्यार्थी केवल उसे ही प्राप्त कर सकते थे। शुरू में जब बंगाल पर अंग्रेजी शासन स्थापित हुआ, तो अंग्रेजों का भी यही विचार था कि भारतीयों के लिए वही शिक्षापद्धति उपयुक्त है जो परम्परागत रूप से इस देश में चली आ रही है। अरबी, फारसी और संस्कृत के अध्ययन से ही यहाँ के लोगों का काम चल सकता है, और उन्हें नए ज्ञान-विज्ञान को सीखने की कोई आवश्यकता नहीं है। उस युग में ब्रिटेन में भी शिक्षा का कार्य प्रधानतया ईसाई चर्च के हाथ में था, और ऑक्सफॉर्ड तथा कैम्ब्रिज सदृश विश्वविद्यालयों में भी ग्रीक और लेटिन की शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया जाता था। इसीलिए १७८१ में वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता में एक मदरसे की स्थापना की, जिसमें अरबी और फारसी के उच्चतम अध्ययन की व्यवस्था की गई। १७८४ में सर विलियम जोन्स द्वारा एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल का संगठन किया गया, जिसका उद्देश्य भारत के प्राचीन ज्ञान का अनुशीलन करना था। १७९२ ईस्वी में काशी में संस्कृत कॉलेज की स्थापना की गई। अठारहवीं सदी के अन्त तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासकों ने पाश्चात्य जगत् में विकसित हुए नए ज्ञान-विज्ञान से भारतीयों को परिचित कराने के सम्बन्ध में कोई पग नहीं उठाया। पर ईसाई मिशनरियों का यह विचार था कि भारत में क्रिश्चिएनिटी के प्रचार में अंग्रेजी शिक्षा बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है। इसीलिए उन्होंने मद्रास और बंगाल के उन प्रदेशों में, जहाँ अंग्रेजी प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, अनेक ऐसे शिक्षणालयों की स्थापना प्रारम्भ की, जिनमें अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ गणित, भूगोल, इतिहास और भौतिक विज्ञानों की शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था थी। इसी समय ईसाई पादरियों ने अपने धर्मग्रन्थ बाइबल का भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराना भी प्रारम्भ किया। इससे बंगला आदि भारतीय भाषाओं में गद्य साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता मिली।

ईसाई पादरियों द्वारा स्थापित शिक्षणालयों को देखकर अनेक विचारशील भारतीयों का ध्यान भी नवीन शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ। राजा राममोहन राय और

उनके साथियों के प्रयत्न से कलकत्ता में हिन्दू कॉलिज की स्थापना की गई। यही कॉलिज आगे चलकर 'प्रेजीडेन्सी कॉलिज' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें भी अंग्रेजी भाषा और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था। ईसाई मिशनरियों और राजा राममोहन राय सदृश भारतीयों के प्रयत्न से भारत में नवीन शिक्षा का जो सूत्रपात किया जा रहा था, ब्रिटिश शासकों के लिए उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं हुआ। उन्होंने भी शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया, और नई शिक्षा के लिए स्कूल-कॉलिज खोलने की नीति को अपनाया। ज्यों-ज्यों भारत के विविध प्रदेशों में अंग्रेजी शासन का विस्तार होता गया, त्यों-त्यों ऐसे शिक्षणालय भी वहाँ स्थापित होते गए, जिनमें अंग्रेजी भाषा का विशिष्ट स्थान था। इनमें नए ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा अवश्य दी जाती थी, पर अंग्रेजी भाषा के माध्यम से। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि भारतीयों को वह नई वैज्ञानिक शिक्षा अवश्य प्राप्त करनी चाहिए थी, जिसका विकास इस काल में पाश्चात्य जगत् में हो रहा था। पर इसके लिए अंग्रेजी भाषा को पढ़ाने और उसे ही शिक्षा का माध्यम बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। भारतीय भाषाओं के माध्यम से भी नए ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जा सकती थी। पाश्चात्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति के साथ जिन विज्ञानों का विकास प्रारम्भ हुआ था, वे अंग्रेजी के अतिरिक्त फ्रेंच, जर्मन आदि अन्य यूरोपियन भाषाओं द्वारा भी प्राप्त किए जा सकते थे, और कोई भी देश अपनी भाषा से भी उनकी शिक्षा दे सकता था। जापान ने नए ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के लिए जापानी भाषा का ही प्रयोग किया था। पूर्वी यूरोप के विविध देश, जिन्होंने भौतिक विज्ञानों का स्वयं विकास न कर उन्हें पश्चिमी यूरोप के देशों से ही सीखा था, भी अपनी भाषाओं में ही इन विज्ञानों का अध्ययन-अध्यापन करते थे। पर भारत के अंग्रेज शासकों का नई शिक्षा का सूत्रपात करते हुए यह उद्देश्य था, कि यहाँ ऐसे शिक्षित लोगों की एक श्रेणी उत्पन्न हो जाए जो रंग से तो काले हों, पर भाषा, विचार, चिन्तन, वेशभूषा व रहन-सहन में अंग्रेजों के सदृश हों। वे भारतीयों को मानसिक दृष्टि से गुलाम बना देना चाहते थे। भारत पर उनका शासन तभी स्थायी हो सकता था, जबकि उनकी भारतीय प्रजा अंग्रेजों की तुलना में अपने को हीन समझने लगे और उसको यह सुदृढ़ विश्वास हो जाए कि अंग्रेज जाति, उसका धर्म, उसकी सभ्यता और संस्कृति भारत की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं। अपने इस उद्देश्य में अंग्रेज शासकों को सफलता भी प्राप्त हुई। शुरू-शुरू में जिन भारतीयों ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की, वे अंग्रेजी बोलने, अंग्रेजों की तरह रहने और अपने अंग्रेज शासकों का सब प्रकार से अनुकरण करने में गौरव अनुभव करने लगे। भारत के प्राचीन आर्य धर्म और आर्य संस्कृति पर यह अत्यन्त प्रबल आक्रमण था। इस देश की प्राचीन परम्परा के अनुसार भारतीयों ने ज्ञान को कहीं से भी प्राप्त करने में कभी संकोच नहीं किया। कभी ग्रीक लोगों ने ज्योतिष में बहुत उन्नति कर ली थी। भारतीय आर्यों ने ग्रीस के इस ज्योतिष ज्ञान की प्राप्ति के लिए ग्रीक आचार्यों को अपना गुरु माना और विनयपूर्वक यह लिखा कि यद्यपि यवन (ग्रीक) लोग म्लेच्छ हैं, पर वे ऋषियों के समान पूज्य हैं। अठारहवीं सदी में पाश्चात्य यूरोप में जिस नए ज्ञान-विज्ञान का विकास प्रारम्भ हुआ था, भारतीय लोग उसे भी उसी भावना से ग्रहण कर सकते थे, जैसे कि उनके पूर्वजों ने ग्रीक आचार्यों से ज्योतिष के नये मन्तव्यों की शिक्षा प्राप्त की थी। जहाँ तक स्कूल-कॉलिजों में नये ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का प्रश्न है, किसी

भी भारतीय को उसमें विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। पर उसके लिए अंग्रेजी को माध्यम बनाना एक ऐसी बात थी, जिसका समर्थन कर सकना कदापि सम्भव नहीं है। उसमें अंग्रेज शासकों का प्रयोजन इस देश की संस्कृति को सदा के लिए नष्ट कर देना और यहाँ के निवासियों को राजनीतिक और मानसिक दृष्टियों से गुलाम बना लेना ही था। पराधीन देश के निवासी स्वाभाविक रूप से अपने शासकों के सम्मुख अपने को हीन समझने लगते हैं। फिर यदि उन्हें शिक्षा भी ऐसी दी जाए, जो उनमें हीन भावना को विकसित करे, तब तो उनमें राष्ट्रीय व जातीय गौरव का ह्रास होने लगना अवश्यम्भावी है।

अंग्रेजी शिक्षा को ब्रिटिश शासकों ने चाहे किसी भी प्रयोजन से प्रारम्भ किया हो, और उससे चाहे भारत की राष्ट्रीयता, धर्म और संस्कृति को कितनी ही हानि पहुँची हो, पर उससे कुछ लाभ भी हुए। भौतिक विज्ञान, रसायन, गणित, भूगोल आदि की शिक्षा प्राप्त कर लेने के कारण भारत में एक ऐसे शिक्षित वर्ग का विकास हुआ, जिसके लोग जहाँ एक ओर सरकारी नौकरी प्राप्त पर अपने वैयक्तिक उत्कर्ष के लिए प्रयत्न-शील रहते थे, वहाँ साथ ही वे यह भी अनुभव करते थे कि भारत को भी इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों के समान उन्नतिपथ पर अग्रसर होना चाहिए। अपने देश की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दुर्दशा की इन्हें अनुभूति होती थी और ये इस बात के लिए उत्सुक थे कि भारत में भी नवयुग का सूत्रपात हो। इस नये शिक्षित वर्ग में अनेक ऐसे व्यक्ति भी हुए, जो अपने देश की धार्मिक और सामाजिक दुर्दशा को अनुभव कर यह विचार करने लगे कि उन्हें भी सामाजिक कुरीतियों के निवारण और धर्म में सुधार के लिए प्रयत्न करना चाहिए। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य जगत् में ऐसे साहित्य का निर्माण होने लग गया था, जो पाठकों को प्रगतिशील विचारों से परि-चित कराता था और जिसमें बुद्धि-स्वातन्त्र्य, लोकतन्त्रवाद, मानव अधिकार और सबके प्रति न्याय के मन्तव्यों का प्रतिपादन किया जाता था। ऐसा प्रगतिशील साहित्य अंग्रेजी भाषा में भी उपलब्ध था। नई शिक्षा पद्धति के अनुसार शिक्षा प्राप्त किए लोगों के लिए इस साहित्य को पढ़ सकना सुगम हो गया, और इस द्वारा उन्होंने वे विचार प्राप्त किए, जिनसे भारत में जन-जागरण उत्पन्न किया जा सकता था।

नवीन शिक्षा ने अनेक देशभक्त भारतीयों का ध्यान अपने देश के लुप्त गौरव की ओर भी आकृष्ट किया। ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में संस्कृत भाषा और प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन को भी स्थान दिया गया था। संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन पुराने ढंग के पण्डितों द्वारा भी किया जाता था, पर वैज्ञानिक विधि से उसका अनुशीलन नवीन यूनिवर्सिटियों द्वारा ही शुरू किया गया। नये ढंग से प्राचीन साहित्य और दर्शन शास्त्र का अध्ययन कर अनेक सुशिक्षित भारतीय युवकों में अपने देश की प्राचीन विचार सरणी और चिन्तन के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न हुआ, और वे भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों को पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रवृत्त हुए। प्राचीन भारतीय इतिहास की शोध को भी नई यूनिवर्सिटियों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। इस कारण भारत के लुप्त गौरवमय इतिहास का लोगों को ज्ञान हुआ, और वे अपने अतीत गौरव से प्रेरणा तथा उत्साह प्राप्त कर देश की दशा को सुधारने के लिए प्रवृत्त होने लगे। पर यह समझना भूल होगी कि भारत में नवयुग के सूत्रपात के लिए नई

अंग्रेजी शिक्षा को मुख्य श्रेय दिया जाना चाहिए। इस शिक्षा के कारण लोगों में जो हीन भावना उत्पन्न हुई, अपने धर्म, साहित्य और संस्कृति को तुच्छ समझने की जो प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी, और सब बातों में अंग्रेजों को उत्कृष्ट मानने और उनका अनुकरण करने की जो भावना विकसित होने लगी, उससे भारत को लाभ की अपेक्षा नुकसान अधिक हुआ। नवयुग के प्रारम्भ होने में उससे सहायता अवश्य मिली, पर अधिक नहीं।

अठारहवीं सदी के मध्य में भारत में अंग्रेजों के शासन की नींव रखी गई थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत के प्रायः सभी प्रदेशों पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया था। इस एक सदी में अंग्रेजी शिक्षा में भी निरन्तर वृद्धि होती गई। १८३५-३६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार की ओर से २३ सरकारी स्कूल खोले गए थे, जिनमें अंग्रेजी भाषा को प्रधान स्थान दिया गया था और शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी को ही रखा गया था। १८५५ में ऐसे स्कूलों की संख्या ११५१ हो गई थी। १८५७ में कलकत्ता में भारत के पहले अंग्रेजी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, और उस वर्ष का अन्त होने से पूर्व ही मद्रास और बम्बई में भी अंग्रेजी विश्वविद्यालय स्थापित किये गए। १८८७ तक भारत में पाँच विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे, और अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या २५ लाख से भी ऊपर पहुँच गई थी। भारत में नवीन शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न केवल अंग्रेजी सरकार द्वारा ही नहीं किया गया। ईसाई मिशनरी इसके लिए पहले से ही प्रयत्नशील थे। वे स्कूलों और कॉलिजों को अपने धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण साधन समझते थे। उन्नीसवीं सदी में ईसाईयों की शिक्षा-संस्थाओं की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई और भारत के प्रायः सभी बड़े नगरों में उन द्वारा स्कूल और कॉलिज स्थापित किये गए। इन शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी जहाँ अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य साहित्य और नये ज्ञान-विज्ञान से परिचय प्राप्त कर लेते थे, वहाँ साथ ही ईसाई धर्म से प्रभावित हुए बिना भी वे नहीं रह पाते थे। अनेक देशभक्त भारतीयों ने अपने देश में ईसाई धर्म के इस बढ़ते हुए प्रभाव को हानिकारक समझा, और उन्होंने ऐसे शिक्षणालयों की स्थापना पर ध्यान दिया, जिनमें नवीन शिक्षा के साथ-साथ भारतीय धर्म और संस्कृति का वातावरण हो। राजा राममोहन राय ने इसी विचार से कलकत्ता में हिन्दू कॉलिज की स्थापना की थी (१८१५)। बाद में जब अन्य सुधारकों ने देश में नये धार्मिक सुधार के आन्दोलनों का प्रारम्भ किया, तो उन्होंने भी ऐसे स्कूल-कॉलिजों की स्थापना की, जिनमें नई शिक्षा के साथ-साथ अपने धर्म तथा संस्कृति की भी शिक्षा दी जाती थी।

यूरोप में मध्य काल के अन्धकार युग का अन्त होकर जिस आधुनिक नवयुग का प्रारम्भ हुआ था, उसमें लोगों को बुद्धि की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, प्रमाणवाद का स्थान तर्क, युक्ति और परीक्षणों द्वारा सत्य के निर्धारण की प्रवृत्ति ने ले लिया, धर्म के क्षेत्र में भी लोग पुराने अन्धविश्वासों और प्रमाणवाद पर आधारित सिद्धान्तों का परित्याग कर बुद्धि व तर्क से काम लेने लगे, नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आर्थिक उत्पादन के साधनों में भारी क्रान्ति हुई, और शासन पद्धति तथा समाज-संगठन के सम्बन्ध में ऐसे विचारों का प्रसार होने लग गया जिनके परिणामस्वरूप राजाओं के लिए निरंकुश रूप से देश का शासन कर सकना और पूंजीपतियों के लिए मनमाने ढंग से कल-कारखानों का संचालन कर सकना सम्भव नहीं रह गया। भारत में भी जब जनयुग का सूत्रपात

हुआ, तो ये ही सब बातें किसी-न-किसी रूप में प्रगट होने लगीं। अंग्रेजों के शासन के कारण भारत का सम्पर्क एक ऐसे देश के साथ हो गया था जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उस समय संसार का शिरोमणि था, और औद्योगिक उन्नति व लोकतन्त्र शासन में अन्य देशों का अग्रणी था। इसीलिए पुनर्जागरण और धार्मिक सुधारणा से पूर्व ही यहाँ नये वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा उपलब्ध कराये गए साधनों का उपयोग किया जाने लगा, और सैन्य संगठन आदि के सम्बन्ध में उन तत्त्वों को अपनाया जाने लगा जो नवयुग की देन थे। १८५३ ईस्वी में भारत में रेलवे का उपयोग शुरू हो गया था, और १८७४ ईस्वी में नहरों के निर्माण का। पोस्ट ऑफिस और तारघरों द्वारा भारत में संचार के साधनों की उन्नति पर भी ब्रिटिश शासकों ने बहुत ध्यान दिया। इन सब की अंग्रेजों के लिए बहुत उपयोगिता थी, क्योंकि इन द्वारा ही वे इस विशाल देश पर अपने शासन को सुव्यवस्थित व सुदृढ़ बना सकते थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में नये ढंग के कल-कारखाने भी भारत में खुलने लगे। कपड़े की पहली मिल भारत में १८१८ ईस्वी में खुली थी। पर इस समय तक अंग्रेजों की यह नीति थी, कि भारत में कल-कारखानों का विकास न हो पाए। औद्योगिक क्रान्ति के कारण इंग्लैण्ड में यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले जो कारखाने स्थापित हो गये थे, उनमें बड़ी मात्रा में तैयार होने वाले माल की खपत की समस्या अंग्रेजों के सम्मुख थी। इस माल को वे भारत में तभी खपा सकते थे, जबकि यहाँ अपने कल-कारखाने न हों और कोई अन्य देश भी यहाँ ब्रिटिश माल का मुकाबिला न कर सके। इसी प्रयोजन से उन्होंने यह नीति अपनाई थी, कि भारत से कच्चा माल सस्ती कीमत पर प्राप्त किया जाए, और इंग्लैण्ड के कारखानों में उसे तैयार माल के रूप में परिवर्तित कर मंहगे मूल्य पर भारत में बेचा जाए। पर इस नीति के बावजूद भारत में यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले कल-कारखाने स्थापित होते गये। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तथा उत्तरार्द्ध में बम्बई, नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर आदि में कपड़े की कितनी ही मिलें स्थापित हो गई थीं, और लोहे आदि के कारखाने भी भारत में स्थापित होने शुरू हो गए थे। ये सब बातें भारत में नवयुग के सूत्रपात की सूचक थीं, और इन द्वारा इस देश में भी औद्योगिक क्रान्ति तथा आर्थिक उन्नति के चिह्न प्रगट होने प्रारम्भ हो गये थे।

भारत में नवयुग के प्रवर्तन में भारतीय भाषाओं के नवीन साहित्य ने भी बहुत सहायता की। कागज का निर्माण भारत में प्राचीन काल में ही प्रारम्भ हो चुका था, और मध्य युग में चिकने व बढ़िया कागज पर सुन्दर ढंग से लिखी हुई पुस्तकें बाजारों में बिकने भी लग गई थीं। लकड़ी की तख्तियों पर अक्षरों को उत्कीर्ण कर उनके ठप्पों से कागज पर छपाई की पद्धति भी ब्रिटिश प्रभुत्व से पूर्व भारत में शुरू हो चुकी थी। पर अठारहवीं सदी में जब प्रिंटिंग प्रेस का यहाँ प्रवेश हुआ, तो मशीन द्वारा पुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं का अच्छी बड़ी संख्या में छाप सकना सम्भव हो गया। छापेखाने के प्रवेश के कारण साहित्य की वृद्धि में बहुत सहायता मिली, और नई-नई पुस्तकें व पत्र-पत्रिकाएँ बाजार में विक्रय के लिए आने लगीं। नये विचारों के प्रसार में कागज और उस पर छपी हुई पुस्तकें बहुत सहायक सिद्ध हुईं, और सर्वसाधारण लोगों के लिए अपने ज्ञान में वृद्धि कर सकना सुगम हो गया। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए बाइबल का भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया, और अनेक छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित

करनी शुरू कीं। इस समय तक भारत के साहित्यकार अपनी रचनाएँ प्रायः पद्य में ही किया करते थे। छापेखाने के अभाव में बड़े गद्यग्रन्थों का लिखना और उन्हें प्रचारित करना बहुत क्रियात्मक नहीं था। इसी कारण आधुनिक शैली के बड़े-बड़े ग्रन्थ अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक भारतीय भाषाओं में प्रायः नहीं लिखे गए थे। अंग्रेजी शासन के स्थापित होने पर नई शिक्षा के साथ-साथ बंगला, उर्दू, हिन्दी आदि भाषाओं में गद्य ग्रन्थों के लेखन की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई और एक ऐसे नये साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिसने नवजागरण में बहुत सहायता पहुँचाई। सबसे पूर्व बंगाल अंग्रेजों के शासन में आया था और वहीं सबसे पहले नई शिक्षा शुरू हुई थी। इसी के परिणामस्वरूप उन्नीसवीं सदी में वहाँ अनेक ऐसे लेखक हुए, जिन्होंने बहुत-सी अंग्रेजी पुस्तकों का बंगला भाषा में अनुवाद किया, और कुछ स्वतन्त्र व मौलिक पुस्तकों की भी रचना की। इन लेखकों में कृष्णमोहन बैनर्जी (१८१३-८५), राजेन्द्रलाल मित्र (१८२१-९३), प्यारेचन्द्र मित्र (१८१३-८५) और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२०-९१) के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता थे और पाश्चात्य साहित्य से परिचय रखते थे। इसी काल में अनेक लेखक बंगला भाषा में नवीन शैली के काव्य, नाटक और उपन्यास लिखने में भी प्रवृत्त हुए। इनमें माइकेल मधुसूदन दत्त (१८२७-७३), दीनबन्धु मित्र (१८३०-७४) और बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय सर्वप्रधान थे। बंकिमचन्द्र के उपन्यास 'आनन्द मठ' ने बंगाल में देशभक्ति, राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावना को विकसित करने में बहुत सहायता दी। ब्रिटिश शासन का अन्त कर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए जो क्रान्तिकारी आन्दोलन भारत में चले, उनकी प्रेरणा आनन्दमठ से ही ली गई थी। इस उपन्यास के अन्यतम गीत 'वन्दे मातरम्' को क्रान्तिकारी लोग अपना मन्त्र व सूक्त मानते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उन्नीसवीं सदी में बंगाल में अनेक ऐसे साहित्यकार हुए, जिन्होंने कि अपनी रचनाओं द्वारा पाठकों को नये युग की प्रवृत्तियों तथा विचारों से परिचित कराने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

भारत के हिन्दी क्षेत्र में अंग्रेजी शासन की स्थापना बंगाल के पर्याप्त समय पश्चात् हुई थी। इसीलिए वहाँ नई शिक्षा का प्रवेश भी बाद में हुआ। हिन्दी साहित्य का विकास भी इसी कारण बंगाल के बाद प्रारम्भ हुआ। हिन्दी के गद्य ग्रन्थों की रचना में भी ईसाई मिशनरियों द्वारा पहल की गई। उन्नीसवीं सदी के शुरू में उन्होंने बाइबल का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया, और अपने स्कूलों में हिन्दी-उर्दू की शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता को अनुभव कर सन् १८८३ में आगरा में 'स्कूल बुक सोसायटी' की स्थापना की। इस सोसायटी द्वारा हिन्दी और उर्दू में अनेक पुस्तकें प्रकाशित की गईं। १८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध से पूर्व ही ईसाई मिशनरियों द्वारा मिर्जापुर में 'आरफेन प्रेस' नाम से एक मुद्रणालय कायम किया जा चुका था, जिसमें शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें छापी जाती थीं। उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक भाग में फोर्ट विलियम कॉलिज की ओर से हिन्दी और उर्दू में गद्य की पुस्तकें लिखवाने की व्यवस्था की गई, और हिन्दी में पुस्तकें लिखने के लिए लल्लूलाल जी और सदल मिश्र को नियुक्त किया गया। मुंशी सदासुखलाल और इन्शाअल्ला सदृश व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से भी इस समय हिन्दी में गद्य ग्रन्थ लिखने में तत्पर थे। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही हिन्दी में गद्य साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों को हिन्दी में

लिखकर हिन्दी गद्य साहित्य के विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में उन्होंने जिस प्रकार के विशाल ग्रन्थ हिन्दी भाषा में लिखे, वे वस्तुतः हिन्दी साहित्य के लिए नई बात थी। बाद में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, पण्डित प्रताप नारायण मिश्र आदि कितने ही साहित्यकार हुए, जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी साहित्य की समृद्धि के लिए उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू आदि अन्य भारतीय भाषाओं की भी उन्नीसवीं सदी में बहुत उन्नति हुई। जिन महान् कवियों और सुलेखकों ने इस विभिन्न भाषाओं के साहित्य के विकास में योगदान दिया, उनके नामों तक का उल्लेख कर सकना इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं है। ध्यान देने योग्य बात केवल यह है कि ब्रिटिश शासन की स्थापना के अनन्तर भारत में नवयुग का जो सूत्रपात हुआ था, उसमें इन साहित्यकारों का कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था। साथ ही, यह नवीन साहित्य भी नवयुग तथा नवजागरण का परिणाम था। भारत के इस नवीन साहित्य में न निराशा की भावना है और न जनता को मोह-निद्रा में सुलाये रखने वाले विलास की अभिव्यक्ति। यह साहित्य प्रगतिशील है और इसे पढ़कर देश की दुर्दशा की अनुभूति होती है, और साथ ही अपने उत्कर्ष की अभिलाषा की उत्पत्ति। स्त्रियों की हीन दशा, दलित वर्ग की समस्या, भारत का प्राचीन गौरव, जातिभेद की बुराई, जमींदारी प्रथा के दोष और ऊँच-नीच की भावना आदि विषय थे, जिन्हें लेकर इस काल के साहित्यिकों ने अपनी रचनाएं की थीं। उन्नीसवीं सदी में जिस नवयुग का भारत में प्रारम्भ हो रहा था, इस काल के साहित्य पर उसका स्पष्ट प्रभाव है।

रेल, सड़कों और नहरों के निर्माण, ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाले स्कूलों और कॉलिजों की स्थापना, कल-कारखानों के विकास, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और प्रगतिशील साहित्य की रचना द्वारा भारत में उसी ढंग के नवयुग का प्रारम्भ हो रहा था, जैसा कि पश्चिमी यूरोप के देशों में अठारहवीं सदी में हुआ था।

(४) पाश्चात्य संस्कृति से आर्य धर्म और संस्कृति के संघर्ष का सूत्रपात

जिस प्रकार तुर्क-अफगान सल्तनत की स्थापना के कारण तेरहवीं सदी में भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ, वैसे ही अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी शासन की स्थापना के परिणामस्वरूप ईसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व भी भारत में इस धर्म का प्रवेश हो चुका था। पहली सदी ईस्वी में भी कुछ ईसाई पादरी सुदूर दक्षिण के समुद्र तट पर अपने धर्म के प्रचार के लिए आए थे, और उन्होंने वहाँ गिरजों का भी निर्माण कराया था। दक्षिणी भारत के हिन्दू राजा ईसाई गिरजों का भी उसी प्रकार सम्मान करते थे, जैसे कि मन्दिरों का। वे ईसाई पादरियों को सब प्रकार की सुविधाएं भी प्रदान करते थे। पन्द्रहवीं सदी के अन्त में अफ्रीका का चक्कर काटकर पोर्तुगीज लोगों ने जब भारत आना प्रारम्भ किया, तो उन्होंने भी यहाँ अपने धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्न किया। पश्चिमी समुद्र तट के जिन प्रदेशों पर पोर्तुगाल का शासन स्थापित हो गया था, वहाँ उन्होंने जनता को जबर्दस्ती ईसाई बनाने का यत्न किया और अपने अधिकृत प्रदेशों के निवासियों को अच्छी बड़ी संख्या में ईसाई धर्म का अनुयायी बनाने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब ईस्ट इण्डिया

कम्पनी का शासन भारत के अनेक प्रदेशों पर स्थापित हो गया, तो ईसाई पादरियों को अपने धर्म का प्रचार करने में बहुत सुविधा हो गई। ये पादरी प्रायः ग्रेट ब्रिटेन या अन्य यूरोपियन देशों के थे। शासक जाति के होने के कारण भारतीयों की दृष्टि में इनका रुग्राब और मान था। उनकी स्थिति साधारण धर्मप्रचारकों की तुलना में अधिक ऊँची थी। साथ ही, इस काल में भारत के धर्मों एवं समाज का स्वरूप बहुत विकृत था। जात-पाँत और छूत-अछूत के भेद के कारण जनता के एक वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। ईसाई पादरियों ने इसी वर्ग में विशेष रूप से प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया और इसके लोगों को अपने धर्म का अनुयायी बनाने में उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में ईसाई पादरियों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए बल का प्रयोग नहीं किया। इसका कारण यह था, कि इस समय यूरोप के लोगों की मनोवृत्ति में बहुत परिवर्तन आ चुका था। बुद्धि-स्वातन्त्र्य तथा धार्मिक सुधार के आन्दोलनों और उदार विचारों के प्रसार ने यूरोप के लोगों को बहुत कुछ सहिष्णु बना दिया था। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों के पोर्तुगीज़ लोगों की तुलना में अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों के अंग्रेज बहुत सहिष्णु व उदार थे। इसी कारण अंग्रेज पादरियों और शासकों ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए बल प्रयोग नहीं किया और हिन्दू जनता के उस वर्ग में विशेष रूप से अपना कार्य किया, जिसे सामाजिक दृष्टि से हीन माना जाता था और आर्थिक दृष्टि से भी जो अत्यधिक दुर्दशाग्रस्त था। पर ईसाई पादरियों का कार्य केवल दलित वर्ग तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने जो अनेक स्कूल और कॉलिज खोले थे, उनमें उच्च वर्गों के बालक शिक्षा के लिए प्रविष्ट होते थे। इन शिक्षणालयों के आचार्य और शिक्षक प्रधानतया गौरांग होते थे और वे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान किया करते थे। इनका वातावरण पाश्चात्य संस्कृति का होता था। इनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी अंग्रेजी भाषा में योग्यता को ही विद्वत्ता का मानदण्ड समझने लगते थे, और पाश्चात्य रहन-सहन, आचार-विचार और संस्कृति को अपनाने में गौरव अनुभव करते थे। अंग्रेजों की तुलना में वे अपने को हीन भी समझने लगते थे। अनेक पाश्चात्य विद्वान् यह प्रतिपादित करने में भी तत्पर थे कि उष्ण देशों के निवासी प्रकृति से ही निर्बल होते हैं और उनमें उच्च कोटि का चिन्तन करने की क्षमता ही नहीं होती। शीतप्रधान देशों के लोगों को प्रकृति द्वारा ही वह विशिष्टता प्रदान की गई है, जिसके कारण वे संसार के शिरोमणि बनने के अधिकारी हैं। विधाता का ही यह विधान है कि गोरे लोग विश्व पर शासन करें और अन्य लोग उनकी अधीनता में रहते हुए उनसे सभ्यता सीखें। भारत में न कभी लोकतन्त्र शासन की सत्ता रही है, और न यहाँ के समाज में कभी समानता व न्याय के सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया है। यह देश सदा विदेशी जातियों द्वारा आक्रान्त व पराजित किया जाता रहा है, और स्वदेश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता की यहाँ कभी सत्ता रही ही नहीं। इसी प्रकार के विचार थे, जो ईसाई मिशनरियों तथा अंग्रेज शासकों द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में घर किये हुए थे। इसी का यह परिणाम हुआ कि बहुत-से सुशिक्षित तथा उच्च वर्गों के व्यक्ति भी ईसाई धर्म के प्रति आकृष्ट होने लगे और इस देश में ईसाइयों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई। १८१५ ईस्वी में भारत में ईसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या दो लाख के लगभग पहुँच गई थी, और इसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक

साठ लाख के लगभग भारतीय ईसाई धर्म को अपना चुके थे।

भारत के इतिहास में यह बात बहुत महत्त्व की है कि हिन्दू (आर्य) धर्म तीन प्रबल शक्तियों का सफलतापूर्वक मुकाबिला करने में समर्थ रहा है। बौद्ध धर्म के रूप में जिस नए धार्मिक आन्दोलन का छठी सदी ईस्वी पूर्व में प्रारम्भ हुआ था, वह न ईश्वर को मानता था और न वेदों को। कुछ समय के लिए यह नास्तिक मत भारत का प्रधान धर्म भी बन गया था। पर अन्त में आस्तिक आर्य धर्म की विजय हुई और बौद्ध मत का इस देश से पूर्णतया लोप हो गया। तुर्क-अफगान सल्तनत की स्थापना हो जाने पर हिन्दू धर्म को इस्लाम का मुकाबिला करना पड़ा। पर्शिया, मध्य एशिया, ईजिप्ट आदि कितने ही देश इस्लाम के मुकाबले में अपने पुराने धर्मों की रक्षा कर सकने में असमर्थ रहे थे। पर सदियों तक मुसलिम राजवंशों का शासन रहने के बावजूद भी भारत में हिन्दू धर्म का लोप नहीं हुआ और इस देश के निवासी अपने सत्य सनातन आर्य धर्म पर दृढ़ रहे। मध्य युग में अनेक सन्त-महात्माओं द्वारा जो धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ किये गए, उनके कारण हिन्दू धर्म इस्लाम के मुकाबिले में अपनी रक्षा करने में समर्थ रहा। अंग्रेजी शासन के स्थापित हो जाने पर हिन्दू धर्म को एक अत्यन्त शक्ति सम्पन्न धर्म से अपनी रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ा। राजशक्ति के अपनी सहायक होने के कारण जहाँ ईसाई पादरियों का भारत में विशेष रुआब था, वहाँ साथ ही वे एक ऐसी सभ्यता व संस्कृति के साथ भी सम्बद्ध थे, जो नए ज्ञान-विज्ञान के कारण बहुत उन्नत दशा में थी। ईसाई धर्म के सिद्धान्त व मन्तव्य आर्य धर्म की तुलना में चाहे कितने ही साधारण क्यों न हों, पर उसके साथ यूरोप की उस सभ्यता का प्रभाव व रुआब भी जुड़ा हुआ था, जो उन्नीसवीं सदी में एशिया, अफ्रीका और अमेरिका में सर्वत्र अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर चुकी थी। ईसाई धर्मग्रन्थों का यह मत है कि पृथ्वी चपटी है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। नया वैज्ञानिक मन्तव्य यह है कि पृथ्वी गोल है और वह सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार कितने ही विषयों में ईसाई मन्तव्यों और वैज्ञानिक तथ्यों में विरोध है। पर भारत तथा अन्य एशियन देशों के निवासियों की दृष्टि में ईसाई मिशनरी नए ज्ञान-विज्ञान के प्रतिनिधि थे। पाश्चात्य जगत् में जो वैज्ञानिक आविष्कार हुए थे, जो औद्योगिक क्रान्ति हुई थी, लोकतन्त्र और समाजवाद के जो आन्दोलन चले थे, बुद्धि-स्वातन्त्र्य की जो प्रवृत्ति विकसित हुई थी, और विश्व के अच्छे बड़े भाग पर पाश्चात्य लोग जो अपना आधिपत्य स्थापित कर सके थे, उसके कारण गौरांग जातियों का एक खास प्रकार का रुआब बन गया था। इस रुआब व प्रभाव का पूरा-पूरा लाभ ईसाई पादरी उठा रहे थे। भारत के शिक्षित लोगों के लिए भी यह सुगम नहीं था कि वे विज्ञान एवं यान्त्रिक शक्ति पर आधारित पाश्चात्य सभ्यता और ईसाई धर्म में भेद कर सकें। विचार-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण पश्चिमी यूरोप में जो असाधारण उन्नति इस काल में हो गई थी, उसका श्रेय ईसाई पादरी भी प्राप्त कर रहे थे और जनता पर यह असर पड़ रहा था कि ईसाई धर्म उस प्रगति का प्रतिनिधि है, जो यूरोप में हो रही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आर्य धर्म और आर्य संस्कृति पर जैसा प्रबल आक्रमण अंग्रेजों के शासन में अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों में हुआ, वैसा इस देश के सुदीर्घ इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। राजशक्ति, ज्ञान-विज्ञान और औद्योगिक क्रान्ति सभी का बल इस समय ईसाई प्रचारकों को प्राप्त हो रहा था।

ऐसे समय में भारत में अनेक ऐसे महापुरुष उत्पन्न हुए जिन्होंने कि इस आक्रमण से आर्य धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए संघर्ष प्रारम्भ किया। इनमें महर्षि दयानन्द सरस्वती मुख्य थे। वे अंग्रेजी भाषा नहीं जानते थे, और न उन्हें प्रगतिशील पाश्चात्य साहित्य को पढ़ने का ही अवसर मिला था। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, और वेद-शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर इस परिणाम पर पहुँचे थे कि आर्य धर्म का जो रूप उनके समय में प्रचलित था और हिन्दू समाज का जो संगठन उस काल में था, वे सत्य सनातन आर्य धर्म के अनुरूप नहीं थे। उन्होंने धार्मिक सुधार के एक प्रबल आन्दोलन का प्रारम्भ किया और उसे जारी रखने के लिए 'आर्यसमाज' की स्थापना की। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि पाश्चात्य जगत् ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो उन्नति की है, उससे कहीं अधिक उन्नति आर्य लोग प्राचीन समय में कर चुके थे। भारत किसी समय संसार का शिरोमणि था, और ज्ञान-विज्ञान के सब सत्य मूल रूप से वेद-शास्त्रों में विद्यमान हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती के इस आन्दोलन ने आर्य जाति में नवजीवन और नई स्फूर्ति का संचार किया, और इसी कारण वह आर्य धर्म पर इस नये सशक्त आक्रमण का मुकाबिला करने में समर्थ हुई। भारत में नवयुग के सूत्रपात और उसमें महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज के कर्तृत्व पर ही इस ग्रन्थ में हमें विशेष रूप से प्रकाश डालना है।

छठा अध्याय

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग का भारत

(१) राजनीतिक दशा

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८६७ के प्रारम्भ में भारत के सार्वजनिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेना शुरू किया था। इससे पूर्व वे व्यक्तिगत साधना में तत्पर रहे थे और शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति कर उन्होंने अपने को इस योग्य बना लिया था कि भारत में व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैला सकें। सन् १८६७ में कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में उन्होंने पाखण्ड-खण्डिनी पताका फहरायी थी और धार्मिक सुधारणा तथा नव-जागरण के उन महान् आन्दोलनों का सूत्रपात किया था, जिनके कारण भारत में नवयुग का प्रारम्भ हुआ और यह देश उन्नति के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होता गया। स्वामी जी के इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सुचारु रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक दशा पर प्रकाश डाला जाए।

भारत में अँग्रेजी शासन का सूत्रपात सन् १७५७ से प्लासी के युद्ध द्वारा हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप बंगाल पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था। एक सदी से भी कम समय में सम्पूर्ण भारत अँग्रेजों के शासन में आ गया, और मुगल, मराठे, राजपूत, सिक्ख, जाट आदि सब राजा उनसे पराभूत हो गये। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत की प्रमुख राजशक्ति मुगल न होकर मराठे थे और उन्होंने इस देश के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। अकबर द्वारा स्थापित विशाल व शक्तिशाली मुगल साम्राज्य उस काल में खण्ड-खण्ड हो चुका था और उसके भग्नावशेषों पर अनेक छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गये थे जो क्रियात्मक दृष्टि से पूर्णतया स्वतन्त्र थे। अँग्रेजों ने एक-एक करके इन विविध राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। इनमें से कुछ की तो सत्ता का ही अँग्रेजों ने अन्त कर दिया था और शेष राज्यों—जिनकी संख्या सैकड़ों में थी—के राजाओं के साथ ऐसी सन्धियाँ कर ली थीं जिनके कारण वे पूर्णतया अँग्रेजों के वशवर्ती हो गये थे। अँग्रेजों ने जिस प्रकार भारत को अपने अधीन किया, इसका संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकना न यहाँ सम्भव है और न इसकी आवश्यकता ही है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह पहला अवसर था जब कि भारत की राजशक्ति व क्षात्रबल पूर्णरूप से एक विदेशी जाति के सम्मुख परास्त हो गये थे और इस विशाल देश का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं रह गया था जिसकी स्वतन्त्रता कायम

हो। काश्मीर से कन्याकुमारी तक और सिन्ध-बिलोचिस्तान से असम तक सर्वत्र अंग्रेजों का अखण्ड शासन व प्रभुत्व स्थापित हो गया था और भारत के राजकुल, राजनीतिक नेता तथा अन्य विचारशील व्यक्ति अपने देश की इस दुर्दशा से स्तब्ध, असहाय व किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये थे।

विदेशियों के आक्रमण भारत के लिए कोई नई बात नहीं थी। अत्यन्त प्राचीन-काल में पार्श (पर्शियन) और यवन (ग्रीक) लोगों ने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों को आक्रान्त किया था और उनके अनेक राज्यों को जीत सकने में वे सफल भी हुए थे। पर उन्हें वे देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सके थे। पहले चन्द्रगुप्त मौर्य (चौथी सदी ईस्वी पूर्व) ने और फिर पुष्यमित्र शुंग (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व) ने यवनों की शक्ति का अन्त किया और उन द्वारा शासित प्रदेशों को जीतकर भारतीय साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। जो पार्श और यवन इस देश में रह गये, उन्होंने भारतीय धर्म, भाषा तथा संस्कृति को अंगीकार कर लिया और वे पूर्णतया भारतीय बन गये। यही दशा उन शक, पल्हव, कुशाण और हूण आक्रान्ताओं की हुई, जिन्होंने कि पहली सदी ईस्वी पूर्व तथा पाँचवीं सदी ईस्वी पश्चात् के मध्यवर्ती काल में भारत पर आक्रमण किए और इस देश में अपने अनेक राज्य स्थापित करने में भी सफलता प्राप्त की। भारशिव, वाकाटक और आन्ध्र वंशों के शक्तिशाली राजाओं ने इन विदेशी राज्यों को जीतकर भारत की राजशक्ति का पुनरुत्थान किया और उसके उपलक्ष्य में अनेक अश्वमेध यज्ञ किये। गुप्त वंश के शासन-काल (चौथी-छठी सदी) में भारत की राजशक्ति का चरम उत्कर्ष हुआ और उसके प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७८-४१४ ईस्वी) ने न केवल भारत के पश्चिमी व उत्तर पश्चिमी प्रदेशों के शक व कुशाण राज्यों का अन्त किया, अपितु सिन्ध नदी तथा हिन्दूकुश पर्वत माला के परवर्ती वाल्हिक (बल्ख-बुखारा) देश को जीतकर भारत की राजशक्ति को मध्य एशिया तक पहुंचा दिया। मध्यकाल में भारत में किसी एक शक्तिशाली साम्राज्य की सत्ता नहीं रही, विविध राजवंश देश के विभिन्न भागों में शासन करते रहे और अन्य राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर रहे। पर इस काल (सातवीं से दसवीं सदी तक) में दक्षिणी सिन्ध के अतिरिक्त भारत का कोई भी प्रदेश किसी विदेशी शक्ति के अधीन नहीं रहा और न किसी विदेशी व विधर्मी आक्रान्ता को भारत पर आक्रमण करने में सफलता प्राप्त हुई। दसवीं सदी के अन्त में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया और उसने दूर-दूर तक विजय यात्राएँ कीं। पर वह इस देश में तुर्कों के शासन को स्थायी रूप से कायम नहीं कर सका। भारत के जिन प्रदेशों को उसने विजय किया था, उसकी मृत्यु के साथ ही प्राय: वे सब स्वतन्त्र हो गये और उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेश ही तुर्कों के अधीन रह गये।

भारत में तुर्क-अफगानों के शासन का वास्तविक रूप से सूत्रपात बारहवीं सदी के अन्त में हुआ, जबकि मोहम्मद गौरी ने अजमेर-दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान तथा कन्नौज के गाहड्वाल राजा जयचन्द को युद्धों में परास्त कर उत्तरी भारत के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। गुलाम, खिलजी और तुगलक वंशों के तुर्क-अफगान सुलतानों ने भारत में अपनी सत्ता को स्थापित करने और अपनी सत्ता का विस्तार करने में अच्छी सफलता प्राप्त की। पर वे सम्पूर्ण भारत को अपनी अधीनता में नहीं ला सके। तेरहवीं सदी में जब उत्तरी भारत पर तुर्कों का आधिपत्य भलीभाँति

स्थापित हो गया था, दक्षिणी भारत में अनेक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य विद्यमान थे। महाराष्ट्र (राजधानी—देवगिरि) में यादव राज्य की सत्ता थी, आन्ध्र (राजधानी—वारंगल) में काकतीय राज्य विद्यमान था, कर्णाटक (राजधानी— द्वार समुद्र) में होयसाल वंश का स्वतन्त्र राज्य था, और तमिलनाडु में पाण्ड्य राज्य स्वतन्त्र था। राजस्थान के विविध राजपूत राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता भी कायम थी। अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६) ने भारत के स्वतन्त्र राज्यों की विजय के लिए असाधारण तत्परता प्रदर्शित की। राजस्थान के राजपूत राज्यों से उसने अनेक युद्ध किए और दक्षिण में विजय-यात्रा करता हुआ उसका वीर सेनापति मलिक काफूर रामेश्वरम् तक चला गया। पर मलिक काफूर की दक्षिणी भारत पर चढ़ाई एक विजय-यात्रा के समान थी। वहाँ जो अनेक हिन्दू राज्य थे, वे इस मुसलिम आक्रान्ता द्वारा युद्ध में परास्त अवश्य कर दिये गये थे और उन्होंने अलाउद्दीन को कर देना तथा उसे अपना अधिपति मानना भी स्वीकार कर लिया था, पर इससे हिन्दू राजाओं का मूलोच्छेद नहीं हुआ था। इसी कारण अलाउद्दीन के मरते ही ये राजा फिर से स्वतन्त्र हो गये और दक्षिणी भारत दिल्ली की तुर्क-अफगान सल्तनत के अन्तर्गत नहीं रहा।

तुगलक वंश के प्रतापी सुलतान गयासुद्दीन तुगलक और मुहम्मद तुगलक ने दक्षिणी भारत में तुर्क-अफगान शक्ति के विस्तार का पुनः प्रयत्न किया और आंशिक रूप से उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। पर दक्षिणापथ (दक्खन) से आगे बढ़ कर दक्षिणी भारत में अपना आधिपत्य वे स्थापित नहीं कर सके, क्योंकि सन् १३३६ के लगभग वहाँ एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य की स्थापना हो गई थी, जिसे 'विजयनगर का राज्य' कहते हैं। इसका प्रथम राजा हरिहर था। हरिहर और उसका भाई बुक्क विजयनगर राज्य के संस्थापक थे। ये दोनों भाई कर्णाटक के होयसाल वंशी राजा वीर बल्लाल की सेवा में थे और तुर्क-अफगान सुलतानों से अपने राज्य की रक्षा करने में इन्होंने अनुपम पराक्रम प्रदर्शित किया था। हरिहर ने तमिल देश के अनेक प्रदेशों की भी विजय कर ली थी और इस प्रकार दक्षिण में एक ऐसे शक्तिशाली हिन्दू राज्य को स्थापित कर दिया था, जिसके कारण दिल्ली के तुर्क-अफगान और मुगल सम्राट् दक्षिण में अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सकने और सम्पूर्ण भारत को अपने प्रभुत्व में ले आ सकने में असमर्थ रहे। राजस्थान के राजपूत राजाओं का मूलोच्छेद तो अलाउद्दीन खिलजी के समय में भी नहीं हुआ था। तुर्क-अफगान सल्तनत के कमजोर पड़ने पर ये राज्य फिर से पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये थे और बाबर के आक्रमण के समय उत्तरी भारत की प्रमुख राजशक्ति दिल्ली के सुलतानों की न होकर मेवाड़ के राणा सांगा की थी, जिसे परास्त करने के बाद ही बाबर भारत में अपने पैर जमा सका था (१५२७)। मुगलों ने भारत में अपने साम्राज्य को सुदृढ़ नींव पर स्थापित करने में अच्छी सफलता प्राप्त की थी और भारत का अच्छा बड़ा भाग अकबर और उसके उत्तराधिकारियों के साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था। पर सुदूर दक्षिण को वे भी अपनी अधीनता में नहीं ला सके थे। विजयनगर राज्य की शक्ति तो देर तक कायम नहीं रही थी, सन् १५५८ में उसका पतन हो गया था। पर मुगलों के शासनकाल में दक्षिण में एक नई शक्ति का प्रादुर्भाव हो गया था, जो मराठों के रूप में थी। शिवाजी ने दक्षिणापथ में मराठों को संगठित कर एक शक्तिशाली स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली थी, और उसके उत्तराधिकारियों ने इस राज्य का और अधिक विकास

किया था।

मुगल बादशाह औरंगजेब को इन मराठों के साथ निरन्तर युद्ध करने पड़े और वह उनकी शक्ति को नष्ट कर सकने में असमर्थ रहा। सुदूर दक्षिणी भारत की स्वतन्त्रता मुगल साम्राज्य के अधिकतम उत्कर्ष के समय में भी अक्षुण्ण रही थी और औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् तो मराठे लोग भारत की सबसे प्रबल शक्ति बन गये और उन्होंने उत्तरी भारत के बड़े भाग को भी अपने अधीन कर लिया। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत की प्रमुख राजशक्ति मुगलों व अन्य मुसलिम राजवंशों की न होकर मराठों, राजपूतों और जाटों की थी, और अंग्रेजों ने भारत पर अपना आधिपत्य इन्हीं को परास्त कर स्थापित किया था। अठारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में पंजाब में सिक्खों की शक्ति का उदय हो गया था और भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश अब उन्हीं के शासन में आ गये थे। उत्तर-पश्चिमी भारत में अंग्रेजों ने जो प्रभुत्व स्थापित किया, उसके लिये उन्हें सिक्ख राज्यों के विरुद्ध ही संघर्ष करने की आवश्यकता हुई थी। इन तथ्यों का उल्लेख इस प्रयोजन से किया गया है, ताकि यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाए कि ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूर्व भारत का बड़ा भाग हिन्दू राजाओं द्वारा शासित था और प्रतापी मुगल बादशाह उन्हें कभी भी पूर्णतया अपने प्रभुत्व में नहीं ला सके थे।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिसे भारतीय इतिहास का मुसलिम काल कहा जाता है, उसके लिए 'मुसलिम' संज्ञा का प्रयोग करना समुचित व युक्ति-संगत नहीं है। यह सही है कि दिल्ली को राजधानी बनाकर अनेक तुर्क-अफगान (गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी) राजवंशों ने शासन किया। बंगाल, जौनपुर, गुजरात और मालवा आदि में भी अनेक तुर्क-अफगान राजवंश राज्य करते रहे। इनके शासन को तुर्क-अफगानों का शासन कहना उपयुक्त है, क्योंकि इन विविध राजवंशों के काल में राजशक्ति प्रधानतया इन्हीं जातियों के सरदारों के हाथों में थी। इस समय तक भारत के अनेक प्रदेशों में इस्लाम का प्रचार प्रारम्भ हो चुका था और बहुत से हिन्दुओं ने भी इस धर्म को अपनाना शुरू कर दिया था। इन नये मुसलमानों में अच्छी बड़ी संख्या ऐसे लोगों की थी, जिन्हें हिन्दू समाज में हीन दृष्टि से देखा जाता था। इस्लाम की दीक्षा ग्रहण कर लेने मात्र से वे शासक वर्ग के अन्तर्गत नहीं हो गये थे। जिन जुलाहों, धोबियों, नाइयों, मिस्त्रियों आदि ने मुसलिम धर्म को ग्रहण कर लिया था, वे मुसलमान हो जाने के बाद भी अपने पुराने शिल्पों व व्यवसायों का अनुसरण करते रहे और शासन शक्ति के प्रयोग में उनका कोई भी हाथ नहीं रहा। राजशक्ति सरदारों और जागीरदारों के एक विशेष वर्ग तक सीमित थी, जो तुर्क-अफगान आक्रान्ताओं के साथ भारत में विजेता के रूप में प्रविष्ट हुए थे और जिन द्वारा इस देश में एक नये प्रकार की सामन्त पद्धति (Feudal system) का विकास हो गया था। तुर्क-अफगान युग निरंकुश स्वेच्छाचारी एकतन्त्र सुलतानों के शासन का काल था, जो अपने सामन्तों व सिपहसालारों के साहाय्य से शासन सूत्र का संचालन किया करते थे। ये सामन्त व सैनिक नेता मुख्यतया तुर्क-अफगान थे और इनके वर्ग में उन व्यक्तियों के लिए प्रवेश पा सकना सुगम नहीं था, जिन्होंने कि हिन्दू धर्म का परित्याग कर इस्लाम को अपना लिया था। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक तुर्क-अफगान सुलतान धर्म के मामले में अत्यन्त कट्टर तथा धर्मान्ध थे। उन्होंने अपनी हिन्दू प्रजा पर अनेक ढंग से अत्याचार किये, उस पर जजिया कर लगाया और

शासन कार्य में उसका सहयोग प्राप्त करने का कोई यत्न नहीं किया। पर उनके लिए यह अस्वाभाविक नहीं था, क्योंकि उन्होंने हिन्दुओं से राजशक्ति छीनी थी और पुराने राजवंशों, सामन्तों तथा जागीरदारों के विरोध का उन्हें निरन्तर सामना करना पड़ रहा था। उन्हें कुचल डाले बिना वे अपने शासन को भारत में स्थायी नहीं कर सकते थे।

यदि तुर्क-अफगान युग को मुसलिम काल कहना असंगत है, तो मुगलों के शासन के लिए 'मुसलिम' संज्ञा को प्रयुक्त करना तो सर्वथा अनुचित है। अकबर को भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना करते हुए अनेक तुर्क-अफगान सुलतानों से युद्ध करना आवश्यक था। पानीपत के दूसरे युद्ध (१५५६) में हेमू को परास्त कर देने मात्र से उत्तरी भारत उसकी अधीनता में नहीं आ गया था। जौनपुर, बिहार, बंगाल, मालवा, गुजरात आदि में विविध तुर्क-अफगान राज्यों की सत्ता थी, और उन्हें अपनी अधीनता में लाए बिना अकबर कभी इस देश में अपने पैर नहीं जमा सकता था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इस काल में राजपूत राज्यों की शक्ति भी कम नहीं थी। अकबर को भारत में दो शत्रुओं का मुकाबला करना था, राजपूतों का और तुर्क-अफगानों का। अकबर के लिए दोनों का एक साथ मुकाबला कर सकना सम्भव नहीं था। अतः उसने तुर्क-अफगानों के विरुद्ध राजपूतों का साहाय्य प्राप्त किया, और उन्हीं की सहायता से मुगल साम्राज्य की स्थापना की। वह स्वयं मुसलमान था, और तुर्क-अफगान सुलतान व जागीरदार भी इस्लाम के अनुयायी थे। पर अकबर ने उन्हें परास्त करने के लिए हिन्दू राजपूतों का सहयोग प्राप्त किया और इस प्रकार वह भारत में एक ऐसा राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ, जिसे 'राष्ट्रीय' व 'धर्म-निरपेक्ष' कहा जा सकता है। मुगल शासन मुसलिम नहीं था, और न उसके संचालन में उन लाखों मुसलमानों का कोई भी हाथ था, इस्लाम के सम्पर्क में आने पर जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, पर अपने कुलक्रमानुगत—जुलाहे, धोबी, मछियारे, नाई, कसाई, लुहार, बढ़ई आदि के शिल्प व व्यवसाय द्वारा जो अपनी जीविका के उपार्जन में तत्पर थे। मुगल साम्राज्य में राजशक्ति उन सामन्तों, राजाओं और नवाबों के हाथों में थी, जो धर्म से हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के थे, पर जिन्होंने अपनी कुलीनता, वीरता और सैन्यबल के आधार पर शासनतन्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिए थे। अकबर द्वारा जिस धर्मनिरपेक्ष व राष्ट्रीय नीति का अनुसरण किया गया था, औरंगजेब ने उसका परित्याग कर दिया। उसने अपने राज्य को मुसलिम स्टेट बनाने का प्रयत्न किया, जिसके परिणामस्वरूप मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और हिन्दू राजशक्ति मुगलों को साहाय्य देने के स्थान पर उनके विरुद्ध उठ खड़ी हुई और भारत में अनेक शक्तिशाली हिन्दू राजवंश स्वतन्त्र रूप से शासन करने लग गए। इस घटनाक्रम का जो उल्लेख यहाँ किया गया है, उसका प्रयोजन यह स्पष्ट करना है कि तुर्क-अफगान और मुगल युगों में भी न भारत की राजशक्ति का पूर्ण रूप से ह्रास ही हुआ था, और न यह देश किसी विदेशी साम्राज्य के अन्तर्गत था। न मुगलों को विदेशी शासक कहा जा सकता है, और न तुर्क-अफगानों को। भारत में आकर वे इसी देश में बस गए थे, और विदेशी आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा के लिए भी तत्पर रहा करते थे। मंगोलों के आक्रमणों का मुकाबला करने के लिए तुर्क-अफगान सुलतानों ने अनेक युद्ध किए, और मुगल बादशाह अपने साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा के लिए निरन्तर संघर्ष में तत्पर रहे।

पर प्लासी के युद्ध (१७५७ ईस्वी) के पश्चात् भारत में जिस अंग्रेजी शासन का सूत्रपात हुआ था, वह वास्तविक अर्थों में विदेशी था। अंग्रेजों ने भारत की विजय अपने सैनिकों द्वारा नहीं की थी। कोई शक्तिशाली सेनाएँ भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए ब्रिटेन से नहीं आई थीं। भारतीय सिपाहियों द्वारा ही अंग्रेजों ने इस देश में अपनी सत्ता स्थापित की थी। प्राचीन काल के शकों, कुशाणों और हूणों तथा मध्यकाल के तुर्क-अफगानों और मुगलों के समान अंग्रेज लोग भारत में आकर यहाँ स्थायी रूप से बस नहीं गए थे। वे भारत को अपने उत्कर्ष और समृद्धि का साधनमात्र समझते थे और इसका शोषण कर ब्रिटेन को समृद्ध बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। अपने प्रयत्न में उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई थी। फरवरी, १८४९ तक सम्पूर्ण भारत पर उनका शासन स्थापित हो गया था, और इस देश में कोई भी ऐसी राजशक्ति नहीं रह गई थी, जो उनका सामना कर सकने में समर्थ होती। मराठे, राजपूत, सिक्ख, जाट, मुगल सब उनके सम्मुख धराशायी हो गए थे और पुराने गौरवशाली राजवंशों ने उनकी अधीनता में रहना स्वीकार कर लिया था। बड़ौदा, ग्वालियर, जम्मू-कश्मीर, हैदराबाद, माइसूर, इन्दौर, पटियाला आदि के सुविस्तृत राज्य अब भी विद्यमान थे, पर वे सब पूर्णतया अंग्रेजों के अधीन व वशवर्ती थे। उनके शासन पर अंग्रेजों का सुदृढ़ नियन्त्रण था, और अंग्रेज प्रभुओं के विरुद्ध वे उँगली तक न हिला सकते थे। देश का दो तिहाई के लगभग भाग सीधे अंग्रेजी शासन में था, और जहाँ भारतीय राजा विद्यमान थे, उनमें भी वास्तविक सैनिक व शासन शक्ति अंग्रेजों के ही हाथों में थी। भारत के सुदीर्घ इतिहास में यह पहला अवसर था, जब कि इस देश की राजशक्ति तथा क्षात्रबल का वास्तविक अर्थों में अन्त हो गया था और यहाँ एक ऐसे शासन की स्थापना हो गई थी जो पूर्णरूप से विदेशी था और जिसका प्रयोजन इस देश का शोषण करना था। भारत की जो राजनीतिक दुर्दशा उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में थी, वैसी पहले कभी नहीं हुई थी।

तुर्क-अफगानों और मुगलों के समय में शासन सूत्र का संचालन सामन्तों और बड़े जागीरदारों के हाथों में था। केवल भारत में ही नहीं, अपितु यूरोप आदि अन्यत्र भी इस काल में सामन्त पद्धति विद्यमान थी, और शासनशक्ति सर्वसाधारण जनता के हाथों में न होकर कतिपय कुलों में निहित थी। पर स्थानीय शासन में उस समय ग्राम पंचायतों का महत्त्व था। ग्रामों में पंचायतों की सत्ता थी और ग्राम से राजा या बादशाह को प्रदान की जाने वाली मालगुजारी (भूमिकर) को किसानों में विभक्त करना तथा उसकी उगाही करना ग्राम पंचायतों का ही कार्य था। देश में चाहे राजशक्ति किसी के हाथों में हो, शासन चाहे मुगल सूबेदार का हो या मराठों का, ग्राम पंचायतें अपने क्षेत्र से मालगुजारी को वसूल कर राजा को प्रदान कर देती थीं और राजा उनके क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। शान्ति और व्यवस्था कायम रखने तथा अपराधियों को दण्ड देने के सम्बन्ध में भी ग्राम पंचायतों को समुचित अधिकार प्राप्त थे। इस दशा में ग्राम पंचायतों के कारण स्थानीय क्षेत्र में जनता को स्वराज्य प्राप्त था, और अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों की व्यवस्था वह स्वयं किया करती थी। पर अंग्रेजी शासन द्वारा इन ग्राम-पंचायतों के अधिकारों का अन्त कर दिया गया था। मालगुजारी वसूल करने का काम अंग्रेज शासकों ने उन व्यक्तियों के सुपुर्द करना शुरू किया, जो अधिक-से-अधिक माल-गुजारी एकत्र करने का ठेका लेते थे। इसके लिए नीलामी की प्रथा जारी की गई। जो

कोई सबसे ऊँची बोली बोलता, उसी को मालगुजारी वसूल करने का अधिकार प्रदान कर दिया जाता। इस प्रकार जागीरदारों की एक नई श्रेणी का विकास हुआ, और ग्राम पंचायतों की शक्ति निरन्तर क्षीण होती गई। वंशक्रमानुगत एकतन्त्र राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन में भी जनता को स्वशासन के जो अधिकार व अवसर प्राप्त थे, अंग्रेजी राज्य में उन सब का अन्त हो गया, और एक ऐसे शासन की स्थापना हुई जो विदेशी होने के साथ-साथ पूर्णतया निरंकुश भी था और जिसके संचालन में भारतीय जनता का कोई भी हाथ नहीं था।

यह सम्भव नहीं था कि अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध भारत में कोई संघर्ष न हो। सन् १७५७ में प्लासी के युद्ध और सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के मध्यवर्ती एक सदी के समय में भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अनेक विद्रोह हुए, यद्यपि उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इन सब विद्रोहों व संघर्षों का संक्षेप के साथ उल्लेख कर सकना इस ग्रन्थ में न सम्भव है और न उसकी विशेष उपयोगिता ही है। ये संघर्ष प्रधानतया उन जागीरदारों व पुराने सामन्त राजाओं द्वारा किए गए थे, अंग्रेजी शासन के कारण जिनकी शक्ति व प्रभाव का अन्त हो गया था। पर कतिपय संघर्ष उन लोगों द्वारा भी किए गए थे, जो अंग्रेजों के विदेशी व विधर्मी शासन से उद्वेग अनुभव करते थे। सन् १७७३ का बंगाल का संन्यासी विद्रोह और सैयद अहमद द्वारा अंग्रेजी शासन के खिलाफ घोषित जिहाद इसके उदाहरण हैं। पर ये संघर्ष सफल नहीं हो सके। अंग्रेजों के विदेशी व विधर्मी शासन के विरुद्ध जो भावना गत एक सदी में निरन्तर विकसित हो रही थी, सन् १८५७ में वह एक भयंकर क्रान्ति के रूप में फूट पड़ी थी और कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अब अंग्रेजों के लिए इस देश में टिक सकना सम्भव नहीं रहेगा। पर १८५७ का स्वाधीनता संग्राम भी सफल नहीं हो सका, और भारत में अंग्रेजी शासन की नींव पहले की अपेक्षा और भी अधिक सुदृढ़ हो गई।

सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती की आयु तैंतीस वर्ष थी। अनेक विद्वानों का मत है कि अंग्रेजों के विरुद्ध इस संघर्ष में स्वामी जी ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया था। पर यह बात विवादग्रस्त है। इसके सम्बन्ध में हम यथास्थान विशेष रूप से विवेचन करेंगे। पर इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी जी ने सन् ५७-५८ की घटनाओं को प्रत्यक्ष रूप से देखा था, और उनसे उनके संवेदनशील मन पर गहरा प्रभाव भी पड़ा था। भारत की सब राजशक्ति सात समुद्र पार से आयी हुई एक विदेशी व विधर्मी जाति से पूर्णतया पराभूत हो गई, और बार-बार प्रयत्न करने पर भी अपने देश को उनकी अधीनता से मुक्त नहीं कर सकी, इस बात पर स्वामी जी ने गम्भीरता के साथ विचार किया और इस विकट समस्या को हल करने के लिए उपाय भी प्रस्तुत किये। भारत की पराधीनता का एक मुख्य कारण राष्ट्रीयता का अभाव था। धर्म, संस्कृति भाषा, परम्परा आदि की समानता मनुष्यों में परस्पर एक होने की अनुभूति को उत्पन्न करती है, जिससे राष्ट्रीय भावना का विकास होता है। भारत में राष्ट्रीय एकता के मूल तत्त्व विद्यमान थे, पर वे भलीभाँति विकसित नहीं हुए थे। इस देश के निवासियों में अपने देश के प्रति ममता की सत्ता है। उन्होंने सदा यह माना है कि यह उनकी मातृभूमि और देवभूमि है। हिन्दू लोग भारत के पर्वतों, नदियों और पुरियों को पवित्र मानते रहे हैं। गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, सिन्धु और कावेरी—ये सात नदियाँ सब

हिन्दुओं की दृष्टि में पवित्र हैं। प्रत्येक हिन्दू की यह आकांक्षा रहती है कि इन सातों नदियों में स्नान कर अपने जीवन को सफल करे। दक्षिण के हिन्दू के लिए गंगा भी उतनी ही पवित्र है, जितनी कि कावेरी। यही दशा उत्तरी भारत के हिन्दू की भी है। हिन्दुओं की दृष्टि में जो पर्वत (हिमालय, विन्ध्य, महेन्द्र आदि) और पुरियों (माया, कांची आदि) पवित्र हैं, वे भी सम्पूर्ण भारत में विस्तीर्ण हैं। दक्षिण में कांची से उत्तर में मायापुरी तक यात्रा करने वाला हिन्दू इस सारे देश के प्रति आदर और पवित्रता की भावना रखता है। हिन्दुओं के तीर्थ उत्तर में अमरनाथ और बदरीनाथ से शुरू होकर दक्षिण में रामेश्वरम् तक सर्वत्र विद्यमान हैं। इसी प्रकार मुसलमानों के भी अनेक पीरों और औलियों की स्मृतियाँ भारत के विभिन्न स्थानों के साथ जुड़ी हुई हैं। भारत के धार्मिक नेता इस देश की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक एकता को स्पष्ट रूप से अनुभव करते थे। यही कारण है कि केरल में उत्पन्न हुए शंकराचार्य ने अपने विविध मठों की स्थापना उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सर्वत्र की थी। संस्कृति की एकता भी भारत की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस देश के न केवल हिन्दू ही, अपितु ईसाई और मुसलमान भी एक ही संस्कृति के रंग में रंगे हुए हैं। भारत के मुसलमान अपने रीति-रिवाजों और रहन-सहन में अरब और तुर्की के मुसलमानों से बहुत भिन्न हैं। भारत में जो एक विशेष प्रकार की संस्कृति विकसित हुई है, उसका मूल स्रोत वैदिक है, पर उसमें जैन बौद्ध, मुसलिम और आधुनिक पाश्चात्य संस्कृतियों का भी सम्मिश्रण है।

पर देश के प्रति प्रगाढ़ ममता और संस्कृति की एकता भारतीयों में राष्ट्रीय एकता की भावना को सुचारु रूप से विकसित नहीं कर सकी। मराठे, राजपूत, सिक्ख, जाट आदि विविध राजकुलों के राजा हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, पर वे अपने को एक अनुभव नहीं करते थे। दिल्ली, अवध, बंगाल, हैदराबाद आदि के मुसलिम बादशाह और नवाब मुसलमान होते हुए भी राजनीतिक क्षेत्र में एक दूसरे के सहयोगी नहीं थे। राष्ट्रीयता की जो भावना किसी देश के निवासियों को एक सूत्र में बाँधकर रखती है, भारत में उसका अभाव था। इसी कारण अंग्रेज इस देश को अपनी अधीनता में ला सके और इसीलिए अंग्रेजी शासन का अन्त करने के विविध प्रयत्न असफल होते रहे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सबसे पूर्व भारत की राजनीतिक दुर्दशा के इस आधारभूत कारण को जाना, और राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए यह विचार प्रस्तुत किया कि इस देश का नाम आर्यावर्त है, इसके निवासी आर्यजाति के हैं, उनका धर्म आर्य या वैदिक है और उनकी भाषा आर्य भाषा (हिन्दी) है। भारतीयों में उग्र राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए स्वामीजी ने आर्य जाति और आर्यावर्त देश के प्राचीन गौरवपूर्ण अतीत की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया और उसे फिर से विश्व का शिरोमणि बनने की प्रेरणा प्रदान की। स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचारों पर एक पृथक् अध्याय में विशेष रूप से प्रकाश डाला जाएगा। यहाँ भारत की उस राजनीतिक दशा का उल्लेख किया गया है, जिसे सम्मुख रखकर स्वामी जी ने राजधर्म या राजदर्शन का प्रतिपादन किया था।

(२) आर्थिक दशा

सतरहवीं सदी तक भारत पाश्चात्य देशों से आर्थिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार पीछे

नहीं था। उस समय यूरोप में न नये वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रारम्भ हुआ था और न ही औद्योगिक क्रान्ति हुई थी। यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले कारखाने उस समय न भारत में थे और न यूरोप में। शिल्पी लोग छोटे-छोटे उपकरणों से वस्त्र, बरतन व अस्त्र-शस्त्र आदि का निर्माण किया करते थे और तैयार माल का बढ़ियापन कारीगरों के शिल्प की उत्कृष्टता पर निर्भर रहता था। उस समय भारत के जुलाहे, लुहार, बढ़ई आदि कारीगरों का शिल्प अच्छी उन्नत दशा में था और इसीलिए उन द्वारा तैयार किए गए माल की विदेशी बाजारों में भी बहुत माँग रहती थी। भारत में बने सूती वस्त्र बहुत बड़ी मात्रा में बिकने के लिए यूरोप जाया करते थे और इस देश के सूरत सदृश बन्दरगाहों में जो जहाज बनते थे, यूरोप के लोग उन्हें भी खरीदने के लिए सदा तत्पर रहते थे। भारत में तैयार हुए अस्त्र-शस्त्रों को भी बहुत उत्कृष्ट माना जाता था और विदेशों में उनकी भी अच्छी माँग रहती थी। भारत के किसान भी उस समय समृद्ध थे। वे प्रायः भूमि के स्वयं स्वामी होते थे और अपनी उपज का एक भाग मालगुजारी के रूप में ग्राम पंचायतों को प्रदान कर स्वतन्त्रता के साथ खेती व पशुपालन में तत्पर रहते थे।

पर भारत की यह सम्पन्न आर्थिक दशा देर तक कायम नहीं रही। अठारहवीं सदी में पश्चिमी यूरोप के देशों में ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार होने प्रारम्भ हुए, जिन्होंने कि वहाँ के आर्थिक जीवन को आमूल-चूल परिवर्तित कर दिया। वायु और जल इन दो प्राकृतिक शक्तियों का मनुष्य को प्राचीन काल में ज्ञान था। अपने शारीरिक श्रम और पशुओं के श्रम के अतिरिक्त मनुष्य चिरकाल से इनका भी आर्थिक उत्पादन के लिए उपयोग किया करता था। पवनचक्कियाँ और पनचक्कियाँ मध्यकाल में भी प्रयुक्त हुआ करती थीं। पर इनके उपयोग का क्षेत्र बहुत सीमित था। अठारहवीं सदी में भाप की शक्ति का आविष्कार हुआ। पत्थर के कोयले से उत्पन्न तीव्र अग्नि और जल के संयोग से जो भाप प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती है, उसे काबू कर मनुष्य एक नई यान्त्रिक शक्ति हस्तगत कर सकता है, यह ज्ञान हुआ। भाप की शक्ति को प्रयुक्त करने वाले उपकरण को 'स्टीम इंजन' कहते हैं। इसका सबसे पहले आविष्कार न्यूकामन नामक अंग्रेज शिल्पी ने किया था। बाद में जेम्स वाट ने इसमें बहुत सुधार किया और इंगलैण्ड के बहुत-से कारखानों में स्टीम इंजनों का प्रयोग किया जाने लगा। इस वैज्ञानिक आविष्कार के कारण, भारी और बड़ी मशीनों का संचालन सम्भव हो गया और आर्थिक उत्पादन की वृद्धि में इससे बहुत सहायता मिली। इंगलैण्ड के कारखानों में वस्त्र आदि बड़ी मात्रा में तैयार होने लगे और अपने तैयार माल को खपाने के लिए सुरक्षित बाजारों की तलाश की उन्हें चिन्ता हुई। स्टीम इंजन के आविष्कार से यातायात के साधनों में भी बहुत उन्नति हुई। समुद्र में नौकाएँ व जहाज पहले भी चलते थे, पर उन्हें चप्पुओं व पाल द्वारा चलाया जाता था। सन् १८०२ में जहाजों में भी स्टीम इंजन स्थापित किए गए और भाप की शक्ति से चलने वाले विशालकाय जहाज महासमुद्रों के वक्षस्थल को चीरते हुए पृथ्वी की परिक्रमा करने लगे। अठारहवीं सदी के अन्त तक औद्योगिक क्षेत्र में पश्चिमी यूरोप के देशों ने इतनी उन्नति कर ली थी, कि भारत आदि प्राच्य देशों के शिल्पियों के लिए उनके सम्मुख टिक सकना सुगम नहीं रहा था।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वैज्ञानिक आविष्कारों और औद्योगिक क्रान्ति में भारत पश्चिमी यूरोप के मुकाबिले में क्यों पीछे रह गया? इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण

यह था कि भारत में बुद्धिजीवियों और शिल्पियों में परस्पर सम्पर्क नहीं रह गया था। विद्या का अध्ययन और अध्यापन ब्राह्मण वर्ग का कार्य था और ज्ञान में वृद्धि करना भी उन्हीं की उत्तरदायिता थी। आर्थिक उत्पादन के लिए खेती, पशुपालन और शिल्प वैश्यों और शूद्रों के कार्य थे। समाज में वैश्यों और शूद्रों की स्थिति ब्राह्मणों की तुलना में हीन मानी जाती थी और शूद्रों के लिए तो शिक्षा प्राप्त करना भी निषिद्ध था। लुहार, बढ़ई, तन्तुवाय, मल्लाह आदि शिल्पियों को शूद्र वर्ग के अन्तर्गत गिना जाता था और उनके साथ सामाजिक सम्बन्ध रखना उचित नहीं समझा जाता था। कुछ प्रदेशों में तो शिल्पियों (शिल्पकारों) की गणना अछूतों में भी की जाने लगी थी। वैज्ञानिक आविष्कार तभी संभव हैं, जबकि ज्ञान, विज्ञान और शिल्प में सम्बन्ध रहे। ज्ञान के बिना शिल्पी अपने शिल्प को उन्नत नहीं कर सकता और केवल सैद्धान्तिक ज्ञान से कोई विद्वान् तब तक नये आविष्कार नहीं कर सकता, जब तक कि वह शिल्प में भी निपुण न हो और स्वयं हाथ से काम न करे। प्राचीन भारत में ज्ञान और विद्या किसी एक वर्ग तक ही सीमित न थे। मनुष्यमात्र को ज्ञान उपार्जन का अधिकार प्राप्त था और वर्ण का आधार जन्म न होकर गुण कर्म और स्वभाव थे। जन्म से सबको शूद्र माना जाता था और शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्ग में स्थान दिया जाता था। विद्याध्ययन के द्वार सबके लिए खुले रहते थे। पर बाद में एक ऐसा समय आया, जबकि स्त्रियों और शूद्रों के लिए ज्ञान प्राप्ति के मार्ग अवरुद्ध कर दिए गए। क्योंकि शिल्पियों को भी प्रायः शूद्र वर्ग के अन्तर्गत किया जाता था, अतः उनके लिए शिक्षा ग्रहण कर विद्वान् बन सकना सम्भव नहीं रह गया। परम्परागत शिल्प का अनुसरण तो वे अब भी कर सकते थे, पर शिक्षा और ज्ञान के अभाव के कारण अब उनके लिए यह संभव नहीं रहा था कि वे शिल्प के उपकरणों को उन्नत कर सकें, आर्थिक उत्पादन के नये साधनों को आविष्कृत कर सकें और शिल्प के लिए विज्ञान का उपयोग कर सकें। पश्चिमी यूरोप में जिन व्यक्तियों ने स्टीम इंजन आदि के नये आविष्कार किए थे, वे शिल्पी ही थे। औद्योगिक उन्नति के नये साधनों का आविष्कार कर सकना उनके लिए इसी कारण सम्भव हुआ, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन के द्वार उनके लिए बन्द नहीं थे। पर भारत में स्थिति इससे भिन्न थी। यहाँ शिल्पियों को हीन दृष्टि से देखा जाता था और विद्याध्ययन उनके लिए निषिद्ध था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्थिक व औद्योगिक क्षेत्र में भारत के पिछड़ जाने के इस आधारभूत कारण को भली भाँति समझ लिया था। इसीलिए उन्होंने प्रबल रूप से यह प्रतिपादित किया था, कि शिक्षा प्राप्ति का सबको समान अवसर होना चाहिए, वेदशास्त्र का ज्ञान मनुष्य मात्र के लिए है, शूद्रों की सन्तान का भी गुरुकुलों या आचार्यकुलों में उपनयन किया जाना चाहिए, और उन्हें भी वही विद्याएँ पढ़ायी जानी चाहिएं, जो ब्राह्मण आदि अन्य वर्णों के बालकों को पढ़ायी जाएँ। विज्ञान तथा शिल्प, सिद्धान्त ज्ञान और क्रियात्मक हस्तकला में सम्पर्क न रहने के कारण ही भारत शिल्प, उद्योग तथा विज्ञान के क्षेत्रों में पाश्चात्य देशों की तुलना में पीछे रह गया है, इस तथ्य की अनुभूति स्वामी जी की असाधारण प्रतिभा और मौलिक चिन्तन की परिचायक है।

पश्चिमी यूरोप के देशों में वैज्ञानिक आविष्कारों और औद्योगिक क्रान्ति का जो सूत्रपात हुआ था, उसके कारण भारत के शिल्पियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे देर

तक इंगलैण्ड के यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले कारखानों में तैयार हुए माल का मुकाबिला कर सकते। पर भारत के कतिपय शिल्प इतने अधिक उन्नत व उत्कृष्ट थे, कि यूरोप के आधुनिक कारखानों के लिए भी उनको नष्ट कर सकना सुगम नहीं था। वस्त्र उद्योग में भारत ने असाधारण उन्नति की थी। अठारहवीं सदी तक भारत विश्व में वस्त्र उद्योग का सबसे बड़ा केन्द्र था और इस देश में तैयार हुए सूती कपड़े की यूरोप के बाजारों में बहुत अधिक माँग थी। यद्यपि इंगलैण्ड में भाप की शक्ति से चलने वाले कपड़े के कारखानों की स्थापना हो चुकी थी और सूत कातने, वस्त्र बुनने तथा उनकी रंगाई और छपाई के भी नये व समुन्नत साधन वहाँ प्रयुक्त होने लग गए थे, पर इसके बावजूद भी इंगलैण्ड का वस्त्र उद्योग भारत के हजारों साल पुराने वस्त्र शिल्प का मुकाबला कर सकने में असमर्थ था। इस दशा में अंग्रेजों ने भारत के उद्योगों को विनष्ट करने के लिए अपनी राजशक्ति का प्रयोग किया। प्लासी के युद्ध के पश्चात् सन् १७५७ में बंगाल के शासन पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। राजशक्ति के अपने हाथों में आ जाने पर अंग्रेजों ने उसका उपयोग अपने आर्थिक लाभ के लिए करना शुरू किया। उन्होंने आदेश जारी किए कि जुलाहे स्वतन्त्र रूप से कपड़ा तैयार न करें। वे जुलाहों को अपनी व्यापारी कोठी पर बुलाकर इस शर्त पर रुपया पेशगी देने लगे कि तैयार कपड़ा एक निश्चित दर पर अंग्रेजों को ही दिया जाए। जुलाहों को किस दर पर तैयार कपड़ा देना होगा, यह अंग्रेज पहले ही निर्धारित कर देते थे। अब जुलाहों के लिए अपने तैयार माल को खुले बाजार में बेच सकना सम्भव नहीं रह गया। इससे उनकी स्थिति स्वतन्त्र कारीगरों की न रहकर अंग्रेजों के बन्धकों के समान हो गई। शुरू में केवल ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी ही जुलाहों को इस ढंग से रुपया पेशगी देकर उनसे मनमानी कीमत पर तैयार कपड़ा प्राप्त किया करते थे और उसे बेच देने पर कम्पनी को भरपूर मुनाफा प्राप्त होता था। सन् १८१३ से कम्पनी के कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य अंग्रेजों को भी भारत में व्यापार करने की छूट दे दी गई। वे भी जुलाहों को पेशगी रुपया देकर मुनाफा कमाने लगे और कम-से-कम कीमत पर बढ़िया-से-बढ़िया माल प्राप्त करने के लिए जुलाहों पर असह्य अत्याचार भी करने लगे। भारत का विदेशी व्यापार अब पूर्णतया अंग्रेजों के हाथों में आ गया था। वे ही तैयार माल को उत्पादकों से खरीदते थे और वे ही विदेशों में उसे बेचकर मुनाफा कमाते थे। इससे जुलाहों तथा अन्य शिल्पियों की आर्थिक दशा चाहे कितनी ही हीन क्यों न होती जा रही हो, पर भारत के विदेशी व्यापार को इससे विशेष क्षति नहीं पहुँच रही थी। पर यह दशा भी देर तक कायम नहीं रही। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड तथा पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हो गया था। इंगलैण्ड में कपड़े के बहुत-से ऐसे कारखाने स्थापित होने शुरू हो गए थे, जो यान्त्रिक शक्ति से चलते थे और जिनमें थोड़े व्यय और स्वल्प श्रम से अधिक मात्रा में कपड़ा तैयार किया जा सकता था। पर भारत का वस्त्र-शिल्प इतना समुन्नत था, कि सन् १८१३ तक भारत में तैयार हुआ कपड़ा अंग्रेजी कपड़े से ५०-६० प्रतिशत कम दाम पर भी मुनाफे से बेचा जा सकता था। परिणाम यह था कि इंगलैण्ड में भी अंग्रेजी कारखानों में तैयार कपड़े के मुकाबले में भारतीय कपड़े की माँग अधिक रहती थी और उसके सामने अंग्रेजी कपड़े को बेच सकना कठिन होता था। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर ब्रिटिश सरकार द्वारा इंगलैण्ड में आने वाले भारतीय वस्त्र पर ६० से ८० प्रतिशत तक आयात-कर लगा दिया गया। आयात-कर की इस दर में

निरन्तर वृद्धि की जाती रही और कुछ प्रकार के वस्त्रों पर तो इस कर की दर १००० प्रतिशत तक कर दी गई। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत के कपड़े के लिए इंगलैण्ड में बिक सकना सम्भव नहीं रहा, क्योंकि आयात-कर के कारण उसका लागत मूल्य बहुत बढ़ जाता था। १८१६-१७ में १,६६,००,००० रुपये का कपड़ा भारत से विदेश भेजा गया था। पर ब्रिटिश सरकार की नीति के कारण इसकी मात्रा निरन्तर कम होती गई और केवल तीस वर्ष बाद १८४६-४७ में यह स्थिति आ गई कि चार करोड़ रुपये मूल्य का कपड़ा इंगलैण्ड से भारत में बिकने के लिए आया। भारतीय कपड़े के निर्यात का तो अब प्रश्न ही नहीं था। अंग्रेजी सरकार की नीति के कारण भारत का वस्त्र उद्योग निरन्तर नष्ट हो रहा था, सूरत तथा मुर्शिदाबाद सदृश नगर जो इस उद्योग के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, अब उजड़ने लग गए थे। पहले ढाका की आबादी डेढ़ लाख के लगभग थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक वह केवल तीस हजार रह गई थी। वहाँ के जुलाहे अब अन्यत्र जा बसने तथा अपने पुराने कुलक्रमानुगत शिल्प का परित्याग कर अन्य प्रकार से आजीविका चलाने के लिए विवश हो गए थे। मांचेस्टर, लिवरपूल आदि इंगलैण्ड के नगरों की इस काल में बहुत उन्नति हुई। उनके कारखाने निरन्तर अधिक-अधिक समृद्ध होते गए, क्योंकि उनके तैयार माल के विक्रय के लिए भारत के बाजार सुरक्षित थे। भारत में उनके माल पर या तो आयात-कर लगता ही नहीं था और यदि लगता भी था, तो नाम मात्र ढाई प्रतिशत के लगभग। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की यह नीति थी, कि भारत से कच्चा माल (कपास, अनाज आदि) सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर प्राप्त किया जाए और इंगलैण्ड के कारखानों में उसे तैयार माल के रूप में परिवर्तित कर अधिक-से-अधिक मूल्य पर भारत में बेच दिया जाए। अंग्रेजों ने भारत के जुलाहों को न केवल अपना बन्धक बनाया, अपितु उनके शिल्प के सर्वनाश के लिए उन्हें विकलांग कर देने में भी संकोच नहीं किया। जब उन्होंने देखा कि भारतीय कपड़े के मुकाबिले में इंगलैण्ड में तैयार हुए कपड़े को भारत में बेच सकना कठिन है, तो उन्होंने यह प्रयत्न किया कि भारत के जुलाहे कपड़ा तैयार ही न कर सकें। इस उद्देश्य से उन्होंने जुलाहों के अंगूठे कटवाये, ताकि वे कपड़ा बुनने के योग्य ही न रह जाएँ।

वस्त्र उद्योग के समान अन्य भी अनेक उद्योग भारत में अच्छी उन्नत दशा में थे। सन् १८४० तक सूरत सदृश समुद्र तटवर्ती नगरों के बन्दरगाहों में अच्छे बड़े-बड़े जहाज बना करते थे। विदेशों के नाविक इन्हें खरीदते थे और भारत के व्यापारी अपने माल को विदेशों में बेचने ले जाने के लिए इन्हीं का प्रयोग करते थे। भारतीय जहाजों के मुकाबिले में ब्रिटेन के जहाजों के लिए टिक सकना कठिन हो रहा था। इस दशा में अठारहवीं सदी में ब्रिटेन में अनेक ऐसे कानून बनाये गए जिनके द्वारा यह व्यवस्था की गई कि जो माल वहाँ बिकने के लिए लाया जाए, उसे ब्रिटिश जहाजों द्वारा ही ढोया जाए। इन कानूनों के परिणामस्वरूप भारत के नौकानयन एवं जहाज निर्माण व्यवसाय को बहुत धक्का लगा। यही दशा अन्य भी अनेक भारतीय उद्योगों की हुई। अठारहवीं सदी के अन्त तक भारत के बड़े भाग पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। अपनी इस राजशक्ति का उपयोग उन्होंने भारत के शिल्प, उद्योग, व्यवसाय तथा व्यापार को नष्ट करने के लिए किया, जिससे इस देश की आर्थिक दशा निरन्तर बिगड़ती गई। ब्रिटिश शासकों की नीति के कारण जो कारीगर बेकार होते जा रहे थे, अपनी आजीविका के लिए उनके

सम्मुख केवल यही उपाय था कि वे भी खेती करने लगें। इससे भूमि पर बोझ में वृद्धि होती गई और भारत कृषिप्रधान देश बनकर रह गया। ब्रिटिश युग से पहले भारत कृषि-प्रधान होने के साथ-साथ शिल्पप्रधान भी था। पर अब उसकी वह स्थिति नहीं रह गई थी। ब्रिटिश लोग अपने कारखानों से तैयार माल को ऊँची कीमत पर भारत में बेचते थे और कपास, अनाज आदि कच्चा माल यहाँ से सस्ते मूल्य पर अपने देश को ले जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत में आयात माल की कीमत निर्यात माल की तुलना में निरन्तर अधिक होती गई और निर्यात-आयात के इस असन्तुलन को ठीक करने के लिए भारत की बहुमूल्य सम्पत्ति को बड़ी मात्रा में इंगलैण्ड भेजा जाने लगा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत के विविध राज्यों की विजय करने और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जो कुछ भी खर्च करना पड़ा था, वह सब भारत पर लाद दिया गया था। साथ ही, अफगानिस्तान, बरमा, चीन, ईरान, मिस्र आदि में ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना के प्रयोजन से अंग्रेजों ने भारतीय सेनाओं का प्रयोग किया और इन सेनाओं पर जो खर्च हुआ, वह सब भी भारत के नाम लिख दिया गया। इस प्रकार भारत पर ऋण की भारी रकम बढ़ती गई, और इसे भारत का 'राष्ट्रीय ऋण' कहा जाने लगा। यह ऋण भारत द्वारा अपनी आर्थिक व औद्योगिक उन्नति के लिए या आत्मरक्षा के साधनों की उपलब्धि के लिए नहीं लिया गया था। यह ऋण उस राशि से बना था, जो भारत की विजय तथा अन्य देशों में अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिए अंग्रेजों ने व्यय की थी। भारत में जो अंग्रेज अफसर, सैनिक व अन्य कर्मचारी सरकारी सेवा में नियुक्त थे, उनके वेतन, पेंशन तथा अन्य भत्ते भी भारत को प्रदान करने होते थे और इनके रूप में भी एक अच्छी बड़ी धनराशि प्रतिवर्ष भारत द्वारा ब्रिटेन को प्रदान की जाती थी। ब्रिटेन को दिए जाने वाले धन को प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी सरकार ने मालगुजारी तथा अन्य टैक्सों में मनमानी वृद्धि की, जिसके परिणामस्वरूप जनता पर टैक्सों का बोझ बहुत बढ़ गया। इसी प्रयोजन से अंग्रेजी सरकार ने नमक के व्यवसाय पर अपना एकाधिकार स्थापित किया। नमक के उत्पादन पर जो खर्च पड़ता था, उस पर ३०० प्रतिशत कर लगाया जाने लगा, जिसके कारण उसकी कीमत बहुत बढ़ गई। १८५२ ईस्वी में इंगलैण्ड में नमक का मूल्य ३० शिलिंग प्रति टन था, और भारत में २१ पौंड प्रति टन। इंगलैण्ड की तुलना में भारत में नमक का मूल्य चौदह गुना था। इस देश की गरीब जनता को नमक सदृश दैनिक उपयोग की आवश्यक वस्तु के लिए इतनी अधिक कीमत देनी पड़ती थी, और इस व्यवसाय का सब मुनाफा अंग्रेजों को प्राप्त होता था।

केवल कारीगरों की ही नहीं, अपितु किसानों की दशा भी अंग्रेजी शासन में बहुत दयनीय हो गई थी। अब वे जमीन के मालिक नहीं रह गए थे। मालगुजारी निर्धारित करने तथा उसे वसूल करने के काम भी अब ग्राम पंचायतों के हाथ में नहीं रह गए थे। सरकार द्वारा मालगुजारी की वसूली के अधिकार को नीलाम किया जाता और जो सबसे ऊँची बोली बोलकर यह ठेका प्राप्त कर लेता, वह किसानों से मालगुजारी की मनमानी रकम वसूल करता। वे जो कुछ खेतों में पैदा करते, वह सब प्रायः ठेकेदार ले जाते। परिणाम यह हुआ कि किसान निरन्तर अधिक-से-अधिक गरीब होते गए, और माल-गुजारी की वसूली के ठेकेदारों की स्थिति जमींदारों या जागीरदारों की होती गई। अब किसान पूर्णतया इन जमींदारों की कृपा पर निर्भर हो गया। उसमें आत्मसम्मान की

भावना लुप्त हो गई और वह जमींदार को अन्नदाता व मालिक समझने लगा। इस प्रकार दुर्दशाग्रस्त हो जाने पर भी किसान जो खेती करते रहे, उसका कारण यह था कि उनके सम्मुख पेट पालने का कोई अन्य साधन था ही नहीं।

शिल्प के नष्ट हो जाने के कारण भारत में बहुत-से लोग बेकार हो गए थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि यहाँ मजदूरी की दर बहुत गिर गई। ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं रही, जो किसी भी शर्त पर मजदूरी करने को तैयार थे। इस दशा में अनेक अंग्रेजों के मन में यह विचार आया कि बड़े पैमाने पर खेती शुरू करें और मजदूरों को नाममात्र पारिश्रमिक देकर मुनाफा कमाएँ। इसीलिए उन्होंने बंगाल-बिहार में नील की, कुर्ग और नीलगिरि में कॉफी की, और हिमालय की तराई के क्षेत्रों में चाय की खेती बड़े पैमाने पर शुरू की। इन गौरांग कृषकों को खेती के लिए सस्ती मजदूरी पर मजदूर मिलने में कोई कठिनाई न हो, इस प्रयोजन से प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा का सूत्रपात किया गया। इस प्रथा के अनुसार गरीब मजदूरों से पाँच साल मजदूरी करने का ठहराव कर लिया जाता था। निश्चित अवधि के पूरा होने से पहले यदि कोई मजदूर काम छोड़ता, तो उसे फौजदारी कानून के अधीन दण्ड दिया जाता था। गरीबी और भूख से परेशान अशिक्षित लोग 'प्रतिज्ञाबद्ध कुली' होना स्वीकार कर लेते थे और पाँच साल की अवधि के पूरा हो जाने के पश्चात् पुन: अगले पाँच वर्षों के लिए ठहराव पर अँगूठा लगा देते थे, क्योंकि पेट पालने के लिए कोई अन्य चारा नहीं होता था। इन प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों की स्थिति गुलामों से किसी भी प्रकार अच्छी न थी।

यही समय था, जब कि भारत के गरीब लोगों ने अच्छी बड़ी संख्या में मारीशस, त्रिनिदाद, गुयाना, जैमेका आदि ब्रिटिश उपनिवेशों में जाना प्रारम्भ किया। सोलहवीं सदी में जब यूरोप के लोगों ने अमेरिका महाद्वीप में अपनी बस्तियाँ बसानी शुरू की, तो खेती, पशुपालन आदि के लिए उन्हें मजदूरों की आवश्यकता अनुभव हुई। उस समय दास प्रथा विद्यमान थी और पशुओं के समान गुलामों का भी क्रय-विक्रय हुआ करता था। अफ्रीका से हब्शियों को पकड़कर अमेरिका ले जाया जाने लगा और वहाँ के गौरांग लोग उन्हें खरीद कर खेती आदि के लिए उनका उपयोग करने लगे। अमेरिका महाद्वीप में श्रम की उपलब्धि की समस्या हब्शी गुलामों द्वारा ही पूरी की गई। पर गुलामों को क्रय करने के लिए पर्याप्त धनराशि खर्च करनी होती थी, उनके पालन-पोषण का भी मालिकों को ध्यान रखना होता था, क्योंकि यदि वे मर जाएँ, बीमार पड़ जाएँ या अन्य प्रकार से कार्य के लिए अशक्त हो जाएँ, तो उनके क्रय में खर्च की गई धनराशि डूब जाती थी। प्रतिज्ञा-बद्ध कुली गुलामों से सस्ते पड़ते थे, क्योंकि उनकी प्राप्ति के लिए कोई कीमत नहीं देनी होती थी। एक निश्चित अवधि के लिए उनके साथ ठहराव कर लिया जाता था, और श्रम के बदले में उन्हें इतनी कम मजदूरी दी जाती थी जो उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी अपर्याप्त होती थी। मारीशस, त्रिनिदाद आदि ब्रिटिश उपनिवेश थे, जिनमें गौरांग लोगों के विशालकाय खेतों में मजदूरी के लिए भारत से प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों को ले जाया जाता था। उन्नीसवीं सदी में लाखों भारतीयों को इस ढंग से विदेश ले जाया गया, जहाँ वे गुलामों का-सा जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हुए। पर भारत में उनके लिए आजीविका कमाना इतना कठिन हो गया था कि उन्हें विदेश जाने के लिए विवश होना पड़ता था। अंग्रेजी शासन में भारत की यह कैसी दयनीय आर्थिक दुर्दशा हो गई थी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारत की इस दुर्दशा को आँखों से देखा था। इसे देखकर उनके संवेदनशील हृदय पर जो प्रतिक्रिया हुई थी, उसका कुछ आभास उनके ग्रन्थों से मिलता है। उन्होंने अपने अनुयायियों और पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया था, कि प्राचीन समय में जब यहाँ आर्यों का अपना राज्य था, यह देश कैसा समृद्ध और धनधान्य से परिपूर्ण था और इसे स्वर्णभूमि कहा जाता था। स्वामीजी के शब्दों में "पारसमणि पत्थर सुना जाता है वह बात तो झूठी है परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।" विदेशी शासन में किसानों और श्रमिकों की दुर्दशा तथा हीन स्थिति को दृष्टि में रखकर स्वामीजी ने यह विचार प्रकट किया था कि किसान आदि श्रमिक ही वास्तव में राजाओं के भी राजा होते हैं। उन्हें उनकी समुचित स्थिति प्राप्त होनी चाहिए, समाज में भी और राज्यसंस्था में भी। भारत में कारीगरी और शिल्प का जिस ढंग से विनाश हो गया था, उसे देखकर उन्होंने इस बात पर अत्यधिक जोर दिया था कि मनुष्यों को ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर उन्नत शिल्प तथा आर्थिक उत्पादन में उसका उपयोग करना चाहिए। वे यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले कारखानों तथा यानों के पक्षपाती थे। उनका कथन था कि अग्नि और जल ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ हैं, जिनका उपयोग कर बड़े-बड़े यन्त्र बनाए जाने चाहिएँ। अग्नि से उन्हें साधारण आग ही अभिप्रेत नहीं थी, अपितु विद्युत् तथा और भी अधिक सूक्ष्म ऊर्जा का वे 'अग्नि' शब्द से ग्रहण करते थे। इनके उपयोग से ऐसे यानों के निर्माण की भी उन्होंने कल्पना की थी, जो स्थल, जल तथा अन्तरिक्ष में समान रूप से आ-जा सकें। भारत की दरिद्रता और भुखमरी को दूर करने का उनकी दृष्टि में मुख्य उपाय यह था कि इस देश के निवासी भी विज्ञान और शिल्प का उपयोग कर अधिक-से-अधिक आर्थिक उत्पादन करें और भौतिक उन्नति व सुख-वैभव के लिए भी प्रयत्न करते रहें। स्वामीजी के आर्थिक विचारों पर भी एक पृथक् अध्याय में यथास्थान विचार किया जाएगा।

(३) धार्मिक दशा

भारत का प्रधान धर्म सनातन वैदिक धर्म है और इस देश के बहुसंख्यक निवासी इसी धर्म के अनुयायी हैं। पर इस प्राचीन धर्म में किस प्रकार अनेक विकृतियाँ आ गई थीं और ऐसे बहुत से मत-मतान्तरों का विकास हो गया था जिनके मन्तव्य व पूजाविधि आदि मूल वैदिक धर्म के विपरीत थे, इस विषय पर इस ग्रन्थ में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इन सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के कारण आर्य (हिन्दू) धर्म में एक होने की भावना सर्वथा नष्ट हो गई थी। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि मुख्य सम्प्रदायों के भी बहुत से उपभेद थे, जिनके अनुयायी अपने को उन-उन मतों का अनुयायी समझते थे और अपने लिए अपने सम्प्रदाय का नाम ही प्रयुक्त करते थे। कोई अपने को शैव कहता था, और कोई वैष्णव। वैष्णव भी अनेक मतों में विभक्त थे। रामानुज, वल्लभाचार्य, मध्व आदि के अनुयायी वैष्णव थे, पर उन्हें अपने आचार्यों के अनुयायियों के रूप में पृथक् जाना जाता था। मध्य काल में रामानन्द, कबीर, चैतन्य, रैदास, दादू आदि कितने ही सन्तों ने अपने पृथक् पन्थ चला लिए थे और उनके अनुयायी रामानन्दी, कबीरपन्थी, रदासी आदि कहाते थे। शैवों के भी बहुत से सम्प्रदाय व मत थे। यही दशा शाक्तों, नाथयोगियों, लिंगायतों आदि की

थी। ईसाइयों और मुसलमानों में भी अनेक सम्प्रदाय हैं, उनके मन्तव्यों तथा पूजाविधि आदि में भी अन्तर है, जिनके कारण उनमें विरोध व विद्वेष भी उत्पन्न होते रहते हैं। पर विविध मतों के होते हुए भी उनमें एक प्रकार की सुदृढ़ एकता की सत्ता है। सब ईसाई, चाहे वे रोमन कैथोलिक हों या प्रोटेस्टेन्ट, बाइबिल को अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं और जीसस क्राइस्ट को ईश्वर का ऐसा पुत्र जिसका अवतरण मानवों को पापों से मुक्त कराने के लिए हुआ था। शिया, सुन्नी, बहाबी आदि विभिन्न मुसलिम सम्प्रदायों के अनुयायी कुरान को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, और हजरत मुहम्मद को पैगम्बर। पर आर्य (हिन्दू) लोगों के विविध सम्प्रदायों में इस ढंग से एकता उत्पन्न वाले कोई तत्त्व उन्नीसवीं सदी में नहीं थे। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सब ईश्वर को मानते हैं, पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनमें मतभेद है। शैव शंकराचार्य का अद्वैतवाद वैष्णव रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत-वाद और मध्वाचार्य के द्वैतवाद से बहुत भिन्न है। शंकर के मत में ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं है, जीव ब्रह्म से अभिन्न है। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में आधारभूत भेद के कारण शैवों और वैष्णवों आदि के लिए अपने को एक ही धर्म का अनुयायी समझ सकना सुगम नहीं था। ईश्वर के अवतारों के विषय में भी इनमें ऐकमत्य का अभाव है। राम और कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते हैं, और लकुलीश आदि शिव के। विविध सम्प्रदायों के देवी-देवता भी भिन्न-भिन्न हैं और उनकी पूजाविधियाँ भी विभिन्न प्रकार की हैं। सब आर्य (हिन्दू) सम्प्रदाय वेदों को प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं, पर अपने धार्मिक व दार्शनिक मन्तव्यों के परिज्ञान के लिए उनमें वेदों के पठन-पाठन की परम्परा न के बराबर है। क्रियात्मक दृष्टि से उनके धर्मग्रन्थ पुराण हैं, जो शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों के अपने-अपने हैं। भागवत, लिंग, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों की स्थिति विविध सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों की ही है। वेदों के पठन-पाठन की परम्परा के नष्ट हो जाने के कारण उनकी स्थिति ऐसे ग्रन्थों की हो गई थी, जिन्हें पूजायोग्य व उपास्य तो माना जाता हो, पर जो लोगों के मन्तव्यों, धार्मिक अनुष्ठानों, विश्वासों और आचार-विचार आदि को किसी भी प्रकार प्रभावित न करते हों। किसी एक सर्वमान्य धर्मग्रन्थ के अभाव तथा विश्व की सर्वोच्च शक्ति के स्वरूप के विषय में ऐकमत्य न होने के कारण उन्नीसवीं सदी का हिन्दू धर्म विभिन्न मत-मतान्तरों का समुच्चय मात्र था, उसे क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम के समान एक धर्म नहीं माना जा सकता था। शंकराचार्य ने जिस स्मार्त भावना का प्रति-पादन किया था, उसके कारण सर्वसाधारण हिन्दू लोग प्रायः सभी मन्दिरों में दर्शन के लिए आने-जाने लग गए थे और विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति मान व पूजा का भाव भी उनमें विकसित हो गया था, पर इससे उनमें परस्पर एक होने की वह अनुभूति उत्पन्न नहीं हो पाई थी जो किसी धर्म के अनुयायियों को एक संगठन का अंग होकर अनुशासित जीवन जीने के लिए प्रेरित करती है।

सामाजिक ऊँच-नीच और जात-पाँत के भेदभाव भी हिन्दुओं के धार्मिक संगठन में बहुत बड़ी बाधा थे। वैदिक युग की वर्णव्यवस्था का रूप अब अत्यधिक विकृत हो चुका था। वर्णों का आधार गुण, कर्म, स्वभाव न होकर जन्म रह गया था और समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को अस्पृश्य माना जाने लगा था। भंगी, चमार आदि अनेक जातियों के लोग अछूत समझे जाते थे और इनके लिए मन्दिरों में देव-दर्शन के लिए जा सकना भी निषिद्ध था। उच्च वर्गों के व्यक्ति यह समझते थे कि इनकी छाया से भी वे अपवित्र हो

जाएँगे, इन्हें स्पर्श करने व इनसे भोजनादि का व्यवहार रखने का तो प्रश्न ही क्या था। धोबी, नाई सदृश कितनी ही जातियों को नीची निगाह से देखा जाता था और विद्या पढ़ने तथा वेद के श्रवण के अधिकार से भी वे वंचित थीं। कहने को चमार, भंगी, धोबी आदि सब हिन्दू थे। वे सिर पर शिखा धारण करते थे; गंगा, कावेरी आदि नदियों को पवित्र समझते थे; राम, कृष्ण आदि को अवतार मानते थे और देवमूर्तियों के दर्शन करने तथा देवी-देवताओं की कथाओं के श्रवण को इहलोक और परलोक में सुख का साधन समझते थे। पर उच्च वर्णों के लोग उन्हें अपने धर्म व अपने समाज का अंग स्वीकार कर उनके प्रति उचित बरताव करने के लिए उद्यत नहीं थे। इस दशा में आर्य (हिन्दू) धर्म के अनुयायियों में परस्पर एक होने की भावना का विकास हो ही कैसे सकता था। इस्लाम के सब अनुयायी अपने को मुसलमान कहते हैं, चाहे वे उसके किसी भी मत को क्यों न मानते हों। इस्लाम, पैगम्बर मुहम्मद और कुरान के नाम पर वे सब इकट्ठे हो जाते हैं। यही बात क्रिश्चियनों, बौद्धों आदि के सम्बन्ध में भी सत्य है। पर कोई एक ऐसी संज्ञा तक नहीं थी, जिससे आर्य धर्म के सब अनुयायियों का बोध कराया जा सके। स्थूल रूप से वे हिन्दू कहाते थे, पर हिन्दू शब्द एक विशेष प्रदेश के निवासियों के लिए प्रयुक्त किया जाना शुरू हुआ था। यवन (ग्रीक) लोगों का भारत में सबसे प्रथम सिन्धु नदी के समीपवर्ती प्रदेश से सम्पर्क हुआ था। वे सिन्धु का उच्चारण इन्द या इन्दस करते थे और उस क्षेत्र के निवासियों को ऐन्दू कहते थे। हिन्दू शब्द इसी से बना है। यह किसी धर्म विशेष का परिचायक नहीं है। हिन्दू धर्म से जिस धर्म का बोध होता है, वह आर्य या वैदिक धर्म ही है। पर भारत में ऐसे लोग शायद ही कोई रहे हों, जो अपने धर्म को आर्य या वैदिक कहते हों। अफगानिस्तान के हिन्दू आज भी अपने को 'आर्य' कहते हैं, पर भारत के हिन्दू नहीं। यदि उनसे उनके धर्म के सम्बन्ध में पूछा जाए, तो वे अपने को आर्य या वैदिक नहीं कहेंगे। इस दशा में उनमें धार्मिक दृष्टि से एकानुभूति होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आविर्भाव के समय उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में हिन्दू धर्म की यही दयनीय दुर्दशा थी। स्वामी जी ने इसे अनुभव किया था और उन्होंने यह विचार हिन्दुओं के सम्मुख प्रस्तुत किया था कि वे वेद को अपना धर्मग्रन्थ मानें, ओंकार नाम से विश्व की सर्वोच्च शक्ति (परमेश्वर) का स्मरण किया करें और गायत्री मन्त्र को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना के लिए प्रयुक्त करें। ओ३म्, वेद और गायत्री के आधार पर हिन्दू धर्म के सब सम्प्रदायों को एक सूत्र में संगठित किया जा सकता है, यह विचार क्रियात्मक है। स्वामी जी ने वेदों को सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ प्रतिपादित कर उनके पठन-पाठन पर अत्यधिक जोर दिया था और इस प्रकार हिन्दू धर्म को एक ठोस व सुदृढ़ आधार पर स्थापित करने का एक क्रियात्मक उपाय प्रस्तुत कर दिया था।

सत्य सनातन वैदिक आर्य धर्म किस प्रकार बहुत से सम्प्रदायों व मत-मतान्तरों में परिवर्तित हो गया था, इस पर संक्षेप के साथ भी प्रकाश डाल सकना यहाँ सम्भव नहीं है। ध्यान देने योग्य बात यह है, कि इन सम्प्रदायों के मन्तव्य, सिद्धान्त, अनुष्ठान और कर्मकाण्ड आदि जहाँ वास्तविक वैदिक धर्म से अनेक अंशों में भिन्न थे, वहाँ साथ ही इनमें ऐसे अन्धविश्वासों और विकृतियों का भी समावेश हो गया था, किसी भी धर्म के लिए जिन्हें कलंक कहा जा सकता है। वाममार्गी सम्प्रदाय के अनुयायी पंचमकारों का सेवन अपनी साधनाविधि का आवश्यक अंग मानते थे और गुह्य साधना के आवरण में ऐसे कार्यों को

करने में तत्पर रहते थे, जिन्हें सभ्य समाज कभी सहन नहीं कर सकता। देवी-देवताओं को सन्तुष्ट करने के प्रयोजन से निरीह पशुओं की बलि भी दी जाने लगी थी, और ऐसे सम्प्रदाय भी थे जिनमें इष्ट फल की प्राप्ति के लिए मनुष्यों तक को बलि चढ़ा देने की प्रथा थी। भूत-प्रेत, तन्त्र-मन्त्र आदि में हिन्दू जनता का अगाध विश्वास था। रोग आदि कष्टों को भूत-प्रेत व देवी-देवताओं के कोप का परिणाम माना जाता था, और उनके निवारण का यही उपाय समझा जाता था कि विविध प्रकार के अनुष्ठानों तथा तन्त्र-मन्त्र आदि से देवता को संतुष्ट किया जाए या भूत-प्रेत से छुटकारा पाया जाए। मनुष्यों के भाग्य को ग्रह भी प्रभावित करते हैं और ग्रहों की शान्ति के लिए विविध प्रकार के अनुष्ठान किए जाने चाहिएं, यह विचार भी जनता में बद्धमूल था। इस ढंग के अन्ध विश्वासों से ग्रस्त लोग यदि ज्ञान-विज्ञान की ओर कोई ध्यान न दें, तो यह स्वाभाविक ही था। यज्ञों की परिपाटी इस काल में प्रायः लुप्त हो चुकी थी और उनका स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया था। मन्दिर अनेक प्रकार की कुरीतियों तथा भ्रष्टाचरण के केन्द्र हो गए थे और उनमें पूजापाठ के लिए जाने वाले व्यक्ति वह शान्ति और सात्त्विक भावना प्राप्त नहीं कर पाते थे, जिनके लिए धार्मिक पूजा की जाती है। देवदासी प्रथा के कारण अनेक मन्दिर दुराचार के भी अड्डे बन गए थे और सत्य धर्म के ज्ञान से विरहित पण्डे-पुजारी मन्दिरों को अपनी आर्थिक आमदनी का साधनमात्र समझने लगे थे। इन बुराइयों के निवारण के बिना आर्य (हिन्दू) धर्म में नवजीवन व शक्ति का संचार कर सकना सम्भव नहीं था। यह तभी किया जा सकता था जब कि सच्चे वैदिक धर्म के वास्तविक रूप को जनता के सम्मुख रखा जाए। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यही सब करने का प्रयत्न किया।

किसी भी धर्म की उत्कृष्टता प्रधानतया उसके आचार्यों, गुरुओं, पण्डितों, पुरोहितों तथा साधु-संन्यासियों की विद्वत्ता, योग्यता, लगन और सात्त्विक भावना पर निर्भर करती है। हिन्दू धर्म में पुरोहित व धर्माचार्य वर्ग के व्यक्ति अपने पदों को योग्यता व विद्वत्ता के आधार पर प्राप्त नहीं करते थे। वे पुरोहित या पुजारी इस कारण होते थे, क्योंकि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। किसी अन्य वर्ण या कुल के व्यक्ति के लिए मन्दिर में पूजापाठ कराना या पौरोहित्य करना सम्भव नहीं था। इसका परिणाम यह था कि हिन्दू धर्म का नेतृत्व मुख्यतया ऐसे लोगों के हाथों में आ गया था जो इस कार्य के लिए समुचित योग्यता नहीं रखते थे। पुरोहित वर्ग की इस दुर्दशा का एक कारण यह था, कि उस समय वेदशास्त्रों का पठन-पाठन ब्राह्मण वर्ग तक में प्रचलित नहीं रह गया था। वेदों की मान्यता तब भी थी। गीता, उपनिषद्, स्मृति, धर्मशास्त्र, पुराण आदि सर्वत्र वेदों का माहात्म्य वर्णित था, पर उनके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा तब नहीं रह गई थी। कतिपय पंडित कुलों में वेदों को कण्ठस्थ करने तथा वेदमन्त्रों का सस्वर पाठ करने की परिपाटी अवश्य विद्यमान थी, पर उनके अर्थ व अभिप्राय को जानने का कोई प्रयत्न तब नहीं किया जाता था। इस दशा में सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में विवेक करने के लिए वेदों का सहारा नहीं लिया जा सकता था। हिन्दू धर्म में जो विच्छृंखलता आ गई थी, वह इसी का परिणाम था।

इस्लाम की दशा हिन्दू धर्म की तुलना में विशेष अच्छी नहीं थी। भारत में इस धर्म का प्रवेश हुए एक हजार साल के लगभग हो चुके थे, पर बहुसंख्यक जनता ने उसे

नहीं अपनाया था। मुसलमानों की संख्या भारत में बीस प्रतिशत से अधिक नहीं थी, और इस्लाम में भी ऐसी विकृतियाँ विकसित हो गई थीं, जिनके कारण उसकी शक्ति का ह्रास होने लग गया था। मुसलमानों में भी जात-पाँत, ऊँच-नीच और छूत-अछूत के भेदभावों का समावेश हो गया था; और कबरों की पूजा, व उर्स सदृश कितनी ही ऐसी बातें उसमें आ गई थीं, जो इस्लाम के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। मुगल साम्राज्य की शक्ति के क्षीण हो जाने और मराठे, राजपूत, सिक्ख, जाट आदि हिन्दू राजशक्तियों के उद्भव व विकास के कारण मुसलमानों में एक प्रकार की निराशा भी अठारहवीं सदी के शुरू से ही व्याप्त होनी शुरू हो गई थी और बाद में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो जाने पर और उसके साथ-साथ क्रिश्चिएनिटी के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से वे बहुत उद्वेग अनुभव करने लग गए थे। इसी के परिणामस्वरूप मुसलमानों में अनेक ऐसे आन्दोलनों का सूत्र-पात हुआ, जिनका उद्देश्य इस्लाम में नवशक्ति का संचार करना था, ताकि मुसलमानों के लुप्त गौरव को पुनःस्थापित किया जा सके। ऐसे एक आन्दोलन के नेता रायबरेली के सैयद अहमद (१७८६-१८३१) थे, जो भारत से काफिरों के प्रभुत्व का अन्त कर मुसलिम शासन की पुनःस्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। सैयद अहमद की दृष्टि में पंजाब में सिक्खों का शासन और बंगाल में अंग्रेजों की सत्ता काफिरों की शक्ति के परिचायक थे, और इस्लाम के उत्कर्ष के लिए उन्हें नष्ट करना आवश्यक था। सैयद अहमद और उसके सदृश अन्य मुसलिम नेताओं ने इस्लाम में शक्ति का संचार करने के लिए जो प्रयत्न किये, उनका यहाँ उल्लेख करना उपयोगी नहीं है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिन्दू धर्म के समान मुसलमानों में भी इस समय (उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में) वह शक्ति नहीं रह गई थी, जिस द्वारा कि उन्होंने एक हजार वर्ष के लगभग पूर्व पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका के बड़े भाग को इस्लाम का अनुयायी बना लिया था। वे भी शक्तिहीन हो गए थे, और उनमें भी अनेक प्रकार की संकीर्णताओं तथा अन्ध विश्वासों ने घरकर लिया था। साथ ही, ऐसे नेता व धर्माचार्य भी उनमें पैदा होने लग गए थे, जो इस्लाम की दुर्दशा को अनुभव कर उसमें सुधार तथा नव-जीवन के संचार के लिए प्रयत्न कर रहे थे। इस्लाम के इन आन्दोलनों का एक पहलू यह भी था कि विधर्मियों के प्रति विरोध भावना उनके नेताओं में उग्ररूप धारण करने लग गई थी और हिन्दू राज्यों की शक्ति की वृद्धि को वे अपने धर्म के लिए हानिकारक समझने लगे थे। इसीलिए सैयद अहमद ने यह घोषणा की थी, कि पंजाब के सिक्ख राज्यों के सदृश जिन राज्यों के शासक गैर-मुसलिम हैं, वे सब दारुल-हर्ब (शत्रुदेश) हैं और उनके विरुद्ध जिहाद करना सब मुसलमानों का धार्मिक कर्त्तव्य है। यद्यपि सैयद अहमद सदृश नेताओं के जिहाद के प्रयत्नों को सफलता प्राप्त नहीं हुई, पर उनका यह परिणाम अवश्य हुआ कि मुसलमानों के एक वर्ग में हिन्दुओं के प्रति विरोध व विद्वेष में वृद्धि होने लगी और ऐसी अनेक पुस्तिकाएँ प्रकाशित होनी शुरू हुईं, जिनमें हिन्दू धर्म के प्रति प्रबल आक्षेप किए जाते थे और उसके मन्तव्यों की मखौल उड़ायी जाती थी। भारत के इतिहास में यह एक नई प्रवृत्ति थी। चिर काल तक साथ-साथ रहने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों में जो सामंजस्य विकसित हो गया था, इससे उसे आघात लगना शुरू हुआ और इस देश में साम्प्रदायिक समस्या उत्पन्न होने में इससे सहायता मिली। दारुल-हर्ब और जिहाद की जो घोषणा सैयद अहमद ने की थी, उसके कारण भारत की गैर-मुसलिम राजशक्ति तो नष्ट नहीं हुई, पर हिन्दुओं के प्रति

मुसलमानों के एक वर्ग में विद्वेष की भावना अवश्य उद्बुद्ध हो गई।

पर उन्नीसवीं सदी की भारत की धार्मिक दशा को समझने के लिए क्रिश्चियन पादरियों के कर्तृत्व को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में पहले भी संक्षेप के साथ लिखा जा चुका है। प्लासी के युद्ध (१७५७) के पश्चात् बंगाल में ब्रिटिश आधिपत्य का सूत्रपात हो गया था। इससे लाभ उठाकर ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य देशों के क्रिश्चियन मिशनों ने इस देश में अपने धर्म के प्रचार में विशेष तत्परता प्रदर्शित करनी शुरू कर दी। सन् १७९२ ईस्वी में कैरी, मार्शमैन और वार्ड नाम के तीन यूरोपियन पादरी बंगाल आए और उन्होंने कलकत्ता से सोलह मील दूर हुगली नदी के तट पर सीरामपुर नामक नगरी में अपना प्रचार केन्द्र स्थापित किया। भारत में क्रिश्चिएनिटी का प्रचार करने के लिए इन पादरियों ने यह आवश्यक समझा कि बाइबल का भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया जाए। क्योंकि उन्होंने अपना कार्य बंगाल से शुरू किया था, अतः सबसे पूर्व बंगला भाषा में ईसाई धर्मग्रन्थ का अनुवाद कराया। यह अनुवाद मार्च, सन् १८०० में तैयार हो गया था। इससे बंगाली जनता में क्रिश्चिएनिटी के प्रचार में बहुत सहायता मिली। कुछ समय पश्चात् मि० कैरी ने राम बसु नामक एक बंगाली सज्जन से ईसाई मत के प्रचार के लिए दो पुस्तिकाएँ लिखवाईं। इनमें हिन्दू धर्म पर अनेकविध कटाक्ष व आक्षेप किए गए थे और क्रिश्चियन मन्तव्यों की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया था। इसी समय ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए शिक्षणालयों को खोलना भी प्रारम्भ किया। ऐसा एक विद्यालय १ जून, १८०० के दिन बंगाल में स्थापित किया गया था। इसमें बंगला और अंग्रेजी के अतिरिक्त ईसाई धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी, और इसमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी स्वाभाविक रूप से मिशनरियों के प्रभाव में आने लग जाते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा स्थापित शिक्षणालयों द्वारा भी क्रिश्चिएनिटी के प्रसार में सहायता प्राप्त हो रही थी। लार्ड वेलेज्ली द्वारा स्थापित (सन् १८००) फोर्ट विलियम कालिज में यह व्यवस्था की गई थी कि केवल ऐसे व्यक्ति ही उसमें अध्यापन कार्य के लिए नियुक्त किए जाएँ, जो यह शपथ लेने को तैयार हों कि वे प्राइवेट या सार्वजनिक रूप से कोई ऐसे विचार प्रकट नहीं करेंगे, जो ईसाई मत के प्रतिकूल हों। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि सन् १७८९ में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हो गई थी, और नैपोलियन के नेतृत्व में कुछ समय बाद यूरोप के बड़े भाग पर फ्रांस का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। फ्रांस के क्रान्तिकारी न केवल राजाओं के एकतन्त्र व निरंकुश शासन के ही विरुद्ध थे, अपितु क्रिश्चियन चर्च के भी विरोधी थे। वे विचारों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करते थे और लोगों के दिमागों को अन्धश्रद्धा तथा अन्धविश्वासों से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। इन नए क्रान्तिकारी विचारों ने यूरोप को व्याप्त कर लिया था और अंग्रेज भी उनके प्रभाव से नहीं बच सके थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेज कर्मचारी भी कहीं इन विचारों के प्रभाव में न आ जाएँ, ब्रिटिश सरकार इस सम्बन्ध में बहुत सतर्क थी। सन् १८०० में जो फोर्ट विलियम कालिज स्थापित किया गया था, उसका मुख्य प्रयोजन यह था, कि अंग्रेज पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा दी जाए और उन्हें भारत की परिस्थितियों तथा समस्याओं से अवगत कराया जाए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों को चिन्ता थी, कि कहीं भारत में कार्य करने वाले अंग्रेज अफसर फ्रेंच राज्यक्रान्ति की विचारधारा के

प्रभाव में न आ जाएँ। इसीलिए फोर्ट विलियम कालिज में अध्यापन के कार्य के लिए केवल ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी जो कि ईसाई धर्म में आस्था रखते हों और कोई भी ऐसे विचार अभिव्यक्त न करने की प्रतिज्ञा लें जो क्रिश्चिएनिटी के प्रतिकूल हों। इसी दृष्टि से फोर्ट विलियम कालिज का प्रधान एक ईसाई धर्माचार्य को नियुक्त किया गया और भविष्य में भी ऐसा ही किए जाने की व्यवस्था की गई।

सन् १८१३ के बाद क्रिश्चियन मिशनरी अच्छी बड़ी संख्या में इंगलैण्ड से भारत आने लगे और उन्होंने बड़े उत्साह के साथ भारतीयों को ईसाई बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। १८१८ में सीरामपुर कालिज की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य स्पष्ट रूप से ईसाई धर्म का प्रचार करना था। इस कालिज में संस्कृत और अरबी साहित्य के साथ-साथ क्रिश्चिएनिटी के मन्तव्यों की भी शिक्षा दी जाती थी, और विद्यार्थियों को ईसाई मत स्वीकार कर लेने के लिए प्रेरित किया जाता था। सन् १८२१ में मिशनरी प्रेस स्थापित किया गया, जो ईसाई मत के प्रचार साहित्य को बहुत बड़ी मात्रा में प्रकाशित करता था। उस द्वारा ईसाई मत के प्रचार के लिए पुस्तिकाओं का मुद्रण हजारों की संख्या में किया जाता था, न केवल अंग्रेजी में अपितु भारतीय भाषाओं में भी। गौरांग मिशनरी बाजारों, मण्डियों, मेलों और पैंठों में जाकर अपने धर्म का प्रचार करते, और ऐसा करते हुए हिन्दू धर्म पर घृणित आक्षेप करने में भी संकोच न करते। वे जानते थे कि वे एक ऐसे देश में धर्म प्रचार कर रहे हैं, जो उनके सजातीय लोगों के शासन में है और जहाँ उनकी स्थिति शासक वर्ग की है। इसीलिए वे क्रिश्चिएनिटी का प्रचार करते हुए हिन्दू देवी-देवताओं के लिए गन्दी भाषा प्रयुक्त करते थे और हिन्दू रीति-रिवाजों, पूजाविधि तथा मान्यताओं का मजाक उड़ाते थे। लोगों को यह सब पसन्द नहीं आता था, पर वे खुलकर इसका विरोध नहीं कर सकते थे, क्योंकि मिशनरियों को अंग्रेजी सरकार का संरक्षण प्राप्त था। हिन्दू समाज में जिन्हें अछूत समझा जाता था, उन जातियों के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए क्रिश्चियन मिनशरी विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। ईसाई शिक्षणालय क्रिश्चिएनिटी के प्रचार में बहुत सहायक थे। उच्च जातियों तथा संभ्रान्त परिवारों के लोग अपने बच्चों को उनमें पढ़ने के लिए भेजने को उत्सुक रहते थे, क्योंकि वे समझते थे कि उनमें पढ़कर सरकारी नौकरी प्राप्त कर सकना उनके लिए सुगम हो जाएगा। इन विद्यालयों में ईसाई मन्तव्यों की भी शिक्षा दी जाती थी, और यह स्वाभाविक था कि इनमें पढ़ने वाले बच्चे क्रिश्चिएनिटी के प्रभाव में आने लग जाएँ।

पर भारत में ईसाई मत के प्रचार में एक बड़ी बाधा यह थी, कि क्रिश्चियन बन जाने पर सम्पत्ति पर विरासत का अधिकार नहीं रह पाता था। यदि कोई हिन्दू या मुसलमान ईसाई बन जाए, तो वह अपने बाप-दादों की उस सम्पत्ति को विरासत में प्राप्त नहीं कर सकता था, जिसका कि वह हिन्दू या मुसलमान रहते हुए अधिकारी था। सम्भ्रान्त वर्ग के व्यक्ति इस व्यवस्था के कारण सुगमता से ईसाई नहीं बन पाते थे। इस बात को दृष्टि में रखकर विरासत विषयक क़ानूनों में ऐसे संशोधन किए गए, जिनके परिणामस्वरूप नए बने ईसाईयों के लिए अपने बाप-दादों की सम्पत्ति को विरासत में प्राप्त कर सकना सम्भव हो गया। यह बात भारत में क्रिश्चिएनिटी के प्रचार में बहुत सहायक सिद्ध हुई। अब भारत में गौरांग ईसाई मिशनों और मिशनरियों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी। इसी का यह परिणाम हुआ, कि जो विविध ईसाई संगठन भारत में

क्रिश्चिएनिटी के प्रचार में तत्पर थे, सन् १८६६ में उनकी संख्या ३२ तक पहुँच गई थी। हिन्दुओं के समान ईसाईयों में भी बहुत-से सम्प्रदायों व मत-मतान्तरों की सत्ता है। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट क्रिश्चिएनिटी के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं, और इनमें भी विशेषतया प्रोटेस्टेन्टों के कितने ही मत-मतान्तर हैं। इनमें विरोध व विद्वेष की भी कमी नहीं है। पर भारत में ईसाई मत का प्रचार करते समय ये अपने भेदों को भूलकर एक हो जाते थे, और परस्पर सहयोग द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों को अपने धर्म का अनुयायी बनाने का प्रयत्न करते रहते थे। उन सबने मिलकर अपने को एक संवर्ग में संगठित कर लिया था। चर्च आफ इंगलैण्ड, अमेरिकन प्रेस्बिटीरियन चर्च, फ्री चर्च आफ स्काटलैण्ड, चर्च आफ स्काटलैण्ड और युनाइटेड प्रेस्बिटीरियन चर्च आफ स्काटलैण्ड आदि कितने ही क्रिश्चियन संगठन इस संवर्ग में सम्मिलित थे। अंग्रेज सरकार का संरक्षण इन्हें प्राप्त था। भारत के ब्रिटिश शासक यह अनुभव करते थे कि क्रिश्चिएनिटी के प्रसार से भारतीयों को अपने शासन में रखने और इस देश पर अपने प्रभुत्व को स्थायी व सुदृढ़ बनाने में सहायता मिलेगी। लार्ड पामर्स्टन ने स्पष्ट रूप से घोषणा की थी, कि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक क्रिश्चिएनिटी का प्रसार इंगलैण्ड के अपने हित में है। इसीलिए ब्रिटिश सरकार का न केवल संरक्षण ही ईसाई मिशनरियों को प्राप्त था, अपितु उस द्वारा उन्हें प्रोत्साहन भी दिया जा रहा था। इसीलिए अंग्रेज सरकार ने ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेने वाले भारतीयों को समाज में अधिक ऊँची स्थिति प्रदान करने की नीति अपनायी थी। सन् १८२७ के ज्यूरी एक्ट के अनुसार किसी ईसाई का मुकद्दमा हिन्दू व मुसलमान ज्यूरी के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। जो व्यक्ति हिन्दू या मुसलिम धर्म का परित्याग कर ईसाई हो जाते थे, उनको यह विशेषाधिकार प्राप्त हो जाता था कि उनके मुकद्दमे का निर्णय हिन्दुओं व मुसलमानों द्वारा न किया जा सके।

भारत में क्रिश्चिएनिटी के प्रचार के लिए अंग्रेज सरकार का क्या योगदान होना चाहिए, इस विषय में ब्रिटेन के विचारकों में ऐकमत्य नहीं था। कुछ लोगों का विचार था कि भारतीयों में अन्य दोष चाहे कितने ही क्यों न हों, अपने धर्म के प्रति उनमें अगाध भक्ति है। यदि उनके धार्मिक विश्वासों को किसी भी प्रकार आघात पहुँचाया गया, तो वे सरकार के विरुद्ध उठ खड़े होंगे और भारत में अपने प्रभुत्व को कायम रखना अंग्रेजों के लिए सम्भव नहीं रहेगा। इसके विपरीत अन्य विचारक यह समझते थे कि भारतीयों को क्रिश्चिएनिटी का अनुयायी बना लेने का यह परिणाम होगा कि अंग्रेजी शासन की जड़ बहुत सुदृढ़ हो जाएगी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्यतम डाइरेक्टर श्री चार्ल्स ग्राण्ट ने इस मत के पक्ष में अपने विचार को इस ढंग से प्रकट किया था—"एशिया के अपने प्रदेशों में अपनी भाषा, अपने ज्ञान, अपने विचार और अपने धर्म को रोप देने का यह परिणाम अवश्य होगा कि इन प्रदेशों के निवासियों का हमारे देश के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाएगा।" भारतीयों को ईसाई मत का अनुयायी बनाने में गौरांग लोगों का प्रयोजन यह नहीं था कि वे एक ऐसे धर्म को अपना लें जिसके मन्तव्यों को वे ऊँचा व सत्य समझते थे, इससे उन्हें सांसारिक लाभ प्राप्त कर सकने की सम्भावना प्रतीत होती थी। चार्ल्स ग्राण्ट ने इस बात को स्पष्ट रूप से लिख देने में भी कोई संकोच नहीं किया था। उसका कहना था कि जहाँ कहीं भी हमारी भाषा और मन्तव्यों का प्रवेश हो जाता है, वहाँ हमारे व्यापार में वृद्धि हो जाना अवश्यम्भावी है। इस बात में बहुत सचाई है। एशिया

और अफ्रीका के देशों में क्रिश्चिएनिटी का प्रचार करने में पश्चिम के गौरांग लोगों का सदा यह उद्देश्य रहा है कि इससे उनके व्यापार में वृद्धि होगी। इन देशों के ईसाई बने लोग रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि में पाश्चात्य लोगों का अनुकरण करने लगेंगे, जिसके कारण वहाँ के वस्त्र, फर्नीचर, प्रसाधन के सामान, साहित्य व अन्य पदार्थों को वे उत्साह के साथ क्रय करने लगेंगे जिसके परिणामस्वरूप उनके तैयार माल की माँग वहाँ बहुत बढ़ जाएगी। सन् १९०३ में लाला लाजपतराय ने अमेरिका से एक पत्र लिखा था, जिसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धरण के योग्य हैं—"कुछ दिन हुए, यहाँ मिशनरियों की एक कान्फरेन्स हुई थी, जिसमें कि प्रेजिडेन्ट कोपन ने अमेरिकन व्यापार को लाभ पहुँचाने के लिए ईसाई मत के प्रचार की उपयोगिता पर जोर दिया था। बोस्टन एड्वर्टाइजर में इस कान्फरेन्स की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई है, उसके अनुसार प्रेजिडेण्ट कोपन ने अपने वार्षिक सम्बोधन में यह कहा था कि व्यापारिक दृष्टि से अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए हमें विदेशों में मिशनरी कार्य को बढ़ावा देना चाहिए। मिशन के कार्य का प्रसार होने पर ही प्राच्य देशों में हम अपने लिए ऐसे बाजार पैदा कर सकेंगे, जिनमें कि हमारे द्वारा तैयार किए गए माल की माँग होगी। ईसाई लोग हमारे स्वतःसिद्ध ग्राहक हैं। गैर-क्रिश्चियन लोगों की आवश्यकताएँ बहुत कम होती हैं। पर जब वे ईसाई मत को अपना लेते हैं, तो उनमें परिवर्तन आ जाता है। वे उन बहुत-सी वस्तुओं का उपयोग करने लगते हैं, जिन्हें ईसाई लोग अपने लिए तथा अपने घरों में प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार क्रिश्चियन मिशनरी ही सर्वत्र तथा सदा हमारे व्यापार की वृद्धि में नेतृत्व करता है।" इसमें सन्देह नहीं, कि भारत में क्रिश्चिएनिटी के प्रचार-प्रसार का अंग्रेजों को यह लाभ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता था कि जो भारतीय ईसाई मत के अनुयायी हो जाएँगे, उनके रहन-सहन, वेशभूषा आदि में ऐसे परिवर्तन अवश्य आएँगे, जिनके कारण वे इंग्लैण्ड में तैयार हुए माल को प्रयुक्त करने के लिए प्रेरित होंगे और इस प्रकार भारत में अंग्रेजी माल की माँग में वृद्धि होने लगेगी। ईसाई मत के प्रचार से अंग्रेजों को एक अन्य लाभ भी था। धर्म का राष्ट्रीयता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जिन तत्त्वों से राष्ट्रीय भावना का निर्माण होता है, उनमें धर्म, भाषा और संस्कृति का विशेष महत्त्व है। अंग्रेज यह भलीभाँति समझते थे कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन तथा क्रिश्चिएनिटी के प्रचार के कारण भारतीयता की भावना में शिथिलता आ जाएगी, भारत के लोग अंग्रेजी रहन-सहन, आचार-विचार और क्रिश्चियन मन्तव्यों को अपनाने लगेंगे, अंग्रेजों की सभ्यता व संस्कृति को ऊँचा समझने लगेंगे और अपने को उनकी तुलना में हीन मानने लगेंगे। भारतीयों में इस मनोवृत्ति के विकसित हो जाने पर अंग्रेजों के लिए उन्हें अपने अधीन रख सकना सुगम हो जाएगा। ये विविध तत्त्व थे, जिनके कारण अंग्रेज सरकार ने भी भारत में क्रिश्चिएनिटी के प्रसार में सहायता पहुँचाई और राज्यसंस्था से संरक्षण तथा प्रोत्साहन पाकर ईसाई मिशनरी द्विगुण उत्साह से अपने प्रचार कार्य में प्रवृत्त हो गए। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यह दशा हो गई थी कि गौरांग मिशनरी जहाँ चाहे जाकर स्वच्छन्द रूप से अपने धर्म का प्रचार करते, हिन्दू धर्म के विरुद्ध विष-वमन करते और अन्य धर्मों के अनुयायियों के मनोभावों की जरा भी परवाह न कर उन पर सच्चे-झूठे लाँछन लगाने में सदा तत्पर रहते। गौरांग मिशनरियों ने अनेक ऐसे केन्द्र भी स्थापित कर लिए थे, जिनमें भारतीय पादरी तैयार किए जाते थे। उन्नीसवीं सदी तक ऐसे केन्द्रों की संख्या

८५ तक पहुँच गई थी और उनमें १६१८ भारतीय ईसाई धर्म की दीक्षा लेकर पादरी का कार्य करने के लिए शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इस काल में भारत के प्राचीन आर्य (हिन्दू) धर्म को इस्लाम से उतना खतरा नहीं था, जितना कि क्रिश्चिएनिटी से था। नए ढंग के शिक्षणालयों में जो भारतीय बच्चे व युवा शिक्षा प्राप्त करते थे, वे चाहे ईसाई न बनें, पर क्रिश्चिएनिटी के प्रभाव से वे बच नहीं पाते थे और अंग्रेजों की भाषा, धर्म तथा सभ्यता को ऊँचा मानने लगते थे। यही सबसे बड़ा खतरा था, जिससे आर्य धर्म की रक्षा करना आवश्यक था। धर्म के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती का इस विषय में कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का था।

(४) सामाजिक दशा

भारत के प्राचीन धर्म के साथ-साथ भारतीय समाज की दशा भी उन्नीसवीं सदी में अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। जात-पाँत, ऊँच-नीच और छूत-अछूत के विचार इस युग के भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषता थे। समाज अनेक ऐसी जातियों में विभक्त था, जिनमें रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं हो सकता था। खान-पान, रहन-सहन और आचार-विचार के सम्बन्ध में प्रत्येक जाति के अपने-अपने पृथक् नियम थे, जिनका अतिक्रमण कर सकना किसी के लिए भी सुगम नहीं था। कुछ जातियाँ ऊँची मानी जाती थीं और कुछ नीच। ब्राह्मण, राजपूत आदि को अपनी जाति का अभिमान होता था और अन्य जातियों को वे नीची निगाह से देखा करते थे। चमार, भंगी आदि कितनी ही जातियाँ अस्पृश्य मानी जाती थीं। उनके साथ रोटी-बेटी के सम्बन्ध का तो प्रश्न ही क्या था, उनके तो छू जाने या छाया तक पड़ जाने से मनुष्य अपवित्र हो जाता था। इन्हें मानवता के साधारण अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। न ये मन्दिरों में देव-दर्शन कर सकते थे और न सार्वजनिक कुओं से पानी भर सकते थे। आर्थिक जीवन में इनकी स्थिति अत्यन्त हीन थी। ये प्रायः भूमिहीन मजदूर होते थे, जो दूसरों के खेतों में मजदूरी कर अपना निर्वाह करते थे। अस्पृश्यों (अछूतों) के अतिरिक्त अनेक ऐसी भी जातियाँ थीं, जो धोबी, नाई, जुलाहे आदि का काम करती थीं, पर समाज में जिन्हें नीची निगाह से देखा जाता था। हिन्दुओं में इस प्रकार का जातिभेद कब और किस प्रकार विकसित हुआ, इस पर यहाँ विचार कर सकना न सम्भव है और न उसकी आवश्यकता ही है। पर यह एक ठोस तथ्य है, कि जात-पाँत के विकृत स्वरूप के कारण हिन्दुओं को एक जाति नहीं कहा जा सकता था। उसका निर्माण ऐसी बहुत-सी जातियों व उपजातियों से मिलकर हुआ था, जिनमें न एकानुभूति थी, न परस्पर व्यवहार था और न जिन के लोग एक साथ मिलकर उठ-बैठ सकते थे। जात-पाँत का यह रोग केवल हिन्दुओं में ही नहीं था। मुसलमान और ईसाई भी इससे बच नहीं सके थे। मुसलमान राजपूत मुसलिम जुलाहों और धोबियों को अपने से नीचा समझते थे और उनसे विवाह सम्बन्ध नहीं करते थे। जिन भंगियों ने हिन्दू धर्म का परित्याग कर इस्लाम को ग्रहण कर लिया था, उनका अछूतपना धर्म परिवर्तन से दूर नहीं हो गया था। वे लालबेगी कहाते थे और मुसलमानों में उनकी स्थिति अछूतों की ही थी। यह सही है कि सब मुसलमान नमाज पढ़ने के लिए मसजिद में एक साथ एकत्र होते थे और वहाँ उनमें ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं रहता था। पर सामाजिक जीवन में उनमें भी जात-पाँत और ऊँच-नीच के भेद विद्यमान थे। सिक्खों में जात-पाँत प्रायः वैसी

ही थी, जैसी कि हिन्दुओं में थी। केरल के जो लोग सदियों पहले ईसाई हो चुके थे, उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के भेद कायम थे और अछूत जातियों के जो व्यक्ति अब क्रिश्चिएनिटी को स्वीकार कर रहे थे, उनकी सामाजिक स्थिति उच्च जाति के ईसाइयों के मुकाबिले में हीन मानी जाती थी। गौरांग ईसाई भी उन्हें अपने बराबर स्थिति प्रदान करने को उद्यत नहीं थे। इसी का यह परिणाम था कि गोरे और काले ईसाइयों के लिए कबरिस्तान भी पृथक् बन गए थे और चर्च भी। जात-पाँत भारतीय सामाजिक जीवन का एक ऐसा रोग था, जिससे यहाँ के किसी भी धर्म के अनुयायी बच नहीं सके थे।

स्त्रियों की हीन दशा भारत के समाज की एक अन्य शोचनीय बुराई थी। हिन्दुओं में स्त्रियों को विद्या पढ़ाना अच्छा नहीं माना जाता था। स्त्रियों के वेद शास्त्र के पठन-पाठन की परम्परा चिरकाल से नष्ट हो चुकी थी, और कुछ अपवादों को छोड़कर स्त्रियां प्रायः निरक्षर ही हुआ करती थीं। ऊँची जातियों की स्त्रियों का कार्यक्षेत्र केवल घर तक ही सीमित था। छोटी जातियों की स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही मजदूरी करती थीं, या शिल्प में पुरुष वर्ग का हाथ बँटाती थीं। परदे की प्रथा उत्तरी भारत में प्रायः सर्वत्र प्रचलित थी। पर दक्षिण में इसका अभाव था। यह प्रथा भारत में कब प्रचलित हुई, यह विषय विवादास्पद है। पर यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि विदेशी व विधर्मी जातियों के आक्रमणों के समय इसका विशेष रूप से विकास हुआ। यही बात बालविवाह के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उन्नीसवीं सदी में बाल्यावस्था में ही कन्याओं और बालकों के विवाह कर दिये जाते थे, और रजस्वला हो जाने पर कन्या का अविवाहित रहना पाप माना जाने लगा था। बालविवाह की प्रथा भी भारत के प्रायः सभी धर्मों तथा जातियों में विद्यमान थी। यह बात उल्लेखनीय है कि परदे की प्रथा का चलन विशेषतया उन्हीं प्रदेशों में हुआ, जो यवन, शक, कुशाण, हूण, तुर्क, अफगान और मुगल आदि विदेशी जातियों द्वारा आक्रान्त होते रहे। दक्षिणी भारत में इसका प्रचलन नहीं हुआ। यही कारण है कि सांची, अजन्ता, एल्लोरा, भरहुत आदि में स्त्रियों के जो चित्र अंकित हैं, या जो स्त्री मूर्त्तियाँ विद्यमान हैं, उनमें स्त्रियों को परदे में नहीं दिखाया गया है। बालविवाह की प्रथा के विकसित होने में भी वे परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण कारण थीं, जो शक, कुशाण, हूण आदि जातियों के निरन्तर आक्रमणों के कारण भारत में उत्पन्न हो गई थीं। माता-पिता छोटी आयु में ही कन्याओं का विवाह कर उनकी सुरक्षा की समस्या से निश्चिन्त हो जाना चाहते थे। तुर्क-अफग़ान और मुगल युगों में विदेशी आक्रमणों तथा निरन्तर युद्धों के कारण यह और भी आवश्यक समझा जाने लगा था, कि कन्या का छोटी आयु में ही विवाह कर दिया जाए। उन्नीसवीं सदी में भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में यह प्रथा भली-भाँति विकसित हो चुकी थी। विधवा विवाह हिन्दुओं में निषिद्ध था। बालविवाह की प्रथा के कारण बहुत-सी कन्याएँ छोटी आयु में ही विधवा हो जाती थीं, और उन्हें जन्म भर वैधव्य जीवन बिताने के लिए विवश होना पड़ता था। नाबालिग कन्याओं एवं युवतियों की विधवा हो जाने पर जो दुर्दशा होती थी, उसका वर्णन कर सकना संभव नहीं है। अनेक विधवाएँ अपनी दुर्दशा से परेशान होकर इस्लाम या क्रिश्चिएनिटी को स्वीकार लेती थीं, क्योंकि इन धर्मों में विधवा विवाह निषिद्ध नहीं था।

सती प्रथा भी इस काल में विद्यमान थी। पति के शव के साथ पत्नी के भी चिता पर आरूढ़ हो जाने की प्रथा को 'सती प्रथा' कहा जाता है। ब्रिटिश शासन के स्थापित होने

के समय भारत के कतिपय प्रदेशों तथा कुलीन परिवारों में यह प्रथा प्रचलित थी। इसका प्रारम्भ कब हुआ, यह विषय विवादग्रस्त है। मध्यकाल में भारत में यह प्रथा विकसित हो चुकी थी, इसमें सन्देह नहीं। इस काल के अनेक अभिलेखों में स्त्रियों के अपने पति के साथ सती हो जाने के उल्लेख मिलते हैं। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ काल में बंगाल के कुलीन परिवारों में यह प्रथा विशेष रूप से प्रचलित थी और इस बात के उदाहरण मिलते हैं कि कितनी ही विधवाओं को उनकी इच्छा के विरूद्ध बल का प्रयोग कर सती हो जाने के लिए विवश किया गया था। बंगाल के अनेक प्रगतिशील विचारकों का ध्यान हिन्दू समाज की इस बुराई की ओर गया था और उन्होंने कानून द्वारा इसे रोकने के लिए आन्दोलन भी किये थे। इन विचारकों में राजा राम मोहन राय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सन् १८२९ में लार्ड बैंटिक ने कानून द्वारा सती प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया और पुरातनपन्थी हिन्दुओं के विरोध के बावजूद धीरे-धीरे यह प्रथा नष्ट हो गई।

विधवा विवाह को कानून द्वारा वैध करने के प्रयोजन से पहला प्रयत्न लार्ड डलहौजी द्वारा किया गया, पर वह सफल नहीं हो सके। सन् १८५६ में लार्ड कैनिंग के समय में विधवा विवाह के सम्बन्ध में एक ऐसा कानून स्वीकृत हुआ, जिस द्वारा हिन्दू विधवाएं भी विवाह कर सकती थीं और उनके पुनर्विवाह को अवैध नहीं माना जाता था। पर विधवा विवाह में कोई कानूनी बाधा न रह जाने पर भी हिन्दू समाज में इसका प्रचलन नाममात्र को ही हुआ।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत में जिस नवजागरण का सूत्रपात हुआ और उसके परिणामस्वरूप समाज सुधार के जो अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, वे हिन्दुओं की सामाजिक दशा में विशेष परिवर्तन नहीं ला सके। समाज-संगठन और सामाजिक प्रथाओं का आधार प्रायः धर्म होता है। हिन्दुओं में यदि कुछ जातितों को ऊंचा या नीचा और कुछ को अछूत माना जाता था, उसका आधार भी धर्म को ही प्रतिपादित किया जाता था। पण्डित लोग स्मृतियों और धर्मशास्त्रों के आधार पर यह निरूपित करते थे कि ब्राह्मणों की उत्कृष्ट स्थिति और शूद्रों की हीन दशा शास्त्र सम्मत है। बाल विवाह के पक्ष में भी धर्म ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत किये जाते थे। शास्त्रों के आधार पर ही विधवाओं के पुनर्विवाह का विरोध किया जाता था। सतीप्रथा के समर्थन में भी प्राचीन स्मृतियों व महाभारत आदि के वचन उद्धृत किये जाते थे। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में विविध सुधार आन्दोलन जो विशेष रूप से सफल नहीं हुए, उसका एक कारण यह भी था कि इनके प्रवर्तकों व संचालकों ने सामाजिक कुरीतियों व कुप्रथाओं के निवारण के लिये धर्मग्रन्थों का सहारा लेने पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। इन बुराइयों को समाज से तभी सफलतापूर्वक दूर किया जा सकता था, जबकि वेद-शास्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध किया जाए कि ये बातें न धर्मानुकूल हैं और न शास्त्रसम्मत। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यही किया। यही कारण है, जो वे हिन्दुओं में आवश्यक सामाजिक सुधार करने में बहुत कुछ सफल हो सके। स्वामी जी के आविर्भाव के समय के भारत की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक दशा पर प्रकाश डालने के अनन्तर पहले नवजागरण व समाज सुधार के उन आन्दोलनों का संक्षेप के साथ उल्लेख किया जाएगा, स्वामी जी से पूर्व जिनका भारत में सूत्रपात हो चुका था। इससे स्वामी जी के कर्तृत्व को सही परिप्रेक्ष्य में देखने और उसका सही मूल्यांकन करने में सहायता मिलेगी।

सातवाँ अध्याय

अन्धकार से प्रकाश की ओर
भारत में नवजागरण का सूत्रपात

(१) नवजागरण का स्वरूप और महत्त्व

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई। शनैः-शनैः सारा देश अंग्रेजों के अधीन हो गया। यद्यपि चिरकाल तक (सन् १९४७ तक) भारत परतन्त्र रहा, पर सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल का असाधारण महत्त्व है। ब्रिटिश शासन में भारत ने नवीन परिस्थितियों के कारण कई सदियों की कुम्भकर्णी निद्रा का परित्याग किया। इस समय धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक और आर्थिक क्षेत्रों में असाधारण जागृति और प्रगति हुई। इसी को भारतीय नवजागरण (Indian Renaissance) कहा जाता है। इस समय धार्मिक क्षेत्र में राजा राममोहन राय, श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री केशवचन्द्र सेन, महर्षि दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुषों ने भारत का मस्तक ऊंचा किया। राजनीतिक क्षेत्र में दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में भारत ने अंग्रेजों से संघर्ष कर स्वतन्त्रता प्राप्त की। सामाजिक क्षेत्र में सती दाह, कन्यावध, बालविवाह आदि कुप्रथाओं के हटाने से तथा विधवा विवाह, हरिजन उत्थान, स्त्रीशिक्षा आदि उपयोगी सुधारों से हमारे समाज का कायाकल्प हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में प्रान्तीय भाषाओं के विकास और कवीन्द्र रवीन्द्र जैसी विश्वविख्यात विभूतियों के उत्पन्न करने का श्रेय आधुनिक भारत को है। इस समय सारे भारत में नवजागरण की एक नई भावना और नई चेतना का अभ्युदय हुआ और नवयुग का श्रीगणेश हुआ।

आधुनिक भारत में नवयुग की ज्योति सर्वप्रथम धार्मिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। इस समय भारत में जो जागृति दिखाई देती है, इसका सूत्रपात इन्हीं से हुआ है। इन धार्मिक आन्दोलनों से भारत को सर्वप्रथम अपनी शोचनीय आधुनिक स्थिति का बोध हुआ, अपने स्वर्णिम अतीत का ज्ञान हुआ तथा उज्ज्वल भविष्य में विश्वास उत्पन्न हुआ। इन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से प्राचीन धर्मशास्त्रों के अध्ययन पर बल दिया। अन्धविश्वासों और रूढ़िवाद के स्थान पर तर्क और बुद्धिवाद को प्रधानता दी। इन नये आन्दोलनों के प्रेरक कारण ब्रिटिश शासन की स्थापना से उत्पन्न नवीन परिस्थितियाँ थीं। ईसाई प्रचारक हिन्दू और मुसलिम धर्मों पर प्रबल आक्षेप कर रहे थे। अंग्रेजी शिक्षा

के प्रसार से स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुभाव और राष्ट्रीयता के उदार विचार शिक्षित जनता में फैल रहे थे। खमीर की भाँति धीरे-धीरे इन्होंने समूचे भारत को अपने प्रभाव से ओतप्रोत किया। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत के सभी धर्म अपने धर्म-प्रवर्त्तकों की असली शिक्षाएँ भूलकर नाना प्रकार के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, आडंबरों, शुष्क कर्मकाण्ड और भ्रान्त विचारों के मोह-जाल में फँसे हुए थे। नवीन परिस्थितियों से आँखें खुलने पर तथा पराधीनता की पीड़ा अनुभव करने पर जब विवेकशील और समझदार भारतीयों ने अपने देश की दुरवस्था देखी, तो उन्हें इसमें संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी का परिणाम उन्नीसवीं सदी के धार्मिक आन्दोलन थे।

(२) धार्मिक आन्दोलनों का वर्गीकरण

इन धार्मिक आन्दोलनों को प्रवृत्तियों के भेद से तीन स्थूल भागों में बाँटा जा सकता है—(१) बीजवपन या तैयारी का काल। (२) उग्र सुधार आन्दोलनों का काल। (३) कट्टर सुधार आन्दोलनों का काल।

पहला काल (१८००-१८२८) सुधार आन्दोलनों के कारण उपस्थित करने वाला तथा उनके अनुकूल भूमि तैयार करने वाला था। अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई मिशनरियों के प्रचार से भारतीय धर्मों के लिए एक भयंकर भय उत्पन्न हो गया था। अधिकाँश अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की नास्तिकता, संदेहवाद तथा आचारशैथिल्य समझदार भारतीयों के मनों को संतप्त कर रहे थे। विषैला मिशनरी प्रचार हिन्दू धर्म तथा इस्लाम की मजाक उड़ाकर साधारण जनता में इन धर्मों के प्रति विद्यमान आस्था को घटाने का प्रयत्न कर रहा था। इन परिस्थितियों में यह अनिवार्य हो गया कि पुराने धर्मों की रक्षा की जाय। उन्नीसवीं सदी के पहले २८ वर्ष इन धार्मिक आन्दोलनों की तैयारी या बीजवपन का समय था।

(२) १८२८ से १८७५ ई० तक उग्र सुधार आन्दोलनों का काल था। इस समय के सुधारक हिन्दू धर्म में आमूल चूल परिवर्तन करना चाहते थे। इनमें ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज प्रमुख हैं। ब्राह्म समाज ने हिन्दू धर्म में बहुत जबर्दस्त सुधार करने चाहे और तर्कवाद के नाम पर उसने धीरे-धीरे सभी मौलिक या आधारभूत हिन्दू सिद्धांतों को तिलांजलि दे दी। मूर्ति पूजा और जाति भेद की कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करते हुए, ब्राह्म समाज ने शीघ्र ही वेदों की निर्भ्रान्तिता और कर्मवाद आदि प्रमुख हिन्दू सिद्धांतों को छोड़ दिया। १८७२ के विवाह कानून (Special Marreige Act) से ब्राह्म समाज ने कानूनी दृष्टि से भी अपने को शेष हिन्दू समाज से पृथक् कर लिया। प्रार्थना समाज के सुधार ब्राह्म समाज से बहुत मिलते जुलते थे, किन्तु हिन्दू समाज के साथ उसका सम्बन्ध कभी विच्छिन्न नहीं हुआ।

(३) कट्टर सुधार आन्दोलन (१८७५-१९००)—उन्नीसवीं शती का अन्तिम चरण उग्र धर्म-सुधार आन्दोलनों की प्रतिक्रिया का काल था। हिन्दू धर्म के समर्थक उस समय तक सचेत हो चुके थे। उन्होंने न केवल ईसाइयों के खतरे को अनुभव किया, किन्तु उग्र सुधार आन्दोलनों के सुधारकों द्वारा हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों की उपेक्षा एवं तिरस्कार को भी उन्होंने भलीभाँति अनुभव किया। ५० वर्ष पहले जहाँ हिन्दू धर्म शिक्षित समाज में निरादर एवं निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था, उसके अनुष्ठानों और

क्रियाकलाप की हँसी उड़ायी जाती थी, अब उसी हिन्दू धर्म का तथा उसके सभी तत्त्वों का समर्थन एवं सुन्दर व्याख्याएँ की जाने लगीं, और प्रत्येक हिन्दू प्रथा और रूढ़ि का, चाहे वह कितनी दूषित और सामाजिक दृष्टि से हानिकर ही क्यों न हो, आलंकारिक ढंग से इस प्रकार का महत्त्व बनाया जाने लगा कि वह प्रथा स्पृहणीय और आदर्श समझी जाय। इस प्रकार के आन्दोलनों में श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द का प्रचार और थियोसोफी मुख्य थे।

इसी समय ऋषि दयानन्द के नेतृत्व में आर्यसमाज का आन्दोलन शुरू हुआ। यह आन्दोलन उन्नीसवीं सदी के धार्मिक आन्दोलनों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह आन्दोलन न तो ब्राह्मसमाज के आन्दोलन की तरह उग्र और मौलिक हिन्दू सिद्धान्तों का परित्याग करने वाला था और न ही थियोसोफी तथा कट्टर हिन्दू आन्दोलनों की तरह समाज में प्रचलित प्रत्येक प्रथा और रूढ़ि का अन्ध-समर्थक था। हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों वेद, ईश्वर और कर्मवाद आदि को सुरक्षित रखते हुए प्रचलित कुरीतियों एवं बुराइयों को दूर कर, हिन्दू जाति को सबल एवं संगठित करना तथा भारतीय राष्ट्र को उन्नत एवं स्वतन्त्र बनाना इस आन्दोलन का परम लक्ष्य था। कालक्रम से इन आन्दोलनों के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा तथा उनमें आर्यसमाज के विशिष्ट महत्त्व का यहां संक्षिप्त विवेचन किया जाएगा।

(३) उग्र सुधार आन्दोलन

ब्राह्मसमाज और राममोहन राय—ब्रिटिश शासन की नींव सबसे पहले बंगाल में पड़ी। अतः उसकी प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाले धार्मिक सुधार आन्दोलनों का श्रीगणेश भी बंगाल से ही हुआ। बंगाल में इस आन्दोलन के जन्मदाता राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) थे। इनकी जाति ब्राह्मण और पैतृक व्यवसाय मुसलमान शासकों की सेवा थी। बचपन में श्री राममोहन राय ने अरबी-फारसी पढ़ी। वे सूफी और मौत-जली सम्प्रदायों की विचारधारा से प्रभावित हुए। बाद में उन्होंने बनारस में संस्कृत का अध्ययन किया और अपनी सहज तत्त्वान्वेषिणी बुद्धि से शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि सब धर्म एक ईश्वर को मानते हैं और धर्मों के झगड़े व्यर्थ हैं।

घर लौटकर १६ वर्ष की अवस्था में मूर्ति पूजा के विरुद्ध एक पुस्तिका लिखकर राममोहन राय ने बंगला भाषा में पहली गद्य रचना की। उनके पिता रामाकान्त पुत्र के मूर्ति पूजा के विरोध से उन पर कुपित हो गए और उन्होंने श्री राममोहन राय को घर से निकाल दिया। राममोहन राय घर से निकल कर सत्य की खोज में इधर-उधर भटकते रहे। कुछ लोगों का विचार है कि वे बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए तिब्बत चले गए। कुछ समय बाद पिता का रोष शान्त हो गया और विद्रोही पुत्र को उन्होंने घर बुला लिया।

१७९६ से उन्होंने अंग्रेजी का अभ्यास शुरू कर दिया और १८०४ में रंगपुर की कलक्टरी में वे मुहर्रिर नियत हुए। अपने कार्य में उन्नति करते हुए वे सरिश्तेदार के पद तक पहुँचे और १० वर्ष माल विभाग में सेवा कर और पर्याप्त वित्तोपार्जन कर उन्होंने सेवा से अवकाश ग्रहण किया। इस सारे समय में, वे बौद्ध, हिन्दू, जैन आदि धर्मों का अध्ययन करते रहे।

१८११ में उन्होंने एक दारुण दृश्य देखा और इसने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव

डाला। उनके बड़े भाई जगतमोहन के मरने पर उनकी पत्नी को प्रचलित प्रथा के अनुसार सती होने के लिए बाध्य होना पड़ा। वह चिता पर बैठी, किन्तु चिता की ज्वाला जब सह्य न हुई तो वह वहाँ से उठकर भागी। किन्तु सम्बन्धी धर्म का यह उल्लंघन कैसे सहन कर सकते थे? उन्होंने उसे जबर्दस्ती चिता पर रस्सियों से कस कर बाँधा ताकि वह भाग न सके। किन्तु उसका करुण चीत्कार दर्शकों के हृदयों को अब भी विदीर्ण कर रहा था। उस चीत्कार से त्राण पाने के लिए सम्बन्धियों ने शंख, खड़ताल तथा अन्य वाद्य बजाने शुरू किये ताकि उस अबला का आर्तनाद किसी व्यक्ति को कर्णगोचर न हो। इस हृदय-विदारक घटना ने राममोहन राय को सती प्रथा का कट्टर विरोधी बना दिया और उनके तीव्र आन्दोलन के फलस्वरूप १८२६ ई० में लार्ड बैंटिन्क द्वारा यह अमानुषी प्रथा सरकारी आदेश से बन्द कर दी गई।

कम्पनी की नौकरी से छुट्टी पाकर, कलकत्ते में बसकर उन्होंने अपना सारा समय धर्मों के अध्ययन में बिताना शुरू किया। उन्होंने उपनिषदों व वेदान्त दर्शन के बंगला व अंग्रेजी के अनुवाद लिखे और प्राचीन हिन्दू धर्म की ओर लौटने तथा उपनिषदों के शुद्ध एकेश्वरवाद की उपासना पर बल दिया। उन्होंने थोड़ी यूनानी और इबरानी भी सीखी और ईसा के चमत्कारों के अंश को निकालकर ईसा के उपदेशों को बंगला व संस्कृत अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। ईसाई लोग चमत्कारों से शून्य ईसामसीह के उपदेशों के प्रकाशन से बहुत चिढ़े और दोनों ओर से उत्तर-प्रत्युत्तर का क्रम प्रारम्भ हुआ। ईसाई मिशनरियों ने विद्वेषवश जब उनके उत्तर छापने से इन्कार किया तो उन्होंने अपना छापाखाना खोलकर ईसाईयों के विषैले प्रचार तथा हिन्दू धर्म पर मिशनरियों द्वारा भद्दे आक्षेपों का निराकरण किया। शुद्ध एकेश्वरवाद की उपासना के लिए उन्होंने २० अगस्त, १८२८ को चितपुर रोड पर ब्राह्मसमाज की पहली बैठक की। इसके बाद प्रति शनिवार इसके साप्ताहिक सत्संग होने लगे। इनमें वेदपाठ, उपनिषदों का बंगला अनुवाद और बंगला में उपदेश होते थे। वेदपाठ के लिए दो तेलुगु पण्डित बुलाए गए थे। वेदों का पाठ इस भ्रम से परदे के पीछे से होता था, कि कहीं वेद भ्रष्ट न हो जायें।

राजा राममोहन राय १८३० में इंग्लैण्ड चले गये। १८३३ में कम्पनी का चार्टर पेश होने पर उन्होंने पार्लियामेण्टरी कमेटी के समक्ष भारतीय शासन सुधार के सम्बन्ध में गवाही भी दी और उसी वर्ष ब्रिस्टल में उनका देहान्त हो गया।

राममोहन राय के बाद ब्राह्मसमाज के मुख्य नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर हुए। उन्होंने ब्राह्मसमाज के संगठन को नियम बनाकर सुदृढ़ किया, इसके विभिन्न विधि-विधानों तथा प्रार्थना का एक रूप स्थिर किया और प्रचारकों द्वारा प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया गया। आधारभूत ग्रन्थों में वेद माना जाय या नहीं, इस विषय का निर्णय करने के लिए चार विद्यार्थी वेदाध्ययन के लिए बनारस गए। उन की गवेषणा के बाद ब्राह्म-समाज ने सम्पूर्ण वेद की निर्भ्रान्तता का विचार छोड़ दिया। वेदों के केवल वही अंश मान्य समझे गए, जो एकेश्वरवाद का समर्थन करते थे। एक प्रकार से, यह वेदों का छोड़ना ही था। श्री केशवचन्द्र सेन कहा करते थे कि श्री देवेन्द्रनाथ ने वेदों को छोड़ दिया था।

१८५७ में ब्राह्मसमाज में एक वैश्यजातीय, अंग्रेजी शिक्षासम्पन्न, अत्यधिक भावुक तथा वाग्मी युवक श्री केशवचन्द्र सेन का आगमन हुआ। इस युवक ने ब्राह्मसमाज को नई भावना एवं स्फूर्ति से अनुप्राणित किया। इसके विचार अधिक उदार थे और

१८६० में इस उदारता के नाम पर अत्यन्त प्राचीन काल से प्रत्येक हिन्दू को तीन ऋणों का स्मरण कराने वाले पवित्र यज्ञोपवीत को तिलांजलि दे दी गई। केशवचन्द्र सेन दिनों-दिन ईसाइयत से अधिक प्रभावित हो रहे थे। १८६६ में श्री केशवचन्द्र सेन ने सीले की एक पुस्तक (Eace Homo) पढ़ी। उसके बाद उन्होंने **ईसा मसीह, यूरोप और एशिया** नामक विषय पर एक व्याख्यान दिया। श्रोताओं पर यह असर पड़ा कि श्री केशवचन्द्र सेन अब शीघ्र ही ईसाई होने वाले हैं।

नवम्बर, १८६६ को श्री सेन ने ब्राह्मसमाज से पृथक् अपना नया समाज स्थापित किया, जिसमें सामान्य प्रार्थना के बाद हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, पारसी और चीनी धर्म-ग्रन्थों के चुने हुए संदर्भ पढ़े गये। अब श्री केशवचन्द्र सेन न तो हिन्दू रहे और न उस धर्म के सुधारक। ब्राह्मसमाज का हिन्दू समाज से जो थोड़ा बहुत सम्बन्ध था, वह १८७२ के स्पेशल मैरिज एक्ट से टूट गया। इस कानून द्वारा ब्राह्म लोगों का समाज हिन्दू समाज से सर्वथा पृथक् स्वीकार किया गया।

केशवचन्द्र सेन की अध्यक्षता में स्थापित ब्राह्मसमाज की एक विशेषता ब्रिटिश सरकार का प्रबल समर्थन था। वे अंग्रेजी राज्य के परम भक्त थे, उसे भगवान् का वरदान मानते थे। उनके धर्म का एक प्रमुख सिद्धान्त ब्रिटिश सरकार के प्रति खुल्लमखुल्ला पूर्ण राजभक्ति और निष्ठा की घोषणा करना था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे केशवचन्द्र सेन को ब्रिटिश सरकार से बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ, क्योंकि ब्रिटिश सरकार उन दिनों ऐसे स्वतन्त्र विचारों और सामाजिक सुधारों को उसी समय तक पसन्द करती थी, जबतक उनका राजनीति से कोई सम्बन्ध न हो। केशवचन्द्र सेन को इसीलिए ब्रिटिश सरकार के प्रमुख अधिकारियों ने बड़ी प्रतिष्ठा प्रदान की। वाइसराय लार्ड लारेन्स ने उनका इस रूप में अभिनन्दन किया कि वे भारतीय जनता के उद्धारक और त्राता हैं। कलकत्ता के टाउन हॉल में उच्चतम सरकारी अधिकारी उनके व्याख्यानों को सुनने के लिए उपस्थित होते थे। उनकी प्रार्थना पर भारत सरकार ने हिन्दू समाज में जात-पाँत तोड़कर किए जाने वाले विवाहों को वैध बनाने के लिए १८७२ का विशेष विवाह कानून बनाया। इसमें वर-वधू के चुनाव के लिए हिन्दू धर्म के परम्परागत जातीय नियमों का अनुसरण नहीं किया जाता था और शालिग्राम की पूजा नहीं होती थी। सरकार के प्रबल समर्थन और राजभक्ति के कारण तत्कालीन युवक समाज में केशवचन्द्र सेन की लोकप्रियता और प्रभाव घट गया, और उन्हें सरकार का चाटुकार समझा जाने लगा। स्वामी जी ने ब्राह्मसमाज के सम्प्रदाय की आलोचना करते हुए एक युक्ति यह भी दी है कि ये अंग्रेजों की बड़ी प्रशसा करते हैं।[1]

६ अप्रैल, १८७९ को कलकत्ता के टाउन हॉल में "भारत पूछ रहा है—ईसा कौन हैं ?" नामक भाषण में श्री केशवचन्द्र सेन ने बड़े भावविह्वल शब्दों में कहा था, "मेरा ईसा, मेरा मधुर ईसा, मेरे हृदय का सर्वाधिक भाववान् हीरा, मेरी आत्मा का कण्ठहार। बीस वर्ष तक मैंने इसे अपने संतप्त हृदय में धारण किया है।" उनके इस भाषण से लोग यह समझने लगे कि वे ईसा के अनुयायी बन गए हैं। फ्रांसीसी मनीषी रोम्याँ रोलाँ ने लिखा है—"ईसा ने उनके अन्तस्तल को स्पर्श किया था। अब उनके जीवन का यह लक्ष्य बन गया कि वे ईसा को ब्राह्मसमाज में प्रविष्ट कराएँ। केशवचन्द्र सेन ने न केवल ईसाईयत

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३६९।

को ग्रहण किया, अपितु उसको बड़ा ऊँचा स्थान दिया। वे उसे संसार की धार्मिक चेतना का सर्वोच्च विचार मानते थे। क्या अब भी कोई बात उन्हें ईसाईधर्म से पृथक् करती थी? केशवचन्द्र सेन उस समय बड़े जोर से उद्बुद्ध हो रही राष्ट्रीय चेतना के प्रतिकूल चल रहे थे।"[१]

एक अन्य लेखक फ्रैंक लिलिंगटन ने लिखा है—"१८७९ में कलकत्ता की एक बड़ी सभा में ब्राह्मसमाज के एक नेता श्री केशवचन्द्र सेन ने कहा था—'भारत को ईसा को स्वीकार करना चाहिए।' ईसाइयों के लिए इससे अधिक सुखद शब्द नहीं हो सकते हैं।" भारत में ईसाईयत के एक प्रमुख प्रचारक पादरी क्लार्क वोयसे ने लिखा था "केशवचन्द्र सेन के अनुयायी ब्राह्म कहलाने का अधिकार गँवा बैठे हैं, क्योंकि उनका नेता ईसाई मत की ओर अधिकाधिक झुक गया है।" इससे यह स्पष्ट है कि केशवचन्द्र सेन के समय में ब्राह्म-समाज और ईसाईयत में कोई भेद नहीं रहा और वह ईसाईयत में विलीन हो गया। ईसाईयत के विरोध में हिन्दू समाज की रक्षा के लिए जो पहला बाँध बना था, वह ईसाईयत के जबर्दस्त प्रवाह का मुकाबला न कर, उसी के साथ बह गया। ब्राह्मसमाज का अगला इतिहास अनावश्यक है। उसमें और ईसाइयत में बहुत थोड़ा अन्तर रह गया था। एक लेखक ने लिखा है कि श्री केशवचन्द्र सेन ने ब्राह्मसमाज को न केवल समाज सुधार और परोपकार के कार्यों की ओर प्रवृत्त किया, अपितु वे उस समाज को ईसा के शिष्यत्व की ओर भी ले गए। यह स्पष्ट था कि ब्राह्मसमाज ईसाईयत के आक्रमणों से रक्षा करने के लिए हिन्दू धर्म व समाज की ढाल नहीं बन सका।

प्रार्थना समाज—बम्बई प्रान्त में ब्राह्मसमाज का दूसरा रूप प्रार्थना समाज के रूप में विकसित हुआ। यहाँ १८३९ में तीन पारसियों के तथा १८४३ में एक ब्राह्मण के ईसाई हो जाने से हिन्दुओं तथा पारसियों को अपने धर्मों की रक्षा के लिए सन्नद्ध होना पड़ा। शिक्षित हिन्दुओं ने प्रारम्भ में गुप्त संस्थाओं तथा परमहंस सभाओं द्वारा अपने धर्म में सुधार करना चाहा। किन्तु १८६० ई० में इनका रहस्योद्घाटन हो जाने से इस तरह के प्रयत्न बन्द हो गए।

१८६४ ई० में श्री केशवचन्द्र सेन बम्बई आए। उनके व्याख्यानों का शिक्षित समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसके तीन वर्ष बाद, १८६७ ई० में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके नेता डा० आत्माराम पाण्डुरंग, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, महादेव गोविन्द रानाडे आदि सज्जन थे। ये जाति प्रथा के उच्छेद, विधवा पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा के प्रोत्साहन तथा बाल-विवाह निषेध के सुधारों पर बल देते थे।

इस समाज का संगठन कुछ निश्चित नियमों के आधार पर नहीं हुआ था। यह केवल ऐसे व्यक्तियों का समूह बना रहा, जो हिन्दू धर्म की अनेक कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन करते थे, हिन्दू समाज में सुधार चाहते थे, किन्तु व्यवहार में हिन्दू कर्मकाण्ड व रूढ़ियों का पालन करते थे। यही कारण है कि प्रार्थना समाज एक शक्तिशाली संगठन नहीं बन सका और उसका प्रभाव सामाजिक सुधार आन्दोलन के अतिरिक्त बहुत ही न्यून एवं नगण्य है।

पारसी सुधार आन्दोलन—पारसियों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के बाद, ईसाईयों

---

१. रोम्यां रौलां—प्रोफेट्स आफ न्यू इण्डिया पृ० ९७।

के प्रचार से पारसी धर्म व समाज की रक्षा एवं कुरीतियों के सुधार के लिए १८५१ में शिक्षित पारसियों ने **रहनुमाए मजदायस्नान** नामक सभा की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य पारसी समाज का पुनरुज्जीवन तथा पारसी धर्म को प्राक्तन पवित्रता की ओर लौटाना था। इसके नेता दादा भाई नौरोजी, जे० बी० वाचा आदि महानुभाव थे। **रास्त गुफ्तार** पत्र द्वारा इन्होंने पारसी समाज में सुधार का प्रबल आन्दोलन किया।

मुस्लिम सुधार आन्दोलन—मुसलमानों में धार्मिक सुधारों के नेता श्री सर सैयद अहमद थे। १६वीं शती में, राजकीय सत्ता छिन जाने से मुसलमानों की दशा निरन्तर गिरती जा रही थी। मुसलमानों में अपनी इस दशा से गहरा असन्तोष और रोष था। १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध में उनका यह रोष संयुक्त प्रान्त में अहमदशाह के नेतृत्व में उग्र रूप से प्रकट हुआ। अतः इस समय कुछ अंग्रेजों ने इस्लाम को कुचलने का नारा बुलन्द किया। मुसलमानों ने अंग्रेजों तथा अंग्रेजी शिक्षा से अलग रहने की नीति अपनायी और इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों की स्थिति निरन्तर शोचनीय होने लगी।

इस शोचनीय दशा से मुसलमानों का उद्धार करने का श्रेय सम्भ्रान्त कुलोत्पन्न तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सेवक और १८५७ के संघर्ष में अंग्रेजों को पूरी सहायता देने वाले श्री सर सैयद अहमद को है। राजनीति में मुसलमानों को उन्नत स्थान दिलाने के साथ-साथ उन्होंने मुसलमानों में नए धार्मिक सुधारों का श्रीगणेश किया। कट्टर एवं रूढ़िग्रस्त इस्लाम को उन्होंने तर्कसंगत बनाने का प्रयत्न किया। वे तर्क को ही परम-प्रमाण स्वीकार करते थे। कठमुल्लापन को हटाने के उनके इन प्रयत्नों का घोर विरोध हुआ और मौलवियों की ओर से उन्हें काफिर आदि के खिताब मिले।

हजरत मुहम्मद तथा कुरान की शिक्षाओं को तर्कसंगत बनाने का दूसरा प्रयत्न भारत में सर्वप्रथम इंगलैण्ड की प्रिवि कौंसिल का सदस्य बनने वाले श्री अमीर अली का था। उन्होंने मुसलमानों के सामाजिक व नैतिक सुधारों का समर्थन किया। बहु-विवाह और दास प्रथा को निन्दनीय एवं त्याज्य बताया। किन्तु कुरान शरीफ, सुन्नत व हदीस स्पष्ट रूप से इनका समर्थन करते हैं, इसलिए उन्होंने यह युक्तिक्रम उपस्थित किया कि इस्लाम इनको नियन्त्रित करके इनका समूल नाश करना चाहता था। ये विचार भी मुसलमानों में लोकप्रिय न हुए।

(४) कट्टर सुधार आन्दोलन

यूरोप की धार्मिक सुधारणा में जिस प्रकार लूथर तथा अन्य सुधारकों के सुधारों के प्रतिकूल इगनेशियस लायोला ने जेसुइट सम्प्रदाय की स्थापना १५४० में की तथा ट्रैण्ट की महान् परिषद (१५४५-६३) द्वारा प्रतिसुधारणा (Counter Reformation) आन्दोलन शुरू हुआ, उसी प्रकार १६वीं शती की धार्मिक सुधारणा में श्री रामकृष्ण परमहंस तथा थियोसोफी के प्रयत्नों से एक प्रतिसुधारणा प्रारम्भ हुई। पहले आन्दोलन उदार एवं सुधारों की दृष्टि से बहुत अग्रगामी थे। वे तर्क को आधार मानकर चलने वाले थे और तर्क की कसौटी पर खरी न उतरने वाली रूढ़ियों एवं कुरीतियों से हिन्दू धर्म, पारसी मत तथा इस्लाम को मुक्त करना चाहते थे। किन्तु नए आन्दोलन धर्म में आन्तरिक सुधार चाहते हुए भी, उसकी प्रत्येक रूढ़ि एवं परम्परा की रक्षा करना चाहते थे। इन रूढ़ियों एवं परम्पराओं का वे तर्क एवं विज्ञान से समर्थन करते थे। १८७३ में कलकत्ता

में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए **सनातन धर्मरक्षिणी सभा** स्थापित हुई थी, किन्तु उसकी पूर्ण रक्षा का प्रबलतम समर्थन श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा थियासफी द्वारा हुआ।

रामकृष्ण परमहंस—इनका पहला नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था। इनकी साधना का इतिहास बहुत मनोरंजक है। हम यहाँ उसका केवल संक्षिप्त उल्लेख करेंगे। इनका जन्म २० फरवरी, १८३४ ई० को हुआ। बचपन से उन्हें धार्मिक कथाओं में प्रबल अभिरुचि थी। १८५५ ई० में, कलकत्ता के उत्तर में दक्षिणेश्वर के मन्दिर की स्थापना के बाद उनके बड़े भाई पं० रामकुमार इस मन्दिर के मुख्य पुरोहित नियत हुए और श्री गदाधर उनके एक सहायक पुजारी बने। श्री गदाधर अब काली को विश्व की तथा अपनी माता मानकर घण्टों उसकी स्तुति, उपासना तथा कीर्तन में मग्न होकर समाधि अवस्था को प्राप्त हो जाते थे। उनके माता-पिता ने अपने पुत्र को समाधि से विरत करने का सर्वोत्तम उपाय विवाह समझा और १८५९ में छह वर्षीया कन्या से उनका परिणय कर दिया गया।

किन्तु विवाह के बाद, उनका धार्मिक भाव घटने के बजाय और तीव्र होने लगा। घंटों तक वे समाधि में अचेत पड़े रहते थे। मन्दिर के अधिकारियों को अब ऐसे पुजारी की आवश्यकता नहीं रही। अगले १२ वर्ष उनकी कठोर साधना के थे। इन दिनों एक धार्मिक तूफान ने उनके हृदय को विक्षुब्ध कर रखा था। इस विक्षोभ में तन्त्र आदि से परिचय रखने वाली एक योगाभ्यासिनी ब्राह्मण संन्यासिनी उनकी मार्गदर्शिका हुई। उन्होंने अपना संचित उपार्जित सम्पूर्ण ज्ञान श्री गदाधर को दिया, किन्तु उनकी योगतृष्णा शान्त नहीं हुई। फिर श्री तोतापुरी नामक वेदान्तशास्त्रज्ञ संन्यासी ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी। वे गदाधर से रामकृष्ण परमहंस हुए और श्री तोतापुरी महाराज से उन्होंने निर्विकल्प समाधि आदि अनेक नई बातें सीखीं।

उनके अन्यत्र चले जाने के बाद श्री रामकृष्ण लगभग छह मास तक समाधि की दशा में रहे। इन दिनों में, यदि उनका एक साथी साधु उन्हें समाधि से विरत न करता और जबर्दस्ती भोजन न करवाता तो उनका जीवित रहना कठिन होता। कई बार वह साधु अन्य उपायों से श्री रामकृष्ण की समाधि भंग करने में असमर्थ होकर उनके सिर पर भारी डण्डे का प्रहार कर उनकी समाधि भंग किया करता था। कुछ समय बाद राधारूप से उन्होंने कृष्ण की भक्ति प्रारम्भ की। १८७१ तक उनका मानसिक तूफान समाप्त हो चुका था, किन्तु जाति का अभिमान अभी शेष था। उन्होंने इस अभिमान पर विजय पाने के लिए चाण्डाल के कार्य शुरू किए। वे मन्दिर में अपने बालों से झाड़ू लगाने का कार्य करने लगे तथा उन्होंने भिखारियों, शूद्रों तथा मुसलमानों के भोजन की जूठी पत्तलों तथा अवशिष्ट अंशों को ही अपना भोजन बनाया। बाद में, उन्हें अन्य धर्मों के जानने का शौक हुआ और वे एक मुसलमान फकीर के पास कुछ दिनों तक मुसलमान दरवेश की दशा में रहे। एक बार उन्हें स्वप्न में ईसा का दर्शन हुआ और तीन दिन तक उन्होंने ईसा के अतिरिक्त किसी विषय पर चर्चा नहीं की।

स्वामी विवेकानन्द—श्री रामकृष्ण के दर्शन के लिए अब बहुत से व्यक्ति आने लगे। १८७५ में श्री केशवचन्द्र सेन ने उनसे भेंट की। १८७९ से १८८६ तक उनका सारा समय शिष्यों से वार्तालाप करने तथा उपदेश देने में व्यतीत हुआ। उनके शिष्यों में

श्री नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) बहुत प्रसिद्ध हुए। श्री रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के बाद ये संन्यासी हुए, तथा ६ वर्ष तक तिब्बत आदि में बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए पर्यटन करते रहे। १८९२ में उन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा की और १८९३ के सितम्बर मास में, शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन (Parliament of Religions) में सम्मिलित होकर, उन्होंने वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक वक्तृता दी, जिसके बाद **'दी न्यूयार्क हैरल्ड'** ने लिखा था कि, "सर्वधर्म सम्मेलन में निःसंदेह विवेकानन्द सबसे बड़े व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनने के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि उस शिक्षित राष्ट्र (भारत) को मिशनरी भेजना कितना मूर्खतापूर्ण है।"

इसके बाद स्वामी विवेकानन्द ने संयुक्त राज्य अमेरिका में हिन्दू धर्म का प्रचार किया और दो अमेरिकन स्वामी अभयानन्द (Madame Rousie) तथा स्वामी कृपानन्द (Mr. Sandberg) उनके शिष्य बने। अमेरिका के बाद वे इंगलैंड आये और यहाँ भगिनी निवेदिता (Miss Margaret Noble) उनकी शिष्या बनीं। जनवरी, १८९७ में वे विदेश यात्रा के बाद कोलम्बो पहुँचे। पश्चिमी जगत् में हिन्दू धर्म की धाक बिठाने वाले वाग्मी विजेता के रूप में उनका सारे देश में अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उन्होंने बेलूर (कलकत्ता) तथा मायावती (अल्मोड़ा) में अपने विचारों के प्रचार एवं प्रसार के दो केन्द्र स्थापित किये। उस वर्ष देश में बड़ा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय उन्होंने सहायता-कार्य का संगठन किया और बाद में इसी की परिणति रामकृष्ण सेवाश्रम में हुई। १८९८ में स्वास्थ्य सुधार के लिए वे विदेश गये। कैलीफोर्निया के जलवायु से उन्हें लाभ पहुँचा। उन्होंने सन फ्रांसिस्को तथा न्यूयार्क में वेदान्त सोसायटी की स्थापना की। १९०० में पैरिस की धर्म परिषद् में भाग लेकर वे भारत लौट आये। ४ जुलाई, १९०२ को उनका देहावसान हो गया।

स्वामी विवेकानन्द के प्रयत्नों से पाश्चात्य लोगों की दृष्टि में भारत का सम्मान बढ़ा। पूर्व और पश्चिम के बीच में वे पहले सांस्कृतिक दूत थे। उनका जनसेवा का कार्य आदर्श एवं स्पृहणीय था। किन्तु धार्मिक सुधारों के विषय में उनके सिद्धान्त कट्टर प्रवृत्ति के सूचक हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म के वर्तमान स्वरूप की कठोर भर्त्सना की है। छुआछूत आदि कुरीतियों के वे घोर विरोधी थे। किन्तु श्री राममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द की भाँति उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि हिन्दू जाति को विघटित करने वाली और हिन्दू धर्म को दूषित करने वाली मूर्ति पूजा है। उन्होंने मूर्ति पूजा के हानिप्रद परिणामों की ओर हिन्दू जनता का ध्यान नहीं खींचा। हिन्दू धर्म की विभिन्न रूढ़ियों तथा कर्मकाण्ड में उनकी पूरी श्रद्धा थी। मूर्ति पूजा को वे पूजा की एक उत्तम विधि समझते थे। उनका मत था, कि हिन्दू धर्म का प्रत्येक अंश बहुमूल्य है, उसकी सुरक्षा होनी चाहिए, और सुधारकों का मार्ग ठीक नहीं है। पुराने सभी विचार अन्धविश्वास हो सकते हैं, किन्तु अन्धविश्वासों के इस विशाल समूह में सुवर्ण एवं सत्य की कणिकायें हैं। "क्या तुमने ऐसा साधन ढूंढ़ लिया है कि तुम सुवर्ण को सुरक्षित रखते हुए उसकी अशुद्धि को दूर कर सको।"[1] सरल शब्दों में यह समूचे सुधार का प्रबल प्रत्याख्यान है।

थियोसोफी—प्राचीन धर्मों की सम्पूर्ण रूढ़ियों, विश्वासों एवं क्रिया कलापों का

---

१. माई मास्टर पृ० १३।

वैज्ञानिक तथा प्रबल समर्थन थियोसोफी नामक धार्मिक आन्दोलन द्वारा किया गया। थियोसोफी का जन्म अमेरिका में हुआ था। किन्तु बड़ी विचित्र परिस्थितियों में यह आन्दोलन महर्षि दयानन्द तथा आर्यसमाज की सहायता से भारत में प्रारम्भ हुआ। एक रूसी महिला ब्लैवेत्स्की इसका प्रवर्तन करने वाली थी। १२ अगस्त, १८३१ ई० को रूस से आये एक जर्मन परिवार में उसका जन्म हुआ और १८४८ में १७ वर्ष की आयु में ब्लैवेत्स्की के कथनानुसार (सिनैट-इनसिडैंट्स, पृ० ३६) ७० वर्षीय एक रूसी अफसर एन० वी० ब्लैवेत्स्की के साथ उसकी शादी हुई।[1] उसे बचपन से ही अध्यात्म विद्या का शौक था। १८४८ से १८७२ तक उसका जीवन इन्हीं साधनाओं में तथा दूर्बु्त्तापूर्वक बीता। वह स्वयं अपनी जीवन पुस्तक में से इस पृष्ठ को फाड़ देना चाहती थी। फरवरी, १८७६ में अपने एक पत्र में सोलोवयाफ को 'मेरी स्वीकारोक्ति' (माई कन्फैशन) नामक लेख भेजते हुए उसने लिखा था कि—"मैंने सिनेट को अपने संस्मरण उसकी इच्छानुसार छापने का निषेध किया है। मैं स्वयं सत्यतापूर्वक उन्हें प्रकाशित करूँगी।···ईश्वर की दुनिया के सामने उसका, अपना तथा दूसरों का गन्द(अनाचार) लोगों के सामने आएगा। मैं कुछ भी नहीं छिपाऊँगी और मानव जाति के नैतिक अधःपतन का यह सेटुरनेलिया (शनि देवता के आदर में दिसम्बर के मध्य में प्राचीन रोम में कराया जाने वाला एक पर्व, जिसमें सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद की खुली पूजा होती थी) होगा।"[2]

इस समय वह मेट्रोविच नामक व्यक्ति के साथ भी रही और उसका एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। किन्तु १८७५ में अपने को कुमारी कन्या प्रख्यात करने के बाद उसने उस बालक के बारे में एक कथानक गढ़ा। कुछ समय अज्ञातवास के पश्चात् १८७२ में, हम उसे काहिरा में प्रेत विद्या (Spiritualism) तथा मृतात्माओं को बुलाने द्वारा जीविका उपार्जन करता हुआ पाते हैं। इन्हीं प्रेतात्मा-प्रदर्शनों में उसकी श्रीमती कुलोम (Coulomb) से भेंट हुई, जिसने अर्थसंकट में उसकी पर्याप्त सहायता की। प्राचीन मिश्री जादू सीखकर वह ७ जुलाई, १८७३ को अमेरिका पहुंची।

संयुक्त राज्य अमेरिका में उन दिनों प्रेतविद्या की बड़ी धूम थी। १८७४ में, एक ऐसे ही प्रदर्शन में, उसका कर्नल आल्काट से परिचय हुआ। दोनों ने अमेरिका को प्रेत-विद्या का उपयुक्त क्षेत्र पाया। आल्काट ने ब्लैवेत्स्की के उच्च कुल तथा दीर्घ साधना का ढोल पीटना शुरू किया। किन्तु जल्दी ही जान किंग नामक व्यक्ति से इस ढोल की पोल खुलने लगी। ब्लैवेत्स्की इससे घबरा गयी, क्योंकि अब इस व्यवसाय से उसकी आजीविका की राशि घटने लगी थी। अपने पत्रों में वह इस बात पर दुःख प्रकट करती है कि पाँच महीनों में उसकी पुस्तक की एक हजार प्रतियाँ भी नहीं बिकीं। आल्काट यद्यपि आर्थिक त्याग कर रहा था, किन्तु उसको बड़े परिवार का पोषण करना कठिन प्रतीत हो रहा था। १८ जुलाई, १८७५ के पत्र में वह लिखती हैं—'यह मेरे लिए दुःख की बात है। कल

---

१. ब्लैवेटस्की अपने झूठ और गप्पों के लिए प्रसिद्ध थी। १८९२ तक उक्त पुरुष जीवित था। अतः यह स्पष्ट है कि ब्लैवेत्स्की ने अपने पति की आयु बताने में अतिशयोक्ति से काम लिया है। कर्नल अल्काट ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि वह हँसी में तथा गम्भीरतापूर्वक झूठ बोला करती थी। (ओल्ड डायरी लीव्स, पृ० २६४-६५)।

२. माडर्न प्रीस्टेस आफ आइसिस, पृ० १८१।

मेरे पास खाने को कुछ भी नहीं होगा। कुछ असाधारण वस्तु गढ़नी पड़ेगी। इसमें सन्देह है कि आलकाट का चमत्कार संघ (मिरेकल क्लब) कुछ सहायक सिद्ध हो सकेगा। मैं अन्त तक संघर्ष करूँगी।"[1]

इस संघर्ष के परिणामस्वरूप ७ सितम्बर, १८७५ को न्यूयार्क में थियोसोफिकल सोसायटी स्थापित की गयी। एक पत्र में वह इस बात पर सन्तोष प्रकट करती है कि इस सोसायटी का उपकोषाध्यक्ष न्यूटन एक लखपति व्यक्ति है। ब्लैवेत्स्की के अगले दो वर्ष बड़ी निर्विघ्नता से कटे। अप्रैल, १८७५ में ब्लैवेटस्की ने प्रथम रूसी पति के जीवित रहते हुए भी एक आर्मीनियन माइकेल वेटले से यह कह कर शादी की कि वह विधवा है। उसने अपनी आयु भी ४३ वर्ष के स्थान पर ३६ वर्ष बतायी। १८७७ में दो वर्ष के भगीरथ परिश्रम के बाद, उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक आइसिस का आविर्भाव (Isis Unveiled) प्रकाशित की। इसमें प्राचीन धर्मों का समर्थन तथा चमत्कारों, हिप्नोटिज्म, परोक्ष दर्शन (Clairvoyance), समाधि आदि का वर्णन एवं वर्तमान ईसाईयत और विज्ञान के विरुद्ध जबर्दस्त जिहाद था। सन फ्रांसिस्को के कोलमैन ने शीघ्र ही यह सिद्ध किया कि यह पुस्तक बिना कृतज्ञता प्रकट किये हुए पुराने ग्रन्थों के संदर्भों को चुराकर संग्रहीत की गयी है। होम ने भी थियोसोफिस्टों की पोल अपनी एक पुस्तक (Hights and Shadows of Spiritualism) में खोली। ब्लैवेस्त्की का अब अमेरिका या यूरोप में रहना बहुत कठिन हो गया था, अतः उसने भारत आने का निश्चय किया। वह एक पत्र में लिखती है—"यही कारण है कि मैं सदा के लिए भारत जा रही हूँ। लज्जा और तिरस्कार के कारण, मैं ऐसी जगह जाना चाहती हूँ जहाँ मुझे कोई जानने वाला न हो। होम की दुर्भावना ने यूरोप में हमेशा के लिए मुझे तबाह कर दिया है।"[2]

इन परिस्थितियों में जनवरी, १८७९ में मैडम ब्लैवेत्स्की तथा कर्नल आल्काट भारत पहुँचे। पहले उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती की शरण ली। किन्तु जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि भारत में इतना अधिक अन्धविश्वास है कि अनुयायी मिलना कठिन नहीं है, तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कुछ ऐसी बातों का प्रचार करना शुरू किया जो आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थीं। स्वामी दयानन्द जी ने उन्हें अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं तथा पत्रों का स्मरण कराया, किन्तु सब निष्फल हुआ। अन्त में १८८१ में दोनों संस्थाओं का सर्वथा विच्छेद हो गया।

श्रीमती ब्लैवेत्स्की तथा कर्नल आल्काट ने भारत का भ्रमण किया। ब्लैवे-त्स्की ने अनेक स्थानों पर चमत्कार दिखाकर लोगों का ध्यान थियोसोफी की ओर आकर्षित किया। काँग्रेस के प्रारम्भिक संस्थापकों में अग्रणी ब्रिटिश पदाधिकारी श्री ह्यूम के घर पर शिमला में ब्लैवेत्स्की ने श्रीमती ह्यूम के एक खोये हुए सोने के कांटे का ठीक पता बताकर बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। किन्तु शीघ्र ही उस समय के प्रमुख पत्रों-पायोनियर, टाइम्स आफ इण्डिया व बाम्बे गजट द्वारा लोगों को यह ज्ञात हुआ कि श्री ह्यूम के परिवार का एक व्यक्ति ब्लैवेत्स्की से पहले मिलता रहा था। ब्लैवेत्स्की जिसे चमत्कार कहती थी, वह काम इसी व्यक्ति द्वारा करवाया गया था। बाद में श्री ह्यूम ने

१. सोलोवयोफ—माडर्न प्रीस्टेस आफ आइसिस पृ० २५३।
२. वही पृ० २६५।

यह कहा कि यह एक बहुत बड़ी प्रवंचना थी।

भारतीयों में अपने को लोकप्रिय बनाने के लिए थियोसोफी के नेता भारतीय धर्मों की ओर झुके। बौद्धों का तन्त्रवाद ब्लैवेत्स्की को बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ। उसके कथनानुसार अडयार (मद्रास) के एक कक्ष में, उसे तिब्बत के कूट होमी तथा अन्य गुरुओं से गुप्त सन्देश प्राप्त होते थे। १८८४ तक भारत में थियोसोफी की १०० से ऊपर शाखायें स्थापित हो चुकी थीं। इसी वर्ष २१ फरवरी को आल्काट और ब्लैवेत्स्की विलायत चले गये। उनके बाद शिष्यों को ब्लैवेत्स्की का उपर्युक्त कक्ष देखने का कौतूहल उत्पन्न हुआ। इस विषय को लेकर दो दल हो गये और एक दल ने ब्लैवेत्स्की के सारे पत्र क्रिश्चियन कालिज मैगजीन को दे दिये और दूसरे दल ने अपने पर जाँच की आँच न आने देने के लिए ब्लैवेत्स्की का वह विशेष कक्ष ही नष्ट कर दिया।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के उपाध्याय श्री हेनरी सिजविक ने इस सारे काण्ड की घटनाओं–प्रेतवाद व भूतविद्या (Spiritualism) की सत्यता का अन्वेषण करने के लिये रिचर्ड ह्वागसन को भारत भेजा। उसका स्वयं इस विद्या पर विश्वास था और उसने १८८४ के अन्त में आल्काट व ब्लैवेत्सकी के विलायत से लौटने पर उन्हीं से इस विषय की जांच का आरम्भ किया। उसके सूक्ष्म एवं गम्भीर अन्वेषण का यह परिणाम था कि प्रत्येक चामत्कारिक घटना, जहाँ तक वह जाँच कर सका है, छलकपट मात्र है। तिब्बत से आने वाले कूट होमी के पत्र ब्लैवेत्स्की के स्वयं लिखे हुए हैं। इनपत्रों के प्रकाशित होने पर ब्लैवेत्स्की ने कहा था कि वे पत्र झूठे हैं और वह इन पत्रों को प्रकाशित करने वाली श्रीमती कुलोम पर अदालत में मुकद्दमा चलाकर अपने को निर्दोष सिद्ध करेगी। बहुत समय बीत जाने पर भी जब उसकी ओर से कोई मुकद्दमा न चला, तो श्रीमती कुलोम ने उन पत्रों को सार्वजनिक रूप से जाली कहने वालों पर मानहानि का अभियोग चलाने का निश्चय किया तथा, एक थियोसोफिस्ट व्यक्ति जनरल मारगन को मानहानि के लिये दो अप्रैल तक क्षमा माँगने का नोटिस दिया।

मैडम ब्लैवेत्स्की अदालत की जाँच से घबराती थी। उसे डर था कि अदालत में बहुत-सी बातें खुल जायेंगी। अब उसने भारत से भागने में अपना कल्याण समझा। गरम जलवायु उसके स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है, इस आशय के डाक्टरी प्रमाण-पत्र के आधार उसने पासपोर्ट प्राप्त किया और दो अप्रैल को वह एक जहाज पर बैठकर यूरोप रवाना हो गई। उसके यूरोप जाने का कारण बीमारी नहीं, अपितु मुकद्दमे का डर था। यह उसके एक पत्र से स्पष्ट है। २९ अप्रैल, १८८५ के अपने एक पत्र में नेपल्स से उसने लिखा था—

"वे (मेरे विरोधी) कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते थे, किन्तु केवल संदेह के आधार पर मुझे जेल भिजवा सकते थे, गिरफ्तार करवा सकते थे तथा कौन जानता है कि वे और क्या कर सकते थे। अभी मैंने इनके विषय में विस्तार से सुना है। उन्होंने पहले मुझे कुछ नहीं बताया, किन्तु बिस्तर से उठाकर सीधा फ्रेंच स्टीमर पर सवार करवा दिया।"[1]

---

1. सोलोवयोफ-माडर्न प्रीस्टेस आफ आइसिस पृ० ९६। थियोसोफी का यह वर्णन फर्कुहार की 'माडर्न रिलीजस मूवमैण्ट्स' के आधार पर किया गया है। उपर्युक्त उद्धरण भी इसी पुस्तक से लिया गया है।

१८८८ में उसने गुप्त सिद्धान्त (सीक्रेट डाक्ट्रिन) नामक पुस्तक प्रकाशित की। आइसिस की तरह यह भी दूसरी पुस्तकों के उद्धरणों की संग्रह मात्र थी। १८९१ में इस विलक्षण महिला का देहान्त हो गया। ब्लैवेत्स्की के निधन के बाद थियोसोफी में अनेक मतभेद उत्पन्न हुए, और उसका स्वरूप परिवर्तित हुआ। धीरे-धीरे थियोसोफी वाले सब धर्मों को पवित्र मानने की तथा उनकी कट्टरता की वैज्ञानिक एवं आलंकारिक व्याख्या करने लगे। उसके साथ ही वे वैयक्तिक विकास साधना के ऐसे मार्ग का उपदेश करने लगे, जिसको प्राय: गुप्त ही रखा जाता है। बाद में श्रीमती एनी बेसेण्ट इस आन्दोलन की नेत्री बनीं, और इनके बाद श्री अरण्डेल इसके प्रमुख प्रचारक तथा समर्थक रहे। किन्तु ये बातें २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध का विषय होने के कारण प्रकृत प्रसंग से सम्बन्ध नहीं रखतीं।

(५) महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज

आर्यसमाज के प्रवर्तक के जीवन तथा कार्यों का विस्तृत उल्लेख इस पुस्तक के अन्य अध्यायों में किया जाएगा। इस अध्याय में यद्यपि ऊपर बताये गये धार्मिक सुधार आन्दोलनों से आर्यसमाज के आन्दोलन की तुलना करना ही अभीष्ट है, फिर भी संक्षेप से ऋषि दयानन्द के जीवन की ऐसी प्रमुख घटनाओं का कालक्रम से उल्लेख करना उचित जान पड़ता है जिनसे अन्य धार्मिक आन्दोलनों से आर्यसमाज की तुलना हो सके। स्वामी दयानन्द का जन्म टंकारा के एक औदीच्य ब्राह्मण कुल में सम्वत् १८८१ वि० (१८२४ ई०) में हुआ। सम्वत् १८९४ वि० (१८३७ ई०) में शिवरात्रि के प्रसिद्ध रात्रि जागरण में शिवलिंग पर मूषक लीला देखकर उन्हें मूर्तिपूजा पर अनास्था हुई। अगले वर्षों में भगिनी एवं पितृव्य की मृत्यु से, उनके मन में वैराग्य सम्बन्धी विचार, सच्चे शिव को खोजने की इच्छा एवं दु:खसन्तप्त मानव जाति के दु:खों के निराकरण के उपायों के अन्वेषण की आकांक्षा प्रबल होती गयी। जब माता-पिता ने तरुणावस्था में ही उनका यह वैराग्य देखा, तो उन्होंने पुत्र को विवाह की शृंखला में बाँधना चाहा। तरुण मूल-शंकर ने इसमें बँधने से बचने के लिए सम्वत् १९०३ वि० (१८४६ ई०) में घर से पलायन या महाभिनिष्क्रमण किया। गौतम बुद्ध महाभिनिष्क्रमण करने के बाद शाक्यकुल को प्रव्रजित करने के उद्देश्य से बोधि प्राप्त करने के अनन्तर एक बार पुन: कपिलवस्तु पधारे थे, किन्तु स्वामी दयानन्द अपने छोड़े गांव में फिर कभी वापिस नहीं आये।

स्वामी जी के जीवन के अगले १४ वर्ष गुरुओं की खोज, विद्याभ्यास, कष्ट सहन और पर्यटन के वर्ष हैं। उन्होंने मधुकरी वृत्ति से ज्ञान सम्पादन किया। जहाँ किसी प्रसिद्ध गुरु का नाम सुना, उसके पास गये और उससे जो मिल सका वह ग्रहण किया। पूर्णानन्द सरस्वती से, संन्यास सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद, चाणोद में उन्होंने ज्वालानन्द पुरी तथा शिवानन्द गिरि से योग सीखा। आबू आदि का पर्यटन कर सम्वत् १९११ वि० (१८५५ ई०) में हरिद्वार कुम्भ के अवसर पर, योगियों और गुरुओं की तलाश में, वे उत्तर भारत आये। कुछ समय वे ऋषिकेश, टिहरी (गढ़वाल), रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, त्रियुगी नारायण, तुंगनाथ, ओखीमठ, केदारनाथ, जोशीमठ, बदरीनाथ आदि उत्तराखण्ड के प्रसिद्ध एवं दुर्गम तीर्थों में साधना एवं ज्ञान संचय करते रहे। १८५६ ई० में स्वामी जी कानपुर, बनारस आदि गये और उसके बाद वे मध्य प्रदेश के विन्ध्याचल पर्वत एवं नर्मदा

की घाटी में पर्यटन करते रहे। जिस समय भारतवर्ष के वीर सैनिक एवं जनता स्वाधीनता का संग्राम लड़ रही थी, उस समय ऋषि दयानन्द इस संग्राम के क्षेत्र में ही परिभ्रमण कर रहे थे।

१८६० में, चौदह वर्ष की खोज के अनन्तर, मथुरा में, उन्हें दण्डी स्वामी श्री विरजानन्द जी का शिष्यत्व प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। स्वामी विरजानन्द जी से तीन वर्ष तक व्याकरण का गम्भीर अध्ययन करने के अतिरिक्त उन्हें प्रत्येक वस्तु को परखने की आर्ष दृष्टि प्राप्त हुई और आर्ष ग्रन्थों का महत्त्व ज्ञात हुआ। किन्तु अभी तक उन्हें वेदों की उपलब्धि नहीं हुई थी। १८६४ में स्वामी विरजानन्द जी से अनुज्ञा प्राप्त कर वे मथुरा से विदा हुए। अगले पाँच वर्षों में उन्होंने वेदों को प्राप्त कर उनका अध्ययन एवं गहरा अनुशीलन किया। धौलपुर, लश्कर, ग्वालियर, करौली, जयपुर, पुष्कर, अजमेर आदि स्थानों का भ्रमण कर हरिद्वार के कुम्भ पर हिन्दू जाति में फैले हुए महान् पाखण्ड के विरुद्ध पाखण्ड-खण्डिनी पताका की प्रतिष्ठा कर उन्होंने अपने जीवन के महान् कार्य को आरम्भ किया (सन् १८६७)।

स्वामी दयानन्द का अगला जीवन हमें सहसा शंकराचार्य की स्मृति करा देता है। हरिद्वार से गंगा के पवित्र प्रवाह की तरह उनके सुधार एवं प्रचार का पुनीत प्रवाह बह चला और मार्ग की बाधाओं को अपने साथ बहाता ले गया। शंकर के सामने जिस प्रकार बौद्ध पण्डित परास्त होते गये थे, ऋषि दयानन्द के सामने सनातनी पण्डित परास्त होते गये। स्वामी दयानन्द का प्रधान मन्तव्य यह था कि मूर्ति पूजा वेद-विहित नहीं है। काशी के ३०० पण्डित स्वामी जी को वेदों में से मूर्तिपूजा को पुष्ट करने वाला एक भी प्रमाण ढूंढ़ कर नहीं दे सके थे (१६ नवम्बर, १८६९ ई०)। स्वामी जी की इससे बढ़कर और क्या विजय हो सकती थी?

१८६७ में हरिद्वार के कुम्भ के बाद स्वामी दयानन्द ने अपना कार्यक्षेत्र उत्तर-प्रदेश में गंगा तटवर्ती प्रदेश को दो कारणों से बनाया। इस प्रदेश में ब्राह्मणों की संख्या बहुत अधिक थी। स्वामी जी को कहा गया था कि सोरों जाइये, वहाँ दस हजार ब्राह्मण रहते हैं।[1] एटा जिले के सोरों तथा कासगंज में और फर्रुखाबाद जिले में गंगा के किनारे ये प्रचुर संख्या में थे। ब्राह्मण उस समय समाज के नेता थे, उनका सुधार करने के बाद हिन्दू समाज की कुरीतियों का संशोधन स्वामी जी को सुगम कार्य प्रतीत होता था। दूसरा कारण इस क्षेत्र में तीर्थस्थानों का बड़ी संख्या में होना था, उनमें धार्मिक पर्वों पर लगने वाले मेलों में हजारों व्यक्ति एकत्र होते थे। हरिद्वार का कुम्भ १२ वर्ष में होता था, किन्तु कार्तिक पूर्णिमा स्नानादि के मेले प्रतिवर्ष होते थे। इनके माध्यम से स्वामी जी अपना संदेश गाँव-गाँव तक पहुँचा सकते थे। अतः १८७२ में कलकत्ता जाने से पहले तक स्वामी जी अपना प्रचार कार्य प्रधान रूप से गंगा यमुना के दोआब (अन्तर्वेद) के क्षेत्रों में संस्कृत भाषा के माध्यम से करते रहे।

१६ दिसम्बर, १८७२ को स्वामी जी कलकत्ता पहुँचे। अगले चार महीने तक वे इस महानगरी में रहे। इस निवास का उनकी वेशभूषा और प्रचार पद्धति पर पर्याप्त

---

१. लेखराम-महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र पृ० ११०।

प्रभाव पड़ा।[1] अब तक उनके पर्यटन का प्रधान क्षेत्र गंगा तट और उसके आस-पास का क्षेत्र था। वहाँ कौपीनधारी सर्वस्व त्यागी अवधूत परिव्राजक के रूप में वे संस्कृत भाषा के माध्यम से पंडितों और हिन्दू जाति के अभिजात (क्षत्रिय, जमींदार आदि) वर्ग के लोगों को उपदेश दिया करते थे। ये प्रायः अंग्रेजी से अनभिज्ञ और पश्चिम के प्रभाव से मुक्त, पुराणपंथी कट्टर विचारों के होते थे। कलकत्ता में पहली बार स्वामी जी को अंग्रेजी शिक्षा सम्पन्न पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित, शहरी क्षेत्रों के प्रबुद्ध, बुद्धिजीवी मध्यम वर्गीय व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उन्हें कलकत्ता बुलाने का निमन्त्रण आदि-ब्राह्मसमाज के नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने दिया था और वे कलकत्ता में इन्हीं के घर पर रहे। ब्राह्म समाज के वार्षिक उत्सव के वे प्रमुख अतिथि बने। बंगाल में पश्चिमी शिक्षा तथा ईसाईयत के प्रभाव को रोकने के लिए चलाये जाने वाले आन्दोलन के प्रधान नेता राजनारायण बोस से वे मिले, और उन्होंने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता पर लिखा अपना व्याख्यान स्वामी जी को सुनाया। ब्राह्मसमाज में विद्रोह का झंडा खड़ा करने वाले, उसे ईसाईयत की ओर ले जाने वाले, वाग्मी वक्ता केशवचन्द्र सेन तथा प्रसिद्ध समाज-सुधारक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के प्रमुख समर्थक राजेन्द्रलाल मित्र और भूदेव मुखोपाध्याय से तथा धर्मनीति नामक पुस्तक के लेखक अक्षय-कुमार दत्त से स्वामीजी की भेंट और विचार-विनमय हुआ। स्वामी जीके कलकत्ता आने से छह वर्ष पूर्व ब्राह्मसमाज दो प्रमुख भागों में बँट चुका था। आदि ब्राह्मसमाज के नेता देवेन्द्र नाथ ठाकुर तथा राजनारायण बोस थे, और साधारण ब्राह्मसमाज का नेतृत्व केशवचन्द्र सेन कर रहे थे। उन्होंने स्वामी जी को अपनी विभिन्न संस्थायें दिखायीं, इनमें सस्ते साहित्य का प्रकाशन, नारियों की दशा सुधारने, मद्य निषेध और शिक्षा प्रसार के कार्य किये जाते थे। श्री सेन ने अपने साहित्य को छापने के लिए स्थापित मुद्रणालय भी स्वामी जी को दिखाया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामी जी जैसे चिन्तनशील व्यक्ति ने वर्तमान युग में अपने विचारों के प्रचार के लिए भाषण और लेखन की पद्धति, प्रेस की स्थापना और संगठन बनाने का महत्त्व कलकत्ता में अच्छी तरह अनुभव किया। केशवचन्द्र सेन ने जब इस बात पर खेद प्रकट किया कि दयानन्द अंग्रेजी नहीं जानते, और यदि वे (स्वामी जी) इस भाषा में पटु होते तो वे (केशवचन्द्र सेन) ब्रिटेन की अपनी अगली यात्रा में उन्हें अपने साथ ले जाते, तो स्वामी दयानन्द ने तुरन्त इसका व्यंग्यपूर्ण उत्तर देते हुए कहा कि यह उससे भी बड़े दुःख की बात है कि ब्राह्मसमाज के नेता संस्कृत नहीं जानते और ऐसी भाषा बोलते हैं जिसे अधिकांश भारतीय नहीं समझ सकते। स्वामी दयानन्द ने केशवचन्द्र सेन के दो सुझावों—वस्त्र धारण करने और हिन्दी भाषा के प्रयोग को तुरन्त स्वीकार कर लिया। किन्तु उन्हें श्री केशवचन्द्र सेन द्वारा पश्चिम का अंधानुकरण, ईसाईयत की ओर झुकाव और वेदों को तिलांजलि देने वाले सिद्धान्त सर्वथा अमान्य थे। कलकत्ता में ब्राह्मसमाजियों के पारस्परिक मतभेदों और विवादों को देखकर उन्हें पूरा निश्चय हो गया था कि हिन्दू समाज के संगठन को वेदों के ही सुदृढ़ आधार पर ही सुप्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। कलकत्ता में कोई भी विचारक वेदों को ईश्वरप्रणीत मानने को तैयार

१. जौर्डन्स—स्वामी दयानन्द सरस्वती पृ० ७५-९८।

नहीं था। इसके सर्वथा विपरीत स्वामी जी यह समझते थे कि उनके पारस्परिक मतभेदों का मूल कारण वेदों में विश्वास न रखना ही है।

कलकत्ता में स्वामी जी ने संगठन बनाकर कार्य करने का महत्त्व अनुभव किया। सार्वजनिक व्याख्यानों, साहित्य एवं प्रेस द्वारा अपने विचारों के प्रचार करने का पाठ पढ़ा। यहाँ स्त्रियों तथा विधवाओं की शोचनीय दशा की ओर तथा बाल-विवाह, शिक्षा आदि सामाजिक समस्याओं की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता पर विस्तृत निबन्ध लिखने वाले राजनारायण घोष के सम्पर्क से इस्लाम और ईसाईयत के तुलनात्मक सन्दर्भ में वैदिक धर्म को उत्कृष्ट मानने की उनकी पुरानी धारणा पुष्ट हुई। उनका यह विश्वास सुदृढ़ हुआ कि हिन्दू जाति की दुर्दशा और मतभेदों का कारण वेद को न मानना है। वेद के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें सुदृढ़ बनाया जा सकता है। कलकत्ता में ही उन्होंने वेद भाष्य करने का निश्चय किया।[1] यहाँ उन्हें पहली बार यह अनुभव हुआ कि शिक्षित और पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित शहरों में रहने वाले मध्यम वर्ग के लोग उनके उपदेशों को सुनने के उपयुक्त पात्र हैं, इन पर उनका अधिक प्रभाव पड़ सकता है, इनमें उनका प्रचार कार्य अधिक सफल होने की सम्भावना है। अब तक उनके श्रोता प्रधानतया ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले तत्कालीन अभिजात वर्ग के ब्राह्मण, जमींदार और क्षत्रिय थे। उनके दकियानूसी तथा कट्टर पुराणपंथी होने के कारण उन पर स्वामीजी का बहुत कम प्रभाव पड़ता था। अतः कलकत्ता यात्रा के बाद उन्होंने फर्रुखाबाद जैसे छोटे नगरों को छोड़कर बड़े शहरों में यात्रा और प्रचार की नीति अपनायी। अगले अठारह महीनों में कासगंज और छलेसर सदृश कुछ अपवादों को छोड़कर स्वामी जी प्रचार के लिए बड़े शहरों में ही घूमे।[2] पहले वे नगरों से दूर रहते थे, अब उन्हीं को उन्होंने अपने प्रचार का कार्यक्षेत्र बनाया।

कलकत्ता के बाद स्वामीजी भागलपुर, पटना, छपरा, आरा, डुमरांव, मिर्जापुर, इलाहाबाद, कानपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, कासगंज, छलेसर, अलीगढ़, हाथरस होते हुए अपने प्रज्ञाचक्षु गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्दजी के चरणों में मथुरा पहुँचे। अब उनकी जीवन पद्धति बदल चुकी थी। १८६७ में हरिद्वार के कुम्भ के बाद उन्होंने अपने वस्त्र, पुस्तकों आदि भौतिक सम्पत्ति का दान कर अवधूत के रूप में विचरण करना शुरू किया था। किन्तु छह वर्ष बाद वे वस्त्रधारी परिव्राजक के रूप में पुस्तकों, कपड़ों और एक नौकर के साथ यात्रा करने लगे। कुछ लोगों ने उनके पुराने सर्वस्वत्यागी अवधूत रूप के छोड़ने पर आपत्ति की, तो उन्होंने कहा कि पुस्तकें उनके अध्ययन:, लेखन और उपदेशों के लिए आवश्यक हैं और उन्हें रखना धर्म के विरुद्ध नहीं हैं। इसी समय स्वामीजी ने राजा जय-किशन दास की प्रेरणा से १२ जून, १८७४ से सत्यार्थप्रकाश के रूप में अपने सिद्धान्तों और विचारों को इलाहाबाद में लिखवाना शुरू किया और अगले ही वर्ष १८७५में इसका पहला संस्करण प्रकाशित हुआ।

२० अक्टूबर, १८७४ को स्वामीजी बम्बई पहुँचे तथा अगले अठारह महीनों में वे पश्चिमी भारत के विभिन्न नगरों—बम्बई, बड़ौदा, राजकोट, अहमदाबाद, पूना में

---

१. लेखराम—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ८५।
२. जोर्डन्स—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ९३।

प्रचार कार्य करते रहे। अपने कार्य को स्थायी रूप देने तथा संगठन बनाने के लिए उन्होंने पहले राजकोट में और फिर बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। यहाँ वे महादेव गोविन्द रानाडे आदि प्रार्थनासमाज के नेताओं के सम्पर्क में आये। १८७६ में उन्होंने उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद, बनारस, जौनपुर, अयोध्या आदि शहरों में वैदिक धर्म का सन्देश सुनाया। १८७७ ई० के आरम्भ में महारानी विक्टोरिया द्वारा भारत की साम्राज्ञी का पद ग्रहण करने के उपलक्ष्य में लार्ड लिटन द्वारा दिल्ली में एक दरबार आयोजित हुआ था। इसका लाभ उठाने के लिए स्वामी जी जनवरी, १८७७ में दिल्ली आये। स्वामीजी ने सर सय्यद अहमद, केशवचन्द्र सेन, लाहौर ब्राह्मसमाज के बाबू नवीनचन्द्र राय, पंजाब के मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, मुरादाबाद के मुंशी इन्द्रमणि और बम्बई के बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को एक परिषद् में बुलाकर धार्मिक मतभेदों को दूर करना चाहा, किन्तु यह प्रयास सफल नहीं हो सका।

मार्च, १८७७ में स्वामीजी पंजाब के प्रमुख नागरिकों के निमंत्रण पर लाहौर आये। उन्होंने पंजाब के प्रमुख नगरों—लाहौर, अमृतसर, रावलपिण्डी, जालन्धर, मुलतान, गुजरांवाला, गुजरात, लुधियाना, जेहलम, गुरुदासपुर और फिरोजपुर में उपदेश दिये। २४ जून, १८७७ को लाहौर में आर्यसमाज स्थापित की। इसके सदस्यों की आरम्भिक संख्या १०० के लगभग थी, एक महीने बाद यह तिगुनी हो गई और पंजाब के अन्य नगरों में भी समाजें तेजी से स्थापित की जाने लगीं।

अन्य प्रान्तों की अपेक्षा स्वामीजी को अपने प्रचार कार्य में पंजाब में कई कारणों से अधिक सफलता मिली। उस समय पंजाब में हिन्दुओं पर ईसाईयत का प्रबल संकट मँडरा रहा था। ब्राह्मसमाज इसके प्रतिकार के लिए कोई व्यवस्था नहीं कर सका था। पंजाब में अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने वाले हिन्दू आर्थिक दृष्टि से सरकारी नौकरियों में बंगालियों को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते थे और उनके द्वारा संचालित ब्राह्मसमाज को नापसन्द करते थे। अतः उन्होंने आर्यसमाज का स्वागत किया। इसके अतिरिक्त पंजाब में उत्तर प्रदेश की भाँति ब्राह्मणों की समाज में प्रभुता सर्वमान्य नहीं थी और वहाँ निरन्तर विदेशी आक्रमण होने के कारण रूढ़िवादिता, धार्मिक कट्टरता और दकियानूसीपन उत्तर-प्रदेश की अपेक्षा कम था। कट्टरता भी प्रबल नहीं थी। अतः स्वामीजी को यहाँ बड़ी लोकप्रियता मिली। उन्होंने पंजाब के हिन्दुओं को न केवल ईसाइयों और मुसलमानों से अपनी रक्षा करना सिखाया, अपितु उन्होंने यह भी बताया कि वैदिक धर्म अन्य सभी धर्मों से श्रेष्ठ है। स्वामीजी को पंजाब में कितने अधिक प्रबुद्ध, जागरूक और शिक्षित अनुयायी मिले, यह इस बात से स्पष्ट होता है कि लाहौर में आर्यसमाज के लिए २२ व्यक्तियों की जो पहली समिति बनाई गई थी, उसमें आधे व्यक्तियों के पास विश्वविद्यालय की उपाधियाँ थीं।[1] स्वामीजी को पंजाब में जितने अधिक अंग्रेजी पढ़े-लिखे, सुशिक्षित, उदार विचार रखने वाले अनुयायी मिले, उतने अन्य किसी प्रान्त में नहीं मिले थे। यहाँ उन्हें शिक्षितों में सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट व्यक्तियों का सहयोग मिला। अतः पंजाब की भूमि आर्यसमाज के लिए बड़ी उर्वर सिद्ध हुई।

१८७९ के कुम्भ तक वे उत्तर प्रदेश, बिहार और पंजाब का पर्यटन करते रहे।

---

१. जोर्डन्स—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १७३।

इस कुम्भ के बाद उदयपुर के महाराजा के निमंत्रण पर वे उदयपुर आये। अपने जीवन के अन्तिम चार वर्ष वे राजस्थान के राज्यों में ही रहे। सत्यार्थ प्रकाश के बाद, उन्होंने संस्कार विधि, यजुर्वेद भाष्य (सम्पूर्ण), ऋग्वेद भाष्य (अपूर्ण), ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदांग प्रकाश (१४ भाग) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। ३० अक्टूबर, १८८३ ई० को दीपमालिका के दिन अजमेर में उन्होंने 'प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो' के वाक्य के साथ अपनी जीवन लीला पूर्ण की।

आर्यसमाज के आन्दोलन का मूल्यांकन—महर्षि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज का आन्दोलन १९ वीं शती का सबसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन था। काल की दृष्टि से आर्यसमाज का आन्दोलन परवर्ती है, किन्तु प्रभाव की दृष्टि से वह सब आन्दोलनों में अग्रवर्ती है। ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज के आन्दोलनों में पूरी आधी सदी का अन्तर है। १९३३ ई० में ब्राह्मसमाज ने राजा राममोहन राय की निर्वाण शताब्दी मनायी और आर्यसमाज ने महर्षि दयानन्द की निर्वाण अर्ध शताब्दी। आर्य-समाज के महत्त्व को निष्पक्ष विदेशी विद्वानों ने भी अनुभव किया है। १९०१ में भारतीय जनगणना के अध्यक्ष श्री रिसले ने आर्यसमाज को १९ वीं शती का मुख्यतम सुधार आन्दोलन कहा है। श्री ब्लण्ट ने १९११ की संयुक्त प्रान्त जनगणना सम्बन्धी रिपोर्ट में आर्यसमाज का वर्णन करते हुए उसे पिछली शताब्दी का सबसे बड़ा सुधार आन्दोलन कहा है। यहाँ हम धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से आर्य समाज के आन्दोलन की अन्य आन्दोलनों से तुलना करेंगे।

धार्मिक दृष्टि से महत्त्व—(क) वेदों को आधारशिला बनाना— धार्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्दजी के सुधार की यह विशेषता थी कि वह कट्टर तथा उदार सुधार था। कट्टर उदार शब्द वदतो व्याघात है, किन्तु आर्यसमाज के सुधार को इन्हीं विरोधी शब्दों से प्रकट किया जा सकता है। स्वामीजी पाश्चात्य प्रवाह में बह जाने वाले ब्राह्म सुधारकों की तरह नहीं थे, जिन्होंने आर्य जाति के सर्वमान्य एवं पूज्य ग्रन्थ वेद तक को तिलांजलि दे दी थी, और न ही वे हिन्दू धर्म के इतने भक्त थे कि वे इस धर्म में सुधार की कोई आवश्यकता ही अनुभव न करें और थियोसोफिस्टों की भाँति हिन्दू धर्म की प्रत्येक रूढ़ि को तर्क एवं विज्ञान द्वारा श्रेष्ठ व महत्त्वपूर्ण सिद्ध करें। सत्य को ग्रहण करने एवं असत्य को छोड़ने में सदा उद्यत रहने के कारण उन्होंने कट्टरता एवं सुधार में सामंजस्य स्थापित किया। स्वामीजी ने अपने सुधार के विशाल प्रासाद को वेद की सुदृढ़ चट्टानी नींव पर खड़ा किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू धर्म की अवनति वेदविरुद्ध बातों के अंगी-कार से हुई है। हिन्दू जाति एवं मानवता का कल्याण इसी में है कि वह अवैदिक शिक्षाओं का परित्याग कर वैदिक सिद्धान्तों को ग्रहण करें। अतएव उन्होंने वेद की ओर लौटने का जयकार उद्घोषित किया।

सब धर्मों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रारम्भ में उनका स्वरूप शुद्ध होता है, किन्तु बाद में उस धर्म में अनेक विकार आ जाते हैं। स्वामीजी ने इन्हीं विकारों का संशोधन किया। इन में मूर्तिपूजा सबसे बड़ा विकार था। मूर्तिपूजा के वेदानुमोदित न होने के कारण स्वामी जी ने उसका विरोध किया। स्वामीजी में १९वीं शती के अन्य धर्मसुधारकों की अपेक्षा यह विशेषता थी कि वे वेदों के अद्वितीय पण्डित थे। राजा राममोहन राय, श्री देवेन्द्र बाबू, केशवचन्द्र सेन, श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी

विवेकानन्द वेदों के ज्ञाता नहीं थे। श्री राममोहन राय उपनिषदों तक ही जाकर ठहर गये। श्री अरविन्द ने इस विषय में लिखा है कि, "आवश्यक बात यह है कि उन्होंने (स्वामी दयानन्द ने) वेद को युगों से चले आने वाले भारत की चट्टान समझा तथा उनमें यह साहसपूर्ण कल्पना थी कि वे उसी वेद पर अपने सुधार का निर्माण करें जिस वेद में उनकी तीक्ष्ण दृष्टि ने एक समूची राष्ट्रीयता के दर्शन किये थे। एक दूसरी महान आत्मा तथा शक्तिशाली कार्यकर्त्ता राममोहन राय ने बंगाल पर अपना हाथ रखा और नदियों तथा धान के खेतों के पास आलस्यपूर्ण तन्द्रा में मग्न बंगाल को उद्बुद्ध किया, किन्तु राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गये। दयानन्द ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जान लिया कि हमारा वास्तविक मूल बीज वेद है।"

महर्षि दयानन्द ने इस मूल तत्त्व वेद का गहरा अध्ययन कर अपनी कार्यप्रणाली निश्चित कर ली। श्री जायसवाल जी के मतानुसार स्वामी दयानन्द वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि प्राचीन ऋषियों के वर्तमान प्रतिनिधि थे। उनमें बुद्ध की उदारता एवं व्यापकता थी, किन्तु बुद्ध की भाँति वेदों तथा ईश्वर की उपेक्षा नहीं थी। शंकर की भाँति पाण्डित्य, वाग्मिता व प्राचीन मर्यादाओं के अक्षुण्ण बनाये रखने तथा वेद की प्रतिष्ठा की भावना थी, किन्तु शूद्रों तथा स्त्रियों के साथ अन्यान्यपूर्ण वर्ताव को जारी रखने के विरुद्ध प्रबल विद्रोह था। स्वामी दयानन्द ने मूर्ति-पूजा को अवैदिक एवं सबसे बड़ा विकार समझकर बनारस की सम्पूर्ण पण्डित मण्डली को चुनौती दी थी कि वह मूर्तिपूजा को वेदविहित सिद्ध करें। १६ नवम्बर, १८६६ के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ में काशी के ३०० पण्डित मूर्तिपूजा के समर्थन में एक भी प्रमाण प्रस्तुत न कर सके। इसके बाद स्वामी जी सात बार काशी गए। हर बार उन्होंने उपर्युक्त चुनौती को दोहराया, किन्तु कोई भी पण्डित मूर्तिपूजा को वेदानुमोदित सिद्ध करने के लिए आगे नहीं बढ़ा।

वर्षों तक मठों, मन्दिरों और तीर्थों की दुरवस्था देखकर तथा स्वामी विरजानन्द जी से आर्य दृष्टि प्राप्त कर स्वामी जी को यह अनुभव हो चुका था कि हिन्दू धर्म की प्रचलित बुराइयों का मूल कारण अवैदिक ग्रन्थों एवं रूढ़ियों का अनुसरण है। उन्होंने धर्म के नाम पर संग्रहीत कूड़ा-करकट हटाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू धर्म के स्वस्थ विकास में बाधक अन्धविश्वासों एवं कुप्रथाओं के झाड़-झंखाड़ को उखाड़ फेंकना चाहिए।

ब्राह्मसमाज से तुलना—यह समाज भी हिन्दू धर्म के सुधार के पुनीत उद्देश्य से स्थापित हुआ था। किन्तु श्री राममोहन राय की मृत्यु के बाद दुर्भाग्यवश उसका नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में चला गया जो सुधार की आवश्यकता को अनुभव करते हुए भी, अपने धर्म की पूरी जानकारी नहीं रखते थे। श्री देवेन्द्र बाबू ने चार व्यक्तियों को वेदाध्ययन के लिए बनारस भेजा और उनकी सम्मति के आधार पर वेदों को निर्भ्रान्त एवं परम प्रमाण मानना छोड़ दिया। यह बात संभवतः उनकी दृष्टि से ओझल हो गई कि वेद ही एक ऐसा दृढ़ एवं सर्ववादी सम्मत आधार है जिस पर हिन्दू समाज के किसी चिरस्थायी सुधार संगठन का निर्माण किया जा सकता है।

ब्राह्मसमाजी सब धर्मों के उदात्त तत्त्वों को संग्रह कर उनके आधार पर अपने सुधार की नींव रखना चाहते थे और ऋषि दयानन्द वेद के ठोस आधार पर। सब धर्मों का समन्वय देखने में भले ही कितना आकर्षक प्रतीक हो, किन्तु उसके साथ किसी की

गहरी आत्मानुभूति या ममत्व बुद्धि न होने से वह कभी लोकप्रिय धर्म नहीं हो सकता। अकबर ने ऐसा धर्म चलाने का प्रयत्न किया, वह उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया। कोम्टे का प्रयत्न भी कुछ बुद्धिवादियों को ही सन्तुष्ट कर सका है। एक ईरानी कवि ने कहा है कि जो किसी धर्म में विश्वास नहीं रखता, वह धूर्त्त है और जो सबमें विश्वास रखता है वह मूर्ख है। ब्राह्मसमाज ने सब धर्मों के सुन्दर तत्त्व इकट्ठे करते हुए तथा अपने दृष्टिकोण को विस्तृत करते हुए हिन्दूधर्म का सुधार किया। किन्तु उसने हिन्दूधर्म के विकास को रोकने वाले झाड़-झंखाड़ की सफाई करने के साथ-साथ असली धर्म को भी झाड़-झंखाड़ समझकर छाँट डाला। पहले वेद को अर्धचन्द्र दिया गया, फिर यज्ञोप-वीत के पवित्र सूत्र को तिलांजलि दे दी गई और १८७२ में उन्हें हिन्दू शब्द भी अखरने लगा। श्री केशवचन्द्र सेन के परामर्श से १८७२ के स्पेशल मैरिज एक्ट के लिए सरकार के पास जो प्रार्थना-पत्र भेजा गया था उसमें स्पष्ट लिखा था कि "हिन्दू शब्द ब्राह्मसमाज वालों पर लागू नहीं होता, क्योंकि वे वेद को प्रामाणिक नहीं मानते। वे ब्राह्मणधर्म के सभी रूपों के विरुद्ध हैं और चूँकि उन्होंने अपने सिद्धान्तों को सब धर्मों से चुनकर बनाया है इसलिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और अन्य धर्म वाले सभी ब्राह्मसमाज में प्रवेश कर सकते हैं।" इसका स्पष्ट आशय था कि ब्राह्मसमाजी हिन्दू नहीं रहे। जो सम्प्रदाय हिन्दुओं में सुधार के उद्देश्य से शुरू हुआ था, उसे अब अपने को हिन्दू कहना भी बुरा लगने लगा।

प्रारम्भ में आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाज के मन्तव्यों में, आर्यसमाज के वेदसम्बन्धी तीसरे नियम को छोड़कर कोई अन्तर नहीं था। ईश्वर के स्वरूप एवं विशेषणों, हिन्दू धर्म की बुराइयों तथा उनके सुधार में तीनों एक मत थे। उनमें भेदक अंश केवल वेद में विश्वास करने के सम्बन्ध में ही था। स्वामी जी से यह प्रार्थना की गई थी कि वे तीसरे नियम को हटा दें, ताकि ब्राह्म और आर्य समाज एक हो सकें। यह आर्य-समाज का सौभाग्य था कि स्वामीजी ने यह प्रार्थना नहीं स्वीकार की। अन्यथा आर्यसमाज ने जितना कार्य किया है, वह कभी न कर सकता।

ब्राह्मसमाज दूसरों की अच्छी-अच्छी बातें चुनकर उन्हें मानता था। ऐसा धर्म कुछ बुद्धिजीवियों को सन्तुष्ट कर सकता है। किन्तु जनता जब ऐसे मत का अपनी प्राचीन परम्पराओं, आचार एवं रूढ़ियों से कोई सम्बन्ध नहीं देखती तो उस मत का अनुसरण करना छोड़ देती है। जब हिन्दुओं ने ब्राह्मसमाज को ईसाई मत की ओर झुकते हुए देखा तो उन्होंने उसको मानना छोड़ दिया। एक पादरी लेखक मारिसन ने तो यहाँ तक दावा किया है कि राजा राममोहन राय वास्तव में ईसाई थे। उन्होंने ब्रिस्टल में, स्पष्ट रूप से ईसा के चमत्कार माने और अपने उत्तराधिकारियों का दायां भाग सुरक्षित रखने के लिए ही अन्तिम समय तक यज्ञोपवीत धारण किए रखा।[1] यदि यह सत्य न हो, तो भी श्री केशवचन्द्र सेन के समय में तो ब्राह्मसमाज ईसाईयत का ही रूपान्तर हो गया था। यही कारण है कि ब्राह्मसमाज का प्रभाव तेजी से घटने लगा, वह कोई उत्तम संगठन नहीं बना पाया, इस बात को ब्राह्म लोगों की संख्या से प्रमाणित किया जा सकता है। १८३० से १९०१ तक के ७० वर्षों में ब्राह्मों की संख्या ४०५० थी और सन् १८७५ से १९०१ तक के २५ वर्षों में आर्यसमाजियों की संख्या ९२,४१९ थी। १९३१ में दोनों की

---

१. मारिसन—न्यू आइडियाज इन इण्डिया पृ० १२१।

संख्या निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।[1]

नाम वर्ग	पुरुष	स्त्री	सर्वयोग
ब्राह्मसमाजी	३,१६६	२,२१२	५,३७८
आसमार्यजी	५,४७,९६४	४,४२,२६९	९,९०,२३३

ये आँकड़े इतने स्पष्ट हैं कि इन पर किसी प्रकार की टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

(ख) ईसाइयों के प्रचार का निराकरण—स्वामी दयानन्द का एक बड़ा कार्य हिन्दू धर्म की ईसाईयत के हमले से न केवल रक्षा करना, अपितु उसके सिद्धान्तों की भी आलोचना करना था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा की दृष्टि से १८१३ ईस्वी तक ईसाई पादरियों को अपने क्षेत्र में ईसाईयत का प्रचार करने की अनुमति नहीं दी थी, क्योंकि उसे यह आशंका थी कि यदि पादरियों को अपने धर्म प्रचार की खुली छूट दी जाएगी तो ये हिन्दू और मुस्लिम धर्मों पर प्रबल आक्षेप करेंगे, जिनसे इस देश की हिन्दू और मुस्लिम जनता भड़क उठेगी और उन्हें अपने व्यापार में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ेगी। इस दृष्टि से उन्होंने अपने अधिकार क्षेत्र में पादरियों के प्रचार-कार्य पर प्रतिबन्ध लगा रखा था। इसी कारण १८१३ तक ईसाई प्रचारक कलकत्ता के निकट डेन्मार्क की एक बस्ती सिरामपुर में रहा करते थे और इसे केन्द्र बनाकर अपना प्रचार कार्य करते थे।

किन्तु १९वीं शताब्दी के आरम्भ में इंगलैंड में शनैः-शनैः ऐसे विचारकों की संख्या प्रबल हो रही थी जो भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करके यहाँ के लोगों को सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाना चाहते थे, और ईसाई धर्म में दीक्षित कर उन्हें नास्तिकता से बचाना चाहते थे। इन लोगों के प्रबल आन्दोलन के फलस्वरूप १८१३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को नया चार्टर देते समय उसके क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों को धर्म प्रचार की अनुमति दी गई, और उन्होंने कलकत्ता में भारतीय भाषाओं में बाइबल के अनुवाद और प्रचार का कार्य तेजी से आरम्भ कर दिया। शीघ्र ही ये प्रचारक हिन्दू धर्म पर इतने तीव्र, भद्दे और भीषण प्रहार करने लगे कि राममोहन राय को इनके विरुद्ध लेखनी उठानी पड़ी और यह कहना पड़ा कि भारत में ऐसा प्रचार ये ब्रिटिश साम्राज्य के संरक्षण के कारण ही कर सक रहे हैं। यदि उनमें साहस हो तो वे खलीफा के तुर्क साम्राज्य में इस्लाम की ऐसी आलोचना करके दिखायें।

स्वामी जी के कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने से पहले लगभग छह दशाब्दियों से ईसाई प्रचारक भारतीय जनता में अपने धर्म के प्रचार का कार्य कर रहे थे। स्वामी जी अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ थे। ईसाईयत के सिद्धान्तों का परिचय उन्हें बाइबल के संस्कृत तथा हिन्दी अनुवादों से तथा ईसाई मिशनरियों के साथ वाद-विवाद, शास्त्रार्थ और वार्त्तालाप से प्राप्त हुआ। स्वामी जी के पहले ईसाई शास्त्रार्थ की व्यवस्था दो अंग्रेज पादरियों तथा भारतीय ईसाईयों के साथ फर्रुखाबाद में की गई थी।[2] किन्तु यह शास्त्रार्थ इसलिए नहीं

---

१. हट्टन—सेन्सस आफ इण्डिया १९३१, खण्ड १, भाग २, पृ० ५१५।
२. लेखराम—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र-सं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार पृ० १२४।

हो सका क्योंकि स्वामी जी उस समय केवल संस्कृत जानते थे और ईसाई पादरी इस भाषा से अनभिज्ञ थे। इस समय स्वामी जी ने ईसाईयों के इस सिद्धान्त को चुनौती दी थी कि व्यक्ति द्वारा किए गये पाप ईश्वर द्वारा माफ किये जा सकते हैं। उनका कहना था कि कर्मफल के अनुसार व्यक्ति को अपने पापों का दण्ड मिलना चाहिए। इसके बाद बदायूँ जिले में गंगा तट पर स्थित ककोड़ा के कार्तिक पूर्णिमा स्नान के मेले पर उनकी रेवरेण्ड पी० जे० स्काट से कई बार भेंट हुई। उन्होंने स्वामी जी को ईसाईयत के विभिन्न सिद्धान्तों से अवगत कराया, और न्यू टैस्टामेंट के हिन्दी अनुवाद की एक प्रति भेंट की। इसी समय एक अन्य मिशनरी डा० हार्नली से भी उनका परिचय हुआ। इन मिशनरियों के सम्पर्क से वे ईसाईयत के मौलिक मन्तव्यों से भली-भाँति परिचित हुए।

किन्तु उन्हें हिन्दू धर्म के लिए ईसाईयत के संकट की स्पष्ट अनुभूति १८७६ में पंजाब जाने पर हुई। यह प्रान्त ब्रिटिश साम्राज्य का अंग १८५० के बाद बना था, किन्तु उससे कुछ समय पहले से ही यहाँ ईसाई मिशनरियों ने अपना प्रचार आरम्भ कर दिया था। १८३४ में अमेरिका के प्रेसबिटीरियन मिशन ने अपने प्रचार कार्य का श्रीगणेश लुधियाना में किया।[1] एक वर्ष के भीतर उन्होंने एक हाईस्कूल और प्रेस की स्थापना की। १८५४ में यहाँ क्रिश्चियन मिशनरी सोसाइटी ने तथा १८५५ में चर्च आफ स्काटलैण्ड ने ईसाईयत के प्रचार को तेजी से करना शुरू किया। शीघ्र ही शिक्षा और प्रकाशन के क्षेत्र में इनका प्रभुत्व स्थापित हो गया। इन्होंने भारतीयों को ईसाई बनाने के लिए मिशन स्कूल तथा अनाथालय स्थापित किए। महिलाओं को ईसा का अनुयायी बनाने की दृष्टि से जनाना मिशनों का निर्माण किया, और अपने इन कार्यों को बढ़ाने के लिए बंगाल से बंगाली ईसाईयों को बुलाना शुरू किया।

इस समय पंजाब के ब्रिटिश शासकों में अधिकांश ईसाईयत के प्रचार में दृढ़ विश्वास रखने वाले थे, वे इंजील के सन्देश के प्रचार और प्रसार में अटूट आस्थावान (Evangelicals) थे और राज्य की ओर से ईसाई मिशनरियों को पूरी सहायता प्रदान कर रहे थे। अत: इस समय जब पंजाब में ईसाई शिक्षा-संस्थाओं का जाल बिछने लगा तो अनेक कारणों से पंजाब में ईसाईयत का प्रचार तेजी से होने लगा। इनके प्रचार का संगठन सुदृढ़ एवं साधन सम्पन्न था, मिशनरी स्कूलों के माध्यम से ये नई पीढ़ी के बच्चों पर प्रबल प्रभाव डाल रहे थे, ईसाई प्रेसों से बाइबल के प्रचार के लिए धड़ाधड़ पत्र-पत्रिकायें तथा आवश्यक साहित्य निकाल रहे थे, और ब्रिटिश शासक इन्हें प्रबल संरक्षण प्रदान कर रहे थे। अत: उस समय पंजाब के हिन्दुओं के लिए ईसाईयत के प्रचार के कारण नवीन संकट की आशंका उत्पन्न हो गई।

यह आशंका इस समय ईसाईयों द्वारा की जाने वाली कुछ गतिविधियों से और भी अधिक पुष्ट हुई। यद्यपि उच्च वर्ग के हिन्दुओं में ईसाई बनने वालों की संख्या नगण्य थी, फिर भी उस समय के मिशनरी इनके बारे में असाधारण प्रचार और प्रदर्शन किया करते थे। प्रिंस आफ वेल्स (युवराज) के रूप में जब एडवर्ड सन् १८७६ में अमृतसर आये तो वहाँ के रेवरेण्ड राबर्ट क्लार्क ने उनके सम्मुख हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मों का परित्याग करके ईसाई बने हुए व्यक्तियों को प्रस्तुत किया और कहा—"यहाँ कमरे के एक कोने में

---

१. जोर्डन्स—स्वामी दयानन्द सरस्वती पृ० १६२।

कपूरथला के शासक का भाई बैठा है, जिसे कुछ महीने पहले बप्तिस्मा दिया गया है। यहाँ विद्वान् मौलवी इमामुद्दीन उपस्थित हैं, जो इस समय बाइबल पर एक टीका लिख रहे हैं। एक स्थानीय समाचार-पत्र के सम्पादक रजब अली और पेशावर के स्थानीय पेस्टर इमामशाह बैठे हैं। इनके सामने दूसरी ओर पाँच राजपूत बैठे हैं।"[1]

ईसाई मिशनरियों द्वारा एक ऐसे समारोह का आयोजन ईस्टर के पुनीत पर्व पर ठीक उस दिन सन् १८७७ में लाहौर में किया गया, जब स्वामी दयानन्द का पंजाब में शुभागमन हुआ। इस समारोह में लाहौर में भारतीयों की चर्च परिषद् (Native Church Council) का उद्घाटन किया गया, और उसमें हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख धर्मों से ईसाई बने आठ प्रमुख बुद्धिजीवियों ने उर्दू में ईसाईयत की प्रशंसा में अपने निबन्ध पढ़े। यह इस बात का प्रतीक था कि पंजाब के शिक्षित बुद्धिजीवी किस प्रकार ईसा के सन्देश से प्रभावित और आकर्षित हो रहे थे और तीनों भारतीय धर्मों के अस्तित्व के लिए कितना बड़ा संकट उत्पन्न हो चुका था।

ईसाईयत के खतरे का मुकाबला करने के लिए इस समय तीनों धर्मों में कुछ संगठन बने। सिक्खों में १८५१ में निरंकारी आन्दोलन शुरू हुआ, किन्तु यह धार्मिक सुधार के आन्तरिक मामलों तक ही सीमित रहा। नामधारी आन्दोलन इसकी अपेक्षा अधिक प्रबल और राजनीतिक उद्देश्य लिये हुए था। किन्तु मलेरकोटला में १८७२ के षड्यन्त्र के बाद इसे ब्रिटिश सरकार ने बुरी तरह दबा दिया। १८७३ में अमृतसर में स्थापित **सिंह-सभा** का आन्दोलन भी मामूली सुधार आन्दोलन था और वह ईसाईयत के खतरे का सामना नहीं कर सका।

स्वामी दयानन्द के पंजाब में आने से पहले पंजाब के हिन्दुओं ने ईसाई मिशनरियों के हमलों से रक्षा के लिए तीन प्रकार के संगठन बनाए थे। पहला संगठन १८६३ में लाहौर में स्थापित ब्राह्मसमाज था। शुरू में इसके सदस्य छह बंगाली और चार पंजाबी हिन्दू थे। १८७७ में स्वामी जी के आने तक रावलपिण्डी, अमृतसर और मुल्तान में इसकी शाखायें स्थापित हो चुकी थीं। इनके द्वारा स्कूल खोले गये थे, एक प्रेस की स्थापना की गई थी, हिन्दी, और उर्दू में मासिक पत्र निकाले गये थे।

दूसरा हिन्दू संगठन **सतसभा** थी। इसकी स्थापना १८६६ में लाला बिहारीलाल ने की थी। यह पहले ब्राह्मसमाजी थे। इन्होंने अपना संगठन आदि ब्राह्मसमाज के आदर्श पर बनाया था। इन दोनों संगठनों की बड़ी कमी यह थी कि इनमें बंगाली प्रभाव और नेतृत्व का बोलबाला था। उन दिनों सरकारी नौकरियों के क्षेत्र में बंगाली, पंजाबियों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे और अधिकांश पंजाबियों को बंगालियों का यह प्रभुत्व अपने हितों के प्रतिकूल प्रतीत होता था। इसीलिए उन्होंने बंगाली प्रभाव से सर्वथा स्वतन्त्र संगठनों की स्थापना का विचार किया था। इस प्रकार स्थापित होने वाला तीसरा संगठन हिन्दू-सभा थी। फिरोजपुर तथा गुजरात में हिन्दू सभायें स्थापित हुईं, किन्तु ये विशुद्ध रूप से स्थानीय संगठन थे।

ऐसे संकट के समय में पंजाब में स्वामी दयानन्द आये। उन्होंने लाहौर, अमृतसर,

---

1. एच. एम. क्लार्क—राबर्ट क्लार्क आफ दी पंजाब, लन्दन १९०७ पृ० ३०१-२, जोर्डन्स द्वारा उद्धृत पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १६२।

रावलपिण्डी, जालन्धर, मुलतान, गुजरांवाला, गुजरात, लुधियाना, जेहलम, गुरुदासपुर और फिरोजपुर में अपने व्याख्यान देते हुए न केवल मूर्तिपूजा और पौराणिक कुरीतियों का विरोध किया, अपितु ईसाईयत, इस्लाम और ब्राह्मसमाज आदि पर भी व्याख्यान दिये। लुधियाना में स्वामी जी का अमेरिकन प्रेसबिटीरियन मिशन के रेवरेण्ड ई० एम० ह्वेरी से सम्पर्क हुआ। एक अन्य ईसाई विद्वान् डा० हूपर से स्वामी जी ने संस्कृत में वेदों और जाति-प्रथा के बारे में चर्चा की। अमृतसर में स्वामी जी पंजाब में ईसाईयत के प्रमुख प्रचारक अमेरिकन प्रेसबिटीरियन मिशन के रेवरेण्ड सी० डब्ल्यू० फोरमैन तथा एक अन्य ईसाई प्रचारक फादर रॉबर्ट क्लार्क से मिले। इन सबसे मिलने के बाद स्वामी जी को ईसाईयत के खतरे की अनुभूति बड़े स्पष्ट रूप में हुई और उन्होंने ईसाई बने लोगों को हिन्दू धर्म में वापस लाने के लिए शुद्धि की नवीन क्रान्तिकारी व्यवस्था का विधान किया। इसका आगे विस्तृत उल्लेख किया जायेगा।

ईसाई धर्म की आलोचना के कारण स्वामी जी पंजाब के हिन्दुओं में बहुत लोकप्रिय हुए। यहाँ आर्यसमाज की स्थापना होने पर अन्य प्रान्तों की अपेक्षा इसका कार्य अधिक तेजी से चला। ईसाई प्रचारकों ने भी यह समझा कि स्वामी जी उनके धर्म प्रचार में बड़ी बाधा सिद्ध होंगे। कुछ ईसाईयों ने स्वामी जी के सिद्धान्तों को चुनौती दी और एक अज्ञातनाम विशप ने ईसाईयत की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए यह डींग हाँकी कि बाइबल की उत्कृष्टता एवं शक्ति इसी बात से स्पष्ट प्रमाणित होती है कि इसके साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता। स्वामी जी ने इसका व्यंग्यपूर्ण उत्तर देते हुए कहा कि यह शक्ति बाइबल के कारण नहीं है, अपितु ईसाईयों द्वारा वेदों में बताई गई उत्तम बातों का अनुसरण करने के कारण है।

ईसाईयों के खतरे को दूर करने के लिए शुद्धि के अतिरिक्त स्वामी जी का एक बड़ा कार्य सत्यार्थ प्रकाश के तेरहवें समुल्लास में ईसाईयत की बड़ी विस्तृत और प्रबल आलोचना थी। ईसाई १८१३ से हिन्दू धर्म पर जबर्दस्त आक्षेप कर रहे थे, पौराणिक कथाओं की खिल्ली उड़ा रहे थे, और इस धर्म को बदनाम करके ईसाईयत के प्रचार का पूरा प्रयास कर रहे थे। हिन्दुओं की ओर से ऐसे प्रचार का पहला उत्तर राजा राममोहन राय द्वारा दिया गया था। किन्तु वह इनके हमलों की प्रबल बाढ़ को रोकने में समर्थ नहीं हुआ। स्वामी जी ने चौदहवें समुल्लास में ईसाईयों की आलोचना करके हिन्दुओं को सर्वप्रथम उनके धर्म ग्रन्थों की कमियों से अवगत कराया और उनकी आलोचना करने को प्रबल युक्तियाँ और तर्क प्रस्तुत किये।

अब तक हिन्दू ईसाईयों द्वारा हिन्दू धर्म पर की जाने वाली आलोचनाओं का ही जवाब देने का प्रयास कर रहे थे। स्वामी जी ने अब उन्हें ईसाईयत के सिद्धान्तों पर आक्षेप एवं आलोचना करने की पद्धति सिखाई। अब तक हिन्दू धर्म की प्रवृत्ति रक्षात्मक थी, स्वामी जी ने उसे आक्रमणात्मक बनाया। अतः इस विषय में स्वामी जी का कार्य अन्य धार्मिक आन्दोलनों की तुलना में विशेष महत्त्व रखता है। इस कारण इसकी विस्तृत समीक्षा उचित प्रतीत होती है।

स्वामी जी ने तेरहवें समुल्लास की भूमिका में लिखा है कि ईसाईयत की आलोचना के लिए उन्होंने बाइबल के संस्कृत और हिन्दी अनुवादों का उपयोग किया है, किन्तु यह स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है कि ये अनुवाद किन व्यक्तियों द्वारा किये गए थे। उनके

समय तक बाइबल के कई अनुवाद छप चुके थे। सुप्रसिद्ध मिशनरी केरी द्वारा हिन्दी और संस्कृत में किए गये अनुवादों का प्रकाशन १८१९ ई० में हुआ था। डॉ० बैंगर ने केरी द्वारा किये गए पुराने अहदनामे (Old Testament) के संस्कृत अनुवाद का संशोधन करके इसे १८७६ में छापा था। उस समय तक बाइबल के दो अन्य हिन्दी अनुवाद भी छप चुके थे। पहला क्रिश्चियन मिशनरी सोसाइटी के बोले द्वारा किया गया था और दूसरा पार-सन्स, होलकाम्ब तथा ओवन द्वारा किया गया था। यह १८६८ में प्रकाशित हुआ था। स्वामी जी ने इन्हीं चार अनुवादों में से किसी एक या दो अनुवादों के आधार पर अपनी आलोचना की है।

स्वामी जी ने ईसाईयत की आलोचना प्रधान रूप से इस युक्तिक्रम के आधार पर की है कि ईसाईयत का प्रधान धर्मग्रन्थ बाइबल है। इसे ईश्वर का वचन समझा जाता है। किन्तु इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे दोष हैं कि इसे ईश्वरप्रणीत नहीं समझा जा सकता है, इसलिए ईसाईयत सच्चा धर्म नहीं है। बाइबल के ईश्वरप्रणीत न होने का कारण इसमें बुद्धि और युक्ति के विपरीत अनेक वचनों और घटनाओं का पाया जाना है। इसमें जिस ईश्वर का वर्णन किया गया है, वह ईर्ष्यालु, क्रूर, धोखेबाज और पक्षपात करने वाला है और आदर्श ईश्वरीय गुणों से रहित है। इसमें असम्भव घटनाओं, चमत्कारों, परस्पर-विरोधी कथनों, और अनैतिक बातों का वर्णन है, इसलिए इसे ईश्वरीय ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। स्वामी जी ने बाइबल के चमत्कारों और असम्भव बातों की तुलना पुराणों और तन्त्रों से की है। उनकी आलोचना की यह बड़ी विशेषता है कि उन्होंने सभी प्रकार के ढोंग, पाखण्ड, दम्भ और धार्मिक अनाचार की कठोर भर्त्सना की है, चाहे वह बाइबल में हों, कुरानशरीफ में हों या पुराणों में हों।

प्राय: यह कहा जाता है कि स्वामीजी ने ईसाईयों की बड़ी कटु आलोचना की है। इसके दो बड़े कारण थे। पहला तो यह था कि उस समय ईसाई मिशनरी हिन्दू धर्म पर बड़े प्रबल और कुत्सित आक्षेप कर रहे थे।[1] पुराणों की कथाओं को भद्दे ढंग से प्रस्तुत करके वे हिन्दू नवयुवकों में हिन्दू धर्म के प्रति अनास्था और घृणा पैदा कर रहे थे। ऐसे समय में स्वामीजी ने बाइबल की आलोचना से यह प्रमाणित किया कि पादरी पुराणों में जो दोष निकाल रहे हैं, वे उससे भी अधिक मात्रा में बाइबल में पाये जाते हैं। यदि महाभारत में कुन्ती के कुमारी अवस्था में उत्पन्न कानीन पुत्र कर्ण के होने का वर्णन है तो बाइबल में ईसाईयत के जन्मदाता और मसीहा माने जानेवाले ईसा के कुमारी मरियम से प्रादुर्भूत होने का उल्लेख है। कर्ण तो भगवान् नहीं थे, उनके कुमारी पुत्र होने में इतना दोष नहीं है जितना ईसामसीह के कुमारी पुत्र होने में है। इस प्रकार उन्होंने ईसाईयों को उसी शैली और भाषा में मुँह तोड़ उत्तर दिया जिसमें ईसाई हिन्दू धर्म पर आक्षेप कर रहे थे। इस दृष्टि से स्वामी जी की आलोचना को उग्र अथवा कठोर नहीं कहा जा सकता। हमें उनकी आलोचना तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखनी चाहिए। इस दृष्टि-कोण से ईसाई प्रचारकों के प्रत्युत्तर में की गई आलोचना सर्वथा उचित प्रतीत होती है।

दूसरा कारण स्वामी जी का ब्रिटिश शासन के प्रति उग्र राष्ट्रवादी दृष्टिकोण

---

१. इस प्रकार के साहित्य का एक सुन्दर उदाहरण जे० एम० मिचिल की पुस्तक 'लेटर्स टू इण्डियन यूथ' बम्बई १८५७ है।

था। जब स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश लिखा था उस समय अंग्रेजों में जातीय अहंकार और अहम्मन्यता की भावना पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। वे भारतीयों को जंगली, घृणित पशु समझते थे, और अपने भारतीय नौकरों को इतना पीटते थे कि कई बार इससे उनकी मृत्यु हो जाती थी। किन्तु अदालत में मामला चलने पर वे बरी कर दिये जाते थे। अंग्रेज भारत का आर्थिक शोषण कर रहे थे। जनता की दरिद्रता भी स्वामी जी को व्यथित कर रही थी। और इस कारण भी उन्होंने ईसाईयत की बड़ी कटु आलोचना की है, यह बात निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगी।

मत्तीरचित सुसमाचार के एक सन्दर्भ (अध्याय १६, आयत २८-२६) में ईसा ने अपने शिष्यों से कहा है कि "कयामत के दिन ईसा और उनके बारह शिष्य इजराइल के बारह कुलों का न्याय करेंगे और जो कोई मेरे लिये अपने घर, भाई-बहिन, माता-पिता, लड़कों या भूमि का त्याग करेगा, उसे सौगुना फल तथा स्वर्ग में अनन्त जीवन का लाभ मिलेगा।" स्वामी जी इस वचन की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि इसमें ईसाईयों के साथ अनुचित पक्षपात करने की बात कही गई है। ईसा का अनुयायी होने के कारण उनके सब पाप क्षमा कर दिये जायेंगे, ईसा का साथ देने वालों को अनन्त स्वर्ग मिलेगा। ईसाईयत के इस धार्मिक मन्तव्य की आलोचना को अपने समय की राजनीतिक परिस्थिति से पुष्ट करते हुए उन्होंने बड़े व्यंग्यपूर्ण शब्दों में लिखा है—"अनुमान होता है इसीलिए ईसाई लोग ईसाईयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी कर छोड़ देते हैं, ऐसा ही ईसा के स्वर्ग का भी न्याय होगा।"[1]

पुराने अहदनामे के एक स्थल (तौ० यात्रापर्व २४, आयत ५,६,८,१२) में भगवान् के लिए बैलों की बलि देने का वर्णन है। इसकी समीक्षा करते हुए स्वामी जी ने अंग्रेजों के गोमांस भक्षण पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि—"अब देखिए। ये सब जंगली लोगों की बातें हैं या नहीं और परमेश्वर बैलों का बलिदान लेता।...जब ईसाइयों का खुदा भी बैलों का बलिदान लेवे तो उसके भक्त गाय के बलिदान की प्रसादी से पेट क्यों न भरें।"[2]

पुराने अहदनामे के एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि पड़ोसी की सम्पत्ति का लालच मत करो (तौ० यात्रापर्व २०, आयत १६-१७)। ईसाईयों ने इसकी घोर अपेक्षा करते हुए भारत के धनधान्य को जिस बुरी तरह लूटा है, उस पर कटु व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है—"वाह तभी तो ईसाई लोग परदेसियों के माल पर ऐसा झुकते हैं कि जानो प्यासा जल पर, भूखा धन पर।"[3]

स्वामी जी की उपर्युक्त समीक्षायें यह स्पष्ट करती हैं कि ईसाईयत के सिद्धान्तों की धार्मिक आलोचना करने के साथ-साथ वे भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर अंग्रेजों की राजनीतिक आलोचना करने में भी कोई संकोच नहीं करते थे। उनकी दृष्टि में मनु के अनुसार शासक को आदर्श होना चाहिए, किन्तु जब वे ईसाई शासकों

---

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४६८।
२. वही पृ० ४८४।
३. वही पृ० ४८३।

के धर्मग्रन्थ बाइबल में पुराणों जैसे गपोड़े देखते हैं तो वे इन्हें मानने वाले ईसाईयों की कटु आलोचना करते हैं। उन दिनों जातीय अहंकार के दर्प में कुछ अंग्रेज भारतीयों को बर्बर तथा असभ्य भी कहते थे। स्वामी जी ने इन्हीं की भाषा का प्रयोग करते हुए उन्हें बार-बार जंगली[1] और महाजंगली कहा है।[2] उनका यह विचार था कि बाइबल में पुराणों से अधिक मिथ्या लीला हैं, और उसमें गप्पें भरी हुई हैं (पृ० ४९४, ५१५)। बाइबल में स्वर्ग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "उस दिव्य दैवी नगर की नींवें बहुमूल्य मणियों से सुशोभित थीं और उसमें एक मोती से एक फाटक बनाया था और नगर की सड़क स्वच्छ कांच के ऐसे निर्मल सोने की थी (योहन के प्रकाशित वाक्य प० २१, आयत १९-२१)। इसकी आलोचना करते हुई स्वामी जी ने लिखा है कि यह सर्वथा मिथ्या कपोल-कल्पना की बात है और इतने बड़े मोती कहाँ से आये होंगे।··· यह गपोड़ा पुराण का भी बाप है।"[2]

जोर्डन्स ने १३वें समुल्लास की आलोचना को स्वामी जी के नवीन आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद का प्रदर्शन माना है और यह कहा है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनमें यह प्रवृत्ति पंजाब में उत्पन्न हुई, जहाँ वे ईसाईयों द्वारा प्रचारित साहित्य के घनिष्ठ सम्पर्क में आयें। थियोसोफिस्ट भी ईसाईयों के विरोधी थे और उन्होंने भी स्वामी जी के विचारों को प्रभावित किया होगा।

इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण मुंशी इन्द्रमणि का मामला था। स्वामी जी इस विषय में किए गये ब्रिटिश न्यायाधीश के निर्णय से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने अपने एक पद्यबद्ध संस्कृत पत्र में श्यामजी कृष्ण वर्मा से अनुरोध किया था कि वे ब्रिटिश पार्लिया-मेण्ट में इस प्रश्न को उठायें। भारत के ब्रिटिश शासकों की न्यायपरायणता से उनका विश्वास उठ गया था। उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होने का यह भी एक उल्लेखनीय कारण था। उनकी रचनाओं में राष्ट्रीयता का ऐसा स्वर सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय संस्क-रण से पहले मुखर नहीं होता है।

भारत में ईसाईयों की प्रचार की सफलता के तीन बड़े कारण थे—१. ईसाईयों की प्रचार व्यवस्था का उत्कृष्ट होना, २. राज्याश्रय और ३. विविध प्रकार के प्रलोभनों से भारतीयों को आकृष्ट करना। स्वामी जी ने पहले कारण का सशक्त उत्तर देने के लिए सत्यार्थ प्रकाश के तेरहवें समुल्लास की रचना की। इसने पहली बार हिन्दुओं को ऐसा तरकस प्रदान किया जिसके तीर से वे ईसाईयों पर प्रबल हमले कर सकते थे। पहले हिन्दुओं की स्थिति ईसाईयों के आक्रमण से डर कर भागने और हीन भावना से ग्रस्त होने की थी। वे इस समय पलायनवादी और शृगालवृत्ति के अनुयायी थे। स्वामी जी ने उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करके उन्हें सिंह बनाया। वे अब ईसाई हमलों का न केवल सफल प्रतिरोध करने लगे, अपितु उन पर प्रबल आक्रमण करने का भी सामर्थ्य उनमें पैदा हो गया। यह स्वामी जी तथा आर्यसमाज के आन्दोलन की बड़ी देन थी जो हिन्दू धर्म को अन्य किसी आर्थिक आन्दोलन ने प्रदान नहीं की थी।

स्वामी जी हिन्दुओं के ईसाईयत की ओर आकृष्ट होने का एक कारण आर्थिक

---

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४८६, ४९३, ४९४, ४९९, ५०३।
२. वही पृ० ५१८।

प्रलोभन भी समझते थे। ईसाईयों को अपने प्रचार-कार्य में हिन्दू धर्म के निम्नतम वर्ग में सफलता इसी कारण मिल रही थी क्योंकि वे निर्धन होते थे। नौकरियों तथा अन्य प्रकार के आर्थिक प्रलोभनों के कारण वे ईसाईयत की ओर आकृष्ट होते थे। अतः स्वामी जी ने १६ अगस्त, १८८० को मेरठ में अपनी पहली वसीयत या स्वीकार-पत्र का जो पंजीकरण कराया, उसमें कहा गया था कि परोपकारिणी सभा उसे दी जाने वाली अपनी सम्पत्ति, कपड़े, पुस्तकें, धनराशि तथा वैदिक यन्त्रालय का उपयोग केवल तीन उद्देश्यों के लिए करेगी—पहला, वेद-वेदांगों और सच्चे शास्त्रों का प्रकाशन, दूसरा, वैदिक धर्म का प्रचार और शिक्षा, तथा तीसरा, भारत के अनाथों और निर्धनों के संरक्षण, भोजन और शिक्षा की व्यवस्था तथा सहायता।

(ग) **इस्लाम की आलोचना**—ईसाइयों की भाँति मुसलिम प्रचारक भी स्वामी जी के समय में हिन्दुओं पर प्रबल आक्षेप कर रहे थे। इनका उत्तर देने के लिए स्वामी जी ने सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास की रचना की, और उनसे अनेक शास्त्रार्थ भी किये। उस समय तक कुरान का हिन्दी में अनुवाद नहीं हुआ था। स्वामी जी को ही इस बात का श्रेय प्राप्त है, कि उन्होंने मुसलमानों के धर्मग्रन्थ का सबसे पहले हिन्दी में अनुवाद कराया। स्वामी जी ने कुरान की आलोचना मुख्यतया इस आधार पर की है कि उसमें अस्वाभाविक और प्रकृतिविरुद्ध घटनाओं का वर्णन है।

हिन्दू धर्म पर प्रबल आक्षेप करने वाले ईसाइयों तथा मुसलमानों के प्रतिकार का उपाय ब्राह्मसमाज, प्रार्थना समाज आदि किसी अन्य धर्म सुधार आन्दोलन ने नहीं किया। इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द का कार्य अद्वितीय है। श्री विपिनचन्द्र पाल ने स्वामी दयानन्द द्वारा ईसाइयों तथा मुसलमानों के आक्रमणों के सफल प्रतिरोध के कार्य का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, "इस विषय में सचाई यह है कि पंजाब में हिन्दुओं की नई पीढ़ी इस बात में बड़ा अपमान अनुभव कर रही थी कि वे उनके धर्म की मूर्तिपूजा और बहुदेववाद की निन्दा करने वाले मुसलमानों और ईसाइयों के विषैले प्रचार का उत्तर देने में असमर्थ हैं। पं० दयानन्द के सन्देश से पहली बार उन्हें अपनी रक्षा करने का ऐसा शक्तिशाली अस्त्र प्राप्त हुआ जिसकी सहायता से वे अपने धर्म की तुलना में ईसाईयत और इस्लाम के श्रेष्ठ होने के दावों का खंडन कर सकते थे। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश में पंजाब के हिन्दुओं को न केवल अपनी प्रतिरक्षा का साधन प्रदान किया, अपितु ईसाइयों और मुसलमानों के धर्म पर भी ऐसे हमले किये जिनसे इस दोनों धर्मों की बुद्धिविरोधी वादी बातें स्पष्ट हो गईं और इनकी नैतिक कमियों की भी पोल खुल गई। इन सब बातों से पंजाब के हिन्दुओं में जातीय गौरव की वृद्धि हुई। पहले वे ईसाई और मुस्लिम धर्म-प्रचारकों द्वारा किये जाने वाले हमलों में अपने को बिलकुल असहाय अनुभव करते थे। अब वे इनका उठकर मुकाबला करने लगे!"[१]

---

१. विपिनचन्द्र पाल—मैमायर्स ऑफ माइ लाइफ एण्ड टाइम्स, भाग—१, पृ० ३१०-३१४।

आठवाँ अध्याय

महर्षि दयानन्द सरस्वती का आविर्भाव

(१) महर्षि की जीवनी के सम्बन्ध में उपलब्ध साहित्य

दयानन्द सरस्वती का जन्म कब और कहाँ हुआ, उनके माता-पिता कौन थे और उनका बाल्यकाल किस प्रकार व्यतीत हुआ—इन बातों का निर्णय अभी निर्विवाद रूप से नहीं हो सका है। इनके सम्बन्ध में जो जानकारी हमें प्राप्त है, उसके मुख्य आधार वे विवरण हैं जो महर्षि ने अपने सम्बन्ध में स्वयं दिये थे, पर जो अत्यन्त संक्षिप्त हैं और साथ ही अस्पष्ट भी हैं। ये विवरण निम्नलिखित हैं—(१) सन् १८७५ के मध्य भाग में महर्षि पूना गए थे और वहाँ उन्होंने पन्द्रह व्याख्यान दिए थे। इनमें से अन्तिम व्याख्यान उनकी जीवनी के सम्बन्ध में था। स्थानीय समाचार-पत्रों में ये उसी वर्ष प्रकाशित हो गए थे, और बाद में इन्हें मराठी, गुजराती तथा हिन्दी में पृथक् पुस्तकों के रूप में भी प्रकाशित कर दिया गया था। हिन्दी में ये व्याख्यान 'उपदेशमंजरी' नाम से उपलब्ध हैं। (२) थियोसोफिस्ट सोसायटी के कर्नल आलकाट के आग्रह पर महर्षि ने अपना आत्मचरित हिन्दी में प्रस्तुत किया था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'थियोसोफिस्ट' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इस आत्मचरित की पहली किस्त 'थियोसोफिस्ट' के अक्टूबर, १८७९ के अंक में, दूसरी दिसम्बर, १८७९ के अंक में और तीसरी नवम्बर, १८८० के अंक में प्रकाशित हुई थी। महर्षि द्वारा हिन्दी में लिखित आत्मचरित भी परोपकारिणी सभा, अजमेर की पत्रिका 'परोपकारिणी' के मार्च, १९७५ के अंक में प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि यह आत्मचरित अपूर्ण है, पर इसकी प्रामाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। (३) पण्डित दीनबन्धु जी वेदशास्त्री द्वारा महर्षि दयानन्द सरस्वती का एक अन्य 'आत्मचरित्र' प्रकाश में आया है। इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है, कि जब सन् १८७२-७३ में महर्षि कलकत्ता में रह रहे थे, तब शास्त्रचर्चा के साथ-साथ वे कभी-कभी अपने जीवनवृत्त के सम्बन्ध में भी लोगों को बताते रहते थे। कुछ विद्वान् उसे महर्षि से संस्कृत में सुनकर बंगला भाषा में लेखबद्ध करते जाते थे। महर्षि के जीवनकाल में इसे प्रकाशित करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था, क्योंकि पण्डित रसिकमोहन विद्याभूषण के कथनानुसार महर्षि यह नहीं चाहते थे कि उनकी मृत्यु से पहले यह जीवनवृत्त छपने पाए। महर्षि के देहावसान के पश्चात् भी चिरकाल तक यह अप्रकाशित ही रहा और इसके विविध खण्ड विभिन्न बंगाली परिवारों के घरों में पड़े रहे। बाद में पण्डित दीनबन्धु जी ने बड़ी खोज द्वारा उन्हें एकत्र किया और उनके आधार पर हिन्दी में महर्षि का एक जीवनचरित तैयार

किया, जो अब 'योगी का आत्मचरित्र' नाम से पुस्तक रूप में भी उपलब्ध है। घटनाओं के विस्तृत विवरण की दृष्टि से यह आत्मचरित्र महत्व का है, और इसमें बहुत-सी ऐसी घटनाएँ भी दी गई हैं जो पूना के व्याख्यान तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मचरित्र में नहीं पायी जातीं। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के लिए महर्षि द्वारा ही प्रेरणा दी गई थी, और इस संग्राम के नेता नाना साहब आदि के साथ उनका सम्पर्क था, यह बात इसी आत्मचरित्र में स्पष्ट रूप से कही गई है। पर सब विद्वान् पं० दीनबन्धु जी द्वारा संकलित महर्षि के आत्मचरित्र की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। कुछ ने तो उसे 'जाली' कहने में भी संकोच नहीं किया है। इस इतिहास में हम इस 'आत्मचरित्र' की प्रामाणिकता व विश्वसनीयता के सम्बन्ध में यथास्थान विशेष रूप से विवेचन करेंगे। यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त है, कि इस आत्मचरित्र में महर्षि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में लिखी गई जिन बातों द्वारा पूना के व्याख्यान तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित जीवनवृत्त से प्राप्त होने वाली जानकारी को अधिक स्पष्ट करने में सहायता मिलती है, उनको सर्वथा त्याज्य व अप्रामाणिक मानने का कोई समुचित कारण नहीं है। (४) महर्षि का देहावसान ३० अक्टूबर, १८८३ को हुआ था। उस समय तक महर्षि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में उससे अधिक कोई जानकारी उपलब्ध नहीं थी, जो कि पूना के व्याख्यान तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित 'आत्मचरित्र' में उन्होंने स्वयं दी थी। पर लोगों को इतने से सन्तोष नहीं हो सकता था। परिणाम यह हुआ कि आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की अन्तरंग सभा ने १ जुलाई, सन् १८८८ के अपने अधिवेशन में यह निश्चय किया कि महर्षि के जीवन की घटनाओं का संग्रह कर उनका एक जीवनचरित्र तैयार किया जाए और इस कार्य के लिए पण्डित लेखराम जी को नियुक्त किया जाए। उन दिनों पण्डित लेखराम जी 'आर्य गजट' का सम्पादन कर रहे थे। महर्षि का जीवनचरित्र लिखने के लिए उनकी योग्यता व क्षमता निर्विवाद थी। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के निर्णय के अनुसार पण्डित जी ने कार्य प्रारम्भ कर दिया, और सन् १८९७ के प्रारम्भ तक वे इसी कार्य में लगे रहे। आठ साल के लगभग तक निरन्तर श्रम करके उन्होंने महर्षि के सम्बन्ध में बहुत-सी घटनाओं तथा वृत्तान्त का संकलन किया, और कितने ही नगरों में जाकर लोगों से उनके विषय में जानकारी प्राप्त की। पर पण्डित लेखराम जी अपना कार्य पूर्ण नहीं कर सके, क्योंकि ६ मार्च, १८९७ को सायंकाल एक धर्मान्ध मुसलमान ने उनकी हत्या कर दी। उनके कार्य को पूरा करने की उत्तरदायिता आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब द्वारा श्री आत्माराम जी को दी गई, जिसे उन्होंने योग्यतापूर्वक निबाहा। पं० लेखराम जी तथा श्री आत्माराम जी ने महर्षि का प्रामाणिक जीवन वृत्तान्त तैयार करने का जो कार्य किया, वह निस्सन्देह अत्यन्त महत्व का है। वस्तुतः, इन्हीं के प्रयत्न से आज महर्षि का एक ऐसा जीवनचरित्र उपलब्ध हो सका है, जिससे उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर समुचित प्रकाश पड़ता है। बाद में अन्य भी अनेक विद्वानों ने महर्षि के जीवनचरित्र पर पुस्तकें लिखी हैं, पर उन सबने मुख्यतया उसी सामग्री का प्रयोग किया है, जिसका संग्रह पण्डित लेखरामजी द्वारा महर्षि के देहावसान के १४ वर्ष बाद तक कर लिया गया था।

(५) पण्डित लेखराम जी के पश्चात् महर्षि के जीवनचरित्र को संकलित करने के लिए जो अनेक प्रयत्न किये गए, उनमें श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का कार्य सबसे अधिक महत्त्व का है। वे पं० लेखराम जी के समकालीन थे, और उन्नीसवीं सदी के समाप्त होने

से पूर्व ही उन्होंने महर्षि की जीवनी की खोज प्रारम्भ कर दी थी। सन् १८९४ में उन द्वारा लिखित 'दयानन्द चरित' नाम की एक पुस्तक दो भागों में बंगला भाषा में प्रकाशित हुई थी। पर इसके बाद भी मुखोपाध्याय जी ने अपने कार्य को जारी रखा, और महर्षि के जीवन से सम्बद्ध सब सामग्री को एकत्र करने में तत्पर रहे। पं० लेखराम जी के समान वे भी अपने शोधकार्य को पूर्ण नहीं कर सके, और सन् १९१७ में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के पश्चात् उन द्वारा संगृहीत सामग्री के आधार पर श्री पण्डित घासीराम जी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित लिखा, जो दो भागों में प्रकाशित हुआ(१९३३)। वस्तुतः, श्री घासीराम जी के ग्रन्थ को श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की उस बंगला पुस्तक का अनुवाद व संकलन ही कहा जा सकता है, जो वे अपनी मृत्यु से पूर्व लिख चुके थे और जिसकी पाण्डुलिपि अनेक नोट बुकों तथा कागज के टुकड़ों पर लिखी हुई थी। श्री घासी-राम जी ने इस बिखरी हुई पाण्डुलिपि को क्रमबद्ध रूप प्रदान किया और फिर उसका हिन्दी में अनुवाद कर आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर द्वारा उसे प्रकाशित कराया। श्री मुखोपाध्याय का ग्रन्थ पण्डित लेखराम जी द्वारा लिखित महर्षि के जीवनचरित्र से अनेक अंशों में भिन्न है। जहाँ अनेक विषयों पर उनमें मतभेद है, वहाँ वे एक दूसरे के पूरक भी हैं। पण्डित लेखराम जी का अनुसंधान कार्य प्रधानतया पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान तक सीमित था। इसके विपरीत श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने बम्बई (वर्तमान गुजरात और महाराष्ट्र) और बंगाल में महर्षि के कार्यकलाप का विशेषरूप से अनुशीलन किया। इस कारण इन दोनों ग्रन्थों में उस बहुत-सी सामग्री का समावेश हो गया है, जिसका सम्बन्ध महर्षि की जीवनी के साथ है और इनके अध्ययन से उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व का सही-सही परिचय अवश्य प्राप्त किया जा सकता है। महर्षि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक पुस्तकें हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी आदि भाषाओं में लिखी गई हैं, पर ये प्रायः विवेचनात्मक हैं और इनमें महर्षि के कार्यकलाप तथा जीवन का समुचित रूप से विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। पर महर्षि के जीवन वृत्तान्त को प्रकाश में लाने के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य पं० लेखराम जी तथा श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने किया, वह वस्तुतः अनुपम है। (६)दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली द्वारा सन् १९८० में स्वामी दयानन्द सरस्वती का "सरस्वतीन्द्र जीवनचरित्र" नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, जिसके लेखक स्वर्गीय श्री चिम्मनलाल वैश्य हैं। इसे प्रकाशकों ने स्वामी जी का 'प्रथम प्रामाणिक जीवनचरित्र' कहा है। इसमें यह भी अंकित है कि इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १८९१ में प्रकाशित हुआ था, और दूसरा संस्करण सन् १९०२ में। स्वामी जी का देहावसान १८८३ में हुआ था, अतः इसका प्रकाशन काल उनकी मृत्यु के केवल आठ वर्ष बाद है। उस समय तक स्वामी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त कर सकना बहुत कठिन नहीं था, क्योंकि बहुत-से ऐसे महानुभाव तब जीवित थे जो स्वामी जी के सहयोगी थे और जिन्होंने उनके कार्यकलाप को स्वयं देखा था। इस दशा में इस जीवनचरित्र की उपयोगिता तथा प्रामाणिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। पर दयानन्द संस्थान द्वारा 'सरस्वतीन्द्र जीवनचरित्र' नाम से स्वामीजी का जो जीवनचरित्र प्रकाशित किया गया है, वह सन् १८९१ में या उससे पूर्व लिखा हुआ नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें 'विशेष प्रार्थना और धन्यवाद' के रूप में जो वाक्य लेखक की ओर से लिखे गए हैं, उनमें अग्रलिखित पंक्तियाँ भी हैं—"मैं इस स्थान पर

परमेश्वर को धन्यवाद देने के पश्चात् श्रीमान् पण्डित लेखराम जी आर्यपथिक का धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने ऋषि का जीवनचरित्र लिखते हुए अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। उसी से मैंने इस जीवन को उद्धृत किया है।...इसके पीछे श्रीमान् बाबू आत्माराम जी मास्टर और श्रीमान् लाला राधाकृष्ण जी मेहता कि जिनके लेखों से मुझ को सहायता मिली है।" इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है, कि श्री चिम्मनलाल वैश्य ने स्वामी जी का जो जीवनचरित्र लिखा था, वह प्रधानतया पंडित लेखराम जी द्वारा संकलित सामग्री के आधार पर था। स्वामी जी के जीवन की घटनाओं का संग्रह कर उनका जीवन-चरित्र तैयार करने का कार्य आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने जुलाई, १८८८ में पण्डित लेखराम जी के सुपुर्द किया था, और इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पादित करते हुए ही सन् १८९७ में वे शहीद हो गए थे। इस दशा में श्री वैश्य ने पण्डित लेखराम जी द्वारा संकलित सामग्री के आधार पर स्वामी जी का जो जीवनचरित्र लिखा, वह सन् १८९१ में प्रकाशित हो ही नहीं सकता। यह सर्वथा सम्भव है, कि १८९१ में श्री वैश्य द्वारा लिखित स्वामीजी का कोई जीवनचरित्र प्रकाशित हुआ हो, पर अवश्य ही वह उससे बहुत भिन्न होगा जिसे अब दयानन्द संस्थान ने प्रकाशित किया है। सन् १९८० में प्रकाशित 'सरस्वतीन्द्र जीवनचरित्र' श्री चिम्मनलाल वैश्य के ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण (सन् १९०२ में प्रकाशित) का पुनर्मुद्रण हो सकता है, क्योंकि सन् १९०२ तक पण्डित लेखराम जी द्वारा संकलित सामग्री प्रकाश में आ चुकी थी। 'सरस्वतीन्द्र जीवनचरित्र' जिस रूप में अब उपलब्ध है, वह चाहे सन् १८९१ से पहले का न हो, पर उसके महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अवश्य ही क्रमबद्ध रूप से लिखित स्वामी जी का सबसे पुराना जीवनचरित्र है। बाद में अनेक ग्रन्थ स्वामी जी के जीवनचरित्र के रूप में हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओं में लिखे गए, और वर्तमान समय तक इस सम्बन्ध में बहुत कार्य सम्पन्न हो चुका है। पर हमारे लिए यहाँ इस साहित्य का परिचय दे सकना सम्भव नहीं है, और न उसका विशेष उपयोग ही है। स्वामी जी के जीवनवृत्त पर जो भी साहित्य इस समय विद्यमान है, उसके मूल आधार वे ग्रन्थ ही हैं, जिनका उल्लेख इस प्रकरण में ऊपर किया गया है।

हमारे लिए इस इतिहास में यह सम्भव नहीं है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवनवृत्त का संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकें। इस इतिहास के लिए उसका विशेष उपयोग भी नहीं है। पर यह स्पष्ट करने के लिए कि आर्यसमाज की स्थापना के लिए महर्षि ने किस प्रकार प्रेरणा प्राप्त की और इस समाज की स्थापना में उनके क्या उद्देश्य थे, उनकी जीवनी के कतिपय अंशों पर प्रकाश डालना अवश्य उपयोगी होगा।

(२) बाल्यकाल और सच्चे शिव की तलाश

पूना व्याख्यान में महर्षि ने अपने जन्मस्थान तथा कुल के सम्बन्ध में इस प्रकार परिचय दिया था—"धरांगधरा नामक राज्य गुजरात में है। इसकी सीमा पर एक मौरवी नगर है। वहाँ मेरा जन्म हुआ था। मैं औदीच्य ब्राह्मण हूँ। औदीच्य ब्राह्मण सामवेदी होते हैं, परन्तु मैंने यजुर्वेद पढ़ा था। मेरे घर में अच्छी जमींदारी है। इस समय मेरी अवस्था ५० वर्ष की होगी।" थियोसोफिस्ट में उनका जो आत्मचरित्र प्रकाशित हुआ था, उसके अनुसार काठियावाड़ प्रदेश के मौरवी राज्य के अन्तर्गत एक कस्बे में संवत् १८८१

(तदनुसार सन् १८२४) में औदीच्य ब्राह्मण परिवार में महर्षि का जन्म हुआ था। वे अपने जन्मस्थान तथा पिताजी के नाम को प्रकट नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उनके शब्दों में "मैं अपने पिताजी का नाम तथा उस कस्बे का नाम जिसमें हमारा परिवार रहता है बताने से उकता रहा हूँ क्योंकि ऐसा करने के लिए मेरे कर्त्तव्य ने मुझे बाध्य कर रखा है। यदि मेरे सम्बन्धी मेरे विषय में जान जाते तो उन्होंने मुझे ढूँढ़ लिया होता और मेरे सम्मुख आकर मुझे घर का आश्रय लेने के लिए बाध्य किया होता। ऐसा होने पर मुझे अर्थ स्पर्श रूप पाप में फिर से लिप्त होकर उनकी सेवा-सुश्रूषा और आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता करनी पड़ती। इस प्रकार यह पवित्र सुधार कार्य जिसके लिए मैंने अपना सारा जीवन अर्पित किया है, मेरे विवशतापूर्वक इससे वापिस हट जाने के कारण असाध्य क्षति को प्राप्त हो जाता।" अपने जन्मस्थान तथा माता-पिता के विषय में स्पष्ट परिचय देने में महर्षि की अनिच्छा के कारण को समझ सकना कठिन नहीं है। उन्हें आशंका थी, कि कुटुम्बीजन उनसे पुनः सम्पर्क कर उन्हें अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्यों के पालन के लिए विवश कर सकते हैं। साथ ही, संन्यासियों में यह भी परम्परा रही है कि संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लेने पर उनका अपने कुल या कुटुम्ब के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतः यदि महर्षि ने भी अपने परिवार आदि के विषय में मौन रहना ही उचित समझा हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक व उचित था।

पर महर्षि के भक्तों तथा अनुयायियों की इस सम्बन्ध में जिज्ञासा भी सर्वथा स्वाभाविक थी। अतः उन्होंने उनके जन्मस्थान, कुल तथा पिता आदि का सही-सही परिचय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया। पण्डित लेखराम जी इस परिणाम पर पहुँचे कि महर्षि का जन्म मौरवी में हुआ था, और उनके पिता का नाम अम्बाशंकर था। वे औदीच्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, यह बात तो महर्षि ने अपने आत्मचरित्र में ही स्पष्ट कर दी थी। पर श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने मौरवी तथा काठियावाड़ के अन्य अनेक स्थानों पर जाकर जो खोज की, उस द्वारा उन्होंने यह प्रतिपादित किया, कि महर्षि के पिता का नाम कर्सनजी लालजी त्रिवेदी था, और वे टंकारा के निवासी थे। महर्षि का जन्म मौरवी में न होकर टंकारा में हुआ था, और उनके जन्म-नाम मूलशंकर तथा दयाराम थे। श्री मुखोपाध्याय के पश्चात् आचार्य रामदेव जी तथा कतिपय अन्य आर्यसमाजी नेताओं ने भी इस विषय में छानबीन की, और उन्होंने भी श्री मुखोपाध्याय के मन्तव्यों की ही पुष्टि की।

महर्षि के आत्मचरित्र के अनुसार उनके पिता एक जमींदार थे जो साहूकारा भी करते थे और रियासत की ओर से अपने क्षेत्र में मालगुजारी भी वसूल किया करते थे। वे औदीच्य ब्राह्मण थे और शिव के उपासक थे। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने मौरवी तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश में एक ऐसे औदीच्य ब्राह्मण परिवार को ढूँढ़ना शुरू किया, जिसमें ये सब विशेषताएँ हों और जिसका कोई व्यक्ति युवावस्था में ही अपने घर को सदा के लिए त्याग कर कहीं चला गया हो। इसी अनुसन्धान में उन्हें टंकारा के त्रिवेदी या त्रिवाड़ी परिवार का पता लगा, जिसमें वे सब विशेषताएँ विद्यमान थीं जिनका महर्षि ने अपने आत्मचरित्र में निर्देश किया है। जिन युक्तियों के आधार पर श्री मुखोपाध्याय ने अपना मन्तव्य प्रतिपादित किया था, उन्हें यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है। इस समय यही मन्तव्य आर्यसमाज के क्षेत्र में मान्य हो गया है और टंकारा में महर्षि के जन्मस्थान

पर उनका एक स्मारक भी बना दिया गया है जहाँ प्रति वर्ष धूमधाम के साथ एक मेला भी लगता है। पर अब भी कुछ ऐसे लोग हैं, जो टंकारा को महर्षि का जन्मस्थान स्वीकार नहीं करते।

जहाँ तक महर्षि की जन्मतिथि का सम्बन्ध है, यह तो निर्विवाद है कि उनका जन्म सम्वत् १८८१ (सन् १८२४) में हुआ था, क्योंकि उन्होंने अपने आत्मचरित्र में स्वयं इसका उल्लेख किया है। पर सम्वत् १८८१ में उनकी जन्मतिथि कौन-सी थी, इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। अभी इस विषय में प्रामाणिक रूप से कोई मत निर्धारित नहीं किया जा सका है।

महर्षि के बाल्यजीवन के सम्बन्ध में हमें केवल वही ज्ञात है, जो उन्होंने पूना के व्याख्यान तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित 'आत्मचरित्र' में बताया था। पाँच वर्ष की आयु में बालक मूलशंकर की शिक्षा प्रारम्भ हुई, उसे देवनागरी लिपि सिखाई गई और श्लोक तथा मन्त्र कण्ठस्थ कराये जाने शुरू किए गये। आठ वर्ष की आयु में उसका उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार हुआ, और उस समय के ब्राह्मण परिवारों की परम्परा के अनुसार संस्कृत व्याकरण, संस्कृत भाषा और शास्त्रों की शिक्षा उसे दी जाती रही। पर कर्सनजी लालजी त्रिवेदी अपने पुत्र को शिव का उपासक बनाना चाहते थे। वे स्वयं कट्टर शैव थे, और शैव मत की मान्यताओं के अनुसार निष्ठापूर्वक शिव की पूजा तथा व्रतों के अनुष्ठान में तत्पर रहते थे। उनकी इच्छा थी कि उनका पुत्र भी कुलक्रमानुगत पूजा-पाठ तथा धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवीण हो जाए। शैव धर्म में शिवरात्रि के व्रत का बहुत माहात्म्य है। इस अवसर पर पूरे दिन और रात उपवास करना होता है, और रात-भर जाग कर शिव की पूजा करनी होती है। मूलशंकर के चौदह साल का हो जाने पर उससे भी यह व्रत रखने को कहा गया। भगवान् शिव के माहात्म्य की अनेक कथाएँ सुनाकर बालक मूलशंकर के मनमें इस व्रत के लिए श्रद्धा उत्पन्न की गई, और संवत् १८९४ (सन् १८३७) की माघ वदी १४ को मूलशंकर भी अपने पिता के साथ शिवमन्दिर जाकर शिवरात्रि का व्रत रखने को उद्यत हो गया। ज्यों-ज्यों रात्रि बीतती गई, शिवभक्तों को नींद सताने लगी और धीरे-धीरे वे सब निद्रादेवी की गोद में विश्राम करने लग गये। पर मूलशंकर जागता रहा। उसकी आँख शिव की मूर्ति पर लगी रही, क्योंकि वह उसमें भगवान् के दर्शन का प्रयत्न कर रहा था। पर वह सफल नहीं हुआ। भक्तों और पुजारियों के सो जाने पर जब मन्दिर में सन्नाटा हो गया, तो मूलशंकर ने देखा कि कुछ चूहे बिलों से निकलकर मूर्ति के इर्द-गिर्द तथा नीचे-ऊपर घूम-फिर रहे हैं, और उन दानों को खा रहे हैं जो नैवेद्य के रूप में शिव को अर्पित किए गये थे। बालक मूलशंकर यह देख कर स्तब्ध रह गया। उसने सोचा कि मन्दिर में जिस शिव की पूजा की गई है वह वह शिव कदापि नहीं हो सकता, जो त्रिशूल द्वारा दानवों का संहार करता है और जिसकी अनुपम शक्ति की कथाएँ उसने अपने पिता से सुनी थीं। वह तो सृष्टि का संहार करने वाले पर साथ ही महान् कल्याणकारी शिव के दर्शन के लिए उत्सुक था। यह स्वीकार करने को वह तैयार नहीं हुआ कि मन्दिर में प्रतिष्ठापित मूर्ति व लिंग ही वास्तविक शिव है। पिता को जगाकर उसने अपनी शंका का निवारण करना चाहा, पर पिता द्वारा दी गई युक्तियाँ उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकीं। मूर्तिपूजा के प्रति उसकी आस्था में शिथिलता आ गई और वह सोचने लगा कि जब तक त्रिशूलधारी महाबली वास्तविक शिव का दर्शन न कर लिया

जाए, तब तक शिव की पूजा निरर्थक है। चौदह साल की किशोर आयु में मूलशंकर के मन में मूर्ति-पूजा के प्रति जो आशंका उत्पन्न हुई थी, उसी ने आगे चलकर उसे इस पूजा-पद्धति का घोर विरोधी बना दिया।

मूलशंकर के जीवन में दो अन्य ऐसी घटनाएँ हुई, जिन्होंने उसमें आमूल-चूल परिवर्तन ला दिया। जब वह सोलह वर्ष का था, तो उसकी छोटी बहिन की मृत्यु हो गई। अपनी प्रिय बहिन की मृत्यु को देखकर मूलशंकर के मन में जो विचार उत्पन्न हुए, उन्हें महर्षि ने थियोसोफिस्ट में प्रकाशित अपने जीवन-चरित्र में इस प्रकार प्रकट किया है—"जब सम्बन्धी तथा मित्रगण मेरे चारों ओर बैठे हुए रुदन तथा विलाप कर रहे थे, मैं गहरे शोक-सागर में डूबा हुआ मूर्तिवत् जड़ होकर निस्तब्ध खड़ा था। मनुष्य जीवन कितना अस्थिर है, इस विचार की दुःखपूर्ण तथा सुदीर्घ शृंखला मेरे मन में उमड़ पड़ी। संसार में जो भी प्राणी विद्यमान हैं, उनमें से कोई भी मृत्यु से नहीं बच सकता। एक-न-एक दिन मुझे भी मृत्यु का ग्रास बनना पड़ेगा। मृत्यु से उत्पन्न होने वाली इस मानव यन्त्रणा को दूर करने के उपाय मैं कहाँ तलाश करूँ? मुक्ति जो निःश्रेयस रूप है, उसे मैं कैसे प्राप्त करूँ और उसके साधनों को कैसे जानूँ?" मूलशंकर ने उसी समय निश्चय कर लिया कि चाहे कुछ भी हो, वह अवश्य ही मोक्ष के साधनों की खोज करेगा। ज्यों-ज्यों वह मोक्ष प्राप्ति के उपायों पर विचार करता गया, धर्म के बाह्य आडम्बरों, व्रत-उपवासों तथा उनके कष्टों के प्रति उसकी आस्था कम होती गई और आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करने के लिए उसका झुकाव होता गया। पर मूलशंकर ने अपने इन विचारों तथा प्रवृत्तियों को अपने तक ही सीमित रखा। तीन साल पश्चात् एक अन्य घटना हुई, जिसने कि मूलशंकर की आध्यात्मिक प्रवृत्ति तथा वैराग्य की भावना को और अधिक उद्बुद्ध कर दिया। उसके चाचा बड़े विद्वान् तथा कृपालु व्यक्ति थे और अपने भतीजे से बहुत प्रेम करते थे। उनकी भी मृत्यु हो गई। "मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं उनके पास बैठा था, मुझे देखकर उनके टप-टप आँसू गिरने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, मैंने रो-रोकर आँखें सुजा लीं। ऐसा रोना मुझे कभी नहीं आया। इस समय मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि चचा की तरह मैं भी मर जाऊँगा। ऐसा विश्वास हो जाने पर अपने मित्रों और पण्डितों से अमर होने का उपाय पूछने लगा। जब उन्होंने योगाभ्यास की ओर संकेत किया, तो मेरे मन में यह सूझी कि घर छोड़कर चला जाऊँ।" (उपदेश मञ्जरी, पृष्ठ १६८) इस समय मूलशंकर की आयु बीस वर्ष की थी। अपने पुत्र को सांसारिक जीवन से विरक्त होते देखकर कर्सनजी लालजी त्रिवेदी ने सोचा, कि उसे जमींदारी के देख-रेख में लगा दिया जाए। पर मूलशंकर का मन इस काम में नहीं लगा। फिर पिता ने सोचा कि शीघ्र उसका विवाह कर दिया जाए, ताकि पत्नी के प्रेम में फँस कर वह सांसारिक सुखों के प्रति आकृष्ट हो जाए। पर मूलशंकर मोक्ष प्राप्ति के अपने निश्चय पर दृढ़ था। वह विवाह के लिए सहमत नहीं हुआ। सब मित्र तथा कुटुम्बी जन उस पर विवाह के लिए जोर देते रहे। इधर उसके विवाह की भी सब तैयारी कर ली गई। इस दशा में मूलशंकर के सम्मुख केवल यही उपाय शेष रह गया कि वह घर छोड़कर चला जाए। उसने अपना यह निश्चय किसी के भी सम्मुख प्रकट नहीं किया, और एक दिन वह बिना किसी से कुछ कहे चुपचाप घर से चल पड़ा, उस सच्चे शिव की तलाश में जिसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है और

जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष पा सकता है। प्रेय मार्ग को सदा के लिए छोड़कर उसने अब उस श्रेय मार्ग की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ कर दिया था, जिसपर चलता हुआ वह मूलशंकर, दयाराम या दयालजी के स्थान पर महर्षि दयानन्द सरस्वती बन सका। मूलशंकर ने सम्वत् १९०३ (सन् १८४६) में गृह का त्याग किया था। अगले दस-बारह वर्षों में वह मोक्ष के साधनों की खोज तथा सच्चे शिव की तलाश में इधर-उधर भटकता रहा। इस काल में उसने अपने देशवासियों की दुर्दशा को अपनी आँखों से देखा, और प्रत्यक्ष रूप से यह अनुभव कर लिया कि भारत में किस प्रकार घोर अज्ञानान्धकार छाया हुआ है, सर्वत्र पाखण्ड और आडम्बर का राज्य है, जनता अन्धविश्वासों और कुरीतियों से ग्रस्त है, और सच्चे धर्म का लोप हो गया है। इसी अनुभूति का यह परिणाम हुआ, कि दयानन्द (मूलशंकर) मोक्ष साधन के साथ-साथ सनातन वैदिक धर्म की पुनःस्थापना, सामाजिक दशा में सुधार और मानव समाज के हित-कल्याण के लिए भी तत्पर हुए, और उन्होंने अपने देश को चिरनिद्रा से जगाकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कर दिया।

सुख समृद्धि से परिपूर्ण अपने घर को सदा के लिए त्यागकर मूलशंकर कहाँ-कहाँ गया, इसका संक्षिप्त विवरण महर्षि के आत्मचरित्र तथा पूना के व्याख्यान में दिया गया है। उसे सदा यह भय बना रहता था कि कहीं पिताजी को उसका पता मालूम न हो जाए और वे उसे बलपूर्वक घर वापस न ले जाएँ। एक बार वे मूलशंकर को पकड़ पाने में सफल भी हो गये, पर उसे घर वापस नहीं ले जा सके। सच्चे शिव की तलाश में मूलशंकर ने दूर दूर तक की यात्राएँ कीं, साधुओं और योगियों का संग किया, आश्रमों और मठों में निवास किया, और इस प्रकार धर्म तथा योग-साधन का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया। घर का त्याग कर मूलशंकर ने ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा ले ली थी, और अपना नाम 'शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी' रख लिया था। बाद में उसने संन्यासी होने का निश्चय किया, और नर्मदा नदी के तट पर भ्रमण करते हुए स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती नाम के संन्यासी से संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण की। इस समय से मूलशंकर या शुद्धचैतन्य 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' के नाम से प्रसिद्ध हुए। मोक्ष प्राप्ति के साधनों और सच्चे शिव की तलाश में दयानन्द सरस्वती ने किन प्रदेशों का भ्रमण किया, कहाँ-कहाँ निवास किया और किन साधु-महात्माओं तथा योगियों से उनका सम्पर्क हुआ, इसका कुछ परिचय उनके आत्मचरित्र से प्राप्त किया जा सकता है। पर उसे यहाँ उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है कि उन्होंने गुजरात, राजस्थान, हरिद्वार आदि के अतिरिक्त हिमालय में भी दूर-दूर तक भ्रमण किया, नर्मदा नदी के साथ-साथ और उसके समीप विन्ध्याचल के क्षेत्र में भी उन्होंने पर्यटन किया, पर उन्हें कोई ऐसा गुरु नहीं मिला जिससे वे पूर्ण संतोष अनुभव कर सकते। उन्हें सब तरह के साधु, संन्यासी और योगी मिले, सच्चे भी और झूठे भी। सबसे उन्होंने कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण की, धीरे-धीरे उनके ज्ञान-नेत्र खुलते गये। अन्त में मथुरा में उनका एक ऐसे गुरु से सम्पर्क हुआ, जो महान् विद्वान्, सच्चे योगी और वास्तविक संन्यासी थे। इनका नाम 'दण्डी स्वामी विरजानन्द' था। दयानन्द ने इन्हें अपना गुरु धारण किया और उनसे सत्य धर्म की शिक्षा प्राप्त की। स्वामी विरजानन्द के शिष्य बनकर दयानन्द ने वह लक्ष्य प्राप्त कर लिया था, जिसके लिए उन्होंने अपने घर का परित्याग किया था। स्वामी विरजानन्द से विद्या ग्रहण कर उन्होंने सत्य ज्ञान प्राप्त कर लिया था और मोक्ष का मार्ग

उनके लिए खुल गया था।

सच्चे शिव की तलाश और मोक्ष प्राप्ति के साधनों के ज्ञान के लिए मूलशंकर ने जिस ढंग से घर का त्याग किया था, उसकी कथा शाक्यगण के 'राजा' शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ द्वारा गृहत्याग की कथा से मिलती-जुलती है। सिद्धार्थ गृहस्थ थे, उनका पुत्र भी था। पर शुरू से ही उनकी प्रवृत्ति वैराग्य की ओर थी। उनके पिता ने प्रयत्न किया कि वे सांसारिक सुख-भोग तथा विलासमय जीवन में फँसकर प्रेय मार्ग पर चल पड़ें। पर वे सफल नहीं हो सके। एक दिन कुमार सिद्धार्थ नगर की शोभा देखता हुआ चल रहा था कि उसका ध्यान सड़क के एक ओर लेटकर अन्तिम श्वास लेते हुए एक रोगी की ओर गया। पूछने पर मालूम हुआ कि यह एक बीमार है जो कष्ट के कारण भूमि पर पड़ा हुआ तड़प रहा है और थोड़ी देर में इसका देहान्त हो जाएगा। ऐसी घटना सभी देखते हैं, पर सिद्धार्थ पर इसका गहरा असर पड़ा। इसके बाद उन्हें क्रमशः लाठी टेक कर जाता हुआ बूढ़ा, श्मशान की ओर जाती हुई एक अरथी और एक शान्तमुख संन्यासी दिखाई दिया। पहले तीन दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ का दबा हुआ वैराग्य प्रबल हो गया, उसे भोग-विलासमय जीवन तुच्छ और क्षणिक जान पड़ने लगा। संन्यासी को देखकर उसे उमंग आई, कि मैं भी इसी प्रकार संसार से विरक्त हो जाऊँ। इसी उमंग में सिद्धार्थ ने अपने घर का परित्याग कर दिया, और अपनी पत्नी तथा संतान की जरा भी परवाह न कर वह सात साल तक ज्ञान और सत्य की खोज में इधर-उधर भटकता रहा। अन्त में उसे सत्य का बोध हुआ, और वह सिद्धार्थ से 'बुद्ध' बन गया। इसी से मिलती-जुलती कथा मूलशंकर की भी है। बाल्यावस्था में ही शिवरात्रि के अवसर पर उसे यह बोध हो गया था, कि पत्थर की जो मूर्ति मन्दिर में प्रतिष्ठापित है, वह 'शिव' नहीं है और न ही उपवास तथा जागरण उसकी उपासना के साधन हैं। उसके मन में सच्चे शिव के ज्ञान की आकांक्षा प्रबल रूप से उत्पन्न हुई। बहिन तथा चाचा की मृत्यु को देखकर उसमें वैराग्य उत्पन्न हुआ, और वह ऐसे उपाय की खोज करने लगा जिनसे कि वह मृत्यु पर विजय पा सके। इसी धुन में उसने भी सिद्धार्थ के समान सांसारिक सुख-वैभव को लात मार दी, और सत्य की खोज में घर से निकल गया। अन्त में उसे भी सत्यज्ञान प्राप्त हुआ, और वह 'महर्षि' पद प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

सिद्धार्थ और मूलशंकर के 'बोध' तथा 'सत्यज्ञान की प्राप्ति' में एक अन्य भी समता है। दोनों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए घर का परित्याग किया था, पर उन्होंने जो बोध या सत्यज्ञान प्राप्त किया, उसमें संसार से विरत हो जाने की तुलना में मनुष्य-मात्र के हित-कल्याण के सम्पादन को अधिक महत्त्व दिया गया है। सारनाथ में भिक्खुओं को अपना पहला उपदेश देते हुए या धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए बुद्ध ने कहा था—"तुम बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए भ्रमण करो।" दयानन्द सरस्वती ने जब आर्यसमाज की स्थापना की, तो उसके नियमों में उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है", और "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" इन दोनों महापुरुषों ने वर्षों भटककर जो सत्यज्ञान या बोध प्राप्त किया था, वह उन्हें मानव-मात्र या सम्पूर्ण प्राणियों के हित-कल्याण के लिए अथवा सम्पूर्ण संसार के उपकार में तत्पर रहने की प्रेरणा देता था, और इसी में उन्होंने अपने सारे जीवन को लगा दिया। वे

पर्वत की किसी कन्दरा में तपस्या या साधना के लिए नहीं बैठ गए, अपितु सुख भोग से अलिप्त रहते हुए परोपकार में उन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया। मृत्यु पर विजय और मोक्ष प्राप्ति के लिए उनकी यही साधना थी, और इसी द्वारा वे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हुए। गृह का परित्याग कर सिद्धार्थ तथा मूलशंकर दोनों ने सात-आठ वर्ष का समय नानाविध साधना एवं तपश्चर्या में व्यतीत किया, और फिर जो ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ, उसका उपयोग संसार के कल्याण के लिए किया।

संवत् १९०३ में पितृगृह को छोड़ देने के पश्चात् १९११-१२ तक के आठ-नौ वर्ष मूलशंकर या शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी ने कहाँ-कहाँ व्यतीत किए और किस प्रकार इस समय का उपयोग किया, पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री द्वारा संकलित 'योगी का आत्मचरित्र' में इस विषय पर अधिक विस्तृत रूप से जानकारी दी गई है। इस काल के प्रथम भाग में उन्होंने अहमदाबाद, बड़ौदा और वाराणसी आदि रह कर शास्त्रों के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया, और फिर नर्मदा नदी के क्षेत्र में तथा आबू पर्वत पर योग साधना का विशेष रूप से अभ्यास किया। नर्मदा के तट पर स्थित चाणोद नामक स्थान पर ही उन्होंने स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती से संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण की थी। नर्मदा क्षेत्र से दयानन्द आबू गए थे, और वहाँ योगाभ्यास में कुछ समय बिताकर उन्होंने हरिद्वार के लिए प्रस्थान कर दिया था। संवत् १९११-१२ में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था। दयानन्द भी उसमें सम्मिलित हुए थे। यहाँ तक पूना के व्याख्यान, थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्म-चरित्र तथा पं० दीनबन्धु जी द्वारा संकलित आत्मचरित्र के विवरणों में अधिक अन्तर नहीं है। पर अधिक भेद आबू से हरिद्वार की यात्रा (संवत् १९१२ या सन् १८५५) और कुम्भ के मेले के बाद से सन् १८६० तक के तीन-चार वर्षों के सम्बन्ध में है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक प्रायः सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व भली-भाँति स्थापित हो गया था। विदेशी शासक भारतीय जनता को जिस प्रकार से पीड़ित कर रहे थे और उनका आश्रय पाकर ईसाई मिशनरी अपने धर्म के प्रचार के लिए उचित-अनुचित सब तरह के उपायों का जिस ढंग से प्रयोग कर रहे थे, लोगों में इससे बहुत असन्तोष था, और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही थीं, जिनसे कि इस असन्तोष का किसी भी समय एक भयानक क्रान्ति के रूप में विस्फोट हो सकता था। दयानन्द ने आबू से मारवाड़, अजमेर, जयपुर, अलवर, दिल्ली और मेरठ होते हुए हरिद्वार की यात्रा की थी। इस यात्रा में उन्हें कुछ नए अनुभव प्राप्त हुए। "रास्ते में, मन्दिरों में, बाजारों में, दुकानों में, नहाने के घाटों में, अतिथिशालाओं में—सर्वत्र स्वदेश की और स्वधर्म की रक्षा के लिए आन्दोलन और आलोचना व्यापक रूप से चल रही थी। धनी-गरीब, ज्ञानी-मूर्ख, वृद्ध-नवजवान, पुरुष-स्त्री सभी के मुखों से यही सुनाई देता था कि विदेशी पादरियों द्वारा ईसाई धर्म के व्यापक प्रचार और प्रलोभन से स्वधर्म की रक्षा करनी चाहिए। विदेशी राहु के ग्रास से स्वदेश की रक्षा करनी चाहिए। इन सब चर्चा और आन्दोलन से मालूम होने लगा था कि विदेशी और विधर्मियों की सर्वग्रासी कूटनीतियों से बचने के लिए जनसाधारण कोई रास्ता ढूंढ़ रहे थे।" (योगी का आत्मचरित्र, पृ० १८०) अजमेर, जयपुर, दिल्ली, मेरठ आदि सर्वत्र दयानन्द को यही अनुभव हुआ। मार्ग में उन्होंने अंग्रेज शासकों और सिपाहियों के अत्याचारों को अपनी आँखों से भी देखा, और साथ ही यह भी मालूम किया कि विदेशी शासन के अन्त के लिए देश में व्यापक तैयारी हो रही है,

और उसमें बहुत-से साधु-संन्यासी भी भाग ले रहे हैं। दयानन्द अपने को इस आन्दोलन से पृथक् नहीं रख सके। अभी उनकी आयु केवल बत्तीस साल की थी। पर निरन्तर शास्त्रों के अध्ययन तथा योगाभ्यास के कारण उनका शरीर, मन तथा आत्मा अत्यन्त विकसित व उन्नत हो गए थे, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने उन साधु-महात्माओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया जो कि नाना साहब, अजीमुल्ला खाँ, तात्या टोपे आदि क्रान्तिकारी व ब्रिटिश विरोधी नेताओं के साथ मिलकर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संग्राम प्रारम्भ करने की तैयारी में व्यस्त थे। गंगा के पूर्वी तट पर हर की पौड़ी के सामने चण्डी पर्वत की उपत्यका में दयानन्द ने अपना डेरा जमाया हुआ था। उस समय यही स्थान दशनामी संन्यासियों का केन्द्र था। वहाँ नाना साहब आदि ने दयानन्द से भेंट की, और स्वाधीनता संग्राम के लिए उनका परामर्श व आशीर्वाद प्राप्त किया। पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने महर्षि दयानन्द सरस्वती का जो आत्मचरित्र संकलित किया है, उसके इस विवरण में सत्यता का अंश कितना है इस विवादग्रस्त प्रश्न पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि पूना के व्याख्यान से और थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मचरित्र से यह ज्ञात नहीं होता है कि संवत् १९१४ (सन् १८५७) से संवत् १९१७ (सन् १८६०) तक के तीन वर्ष महर्षि ने कहाँ और किस प्रकार व्यतीत किए थे। १८५४ में कुम्भ के मेले के बाद वे हरिद्वार से हिमालय की ओर चले गए थे, और वहाँ के तीर्थस्थानों तथा सिद्धपीठों की यात्रा कर सन् १८५५ का अन्त होने से पूर्व ही कानपुर पहुँच गए थे। कुछ समय कानपुर, इलाहाबाद आदि में रहकर फिर वे नर्मदा के क्षेत्र में चले गए थे। इस प्रदेश में तीन वर्ष के लगभग का समय उन्होंने किस प्रकार और किस कार्य में व्यतीत किया, थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मचरित्र से यह ज्ञात नहीं होता। पर पण्डित दीनबन्धु जी द्वारा संकलित आत्मचरित्र में यह कहा गया है कि इस काल में महर्षि स्वाधीनता संग्राम के नेताओं के सम्पर्क में रहे और उनका मार्ग-प्रदर्शन करते रहे। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में महर्षि का कोई कर्तृत्व व योगदान था या नहीं, यह प्रश्न अत्यन्त विवादग्रस्त है और इस पर भी हम यथा-स्थान विचार करेंगे। पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, सन् १८५७ में भारत में जिस महान् क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था, और देश की स्वाधीनता के लिए जो घोर संघर्ष प्रारम्भ हुआ था, दयानन्द सरस्वती उससे सर्वथा अछूते नहीं रह सके थे। दिल्ली और मेरठ होते हुए आबू पर्वत से हरिद्वार तक की सन् १८५४-५५ में उनकी यात्रा एक ऐसा तथ्य है, जिसे सब कोई स्वीकार करते हैं। इस लम्बी पैदल यात्रा में वे उस क्रान्तिकारी एवं विद्रोह की भावना के साथ अवश्य सम्पर्क में आए होंगे, जो इस काल में भारत के बड़े भाग में व्याप्त हो रही थी। उस समय उन्होंने भारत की दुर्दशा को प्रत्यक्ष रूप से देखा होगा और यह भी अनुभव किया होगा कि इस देश की जनता की दशा में सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्रों के अध्ययन तथा योग साधना द्वारा मनुष्य अपना कल्याण अवश्य कर सकता है, पर यदि इनका लाभ केवल उस एक व्यक्ति तक ही सीमित रहे, तो इसे वांछनीय नहीं कहा जा सकता। योगी व मुमुक्षु को अपनी योग्यता व शक्ति का प्रयोग अत्याचारियों व अधर्मियों के उन्मूलन, पीड़ितों के कष्टनिवारण तथा भटके हुओं को मार्ग प्रदर्शन के लिए भी करना चाहिए, इसी तथ्य व आदर्श की अनुभूति के परिणामस्वरूप महर्षि ने आर्यसमाज का एक नियम यह भी बनाया था कि "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, अपितु

सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" सन् १८५७ की घटनाओं को स्वयं देखकर और उनके निकट सम्पर्क में आकर (क्योंकि उस समय महर्षि कानपुर तथा इलाहाबाद के क्षेत्र में ही थे) उन जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक था कि वे स्वदेश की उन्नति तथा मानवसमाज के हित-कल्याण के लिए प्रयत्नशील हों, और इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पादित कर अमरत्व को प्राप्त हों, मृत्युंजयी हो जाएँ। महर्षि ने अपना सम्पूर्ण जीवन जो पाखण्ड के विनाश, अज्ञानान्धकार के निवारण तथा सद्धर्म की स्थापना में व्यतीत कर भारत को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने में लगा दिया, उसके लिए मूल प्रेरणा उन्होंने सन् ५७ की घटनाओं से भी अवश्य प्राप्त की होगी, ऐसा मानना असंगत व अयुक्तियुक्त कदापि नहीं कहा जा सकता।

सन् १८६० में दयानन्द सरस्वती मथुरा आए और दण्डी स्वामी विरजानन्द जी के पास रहकर विद्याध्ययन में तत्पर हुए। जो विद्वान् यह मानते हैं कि दयानन्द ने सन् ५७ के स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया था, उनका यह कहना है कि स्वाधीनता संघर्ष के असफल हो जाने से दयानन्द ने यह अनुभव कर लिया था कि जब तक भारतीय जनता में प्रचलित अन्धविश्वासों, कुरीतियों, सामाजिक विषमताओं तथा धार्मिक पाखण्ड का निवारण नहीं किया जाएगा, यह देश न स्वाधीनता प्राप्त कर सकेगा और न उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकना उसके लिए सम्भव होगा। सत्य सनातन वैदिक धर्म इस काल में बहुत-से मतमतान्तरों में विभक्त था। पण्डित और धर्माचार्य उसके विशुद्ध स्वरूप को भुला चुके थे और ऐसी बातों को धर्म के रूप में प्रतिपादित करने लग गए थे जो वेदविरुद्ध थीं। दयानन्द का यह विचार था, कि इस दशा में सुधार हुए बिना भारत का उद्धार हो सकना असम्भव है। पर सच्चा वैदिक धर्म क्या है, इसका अभी उन्हें सही रूप से ज्ञान नहीं हुआ था। वाराणसी आदि में रहकर उन्होंने प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन अवश्य किया था, वेदों के अनेक भाग भी उन्हें कण्ठस्थ थे। योग में भी वे पारंगत हो चुके थे। पर वैदिक धर्म के वास्तविक रूप का ज्ञान तभी सम्भव था, जब कि वह प्राचीन आर्ष पद्धति से वेदों का अध्ययन करें। इसी प्रयोजन से वे विरजानन्द जी के चरणों में उपस्थित हुए और उन्हें अपना गुरु धारण किया। स्वामी विरजानन्द सरस्वती संस्कृत व्याकरण तथा वेदशास्त्रों के अगाध पण्डित थे, और वैदिक धर्म तथा संस्कृति में उनकी प्रगाढ़ आस्था थी। इस बात के संकेत भी विद्यमान हैं कि सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने भी सक्रिय रूप से भाग लिया था। सम्भवतः, दयानन्द का विरजानन्द सरस्वती के साथ प्रथम सम्पर्क स्वाधीनता संघर्ष के दौरान में ही हुआ था, और उन्होंने वृद्ध दण्डी स्वामी के पथ-प्रदर्शन में ही उस संघर्ष में भाग लिया था। इस दशा में यह अस्वाभाविक नहीं था, कि स्वाधीनता संग्राम के विफल हो जाने के पश्चात् भी दयानन्द अपने वयोवृद्ध तथा विद्यावृद्ध नेता से प्रेरणा प्राप्त करें और उन द्वारा प्रदर्शित मार्ग को अपनाकर स्वदेश व मानवसमाज के हित-कल्याण के लिए प्रवृत्त हों। १४ नवम्बर, १८६० के दिन स्वामी दयानन्द दण्डी स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुरा आए थे, और तीन वर्ष के लगभग उन्होंने उनके चरणों में रहकर विद्याध्ययन किया। दण्डी जी का मंतव्य था, कि संस्कृत व्याकरण तथा वेदों के अभिप्राय को भली-भाँति समझने के लिए केवल आर्ष (ऋषिकृत) ग्रन्थों का ही आश्रय लिया जाना चाहिए। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतंजलिकृत महाभाष्य को वे संस्कृत व्याकरण के अध्ययन के लिए प्रयुक्त करते थे और निघण्टु, निरुक्त आदि वेदांगों को वेदों

का सही अर्थ जानने के लिए। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी आगे चलकर जो यह मन्तव्य प्रतिपादित किया, उसकी शिक्षा उन्होंने गुरु विरजानन्द जी से ही ग्रहण की थी। जब दयानन्द की शिक्षा पूर्ण हो गई, तो प्राचीन परिपाटी के अनुसार गुरु दक्षिणा देने का समय आया। दयानन्द के पास अपने गुरु को दक्षिणा देने के लिए कुछ भी नहीं था। विरजानन्द जी को लौंग बहुत प्रिय थीं, अतः दयानन्द आधा सेर लौंग लेकर उनकी सेवा में उपस्थित हुए और उन्हें ही गुरुदक्षिणा के रूप में अर्पित करना चाहा। इस पर विरजानन्द जी ने कहा—"मैं तुझसे ऐसी चीज माँगूंगा जो तेरे पास हो।" पण्डित लेखराम जी द्वारा लिखित महर्षि के जीवनचरित्र के अनुसार दण्डी गुरु ने अपने सुयोग्य शिष्य से यह दक्षिणा प्रदान करने को कहा—"देश का उपकार करो, सत्य शास्त्रों का उद्धार करो, मतमतान्तरों की अविद्या को हटाओ और वैदिक धर्म का प्रचार करो।" यह अमूल्य दक्षिणा देना स्वीकार कर दयानन्द ने गुरु के आश्रम से विदा ली, और शेष जीवन उस कार्य के सम्पादन में लगा दिया जिस की शिक्षा उन्होंने अपने गुरु से ग्रहण की थी।

संवत् १९०३ (सन् १८४६) में मूलशंकर ने घर का परित्याग किया था, सच्चे शिव की तलाश की धुन में और मृत्यु पर विजय प्राप्त कर अमृत होने के लिए। सत्रह वर्ष पश्चात् संवत् १९२० (सन् १८६३) में उन्हें उस सच्चे शिव का ज्ञान हो गया था, जिसके लिए उन्होंने सब सांसारिक सुखों को लात मार दी थी। अब उन्हें सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के उस रूप का बोध हो गया था, जो 'शिव' (मंगलमय) है, और जिसकी उपासना द्वारा सम्पूर्ण विश्व एवं मानव समाज का हित-कल्याण सम्पादित हो सकता है। दयानन्द सरस्वती ने अपने गुरु से यही शिक्षा प्राप्त की थी, कि विश्वव्यापी शिव के मंगलमय सर्व-हितकारी स्वरूप का साक्षात् किया जाए और सबके हित एवं कल्याण को सम्पादित कर सब को सुखी तथा संतुष्ट बनाया जाए। अमरत्व की प्राप्ति का भी यही साधन था, और इसी की साधना में दयानन्द ने अपना सारा जीवन लगा दिया।

(३) प्रचार कार्य का प्रारम्भ

सन् १८६३ के एप्रिल मास में स्वामी दयानन्द ने अपने गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द जी से विदा ली थी। अब उन्होंने उस कार्य को प्रारम्भ किया, जिसे सम्पन्न करने का वचन उन्होंने गुरुदक्षिणा देते समय अपने गुरु को दिया था। मथुरा से वे आगरा गये, वहाँ से ग्वालियर, करौली, जयपुर, पुष्कर और अजमेर। तीन साल के लगभग वे इसी क्षेत्र में परिभ्रमण करते हुए धर्मप्रचार और समाजसुधार के कार्यों में व्यग्र रहे। इस काल में दण्डी स्वामी विरजानन्द जी के साथ उनका सम्पर्क बना रहा, वे उन्हें पत्र लिखते रहे और एक दो बार मथुरा आकर उनसे भेंट भी की। सन् १८६७ में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था। उसमें सम्मिलित होने के लिए वे हरिद्वार गये और वहाँ उन्होंने 'पाखण्ड-खण्डिनी पताका' स्थापित की। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा भारत में नवजागरण एवं सुधार के जिस महान् क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात किया गया था, उसका वास्तविक रूप से श्रीगणेश हरिद्वार में पाखण्ड-खण्डिनी पताका की स्थापना के साथ ही हुआ था। उससे पहले तीन वर्ष का जो समय उन्होंने आगरा, ग्वालियर, जयपुर, अजमेर के क्षेत्र में बिताया था, उसे तैयारी का काल कहना अधिक उपयुक्त होगा। जिस कार्य द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती उन्नीसवीं सदी के सबसे महान् महापुरुष के पद पर प्रतिष्ठापित हुए,

उसकी स्पष्ट रूपरेखा इस काल में उनके सम्मुख विद्यमान नहीं थी। गुरुदक्षिणा देते समय जो प्रतिज्ञा उन्होंने की थी, उसे किस प्रकार पूरा करना है, यह अभी उन्हें सुस्पष्ट नहीं था। निस्सन्देह, इस समय भी उनका पाण्डित्य अगाध था, संस्कृत व्याकरण का वे आर्ष ग्रन्थों द्वारा अध्ययन कर चुके थे, दर्शन शास्त्रों में भी वे पारंगत थे, पर वेदों का उनका ज्ञान अभी बहुत सीमित था। बाल्यावस्था में उन्होंने यजुर्वेद कण्ठस्थ किया था और अन्य वैदिक संहिताओं के कुछ अंश भी उन्होंने पढ़े थे। पर चारों वेदों को पढ़ने का तो प्रश्न ही क्या, अभी उन्होंने सबका अवलोकन तक भी नहीं किया था। पण्डित लेखराम जी द्वारा विरचित महर्षि के जीवनचरित्र के अनुसार आगरा में निवास करते हुए स्वामी दयानन्द ने "पण्डित सुन्दरलाल से कहा था, कि कहीं से वेद की पुस्तक लानी चाहिए। सुन्दरलाल जी बड़ी खोज करने के पश्चात् पण्डित चेतोलाल जी और कालिदास जी से कुछ पत्रे वेद के लाए। स्वामीजी ने उन पत्रों को देखकर कहा, इनसे कुछ काम न निकलेगा।" इसी जीवन-चरित्र में आगे चलकर लिखा है कि स्वामी जी १८६४ ईस्वी में वेद की पुस्तक की खोज में आगरा से धौलपुर गये। (महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, नया बाँस, दिल्ली, पृष्ठ ५१) उन्होंने कहाँ से और किस प्रकार वेदों को प्राप्त किया, इस विषय में अनेक मत हैं। एक मत यह है कि आगरा में निवास करते हुए ही उन्होंने ऋग्वेद की एक प्रति जयपुर के महाराजा के पुस्तकालय से प्राप्त कर ली थी। इस प्रसंग में रेवरेण्ड रॉब्सन का वह पत्र उल्लेखनीय है, जो उन्होंने ८ सितम्बर, १९०३ को श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को लिखा था। उसमें रॉब्सन ने कहा है कि अजमेर में जब स्वामी दयानन्द सरस्वती से उनकी भेंट हुई थी, तब वे केवल यजुर्वेद से ही परिचित थे। मैक्समूलर का ऋग्वेद का संस्करण उन्होंने तब प्रथम बार ही देखा था। इसके पश्चात् उसकी एक प्रति उन्होंने तुरन्त ही अपने लिए मँगा ली। (घासीराम---महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र, पृष्ठ ८९) १९०३ से पूर्व प्रकाशित रॉब्सन की पुस्तक 'हिन्दुइज्म एण्ड इट्स रिलेशन्स टू क्रिश्चिएनिटी' में भी यही लिखा गया है कि स्वामी जी ने ऋग्वेद की जिस प्रति को पहले पहल देखा था, वह मैक्समूलर द्वारा सम्पादित थी और उसे रॉब्सन के पास ही उन्होंने देखा था। यह भी कहा जाता रहा है, कि स्वामी जी ने वेदों की मुद्रित प्रतियाँ जर्मनी से मँगायी थीं। उस समय तक वेद जर्मनी में छप चुके थे। यह सर्वथा सम्भव है कि रॉब्सन के पास ऋग्वेद की मुद्रित प्रति देखकर स्वामी जी ने न केवल मैक्समूलर द्वारा सम्पादित वेद ही, अपितु जर्मनी में प्रकाशित वेदों की अन्य प्रतियाँ भी प्राप्त कर ली हों। ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्वामी विरजानन्द जी से विदा लेकर जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रचार कार्य प्रारम्भ किया था, तब तक उन्होंने चारों वेदों का अध्ययन नहीं किया था। यद्यपि यजुर्वेद उन्हें कण्ठस्थ था और अन्य वेदों के कतिपय सूक्त भी उन्हें स्मरण थे, पर चारों वैदिक संहिताएँ अविकल रूप से अभी उनकी दृष्टि में नहीं आयी थीं। विरजानन्द जी से विद्याध्ययन करते हुए आर्ष व्याकरण तथा निरुक्त सदृश वेदांगों के रूप में उन्होंने वह कुंजी अवश्य प्राप्त कर ली थी, जिसका उपयोग कर वे वेदों का अध्ययन कर सकते थे। पर अभी इस कुंजी के प्रयोग का अवसर नहीं आया था, क्योंकि वेद अपने समग्ररूप में उन्हें उपलब्ध नहीं थे। जब एक बार उन्होंने चारों वेद प्राप्त कर लिए तो उनका अर्थ समझने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि वे पाणिनीय अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निघण्टु, निरुक्त आदि का समुचित रूप से अनुशीलन कर चुके थे,

और इनकी सहायता से वेदों के अर्थ तक पहुँच सकने का मार्ग उनके लिए प्रशस्त हो गया था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आगरा, ग्वालियर आदि में निवास करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती अपना अधिक समय स्वाध्याय तथा शास्त्रचर्चा में ही व्यतीत किया करते थे। अभी वे गुरु विरजानन्द जी द्वारा दिये गए आदेश का पालन करने की स्थिति में नहीं थे। वे उसके लिए समुचित तैयारी कर लेना चाहते थे। पण्डित विष्णु-लाल मोहनलाल पण्डया ने उनसे इस विषय में जब पूछा था, तो उन्होंने यह उत्तर दिया था कि मैं अभी विचार कर रहा हूँ। मेरठ में भी पण्डया जी ने स्वामी जी से एक बार फिर यही प्रश्न किया था, और साथ में यह भी कहा था कि दण्डी जी (विरजानन्द जी) को इस बात का दुःख है कि उनके किसी भी शिष्य ने, यहाँ तक कि आपने भी उनके आदेशानुसार कुछ नहीं किया। इस पर स्वामी जी का वही पुराना उत्तर था, मैं अभी विचार कर रहा हूँ। वस्तुतः, वे यह समझते थे कि जब तक वे वेदों का समग्ररूप से अनुशीलन नहीं कर लेंगे, गुरु के आदेश का सुचारु रूप से पालन कर सकना सम्भव नहीं होगा। इसीलिए वे मूल वेद संहिताओं को प्राप्त करने तथा दण्डी स्वामी विरजानन्द जी द्वारा प्रतिपादित आर्ष शैली से उनका अध्ययन करने के लिए उत्सुक थे। १८६३ से १८६६ तक का समय उन्होंने इसी कार्य में व्यतीत किया। वेद भी उन्होंने प्राप्त कर लिये, और उनका सुचारुरूप से अनुशीलन भी कर दिया। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप वे उन मन्तव्यों व सिद्धान्तों पर पहुँचने में समर्थ हुए, जिनका निरूपण उन्होंने सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका आदि ग्रन्थों में किया है, और जिनके प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने बाद में आर्यसमाज की स्थापना की। आगरा, ग्वालियर, जयपुर, अजमेर आदि में निवास करते हुए स्वामी जी को विविध सम्प्रदायों के निकट सम्पर्क में आने तथा उनके आचार्यों से विचार-विनिमय करने का भी अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। इससे उनके अपने मन्तव्यों व विचारों के परिष्कार में बहुत सहायता मिली। वेदों के हस्तगत हो जाने पर सत्यासत्य के निर्णय की उनकी प्रधान कसौटी यही होती गई, कि कौन-सी बात वेदों के अनुकूल है और कौन-सी वेदविरुद्ध। सन् १८६७ में कुम्भ के अवसर पर स्वामी जी ने हरिद्वार में जब पाखण्ड खण्डिनी पताका स्थापित की, तब उनके विचार पर्याप्त रूप से परिपक्व हो चुके थे, और अनेक ऐसे मन्तव्यों का उन्होंने परित्याग कर दिया था, १८६३-६६ के वर्षों में जिनका वे सार्वजनिक रूप से प्रतिपादन किया करते थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती तीन साल के लगभग मथुरा में गुरु विरजानन्द जी के पास रहे थे। मथुरा नगरी चिरकाल से वैष्णव भागवत सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र रही है। कृष्ण द्वारा प्रतिपादित भागवत धर्म का प्रचार प्रारम्भ में विशेष रूप से जिन सात्वत लोगों में हुआ था, उनका निवास मथुरा के क्षेत्र में ही था। रामानुजाचार्य और वल्लभा-चार्य के प्रयत्न से वैष्णवों ने जिस भक्तिमार्ग को ग्रहण किया था, मथुरा में उसका भी बहुत प्रचार था। कृष्ण द्वारा प्रचारित वैष्णव भागवत धर्म में अब बहुत विकृति आ चुकी थी। कृष्ण एक महापुरुष थे, उनका जीवन सर्वांगपूर्ण था, वे आदर्श राजनीतिज्ञ थे, आदर्श राजनेता थे और पूर्ण योगी थे। कृष्ण के उदात्त व आदर्श स्वरूप को भुलाकर वैष्णव आचार्यों ने उनका एक ऐसा रूप जनता के सम्मुख रखा, जो गोपियों के साथ रासलीला में अपना समय व्यतीत करता है। मथुरा में रहते हुए वैष्णव धर्म का यह विकृत रूप स्वामी जी ने अत्यन्त समीप से देखा था। आगरा के समीपवर्ती प्रदेशों में भी प्रधानतया

वैष्णव धर्म का ही प्रचार था। अतः स्वाभाविक रूप से वहाँ रहते हुए स्वामी जी ने कृष्ण की रासलीला सदृश बातों तथा वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित मूर्तिपूजा के खण्डन पर विशेष ध्यान दिया। भागवत पुराण में अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें कृष्ण के चरित्र को अत्यन्त विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसमें कृष्ण की अनेक ऐसी लीलाओं का रसात्मक रूप से विवरण है, जो किसी धर्माचार्य व अवतार माने जाने वाले पुरुष के लिए तो क्या, साधारण व्यक्ति के लिए भी अशोभनीय हैं। इसीलिए जब स्वामी जी ग्वालियर गये, तो वहाँ के महाराजा द्वारा आयोजित भागवत कथा में सम्मिलित होने के निमन्त्रण को उन्होंने अस्वीकृत कर दिया, और भागवत पुराण के खण्डन में व्याख्यान देने प्रारम्भ कर दिए। जयपुर, पुष्कर और अजमेर में भी उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय के मन्तव्यों तथा पूजा-विधि का खण्डन किया। जयपुर में उन्होंने भागवत पुराण के विषय में एक विज्ञापन भी प्रकाशित कराया, जिसमें यह कहा गया था कि इस पुराण के रचयिता व्यास न होकर बोपदेव नामक पण्डित थे। ग्वालियर में एक दिन स्वामी जी का एक वैष्णव आचार्य से "इस विषय में वार्तालाप हुआ कि वैष्णव लोग जो माथे पर खड़ी रेखा लगाते हैं वह ठीक है या नहीं। मैंने कहा यदि खड़ी लगाने से स्वर्ग मिलता है, तो सारा मुँह काला करने से स्वर्ग से भी बड़ी पदवी मिलती होगी।" (पूना व्याख्यान, उपदेश मंजरी, पृष्ठ १७२) वैष्णवों में रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी गले में कण्ठी पहना करते थे। स्वामी जी ने पुष्कर में इस मत का बहुत खण्डन किया और लोगों के गलों से कण्ठियाँ भी उतरवायीं। इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में स्वामी जी प्रधानतया वैष्णव सम्प्रदाय का ही खण्डन किया करते थे। शैवों के विरुद्ध उन्होंने आवाज नहीं उठाई थी। यही नहीं, वे शैव सम्प्रदाय का मण्डन भी करते रहते थे। शैव साधुओं के समान वे शरीर पर भस्म लगाया करते थे और रुद्राक्ष की माला भी पहनते थे। वैष्णवों के प्रति स्वामी जी का जो रुख था, उसे समझ सकना कठिन नहीं है। मथुरा तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश में चिरकाल तक निवास करते हुए उन्होंने इस सम्प्रदाय का जो रूप देखा था, उसके प्रति किसी भी मेधावी व सदाचारी व्यक्ति का विरोध-भाव हो जाना स्वाभाविक था। एक सर्वशक्तिमान् निरंकार ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाले और कृष्ण को आप्त पुरुष मानने वाले युवा संन्यासी के हृदय में यदि उस सम्प्रदाय के प्रति विरोधभाव उत्पन्न हो जाए, जिसमें कि कृष्ण और गोपियों की लीलाओं का बखान किया जाता हो तो इसे अनुचित व अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। पर शैव मत के प्रति उनका पक्षपात क्यों था, यह समझ सकना भी कठिन नहीं है। स्वामी जी एक कट्टर शैव परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनका बचपन शैव धर्म के वातावरण में व्यतीत हुआ था। संन्यास आश्रम की दीक्षा भी उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति से ली थी, जो शंकराचार्य द्वारा स्थापित संन्यासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उनके गुरु विरजानन्द भी सरस्वती संन्यासी थे, जो शंकराचार्य के दसनामी संन्यासियों का अन्यतम सम्प्रदाय है। शंकराचार्य शैव थे, और उन द्वारा सरस्वती, तीर्थ, गिरि, पुरी, अरण्य आदि दस प्रकार के संन्यासियों की परम्परा का सूत्रपात किया गया था। शैव कुल में जन्म लेकर, शैव वातावरण में बचपन तथा किशोरावस्था व्यतीत कर और शैव परम्परा में ही संन्यास लेकर यदि स्वामी दयानन्द सरस्वती का इस सम्प्रदाय के प्रति कुछ पक्षपात रहा हो, तो यह स्वाभाविक ही था। पर शिवरात्रि के अवसर पर शिव की मूर्ति की पूजा में जो अनास्था उनके हृदय में उत्पन्न हो गई थी, उसमें कभी शिथिलता

नहीं आई। शैव मत का मण्डन करते हुए भी उन्होंने न कभी शिवमूर्ति की पूजा का प्रतिपादन किया, और न कभी उस शिव को उपास्य देव स्वीकार किया जो पार्वती के पति थे। शिव के रूप में स्वामी जी सच्चिदानन्द सर्व शक्तिमान् निराकार ईश्वर की पूजा का ही विधान किया करते थे। ग्वालियर, पुष्कर आदि में यद्यपि अनेक बार शैव मन्दिरों में उन्होंने निवास किया था, पर शिवलिंग या शिव मूर्ति की पूजा उन्होंने कभी नहीं की।

सन् १८६६ में हरिद्वार जाने से पूर्व स्वामी जी ने कुछ समय अजमेर में निवास किया था। वहाँ मुसलिम मौलवियों और ईसाई पादरियों से भी उन्होंने विचार-विनिमय किया। सम्भवतः, यह पहला अवसर था, जब कि स्वामी जी हिन्दू धर्म से भिन्न किसी अन्य मत के सम्पर्क में आए थे। रेवरेण्ड रॉब्सन ने अपनी एक पुस्तक में उस विचार-विनिमय का विशदरूप से उल्लेख किया है, जो उनका स्वामी जी के साथ हुआ था। राब्सन के अनुसार इस काल में स्वामी जी वेदों के अध्ययन में विशेष प्रयत्न कर रहे थे और इस अध्ययन के कारण उनका मन उन विविध मतमतान्तरों और पूजा-पद्धतियों से विरत होता जा रहा था, हिन्दू धर्म में जिनकी सत्ता थी। उनका यह दृढ़ विश्वास हो गया था, कि वेदों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है, और मूर्तिपूजा का विधान नहीं है। सन् १८६३ से १८६६ तक के समय को स्वामी जी के जीवन का संक्रमण काल कहा जा सकता है। इस काल में ही उनके उन विचारों में परिपक्वता आई, जिनको आगे चलकर उन्होंने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में अपने मन्तव्यों के रूप में प्रकट किया है। वेदों के प्रति अगाध आस्था तथा उन्हें ईश्वरीय ज्ञान मानना इन मन्तव्यों में प्रमुख है। यह सही है कि १८६६ के पश्चात् भी स्वामी जी के विचारों में निरन्तर विकास होता रहा, और समय के साथ-साथ उनकी परिपक्वता में भी वृद्धि होती गई। पर उनके धार्मिक विश्वासों तथा देश के उद्धार के कार्यक्रम ने इस काल में सुस्पष्ट रूप अवश्य प्राप्त कर लिया था।

(४) प्रचार कार्य के प्रारम्भिक वर्ष

सन् १८६७ के एप्रिल मास में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था, जिसमें भारत के सभी प्रदेशों से लाखों नर-नारी सम्मिलित होते हैं, और संक्रान्ति से शुभ अवसर पर गंगा में स्नान कर पुण्यलाभ प्राप्त करते हैं। सभी हिन्दू सम्प्रदायों के साधु, संन्यासी व महात्मा भी इस अवसर पर हरिद्वार में एकत्र होते हैं, और श्रद्धालु नर-नारी उनके प्रवचन सुन तथा दर्शन कर तृप्ति अनुभव करते हैं। हिन्दुओं का यह सबसे बड़ा मेला है, जो प्रति बारह वर्ष पश्चात् गंगा के तट पर लगता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इस मेले में सम्मिलित होने के लिए हरिद्वार गए, और मार्च मास में ही वहाँ पहुँच कर सप्तसरोवर नामक स्थान पर डेरा डाल दिया। यह स्थान हर की पौड़ी से चार मील के लगभग उत्तर की ओर ऋषिकेश के मार्ग पर है। यहाँ गंगा की रेती पर कुछ छप्पर डाल कर बीच में एक झण्डी गाड़ दी गई, जिस पर 'पाखण्ड खण्डन' लिखा था। यही 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' के नाम से प्रसिद्ध है। आर्यसमाज के इतिहास में सप्तसरोवर के इस स्थान का वही महत्त्व है, जो बौद्ध इतिहास में सारनाथ का है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रचार कार्य का वास्तविक रूप से प्रारम्भ इसी स्थान से हुआ था। चार साल पूर्व दण्डी स्वामी विरजानन्द जी से शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने आगरा, धौलपुर, ग्वालियर, जयपुर, अजमेर आदि का परिभ्रमण अवश्य किया था, और वहाँ अपना समय शास्त्रचर्चा तथा भाषण

आदि में भी लगाया था, पर इस काल में उनका विशेष ध्यान वेदों की प्राप्ति, उनके अनुशीलन तथा भावी कार्य के चिन्तन में लगा हुआ था। प्रचार कार्य का वास्तविक सूत्रपात स्वामी जी द्वारा कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में ही किया गया। अनेक संन्यासी तथा ब्राह्मण पण्डित सप्तसरोवर के डेरे में स्वामी जी के साथ थे, और कुम्भ के मेले में एकत्र हुए लाखों श्रद्धालु नर-नारी उन्हें भी उसी प्रकार श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, जैसे कि अन्य साधु-संन्यासियों को। श्रद्धालु लोग उनके भी दर्शन करने के लिए आया करते, और उनके डेरे में भी लोगों का आना-जाना लगा रहता।

पर स्वामी दयानन्द सरस्वती के डेरे के ठीक बीच में पाखण्ड खण्डिनी पताका लहरा रही थी। अपने प्रवचनों में स्वामी जी मूर्तिपूजा और अवतारवाद का प्रबल रूप से खण्डन किया करते थे, और माथे पर तिलक लगाने तथा कण्ठी पहनने आदि का भी विरोध करते थे। भागवत पुराण से उनका विशेष विरोध था। हरिद्वार जाते हुए स्वामी जी 'भागवत खण्डन' नाम की एक पुस्तिका आगरा के ज्वालाप्रकाश प्रेस में छपवा कर अपने साथ ले गये थे, और उसकी हजारों प्रतियाँ उन्होंने मेले में बँटवायी थीं। यह पुस्तिका संस्कृत में है, और इसमें भागवत को वेदविरुद्ध और अशुद्ध बताते हुए 'प्रमत्तगीत' तक कहा गया है, और पाषाण आदि की मूर्तियों की पूजा को 'पाषण्डिमत' (पाखण्ड) की संज्ञा दी गई है। इस पुस्तिका से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय स्वामी जी वेद, वेदांग, उपवेद और मनुस्मृति के अतिरिक्त महाभारत, हरिवंश पुराण और वाल्मीकि रामायण को भी अध्यापन तथा अध्ययन के लिए उपयुक्त मानते थे। पुराणों के प्रति जो भावना स्वामी जी ने बाद में व्यक्त की, सन् १८६७ में वह केवल भागवत तक ही सीमित थी। इस पुस्तिका में भागवत के विषय में स्वामी जी ने जो मत प्रकट किया है, वह उल्लेखनीय है—"श्रीमद्भागवत पुराण कौन-सा है? इसमें सन्देह क्यों है? दो भागवत सुने जाते हैं, एक देवी-भागवत और दूसरा कृष्ण-भागवत। देवी भागवत ही श्रीमद्भागवत है और वही व्यास द्वारा विरचित है, दूसरा नहीं। यह क्यों? क्योंकि वह (देवी भागवत) शुद्ध है और वेदों से अविरुद्ध है। इसी कारण देवी भागवत की ही श्रीमद्भागवत संज्ञा है, दूसरे भागवत की नहीं। वह अशुद्ध है और प्रमत्तगीत है।"

शीघ्र ही स्वामी जी की चर्चा कुम्भ के मेले में सर्वत्र फैल गई। उनकी संस्कृत की पुस्तिका विद्वानों तथा पण्डितों के हाथों में भी गई, और वे भी शास्त्र-चर्चा करने के लिए स्वामी जी के डेरे पर आने लगे। इनमें काशी के प्रसिद्ध विद्वान् विशुद्धानन्द सरस्वती भी थे। स्वामी जी से उनका शास्त्रार्थ भी हुआ। यद्यपि स्वामी जी के डेरे पर श्रद्धालु भक्तों की सदा भीड़ लगी रहती थी और उनकी विद्वत्ता, शास्त्रज्ञान, प्रतिभा एवं तेजस्विता की सर्वत्र चर्चा थी, पर वे हिन्दू जाति के अन्धविश्वासों के निवारण तथा धर्माचार्यों के पाखण्ड का खण्डन करने के लिए कोई विशेष कार्य नहीं कर सके। कुम्भ के मेले को हिन्दू धर्म की एक विशाल प्रदर्शिनी कहा जा सकता है। हिन्दुओं के प्रायः सभी सम्प्रदायों व मतमतान्तरों के साधु-महात्मा तथा धर्माचार्य उसमें सम्मिलित होते हैं, और सब प्रकार के पूजापाठ व धार्मिक अनुष्ठान वहाँ सम्पन्न किये जाते हैं। सर्वसाधारण हिन्दू जनता की इन साधु-सन्तों तथा धर्माचार्यों के प्रति श्रद्धा कितनी अगाध है, और उस द्वारा परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों का कैसी निष्ठा के साथ पालन किया जाता है, यह सब प्रत्यक्ष रूप से कुम्भ के मेले में देखा जा सकता है। स्वामी जी ने भी यह सब कुछ देखा और अनुभव

किया कि अज्ञानान्धकार में डूबी हुई हिन्दू जाति का उद्धार तभी सम्भव हो सकेगा जब कि अपनी विद्वत्ता तथा पाण्डित्य के बल पर पण्डितों तथा साधु-महात्माओं के मिथ्या-मन्तव्यों का निराकरण कर पहले उन्हें सत्य सनातन वैदिक धर्म का परिज्ञान करा दिया जाए। जब पण्डितों का मत परिवर्तित हो जाएगा, तो जनता के मन्तव्यों को बदल सकना जरा भी कठिन नहीं होगा, क्योंकि सर्वसाधारण लोग धर्माचार्यों का ही अनुसरण किया करते हैं। इस समय तक स्वामी जी को हिन्दी भाषा का भी समुचित ज्ञान नहीं था। उनकी मातृभाषा गुजराती थी। हिन्दी द्वारा सर्वसाधारण जनता से सम्पर्क कर सकना उनके लिए सम्भव नहीं था। अपने मन्तव्यों का प्रचार वे संस्कृत भाषा द्वारा ही कर सकते थे, और यह भाषा केवल पण्डित व विद्वान् ही समझते थे। अतः उन्होंने पण्डितों के मत को परिवर्तित करने तथा उन्हें अपना अनुयायी बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, और कुम्भ के मेले के पश्चात् बंगाल के लिए प्रस्थान (एप्रिल, १८७२) के समय तक के पाँच साल उन्होंने इसी काम में लगाए। इस बीच में वे गंगा के तट पर या समीप के प्रदेशों में स्थित कितने ही नगरों में गए, और वहाँ पण्डितों से शास्त्रार्थ व शास्त्रचर्चा कर उनके मतों को परिवर्तित किया। अनेक पुस्तिकाएँ तथा विज्ञापन भी उन्होंने छपवाए और उन्हें व्यापक रूप से वितरित किया। इन पाँच सालों में स्वामी जी के धर्मप्रचार का प्रायः यही ढंग रहा। कुम्भ के मेले के पश्चात् उनके रहन-सहन में भी भारी परिवर्तन आ गया था। पहले वे भी अन्य साधु-संन्यासियों के समान उत्तम वस्त्र पहना करते थे। अनेक शिष्य व पण्डित उनके साथ रहा करते थे, और सुख-सुविधा के साधन भी उनके पास थे। कुम्भ के मेले पर स्वामी जी ने देखा कि प्रायः सभी साधु-संन्यासी इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं। वे अखाड़ों व मठों में रहते हैं, जहाँ उनके भोजन व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के सब साधन विद्यमान होते हैं और वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। स्वामी जी ने अनुभव किया कि इस प्रकार का जीवन साधु-महात्माओं के लिए उपयुक्त नहीं है। हिन्दू जाति के पतन व दुर्दशा का यह भी एक कारण है, कि उसके धार्मिक नेता उच्च आदर्शों से च्युत हो गए हैं। उसकी उन्नति के लिए तथा उसे धर्म के मार्ग पर लाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि साधु-महात्मा त्याग और अकिंचनता का जीवन व्यतीत करें। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर उन्होंने गंगा के तट पर उन सब वस्तुओं को दान कर दिया, जो उनके पास थीं। जो भी वस्त्र, पात्र, मुद्राएँ, पुस्तकें आदि उनके पास थीं, उन सबका दान कर व सच्चे अर्थों में 'अवधूत' हो गए। उनके शरीर पर केवल एक कौपीन और हाथ में केवल एक डण्डा रह गया। अब उनके पास केवल यही भौतिक सम्पत्ति शेष थी, एक कौपीन और एक डण्डा। पर उनकी आध्यात्मिक सम्पत्ति, उनकी विद्वत्ता की सम्पत्ति? वह अपार थी। इसी को साथ लेकर वे उस महान् कार्य के लिए कर्म क्षेत्र में अवतरित हुए, गुरुदक्षिणा के रूप में जिसे सम्पादित करने की प्रतिज्ञा उन्होंने अपने गुरु विरजानन्द जी से की थी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह कर्मक्षेत्र गंगा के साथ-साथ का वह प्रदेश था, जहाँ बहुत-से तीर्थ-स्थान विद्यमान हैं, और जहाँ सैकड़ों मन्दिरों की सत्ता है। स्वाभाविक रूप से इस प्रदेश के निवासियों में ब्राह्मणों की संख्या अधिक है, और श्रद्धालु तीर्थयात्रियों के निरन्तर आते-जाते रहने के कारण इसका वातावरण भी धार्मिक है। कुम्भ के अवसर पर इस प्रदेश से बहुत-से यात्री हरिद्वार गये थे, और वहाँ उन्होंने पाखण्ड खण्डिनी पताका

तथा इस युवा संन्यासी की चर्चा भी सुनी थी। वे स्वामी जी के अगाध पाण्डित्य से परिचित थे, और यह भी जानते थे कि वे मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी हैं। हरिद्वार से चलकर स्वामी जी शुक्रताल (मुजफ्फरनगर जिले में), परीक्षितगढ़ और गढ़मुक्तेश्वर होते हुए कर्णवास पहुँचे। इसके बाद वे फर्रुखाबाद, अनूपशहर, चांसी, रामघाट आदि में पर्यटन करते हुए पुनः कर्णवास आ गये। इन सब स्थानों पर लोग अच्छी बड़ी संख्या में उनके दर्शन के लिए आते, और उनके प्रवचन को सुनकर लाभ उठाते। इस काल में स्वामी जी अपने प्रवचनों में किन बातों का प्रतिपादन करते थे, यह उस 'विज्ञापन' से भलीभाँति जाना जा सकता है, जो उन्होंने सन् १८६६ के जुलाई मास में छपवाया था। इसमें आठ गप्पों और आठ सत्यों का उल्लेख है। आठ गप्पें निम्नलिखित हैं—

"मनुष्यकृताः सर्वे ब्रह्मवैवर्त पुराणादयो ग्रन्थाः प्रथमं गप्पम् ।१।
पाषाणादि पूजनं देव बुद्धया द्वितीयं गप्पम् ।२।
शैवशाक्त वैष्णव गाणपत्यादयः सम्प्रदायास्तृतीयं गप्पम् ।३।
तन्त्रग्रन्थोक्तो वाममार्गं चतुर्थं गप्पम् ।४।
भंगादिनशाकरणं पंचमं गप्पम् ।५।
परस्त्रीगमनं षष्ठं गप्पम् ।६।
चौरीति सप्तमं गप्पम् ।७।
कपटच्छलाभिमानानृतभाषणमष्टमं गप्पम् ।८।

स्वामी जी के अनुसार ये आठ बातें गप्प या मिथ्या थीं और उनके त्याग में ही मनुष्यों का हित था। ब्रह्मवैवर्त आदि सब पुराण, मूर्तिपूजा, शैवशाक्त वैष्णव आदि सब सम्प्रदाय, वाममार्ग, भंग आदि मदकारी वस्तुओं का सेवन, परस्त्रीगमन, चोरी, कपट, छल, अभिमान और असत्य भाषण—स्वामी जी के मत में ये त्याज्य थे और इन्हीं का अपने प्रवचनों में वे खण्डन किया करते थे। इनके विपरीत वे आठ सत्यों का प्रतिपादन करते थे, जो निम्नलिखित हैं—

"ऋग्वेदादीन्येकविंशति शास्त्राणि परमेश्वरार्षरचितानि प्रथमं सत्यम् ।१।
ब्रह्मचर्याश्रमेण गुरुसेवास्वधर्मानुष्ठानपूर्वकं वेदानां पठनं द्वितीयं सत्यम् ।२।
वेदोक्तवर्णाश्रमस्वधर्मसन्ध्यावन्दनाग्निहोत्राद्यनुष्ठानं तृतीयं सत्यम् ।३।
यथोक्तदाराधिगमनं पंचमहायज्ञानुष्ठानऋतुकालस्वदारोपगमनं श्रौतस्मार्ताचाराद्यनुष्ठानं चतुर्थं सत्यम् ।४।
शमदमतपश्चरणयमादि समाध्यन्तोपासनासत्संगपूर्वकं वानप्रस्थाश्रमानुष्ठानं पंचमं सत्यम् ।५।
विचारविवेक वैराग्यपराविद्याभ्याससंन्यासग्रहणपूर्वकं सर्वकर्मफलत्यागाद्यनुष्ठानं षष्ठं सत्यम् ।६।
ज्ञानविज्ञानाभ्यां सर्वानर्थजन्ममरणहर्षशोककामक्रोधलोभमोहसंगदोषत्यागानुष्ठानं सप्तमं सत्यम् ।७।
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशतमो रजः सत्वसर्वक्लेशनिवृत्तिः
पंचमहाभूतातीत मोक्षस्वरूप स्वराज्य प्राप्तिः अष्टमं सत्यम् ।८।

(१) परमेश्वर तथा ऋषियों द्वारा विरचित ऋग्वेद आदि इक्कीस शास्त्र, (२) ब्रह्मचारी रहकर गुरु सेवा तथा स्वधर्म का अनुष्ठान करते हुए वेदों का अध्ययन,

(३) वेदों द्वारा प्रतिपादित वर्णधर्म और आश्रमधर्म का पालन और संध्या एवं अग्निहोत्र का अनुष्ठान, (४) धर्मानुकूल विवाह, पंच महायज्ञों का अनुष्ठान, ऋतुकाल में पत्नी का संग और श्रुति व स्मृति द्वारा प्रतिपादित आचार का अनुष्ठान, (५) शम, दम, तपश्चरण, यमनियमों का सेवन, उपासना व सत्संग करते हुए वानप्रस्थ आश्रम के नियमों का पालन, (६) विचार, विवेक, वैराग्य और परा विद्या का अभ्यास कर संन्यास का ग्रहण करना और संन्यासी होकर कर्म-फल का पूर्णतया त्याग कर जीवन बिताना, (७) जन्म, मरण, हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, संगदोष आदि का ज्ञान विज्ञान द्वारा परित्याग, (८) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि क्लेशों से निवृत्ति और उस मोक्षस्वरूप स्वराज्य की प्राप्ति, जो पंच महाभूतों से अतीत है, अर्थात् जिससे भौतिक सत्ताओं का कोई सम्पर्क नहीं है, जो सर्वांश में आत्मरूप है।

स्वामी जी ने जो ये आठ सत्य प्रतिपादित किए हैं, उनमें प्रथम सत्य के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि सन् १८६६ के मध्य तक वे इक्कीस शास्त्रों को परमेश्वर रचित तथा आर्ष (ऋषिकृत) व प्रमाण मानते थे। ये इक्कीस शास्त्र कौन से थे, इसका विवरण भी स्वामी जी ने 'विज्ञापन' में दिया है। ये शास्त्र निम्नलिखित हैं—(१-४) चार वेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। (५) आयुर्वेद, जिसके चरक और सुश्रुत दो ग्रन्थ सत्य हैं। (६) धनुर्वेद। (७) गन्धर्ववेद। (८) अर्थवेद। (९) शिक्षा। (१०) कल्प। (११) व्याकरण, जिसके सत्यग्रन्थ अष्टाध्यायी और महाभाष्य हैं। (१२) निरुक्त। (१३) छन्द। (१४) ज्योतिष, जिसका सत्यग्रन्थ भृगुसंहिता है। (१५) उपनिषदें, जिनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, एतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर और कैवल्य ये बारह उपनिषदें सत्य हैं। (१६) शारीरिक सूत्र। (१७) कात्यायनादि सूत्र। (१८) योगभाष्य। (१९) वाक्योवाक्य या तर्कविद्या। (२०) मनुस्मृति। (२१) महाभारत। यद्यपि स्वामी जी ने इन इक्कीस ग्रन्थों को सत्य माना था, पर साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया था कि इन इक्कीस शास्त्रों में भी यदि कोई बात व्याकरण, वेद और शिष्टाचार के विरुद्ध हो, तो वह असत्य है। (एतेष्वेकविंशति शास्त्रेष्वपि व्याकरण वेद शिष्टाचारविरुद्धम् यद्वचनं तदप्यसत्।) इस समय तक स्वामी जी की सत्यासत्य निर्णय की कसौटी केवल वेदों तक ही सीमित नहीं थी, व्याकरण और शिष्टाचार के विरुद्ध कथन को भी वे असत्य मानते थे। वेद ईश्वरकृत हैं, और उपवेद, वेदांग, आस्तिक दर्शन तथा उपनिषदें ऋषिकृत या आर्ष हैं, यह स्वामी जी का मन्तव्य सन् १८६९ तक भलीभाँति सुस्पष्ट हो गया था। १८६७ में हरिद्वार के कुम्भ के समय तक स्वामी जी देवी भागवत पुराण को व्यासकृत, शुद्ध तथा वेदादि के अविरुद्ध मानते थे। पर दो साल बाद १८६९ में वे सभी पुराणों को गप्प या मिथ्या मानने लगे थे। उनके मन्तव्यों में यह परिवर्तन अत्यन्त महत्त्व का है। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों स्वामी जी के अध्ययन तथा मनन में वृद्धि होती गई, उनके सम्मुख यह स्पष्ट होता गया कि स्वतःप्रमाण केवल चार वेद हैं। अन्य सब ग्रन्थों की प्रामाणिकता उसी अंश तक है, जहाँ तक वे वेदों के विरुद्ध न हों। मनुस्मृति और महाभारत की गणना यद्यपि उन्होंने सत्य ग्रन्थों में की है और उन्हें ऋषिकृत माना है, पर बाद के स्वामी जी के लेखों व ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि इनके भी अनेक अंश उन्हें सत्य के रूप में मान्य नहीं थे, क्योंकि वे वेदविरुद्ध हैं। सन् १८६९ में प्रकाशित 'विज्ञापन' से यह स्पष्ट नहीं होता, कि ब्राह्मण ग्रन्थ स्वामी जी को सत्य रूप

से मान्य थे या नहीं। उन्होंने जिन इक्कीस सत्य शास्त्रों का परिगणन किया है, ब्राह्मण-ग्रन्थ उनमें नहीं हैं। सम्भवतः, इसका यह कारण था कि अनेक विद्वान् वेदों के दो भाग मानते रहे हैं, संहिता भाग और ब्राह्मण भाग। यह असम्भव नहीं है कि उस समय तक स्वामी जी भी ब्राह्मणों को वेदों का ही भाग मानते हों, और इसी कारण उन्होंने उनका सत्य शास्त्रों में पृथक् रूप से परिगणन न किया हो। इसी प्रकार सत्य शास्त्रों की सूची में केवल तीन आस्तिक दर्शनों का उल्लेख है। शारीरिक सूत्र (ब्रह्म सूत्र या वेदान्त दर्शन), योग भाष्य (योग दर्शन) और वाक्योवाक्य, सम्भवतः, जिससे न्याय व तर्क शास्त्र अभिप्रेत था। सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों को स्वामी जी ने इक्कीस सत्य शास्त्रों में उल्लिखित नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि तब तक वे इनकी सत्यता व प्रामाणिकता का अन्तिम रूप से निश्चय न कर सके हों। स्वामी जी के विचारों एवं मन्तव्यों में निरन्तर परिवर्तन होता रहा, क्योंकि वे सत्य के ग्रहण तथा असत्य के परित्याग के लिए सदा उद्यत रहते थे। अपने जिन मन्तव्यों तथा अमन्तव्यों को उन्होंने बाद में सत्यार्थ प्रकाश के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया, उन तक पहुँचने में उन्हें समय लगा था। हरिद्वार में कुम्भ के समय (सन् १८६७) से बंगाल के लिए प्रस्थान (१८७२) के समय तक गंगा के समीपवर्ती प्रदेश में पर्यटन करते हुए जहाँ स्वामी जी पण्डितों व विद्वानों से शास्त्रचर्चा करते रहे, वहाँ साथ ही अध्ययन, मनन तथा योगाभ्यास द्वारा वे उन सत्यों तक पहुँचने के लिए भी निरन्तर प्रयत्न करते रहे, जिन्हें उन्होंने बाद में अपने मन्तव्यों के रूप में प्रकट किया और जिनके कारण उन्हें ऋषि व महर्षि के पद की प्राप्ति हुई।

१८६७ से १८७२ तक स्वामी जी गंगा के तटवर्ती जिन-जिन नगरों व प्रदेशों में गए, जहाँ-जहाँ उन्होंने निवास किया, जिन विद्वानों के साथ उन्होंने शास्त्रचर्चा की, जिन पण्डितों के साथ उनके शास्त्रार्थ हुए, और कौन-से प्रमुख व्यक्ति उनके व्याख्यानों व सत्संग से प्रभावित होकर उनके अनुयायी बने, इस सम्बन्ध में पण्डित लेखराम जी तथा श्री देवेन्द्र नाथ जी मुखोपाध्याय ने जो खोज की है, वह अत्यन्त महत्त्व की है और साथ ही प्रामाणिक भी है। पं० लेखराम जी ने स्वामी जी के जीवनवृत्त को संकलित करने के कार्य का प्रारम्भ सन् १८८८ में किया था, और १८९२ तक उन्होंने यह कार्य बहुत कुछ कर भी लिया था। तब स्वामी जी का देहावसान हुए अधिक समय नहीं हुआ था। बहुत-से ऐसे व्यक्ति उस समय जीवित थे, जो स्वामी जी के समकालीन थे और जिन्होंने उनके कार्यकलाप को अपनी आँखों से देखा था या जो उनके सम्पर्क में रह चुके थे। पण्डित लेखराम जी ने इन्हीं से मिलकर उन घटनाओं का संकलन किया था, जो उन द्वारा लिखित 'महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित्र' में वर्णित है। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने महर्षि के जीवनवृत्त का जो संकलन किया, उसमें वर्णित घटनाएँ भी प्रायः उन्हीं लोगों से उन्होंने मालूम की थीं जो महर्षि के समकालीन थे तथा उसके सम्पर्क में आए थे। इन दोनों जीवन-चरित्रों में १८६७ से १८७२ तक के स्वामी जी के कार्यकलाप का पर्याप्त विस्तार के साथ जो विवरण दिया गया है, उसे यहाँ संक्षिप्त रूप से दे सकना भी सम्भव नहीं है। पर इस काल में स्वामी जी ने जिन बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया, उनका निर्देश करना अवश्य उपयोगी होगा। अपने प्रचार कार्य में वे मूर्तिपूजा के खण्डन को बहुत महत्त्व देते थे। वे केवल मूर्तिपूजा का विरोध ही नहीं करते थे, अपितु अपने

अनुयायियों को इस बात के लिए भी प्रेरित करते थे कि मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित कर दें। शास्त्रार्थों में जो पण्डित स्वामी जी से पराजित हो जाते थे, वे मूर्तिपूजा का परित्याग कर स्वेच्छापूर्वक अपने मन्दिर या घर में प्रतिष्ठापित मूर्तियों को गंगा में बहा देते थे। शिवरात्रि के अवसर पर चूहों को शिव की मूर्ति के चारों ओर घूमते हुए देखकर बालक मूलशंकर के मन में मूर्तिपूजा के विरुद्ध जो भावना उत्पन्न हुई थी, समय के साथ-साथ वह और भी अधिक दृढ़ होती गई, और वेदों के अध्ययन के पश्चात् उनका यह विचार पूर्णरूप से बद्धमूल हो गया कि परमेश्वर निराकार है और उसकी मूर्ति बनायी ही नहीं जा सकती। १८६६-७० के काल में स्वामी जी गायत्री मन्त्र की दीक्षा पर भी विशेष बल दिया करते थे, और यह भी प्रतिपादित करते थे कि उपनयन संस्कार केवल ब्राह्मणों का ही नहीं होना चाहिए, अपितु क्षत्रियों और वैश्यों को भी यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। उनकी प्रेरणा से कितने ही क्षत्रियों और वैश्यों ने यज्ञोपवीत धारण किया, और नियमपूर्वक सन्ध्या का अनुष्ठान तथा गायत्री का जाप प्रारम्भ किया।

स्वामी जी के विचार इस काल में अत्यन्त युक्तियुक्त तथा प्रगतिशील थे। वे धर्म व सदाचार के बाह्य रूप की तुलना में आन्तरिक भावना एवं सदाचरण को अधिक महत्त्व देते थे। यद्यपि वे द्विजमात्र के लिए यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक समझते थे और यह भी कहते थे कि उपवीत हुए बिना किसी को वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का अधिकार नहीं है, जब उनसे यह प्रश्न किया गया कि यदि एक उपवीत मनुष्य अशुभ कर्म करे और दूसरा अनुपवीत मनुष्य शुभ कर्म करे तो उनमें कौन उत्तम है, तो स्वामी जी ने यह उत्तर दिया था कि उत्तम तो वही है जो उत्तम कर्म करे। (घासीराम—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, पृष्ठ ११३) इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी की दृष्टि में शुभ कर्मों का महत्त्व यज्ञोपवीत धारण की तुलना में अधिक था, यद्यपि वे उपनयन संस्कार को आवश्यक समझते थे। स्वामी जी की युक्तियुक्तता तथा प्रगतिशीलता का एक अन्य भी उल्लेखनीय उदाहरण है। एक दिन सुखवासीलाल साध स्वामी जी के लिए कढ़ी और भात बनवाकर लाया। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उसका भोजन किया। ब्राह्मण लोग साध सम्प्रदाय के अनुयायियों को नीच व पतित मानते थे। उन्होंने स्वामी जी से कहा कि आप भ्रष्ट हो गए, क्योंकि आपने साध के घर का भोजन खा लिया। इस पर स्वामी जी ने यह उत्तर दिया कि भोजन दो प्रकार से भ्रष्ट होता है, एक तो यदि किसी को दुःख देकर भोजन प्राप्त किया जाए और उससे अन्न आदि क्रय करके भोजन बनाया जाए, दूसरे भोजन मलिन हो या उसमें कोई मलिन वस्तु गिर जाए। साध लोगों का परिश्रम का पैसा है, उससे प्राप्त किया हुआ भोजन उत्तम है। (घासीराम, पृष्ठ १३४) भोजन के विषय में स्वामी जी के विचार एक अन्य घटना से भी स्पष्ट होते हैं। एक दिन एक नाई अपने घर से बनवाकर उनके लिए भोजन लाया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस पर लोगों ने उनसे कहा—महाराज, यह तो नाई की रोटी है। स्वामी जी का उत्तर था, यह रोटी नाई की नहीं, अपितु गेहूँ की है। जिस युग में स्वामी जी ने ये विचार प्रकट किये थे, तब हिन्दुओं में सर्वत्र छूत-अछूत और ऊँच-नीच के भेद प्रबल रूप से विद्यमान थे। किसी को दुख देकर या किसी का शोषण करके जो धन प्राप्त किया जाता है उससे क्रय किया हुआ भोजन भ्रष्ट है, यह विचार तो आज के युग के लिए भी अत्यन्त प्रगतिशील व क्रान्तिकारी है। उनके विचारों की प्रगतिशीलता इससे भी सूचित होती है कि वे मन्दिर आदि के निर्माण

में जो धन व्यय किया जाता है, उसे पाठशालाएँ खुलवाने व अन्य लोकोपकारी कार्यों में लगाना अधिक अच्छा समझते थे। कानपुर में स्वामी जी से मिलने के लिए प्रागनारायण और गुरुप्रसाद नामक दो रईस आया करते थे। उन्होंने नगर में कैलाश और बैकुण्ठ नाम के दो मन्दिर बनवाये थे। स्वामी जी ने उन्हें कहा कि आपने मन्दिर बनवाने में लाखों रुपया निरर्थक लगाया। बीस-पच्चीस वर्ष के पश्चात् ये मन्दिर गिर जाएँगे। अच्छा होता कि आप कोई ऐसा काम करते जिससे मनुष्यमात्र या देश का भला होता, या किसी निर्धन की लड़की का विवाह करा देते, और यदि उनका नहीं तो तीस-तीस वर्ष की कन्नौजी ब्राह्मणों की लड़कियाँ कुंवारी बैठी हैं, उन्हीं का विवाह करा देते या कोई पाठशाला लड़के और लड़कियों की बनाते या कोई कला-कौशल का कार्यालय खोलते जिससे देश और जाति का भला होता। यह लाखों रुपये आपने व्यर्थ नष्ट कर दिये। (लेखराम—महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र, नया बांस, पृष्ठ ६३४) स्वामी जी के ये विचार कितने प्रगतिशील व क्रान्तिकारी हैं। उनकी दृष्टि में मन्दिरों के बनवाने में रुपये लगाना धन को नष्ट करना था। इस काम में रुपया खर्च करने की तुलना में यह अधिक अच्छा था, कि उससे शिक्षणालय खुलवाये जाएँ, कल-कारखानों का निर्माण कराया जाए, और या निर्धन कन्याओं के विवाह सदृश सत्कार्यों में उसे प्रयुक्त किया जाए। देश और जाति की दुर्दशा की ओर भी इस काल में स्वामी जी का ध्यान था, और वे मूर्तिपूजा के खण्डन तथा ईश्वर की उपासना के सम्बन्ध में प्रवचन करने के साथ-साथ ऐसे विचार भी व्यक्त किया करते थे, जिनसे देश और जाति में विद्यमान बुराइयाँ दूर की जा सकती थीं।

अपने प्रगतिशील विचारों के कारण स्वामी जी जातपाँत के कट्टर विरोधी थे। वे वर्ण व्यवस्था को मानते थे, पर जन्म के आधार पर नहीं। कोई मनुष्य अपने गुण, कर्म और स्वभाव के कारण ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहाता है, यह उनका मन्तव्य था। इसी मन्तव्य को लेकर बाद में उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना प्रस्तुत की, जो 'न्याय' एवं 'सब को समान अवसर' के सिद्धान्तों पर आधारित हो, और ऐसे समाज की स्थापना के क्रियात्मक उपाय भी उन्होंने प्रतिपादित किये। पर उनके ये विचार १८६७-७२ के काल में ही प्रकट होने प्रारम्भ हो गये थे। कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में स्वामी विशुद्धानन्द के साथ शास्त्रार्थ में उन्होंने 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः' यजुर्वेद के पुरुष सूक्त के इस मन्त्र की इस ढंग से व्याख्या की थी, कि समाज रूपी शरीर में ब्राह्मण मुख स्थानीय हैं और क्षत्रिय भुजा स्थानीय, वैश्य उरु के सदृश हैं और शूद्र पैरों के समान। स्वामी विशुद्धानन्द जी का कथन था कि वेदमन्त्र के अनुसार ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य उरु से, शूद्र पैरों से। विशुद्धानन्द जी द्वारा किये गये अर्थ की तुलना में स्वामी दयानन्द सरस्वती का अर्थ स्पष्टतया युक्तियुक्त एवं सत्य था। वे केवल गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का ही प्रतिपादन नहीं करते थे, अपितु यह भी कहते थे कि समाज में जिन्हें नीचा समझा जाता है, वे अपने गुण कर्मों के अनुसार ऊँची स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। हिन्दू धर्म का परित्याग कर जिन लोगों ने इस्लाम सदृश अन्य धर्मों को अपना लिया था, उन्हें भी वे शुद्ध करके अपने समाज में सम्मिलित कर लेने के पक्ष में थे। एक दिन धर्मपुर के नौमुस्लिम रईस ने उनसे पूछा कि क्या हम भी किसी प्रकार शुद्ध हो सकते हैं। इस पर स्वामी जी ने यह उत्तर दिया कि यदि धर्म का आचरण करोगे, तो

अवश्य शुद्ध हो जाओगे। (घासीराम—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, पृष्ठ ११२) हिन्दू जाति के लिए स्वामी जी का यह मन्तव्य कितना क्रान्तिकारी था। प्राचीन समय में जिन हिन्दुओं (आर्यों) ने शक, यवन, कुशाण, हूण आदि विधर्मी जातियों को शुद्ध कर अपने समाज का अंग बना लिया था, वे तुर्क-अफगानों तथा मुगलों को आत्मसात् करने में असमर्थ रहे थे। विधर्मियों का तो प्रश्न ही क्या, यदि कोई हिन्दू प्रलोभन या बलप्रयोग से अपने धर्म का परित्याग कर देता, तो उसे भी पुनः हिन्दू बना सकना असम्भव हो गया था। सदियों बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह प्रतिपादित किया कि धर्म का आचरण करने पर कोई भी विधर्मी हिन्दू बन सकता है। निस्सन्देह, स्वामी जी का यह मन्तव्य अत्यन्त क्रान्तिकारी था। उस समय कायस्थ लोगों को नीच (शूद्र) समझा जाता था। पर स्वामी जी का कथन था, कि कायस्थ वास्तव में वैश्य हैं। पर मद्य-मांस के सेवन करने से वैश्यों से पृथक् होकर शूद्र माने जाने लगे हैं। यदि वे अपने आचरण ठीक कर लें, तो वे शूद्र नहीं रहेंगे। कानपुर के निवास में स्वामी जी एक कायस्थ के पास ठहरे थे। कैलाशपर्वत नामक एक पण्डित ने वहाँ उनसे आकर मिलने से इनकार कर दिया, इस कारण "क्योंकि हम शूद्र के घर नहीं आ सकते।" इस पर स्वामी जी ने उसे उत्तर दिया कि तुम म्लेच्छ के राज्य में क्यों आये हो? (लेखराम—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र, नया बांस, पृष्ठ १३२ और १४०) स्वामी जी के इस कथन से यह भी सूचित होता है कि भारत में विदेशी शासन के प्रति उनके मन में क्या भावना थी। स्वराज्य और स्वदेशी के जिन विचारों को बाद में उन्होंने अत्यन्त प्रबल रूप से प्रतिपादित किया, वे इस काल में भी उनके मन में विद्यमान थे, यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है।

१८६७-७२ के काल में सुधार कार्य को करते हुए स्वामी जी बहुधा शास्त्रार्थों का भी आश्रय लिया करते थे। इसी काल में (सन् १३६६) में उन्होंने काशी में वहाँ के पण्डितों से वह प्रसिद्ध शास्त्रार्थ किया, जिसके कारण उनके पाण्डित्य की सर्वत्र धूम मच गई। काशी के अतिरिक्त अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर उन्होंने शास्त्रार्थ किये, और पण्डितों तथा विद्वानों को अपने मन्तव्यों की सच्चाई एवं उत्कृष्टता को स्वीकार करने के लिए विवश किया। इनमें पण्डित अम्बादत्त से कर्णवास में, पण्डित कृष्णानन्द से रामघाट में, पण्डित हीरावल्लभ से कर्णवास में, पण्डित उमादत्त से ककोड़े के मेले में, पण्डित श्रीगोपाल से फर्रुखाबाद में, पण्डित हलधर ओझा से कानपुर में, पण्डित हरजसराय से प्रयाग में और पण्डित दुर्गादत्त से डुमरांव में हुए शास्त्रार्थ उल्लेखनीय हैं। ये शास्त्रार्थ प्रायः संस्कृत भाषा में होते थे, और बहुधा इन्हें लिखित रूप से किया जाता था। अनेक शास्त्रार्थ ऐसे भी हुए, जिनकी अध्यक्षता जिले के कलेक्टर या किसी उच्च राजपदाधिकारी द्वारा की गई। इनमें विजय किसकी हुई, इस बात का निर्णय भी सभाध्यक्ष द्वारा दे दिया गया। ऐसा एक शास्त्रार्थ कानपुर में श्री थेन (W. Thaine) की अध्यक्षता में हुआ था, जिसमें स्वामी जी के प्रतिपक्षी पण्डित हलधर ओझा थे। श्री थेन असिस्टेन्ट कलेक्टर के पद पर नियुक्त थे, और संस्कृत भी जानते थे। उन्होंने अपने निर्णय में स्पष्ट रूप से यह कहा था कि मुझे विश्वास है कि स्वामी जी की युक्तियाँ वेदों के अनुकूल थीं और मेरे विचार में उनकी ही विजय हुई। (घासीराम—महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र, पृष्ठ १५२) कानपुर के इस शास्त्रार्थ के अवसर पर हजारों की संख्या में लोग उपस्थित हुए थे, और नगर के कितने ही सम्भ्रान्त व्यक्ति तथा राजकीय पदाधिकारी

स्वामी जी की युक्तियुक्त शास्त्रचर्चा का श्रवण करने के लिए वहाँ गये थे। काशी के शास्त्रार्थ में अध्यक्ष का पद काशी नरेश महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह ने ग्रहण किया था। काशी नरेश सनातन पौराणिक धर्म के कट्टर अनुयायी थे, और मूर्तिपूजा के प्रबल समर्थक थे। काशी नगरी चिरकाल से शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रही है। बौद्ध युग में भी वहाँ अनेक विद्यापीठ विद्यमान थे। पर मध्य युग में तो उसने शिक्षा के प्रधान केन्द्र की स्थिति प्राप्त कर ली थी। प्राचीन शास्त्रों, संस्कृत व्याकरण, कर्मकाण्ड ज्योतिष आदि का वहाँ विशेष रूप से अध्ययन-अध्यापन होता था, और भारत भर के विद्वान् काशी के पण्डितों के नेतृत्व को स्वीकार करते थे। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पौराणिक धर्म के इस सुदृढ़ गढ़ को विजय करने का प्रयत्न करें। वहाँ के पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त करके ही वे अपने मन्तव्यों की सत्यता को सिद्ध कर सकते थे। पर काशी के पण्डित यह भलीभाँति जानते थे कि स्वामी जी के सम्मुख टिक सकना उनके लिये सुगम नहीं है। स्वामी विशुद्धानन्द हरिद्वार में स्वामी जी के अगाध पाण्डित्य एवं शास्त्र ज्ञान से परिचय भी प्राप्त कर चुके थे। अतः प्रारम्भ से ही काशी के पण्डित इस चिन्ता में थे कि शास्त्रार्थ के समय शान्ति व व्यवस्था न रहने पाये, और उनके अनुयायी यह घोषणा करने का अवसर प्राप्त कर लें कि दयानन्द सरस्वती पराजित हो गये हैं। इस योजना में काशी नरेश भी उनके साथ थे। परिणाम यह हुआ कि शास्त्रार्थ के दिन सैकड़ों पण्डित अपने हजारों शिष्यों व अनुयायियों, जिनमें असामाजिक तत्त्व भी अच्छी बड़ी संख्या में थे, के साथ सभास्थल पर पहुँच गये। वहाँ एक अद्‌भुत दृश्य था। एक ओर स्वामी दयानन्द सरस्वती अकेले विराजमान थे, और दूसरी ओर काशी के प्रसिद्ध पण्डितों की मण्डली थी जिसकी जय-जयकार से उसके अनुयायी सभामण्डप को गुँजा रहे थे। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। एक-एक करके पण्डित स्वामी जी से प्रश्नोत्तर करने के लिए अग्रसर होते गये और स्वामी जी के प्रश्नों का उत्तर न दे सकने के कारण मैदान से पीछे हटते गये। पराजय को साक्षात् सम्मुख देख पण्डित मण्डली ने अव्यवस्था शुरू कर दी, और स्वामी जी पर कंकर, मिट्टी, जूते आदि फेंकना प्रारम्भ कर दिया। शास्त्रार्थ को बीच में ही भंग कर पण्डित लोग अपनी जय-जयकार बोलते हुए काशी में सर्वत्र परिभ्रमण करने लगे। पर सत्य को छिपा सकना सम्भव नहीं होता। शास्त्रार्थ के जो समाचार उस समय समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए, उनमें असंदिग्ध रूप से स्वामी जी की विजय का उल्लेख किया गया है। 'रुहेलखण्ड समाचार' पत्र के नवम्बर, सन् १८६९ के अंक में इस शास्त्रार्थ की चर्चा करते हुए लिखा गया था कि "दयानन्द स्वामी सरस्वती जी, जो मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं और जिनका कानपुर के पण्डितों से भी शास्त्रार्थ हुआ था, काशी के पण्डितों को उन्होंने जीत लिया और काशी के पण्डितों ने व्यर्थ ही अपनी विजय को प्रकट किया।" पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने अपनी पत्रिका 'प्रत्नकम्र नन्दिनी' के २८ दिसम्बर, सन् १८६९ के अंक में काशी शास्त्रार्थ का विवरण संस्कृत में प्रकाशित किया था, जिसको पढ़कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि काशी के पण्डित स्वामी जी के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके थे। इस पत्रिका के अनुसार काशी नरेश इससे बहुत खिन्न हुए थे, और उन्होंने अपने आक्रोश को यह कह कर प्रकट किया था, कि "यद्यपि दयानन्द धृष्ट और मूर्ख हैं, तथापि उसको कोई पण्डित किसी भी प्रकार नहीं हरा सका है।" ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका में इस

शास्त्रार्थ की चर्चा करते हुए लिखा गया था, कि "पहले उनका (दयानन्द सरस्वती का) शास्त्रार्थ काशीधाम में वहाँ की पण्डित मण्डली से हुआ। राजा साहब बनारस के यहाँ सभा हुई। सौ पण्डित एकत्र थे, परन्तु दयानन्द जी का यह कथन था कि मूर्तिपूजा वेद विहित नहीं है। बहुत तर्क-वितर्क तथा वादानुवाद के पश्चात् दयानन्द जी की जीत हुई।" १७ जनवरी, १८७० के अंक में हिन्दू पैट्रियट में स्वामी जी के कार्यकलाप और काशी शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं—"हिन्दुओं की मूर्तिपूजा और पक्षपात का दृढ़ दुर्ग, जो हिन्दुओं की देवगाथा (माइथोलोजी) के अनुसार शिव के त्रिशूल पर खड़ा है...अब गुजरात के एक ऋषि के प्रकट होने पर जड़ से हिला दिया गया है। इस महान् सम्माननीय व्यक्ति का नाम दयानन्द है...वह वेदों को ही प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थ मानता है, और पुराणों को अविद्या के काल के कुछ चालाक ब्राह्मणों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए बनाया हुआ कहता है। उसका कथन है कि वेद मूर्तिपूजा की शिक्षा नहीं देते।...कुछ समय हुआ कि रामनगर के महाराजा ने एक सभा की, जिसमें उसने बनारस के चुने हुए और बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित बुलाये। दयानन्द सरस्वती और पण्डितों के मध्य एक जोरदार और लम्बा-चौड़ा शास्त्रार्थ होता रहा, परन्तु अपनी शास्त्रज्ञता का अभिमान करने वाले पण्डित बुरी तरह पराजित हुए। पण्डितों ने जब जान लिया कि नियमपूर्वक शास्त्रार्थ द्वारा ऐसे महान् मनुष्य पर विजय प्राप्त करना असम्भव है तो अपना ध्येय पूरा करने के लिए वे पाप पूर्ण उपायों का आश्रय लेने के लिए प्रवृत्त हुए।" मार्च, १८७० में कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले क्रिश्चियन इन्टैलिजेन्सर पत्र में भी काशी शास्त्रार्थ और स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में एक लेख छपा था। उसमें भी स्वामी जी के अगाध पाण्डित्य की प्रशंसा की गई है, और उनके इस मन्तव्य का भी उल्लेख किया गया है कि वेदों के भाष्य की जिस शैली का सायण ने अनुसरण किया था वह ठीक नहीं है, और हिन्दू धर्म में जो विविध मत व सम्प्रदाय प्रचलित हैं, वे वेदों के विरुद्ध हैं। स्वामी दयानन्द वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप को पुनः स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं, और वे हिन्दू समाज को ठीक उसी दशा में ले आना चाहते हैं जिसमें कि वह दो हजार वर्ष पूर्व था। काशी का यह शास्त्रार्थ १७ नवम्बर, १८६९ के दिन हुआ था, और इससे पौराणिक पण्डितों की जिस प्रकार पराजय हुई थी, उससे स्वामी दयानन्द सरस्वती की विद्वता का सिक्का सब कोई मानने लग गये थे। इससे उनकी कीर्ति सर्वत्र फैल गई, और दूर-दूर तक उनकी चर्चा होने लगी। हरिद्वार में पाखण्ड खण्डिनी पताका फहराकर स्वामी जी ने जिस सुधार कार्य का बीजारोपण किया था, वह अब भलीभाँति पल्लवित हो गया था, और जनता उसकी ओर आकृष्ट होने लग गई थी। १८६९ के पश्चात् भी अनेक स्थानों पर पौराणिक पण्डितों से स्वामी जी के शास्त्रार्थ हुए, और सर्वत्र वे अपने इस मन्तव्य को युक्तिपूर्वक प्रतिपादित करने में समर्थ हुए कि मूर्तिपूज वेदविहित नहीं हैं, वेद ही एकमात्र प्रमाणरूप ग्रन्थ है, पुराण सदृश मनुष्यकृत पुस्तकें मान्य नहीं हैं, और हिन्दुओं के विविध सम्प्रदाय वैदिक धर्म के विरुद्ध हैं। अब स्वामी जी एक शक्ति बन गये और न केवल सर्वसाधारण लोग ही, अपितु पण्डित वर्ग के व्यक्ति भी उनके मन्तव्यों की सत्यता को स्वीकार करने लग गये थे।

स्वामी जी अपने प्रवचनों तथा शास्त्रार्थों में मूर्तिपूजा, अवतारवाद और

पितृतर्पण आदि का खण्डन तो करते ही थे, पर साथ ही उन्होंने समाज में प्रचलित विविध बुराइयों व कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाना भी प्रारम्भ कर दिया था। फलित ज्योतिष, हस्तरेखा-विज्ञान आदि में उनका विश्वास नहीं था। एक व्यक्ति ने जब अपना हाथ दिखा कर उनसे यह पूछा कि इसमें क्या है, तो उन्होंने उत्तर दिया—"इसमें हाड़ है, चाम है, रुधिर है, और कुछ नहीं।" जन्मपत्री दिखाने के विषय में उन्होंने कहा—"जन्मपत्रं किमर्थं कर्मपत्रं श्रेष्ठम्", जन्मपत्र का कोई प्रयोजन नहीं है, कर्मपत्र ही श्रेष्ठ है। सूर्य-ग्रहण आदि के अवसर पर भोजन व जल ग्रहण न करने की बात का भी वे समर्थन नहीं करते थे। पौराणिक लोग ऐसे काल में सूतक मानते हैं। २४ जनवरी, १८६८ को सूर्य-ग्रहण के समय उनसे जब यह पूछा गया कि इसका सूतक कब तक मानना चाहिए, तो उन्होंने उत्तर दिया कि सूतक कोई चीज नहीं। जब भूख न हो तो भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन खाना तभी उचित है, जब भूख हो। पितृतर्पण व श्राद्ध का खण्डन करते हुए वे कहा करते थे कि श्राद्ध-तर्पण जीवित माता पिता का करना चाहिए, मरे हुओं का नहीं। उनका यह भी कथन था कि रसोई बनाना शूद्रों का कर्म है। प्राचीन समय में ब्राह्मण पाचक का कार्य नहीं करते थे। जब भोजन बनाना कार्य ही शूद्रों का है, तो उन द्वारा तैयार किए गए भोजन में क्या एतराज हो सकता है? इसमें सन्देह नहीं कि समय के साथ-साथ स्वामी जी के प्रचार कार्य का क्षेत्र भी निरन्तर बिस्तृत होता जाता था। सन् १८७२ तक यह स्थिति आ गई थी कि वे सत्य धार्मिक सिद्धान्तों एवं दार्शनिक मन्तव्यों का निरूपण करने वाले एक पण्डित ही नहीं रह गए थे, अपितु समाज में प्रचलित कुरीतियों तथा अन्ध-विश्वासों का निवारण करने के लिए भी उन्होंने प्रचार शुरू कर दिया था, जिसके कारण सर्वसाधारण लोग और समाज में हीन समझे जाने वाले व्यक्ति भी उनकी ओर आकृष्ट होने लग गए थे।

१८६७-७२ के काल में स्वामी जी ईसाई और मुसलमान लोगों के भी सम्पर्क में आए। ककोड़े के मेले के अवसर (१८६८) पर एक अंग्रेज पादरी से भी उनके प्रश्नोत्तर हुए थे। कतिपय मौलवियों से भी इस समय उन्होंने विचार विनिमय किया था। कानपुर में जब एक मौलवी ने स्वामी जी से कहा कि कुरान खुदा का कलाम है, तो उन्होंने यह कहकर इस बात का खण्डन किया कि कुरान के शुरू में यह कहा गया है कि "आरम्भ करता हूँ मैं अल्लाह के नाम से जो बख्शने वाला और दया करने वाला है", यदि कुरान का कर्ता अल्लाह होता तो वह यह क्यों कहता कि मैं अल्लाह के नाम से प्रारम्भ करता हूँ। मुसलमान कहते थे कि वे मूर्तिपूजा नहीं करते। पर स्वामी जी का कहना था कि ताजियों की पूजा यदि मूर्तिपूजा नहीं है तो क्या है। १८६९-७२ के काल में स्वामी जी के कार्यकलाप एवं प्रचार कार्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ ही समय में सुधारक व सद्धर्म-प्रवर्तक का उनका स्वरूप निखरने लग गया था, और वे उस मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होते जाते थे, जिस पर कि वे न केवल हिन्दुओं को अपितु सम्पूर्ण मानव समाज को ले जाना चाहते थे। यह स्वाभाविक था, कि स्वामी जी के कार्यकलाप के प्रति कुछ लोगों में उग्र रूप से विरोधभाव भी उत्पन्न हो, और वे उन्हें अपने रास्ते से हटा देने के लिए अत्यन्त नीच उपायों का प्रयोग करने लगे। मई, १८६८ में जब स्वामी जी कर्ण-वास में निवास कर रहे थे, तो ठाकुर कर्णसिंह तलवार लेकर उन पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ा, पर वह उनका कुछ न बिगाड़ सका। शहर में उनके मूर्तिपूजा के खण्डन

से क्रुद्ध होकर एक ब्राह्मण ने उन्हें पान में विष दे दिया था (१८७१), पर न्यौली क्रिया करके उसे उन्होंने अपने शरीर से निकाल दिया, और विष उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचा सका। गुण्डों द्वारा हमले तो उन पर प्रायः होते ही रहते थे। या तो स्वामी जी के सम्पर्क में आकर ये भाड़े के गुण्डे उनके भक्त हो जाते थे, या उनकी हुँकार सुनकर भाग जाया करते थे। अपने ऊपर आक्रमण करने वालों या विष देने वालों के प्रति भी स्वामी जी की वृत्ति क्षमा करने की ही रहती थी। अनूपशहर में विष देने वाले ब्राह्मण को जब वहाँ के तहसीलदार सैय्यद मुहम्मद ने कैद कर दिया, तो स्वामी जी उससे बहुत रुष्ट हुए। उन्होंने कहा—"मैं दुनिया को कैद कराने नहीं, बल्कि उसे कैद से छुड़ाने आया हूँ। यदि वह अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता, तो हम अपनी श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें।" कर्णवास में जब ठाकुर कर्णसिंह तथा उसके साथियों ने स्वामी जी पर तलवार से हमला करने का प्रयत्न किया था, तो कुछ लोगों ने उनसे प्रार्थना की थी कि इस घटना की रिपोर्ट पुलिस में दे दी जाए। इस पर स्वामी जी ने कहा था, कि यदि वह अपने क्षत्रियत्व को पूरा न कर सका तो, हम क्यों अपने संन्यास धर्म से पतित हों। इसमें संदेह नहीं, कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जहाँ गम्भीर विद्वान् और वेदशास्त्रों में पारंगत पण्डित थे, वहाँ साथ ही पूर्णतया वीतराग संन्यासी व महात्मा भी थे। सबके प्रति करुणा की भावना और क्षमा की वृत्ति उनके मन में व्याप्त थी, और वे अपनी साधुता द्वारा ही सब पर विजय प्राप्त करते थे। इसी वृत्ति का यह परिणाम था, कि विरोधियों द्वारा बहका कर भेजे हुए कितने ही गुण्डे उनके दर्शन करते ही नतमस्तक हो जाया करते थे, और सब विरोध व विद्वेष भुलाकर उनके चरणों पर गिर पड़ते थे। स्वामी जी के जीवन में ज्ञान, शक्ति और प्रतिभा का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। जहाँ इनका ज्ञान अगाध था, वहाँ इनमें बल भी असीम था। उनका शरीर अत्यन्त बलवान् तथा तपस्या से तप्त था। वे नंगे रहा करते थे। तन पर केवल एक कौपीन होती थी। न उनके पास कोई वस्त्र थे, न पात्र और न बिस्तर। चाहे माघ का शीत हो, और चाहे ज्येष्ठ की गरमी, भूमि ही उनकी शय्या होती थी, और पत्थर ही तकिया। वे बिना कुछ ओढ़े और बिना कुछ बिछाए गंगा की रेती पर या नंगी जमीन पर सो जाया करते थे। यह उस योग साधना का ही परिणाम था, जो उन्होंने चिरकाल तक हिमालय की उपत्यकाओं में और चोटियों पर की थी। इसी साधना द्वारा उनके शरीर, मन और आत्मा का इतना अधिक विकास हो गया था, कि वे सब प्रकार के द्वन्द्वों से पृथक् रहकर मानव समाज के कल्याण में तत्पर हो सके थे।

शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामी जी एक मास के लगभग काशी में रहे, फिर वे मिर्जापुर गए और वहाँ से प्रयाग। प्रयाग से मिर्जापुर होते हुए वे एक बार फिर काशी आए। अब तक काशीनरेश की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो चुका था। शास्त्रार्थ की अध्यक्षता करते हुए गत वर्ष उन्होंने स्वामी जी के प्रति जो अन्याय किया था, उसके लिए उनके मन में पश्चात्ताप उत्पन्न हो गया था। अतः उन्होंने स्वामी जी को अपने निवास-स्थान पर निमन्त्रित किया, और उनका यथोचित सत्कार कर अपने किए के लिए क्षमा-प्रार्थना की। स्वामी जी की विद्वत्ता तथा सत्यप्रियता की इस समय तक सर्वत्र धाक जम चुकी थी, और काशी के पण्डित भी उनका सिक्का मानने लग गए थे। इस दशा में काशी नरेश की मनोवृत्ति में परिवर्तन आ जाना सर्वथा स्वाभाविक ही था। काशी से स्वामी जी पश्चिम की ओर सोरों, अनूपशहर, रामघाट, कासगंज, कर्णवास आदि गए,

और फिर पूर्व दिशा में परिभ्रमण व उपदेश करते हुए फर्रुखाबाद, प्रयाग और मिर्जापुर होकर पुनः काशी आ गए। इस यात्रा में उनका वही कार्यक्रम जारी रहा, जिसमें कि पण्डितों से शास्त्रार्थ, जनसाधारण को उपदेश तथा विधर्मी पादरियों व मौलवियों आदि से विचार विनिमय का प्रमुख स्थान हुआ करता था। कुछ समय काशी में निवास कर एप्रिल, १८७२ में उन्होंने पूर्व की ओर प्रस्थान किया, और मुगलसराय, मुंगेर, आरा, पटना, भागलपुर तथा डुमरांव होते हुए १६ दिसम्बर, १८७२ को वे कलकत्ता पहुँच गए। स्वामीजी के कलकत्ता पहुँचने के साथ उनके प्रचार कार्य के उस युग का अन्त हुआ, जिसका प्रारम्भ हरिद्वार में पाखण्ड-खण्डिनी पताका की स्थापना के साथ हुआ था।

(५) भारत के नवजागरण के आन्दोलनों तथा नए युग की प्रवृत्तियों के साथ सम्पर्क

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही भारत में नवजागरण के आन्दोलनों का सूत्रपात हो गया था। सन् १८२८ में राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में ब्राह्मसमाज की स्थापना की थी। इस समाज में वे सब लोग सम्मिलित हो सकते थे, जो ईश्वर में विश्वास रखते हों और मूर्तिपूजा के विरोधी हों। ब्राह्मसमाज के लिए जो भवन १८३० में निर्मित हुआ था, उसके सेल डीड में यह स्पष्ट रूप से लिख दिया गया था कि नस्ल, जाति और धर्म का भेदभाव किए बिना सब लोग इस भवन में आकर ईश्वर की उपासना कर सकते हैं, और इस उपासना के लिए किसी मूर्ति, प्रतिमा या कर्मकाण्ड का आश्रय नहीं लिया जाएगा। पर इस समाज में प्रधानतया ऐसे ही व्यक्ति सम्मिलित हुए, जो परम्परागत हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। यही कारण है कि इस काल में ब्राह्मसमाज के अधिवेशनों में वेद मन्त्रों द्वारा ईश्वर की उपासना की जाती थी। सन् १८४३ में श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर ब्राह्मसमाज में सम्मिलित हुए। वे भी वेदों को प्रमाणरूप से स्वीकार करते थे और अपने को हिन्दू मानते थे। पर कुछ समय बाद अनेक ऐसे व्यक्ति ब्राह्मसमाज में प्रविष्ट हुए जो वेदों की प्रामाणिकता के स्थान पर बुद्धि और तर्क को अधिक महत्त्व देने के पक्षपाती थे। इनके नेता श्री अक्षयकुमार दत्त थे। दत्त महोदय और उनके साथी वेदों की अपौरुषेयता में सन्देह प्रकट करते थे, और समाज सुधार के लिए उन विचारों का अनुसरण करना चाहते थे जिनका विकास इस युग में इंग्लैण्ड सदृश पाश्चात्य देशों में हो रहा था। इन लोगों के कारण ब्राह्मसमाज धीरे-धीरे हिन्दू धर्म तथा समाज से दूर हटने लगा, और उसमें एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप को प्राप्त कर लेने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हो गया। सन् १८५७ में श्री केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज में सम्मिलित हुए, और उनके कारण इस नए सम्प्रदाय में नवीन स्फूर्ति और उत्साह का संचार हुआ। केशवचन्द्र की प्रेरणा से बहुत-से ऐसे व्यक्ति ब्राह्मसमाज में शामिल हुए, जिन्होंने सांसारिक उत्कर्ष तथा सुख को लात मार कर समाज के सिद्धान्तों के प्रचार में ही अपने जीवन को लगा देने का संकल्प कर लिया था। इन उत्साही कार्यकर्ताओं के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि सन् १८६५ तक भारत के विविध प्रदेशों में ब्राह्मसमाज की ५५ शाखाएँ स्थापित हो गईं, जिनमें से ५० बंगाल में, दो उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में, एक पंजाब में और एक मद्रास में थी। श्री केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्मसमाज ने समाज सुधार के कार्य पर विशेष बल दिया। इस समाज के अनुयायी बालविवाह के विरोधी थे, विधवा विवाह का

समर्थन करते थे, और बहुविवाह को मानव समाज के लिए हानिकारक मानते थे। वे परदा प्रथा के विरुद्ध थे और स्त्री शिक्षा के पक्षपाती थे। अन्तर्जातीय विवाह के वे समर्थक थे, और खानपान विषयक संकीर्ण विचारों को समुचित नहीं समझते थे। ब्राह्मसमाज के सुधार आन्दोलन से प्रभावित होकर सन् १८६७ में एक नई संस्था की स्थापना हुई, जिसे प्रार्थना समाज कहते हैं। महाराष्ट्र की जनता में हिन्दू धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था थी। वहाँ ब्राह्म-समाज के पैर नहीं जम सके, क्योंकि उसके अनेक नेता अपने अनुयायियों को हिन्दू धर्म से पृथक् रखने के पक्षपाती थे। पर महाराष्ट्र के लोग भी यह अनुभव करते थे कि हिन्दुओं में अनेक सुधार आवश्यक हैं। इसीलिए प्रार्थना समाज द्वारा अछूतोद्धार, जातिभेद का विरोध, अन्तर्जातीय विवाह और खानपान, स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह आदि सामाजिक सुधारों का समर्थन किया गया। प्रार्थना समाज के प्रधान नेता जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे थे। उनका मन्तव्य था, कि सामाजिक सुधार के उत्साह में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मनुष्य और समाज का अपने भूतकाल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पुरानी परम्पराओं को एकदम तोड़ सकना मनुष्य के लिए न सम्भव होता है, और न वांछनीय। अतः सुधारकों के लिए आवश्यक है कि वे समाज के भूतकाल को दृष्टि में रखते हुए और उसके मज्जातन्तुगत संस्कारों व पुरानी प्रथाओं का आदर करते हुए ही उसमें परिष्कार का प्रयत्न करें। १८६९ के उत्तरार्द्ध में जब स्वामी दयानन्द सरस्वती वाराणसी तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश में प्रचार-कार्य कर रहे थे, ब्राह्मसमाज की दो शाखाएँ उस क्षेत्र में भी स्थापित हो चुकीं थीं, और उस समाज के प्रचार के सिलसिले में श्री केशवचन्द्र सेन तथा अन्य ब्राह्मसमाजियों ने प्रयाग आदि उत्तर प्रदेश के नगरों में भी आना-जाना प्रारम्भ कर दिया था। इस दशा में यह स्वाभाविक ही था, कि स्वामी जी का बंगाल तथा महाराष्ट्र में प्रारम्भ हुए नवजागरण व सुधार के आन्दोलनों के साथ भी सम्पर्क हो।

क्रिश्चियन पादरियों और ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत में जिस नवीन शिक्षा का सूत्रपात किया गया था, उससे भी देश में नवजागरण की प्रक्रिया को बल मिल रहा था। जो नए ढंग के स्कूल और कालिज उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत में स्थापित किये गए, उनमें अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को प्रधान स्थान दिया गया था, और साथ ही उन नए ज्ञान-विज्ञानों की शिक्षा की भी उनमें व्यवस्था थी जो इस युग में पाश्चात्य संसार में विकसित हो रहे थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक बंगाल और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अंग्रेजी शिक्षा का तेजी के साथ प्रसार होने लग गया था, और धीरे-धीरे पश्चिमी क्षेत्र (बिहार, उत्तर प्रदेश आदि) में भी नए ढंग के स्कूल-कालिज स्थापित होने प्रारम्भ हो चुके थे। जिस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती वाराणसी, कानपुर, प्रयाग, मिर्जापुर आदि में प्रचार कार्य में व्यग्र थे, इन नगरों में अंग्रेजी शिक्षणालय विद्यमान थे, और ऐसे व्यक्ति भी वहाँ थे जो अंग्रेजी भाषा तथा नए ज्ञान-विज्ञान से परिचित थे। पर बंगाल की तुलना में इनकी संख्या बहुत कम थी। साथ ही, ईसाई पादरी भी इस क्षेत्र में अपने धर्म का प्रसार करने में तत्पर थे, यद्यपि वहाँ उन्हें अभी अधिक सफलता नहीं मिली थी। ईसाई पादरी यूरोपियन भी थे, और भारतीय भी। यद्यपि इन द्वारा प्रचारित धार्मिक मन्तव्य नए ज्ञान-विज्ञान के अनुकूल नहीं थे, और समाज सुधार के सम्बन्ध में उन द्वारा जो बातें प्रतिपादित की जाती थीं वे भी प्रगतिशील व क्रान्तिकारी न होकर संकीर्ण साम्प्रदायिक दायरे तक सीमित थीं, पर सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में ये पादरी भी ब्रिटिश शासक

वर्ग के साथ सम्बद्ध थे और इन द्वारा प्रचारित बातों का लोगों पर विशेष प्रभाव पड़ता था। अपने प्रचार कार्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती इन पादरियों के भी सम्पर्क में आए, और उनसे भी उन्होंने विचार-विमर्श किया। संस्कृत के पण्डितों के अतिरिक्त स्वामी जी उस शिक्षित वर्ग के सम्पर्क में भी आने लगे थे, जो नई अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित था। जब भिन्न विचारों व भिन्न संस्कृतियों के व्यक्ति एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तब वे एक-दूसरे से प्रभावित भी होते हैं। स्वामी जी के सम्बन्ध में भी यह बात हुई।

काशी शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामी जी के पाण्डित्य एवं मन्यव्यों की चर्चा बहुत व्यापक क्षेत्र में होने लग गई थी। इस शास्त्रार्थ के समाचार अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे और उन सुशिक्षित तथा प्रगतिशील व्यक्तियों का भी ध्यान स्वामी जी के प्रति आकृष्ट होना प्रारम्भ हो गया था, जो या तो ब्राह्मसमाज एवं प्रार्थना-समाज सदृश सुधारवादी संस्थाओं से प्रभावित थे और या नवीन पाश्चात्य शिक्षा के कारण पुराने रुढ़िवाद के विरुद्ध थे। अंग्रेज राजपदाधिकारियों का भी ध्यान स्वामी जी की ओर जाने लग गया था। ये सब उस विद्वान् संन्यासी से मिलने के लिए उत्सुकता अनुभव करने लगे थे, जिसने अकेले काशी के दिग्गज पण्डितों की मण्डली को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया था, जो केवल कौपीन धारण करके रहता था, नंगी भूमि जिसकी शय्या थी, जो केवल संस्कृत भाषा में बातचीत व प्रवचन किया करता था, जिसे न अंग्रेजी से कोई परिचय था और न जिसने नए पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की ही शिक्षा पाई थी, पर जो वेदशास्त्रों के आधार पर ही ऐसे प्रगतिशील विचारों का प्रतिपादन करता था, जिनसे कि उस युग के चिन्तक भी अभी बहुत दूर थे। ईसाई पादरी समझते थे कि भारत की जनता को अपने धर्म में दीक्षित कर सकने में यह संन्यासी एक भारी बाधा है, क्योंकि सनातन हिन्दू धर्म का जो रूप वह प्रस्तुत करता था उसमें उन बुराइयों, कुरीतियों व अन्धविश्वासों के लिए कोई भी स्थान नहीं था जिनके कारण ये पादरी हिन्दुओं को अपने परम्परागत धर्म से विमुख कर देने के लिए प्रयत्नशील थे।

ईसाई पादरियों से स्वामी जी का सम्पर्क सन् १८६८ में ही शुरू हो गया था। ककोड़े के मेले में स्काट नाम के एक अंग्रेज पादरी से उनकी बातचीत हुई थी, और फिर एक अन्य अंग्रेज से कायमगंज में भी। यह बातचीत दुभाषिये द्वारा हुई थी, क्योंकि उन दिनों स्वामी जी केवल संस्कृत ही बोला करते थे। काशी शास्त्रार्थ के पश्चात् मिर्जापुर में मैथर नामक अंग्रेज पादरी उनसे मिलने के लिए बहुधा आया करता था, और उनसे वेद आदि के विषय में बातचीत करता रहता था। मैथर ने स्वामी जी को यह सुझाव भी दिया था कि वे स्वयं वेदभाष्य करें, ताकि लोग उनके अभिप्राय को भलीभाँति समझ सकें। स्काट ने बाइबिल की एक प्रति स्वामी जी को भेंट की थी, और सम्भवत: उन्होंने उसे पढ़ा भी था। स्काट स्वामी जी का बहुत प्रशंसक हो गया था। वह उनसे प्राय: ईश्वर तथा उस द्वारा मनुष्यों के पापों को क्षमा किए जाने के विषय में बातचीत किया करता था। स्काट बाद में भी स्वामी जी के सम्पर्क में आया, और सितम्बर, १८७९ में बरेली में उन दोनों में विशद रूप से विचार-विमर्श या शास्त्रार्थ भी हुआ। हार्नले सदृश अन्य भी अनेक अंग्रेज पादरी स्वामी जी के सम्पर्क में आते रहे, और वे सब उनके व्यक्तित्व एवं विद्वता से प्रभावित हुए। विदेशी पादरियों से धार्मिक प्रश्नों पर चर्चा करते रहने के कारण स्वामी जी एक ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय से भी परिचित हो गए थे, जो आर्य या हिन्दू

धर्म के विविध मतमतान्तरों से बहुत भिन्न था। इसी प्रकार मुसलमान मौलवियों से भी वे विचार-विनिमय करते रहते थे। उस युग के हिन्दू पण्डितों, विद्वानों या साधु-संन्यासियों का क्रिश्चियन और मुसलिम धर्माचार्यों से सम्पर्क न के बराबर था। उनकी दशा कूप-मण्डूकों के समान थी, वे अपने संकीर्ण दायरे से बाहर की दुनिया से प्रायः अपरिचित ही रहते थे। पर स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके अपवाद थे। विधर्मियों के सम्पर्क में रहने से उनके विचारों में प्रगतिशीलता की वृद्धि में कुछ न कुछ सहायता अवश्य मिली होगी।

काशी शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामी जी मिर्जापुर होते हुए प्रयाग गए थे। सन् १८६९ में प्रयाग में कुम्भ का मेला था, और लाखों नर-नारी उस अवसर पर गंगा-यमुना के संगम पर स्नान करने के लिए वहाँ एकत्र थे। ब्राह्मसमाज के नेता श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर भी उस समय प्रयाग में थे। वे स्वामी जी से मिलने के लिए उनके डेरे पर आए और अनेक विषयों पर विचार विमर्श के अनन्तर उन्हें कलकत्ता पधारने के लिए निमन्त्रित किया। ब्राह्मसमाज और उसके कार्यकलाप से स्वामी जी इससे पहले भी परिचित हो चुके थे। काशी जाने से पूर्व जब वे कानपुर गए थे, तो ब्राह्मसमाज के एक सदस्य श्री क्षेत्रनाथ घोष उनसे मिले थे, और काशी में श्री चन्द्रशेखर सेन तथा पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने उनसे भेंट की थी। श्री सेन कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर थे, और ब्रह्मसमाज में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण था। पण्डित सामश्रमी बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे, और संस्कृत भाषा एवं प्राच्य ज्ञान में उनकी अबाध गति थी। इन दोनों विद्वानों से स्वामी जी को ब्राह्मसमाज का परिचय प्राप्त हुआ, और इन्होंने भी उन्हें कलकत्ता के लिए आमन्त्रित किया था। काशी में निवास करते समय ही स्वामी जी का बम्बई के दो सम्पन्न व्यापारियों के साथ भी परिचय हुआ था। उस समय तक महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हो चुकी थी, और बम्बई में इस समाज का कार्य भलीभाँति प्रारम्भ हो गया था। यह सर्वथा सम्भव है, कि इन सम्पन्न व सुशिक्षित व्यापारियों से स्वामी जी को प्रार्थना समाज के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त हुई हो।

यह सर्वथा सम्भव है कि ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के साथ परिचय होने पर स्वामी जी के सम्मुख एक नया विचार आया हो। अब तक वे अकेले ही कार्य कर रहे थे। उन्होंने किसी संगठन या समाज का निर्माण नहीं किया था। अपने कार्य को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने कुछ पाठशालाएँ अवश्य खोली थीं, जिनमें कि संस्कृत व्याकरण व अन्य संस्कृत ग्रन्थों के साथ-साथ वेदों की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। पर ये पाठशालाएँ अधिक सफल नहीं हो सकीं थीं, और कुछ को तो स्वामी जी ने स्वयं ही बन्द भी कर दिया था। सम्भवतः, स्वामी जी अब यह अनुभव करने लगे थे, कि जिस महान् कार्य को सम्पन्न करने की प्रतिज्ञा उन्होंने अपने गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द जी से की थी, वह तभी भलीभाँति किया जा सकता है, जब कि वे भी ब्राह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाज के समान एक संगठन का निर्माण करें।

काशी शास्त्रार्थ के बाद एक साल से भी अधिक समय तक स्वामी जी प्रयाग, मिर्जापुर, सोरों, कासगंज, अनूपशहर आदि का भ्रमण करते रहे और अनेक बार काशी गए। एप्रिल, १८७२ में उन्होंने काशी से पूर्व की ओर प्रस्थान किया, और मुगलसराय डुमरांव, आरा, पटना, मुंगेर और भागलपुर होते हुए लगभग आठ मास बाद दिसम्बर में कलकत्ता पहुँचे। गत पाँच-छह वर्षों में उनका कार्यक्षेत्र गंगा का तटवर्ती वह प्रदेश रहा,

जो अब उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत है। पश्चिम में गढ़मुक्तेश्वर और अनूपशहर से लगाकर पूर्व में वाराणसी तक के क्षेत्र में ही वे परिभ्रमण करते रहे। यह पहला अवसर था, जबकि उन्होंने वाराणसी से पूर्व की ओर पग बढ़ाए। डुमरांव, आरा, पटना आदि में भी स्वामी जी ने अनेक व्याख्यान दिये, पण्डितों से शास्त्रार्थ किए और ईसाई पादरियों से विचार-विमर्श किया। कुछ स्थानों पर उन्होंने ब्रिटिश पदाधिकारियों तथा स्थानीय राजाओं से भी बातचीत की। इस प्रदेश के नगरों में वे पहली बार आए थे। अतः वहाँ उन्होंने अधिक समय व्यतीत किया। काशी से कलकत्ता तक के स्वामी जी के परिभ्रमण के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि आरा में उन्होंने एक सभा की स्थापना की थी, जिसका उद्देश्य आर्य धर्म का प्रचार तथा हिन्दुओं में प्रचलित कुप्रथाओं व कुरीतियों में सुधार करना था। पर यह सभा देर तक कायम नहीं रह सकी। स्वामी जी के आरा से चले जाने के पश्चात् इसका अन्त हो गया। ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाज सदृश संगठनों के विषय में जानकारी प्राप्त हो जाने पर स्वामी जी भी एक संगठन की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। आरा की सभा इसी अनुभूति का परिणाम थी। कलकत्ता में जाकर और वहाँ ब्राह्मसमाज के निकट सम्पर्क में आकर स्वामी जी का एक नया संगठन बनाने का विचार और भी दृढ़ हुआ, और इसी के परिणामस्वरूप बाद में उन्होंने परोपकारिणी सभा और आर्यसमाज की स्थापना की।

(६) पाठशालाओं की स्थापना

सन् १८६७ से १८७२ तक गंगा के समीपवर्ती प्रदेश में प्रचार करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अनेक पाठशालाएँ भी स्थापित कीं। सच्चे आर्य धर्म का प्रतिपादन करते समय उनको प्रधानतया पौराणिक पण्डितों का सामना करना पड़ता था, और यह देखकर दुःख होता था कि इन पण्डितों को वेदों का समुचित ज्ञान नहीं है। उनका पाण्डित्य प्रधानतया पुराण आदि अनार्ष ग्रन्थों तक ही सीमित था, और वे वेदों तथा वेदार्थ से अनभिज्ञ थे। अतः स्वामी जी को यह आवश्यकता अनुभव हुई कि ऐसी पाठशालाएँ खोली जाएँ जिन में आर्ष ग्रन्थों तथा वेदों की शिक्षा को विशेष स्थान प्राप्त हो। इसी उद्देश्य से उन्होंने पहली पाठशाला फर्रुखाबाद में स्थापित की। फर्रुखाबाद में लाला पन्नीलाल नाम के एक समृद्ध वैश्य थे। वे एक नया मन्दिर बनवाना चाहते थे। स्वामी जी के प्रवचन सुनकर मूर्तिपूजा के प्रति उनकी आस्था जाती रही, और जो धन वे मन्दिर के निर्माण में लगाना चाहते थे, स्वामी जी की प्रेरणा से उसे पाठशाला बनवाने में लगा दिया। इस पाठशाला में जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, उनसे पढ़ाई तथा भोजन आदि का कोई व्यय नहीं लिया जाता था। शिक्षा का सब खर्च लाला पन्नीलाल वहन करते थे, और विद्यार्थियों के भोजन आदि का व्यय बाबू दुर्गाप्रसाद द्वारा प्रदान किया जाता था। इस पाठशाला के बाद कासगंज, मिर्जापुर और छलेसर में स्वामी जी द्वारा अन्य अनेक पाठशालाएँ स्थापित की गईं। ये शिक्षा-संस्थाएँ स्वामी जी की इसी धारणा का परिणाम थीं, कि सच्चे आर्य धर्म की पुनःस्थापना के लिए ऐसे विद्वानों की आवश्यकता है जो वेदों के ज्ञाता हों। स्वामी जी की प्रेरणा से मिर्जापुर में चौधरी गुरुचरण रईस ने एक वैदिक पाठशाला स्थापित करना स्वीकार किया। इसके लिए मकान भी चौधरी जी ने दिया, और सारा व्यय भी स्वयं देने का निश्चय किया। विद्यार्थियों को इस शर्त पर इस

पाठशाला में भरती किया जाता था कि वे छह वर्ष से पहले पाठशाला नहीं छोड़ेंगे। उनके लिए यह भी अनिवार्य था, कि वे सूर्योदय से पहले ब्राह्म मुहूर्त में सो कर उठ जाएँ, और नियमपूर्वक सन्ध्या हवन किया करें। मिर्जापुर की यह पाठशाला सन् १८७० की गर्मियों में खोली गई थी, और फर्रुखाबाद की पाठशाला सन् १८६९ में। मिर्जापुर की पाठशाला स्थापित करने के बाद स्वामी जी कुछ दिन के लिए काशी गए थे, और फिर सोरों होते हुए कासगंज आ गए थे। वहाँ भी स्वामी जी ने पाठशाला स्थापित की, और इसमें भी विद्यार्थियों के लिए ब्राह्म-मुहूर्त में जागना और सन्ध्या-हवन करना अनिवार्य रखा गया। इस पाठशाला के लिए कासगंज के लोगों ने बड़ा उत्साह दिखाया था, और धनसंग्रह भी किया था। अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति और वेदों की शिक्षा का इस पाठशाला में समुचित प्रबन्ध था, और इसके विद्यार्थियों को विशेष प्रयोजन के बिना नगर में जाने की अनुमति नहीं थी। अलीगढ़ जिले के छलेसर कसबे में भी स्वामी जी ने सन् १८७० की शरद् ऋतु में एक पाठशाला स्थापित की थी। इसमें भी विद्यार्थियों की शिक्षा तथा भोजन आदि की नि:शुल्क व्यवस्था थी, और केवल आर्ष ग्रन्थ ही पढ़ाये जाते थे। दिसम्बर, १८७३ में स्वामी जी ने एक पाठशाला काशी में स्थापित की थी, जिसका नाम उन्होंने 'सत्यशास्त्र पाठशाला' रखा था। इसमें सुयोग्य विद्वानों को अध्यापन के लिए नियुक्त किया गया था, और स्वामी जी इसकी व्यवस्था से सन्तुष्ट थे।

पर ये पाठशालाएँ देर तक कायम नहीं रह सकीं। फर्रुखाबाद और छलेसर की पाठशालाएँ सात साल के लगभग तक कायम रहीं, और अन्य चार वर्षों से भी कम समय तक। जिस प्रयोजन से स्वामीजी ने इन पाठशालाओं की स्थापना की थी, उनकी पूर्ति में अनेक बाधाएँ थीं। ऐसे सुयोग्य विद्वानों का उपलब्ध होना कठिन था, जो पौराणिक व रूढ़िवादी संस्कारों व परम्पराओं से ऊपर उठे हुए हों, और जो स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म में आस्था रखते हों। ऐसे प्रबन्धक व व्यवस्थापक मिल सकना भी सुगम नहीं था, जो कि पाठशालाओं की समुचित व्यवस्था कर सकें। अत: अनेक पाठशालाओं को स्वामी जी ने स्वयं भंग कर दिया, और इनके लिए एकत्र धन को वेदभाष्य के प्रकाशन में लगा दिया। पर यह स्वीकार करना होगा, कि आर्यसमाज द्वारा जो अनेक शिक्षणालय बाद में गुरुकुलों आदि के रूप में स्थापित हुए, उनकी परम्परा का सूत्रपात स्वामी जी द्वारा स्थापित इन पाठशालाओं द्वारा ही हुआ था। साथ ही, अनेक ऐसे व्यक्तियों ने भी इनमें शिक्षा ग्रहण की थी, जो बाद में वेदशास्त्रों के विद्वानों के रूप में विख्यात हुए, और जिन्होंने स्वामी जी के कार्य में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। इनमें 'आर्य सिद्धान्त' पत्रिका के सम्पादक पण्डित भीमसेन, पण्डित ज्वालादत्त शास्त्री, पण्डित देवदत्त तथा पण्डित कंवरसेन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि स्वामी जी द्वारा स्थापित पाठशालाएँ सफल नहीं हुईं, पर उनके कारण यह तथ्य अवश्य सम्मुख आ गया, कि आर्यसमाज अपने उद्देश्यों की तभी पूर्ति कर सकता है जब वह शिक्षा को भी अपने हाथों में ले और शिक्षणालयों को अपने कार्य का साधन बनाए।

नवाँ अध्याय

आर्यसमाज की स्थापना

(१) बंगाल में चार मास

स्वामी दयानन्द सरस्वती १६ दिसम्बर, १८८२ को कलकत्ता पहुँचे थे। हावड़ा स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए श्री चन्द्रशेखर उपस्थित थे, जो कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर थे। स्वामी जी को बंगाल में निमन्त्रित करने के लिए उन्होंने विशेष उत्साह प्रदर्शित किया था। उनकी इच्छा थी कि स्वामी जी के निवास की व्यवस्था श्री द्विजेन्द्र नाथ टैगोर के उद्यान में की जाए। पर उनकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई। अतः वे स्वामी जी को राजा शौरेन्द्र मोहन के निवास स्थान पर ले गए, और उनके प्रमोदकानन में उनके निवास आदि का प्रबन्ध कर दिया गया। दिसम्बर, १८७२ में कलकत्ता आकर स्वामी जी चार मास के लगभग बंगाल में रहे। यह समय उन्होंने प्रधानतया कलकत्ता, हुगली और बर्दबान में बिताया। स्वामी जी के इस बंगाल निवास का आर्य समाज के इतिहास में विशेष महत्त्व है। उस समय बंगाल अंग्रेजों द्वारा प्रचारित नवीन शिक्षा तथा नव-जागरण के आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र था। भारत में ब्रिटिश शासन का सूत्रपात बंगाल से ही हुआ था। इस प्रदेश में अंग्रेजों का आधिपत्य अठारहवीं सदी के मध्य में ही प्रारम्भ हो गया था, और ब्रिटिश शासकों ने यहीं अपने वे शिक्षणालय स्थापित करने शुरू किए थे, जिनमें अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को प्रधान स्थान प्राप्त था और अंग्रेजी ही जिनमें शिक्षा का माध्यम भी थी। ईसाई मिशनरियों ने भी यहां अपने बहुत-से विद्यालय स्थापित किये हुए थे। भारत में सबसे पहले बंगाल में नवीन शिक्षा का प्रारम्भ हुआ था, जिसके कारण बहुत-से बंगाली युवक अंग्रेजी भाषा में निष्णात हो गये थे, और ग्रेट ब्रिटेन तथा पश्चिमी यूरोप में विकसित हो रहे नये ज्ञान-विज्ञान से भी उन्हें परिचय प्राप्त हो गया था। इसीलिए उन्नीसवीं सदी में वहाँ अनेक ऐसे लेखक हुए, जिन्होंने अंग्रेजी पुस्तकों का बंगाली भाषा में अनुवाद किया, और अनेक मौलिक पुस्तकों की भी अपनी भाषा में रचना की। इन लेखकों में कृष्ण मोहन बैनर्जी (१८१३-१८८५), प्यारे चन्द्र मित्र (१८१५-१८८३), राजेन्द्र लाल मित्र (१८२१-१८९२) और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर (१८२०-१८९१) के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब लेखक अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता थे, और पाश्चात्य साहित्य से इनका परिचय था। इन द्वारा जो पुस्तकें बंगाली भाषा में लिखी गईं थीं, उन्हें पढ़कर बंगाल की सर्वसाधारण जनता को भी नये विचारों से परिचित होने का अवसर प्राप्त हो रहा था। अनेक समाचार-पत्र भी इस काल में कलकत्ता तथा बंगाल के अन्य नगरों से प्रका-

शित होने प्रारम्भ हो गये थे, जिन्हें पढ़कर वहाँ के निवासी संसार की गतिविधि तथा प्रगति से परिचय प्राप्त कर सकते थे। राजा राममोहन राय सदृश सुधारकों ने ब्राह्मसमाज द्वारा नव जागरण के जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था, वह भी बंगाल की जनता को प्रभावित कर रहा था। कलकत्ता और उसका समीपवर्ती प्रदेश उस क्षेत्र की तुलना में बहुत अधिक उद्बुद्ध था, जहाँ कि स्वामी दयानन्द सरस्वती अब तक कार्य करते रहे थे। यही कारण है, कि कलकत्ता के निवासी स्वामी जी के प्रगतिशील विचारों के महत्व को समझने में अधिक समर्थ थे, और ब्राह्मसमाज के अनेक नेताओं ने उनसे आग्रह किया था कि वे कलकत्ता पधारें। श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर ने भी प्रयाग में उनसे भेंट की थी।

काशी शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामी जी की कीर्ति सर्वत्र फैल गई थी, और कलकत्ता के सुशिक्षित व्यक्ति उस अद्वितीय विद्वान् के दर्शन करने तथा उनसे शास्त्रचर्चा करने के लिए उत्सुक थे, जिन्होंने कि काशी के दिग्गज पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया था। स्वामी जी के कलकत्ता आगमन का समाचार वहाँ के 'इण्डियन मिरर' पत्र में इस प्रकार प्रकाशित हुआ था—"मूर्तिपूजा के महान् हिन्दू विरोधी पण्डित दयानन्द सरस्वती, जिन्होंने कि कुछ समय पूर्व काशी के विद्वान् पण्डितों को शास्त्रार्थ में उद्वेग से ग्रस्त कर दिया था और जो वैसे भी सम्पूर्ण उत्तर-भारत में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं, अब कलकत्ता पधारे हुए हैं, और राजा शौरेन्द्र मोहन टैगोर के कलकत्ता के उपनगर में स्थित नैनान के उद्यान में ठहरे हुए हैं। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, बंगाली और अंग्रेजी भाषाओं में इस आशय का एक विज्ञापन भी प्रचारित किया है, कि जिज्ञासु तथा अन्य लोग उनके पास आकर धार्मिक विषयों पर विचार-विमर्श करें।" इस विज्ञापन को पढ़कर बहुत-से जिज्ञासु एवं विद्वान् स्वामी जी से मिलने के लिए प्रमोद कानन में आने लगे। उनके दर्शनार्थियों में सभी प्रकार के व्यक्ति होते थे, संस्कृत भाषा और शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित भी, ब्राह्मसमाज सदृश सुधारवादी संस्था के नेता व प्रचारक भी, और कलकत्ता के सम्भ्रान्त वर्ग के लोग भी। सर्वसाधारण लोग भी अच्छी वड़ी संख्या में स्वामी जी के दर्शन करने तथा उनके प्रवचन सुनने के लिए वहाँ आया करते थे। बंगाल के जिन प्रमुख महानुभावों से कलकत्ता निवास के समय स्वामीजी का सम्पर्क हुआ, उनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा। ब्राह्मसमाज के एक विद्वान् प्रचारक श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती थे। वे बहुधा स्वामी जी के पास शास्त्र चर्चा के लिए आते रहते थे। उनकी चर्चा के विषय प्रायः वर्ण-व्यवस्था, मूर्तिपूजा आदि हुआ करते थे। वे स्वामी जी की विद्वता से इतने प्रभावित थे, कि प्रायः उन्हीं के साथ रहने लगे थे, और उस वार्त्तालाप को अपनी डायरी में लिख लिया करते थे, जो कि स्वामी जी की जिज्ञासुओं के साथ होती थी। इस समय तक ब्राह्मसमाज में अनेक प्रश्नों पर मतभेद उत्पन्न होने प्रारम्भ हो चुके थे। एक प्रश्न वेदों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में था। देवेन्द्रनाथ टैगोर सदृश ब्राह्म नेता वेदों में विश्वास रखते थे और उन्हें सब धर्मों का आदिस्रोत मानते थे। इसके विपरीत अक्षयकुमार दत्त और उनके साथी वेदों की अपौरुषेयता व प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट करते थे, और पाश्चात्य विचारों के अनुसार सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे। इन लोगों के कारण ब्राह्मसमाज धीरे-धीरे हिन्दू धर्म व समाज से दूर हटने लगा, और उसमें एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो जाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई। सन् १८५७ में श्री केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज में सम्मिलित हुए, और उनके कारण उन लोगों को बहुत बल मिला जो 'आधुनिकता'

के पक्षपाती थे और वेदों को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा श्री केशवचन्द्र सेन के मतभेदों में निरन्तर वृद्धि होती गई, जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मसमाज दो भागों में विभक्त हो गया। देवेन्द्रनाथ टैगोर के अनुयायियों ने केशवचन्द्र सेन से पृथक् होकर 'आदि ब्राह्मसमाज' की स्थापना की, और केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्मसमाज में वे प्रवृत्तियाँ बल पकड़ती गयीं, जो उसे हिन्दू धर्म से दूर हटा रही थीं। पर श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर और उनके साथियों के विचार स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों से बहुत मिलते-जुलते थे। स्वामी जी के समान वे भी वेदों को प्रमाण मानते थे, संस्कृत के अध्ययन पर जोर देते थे, हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करते थे, और उनका यह विश्वास था कि हिन्दू जाति अपने विलुप्त गौरव को पुनः प्राप्त कर सकती है। श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर के समान ब्राह्मसमाज के जिन अन्य नेताओं के ये विचार थे, उसमें श्री राजनारायण वसु और श्री नवगोपाल मित्र मुख्य थे। ये दोनों भी बहुधा स्वामी जी के पास आकर शास्त्रचर्चा किया करते थे। श्री वसु ने 'हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता' पर एक पुस्तक लिखी थी, जिसे उन्होंने स्वामी जी को सुनाया भी था। उसे सुनकर स्वामी जी ने यह विचार प्रकट किया था, कि हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए पुराणों तथा तन्त्रग्रन्थों का प्रमाण न देकर प्राचीन शास्त्रों तथा महाभारत के ही प्रमाण दिये जाने चाहिएँ। इन सुप्रसिद्ध ब्राह्म नेताओं के अतिरिक्त अन्य भी अनेक बंगाली विद्वान् इस काल में हिन्दू धर्म की उत्कृष्टता के प्रतिपादन में तत्पर थे, और वे भी समय-समय पर स्वामी जी से मिलते रहते थे। श्री अक्षयचन्द्र सरकार, श्री रजनीकान्त गुप्त और श्री भूदेव मुखोपाध्याय ऐसे ही विद्वान् थे। यह कल्पना असंगत नहीं कही जा सकती, कि ये विद्वान् स्वामी जी के विचारों से बहुत प्रभावित हुए होंगे, और हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के प्रति उनकी आस्था में स्वामी जी के सत्संग से वृद्धि ही हुई होगी।

स्वामी जी के कलकत्ता निवास के समय जब ब्राह्मसमाज द्वारा माघोत्सव मनाया गया, तब उसमें सम्मिलित होने के लिए स्वामी जी को निमन्त्रण देने के प्रयोजन से श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर स्वयं उनके निवास स्थान पर गए। उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर स्वामी जी श्री टैगोर के मकान पर आयोजित ब्राह्मसमाज के उत्सव में सम्मिलित हुए, और वहाँ उन्होंने ईश्वर तथा आत्मा के स्वरूप का वेद-शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर निरूपण किया। यह उत्सव २१ जनवरी, १८७३ को हुआ था। इसके पश्चात् स्वामी जी ने कलकत्ता में अन्य भी अनेक स्थानों पर व्याख्यान दिये, जिनके कारण उनकी अगाध विद्वत्ता की चर्चा में निरन्तर बृद्धि होती गई। जिज्ञासुओं तथा विद्वानों के साथ शास्त्र-चर्चा करते हुए और जनता के सम्मुख व्याख्यान देते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती कलकत्ता के निवासियों पर कैसा प्रभाव डाल रहे थे, इसका कुछ आभास उन समाचारों व टिप्पणियों से प्राप्त किया जा सकता है, जो उनके कलकत्ता निवास के समय वहाँ से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं में छपे थे। 'धर्मतत्त्व' नामक पत्र के १ चैत्र, १७९४ (शक सम्वत्) के अंक में 'दयानन्द सरस्वती' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें निम्नलिखित पंक्तियाँ थीं—"यह एक दिग्गज पण्डित हैं, यह हिन्दू शास्त्र विशारद हैं, संस्कृत भाषा में इनकी अबाध गति है। इनकी संस्कृत भाषा इतनी प्रांजल, श्रुतिमधुर और सरल है कि संस्कृत से अनभिज्ञ पुरुष भी उसे अनायास बहुत कुछ समझ सकते हैं। सरस्वती (स्वामी दयानन्द सरस्वती) की बुद्धि परिष्कृत तथा तीक्ष्ण है। उनकी क्षमता

असाधारण है, उनमें लोगों को आकर्षित करने की विलक्षण शक्ति है। वह बड़े मिष्टभाषी हैं। एक ईश्वर की उपासना का प्रचार और मूर्तिपूजा का खण्डन उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। पाश्चात्य विज्ञान के आलोक से आलोकित न होने पर भी वह जिस विशद रूप से उदारता के साथ सारे विषयों को प्रकट करते हैं, उसे देखकर अवाक् होना पड़ता है।' 'तत्त्व-बोधिनी' पत्रिका में स्वामी जी की कलकत्ता यात्रा के विषय में ये पंक्तियाँ लिखी गई थीं—"थोड़े दिन हुए, पण्डितवर श्रीयुक्त दयानन्द सरस्वती अपने विद्या प्रभाव से कलकत्ता निवासियों को आश्चर्यित कर गये हैं। देश के ब्राह्मण पण्डितों में बहुत-से केवल शास्त्रवचन को लेकर वाणिज्य व्यवसाय करने में निपुण हैं।" स्वामी जी के एक व्याख्यान के सम्बन्ध में 'इण्डियन मिरर' नामक अंग्रेजी संवाद पत्र में एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी, जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—"पण्डित दयानन्द सरस्वती ने इस मास की नौवीं तारीख को रविवार के दिन अपराह्न के साढ़े तीन बजे वराहनगर नाइट स्कूल में 'वैदिक सिद्धान्त' विषय पर एक व्याख्यान दिया। बहुत-से शिक्षित एवं सम्भ्रान्त व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे।...यद्यपि व्याख्यान संस्कृत भाषा में था, पर सरस्वती दयानन्द महोदय की संस्कृत सरल, मधुर तथा धाराप्रवाह थी। वे तीन घण्टे से भी अधिक समय तक व्याख्यान देते रहे। उन्होंने वेदों के आधार पर सरल युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया कि ईश्वर एक है, जाति-भेद न्याययुक्त नहीं है और बालविवाह हानिकारक है। उनकी वाग्मिता आश्चर्यजनक है। उनकी भाषा सरल होते हुए भी अत्यन्त शानदार है। उनके भाषण को सुनकर यह सुगमता से दृष्टि में आ जाता है कि केवल उनकी विद्वत्ता ही अगाध नहीं है, अपितु उनका चिन्तन भी अत्यन्त गम्भीर है और उनकी दृष्टि भी बहुत विशाल है। उनकी युक्तियाँ नितान्त प्रबल हैं और वे पूर्णतया निर्भय तथा वीर हैं।" कलकत्ता में विद्वानों तथा सर्वसाधारण लोगों पर स्वामी जी का कैसा प्रभाव पड़ा था, इसे प्रदर्शित करने के लिए उस समय की पत्र-पत्रिकाओं के ये थोड़े-से उदाहरण पर्याप्त हैं।

स्वामी जी श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा आदि ब्राह्मसमाज के अन्य नेताओं के सम्पर्क में तो आये ही थे, पर श्री केशवचन्द्र सेन और उनके उन साथियों के साथ भी उनका विचार-विनिमय होता रहता था, जो वेद-शास्त्रों में आस्था नहीं रखते थे और पाश्चात्य विचारसरणी से अधिक प्रभावित थे। उन दिनों ब्राह्मसमाज में केशवचन्द्र सेन का बोल-बाला था। उनके कर्तृत्व के कारण इस समाज में नवीन उत्साह तथा स्फूर्ति का संचार हो गया था। सन् १८७० में उन्होंने इंग्लैंड की यात्रा की थी, और वहाँ से लौटकर उन्होंने समाज सुधार के लिए अत्यन्त प्रबल आन्दोलन का प्रारम्भ किया था। उनकी प्रेरणा से बहुत-से ऐसे लोग भी समाज सुधार के लिए प्रवृत्त हुए, जो ब्राह्मसमाजी नहीं थे। यह स्वाभाविक था कि कलकत्ता में निवास करते हुए स्वामी जी केशवचन्द्र सेन के भी सम्पर्क में आए। एक दिन श्री सेन स्वामी जी से मिलने के लिए आए। पर उन्होंने अपना परिचय नहीं दिया। विचार-विनिमय के पश्चात् श्री सेन ने स्वामी जी से पूछा 'क्या आप कभी केशवचन्द्र सेन से मिले हैं।' स्वामी जी के 'हाँ' कहने पर श्री सेन ने प्रश्न किया—'आप उनसे कब मिले ?' स्वामी जी ने उत्तर दिया, 'अभी, आप ही बाबू केशवचन्द्र सेन हैं।' यह सुनकर श्री सेन आश्चर्यचकित रह गये, और उन्होंने पूछा कि आपने मुझे कैसे पहचाना ? इस पर स्वामी जी ने कहा—'जैसी बातचीत आपसे हुई है, वैसी किसी अन्य की नहीं हो सकती।'

श्री केशवचन्द्र सेन के साथ स्वामी जी का बहुत विचार-विनिमय होता रहता था। यद्यपि इन दोनों में अनेक प्रश्नों पर ऐकमत्य था, दोनों ही समाज-सुधार के पक्षपाती थे, पर उनमें मतभेद भी कम नहीं था, स्वामी जी केवल वेदों को ईश्वरकृत मानते थे, पर श्री सेन का कथन था, कि सभी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने मान्य धर्मग्रन्थों को ईश्वर-कृत या ईश्वर द्वारा प्रेरित तथा प्रमाण मानते हैं। इस दशा में केवल वेदों को ही ईश्वर-कृत कैसे माना जा सकता है। इस पर स्वामी जी ने तर्क द्वारा यह प्रतिपादित किया, कि कुरान और बाइबिल आदि में अनेक दोष हैं, और वेदों में दोष का कहीं लवलेश भी नहीं है। अतः निर्दोष व निर्भ्रान्ति होने के कारण वेद ही सत्य व प्रमाणरूप हैं। श्री केशवचन्द्र सेन स्वामी जी की विद्वत्ता से इतने अधिक प्रभावित थे, कि एक दिन उन्होंने कहा—'खेद है, कि वेदों का यह अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता, अन्यथा इंग्लैण्ड की यात्रा में वह मेरा अभिलषित साथी होता।' यह सुनकर स्वामी जी ने तुरन्त उत्तर दिया कि 'मुझे अत्यधिक खेद है कि ब्राह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता, और एक ऐसी भाषा में भाषण देता है जिसे बहुसंख्यक भारतीय समझ ही नहीं पाते।'

श्री केशवचन्द्र के सम्पर्क से स्वामी जी के रहन-सहन तथा कार्य के ढंग में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये। अब तक स्वामी जी नग्न रहा करते थे और एक कौपीन के अतिरिक्त उनके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं रहता था। श्री सेन ने उनसे कहा, कि सम्भ्रान्त वर्ग के सम्मुख उन्हें नग्न दशा में व्याख्यान नहीं देना चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ भी उनके विचारों को सुनने के लिए वहाँ आना चाहती हैं। स्वामी जी को यह बात समझ में आ गई और उन्होंने वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रकार श्री सेन के कहने पर ही उन्होंने अपने व्याख्यानों तथा शास्त्र चर्चा में संस्कृत के स्थान पर हिन्दी को प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया। सर्वसाधारण लोगों के लिए संस्कृत की तुलना में हिन्दी को समझ सकना सुगम था, और साथ ही इस बात की आशंका भी नहीं रहती थी कि दुभाषिया स्वामीजी के मन्तव्य को विशुद्ध रूप में प्रकट न करे। यद्यपि अब भी स्वामी जी को हिन्दी भाषा का समुचित ज्ञान नहीं था, अनेक बार हिन्दी में भाषण देते हुए वे संस्कृत में बोलने लग जाते थे, पर श्री केशवचन्द्र सेन के परामर्श को स्वीकार कर अब वे प्रायः हिन्दी का ही प्रयोग करने लगे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी के प्रयोग का परामर्श जिन सेन महोदय द्वारा स्वामी जी को दिया गया था, उनकी अपनी भाषा हिन्दी नहीं थी। उस समय बंगाल के अनेक प्रगतिशील विचारक यह अनुभव करने लगे थे कि अंग्रेजी भारत की राष्ट्रभाषा का स्थान कभी ग्रहण नहीं कर सकती। अतः एक ऐसी भारतीय भाषा अवश्य होनी चाहिए, जो सम्पूर्ण देश की भाषा की स्थिति प्राप्त कर सके। श्री भूदेव मुखोपाध्याय और श्री राजेन्द्रलाल मित्र सदृश बंगाली विद्वानों का मत था, कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है, और उन लोगों को भी इसका प्रयोग करना चाहिए, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। श्री केशवचन्द्र सेन भी इससे सहमत थे, और इसीलिए उन्होंने स्वामी जी को हिन्दी का प्रयोग करने का परामर्श दिया था। श्री सेन के आग्रहपूर्ण निमन्त्रण को स्वीकार कर एक दिन स्वामी जी उनके घर पर भी गये थे। उस अवसर पर वहाँ ब्राह्मसमाज के बहुत से नेता, विद्वान् व कार्यकर्त्ता उपस्थित थे। स्वामी जी ने उनके साथ विचार-विमर्श किया, उनके प्रश्नों के उत्तर दिए और उनके सम्मुख अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन किया। इसी अवसर पर स्वामी जी ने उन सुधार कार्यों व संस्थाओं

का अवलोकन भी किया, जिनका सम्पादन व संचालन श्री केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्मसमाज द्वारा किया जा रहा था। इसमें सन्देह नहीं, कि स्त्री शिक्षा के लिए स्थापित विद्यालय तथा अपने विचारों को प्रसारित करने के लिए स्थापित मुद्रणालय और छात्रों तथा छात्राओं के निवास के लिए स्थापित छात्रावासों का अवलोकन कर स्वामी जी अवश्य प्रभावित हुए होंगे, और उन्होंने यह अनुभव किया होगा कि संगठन बनाकर संघशक्ति द्वारा कितने महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। यह अनुभूति बाद में आर्यसमाज रूपी महान् संगठन के निर्माण में अवश्य प्रेरक रही होगी।

कलकत्ता में निवास करते हुए स्वामी जी बंगाल के अन्य भी अनेक विद्वानों तथा बुद्धिजीवियों के सम्पर्क में आये थे। १८७३ के जनवरी मास के द्वितीय सप्ताह में एक दिन वे एशियाटिक सोसायटी गये थे। वहाँ से उन्होंने वेद तथा उपनिषदों की अनेक पुस्तकें क्रय की थीं, और प्राचीन भारतीय साहित्य तथा ज्ञान के सम्बन्ध में जो शोधकार्य सोसायटी द्वारा किया जा रहा था, उसका भी अवलोकन किया था। एशियाटिक सोसायटी के सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष श्री प्रतापचन्द्र घोष इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् थे। स्वामी जी ने उनसे इतिहास के विषय में वार्तालाप किया था। श्री रमेशचन्द्र दत्त और श्री राजेन्द्र लाल मित्र सदृश प्रसिद्ध ऐतिहासिकों के साथ भी इस समय स्वामी जी का परिचय हुआ था, और उन्होंने एक दूसरे के विचारों तथा मन्तव्यों से परिचय भी प्राप्त किया था। प्राचीन भारतीय इतिहास के शोध के सम्बन्ध में एशियाटिक सोसायटी का कार्य बहुत महत्त्व का था। उसी द्वारा ग्रीक आक्रान्ता सिकन्दर और मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त की वह समसामयिकता प्रतिपादित की गई थी, जो आज तक भारतीय इतिहास के तिथिक्रम का आधार मानी जाती है। भारत के प्राचीन इतिहास का जिस ढंग से अनुशीलन इस युग में किया जा रहा था और जिसकी बहुत-सी मान्यताएँ प्रायः पाश्चात्य विद्वानों की विचारसरणी के अनुरूप थीं, श्री रमेशचन्द्र दत्त, व श्री राजेन्द्रलाल मित्र उसी के समर्थक थे, और उन्होंने स्वयं भी अनेक ऐसी पुस्तकें लिखी थीं, जो इन मान्यताओं का पोषण करती थीं। आर्यों तथा भारत के पुरातन गौरव के सम्बन्ध में स्वामी जी के विचार इन विद्वानों से बहुत भिन्न थे। पर इनसे विचार-विमर्श कर स्वामी जी को प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के विचारों से परिचित होने का अवसर मिला होगा, और उन्होंने इस बात की आवश्यकता प्रबल रूप से अनुभव की होगी कि धर्म प्रचार तथा समाज सुधार के साथ-साथ उन्हें इतिहास के विषय में भी अपने मन्तव्यों को प्रकाश में लाना चाहिए।

कलकत्ता में निवास करते हुए स्वामी जी श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के भी सम्पर्क में आये थे। पण्डित ईश्वरचन्द्र संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे और कलकत्ता के संस्कृत कालिज के प्रधानाचार्य भी रह चुके थे। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। पैंतीस कन्या विद्यालय उन द्वारा स्थापित किए गये थे, और बीस अन्य विद्यालय। साहित्य निर्माण के क्षेत्र में भी उनका कार्य महत्त्व का था। उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन किया था, और बीस से भी अधिक नई पुस्तकें लिखी थीं। उनका अपना मुद्रणालय था, जहाँ से प्रकाशन का कार्य भी होता था। संस्कृत ग्रन्थों का शुद्ध मुद्रण इस मुद्रणालय की विशेषता थी। पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर विधवा विवाह के समर्थक थे, और बहुविवाह के विरोधी। विधवाविवाह के समर्थन में जो प्रबल आन्दोलन

बंगाल में उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चल रहा था, और जिसके कारण सरकार ने कानून द्वारा विधवाओं के पुनर्विवाह को वैध भी करार दे दिया था, उसमें पण्डित ईश्वरचन्द्र का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। यह कल्पना असंगत नहीं होगी, कि कलकत्ता में पण्डित ईश्वरचन्द्र के रूप में एक ऐसे विद्वान् से स्वामी जी की भेंट हुई थी, जिसके विचार उनसे मिलते-जुलते थे, जो संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था, अपने धर्म तथा संस्कृति के प्रति सम्मान रखता था और साथ ही उन प्रगतिशील विचारों का भी प्रतिपादक था, जो नवीन शिक्षा के कारण बंगाल में उद्बुद्ध हो रहे थे और जिन्हें बहुत से लोग पाश्चात्य सम्पर्क का परिणाम समझते थे। अपने विचारों को क्रियान्वित करने के प्रयोजन से पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने जिस प्रकार शिक्षणालयों तथा प्रकाशन-संस्था का आश्रय लिया था, उनकी ओर भी स्वामी जी का ध्यान अवश्य गया होगा।

आर्यसमाज के इतिहास में उन महीनों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो कि स्वामी जी ने १८७२-७३ में कलकत्ता में बिताये थे। आर्यसमाज के रूप में अपना संगठन स्थापित करने की प्रेरणा सम्भवतः स्वामी जी ने इसी काल में प्राप्त की थी। यद्यपि इससे पूर्व भी वे आरा में एक सभा की स्थापना कर चुके थे, पर शीघ्र ही उसका अन्त हो गया था। कलकत्ता में आकर उन्होंने ब्राह्मसमाज के संगठन एवं कार्यपद्धति को समीप से देखा और उससे कुछ न कुछ प्रेरणा भी अवश्य प्राप्त की। संस्कृत के बजाय हिन्दी में प्रचार करना और वस्त्र पहन कर रहना स्वामी जी के जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन था। इसका सूत्रपात भी कलकत्ता निवास में ही हुआ था। कलकत्ता के प्रगतिशील वातावरण में रहकर और वहाँ के विद्वानों के निकट सम्पर्क में आकर उनके दृष्टिकोण में कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन आना भी स्वाभाविक था। इन कारणों से स्वामी जी के कलकत्ता निवास को उनके जीवन का संक्रान्तिकाल कहा जा सकता है।

कलकत्ता में रहते हुए स्वामी जी के सम्मुख एक वैदिक विद्यालय स्थापित करने की भी योजना थी। इससे पूर्व फर्रुखाबाद आदि में वे कई संस्कृत पाठशालाएँ स्थापित कर चुके थे, जिनमें वेदों और आर्ष ग्रन्थों की शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया गया था। कलकत्ता संस्कृत की शिक्षा का भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित एक संस्कृत कालिज भी वहाँ विद्यमान था। पर इसमें वेदों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं थी। पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने जो विद्यालय स्थापित किये थे, उनमें तथा अन्य पुराने संस्कृत विद्यालयों में भी वेद तथा आर्ष ग्रन्थों की पढ़ाई की उपेक्षा ही की जाती थी। जब स्वामी जी श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर से प्रयाग में मिले थे, तो वहाँ भी उन्होंने वैदिक विद्यालय के सम्बन्ध में उनसे चर्चा की थी। कलकत्ता में इस प्रश्न को उन्होंने फिर उठाया। अपने व्याख्यानों में वे बहुधा यह कहा करते थे कि संस्कृत की उस शिक्षा से कोई लाभ नहीं, जिसमें वेदों को स्थान प्राप्त न हो। पुराणों को पढ़कर मनुष्य की प्रवृत्ति अनाचार की ओर होने लगती है, और विचारशील व्यक्ति धर्म से विमुख होने लग जाते हैं। उन दिनों यह अफवाह फैल रही थी, कि बंगाल के गवर्नर कलकत्ता के संस्कृत कालिज को तोड़ देना चाहते हैं। यह सुनकर स्वामी जी ने कहा था, ऐसे कालिज से कोई लाभ नहीं, जिसमें वेदविद्या न पढ़ायी जाती हो। स्वामी जी कलकत्ता में एक वैदिक कालिज या विद्यालय की आवश्यकता को प्रबल रूप से अनुभव कर रहे थे। शिक्षा और ज्ञान के इस महत्त्वपूर्ण केन्द्र में वेदों की शिक्षा का कहीं भी प्रबन्ध न हो, यह उन्हें अत्यन्त अनुचित

प्रतीत होता था। अतः उन्होंने कलकत्ता के सुशिक्षित वर्ग के सम्मुख वेद विद्यालय की स्थापना का प्रश्न उठाया, पर लोगों ने इसके लिए विशेष उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। इस सम्बन्ध में 'इण्डियन मिरर' के ६ मार्च, १८७३ के अंक में एक टिप्पणी में यह कहा गया था, कि "ऐसा प्रतीत होता है कि उन (स्वामी दयानन्द) की वैदिक विद्यालय स्थापित करने की योजना को इस नगर में जनता का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ।" श्री प्रसन्नकुमार टैगोर द्वारा स्थापित एक संस्कृत पाठशाला उस समय मूलाजोड़ में विद्यमान थी। स्वामी जी ने प्रयत्न किया कि उसमें ही वेदों के पठन-पाठन की व्यवस्था कर दी जाए। इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों से चर्चा भी की थी, और कुछ पत्र-पत्रिकाओं में प्रस्ताव भी भेजे थे। पर इस प्रयत्न में भी उन्हें सफलता नहीं हुई। सम्भवतः इन्हीं बातों से खिन्न होकर स्वामी जी ने कहा था, कि "सम्भ्रान्त वर्ग के पुत्र तो अंग्रेजी और फारसी पढ़ते हैं, संस्कृत पढ़ने के लिए केवल गरीबों की सन्तान ही रह गई है।" यद्यपि कलकत्ता में वैदिक विद्यालय स्थापित करने की स्वामी जी की योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी थी, पर आर्यधर्म के आदिस्रोत वेद हैं और उन द्वारा ही सच्चे धर्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, स्वामी जी का यह मन्तव्य कलकत्ता के सुशिक्षित व सम्भ्रान्त वर्ग के सम्मुख स्पष्ट रूप से आ गया था, और वे इसकी सचाई का भी अनुभव करने लग गये थे। कलकत्ता की जनता पर स्वामी जी का क्या असर पड़ा था, इसे स्पष्ट करने के लिए बंगाली पत्रिका 'पताका' के ये वाक्य पर्याप्त हैं—"स्वामी दयानन्द जब धर्म प्रचार के निमित्त कलकत्ता आये थे, तब चारों ओर उनकी बहुत ही चर्चा होने लगी। क्या बच्चे, क्या बूढ़े और क्या स्त्रियाँ—सभी उनके दर्शन तथा उनकी बात सुनने के लिए आतुर थे। उनकी व्याख्यान देने की शक्ति, तर्क तथा शास्त्रों के पूर्ण ज्ञान को देखकर सब कोई आश्चर्यचकित होने लगे। लोग दल-के-दल (बाँधे) उनके समीप धर्मजिज्ञासु होकर और अपने प्रश्नों का अच्छा उत्तर पाकर तथा अतितृप्त होकर वापस आये।" स्वामी जी द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने आगे चलकर व्यापक जन आन्दोलन का जो रूप प्राप्त किया, उसका सूत्रपात स्वामी जी की कलकत्ता यात्रा के समय हो गया था, यह स्पष्ट है। एक अन्य बंगाली पत्र 'सोमप्रकाश' ने अपने २१ फाल्गुन, १७६४ (शक सम्वत्) के अंक में स्वामी जी के कलकत्ता आगमन को दिग्विजय की संज्ञा दी थी, और यह लिखा था, 'दिग्विजय करते हुए स्वामी दयानन्द कलकत्ता पहुँचे हैं।'

तीन मास से कुछ अधिक समय कलकत्ता में रह कर १ एप्रिल, १८७३ के दिन स्वामी जी ने हुगली के लिए प्रस्थान किया। वहाँ वे दस दिन रहे। इस काल में उनका लाल बिहारी दे नाम के एक ईसाई पादरी के साथ वर्णभेद विषय पर विचार-विमर्श हुआ। श्री लाल बिहारी अपने समय के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे, और अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य पर उनका असाधारण अधिकार था। स्वामी जी एक बार पहले भी मुगलसराय में उनसे मिल चुके थे। वैदिक धर्म के अनुसार वर्णभेद का आधार जन्म नहीं है, और सामाजिक ऊँच-नीच का भेद जन्म को नहीं माना जा सकता, स्वामी जी ने अपने इसी मन्तव्य का श्री लालबिहारी के सम्मुख प्रतिपादन किया था। कलकत्ता के समान हुगली में भी बहुत-से लोग स्वामी जी के दर्शन तथा उनके प्रवचन सुनने के लिए आते रहते थे, और पण्डितों के साथ उनके शास्त्रार्थ भी होते रहते थे। हुगली में उनका सबसे प्रसिद्ध शास्त्रार्थ पण्डित ताराचरण के साथ मूर्तिपूजा विषय पर हुआ था। श्री ताराचरण तर्क-

रत्न काशी नरेश के राजपण्डित थे, और सुयोग्य विद्वान् थे। कहा जाता है कि उन्होंने अनेक सम्भ्रान्त व्यक्तियों के सम्मुख यह स्वीकार कर लिया था कि मूर्तिपूजा मिथ्या है, पर मैं ऐसा कह नहीं सकता क्योंकि सत्य बात कह देने पर मेरी आजीविका ही चली जाएगी और काशी नरेश मुझे अपनी सेवा से मुक्त कर देंगे।

चौधरी नामक एक बंगाली युवक हुगली में स्वामी जी के साथ रहे थे। उन्होंने स्वामी जी के जीवन तथा दिनचर्या के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं, जो उल्लेखनीय हैं :— "वे तीन बजे के लगभग उठा करते थे और प्रातःकाल तक योगाभ्यास करते रहते थे। फिर शौचादि से निवृत्त होते थे, तत्पश्चात् स्नान करते थे तथा देह पर भस्मी रमाते थे। नौ बजे वे दर्शकों से मिलते थे और बारह बजे तक उनसे बातचीत करते रहते थे। फिर वे भोजन करते थे और एक बजे से रात्रि के नौ बजे तक निरन्तर दर्शकों के साथ विचार करते रहते थे।...वह इतना बोलते थे कि प्रतिदिन उनका गला बैठ जाता था, परन्तु अगले दिन फिर उसी कार्य के लिए प्रस्तुत हो जाते थे। रात्रि में वे सूक्ष्म आहार करते थे, और बहुधा कुछ भी न खाते थे।...यदि कोई मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र चरित्र लेकर उत्पन्न हुआ हो, तो वे स्वामी जी ही थे।...मैंने उनके पास राजाओं महाराजाओं को बहुधा आते देखा है, जो यह आशा करते थे कि उनका विशेष रूप से स्वागत किया जाएगा। परन्तु स्वामी जी उनके प्रति लवलेश मात्र भी सम्मान प्रकट नहीं करते थे। हम बहुत बार निःस्वार्थ पुरुषों और देशभक्तों का वर्णन सुनते हैं। परन्तु मेरी जानकारी में तो वही एक निःस्वार्थ पुरुष और देशभक्त थे। यदि मुझे उनके निरन्तर सहवास का सौभाग्य प्राप्त न हुआ होता, तो मुझे यह कभी ज्ञात न होता कि साम्यवाद क्या होता है, और मुझे यह भी कभी ज्ञात न होता कि चरित्र बल क्या होता है।"

दस दिन हुगली में निवास कर स्वामी जी बर्दवान गये, और कुछ दिन वहाँ रहकर पश्चिम की ओर चल पड़े। भागलपुर, पटना, छपरा, आरा और डुमरांव होते हुए १८७३ के अगस्त मास के प्रारम्भ में वे मिर्जापुर पहुँच गये। स्वामी जी अब पुनः गंगा के समीपवर्ती उस प्रदेश में आ गये थे, जो छह वर्षों तक उनका कार्यक्षेत्र रहा था। पूर्वी भारत का उनका निवास अब समाप्त हो गया था।

(२) प्रचार कार्य की प्रगति

एप्रिल, १८७३ के मध्य में स्वामी जी ने बंगाल से विदा ली थी, और २६ अक्टूबर सन् १८७४ को वे बम्बई पहुँचे थे। इस बीच अट्ठारह मास का समय उन्होंने बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में व्यतीत किया। जैसा कि पिछले प्रकरण में लिखा जा चुका है, बिहार के भागलपुर, पटना, आदि नगरों में उनका निवास चार मास से भी कम रहा, और मध्य प्रदेश में वे केवल जबलपुर में रहे और वहाँ भी बहुत कम समय के लिए। एक साल से अधिक समय उन्होंने उत्तर प्रदेश में बिताया, और गंगातट पर विद्यमान नगरों के अतिरिक्त लखनऊ, अलीगढ़ और हाथरस आदि की भी यात्रा की। इन अट्ठारह महीनों में स्वामी जी के प्रचार कार्य में जो प्रगति हुई, उसमें निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) उन्होंने अब पुस्तक प्रकाशन को भी प्रचार कार्य का एक साधन बनाया। पहले वे केवल प्रवचन व व्याख्यान द्वारा ही अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन किया करते थे, पर अब उन्होंने यह आवश्यकता अनुभव की, कि अपने मन्तव्यों को पुस्तक के रूप में भी

प्रकाशित करना चाहिए। अलीगढ़ में जो लोग स्वामीजी के व्याख्यान सुनने के लिए आया करते थे, उनमें राजा जयकिशन दास भी थे जो वहाँ डिप्टी कलेक्टर के पद पर नियुक्त थे। वे स्वामी जी के विचारों से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने विचार किया कि यदि स्वामी जी के व्याख्यानों व मन्तव्यों को लेखबद्ध कराके पुस्तक के रूप में प्रकाशित करा दिया जाए, तो जनता का बहुत उपकार हो सकेगा। राजा साहब इस बात के लिए भी तैयार थे, कि इस पुस्तक की छपाई आदि में जो खर्च होगा, उसे वे स्वयं प्रदान कर देंगे। इसी के परिणाम-स्वरूप स्वामीजी ने एक महाराष्ट्र पण्डित को सेवा में रखकर सत्यार्थ प्रकाश लिखवाया, जिसका प्रथम संस्करण १८७५ में प्रकाशित हुआ। यह संस्करण काशी में मुद्रित हुआ था। (२) स्वामीजी ने यह आवश्यकता भी अनुभव की, कि एक ऐसा समाचारपत्र प्रकाशित होना चाहिए, जिसमें उनके मन्तव्यों का प्रतिपादन हो, ताकि सर्वसाधारण लोग उनके विचारों से परिचय पाने का अवसर निरन्तर प्राप्त करते रहें। उन्होंने यह निश्चय किया कि 'आर्य प्रकाश' नाम से एक पत्र काशी से निकाला जाए, और इसकी सूचना भी उन्होंने एक विज्ञापन द्वारा जून, १८७४ में प्रचारित कर दी थी। पर दुर्भाग्य-वश यह पत्र प्रकाशित नहीं हो सका, और स्वामी जी प्रचार के एक प्रबल साधन का उपयोग करने से वंचित रह गये। (३) स्वामी जी यह भी चाहते थे, कि एक ऐसी सभा स्थापित की जाए, जिस द्वारा उनका कार्य स्थायित्व प्राप्त कर सके। इसी प्रयोजन से उन्होंने कलकत्ता जाने से पहले भी आरा में एक 'आर्य सभा' संगठित की थी, जो कुछ ही समय कायम रही थी। कलकत्ता से लौटने पर काशी में उन्होंने पुन: आर्य सभा की स्थापना की। इसी समय उन द्वारा काशी में एक आर्य विद्यालय भी स्थापित किया गया था, और स्वामी जी चाहते थे कि इस विद्यालय की व्यवस्था आर्य सभा के अधीन रहे जो इसकी उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्न करती रहे। पर आरा की 'सभा' के समान काशी में स्थापित सभा भी सफल नहीं हुई, और उस द्वारा कोई उपयोगी कार्य नहीं किया जा सका। (४) प्रचार कार्य के लिए पाठशालाओं व विद्यालयों की उपयोगिता स्वामी जी स्वीकार करते थे। वेदों तथा आर्ष ग्रन्थों की शिक्षा के लिए जिन अनेक शिक्षणालयों की उन्होंने स्थापना की थी, उन पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। कलकत्ता से वापस लौटकर स्वामी जी ने काशी में एक ऐसे आर्य विद्यालय की स्थापना की योजना बनाई, जिसमें कि उनके शिक्षाविषयक मन्तव्यों को क्रियान्वित किया जा सकता था। वे कलकत्ता में जिस ढंग के 'वेद विद्यालय' को स्थापित करना चाहते थे और जिसमें उन्हें सफलता नहीं हुई थी, वैसे ही विद्यालय को अब उन्होंने काशी में स्थापित करने का प्रयत्न किया। कलकत्ता में वे ऐसे शिक्षणालयों को देखकर आये थे, जो प्रगतिशील महानुभावों द्वारा विशिष्ट उद्देश्यों को सम्मुख रखकर संचालित किये जा रहे थे। स्वामी जी द्वारा काशी में जो 'आर्य विद्यालय' स्थापित किया गया, उसके भी अपने विशिष्ट उद्देश्य थे। (५) पहले जब स्वामी जी ने इस क्षेत्र में प्रचार कार्य किया था, तो वे नग्न रहा करते थे और संस्कृत में भाषण दिया करते थे। अब उन्होंने वस्त्र धारण करने प्रारम्भ कर दिये थे, और बहुत-सी पुस्तकें भी उनके साथ रहा करती थीं। सेवक भी उनके साथ रहते थे, और सम्भ्रान्त वर्ग के धनी मानी व्यक्ति उनका स्वागत करने तथा उन्हें आतिथ्य प्रदान करने के लिए उत्सुक रहते थे। उन्हें जहाँ कहीं भी जाना होता था, सब कार्यक्रम पहले ही तैयार कर लिया जाता था। उन्हें कब और कहाँ जाना है, कहाँ

निवास करना है, और कहाँ व्याख्यान देने हैं, यह सब पहले ही तय हो जाता था। अब वे एकाकी परिभ्रमण करने वाले परिव्राजक ही नहीं रह गये थे, अपितु उन्होंने एक ऐसे महान् क्रान्तिकारी सुधारक का रूप प्राप्त कर लिया था, जिसकी सर्वत्र धूम मची हुई थी। (६) पहले उनका ध्यान प्रधानतया मूर्तिपूजा के खण्डन और वेद तथा आर्ष ग्रन्थों के प्रचार पर केन्द्रित रहता था। पौराणिक पण्डितों द्वारा प्राचीन आर्य धर्म में जो विकृतियाँ आ गई थीं, जिन मिथ्या विश्वासों व पाखण्ड का समावेश हो गया था, उनका निवारण कर सच्चे वैदिक मन्तव्यों के प्रतिपादन पर ही उनका ध्यान था। इसीलिए वे संस्कृत के पण्डितों तथा पौराणिक सम्प्रदायों के आचार्यों से शास्त्रार्थ कर उनसे अपने मन्तव्यों की सच्चाई स्वीकार कराने का प्रयत्न करते थे, और सर्वसाधारण लोगों में सत्य धर्म के प्रचार का यही साधन समझते थे कि पण्डित वर्ग को अपना अनुयायी बनाने का उद्योग किया जाए। पर अब उनके प्रचार कार्य के ढंग में परिवर्तन आने लगा। वे अब हिन्दी में व्याख्यान देने लगे और हिन्दी में ही लोगों से बातचीत करने लगे। परिणाम यह हुआ कि सर्वसाधारण लोगों से उनका सम्पर्क निरन्तर बढ़ता गया, और लोग बड़ी संख्या में उनके अनुयायी बनने लगे। पहले वे जो विज्ञप्तियाँ या विज्ञापन प्रकाशित करते थे, सब संस्कृत में होते थे। उन्हें केवल पण्डित ही पढ़ सकते थे। पर अब वे हिन्दी में विज्ञप्तियाँ प्रकाशित करने लगे, जिसके कारण सर्वसाधारण जनता को उनके विचारों तथा मन्तव्यों से परिचित होने का अवसर प्राप्त हो गया। (७) स्वामी जी के सम्पर्क-क्षेत्र में भी अब निरन्तर वृद्धि होती गई। पहले वे जहाँ कहीं जाते थे, यही समझा जाता कि एक ऐसे विद्वान् संन्यासी आये हैं, जो पौराणिक सम्प्रदायों की पूजाविधि का खण्डन करते हैं। इस दशा में उनका सामना प्रधानतया सनातनी पण्डितों व धर्माचार्यों से ही हुआ करता था, यद्यपि ईसाई पादरी और मुसलमान मौलवी भी कभी-कभी उनसे विचार-विमर्श व चर्चा के लिए आ जाया करते थे। पर अब क्योंकि वे एक प्रबल सुधार आन्दोलन का सूत्रपात करने में संलग्न थे, अतः उनका सम्पर्क ऐसे सुशिक्षित व्यक्तियों से भी प्रारम्भ हुआ जो नवीन आधुनिक विचारों से प्रभावित थे और जिन्हें हिन्दू धर्म की रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति आस्था नहीं थी। इन व्यक्तियों में बहुत से ऐसे थे, जो जाति के ब्राह्मण न होकर कायस्थ, जाट सदृश जातियों के थे और हिन्दू समाज में जिन्हें जन्म के कारण उच्च स्थिति प्राप्त नहीं थी। हिन्दुओं के अतिरिक्त अनेक सम्भ्रान्त व सुशिक्षित मुसलमान भी स्वामी जी के सम्पर्क में आए, और उनके कार्य से बहुत प्रभावित हुए। अलीगढ़ में मुहम्मडन कालिज, जो कालान्तर में अलीगढ़ मुसलिम यूनिवर्सिटी के रूप में परिवर्तित हो गया, के संस्थापक सर सैय्यद अहमद खाँ इनमें प्रमुख थे। स्वामी जी की दृष्टि इस समय इतनी व्यापक हो चुकी थी, कि उन्होंने मुसलिम तथा ईसाई नेताओं से इस बात की सम्भावनाओं पर भी विचार-विमर्श किया कि क्या वे सब धर्म तथा सुधार के कार्य में किन्हीं ऐसी आधारभूत बातों पर एकमत हो सकते हैं जिनके लिए वे आपस में मिलकर काम कर सकें।

बंगाल से प्रस्थान करने और बम्बई पहुँचने के बीच के अट्ठारह मास स्वामीजी ने कहाँ-कहाँ और किस प्रकार बिताए, और इस काल में उन्होंने किस ढंग से प्रचार कार्य सम्पन्न किया, इस पर संक्षेप के साथ भी प्रकाश डाल सकना इस इतिहास में सम्भव नहीं है। पर कुछ बातें ऐसी हैं, जिनका उल्लेख करना स्वामी जी के कार्य की प्रगति पर प्रकाश डालने के लिए उपयोगी होगा।

काशी आर्य विद्यालय के सम्बन्ध में जो विज्ञापन स्वामी जी ने 'कविवचनसुधा' नामक पत्र में २० जून, १८७४ को प्रकाशित कराया था, वह इस प्रकार था—"एक समाचार सबको विदित हो कि आपका आर्य विद्यालय काशी में संवत् १६३० पौष मास तदनुसार दिसम्बर सन् १८७३ में केदार घाट पर आरम्भ हुआ था—वही अब मित्रपुर भैरवी मुहल्ला में दुर्गा प्रसाद मिश्र के स्थान में संवत् १६३१ मिती अषाढ़ सुदी ५ शुक्रवार १६ जून सन् १८७४ को प्रातःकाल ७ बजे के उपरान्त प्रारम्भ होगा। इसका प्रबन्ध अब अच्छी प्रकार होगा। प्रातः ७ बजे से पठन और पाठन होगा दस ग्यारह बजे तक और फिर एक बजे से पाँच बजे तक। इसमें अध्यापक गणेश श्रोत्रिय जी रहेंगे। सो पूर्व-मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, पातंजल, सांख्य, वेदान्त दर्शन, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक दश उपनिषद, मनुस्मृति, कात्यायन और पाराशर कृत गृह्यसूत्र— ये ग्रन्थ पढ़ाये जाएँगे। थोड़े समय के पीछे चार वेद, चार उपवेद तथा ज्योतिष के ग्रन्थ पढ़ाये जाएँगे—और एक उप व्याकरण रहेगा वह अष्टा-ध्यायी, धातु पाठ, गण आदि गणशिक्षा और प्रातिपदिक गण पाठ यह पाँच पाणिनि मुनि-कृत और पतञ्जलि मुनिकृत भाष्य, पिंगलमुनिकृत छन्दोग्रन्थ, यास्कमुनि कृत निरुक्त, निघण्टु और काव्यालंकार सूत्रभाष्य इन सबको पढ़ना होगा। जिनको पढ़ने की इच्छा होवे सो आकर पढ़ें। जो विद्या और श्रेष्ठाचार की परीक्षा में उत्तम होगा उसकी परीक्षा के पीछे पारितोषिक यथायोग्य मिलेगा। सो परीक्षा माघ मास में होगी। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब पढ़ेंगे वेद पर्यन्त, और शूद्र मन्त्र भाग को छोड़कर सब शास्त्र पढ़ेंगे। फिर जब इस आर्य विद्यालय के लिए अधिकाधिक चन्दा होगा तब-तब अध्यापक और विद्यार्थी लोगों को भी बढ़ाया जायेगा। इसकी रक्षा और वृद्धि के लिए एक आर्य सभा स्थापित हुई है और एक 'आर्य प्रकाश' पत्र भी निकलेगा मास मास में। इन तीनों बातों की प्रवृत्ति के लिए बहुत भद्र लोग प्रवृत्त हुए हैं और बहुत प्रवृत्त होंगे। इससे ही आर्यावर्त देश की उन्नति होगी। इस विद्यालय में यथावत् शिक्षा दी जायेगी जिससे कि सब उत्तम व्यवहार युक्त होवें। (हस्ताक्षर स्वामी) दयानन्द सरस्वती।"

हिन्दी भाषा में प्रचारित इस विज्ञापन से स्पष्ट है कि जिस शिक्षा के लिए स्वामी जी कलकत्ता में वेद विद्यालय स्थापित करना चाहते थे, उसमें छह आस्तिक दर्शनों, दस आर्य उपनिषदों, मनुस्मृति, गृह्यसूत्र, चारों वेद, चारों उपवेद और कल्प शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की जानी थी। काशी के आर्य विद्यालय में भी उन्होंने इन्हीं की शिक्षा का प्रबन्ध किया था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस समय तक स्वामी जी शूद्रों को वेदों के मन्त्र भाग (चार वैदिक संहिताओं) के पढ़ने का अधिकारी नहीं मानते थे। वेदों को छोड़कर अन्य सब शास्त्रों की शिक्षा इस विद्यालय में शूद्रों को भी दी जाती थी। उस युग को देखते हुए यह बात भी कम महत्त्व की नहीं है। उस समय शूद्रों के लिए संस्कृत भाषा तथा धर्मशास्त्रों की शिक्षा की व्यवस्था करना भी एक अत्यन्त प्रगतिशील व क्रान्तिकारी बात थी। बाद में स्वामी जी के विचारों में परिवर्तन हुआ और उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि वेदों के रूप में जो ज्ञान ईश्वर द्वारा दिया गया है, वह मनुष्यमात्र के लिए है, शूद्र व स्त्रियाँ-सब उसे समान रूप से प्राप्त करने के अधिकारी हैं। विद्यालय का खर्च चलाने के लिए चन्दा एकत्र करने का कार्य स्वामी जी ने कुछ व्यक्तियों को सौंपा था। पर योग्य कार्य-कर्त्ताओं के न मिलने के कारण यह

विद्यालय भी कुछ वर्ष बाद बन्द हो गया। शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य स्वामी जी ने प्रारम्भ किये थे, वे उनके जीवनकाल में प्रायः असफल ही रहे। पर जिस बीज का उन्होंने आरोपण किया था, वह बाद में गुरुकुलों के रूप में पल्लवित व पुष्पित हुआ, इसमें सन्देह नहीं।

प्रचार कार्य के लिए मुद्रित पुस्तिकाओं का उपयोग यद्यपि स्वामी जी ने सन् १८६६ में ही प्रारम्भ कर दिया था, पर उस विशाल साहित्य का निर्माण उन्होंने कलकत्ता से लौटने के पश्चात् १८७३ में ही शुरू किया, जिसके कारण हिन्दी तथा संस्कृत के लेखकों में उनको प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। स्वामी जी द्वारा लिखित प्रथम पुस्तिका 'पाखण्ड-खण्डन' थी, जिसकी हजारों प्रतियाँ हरिद्वार के कुम्भ के मेले (सन् १८६७) में वितरित की गई थीं। इस पुस्तिका में केवल सात पृष्ठ थे। इसी प्रकार की छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ बाद में भी प्रकाशित होती रहीं, पर ये प्रायः उन शास्त्रार्थों के विवरणों के रूप में थीं, जो उन्होंने काशी, हुगली आदि में किए थे। कलकत्ता से लौटने पर १८७३ में स्वामी जी द्वारा 'पंचमहायज्ञविधि' प्रकाशित की गई, और फिर १८७५ में 'सत्यार्थ प्रकाश' प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह विशाल ग्रन्थ १८७५ में मुद्रित हुआ था, पर इसकी रचना १८७४ में की गई थी, और बम्बई पहुँचने से पहले ही स्वामी जी इसे लिखवाने का कार्य पूरा कर चुके थे। इसके पश्चात् साहित्य सृजन का कार्य निरन्तर किया जाता रहा। आठ-नौ साल से भी कम समय में स्वामी जी ज्ञान के प्रसार तथा धर्म के प्रतिपादन के लिए इतना अधिक साहित्यिक कार्य कर गए, जिसे सामान्यतया इससे चार गुने समय में भी कर सकना कठिन होता है। सत्यार्थ प्रकाश का जो प्रथम संस्करण सन् १८७५ में प्रकाशित हुआ था, वह उस सत्यार्थ प्रकाश से अनेक अंशों में भिन्न है, जिसे बाद में स्वामी जी ने प्रकाशित कराया और जिसमें उनके मन्तव्य प्रामाणिक रूप से प्रतिपादित हैं। इन संस्करणों में भी क्या भेद है, और इस भेद के क्या कारण हैं, इस पर एक पृथक् प्रकरण में विचार किया जाएगा।

स्वामी जी के प्रचार का क्षेत्र इस काल (१८७३-७५) में केवल हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं था, अपितु ईसाइयों और मुसलमानों के साथ भी उनके सम्पर्क में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। जिन दिनों स्वामी जी आर्य विद्यालयों की स्थापना के लिए पुनः काशी आये हुए थे, सैय्यद अहमद खाँ वहाँ सब-जज के पद पर नियुक्त थे। उनसे अलीगढ़ में स्वामी जी की पहले भी भेंट हो चुकी थी। सैय्यद साहब ने अपने बंगले पर उनका व्याख्यान कराया और काशी के कलेक्टर मिस्टर शैक्सपीयर से उनकी मुलाकात भी करायी। स्वामी जी के व्याख्यानों को सुनने के लिए मुसलमान भी आया करते थे, और उनसे शंका-समाधान भी करते थे। सैय्यद अहमद खाँ के बंगले पर स्वामी जी के अनेक व्याख्यान हुए थे, जिनमें से एक का विषय वेदों का 'अपौरुषेयत्व' भी था। यह कल्पना असंगत नहीं होगी, कि एक मुसलमान राजपदाधिकारी के निवास स्थान पर हुए स्वामी जी के व्याख्यानों में मुसलमान भी अच्छी संख्या में उपस्थित हुए होंगे। काशी में एक मास के लगभग निवास कर जब स्वामी जी प्रयाग आए, तो वहाँ भी अनेक मौलवी विचार-विमर्श व शंका-समाधान के लिए उनके पास आते रहे। मुसलमानों से धर्म चर्चा करते हुए एक दिन वहाँ स्वामी जी ने कहा था कि मुसलमानों ने दूसरों की छोटी-छोटी मूर्तियों को तोड़ दिया, परन्तु अपनी मूर्ति की पूजा नहीं छोड़ी। मुसलमानों की मूर्ति काला पत्थर (हजरल अस्वद) है जो मक्का के मन्दिर में बड़ी सुन्दरता से लगा हुआ है, जहाँ मुसलमानों के

झुण्ड-के-झुण्ड पृथिवी के सब भागों में से जाते हैं और मक्का की यात्रा (हज) मुसलमानों में मोक्ष का साधन मानी जाती है। ईसाई पादरियों के साथ स्वामी जी के जो शास्त्रार्थ हुए और उनसे जो अनेक बार धर्मचर्चाएँ हुईं, उनके वृत्तान्त भी उपलब्ध हैं। ऐसे एक पादरी नीलकण्ठ थे, जो मैक्समूलर द्वारा किये गए वेदों के अंग्रेजी अनुवाद से परिचित थे। पादरी थोरे ने स्वामी जी से वेदों के सम्बन्ध में बातचीत की, और यह कहा कि उनमें अग्नि सदृश जड़ पदार्थों की पूजा का विधान है। पर स्वामी जी ने वेद मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट कर यह भी कहा, कि मैक्समूलर को ईसाई मत का बहुत पक्षपात है। अतः यदि उसने वेदार्थ करते हुए अनर्थ किया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। उसे यह अभिप्रेत है कि भारतीय वेदमन्त्रों के ऐसे अर्थ देखकर भ्रम में पड़ जाएँ, और वेदों से विमुख हो बाइबल को ग्रहण कर लें। ईसाइयों और मुसलमानों से स्वामी जी की जो इस प्रकार से धर्मचर्चा होती रहती थी, उसके कारण उनका प्रचारक्षेत्र अब बहुत व्यापक हो गया था, और अनेक ऐसे व्यक्ति भी उनके प्रभाव में आने लग गए थे, जो हिन्दू नहीं थे। पर अभी ये विधर्मी लोग स्वामी जी के प्रचार से उतने चिन्तित व उद्विग्न नहीं थे, जितने कि पुरानी लीक को पीटने वाले कट्टर पौराणिक पण्डित व धर्माचार्य। उनके लिए यह तो सम्भव ही नहीं था, कि वे तर्क व प्रमाण से स्वामी जी के मन्तव्यों का खण्डन कर सकते, अतः वे निन्दनीय व गर्ह्य उपायों का भी आश्रय लेने लगे थे। प्रयाग में एक विज्ञापन बाँटा गया था, जिसमें यह लिखा था कि जो कोई दयानन्द के पास जाएगा, उसे महापाप लगेगा। मथुरा के एक पौराणिक पण्डित मोहनलाल ने संस्कृत में एक श्लोक बनाकर वृन्दावन में अनेक स्थानों पर लगवाया था, जिसमें कि उनके लिए अनेक अभद्र शब्दों का प्रयोग किया गया था। एक कवित्त हिन्दी में भी वहाँ ज्ञापित किया गया था, जिसमें कि स्वामी जी के लिए 'महानीच, पापी और पाखण्डी' सदृश शब्द प्रयुक्त थे। विरोधी लोग स्वामी जी के लिए केवल कुवचनों का ही प्रयोग नहीं कर रहे थे, अपितु हिंसात्मक उपायों पर भी उतर आए थे। जब स्वामी जी मथुरा में प्रस्थान करने लगे (१५ मार्च, १८७४), तो चार पाँच सौ आदमी लाठियाँ लिये हुए और गालियाँ बकते हुए उनके निवासस्थान पर चढ़ आए। पर वे स्वामी जी का कुछ भी न बिगाड़ सके। अनेक स्थानों पर व्याख्यान देते हुए स्वामी जी पर पत्थर, ईंटें व धूल भी फेंकी गई थीं, और विरोधियों द्वारा गाली-गलौच किया जाना तो एक साधारण बात थी। पुराणपन्थी लोगों द्वारा इस ढंग से स्वामी जी का विरोध किया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि इस काल में उनके मन्तव्यों के प्रति जनता में आस्था निरन्तर बढ़ती जा रही थी, जिसके कारण विरोधियों का उद्विग्न होना सर्वथा स्वाभाविक था। स्वामी जी को अपने प्रचार कार्य में विघ्न-बाधाओं तथा विरोध की कोई भी परवाह नहीं थी। वे एक अत्यन्त उच्च आदर्श को सम्मुख रखकर कार्य कर रहे थे। प्रयाग में गंगा तट पर एक वृद्ध महात्मा की उनसे भेंट हुई थी, जिसने उनसे कहा था कि यदि आप परोपकार के झंझट में न पड़ते, तो इसी जन्म में आपकी मुक्ति हो जाती। इस पर स्वामी जी ने कहा था कि मुझे अपनी मुक्ति की चिन्ता नहीं है, मुझे तो उन लाखों मनुष्यों की मुक्ति की चिन्ता है जो दुखी दीन और दरिद्र हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि १८७४ तक न केवल स्वामी जी का प्रचार क्षेत्र ही अत्यन्त व्यापक हो गया था, अपितु उनके उद्देश्यों में भी उच्चता तथा व्यापकता आ गई थी।

(३) बम्बई में प्रचार कार्य

सन् १८७४ के अक्टूबर मास में स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रयाग से जबलपुर गए, और वहाँ कुछ दिन निवास कर नासिक चले गए। महाराष्ट्र में नासिक का बहुत महत्त्व है। वह उस प्रदेश का सबसे बड़ा तीर्थ है, और संस्कृत तथा शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के लिए भी प्रसिद्ध है। नासिक में स्वामी जी केवल चार दिन रहे। पर इस थोड़े समय में ही उनके कारण वहाँ हलचल मच गई। उस समय नासिक में रावबहादुर विष्णु मोरेश्वर भिडे सब-जज थे। उनके घर पर पौराणिक पण्डितों के साथ स्वामी जी के शास्त्रार्थ का प्रबन्ध किया गया। नासिक में स्वामी जी के व्याख्यानों व शास्त्र चर्चा के सम्बन्ध में एक लेख उस समय बम्बई के समाचार पत्र 'इन्दुप्रकाश' में प्रकाशित हुआ था, जिसके कुछ अंश उद्धरण के योग्य है—"स्वामी जी की मानसिक शक्तियाँ दुर्लभ हैं, उनकी वाणी बड़ी प्रभावोत्पादिका है, उनकी स्मृति चूकने वाली नहीं है। इसके साथ ही वह अपने सुधार कार्य में उच्च कोटि के संस्कृत पाण्डित्य और हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों के गहन परिचय से योग लेते हैं। उनके हिन्दूधर्म सम्बन्धी विचार बहुत ठीक और उदार हैं। ...पण्डित दयानन्द अपने देशस्थ बन्धुओं से उनके उत्तम भावों के नाम पर, उनकी प्रियतम वस्तुओं के नाम पर, मनुष्य प्रकृति में जो कुछ भी उत्तम नीतियुक्त और पुण्यमय है उसके नाम पर, प्राचीन वेदों के नाम पर जिन पर उन्हें इतना गर्व है, अपने देश के पतित लोगों को उन रीतियों के पंजे से छुड़ाने के लिए अपील करते हैं जो न केवल वर्तमान नीति (सन्तति) के लोगों को लज्जा स्पद बनाती है, वरन् स्वामी जी की सम्मति में प्राचीन ऋषियों और उनके अत्युत्तम ग्रन्थों को भी लज्जाग्रस्त करती है। ... नदी के तट पर विचारमूढ ब्राह्मणों के बृहत्समूह के सामने पुरोहित दल की बुराइयों और उन लोगों के अविद्याजन्य दोषों को ... निर्भीकता और अटल भाव के साथ स्पष्टाक्षरों में वर्णन करने के कारण इस स्थान के लोग पण्डित दयानन्द से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने श्रोताओं के आल्हाद और साधुवाद के बीच पण्डित दयानन्द को बहुमूल्य वस्त्र उपहार में दिए।" चार दिनों के अपने निवास में स्वामी जी ने नासिक की जनता को किस प्रकार प्रभावित कर लिया था, इसे स्पष्ट करने के लिए सामयिक समाचार पत्र का यह लेख पर्याप्त है।

उस समय स्वामी जी किन विचारों व मन्तव्यों का प्रचार करने में तत्पर थे, इस पर भी 'इन्दु प्रकाश' के इस लेख से प्रकाश पड़ता है—"जिस अर्थ में कि जाति शब्द साधारणतया ग्रहण किया जाता है, वह उसे उस अर्थ में ग्रहण नहीं करते। उनकी सम्मति में ... मनुष्यों को उनकी मानसिक और आत्मिक योग्यता के अनुसार विभक्त करने का नाम वर्ण है। यदि एक शूद्र पर्याप्त ज्ञान सम्पन्न है तो वह ब्राह्मण है, और एक पापकर्मा ब्राह्मण शूद्र से भी नीचे वर्ण का है। ... मूर्तिपूजा के वह अदम्य शत्रु हैं। विदेश यात्रा के वह प्रबल पक्षपाती हैं और हमें कुछ भी आश्चर्य न होगा, यदि हम एक दिन सुनें कि पण्डित दयानन्द हाइड पार्क वा वेस्टमिन्स्टर गिरजों में वेदों का प्रचार करने के लिए जहाज पर सवार होकर यूरोप को जा रहे हैं। वह पुनर्विवाह के सच्चे और उत्साही समर्थक हैं। ... वह कहते हैं कि देश के वर्तमान क्लेश-कष्ट का सबसे बड़ा कारण यह है कि वह विभिन्न प्रकार के भिखमंगों से आप्लावित है। उनकी इच्छा है कि सारे बैरागी, गोसाई, बाराजी और भिक्षुक सीधे-सादे और शान्तिप्रिय कृषक अथवा कामगर श्रमजीवी

बन जावें।...पण्डित दयानन्द ने सबसे आश्चर्यजनक जो बात कही, वह यह थी कि भारत में प्रकृत अर्थ में अंग्रेज ही ब्राह्मण हैं।" स्वामी जी के विचार इस समय तक इतने प्रगतिशील व क्रान्तिकारी हो चुके थे, कि उन्होंने यह कहने में कोई संकोच नहीं किया कि वैरागी, गोसाई आदि सम्प्रदायों के साधु वस्तुतः भिखमंगे हैं, और उन्हें जीवन निर्वाह के लिए भीख न माँग कर खेती या मजदूरी करनी चाहिए। क्योंकि अंग्रेज तथा विविध पाश्चात्य देशों के लोग इस काल में नये ज्ञान-विज्ञान के विकास में तत्पर थे, अतः स्वामी जी की सम्मति में वे ब्राह्मण थे। ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि ब्राह्मणों का ही कार्य है।

चार दिन नासिक में रहकर २६ अक्टूबर, १८७४ को स्वामी जी बम्बई पहुँच गये। उनके स्वागत के लिए कई सज्जन रेलवे स्टेशन पर उपस्थित थे, और वे सम्मान के साथ उन्हें बालकेश्वर ले गये जहाँ उनके निवास की व्यवस्था की गई थी। अगले अठारह मास के लगभग का समय स्वामी जी ने गुजरात और महाराष्ट्र के क्षेत्र में व्यतीत किया। वे अहमदाबाद, बड़ौदा और पूना सदृश नगरों में जाते-आते रहे, पर इस काल में वे प्रायशः बम्बई में ही रहे। अठारह महीनों में से दस महीने के लगभग समय उन्होंने बम्बई में बिताया, सारा समय एक बार में नहीं, अपितु चार बार में। कलकत्ता के समान बम्बई भी उस समय भारत के सर्वप्रधान नगरों में एक था, और नवीन शिक्षा तथा नवजागरण की प्रवृत्तियों का केन्द्र भी। प्रार्थना समाज के कारण वहाँ भी नवजागृति का प्रादुर्भाव प्रारम्भ हो चुका था, और अन्य भी ऐसे आन्दोलन शुरू हो गये थे जिनका उद्देश्य अन्ध-विश्वासों, सामाजिक कुरीतियों और रूढ़िवाद का विरोध करना था। बम्बई के निवासियों के दो मुख्य वर्ग हैं, मराठी भाषा बोलने वाले और गुजराती। मराठे गुजरातियों की तुलना में अधिक उद्‌बुद्ध थे। अंग्रेजों ने भारत में जब अपना आधिपत्य स्थापित किया, तो इस देश के बड़े भाग पर मराठों का शासन था। शिवाजी और पेशवाओं के नेतृत्व में महाराष्ट्र में जिस नवजीवन तथा शक्ति का संचार हुआ था, उसके कारण वे भारत के बड़े भाग पर से मुगलों के शासन का अन्त करने और वहाँ अपने राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे। मराठों के उत्कर्ष के पीछे हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के प्रति आस्था की वह भावना भी थी, जिसके विकास के लिए तुकाराम, नामदेव तथा समर्थ गुरु रामदास सदृश सन्त-महात्माओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। पर महाराष्ट्र में भी हिन्दू धर्म के ऐसे सम्प्रदाय विद्यमान थे, जो प्राचीन वैदिक धर्म के अनुरूप नहीं थे और वहाँ के हिन्दू समाज में भी अनेकविध कुरीतियों तथा अन्धविश्वास आदि की सत्ता थी। इसी कारण बंगाल के ब्राह्मसमाज के समान महाराष्ट्र में भी ऐसे संगठन स्थापित हुए, जिनका उद्देश्य समाज सुधार के पक्ष में आन्दोलन करना था। ऐसा एक संगठन 'परम हंस सभा' के रूप में था, जिसका निर्माण सन् १८५६ में हुआ था। पर इसे अपने कार्य में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में जब ब्राह्म आन्दोलन ने जोर पकड़ा, तो उससे प्रभावित होकर १८६७ में महाराष्ट्र में एक नई संस्था की स्थापना की गई, जिसे 'प्रार्थनासमाज' कहते हैं। हिन्दूधर्म के सिद्धान्तों में किसी प्रकार का परिवर्तन करने व उनमें संशोधन करने की प्रार्थनासमाज के सदस्यों की दृष्टि में कोई आवश्यकता नहीं थी। उनका ध्यान हिन्दुओं की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने पर ही केन्द्रित था। अछूतोद्धार, जाति भेद का विरोध, अन्तर्जातीय विवाह और खानपान, स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह आदि को वे हिन्दू जाति की उन्नति के लिए उपयोगी मानते थे। जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे सदृश प्रार्थना समाज के नेताओं

के कर्तृत्व के कारण महाराष्ट्र के सुशिक्षित लोगों में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था, जो सुधारवादी प्रवृत्तियों का स्वागत करने के लिए तैयार था। इसीलिए प्रार्थना समाज के सदस्य तथा उनसे प्रभावित सुशिक्षित व्यक्ति बम्बई में स्वामी जी से बहुधा मिलते रहते थे, और उन्होंने समाज के भवन में उनके व्याख्यान का भी आयोजन किया था। जहाँ तक बम्बई के गुजराती लोगों का सम्बन्ध है, उनमें भी धर्म तथा समाज के सुधार के लिए प्रयत्न का सूत्रपात हो चुका था। गुजरात में वैष्णव धर्म का बहुत प्रचार हैं, और वहाँ के बहुत-से नर-नारी वैष्णवों के बल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी है। इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में श्री बल्लभाचार्य द्वारा किया गया था। ये आचार्य आन्ध्रप्रदेश में उत्पन्न हुए थे, पर उनकी शिक्षा काशी में हुई थी, और मथुरा-वृन्दावन को उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। बल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार मोक्ष-साधन का एकमात्र उपाय परमात्मा की कृपा या अनुग्रह को प्राप्त करना ही है। ईश्वर के अनुग्रह को ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी 'पुष्टि' कहते हैं, जिस कारण यह 'पुष्टि मार्ग' भी कहाता है। पुष्टि मार्ग द्वारा उपदिष्ट भक्ति का अनुसरण करने वाला भक्त पूर्ण प्रेम के साथ भगवान् की परिचर्या करता है। इस सम्प्रदाय में निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग को अधिक श्रेयस्कर माना जाता है। इसीलिए श्री बल्लभाचार्य ने भी विवाह कर गृहस्थ जीवन व्यतीत किया था, और उनके वंशजों ने कालान्तर में नाथद्वारा में श्रीनाथ जी की, कांकरोली में द्वारकानाथ जी की, कोटा में मथुरेश जी की, जयपुर में मदनमोहन जी की, गोकुल में गोकुलनाथ जी की, सूरत में बालकृष्ण जी की और अहमदाबाद में नटवरलाल जी की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित कर उनके लिए विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया था। इन सब मन्दिरों में कृष्ण की विविध रूपों में पूजा की जाती है। कृष्ण की मूर्ति का शृंगार करना, उन्हें स्नान कराना, उन पर केसर का लेप करना, उन्हें भोग अर्पित करना, उन्हें शयन कराना आदि इस सम्प्रदाय की पूजाविधि की विशेषताएँ हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार कृष्णभक्तों को चाहिए कि अपने उपास्य देव के साथ सखी भाव स्थापित करें और उसी प्रकार उनसे प्रेम करें जैसे कि राधा तथा गोपियाँ कृष्ण से करती थीं। वर्तमान समय में गुजरात तथा राजस्थान के धनी-मानी व्यापारी वर्ग में इस सम्प्रदाय का विशेष रूप से प्रचार है, जिसके कारण श्रीनाथ जी आदि के मन्दिरों में बहुत अधिक मात्रा में चढ़ावा चढ़ता है, और उनके वंशक्रमानुगत महन्त बहुत वैभव के साथ जीवन बिताते हैं। इन मन्दिरों के पास जमीन-जायदाद आदि भी बहुत है, जिसके कारण इनके मठाधीशों की स्थिति बड़े-बड़े जागीरदारों तथा राजा-महाराजाओं के सदृश है। धन-सम्पत्ति के अत्यधिक संचय तथा मन्दिरों में पुष्टिमार्ग के वातावरण के कारण इस सम्प्रदाय में अनेक विकृतियाँ प्रादुर्भूत हो गई थीं, और इसके नेताओं के जीवन में विलास व भोग का प्रवेश हो गया था। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि बल्लभ सम्प्रदाय की इन विकृतियों की ओर विचारशील लोगों का ध्यान जाए, और वे उनके निवारण के लिए प्रयत्नशील हों। ऐसे एक व्यक्ति श्री कर्सनदास थे, जो स्वयं बल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। पर उन्होंने आधुनिक शिक्षा प्राप्त की थी, और अपने समय की प्रगतिशील प्रवृत्तियों से उनका सम्पर्क था। उन्होंने अनुभव किया कि बल्लभ सम्प्रदाय की कितनी ही मान्यताएँ तथा पूजापद्धति आदि वास्तविक हिन्दूधर्म के अनुरूप नहीं हैं, और इस सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव कुछ सदी पूर्व ही हुआ था। अपने विचारों को जनता के सम्मुख रखने के लिए श्री कर्सनदास ने सन् १८५५ में 'आर्य प्रकाश'

नाम से एक समाचार-पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया था, जिसमें कि बल्लभ सम्प्रदाय तथा उसके मठाधीशों की विकृतियों को प्रकाश में लाया जाता था। आर्य प्रकाश के लेखों को लेकर १८६० में श्री कर्सनदास पर बल्लभ सम्प्रदाय के एक मठाधीश ने मानहानि का मुकद्दमा दायर कर दिया, जिसमें अन्ततोगत्वा कर्सनदास की विजय हुई। इस मुकद्दमे के कारण जनता का ध्यान बल्लभ सम्प्रदाय के वर्तमान स्वरूप की ओर आकृष्ट हुआ, और साथ ही इस बात पर भी कि वह प्राचीन सत्य सनातन हिन्दू धर्म से कितना भिन्न है। कुछ वर्ष पश्चात् श्री कर्सनदास ने 'वेदधर्म' नाम से एक पुस्तक गुजराती भाषा में प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने यह प्रतिपादित किया था कि सच्चे धर्म के वास्तविक स्रोत वेद हैं, और हिन्दू धर्म को 'आर्य धर्म' कहना ही उपयुक्त है। श्री कर्सनदास गुजराती थे और स्वयं सम्पन्न व्यापारी वर्ग के साथ सम्बन्ध रखते थे,। अनेक गुजराती व्यापारियों ने उनके विचारों की युक्तियुक्तता को स्वीकार किया, और बम्बई की जनता में एक ऐसा सम्पन्न वर्ग उत्पन्न हो गया, जो वेदों द्वारा प्रतिपादित सच्चे आर्य धर्म के परिज्ञान एवं पुनः-स्थापन का पक्षपाती था। सन् १८६९ में काशी शास्त्रार्थ के समय जयकिशनदास जीवनराम और धरमसी नामक बम्बई के जिन व्यापारियों ने स्वामी जी से भेंट की थी, वे कर्सनदास के अनुयायियों के इसी वर्ग के थे, और उन्होंने अत्यन्त आग्रहपूर्वक बम्बई चलने के लिए स्वामी जी को निमन्त्रित किया था। इनका विचार था, कि स्वामी जी के बम्बई जाने से उस आन्दोलन को बल मिलेगा जो बल्लभ सम्प्रदाय की विकृतियों के विरुद्ध वहाँ प्रादुर्भूत हो रहा था। १८६९ में तो स्वामी जी बम्बई नहीं जा सके, पर पाँच वर्ष पश्चात् १८७४ में जब वे बम्बई गए, तो कर्सनदास के अनुयायियों ने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। इस समय कर्सनदास का तो स्वर्गवास हो चुका था, पर उनके साथी व अनुयायी उनके कार्य को आगे बढ़ाने के लिए जी जान से प्रयत्नशील थे। इनमें लक्ष्मीदास खीमजी, मूलजी ठाकरसी और सेवकलाल कर्सनदास के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वामी जी के विचारों तथा कार्यों से बम्बई के लोग परिचित हो सकें, इस प्रयोजन से श्री सेवकलाल कर्सनदास ने काशी शास्त्रार्थ के सार का गुजराती भाषा में अनुवाद कर उसे 'आर्यमित्र' नाम के गुजराती समाचार पत्र में प्रकाशित करा दिया था। इसमें सन्देह नहीं, कि बम्बई के सुधार-वादी व प्रगतिशील गुजराती लोग स्वामी जी की अगाध विद्वत्ता तथा कार्यक्षमता से भलीभाँति परिचित थे, और उन्हें पूर्ण निश्चय था कि उनकी सहायता से वे बल्लभ सम्प्रदाय का सफलतापूर्वक सामना कर सकेंगे। इन लोगों ने बम्बई में एक सभा भी स्थापित की हुई थी, जिसका नाम 'वेद धर्म सभा' था।

बम्बई पहुँचने पर स्वामी जी ने एक विज्ञापन चार भाषाओं में प्रकाशित कराया, जिसमें कि जनता को धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करने तथा शास्त्रचर्चा के लिए अपने निवासस्थान पर आकर मिलने के लिए निमन्त्रित किया गया था। इसके प्रकाशित होते ही बम्बई में धूम मच गई। वहाँ के प्रबुद्ध लोग स्वामी जी के नाम, विद्वता तथा कार्य से परिचित थे। वे बड़ी संख्या में उनके पास आने लगे। पर बम्बई में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो उनके प्रति विद्वेष व विरोधभाव रखते थे। ये उनके विषय में मिथ्या प्रचार करने लगे। कुछ का कहना था, कि यह एक यूरोपियन है जो साधुवेश में रहकर लोगों को हिन्दू धर्म से विमुख करता है और उन्हें ईसाई बनाने के लिए प्रयत्नशील है। दूसरों का कहना था कि यह सन् ५७ में नाना साहब का साथी था, और अब उन्हीं की ओर

से कार्यरत है। पर इन बातों का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, और स्वामी जी के प्रति लोगों के आकर्षण में इनके कारण कोई कमी नहीं आई। बल्लभ सम्प्रदाय के मठाधीश व आचार्य स्वामी जी के प्रचार कार्य से बहुत चिन्तित व उद्विग्न थे, क्योंकि वे अपने व्याख्यानों में वैष्णव सम्प्रदायों का प्रबल रूप से खण्डन किया करते थे। इस समय बम्बई में बल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख नेता गोसाईं जीवनजी थे। जब शास्त्रार्थ में स्वामी जी को परास्त नहीं किया जा सका, तो उन्होंने उनकी हत्या के लिए षड्यन्त्र रचा। स्वामी जी के रसोइये बलदेव को उन्होंने भारी धनराशि का लालच देकर भोजन में विष मिलाने के लिए तैयार किया, पर यह षड्यन्त्र सफल नहीं हो सका। अन्य प्रकार से भी स्वामी जी की हत्या कराने के प्रयत्न किये गये, पर वे सब असफल रहे। इस बीच में उनके व्याख्यान निरन्तर होते रहे, और धर्म सम्बन्धी वार्त्तालाप के लिए भी लोगों का आना-जाना जारी रहा। इस काल में स्वामी जी जनता को किस प्रकार से प्रभावित कर रहे थे, इसका कुछ परिचय उन लेखों व टिप्पणियों से प्राप्त किया जा सकता है जो कि उन दिनों बम्बई के समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो रही थीं। 'गुजरात मित्र' (१६ दिसम्बर, सन् १८७४) पत्र में लिखा था कि "सुधार और धर्म के विषय में उनकी (स्वामी दयानन्द की) सम्मति जानने के लिए लोग सहस्रों की संख्या में उनके पास एकत्र हो गये हैं। कहा जाता है, कि वह संस्कृत के गम्भीर विद्वान् हैं, और उन्होंने वेदों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है।···उनकी सम्मति है कि वेद विधवा विवाह तथा अन्य सुधारों का प्रतिपादन करते हैं···वह उन लाखों साधुओं का क्रोध और घृणा के साथ उल्लेख करते हैं जो धार्मिक होने का दम्भ करते हैं और दूसरों के दान पर अपना पेट पालते हैं।···वस्तुतः, दयानन्द पूर्ण सुधारक हैं, परन्तु वह अपने कथन को प्राचीन परम्परा वा प्राचीन ग्रन्थों पर निर्भर करते हैं।···वह स्वयं संस्कृत के विद्वान् हैं, इसलिए इस देश के हर एक रहने वाले को उक्त भाषा की शिक्षा प्राप्त करने का परामर्श देना उनके लिए स्वाभाविक ही है। वह कहते हैं कि हमें अंग्रेजी केवल एक घण्टा प्रतिदिन पढ़नी चाहिए।" 'इन्दु प्रकाश' (३० नवम्बर, सन् १८७४) के अनुसार "वह निस्सन्देह साहससम्पन्न वक्ता हैं, और उन्हें अपनी विद्या पर अति विश्वास है। वर्तमान समय के कपटी धर्माचार्यों के विषय में उनकी हास्यमय उक्तियों ने बनियों के बृहत् समुदाय में, जो उनका व्याख्यान सुनने गये थे, बड़ी सनसनी उत्पन्न कर दी है।" 'सुबोध पत्रिका' के २१ दिसम्बर, सन् १८७४ के अंक में यह प्रकाशित हुआ था, कि "किसी-किसी ने स्वामी जी के उपदेशों से परिचालित होकर अपनी देवमूर्तियों को गुम्बादेवी के तालाब में फेंक दिया है। सेवकलाल कर्सनदास ने अपनी देवमूर्तियों को टाउन हाल म्यूजियम में रख दिया है।"

सवा मास के लगभग बम्बई में निवास कर दिसम्बर, १८७४ के प्रारम्भ में स्वामीजी ने गुजरात और काठियावाड़ में प्रचार कार्य शुरू किया। इसी प्रदेश में स्वामी जी का जन्म हुआ था, और यहीं उनमें सत्य धर्म के ज्ञान तथा सच्चे शिव के दर्शन की अभिलाषा प्रादुर्भूत हुई थी। स्वामी जी बम्बई से पहले सूरत गये, फिर भड़ौंच, अहमदाबाद और राजकोट। इन सब नगरों में अपने मन्तव्यों का प्रचार करते हुए स्वामी जी १८७५ के जनवरी मास के अन्त में पुनः बम्बई आ गये थे। दो महीनों के लगभग के इस काल में उन्होंने जो व्याख्यान दिये, जो शास्त्रार्थ किये, जिन विद्वानों से उन्होंने शास्त्रचर्चा की, इस सब का संक्षेप के साथ भी यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। पर उनके प्रचार

कार्य के प्रभाव के सम्बन्ध में समाचार-पत्रों के कुछ उद्धरण देने उचित हैं। स्वामी जी के अहमदाबाद के कार्य के विषय में 'टाइम्स आफ इण्डिया' (४ जनवरी, १८७५) में यह लिखा गया था, कि "उन्हें न केवल वेदों का विस्तृत ज्ञान है, वरंच हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों से भी बहुत बड़ा परिचय है और जैनियों, ईसाइयों और मुसलमानों के धर्म ग्रन्थों का भी ज्ञान है। उनके व्याख्यान देने की शैली अत्युत्तम है। इसी कारण लोग उनकी वक्तृताओं में बड़ी संख्या में जाते हैं, और उन्हें पसन्द करते है।" 'हितेच्छु' नामक समाचार-पत्र के ७ जनवरी, १८७५ के अंक में यह संवाद छपा था—"पण्डित दयानन्द ने अपने थोड़े दिन के निवास में ही अहमदाबाद वालों को, विशेष कर शिक्षित समुदाय को आश्चर्यान्वित और आह्लादित कर दिया था, आश्चर्यान्वित इसलिए कि उन्होंने अपने देश गुजरात में किसी शास्त्री को हिन्दू धर्म की ऐसी योग्यता और बुद्धिमत्ता से व्याख्या करते देखा वा सुना नहीं था जैसी कि विद्वान् पण्डित दयानन्द ने की थी; और आह्लादित इसलिए कि पवित्र वेदों की दयानन्दकृत व्याख्या उनके विचारों के अनुकूल थी। ··· निस्सन्देह, पण्डित दयानन्द ही ऐसे मनुष्य हैं जिनकी हिन्दुओं की वर्तमान अधःपतित अवस्था के लिए आवश्यकता है।"

(४) आर्यसमाज की स्थापना

जब स्वामी दयानन्द सरस्वती अहमदाबाद में थे, तभी उन्होंने आर्यसमाज नाम से एक संगठन के निर्माण का विचार प्रकट किया था। इस सम्बन्ध में 'हितेच्छु' (७ जनवरी, १८७५) में प्रकाशित निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—"जिन बुराइयों से हमारा वर्तमान हिन्दू समाज हानि उठा रहा है, उन्हें दूर करने हेतु पण्डित दयानन्द ने आर्यसमाज और वैदिक पाठशाला स्थापित करने का प्रस्ताव किया है। इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन दोनों संस्थाओं के बहुत बड़े लाभ हैं, परन्तु मेरे विचार में अहमदाबाद के लोग अभी तक अपने जातिगत पूर्व संस्कारों को तिलाञ्जलि देने और एक समाज में सम्मलित होने पर उद्यत नहीं हैं।" आर्यसमाज की स्थापना के अपने जिस विचार को स्वामी जी अहमदाबाद में क्रियान्वित नहीं कर सके, वह कुछ समय पश्चात् राजकोट में क्रियान्वित हुआ। स्वामी जी ३१ दिसम्बर, १८७४ को अहमदाबाद से राजकोट पहुँचे थे। वहाँ उनका धूमधाम के साथ स्वागत हुआ, और उनके अनेक व्याख्यान हुए। राजकोट काठियावाड़ में है, जो स्वामी जी का अपना प्रदेश था। दो साल पूर्व वहाँ 'प्रार्थनासमाज' की स्थापना हो चुकी थी, और अनेक सुशिक्षित व्यक्ति उसकी सदस्यता स्वीकार कर चुके थे। ये सब लोग प्रगतिशील विचारों के थे। स्वामी जी ने प्रस्ताव किया कि राजकोट में आर्यसमाज स्थापित किया जाए और प्रार्थनासमाज को ही आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए। प्रार्थनासमाज के सब सदस्य इससे सहमत हो गये, और इस प्रकार प्रथम आर्यसमाज की स्थापना हुई। राजकोट में स्थापित प्रथम आर्यसमाज की सदस्य-संख्या तीस थी। श्री मणिशंकर जटाशंकर उसके प्रधान नियत हुए, और श्री हरगोविन्ददास द्वारकादास मन्त्री। स्वामीजी ने आर्यसमाज के नियम भी बनाए, जिनको छपवा लिया गया। इस प्रकार राजकोट में नियमित रूप से आर्यसमाज स्थापित हो गया, और उसके अधिवेशन नियमपूर्वक होने लगे। पर यह समाज देर तक कायम नहीं रह सका। छह मास पूरे होने से पूर्व ही इसका अन्त हो गया। राजकोट में

आर्यसमाज की विफलता का कारण बहुत अप्रत्याशित था। उन दिनों गुजरात-काठियावाड़ में बड़ौदा के महाराजा मल्हारराव गायकवाड़ को ब्रिटिश सरकार द्वारा सिंहासनच्युत कर दिये जाने के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन चल रहा था। राजकोट आर्यसमाज के लिए भी इससे अछूता रह सकना सम्भव नहीं हुआ। उसके एक अधिवेशन में गट्टूलाल नाम के एक प्रतिभाशाली आशुकवि ने उपस्थित जनता द्वारा प्रस्तावित विषयों पर संस्कृत में तुरन्त श्लोक बनाकर सुनाये। इनमें एक विषय गायकवाड़ का शासनच्युत किया जाना भी था। इस अधिवेशन का पूर्ण कार्यविवरण अनेक समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो गया, जिसे पढ़कर काठियावाड़ के पोलिटिकल एजेण्ट अत्यन्त रुष्ट हुए। राजकोट आर्यसमाज के अनेक सदस्य सरकारी सर्विस में थे, और कुछ वकील थे। श्री नगीनदास ब्रजभूषणदास वकालत का कार्य करते थे, और आर्यसमाज के सहायक मन्त्री थे। पोलिटिकल एजेण्ट ने उनके प्रति अपना रोष प्रकट करने के लिए उनसे वकालत करने का अधिकार छीन लिया। आर्यसमाज के जो सदस्य सरकारी सर्विस में थे, वे इससे इतने भयभीत हो गये कि उन्होंने समाज से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। इस प्रकार राजकोट में स्थापित इस प्रथम आर्यसमाज का कुछ ही महीनों में अन्त हो गया।

राजकोट से बम्बई वापस लौटते हुए स्वामी जी पुनः अहमदाबाद आए, और कुछ दिन उन्होंने वहाँ निवास किया। अब उन्होंने एक बार फिर वहाँ आर्यसमाज स्थापित करने का विचार किया, और इसी प्रयोजन से २७ जनवरी, १८७५ को रावबहादुर श्री विट्ठलदास के घर पर एक सभा बुलायी गई। स्वामी जी के अनुयायियों के अतिरिक्त कुछ पौराणिक पण्डित और ईसाई पादरी भी इस सभा में उपस्थित थे। इस सभा में स्वामी जी के धर्मविषयक मन्तव्यों तथा आर्यसमाज की उपयोगिता पर विचार-विमर्श तो हुआ, पर समाज की स्थापना के सम्बन्ध में कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका। पर इससे आर्यसमाज की स्थापना के लिए प्रयत्न बन्द नहीं हुआ, और १८७५ के मार्च मास के प्रारम्भ तक अहमदाबाद में भी आर्यसमाज का संगठन पूरा कर लिया गया। 'हितेच्छु' समाचार-पत्र के ११ मार्च, १८७५ के अंक में इस विषय में जो लेख प्रकाशित हुआ था, उसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धरण के योग्य हैं—"हम अहमदाबाद के लोगों को आर्य-समाज स्थापित करने पर बधाई देते हैं। पण्डित दयानन्द का यह मुख्य उद्देश्य था कि एक ऐसी सभा स्थापित की जाए, जिसमें हिन्दू लोग प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित हो सकें और हम अत्यन्त प्रसन्न हैं कि ईश्वर के अनुग्रह से यह कार्य सम्पादित हो गया। तीस के लगभग सज्जन समाज में सम्मिलित हुए हैं, जिनमें रावबहादुर गोपालराव, रावबहादुर बेचरदास और रावसाहब महीपतराम भी हैं।" राजकोट के समान, अहमदाबाद में भी प्रार्थनासमाज विद्यमान था। पर उसके सदस्यों में से केवल एक (रावबहादुर महीपतराम) ही ने आर्यसमाज का सदस्य होना स्वीकार किया था। पर अहमदाबाद में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना १५ एप्रिल, १८७५ से पहले नहीं हुई थी, यद्यपि उसकी सब तैयारी मार्च से भी पहले हो चुकी थी। यही कारण है, कि ११ एप्रिल, १८७५ को श्री गोपाल राव हरि को लिखे पत्र में स्वामी जी ने लिखा था—"बम्बई में आर्यसमाज का आनन्द-पूर्वक आरम्भ हुआ। आप लोग भी वहाँ (अहमदाबाद में) आरम्भ कर दीजिये।"

बम्बई में आर्यसमाज स्थापित करने का स्वामी जी का विचार नया नहीं था।

जब वे पहली बार बम्बई आये थे, तब भी उन्होंने हिन्दुओं (आर्यों) का एक संगठन बनाने की आवश्यकता के सम्बन्ध में अपने विचार को इस प्रकार प्रकट किया था—"यदि हम आर्य लोग वेदोक्त धर्म के विषय में प्रीतिपूर्वक, पक्षपात को छोड़कर विचार करें, तो सब प्रकार से कल्याण हो, यही मैं चाहता हूँ। इसके लिए नित्य सभा होनी चाहिए, ऐसा होवे तो उत्तम हो। जिस विधि से नाना सम्प्रदायों का नाश हो जाए, इस विधि का सबको अवलम्बन करना चाहिए।" 'नित्य सभा' से स्वामी जी को एक ऐसी सभा या समाज अभिप्रेत था, जो स्थायी हो। वे ऐसे समाज की आवश्यकता अनुभव करते थे, और यह स्वाभाविक था कि इस सम्बन्ध में वे अपने अनुयायियों व धर्मजिज्ञासुओं के साथ चर्चा करते रहते हों। इसीलिए जब उन्होंने पश्चिम की ओर सूरत, अहमदाबाद, राजकोट आदि का कार्यक्रम बनाया, तो यह प्रश्न उठा कि स्वामीजी के बम्बई से चले जाने पर वहाँ धर्मकार्य व सत्योपदेश को चला सकना कठिन हो जाएगा, अतः एक आर्य-समाज स्थापित किया जाना चाहिए, जिस द्वारा कि धर्मप्रचार जारी रह सके। इसी का यह परिणाम हुआ, कि स्वामीजी के अनुयायी कतिपय महानुभावों ने २४ से ३० नवम्बर (सन् १८७४) तक के काल में परस्पर विचार-विमर्श के लिए अनेक सभाएँ कीं और स्वामीजी की सेवा में प्रस्तुत करने के लिए एक आवेदन-पत्र तैयार किया, जिसमें उनसे आर्यसमाज की स्थापना के लिए प्रार्थना की गई थी। इस आवेदनपत्र पर साठ सज्जनों के हस्ताक्षर थे। स्वामीजी ने इसे स्वीकार कर लिया, और आर्यसमाज के नियम भी बना दिये। साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि समय-समय पर समाज में उपस्थित होकर वे धर्मोपदेश भी करते रहेंगे। पर इस समय आर्यसमाज की स्थापना नहीं की जा सकी। जिन लोगों ने इसके लिए स्वामीजी से आग्रह किया था, उनमें से कुछ पर उनके जाति भाइयों द्वारा समाज में सम्मिलित न होने के लिए जोर डाला जाने लगा, और कुछ सम्भ्रान्त वर्ग के व्यक्तियों ने साधारण लोगों के साथ बराबरी के आधार पर समाज का सदस्य बनना अनुचित समझा। प्रगतिशीलता और सुधार के विरोधी लोगों ने इस समय यह भी प्रचार करना शुरू कर दिया, कि स्वामीजी ईसाई हैं और अंग्रेजों की ओर से हिन्दुओं को अपने सनातन धर्म से विमुख करने का प्रयत्न कर रहे हैं, और आर्यसमाज की स्थापना में भी उनका यही प्रयोजन है।

जब स्वामी जी गुजरात-काठियावाड़ की यात्रा से लौटकर पुनः बम्बई आ गये, तो वहाँ आर्यसमाज की स्थापना की चर्चा फिर से प्रारम्भ हुई। उनके विरुद्ध जो मिथ्या प्रचार किया जा रहा था, उसका प्रभाव देर तक कायम नहीं रहा और प्रगति तथा सुधार के पक्षपाती लोगों ने आर्यसमाज की स्थापना के लिए पुनः उद्योग प्रारम्भ कर दिया। इसी के परिणामस्वरूप १७ फरवरी, १८७५ के दिन गिरगाँव में एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें सैकड़ों व्यक्ति उपस्थित थे। रावबहादुर श्री दादू बा पाण्डुरंग की अध्यक्षता में इस सभा द्वारा एक उपसमिति की नियुक्ति की गई, जिसे समाज के नियमों का निर्माण करने का कार्य सुपुर्द किया गया। पर नियमों के सम्बन्ध में एक ऐसा विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसके कारण आर्यसमाज की स्थापना का यह प्रयत्न भी सफल नहीं हो सका। राजकृष्ण महाराज नामक एक सज्जन ने यह विचार प्रस्तुत किया, कि आर्यसमाज के नियमों में इस सिद्धान्त का समावेश कर दिया जाए कि जीव और ब्रह्म में एकत्व है। उनका कथन था कि यह सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय है, अतः इसके कारण बहुत-से लोग

आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हो जाएँगे। बाद में इस सिद्धान्त में परिवर्तन भी किया जा सकेगा। राजकृष्ण महाराज अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक थे, और इसके प्रचार के लिए 'हृदय चक्षु' नाम के एक समाचार-पत्र का प्रकाशन भी किया करते थे। स्वामी जी के कहने पर उन्होंने इस पत्र का नाम बदलकर 'आर्य धर्म प्रकाश' रख दिया था। श्री राजकृष्ण महाराज वल्लभ सम्प्रदाय के नहीं थे, और क्योंकि स्वामी जी भी इस सम्प्रदाय के मन्तव्यों तथा पूजाविधि के खण्डन में तत्पर थे, अतः राजकृष्ण का विचार था कि स्वामी जी के सहयोग से वह अपने प्रभाव व शक्ति में वृद्धि कर सकते हैं। पर आर्यसमाज के नियमों में जीव और ब्रह्म के पृथक्त्व की बात भी उन्हें सह्य नहीं थी। इसी कारण उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया था कि अभी तो नियमों में जीव और ब्रह्म के एकत्व की बात लिख दी जाए, चाहे बाद में उसे हटा दिया जाए। पर स्वामी जी इससे सहमत नहीं हुए। उनका कहना था, कि आर्यसमाज की नींव असत्य पर कदापि नहीं रखी जा सकती। इस पर राजकृष्ण महाराज रुष्ट हो गये, और उन्होंने स्वामी जी तथा आर्यसमाज का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। फरवरी, १८७५ में आर्यसमाज के स्थापित न हो सकने का यही कारण था। पर राजकृष्ण महाराज के विरोध व असहयोग का प्रभाव देर तक नहीं रहा। बम्बई में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो स्वामी जी के समर्थक तथा आर्यसमाज की स्थापना के पक्षपाती थे। इनमें सेठ मथुरादास लौजी, श्री सेवकलाल करसनदास और श्री गिरिधारीलाल दयालदास कोठारी प्रमुख थे। इन्होंने आर्यसमाज की स्थापना के प्रयत्न को जारी रखा, और श्री पानाचन्द आनन्दजी पारीख को समाज की नियमावली का प्रारूप तैयार करने के लिए नियुक्त किया। इस प्रारूप को जब स्वामी जी ने समुचित रूप से संशोधित कर स्वीकार कर लिया, तो गिरगाँव रोड पर डाक्टर माणिकजी की बागवाड़ी में एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें आर्यसमाज की नियमावली को स्वीकृत कर विधिवत् समाज की स्थापना की गई। यह सभा चैत्र शुक्ला ५ शनिवार, संवत् १९३२ तदनुसार १० एप्रिल, सन् १८७५ को हुई थी। इस प्रकार बम्बई में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना १० एप्रिल के दिन हुई, और इसी को आर्यसमाज का स्थापना दिवस माना जाता रहा है। यद्यपि इससे पूर्व राजकोट में आर्यसमाज स्थापित हो चुका था, पर वह छह मास तक कायम नहीं रह सका था। इस दशा में आर्यसमाज की स्थापना बम्बई के आर्यसमाज से ही मानी जाती है। १० एप्रिल, १८७५ को स्वामी जी ने बम्बई में समाज रूपी जिस पौधे का आरोपण किया था, वह निरन्तर एक विशाल वटवृक्ष के रूप में वृद्धि करता गया, और एक सदी से भी कम समय में उसकी हजारों शाखाएँ-प्रशाखाएँ विश्वभर में व्याप्त हो गईं। बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना किस दिन हुई थी, इस विषय पर सब विद्वान् एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में दो मत हैं, १० एप्रिल और ७ एप्रिल। इनमें से कौन-सा मत सही है, और इस मतभेद के क्या कारण हैं, इस विषय पर इसी अध्याय के तीसरे परिशिष्ट में विवेचन किया गया है।

बम्बई आर्यसमाज की स्थापना के समय शुरू में जो व्यक्ति उसके सदस्य बने थे, उनकी संख्या एक सौ के लगभग थी। सदस्यों की सूची में स्वामी जी का भी नाम था। समाज में कुछ सदस्यों ने यह इच्छा प्रकट की थी, कि स्वामी जी को आर्यसमाज का प्रधान या अधिनायक नियुक्त कर दिया जाए। पर वे इसके लिए सहमत नहीं हुए।

उन्होंने समाज का केवल एक साधारण सदस्य बनना ही स्वीकार किया। बम्बई में स्थापित प्रथम आर्यसमाज के सदस्यों की पूरी सूची इस समय भी उपलब्ध है, जो इस अध्याय के द्वितीय परिशिष्ट में पूर्ण रूप से दे दी गई है। इस सूची में सदस्यों की जाति, व्यवसाय तथा शिक्षा आदि के सम्बन्ध में भी समुचित जानकारी विद्यमान है। बम्बई आर्यसमाज के प्रथम सदस्यों की बहुसंख्या ऐसे लोगों की है, जिनका पेशा व्यापार था। व्यापारियों के अतिरिक्त बहुत-से नौकरीपेशा व्यक्ति, वकील तथा विद्यार्थी भी आर्यसमाज के सदस्यों में थे। जो पन्द्रह विद्यार्थी बम्बई आर्यसमाज के सदस्य बने थे, उनमें श्यामजी कृष्ण वर्मा का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उस समय वे बम्बई के फोर्ट हाई स्कूल के विद्यार्थी थे। स्वामी जी के इस अनुयायी व शिष्य ने आगे चलकर बहुत उन्नति की, और भारत की स्वाधीनता के लिए इंगलैण्ड में क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात किया। आर्यसमाज बम्बई के पदाधिकारी निम्नलिखित थे—प्रधान, गिरधरलाल दयालदास कोठारी, उपप्रधान—ठाकरसी नारायणजी, मन्त्री—पानाचन्द आनन्दजी, उपमन्त्री—मार्तण्ड जोशी, कोषाध्यक्ष—सेवकलाल करसनदास और उपकोषाध्यक्ष—श्यामजी विश्राम। इन छह पदाधिकारियों के अतिरिक्त समाज की अन्तरंग सभा के दस अन्य भी सदस्य थे, जिन्हें आर्यसमाज के सभासदों द्वारा चुना गया था।

१० एप्रिल, १८७५ के दिन बम्बई में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना हो जाने पर उन २८ नियमों को भी स्वीकार किया गया, जो अगले दो वर्षों तक सब आर्यसमाजों को मान्य रहे। वर्तमान समय में आर्यसमाज के जो दस नियम हैं, वे सन् १८७७ में लाहौर में बनाये गये थे। बम्बई में निर्धारित आर्यसमाज के २८ नियमों पर संक्षेप के साथ दृष्टिपात उस महान् आन्दोलन को सुचारुरूप से समझने के लिए उपयोगी है, जिसका प्रारम्भ स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाज की स्थापना द्वारा कर रहे थे। इन नियमों में जहाँ आर्यसमाज के संगठन की रूपरेखा दी गई है, वहाँ साथ ही उन सिद्धान्तों व मन्तव्यों का भी समावेश किया गया है जिनको मानना और जिनके अनुसार आचरण करना आर्यों व आर्यसमाज के सदस्यों के लिए आवश्यक है। आर्यसमाज का जो संगठन स्वामी जी की कल्पना में था, उसमें दो प्रकार के समाजों को रखा गया था, स्थानीय आर्यसमाजें और प्रादेशिक या केन्द्रीय संगठन। "इस समाज में प्रति देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा, और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।" (नियम ३) इस नियम से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी को प्रान्त, प्रदेश और देश सदृश विशाल क्षेत्रों के लिए 'प्रधान' समाजों (या प्रतिनिधि-सभाओं) का होना भी अभिप्रेत था, और उनकी शाखाओं-प्रशाखाओं के रूप में स्थानीय समाजों और छोटे क्षेत्रों की उपप्रतिनिधि सभाओं की पृथक् रूप से सत्ता का होना भी। सम्पूर्ण विश्व के आर्यसमाजों के सर्वोपरि या सर्वप्रधान संगठन (सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा) की कल्पना भी इस नियम में अन्तर्निहित थी। आर्यसमाज का जिस प्रकार का व्यापक संगठन बाद में विकसित हुआ, उसका बीज रूप से प्रतिपादन स्वामी जी ने इस तीसरे नियम द्वारा १८७५ में ही कर दिया था। चौथे नियम में यह कहा गया है, कि "अन्य सब समाजों की व्यवस्था प्रधान समाज के अनुकूल रहेगी।" इसका अभिप्राय यह है, कि सब समाजों के लिए प्रधान समाज (प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा तथा सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा) के नियन्त्रण में रहना आवश्यक है। आर्यसमाज में विभिन्न मतों व सम्प्रदायों का विकास न हो जाए, इसके लिए यह नियम बहुत

उपयोगी है। जब किसी 'प्रधान' (सर्वोपरि या शिरोमणि) समाज (यथा सार्वदेशिक सभा) की सत्ता होगी और अन्य सब समाज उसके 'अनुकूल' होकर रहेंगे, तो आर्यों में मत-मतान्तरों के विकास की सम्भावना ही नहीं रह जाएगी। जिस समय केवल एक ही आर्यसमाज स्थापित हुआ था, तभी स्वामी जी ने इस बात की व्यवस्था कर दी थी, जो उनकी दूरदर्शिता तथा अनुपम प्रतिभा की सूचक है। पाँचवें नियम में यह कहा गया है कि "प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्य भाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश के पुस्तक होंगे और एक 'आर्य प्रकाश' पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जाएँगे।" स्वामी जी की यह कल्पना थी, कि प्रान्त, प्रदेश व देश की प्रधान समाजों में एक-एक ऐसा पुस्तकालय स्थापित किया जाए, जिसमें कि संस्कृत तथा आर्यभाषा की वेदानुकूल पुस्तकों का संग्रह हो और वहाँ से साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किये जाएँ जिन्हें सब आर्यसमाजों को भेजा जाए। बम्बई में निर्धारित नियमों के अनुसार प्रत्येक समाज में दो पदाधिकारी होने चाहिएँ, प्रधान और मन्त्री। क्योंकि अभी आर्यसमाज प्रारम्भिक अवस्था में था, अतः नियमावलि में उपप्रधान, उपमन्त्री, व कोषाध्यक्ष आदि अन्य पदाधिकारियों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी गई थी, यद्यपि बम्बई आर्यसमाज में इनकी भी नियुक्ति कर दी गई थी। छठे नियम में यह बात बड़े महत्त्व की है कि उसमें पुरुष और स्त्री दोनों प्रकार के सभासदों का उल्लेख किया गया है। स्वामी जी के अनुसार प्रत्येक आर्यसमाज में पुरुष-सभासदों के साथ-साथ स्त्रियों को भी सभासद् बनाना चाहिए। यह व्यवस्था भी स्वामी जी की प्रगतिशीलता की सूचक है। वे समाज में स्त्रियों की समान स्थिति के समर्थक थे, अतः उनके लिए यह व्यवस्था करना स्वाभाविक ही था। आर्यसमाज के सभासद् बनाते हुए (आठवें नियम के अनुसार) यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति ही सभासद् बनाये जाएँ, जो सत्पुरुष, सत्यनीतियुक्त और सदाचारी हों। स्वामी जी आर्यसमाजियों की संख्या की तुलना में उनके गुणों तथा सत्कर्मों को अधिक महत्त्व देते थे। वे ऐसे व्यक्तियों को समाज में सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं थे जिनका आचरण अच्छा न हो। सभासद् बनने पर व्यक्ति की कुछ उत्तरदायिता भी हो जाती है। यदि वह गृहस्थ हो, तो अवकाश के समय उसे समाज की उन्नति के लिए उससे अधिक पुरुषार्थ करना होगा जितना कि वह घर के कामों में करता है। विरक्त (वानप्रस्थ और संन्यासी) सभासदों को तो अपना सम्पूर्ण समय समाज की उन्नति में ही लगाना चाहिए। (नियम ९) समाज का अधिवेशन हर आठवें दिन होना चाहिए, जिसमें सब पदाधिकारी तथा सभासद् अवश्य सम्मिलित हों। वे 'सब कार्यों से इस काम को मुख्य जानें' (नियम १०), समाज में उपस्थित होने को सर्वाधिक महत्त्व दें। ग्यारहवें नियम में आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन का कार्यक्रम प्रतिपादित किया गया है। इस कार्यक्रम में गान (वाद्य के साथ भी), सत्योपदेश और प्रश्नोत्तर (परस्पर विचार-विमर्श) को यथोचित स्थान दिया गया है। परमेश्वर, सत्यधर्म आदि का जो उपदेश साप्ताहिक सत्संग में हो, उसमें वेदमन्त्रों के अर्थ तथा व्याख्या को आधार बनाया जाये, यह स्वामी जी को अभिप्रेत था। आर्यसमाज के सभासदों का एक दूसरे के प्रति कैसा व्यवहार हो और वे किस भावना से कार्य करें, यह निम्नलिखित नियमों द्वारा प्रतिपादित किया गया है—"इस समाज में प्रधान आदि सब सभासद् परस्पर प्रीति के लिए अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोध आदि सब दुर्गुण छोड़कर उपकार सुहृदयता से

सबसे सबका निर्वैर होकर स्वात्मवत् सम्प्रीति करनी होगी। (नियम २२) "विचार समय सब व्यवहारों में न्याय युक्त, सर्वहितकारी जो सत्य बात भली प्रकार विचार से ठहरे, उसी को सब सभासदों को प्रकाशित करके वही सत्य बात मानी जाए, उसके विरुद्ध न मानी जाए।" (नियम २३) आर्यसमाज के सभासद् जहाँ साप्ताहिक सत्संग में एकत्र होकर सत्योपदेश आदि का श्रवण करेंगे, वहाँ इस ढंग से परस्पर व्यवहार करेंगे जिससे कि उनमें प्रीति व मैत्री बढ़ती जाए और वे एक-दूसरे के अत्यन्त समीप आ जाएँ, और वे अपने को एक समाजरूपी शरीर का अंग मानने लगें। सम्भवत: इसीलिए स्वामी जी ने छब्बीसवें नियम में यह व्यवस्था की थी—"जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले तब तक और की नौकरी न करें और न किसी और को नौकर रक्खें, वे दोनों स्वामी सेवक भाव से यथावत् बरतें।" जब आर्यजनों को एक पृथक् समाज में संगठित करना हो, तो यह बात बहुत उपयोगी व वांछनीय हो जाती है, कि नौकरी में रखते समय आर्य सभासद् ऐसे व्यक्ति को प्राथमिकता दें जो आर्य सभासद् हो। क्रियात्मक दृष्टि से भी ऐसा करना लाभदायक होगा, क्योंकि आर्यसभासद् केवल ऐसे व्यक्ति ही होंगे जो सदाचारी व सत्पुरुष हों। आर्य लोग ऐसे व्यक्तियों को ही नौकरी में रखना चाहेंगे, या ऐसे व्यक्तियों की ही नौकरी करना पसन्द करेंगे।

प्रत्येक आर्य सभासद् के लिए यह भी नियम बनाया गया था कि वह अपनी आमदनी का शतांश आर्यसमाज के कोष में प्रदान किया करे। यह एक प्रतिशत राशि न्यूनतम थी। बारहवें नियम में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि "अधिक देने से अधिक धर्म फल", पर शतांश तो सबको प्रीतिपूर्वक देना ही चाहिए। इस प्रकार जो धन प्राप्त हो, उसे आर्यसमाज, आर्य विद्यालय तथा 'आर्य प्रकाश' पत्र के प्रचार और उन्नति के लिए खर्च किये जाने की व्यवस्था स्वामी जी ने की थी। प्रत्येक आर्य सभासद् से यह अपेक्षा रखी गयी थी, कि इनकी उन्नति और प्रचार के लिए वह प्रयत्न करे, और इस सद्प्रयत्न में उत्साहित करने के प्रयोजन से उनका यथायोग्य सत्कार भी किया जाना चाहिए (नियम १३)। आर्यसमाज द्वारा किये जाने वाले कार्यों का भी नियमों में निर्देश किया गया है। ये कार्य निम्नलिखित हैं—वेदोक्त रीति से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना, वेदोक्त संस्कारों (निषेकादि अन्त्येष्टिपर्यन्त) का अनुष्ठान, स्वदेश का हित तथा संसार की उन्नति और हित—(नियम १४, १५, और १७)। लोग विवाह, पुत्र जन्म आदि के अवसर पर धन का व्यय भी करते हैं और दान भी देते हैं। स्वामी जी को यह अभिमत था, कि ऐसे अवसरों पर आर्य लोग आर्यसमाज के निमित्त धन आदि दान किया करें क्योंकि ऐसा धर्म का काम और कोई नहीं है। (नियम २७)

आर्य शिक्षणालयों की स्थापना का विचार चिरकाल से स्वामी जी के सम्मुख था। काशी और फर्रुखाबाद आदि में उन्होंने संस्कृत पाठशालाएँ एवं वेद विद्यालय सदृश संस्थाएँ स्थापित भी की थीं। बम्बई में आर्यसमाज के लिए नियमों का निर्माण करते हुए भी उन्होंने आर्य विद्यालय खोलने की बात का उनमें समावेश कर दिया था, और उनके स्वरूप तथा उनमें दी जाने वाली शिक्षा के सम्बन्ध में भी अपने मन्तव्यों का निर्देश दे दिया था। "आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन कराया जायगा और वेदोक्त रीति से ही सत्य शिक्षा सब पुरुष और स्त्री के सुधार की होगी।" (नियम १६) "स्त्री और पुरुष दोनों के विद्या अभ्यास के लिए हर एक स्थान में यथाशक्ति अलग-

अलग बनाये जाएँगे। स्त्रियों के लिए पाठशाला में अध्यापन और सेवा प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा ही किया जायेगा और पुरुष पाठशाला का पुरुषों द्वारा, इसके विरुद्ध नहीं।" (नियम २०) "उन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्यसमाज के अनुकूल पालन की जायेगी।" (नियम २१) आर्य विद्यालयों के सम्बन्ध में ये तीनों नियम सर्वथा स्पष्ट हैं। उनमें मुख्य पाठ्यविषय वेद तथा अन्य आर्ष ग्रन्थ होंगे, पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा-संस्थाएँ पृथक्-पृथक् होंगी, और उनकी व्यवस्था प्रधान समाज (शिरोमणि या सार्वदेशिक सभा) द्वारा निर्धारित नियमों के अनुकूल होगी। सत्यार्थप्रकाश आदि अपने ग्रन्थों में भी स्वामी जी के शिक्षाविषयक यही मन्तव्य प्रतिपादित हैं।

अपने मन्तव्यों के प्रचार व सत्य सनातन वैदिक धर्म की पुनःस्थापना के लिए स्वामी जी की दृष्टि में जहाँ आर्य विद्यालय उपयोगी थे, वहाँ साथ ही समाचार-पत्रों को भी वे आवश्यक समझते थे। इसीलिए उन्होंने 'प्रधान समाजों' द्वारा 'आर्य प्रकाश' नामक पत्रों के प्रकाशन की बात नियमावली में रखी थी। इसमें सन्देह नहीं, कि समाचार-पत्र प्रचार के उत्तम साधन होते हैं।

आर्यसमाज की स्थापना में स्वामी जी का क्या उद्देश्य था, यह भी बम्बई में निर्धारित नियमों से स्पष्ट हो जाता है। नियमावली का पहला नियम यह था—"आर्य समाज का सब मनुष्यों के हितार्थ होना आवश्यक है।" दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि आर्यसमाज का उद्देश्य मनुष्यमात्र के हित और कल्याण को सम्पादित करना है। स्वामी जी ने केवल भारतीयों के हित के उद्देश्य से ही आर्य-समाज की स्थापना नहीं की थी। वे आर्यसमाज द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज का हित करना चाहते थे। पर वे यह भी अनुभव करते थे कि अपने देश के प्रति उनका विशेष कर्तव्य है, और स्वदेश का हित सम्पादित कर संसार की उन्नति कर सकना भी सम्भव व सुगम हो सकेगा। इसीलिए उन्होंने सतरहवाँ नियम इस प्रकार बनाया था—"इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जायगा, एक परमार्थ, दूसरी लोक व्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जाएगी।" यह नियम अत्यन्त महत्त्व का है। इसके अनुसार स्वदेश के हित के लिए परमार्थ एवं लोक व्यवहार दोनों क्षेत्रों में उन्नति तथा शुद्धता की आवश्यकता है। केवल परमार्थ साधन से मनुष्यों का हित नहीं हो सकता, और न केवल लोक व्यवहार या लौकिक उन्नति से ही उनका हित सम्भव है। मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है, वस्तुतः वही परमार्थ है। पर उसके लिए सांसारिक अभ्युदय या लौकिक उन्नति भी आवश्यक है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का यही मूल तत्त्व है। स्वामी जी को यह अभिप्रेत था, कि लौकिक उन्नति तथा परमार्थ साधन दोनों द्वारा स्वदेश (भारत) का हित किया जाए और अपने इस कार्य को केवल स्वदेश तक ही सीमित न रखकर सम्पूर्ण संसार या मनुष्य मात्र के हित के लिए प्रयत्न किया जाए। आर्यसमाज के इसी उद्देश्य को 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की श्रुति द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

स्वदेश और मनुष्यमात्र के हित-कल्याण के लिए आर्यसमाज किन साधनों को अपनायेगा, कहाँ से प्रेरणा प्राप्त करेगा, किस आधार पर सत्य-असत्य, उचित-अनुचित और कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करेगा—यह भी स्वामी जी ने नियमावली में स्पष्ट कर दिया है। दूसरा नियम इस प्रकार है—"इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों को

ही माना जायगा। साक्षी के लिए, वेदों के ज्ञान के लिए तथा आर्य इतिहास के लिए शतपथादि ४ ब्राह्मण, ६ वेदांग, ४ उपवेद, ६ दर्शन, ११२७ वेदों की शाखा वेद व्याख्यान, आर्ष, सनातन संस्कृत ग्रन्थों का भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जायगा।"

स्वामी जी द्वारा निर्धारित आर्यसमाज के अठाईस नियमों में केवल दो ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध धार्मिक सिद्धान्तों या मन्तव्यों से है। चौदहवें नियम में ईश्वर की सत्ता पर विश्वास तथा उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना प्रत्येक आर्य के लिए आवश्यक विहित किया गया है। अतः कोई ऐसा व्यक्ति आर्यसमाज का सदस्य नहीं बन सकता जो ईश्वर में विश्वास न रखता हो और उसे निराकार न मानता हो। साथ ही, ऐसे व्यक्ति भी आर्यसमाज में प्रवेश नहीं पा सकते, जो मूर्तिपूजा करते हों या स्तुति, प्रार्थना व उपासना के अतिरिक्त किसी अन्य पूजाविधि में विश्वास रखते हों। दूसरे नियम में वेदों को स्वतः प्रमाण मानने की बात कही गई है। किसी ऐसे व्यक्ति के लिए भी आर्यसमाज का सदस्य हो सकना सम्भव नहीं रखा गया, जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार न करता हो या वेदों के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ को भी प्रमाणरूप मानता हो। बम्बई तथा गुजरात के प्रार्थनासमाजियों से स्वामी जी का इसी प्रश्न पर मतभेद था। प्रार्थना-समाज के प्रमुख नेता वेदों को प्रमाण मानने की तुलना में बुद्धि, तर्क व विवेक को अधिक महत्त्व देते थे। जब अहमदाबाद में स्वामी जी ने आर्यसमाज स्थापित किया था, तो प्रार्थनासमाज के सदस्यों में से केवल रावसाहब महीपतराम ही उसमें सम्मिलित हुए थे। अन्य लोगों ने मुख्यतया इसी कारण आर्यसमाज का सभासद् होना स्वीकार नहीं किया था, क्योंकि स्वामीजी वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करने पर बहुत जोर देते थे। इस विषय पर 'हितेच्छु' पत्र ने अपने ११ मार्च, १८७५ के अंक में यह टिप्पणी की थी—"वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करने में पण्डित दयानन्द ने समाज के लिए बहुत ही युक्तियुक्त कार्य किया है। यह बात हम सभी लोगों को, चाहे युवा हों या वृद्ध, ब्राह्म और प्रार्थनासमाजों के कथन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और समर्थनीय प्रतीत होगी। उक्त समाज के सदस्य हमसे अलग हो गये हैं और अपनी बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी की मार्गदर्शकता स्वीकार नहीं करते। परन्तु बुद्धि ऐसी शक्ति है जो विकारयुक्त और क्षीण हो सकती है।" आर्यसमाज के सदस्यों के लिए वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकृत करना आवश्यक निर्धारित कर स्वामीजी ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इस द्वारा उन्होंने आर्यों को एक ऐसा आधार प्रदान कर दिया था, जिसके कारण वे धर्म, सदाचार तथा कर्तव्य आदि के सम्बन्ध में निश्चित एवं स्पष्ट मार्ग का अनुसरण कर सकते थे। सत्यमार्ग के लिए मनुष्य केवल अपनी बुद्धि एवं तर्कशक्ति पर ही निर्भर नहीं रह सकते। प्रमाणवाद का भी सत्य निर्धारण में स्थान है। पर हिन्दुओं द्वारा जो ग्रन्थ प्रमाण रूप से स्वीकार किये जाते थे, उनकी संख्या अनगिनत थी। वेदों के अतिरिक्त सभी ब्राह्मण ग्रन्थ, सभी सूत्र ग्रन्थ, सभी स्मृतियाँ, महाभारत और पुराण आदि सभी प्राचीन पुस्तकें उन्हें प्रमाण रूप से स्वीकार्य थीं। हिन्दुओं में जो बहुत-से सम्प्रदाय व मतमतान्तर विकसित हो गये, इसका यह भी एक प्रधान कारण था। पर हिन्दुओं के सब सम्प्रदाय वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते थे, और यह भी मानते थे कि उनके मन्तव्यों का आधार वेद ही हैं। इस दशा में स्वामीजी का वेदों को ही स्वतः प्रमाण रूप से प्रतिपादित करना सर्वथा युक्ति-संगत तथा क्रियात्मक दृष्टि से समुचित था। ऐसा कर लेने पर हिन्दुओं (आर्यों) के मतभेदों

का अन्त कर उन्हें एक सूत्र में संगठित कर सकना सम्भव था। वेदों के वास्तविक मन्तव्य क्या हैं, इसका निर्णय करने की कसौटी स्वामीजी ने यह निर्धारित कर दी थी, कि उनकी व्याख्या निरुक्त, निघन्टु, पाणिनि-व्याकरण, महाभाष्य सदृश आर्ष ग्रन्थों के अनुसार की जाए। साथ ही जहाँ तक वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण, उपनिषद, वेदांग आदि का सम्बन्ध है, उन्हें उसी अंश तक प्रमाण माना जाए जहाँ तक कि वे वेदानुकूल हों। उनको प्रमाण तो माना जाए, पर गौण रूप से। स्वतः प्रमाण की स्थिति केवल वेदों को प्राप्त हो। इस प्रकार स्वामीजी ने आर्यों को एक संगठन में संगठित होने के लिए मैदान तैयार कर दिया था। हिन्दुओं के सब सम्प्रदाय और मत वेदों की स्वतः प्रमाणता को समान रूप से स्वीकृत करते थे, अतः उनके आधार पर उनमें एकता उत्पन्न करना एक क्रियात्मक बात थी।

स्वामीजी ने बम्बई आर्यसमाज के लिए जो अठाईस नियम निर्धारित किये थे, उन पर ध्यानपूर्वक विचार करने पर कतिपय अन्य बातें भी स्पष्ट हो जाती हैं। श्री केशव-चन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्मसमाज में नये जीवन तथा नवस्फूर्ति का संचार हुआ था, जिसके कारण उस समाज में उनकी स्थिति अत्यन्त महत्त्व की हो गई थी। यद्यपि श्री सेन 'आधुनिकता' के पक्षपाती थे, और पाश्चात्य विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त करते थे, पर ब्राह्मसमाजियों द्वारा गुरुवत् पूजे जाने का उन्होंने कोई विरोध नहीं किया। ब्राह्मसमाज में उनकी उसी प्रकार से पूजा होने लगी, जैसी कि मध्य युग में सन्त-गुरुओं की हुआ करती थी। स्वामी दयानन्द उन अर्थों में 'आधुनिक' नहीं थे, जिनमें कि श्री केशवचन्द्र सेन थे। वे न अंग्रेजी जानते थे, और न पाश्चात्य साहित्य से उन्हें परिचय था। पर उन्हें यह किसी भी दशा में स्वीकार्य नहीं था, कि गुरुओं के समान उनकी पूजा की जाए। इसीलिए उन्होंने बम्बई समाज का प्रधान पद तक भी स्वीकृत नहीं किया था। वे कोई नया सम्प्रदाय चलाना नहीं चाहते थे। यही कारण है, जो समाज के अठाईस नियमों में किसी नई पूजाविधि का उल्लेख नहीं किया गया, और न किन्हीं ऐसे सिद्धान्तों का जो आर्यसमाज को सनातन वैदिक धर्म की धारा से पृथक् करते हों या उसे इस शाश्वत धारा में ही कोई पृथक् स्थिति प्रदान करते हों। स्वामीजी आर्यसमाज के वही मन्तव्य रखना चाहते थे, जो वेदों में प्रतिपादित हैं, जो नवीन न होकर शाश्वत व सनातन हैं। मनुष्य मात्र व सम्पूर्ण संसार का कल्याण उनका मुख्य उद्देश्य था, पर अपने देश भारत, जिसे वे आर्या-वर्त कहते थे, की उन्नति व हित को वे विशेष महत्त्व देते थे, क्योंकि उनके विचार में भारत के नेतृत्व में ही विश्व के हित व कल्याण का सम्पादन सम्भव था। 'हितेच्छु' पत्र में इस विषय में लिखी गई ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—"यदि वह वल्लभ और अन्य साम्प्रदायिक लोगों के सदृश धन के कारण कार्य करने वाले होते तो उन्हें सहस्रों शिष्य प्राप्त हो जाते और एक नया सम्प्रदाय स्थापित करके वे धन की बड़ी राशि इकट्ठी कर लेते। परन्तु ऐसे नीच भाव उनकी प्रकृति के प्रतिकूल हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य भारत का पुनरुद्धार ही है। उनकी प्रबल आकांक्षा यही है कि वे समृद्धि और सभ्यता में अपने देश को फिर एक बार सब जातियों में शिरःस्थान पर देखें।"

आर्यसमाज की जो नियमावली स्वामीजी ने बनायी थी, वह पूर्णतया लोक-तन्त्रवाद के अनुकूल है। उसके अनुसार प्रधान और मन्त्री सदृश पदाधिकारियों की नियुक्ति सभासदों द्वारा की जाती है। समाज में किसी को भी गुरु की स्थिति प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत उस समय ब्राह्मसमाज में श्री केशवचन्द्र सेन सर्वेसर्वा थे,

उनकी स्थिति एक गुरु की थी। ब्राह्मसमाज के सब निर्णय उन्हीं द्वारा किये जाते थे, अन्य लोगों को उनके निर्णयों को प्रभावित करने का कोई भी अवसर नहीं था। वस्तुतः, उस समय ब्राह्मसमाज का न कोई संविधान था और न कोई नियमावली। पर आर्यसमाज की स्थापना करते हुए स्वामी जी ने इस बात को दृष्टि में रखा था, कि उसकी एक सुनिश्चित नियमावली हो और उसके सब कार्य निर्धारित नियमों के अनुसार ही किये जाएँ। गुरुडम के वे अत्यन्त विरोधी थे, और यह कभी नहीं चाहते थे कि लोग उन्हें गुरु मानने लगें। दिसम्बर, १८७४ में जब स्वामीजी भड़ौंच में निवास कर रहे थे, ठाकुर उमराव सिंह ने उनसे प्रार्थना की थी कि मुझे अपना शिष्य बना लीजिये और मुझे मन्त्र दे दीजिये। इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया था कि हम किसी को शिष्य नहीं बनाते। जो हमारे सिद्धान्तों को मानता है, वही हमारा सेवक व शिष्य और जो लोग हमारे काम में सहायक होते हैं, वही हमारे भाई हैं। हमारे पास मन्त्र देने की कोई फुँकनी नहीं है जिससे हम किसी के कान में मन्त्र फूँकें और मन्त्र तो सारे वेद में हैं ही, हम क्या मन्त्र देंगे। यही भावना थी, जिससे स्वामीजी ने आर्यसमाज की ऐसी नियमावली निर्धारित की थी, जिसमें किसी के गुरु होने की गुँजाइश ही नहीं रखी गई थी और जिसमें सब निर्णय सभासदों द्वारा विचार-विमर्श के अनन्तर ही किये जाने थे। नियमावली में संशोधन व परिवर्तन के लिए भी यह आवश्यक था, कि उसे सब श्रेष्ठ सभासदों की विचार रीति से ही किया जाए (नियम २८)।

बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना करते समय स्वामी जी के मन में कौन-से विचार विद्यमान थे, इसकी जानकारी उस भाषण द्वारा प्राप्त की जा सकती है, जो उन्होंने समाज को स्थापित करने के लिए जोर देने वाले लोगों के सम्मुख दिया था। उसमें उन्होंने कहा था "यदि आप समाज द्वारा मानवसमाज के हित के लिए कुछ कर सकते हैं, तो समाज की स्थापना अवश्य कीजिए। मैं आपके मार्ग में बाधक नहीं बनूँगा। पर यदि आप उसका संगठन समुचित रूप से नहीं करेंगे, तो भविष्य में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं आपका पथ-प्रदर्शन उसी प्रकार से करूँगा, जैसे कि दूसरों का करता हूँ। यह बात स्पष्ट रूप से अपने मन में रख लीजिए। मेरे मन्तव्य कोई असाधारण व अद्वितीय नहीं हैं, और न मैं सर्वज्ञ ही हूँ। अतः यदि युक्तिपूर्वक विचार-विमर्श के अनन्तर भविष्य में मेरी कोई भूल आपके सामने आए, तो उसे ठीक कर लीजिए। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे, तो यह समाज भी आगे चलकर एक सम्प्रदाय बन-कर रह जाएगा। भारत में जो बहुत-से मत-मतान्तर विद्यमान हैं, उसका कारण यही है, कि इनमें गुरु के वचन को सत्य की कसौटी मान लिया गया, जिसके परिणामस्वरूप लोग धर्मान्ध हो गये। उनमें कलह उत्पन्न हो गई। सत्यज्ञान का विनाश हो गया और वे पूर्वा-ग्रहों से ग्रस्त होने लगे। भारत की वर्तमान दुर्दशा इसी ढंग से हुई है, और इसी ढंग से समाज का रूप भी एक अन्य सम्प्रदाय का हो जाएगा। यह मेरी निश्चित सम्मति है। भारत में चाहे कितने ही विभिन्न साम्प्रदायिक मत-मतान्तर प्रचलित रहें, पर यदि वे सब वेदों की मान्यता स्वीकार करते रहें, तो वे सब छोटी-छोटी नदियाँ वैदिक धर्म के महासमुद्र में मिलकर एक हो जायेंगी और धर्म की एकता स्थापित हो सकेगी। धर्म की इस एकता से ही सामाजिक तथा आर्थिक सुधार प्रादुर्भूत होंगे, शिल्प कला तथा अन्य मानव प्रयासों की उन्नति होगी और मनुष्य का जीवन पूर्णता को प्राप्त कर सकेगा।"

इस भाषण से सर्वथा स्पष्ट है कि स्वामी जी को इस बात की बहुत चिन्ता थी, कि कहीं आर्यसमाज भी एक सम्प्रदाय न बन जाए। इसीलिए उन्होंने बम्बई के आर्यसमाज की केवल साधारण सदस्यता ही स्वीकार की थी, और वह भी बहुत जोर देने के बाद। वे चाहते थे, कि न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न सम्प्रदाय व मत-मतान्तर अपनी पृथक् सत्ता रखते हुए भी वेदों की मान्यता स्वीकार कर लें और उसी के आधार पर सत्य-असत्य का निर्णय किया करें। निस्सन्देह, स्वामी जी की दृष्टि अत्यन्त विशाल थी। सम्प्रदायवाद के संकीर्ण दायरे से ऊपर उठकर वे धर्म की एकता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे, एक ऐसे धर्म की जो वेदों की सर्वोपरि स्थिति स्वीकार करता हो और उसी से प्रेरणा प्राप्त करता हो। बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना के अवसर पर अपने भाषण में स्वामी जी ने यह भी कहा था—"हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है। मैं तो वेद के अधीन हूँ। हमारे भारत में पच्चीस करोड़ आर्य हैं। किसी-किसी बात में उनमें कुछ-कुछ मतभेद हैं, जो विचार करने से स्वयं ही दूर हो जाएँगे। मैं संन्यासी हूँ और मेरा कर्तव्य यही है कि आप लोगों का जो अन्न खाता हूँ, उसके बदले में जो सत्य समझता हूँ उसका निर्भयता से उपदेश करूँ, मुझे यश कीर्ति की कोई इच्छा नहीं है। चाहे कोई मेरी स्तुति करे या निन्दा करे, मैं अपना कर्तव्य समझकर धर्म का बोध कराता हूँ। चाहे कोई माने या न माने। इसमें मेरा कोई हानि-लाभ नहीं है।"

आर्यसमाज कहीं एक सम्प्रदाय का रूप प्राप्त न कर ले और उनके अनुयायी उन्हें गुरु मानकर पूजा न करने लगें, इस विषय में स्वामी जी बहुत सावधान थे। बम्बई में समाज की स्थापना हो जाने पर श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ने उनकी फोटो लेनी चाही। फोटो की अनुमति तो स्वामी जी ने दे दी, पर उन्होंने विशेष रूप से यह आदेश दे दिया कि आर्यसमाज मन्दिर में उनकी फोटो न रखी जाए।

बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना कर और कुछ समय उसका पथ-प्रदर्शन कर स्वामी जी अहमदाबाद चले गये, और मई, १८७५ के अन्त तक वहीं रहे। इस काल में उन्होंने विशेष रूप से स्वामीनारायण मत का खण्डन किया। इस मत का प्रारम्भ उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में स्वामी सहजानन्द द्वारा हुआ था। बल्लभ सम्प्रदाय के बहुत से अनुयायियों ने स्वामीनारायण मत को स्वीकार कर लिया था, और गुजरात-काठियावाड़ में यह बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस मत का मुख्य ग्रन्थ 'शिक्षा पत्री' था, जिसमें २१२ श्लोक हैं। स्वामीनारायण मत के खण्डन में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अहमदाबाद में अनेक व्याख्यान दिये, और 'शिक्षापत्री ध्वान्तनिवारण' नाम से एक पुस्तक भी लिखी, जिसमें यह प्रदर्शित किया गया था, कि इस मत के मन्तव्य किस प्रकार अयुक्तियुक्त तथा वेदविरुद्ध हैं। यह पुस्तक सन् १८७६ में बम्बई के ओरियन्टल प्रेस से प्रकाशित हुई थी। स्वामीजी देर तक अहमदाबाद नहीं रह सके। उन्हें शीघ्र बम्बई वापस लौट आना पड़ा, और वहाँ उन्होंने अपने विरोधियों से अनेक शास्त्रार्थ किए। इनमें पण्डित कमलनयनाचार्य के साथ हुआ शास्त्रार्थ उल्लेखनीय है। शिवनारायण वेनीचन्द नाम के एक मारवाड़ी सेठ पण्डित कमलनयनाचार्य के बड़े भक्त थे, और उन्हें अपना गुरु मानते थे। उनके मित्र ठक्कर जीवनलाल आर्यसमाजी थे। इनमें बहुधा धर्म के सम्बन्ध में बातें होती रहती थीं। एक का मत था कि मूर्तिपूजा वेदसम्मत है, और दूसरा उसे वेदविरुद्ध मानता था। दोनों मित्रों ने यह विचार किया कि पण्डित कमलनयनाचार्य और स्वामी दयानन्द सरस्वती में

मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ कराया जाए। यदि स्वामीजी परास्त हो जाएँ, तो जीवनदयाल मूर्तिपूजक हो जाएँ, और यदि पण्डित कमलनयनाचार्य की पराजय हो जाए, तो शिव-नारायण वेनीचन्द मूर्तिपूजा का त्याग कर स्वामीजी के मन्तव्यों को स्वीकार कर लें। दोनों मित्रों ने एक प्रतिज्ञापत्र तैयार किया, जिसमें ये शर्तें स्पष्ट रूप से लिख दी गई और उन पर दोनों ने हस्ताक्षर कर दिये। १२ जून, १८७५ का दिन शास्त्रार्थ के लिए नियत किया गया और फ्रामजी कावसजी हॉल में शास्त्रार्थ की सब व्यवस्था कर दी गई। हॉल के मंच के मध्य में एक मेज रखी गई, जिस पर वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, निरुक्त, निघण्टु आदि १५० ग्रन्थ रखे हुए थे। मेज के दोनों ओर दो कुर्सियाँ स्वामीजी और पण्डित कमलनयनाचार्य के लिए रखी गईं, और अन्य पण्डितों व विद्वानों के बैठने के लिए भी समुचित प्रबन्ध कर दिया गया। इस शास्त्रार्थ की बम्बई में सर्वत्र चर्चा थी, अतः फ्रामजी कावसजी हॉल धर्मजिज्ञासुओं और श्रोताओं से खचाखच भर गया था। शास्त्रार्थ में सभापति का पद रावबहादुर बेचरदास अम्बाईदास ने ग्रहण किया। उन्होंने अपने प्रारम्भिक भाषण में कहा, कि मैं स्वयं मूर्तिपूजक हूँ, पर आपसे अनुरोध करता हूँ कि जब स्वामी दयानन्द सरस्वती मूर्तिपूजा को वेदविरुद्ध प्रतिपादित करें, तो आप क्रोध न कर उनकी बात को ध्यान से सुनें, ताकि सत्य का निर्णय किया जा सके। शास्त्रार्थ का संक्षेप के साथ भी यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। पण्डित कमल-नयनाचार्य तो किसी-न-किसी बहाने शास्त्रार्थ से बचने का ही प्रयत्न करते रहे, और अन्त में यह कहकर सभास्थल से उठकर चले गये कि जहाँ शूद्र भी उपस्थित हों वैसी सभा में वेदमन्त्रों का पढ़ा जाना शास्त्रों में वर्जित है, अतः हम यहाँ भाषण नहीं दे सकते। स्वामी जी के व्याख्यान को जनता ने बहुत ध्यान से सुना, और उससे उसने बहुत सन्तोष अनुभव किया। परिणाम यह हुआ कि बहुत-से लोगों की मूर्तिपूजा पर से श्रद्धा उठ गई।

बम्बई में स्वामीजी की संस्कृत के अनेक ऐसे विद्वानों से भी शास्त्रचर्चा हुई थी, जो पुराने ढंग के पण्डित मात्र न होकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में भी निष्णात थे और प्रगतिशील विचारों के साथ भी जिनका सम्पर्क था। ऐसे दो विद्वान् श्री आर० जी० भाण्डारकर और पण्डित विष्णु परशुराम शास्त्री थे। ये दोनों प्रार्थनासमाज के सदस्य थे, और वेदों का भी इन्होंने अनुशीलन किया हुआ था। श्री भाण्डारकर का यह मत था, कि वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद का प्रतिपादन नहीं है, उनमें बहुत-से देवताओं का उल्लेख है। यही मत पण्डित विष्णु परशुराम का भी था। ये दोनों विद्वान् यह भी प्रतिपादित करते थे, कि वेद अपौरुषेय व ईश्वरकृत नहीं हैं, अपितु उन अनेक ऋषियों की रचनाएँ हैं, जिनके नाम वेदमन्त्रों के साथ दिए जाते हैं। नवम्बर, १८७४ में स्वामीजी के साथ इन विद्वानों का विचार-विनिमय हुआ था, और स्वामीजी ने वेदभाष्य के सम्बन्ध में अपनी योजना से उन्हें अवगत कराया था। वस्तुतः, श्री भाण्डारकर और पण्डित विष्णु परशुराम शास्त्री वेदों के उन्हीं अर्थों से परिचित थे, जो कि सायणाचार्य आदि मध्ययुगीन भाष्य-कारों द्वारा अभिव्यक्त किये गये थे, और मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वान् भी जिनके अनुसार वेदों का अनुवाद कर रहे थे। पर स्वामीजी वेद के शब्दों को यौगिक मानते थे, और नैरुक्त शैली से उनके अर्थ करते थे। अवश्य ही स्वामीजी ने वेदभाष्य की अपनी पद्धति से इन विद्वानों को परिचित कराया होगा। बम्बई तथा गुजरात-काठियावाड़ में संस्कृत के अनेक पाश्चात्य विद्वानों से भी स्वामीजी का सम्पर्क हुआ था। मार्च, १८७६ में

जब वे पुन: बम्बई में थे, तो प्रोफेसर मोनियर विलियम्स उनसे मिले थे। ५ मार्च को वेदों के सम्बन्ध में स्वामीजी का एक व्याख्यान बम्बई आर्यसमाज की ओर से हुआ था, जिसमें प्रो० विलियम्स भी उपस्थित थे। व्याख्यान के पश्चात् उन्होंने देर तक स्वामीजी के साथ संस्कृत में बातचीत की, और उनकी विद्वता की बहुत प्रशंसा की। प्रो० विलियम्स ने 'ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूइज्म' नामक अपनी पुस्तक में इस वार्त्तालाप का उल्लेख भी किया है। फान बुल्हर नाम के संस्कृत के एक अन्य विद्वान् से स्वामीजी की भेंट उस समय सूरत में हुई थी, जब कि वे राजकोट में आर्यसमाज की स्थापना कर अहमदाबाद होते हुए बम्बई वापस लौट रहे थे। उस समय फान बुल्हर सूरत में शिक्षा विभाग के इन्स्पेक्टर पद पर कार्य कर रहे थे। स्वामीजी ने उनसे भी संस्कृत में बातचीत की थी। संस्कृत के पाश्चात्य विद्वानों में श्री एच० एच० विल्सन का सम्मानास्पद स्थान है। उन्होंने ऋग्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। जब स्वामीजी ने बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की, तो प्रोफेसर विल्सन बम्बई में ही थे। स्वामीजी से उनकी अनेक बार भेंट हुई, और वेदार्थ के सम्बन्ध में विचार-विमर्श भी। दोनों के वेदभाष्यों में अत्यधिक भेद था, पर फिर भी प्रोफेसर विल्सन से वार्त्तालाप कर स्वामीजी को प्रत्यक्ष रूप से यह जानकारी अवश्य हो गई थी, कि वेदों के पाश्चात्य विद्वान् वेदों के वास्तविक अर्थों से कितने अनभिज्ञ हैं।

सन् १८७५ के जुलाई मास में स्वामी जी बम्बई से पूना गये। वहाँ उन्हें श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने निमन्त्रित किया था। महाराष्ट्र में पूना का विशिष्ट स्थान है। उसे महाराष्ट्र की संस्कृति एवं शक्ति का प्रधान केन्द्र माना जाता है। श्री रानाडे प्रार्थनासमाज के प्रमुख नेता थे, और प्रगतिशीलता तथा सुधार के पक्षपाती थे। पूना नगर और छावनी में स्वामीजी के कुल पचास व्याख्यान हुए, जिनमें से पन्द्रह पूना नगर में हुए थे और शेष पूना छावनी में। पूना नगर में दिए गए पन्द्रह व्याख्यानों का पूरा-पूरा विवरण उस समय के स्थानीय समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ था, जिन्हें बाद में मराठी तथा गुजराती भाषाओं में पुस्तक रूप में भी प्रकाशित किया गया। इनका हिन्दी अनुवाद 'उपदेश मञ्जरी' नाम से प्रकाशित है। 'उपदेश मञ्जरी' के रूप में संकलित स्वामीजी के व्याख्यानों का अत्यधिक महत्त्व है। यद्यपि स्वामीजी ने वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप का पुन: स्थापन करते हुए, विभिन्न नगरों में सैकड़ों व्याख्यान दिये थे, पर उन्हें सम्यक् रूप से लेखबद्ध नहीं किया गया। पूना में दिये गये ये व्याख्यान ही स्वामीजी की भाषण शैली और विषय को प्रतिपादित करने के ढंग का स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं। ये व्याख्यान हिन्दी में हुए थे, और इन्हें सुनने के लिए हजारों व्यक्ति उपस्थित हुआ करते थे। स्वामीजी के व्याख्यानों के कारण पूना के पौराणिक पण्डित किस प्रकार उद्विग्न हो उठे थे, इसका कुछ अनुमान 'हितेच्छु' पत्र के १८ अगस्त, १८७५ के अंक में प्रकाशित निम्नलिखित पंक्तियों से किया जा सकता है—"पूना के पत्र दयानन्द और पण्डितों की सभाओं के वर्णन से भरे हुए हैं। पण्डित लोग दयानन्द की सभाओं के उत्तर में यह बात निर्धारित करने के लिए समता रखते हैं कि मूर्तिपूजा के इस महान् शत्रु का किस प्रकार साम्मुख्य किया जाए।... इसकी सम्भावना प्रतीत नहीं होती कि पूना के शास्त्री स्वामीजी के साथ खुले मैदान में शास्त्र-युद्ध करने का साहस करेंगे और यह प्रतीत होता है कि वह ओछी चालें ही चलते रहेंगे जिससे उनका शास्त्रार्थ न करने का मनोरथ पूर्ण हो।" पूना के पौराणिक नेता इस बात

पर उतारू थे, कि स्वामीजी के विरुद्ध कोई उपद्रव खड़ा किया जाए। इसके लिए एक अवसर तब उपस्थित हो गया, जब स्वामीजी पूना में अपना कार्य समाप्त कर सतारा जाने के लिए उद्यत थे। उनके भक्तों और अनुयायियों ने विचार किया कि स्वामीजी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए उन्हें पूना से सत्कारपूर्वक विदाई दी जाए। इस प्रयोजन से यह निश्चय किया गया, कि ५ सितम्बर, १८७५ को पहले पूना छावनी में स्वामीजी का व्याख्यान हो, और फिर वहाँ से एक जुलूस पूना नगर ले जाया जाए। सभा और जुलूस की तैयारी धूमधाम के साथ की गई। पूना नगर तक पहुँचते-पहुँचते जुलूस में कई हजार व्यक्ति सम्मिलित हो गये थे। श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने स्वामीजी के लिए आयोजित इस सत्कार समारोह में विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। पौराणिकों को स्वामीजी के प्रति प्रदर्शित यह आदर-सत्कार सहन नहीं हुआ। उन्होंने इसके मुकाबले में गर्दभानन्द आचार्य की सवारी निकाली। एक गधे को सजाकर उस पर गेरुए रंग की झूल डाली गई और स्वामीजी का उपहास करते हुए इस गधे की सवारी निकाली गई। दोनों जुलूस प्रायः एक ही समय पूना नगर के उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ कि जुलूस के पश्चात् स्वामीजी के सार्वजनिक व्याख्यान का प्रबन्ध किया गया था। विरोधियों ने सभा में स्वामीजी पर ईंट, पत्थर, कीचड़ आदि फेंके और श्री रानाडे भी इनसे नहीं बच सके। पुलिस बड़ी कठिनता से उपद्रव को शान्त करने में समर्थ हुई। बाद में स्वामीजी ने अपना व्याख्यान दिया, पर उस में उन्होंने उपद्रव का कोई उल्लेख नहीं किया। वे पूर्णतया शान्त थे, और उन पर चिन्ता का नामोनिशान तक न था। व्याख्यान समाप्त होने पर महाराष्ट्र के अनेक गण्य मान्य महानुभावों ने स्वामीजी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की। श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने स्वामीजी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि स्वामीजी ने पूना पधार कर अपने व्याख्यानों द्वारा स्थानीय पण्डित मण्डली में वेदोक्त धर्म के विषय में विचार और जिज्ञासा उत्पन्न कर दी है। स्वामीजी ने अनेक ऐसी बातें कही हैं, जो ग्रहण करने योग्य हैं, अतः उनका आदर-सम्मान करना हमारा कर्तव्य है।

पूना में रहते हुए स्वामीजी ने वहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना की थी। पर पूना का समाज देर तक कायम नहीं रह सका। कुछ समय बाद ही उसका अन्त हो गया। सितम्बर, १८७५ में स्वामीजी पूना से सतारा गये, और कुछ सप्ताह वहाँ निवास कर पूना होते हुए बम्बई लौट आए। पर इस बार वे देर तक वहाँ नहीं रहे, और बम्बई से बड़ौदा चले गये। वहाँ वे राज्य के अतिथि के रूप में रहे, और बड़ौदा के प्रधानमन्त्री सर टी० माधवराव ने उनके निवास आदि की सब व्यवस्था की। वहाँ स्वामीजी के व्याख्यानों में राज्य के बड़े राजपदाधिकारी तथा सम्भ्रान्त पुरुष बड़ी संख्या में उपस्थित हुआ करते थे। मुसलमान भी उनके प्रवचनों को सुनने के लिए आया करते थे, और उनकी योग्यता तथा धर्मज्ञान की जनता में धूम मच गई थी। अपने व्याख्यानों में स्वामी जी राजधर्म के सम्बन्ध में भी उपदेश दिया करते थे। ऐसे एक व्याख्यान को सुनकर सर टी० माधवराव ने कहा था, कि राजनीति का स्वामीजी का ज्ञान हमसे भी सौ गुना है। एक व्याख्यान में स्वामीजी ने अपना यह मत प्रकट किया था, कि कानून बनाकर बाल-विवाह की प्रथा को रोका जाना चाहिए, और शिक्षा के प्रचार के लिए भी यह उपयोगी होगा कि राज्य द्वारा अनिवार्य रूप से सबके लिए शिक्षा की व्यवस्था की जाए।

बड़ौदा से स्वामीजी भड़ोंच गये, और वहाँ से सूरत आदि होते हुए मार्च, १८७६

में पुनः बम्बई आ गये। बम्बई में आर्यसमाज का कार्य सुचारु रूप से हो रहा था। वहाँ स्वामीजी के बहुत से अनुयायी व भक्त थे। अतः जब वे बम्बई के रेलवे स्टेशन पर पहुँचे, तो पाँच सौ से भी अधिक व्यक्ति उनके स्वागत लिए वहाँ उपस्थित थे। दो मास के लगभग बम्बई रहकर स्वामी ने उत्तर भारत के लिए प्रस्थान किया, और इन्दौर होते हुए ६ मई, १८७६ को वे फर्रुखाबाद पहुँच गये। अब स्वामीजी पुनः उस प्रदेश में आ गये थे, जहाँ धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने बहुत समय बिताया था, और जो छह वर्ष से भी अधिक समय तक उनका प्रधान कार्यक्षेत्र रहा था। बम्बई, गुजरात, काठियावाड़ तथा महाराष्ट्र में अब उनका कार्य समाप्त हो गया था। इसके पश्चात् स्वामीजी का कार्यक्षेत्र प्रधानतया उत्तर भारत में ही रहा, यद्यपि १८८२ के पूर्वार्द्ध में उन्होंने एक बार फिर कुछ समय तक बम्बई में निवास किया था।

बम्बई और पूना आदि में स्वामी जी को अपने कार्य में कितनी सफलता हुई थी, इस पर कुछ प्रकाश कलकत्ता के 'बङ्गदर्शन' नामक पत्र के उस लेख से पड़ता है, जो उस पत्र के बम्बई स्थित संवाददाता ने स्वामीजी के कार्य के सम्बन्ध में भेजा था। इस लेख के कुछ अंश इस प्रकार थे—"बम्बई और पूना प्रभृति स्थानों में कितने ही लोग आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गये हैं। बम्बई प्रदेश में भ्रमण करते हुए मैंने देखा कि वहाँ दयानन्द ने महान् आन्दोलन उपस्थित कर रखा है। अनेक उत्साही भद्र पुरुष उनके दल में सम्मिलित हो गये हैं। जहाँ-तहाँ दयानन्द की ही चर्चा होती है।...उनके साथ वार्त्तालाप करने और विशेष परिचय प्राप्त करने से यह विश्वास होता है कि वह यथार्थ ही एक असाधारण पुरुष हैं, उनकी वाग्मिता अनुपम है, उनकी तर्कशक्ति असाधारण है और स्वदेश के मंगल के लिए उनका उत्साह तथा प्रयत्न भी असाधारण है।...दयानन्द ने एक बार मुझ से कहा था कि इस समय उनका कार्य दो प्रकार का है, एक तो स्थान-स्थान पर आर्यसमाज स्थापित करना और दूसरा वेद का एक नूतन भाष्य लिखना।...दयानन्द मूर्तिपूजा के विरोधी हैं, एकेश्वरवादी हैं, और वेद को आप्त वाक्य मानते हैं।...सामाजिक विषयों पर उनके मन्तव्य अति विशुद्ध और उन्नत हैं।...एक हिन्दू पण्डित प्राचीनतम हिन्दू धर्म के भ्रम प्रमाद का प्रदर्शन करते हैं,...एक सुप्रसिद्ध वेदज्ञ व्यक्ति वेद को सनातन शास्त्र स्वीकार करके उसमें से उन्नीसवीं शताब्दी के उच्चतम विचारों का प्रतिपादन करते हैं। यदि इससे भी हिन्दू समाज का चित्त आकृष्ट न होगा, तो किससे होगा? दयानन्द अंग्रेजी विन्दु विसर्ग तक नहीं जानते। यह बात उनके पक्ष में अच्छी ही हुई है। यदि वह अंग्रेजी जानते होते, तो लोग कहते कि दयानन्द वेदज्ञ संन्यासी अवश्य है, परन्तु अंग्रेजी पढ़ने से उनकी मति विकृत हो गई है, वह भ्रष्ट हो गये हैं। यह सत्य है कि अंग्रेजी शिक्षित नव्य समुदाय का कोई मनुष्य यदि अंग्रेजी प्रणाली के अनुसार वक्तृता आदि करे, तो वह अपने ही समुदाय में आन्दोलन उपस्थित कर सकता है, परन्तु वह आन्दोलन प्राचीन समुदाय में प्रवेश नहीं कर सकता। दयानन्द जो कुछ भी कहते हैं, वह सब ही देश की भावनाओं के अनुसार होता है। वह स्वयं अंग्रेजी से अनभिज्ञ वेदज्ञ पण्डित हैं। उनकी सब ही वक्तृताओं में हिन्दुओं के चिरपूज्य वेदादि शास्त्रों की ही व्याख्या होती है।" स्वामीजी अपने सुधार कार्य तथा सत्यधर्म की स्थापना में क्यों सफल हुए, और आर्यसमाज क्यों एक व्यापक जन आन्दोलन बन सका, इसकी सही-सही व्याख्या 'बङ्गदर्शन, के इस इस लेख से हो जाती है।

(५) साहित्य का सृजन

स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने मन्तव्यों के प्रचार के लिए केवल व्याख्यानों तथा शास्त्रार्थों का ही आश्रय नहीं लेते थे, साहित्य तथा प्रकाशन का भी अपने कार्य के लिए उनकी दृष्टि से बहुत उपयोग था। इसीलिए १८६७ में हरिद्वार के कुम्भ के अवसर पर उन्होंने 'पाखण्ड खण्डन' नाम से एक पुस्तिका छपवायी थी, जिसे अच्छी बड़ी संख्या में कुम्भ में वितरित किया गया था। १८६९ में काशी के पण्डितों से स्वामीजी का जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसका भी पूरा-पूरा विवरण संस्कृत तथा हिन्दी भाषाओं में पुस्तकाकार छपा था, और उससे भी स्वामीजी के मन्तव्यों के प्रचार में अच्छी सहायता मिली थी। काशी में निवास करते समय ही स्वामीजी ने 'अद्वैत मत खण्डन' नाम से एक पुस्तिका लिखी थी, जो सन् १८७० में काशी से ही प्रकाशित हुई थी। हुगली में पण्डित ताराचरण तर्करत्न से स्वामीजी का जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसका विवरण भी पुस्तक रूप में १८७३ में काशी से प्रकाशित हो गया था। इनके अतिरिक्त 'सन्ध्या' और 'भागवत खण्डनम्' नाम से दो अन्य पुस्तकें भी स्वामीजी प्रकाशित करा चुके थे। ये पुस्तकें उन्होंने हरिद्वार कुम्भ में जाने से पहले ही प्रकाशित करा दी थीं। सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व भी स्वामीजी का ध्यान साहित्य सृजन की ओर था, यह असंदिग्ध है। विशेषतया उन द्वारा रचित 'सन्ध्या' बहुत लोकप्रिय थी, और आर्यसमाज की स्थापना से पहले भी उसके छह संस्करण प्रकाशित हो चुके थे।

पर सन् १८७४ से स्वामजी ने ग्रन्थ रचना के कार्य में विशेष तत्परता प्रदर्शित करनी प्रारम्भ की, और अगले दो-तीन वर्षों में उनके कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इनमें सबसे अधिक महत्त्व का ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' था, जिसे स्वामीजी ने सितम्बर, १८७४ में लिखवाना शुरू किया था। ५०० से भी अधिक पृष्ठों का यह ग्रन्थ १८७५ में स्टार प्रेस, वाराणसी द्वारा मुद्रित होकर प्रकाशित भी हो गया था। इसमें बारह समुल्लास थे। ईसाई और मुसलिम मतों पर जो दो समुल्लास वर्तमान सत्यार्थप्रकाश में हैं, वे इस पहले संस्करण में नहीं थे। बम्बई में विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् 'सत्यार्थ प्रकाश' के रूप में आर्यों को एक ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध हो गया था, जिसमें स्वामीजी के सब मन्तव्य सुचारु रूप से प्रतिपादित थे, और जिसे पढ़कर वैदिक धर्म का समुचित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था। पर सत्यार्थप्रकाश के इस प्रथम संस्करण में अनेक अशुद्धियाँ रह गई थीं। उस समय तक स्वामीजी को हिन्दी भाषा का समुचित अभ्यास नहीं था। लिखने का कार्य वे पण्डितों से कराते थे, जिन्होंने अनेक ऐसे मन्तव्यों का भी इस ग्रन्थ में समावेश कर दिया था, जो स्वामीजी को अभिमत नहीं थे। इसीलिए बाद में सत्यार्थप्रकाश के संशोधित संस्करण की आवश्यकता हुई। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण तथा बाद के संस्करणों में क्या अन्तर है, इस प्रश्न पर एक पृथक् प्रकरण में प्रकाश डाला जाएगा। यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त है, कि सत्यार्थप्रकाश के रूप में एक ऐसा ग्रन्थ सन् १८७५ में ही प्रकाशित हो गया था, जिसमें स्वामी जी के मन्तव्य भलीभाँति प्रतिपादित थे।

जब स्वामीजी बम्बई तथा गुजरात-काठियावाड़ में धर्म प्रचार के लिए गये, तो वहाँ की विशेष आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर उन्होंने तीन पुस्तकें लिखीं, जिनके नाम 'वल्लभाचार्य मत खण्डन', 'शिक्षापत्री ध्वान्तिनिवारण' और 'वेदान्त ध्वान्तिनिवारण'

हैं। वल्लभाचार्य मतखण्डन (वेद विरुद्धमत खण्डन) प्रश्नोत्तर के रूप में है, और इसमें २४ पृष्ठ हैं। इसका प्रकाशन नवम्बर, १८७४ में हो गया था। शिक्षापत्रीध्वान्तिनिवारण स्वामीजी ने सन् १८७४ में लिख लिया था, पर उसका प्रकाशन १८७६ में हुआ था। वेदान्तध्वान्तिनिवारण का प्रकाशन वर्ष भी १८७६ था। ये तीनों पुस्तकें प्राय: खण्डन के प्रयोजन से लिखी गई थीं, पर इस काल में स्वामीजी ने तीन ऐसे ग्रन्थ भी लिखे व प्रकाशित कराये थे, जिनका आर्यसमाज के सभासदों व अन्य आर्यजनों के लिए विशेष उपयोग था। ये ग्रन्थ 'आर्याभिविनय', 'पंचमहायज्ञविधि' और 'संस्कार विधि' हैं। आर्याभिविनय में ऋग्वेद और यजुर्वेद के एक सौ सात मन्त्र अर्थ सहित संकलित किए गये हैं। 'सन्ध्या' के अतिरिक्त यह अन्य पुस्तक है, जिसका उपयोग ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना के लिए किया जा सकता है। हिन्दुओं (आर्यों) के धार्मिक साहित्य में इसका अपना विशिष्ट स्थान है, और यह एक उत्कृष्ट प्रार्थना पुस्तक है। इसका प्रकाशन १८७५ में बम्बई में हो गया था। 'संस्कारविधि' में गर्भाधान से लगाकर अन्त्येष्टि तक सोलह संस्कारों का प्रतिपादन है। गृहस्थों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है, क्योंकि संस्कारों का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और सब कोई धार्मिक संस्कारों का विधिवत् अनुष्ठान करना आवश्यक मानते हैं। पंचमहायज्ञविधि में उन यज्ञों के अनुष्ठान की विधि दी गई है, जिन्हें सब गृहस्थों को प्रतिदिन करना चाहिए। यह भी १८७५ में बम्बई से प्रकाशित हो गई थी। इस प्रकार बम्बई से उत्तरी भारत के लिए प्रस्थान करने से पूर्व ही स्वामीजी ने उन ग्रन्थों की रचना कर दी थी, जिन्हें पढ़कर सब आर्य अपने धर्म के मन्तव्यों को जान सकते हैं, और धार्मिक कर्मकाण्ड का विधिवत् अनुष्ठान करते हुए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्त रह सकते हैं। पर इनके साथ स्वामीजी के साहित्य सृजन का कार्य समाप्त नहीं हो गया। वेदभाष्य सदृश महत्त्वपूर्ण कार्य अभी शेष था। पर उसे भी इस समय स्वामी जी प्रारम्भ कर चुके थे।

परिशिष्ट १

बम्बई में निर्धारित आर्यसमाज के नियम

(१) आर्यसमाज का सब मनुष्यों के हितार्थ होना आवश्यक है।

(२) इस समाज में मुख्य स्वत:प्रमाण वेदों का ही माना जायेगा। साक्षी के लिए, वेदों के ज्ञान के लिए तथा आर्य इतिहास के लिए शतपथादि ४ ब्राह्मण, ६ वेदांग, ४ उपवेद, ६ दर्शन, ११२७ वेदों की शाखा वेद व्याख्यान, आर्ष सनातन संस्कृत ग्रन्थों का भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जायेगा।

(३) इस समाज में प्रतिदेश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।

(४) अन्य सब समाजों की व्यवस्था प्रधान समाज के अनुकूल रहेगी।

(५) प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के

सदुपदेश के पुस्तक होंगे और एक 'आर्य प्रकाश' पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किए जायेंगे।

(६) हर एक समाज में एक प्रधान पुरुष और दूसरा मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री सभासद् होंगे।

(७) प्रधान पुरुष इस समाज की यथावत् व्यवस्था पालन करेगा और मन्त्री सबके पत्रों का उत्तर तथा सबके नाम व्यवस्था लेख करेगा।

(८) इस समाज में सत्पुरुष, सत्यनीति, सत्याचरणी मनुष्यों के हित-कारक समाजस्थ किए जायेंगे।

(९) जो गृहस्थ गृह-कृत्य से अवकाश प्राप्त हो सो जैसा घर के कामों में पुरुषार्थ करता है, उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिए करे और विरक्त तो नित्य ही इस समाज की उन्नति करें, अन्यथा नहीं।

(१०) हर आठवें दिन प्रधान मन्त्री और सभासद् समाज-स्थान में इकट्ठे हों और सब कामों से इस काम को मुख्य जानें।

(११) इकट्ठे होकर सर्वथा स्थिरचित्त हों, परस्पर प्रीति से पक्षपात छोड़कर प्रश्नोत्तर करें, फिर सामवेदादि गान, परमेश्वर, सत्य-धर्म, सत्यनीति तथा सत्योपदेश के सम्बन्ध में बाजा आदि के साथ हो और इसी विषय पर मन्त्रों का अर्थ और व्याख्यान, पुनः गान, फिर व्याख्यान और फिर गान हो इत्यादि।

(१२) हर एक सभासद् न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करें उसमें से आर्यसमाज, आर्यविद्यालय और 'आर्य प्रकाश' पत्र के प्रचार और उन्नति के लिए आर्य-समाज के धनकोष (एक) में प्रतिशत प्रीतिपूर्वक देवें; अधिक देने से अधिक धर्मफल। इस धन का इन ही विषयों में व्यय होवे और जगह नहीं।

(१३) जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिए जितना प्रयत्न करे उसका उत्साह के लिए यथायोग्य सत्कार होना चाहिए।

(१४) इस समाज में वेदोक्त प्रकार से हर एक स्तुति, प्रार्थना और उपासना अद्वितीय परमेश्वर की ही करने में आएगी। अर्थात् निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वजगत्पिता, सर्वजगन्माता, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सच्चिदानन्द आदि लक्षणयुक्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अनन्तसुखप्रद, धर्मार्थकाममोक्षप्रद इत्यादि विशेषणों से परमात्मा की ही स्तुति, उसका कीर्तन, प्रार्थना, उससे सर्वश्रेष्ठ कार्यों में साहाय्य चाहना, उपासना, उसके आनन्द स्वरूप में मग्न हो जाना। सो पूर्वोक्त निराकारादि लक्षण वाले की ही भक्ति करनी, उसके सिवाय किसी और की कभी नहीं करनी।

(१५) इस समाज में निषेकादि अन्त्येष्टिपर्यन्त संस्कार वेदोक्त किए जायेंगे।

(१६) आर्यविद्यालय में वेदादि सनातन आर्षग्रन्थों का पठन-पाठन कराया जायेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्यशिक्षा सब पुरुष और स्त्री के सुधार की होगी।

(१७) इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा—एक परमार्थ, दूसरी लोक व्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जाएगी।

(१८) इस समाज में न्याय वही माना जाएगा जो पक्षपात रहित अर्थात् प्रत्यक्ष

आदि प्रमाणों से परीक्षित, सत्य धर्म वेदोक्त होगा, इससे विपरीत को यथाशक्ति न माना जाएगा।

(१६) इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् सर्वत्र सदुपदेश करने के लिए समयानुकूल भेजे जायेंगे।

(२०) स्त्री और पुरुष दोनों के विद्याभ्यास के लिए हर एक स्थान में यथाशक्ति अलग-अलग बनाए जायेंगे। स्त्रियों के लिए पाठशाला में अध्यापन और सेवा प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा ही किया जायेगा और पुरुष पाठशाला का पुरुषों द्वारा, इसके विरुद्ध नहीं।

(२१) उन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्यसमाज के अनुकूल पालन की जाएगी।

(२२) इस समाज में प्रधान आदि सब सभासद् परस्पर प्रीति के लिए अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोध आदि सब दुर्गुण छोड़कर उपकार सुहृदता से सबसे सबका निर्वैर होकर स्वात्मवत् संप्रीति करनी होगी।

(२३) विचार समय सब व्यवहारों में न्याययुक्त सब हित (की) जो सत्य बात भली प्रकार विचार से ठहरे उसी को सब सभासदों को प्रकट करके मानी जाए, इसके विरुद्ध न मानी जाए। इसी का नाम पक्षपात छोड़ना है।

(२४) जो पुरुष इन नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला धर्मात्मा सद्गुणी हो उसको उत्तम समाज में प्रविष्ट करना, उसके विपरीत को साधारण समाज में रखना और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना, परन्तु यह काम पक्षपात से नहीं करना, बल्कि यह दोनों बातें श्रेष्ठ सभासदों के ही विचार से की जायें, अन्य प्रकार नहीं।

(२५) आर्यसमाज, आर्यविद्यालय, 'आर्य प्रकाश' पत्र और आर्यसमाज का अर्थ, धन कोष, इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधानादि सब सभासद् तन, मन और धन से सदा करें।

(२६) जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले तब तक और की नौकरी न करें और न किसी और को नौकर रखें, वे दोनों स्वामी-सेवक भाव से यथावत् बरतें।

(२७) जब विवाह, पुत्र-जन्म, महा लाभ वा मरण वा कोई समय दान व धन व्यय करने का हो तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि दान किया करें। ऐसा धर्म का काम और कोई नहीं है। इस निश्चय को जानकर इसको कभी न भूलें।

(२८) इन नियमों में कोई नियम नया लिखा जाएगा वा कोई निकाला जाएगा वा न्यूनाधिक किया जायेगा सो सब श्रेष्ठ सभासदों की विचार रीति से सब श्रेष्ठ सभासदों को विदित करके ही यथायोग्य करना होगा।

परिशिष्ट २

बम्बई के पहले आर्यसमाज के सभासदों के नाम, जाति, शिक्षा तथा व्यवसाय

सम्वत् १९३२ (१८७५ ई०)

क्र०	जाति	नाम	व्यवसाय	शिक्षा
१.	बंगाली	अक्षयकुमार मित्र	हीरे का काम करने वाला	साधारण ज्ञान
२.	ब्राह्मण	अन्नामोरेश्वर कुन्ते	डाक्टर	एम० डी०
३.	ब्राह्मण	अन्नामार्तण्ड जोशी	गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस में कर्मचारी	—
४.	प्रभु	आत्माराम बापू दलवी	व्यापारी	अंग्रेजी
५.	खत्री	आत्माराम कुंवर जी	—	साधारण ज्ञान
६.	खत्री	ईश जी हीर जी	—	साधारण ज्ञान
७.	ब्राह्मण	ईश्वरलाल अमृतलाल	अध्यापक	साधारण ज्ञान
८.	ब्राह्मण	कल्याण जी नारायण जी	ग्रीव काटन एण्ड कम्पनी में कर्मचारी	संस्कृत तथा अंग्रेजी
९.	सोनी	कान जी भगवान	विद्यार्थी	एलफिन्स्टन हाई स्कूल
१०.	ब्राह्मण	केशव मोरेश्वर वीरकर	विद्यार्थी	एलफिन्स्टन कालेज, मैट्रीकुलेट
११.	बनिया	केशवलाल नरभैराम	जाफरसन पैन—वकीलों के दफ्तर में कर्मचारी	मैट्रीकुलेट
१२.	उदासी	खीवा किसनदास	व्यापारी	हिन्दी
१३.	ब्राह्मण	कृष्णराम गणपतराम	विद्यार्थी	मैट्रीकुलेट
१४.	भाटिया	भीम जी डूंगर शी	व्यापारी	साधारण ज्ञान
१५.	बनिया	खोडीदास नेमीदास	व्यापारी	मैट्रीकुलेट
१६.	ब्राह्मण	गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे	विद्यार्थी	कालेज, संस्कृत
१७.	बनिया	गिरधरलाल दयालदास	प्लीडर	बी० ए०, एल-एल० बी०
१८.	बनिया	गुलाबचन्द मोतीचन्द	विद्यार्थी	मैट्रिक
१९.	भाटिया	गोरधन दास मूलजी	दलाल	निजी शिक्षा
२०.	ब्राह्मण	गोविन्द बासुदेव	विद्यार्थी	ए—कालेज मैट्रीकुलेट
२१.	भाटिया	चतुर्भुज पीताम्बर	दलाल	निजी शिक्षा
२२.	बनिया	चुन्नीलाल माणिकलाल	—	—

क्र०	जाति	नाम	व्यवसाय	शिक्षा
२३.	ब्राह्मण	छोगालाल लखमीचन्द	—	संस्कृत
२४.	बंगाली	जदुनाथ दास	हीरे का काम	साधारण ज्ञान
२५.	ब्राह्मण	जयशंकर दयाराम	हीरे का काम	साधारण ज्ञान
२६.	लुवांणा	जीवनदयाल	दलाल	अंग्रेजी
२७.	बनिया	झवेरीलाल घेलाभाई	ट्रांसलेटर हाई कोर्ट	मैट्रीकुलेट
२८.	भाटिया	ठाकरसी नारायण जी	पेली कम्पनी का छोटा दलाल	निजी शिक्षा
२९.	बनिया	तुलजाराम चुन्नीलाल	विद्यार्थी	ए–हाईस्कूल
३०.	लुवांणा	त्रिभुवनदास भूलाभाई	व्यापारी	निजी शिक्षा
३१.	ब्राह्मण	पं० दयानन्द सरस्वती	संन्यासी	संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत
३२.	ब्राह्मण	दलपतराम भोपालदास	विद्यार्थी	ए–हाईस्कूल
३३.	भाटिया	दामोदर रूपजी	दलाल	निजी शिक्षा
३४.	ब्राह्मण	देवदत्त धनेश्वर	विद्यार्थी	साधारण ज्ञान
३५.	मणशाली	द्वारकादास लल्लूभाई	दलाल	निजी अभ्यास
३६.	ब्राह्मण	दुर्गाशंकर भगवानदास	शास्त्री	संस्कृत
३७.	ब्राह्मण	धनवन्त त्रिभुवनराम	ए–कालेज	मैट्रीकुलेट
३८.	बनिया	धरमशी आनन्द जी	दलाल	निजी शिक्षा
३९.	भाटिया	धरमसी परसोत्तम	दलाल	निजी शिक्षा
४०.	भाटिया	नथू त्रीकम जी	रिपोर्टर	अंग्रेजी
४१.	भाटिया	नारायण बापू	नौकरी	—
४२.	ब्राह्मण	नारायण रामचन्द्र कामत	क्लर्क	अंग्रेजी
४३.	ब्राह्मण	नारुशंकर केशवराम	ए–कालेज	मैट्रीकुलेट
४४.	भणशाली	परमानन्द दास जगन्नाथ	व्यापारी	निजी शिक्षा
४५.	भणशाली	परसोत्तम भगवानदास	मुनीम	निजी शिक्षा
४६.	बनिया	पानाचन्द आनन्दजी	व्यापारी	अंग्रेजी
४७.	ब्राह्मण	पार्वती शंकर जीवनराम	विद्यार्थी	अंग्रेजी
४८.	बनिया	प्राणजीवनदास नाथ जी	व्यापारी	निजी शिक्षा
४९.	बनिया	प्राणजीवनदास कहानदास	अध्यापक	अंग्रेजी
५०.	ब्राह्मण	प्रेमजी गोकलदास	क्लर्क	साधारण ज्ञान
५१.	ब्राह्मण	प्रेम जी रंगनाथ	दलाल	निजी शिक्षा
५२.	भाटिया	पुरुषोत्तम नारायण जी	दलाल	मैट्रीकुलेट
५३.	चौबे	पोचसिंह चौबे	व्यापारी	साधारण ज्ञान
५४.		बालकृष्ण हानाभाई	—	अंग्रेजी
५५.		बालकृष्ण दामोदर	—	—
५६.	ब्राह्मण	भास्कर गोविन्द नाडकरणी	अधिपति	—

क्र०	जाति	नाम	व्यवसाय	शिक्षा
५७.	ब्राह्मण	मनसाशंकर जैशंकर	अध्यापक	साधारण ज्ञान
५८.	बनिया	माणिकलाल घनश्यामदास	जौहरी	साधारण ज्ञान
५९.	बनिया	माधव त्र्यम्बक	—	साधारण ज्ञान
६०.	भाटिया	मूलजी ठाकरशी	व्यापारी	अंग्रेजी
६१,	बनिया	मूलचन्द ब्रजबल्लभदास	व्यापारी	—
६२.	ब्राह्मण	मोतीराम कल्याणजी	दलाल	निजी शिक्षा
६३	ब्राह्मण	मोतीलाल हिम्मतराम	क्लर्क बम्बई बैंक	साधारण ज्ञान
६४.	ब्राह्मण	मोरेश्वर गोपाल देशमुख	विद्यार्थी, ग्रान्ट मेडिकल कालिज	मैट्रीकुलेट
६५.	ब्राह्मण	रघुनाथ गोपाल देशमुख	ट्रांसलेटर	बी० ए०
६६.	ब्राह्मण	रघुनाथ बापू दाणी	नौकरी	डाक्टर
६७.	बनिया	रणछोड़दास लाल जी	नौकरी	साधारण ज्ञान
६८.	बनिया	रतनचन्द वनपालीदास	दलाल	साधारण ज्ञान
६९.	भाटिया	रतनसिंह मूलजी	दलाल	साधारण ज्ञान
७०.	मणशाली	रामदास छबीलदास लल्लू भाई	विद्यार्थी ए–कालेज	मैट्रिक
७१.	बंगाली	रामनाथ देव शर्मा	नौकरी	निजी शिक्षा
७२.	भाटिया	लक्ष्मीदास मोरारजी	दलाल	निजी शिक्षा
७३.	भाटिया	लक्ष्मीदास परसोत्तम	—	निजी शिक्षा
७४.	ब्राह्मण	लक्ष्मण नारायण	प्रिन्टर	संस्कृत
७५.	लुवांणा	लालजी नारायणजी	मैनेजिंग क्लर्क	मैट्रिक
७६.	ब्राह्मण	लालजी बैजनाथ	व्यापारी	संस्कृत
७७.	भाटिया	लालजी रामजी	व्यापारी	—
७८.	भाटिया	लीलाधर हरि	दलाल	निजी शिक्षा
७९.	ब्राह्मण	वासुदेव बापूजी	नौकरी	साधारण ज्ञान
८०.	ब्राह्मण	विनायक पांडुरंग	नौकरी	अंग्रेजी
८१.	भाटिया	विसनजी खीमजी	दलाल	अंग्रेजी
८२.	भाटिया	विसनजी मूलजी	व्यापारी	निजी शिक्षा
८३.	भाटिया	विसनजी प्रेमजी	दलाल	निजी शिक्षा
८४.	ब्राह्मण	श्यामजी विश्राम	दलाल	निजी शिक्षा
८५.	मणशाली	श्याजी कृष्ण वर्मा	विद्यार्थी	फोर्ट हाईस्कूल
८६.	ब्राह्मण	शिवप्रसाद जानकीमल	नौकरी	साधारण ज्ञान
८७.	ब्राह्मण	सविता नारायण गणपति नारायण	अध्यापक	संस्कृत
८८.	बनिया	शोखीलाल झवेरीलाल	व्यापारी	निजी शिक्षा
८९.	ब्राह्मण	सीताराम रामप्रताप	—	—
९०.	भाटिया	सुन्दरदास लक्ष्मीदास	दलाल	साधारण ज्ञान

क्र०	जाति	नाम	व्यवसाय	शिक्षा
९१.	भाटिया	सुन्दरदास धरमशी	दलाल	निजी शिक्षा
९२.	मणशाली	सेवकलाल कृष्णदास	दलाल	साधारण ज्ञान
९३.	वनिया	हनमन्तराय पीटी	व्यापारी	निजी शिक्षा
९४.	ब्राह्मण	हरि दीक्षित	तम्बाकू वाला	निजी शिक्षा
९५.	भाटिया	हंसराज नरसी	दलाल	निजी शिक्षा
९६.	भाटिया	हीरजी पुंज	नौकरी	अंग्रेजी

(दामोदर सुन्दरदास—मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास पृ० ३१-३५)

सम्वत् १९३२ (सन् १८७५) में आर्यसमाज की व्यवस्थापक मण्डली

प्रमुख	राजेश्री	गिरधरलाल दयालदास कोठारी
उप प्रमुख	,,	ठाकरसी नारायण जी
मंत्री	,,	पानाचन्द आनन्द जी पारिख
उपमंत्री	,,	अन्नामार्तण्ड जोशी
खजांची	,,	सेवकलाल करसनदास
उप खजांची	,,	श्यामजी विश्राम

सभासद

राजेश्री मूलजी ठाकरसी
,, छबीलदास लल्लूभाई
,, किसनदास उदासी
,, परसोत्तम नारायणजी
,, मन्शाशंकर जैशंकर दुबे
,, हनमन्तराम पीटी
,, आत्माराम बापू दलवी
,, बाबू शोखीलाल झवेरीलाल
,, बाबू अक्षयकुमार मित्र
,, रघुनाथ गोपाल देशमुख

(दामोदर सुन्दरदास—मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास पृ० ३६)

परिशिष्ट ३

आर्यसमाज की स्थापना-तिथि

बम्बई में पहले-पहल आर्यसमाज की स्थापना किस दिन हुई, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। आर्यसमाज एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सार्वभौम संगठन है, और इस द्वारा जहाँ भारत में व्यापक रूप से नव-जागरण तथा समाजसुधार हुआ है, वहाँ साथ ही मानव समाज के हित-कल्याण के लिए ऐसा मार्ग भी प्रदर्शित किया गया है, जिस पर चल कर विश्व की विविध समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। जिस दिन आर्यसमाज की स्थापना हुई, ऐतिहासिक दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व है। ऐसा समय आ सकता है, जब कि इस दिन का महत्त्व केवल आर्यसमाजियों तक ही सीमित न रहे, अपितु अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में इसे मनाया जाने लगे। इस कारण इस विवादग्रस्त प्रश्न का विवेचन आवश्यक है।

जैसा कि इस अध्याय में पहले लिखा जा चुका है, आर्यसमाज के स्थापना-दिवस के सम्बन्ध में दो मत हैं, १० एप्रिल सन् १८७५ और ७ एप्रिल, १८७५। श्री पं० लेखराम जी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती का जो जीवनचरित्र लिखा था, उसमें आर्यसमाज की स्थापना-तिथि चैत्र शुक्ल पंचमी, सम्वत् १९३२ प्रतिपादित की गई थी। उन्होंने लिखा है—"फिर जब ठीक किए हुए (आर्यसमाज के) नियम स्वामीजी ने स्वीकार कर लिये तो उसके पश्चात् कुछ भद्रपुरुष, जो आर्यसमाज स्थापित करना चाहते थे और नियमों को बहुत पसन्द करते थे, लोक भय की चिन्ता न करके धर्म के क्षेत्र में आगे आये और चैत्र सुदी ५ शनिवार सम्वत् १९३२ तदनुसार १० एप्रिल सन् १८७५ व ३ रबीउल-अव्वल सन् १२९२ हिज्री व सम्वत् १७९७ शालिवाहन व सन् १२८३ फसली व माहे खुरदाद सन् १२८४ फारसी व चैत २९ संक्रान्ति सम्वत् १९३२ को शाम के समय मौहल्ला गिरगाँव में डॉक्टर मानकजी के बगीचे में, श्री गिरधरलाल दयालदास कोठारी बी० ए०, एल-एल० बी० की प्रधानता में एक सार्वजनिक सभा की गई और उसमें यह नियम सुनाये गये और सर्वसम्मति से प्रमाणित हुए और उसी दिन आर्यसमाज की स्थापना हो गई।" पण्डित लेखरामजी ने महर्षि के जीवनचरित्र की घटनाओं को प्रामाणिक रूप से संकलित करने में बहुत परिश्रम किया था, और वह जब इस कार्य में तत्पर थे महर्षि के देहावसान को हुए अधिक समय नहीं हुआ था। उन्होंने जिस सुनिश्चित रूप में सब सम्वतों में आर्यसमाज की स्थापना-तिथि का उल्लेख किया है, उससे सूचित होता है कि इस तिथि की सत्यता के सम्बन्ध में उन्हें कोई सन्देह नहीं था। श्री देवेन्द्रनाथ मुकर्जी ने भी १० एप्रिल, १८७५ को ही आर्यसमाज की स्थापना-तिथि माना है। महर्षि के जीवन-चरित्र को लिखने में उन्होंने भी बहुत परिश्रम किया था। श्री हरविलास शारदा और श्री स्वामी सत्यानन्द सदृश विद्वानों ने महर्षि के जो जीवन-चरित्र लिखे हैं, उनमें भी १० एप्रिल, १८७५ को ही आर्यसमाज का स्थापना दिवस माना गया है।

जिस आधार पर और जिन युक्ति-प्रमाणों से १० एप्रिल, १८७५ को आर्यसमाज की स्थापना तिथि प्रतिपादित किया जाता है, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(१) सम्वत् १९३२ मिति चैत्र शुद्ध ६ रविवार (११ एप्रिल, १८७५) को महर्षि ने श्री गोपालराव हरि देशमुख को एक पत्र लिखा था, जिसमें आर्यसमाज की स्थापना-तिथि

का स्पष्ट रूप से उल्लेख है—"स्वस्ति श्री सच्छे्ष्ठोपमायुक्तेभ्यः श्रीयुत गोपाल रावहरि देशमुखादिभ्यो दयानन्दस्वामिन आशिषोभूयासुस्तमाम्। शमिहास्ति तत्राप्यस्तुतमाम्। आगे बम्बई में चैत्र शुद्ध ५ शनिवार के दिन संध्या के साढ़े पाँच बजे आर्यसमाज का आनन्दपूर्वक आरम्भ हुआ। ईश्वरानुग्रह से बहुत अच्छा हुआ। आप लोग भी वहाँ आरम्भ कर दीजिए। विलम्ब मत कीजिए। नासिक में भी होने वाला है। अब आर्यसमाजार्थ और संस्कार विधान का पुस्तक वेद मन्त्रों से बनेगा शीघ्र।...डॉक्टर माणिकजी ने आर्य-समाज होने के लिए स्थान दिया है परन्तु संकुचित है। सो अब बहुत बढ़ेंगे मिम्बर। तब दूसरा नया बनेगा, किंवा कोई ले लिया जाएगा।" श्री गोपालराव हरिदेशमुख को यह पत्र अहमदाबाद के पते पर भेजा गया था, जहाँ वह उन दिनों सरकारी सेवा में थे। इस पत्र में महर्षि ने बम्बई में आर्यसमाज का आरम्भ स्पष्ट रूप से चैत्र सुदी ५ को सायंकाल को हुआ लिखा है। चैत्र सुदी ५ ईस्वी सन् के अनुसार १० एप्रिल, १८७५ को थी।

(२) बम्बई के अनेक समाचार-पत्रों में आर्यसमाज की स्थापना के विषय में सूचना प्रकाशित हुई थी। टाइम्स आफ इण्डिया के १० एप्रिल, १८७५ के प्रातःकालीन संस्करण में यह सूचना निम्नलिखित शब्दों में थी—

"A meeting will be held at 5·30 P.M. today at the Girgam Bagh road, in the bungalow belonging to Dr. Manekji Aderjee when Pandit Dayanand Saraswati Swami will perform the ceremonies for the formation of Arya Samaj. All well wishers of the cause are invited to attend."

(आज सायंकाल साढ़े पाँच बजे गिरगाँव बाग रोड पर स्थित डॉक्टर मानकजी अदेरजी के बँगले पर एक सभा होगी, जिसमें पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामी आर्य-समाज के गठन विषयक औपचारिक कार्यविधि सम्पादित करेंगे। इस कार्य के प्रति शुभेच्छा रखने वाले सब लोग इसमें उपस्थित होने के लिए निमन्त्रित हैं)

इसी प्रकार की सूचना 'बाम्बे गजट' और 'जामये जमशेद' नामक समाचार-पत्रों में भी प्रकाशित हुई थी। इन्हें दृष्टि में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि १० एप्रिल, १८७५ को गिरगाँव में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था, जिसमें कि औपचारिक रूप से स्वयं महर्षि ने आर्यसमाज का 'आरम्भ' किया था।

(३) बम्बई आर्यसमाज के प्रारम्भिक ग्यारह महीनों का संक्षिप्त कार्य विवरण सन् १८७६ में गुजराती भाषा में प्रकाशित किया गया था, जिसके तृतीय पृष्ठ पर अच्छे मोटे अक्षरों में निम्नलिखित वाक्य छपा है—"श्री आर्यसमाज, स्थापना सम्वत् १९३१ ना चैत्र शुद ५ ने शनीवार।" बम्बई आर्यसमाज का यह सबसे पुराना कार्य विवरण है, जिसमें उसके प्रथम सभासदों की सूची भी दी गई है। महर्षि दयानन्द सरस्वती का नाम भी इस सदस्य-सूची में है। इस कार्य विवरण में बम्बई आर्यसमाज की जो स्थापना तिथि दी गई है, उसकी सत्यता व प्रामाणिकता से इन्कार नहीं किया जा सका। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि गुजराती पंचाँग का सम्वत् १९३१ और विक्रम सम्वत् का १९३२ एक ही वर्ष को सूचित करते हैं।

ये सब प्रमाण १० एप्रिल, सन् १८७५ (चैत्र सुदी पंचमी, शनिवार, विक्रम सम्वत् १९३२) को आर्यसमाज बम्बई का स्थापना दिवस होने की बात को पुष्ट करते

हैं। विशेषतया, महर्षि के चैत्र सुदी ६, रविवार के दिन श्री गोपालराव हरिदेशमुख को लिखे गये पत्र में बम्बई आर्यसमाज के 'आरम्भ' की जो तिथि दी गई है, उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है, और यह तिथि चैत्र शुद ५ या सुदी पंचमी (१० एप्रिल) है।

जो विद्वान् ७ एप्रिल, १८७५ को बम्बई आर्यसमाज की स्थापना-तिथि मानते हैं, उनके मन्तव्य का मुख्य आधार वह लेख है जो बम्बई आर्यसमाज के भवन पर लगे हुए एक प्रस्तर-खण्ड पर उत्कीर्ण है। इस शिलालेख (Inscription) में बम्बई आर्यसमाज की स्थापना तिथि चैत्र सुदी १, तदनुसार ७ एप्रिल बुधवार उत्कीर्ण की गई है।

गुजराती भाषा में बम्बई आर्यसमाज के कतिपय कार्यविवरण एवं इतिहास ऐसे भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें ७ एप्रिल, १८७५ को आर्यसमाज का स्थापना-दिवस माना गया है। सन् १८८७ में श्री सेवकलाल कृष्णदास ने बम्बई आर्यसमाज का एक कार्य-विवरण (चैत्र सुदी १ सम्वत् १९३२ से फाल्गुन अमावस्या सम्वत् १९४४ तक का) गुजराती भाषा में प्रकाशित किया था, जिसमें यह लिखा गया है कि गुजराती सम्वत् १९३१ (विक्रम सम्वत् १९३२) की चैत्र सुदी १ शनिवार या तारीख ७ मार्च के दिन गिरगाँव में डॉक्टर माणेकजी के उद्यान में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। श्री सेवकलाल कृष्णदास सन् १८७५ में स्थापित बम्बई आर्यसमाज के न केवल सभासद् ही थे, अपितु पदाधिकारी भी थे। अतः उनके कथन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

श्री दामोदरदास सुन्दरदास ने 'मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास' नाम से एक पुस्तक गुजराती भाषा में लिखी थी, जो सन् १८३३ में प्रकाशित हुई थी। इसमें भी बम्बई आर्यसमाज की स्थापना तिथि चैत्र सुदी १ सम्वत् १९३१ लिखी गई है। इस पुस्तक में गुजराती सम्वत् १९३१ का प्रयोग किया गया है, जो विक्रम सम्वत् १९३२ के स्थान पर प्रयुक्त है। इसमें सन्देह नहीं कि श्री दामोदरदास सुन्दरदास के मत में बम्बई आर्यसमाज चैत्र सुदी प्रतिपदा के दिन स्थापित हुआ था। ईस्वी सन् के अनुसार वह ७ एप्रिल का दिन था।

बम्बई आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों (सन् १८७८ से १८८३ तक) के रजिस्टर के कार्य विवरण में भी एक ऐसा संदर्भ विद्यमान है, जो आर्यसमाज के स्थापना-दिवस पर प्रकाश डालता है। संवत् १९३८ के फाल्गुन कृष्णपक्ष के रविवार (तदनुसार १९ मार्च, सन् १८८२) के साप्ताहिक सत्संग का विवरण देते हुए रजिस्टर में यह लिखा गया है कि यह सत्संग रा० रा० गोविन्द विष्णु की शाला में सायंकाल चार बजे हुआ था, जिसमें कि सबसे पहले वेदमन्त्रों से ईश्वर स्तुति की गई, फिर गायन हुआ और बाद में श्री रविकृष्ण राम ईयाराम का देशोन्नति विषय पर भाषण हुआ। अगले दिन अर्थात् चैत्र शुक्ल पक्ष प्रतिपदा सोमवार संवत् १९३८ (तदनुसार २० मार्च, सन् १८८२) के दिन आर्यसमाज के जन्मदिवस का महोत्सव मनाया गया। बम्बई आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों का हाथ से लिखा हुआ जो यह पुराना कार्य विवरण है, उसमें स्पष्ट रूप से यह अंकित है कि सन् १८८२ में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को (जो इस वर्ष सात एप्रिल के बजाय २० मार्च को पड़ती थी) बम्बई आर्यसमाज का जन्मदिवस या स्थापना दिवस मनाया गया था। सन् १८७५ में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा ७ एप्रिल को थी, पर सन् १८८२ ईस्वी में वह २० मार्च को थी, अतः बम्बई के आर्यसमाजियों ने इसी दिन को आर्यसमाज के स्थापना दिवस के रूप में मनाया था, यह स्पष्ट है।

७ एप्रिल, १८७५ के आर्यसमाज के स्थापना दिवस होने के पक्ष में जो बातें ऊपर लिखी गई हैं, उनमें श्री सेवकलाल कृष्णदास के कथन में अनेक असंगतियाँ या अशुद्धियाँ हैं। उनके अनुसार संवद् १९३१(गुजराती) चैत्र सुदी प्रथमा को शनिवार था। पर शनिवार चैत्र सुदी पंचमी के दिन था, प्रथमा के दिन नहीं। चैत्र सुदी प्रथमा ७ मार्च को न होकर ७ एप्रिल को थी। सम्भवतः, श्री सेवकलाल कृष्णदास ने भूल से ७ एप्रिल के स्थान पर ७ मार्च लिख दिया था। पर इन असंगतियों या अशुद्धियों के कारण श्री सेवकलाल कृष्णदास द्वारा प्रस्तुत कार्यविवरण की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है, और उसके आधार पर ७ एप्रिल, १८७५ को आर्यसमाज का स्थापना दिवस मानना समुचित नहीं है।

पर ७ एप्रिल, १८७५ के मत के पक्ष में जो अन्य बातें ऊपर लिखी गई हैं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, और उन्हें सर्वथा अविश्वसनीय व निराधार कह सकना भी सम्भव नहीं है। विशेषतया, सन् १८८२ में बम्बई के आर्यसमाज द्वारा चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को आर्यसमाज के जन्मदिवस के रूप में मनाया जाना एक ऐसी बात है, जिसके कारण इस मत को बहुत बल प्राप्त हो जाता है। बम्बई आर्यसमाज के भवन पर जो शिलालेख विद्यमान है, वह भी सन् १८८२ में उत्कीर्ण कराया गया था। उसमें लिखा है—"श्रीयुत् पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामी जी के सदोपदेश से सज्जन आर्य वैदिक जनों ने वेदानुकूल व्याख्यान और पठन-पाठनादि कार्य करने के लिए यह स्थान बना के आर्यसमाज के अधिकार में रक्खा है। मिति फाल्गुन सुदि १ शनिवार १९३८, १८ फरवरी १८८२।" यह बात ध्यान देने योग्य है, कि सन् १८८२ के २० मार्च (चैत शुक्ल प्रतिपदा) के दिन बम्बई आर्यसमाज द्वारा समाज का स्थापना दिवस मनाया गया था, और उसी वर्ष समाजभवन पर लगा हुआ वह शिलालेख उत्कीर्ण कराया गया था, जिसमें कि आर्यसमाज का स्थापना-दिवस चैत्र सुदी १ उल्लिखित है। यह लेख १८ फरवरी को उत्कीर्ण कराया गया था, और उसके एक मास पश्चात् चैत्र सुदी १ को आर्यसमाज का स्थापना दिवस मानकर उसे मनाया भी गया था। इन तथ्यों को दृष्टि में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि सन् १८८२ में बम्बई के आर्यसमाजी ७ एप्रिल के दिन को ही आर्यसमाज का स्थापना दिवस मानते थे।

आर्यसमाज की स्थापना १० एप्रिल, १८७५ के दिन हुई थी, इस मत के समर्थन में जो प्रमाण ऊपर दिए गए हैं, वे भी बहुत प्रबल हैं। विशेषतया, महर्षि का श्री गोपालराव हरि देशमुख को लिखा हुआ पत्र एक ऐसा प्रमाण है, जिसे कदापि अन्यथा नहीं किया जा सकता। सम्भवतः, यही कारण है जो महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित्र लिखने वाले प्रायः सभी विद्वानों ने इसी मत का प्रतिपादन किया, और सन् १९३९ तक आर्यसमाज का स्थापना-दिवस प्रायः सर्वत्र चैत्र शुक्ल पंचमी को ही मनाया जाता रहा। पर बम्बई के समाज-भवन पर लगे हुए शिलालेख में आर्यसमाज की स्थापना चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन होने की जो बात उत्कीर्ण है, उसकी ओर श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का ध्यान आकृष्ट करते हुए निवेदन किया, कि "यह विषय अन्तरंग सभा में रखकर निश्चय किया जाए कि भविष्य में कौन-सी तिथि मानी जाए। यह विषय प्रान्तीय सभाओं को लिखकर उनसे सम्मति मँगवायी जाए।" सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सम्मुख स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज का प्रस्ताव २७ जनवरी, १९४० को विचारार्थ प्रस्तुत हुआ, और कुछ महीने आवश्यक जानकारी

प्राप्त करने में लगाने के पश्चात् १५ दिसम्बर, १९४० को सभा द्वारा निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया— "आर्यसमाज स्थापना-दिवस की तिथि के परिवर्तन का विषय पेश हुआ। आर्यसमाज बम्बई की नौवीं रिपोर्ट का फोटो पेश होकर पढ़ा गया, जिसमें समाज की स्थापना-तिथि चैत्र सुदी प्रतिपदा अंकित की गई है। इसी सम्बन्ध में प्रकट किया गया कि जामये-जमशेद नामक पत्र की कापी प्राप्त नहीं हो सकी है। विचार के बाद निश्चय हुआ कि यह पर्व चैत्र शुक्ल ५ के स्थान पर चैत्र सुदी प्रतिपदा को मनाया जाया करे।" इस प्रकार आर्यसमाज की शिरोमणि सभा (सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली) द्वारा यह निर्णय कर दिया गया, कि आर्यसमाज की स्थापना चैत्र सुदी प्रतिपदा संवत् १९३२, तदनुसार ७ एप्रिल सन् १८७५ के दिन हुई थी। इसीलिए बाद में यह पर्व प्रायः सर्वत्र इसी दिन मनाया जाने लगा।

पर सार्वदेशिक सभा के निर्णय से आर्यसमाज के स्थापना दिवस के सम्बन्ध में चले आ रहे मतभेद व विवाद का अन्त नहीं हो गया। अनेक विद्वानों ने सार्वदेशिक सभा के निर्णय के विरुद्ध अपनी सम्मति प्रकट की। श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए २७ जनवरी, १९४० को सार्वदेशिक सभा की जो बैठक हुई थी, उसमें आर्यसमाज के स्थापना-दिवस के सम्बन्ध में जिन कारणों से कोई निर्णय नहीं किया गया था, उसमें एक यह भी था कि प्रोफेसर ताराचन्द जी गाजरा इस सम्बन्ध में विशेष खोज और छानबीन कर रहे हैं। सार्वदेशिक सभा कोई निर्णय करने से पूर्व प्रोफेसर गाजरा की खोज के परिणाम को भी दृष्टि में ले आना चाहती थी। प्रोफेसर गाजरा ने इस विषय में जो छानबीन की थी, उसके परिणाम को उन्होंने १० दिसम्बर, १९४५ के दिन सार्वदेशिक सभा को भेजे गए अपने पत्र में इन शब्दों में प्रकट किया था—"इस समय आर्य-समाज स्थापना दिवस के सम्बन्ध में यह विचार चल रहा है कि स्थापना चैत्र सुदी एकम को हुई थी अथवा चैत्र सुदी पंचमी को। मेरा यह निश्चित मत है कि स्थापना चैत्र सुदी पंचमी शनिवार बराबर १० एप्रिल, १८७५ को हुई थी। यही तिथि धर्मवीर पं० लेखराम जी तथा देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय ने अपनी पुस्तकों में बतलाई है। यह बराबर है कि समाज के पत्थर पर चैत्र सुदी एकम लिखी गई है पर यह पत्थर समाज की स्थापना से (कम से कम) आठ वर्ष पीछे बना था। जब यह सवाल सार्वदेशिक सभा के सामने (२७-१-४० को) आया था, तब मैंने बम्बई में आकर 'जामये-जमशेद' आदि पुराने गुजराती पत्रों की फाइल देखे थे और वहाँ से उद्धरण निकाल कर सार्वदेशिक सभा के पास भेजे थे। उनमें स्पष्ट लिखा हुआ था कि पंचमी के दिन समाज की स्थापना गिरगाँव में होगी। वे प्रमाण सभा के कार्यालय में मौजूद होंगे। यदि हों, तो कृपा कर उनकी प्रतियाँ मुझे भिजवा दें। इस सम्बन्ध में मैं अधिक जाँच कर रहा हूँ।"

श्री पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने आर्यसमाज का जो इतिहास लिखा था (सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा सन् १९५७ में प्रकाशित), उसमें भी चैत्र सुदी पंचमी को ही आर्यसमाज की स्थापना-तिथि प्रतिपादित किया गया है। गत वर्षों में श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती ने भी इस मत का प्रबल रूप से समर्थन किया है, और इस परिशिष्ट में प्रस्तुत बहुत-सी सामग्री उन्हीं के लेख से ली गई है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं, कि चैत्र सुदी पंचमी (१० एप्रिल, सन् १८७५) के दिन सायंकाल साढ़े पाँच बजे गिरगाँव (बम्बई) में स्थित डाक्टर मानकजी की बाड़ी में

एक सभा हुई थी, जिसकी अध्यक्षता श्री गिरधरलाल दयालदास कोठारी ने की थी, और जिसमें आर्यसमाज के नियम सुनाकर उपस्थित महानुभावों से उनकी स्वीकृति प्राप्त की गई थी। इसी सार्वजनिक सभा की सूचना टाइम्स आफ इण्डिया आदि अंग्रेजी तथा गुजराती के समाचार-पत्रों में प्रकाशित करायी गई थी। श्री गोपाल राव हरि देशमुख के नाम चैत्र शुक्ल ६ को जो पत्र महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा था, उसमें भी इसी सभा से आर्यसमाज के 'आरम्भ' का उल्लेख किया गया था।

पर प्रश्न यह है, कि वे क्या कारण थे जिनसे कि बम्बई के आर्यसमाज ने अपना स्थापना दिवस चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को मनाना प्रारम्भ किया (जैसा कि सन् १८७८ से १८८३ तक के आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों के कार्यविवरण के रजिस्टर से सूचित होता है) और जब बम्बई आर्यसमाज का भवन बनकर तैयार हो गया, तो उस पर एक शिलालेख इस आशय का लगवा दिया गया कि इस समाज की स्थापना चैत्र सुदी प्रतिपदा के दिन हुई थी। बाद में बम्बई आर्यसमाज की जो रिपोर्ट सन् १८८७ में श्री सेवकलाल कृष्णदास द्वारा प्रकाशित की गई, और श्री दामोदार सुन्दरदास ने बम्बई आर्यसमाज का जो इतिहास सन् १९३३ में गुजराती में प्रकाशित किया, उनमें भी चैत्र सुदी प्रतिपदा को ही आर्यसमाज का स्थापना दिवस लिखा गया है। बम्बई के आर्यसमाजी क्षेत्र में बहुत पुराने समय से (कम से कम सन् १८७८ से) जो यह मत (७ एप्रिल, १८७५) स्वीकार किया जाता रहा, उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। उसे सर्वथा निराधार कहना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। यह सही है, कि बम्बई के समाज भवन पर जो शिलालेख लगा हुआ है, वह समाज की स्थापना के कम-से-कम सात साल पश्चात् उत्कीर्ण कराया गया था, और उसे उत्कीर्ण करने वाला एक साधारण शिल्पी था, कोई विद्वान् नहीं। पर उस शिल्पी ने चैत्र सुदी प्रतिपदा की तिथि अपनी इच्छा से तो उत्कीर्ण नहीं की होगी, इसके लिए उसे समाज के किसी उत्तरदायी पदाधिकारी ने ही आदेश दिया होगा। इसी प्रकार सन् १८८२ में बम्बई आर्यसमाज द्वारा समाज का स्थापना दिवस जो चैत्र सुदी एक को मनाया गया, उसका भी कोई संगत कारण होना चाहिए। यह पर्याप्त रूप से सुनिश्चित माना जा सकता है, कि समाज की स्थापना के पश्चात् कई दशकों तक बम्बई आर्यसमाज के पदाधिकारी तथा सभासद् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ही समाज की स्थापना-तिथि मानते रहे थे।

समस्या यह है, कि जब स्वयं महर्षि ने श्री गोपाल राव हरि देशमुख को लिखे अपने पत्र में बम्बई में आर्यसमाज का 'आरम्भ' चैत्र शुक्ल पंचमी को हुआ लिखा है, तो वहाँ के आर्य लोग क्यों पंचमी के बजाय प्रतिपदा को समाज की स्थापना तिथि मानते रहे? इस समस्या के समाधान के लिए बम्बई तथा गुजरात-काठियावाड़ में महर्षि दयानन्द सरस्वती की गतिविधि तथा कार्यकलाप पर ध्यान देना उपयोगी होगा। महर्षि २० अक्टूबर, १८७४ को पहली बार बम्बई गए थे, और वहाँ उन्होंने यह विचार प्रकट किया था कि सब आर्यों को परस्पर मिलकर प्रीतिपूर्वक विचार करना चाहिए और इसके लिए सभा का निर्माण करना लाभदायक होगा। किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा उनके पास जो २४ प्रश्न छपवाकर भेजे गए थे, उनका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था—"यदि हम आर्य लोग वेदोक्त धर्म के विषय में प्रीतिपूर्वक पक्षपात को छोड़कर विचार करें तो सब प्रकार से कल्याण ही है, यही मैं चाहता हूँ। **इसके लिए नित्य सभा होनी चाहिए,** ऐसे होवे तो उत्तम हो।" सत्य

सनातन वैदिक धर्म की पुनःस्थापना करने के लिए एक सभा या संगठन के निर्माण की आवश्यकता को महर्षि अनुभव करने लग गए थे, और उनके अनुयायियों ने भी इसके लिए उनसे अनुरोध करना आरम्भ कर दिया था। नवम्बर, १८७४ के अन्तिम सप्ताह में एक आवेदन-पत्र तैयार किया गया था, जिसमें आर्यसमाज की स्थापना की बात कही गई थी। इस आवेदन-पत्र पर ६० व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। पर इस समय बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना नहीं हो सकी, और महर्षि गुजरात-काठियावाड़ चले गए। राजकोट में सबसे पूर्व किस प्रकार आर्यसमाज स्थापित हुआ, और वह देर तक कायम नहीं रहा, इसी अध्याय में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। महर्षि गुजरात के भ्रमण के पश्चात् जब पुनः बम्बई आए, तो आर्यसमाज की स्थापना के विचार ने फिर जोर पकड़ा, और १७ फरवरी, १८७५ के दिन गिरगाँव में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। सभा में यह निश्चय हुआ कि श्री रावबहादुर दादू बा पाण्डुरंग की अध्यक्षता में एक उपसमिति का निर्माण किया जाए, जो आर्यसमाज की नियमावली का प्रारूप तैयार करे। इस प्रकार बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना का प्रयत्न फरवरी, १८७५ में ही प्रारम्भ हो गया था, और महर्षि ने अहमदाबाद में भी आर्यसमाज की स्थापना के लिए श्री गोपालराव हरि देशमुख को प्रेरित किया था। उन्होंने लिखा था कि बम्बई "आर्यसमाज का भी प्रयत्न अच्छा हो रहा है। आप अहमदाबाद से आर्यसमाज का ढील न करें।... अब तक आप लोगों ने आर्यसमाज का प्रारम्भ किया (वा) नहीं ? जो न किया होय तो जल्दी करें।" महर्षि के पत्र में ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—"और आर्यसमाज का भी प्रयत्न अच्छा हो रहा है।" यद्यपि बम्बई में बहुत-से लोग आर्यसमाज के विरोधी थे, पर समाज के लिए नियम आदि बनाने का कार्य सुचारु रूप से चल रहा था। १७ फरवरी, १८७५ की सार्वजनिक सभा द्वारा नियुक्त उपसमिति के पश्चात् राजमान्य राज्यश्री पानाचन्द आनन्दजी पारेख को आर्यसमाज के प्रस्तावित नियमों पर विचार कर उन्हें सही रूप देने का कार्य सुपुर्द किया गया। नियमों को निर्धारित करने तथा उन पर विचार-विमर्श करने में कुछ सप्ताह का समय लग जाना सर्वथा स्वाभाविक था। सम्भवतः, चैत्र सुदी प्रतिपदा (७ एप्रिल, १८७५) तक आर्यसमाज के नियम अन्तिम रूप से निर्धारित कर लिये गए थे, और महर्षि की स्वीकृति भी उनके लिए प्राप्त कर ली गई थी। इस सम्बन्ध में श्री चिम्मन लाल वैश्य द्वारा लिखित 'सरस्वतीन्द्र जीवनचरित्र' की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—"तत्पश्चात् धर्म-जिज्ञासुओं के मन में फिर अत्यन्त उत्कण्ठा समाज स्थिर करने की उत्पन्न हुई और दृढ़ विचार कर समाज के नियम बना कई दिन तक वादानुवाद के पश्चात् चैत्र सुदी ५ सम्वत् १९३२ विक्रमी तदनुसार १० अप्रैल, सन् १८७५ ई० को सायंकाल के समय गिरगाँव में डाक्टर मानकजी के बाग में मिस्टर गिरधरलाल दयालदास कोठारी बी० ए०, एल-एल० बी० की प्रधानता में एक पब्लिक अधिवेशन में आर्यसमाज स्थापन हो गया जिसके नियम निम्नलिखित थे जो इस समय सभा में भी सुनाए गए।" इसके बाद बम्बई में निर्धारित आर्यसमाज के २८ नियमों को उद्धृत कर श्री चिम्मनलाल वैश्य ने लिखा है—"जब बम्बई में नियमपूर्वक समाज स्थापित हो गया और स्वामी जी द्वितीय बार अहमदाबाद चले गए।" श्री वैश्य की जिस पुस्तक से ये उद्धरण दिए गए हैं, महर्षि का वह सबसे पुराना जीवनचरित्र है। इसमें १० एप्रिल, सन् १८७५ को बम्बई में आर्यसमाज के नियमपूर्वक स्थापित हो जाने की जो बात लिखी गई है, वह विशेष महत्त्व की है। इससे

उस पक्ष की पुष्टि होती है, जो चैत्र शुक्ल पंचमी को समाज की स्थापना तिथि मानता है। पर श्री वैश्य की पुस्तक में दिए गए विवरण में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं---(१) चैत्र सुदी ५ संवत् १९३२ (१० एप्रिल सन् १८७५) से पूर्व कई दिन तक आर्यसमाज के नियमों पर वादानुवाद होता रहा था, और जब उन्हें महर्षि की स्वीकृति प्राप्त हो गई, (जैसा कि पण्डित लेखराम जी ने भी महर्षि के जीवनचरित्र में लिखा है), तो १० एप्रिल, १८७५ के दिन गिरगाँव में आयोजित सार्वजनिक सभा में उन्हें सुना दिया गया। इस सभा में आर्यसमाज के नियमों पर कोई विचार-विमर्श या वादानुवाद नहीं हुआ था। राव-बहादुर दादू बा पाण्डुरंग और श्री पानाचन्द आनन्द जी पारेख सदृश व्यक्तियों के प्रयत्न तथा मार्गदर्शन में जो नियम निर्धारित हुए थे और जिन्हें महर्षि ने स्वीकार भी कर लिया था, गिरगाँव की सभा में उन्हें जनता को केवल सुना दिया गया था। (२) गिरगाँव की सभा में आर्यसमाज की नियमपूर्वक या विधिवत् स्थापना कर दी गई थी, और उसने समाज के निर्धारित नियमों के अधीन अपना कार्य आरम्भ कर दिया था। इसी बात को महर्षि ने 'समाज का आनन्दपूर्वक आरम्भ हुआ', इन शब्दों में सूचित किया है।

ऊपर जो तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे यह तो स्पष्ट है, कि बम्बई में आर्यसमाज नियमपूर्वक, विधिवत् या औपचारिक रूप से चैत्र शुक्ल पंचमी को ही स्थापित हुआ था। पर गिरगाँव में आयोजित सार्वजनिक सभा से पूर्व ही आर्यसमाज के नियम अन्तिम रूप से निर्धारित किए जा चुके थे और उसने एक मूर्त रूप भी प्राप्त कर लिया था। साथ ही, यह भी सर्वथा सम्भव है कि १० एप्रिल से पूर्व ही आर्यसमाज के पदाधिकारियों का भी निर्धारण कर लिया गया था। बम्बई आर्यसमाज के प्रथम प्रधान श्री गिरधर लाल दयालदास कोठारी थे, और उन्हीं की अध्यक्षता में १० एप्रिल, १८७५ को गिरगाँव में वह सार्वजनिक सभा हुई थी जिसमें कि औपचारिक रूप से आर्यसमाज का 'आरम्भ' किया गया था। इस सभा में अध्यक्ष या प्रधान का चुनाव या निर्धारण नहीं किया गया था। श्री गिरधरलाल दयालदास कोठारी पहले ही आर्यसमाज के प्रधान नियुक्त हो चुके थे। इसी कारण गिर-गाँव की सार्वजनिक सभा के अध्यक्ष का आसन उन्होंने ग्रहण किया था। क्या यह सम्भव नहीं है कि १० एप्रिल से पहले जब महर्षि द्वारा आर्यसमाज के नियमों को स्वीकृति दी गई हो, तभी यह भी निर्धारित कर लिया गया हो कि समाज के पदाधिकारी कौन महानुभाव होंगे। यह कल्पना असंगत नहीं है कि यह सब कार्य चैत्र शुक्ल प्रतिपदा (७ एप्रिल) के दिन हुआ था, जिसके कारण बम्बई के आर्यसमाजी अगले कई दशकों तक उसे ही आर्यसमाज की स्थापना तिथि मानते रहे। यह सर्वथा सम्भव है, कि दस एप्रिल से कुछ दिन पूर्व ही अनौपचारिक रूप से आर्यसमाज का निर्माण हो गया हो, और उसी के मन्त्री द्वारा टाइम्स आफ इण्डिया तथा जामये-जमशेद सदृश समाचार-पत्रों में गिरगाँव की सार्वजनिक सभा की सूचना प्रकाशित करायी गई हो। दूसरे शब्दों में, गिरगाँव की सभा में पहले से ही गठित आर्यसमाज को वैध या औपचारिक स्थिति प्रदान की गई थी। क्या यह सम्भव नहीं है, कि चैत्र सुदी प्रतिपदा को महर्षि ने आर्यसमाज के नियमों पर अपनी स्वीकृति प्रदान की हो, और उसी दिन अनौपचारिक रूप से बम्बई समाज का गठन कर लिया गया हो। केवल इतना कार्य शेष रह गया हो कि एक सार्वजनिक सभा में 'नियमपूर्वक' (औपचारिक रूप से या विधिवत्) कार्यवाही करके आर्यसमाज का 'आरम्भ' कर दिया जाए, और यह कार्य चैत्र सुदी पंचमी को गिरगाँव में सम्पन्न कर लिया गया। टाइम्स आफ इण्डिया में

गिरगाँव की सार्वजनिक सभा की जो सूचना प्रकाशित हुई थी, उसमें इसीलिए यह लिखा गया था कि पण्डित दयानन्द सरस्वती आर्यसमाज के निर्माण या गठन की विधि सम्पन्न करेंगे (will perform the ceremonies for the formation of Arya Samaj)। सम्भवतः, इस प्रकार इस समस्या का समाधान हो जाता है, कि आर्यसमाज की स्थापना-तिथि के विषय में दो मतों की सत्ता का क्या कारण है। बम्बई के आर्यसमाजियों की दृष्टि में उसी दिन (चैत्र सुदी प्रतिपदा) आर्यसमाज स्थापित हो गया था, जबकि महर्षि द्वारा उसके नियमों को स्वीकृत कर लिया गया था और उसके पदाधिकारी भी निर्धारित कर लिये गए थे। पर औपचारिक रूप से उसका गठन या 'आरम्भ' कुछ दिन बाद चैत्र सुदी पंचमी को हुआ। गिरगाँव में आयोजित सार्वजनिक सभा की घोषणा तभी की गई थी, जब कि यथार्थ में आर्यसमाज मूर्त रूप ग्रहण कर चुका था, और उसके पदाधिकारी भी निर्धारित कर दिए गए थे। यह सभा भी इन्हीं पूर्वनिर्धारित पदाधिकारियों द्वारा ही आयोजित की गई थी।

दसवाँ अध्याय

उत्तर भारत में आर्यसमाज का बीजारोपण

(१) उत्तर प्रदेश में एक वर्ष

महाराष्ट्र और गुजरात-काठियावाड़ में वैदिक धर्म का प्रचार और बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना करने के पश्चात् मई, १८७६ के प्रारम्भ में स्वामी दयानन्द सरस्वती फर्रुखाबाद पहुँच गये थे। वे एक वर्ष के लगभग उत्तर प्रदेश में रहे। इस काल में उन्होंने वाराणसी, जौनपुर, अयोध्या, लखनऊ, शाहजहाँपुर, मुरादाबाद, कर्णवास, छलेसर, दिल्ली, मेरठ, सहारनपुर, और चाँदापुर में परिभ्रमण किया। यह समय उन्होंने प्रधानतया वेदों का भाष्य करने, उसे प्रकाशित करने की व्यवस्था करने और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' को लिखने व मुद्रित कराने में लगाया। विविध स्थानों पर उन्होंने अनेक व्याख्यान दिए, अनेक शास्त्रार्थ भी किये, पर कहीं आर्यसमाज की स्थापना नहीं की। यह बात महत्त्व की है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि स्वामी जी स्वयं आर्यसमाज की स्थापना नहीं करते थे। जहाँ के लोगों में वैदिक धर्म की सच्ची शिक्षाओं के प्रचार के लिए उत्साह होता था, वहाँ ही आर्यसमाज की स्थापना हो सकती थी और यह कार्य कर्मठ व उत्साहसम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही किया जाना समुचित था। स्वामी जी का संरक्षण एवं आशीर्वाद इन लोगों को अवश्य प्राप्त रहता था, पर वे स्वयं आर्यसमाज की स्थापना नहीं किया करते थे। बम्बई के लोगों में आर्यसमाज की स्थापना के लिए उत्साह था, उन्हें संगठन बनाकर कार्य करने का महत्त्व ज्ञात था, क्योंकि वहाँ अनेक धार्मिक व सामाजिक संगठन पहले भी विद्यमान थे। पर उत्तर प्रदेश में यह दशा नहीं थी। वहाँ के लोग महाराष्ट्र की तुलना में बहुत पिछड़े हुए थे। इसी कारण वहाँ वे पाठशालाएँ व विद्यालय भी ठीक तरह से नहीं चल रहे थे, जिनकी स्थापना स्वयं स्वामी जी द्वारा की गई थी। फर्रुखाबाद में स्वामी जी ने देखा, कि वहाँ की पाठशाला का कार्य ठीक प्रकार से नहीं हो रहा है और वहाँ के अध्यापक वेदविरुद्ध मन्तव्यों का प्रतिपादन करने में तत्पर हैं। अतः उन्होंने उस पाठशाला को भंग कर दिया और उसके लिए जो धन जमा था, उसे दानियों की अनुमति से वेदभाष्य के लिए प्रदान कर दिया। सम्भवतः, स्वामी जी चाहते थे कि बम्बई के समान फर्रुखाबाद में भी आर्यसमाज की स्थापना हो जाए, पर उन्होंने वहाँ के लोगों में इसके लिए आवश्यक उत्साह एवं कर्मण्यता का अभाव पाया, जिससे उन्हें कुछ निराशा भी हुई। इसीलिए फर्रुखाबाद से काशी के लिए प्रस्थान करते

समय उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा था, कि यदि यहाँ आर्यसमाज स्थापित हुआ, तो फिर मिलेंगे, अन्यथा यहाँ फिर नहीं आयेंगे। आर्यसमाजों की स्थापना का सिलसिला स्वामी जी के पंजाब जाने पर ही पुन: प्रारम्भ हुआ, और उसके पश्चात् उसमें निरन्तर वृद्धि ही होती गई।

दो सप्ताह के लगभग फर्रुखाबाद में रहकर स्वामी जी २७ मई, १८७६ को काशी पहुँचे और १५ अगस्त तक वहाँ रहे। यह समय उन्होंने मुख्यतया वेदभाष्य लिखने में व्यतीत किया। इस कार्य में सहायता के लिए उन्होंने पण्डित भीमसेन को फर्रुखाबाद से काशी बुला लिया था। भीमसेन फर्रुखाबाद की पाठशाला में विद्यार्थी रहे थे, और संस्कृत की शिक्षा उन्होंने वहीं प्राप्त की थी। काशी में तीन मास के लगभग रह कर स्वामी जी ने वेदभाष्य के लिए ग्रन्थों का संग्रह किया, मन्त्रों के अर्थों का चिन्तन व दर्शन किया, और वह सब तैयारी की जो वेदमन्त्रों के भाष्य जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए अनिवार्य है। इस काल में उन्होंने न कोई व्याख्यान दिया और न कोई शास्त्रार्थ किया। काशी नगरी संस्कृत भाषा तथा वेदशास्त्रों के अध्ययन व अनुशीलन की महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। इसलिए स्वामी जी वहाँ रहकर वेदभाष्य को तैयार करने तथा उसके मुद्रण के लिए समुचित सुविधाएँ प्राप्त कर सकते थे। आर्ष पद्धति से वेदों का भाष्य करने की स्वामी जी की चिरकाल से इच्छा थी। जब वे बम्बई में थे, तब उन्होंने ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का संस्कृत में भाष्य किया था, और उसे हिन्दी, मराठी तथा गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित भी कराया था। इस भाष्य में वेदमन्त्रों के आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के अर्थ किए गये थे। इसे प्रकाशित कराते हुए स्वामी जी ने भूमिका में यह भी लिखा था, कि वे इसी ढंग से चारों वेदों का भाष्य करना चाहते हैं, और यदि किसी व्यक्ति को इस शैली की मान्यता में विप्रतिपत्ति हो, तो वह पहले से ही सूचित कर दे, ताकि भाष्य में उस पर विचार किया जा सके। अपने वेदभाष्य के इस नमूने की प्रतियाँ स्वामी जी ने काशी और कलकत्ता आदि के विख्यात पण्डितों के पास भिजवा दी थीं, और साथ ही ग्रीफिथ सदृश संस्कृत के पाश्चात्य विद्वानों के पतों पर भी। पर बम्बई में रहते हुए स्वामी जी वेदभाष्य के लिए पर्याप्त समय नहीं दे सके थे। अत: जब वे उत्तर प्रदेश में आए, तो उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण कार्य पर विशेष ध्यान दिया, और काशी में तो वे प्रधानतया वेदमन्त्रों के 'दर्शन' पर ही अपने समय का उपयोग करते रहे। जिस महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिए स्वामी जी प्रयत्नशील थे, उसकी सफलता के लिए वे यह परमावश्यक समझते थे कि वेदों का वास्तविक अर्थ जनता के सम्मुख आए, और सब कोई वैदिक शिक्षाओं की जानकारी प्राप्त कर सकें।

काशी से स्वामी जी जौनपुर होते हुए अयोध्या गये, और पाँच सप्ताह के लगभग वहाँ रहे। अयोध्या में निवास करते हुए ही उन्होंने १८ अगस्त, १८७६ के दिन 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' का लिखना प्रारम्भ किया था। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वेदभाष्य की भूमिका के रूप में है, और इसमें उन मन्तव्यों व सिद्धान्तों का युक्तियों और प्रमाणों के साथ प्रतिपादन किया गया है, जो वेदार्थ करने की शैली के सम्बन्ध में स्वामी जी को स्वीकार्य थे। २६ सितम्बर को स्वामी जी अयोध्या से लखनऊ आ गये। यद्यपि लखनऊ में भी वे प्रधानतया वेदभाष्य के कार्य में व्यापृत रहे, पर कुछ समय निकालकर उन्होंने लोगों की शंकाओं का समाधान भी किया, और जनता के सम्मुख व्याख्यान भी दिये। वेदभाष्य करते हुए

स्वामी जी ने इस बात की आवश्यकता भी अनुभव की थी, कि मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेदों का जिस ढंग से अनुवाद किया गया था, और वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में जो मन्तव्य वे प्रतिपादित कर रहे थे, उन्हें स्वयं पढ़ सकें, ताकि उनका विवेचन करने में किसी प्रकार की बाधा न रह जाए। स्वामी जी यह भी चाहते थे कि पाश्चात्य देशों में जाकर इन विद्वानों के साथ विचार-विनिमय करें, और वहाँ के निवासियों को सच्चे वैदिक धर्म से अवगत कराएँ। इसीलिए लखनऊ में रहते हुए उन्होंने अंग्रेजी भाषा पढ़नी प्रारम्भ की थी। इस बात की चर्चा उस समय अनेक समाचार-पत्रों में भी हुई थी। लाहौर से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दूबान्धव' नामक पत्र ने लिखा था—"प्रसिद्ध पण्डित दयानन्द सरस्वती, जो इन दिनों लखनऊ में ठहरे हुए हैं, वहाँ अंग्रेजी भाषा सीखने में संलग्न हैं। इस भाषा को सीखने के पश्चात् उनका विचार इंग्लैण्ड जाने का है। इसमें सन्देह नहीं कि इनके विलायत जाने से वहाँ के पूर्वी भाषाओं के विद्वानों में इनकी विद्वत्ता की बड़ी धूम मचेगी।" (१ अक्टूबर, १८७६) इसी प्रकार के संवाद कलकत्ता के 'इण्डियन मिरर' तथा पटना के 'विहारबन्धु' में भी प्रकाशित हुए थे। पर स्वामी जी अंग्रेजी पढ़ने के लिए अधिक समय नहीं निकाल सके, और न ही विदेश जाने का उनका विचार क्रियान्वित हो सका। जहाँ एक ओर उन्हें वेदभाष्य सदृश महान् कार्य को सम्पन्न करना था, वहाँ साथ ही धर्म-प्रचार तथा समाजसुधार के जिस कार्य को उन्होंने अपने हाथों में लिया था, उसे भी पूरा करना था। इसीलिए वे अंग्रेजी की पढ़ाई पर अधिक ध्यान नहीं दे सके। वस्तुतः, इस समय स्वामी जी की सब शक्ति प्रधानतया वेदभाष्य पर ही लगी हुई थी, और वे उस दशा को प्राप्त हो रहे थे, जिसमें वेदमन्त्रों का 'दर्शन' कर ऋषि पद की प्राप्ति की जाती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो 'ऋषि' या 'महर्षि' पद प्राप्त किया, यह उसकी तैयारी का काल था। कुछ समय पश्चात् वेदभाष्य करते हुए जब उन्होंने वेदमन्त्रों के वास्तविक अर्थ का 'दर्शन' कर लिया, तब वे ऋषि कहाने के अधिकारी हो गए।

नवम्बर, १८७६ के प्रारम्भ में स्वामी जी ने लखनऊ से प्रस्थान किया, और शाहजहाँपुर होते हुए वे बरेली आ गए। वहाँ उनके अनेक व्याख्यान हुए, और पौराणिक पण्डितों से शास्त्रार्थ भी। बरेली से स्वामी जी मुरादाबाद गये। वहाँ उनके ईसाई पादरियों से शास्त्रार्थ हुए, और धर्म प्रचार एवं शास्त्रचर्चा के लिए वे कुछ समय निकाल सके। गत पाँच मास के लगभग का समय स्वामी जी ने मुख्यतया वेदभाष्य में ही लगाया था। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस काल में वे वेदार्थ करने की सब तैयारी कर चुके थे, और प्रचार-कार्य के लिए समय निकाल सकना उनके लिए सम्भव हो गया था। इसी कारण जहाँ बरेली और मुरादाबाद में उन्होंने व्याख्यान और शास्त्रार्थों में समय लगाया, वहाँ यह भी विचार किया कि दिल्ली जाकर वहाँ एकत्र हुए भारत के प्रमुख राजा-महाराजाओं तथा विविध धर्मों के प्रधान नेताओं के साथ सम्पर्क करें, ताकि देश की उन्नति एवं समाज-सुधार के कार्य में सब लोगों को परस्पर मिलकर कार्य करने के लिए तैयार किया जा सके। उस समय भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक दरबार का आयोजन किया था (१ जनवरी, १८७७), जिसमें देश के सभी प्रमुख व्यक्तियों को सम्मिलित होना था। देसी रियासतों के राजा-महाराजाओं के अतिरिक्त अन्य गण्य मान्य लोगों तथा सरकारी पदाधिकारियों को भी इस अवसर पर दिल्ली में उपस्थित होना था। स्वामी जी ने सोचा, कि अपने मन्तव्यों का प्रचार करने तथा देश की उन्नति के महान् कार्य में अन्य

लोगों का सहयोग प्राप्त करने के इस अवसर का उपयोग किया जाना चाहिए। अतः उन्होंने दिल्ली जाने का निश्चय किया, और मुरादाबाद से कर्णवास, छलेसर तथा अलीगढ़ होते हुए वे दिल्ली पहुँच गये। छलेसर में भी स्वामी जी ने एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की थी, पर उसका कार्य सन्तोषजनक नहीं था। अतः इस बार पुनः वहाँ आने पर उन्होंने इस पाठशाला को भी बन्द कर दिया। दिसम्बर, १८७६ का अन्त होने से पहले ही स्वामी जी दिल्ली आ गये थे। लार्ड लिटन द्वारा आयोजित दरबार में स्वामी जी के कर्तृत्व के सम्बन्ध में अगले प्रकरण में पृथक् रूप से विवेचन किया जाएगा।

जनवरी, १८७७ के मध्य तक स्वामी जी दिल्ली रहे। वहाँ से वे मेरठ और सहारनपुर गये। उत्तर प्रदेश के इन पश्चिमी नगरों में स्वामी जी पहली बार आए थे। वहाँ उनके व्याख्यान निरन्तर होते रहे, और शास्त्रार्थ तथा प्रश्नोत्तर भी। जब स्वामी जी सहारनपुर रह रहे थे, उनसे चाँदापुर के मेले में पधारने के लिए आग्रह किया गया। चाँदापुर शाहजहाँपुर जिले में है। 'ब्रह्म विचार' नाम से एक बड़े मेले का वहाँ आयोजन किया गया था, जिसमें ईसाई, मुसलमान और हिन्दू धर्मों के प्रधान आचार्यों को सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए निमन्त्रित किया गया था। चाँदापुर के जमींदार मुन्शी प्यारेलाल और मुंशी मुक्ता प्रसाद नाम के दो भाई थे, और कुलक्रम से ये कबीरपन्थ के अनुयायी थे। शाहजहाँपुर के क्षेत्र में ईसाई पादरी अपने धर्म का प्रचार करने में विशेष रूप से सचेष्ट थे, और लखनऊ से बरेली आते हुए स्वामी जी भी पाँच दिन वहाँ ठहरे थे। ईसाइयों और स्वामी जी के प्रचार के कारण शाहजहाँपुर के क्षेत्र में सत्यधर्म की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई थी, और मुंशी मुक्ता प्रसाद सदृश अनेक सज्जनों का झुकाव स्वामी जी के मन्तव्यों की ओर होने लग गया था। इस दशा में चाँदापुर के जमींदारों ने यह निश्चय किया, कि एक ऐसे मेले का आयोजन किया जाए, जिसमें सब प्रमुख धर्मों के विद्वानों को निमन्त्रण भेजकर बुलाया जाए और उनमें शास्त्रार्थ हो, ताकि उसे सुनकर सब कोई स्वयं सत्य धर्म का निर्णय कर सकें। मेले की तैयारी बड़ी धूमधाम से की गई, और उसके विज्ञापन प्रकाशित कर जनता में भी उसके लिए उत्साह उत्पन्न किया गया। जो अनेक धर्माचार्य इस मेले में शास्त्रार्थ में भाग लेने के लिए उपस्थित हुए, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—देवबन्द (जिला सहारनपुर) के दारुल्-उलूम के मौलाना मुहम्मद कासिम, अरबी स्कूल शाहजहाँपुर के मौलवी मुहम्मद हफीजुल्ला खाँ, और दिल्ली के सैयद अब्दुल मन्सूर आदि मुसलिम विद्वान्, बरेली के अमेरिकन मेथोडिस्ट चर्च के रेवरेन्ड टी० जी० स्कॉट और रेवरेन्ड ई० डब्ल्यू० पार्कर और मुंशी तोताराम आदि ईसाई विद्वान्, और स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा मुंशी इन्द्रमणि आदि हिन्दू विद्वान्। इसमें सन्देह नहीं, कि चाँद पुर के इस मेले में अपने समय के चोटी के विद्वान् सम्मिलित हुए थे। यही कारण है, कि वहाँ जो शास्त्रार्थ हुआ वह अत्यन्त महत्त्व का था और उसमें ईसाई तथा मुसलिम धर्माचार्यों को स्वामी जी के सम्मुख जिस प्रकार नीचा देखना पड़ा, उससे वैदिक धर्म की उत्कृष्टता का सिक्का जमने में बहुत सहायता मिली। चाँदापुर मेले का यह शास्त्रार्थ दो दिन हुआ, १९ और २० मार्च को। शास्त्रार्थ के पाँच विषय नियत किए गए थे—(१) परमेश्वर ने कब, किस प्रयोजन से और किस वस्तु से सृष्टि की रचना की, (२) परमेश्वर सर्वव्यापक है या नहीं, (३) परमेश्वर न्यायकारी और साथ ही दयालु भी किस प्रकार है, (४) वेद, बाइबल और कुरान में कौन ईश्वरकृत है और किस प्रमाण के आधार पर, (५) मुक्ति

क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। इन विषयों पर तीनों धर्मों के विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए, और उन पर विचार-विमर्श भी हुआ। स्वामी जी ने जिस ढंग से युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर वैदिक धर्म के मन्तव्यों को प्रतिपादित किया, वह अत्यन्त प्रभावशाली था। क्योंकि उस समय ईसाई पादरियों का बहुत जोर था और सरकार की सहायता एवं संरक्षण से वे अपने धर्म के प्रचार में तत्पर थे, अतः मुसलमानों की इच्छा थी कि स्वामी जी विशेष रूप से ईसाइयों का खण्डन करें। पर स्वामी जी का यह कथन था, कि सबको परस्पर मिलकर सत्य का निर्णय करना चाहिए, कोई किसी का पक्षपात न करे और न बिना कारण विरोध ही। चाँदापुर मेले के शास्त्रार्थ में स्वामी जी के प्रतिद्वन्द्वी सुप्रसिद्ध ईसाई पादरी तथा सुयोग्य मुसलिम मौलवी थे। यही कारण है कि इस शास्त्रार्थ का प्रायः वही महत्त्व है, जो कि काशी शास्त्रार्थ का है। काशी में स्वामी जी ने सनातनी पौराणिक पण्डितों को परास्त किया था, और चाँदापुर में ईसाई एवं मुसलमान विद्वानों को। मेले के आयोजकों ने इस शास्त्रार्थ का पूरा-पूरा विवरण सियालकोट के 'रफ़ाहे आम' प्रेस से प्रकाशित करवाया था। उसके अनेक संस्करण हो चुके हैं, और वह हिन्दी में भी उपलब्ध है।

(२) दिल्ली दरबार में स्वामी जी का कर्तृत्व

महारानी विक्टोरिया के भारत का शासन सूत्र अपने हाथों में ले लेने के उपलक्ष्य में लार्ड लिटन द्वारा जनवरी, १८७७ के प्रारम्भ में दिल्ली में एक दरबार का आयोजन किया गया था, जिसमें देशी रियासतों के राजा-महाराजा, उच्च सरकारी पदाधिकारी, सम्भ्रान्त वर्ग के लोग और सुशिक्षित व्यक्ति अच्छी बड़ी संख्या में उपस्थित हुए थे। उस समय स्वामी जी दिल्ली से अधिक दूर नहीं थे। अतः उनका इस दरबार के अवसर पर दिल्ली जाने तथा वहाँ एकत्र हुए देश के गण्य मान्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क कर भारत की उन्नति के लिए सम्मिलित रूप से प्रयत्न करने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने की योजना सर्वथा समुचित थी। स्वामी जी इसी प्रयोजन से दिल्ली गये, और शेरमल के अनारबाग में डेरा जमाया। यह स्थान अजमेरी दरवाजे से पश्चिम-दक्षिण की ओर कुतुब की सड़क पर था। इसके समीप अन्य भी अनेक कैम्प थे, जिनमें काश्मीर के महाराजा का भी कैम्प था। स्वामी जी के साथ पं० भीमसेन, मुंशी इन्द्रमणि और कर्णवास से अनेक ठाकुर भी दिल्ली आए थे। उनके डेरे पर एक बोर्ड लगा था, जिस पर 'स्वामी दयानन्द सरस्वती का निवास स्थान' लिखा हुआ था। स्वामी जी की ओर से इस अवसर पर एक विज्ञापन बँटवाया गया था, जिसमें यह कहा गया था, कि सत्य और असत्य के निर्णय का यह उपयुक्त अवसर है, और सबको परस्पर मिलकर धर्म एवं कर्तव्य के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना चाहिए। राजा-महाराजाओं के साथ बहुत-से पण्डित भी इस समय दिल्ली आये हुए थे। स्वामी जी चाहते थे, कि एक ऐसी सभा की जाए, जिसमें विविध राजा-महाराजा अपने पण्डितों के साथ सम्मिलित हों, और शास्त्रचर्चा द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय करें। इसी प्रकार की सभा के आयोजन का प्रयत्न सन् १८६१ के प्रारम्भ में दण्डी स्वामी विरजानन्द जी ने भी किया था। उस समय आगरा में देशी रियासतों के राजाओं का एक दरबार हुआ था, जिसमें बहुत-से राजा-महाराजा उपस्थित थे। जयपुर के महाराजा रामसिंह भी उनमें थे। स्वामी विरजानन्द जी ने उनके सम्मुख यह विचार प्रस्तुत

किया था, कि एक सार्वभौम सभा का आयोजन किया जाए, जिसमें देश भर के पण्डित आमन्त्रित किये जाएँ। वे इस विषय पर विचार करें, कि कौन-से ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ हैं जिन्हें सत्य एवं धर्म के निर्णय के लिए प्रमाण माना जा सकता है और जिनका अध्ययन-अध्यापन किया जाना चाहिए। महाराजा जयसिंह ऐसी सार्वभौम सभा का सब खर्च उठाने के लिए सहमत भी हो गए थे, पर अनेक कारणों से इस सभा का आयोजन नहीं किया जा सका। अब सोलह वर्ष पश्चात् विरजानन्द जी के शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक बार फिर सार्वभौम सभा के लिए प्रयत्न किया, पर वे भी सफल नहीं हो सके। अवध के अनेक ताल्लुकेदार अवश्य स्वामी जी के दर्शन के लिए आते रहे। महाराजाओं में केवल इन्दौर के तुकोजी राव होल्कर ने ही स्वामी जी से भेंट की। काश्मीर के महाराजा रणवीर सिंह भी उनसे मिलने को इच्छुक थे, पर पौराणिक पण्डितों ने उनकी यह इच्छा पूर्ण नहीं होने दी। इन्दौर के महाराजा द्वारा यह प्रयत्न किया भी गया था, कि सब राजा-महाराजा एक सभा में एकत्र होकर स्वामी जी का प्रवचन सुनें, पर वे भी सफल नहीं हो सके। वस्तुतः, दिल्ली दरबार की धूमधाम में इन लोगों को इस बात का अवकाश ही कहाँ था, जो वे सत्य धर्म को सुनने के लिए उद्यत हो सकते।

प्रश्न यह है कि वे क्या कारण थे, जिनसे स्वामी विरजानन्द और उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने राजा-महाराजाओं की सार्वभौम सभा के आयोजन का प्रयत्न किया था। सन् १८५७ में ब्रिटिश शासन का अन्त कर देने के लिए जो घोर संघर्ष हुआ था, वह सफल नहीं हो सका था। इस बात के संकेत विद्यमान हैं, कि स्वामी विरजानन्द ने इस संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग लिया था और हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए प्रेरणा प्रदान की थी। पर भारतीय स्वाधीनता का यह प्रथम संग्राम सफल नहीं हो सका था। जिन राजा-महाराजाओं के हाथों से राजशक्ति छीनकर अंग्रेजों ने भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, उनमें से बहुत ही कम ने सन् ५७ के स्वाधीनता संग्राम में भाग लिया था। सम्भवतः, स्वामी विरजानन्द इसे अपनी असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण मानते थे। उनके लिए यह सोचना अस्वाभाविक नहीं था, कि जिन राजाओं के पूर्वज चिरकाल तक स्वतन्त्र रूप से राजशक्ति का उपभोग करते रहे और जिन्हें अंग्रेजों के वशवर्ती हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ, उनमें पुनः स्वातन्त्र्य भावना तथा शक्ति का संचार करना असम्भव नहीं है। पर इसके लिए यह आवश्यक है, कि उन्हें सत्य धर्म का ज्ञान हो। हिन्दुओं में जो कुरीतियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जो अन्धविश्वास प्रचलित हो गए हैं, और जो शक्तिहीनता आ गई है—उसका प्रधान कारण उनका ऋषियों द्वारा प्रतिपादित सच्चे वैदिक धर्म से विमुख हो जाना ही है। राजा-महाराजाओं की निर्बलता एवं परवशता का भी यही कारण है। यदि उन्हें सत्य धर्म के मार्ग पर ले आया जाए, तो सर्वसाधारण जनता भी अवश्य उनका अनुसरण करेगी, क्योंकि उस युग में राजा-महाराजाओं का जनता पर बहुत प्रभाव था। सम्भवतः, इसी विचार से स्वामी विरजानन्द जी ने १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की विफलता के केवल चार वर्ष पश्चात् आगरा में राजा-महाराजाओं की सार्वभौम सभा के आयोजन का प्रयत्न किया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अपने गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर सन् १८७७ के प्रारम्भ में राजा-महाराजाओं की सभा का आयोजन करने का प्रयत्न किया, पर सफलता उन्हें भी प्राप्त नहीं हुई। मध्य युग की परिस्थितियों में सर्वसाधारण लोग राजा-महा-

राजाओं, सामन्त वर्ग के व्यक्तियों तथा पुरोहितों व पण्डितों के प्रभाव में रहा करते थे। 'यथा राजा तथा प्रजा', और 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' और 'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः' की बात उस समय पूर्ण रूप से चरितार्थ हुआ करती थी। इस दशा में सर्वसाधारण जनता से अन्धविश्वासों को दूर करने, कुरीतियों का निवारण करने और सामाजिक सुधार का क्रियात्मक साधन तब यही था, कि जिन व्यक्तियों के हाथ में राजशक्ति तथा धार्मिक नेतृत्व हो उन्हें अपना अनुयायी बनाने का प्रयत्न किया जाए। स्वामी विरजानन्द तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यही किया। इन दोनों विद्वानों व सुधारकों ने अपने समय के प्रसिद्ध पण्डितों को अपने मन्तव्यों की सत्यता का विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया, और साथ ही राजा-महाराजाओं को अपने प्रभाव में लाने का। पर दोनों ही अपने प्रयत्न में असफल रहे। उस समय इन वर्गों के व्यक्ति सर्वथा अशक्त व निर्वीर्य हो चुके थे। उनमें नवजीवन, स्फूर्ति व सत्य को ग्रहण करने की क्षमता को उत्पन्न कर सकना सुगम नहीं था। बाद में जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सर्वसाधारण लोगों में (जिनके हाथों में न राजशक्ति थी और न धार्मिक नेतृत्व) सत्य धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया, तो उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई, और उन द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने एक जन-आन्दोलन का रूप प्राप्त कर लिया। नानक, कबीर सदृश मध्य युग के सन्त मानवमात्र की समता के आदर्श को लेकर नवजागरण के आन्दोलनों को जो सफलतापूर्वक चला सके थे, उसका कारण यही था कि उन्होंने सम्भ्रान्त वर्ग का सहारा न लेकर सर्वसाधारण लोगों में अपना कार्य किया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती को भी सामाजिक सुधार एवं सत्य वैदिक धर्म की पुनः स्थापना के प्रयत्न में सफलता तभी प्राप्त हुई, जब आर्यसमाज के रूप में उन्होंने एक ऐसा संगठन स्थापित किया, जो कि लोकतन्त्रवाद पर आधारित है, और जिसका संचालन सर्वसाधारण लोगों द्वारा किया जाता है। पर अपने युग की परिस्थितियों और मान्यताओं के सन्दर्भ में स्वामी जी द्वारा राजा-महाराजाओं की सार्वभौम सभा के आयोजन के प्रयत्न को अनुचित नहीं कहा जा सकता।

दिल्ली दरबार के अवसर पर स्वामी जी ने यह यत्न भी किया, कि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के नेताओं को एक स्थान पर एकत्र कर उनसे इस बात पर विचार-विमर्श किया जाए कि क्या कोई ऐसा उपाय सम्भव है जिससे कि वे सब मिलकर भारत की उन्नति के लिए प्रयत्न कर सकें। आपस के सब मतभेदों को भुलाकर सामाजिक कुरीतियों के निवारण एवं अन्धविश्वासों के परित्याग के लिए परस्पर सहयोग से कार्य कर सकें, और कतिपय ऐसे सर्वमान्य मन्तव्यों को स्वीकार कर सकें जिनसे किसी का मतभेद न हो। स्वामी जी यह भली भाँति जानते थे कि भारत के अधः पतन का एक प्रधान कारण इस देश में बहुत-से सम्प्रदायों व मत-मतान्तरों की सत्ता है। देश की उन्नति तभी सम्भव है, जब कि इनके परस्पर-विरोधों का अन्त कर एक ऐसे धर्म की स्थापना की जाए, जिसके मन्तव्य सबको समान रूप से स्वीकार्य हों और जिसमें साम्प्रदायिक संकीर्णता का सर्वथा अभाव हो। इसी प्रयोजन से स्वामी जी ने उन अनेक सुशिक्षित व्यक्तियों को एक स्थान पर एकत्र होने के लिए निमन्त्रित किया, जो स्वदेश की उन्नति तथा समाजसुधार के लिए प्रयत्नशील थे, और दरबार के अवसर पर दिल्ली आये हुए थे। स्वामी जी के निमन्त्रण को स्वीकार कर निम्नलिखित व्यक्ति उनके डेरे पर एकत्र हुए—बाबू केशव चन्द्रसेन (ब्राह्मसमाज, कलकत्ता), बाबू नवीनचन्द्र राय (ब्राह्मसमाज, लाहौर), श्री सैयद

अहमद खाँ (अलीगढ़), मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी (पंजाब), बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि (आर्यसमाज, बम्बई), मुंशी इन्द्रमणि (मुरादाबाद) और स्वयं स्वामी जी। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के सुयोग्य नेताओं का यह सम्मेलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। सैयद अहमद खाँ सदृश प्रगतिशील एवं सुशिक्षित मुसलिम नेता की उपस्थिति के कारण इसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया था। उस समय के उद्‌बुद्ध लोगों का इस सम्मेलन के सम्बन्ध में जो विचार था, वह इण्डियन मिरर, कलकत्ता के इस लेख से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—"हमने सुना है कि पण्डित दयानन्द सरस्वती के निवास स्थान पर एक सभा इस प्रयोजन से हुई, कि भारत के वर्तमान सुधारकों के बीच एक वास्तविक व व्यवहारक्षम आधार पर एकता स्थापित हो जाए। इसमें सन्देह नहीं कि इससे बहुत बड़े तथा शुभ परिणाम उत्पन्न होंगे। हम इसकी सफलता के लिए प्रार्थना करते हैं।" (१४ जनवरी, १८७७) लाहौर की पत्रिका 'बिरादरे हिन्द' ने इस सभा के विषय में यह लिखा था—"हमें यह सूचित करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है कि दिल्ली दरबार के अवसर पर भारत के प्रसिद्ध और योग्य सुधारकों ने पण्डित दयानन्द सरस्वती के मकान पर एक विशेष सभा इस अभिप्राय से आयोजित की, कि हमारा वास्तविक ध्येय सबकी एकता है और भविष्य में पृथक्-पृथक् कार्य करने के स्थान पर हम सबको एकमत होकर जाति के सुधार में संलग्न होना चाहिए, और यदि आपस में किसी प्रकार का मतभेद हो, तो उसका निर्णय परस्पर बातचीत से कर लेना चाहिए।" (जनवरी, १८७७) यह मान सकना तो सुगम नहीं है, कि स्वामी जी इस सभा द्वारा यह आशा करते थे कि सैयद अहमद खाँ सदृश मुसलमान इस्लाम का परित्याग कर वेदों को मानने लगेंगे, और सब को तुरन्त वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया जा सकेगा। वस्तुतः, स्वामी जी को यही अभिप्रेत था कि सब लोग एक मत होकर एक ही रीति से देश के सुधार का प्रयत्न करें। बाबू नवीनचन्द्र राय, जो स्वामी जी द्वारा आयोजित सभा में उपस्थित थे, ने 'ज्ञान प्रदर्पण' नामक पत्रिका में इस सभा के विषय में लिखा था, कि "फिर दूसरी बार स्वामी जी से हम लोगों की भेंट दिल्ली में सन् १८७७ में दरबार के अवसर पर हुई थी। वहाँ उन्होंने हमें, बाबू केशवचन्द्र सेन को और श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को आमन्त्रित किया और हम लोगों से यह प्रस्ताव किया कि हम लोग पृथक्-पृथक् धर्मोपदेश न करके एकता के साथ करें, तो अधिक फल होगा। इस विषय में बहुत बातचीत हुई, परन्तु मूल विश्वास में हम लोगों का उनसे मतभेद था, इसलिए जैसा वे चाहते थे एकता न हो सकी।" जिस मूल विश्वास के सम्बन्ध में सभा में सम्मिलित सुधारक व बुद्धिजीवी लोग एकमत नहीं हो सके, वह वेदों के विषय में था। स्वामी जी यह चाहते थे कि वेदों की प्रामाणिकता को सब स्वीकार कर लें, और उन्हीं की शिक्षाओं के अनुसार सुधार-कार्य में प्रवृत्त हों। क्रियात्मक दृष्टि से इसका एक लाभ भी था। हिन्दुओं के तो सभी सम्प्रदाय और मत वेदों के प्रति आस्था रखते ही थे। मुसलमानों के लिए भी यह स्वीकार कर सकने में विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए थी, कि वेद सबसे प्राचीन धर्मग्रन्थ हैं, सब मतों व धर्मों को जो नैतिक मान्यताएँ एवं धार्मिक सिद्धान्त समान रूप से स्वीकार्य हैं, उनका मूल वेदों में ही है, और वेद द्वारा प्रतिपादित एक मूलधारा ही विविध सम्प्रदायों व मतों रूपी धाराओं में विभक्त हो गई है। यदि वे इस तथ्य को स्वीकार कर सकते, तो स्वामी जी की योजना की सफलता असंदिग्ध थी। पर न श्री सैयद अहमद खाँ वेदों की इस

स्थिति को स्वीकार करने के लिए उद्यत हुए, और न ब्राह्मसमाज के नेता बाबू केशवचन्द्र सेन ही। ब्राह्मसमाज के सदस्य वेदों की प्रामाणिकता या अपौरुषेयता को स्वीकार नहीं करते थे, विशेषतया बाबू केशवचन्द्र सेन के अनुयायी। अतः वे भी वेदों को आधार मानकर सब सम्प्रदायों की एकता की बात को मानने के लिए उद्यत नहीं हुए, और राजा-महाराजाओं की सार्वभौम सभा के समान सुधारकों व बुद्धिजीवियों की सभा को भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। स्वामी जी के सम्मुख अब एक ही मार्ग शेष रह गया था। यह मार्ग था, सर्वसाधारण जनता में अपने मन्तव्यों का प्रचार करने का और वेदों का एक ऐसा भाष्य व अनुवाद प्रकाशित करने का जिस द्वारा उनकी वास्तविक शिक्षाओं को जाना जा सके। स्वामी जी ने अब इन्हीं कार्यों की ओर ध्यान दिया।

(३) वेदभाष्य

वैदिक संहिताओं का आर्ष रीति से भाष्य और वेद-मन्त्रों के अर्थ को हिन्दी भाषा में प्रकट करने के कार्य का प्रारम्भ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७४ में ही कर दिया था, और बम्बई में निवास करते हुए इस भाष्य के सम्बन्ध में एक विज्ञापन भी उन द्वारा प्रचारित कर दिया गया था। जब स्वामी जी बम्बई से पुनः उत्तर प्रदेश आए, और काशी, अयोध्या आदि में उन्होंने निवास किया, तो उनका समय प्रधानतया वेद भाष्य करने में ही व्यतीत हुआ। इस काल में उन्होंने प्रचारकार्य एवं शास्त्रार्थ आदि की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसी के परिणामस्वरूप १ दिसम्बर, १८७६ तक (दिल्ली दरबार से पूर्व) स्वामी जी बहुत-से वेद मन्त्रों का भाष्य कर चुके थे, और 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' भी उन्होंने लिख दी थी। वेद भाष्य के प्रचार के लिए स्वामी जी ने जो विज्ञापन प्रकाशित कराया था, उसमें यह सूचित किया गया था कि 'संवत् १९३३ वि० मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णमासी (१ दिसम्बर, १८६६) पर्यन्त दस हजार श्लोकों का प्रमाण भाष्य बन गया है, और कम से कम ५० श्लोक और अधिक से अधिक १०० श्लोक पर्यन्त प्रतिदिन भाष्य के रचे जाते हैं।' इस विज्ञापन के अन्त में 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' के विषय में भी एक उल्लेख विद्यमान है, जो इस प्रकार है—"सो भूमिका के श्लोक, न्यून से न्यून संस्कृत और आर्य भाषा के मिलके आठ हजार हुए हैं।" इस ग्रन्थ की रचना स्वामी जी ने १८ अगस्त, १८७६ को तब प्रारम्भ की थी, जब कि वे अयोध्या में निवास कर रहे थे। तीन मास के लगभग समय में उन्होंने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखकर समाप्त कर दिया था, जो उनकी असाधारण प्रतिभा, विद्वत्ता तथा कार्यक्षमता के कारण ही सम्भव हुआ था। स्वामी जी देर तक अयोध्या में नहीं रहे थे। वहाँ से वे लखनऊ, बरेली आदि गये थे, और इन विविध नगरों का पर्यटन करते हुए भी उन्होंने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के कार्य को जारी रखा था। १८७७ के प्रारम्भ में इस ग्रन्थ को मुद्रण के लिए लाजरस प्रेस, काशी के पास भेज दिया गया था, जहाँ से उसके चौदह अंक (खण्ड) प्रकाशित हुए थे। शेष दो अंक बम्बई के निर्णय सागर प्रेस द्वारा छापे गए थे। 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में है। स्वामी जी ने स्वयं उसका संस्कृत भाग ही लिखा या लिखवाया था। उसका हिन्दी भाग पण्डितों द्वारा संस्कृत से अनुवाद के रूप में लिखा गया था। यही कारण है कि इनमें अनेक स्थानों पर विसंगति भी पायी जाती है।

जहाँ तक वेदभाष्य का सम्बन्ध है, स्वामी जी चारों वेदों का भाष्य नहीं कर सके थे। सामवेद और अथर्ववेद का भाष्य वे कर ही नहीं सके, और ऋग्वेद का भी सम्पूर्ण भाष्य उन द्वारा नहीं किया जा सका। चार वैदिक संहिताओं में केवल यजुर्वेद ही है, जिसका वे भाष्य पूरा कर सके थे। ऋग्वेद में १० मण्डल और १०५५२ मन्त्र हैं, जिनमें से स्वामी जी सप्तम मण्डल के बासठवें सूक्त के द्वितीय मन्त्र तक का ही भाष्य कर पाये थे। ऋग्वेद के १०५५२ मन्त्रों में से केवल ५६४९ मन्त्रों का ही स्वामी जी ने भाष्य किया। वेद भाष्य के मुद्रण की व्यवस्था भी सुगम नहीं थी, विशेषतया उसे शुद्ध रूप में छपवाने की। ऋग्वेद भाष्य सन् १८७८ के मध्य में मासिक रूप से मुद्रित होकर प्रकाशित होना प्रारम्भ हो गया था, और स्वामी जी के जीवन काल में उसके केवल ५१ अंक ही प्रकाशित हुए थे। शेष भाष्य बाद में मासिक रूप से छपता रहा, और स्वामी जी द्वारा लिखे गये ऋग्वेद भाष्य (५६४९ मन्त्र) के मुद्रण में बाईस वर्ष लगे। यजुर्वेद भाष्य का मुद्रण भी ऋग्वेद भाष्य के साथ-साथ ही मासिक अंकों के रूप में प्रारम्भ हो गया था। वह कुल ११७ अंकों में छपा, और उसका मुद्रण १८८९ ईस्वी में पूरा हुआ। यजुर्वेद भाष्य भी स्वामी जी के जीवनकाल में पूरा नहीं छप सका था।

वेदों पर भाष्य लिखने की तैयारी का कार्य स्वामी जी ने मुख्यतया उस समय में किया, जब कि वे बम्बई से उत्तर प्रदेश आ गये थे। दिल्ली दरबार के समय (१ जनवरी, १८७७) तक 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' तो लिखी ही जा चुकी थी, और वेदभाष्य का भी एक भाग तैयार हो गया था। इसीलिए १८७८ में उसका मुद्रण व प्रकाशन प्रारम्भ किया जा सका। अपने देहावसान तक स्वामी जी वेदभाष्य के कार्य में व्यापृत रहे, और धर्मप्रचार, समाज-सुधार तथा आर्यसमाज के संगठन सदृश कार्यों में लगे रहते हुए भी वेदों के भाष्य में तत्पर रहे। खेद है, कि अप्रत्याशित मृत्यु के कारण वे इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा नहीं कर सके। पर आंशिक रूप से वेदों का जो भाष्य वे कर गये, उसके कारण वेदों का वास्तविक अभिप्राय समझ सकने का मार्ग प्रशस्त हो गया। बाद में अनेक विद्वानों ने स्वामी जी द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर चारों वेदों पर भाष्य लिखे और आर्यसमाज के इन विद्वानों ने ऐसे वेदभाष्य तैयार कर दिये, जो आर्ष पद्धति के अनुरूप हैं।

वेदों के भाष्य के सम्बन्ध में स्वामी जी ने जो कार्य किया, ऐतिहासिक दृष्टि से उसका बहुत अधिक महत्त्व है। वेदों के अर्थ को जन साधारण की भाषा में प्रकट करना एक क्रान्तिकारी व प्रगतिशील पग था। अब तक यह समझा जाता था, कि वेद पढ़ने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है। शूद्रों के लिए तो उनका सुनना तक भी निषिद्ध था। पर स्वामी जी ने यह प्रतिपादित किया, कि मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने का अधिकार है। इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने यजुर्वेद का यह मन्त्र प्रस्तुत किया—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥ अध्याय २६-२

इस मन्त्र का विशद् रूप से अर्थ कर स्वामी जी ने अपने मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट किया—"क्या परमेश्वर शूद्रों का भला नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों को पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे? ... जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाए हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किए हैं।" पर सबके लिए वेदों को पढ़ सकना तभी सम्भव

हो सकता है, जब कि वे जनसाधारण की भाषा या भाषाओं में भी उपलब्ध हों। स्वामी जी प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया। उनसे पूर्व किसी भी भारतीय विद्वान् ने हिन्दी, गुजराती, बंगला आदि भारतीय भाषाओं में अविकल रूप से वेदों का अनुवाद नहीं किया था। इस कारण संस्कृत न जानने वाले सर्वसाधारण लोगों के लिए तो वेदों को पढ़ सकना सम्भव ही नहीं था, पर संस्कृतज्ञ पण्डित भी वेदों को नहीं समझ सकते थे। वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत से भिन्न है। लौकिक संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् के लिए भी वेदमन्त्रों के अभिप्राय को समझ सकना सुगम नहीं होता। इस दशा में ब्राह्मण वर्ग के विद्वानों में भी वेदों को पढ़ने का यही रूप रह गया था, कि वे उसके कुछ सूक्तों को कण्ठस्थ कर लें। हिन्दू धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदाय वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते थे, और उनकी महिमा का बखान भी करते थे। पर उनके आचार्यों ने वेदों की शिक्षाओं से अपने अनुयायियों को अवगत कराने की विशेष आवश्यकता नहीं समझी। शंकर, रामानुज आदि मध्यकालीन धर्माचार्यों ने अपने मन्तव्यों के प्रतिपादन के लिए ब्रह्मसूत्रों का आश्रय लिया, वेदों का नहीं। 'श्रुति' के रूप में जो प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत किए, वे भी वेदों के न होकर उपनिषदों के हैं। मध्य युग में हिन्दुओं के विविध सम्प्रदाय अपने मन्तव्यों के प्रतिपादन के लिए पुराणों का आश्रय लेने लग गए थे, और वेदों के अध्ययन की परिपाटी का संस्कृतज्ञ धर्माचार्यों में भी प्रायः अभाव हो गया था। पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदियों के सन्त-सुधारकों ने अपने मतों के प्रचार के लिए जनसाधारण की भाषाओं को अवश्य प्रयुक्त किया, पर उन्होंने वेदों को लोक भाषाओं में अनूदित करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, यद्यपि उनके महत्त्व का बखान करने में उन्होंने भी कमी नहीं की। इसी का यह परिणाम हुआ, कि लोगों को वेदों की शिक्षाओं को जान सकने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ, यद्यपि वे उन्हें एक अज्ञेय, सर्वोच्च ज्ञान-स्रोत के रूप में मानते रहे। हिन्दुओं में जो बहुत से मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ, उसका एक प्रधान कारण यह भी था, कि उनके धार्मिक नेता वेदों से कोई सीधा परिचय नहीं रखते थे, और वेदों के मन्तव्यों का उन्हें ज्ञान नहीं था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारत में सबसे पूर्व इस बात की आवश्यकता अनुभव की, कि वेदों का इस देश की प्रमुख लोक भाषा में अनुवाद किया जाए, ताकि सर्वसाधारण लोग वेदों की शिक्षाओं की स्वयं जानकारी प्राप्त कर सकें, अपने धर्म के सिद्धान्तों एवं आदर्शों को जानने के लिए वे दूसरों पर निर्भर न रहें, विशेषतया ऐसे पण्डितों पर, जो स्वयं भी वेदमन्त्रों के अभिप्राय को समझ सकने में असमर्थ थे।

मध्य युग में सर्वसाधारण ईसाई भी अपने धर्म-ग्रन्थ बाइबल का स्वयं पठन-पाठन नहीं कर सकते थे। उस समय प्रायः सारा यूरोप ईसाई धर्म को अपना चुका था, पर बाइबल किसी भी यूरोपियन लोकभाषा में उपलब्ध नहीं थी। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं में उसका अनुवाद नहीं हुआ था। मूल बाइबल हिब्रू भाषा में थी, पर प्राचीन काल में ही उसका लेटिन और ग्रीक भाषाओं में अनुवाद हो चुका था, और मध्य युग के ईसाई पादरी व धर्माचार्य इन्हीं प्राचीन भाषाओं में बाइबल का अध्ययन किया करते थे। सर्वसाधारण जनता इन भाषाओं से सर्वथा अपरिचित थी। इस कारण उसे स्वयं यह जान सकने का कोई भी अवसर नहीं था कि बाइबल की वास्तविक शिक्षाएँ क्या हैं। पादरी व धर्माचार्य उन्हें जो भी बता देते थे, वे उसी पर आँख मीचकर विश्वास कर लेते थे।

आधुनिक युग में जब लूथर ने सबसे पूर्व बाइबल का जर्मन भाषा में अनुवाद करने का प्रयत्न किया, तो ईसाई पादरियों द्वारा उसका बहुत विरोध हुआ। उस समय ईसाई धर्माचार्यों का भी यह मत था, कि बाइबल सदृश धर्मग्रन्थ का लोकभाषाओं में अनुवाद करना अनुचित है, और धार्मिक मन्तव्यों का प्रतिपादन उनका अपना विशेषाधिकार है, क्योंकि वे लैटिन व ग्रीक जानने के कारण बाइबल को पढ़ सकते हैं। पर लूथर का प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया। इस द्वारा जर्मन भाषा में बाइबल का अनुवाद कर देने पर जर्मनी के ईसाइयों को अपना धर्मग्रन्थ स्वयं पढ़ सकने का अवसर मिला, जिसके कारण यूरोप में धार्मिक सुधारणा के आन्दोलन को बहुत बल मिला, और धर्म पर पादरियों के एकाधिपत्य का अन्त होकर नवजागरण का सूत्रपात हुआ। जर्मन के पश्चात् फ्रेंच, अंग्रेजी आदि अन्य यूरोपियन भाषाओं में भी बाइबल के अनुवाद हुए, और अब तो वह समय आ गया है, जब कि संसार की प्रायः सभी भाषाओं में बाइबल के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। सब देशों के लोग अब अपनी-अपनी भाषाओं में बाइबल पढ़ सकते हैं। क्रिश्चिएनिटी के प्रचार में इससे बहुत सहायता मिली है। बाइबल में जो भी ज्ञान है, उसके जो भी मन्तव्य हैं, उन्हें सब कोई स्वयं जान सकते हैं। लूथर द्वारा बाइबल के सम्बन्ध में जिस नयी प्रवृत्ति का प्रारम्भ किया गया था, उसका यही महत्त्व है। वेदों के लिए यही कार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। उन्होंने संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में भी वेदों का भाष्य कर उनका ज्ञान सर्व-साधारण लोगों के लिए सुलभ बना दिया, और साथ ही अन्य लोकभाषाओं में भी वेदों को अनूदित किए जाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

वेदभाष्य की जो पद्धति स्वामी जी ने अपनाई, वह नयी नहीं थी। जिस पद्धति से ब्राह्मण और निरुक्त आदि प्राचीन ऋषिकृत ग्रन्थों द्वारा वेदों के अर्थ का निरूपण किया जाता था, मध्यकाल में वह सर्वथा उपेक्षित व विस्मृत हो गई थी। सायणाचार्य, महीधर और उव्वट आदि मध्यकालीन विद्वानों ने वैदिक शब्दों को विशिष्ट अर्थों में रूढ़ि मानकर वेदों के जो भाष्य किए थे, वे प्राचीन आर्ष सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं थे। प्राचीन भाष्य-कारों के इस मन्तव्य पर कि वैदिक शब्द 'यौगिक' हैं, मध्यकाल के सायण आदि विद्वानों ने कोई ध्यान नहीं दिया था। स्वामी जी ने अपना भाष्य वैदिक शब्दों को 'यौगिक' मानकर ही किया। उन्होंने 'अग्नि' शब्द को भौतिक आग के लिए रूढ़ि नहीं माना, अपितु ईश्वर, अग्रणी आदि विभिन्न अर्थों में उसे प्रयुक्त हुआ प्रतिपादित किया। स्वामी जी के वेदभाष्य की यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यूरोप में वेदों का अनुशीलन उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही प्रारम्भ हो गया था, और मैक्समूलर सदृश अनेक विद्वानों ने आधुनिक यूरोपियन भाषाओं में उनका अनुवाद व विवेचन भी शुरू कर दिया था। ये पाश्चात्य विद्वान् वेदों के प्रति श्रद्धा की भावना से उनके अनुशीलन के लिए तत्पर नहीं हुए थे। भारत में क्रिश्चिएनिटी के प्रचार में वे पादरियों की सहायता करना चाहते थे, और वेदों के अनुवाद में उनका एक विशेष प्रयोजन यह भी था, कि सुशिक्षित भारतीयों के सम्मुख वेदों का एक ऐसा स्वरूप प्रस्तुत कर दिया जाए जिससे अपने इन प्राचीन व मान्य ग्रन्थों के प्रति उनकी श्रद्धा रह ही न सके। उन्नीसवीं सदी में ईसाई पादरी भारत में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्न कर रहे थे। इस देश पर अंग्रेजों के शासन को स्थायी व सुदृढ़ रूप से स्थापित करने के लिए उन्हें यह उपयोगी प्रतीत होता था, कि यहाँ के निवासियों में अपने धर्म व संस्कृति के प्रति हीन भावना विकसित कर दी जाए, अंग्रेजों

को वे सब दृष्टियों से अपने से उत्कृष्ट समझने लगें, और सब बातों में अंग्रेजों का अन्धानुकरण करना वे अपने हित में मानने लगें। यद्यपि उस समय भारत में वेदों का पठन-पाठन न के बराबर था, पर हिन्दुओं के प्रायः सभी सम्प्रदाय उन्हें प्रमाण रूप से स्वीकार करते थे और जनता उनके प्रति श्रद्धा रखती थी। हिन्दुओं को ईसाई बनाने और उन्हें स्थायी रूप से अंग्रेजों का गुलाम बनाए रखने में यह बात सहायक हो सकती थी, कि वेदों में उन की श्रद्धा न रह जाए, वे उन्हें असभ्य व अर्ध-सभ्य लोगों की उक्तियाँ समझने लगें। ऐसा हो जाने पर जहाँ ईसाई पादरियों के लिए अपने धर्म का प्रचार कर सकना सुगम हो जाएगा, वहाँ साथ ही भारतीयों में अंग्रेजी सभ्यता की उत्कृष्टता का सिक्का जमा सकना भी सम्भव हो जाएगा। उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेदों का जो अध्ययन किया गया, और उनके जो अनुवाद यूरोप में प्रकाशित हुए, उस सब के पीछे यह विचार भी काम कर रहा था। मैक्समूलर सदृश विद्वानों ने अपने इस विचार को छुपाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं, कि ये विद्वान् वेदों को जिस रूप में प्रस्तुत कर रहे थे, उससे भारत में ईसाई धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिलती थी, और वेदों के अनुवाद में उनका एक प्रयोजन यह भी था। पर इसके लिए इन पाश्चात्य विद्वानों को पूर्णतया दोषी ठहरा सकना भी उचित नहीं है। जब उन्होंने वेदों का अनुशीलन प्रारम्भ किया, तो उनके सम्मुख सायण, महीधर आदि मध्यकालीन विद्वानों के भाष्य ही विद्यमान थे, और इन भाष्यों की सहायता के बिना वेदों की भाषा को समझ सकना सम्भव ही नहीं था। अतः उन्होंने वेद मन्त्रों के जो अर्थ किए, स्वाभाविक रूप से वे सायण आदि के भाष्यों के अनुसार थे। वस्तुतः, वे स्वतन्त्र वेदार्थ न होकर सायण, महीधर आदि द्वारा किए गए अर्थों के अनुवाद मात्र थे या प्रधानतया उन्हीं पर आधारित थे। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि सायण और महीधर आदि ने अपने भाष्यों के रूप में पाश्चात्य विद्वानों के हाथों में ऐसे हथियार दे दिए थे, जिनका उपयोग कर वे हिन्दू या आर्य धर्म की जड़ पर ही कुठाराघात कर सकते थे। पर वे ऐसा नहीं कर सके, क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने भाष्य द्वारा वेदों के वास्तविक स्वरूप को जनता के सम्मुख प्रकट कर दिया था। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए, तो स्वामी जी के वेदभाष्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम हमारे सम्मुख आ जाता है।

स्वामी जी का वेदभाष्य जब मासिक रूप से प्रकाशित होना शुरू हुआ या उससे भी पहले जब उसका नमूना प्रचारित किया गया, तो विद्वानों में उससे बहुत खलबली मची। यह आशा तो की ही नहीं जा सकती थी, कि सब कोई उसे स्वीकार कर लेंगे। संस्कृत के पाश्चात्य विद्वान् तो उसकी उत्कृष्टता व प्रामाणिकता को स्वीकृत ही कैसे कर सकते थे, भारतीय विद्वानों ने भी उससे असहमति प्रकट की। स्वामी जी के वेदभाष्य को देखकर इन लोगों में जो प्रतिक्रिया हुई, 'इण्डियन मिरर' कलकत्ता के एक लेख से उसका अनुमान किया जा सकता है—"पण्डित दयानन्द सरस्वती को विदित हो कि उन्होंने वेदों के अपने विलक्षण तथा उत्तम भाष्य से भिड़ों के एक बहुत बड़े छत्ते को छेड़ दिया है। स्वामी जी की वेदभाष्यपत्रिका पर प्रोफेसर टॉनी और ग्रीफिथ जैसे विद्वानों ने आक्षेप किए हैं, जिसके परिणामस्वरूप दो प्रबल पक्षों के बीच शास्त्रार्थ छिड़ गया है।" स्वामी जी के वेदभाष्य के सम्बन्ध में जो उट्टंकनाएँ प्रारम्भ हुईं, उनका एक उदाहरण 'थियोसोफिस्ट' पत्र के मार्च, १८८३ के अंक से दिया जा सकता है—"वेद ईश्वर की

वाणी है, इसलिए अभ्रान्त है। आर्य धर्म और स्वामी दयानन्द जी का यह मूल मन्तव्य है।...यदि इस मन्तव्य को कि वेद अभ्रान्त है सत्य मान लें, तो इसका यह अर्थ होगा कि वेद के उपदेश भी अभ्रान्त हैं, क्योंकि वेदों में भ्रान्ति का अस्तित्व या अनस्तित्व उनके भाष्यकारों के हाथ में है। स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य भी तभी अभ्रान्त हो सकता है जब वे स्वयं भी ईश्वर के तुल्य हों और उन्हें ईश्वर की पूर्ण प्रेरणा प्राप्त हो। इसलिए मैं ललकार कर कहता हूँ कि स्वामी जी अपने मूल मन्तव्य को प्रमाणित करें और अपनी प्रेरणा का प्रमाण दें।" इस लेख के लेखक श्री ए० ओ० ह्यूम थे, जिनका भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रादुर्भाव में महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था और जिनके प्रयत्न से सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल काँग्रेस की स्थापना हुई थी। श्री ह्यूम ने अपने लेख में स्वामी जी के वेदभाष्य के सम्बन्ध में जो उट्टंकना की थी, उसी को लेकर कलकत्ता के 'भारत मित्र' में भी लेख प्रकाशित हुए थे, जिनका उत्तर भी स्वामी जी ने दिया था। उसमें उन्होंने लिखा था, कि "जो उन्होंने लिखा है कि स्वामी जी ईश्वर व ईश्वर की प्रेरणायुक्त हों, तो उनका भाष्य निर्भ्रम हो सके, इसका उत्तर यह है कि मैं ईश्वर नहीं किन्तु ईश्वर का उपासक हूँ, परन्तु वेद मनुष्यों के हितार्थ परमात्मा ने प्रकाशित किए हैं। इस अभिप्राय से जहाँ तक मनुष्यों को विद्या और बुद्धि है, इतना निष्पक्ष होकर वेदों का अर्थ प्रकाश करता हूँ और वह सब सज्जनों को दृष्टिगोचर हुआ है और होगा भी। यदि कहीं भ्रान्ति हो तो उक्त सज्जन प्रकट करें।...यदि मेरे बनाए इस वेदभाष्य में मिस्टर ए० ओ० ह्यूम साहब को भ्रम हो तो उसमें से भ्रान्तिमत्व किसी मन्त्र के भाष्य के द्वारा आप समाचार-पत्र द्वारा छपवा देवें। मैं उत्तर भी आपके पत्र द्वारा ही दूँगा।" (२ अगस्त, १८८३)

यह सर्वथा स्पष्ट है, कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस आर्ष पद्धति को अपना कर वेदभाष्य करना प्रारम्भ किया था, उससे केवल संस्कृत के विद्वानों में ही नहीं, अपितु उन लोगों में भी खलबली मच गई थी, जो भारत की राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे, पर जो इस देश की उन्नति के लिए प्रेरणा उस विचारसरणी से प्राप्त कर रहे थे जिसका प्रादुर्भाव उस समय पाश्चात्य संसार में हो रहा था। भारत के नव-जागरण के स्वामी जी के साधन इन लोगों के साधनों से सर्वथा भिन्न थे। वे अपने धर्म, संस्कृति और परम्पराओं के प्रति आस्था रखते हुए देश की उन्नति के पक्षपाती थे और उसके लिए सब प्रेरणा वेदादि सत्य शास्त्रों और भारत के गौरवमय अतीत से ही प्राप्त कर रहे थे। मिस्टर ह्यूम सदृश व्यक्तियों ने भी उनके वेद भाष्य का जो विरोध किया, सम्भवतः उसका यही कारण था। पर यह स्वीकार करना होगा, कि सदियों या सह-स्राब्दियों पश्चात् वेदों के अर्थ को प्रकाशित करने के लिए स्वामी जी ने जिस आर्ष पद्धति को अपनाया, उसने न केवल भारत अपितु संसार के धार्मिक इतिहास में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। यही नहीं, वेदों में विज्ञान के तथ्यों की सूत्र रूप से सत्ता तथा प्राचीन आर्यों की भौतिक व वैज्ञानिक उन्नति के सम्बन्ध में जो मन्तव्य स्वामी जी ने प्रतिपादित किए, वे पाश्चात्य विद्वानों की उस विचारसरणी के लिए एक प्रबल चुनौती हैं, जो विकासवाद पर आधारित है।

वेदभाष्य विषयक इस प्रकरण में इस बात का उल्लेख कर देना भी उपयोगी है कि जब स्वामी जी लाहौर में थे, तो उन्होंने यह प्रयत्न भी किया था कि पंजाब सरकार

से वेद भाष्य के लिए अनुदान प्राप्त किया जाए, और कालिजों में संस्कृत के पाठ्यक्रम में जहाँ वेदों के लिए अन्य भाष्यों को पढ़ाया जाता है वहाँ उनके भाष्य को भी पढ़ाया जाया करे। इस प्रयोजन से स्वामी जी पंजाब सरकार के अनेक पदाधिकारियों से मिले और वहाँ के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर से भी उन्होंने भेंट की। वेदभाष्य का एक नमूना भी स्वामी जी की ओर से इनके पास भेज दिया गया। सरकार ने उसे पंजाब यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार के पास प्रेषित कर दिया, और उन्होंने बनारस संस्कृत कालिज के प्रिंसिपल श्री आर० ग्रीफिथ, कलकत्ता प्रेजिडेन्सी कालिज के प्रिंसिपल श्री सी० एच० टॉनी, और लाहौर के तीन संस्कृत पण्डितों से उस पर सम्मति देने का निवेदन किया। इनकी सम्मतियाँ स्वामी जी के वेदभाष्य के अनुकूल नहीं थीं। पंजाब यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार डा० लाइटनर द्वारा उन्हें सरकार के पास भेज दिया गया। इन सम्मतियों के विषय में जानकारी प्राप्त हो जाने पर स्वामी जी ने उनका उत्तर तैयार किया, और लाहौर आर्यसमाज द्वारा एक पत्र २५ अगस्त, १८७७ को पंजाब सरकार के पास भेजा गया, जिसके साथ स्वामी जी का वह पत्र भी संलग्न था, जिसमें पण्डितों द्वारा उनके वेदभाष्य पर किए गए आक्षेपों का उत्तर दिया गया था। उस समय तक लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना की जा चुकी थी, और उसके सभासद एवं पदाधिकारी बड़े उत्साह के साथ अपने कार्य में तत्पर थे। आर्यसमाज की ओर से जो पत्र इस समय सरकार के पास भेजा गया, उसमें निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया था—(१) वेदों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जो भाष्य अब तक उपलब्ध रहे हैं, और जिनको दृष्टि में रखकर अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों का आधुनिक यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद किया है, उनकी रचना प्राचीन न होकर मध्य युग की है। सायण, महीधर और उव्वट सदृश भारतीय भाष्यकार उस काल में हुए थे, जब कि वेदों का पठन-पाठन एक विगत काल की बात हो चुकी थी और वेदार्थ करने की परम्परा का प्रायः अन्त हो गया था। (२) पर इन भाष्य-कारों से बहुत पहले एक ऐसा समय था, जब कि वेदों के अर्थ को समझने के लिए ब्राह्मण, निरुक्त, निघण्टु, पाणिनीय व्याकरण सदृश ग्रन्थों की रचना की गई थी, और उन्हीं के अनुसार वेदों का अध्ययन-अध्यापन हुआ करता था। यह काल महाभारत युद्ध से भी पहले था। इस अत्यन्त प्राचीन काल में वेदमन्त्रों के जो अर्थ किए जाते थे, वे उनसे बहुत भिन्न हैं, जो बाद में सायण आदि विद्वानों द्वारा किए गए, और जिनका अनुकरण आधुनिक युग के पाश्चात्य व भारतीय विद्वान् कर रहे हैं। यह आवश्यक व उपयोगी है, कि निरुक्त, निघण्टु सदृश प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार वेदार्थ जिस ढंग से किए जाने चाहिएँ, उसे भी विद्वत्समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए, ताकि सब कोई निष्पक्ष होकर वेदों के वास्तविक अभिप्राय से अवगत हो सकें। इससे वेद-सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य में भी सहायता मिलेगी। (३) स्वामी दयानन्द सरस्वती जो वेदभाष्य कर रहे हैं, वह प्राचीन परम्परा के अनुसार है। उस द्वारा वेद मन्त्रों के वे अर्थ प्रकाश में आ जाएँगे, जो महाभारत काल से पूर्व आर्य विद्वान् उनके किया करते थे। तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्वामी जी का भाष्य बहुत उपयोगी होगा। (४) भारतीय भाषा विज्ञान का प्रारम्भ वेदों के अध्ययन से ही किया जा सकता है, अतः उनके सम्बन्ध में जानकारी बढ़ाना आवश्यक है। (५) हिन्दुओं में जो अनेकविध भ्रान्त धारणाओं की सत्ता है और उनके मस्तिष्क में जो विविध अन्धविश्वास बद्धमूल हैं, उनके निवारण में वेदों की सत्य शिक्षाओं के निरूपण से बहुत

सहायता मिलेगी। (६) स्वामी जी के वेदभाष्य के प्रकाशन से लोगों में सत्य के अनुसन्धान की जो प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हुई है, उसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। (७) वेदों के अनेक यूरोपियन विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि कतिपय वेदमन्त्र इतने गूढ़ हैं कि उनका अर्थ समझ में नहीं आता। उनमें प्रयुक्त हुए शब्दों के जो अर्थ किए गए हैं, वे प्रायः अनुमान पर आधारित हैं और उनसे कोई स्पष्ट व सुसम्बद्ध अर्थ नहीं निकलता। यही कारण है जो एक ही वेदमन्त्र के अर्थ विविध पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से किए हैं। वेदमन्त्रों के अर्थ के सम्बन्ध में इस अनिश्चितता को दूर करने में भी स्वामी जी के वेदभाष्य से सहायता मिलेगी।

खेद है, कि इतने युक्तियुक्त ढंग से लिखे गए पत्र का पंजाब सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, और १४ नवम्बर, १८७७ के पत्र द्वारा स्वामी जी तथा आर्यसमाज लाहौर को यह सूचना दे दी गई कि सरकार स्वामी जी के वेदभाष्य के लिए कोई सहायता प्रदान नहीं कर सकती।

इस समय लाहौर आर्यसमाज की ओर से जो आवेदन-पत्र सरकारी सहायता के लिए भेजा गया था, और जिसके साथ स्वामी का वह उत्तर भी संलग्न था जो उन्होंने अपने वेदभाष्य के आलोचकों को दिया था, उसके अनुशीलन से यह बात भी भली भाँति स्पष्ट हो जाती है कि स्वामी जी उस साहित्य से सुचारु रूप से परिचित थे जो उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध एवं तृतीय चरण में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेदों के सम्बन्ध में लिखा जा रहा था। ब्रिटेन, जर्मनी आदि के विद्वान् जिस ढंग से वेदों का अर्थ करने में तत्पर थे, स्वामी जी को उसकी समुचित जानकारी थी। वेदभाष्य के अपने आलोचकों को उत्तर देते हुए स्वामी जी ने आर० ग्रीफिथ, कोलब्रुक, चार्ल्स कोलमैन, रेवरेन्ड गैरट, मैक्समूलर, विल्सन और प्रिंसिपल टॉनी सदृश पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों तथा मन्तव्यों का उल्लेख किया है, और लाहौर आर्यसमाज द्वारा पंजाब सरकार को भेजे गए पत्र में स्टीवन्सन, बैनफी, रॉथ और बोल्लेन्सन के भी मत उद्धृत किए गए हैं। १८७७ में लाहौर आर्यसमाज का कोई पदाधिकारी व सदस्य ऐसा नहीं था, जो वेदों का विद्वान् हो। अतः इन पाश्चात्य विद्वानों के मत भी स्वामी जी के निदेशन से ही उल्लिखित किए गए होंगे, यह मानना असंगत नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वेदों का भाष्य करते हुए स्वामी जी जहाँ प्राच्य विद्वानों द्वारा किए गए वेदभाष्यों से भली भाँति परिचित थे, वहाँ साथ ही पाश्चात्य विद्वानों का वेद सम्बन्धी अध्ययन भी उनकी जानकारी में था। इसीलिए वे यह लिख सके थे कि "मुझे विश्वास है कि यदि मिस्टर ग्रीफिथ के पास वे पुराने भाष्य या प्रमाण होते जो मैंने दिए हैं, तो वे सर्वथा उसके विरुद्ध सम्मति देते जो उन्होंने अब दी है। सायण, महीधर और उब्बट के भाष्य पूर्व काल के भाष्यों के सर्वथा विपरीत हैं, और ये ही वे भाष्य हैं जिनका मैक्समूलर और विल्सन ने अनुवाद किया है। अतः ये ठीक प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते और ये ही वे पुस्तकें हैं जिनसे मिस्टर ग्रीफिथ और अन्य समीक्षकों ने धोखा खाया।"

स्वामी जी के वेदभाष्य की संस्कृत के उन भारतीय विद्वानों ने भी प्रतिकूल आलोचना की थी, जिनके पास पंजाब सरकार द्वारा वेदभाष्य का नमूना सम्मति के लिए भेजा गया था। ये विद्वान् पण्डित गुरुप्रसाद, पण्डित हृषीकेश और पण्डित भगवानदास थे, जो तीनों ओरिएण्टल कॉलिज लाहौर में प्राध्यापक थे। इनकी आलोचना के भी

स्वामी जी ने युक्तिसंगत उत्तर दिए थे। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक भारतीय विद्वान् थे, जिन्होंने कि स्वामी जी के वेदभाष्य की प्रतिकूल आलोचना की थी। इनमें कलकत्ता के पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे १८७६ में संस्कृत कॉलिज, कलकत्ता में स्थानापन्न प्रिंसिपल के रूप में कार्यरत थे। उनकी आलोचना का जो उत्तर स्वामी जी ने दिया, वह बाद में 'भ्रान्ति निवारण' नाम से एक पृथक् पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ। यद्यपि इस पुस्तिका में केवल ५६ पृष्ठ हैं, पर इसका महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि वेदभाष्य के सम्बन्ध में स्वामी जी का दृष्टिकोण इससे भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। इस पुस्तिका की भूमिका में स्वामी जी ने लिखा है कि "विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का प्रारम्भ किया है जो कि सब प्राचीन ऋषियों की की हुई व्याख्या और अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता जिससे इस बात की साक्षी के वे सब ग्रन्थ आज पर्यन्त वर्तमान हैं।" वेदभाष्य के लिए स्वामी जी ने जिन प्राचीन ग्रन्थों की सहायता ली थी, संख्या में वे बहुत अधिक थे। उन्होंने लिखा है कि "क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।" स्वामी जी के इस कथन से यह अनुमान किया जा सकता है, कि उन्होंने वेदों के वास्तविक अभिप्राय को समझने व प्रतिपादित करने के लिए कितना परिश्रम किया था, और कितने प्राचीन ग्रन्थों का उन्होंने आश्रय लिया था। इस दशा में यह स्वाभाविक ही था, कि उन भारतीयों तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गये वेदमन्त्रों के अनुवादों से उन्हें उद्वेग का अनुभव हुआ हो, जो प्राचीन ऋषिकृत ग्रन्थों को न पढ़कर सायण आदि मध्यकालीन भाष्यकारों पर ही निर्भर रहते थे।

(४) पंजाब में आर्यसमाजों की स्थापना

जनवरी, १८७७ के प्रारम्भ में लार्ड लिटन ने दिल्ली में जिस दरबार का आयोजन किया था, उसमें पंजाब से भी बहुत-से लोग सम्मिलित हुए थे। इनमें सरदार विक्रमसिंह अहलूवालिया, पण्डित मनफूल, मुंशी हरसुखराय तथा श्री कन्हैयालाल अलखधारी भी थे, जो बहुधा स्वामी जी के पास आते-जाते रहते थे। उन्होंने स्वामी जी से पंजाब आने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। १६ जनवरी को स्वामी जी दिल्ली से मेरठ गये और वहाँ से सहारनपुर होकर चाँदापुर। चाँदापुर के मेले में ईसाइयों और मुसलमानों से उनका जो शास्त्रार्थ हुआ, उसका वर्णन इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। २३ मार्च, १८७७ को स्वामी जी ने चाँदापुर से प्रस्थान किया, और मार्ग में कुछ दिन सहारनपुर में विश्राम कर ३१ मार्च को वे लुधियाना पहुँच गये। स्वामी जी पंजाब में सोलह मास के लगभग रहे। इस बीच आठ महीने के लगभग उन्होंने लाहौर और अमृतसर में व्यतीत किये, और शेष समय रावलपिण्डी, जालन्धर, मुलतान, गुजरात, गुजरांवाला, लुधियाना, जेहलम, गुरुदासपुर, फीरोजपुर और वजीराबाद में। प्रायः इन सब में उन्होंने आर्यसमाजों की स्थापना की। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान, स्वदेश की उन्नति तथा मानव मात्र के कल्याण के उद्देश्य से बम्बई में स्वामी जी ने आर्यसमाज के रूप में जिस संगठन का सूत्रपात किया था, पंजाब में उसका खूब विस्तार हुआ। वस्तुतः, पंजाब में उन्हें जिस प्रकार से अनुपम सफलता प्राप्त हुई, वैसी इससे पूर्व अन्यत्र

कहीं नहीं हुई थी। आर्यसमाज के संगठन का जो स्वरूप वर्तमान समय में है, उसके नियमों तथा उपनियमों का निर्धारण लाहौर में ही किया गया था। आर्यसमाज के इतिहास में पंजाब में स्वामी जी के निवास के सोलह महीनों (मार्च, १८७७ के अन्त से १८७८ के जुलाई मास के तृतीय सप्ताह तक) का बहुत अधिक महत्त्व है।

पंजाब पर ब्रिटिश शासन को स्थापित हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। सन् १८४६ तक यह प्रदेश अंग्रेजों के प्रभुत्व से मुक्त था। इस कारण वहाँ के निवासियों पर विदेशी शासन के कुप्रभाव अभी अधिक नहीं पड़े थे, और न ही वहाँ क्रिश्चिएनिटी का अधिक प्रचार हुआ था। अंग्रेजी शिक्षा का भी वहाँ अभी आदि काल ही था। पंजाब के लोगों ने स्वामी जी के मन्तव्यों को क्यों अधिक उत्साह व सुगमता के साथ ग्रहण किया, इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार किया जाएगा। यहाँ इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना ही पर्याप्त है, कि महाराष्ट्र तथा गुजरात-काठियावाड़ के क्षेत्र में अठारह मास निवास कर स्वामी जी केवल एक आर्यसमाज की स्थायी रूप से स्थापना कर सके थे, पर सोलह महीनों में पंजाब के जिस किसी भी नगर में वे गये, वहाँ आर्यसमाज स्थापित होते गये और वे भी स्थायी रूप से। पंजाब में स्वाजी जी की यह अनुपम सफलता थी।

३१ मार्च, १८७७ को स्वामी जी लुधियाना आये थे। वे वहाँ दो सप्ताह के लगभग रहे। इस काल में प्रायः प्रतिदिन उनके व्याख्यान होते रहे, और लोग बहुत बड़ी संख्या में स्वामी जी के दर्शन करने एवं व्याख्यान सुनने के लिए आते रहे। १९ एप्रिल को वे लाहौर आए। सिक्खों के शासनकाल में लाहौर पंजाब की राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र हो गया था, और अन्य नगरों की तुलना में वहाँ के निवासी बहुत उद्बुद्ध थे। बंगालियों की संख्या भी वहाँ बहुत पर्याप्त थी। अपना शासन स्थापित हो जाने पर ब्रिटिश शासकों को जिन अंग्रेजी जानने वाले भारतीय कर्मचारियों की आवश्यकता थी, उन्हें वे बंगाल से ही ला सके थे क्योंकि तब पंजाब में अंग्रेजी जानने वाले लोगों का प्रायः अभाव था। अंग्रेजी शासन के साथ-साथ अंग्रेजी न्यायालय एवं शिक्षणालय भी पंजाब में स्थापित हुए, जिनके लिए वकील, शिक्षक आदि भी बंगाल से ही आए। इस दशा में लाहौर में बंगालियों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास करना स्वाभाविक था। बंगालियों के साथ ही ब्राह्मसमाज का भी वहाँ प्रवेश हो गया था, और अनेक शिक्षित सज्जन भी इस सुधारवादी व प्रगतिशील संगठन के प्रभाव में आ गये थे, और उसकी सदस्यता भी उन्होंने ग्रहण कर ली थी। लाहौर में ब्राह्मसमाज की स्थापना सन् १८६३ में हुई थी। प्रारम्भ में उसके दस सदस्य थे, जिनमें छह बंगाली और चार पंजाबी थे। शीघ्र ही पंजाब में अन्यत्र भी अनेक नगरों में ब्राह्मसमाज स्थापित हो गये, और १८७७ में जब स्वामी जी पंजाब पहुँचे, तो लाहौर के अतिरिक्त रावलपिण्डी, अमृतसर और मुलतान में भी समाज की शाखाएँ विद्यमान थीं। कलकत्ता के ब्राह्मसमाज के समान पंजाब के समाज द्वारा भी शिक्षणालयों की स्थापना की जा रही थी, और अपने मन्तव्यों के प्रचार के प्रयोजन से उसने एक प्रकाशन-गृह एवं मुद्रणालय भी खोल लिया था। उर्दू और हिन्दी भाषाओं में एक मासिक पत्र का प्रकाशन भी उस ने प्रारम्भ कर दिया था। ब्राह्मसमाज के कार्य से प्रभावित होकर कतिपय अन्य संगठन भी पंजाब में स्थापित हो गये थे। ऐसा एक संगठन 'सत् सभा' के रूप में था, जिसे सन्

१८६६ में लाला बिहारीलाल ने स्थापित किया था। ये सज्जन पहले ब्राह्मसमाजी थे, पर कतिपय मामलों में उस समाज से मतभेद होने के कारण उन्होंने सत् सभा की स्थापना कर ली थी। कुछ नगरों में 'हिन्दू सभा' नाम से एक अन्य संगठन की भी सत्ता थी, जिसका उद्देश्य ईसाइयों के प्रभाव से हिन्दुओं को बचाना तथा उन्हें अपने धर्म पर दृढ़ रहने के लिए प्रेरित करना था। इन विविध सुधारवादी संगठनों की सत्ता से यह स्पष्ट है, कि उन्नीसवीं सदी के तृतीय चरण में पंजाब भी नवीन प्रगतिशील प्रवृत्तियों से अछूता नहीं था, और वहाँ के लोग एक ऐसे सुधारक विद्वान् का स्वागत करने के लिए तैयार थे, अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति जो गौरव अनुभव करता था, पर साथ ही जिसके विचार अत्यन्त प्रगतिशील व क्रान्तिकारी थे। यही कारण है, जो दिल्ली दरबार के अवसर पर पंजाब के अनेक सुशिक्षित व सुधारवादी महानुभावों ने स्वामी जी से पंजाब में पधारने के लिए आग्रहपूर्वक प्रार्थना की थी।

१९ एप्रिल, १८७७ को लाहौर आकर स्वामी जी दीवान रतनचन्द के बाग में ठहरे। लोग अच्छी बड़ी संख्या में उनसे शास्त्रचर्चा के लिए आने लगे, और उन्होंने पहला सार्वजनिक व्याख्यान २५ एप्रिल को बावली साहब में दिया। इसके पश्चात् उनके व्याख्यान निरन्तर होते रहे। स्वामी जी अपने व्याख्यानों में क्या कुछ कहते थे, और जनता पर उनका क्या प्रभाव पड़ता था, इसे स्पष्ट करने के लिए 'अखबारे-आम' नामक पत्र के २ मई, १८७७ के अंक के एक लेख के कुछ अंश उद्धृत करना उपयोगी होगा—

"एक सप्ताह हुआ कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी लाहौर में विराजमान हैं। आप साधुओं के वेश में रहते हैं और नगर-नगर में यह उपदेश करते फिरते हैं कि चारों वेद ईश्वरीय पुस्तकें हैं, और संसार का सब ज्ञान इन पुस्तकों में विद्यमान है। कोई बात ऐसी नहीं, जो इन पुस्तकों से बाहर हो। भारत के प्राचीन निवासी प्रत्येक विद्या और कला में निपुण थे। रेल चलाना वे जानते थे, तार द्वारा समाचार पहुँचाते थे, अमरीका का उन्हें ज्ञान था। वैद्यक विद्या, राजनीति, तर्क विद्या, उनके यहाँ पूर्ण थी, परन्तु उनकी बहुत-सी पुस्तकों का नाश हो गया और फूट ने उनकी वह दशा कर दी जो हम आज देखते हैं। वेद में मूर्तिपूजा का कहीं वर्णन नहीं और न चाँद, सूरज, अग्नि और वायु की पूजा की शिक्षा है। जो लोग ऐसा समझे हुए हैं, वे भारी भ्रान्ति में हैं। स्वामी जी वेद का भाष्य लिख रहे हैं, और उसके कई भाग छप भी चुके हैं। उनकी दृष्टि में जो धर्म वेद का है वही सच्चा धर्म है। हमने भी स्वामी जी के दो व्याख्यान सुने हैं। वास्तविकता यह है कि स्वामी जी बड़े कुशाग्र बुद्धि हैं, और आज भारत में वेदों को समझने वाला उनके समान कोई नहीं सुना जाता।... स्वामी जी भारत के नव-शिक्षितों से इस बात पर सहमत हैं कि जात-पाँत कोई वस्तु नहीं है। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण वह है जो ब्राह्मणों के काम करे, अन्यथा वह शूद्र से भी निकृष्ट है। शूद्र का अर्थ अनपढ़ के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। आपस में खाने-पीने का परहेज जो इन दिनों इस देश में प्रचलित है, और चिर काल से चला आ रहा है, वह उनकी दृष्टि में झूठा है। वेदों में इस प्रथा का कोई मूल नहीं। विधवाओं का विवाह कर देना उचित है, यह कोई दोष की बात नहीं। छोटे-छोटे लड़कों और लड़कियों का विवाह नहीं करना चाहिए। संस्कृति की बातों ने ब्राह्मणों को स्वामी जी का शत्रु बना दिया है, परन्तु उनको इसकी कोई चिन्ता नहीं। वह अपने काम में साहसपूर्वक लगे हुए हैं। जो लोग इस देश के हितचिन्तक हैं और उसकी उन्नति के इच्छुक हैं, उनको चाहिए

कि तन, मन, धन से स्वामी जी की सहायता करें।"

जात-पाँत और बाल-विवाह के विरोध तथा विधवा विवाह के समर्थन आदि में स्वामी जी जो व्याख्यान दे रहे थे, उनसे पौराणिक पण्डितों का उद्विग्न होना सर्वथा स्वाभाविक था। जब वे तर्क और प्रमाण से उनके मन्तव्यों का खण्डन नहीं कर सके, तो वे नीचता पर उतर आए। जिस बाग में स्वामी जी ठहरे हुए थे, उसके मालिक दीवान रतनचन्द के पुत्र दीवान रतनदास के पास जाकर उन्होंने कहा कि स्वामी जी मूर्तिपूजा का खण्डन और देवताओं की निन्दा करते हैं। वे ईसाइयों की ओर से लोगों को हिन्दूधर्म से विमुख करने के लिए नियुक्त हैं। अतः आप उन्हें अपने बाग में ठहरने न दें। जब यह बात स्वामी जी को मालूम हुई, तो वे स्वयं उस बाग से चले गए और खाँ बहादुर डा० रहीम खाँ की कोठी पर निवास करने लगे। स्वामी जी वहाँ डेढ़ मास के लगभग रहे और वहाँ निवास करते हुए ही उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। अक्टूबर मास में जब स्वामी जी दूसरी बार लाहौर आये थे, तब भी उन्होंने एक मुसलिम सज्जन के बगीचे में निवास किया था। इन सज्जन का नाम नवाब रजा अली खाँ था। केवल लाहौर में ही नहीं, अपितु जोधपुर आदि अन्य भी अनेक नगरों में स्वामी जी का मुसलमानों के निवास-स्थानों पर रहना यह सूचित करता है कि इस्लाम के अनुयायियों (यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि किसी भी धर्म के अनुयायियों) से स्वामी जी को कोई भी विरोध व विद्वेष नहीं था। वे वैदिक धर्म के सत्य स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए प्रयत्नशील थे, और किसी धर्म व सम्प्रदाय की उन्हीं बातों का खण्डन करते थे जो तर्कसंगत न हों या जिनसे मानवसमाज के हित, कल्याण एवं उन्नति में बाधा पड़ती हो। उस समय के मुसलमान भी स्वामी जी को अपना शत्रु व विरोधी नहीं मानते थे। इस प्रसंग में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है, कि लाहौर में किसी हिन्दू ने स्वामी जी को अपने स्थान पर निवास के लिए क्यों आमन्त्रित नहीं किया? हिन्दुओं में जो लोग सनातन धर्म के अनुयायी थे, उनसे तो यह आशा की ही नहीं जा सकती थी कि वे एक ऐसे व्यक्ति को अपने घर पर ठहराएँ जो मूर्तिपूजा का विरोधी हो, जात-पाँत को न मानता हो, वर्णभेद का आधार जिसकी दृष्टि में जन्म न होकर गुण, कर्म व स्वभाव हो और जो पाखण्ड एवं अन्धविश्वासों का घोर विरोधी हो। जो हिन्दू ब्राह्मसमाज के सदस्य थे, वे अवश्य स्वामी जी के प्रगतिशील मन्तव्यों के समर्थक थे। स्वामीजी ने ब्राह्मसमाज के मन्दिर में दो व्याख्यान भी दिए थे। पर उन्हें सुनकर ब्राह्मसमाजी भी उनसे नाराज हो गए थे, क्योंकि स्वामीजी ने उनमें वेदों के ईश्वरकृत होने तथा आवागमन के सिद्धान्त की पुष्टि की थी। ये दोनों ही बातें ब्राह्मसमाजियों को स्वीकार्य नहीं थीं। परिणाम यह हुआ कि वे भी स्वामीजी के विरोधी हो गये, और उनके किसी नेता ने उन्हें अपने पास ठहराने के लिए उत्साह प्रदर्शित नहीं किया।

यद्यपि पौराणिक तथा ब्राह्मसमाजी विचारों के व्यक्ति स्वामी जी के विरोधी थे, पर लाहौर में ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं थी, जो उनके व्याख्यानों से अत्यधिक प्रभावित थे और उनके विचारों व मन्तव्यों को युक्तियुक्त तथा देश व मानव-समाज के लिए हितकारी समझते थे। स्वामी जी के प्रवचनों को सुनकर बहुत-से हिन्दुओं का विश्वास मूर्तिपूजा से उठ गया, और उन्होंने देवमूर्तियों को रावी नदी में प्रवाहित कर दिया। वैदिक धर्म के सत्य स्वरूप की ओर वे आकृष्ट हुए और उसका प्रचार-प्रसार करने के प्रयो-

जन से आर्यसमाज की स्थापना के लिए उद्यत हो गए। २४ जून, १८७७ के दिन लाहौर में पहले आर्यसमाज की स्थापना हुई, और उसका पहला अधिवेशन डा० रहीम खाँ की कोठी पर हुआ। अधिवेशन के साथ-साथ उस दिन आर्यसमाज का स्थापना-समारोह भी था, जिसमें सबसे पूर्व स्वामी जी ने ईश्वर की उपासना की और फिर हवन हुआ। हवन के पश्चात् श्री शारदा प्रसाद भट्टाचार्य ने एक व्याख्यान दिया, और उसके अनन्तर समारोह का समापन करते हुए स्वामी जी ने कहा कि अब हमें यह आशा हो गई है कि आप सब सत्यधर्म का यथावत् पालन करते रह सकेंगे। आर्यसमाज का दूसरा अधिवेशन १ जुलाई को सत्सभा के स्थान पर हुआ, जिसमें स्वामी जी ने युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित किया कि पुराणों की कितनी ही बातें वेदविरुद्ध हैं। इससे सत्सभा के लोग रुष्ट हो गये, और उन्होंने निश्चय किया कि आर्यसमाज के अधिवेशन उनके स्थान पर न होने दिए जाएँ। यह निर्णय सत्सभा के सदस्यों की संकीर्ण मनोवृत्ति का सूचक है। वस्तुतः, बात यह थी कि स्वामी जी के प्रवचन को सुनकर बहुत-से लोगों की सत्सभा पर से आस्था हटने लग गई थी। इस सभा के सदस्य पौराणिक मान्यताओं पर विश्वास रखते थे, और उन्हें भय था कि स्वामी जी के उपदेशों से लोगों में पुराणों पर श्रद्धा नहीं रह जाएगी। सत्सभा के निर्णय को जानकर लाहौर के अनारकली क्षेत्र में एक मकान बीस रुपए मासिक पर किराये पर ले लिया गया, और ८ जुलाई, १८७७ से आर्यसमाज के अधिवेशन वहीं पर होने लगे। लाहौर में आर्यसमाज के लिए बहुत उत्साह था। इसीलिए जुलाई पूरा होने से पूर्व केवल एक मास के स्वल्प काल में उसके सदस्यों की संख्या ३०० तक पहुँच गई थी। पंजाब के इस प्रथम आर्यसमाज के एक वर्ष के लिए जो पदाधिकारी चुने गए थे, उनकी सूची उपलब्ध है। लाला मूलराज एम० ए० समाज के प्रधान निर्वाचित हुए थे, और श्री शारदाप्रसाद भट्टाचार्य, लाला साईंदास तथा लाला जीवनदास मन्त्री। इनके अतिरिक्त उपप्रधान, उपमन्त्री, कोषाध्यक्ष, पुस्तकाध्यक्ष और अन्तरंग सभा के सदस्यों का भी चुनाव कर लिया गया था। बम्बई के समान लाहौर के आर्यसमाजियों की भी इच्छा थी कि स्वामी जी को आर्यसमाज में 'संरक्षक' व 'पथप्रदर्शक' सदृश कोई विशिष्ट स्थिति दी जाए। श्री शारदाप्रसाद भट्टाचार्य ने इसके लिए आर्यसमाज के अधिवेशन में प्रस्ताव भी प्रस्तुत कर दिया था, जो सबको सर्वसम्मति से स्वीकार्य था। पर स्वामी जी ने इसका विरोध किया। उनका कथन था कि इसमें गुरुडम की गन्ध आती है। भारत के विविध सम्प्रदायों में जो गुरुडम प्रचलित था, स्वामी जी उसके प्रबल विरोधी थे। वे यह कैसे स्वीकार कर सकते थे, कि उन्हें गुरु मानकर एक नया मत स्थापित कर दिया जाए।

लाहौर आर्यसमाज के प्रथम पदाधिकारियों और अन्तरंग सभा के सदस्यों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है, कि उस समय पंजाब में जो सुशिक्षित व्यक्ति थे, उनका अच्छा बड़ा भाग स्वामी जी के मन्तव्यों की ओर आकृष्ट होकर आर्यसमाज में सम्मिलित हो गया था। समाज के इन बाईस व्यक्तियों में ग्यारह ऐसे थे, जिन्हें यूनिवर्सिटी की कोई-न-कोई डिग्री प्राप्त थी। उनमें से पाँच एम० ए० थे, दो बी० ए० थे, तीन डाक्टर थे और एक वकील था। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि सन् १८८४ में उन पंजाबियों की संख्या केवल छब्बीस थी, जिन्हें कोई यूनिवर्सिटी डिग्री प्राप्त थी। सन् १८७७ में तो यह संख्या अवश्य ही छब्बीस से कम होगी। यदि यह संख्या अठारह-उन्नीस भी मान ली जाए, तो उनमें से ग्यारह का आर्यसमाज का सभासद् एवं पदाधिकारी

बन जाना यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि पंजाब के लोगों में आर्यसमाज के लिए कितना अधिक आकर्षण था। लाहौर के अतिरिक्त पंजाब के अन्य नगरों में जब आर्य-समाजों की स्थापना हुई, तो सुशिक्षित व्यक्ति उत्साह के साथ उनके भी सदस्य बने।

लाहौर में निवास करते हुए ईसाई पादरियों के साथ भी स्वामी जी का सम्पर्क हुआ था। उन दिनों ईसाई प्रचारक पंजाब में विशेष रूप से सक्रिय थे। अंग्रेजी शासन के स्थापित होने से पहले ही ईसाइयों ने इस प्रदेश में प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया था, उनके अनेक मिशन वहाँ स्थापित हो चुके थे, और सम्भ्रान्त परिवारों के अनेक पंजाबियों ने इस सम्प्रदाय की दीक्षा भी ग्रहण कर ली थी। पंजाब के अंग्रेजों के अधीन हो जाने पर पादरियों को अपने कार्य में बहुत बल मिला। १८७६ में ग्रेट ब्रिटेन के प्रिंस आफ़ वेल्स कुमार एडवर्ड भारत की यात्रा के लिए आए थे, उनके अमृतसर आने पर रेवरेण्ड राबर्ट क्लार्क ने उनके स्वागत में एक आयोजन किया, जिसमें पंजाब में ईसाई धर्म के प्रचार की सफलता का प्रदर्शन किया गया। इस समारोह में वे व्यक्ति अच्छी बड़ी संख्या में उपस्थित थे, जिन्होंने कि अपने कुलक्रमानुगत धर्म का परित्याग कर ईसाई मत ग्रहण कर लिया था। राजकुमार एडवर्ड को इनका परिचय देते हुए रेवरेण्ड क्लार्क ने गर्व के साथ कहा था—"वहाँ कमरे के एक कोने में कपूर्थला के महाराजा का भाई विराजमान है, जिस का कुछ महीने पहले ही बपतिस्मा हुआ है। वहाँ इमादुद्दीन साहब बैठे हैं जो एक सुयोग्य मौलवी हैं, और इन दिनों बाइबल पर टीका लिखने में लगे हुए हैं। वहाँ वे रजब अली साहब हैं, जो एक स्थानीय पत्र के सम्पादक हैं। उधर इमामशाह बैठे हैं जो पेशावर में पादरी का काम कर रहे हैं। कमरे के दूसरी ओर पाँच राजपूत विराजमान हैं, जिनमें से एक इक्कीस गाँवों के जैलदार या स्वामी हैं।" रेवरेण्ड क्लार्क के लिए क्रिश्चियन मिशनों की सफलता पर गर्व करना उचित ही था, क्योंकि उस समारोह में उपस्थित प्रायः सभी महानुभाव ईसाई धर्म को स्वीकार कर चुके थे। मार्च, १८७७ में 'नेटिव चर्च कौंसिल' का लाहौर में उद्घाटन हुआ था, जिसमें आठ सुशिक्षित व्यक्तियों ने ईसाई धर्म पर उर्दू भाषा में निबन्ध पढ़े थे। इन आठ सज्जनों में हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख तीनों धर्मों के व्यक्ति थे, जिन्होंने कि ईसाई धर्म को अपना लिया था। नेटिव चर्च की स्थापना केवल भारतीय ईसाइयों के लिए ही की गई थी। यह स्वाभाविक ही था, कि पंजाब के ईसाई पादरी स्वामी जी के प्रचारकार्य से चिन्तित होते। राजशक्ति तथा यूरोप द्वारा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में की गई उन्नति का सहारा पाकर अंग्रेज पादरी पंजाब के शिक्षित वर्ग को जिस प्रकार अपने धर्म की ओर आकृष्ट कर रहे थे, उसका प्रतिरोध दयानन्द सदृश ऐसा विद्वान् ही कर सकता था, जो आर्य धर्म के सत्य स्वरूप को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करे, जो सामाजिक कुरीतियों व अन्धविश्वासों का प्रबल विरोधी हो, जिसके विचार प्रगतिशील हों और जिसके मन्तव्य देशवासियों में अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति गौरव की भावना प्रादुर्भूत करते हों। पंजाब के कितने ही उद्बुद्ध लोगों ने स्वामी जी के कार्य के इस महत्त्व को समझा, और उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना में उत्साहपूर्वक भाग लिया। पर ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं थी, जिन्होंने कि स्वार्थवश स्वामी जी का खुलकर विरोध किया, और उन पर झूठे आक्षेप करने में भी संकोच नहीं किया। इनकी ओर से स्वामी जी के विरोध में सभाएँ आयोजित की गईं, और 'सनातन धर्म रक्षिणी' नाम से एक सभा का संगठन किया गया। इन व्यक्तियों में प्रधान स्थान उन ब्राह्मण पण्डितों व

पुरोहितों का था, स्वामी जी के मन्तव्यों से जिनकी स्थिति को आघात पहुँचता था। कलकत्ता के 'इण्डियन मिरर' पत्र ने स्वामी जी के प्रति लाहौर के ब्राह्मण वर्ग के आक्रोश को इस प्रकार सूचित किया था—"विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि नगर के पण्डित और पुरोहित महिलागण को उकसा रहे हैं कि वे अपने सम्बन्धी पुरुषों को स्वामी जी के व्याख्यानों में जाने से रोकें। स्वार्थी मनुष्य स्वामी जी के विरुद्ध सब प्रकार की अफवाहें फैला रहे हैं, परन्तु यह देखकर दुखी होते हैं कि पण्डित दयानन्द श्रोताओं के मनों को वैदिक सचाइयों के ग्रहण करने के लिए तैयार कर रहे हैं।...वह ब्राह्मणों को पोप कुटुम्ब कहते हैं, अर्थात् पोप के सम्बन्धी। यह एक नवीन शब्द है और इससे ब्राह्मणों के प्रति उनके विचार प्रकट होते हैं, जिन्होंने बदला लेने के अभिप्राय से ऐसे आक्षेप आरोपित किए हैं जो न सत्य हैं और न प्रशंसनीय हैं। कोई-कोई कहते हैं कि वह ईसाई पादरियों के वेतन भोगी हैं।" (२२ जून, १८७७) स्वामी जी के विरुद्ध जो भी प्रयत्न किए गये, वे असफल रहे, और लाहौर के सुशिक्षित लोग निरंतर आर्यसमाज की ओर आकृष्ट होते गए। इस समय स्वामी जी जो प्रचार कार्य कर रहे थे, उसमें जहाँ वेदमन्त्रों के वास्तविक अर्थों का प्रतिपादन होता था, वहाँ साथ ही देश की उन्नति के विविध साधनों का भी निरूपण किया जाता था। स्वामी जी के कार्य के सम्बन्ध में 'बिरादरे हिन्द' नामक पत्र ने अपने १ जुलाई, १८७७ के अंक में लिखा था—"यह पुरुष संसार में केवल धार्मिक सुधार का ही इच्छुक नहीं है, वरन् जाति की बालविवाह आदि सब बुराइयों के सुधार पर भी उनकी दृष्टि है। स्त्रियों की शिक्षा और स्वतन्त्रता का वह विशेष रूप से इच्छुक है। उनकी सम्मति है कि जब तक स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार नहीं होगा और उन्हें जनाने के बन्दी-गृह से मुक्ति नहीं मिलेगी, तब तक इस देश में किसी उल्लेखनीय उन्नति की आशा करना व्यर्थ है। सारांश यह है कि जाति से अविद्या, हठ और दुराग्रह को दूर करना, विद्या का प्रचार करना, जातीय एकता उत्पन्न करना और उसे...एक आदर्श समाज बनाने का यत्न करना इस पुरुष का साधारण तथा विशेष अन्तिम ध्येय है।" स्वामी जी का कार्य केवल धर्म प्रचार व समाजसुधार तक ही सीमित नहीं था। वे भारत को विश्व के उन्नत देशों के समकक्ष बनाने के लिए भी प्रयत्नशील थे। इसीलिए उन्होंने लाहौर आर्यसमाज के सदस्यों को केवल स्वदेशी वस्तुओं का ही उपयोग करने के लिए प्रेरित किया था, और उन्होंने ऐसा करने का निश्चय भी किया था। लाहौर आर्यसमाज के सभासदों के इस निर्णय के प्रमाणस्वरूप सन् १८७८ के स्टेट्समेन पत्र से एक उद्धरण इस ग्रन्थ के एक परिशिष्ट में दिया गया है।

लाहौर में स्वामी जी ने एक वैदिक या संस्कृत पाठशाला भी स्थापित की थी, जिसमें संस्कृत भाषा तथा वेद शास्त्रों की शिक्षा की व्यवस्था थी। एक सौ के लगभग व्यक्ति इस पाठशाला में पढ़ने के लिए आने भी लग गए थे। धर्मप्रचार के साथ-साथ वेदों का भाष्य करने तथा उसे प्रकाशित करने पर भी स्वामी जी का ध्यान था। इसे वे बहुत आवश्यक समझते थे। वेदभाष्य के मुद्रण के लिए आर्थिक अनुदान प्रदान करने के लिए उन्होंने पंजाब सरकार से भी निवेदन किया था, पर सरकार ने उसे स्वीकृत नहीं किया। स्वामी जी वेद मन्त्रों का जिस ढंग से अर्थ कर रहे थे, पाश्चात्य विद्वानों के लिए उससे सहमत हो सकना सुगम नहीं था। अतः सरकार उसके लिए धन कैसे दे सकती थी?

जुलाई (१८७७) के प्रथम सप्ताह में स्वामी जी लाहौर से अमृतसर गए, और

एक मास बाद ११ अगस्त के दिन वहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना की। पचास व्यक्ति शुरू में समाज के सदस्य बने। अमृतसर में निवास करते समय स्वामी जी ने 'आर्योद्देश्य-रत्नमाला' नामक पुस्तक की भी रचना की। आकार में छोटी होती हुई भी यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें ऐसे सौ मन्तव्य संकलित हैं, जो सब आर्यों द्वारा स्वीकार करने योग्य हैं। १८ अगस्त को स्वामी जी अमृतसर से गुरुदासपुर गए, और दस दिन पश्चात् वहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना कर दी गई। आठ दिन गुरुदासपुर में निवास कर स्वामी जी पुनः अमृतसर आ गए, और १३ सितम्बर को जालन्धर पहुँचे। वहाँ स्वामी जी के पैंतीस व्याख्यान हुए। १७ अक्टूबर तक जालन्धर में निवास कर वे लाहौर आ गए, और वहाँ ब्राह्मसमाज के चौदहवें वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुए। इसके बाद २६ अक्टूबर को वे फीरोजपुर चले गए। वहाँ वे आठ दिन रहे, और उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर फीरोजपुर के निवासियों ने भी अपने नगर में आर्यसमाज स्थापित कर लिया (५ नवम्बर)। स्वामी जी उससे एक दिन पूर्व ही लाहौर प्रस्थान कर चुके थे। स्वामी जी इस बार लाहौर में केवल दो दिन रहे, और फिर रावलपिण्डी चले गए। वहाँ भी उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना की। रावलपिण्डी से स्वामी जी जेहलम और गुजरात गए, और उनके प्रवचनों को सुनकर इन नगरों के लोगों ने भी आर्यसमाज स्थापित कर दिए। गुजरात से स्वामी जी वजीराबाद गए (२ फरवरी, १८७८), और वहाँ से गुजरांवाला। ४ मार्च को वे गुजरांवाला से लाहौर आ गए, और नवाब रजाअली खाँ के उद्यान में ठहरे। यद्यपि स्वामी जी एक मुसलमान के पास निवास कर रहे थे, उन्होंने अपने व्याख्यानों में इस्लाम का खण्डन करने में कोई संकोच नहीं किया। आठ दिन लाहौर रहकर फिर स्वामी जी मुलतान गए। वहाँ वे १२ मार्च से १६ एप्रिल तक कुल ३६ दिन रहे और इस अवधि में ३५ व्याख्यान दिए। मुलतान से लाहौर वापस आकर स्वामी जी १४ मई तक वहाँ रहे, और फिर अमृतसर चले गये। ११ जुलाई तक वहाँ निवास कर वे जालन्धर, लुधियाना तथा अम्बाला होते हुए रुड़की आ गए। इस प्रकार उनकी पंजाब यात्रा का अन्त हुआ। इसके बाद वे फिर पंजाब नहीं गये। पर जो सोलह मास के लगभग समय स्वामी जी ने पंजाब में व्यतीत किया, आर्यसमाज के इतिहास में उसका बहुत महत्त्व है। इस काल में स्वामी जी जिस किसी भी नगर में गए, प्रायः सर्वत्र आर्यसमाजों की स्थापना हुई, और बहुत-से व्यक्ति उत्साह के साथ उनके सदस्य बने। आर्यसमाज के जो नियम इस समय प्रचलित हैं, उनका निर्माण भी पंजाब में ही हुआ। धर्म प्रचार के साथ-साथ स्वामी जी इस काल में वेदभाष्य के लिए भी समय निकालते रहे, और उसके मुद्रण एवं प्रकाशन पर भी उनका ध्यान रहा।

वैदिक धर्म का पुनःस्थापन करते हुए पंजाब में स्वामी जी को मुख्यतया तीन विरोधियों का सामना करना पड़ा, ईसाई पादरी, मुसलिम मौलवी, और पौराणिक पण्डित। उस समय सिक्ख भी पंजाब में अच्छी बड़ी संख्या में थे। पर तब तक सिक्खों ने एक पृथक् धर्म व सम्प्रदाय का रूप प्राप्त नहीं किया था। वे भी हिन्दुओं के ही एक अंग थे, और उनके गुरुद्वारों या धर्मस्थानों के महन्त, पुजारी व पुरोहित भी प्रायः हिन्दू ही हुआ करते थे। इसीलिए स्वामी जी को सिक्ख मत का पृथक् रूप से खण्डन करने की विशेष आवश्यकता नहीं हुई। उसकी आलोचना में उन्होंने केवल दो व्याख्यान दिए, एक मुलतान में और दूसरा अमृतसर में। सामान्यतया, पंजाब में स्वामी जी को सिक्खों का

समर्थन ही प्राप्त होता रहा, क्योंकि सिक्ख मत के अनुयायी सनातनी पौराणिकों की तुलना में सुधार के पक्षपाती व प्रगतिशील थे। पंजाब के अनेक नगरों में स्वामी जी ने सिक्ख रईसों की कोठी या उद्यान में भी निवास किया था, और अनेक सिक्ख उनके भक्त एवं अनुयायी भी हो गए थे। १८७८ में जब लाहौर आर्यसमाज का दूसरा वार्षिक चुनाव हुआ, तो भाई जवाहरसिंह उसके मन्त्री चुने गए। ये पहले सिक्ख थे, पर स्वामी जी के उपदेशों से वैदिक धर्म के अनुयायी हो गए थे। जहाँ तक ब्राह्मसमाजियों का सम्बन्ध है, उन्हें यह आशा थी कि अपने सुधारवादी एवं प्रगतिशील विचारों के कारण स्वामी जी ब्राह्मसमाज की सदस्यता स्वीकार कर लेंगे और इससे उनकी शक्ति बहुत बढ़ जाएगी। पर उन्हें निराश होना पड़ा। स्वामी जी वेदों की प्रामाणिकता एवं अपौरुषेयता पर बहुत बल देते थे, जो ब्राह्मसमाजियों को स्वीकार्य नहीं था। यद्यपि स्वामी जी ब्राह्मसमाज से पृथक् रहे, पर उससे उनका विरोध होने का कोई विशेष कारण नहीं था। इसीलिए स्वामी जी ब्राह्मसमाज के चौदहवें वार्षिकोत्सव (२१ अक्टूबर, १८७७) में सम्मिलित हुए थे। जब वे उत्सव में पहुँचे, श्री अघोरनाथ गुप्त (जो ब्राह्मसमाज के उपदेशक थे) उपासना कर रहे थे। उपासना के समाप्त होने पर स्वामी जी उनसे कौली भर कर मिले।

वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए स्वामी जी को पंजाब में सबसे अधिक पौराणिक पण्डितों के विरोध का सामना करना पड़ा। वेदों की स्वामी जी जिस ढंग से व्याख्या करते थे, वह पौराणिक मन्तव्यों से सर्वथा भिन्न था। हिन्दू धर्म का नेतृत्व उस समय पूर्णतया ब्राह्मण पुरोहितों के हाथों में था। स्वामी जी के प्रचार के कारण उनकी स्थिति डाँवाडोल हो गई थी। अतः उनका स्वामी जी का विरोधी होना स्वाभाविक ही था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में ईसाई पादरी पंजाब में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए विशेष रूप से उद्योग कर रहे थे। अतः स्वामी जी के उनके साथ अनेक शास्त्रार्थ हुए, और उन्होंने ईसाइयों के पैर पंजाब में जमने नहीं दिए। भारत के अनेक अन्य प्रदेशों के समान उस समय पंजाब में मुसलमानों का अधिक जोर नहीं था। यद्यपि वे संख्या में अधिक थे, और पंजाब में उनका बहुमत भी था, पर एक सदी के लगभग समय तक इस प्रदेश में सिक्खों का शासन रहा था, जिसके कारण मुसलमानों की शक्ति वहाँ मन्द पड़ गई थी। हिन्दुओं के समान उनमें जागरण भी शुरू नहीं हुआ था, और ब्राह्मसमाज, सत्सभा, हिन्दू सभा आदि के सदृश कोई ऐसा संगठन भी उनमें नहीं बना था, जो सुधार के लिए प्रयत्नशील हो, और जिसके कारण इस्लाम में नयी चेतना का प्रादुर्भाव हो रहा हो। इस दशा में यद्यपि स्वामी जी के मौलवियों से अनेक शास्त्रार्थ तो हुए, पर मुसलमानों के उस ढंग के उग्र विरोध का उन्हें सामना नहीं करना पड़ा, जैसा कि बाद में पण्डित लेखराम जी सदृश आर्य प्रचारकों को करना पड़ा था।

(५) आर्यसमाज के नये नियम और उपनियम

लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना (२४ जून, १८७७) के समय उसके नये नियम भी बनाए गये थे। ये नियम, जो संख्या में दस हैं, ही आज तक भी सब आर्यसमाजों के लिए सर्वमान्य हैं। बम्बई में आर्यसमाज के जो अट्ठाईस नियम निर्धारित हुए थे, उनमें अनेकविध विषयों का समावेश था। आर्यसमाज के क्या उद्देश्य हैं, उसका संगठन किस प्रकार का हो, कौन उसके सदस्य हो सकें, साप्ताहिक अधिवेशनों की कार्यवाही किस ढंग

से हो, आर्यसमाज द्वारा समाचार-पत्र प्रकाशित किए जाएँ और बालकों व बालिकाओं के लिए पाठशालाएँ खोली जाएँ, प्रधान समाज का अन्य समाजों के साथ क्या सम्बन्ध हो— इस प्रकार की बहुत-सी बातों का उनमें समावेश कर दिया गया था। अब यह आवश्यकता अनुभव की गई, कि आर्यसमाज के नियमों का पुनर्निर्माण किया जाए और उनमें केवल उन्हीं बातों का समावेश हो, जिनका सम्बन्ध समाज के उद्देश्यों तथा आधारभूत मन्तव्यों के साथ है। आर्यसमाज के संगठन का क्या स्वरूप हो, उसके सभासद् कौन बन सकें, और प्रचार कार्य के लिए किन साधनों को अपनाया जाए—इस प्रकार की बातों के लिए पृथक् रूप से उपनियमों का निर्माण करने का निश्चय किया गया। ये उपनियम भी बाद में लाहौर में बना लिये गये थे। नियमों और उपनियमों में एक भेद यह भी है, कि उपनियमों में तो परिवर्तन व संशोधन किए जा सकते हैं, पर नियमों में नहीं। लाहौर में निर्धारित किए गये आर्यसमाज के दस नियमों में तीन का सम्बन्ध सिद्धान्तों के साथ है। शेष सात नियम वृत्ति व भावना के परिचायक हैं, सिद्धान्त व मन्तव्य के नहीं। ये सात नियम निम्नलिखित हैं—(१) सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। (२) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्यासत्य को विचार करके करने चाहिएँ। (३) संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना। (४) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वरतना चाहिए। (५) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए। (६) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। (७) सब मनुष्यों को सार्वजनिक सर्वहितकारी नियम पालन में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें। ये सातों नियम ऐसे हैं, जिन्हें अविकल रूप से स्वीकृत कर लेने में किसी को भी एतराज नहीं हो सकता। केवल ईसाई, मुसलमान, बौद्ध आदि विविध धर्मों के अनुयायी ही इन्हें सहर्ष स्वीकार नहीं कर लेंगे, अपितु नास्तिक व अनीश्वरवादी लोगों को भी इनमें कोई विप्रतिपत्ति की बात दिखाई नहीं देगी। इनमें 'धर्म' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, और यह कहा गया है, कि सब काम धर्मानुसार ही किए जाने चाहिएँ। पर यहाँ 'धर्म' से कोई सम्प्रदाय अभिप्रेत नहीं है। 'धर्मानुसार' का अभिप्राय 'सत्यासत्य को विचार कर' है, यह नियम में ही स्पष्ट कर दिया गया है। अतः नियमों में 'धर्मानुसार' शब्द का होना भी किसी के लिए विरोध का कारण नहीं हो सकता। नास्तिक एवं अनीश्वरवादी लोग भी यह अवश्य ही स्वीकार करेंगे, कि मनुष्यों के सब काम सत्यासत्य को विचार करके किए जाने चाहिएँ।

जिन तीन नियमों पर विप्रतिपत्ति की जा सकती है, उनमें दो का ईश्वर और एक का वेदों के साथ सम्बन्ध है। एक नियम में यह कहा गया है कि सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि-मूल परमेश्वर है। इसका अभिप्राय यह है कि परमेश्वर सब सत्य विद्याओं का मूलस्रोत है, सब ज्ञान उसी द्वारा प्राप्त किया जाता है, और विद्या द्वारा हम जिन पदार्थों को जानते हैं, उन सबका भी आदि-मूल परमेश्वर ही है। विश्व की सब सत्ताओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता। सृष्टि के सब पदार्थ व तत्त्व ज्ञेय हैं। जीवात्मा उनका ज्ञान प्राप्त करता है, अतः वह ज्ञाता है। ज्ञाता द्वारा ज्ञेय पदार्थों के जानने का नाम ज्ञान है। जीवात्मा परमेश्वर या परमात्मा से पृथक् है, उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। पर वह जो ज्ञान प्राप्त करता

है, उसका मूल स्वयं उसमें न होकर परमेश्वर में है। इसी प्रकार जो 'ज्ञेय' है, उसका मूल भी परमेश्वर है क्योंकि वह सब पदार्थों का निमित्त कारण है। यद्यपि प्रकृति परमेश्वर के समान अनादि है, पर सृष्टि तथा उसके पदार्थ अनादि नहीं हैं। प्रकृति उसका उपादान कारण है, और परमेश्वर निमित्त कारण। आर्यसमाज के इस नियम के कारण केवल ऐसे व्यक्ति ही समाज के सभासद् बन सकते हैं, जो ईश्वर में विश्वास रखते हों, अनीश्वरवादी न हों, और साथ ही परमेश्वर को सम्पूर्ण ज्ञान का आदि स्रोत तथा सृष्टि का निमित्त कारण मानते हों। जो कोई विकासवाद में विश्वास रखे, या ईश्वर को सृष्टिकर्ता न माने, उसके लिए आर्यसमाज का सदस्य बनना सम्भव नहीं होगा। पर मनुष्यों के ईश्वर के स्वरूप में मतभेद हो सकते हैं। अतः आर्यसमाज के दूसरे नियम में इस बात को भी स्पष्ट कर दिया गया है—"ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, अजर, अमर, अभय, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।" विविध धर्मों में विश्व की सर्वोच्च शक्ति या ईश्वर के विषय में विभिन्न मान्यताएँ हैं। जैन और बौद्ध सृष्टिकर्ता के रूप में किसी सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता नहीं मानते। वे 'सर्वाधिक ज्ञानी' को ही उपास्य व सर्वोच्च मानते हैं। मनुष्य साधना और तप से इस सर्वोच्च पद को प्राप्त कर सकता है। जैनों के मत में 'तीर्थंकर' ऐसा ही सर्वोच्च पद है, और उनका विश्वास है कि चौबीस व्यक्ति इस पद को प्राप्त भी कर चुके हैं। उनके अनुसार वर्धमान महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे। तीर्थंकर से अधिक उच्च, श्रेष्ठ व ज्ञानी किसी सत्ता को जैन लोग स्वीकार नहीं करते। यही मन्तव्य बौद्धों का भी है। उनके अनुसार मनुष्य विविध जन्मों में साधना, तप, प्राणिमात्र का हित व कल्याण तथा अन्य सुकर्म करते हुए पहले बोधिसत्व और फिर बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है। वे भी बुद्ध से उच्चतर किसी सत्ता को नहीं मानते, और न सृष्टि के लिए किसी निमित्त कारण रूप ईश्वर की आवश्यकता समझते हैं। नवीन वेदान्ती जीव और ब्रह्म में अभेद मानते हैं। ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना का सिद्धान्त उन्हें भी स्वीकार्य नहीं है। वे जगत् को मिथ्या मानते हैं, अतः उसके कर्ता के रूप में किसी ईश्वर में विश्वास रखने का उनके लिए कोई अर्थ नहीं रह जाता। आर्यसमाज के दूसरे नियम के कारण वे लोग समाज के सदस्य नहीं बन सकते, जो बौद्धों, जैनों और नवीन वेदान्तियों के समान सृष्टिकर्ता या जगत् के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को न मानते हों। पर इन कुछ अपवादों को छोड़कर वे सब लोग आर्यसमाज के सदस्य बन सकते हैं, जो अनीश्वरवादी न हों। ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखना आर्यसमाज में सम्मिलित होने के लिए एक अनिवार्य शर्त है। आर्यसमाज के इस दूसरे नियम में ईश्वर के लिए 'निराकार' और 'अजन्मा' विशेषणों का प्रयोग किया गया है। जो लोग अवतारवाद में विश्वास रखते हैं, और ईश्वर की मूर्तियाँ बनाकर उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करते हैं, उनके लिए भी आर्यसमाज का सदस्य बनना कठिन होगा। जो राम और कृष्ण आदि के रूप में जन्म लें, वह 'अजन्मा' कैसे हो सकता है? इसी प्रकार जो निराकार हो, उनकी मूर्ति कैसे बनायी जा सकती है? पुराणों में जिस ढंग से ईश्वर के अवतार ग्रहण की कथाएँ लिखी गई हैं, उनमें विश्वास रखने वाले व्यक्ति ईश्वर को 'अजन्मा' कैसे मान सकेंगे। अतः पुराणपन्थियों के लिए भी आर्यसमाज का सदस्य बन सकना सम्भव नहीं रह जाता। बम्बई में निर्धारित आर्यसमाज के नियमों में भी परमेश्वर

के स्वरूप का प्रतिपादन कर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना का विधान किया गया था। उसमें ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए निराकार आदि जो विशेषण ईश्वर के लिए प्रयुक्त किये गये थे, वे सब लाहौर में निर्धारित नियमों में भी दिये गये हैं। सृष्टि-कर्ता, पवित्र, अभय और नित्य सदृश कतिपय अन्य विशेषण भी लाहौर में निर्धारित नियमों में ईश्वर के साथ जोड़ दिए गये, जिनसे उस का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता। विविध धर्मों व सम्प्रदायों में ईश्वर को विभिन्न रूपों से प्रतिपादित किया गया है। इसका प्रभाव उनके मन्तव्यों तथा आचरण पर भी पड़ता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्यसमाज के नियमों में ईश्वर का स्वरूप ऐसे ढंग से निरूपित कर दिया गया है, जिससे कि आर्य लोग स्तुति, प्रार्थना और उपासना द्वारा न्याय, दया, पवित्रता आदि गुणों को अपना सकें, और सर्वत्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव करते हुए बुरे कर्मों से बचे रहें।

परमेश्वर में विश्वास रखने के अतिरिक्त आर्यसमाज के सदस्यों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे वेदों को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक मानें और उनको पढ़ना, पढ़ाना व सुनना, सुनाना अपना परम धर्म स्वीकार करें। आर्यसमाज के तीसरे नियम में यही मन्तव्य प्रतिपादित है। बम्बई में निर्धारित नियमों में वेदों के 'स्वत:प्रमाण' होने की बात कही गई थी, और शतपथ आदि ब्राह्मणों, वेदांगों, उपवेदों, छह दर्शनों तथा वेदों की व्याख्या रूपी ११२७ शाखाओं को गौण रूप में प्रमाण स्वीकार किया गया था। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि लाहौर में बनाए गए आर्यसमाज के नियमों में वेदों के लिए न 'स्वत:प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया गया है, और न 'ईश्वरकृत' का। पुनर्जन्म, गुणकर्मा-नुसार वर्ण व्यवस्था, ईश्वर, जीव और प्रकृति की भिन्नता, मुक्ति आदि के सम्बन्ध में स्वामी जी के जो मन्तव्य थे, उनको भी दस नियमों में किसी भी रूप में स्थान नहीं दिया गया है। इससे कुछ लोगों ने यह परिणाम निकाला है, कि स्वामी जी आर्यसमाज को एक ऐसा संगठन बनाना चाहते थे, जिसका स्वरूप बहुत विस्तृत हो और वे सब व्यक्ति उसकी सदस्यता प्राप्त कर सकें, जिन्हें ईश्वर की सत्ता में विश्वास हो और जो वेदों को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक मानते हों। 'स्वत:प्रमाण' और 'ईश्वरप्रणीत' में तथा 'सब विद्याओं का पुस्तक' में भेद है। स्वामी जी का अपना मन्तव्य वेदों को स्वत:प्रमाण तथा ईश्वर-प्रणीत मानने का था। स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश के दूसरे मन्तव्य में उन्होंने वेदों के विषय में अपना मन्तव्य इस प्रकार लिखा है—"चारों वेदों (विद्याधर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वत:प्रमाण मानता हूँ, वे स्वयं प्रमाण रूप हैं कि जिनके प्रमाण होने से किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वत: प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं।" पर स्वामी जी ने अपने इस मन्तव्य को इसी रूप में आर्यसमाज के दस नियमों में समाविष्ट नहीं किया, यद्यपि बम्बई के नियमों में वेदों के लिए 'स्वत:प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया गया था। लाला मूलराज ने लाहौर में स्वीकृत किए गए दस नियमों के निर्धारण में सक्रिय भाग लिया था। लाहौर में स्वामी जी द्वारा स्थापित प्रथम आर्यसमाज के वे प्रधान पद पर भी निर्वाचित हुए थे। वे एक सुशिक्षित व्यक्ति थे और एक उच्च सरकारी पद पर भी नियुक्त थे। वेद विषयक तीसरे नियम के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था—"स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के नियमों में सिद्धान्त-सम्बन्धी मन्तव्यों तथा दार्शनिक विचारों का समावेश जानबूझ कर नहीं किया। उन्होंने जो कुछ भी लिखा,

उस पर उनका दृढ़ विश्वास था, पर दूसरों के विचारों के प्रति उनकी वृत्ति सहिष्णुता की थी। जिस किसी व्यक्ति का दस नियमों में विश्वास हो, स्वामी जी के अनुसार वह आर्यसमाज का सदस्य बन सकता था, चाहे अन्य मामलों में उसकी कोई भी सम्मति क्यों न हो। उन्होंने आर्यसमाज की सदस्यता के लिए यह अनिवार्य शर्त नहीं रखी थी कि उन द्वारा किए गए वेदभाष्य को तथा उनकी पुस्तकों में जो विचार अभिव्यक्त किए गए हैं, उन सबको सही माना जाए।...आर्यसमाज की सदस्यता के लिए विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की बलि दे देना स्वामी जी को अभिप्रेत नहीं था।" पर आर्यसमाज के सब विद्वान् लाला मूलराज की इस बात को स्वीकार नहीं करते। इस प्रश्न पर बहुत विवाद रहा है, कि क्या ऐसे व्यक्ति भी समाज के सदस्य हो सकते हैं जो 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में उल्लिखित स्वामी जी के मन्तव्यों को अविकल रूप से न मानते हों। इस विवाद पर यहाँ प्रकाश डालने का कोई विशेष उपयोग नहीं है। पर सामान्यतया, आर्यसमाज के क्षेत्र में यह माना जाता है कि ईश्वर की सत्ता तथा वेदों की प्रामाणिकता व अपौरुषेयता में विश्वास रखने के साथ-साथ समाज के सब सभासदों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित धर्म के स्वरूप, पूजाविधि, याज्ञिक अनुष्ठान तथा अन्य मन्तव्यों में भी आस्था रखें। ६ नवम्बर, १८७७ को स्वामी जी की उपस्थिति में आर्यसमाज के जो उपनियम निर्धारित हुए थे, उनमें दूसरे नियम के अनुसार कोई भी ऐसा व्यक्ति आर्यसमाज का सदस्य बन सकता है, जो अपनी आयु के अठारह वर्ष पूरा कर चुका हो, सच्चरित्र हो और समाज के आधारभूत सिद्धान्तों में जिसका विश्वास हो। इस उपनियम में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश तथा स्वामी जी के विविध ग्रन्थों में जो मन्तव्य प्रतिपादित किए गए हैं, उन सब में विश्वास रखने को आर्यसमाज की सदस्यता के लिए आवश्यक नहीं बताया गया। आर्यसमाज के आधारभूत सिद्धान्त वही हैं जो दस नियमों द्वारा विहित हैं। ईश्वर में विश्वास तथा वेदों को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक मानना इन आधारभूत सिद्धान्तों में अवश्य अन्तर्गत है, पर स्वामी जी के अन्य किसी सिद्धान्त व मन्तव्य का इनमें समावेश नहीं है। पर यह भी स्पष्ट है, कि यदि दस नियमों में प्रतिपादित 'आधारभूत सिद्धान्तों' का वह अभिप्राय लिया जाए, जो लाला मूलराज जी कहते थे, तो ऐसे व्यक्ति भी आर्यसमाज के सदस्य बन सकेंगे, जो दार्शनिक त्रैतवाद में विश्वास न रखते हों, जो जगत् को मिथ्या तथा जीव और ब्रह्म में अभेद मानते हों, जो श्राद्ध करते हों और यज्ञों में पशुहिंसा के समर्थक हों। अतः समाज के सदस्यों के धार्मिक व दार्शनिक मन्तव्यों में एकरूपता का होना और स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों व विचारों का उन्हें सामान्यतया स्वीकार्य होना अब आर्य सभासद होने के लिए आवश्यक माना जाने लगा है। महात्मा बुद्ध ने ईश्वर, आत्मा आदि दार्शनिक विषयों पर अपने मन्तव्य नहीं प्रकट किए थे। सच्चरित्रता, दया, परोपकार, अहिंसा आदि पर ही उन्होंने जोर दिया था, और दार्शनिक विषयों की उपेक्षा की थी। इसी का यह परिणाम हुआ, कि बौद्धों में अनेक सम्प्रदाय विकसित हो गए, और उन द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मन्तव्यों में अत्यधिक भिन्नता के साथ-साथ उनके जीवनदर्शन व आचार-विचार आदि में भी बहुत भेद आ गया। स्वामी जी को आर्यसमाज में इस प्रवृत्ति का विकसित होना अभीष्ट नहीं था। इसीलिए जहाँ उन्होंने अपने धार्मिक व दार्शनिक विचार स्पष्ट रूप से अपने विविध ग्रन्थों में निरूपित कर दिए हैं, वहाँ साथ ही आर्यसमाज के नियमों में वेदों का पढ़ना, पढ़ाना व

सुनना, सुनाना सब आर्यों का परम धर्म बताकर एक ऐसी कसौटी आर्यसमाज के हाथ में दे दी है, जिससे कि सत्य-असत्य और धर्म-अधर्म में विवेक किया जा सकता है, और जिसके कारण उसमें विभिन्न मत विकसित होने की गुंजाइश नहीं रह जाती।

पर साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि दस नियमों के रूप में स्वामी जी ने आर्यसमाज को एक अत्यन्त विस्तृत आधार प्रदान कर दिया है। ईश्वर की सत्ता तथा वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करने वाले सब व्यक्ति उसके सदस्य बन सकते हैं, चाहे साधारण बातों में उनके कुछ मतभेद भी क्यों न हों। मनुष्य एक बुद्धिजीवी प्राणी है, बुद्धि का प्रयोग कर वह स्वयं सत्य-असत्य के निर्णय का प्रयत्न करता है। स्वामी जी यही चाहते थे, कि उनके अनुयायी सत्य के ग्रहण और असत्य का परित्याग करने में सदा उद्यत रहें और सब काम सत्यासत्य को विचार करके किया करें। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य अपनी बुद्धि से काम लें, अन्धविश्वासी न हों और किसी मनुष्य को गुरु मान-कर उसका अन्धानुसरण न करें। आर्यसमाज के दस नियमों में स्वतन्त्र विचार की बहुत गुंजाइश रखी गई है, और स्वामी दयानन्द सरस्वती की धार्मिक क्षेत्र के लिए यह एक अनुपम देन है। स्वामी जी की उपस्थिति में उनकी अनुमति से आर्यसमाज के जो उपनियम लाहौर में निर्धारित किए गए थे, उनके अनुसार समाज में सब बातों के निर्णय सदस्यों के बहुमत द्वारा किए जाने चाहिएँ। (उपनियम २६)। यह तभी सम्भव है जबकि सदस्यों को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में भारत के लिए बुद्धि-स्वातन्त्र्य की बात सर्वथा नयी थी। पाश्चात्य देशों में भी अभी उसको भली भाँति मान्यता नहीं मिली थी। इस स्थिति में स्वामी जी का सत्यासत्य के निर्णय के लिए अपने विवेक का भी प्रयोग करने की बात कहना उनकी प्रगतिशीलता का परिचायक है। आर्यसमाज का नौवाँ नियम बहुत महत्त्व का है—'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।' यदि इस नियम को क्रियान्वित करना हो, तो ऐसे उपायों पर विचार करना होगा, जिनसे सबको अपनी उन्नति करने का यथोचित अवसर मिले, सब अपनी अन्तर्हित शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का समुचित विकास कर सकें, सबको अपनी योग्यता व क्षमता के अनुरूप कार्य प्राप्त हो, सब कोई सुखी, सम्पन्न व समुन्नत जीवन बिता सकें, कोई किसी का शोषण न कर सके, प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक व सामाजिक स्थिति उसकी योग्यता के अनुरूप हो और मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार हो। आर्यसमाज को इस आदर्श तक पहुँचने का यत्न करना है। कोई आर्य केवल अपनी उन्नति करके ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसे निरन्तर यह ध्यान में रखना होगा, कि सबकी उन्नति में ही उसकी उन्नति है। सबकी उन्नति के लिए उसे सदा प्रयत्नशील रहना होगा। समाजवाद के रूप में जो अनेक नये आन्दोलन आधुनिक युग में प्रारम्भ हुए हैं, उनमें सामाजिक न्याय की स्थापना का प्रयत्न अवश्य किया गया है, पर उन द्वारा स्थापित व्यवस्था में मनुष्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रायः नियन्त्रित व रुद्ध हो जाती है। आर्यसमाज के दसवें नियम के अनुसार मनुष्य को सामाजिक सर्वहितकारी नियमों के पालन में परतन्त्र रहना है, पर प्रत्येक हितकारी नियम में उसे स्वतन्त्रता प्राप्त रहेगी। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिन मामलों का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से है, उनके विषय में सबके हित के लिए जो

नियम बनाए जाएँ, जो व्यवस्था की जाए, उनका पालन मनुष्यों को करना ही होगा, उनमें वे स्वतन्त्रता नहीं बरत सकेंगे। पर अन्य विषयों में वे स्वतन्त्र रहेंगे। सामाजिक नियन्त्रण और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में यह एक आदर्श समन्वय है।

६ नवम्बर, १८७७ को लाहौर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा में आर्यसमाज के उपनियम स्वीकृत किए गए थे। स्वामी जी उस समय वहाँ उपस्थित थे। ये उपनियम संख्या में ३४ हैं। बम्बई में आर्यसमाज के जो नियम निर्धारित किए गए थे, उनमें समाज के संगठन के विषय में अनेक व्यवस्थाएँ अन्तर्गत थीं। अब उन्हें अलग करके तथा अत्यन्त सुस्पष्ट रूप देकर समाज के संविधान या नियमावली का निर्माण किया गया, और उन्हें उपनियमों की संज्ञा दी गई। अठारह वर्ष की आयु का कोई भी सदाचारी व्यक्ति जो आर्य-समाज के आधारभूत सिद्धान्तों में विश्वास रखता हो और अपनी आमदनी का कम-से-कम एक प्रतिशत नियमित रूप से समाज को चन्दा प्रदान करे, आर्य सभासद् बन सकता है, यह व्यवस्था की गई। साधारण सभासदों और कर्मठ सभासदों में भी भेद किया गया। समाज के निम्नलिखित पदाधिकारी रखे गये—प्रधान, उपप्रधान, मन्त्री, कोषाध्यक्ष और पुस्तकाध्यक्ष। आवश्यकतानुसार उपमन्त्री, उपकोषाध्यक्ष तथा उपपुस्तकाध्यक्ष भी नियत किए जा सकें और एक अन्तरंग सभा भी हो—यह व्यवस्था भी की गई। इन सबकी नियुक्ति चुनाव द्वारा हो, जिसमें सब आर्य सभासद् वोट दे सकें और चुनाव प्रतिवर्ष हुआ करें यह भी उपनियमों में स्पष्ट कर दिया गया। प्रधान, मन्त्री आदि सब पदा-धिकारियों के अधिकारों एवं कर्तव्यों का भी उपनियमों में विशद् रूप से प्रतिपादन कर दिया गया। साल में एक बार समाज का वार्षिक अधिवेशन अवश्य हुआ करे, जिसमें कि वार्षिक रिपोर्ट पेश की जाया करे, और अन्तरंग सभा के सदस्यों तथा पदाधिकारियों का चुनाव हुआ करे। समाज का असाधारण अधिवेशन बुला सकने का अधिकार जहाँ पदाधिकारियों व अन्तरंग सभा के सदस्यों को हो, वहाँ साथ ही समाज के कुल सदस्यों के दस प्रतिशत सदस्य भी आवश्यकता पड़ने पर विशेष या असाधारण अधिवेशन बुला सकें। वार्षिक अधिवेशन के समय पर ही समाज का वार्षिकोत्सव भी हुआ करे, और इनकी सूचना नियत दिन से एक मास पूर्व अवश्य दे दी जाया करे। अन्तरंग सभा को यह अधिकार हो कि विशेष कार्यों के लिए वह उपसमितियों की भी नियुक्ति कर सके। अन्तरंग सभा के अधिवेशन एक पक्ष (दो सप्ताह) में एक बार अवश्य हों, पर यदि अन्त-रंग सभा के पाँच सदस्य मन्त्री से निवेदन करें, तो अन्य समय पर भी इस सभा की बैठक की जा सके। अन्तरंग सभा के प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार हो, कि वह प्रधान की अनुमति से किसी विषय को सभा के विचारार्थ प्रस्तुत कर सके। पर यदि अन्तरंग सभा के पाँच सदस्य किसी विषय को विचारार्थ प्रस्तुत करना चाहें, तो उस पर अवश्य ही (चाहे उसके लिए प्रधान की अनुमति न भी हो) विचार करना होगा। यद्यपि समाज के पदा-धिकारियों का चुनाव प्रतिवर्ष हुआ करे, पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों को दुबारा भी विभिन्न पदों पर निर्वाचित किया जा सके। किसी पदाधिकारी के अनुपस्थित होने की दशा में अन्तरंग सभा को यह अधिकार हो कि वह स्थानापन्न रूप से उसका कार्य करने के लिए किसी अन्य उपयुक्त आर्य सभासद् की नियुक्ति कर सके। यदि समाज के वार्षिक अधिवेशन में किसी पदाधिकारी का चुनाव न होने पाए, तो जब तक नया पदाधिकारी न चुन लिया जाए, पुराना पदाधिकारी ही पद पर कार्य करता रहे। समाज के सब अधिवेशनों का

कार्य विवरण नियमित रूप से लेखबद्ध किया जाया करे, और सब आर्य सभासदों को उसका अवलोकन करने का अधिकार हो। अधिवेशनों के लिए सभासदों की कुल संख्या के एक तिहाई की उपस्थिति पर्याप्त समझी जाए, अर्थात् ३३ प्रतिशत सदस्यों का कोरम माना जाए। सब निर्णय बहुसम्मति के अनुसार किए जाएँ। आर्यसमाज के संगठन के सम्बन्ध में जो ये व्यवस्थाएँ उपनियमों द्वारा की गई हैं, वे सब पूर्णतया लोकतन्त्रवाद के अनुरूप हैं। उन्हें पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसी विधान सभा के संविधान एवं कार्यविधि का विवरण हो। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सन् १८७७ तक संसार में कहीं भी लोकतन्त्रवाद पर आधारित शासन-संस्थाओं का समुचित रूप से विकास नहीं हुआ था। यूरोप तथा अमेरिका के कुछ राज्यों में निर्वाचित राष्ट्रपतियों और विधान-मण्डलों का प्रारम्भ अवश्य हो गया था, पर ये लोकतन्त्र संस्थाएँ अभी पूर्णतया बद्धमूल नहीं हुई थीं। भारत में तो उस समय न कोई केन्द्रीय विधान सभा थी, और न प्रादेशिक। स्थानीय स्वशासन में कुछ लोकतन्त्र तत्त्वों का समावेश अवश्य हुआ था, पर वह अत्यन्त प्रारम्भिक दशा में था। जहाँ तक धार्मिक संगठनों का सम्बन्ध है, वे प्रायः गुरुडम पर ही आधारित थे। ऐसी दशा में पूर्णतया लोकतन्त्रवाद के अनुसार आर्यसमाज के संगठन की व्यवस्था कर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, मौलिक एवं प्रगतिशील पग उठाया था।

स्वामी जी चाहते थे, कि आर्यसमाज के सदस्यों में परस्पर भाईचारा रहे और वे अपने को एक बिरादरी का अंग समझें। इस प्रयोजन से उपनियमों में जो व्यवस्थाएँ की गई थीं, वे अत्यन्त महत्त्व की हैं। "समाज के सब सभासदों का यह सर्वोपरि कर्तव्य है कि जब किसी के यहाँ कोई शोक या विपत्ति की बात हो, तो सब उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करें। पर यदि कोई खुशी का या शुभ अवसर हो, तो उसमें तभी सम्मिलित हों, जब कि उन्हें निमन्त्रित किया जाए। बड़ा और छोटा होने की भावना से सब बच कर रहें।" (उपनियम ३०) "यदि किसी सभासद् के माता-पिता की मृत्यु हो जाए, कोई स्त्री विधवा हो जाए, या बच्चे अनाथ हो जाएँ, और उनके पालन-पोषण का कोई साधन न हो, तो आर्यसमाज को चाहिए कि इस मामले की भली भाँति जाँच कर उनके पालन-पोषण की यथाशक्ति व्यवस्था करे।" (उपनियम, ३१) "आर्य सभासदों को चाहिए कि परस्पर प्रीतिपूर्वक बरताव करें और एक-दूसरे का यथोचित सम्मान करें। पक्षपात, ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध का परित्याग कर उन्हें समाज के हित के लिए प्रयत्न करना चाहिए।" (उपनियम ३३) इसमें सन्देह नहीं, कि इन उपनियमों का पालन करने से आर्यसमाज के सदस्यों में इस प्रकार की एकता की भावना विकसित हो सकती है, जिससे कि उसका रूप एक बिरादरी का हो जाए।

अठाईसवें उपनियम में कहा गया है, कि "समाज के सब आर्य सभासदों को संस्कृत या आर्य भाषा आनी चाहिए।" आर्य भाषा से हिन्दी अभिप्रेत है। देश की एकता तथा आर्यों में बन्धुत्व के विकास के लिए स्वामी जी यह आवश्यक समझते थे कि कोई एक ऐसी भाषा अवश्य होनी चाहिए, जिसका सबको परिज्ञान हो। यह आर्य भाषा या हिन्दी ही हो सकती थी। वेदशास्त्रों के पढ़ने, पढ़ाने के लिए संस्कृत भाषा को सीखना आवश्यक है। इसीलिए संस्कृत और हिन्दी के सम्बन्ध में यह उपनियम बनाया गया था।

आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन के कार्यक्रम के सम्बन्ध में भी उपनियमों में

स्पष्ट विधान है। "सप्ताह में एक बार आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन हुआ करेंगे, जिनमें वेद मन्त्रों से प्रार्थना एवं हवन किए जाया करेंगे। और वेद मन्त्रों के आधार पर एवं उनकी व्याख्या के साथ भौतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर व्याख्यान दिए जाएँगे। व्याख्यान के पहले और पश्चात् सामवेदीय पद्धति से, और जब कभी सम्भव हो, वाद्य उपकरणों के साथ ईश्वर की स्तुति में भजन गाए जाएँ। इस अवसर पर सभासदों को जो सूचनाएँ देनी आवश्यक हों, वे भी दे दी जाया करें।" (उपनियम ४) आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में अब भी प्रायः इसी कार्यक्रम का अनुसरण किया जाता है। इसका निर्धारण स्वामी जी ने सन् १८७७ में ही करा दिया था।

वेदों के सम्बन्ध में आर्यसमाज का जो मन्तव्य दस नियमों में प्रतिपादित है, प्रथम उपनियम में उसे अधिक स्पष्ट कर दिया गया है—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार वैदिक संहिताओं के विषय में आर्यसमाज की यह मान्यता है कि मनुष्य की एहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, उस सबके सम्बन्ध में वे मुख्य व स्वतः प्रमाण हैं। ब्राह्मण, षड्दर्शन, वेदों की व्याख्या रूप ११२७ शाखाएँ, अष्टाध्यायी और महाभाष्य तथा दस उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक) वेदों के अभिप्राय को स्पष्ट करने में सहायक रूप से मान्य हैं। जहाँ तक ये वेदानुकूल हों, इन्हें भी गौण प्रमाण माना जाएगा।"

सभासदों का अपने समाज के प्रति क्या कर्तव्य है, चौंतीसवें उपनियम में इसे इस प्रकार प्रकट किया गया है—"समाज के प्रत्येक सभासद् से यह अपेक्षा की जाती है, कि (आवश्यकता पड़ने पर अपनी सब सम्पत्ति तथा जीवन को दाँव पर लगा कर भी) आर्यसमाज तथा उससे जो कुछ भी सम्बद्ध हो, उन सब के अधिकारों की रक्षा करने, उनकी स्थिति को ऊँचा उठाने और उनके प्रभाव का विस्तार करने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दे।" स्वामी जी ने आर्यसमाज की स्थापना महान् उद्देश्यों को सम्मुख रख कर की थी। सम्पूर्ण मानव समाज तथा संसार का हित साधन करना उसका मुख्य लक्ष्य था। इन उद्देश्यों की पूर्ति तभी की जा सकती थी, जब प्रत्येक आर्य सभासद् समाज के लिए अपना तन, मन, धन अर्पण करने को उद्यत हो। उन्हें इसी कर्तव्य का बोध कराने के लिए चौंतीसवाँ उपनियम बनाया गया था।

नवम्बर, १८७७ में लाहौर में आर्यसमाज के जो उपनियम बनाए गये थे, बाद में उनमें कुछ संशोधन किए गये। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उपनियमों का सम्बन्ध मुख्यतया समाज के संगठन और कार्यविधि आदि के साथ है। देश और समय की परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन किए ही जाने चाहिएँ। दस नियम आर्यसमाज के आधारभूत सिद्धान्त हैं, वे अपरिवर्तनीय हैं, पर उपनियम उनसे भिन्न हैं।

(६) पंजाब में स्वामी दयानन्द सरस्वती की अनुपम सफलता

सोलह मास के लगभग का जो समय स्वामी जी ने पंजाब में व्यतीत किया, आर्यसमाज के इतिहास में उसका अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। आर्यसमाज के संगठन की वास्तविक नींव इसी काल में पड़ी। लुधियाना और गुजरात के अतिरिक्त जिस किसी भी नगर में स्वामी जी गये, वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गई और ये समाज राजकोट की

समाज के समान कुछ समय पश्चात् टूट नहीं गये, अपितु चिर काल तक स्थायी रहे। भारत के विभाजन के कारण पंजाब का जो भाग पाकिस्तान में चला गया, उसके नगरों में स्थापित आर्यसमाज अब विद्यमान नहीं हैं। पर अमृतसर, जालन्धर आदि में स्वामी जी के समय में स्थापित समाज अब तक भी भली भाँति फल-फूल रही हैं। लुधियाना और गुजरात में भी स्वामी जी के प्रचार के कारण कुछ समय बाद ही आर्यसमाजों की स्थापना हो गई थी। इन समाजों की सदस्य-संख्या भी शुरू से ही पर्याप्त रही। लाहौर आर्यसमाज के शुरू में ही एक सौ सदस्य बन गये थे, और एक साल पूरा होने तक उसकी सदस्य-संख्या तीन सौ तक पहुँच गई थी। अमृतसर के आर्यसमाज का आरम्भ पचास सदस्यों से हुआ था और रावलपिण्डी के समाज का तीस सदस्यों से।

केवल आर्यसमाजों की स्थापना की दृष्टि से ही स्वामीजी को पंजाब में असाधारण सफलता नहीं हुई थी, वेदभाष्य के प्रचार के सम्बन्ध में भी उनके पंजाब निवास के समय में बहुत कार्य हुआ था। १८७७ के मध्य तक स्वामी जी के वेदभाष्य के ग्राहकों की संख्या एक हजार के लगभग हो गई थी। उस समय सम्पूर्ण भारत में आर्यसमाज के सदस्य पाँच सौ से अधिक नहीं थे। इससे सहज में यह अनुमान किया जा सकता है कि बहुत-से ऐसे व्यक्ति भी स्वामी जी के वेदभाष्य को पढ़ने के लिए उत्सुक थे, जो आर्यसमाजी नहीं थे। वेदभाष्य के जो अंक मासिक रूप से प्रकाशित किये जा रहे थे, उनमें ग्राहकों के नाम तथा पते भी दे दिये जाते थे। उन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है, कि स्वामी जी के वेद-भाष्य के ग्राहक भारत के सभी प्रदेशों में थे। केवल बम्बई नगर में उसके १२० ग्राहक थे। बम्बई के अतिरिक्त पश्चिमी भारत के १२ नगरों में, मध्यप्रदेश के १० नगरों में, बंगाल के ११ नगरों में, विहार और राजपूताना के १० नगरों में और उत्तर प्रदेश के ३० नगरों में वेदभाष्य के ग्राहक विद्यमान थे। इनमें ऐसे व्यक्ति भी थे, जो अंग्रेजी भाषा और नये ज्ञान-विज्ञान में उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुए थे। जो लोग स्वामी जी के वेदभाष्य को पढ़ते थे, वे उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। पंजाब में रहते हुए स्वामी जी वेदों का भाष्य करने में तो तत्पर थे ही, पर साथ ही 'आर्योद्देश्य-रत्नमाला' एवं 'भ्रान्ति निवारण' नामक ग्रन्थों की रचना भी उन्होंने पंजाव निवास के समय में ही की थी। 'ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका' वे पहले ही लिख चुके थे, और १८७७ में उसका भी भली भाँति प्रचार होने लग गया था। वेद सम्बन्धी इतना अधिक साहित्य आधुनिक युग में किसी भी अन्य विद्वान् ने नहीं लिखा। यह स्वाभाविक था कि इस साहित्य को पढ़कर देश-विदेश के प्रबुद्ध लोगों का ध्यान धर्म तथा समाज सुधार के उन मन्तव्यों की ओर आकृष्ट हो, जिनका प्रति-पादन स्वामी जी द्वारा किया जा रहा था, और वे उनकी युक्तियुक्तता एवं प्रामाणिकता पर विश्वास करने लगें। १८७७-७८ के बाद उत्तर प्रदेश और अन्य प्रान्तों में आर्यसमाज का प्रचार जिस तेजी के साथ हुआ, उसमें स्वामी जी का साहित्य एक महत्त्वपूर्ण कारण था। पंजाब में स्वामी जी को सुयोग्य तथा कर्मठ सहयोगी भी मिल गये थे। लाहौर आर्य-समाज के प्रधान लाला मूलराज और मन्त्री लाला जीवनदास सुशिक्षित तथा उच्च स्थिति के व्यक्ति थे। स्वामी जी ने पंजाब में आर्यसमाज का बीजारोपण किया, और आर्य सभा-सदों के प्रयत्न से वह छोटा-सा पौधा एक महान् वृक्ष बन गया।

प्रश्न यह है, कि स्वामी जी को पंजाब में जो अनुपम सफलता प्राप्त हुई, क्या उसके कोई विशेष कारण भी थे? भारत के विभिन्न प्रदेशों में पंजाब की एक विशिष्ट

भौगोलिक स्थिति है। अत्यन्त प्राचीन काल में यह आर्य धर्म तथा संस्कृति का प्रधान केन्द्र था, और (गंगा यमुना के द्वाबे को अन्तर्गत कर) इसी को 'सप्तसैन्धव' देश कहते थे। चौथी सदी ईस्वी पूर्व से कुछ पहले से ही इस प्रदेश पर विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे, और यवन, शक, पल्हव, कुशाण, हूण आदि जातियों ने इसे आक्रान्त कर वहाँ अपने शासन स्थापित करने में भी सफलता प्राप्त की थी। मध्य युग में तुर्क-अफगानों और मुगलों ने इस प्रदेश को आक्रान्त किया, और अनेक सदियों तक इस पर शासन किया। विदेशी व विधर्मी जातियों के निरन्तर आक्रमणों के कारण यह प्रदेश विभिन्न संस्कृतियों का संगम-स्थल बन गया था, और यहाँ के निवासियों के लिए किन्हीं परम्पराओं व रूढ़ियों पर निरपवाद रूप से स्थिर रहना सुगम नहीं रहा था। नयी बातों को ग्रहण करने के लिए वे उद्यत रहते थे। भारत के अनेक पूर्वी प्रदेशों के लोगों के समान पंजाब के निवासी अत्यधिक रूढ़िवादी और प्रगतिशील विचारों के विरोधी नहीं थे। ब्राह्मण पण्डितों का भी वहाँ वैसा प्रभाव नहीं था, जैसा कि अन्यत्र था। वहाँ के लोकप्रिय सम्प्रदाय सिक्ख पन्थ के गुरु जन्म से ब्राह्मण नहीं थे। न केवल सिक्ख ही, अपितु पंजाबी हिन्दू भी इन गुरुओं के प्रति श्रद्धा रखते थे, और उनके 'शब्दों' (वचनों) का श्रवण किया करते थे। ऐसी दशा में जब स्वामी जी ने स्वयं ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर भी वैदिक धर्म की शिक्षाओं को ऐसे रूप में प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया, जो पौराणिक ब्राह्मण पण्डितों की मान्यताओं के प्रतिकूल था, और जिसके अनुसार कोई भी मनुष्य धर्म व विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर ब्राह्मण, पण्डित व गुरु की स्थिति पा सकता था, तो पंजाब के लोगों को उनके विचार बहुत उत्तम प्रतीत हुए और वे उनके अनुयायी होते गये।

सन् १८७७-७८ में जो दस आर्यसमाज पंजाब में स्थापित हुए, और जिन नगरों में स्वामी जी ने स्वयं जाकर वैदिक धर्म का प्रचार किया, उनमें बहुसंख्यक ऐसे थे, जो अब पाकिस्तान में हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उस समय पंजाब का क्षेत्र बहुत विशाल था। पाकिस्तान का पंजाब, भारत का पंजाब और हरियाणा के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रदेश भी उसके अन्तर्गत थे। इस विशाल पंजाब में ५० प्रतिशत के लगभग मुसलमान थे, ३७ प्रतिशत के लगभग हिन्दू और १३ प्रतिशत के लगभग सिक्खों का वहाँ निवास था। पंजाब का जो भाग अब पाकिस्तान में है, उसमें मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक थी, ८० प्रतिशत के लगभग। पर बहुसंख्यक मुसलमान अशिक्षित थे और नवीन जागरण की प्रवृत्तियों से वे अधिक प्रभावित नहीं हुए थे। सरकारी नौकरियों तथा आर्थिक जीवन में हिन्दुओं की तुलना में उनका स्थान गौण था। साथ ही, शहरों की तुलना में उनकी आबादी ग्रामों में अधिक थी। अल्प संख्या में होते हुए भी हिन्दुओं का महत्त्व कम नहीं था। सरकारी सर्विस, शिक्षा, चिकित्सा, वकालत आदि में वे मुसलमानों से बहुत आगे थे, और व्यापार भी प्रधानतया उन्हीं के हाथों में था। छोटे-छोटे कस्बों तथा बड़े गाँवों में भी हिन्दुओं का निवास था, और व्यापार तथा महाजनी करने के कारण वहाँ के आर्थिक जीवन का संचालन प्रायः वे ही किया करते थे। जात-बिरादरियों की दृष्टि से पश्चिमी एवं मध्य पंजाब के हिन्दुओं में खत्री, अरोड़े और महाजन अधिक संख्या में थे, और पंजाब के पूर्वी क्षेत्र (जो अब हरियाणा नाम से एक पृथक् प्रदेश है) में जाट, अग्रवाल और अहीर अधिक थे। पाकिस्तानी पंजाब के देहातों में खेतिहर जातियाँ इस्लाम को अपना चुकी थीं, और मध्य पंजाब में सिक्ख सम्प्रदाय को। केवल हरियाणा में ही ये

जातियाँ हिन्दू धर्म में दृढ़ थीं। स्वामी जी इस (हरियाणा) क्षेत्र में केवल अम्बाला और रिवाड़ी गये थे, और वह भी बहुत थोड़े समय के लिए पंजाब से लौटते हुए। पंजाब में प्रचारकार्य के लिए लगाये गये सोलह महीनों का अधिकांश भाग उन्होंने उन नगरों में व्यतीत किया था, जो अब पाकिस्तान में हैं। इन नगरों के हिन्दू ऐसे वातावरण में निवास कर रहे थे, जिस पर इस्लाम का बहुत प्रभाव था। मुसलमानों में जातिभेद का वह उग्र रूप नहीं है, जो हिन्दुओं में है। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में उन सबकी स्थिति को एक बराबर समझा जाता है, जो इस्लाम को अपना लें। मुसलमान एक ईश्वर में विश्वास रखते हैं, और मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। उनका एक धर्म ग्रन्थ है, और सब मुसलिम सम्प्रदाय उसी को प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं। पश्चिमी पंजाब के हिन्दू इस्लाम के इस स्वरूप से भली भाँति परिचित थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उन्हें बताया, कि सत्य-सनातन वैदिक धर्म के अनुसार भी ईश्वर केवल एक है, जो निराकार और अजन्मा है। उसकी मूर्ति बन ही नहीं सकती, अतः मूर्तिपूजा शास्त्रविरुद्ध है। समाज में ऊँच-नीच का भेद जन्म के आधार पर न होकर गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार होना चाहिए। वेद ऐसे ईश्वरकृत, अनादि व अपौरुषेय ग्रन्थ हैं, जिन्हें सब हिन्दू सम्प्रदाय स्वतःप्रमाण मानते हैं, और पुराण सदृश मनुष्यकृत पुस्तकों को न पढ़कर वेदों का ही पठन-पाठन किया जाना चाहिए। स्वामी जी के इन मन्तव्यों के प्रति पश्चिमी पंजाब के हिन्दुओं का आकृष्ट होना अस्वाभाविक नहीं था। स्वामी जी ने उनके सम्मुख इस तथ्य का प्रतिपादन किया, कि अत्यन्त प्राचीन काल में आर्य (हिन्दू) लोग विश्व में सबसे अधिक उन्नत थे, पृथिवी के बड़े भाग पर उनका आधिपत्य था, और आर्य धर्म एवं संस्कृति का सर्वत्र प्रचार था। पर बाद में वेदों की शिक्षाओं से विमुख हो जाने के कारण उनकी शक्ति का ह्रास हो गया, और वे इस आर्यावर्त देश में ही विदेशियों व विधर्मियों द्वारा पदाक्रान्त किये जाने लग गये। यदि हिन्दू पुनः सच्चे वैदिक धर्म का अनुसरण करने लगें, तो एक बार फिर वे अपने विलुप्त गौरव को प्राप्त कर सकते हैं। स्वामी जी के ये मन्तव्य उन हिन्दुओं में किस प्रकार उत्साह तथा आशा का संचार कर रहे होंगे, जिनकी स्थिति इस्लाम रूपी समुद्र में छोटे-छोटे द्वीपों के समान थी, इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है। इस क्षेत्र में स्वामी जी की अनुपम सफलता का यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था। स्वामी जी के व्याख्यानों को सुनकर पंजाब के हिन्दुओं ने यह अनुभव कर लिया, कि उनका धर्म न इस्लाम से किसी भी प्रकार कम है और न क्रिश्चिएनिटी से।

पंजाब में जो हिन्दू स्वामी जी के प्रति सबसे अधिक आकृष्ट हुए, और जिन्होंने आर्यसमाजों की स्थापना में विशेष रूप से कर्तृत्व प्रदर्शित किया, उनमें खत्रियों का स्थान मुख्य था। इस क्षेत्र की यह सबसे उद्‌बुद्ध जाति थी। एक सदी के लगभग के सिक्खों के प्रभुत्व के काल में पंजाब के शासक वर्ग में खत्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यद्यपि सिक्ख राजा और महाराजा खत्री नहीं थे, पर उनके बहुत-से राजपदाधिकारी व कर्मचारी खत्री थे, जिनके कारण समाज में इस जाति ने प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था। मराठा राज्य में जो स्थान ब्राह्मणों का था, प्रायः वही सिक्ख राज्यों में खत्रियों का था। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में जब पंजाब पर ब्रिटिश शासन स्थापित हो गया, तब कुछ समय के लिए खत्रियों के महत्त्व में कमी अवश्य आई। पर यह दशा देर तक नहीं रही। नयी अंग्रेजी शिक्षा के ग्रहण करने में उन्होंने देर नहीं की और शीघ्र ही अंग्रेजी शासन में भी सरकारी सर्विस

आदि में उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया। १८७७ में जब स्वामी जी पंजाब आए, तो इस जाति के शिक्षित व सम्पन्न लोग उनके मन्तव्यों का समुचित रूप से स्वागत करने के लिए तैयार थे। अरोड़ा, महाजन और कायस्थ जातियों की दशा भी पंजाब में खत्रियों से अधिक भिन्न नहीं थी। समाज में उनकी भी अच्छी स्थिति थी। पूर्वी भारत के लोगों के समान उनमें रूढ़िवाद और संकीर्णता सुदृढ़ रूप से बद्धमूल नहीं थी। इसीलिए वे सुगमता से आर्यसमाज में सम्मिलित होने के लिए उद्यत हो गये, और पंजाब में इस संस्था ने बहुत अधिक उन्नति की। पुराणपन्थी ब्राह्मण पण्डितों का पंजाब में अधिक प्रभाव नहीं था। इसलिए भी वहाँ आर्यसमाज का कार्य अधिक सुगम हो गया। पंजाब में आर्यसमाज को जो असाधारण सफलता प्राप्त हुई, उसके सम्बन्ध में एक पृथक् परिशिष्ट में विशद् रूप से विवेचन किया जाएगा।

ग्यारहवाँ अध्याय

आर्यसमाज का प्रसार

(१) उत्तर प्रदेश में आर्यसमाजों की स्थापना

सोलह मास के लगभग पंजाब में वैदिक धर्म का प्रचार तथा अनेक आर्यसमाजों की स्थापना कर जुलाई, १८७८ के मध्य में स्वामी जी उत्तर प्रदेश आ गये, और मार्च, १८८१ के प्रथम सप्ताह तक प्रायः यही प्रदेश उनका कार्यक्षेत्र रहा। इस अवधि में वे दो मास के लगभग राजस्थान में रहे, और कुछ समय दानापुर (बिहार) में। शेष तीस मास का सुदीर्घ समय उन्होंने उत्तर प्रदेश में ही व्यतीत किया। यह प्रदेश इससे पूर्व भी स्वामी जी का कार्यक्षेत्र रह चुका था। १८६७ के कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में पाखण्ड-खण्डिनी पताका की स्थापना कर सत्य सनातन वैदिक धर्म का जो प्रचार उन्होंने प्रारम्भ किया था, उसका प्रधान क्षेत्र उत्तर प्रदेश ही था, और वहीं उन्होंने प्रसिद्ध पौराणिक विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त कर वेदों की वास्तविक शिक्षाओं को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था। आर्ष ग्रन्थों की शिक्षा के लिए अनेक पाठशालाएँ भी वहाँ उन्होंने स्थापित की थीं। पर उस समय उत्तर प्रदेश में स्वामी जी को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। उन्होंने जो पाठशालाएँ व विद्यालय स्थापित किए थे, वे भी देर तक कायम नहीं रह सके थे। पर अब स्थिति बदल गई थी। स्वामी जी के अनेक ग्रन्थ इस समय तक प्रकाशित हो चुके थे, और उनका वेदभाष्य भी प्रतिमास नियमित रूप से प्रकाशित हो रहा था। सुशिक्षित वर्ग में स्वामी जी की ये रचनाएँ अत्यन्त लोकप्रिय थीं। इनकी लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है, कि सन् १८७७ में 'पंच महायज्ञविधि' की दस हजार प्रतियाँ छपी थीं। इस पुस्तक का एक संस्करण दो वर्ष पूर्व १८७५ में भी प्रकाशित हो चुका था। 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' का पहला संस्करण (१८७८) ३१०० छपा था, और 'ऋग्वेद भाष्य' का पहला नमूने का अंक (१८७७) ५०००। आज भी किसी पुस्तक का इतनी बड़ी संख्या में छपना कोई साधारण बात नहीं है। अब से एक सदी से भी अधिक समय पहले जबकि भारत में साक्षर लोगों की संख्या बहुत कम थी, स्वामी जी की रचनाओं का इतनी बड़ी संख्या में छपना सूचित करता है कि लोग उन्हें बहुत रुचिपूर्वक पढ़ते थे और उनकी बहुत माँग थी। इस साहित्य के कारण पढ़े लिखे लोग प्रबल रूप से स्वामी जी की ओर आकृष्ट होने लगे थे, और वे उनकी शिक्षाओं को क्रियान्वित करने के लिए आर्यसमाजों की स्थापना करना भी आवश्यक समझने लग गये थे। यही कारण है, कि उत्तर प्रदेश के अनेक नगरों में स्वामी जी के आगमन से पूर्व ही आर्यसमाजों की स्थापना शुरू हो गई थी।

सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) जिले में रुड़की नगर इन्जीनियरिंग की शिक्षा का प्रधान केन्द्र रहा है। वहाँ इन्जीनियरिंग कालिज की स्थापना उन्नीसवीं सदी के मध्य में हो गई थी, और अब यही कालिज इन्जीनियरिंग यूनिवर्सिटी का रूप प्राप्त कर चुका है। आधुनिक शिल्प विज्ञान की शिक्षा का केन्द्र होने के कारण रुड़की में सुशिक्षित व्यक्ति पर्याप्त संख्या में थे। हरिद्वार भी इस नगरी से अधिक दूर नहीं है। १८६७ के कुम्भ पर वहीं स्वामी जी ने पाखण्ड-खण्डिनी पताका की स्थापना की थी। जुलाई, १८७८ के मध्य में जब स्वामी जी रुड़की पधारे, तब वहाँ धूमधाम के साथ उनका स्वागत हुआ और इन्जीनियरिंग कालिज के प्राध्यापक तथा विद्यार्थी बड़े उत्साह के साथ उनके व्याख्यानों को सुनने के लिए आने लगे। इन व्याख्यानों में स्वामी जी मुख्यतया यह प्रतिपादित करते थे, कि प्रायः सभी वैज्ञानिक सिद्धान्त एवं तथ्य वेदों तथा अन्य प्राचीन आर्ष साहित्य में सूत्र रूप से विद्यमान हैं। एक दिन जब स्वामी जी ने यह बताया कि प्राचीन भारतीय शास्त्रों के अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथिवी उसके चारों ओर चक्कर काटती है, तो श्रोता आश्चर्यचकित रह गये। वेद मन्त्रों द्वारा स्वामी जी ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया, और यह भी निरूपित किया कि प्राचीन भारतीयों को न केवल अमेरिका का परिज्ञान ही था अपितु उस महाद्वीप के साथ उनका सम्बन्ध भी था। रुड़की के समीप जैसे हिन्दुओं का सुप्रसिद्ध तीर्थ हरिद्वार है, वैसे ही परानकलीयर नाम का मुसलिम धर्मस्थान भी वहाँ से केवल पाँच मील की दूरी पर स्थित है। इस्लाम का प्रसिद्ध शिक्षणालय या विद्यापीठ (दारुल-उलूम) भी वहाँ से कुछ ही मीलों की दूरी पर देवबन्द में है। इन्जीनियरिंग कालिज की सत्ता के कारण ईसाई पादरी भी रुड़की में बहुत सचेष्ट थे। इस प्रकार रुड़की का क्षेत्र पौराणिक हिन्दू धर्म, इस्लाम तथा क्रिश्चिएनिटी तीनों का केन्द्र था। रुड़की में रहते हुए स्वामी जी ने इन तीनों के ही मन्तव्यों का खण्डन किया, और यह भी प्रयत्न किया कि इनके धर्माचार्यों के साथ उनके शास्त्रार्थ हों। देवबन्द के दारुल-उलूम के प्रधान उस समय मौलवी मुहम्मद कासिम थे। मुसलिम धर्मशास्त्रों के ज्ञान के लिए वे दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। स्वामी जी चाहते थे कि इस्लाम के सम्बन्ध में उनसे शास्त्रार्थ हो। पर शास्त्रार्थ की शर्तों आदि के विषय में निर्णय न हो सकने के कारण उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। स्वामी जी एक मास के लगभग रुड़की रहे, और व्याख्यानों तथा शास्त्र-चर्चा के साथ-साथ वेदभाष्य के लिए भी समय निकालते रहे। अब अनेक पण्डित और लेखक उनके साथ थे। उनके पत्र-व्यवहार में भी बहुत वृद्धि हो गई थी। इस कारण अनेक लिपिकों का भी उनके साथ-साथ रहना आवश्यक हो गया था। २० अगस्त, १८७८ को रुड़की में आर्यसमाज की स्थापना हो गई, और उसी दिन स्वामी जी ने वहाँ से बिदा ली। रुड़की से वे अलीगढ़ गये, और कुछ दिन वहाँ निवास कर २६ अगस्त को मेरठ आ गये। इससे पूर्व भी स्वामी जी तीन बार मेरठ आ चुके थे, और वहाँ के निवासी उनसे अपरिचित नहीं थे। पर इस बार उनके आगमन की चर्चा मेरठ में सर्वत्र फैल गई, और लोग बड़ी संख्या में उनके प्रवचन सुनने के लिए आने लगे। स्वामी जी के उपदेशों और व्याख्यानों का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप २९ सितम्बर, १८७८ को मेरठ में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गई। शुरू में इस समाज के ८१ सदस्य बने, जिनमें नगर के अनेक रईस, साहूकार, व्यापारी और राजकीय कर्मचारी भी सम्मिलित थे। आर्यसमाज के इतिहास में मेरठ का महत्वपूर्ण स्थान है, और साथ ही वहाँ के

अनेक नागरिकों का भी। परोपकारिणी सभा की स्थापना भी स्वामी जी ने पहले मेरठ में ही की थी (१६ अगस्त, १८८०)। अजमेर में वह बाद में स्थापित की गई थी। मेरठ में स्थापित आर्यसमाज के कतिपय ऐसे सदस्य भी थे, जिनकी सन्तान व पारिवारिक जनों ने आगे चलकर आर्य जगत् में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। इनमें पं० गंगाप्रसाद एम० ए०, पं० सीताराम और पं० घासीराम सदृश अनेक प्रसिद्ध आर्य विद्वान् भी थे। मेरठ के सम्भ्रान्त रईस परिवारों में 'पत्थर वालों' का घराना बहुत प्रसिद्ध है। इस घराने के लाला मुन्नालाल साहू भी आर्यसमाज के सदस्य बने और कुछ समय बाद उसके कोषाध्यक्ष निर्वाचित हो गये।

सात सप्ताह के लगभग मेरठ में धर्म प्रचार कर स्वामी जी ९ अक्टूबर, १८७८ को दिल्ली चले गये। उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर दिल्ली के निवासियों ने भी आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय किया, और नवम्बर मास के प्रथम सप्ताह में वहाँ भी समाज स्थापित हो गया। दिल्ली से स्वामी जी राजस्थान चले गये, और अजमेर, पुष्कर, मसूदा, नसीराबाद, जयपुर और रिवाड़ी में धर्मप्रचार करते हुए पुनः दिल्ली लौट आए (९ जनवरी, १८७९)। दो मास के लगभग के राजस्थान निवास में स्वामी जी ने कितने ही व्याख्यान दिए; ईसाइयों, मुसलमानों तथा पौराणिकों के धर्माचार्यों से शास्त्रार्थ किए, और लोगों की शंकाओं का समाधान किया। अजमेर में स्वामी जी का जिन ईसाई पादरियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था, उनमें पादरी हस्बैण्ड भी एक थे। उन्होंने स्वामी जी के प्रचार कार्य के सम्बन्ध में एक लेख कलकत्ता के 'इण्डियन मिरर' पत्र में लिखा था (३१ अगस्त, १८७९), जिसकी ये पंक्तियाँ उद्धरण के योग्य हैं—"प्रत्येक सायंकाल जनता बहुत बड़ी संख्या में स्वामी जी द्वारा की गई वेदों की व्याख्या को सुनने के लिए एकत्र होती है। यद्यपि उनके व्याख्यान से हिन्दू स्तम्भित हो जाते हैं और मुसलमान क्रुद्ध, पर सब यह अनुभव करते हैं कि उनके सम्मुख एक ऐसा व्यक्ति विद्यमान है जिसकी मानसिक शक्तियाँ अनुपम हैं, जिसकी बुद्धि परिष्कृत और तर्कक्षमता सूक्ष्म व प्रभावोत्पादक है और जिसका व्यक्तित्व अत्यन्त शक्तिसम्पन्न है। उनके व्याख्यानों ने बहुत प्रभाव उत्पन्न किया और देशवासियों में धार्मिक विषयों के प्रति ऐसी उत्तेजना प्रादुर्भूत हुई जैसी कि मैंने पहले कभी नहीं देखी थी।" 'आर्यदर्पण' के अनुसार जब तक अजमेर में स्वामी जी के व्याख्यान होते रहे, सर्वत्र उन्हीं की चर्चा रही (जून, १८८०)। इसमें सन्देह नहीं कि राजस्थान में स्वामी जी के व्याख्यानों ने जनता को बहुत प्रभावित किया था।

राजस्थान से दिल्ली आते हुए स्वामी जी कुछ दिन (२४ दिसम्बर, १८७८ से ६ जनवरी, १८७९ तक) रिवाड़ी रहे। वहाँ के जमींदार राव युधिष्ठिर सिंह ने उन्हें रिवाड़ी के लिए आग्रहपूर्वक निमन्त्रित किया था। दिल्ली दरबार के अवसर पर राव साहब ने स्वामी जी के दर्शन किए थे और उनके उपदेशों से वह बहुत प्रभावित हुए थे। वह निरन्तर स्वामी जी से रिवाड़ी पधारने के लिए अनुरोध कर रहे थे। वहाँ स्वामी जी ने ग्यारह व्याख्यान दिए, जिनसे वैदिक धर्म के प्रति जनता के आकृष्ट होने में बहुत सहायता मिली। राव युधिष्ठिर सिंह ८५ ग्रामों के जमींदार थे। उनके पास भूमि की कोई कमी नहीं थी। स्वामी जी की प्रेरणा से उन्होंने रिवाड़ी में गौशाला की स्थापना की, जो सम्भवतः आधुनिक युग की पहली गौशाला थी। इस समय स्वामी जी गोरक्षा को बहुत महत्त्व देने

लग गये थे। अजमेर में उनकी मौलवी मुहम्मद मुराद अली से इस विषय पर विशद् रूप से बातचीत हुई थी, और क्योंकि मौलवी साहब स्वयं भी गौरक्षा के समर्थक थे, अतः स्वामी जी ने उन्हें इसके लिए साधुवाद भी दिया था। गौरक्षा की समस्या पर एक पुस्तक लिखने का विचार भी स्वामी जी के मन में उत्पन्न हो चुका था। इसी के परिणामस्वरूप उन्होंने 'गोकरुणानिधि' की रचना की, जो मार्च, १८८१ तक छपकर प्रकाशित भी हो गई थी। आर्यसमाज द्वारा गोरक्षा तथा गौशालाओं की स्थापना को जो महत्त्व दिया गया, उसका सूत्रपात स्वामी ने रिवाड़ी में ही कर दिया था।

९ जनवरी, १८७९ को स्वामी जी रिवाड़ी से दिल्ली आ गये, और कुछ दिन वहाँ धर्म प्रचार कर १५ जनवरी को मेरठ चले गये। इस साल हरिद्वार में फिर कुम्भ था। हिन्दुओं के इस मेले में एकत्र हुए लाखों नर-नारियों को सत्य सनातन वैदिक धर्म का सन्देश पहुँचाने का यह अनुपम अवसर था, जो बारह साल बाद फिर उपस्थित हुआ था। इस बार स्वामी जी मेरठ में अठाइस दिन रहे, और वहाँ निवास करते हुए कुम्भ के मेले में प्रचार करने के लिए उन्होंने कई सहस्र विज्ञापन छपवाए। १६ फरवरी को उन्होंने मेरठ से हरिद्वार के लिए प्रस्थान किया, और मार्ग में रुड़की तथा सहारनपुर ठहरते हुए २० फरवरी को हरिद्वार पहुँच गये। जो विज्ञापन स्वामी जी ने मेरठ में छपवाए थे, उन्हें सब सार्वजनिक स्थानों पर लगवा दिया गया। विज्ञापनों के प्रचारित होते ही मेले में सर्वत्र स्वामी जी की चर्चा होने लगी, और हजारों लोग उनके प्रवचनों को सुनने तथा शंका समाधान के लिए आने लगे। हरिद्वार में धर्म प्रचार करते समय स्वामी जी के क्या विचार थे, और किस प्रयोजन से वे प्रचार कार्य में तत्पर थे, इसे स्पष्ट करने के लिए इस विज्ञापन के कुछ वाक्यों को उद्धृत करना उपयोगी है—"ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अपना, अपने बन्धु वर्गों का हित और परमेश्वर की आज्ञा का पालन न करना चाहे। क्या कोई ऐसा भी मनुष्य है जो परस्पर मित्रता, सदुपदेश, प्रीति, धर्मानुष्ठान, विद्या की वृद्धि, दुष्ट कर्म और आलस्य के त्याग, श्रेष्ठ कामों के सेवन, परोपकार और पुरुषार्थ के बिना सर्वहित कर सके और ईश्वर प्रतिपादित वेदों के अनुसार आचरण किए बिना सुख को प्राप्त हो सके। इसलिए आर्यों के इस महासमुदाय में वेदमन्त्रों के द्वारा सब सज्जन पुरुषों के हित के लिए ईश्वर की आज्ञा का प्रकाश संक्षेप में किया जाता है जिसको सब मनुष्य देख, सुन और विचार कर ग्रहण करें और इस मेले में तन, मन और धन से आने के सत्य सुख रूप फलों को प्राप्त हों, और अपने मनुष्य देह रूप वृक्ष के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार फलों को पाकर जन्म सफल करें।...प्राचीन काल में आर्यावर्त की उन्नति का कारण वेदोक्त धर्म पर चलना था और इस समय की अवनति का कारण वेदोक्त धर्म का त्याग है। जिसका फल दुःख हो वह कभी धर्म और जिसका फल सुख हो वह कभी अधर्म नहीं हो सकता। अब भी यदि उन्नति हो सकती है तो उन्हीं कामों से हो सकती है जिन्हें आर्यसमाज के सभासद् करना कराना चाहते हैं, अर्थात् संस्कृत भाषा के जानने वाले, स्वदेशियों की बढ़ती के अभिलाषी, परोपकारक, निष्कपट हो के सत्य विद्या देने की इच्छा युक्त, धार्मिक विद्वानों की उपदेशक मण्डली बना और वेदादि सत्य शास्त्रों के पढ़ाने के लिए पाठशाला स्थापित करना। आशा है इस बात को सुनकर सब भद्र लोग स्वीकार करके आर्योन्नति करने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होंगे।" इस विज्ञापन में न कहीं साम्प्रदायिकता है और न किसी प्रकार की संकीर्णता। दूसरे सम्प्रदायों के प्रति किसी

प्रकार की विरोध भावना भी इसमें परिलक्षित नहीं होती। स्वामी जी का लक्ष्य सर्वथा स्पष्ट है। आर्यों की उन्नति हो, आर्यावर्त (भारत) देश फिर पहले के समान समुन्नत व समृद्ध हो और जनता वेदोक्त सत्य धर्म में प्रवृत्त हो। विज्ञापन में स्वामी जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आर्यसमाज की स्थापना इसी प्रयोजन से की गई है, और उसके सभासदों से यही अपेक्षा की जाती है कि वे स्वदेश एवं धर्म की उन्नति के लिए तत्पर हों। शिक्षणालय स्थापित करने का विचार इस समय भी स्वामी जी के सम्मुख विद्यमान था। वे कितनी ही पाठशालाएँ व विद्यालय स्थापित कर चुके थे, पर उन्हें समुचित सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। पर इससे स्वामी जी हताश नहीं हुए थे। वे अनुभव करते थे कि सच्चे धार्मिक विद्वान् उपदेशक तभी तैयार किए जा सकते हैं जब वेदादि सत्य शास्त्रों की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ विद्यमान हों। हरिद्वार में प्रचारित विज्ञापन में स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया था। १४ एप्रिल तक स्वामी जी हरिद्वार रहे और उसके बाद देहरादून चले गये। हरिद्वार में निवास करते हुए उनकी केवल सनातनी पण्डितों तथा साम्प्रदायिक साधु-संन्यासियों से ही धर्म चर्चा नहीं हुई, अपितु कितने ही मुसलमान और ईसाई भी उनसे भेंट करने तथा विचार-विमर्श के लिए आए। कुम्भ के मेले पर कितने ही उच्च सरकारी अधिकारी भी हरिद्वार आये हुए थे, जिनमें मेरठ के कमिश्नर, सहारनपुर के कलेक्टर तथा जंगलात के कन्जर्वेटर भी थे। ये भी स्वामी जी से मिलने के लिए गये, और उनके विचारों को सुनकर बहुत प्रभावित हुए।

१४ एप्रिल, १८७९ को स्वामी जी हरिद्वार से देहरादून गये। शिवालिक और हिमालय की पर्वत शृंखलाओं की मध्यवर्ती घाटी में स्थित इस नगर का अपना विशेष महत्त्व है। उसके समीप ही प्रसिद्ध पार्वत्य नगरी मसूरी की स्थिति है। जलवायु की दृष्टि से ये दोनों नगर अनुपम हैं। इसीलिए बहुत-से अंग्रेज राजकर्मचारी व सैनिक इनमें निवास किया करते थे, और ईसाई पादरियों का भी वहाँ बहुत जोर था। स्वामी जी जिस ढंग से क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम के मन्तव्यों की आलोचना करते थे, ईसाई पादरी उससे बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने कुवचनों का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं किया। पर स्वामी जी जिस प्रकार शान्ति से तथा युक्तिपूर्वक अपने धर्म के प्रचार में तत्पर थे, उसके कारण कितने ही हिन्दू ईसाई होने से बच गये। देहरादून में स्वामी जी सोलह दिन रहे, और उसके बाद उन्होंने सहारनपुर के लिए प्रस्थान कर दिया। पर इस बीच में २९ एप्रिल, १८७९ के दिन देहरादून में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गई थी, और मुहम्मद उमर नाम के एक जन्म के मुसलमान को शुद्ध करके हिन्दू भी बना लिया गया था। उसका हिन्दू नाम अलखधारी रखा गया था। सदियों के बाद अब एक बार फिर आर्य धर्म का पतित पावन रूप प्रकट हुआ था, और उस प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ था जिसके कारण बाद में आर्यसमाज द्वारा हजारों विधर्मियों को वैदिक धर्म में दीक्षित किया गया।

स्वामी जी सहारनपुर में केवल दो दिन रहे, और ३ मई, १८७९ को मेरठ चले गये। कर्नल आल्काट और मदाम ब्लेवेत्स्की भी उनके साथ थे। इनके कर्तृत्व के कारण अमेरिका में थियोसोफिस्ट सोसायटी की स्थापना हुई थी, और ये स्वामी जी से मिलने और उनके सहयोग तथा पथप्रदर्शन को प्राप्त करने के प्रयोजन से भारत आए थे। इस सोसायटी के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के बारहवें अध्याय में पृथक् रूप से प्रकाश डाला जाएगा। मेरठ में निवास करते हुए एक बार फिर यह चर्चा हुई कि स्वामी जी का देवबन्द के

दारुल-उलूम के प्रधान मौलवी मुहम्मद कासिम के साथ शास्त्रार्थ हो। पर इस बार भी शास्त्रार्थ के नियमों का निर्धारण नहीं हो सका, और शास्त्रार्थ नहीं हुआ।

२२ मई, १८७९ को स्वामी जी मेरठ से अलीगढ़ गये और वहाँ से छलेसर। इन दिनों उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। अत: वे धर्म प्रचार का विशेष कार्य नहीं कर सके। ३ जुलाई को वे मुरादाबाद गये, और महीने के अन्त तक वहीं निवास किया। अब उनका शरीर नीरोग हो गया था, अत: मुरादाबाद में उनके अनेक व्याख्यान हुए, और २० जुलाई को वहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना हो गई। मुरादाबाद में स्वामी जी ने राजनीतिक विषय पर भी एक व्याख्यान दिया, जिसकी अध्यक्षता वहाँ के मजिस्ट्रेट मिस्टर स्पीडिंग ने की थी। नगर के प्रमुख राजपदाधिकारी, वकील तथा सुशिक्षित व्यक्ति इस व्याख्यान को सुनने के लिए आये थे। अंग्रेजी भाषा तथा आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा से सर्वथा अपरिचित एक व्यक्ति वेद शास्त्रों तथा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर राजधर्म का ऐसा युक्तिसंगत प्रतिपादन कर सकता है, यह देखकर श्रोता लोग आश्चर्यचकित रह गए, और मि० स्पीडिंग ने स्वामी जी की योग्यता तथा राजनीति के ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

३१ जुलाई को स्वामी जी मुरादाबाद से बदायूँ गये। वहाँ स्वामी जी के आगमन से पहले ही आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। दो सप्ताह बदायूँ रहकर १४ अगस्त को स्वामी जी बरेली चले गये। उन दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी (महात्मा मुंशीराम जी) के पिता बरेली के कोतवाल थे। वे कट्टर मूर्ति पूजक थे। मुंशीराम उन दिनों काशी में पढ़ते थे। उन्हें संस्कृत भाषा में अत्यन्त अश्रद्धा थी, और वेद शास्त्रों का पढ़ना उनकी दृष्टि में सर्वथा निरर्थक था। ईश्वर में भी उन्हें विश्वास नहीं था। मुंशीराम उन दिनों काशी से बरेली अपने पिता जी के पास आये हुए थे। वे भी स्वामी जी का व्याख्यान सुनने के लिए गये। स्वामी जी के दर्शन कर और उनका व्याख्यान सुन किशोरवय मुंशीराम पर जो प्रभाव पड़ा, उसे उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करना उपयोगी है—"दर्शन करते ही कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई और फिर जब पादरी स्कॉट और दो-तीन और अंग्रेजों को सुनने का इच्छुक पाया तो और भी श्रद्धा बढ़ी। अभी दस मिनट भाषण नहीं सुना था कि मन ने कहा, यह विचित्र मनुष्य है, केवल संस्कृत का ज्ञाता होकर ऐसी बुद्धि अनुकूल बात कहता है कि विद्वान् लोग दंग हो जाएँ। व्याख्यान ईश्वर के निज नाम "ओ३म्" पर था। मैं वह पहले दिन का आस्तिक आनन्द कभी भूल नहीं सकता। इसके पश्चात् मूर्तिपूजा के खण्डन पर व्याख्यान जब आरम्भ हुए, तो जहाँ मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी, वहाँ मेरे पिता की श्रद्धा यद्यपि घटी तो नहीं परन्तु उन्होंने व्याख्यानों में जाना बन्द कर दिया।" मुंशीराम जो आगे चलकर आर्यसमाज के महान् नेता बने, और जिन्होंने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना कर स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया, वे बरेली में स्वामी जी के सम्पर्क में आए थे, और घोर नास्तिक के स्थान पर श्रद्धालु आस्तिक बन गये थे।

बरेली में ईसाई पादरी रेवरेण्ड टी० जी० स्कॉट से तीन दिन शास्त्रार्थ भी हुए। इनके विषय पुनर्जन्म, ईश्वर द्वारा शरीर धारण करना तथा पापों की क्षमा थे। इन शास्त्रार्थों की बहुत चर्चा रही, और बरेली के प्राय: सभी अंग्रेज पदाधिकारियों ने भी इन्हें रुचिपूर्वक सुना। स्वामी जी के सम्पर्क में आकर रेवेरेण्ड स्काट उनके भक्त बन गये

थे, और उनके व्याख्यानों को सुनने के लिए आया करते थे। स्वामी जी का जो 'आत्म-चरित' कलकत्ता की 'थियोसोफिस्ट' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, उसका लिखवाना उन्होंने बरेली में ही शुरू कर दिया था। इस समय तक स्वामी जी की ख्याति न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी फैल चुकी थी। अत: लोग उनकी जीवनी जानने के लिए बहुत उत्सुक थे।

४ सितम्बर, १८७९ को स्वामी जी बरेली से शाहजहाँपुर गये। वहाँ आर्यसमाज की स्थापना उनके आगमन से पूर्व ही हो चुकी थी। शाहजहाँपुर के सनातनी लोग चाहते थे, कि स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ का आयोजन किया जाए। इसके लिए उन्होंने पीलीभीत से पण्डित अंगदराम को निमन्त्रित किया था। पर शास्त्रार्थ के स्थान आदि का निर्णय न हो सकने के कारण शाहजहाँपुर में भी शास्त्रार्थ नहीं हो सका।

दो सप्ताह के लगभग शाहजहाँपुर में धर्म प्रचार कर स्वामी जी १७ सितम्बर को लखनऊ के लिए रवाना हो गये। इस बार वे वहाँ केवल छह दिन ठहरे। २४ सितम्बर को वे कानपुर गये और केवल एक दिन वहाँ रह कर फर्रुखाबाद चले गये। वहाँ भी उनके आगमन से पूर्व ही आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। फर्रुखाबाद के साथ स्वामी जी का पहले भी बहुत सम्बन्ध रहा था। वहाँ के निवासियों की उनके प्रति श्रद्धा भी थी। वहाँ रहते हुए अपने भक्तों के सम्मुख उन्होंने कुछ ऐसी भावनाओं तथा विचारों को प्रकट किया, जो उनके कार्यों व आदर्शों के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। लाला मोहन लाल ने एक दिन स्वामी जी से कहा—महाराज, जो कुछ मैंने शास्त्रों में देखा और सुना है उससे मुझे ज्ञात होता है कि आप मोक्ष के पूर्ण अधिकारी हैं। क्या आपको इस शरीर से मोक्ष पाने की इच्छा नहीं है? इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया कि मैं अकेला मोक्ष पाकर क्या करूँगा। मेरी तो यह इच्छा है कि बहुत-से लोगों को मोक्ष मिले। फर्रुखाबाद में एक दिन कोई ग्रामीण वृद्धा अपने युवा पुत्र के शव को अन्त्येष्टि संस्कार के लिए गंगा तट पर लाई। वह इतनी दरिद्र थी कि मृतक के दाह के लिए ईंधन जुटा सकना भी उसके लिए सम्भव नहीं हुआ। स्वामी जी को जब यह ज्ञात हुआ, तो उन्होंने करुण स्वर में कहा—हाय, हमारा देश इतना निर्धन हो गया है कि मृतक शरीरों को काष्ठ तक भी नहीं मिल पाता। पर स्वामी जी अपने देश के भविष्य के सम्बन्ध में निराश नहीं थे। एक दिन उन्होंने कहा था कि परदेशी राजाओं ने हमारे देश से इतना धन हरण कर लिया है कि अब वह सर्वथा धनहीन हो गया है, परन्तु इस देश की भूमि इतनी उपजाऊ है कि अधिकार (स्वराज्य) पाने से थोड़े ही समय पश्चात् इसे पुन: धनधान्य से भरपूर कर देगी।

८ अक्टूबर, १८७९ को स्वामी जी फर्रुखाबाद से कानपुर गये और आठ दिन वहाँ रहे। इस काल में कानपुर में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गई। १७ अक्टूबर को स्वामी जी प्रयाग पहुँचे, और २३ अक्टूबर को मिर्जापुर। वहाँ से वे दानापुर (बिहार) गये। इस नगरी के अनेक प्रतिष्ठित पुरुष स्वामी जी के विचारों से बहुत प्रभावित थे, और वहाँ आर्यसमाज की स्थापना कर चुके थे। दानापुर में स्वामी जी ने १९ नवम्बर तक निवास किया, और इस बीच में वहाँ उनके बहुत-से व्याख्यान हुए। पूर्वी भारत में दानापुर का सैनिक छावनी के कारण विशेष महत्त्व था। वहाँ बहुत-से गोरे सैनिक और अफसर रहा करते थे, और ईसाई पादरी भी वहाँ बहुत सक्रिय थे। दानापुर में स्वामी जी ने

क्रिश्चिएनिटी की आलोचना में भी अनेक प्रवचन किए और वहाँ रहने वाले अंग्रेज भी उनकी युक्तियों से बहुत प्रभावित हुए।

१६ नवम्बर, १८७६ को स्वामी जी ने दानापुर से काशी के लिए प्रस्थान किया, और काशी में विजयनगरम् के महाराजा के आनन्दबाग में ठहरे। कुछ दिन वहाँ विश्राम कर उन्होंने एक विज्ञापन प्रकाशित किया, जिसमें जनता को काशी में अपने पधारने के सम्बन्ध में सूचना देने के अनन्तर अपने मन्तव्यों का भी संक्षेप से उल्लेख किया गया था और अपने विरोधियों को शास्त्र चर्चा के लिए निमन्त्रण दिया गया था। यह विज्ञापन पण्डित भीमसेन शर्मा के हस्ताक्षरों से जारी हुआ था। इसके वितरित होते ही काशी में धूम मच गई। स्वामी जी के आगमन के समाचार से इस नगरी की जो दशा हो गई थी, उसे 'आर्य मित्र' में इस प्रकार प्रकट किया गया था—"जब से स्वामी जी ने आकर विज्ञापन दिया है, तब से सारे नगर में भूकम्प-सा हो रहा है। कोई स्थान उनकी चर्चा से खाली नहीं दीख पड़ता है।" यद्यपि स्वामी जी ने काशी के पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था, पर कोई भी पण्डित इसके लिए उद्यत नहीं हुआ। वे स्वामी जी के अगाध पाण्डित्य से भली भाँति परिचित थे, अतः उनका सामना करने का साहस न करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। यद्यपि इस बार काशी में किसी शास्त्रार्थ का आयोजन नहीं हो सका, पर स्वामी जी धर्म प्रचार के कार्य में निरन्तर व्यापृत रहे और वहाँ उन्होंने बहुत-से व्याख्यान दिए, और कितने ही लोग उनके पास शंका-समाधान के लिए आते रहे। काशी में रहते हुए स्वामी जी ने 'वैदिक यन्त्रालय' की भी स्थापना की। उनका प्रकाशन कार्य अब इतना अधिक बढ़ चुका था, कि अपने मुद्रणालय की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। कितने ही आर्यसमाजों तथा आर्य सज्जनों ने इसके लिए उदारतापूर्वक धन भी प्रदान किया था। ५ मई, १८८० तक स्वामी जी काशी में रहे, और फिर लखनऊ चले गये। काशी निवास में उनका समय मुख्यतया वेदभाष्य करने में व्यतीत हुआ था। इस कार्य को अब स्वामी जी बहुत महत्त्व दे रहे थे। १५ एप्रिल, १८८० के दिन काशी में भी आर्यसमाज की स्थापना कर दी गई थी।

लखनऊ में स्वामी जी १५ दिन रहे। इस बीच में वहाँ आर्यसमाज स्थापित हुआ (६ मई, १८८०) और स्वामी जी द्वारा वहाँ अनेक व्याख्यान भी दिए गये। २० मई को वे लखनऊ से फर्रुखाबाद आ गये, और वहाँ ३० जून तक रहे। इसके बाद स्वामी जी मैनपुरी गये, और जुलाई के प्रथम सप्ताह उन्होंने वहाँ धर्मप्रचार किया। उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर मैनपुरी के लोगों ने भी नगर में आर्यसमाज की स्थापना कर दी। (११ जुलाई, १८८०)। मैनपुरी से स्वामी जी मेरठ गये, और वहाँ १५ सितम्बर तक रहे। यह मेरठ में स्वामी जी का सातवीं बार आगमन था। दो मास से भी अधिक के इस निवास में स्वामी जी प्रति सप्ताह दो व्याख्यान दिया करते थे, और शेष दिन जिज्ञासुओं के प्रश्नों के उत्तर एवं शंका-समाधान के लिए नियत थे। इस समय तक मेरठ आर्यसमाज द्वारा एक कन्या पाठशाला की स्थापना की जा चुकी थी। उसके लिए एक सुयोग्य अध्यापिका की आवश्यकता थी। रमाबाई एक सुशिक्षित महाराष्ट्र महिला थीं, जो संस्कृत भी जानती थीं। जब स्वामी जी को उसके विषय में ज्ञात हुआ, तो उन्होंने उसे मेरठ आने के लिए पत्र लिखा। वे चाहते थे कि रमाबाई मेरठ आकर कन्या पाठशाला में अध्यापन का कार्य करे, और साथ ही स्त्रियों में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए भी प्रयत्न करे। स्वामी

जी की प्रेरणा से रमाबाई मेरठ आ गईं, और स्त्री शिक्षा पर वहाँ उसके अनेक व्याख्यान भी हुए। वह स्वामी जी से दर्शन ग्रन्थ भी पढ़ा करती थीं। स्वामी जी की इच्छा थी, कि रमाबाई आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर स्त्रियों में शिक्षा तथा वैदिक धर्म का प्रचार करे, परन्तु वह इसके लिए उद्यत नहीं हुई। बाद में कुछ अन्य ऐसी बातें भी ज्ञात हुईं, जिनके कारण स्वामी जी को रमाबाई पर विश्वास नहीं रहा। अतः यह निश्चय किया गया, कि उसे सम्मानपूर्वक मेरठ से विदा कर दिया जाए। रमाबाई के सम्बन्ध में स्वामी जी की आशंका निर्मूल नहीं थी। बाद में उसने ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, और पूना में शारदा सदन नाम से एक विधवा आश्रम स्थापित किया था, जिसमें रह कर बहुत-सी हिन्दू विधवाएँ ईसाई बन गई थीं। इसी काल में मेरठ में निवास करते हुए स्वामी जी ने १६ अगस्त, १८८० को परोपकारिणी सभा की स्थापना के लिए एक स्वीकार पत्र लिखा, और दो दिन बाद उसकी रजिस्ट्री भी करा दी गई। इस स्वीकार पत्र के अनुसार जो परोपकारिणी सभा मेरठ में स्थापित हुई, उसके प्रधान लाला मूलराज थे। इस सभा के प्रयोजन, संगठन आदि पर पृथक् प्रकरण में विशद् रूप से प्रकाश डाला जाएगा।

१५ सितम्बर, १८८० को स्वामी जी मेरठ से मुजफ्फरनगर गये, और कुछ दिन वहाँ धर्म प्रचार कर २७ सितम्बर के दिन फिर मेरठ आ गये। वहाँ उन दिनों मेरठ आर्य-समाज का वार्षिकोत्सव हो रहा था। उसमें स्वामी जी के दो व्याख्यान हुए। इस बार स्वामी जी ६ अक्टूबर तक मेरठ में रहे, और फिर सहारनपुर होते हुए देहरादून चले गये। वहाँ उनका निवास २० नवम्बर तक रहा। इस काल में उन्होंने वहाँ अनेक व्याख्यान दिए, और पौराणिक पण्डितों तथा ईसाई पादरियों से उनकी शास्त्रचर्चा भी होती रही। देहरादून से लौटते हुए स्वामी जी एक बार फिर मेरठ गये, और पाँच दिन वहाँ निवास कर उन्होंने आगरा के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ स्वामी जी १० मार्च, १८८१ तक रहे। आगरा में स्वामी जी के व्याख्यान २८ नवम्बर को प्रारम्भ हुए, और २५ दिन तक लगातार होते रहे। इस व्याख्यान माला का यह परिणाम हुआ कि २६ नवम्बर, १८८० को आगरा में भी आर्यसमाज की स्थापना हो गई। क्रिश्चिएनिटी के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय का आगरा में एक सुप्रसिद्ध चर्च है। एक दिन स्वामी जी ने उसके प्रमुख पादरी से बातचीत की, और उसके सम्मुख यह विचार रखा कि सब धर्मों के बुद्धिमान् नेताओं को केवल उन्हीं बातों का प्रचार करना चाहिए जिन्हें सब मानते हैं। इससे सब धर्मों में एकता स्थापित हो सकना सुगम हो जायेगा। पर पादरी साहब को स्वामी जी का यह सुझाव स्वीकार्य प्रतीत नहीं हुआ। उनकी दृष्टि में यह मानना बहुत उपयोगी था, कि ईसा पृथिवी पर परमेश्वर का प्रतिनिधि है। साम्प्रदायिक संकीर्णता की यह बात स्वामी जी कैसे मान सकते थे। ध्यान देने योग्य बात यह है, कि स्वामी जी का सदा यह यत्न रहा कि भारत में किसी प्रकार धार्मिक एकता स्थापित हो जाए और विविध सम्प्रदाय व मत-मतान्तर आपस के भेदों को भुलाकर सामूहिक रूप से देश की उन्नति के लिए तत्पर हों। इस एकता की स्थापना का क्रियात्मक उपाय स्वामी जी की दृष्टि में यह था, कि सब सम्प्रदायों के नेता केवल उन्हीं बातों का प्रचार करें, जिन्हें सब मानते हों। सब सम्प्रदायों में कितनी ही बातें एक सी हैं, कितने ही ऐसे सिद्धान्त व मन्तव्य हैं जो सबको समान रूप से मान्य हैं। वस्तुतः, ये ही धर्म के सारतत्त्व हैं। स्वामी जी इन्हीं के आधार पर भारत में धार्मिक एकता स्थापित करना चाहते थे। दिल्ली दरबार के समय और बाद में भी अनेक

बार उन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सके। इस्लाम और ब्राह्म-समाज आदि के नेता वेदों के विषय में यदि इतना भी स्वीकार कर लेते, कि भारत की उन्नति के लिए जिस मार्गदर्शन व प्रेरणा की आवश्यकता है, उसे पाश्चात्य साहित्य से ग्रहण करने की तुलना में वेदों से प्राप्त करना अधिक अच्छा होगा, क्योंकि सब भारतीय धर्मों व संस्कृति आदि के वे ही मूल स्रोत हैं, तब भी शायद यहाँ धार्मिक एकता स्थापित हो सकती। पर स्वामी जी अन्य सम्प्रदायों के नेताओं को इसे मान लेने के लिए तैयार नहीं कर सके।

आगरा में स्वामी जी की पहली व्याख्यानमाला दिसम्बर (१८८०) के तृतीय सप्ताह में समाप्त हो गई थी। २३ जनवरी, १८८१ को उनकी दूसरी व्याख्यान माला प्रारम्भ हुई, जो २९ जनवरी तक चलती रही। इसमें उनके सात व्याख्यान हुए। बाद में वे प्रति रविवार आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में व्याख्यान देते रहे। आगरा निवास में स्वामी जी ने गोधन की रक्षा के लिए न केवल 'गोकरुणानिधि' पुस्तक प्रकाशित ही की थी, अपितु 'गोकृष्यादि रक्षिणी सभा' नाम से एक सभा की भी स्थापना की थी। उनकी प्रेरणा से ग्यारह सौ रुपये भी इस सभा के लिए एकत्र हो गये थे, और चन्दा देने वालों में अनेक मुसलिम सज्जन भी थे। गोरक्षा के लिए स्वामी जी ने एक आन्दोलन भी इस समय प्रारम्भ किया था। उन्होंने गवर्नर-जनरल महोदय की सेवा में प्रस्तुत करने के लिए एक आवेदनपत्र तैयार कराया था, जिस पर दो करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराने की योजना थी। इसके कुछ अंश इस प्रकार थे—"मैं आप परोपकारप्रिय धार्मिक जनों को सब जगत् के उपकारार्थ गाय, बैल और भैंस की हत्या के निवरणार्थ दो पत्र एक तो सही करने का और दूसरा जिसके अनुसार सही करनी करानी है, दोनों पत्र भेजता हूँ।... इस काम को सिद्ध करने का विचार इस प्रकार किया गया है कि २०००००००० दो करोड़ से अधिक राजे-महाराजे और प्रधान आदि पुरुषों की सही कराके आर्यावर्तीय श्रीमान् गवर्नर-जनरल साहब बहादुर से इस विषय की अर्जी करके उपरिलिखित गाय आदि पशुओं की हत्या को छुड़वा देना। मुझको दृढ़ निश्चय है कि प्रसन्नतापूर्वक आप लोग इस महोपकारक काम को शीघ्र करेंगे। अधिक प्रति भेजने का प्रयोजन यह है कि जहाँ दो उचित समझें वहाँ दो भेजकर सही करा लीजिये। पुनः नीचे लिखित स्थान में रजिस्ट्री कराके भेज दीजिए (लाला रामशरण दास रईस, मन्त्री आर्यसमाज मेरठ, मुहल्ला कानून गोयान)... चैत्र कृष्ण ८ सोमवार सम्वत् १९३८ हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती।" सरकार से किसी बात को मनवाने के लिए किस प्रकार जन-आन्दोलन का सहारा लिया जाता है, स्वामी जी यह भली भाँति समझते थे। इसीलिए गौ आदि उपयोगी पशुओं की हत्या को रोकने के लिए उन्होंने दो करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षरों के साथ गवर्नर-जनरल की सेवा में आवेदनपत्र भेजने का निश्चय किया था।

सन् १८८१ में नई जनगणना भी हो रही थी। स्वामी जी को ध्यान था, कि इस गणना में लोग अपनी जाति 'आर्य' लिखवाएँ और धर्म वैदिक। इसी प्रयोजन से उन्होंने ३१ दिसम्बर, १८८० को मुलतान आर्यसमाज के मन्त्री मास्टर दयाराम वर्मा को यह पत्र लिखा था—"मास्टर दयाराम जी, आनन्दित रहो। विदित हो कि आपका पत्र आया, हाल मालूम हुआ, आपने जो नक्शा मर्दुमशुमारी का लिखा सो उसकी खानापूरी इस प्रकार करो—

मजहब फिरके-मजहबी ··· ··· ···वैदिक
असल कौम ··· ··· ···आर्य
जात या फिरका ··· ··· ···ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य
गोत्र या शाख ··· ··· ···जो अपना गोत्र हो

और जिसको अपना गोत्र याद न हो वह अपना काश्यप या पाराशर गोत्र लिखा दे और यह सब समाजों को तथा पंजाब भर में इसी प्रकार से लिख भेजें।"

१० मार्च, १८८१ को स्वामी जी ने आगरा से भरतपुर के लिए प्रस्थान किया। विदा के समय आगरा के आर्यसमाज ने उनकी सेवा में एक अभिनन्दनपत्र प्रस्तुत किया। ढाई साल के लगभग उत्तर प्रदेश उनका प्रधान कार्यक्षेत्र रहा। अब वे राजस्थान चले गये, और अपना शेष जीवन उन्होंने प्रायः वहीं व्यतीत किया। इस काल में कुछ दिनों के लिए वे मध्यप्रदेश और बम्बई आदि अवश्य गये थे, पर प्रधानतया उनका निवास राजस्थान में ही रहा था।

(२) राजस्थान में वैदिक धर्म का प्रचार और स्वामीजी का देहावसान

राजस्थान में वैदिक धर्म के प्रचार का कार्य भरतपुर से प्रारम्भ हुआ। वहाँ स्वामी जी १० मार्च, १८८१ को पहुँच गये थे। वहाँ वे दस दिन रहे, पर इस अवधि में उन्होंने सार्वजनिक रूप से कोई व्याख्यान नहीं दिया। लोग उनके दर्शन के लिए आते रहे, और उनके उपदेशों से लाभ उठाते रहे। २० मार्च को स्वामी जी भरतपुर से जयपुर चले गये। वहाँ उन्होंने केवल एक व्याख्यान दिया। पर इस समय तक राजस्थान की इस प्रसिद्ध नगरी में वैदिक धर्म का पौधा भली भाँति फलने-फूलने लग गया था, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ 'वैदिक धर्म सभा' की स्थापना हुई, जो कुछ समय पश्चात् आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित हो गई। ५ मई को स्वामी जी जयपुर से अजमेर गये, और जून के चतुर्थ सप्ताह तक वहाँ रहे। स्वामी जी के आगमन से पूर्व ही १३ फरवरी, १८८१ को अजमेर में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। स्वामी जी के पधारने की सूचना प्राप्त होने पर अजमेर में धूम मच गई, और वहाँ के निवासियों ने उनके व्याख्यान सुनने के लिए अत्यधिक उत्सुकता प्रदर्शित की। इसीलिए ३० मई तक वहाँ स्वामी जी के २२ सार्वजनिक व्याख्यान हुए, और ४ आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक दिन अजमेर के लोगों को स्वामी जी के उपदेश सुनने का अवसर मिला। जिन दिनों स्वामी जी अजमेर रह रहे थे, पण्डित लेखराम पेशावर से उनके दर्शन के लिए आये, और उनके उपदेश सुनकर तथा अपनी शंकाओं का समाधान कराके उनके अनुयायी तथा भक्त बन गये। २३ जून तक अजमेर में निवास कर स्वामी जी मसूदा गये। वहाँ के राजा राव बहादुर सिंह की स्वामी जी पर बहुत श्रद्धा थी। उन्होंने अपने महल में स्वामी जी के १२ व्याख्यान कराए, जिनके विषय धर्म का स्वरूप, राजनीति और पुनर्विवाह आदि थे। रियासत के प्रमुख गण्य मान्य सज्जन भी इन व्याख्यानों में उपस्थित हुआ करते थे। स्वामी जी ने कुछ व्याख्यान महल के बाहर भी दिये, और सर्वसाधारण लोगों को भी उन्हें सुनने का अवसर मिला। महल के व्याख्यानों में भी जनता को उपस्थित होने की अनुमति थी। व्याख्यान के दिन से एक दिन पहले शहर में डौंडी पिटवा कर लोगों को सूचना दे दी जाती थी, और चार-पाँच सौ व्यक्ति स्वामी जी के विचारों को

सुनने के लिए महल में आ जाया करते थे। मसूदा में स्वामी जी का जैनियों के साथ एक शास्त्रार्थ भी हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप ३५ जैनियों ने जैन धर्म का परित्याग कर वैदिक धर्म को स्वीकार कर लिया था। मसूदा में निवास करते हुए स्वामी जी को ज्ञात हुआ कि मध्य युग में वहाँ के कुछ हिन्दू मुसलमान हो गये थे। उनके सजातीय हिन्दू अपनी बेटियों का इनके साथ विवाह कर देते हैं, पर इनकी बेटियों को अपने युवकों के लिए स्वीकार नहीं करते। स्वामी जी ने उन्हें बुलाकर समझाया कि यह सर्वथा अनुचित है। उनके उपदेश से इस प्रथा का अन्त हो गया, और हिन्दू लड़कियों का मुसलमानों से विवाह कर मुसलिम हो जाना बन्द हो गया। मसूदा में स्वामी जी ने दो यज्ञ भी कराये। इनमें न केवल ब्राह्मणों, राजपूतों और वैश्यों का ही यज्ञोपवीत संस्कार कराया गया, अपितु कायस्थों को भी यज्ञोपवीत दिए गये। उस समय के ब्राह्मण पुरोहित कायस्थों को द्विजों के अन्तर्गत नहीं मानते थे।

स्वामी जी १७ अगस्त, १८८१ तक मसूदा में रहे। वहाँ से वे रायपुर गये, और तीन सप्ताह के लगभग वहाँ उपदेश व धर्म चर्चा कर ब्यावर चले गये। जो व्याख्यान स्वामी जी ने वहाँ दिए, उनके कारण ब्यावर के भी अनेक व्यक्ति आर्यसमाज के मन्तव्यों के प्रति आस्था रखने लगे, और कुछ दिन पश्चात् वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गई। बारह दिन ब्यावर में निवास कर २१ सितम्बर को स्वामी जी फिर मसूदा चले गये, और इस बार वहाँ उन्होंने १५ दिन निवास किया। वहाँ से वे बनेड़ा गये। बनेड़ा के राजा गोविन्द सिंह मसूदा के राव साहब के मामा थे। वे सुशिक्षित व्यक्ति थे और संस्कृत भाषा तथा शास्त्रों का भी उन्हें ज्ञान था। मसूदा के राजा की इच्छा थी, कि स्वामी जी उनके मामा से अवश्य मिलें। उन्हीं के सुझाव पर राजा गोविन्द सिंह ने स्वामी जी को बनेड़ा पधारने के लिए निमन्त्रित किया, और वहाँ राजा तथा उनके राजगुरु के साथ स्वामी जी की खूब शास्त्रचर्चा हुई। बनेड़ा में 'सरस्वती भण्डार' नाम से एक पुस्तकालय भी था, जिसके ग्रन्थों का स्वामी जी ने अवलोकन किया और एक ग्रन्थ की प्रतिलिपि भी कराई। बनेड़ा से भीलवाड़ा और सोनियाना होते हुए स्वामी जी २६ अक्टूबर, १८८१ को चित्तौड़गढ़ गये और वहाँ २० दिसम्बर तक रहे। अब स्वामी जी एक ऐसे राज्य में पहुँच गये थे, जिसे राजस्थान के इतिहास में मूर्धन्य स्थान प्राप्त रहा है, और जिसके सूर्यवंशी राजाओं ने मुगलों की शक्ति का सामना करने में अनुपम वीरता प्रदर्शित की थी। राजस्थान एक ऐसा प्रदेश है, जो तुर्क-अफगानों और मुगलों के सीधे शासन में कभी नहीं रहा था, और ब्रिटिश युग में भी जहाँ पुराने वंशक्रमानुगत राजाओं की सत्ता कायम रही थी। वहाँ के राजा पहले मुगलों के आधिपत्य को स्वीकृत करते रहे, और बाद में अंग्रेजों के। पर उनके राज्यों का आन्तरिक शासन उनके अपने ही हाथों में रहा। यही कारण है, कि भारत की अनेक प्राचीन धार्मिक व सांस्कृतिक परम्पराएँ अब तक भी वहाँ विद्यमान थीं। स्वामी जी को आशा थी, कि इन राजपूत राजाओं में फिर से शक्ति का संचार कर सकना सम्भव है, और उनके नेतृत्व में जनता को उन्नति व समृद्धि के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है।

चित्तौड़ में कार्य प्रारम्भ करने का इस समय अवसर भी अच्छा था। भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड रिपन ने वहाँ एक दरबार का आयोजन किया था, जिसमें राजस्थान के बहुत-से राजा-महाराजा उपस्थित हुए थे। उदयपुर के महाराणा को इस दरबार में

जी० सी० एस० आई० की उपाधि दी जानी थी। मेवाड़ राज्य के सब सामन्त राजाओं, सरदारों तथा सम्भ्रान्त वर्ग के अन्य लोगों को तो स्वाभाविक रूप से इस दरबार के अवसर पर चित्तौड़ आना ही था, साथ ही यह भी आशा थी कि अन्य राजपूत राज्यों से भी बहुत-से प्रतिष्ठित व्यक्ति इस अवसर पर वहाँ उपस्थित होंगे। राजस्थान में धर्म-प्रचार का यह उत्तम अवसर था। अतः स्वामी जी ने बनेड़ा से ही कविराज श्यामलदास को पत्र लिख दिया था कि वे २७ अक्टूबर को चित्तौड़ पहुँच जाएँगे, और वहाँ उनके निवास की व्यवस्था कर दी जाए। श्यामलदास मेवाड़ के राजकवि थे, और स्वामी जी के भक्त थे। उन द्वारा स्वामी जी के आगमन के समाचार को जानकर चित्तौड़ में हलचल मच गई, और मेवाड़ के अनेक राव, राजा तथा सरदार उनके दर्शन के लिए आने लगे। इनमें भीलवाड़ा के राजा फतेहसिंह, शाहपुरा के राजाधिराज नाहरसिंह, कानौड के रावत उमेदसिंह और शावड़ी के राजा राजसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब स्वामी जी के प्रवचनों को सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुए। दरबार की समाप्ति के पश्चात् मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामी जी को अपने निवास स्थान पर निमन्त्रित किया, और वे स्वयं भी स्वामी जी के डेरे पर गये। वहाँ कई घण्टे तक महाराणा ने स्वामी जी का सत्संग किया। एक दिन स्वामी जी अपने कुछ शिष्यों के साथ चित्तौड़ का किला देखने के लिए गये। उसे देखते हुए उन्हें चित्तौड़ के अतीत गौरव का स्मरण हो आया, और वर्तमान से उसकी तुलना कर उनकी आँखों में आँसू आ गये। मेवाड़ के जो महाराणा अकबर जैसे प्रतापी मुगल बादशाह के विरुद्ध युद्ध करते-करते अपने सब सुख वैभव को लात मारकर दर-दर भटकने में गौरव अनुभव करते थे, उनके वंशज अब किस प्रकार निस्तेज हो गये हैं, यह देखकर स्वामी जी दुखी हुए बिना नहीं रह सके। उन्होंने खिन्न मन से ये उद्गार प्रकट किए—"ब्रह्मचर्य का नाश होने से भारतवर्ष का विनाश हुआ है, और ब्रह्मचर्य का उद्धार करने से ही फिर देश का उद्धार हो सकेगा।" २० दिसम्बर, १८८१ तक स्वामी जी चित्तौड़ में रहे, और फिर बम्बई की ओर उन्होंने प्रस्थान किया। सन् १८८२ के प्रथम चरण में उन्हें बम्बई आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होना था। चित्तौड़ से विदा होते समय महाराणा सज्जन सिंह ने उनका यथोचित सत्कार किया, और उनसे प्रार्थना की कि वे यथासम्भव शीघ्र ही मेवाड़ की राजधानी उदयपुर पधारने की कृपा करें। दो मास के लगभग के चित्तौड़ निवास में स्वामी जी ने मेवाड़ तथा अन्य अनेक राजपूत राज्यों के राजा-महाराजाओं तथा सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों को इतना अधिक प्रभावित कर दिया था, कि वे उनके प्रति श्रद्धा रखने लग गये थे, और स्वामी जी को भी देशोद्धार के कार्य में उनसे सहायता व सहयोग प्राप्त हो सकने की पूरी-पूरी आशा हो गई थी। यही कारण है, जो बम्बई यात्रा के पश्चात् स्वामी जी ने अपना शेष जीवन राजस्थान में ही बिताया और वहीं उनका प्रधान कार्यक्षेत्र रहा।

चित्तौड़गढ़ से बम्बई जाते हुए स्वामी जी रास्ते में सात दिन इन्दौर ठहरे और ३० दिसम्बर को बम्बई पहुँच गये। वहाँ वे २३ जून, १८८२ तक रहे। छह मास के बम्बई निवास में स्वामी जी ने बहुत-से व्याख्यान दिए, और आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में भाग लिया। अजमेर से प्रकाशित होने वाले 'देश हितैषी' पत्र में इस उत्सव का वृत्तान्त प्रकाशित करते हुए यह लिखा गया था, कि "२ मार्च, सन् १८८२ को आर्यसमाज बम्बई का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से हुआ और स्वामी दयानन्द जी महाराज के ऐसे समय

में उपस्थित रहने से उत्सव में अत्यन्त आनन्द रहा।" स्वामी जी के व्याख्यानों की रिपोर्ट 'बम्बई समाचार' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ करती थी, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय स्वामी जी का ध्यान भारत की आर्थिक दुर्दशा की ओर विशेष रूप से था। एक व्याख्यान में उन्होंने मँहगाई तथा घी-दूध गरीब लोगों को न मिल सकने की शिकायत की थी, और इस बात पर जोर दिया था कि भारतीयों को वाणिज्य-व्यापार के लिए विदेशों में भी जाना-आना चाहिए। गौरक्षा के लिए भी वे एक सशक्त और व्यापक आन्दोलन आयोजित करने में प्रवृत्त थे। आर्यसमाज के लिए अपना भवन बनाने का प्रयत्न भी इस समय किया जा रहा था। उसके लिए एक हजार वर्ग गज जमीन खरीदी जा चुकी थी, और भवन निर्माण के लिए धन संग्रह का कार्य जारी था। स्वामी जी ने इसमें भी रुचि दिखायी थी। लाहौर में आर्यसमाज के जो नियम और उपनियम बनाये गये थे, वे बम्बई आर्यसमाज के लिए तभी प्रयुक्त हो सकते थे, जबकि वहाँ का समाज उन्हें विधिवत् औपचारिक रूप से स्वीकार कर ले, क्योंकि बम्बई का समाज अपनी स्थापना के समय पर अन्य २८ नियम स्वीकृत कर चुका था। स्वामी जी के प्रस्ताव पर बम्बई आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने सर्व सम्मति से यह स्वीकार कर लिया, कि वहाँ के समाज में भी वही नियम-उपनियम लागू हों, जो लाहौर में निर्धारित किए गये थे। बाद में आर्य-समाज की साधारण सभा ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया, परन्तु साथ ही यह भी निश्चय किया, कि बम्बई के स्थानीय समाज की दृष्टि से यदि उपनियमों में कोई परिवर्तन वाञ्छनीय हो, तो विशेष उपनियम भी बना लिये जा सकें। इसके लिए एक उपसमिति भी बना दी गई, जिसके पाँच सदस्य थे।

बम्बई में रहते हुए स्वामी जी व्याख्यान देने के साथ-साथ लोगों की शंकाओं का समाधान भी करते रहे, और कुछ शास्त्रार्थों की भी चर्चा हुई। पर उनका ध्यान प्रधान-तया वेदभाष्य पर केन्द्रित रहा, जिसका प्रकाशन अब नियमित रूप से हो रहा था।

स्वामी जी ने बम्बई में छह मास के लगभग निवास किया। इसके बाद उन्होंने राजस्थान के लिए प्रस्थान किया, पर मार्ग में कुछ-कुछ दिनों के लिए वे खण्डवा, इन्दौर, रतलाम और जावरा में भी रुके। इन स्थानों पर उन्होंने एक मास के लगभग समय व्यतीत किया, और २५ जुलाई, १८८२ को पुनः चित्तौड़गढ़ आ गये। मेवाड़ के महाराणा सज्जन सिंह स्वामी जी के परम भक्त थे, और सन् १८८१ में जब वे चित्तौड़ रह रहे थे, तो महाराणा ने अनेक बार उनके दर्शन किए थे। स्वामी जी उन्हीं के अनुरोध पर अब पुनः मेवाड़ राज्य में पधारे थे। कुछ दिन चित्तौड़ में निवास कर स्वामी जी उदयपुर चले गये (११ अगस्त, १८८२)। उनके निवास, यात्रा आदि का सब प्रबन्ध राज्य की ओर से किया गया था। जिस दिन स्वामी जी उदयपुर पहुँचे, महाराणा सज्जन सिंह उनकी अभ्यर्थना के लिए स्वयं उनके निवास स्थान पर गये। स्वामी जी के निवास की व्यवस्था नौलखा बाग में की गई थी, और यह स्थान महाराणा के अपने महल से अधिक दूर नहीं था। महाराणा प्रायः प्रतिदिन स्वामी जी के दर्शन के लिए आया करते थे, और उनके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुना करते थे। स्वामी जी से उन्होंने संस्कृत भी पढ़ी, और साथ ही मनु-स्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों के वे अध्याय तथा प्रकरण भी, जिनका सम्बन्ध राजनीति तथा चरित्रनिर्माण से है। स्वामी जी ने महाराणा को यह प्रेरणा भी दी, कि उनके राज्य में शासन तथा न्याय आदि का सब कार्य शुद्ध आर्य भाषा (हिन्दी) में किया जाए। वहाँ के

न्यायालयों में अरबी-फारसी के जो अनेक शब्द प्रयुक्त हुआ करते थे, उनके लिए संस्कृत के उपयुक्त शब्द स्वामी जी ने राजपदाधिकारियों को लिखवा दिए थे। राजा तथा राज-कर्मचारियों का जीवन किस प्रकार का होना चाहिए, और राजकुमारों को किस प्रकार की शिक्षा देकर सुयोग्य व आदर्श शासक बनाया जा सकता है, इस सम्बन्ध में भी स्वामी जी ने उदयपुर में अनेक उपदेश दिए थे। मनुस्मृति, महाभारत (शान्तिपर्व) आदि में राजनीति के मूल तत्त्वों का जिस ढंग से प्रतिपादन है, स्वामी जी के उपदेश प्रायः उन्हीं पर आधारित होते थे। महाराणा को अपनी दिनचर्या कैसी रखनी चाहिए, इस विषय में भी स्वामी जी ने उनका पथ-प्रदर्शन किया था। इसमें यह व्यवस्था की गई थी, कि महाराणा तीन घड़ी रात रहे सोकर उठ जाया करें। फिर शौच आदि नित्य कर्मों से निवृत्त होकर एक घड़ी ईश्वर की उपासना करें, फिर वायु सेवन के लिए जाएँ और वहाँ से लौटकर हवन करें। राज्य कार्य, न्याय, भोजन, विश्राम, मनोरंजन आदि में कितना-कितना समय लगाया जाए, यह सब दिनचर्या में प्रतिपादित कर दिया गया था। यह दिनचर्या प्रायः उसी ढंग की है, जैसी कि 'कौटलीय अर्थशास्त्र' में राजा के लिए विहित है। इसका विधान स्वामी जी ने उस समय किया था, जब कि प्राचीन भारतीय राजनीति का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहीं भी उपलब्ध नहीं था। स्वामी जी यह भी चाहते थे कि महाराणा के समान मेवाड़ के सब राव-राजाओं तथा सरदारों को भी ऐसी शिक्षा दी जाए, जिससे कि वे सच्चरित्र तथा सुयोग्य शासक बन सकें। इसके लिए उन्होंने यह प्रस्ताव किया था, कि उदयपुर में एक ऐसे विद्यालय की स्थापना की जाए, जिसमें कि शास्त्र और शस्त्र दोनों की शिक्षा की व्यवस्था हो। सामन्त वर्ग के सब कुमार इसमें शिक्षा प्राप्त किया करें। स्वामी जी का यह प्रस्ताव महाराणा ने स्वीकार भी कर लिया था, पर अनेक बाधाओं के कारण इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

नौलखा बाग उदयपुर में निवास करते हुए स्वामी जी जहाँ धर्म के उपदेश में तत्पर रहते थे, वहाँ उनका अधिकांश समय वेदभाष्य करने तथा सत्यार्थप्रकाश का संशोधित संस्करण तैयार करने में व्यतीत होता था। उदयपुर में स्वामी जी ने अपना स्वीकार पत्र (वसीयतनामा) भी लिखा और उसे विधिवत् रजिस्ट्री भी कराया। इससे पहले १६ अगस्त, १८८० के दिन भी स्वामी जी एक वसीयतनामा मेरठ में लिख चुके थे। अब उदयपुर में उन्होंने नया वसीयतनामा लिखा, और २७ फरवरी, १८८३ को उसकी रजिस्ट्री करा दी गई। स्वामी जी के वसीयतनामों तथा उनके परिणामस्वरूप स्थापित परोपकारिणी सभा पर पृथक् रूप से प्रकाश डाला जाएगा।

स्वामी जी उदयपुर में फरवरी, १८८३ के अन्त तक रहे। शाहपुरा राज्य के अधिपति राजा नाहर सिंह स्वामी जी के परम भक्त थे। लार्ड लिटन द्वारा आयोजित दरबार के अवसर पर वह चित्तौड़ में स्वामी जी के दर्शन कर चुके थे, और तभी से शाहपुरा पधारने के लिए उनसे सानुरोध निवेदन कर रहे थे। स्वामी जी उदयपुर से पहले चित्तौड़ गये, और कुछ दिन वहाँ निवास कर ९ मार्च, १८८३ को शाहपुरा पहुँच गये। वहाँ २६ मई तक उनका निवास रहा। स्वामी जी के शाहपुरा पहुँचते ही राजा नाहर सिंह राज्य के अनेक प्रतिष्ठित जनों तथा राजपदाधिकारियों के साथ उनके दर्शन के लिए गये और दो घण्टे तक उनसे वार्तालाप करते रहे। पाँच दिन तक यही क्रम चला। इसके बाद शाहपुराधीश प्रतिदिन सायंकाल के समय तीन घण्टे स्वामी जी के पास बिताने लगे। इनमें

से एक घण्टा धर्म की चर्चा के लिए होता था, और दो घण्टे अध्ययन के लिए। राजा नाहर सिंह ने स्वामी जी से मनुस्मृति, योग दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन आदि शास्त्रों के आवश्यक भागों की शिक्षा प्राप्त की। स्वामी जी के सान्निध्य में रह कर शाहपुराधीश पूर्ण रूप से उनके शिष्य बन गये थे। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने अपने महल में एक यज्ञशाला भी बनवाई, जहाँ प्रतिदिन हवन किए जाने की व्यवस्था की गई। शाहपुरा में स्वामी जी धर्म प्रचार तथा शंका समाधान के साथ-साथ वेदभाष्य में भी प्रवृत्त रहे। राजस्थान के अनेक प्रदेशों में रामसनेही सम्प्रदाय का अच्छा प्रचार था। शाहपुरा में इस सम्प्रदाय के अनेक मठ थे, और बहुत-से लोग उसके अनुयायी भी थे। स्वामी जी ने इनके साथ भी धर्मचर्चा की। वे चाहते तो यह थे रामसनेहियों के महन्त हिम्मतराम से उनका शास्त्रार्थ हो जाए। पर महन्त जी इसके लिए उद्यत नहीं हुए। मूर्तिपूजा सदृश विषयों पर पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ की चर्चा शाहपुरा में भी प्रायः होती रही। वहाँ के लोगों पर स्वामी जी के उपदेशों का बहुत प्रभाव पड़ा, और इसीलिए कुछ समय पश्चात् वहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

जब स्वामी जी उदयपुर में थे, जोधपुर के महाराज प्रतापसिंह ने अपने राज्य में पधारने के लिए उनसे प्रार्थना की थी। स्वामी जी ने उसे स्वीकार कर लिया था, और यह वचन दिया था कि शाहपुरा से लौटकर वे जोधपुर अवश्य आएँगे। शाहपुरा में जोधपुर के अधिपति महाराजा जसवन्तसिंह की ओर से भी उन्हें निमन्त्रण प्राप्त हो गया था। इस दशा में २६ मई, १८८३ को स्वामी जी ने शाहपुरा से विदा ली और मार्ग में एक दिन अजमेर ठहर कर ३१ मई को वे जोधपुर पहुँच गये। राजा की ओर से वहाँ उनका समुचित स्वागत किया गया, और उनके निवास आदि की सब व्यवस्था कर दी गई। महाराजा जसवन्त सिंह उन दिनों अस्वस्थ थे, अतः वे स्वामी जी के दर्शन के लिए नहीं आ सके, पर महाराज प्रताप सिंह, राव राजा तेजसिंह तथा राज्य के विविध राजपदाधिकारी व प्रतिष्ठित जन निरन्तर उनकी सेवा में उपस्थित होते रहे। कुछ दिन बाद स्वस्थ हो जाने पर महाराजा जसवन्त सिंह भी स्वामी जी के दर्शन के लिए आए, और उनसे शिक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। इस पर स्वामी जी ने मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर राज-धर्म विषय पर प्रवचन किया, जिसे सुनकर जोधपुर के महाराजा अत्यन्त प्रभावित हुए। इसके बाद जोधपुर में प्रचार कार्य का यह क्रम हो गया, कि प्रतिदिन सायंकाल ४ से ६ बजे तक स्वामी जी फैजुल्ला खाँ की कोठी के प्रांगण में विविध विषयों पर व्याख्यान दिया करते थे, और फिर राजभवन में जाकर महाराजा, उनके सामन्त राजाओं तथा अन्य सम्भ्रान्त व्यक्तियों के साथ शास्त्रचर्चा में समय बिताते थे। स्वामी जी के व्याख्यानों में मूर्तिपूजा, चक्रांकित सम्प्रदाय और इस्लाम का खण्डन होता था, और वेश्यागमन सदृश बुराइयों के दुष्परिणामों का प्रतिपादन।

जोधपुर में आकर स्वामी जी को ज्ञात हुआ कि वहाँ के राजपरिवार द्वारा सदाचार की मर्यादाओं का समुचित रूप से पालन नहीं किया जा रहा है। वेश्यागमन सदृश अनेक ऐसे दोष हैं, जिनके कारण मारवाड़ का यह राजपूत राज्य बहुत पिछड़ा हुआ है। स्वामी जी यह भली भाँति जानते थे कि जब तक राजकुल के व्यक्तियों और राजपदाधि-कारियों के चरित्र का सुधार नहीं होगा, सर्वसाधारण जनता को सच्चरित्रता के लिए प्रेरित कर सकना बहुत कठिन है। जोधपुर के शासक वर्ग की दुर्दशा के सम्बन्ध में चिन्तित

होकर एक पत्र स्वामी जी ने महाराज सर प्रतापसिंह को लिखा था, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—"मुझको इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान, आप और बाबा साहब दोनों रोगयुक्त शरीर वाले हैं। अब कहिए इस राज्य का कि जिसमें १६ लाख से कुछ ऊपर मनुष्य बसते हैं, उनकी रक्षा और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। सुधार और बिगाड़ भी आप तीनों महाशयों पर निर्भर है, तथापि आप लोग अपने शरीर के आरोग्य संरक्षण और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं। यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुनकर सुधार लेवें जिससे मारवाड़ का ही नहीं अपितु आर्यावर्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें।"

स्वामी जी जिस प्रकार मूर्तिपूजा, धार्मिक अन्धविश्वास तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे, उससे पुराने ढंग के संकीर्ण सम्प्रदायवादी लोगों के लिए उद्विग्न होना स्वाभाविक था। जोधपुर में इस वर्ग के व्यक्ति अत्यन्त उग्र प्रकृति के थे। वे स्वामी जी के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में तत्पर हो गये। राज्य के सामन्त-वर्ग में वेश्यागमन, नशा सेवन आदि का बहुत चलन था। महाराजा जसवन्त सिंह भी इन व्यसनों के शिकार थे। स्वामी जी का मन्तव्य था कि वेश्यागमन, मद्यपान आदि सर्वथा अनुचित हैं, और इनका सेवन करने वाला व्यक्ति कभी सच्चरित्र नहीं हो सकता। प्राचीन क्षत्रिय राजवंशों में उत्पन्न राजपूत राजा-महाराजाओं को इन व्यसनों में ग्रस्त देखकर स्वामी जी को अत्यधिक दुःख होता था। एक बार जब उन्होंने महाराजा जसवन्त सिंह के भी वेश्यागामी होने की बात स्वयं देख ली, तो वे क्षुब्ध हो गये। उस दिन अपने प्रवचन में राजधर्म का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा, कि राजा सिंह के समान होते हैं, और वेश्याएँ कुतियों के समान। राजाओं का सम्बन्ध सिंहनियों से ही उचित है, कुतियों से नहीं। महाराजा भी इस व्याख्यान में उपस्थित थे। स्वामी जी की बात सुनकर वे बहुत लज्जित हुए, और उन्होंने अपने जीवन को सुधारने का निश्चय किया। पर स्वामी जी जिस प्रकार निर्भयता तथा स्पष्टवादिता से जोधपुर राज्य के सामन्त-वर्ग के कुव्यसनों की आलोचना कर रहे थे, उसके कारण इस वर्ग के लोगों में भी उनका विरोध बढ़ने लगा। ब्रिटिश शासक भी राजस्थान में स्वामी जी की गतिविधि को आशंका की दृष्टि से देखने लगे थे, और उनके कार्यों में उन्हें राजनीति की गन्ध आने लगी थी। पुराने ढंग के संकीर्ण सम्प्रदायवादी पुरोहित व पण्डित तो उनके विरोधी थे ही। परिणाम यह हुआ, कि स्वामी जी की हत्या के लिए षड्यन्त्र किए जाने लगे। २६ सितम्बर, १८८३ को उन्हें दूध के साथ विष दिया गया, जिसके कारण वे गम्भीर रूप से रुग्ण हो गये। जोधपुर में उनकी समुचित चिकित्सा नहीं हो सकी और रोग में निरन्तर वृद्धि होती गई। अतः १६ अक्टूबर को उन्हें आबू ले जाया गया, और दस दिन बाद अजमेर। पर वहाँ भी वे नीरोग नहीं हो सके, और ३० अक्टूबर, १८८३ के सायंकाल उनकी जीवन लीला का अन्त हो गया। पर उन्होंने अपने जीवनकाल में जो ज्योति जलायी थी, वह अब तक भी प्रज्ज्वलित है और उसका प्रकाश सम्पूर्ण संसार में निरन्तर फैलता जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी जी की मृत्यु एक षड्यन्त्र का परिणाम थी, जिसमें जोधपुर राज्य के अनेक सम्भ्रान्त व्यक्ति भी सम्मिलित थे। उन्हें विष दिया गया था। पर यह उनकी हत्या का प्रथम प्रयत्न नहीं था। इससे पूर्व भी उन्हें अनेक बार

विष दिया जा चुका था। बदायूँ में उन्होंने अपने एक भक्त से कहा था, कि "मुझे कई बार विष दिया गया है। यद्यपि मैंने उसे वमन और बस्तिकर्म आदि से निकाल दिया, फिर भी उसका कुछ-न-कुछ अंश रक्त में रह ही गया। इसी से मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया, अन्यथा मेरी आयु १०० वर्ष से अधिक होती, परन्तु अब इस शरीर के अधिक रहने की आशा नहीं है।" स्वामी जी ने यह बात सन् १८७६ में कही थी। विरोधियों व विद्वेषियों द्वारा बार-बार विष देने और उसका कुछ अंश शरीर में रह जाने के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लग गया था, और उन्हें संग्रहणी सदृश अनेक रोगों की शिकायत रहने लगी थी। पंजाब से लौटने पर ही उनके स्वास्थ्य में कुछ शिथिलता आने लग गई थी, और जब वे १८७६ के कुम्भ में हरिद्वार गये थे, तो उनका शरीर सर्वथा नीरोग नहीं था और मार्च के तीसरे सप्ताह में उन्हें प्रतिदिन दस-बारह दस्त आने लग गये थे। एप्रिल के अन्त में जब वे अलीगढ़ में थे, उनका स्वास्थ्य और बिगड़ गया था, जिसके कारण उन्हें छलेसर में पाँच सप्ताह के लगभग विश्राम करने की आवश्यकता हुई थी। इससे उनके स्वास्थ्य में कुछ सुधार अवश्य हो गया था, पर वे पूर्णतया नीरोग नहीं हुए थे, और उनकी शारीरिक दुर्बलता कायम रही थी। बार-बार विष दिए जाने का यह परिणाम स्वाभाविक था। किसी साधारण मनुष्य के लिए इतनी बार विषपान के पश्चात् जीवित रहना सर्वथा असम्भव होता, पर स्वामी जी योगी थे और उनके शारीरिक व आत्मिक बल असाधारण थे।

यह वस्तुतः आश्चर्य की बात है, कि विष द्वारा शरीर के रोगग्रस्त व निर्बल हो जाने पर भी स्वामी जी इतना अधिक कार्य करते थे, जो पूर्णतया स्वस्थ युवा पुरुष के लिए भी सुगम नहीं है। कुम्भ के मेले (हरिद्वार) में उनकी दिनचर्या इस प्रकार थी—नित्य कर्मों से निवृत्त होकर प्रातः सात बजे वे सभामंच पर आसीन हो जाते थे, और प्रश्नोत्तर व शंका-समाधान प्रारम्भ हो जाता था। यह क्रम प्रतिदिन ११ बजे तक और कभी-कभी १२ बजे तक चलता था। इसके बाद वे स्नान तथा भोजन करते और कुछ समय विश्राम कर मध्याह्न १ बजे पुनः सभामंच पर आ विराजते। १ से ५ बजे तक सार्वजनिक व्याख्यान का समय था। पहले स्वामी जी व्याख्यान देते, और फिर लोगों के प्रश्नों के उत्तर। ५ बजे सभा समाप्त होती और दो घण्टे बाद ७ बजे फिर प्रारम्भ हो जाती। यह सभा रात के ६ बजे तक चलती, और इसमें विविध विषयों पर चर्चा हुआ करती। इस प्रकार स्वामी जी प्रतिदिन दस घण्टे या उससे भी अधिक समय धर्मप्रचार में लगाया करते थे, और वह भी उस दशा में जब वे पूर्णतया स्वस्थ व नीरोग नहीं थे। अन्य नगरों में भी उनकी दिनचर्या इसी प्रकार व्यस्त रहा करती थी। अन्तर केवल यह होता था, कि वहाँ उनका बहुत-सा समय वेद-भाष्य तथा पत्रव्यवहार में भी व्यतीत हुआ करता था। वेदभाष्य सदृश महत्त्वपूर्ण कार्य को शीघ्र से शीघ्र पूरा कर देने के लिए स्वामी जी अत्यधिक प्रयत्नशील थे, क्योंकि वेदों के वास्तविक अभिप्राय व सत्य शिक्षाओं को प्रकाश में लाना उनकी दृष्टि में मानव समाज के हित-कल्याण के लिए बहुत आवश्यक था। आर्यसमाजों की स्थापना तथा अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन के कारण उनके पत्र-व्यवहार में भी बहुत वृद्धि हो गई थी। उनकी आत्मिक शक्ति का ही यह परिणाम था, कि शरीर के अस्वस्थ व निर्बल होते हुए भी वे इतना अधिक कार्य कर सक रहे थे। सन् १८६७ में हरिद्वार में पाखण्ड खण्डिनी पताका फहरा कर स्वामी जी ने वैदिक धर्म के सत्य स्वरूप के पुनरुत्थान का कार्य प्रारम्भ किया था, और एप्रिल, १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। १८८३ में उनका

देहावसान हो गया। सोलह साल में जो काम स्वामी जी ने कर दिखाया, उसे चमत्कार ही कहा जा सकता है। इस अवधि में उन्होंने ५५ के लगभग छोटी-बड़ी पुस्तकों की रचना की, वेदों के भाष्य किए, पाठशालाएँ और विद्यालय स्थापित किए; और एक सच्चे परिव्राजक के समान पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात आदि में निरन्तर परिभ्रमण करते हुए वहाँ धर्म के प्रचार में व्यापृत रहे। आर्यसमाज का जो विशाल व व्यापक संगठन इस समय विद्यमान है, उसकी नींव स्वामी जी द्वारा ही रखी गई थी, और उनके प्रयत्न का ही यह परिणाम था, कि आठ साल के स्वल्प काल (१८७५-८३) में ८५ के लगभग नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी। मेरठ से प्रकाशित होने वाले 'आर्य समाचार' पत्र में स्वामी जी की मृत्यु के एक मास पश्चात् उन नगरों की सूची दी गई थी, जहाँ उस समय आर्यसमाज विद्यमान थे। दो साल बाद सन् १८८५ में आर्यसमाजों की कुल संख्या २०० तक पहुँच गई थी, और वर्तमान समय में तो न केवल भारत अपितु कितने ही विदेशों में भी आर्यसमाज स्थापित हैं, और उनकी संख्या हजारों में है। आर्यसमाज का यह व्यापक संगठन और उसका सशक्त जन-आन्दोलन का स्वरूप स्वामी जी के उस असाधारण कर्तृत्व का परिणाम है, जो उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम सोलह वर्षों में प्रदर्शित किया, और वह भी उस दशा में जब कि अन्तिम आठ-नौ साल वे अनेक बार रोगग्रस्त हुए और पूर्णरूप से स्वास्थ्य लाभ नहीं कर सके। यदि उन्हें बार-बार विष न दिया जाता, तो कम-से-कम सौ वर्ष जीवित रह कर भारत तथा विश्व का जो उपकार वे कर जाते, उसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। बदायूँ में अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जो विचार स्वामी जी ने प्रकट किए थे, उनसे यह आभास मिलता है कि उन्हें यह आशंका हो गई थी कि वे पूर्ण आयु नहीं भोग सकेंगे। सम्भवतः, इसीलिए उन्होंने १६ अगस्त, १८८० के दिन मेरठ में अपना वसीयतनामा तैयार करा दिया था, और उस द्वारा वैदिक यन्त्रालय आदि की सब व्यवस्था कर दी थी। बाद में इस वसीयतनामे के स्थान पर एक नया वसीयतनामा उन्होंने तैयार कराया था, और उसकी रजिस्ट्री उदयपुर में करा दी थी। साठ साल से भी कम आयु में अपनी सम्पत्ति आदि के विषय में वसीयतनामे द्वारा व्यवस्था करना यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि स्वामी जी अपनी दीर्घायु के सम्बन्ध में सशंक थे और उनका शंकित होना सर्वथा समुचित व युक्तियुक्त था।

(३) शास्त्रार्थ

आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में शास्त्रार्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कितने ही 'शास्त्रार्थ महारथी' आर्य विद्वानों ने विरोधी मतों के धर्माचार्यों को शास्त्रार्थों में पराभूत कर वैदिक धर्म के प्रचार में अपना अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया। शास्त्रार्थों की यह परम्परा स्वामी जी के जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो गई थी। उन्होंने कितने ही शास्त्रार्थ पौराणिक पण्डितों, ईसाई पादरियों और मुसलमान मौलवियों से किए, और उनके मन्तव्यों की आलोचना कर वैदिक धर्म की युक्तियुक्तता व उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया। स्वामी जी द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार के ये शास्त्रार्थ भी महत्त्वपूर्ण साधन थे। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आर्य विद्वानों द्वारा जो बहुत-से शास्त्रार्थ किए गये, उनका स्वरूप प्रायः 'सार्वजनिक' हुआ करता था। उनकी सूचना जन-साधारण को दे दी जाती थी, और विविध

सम्प्रदायों के लोग बहुत बड़ी संख्या में उन्हें सुनने के लिए एकत्र हो जाया करते थे। बड़े नगरों की तो बात ही क्या, छोटे कस्बों तक में शास्त्रार्थों के अवसर पर उपस्थिति हजारों तक पहुँच जाया करती थी। इनके कारण साम्प्रदायिक वैमनस्य तब उत्पन्न नहीं होता था, दंगे होने का तो प्रश्न ही नहीं था। मौलवियों से भी आर्यसमाज के शास्त्रार्थ-महारथियों के कितनी ही शास्त्रार्थ हुए, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोग हजारों की संख्या में उपस्थित रहते थे। एक-दूसरे के धर्म की आलोचना उनमें अवश्य की जाती थी, पर इससे कोई साम्प्रदायिक समस्या उत्पन्न नहीं होती थी। उस समय भारत में नव-जागरण की प्रवृत्तियाँ प्रादुर्भूत हो रही थीं, अतः लोग अपने धर्म की आलोचना सुनने से उद्वेग अनुभव नहीं करते थे। शास्त्रार्थों द्वारा लोगों को सत्यासत्य का निर्णय करने में सहायता मिलती थी, और यही इनका उपयोग था। भारत में साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रादुर्भाव उस समय होना प्रारम्भ हुआ, जब यहाँ निर्वाचन पर आधारित लोकतन्त्र संस्थाओं की स्थापना होने लगी। साम्प्रदायिक समस्या पर हमें यहाँ विचार नहीं करना है, और न उसके कारणों पर प्रकाश डालना है। पर ध्यान देने योग्य बात यह है, कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के धर्मप्रचार तथा अन्य धर्मों व सम्प्रदायों की सुस्पष्ट और कभी-कभी तीखी आलोचना ने कभी भी साम्प्रदायिक वैमनस्य को उत्पन्न नहीं किया। यही बात भरोसे के साथ बीसवीं सदी के प्रथम चरण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, जब कि आर्यसमाज के कितने ही शास्त्रार्थ-महारथी न केवल पौराणिक पण्डितों को ही, अपितु मुसलमान मौलवियों को भी सार्वजनिक रूप से चुनौती दिया करते थे, और उनके शास्त्रार्थों को सुनने के लिए लोग बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हुआ करते थे।

पर स्वामी जी के समय में शास्त्रार्थों का रूप इतना सार्वजनिक नहीं था, और न उन्हें सुनने के लिए हजारों व्यक्तियों की उपस्थिति ही होती थी। प्रचार करते हुए स्वामी जी जिस किसी नगर में जाते थे, वहाँ उनके पधारने के सम्बन्ध में विज्ञापन लगवा दिए जाते थे, जिनमें कि उनके व्याख्यानों की सूचना होती थी और साथ ही शंका-समाधान व शास्त्रचर्चा के लिए आमन्त्रण। विविध धर्मों व सम्प्रदायों के विद्वान् स्वामी जी के आमन्त्रण को स्वीकार कर शास्त्रचर्चा व शास्त्रार्थ के लिए उद्यत हो जाते थे, और पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार अनुशासित ढंग से इनकी व्यवस्था की जाती थी। इन शास्त्रार्थों के नियमों को किस प्रकार निर्धारित किया जाता था और उनका स्वरूप किस प्रकार का होता था, इसे उस नियमावली से भली भाँति समझा जा सकता है, जिसका निर्माण रुड़की में मौलवी मुहम्मद कासिम (प्रधान, दारुल-उलूम, देवबन्द) के साथ शास्त्रार्थ के लिए किया गया था। इस नियमावली को निर्धारित करने के लिए एक समिति का गठन किया गया था, जिसमें कर्नल मान्सल तथा कैप्टिन स्टुअर्ट भी उपस्थित थे। स्वामी जी और मौलवी साहब भी वहाँ थे, और उनके कुछ सहयोगी भी। इस समिति द्वारा दोनों पक्षों की सहमति से निम्नलिखित नियम निर्धारित किए गये थे—

(१) जिस कोठी में स्वामी जी ठहरे हुए हैं, वहीं शास्त्रार्थ होगा। (२) दोनों पक्षों के मनुष्य चार सौ से अधिक नहीं होंगे। (३) शास्त्रार्थ-क्षेत्र में प्रवेश के लिए चतुर और बुद्धिमान् मनुष्यों को टिकट बाँट दिये जाएँगे। (४) शास्त्रार्थ लिखित होगा, अर्थात् जो कुछ कोई बोलेगा, वह लिखाता जाएगा ताकि अस्वीकार करने की सम्भावना न रहे और प्रकाशित करने के काम आवे। (५) ६ बजे सायं से ९ बजे रात तक शास्त्रार्थ

रहेगा। (६) दोनों ओर से शास्त्रार्थ में बुद्धिमानों के समान सभ्यतापूर्ण बातचीत करने का ध्यान रहे और किसी के पूर्वजों या नेताओं के विषय में कठोर वचनों का प्रयोग न करें। (७) शास्त्रार्थ के समय मेरे (स्वामी जी के) और आपके (मौलवी साहब के) अतिरिक्त कोई सज्जन शास्त्रार्थ के विषय में किसी ओर से बातचीत न कर सकेंगे। (८) स्वामी जी वेद के उत्तरदाता बनेंगे और केवल कुरआन पर आक्षेप करेंगे और मौलवी साहब कुरआन के उत्तरदाता होकर केवल वेद पर आक्षेप करेंगे। (९) १८ अगस्त, सन् १८७८ को नियत समय से शास्त्रार्थ उपर्युक्त नियमानुसार आरम्भ किया जाएगा। प्रायः इसी प्रकार के नियम शास्त्रार्थों के लिए अन्यत्र भी निर्धारित किए गये थे, और इनके अनुशीलन से उस समय के शास्त्रार्थों का स्वरूप भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। शास्त्रार्थ सभा में केवल ऐसे लोगों को ही उपस्थित होने दिया जाता था, जो बुद्धिमान् व सुयोग्य हों और जो शास्त्रार्थ के विषय एवं विचार-विनिमय को समझ सकने की क्षमता रखते हों। ऐसी सभा के लिए चार सौ की उपस्थिति पर्याप्त व समुचित समझी जाती थी। दोनों पक्षों की ओर से जो कुछ भी कहा जाए, उसे लेखबद्ध करने की व्यवस्था की जाती थी, ताकि बाद में कोई अपनी कही बात को अस्वीकार न करने पाए। इन नियमों से यह भी सूचित होता है, कि शास्त्रार्थों का मुख्य प्रयोजन स्वामी जी की दृष्टि में सत्य और असत्य का निर्णय था, प्रचार तो उनसे स्वतः ही हो जाता था।

शास्त्रार्थ के नियमों का निर्धारण सुगम बात नहीं थी। कई बार ऐसा हुआ, कि दोनों पक्ष नियमों पर सहमत नहीं हो सके, जिससे कि शास्त्रार्थ का विचार छोड़ देना पड़ा। देवबन्द के मौलवी मुहम्मद कासिम से तीन बार शास्त्रार्थ की बात हुई, चाँदापुर में, रुड़की में और मेरठ में। पिछले दो स्थानों पर शास्त्रार्थ नहीं हो सका, क्योंकि नियमों पर उनका स्वामी जी से मतभेद रहा। शास्त्रार्थ के जिन नौ नियमों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनका निर्धारण रुड़की में हुआ था, और मौलवी साहब उनसे सहमत हो गये थे। बाद में उन्होंने इस बात पर जोर देना शुरू कर दिया कि शास्त्रार्थ सार्वजनिक सभा में हो और बातचीत या विचार-विनिमय मौखिक हुआ करें, लिखित रूप से नहीं। ये दोनों बातें ऐसी थीं, जिनको स्वीकार कर लेने से शास्त्रार्थ सभा का रूप गम्भीर विचार-विमर्श का न रह पाता। स्वामी जी ने इसी कारण उन्हें स्वीकार नहीं किया। मेरठ में भी स्वामी जी और मौलवी साहब में इसी कारण शास्त्रार्थ नहीं हो सका, क्योंकि मुसलमानों की ओर से इस बात पर जोर दिया जा रहा था, कि न तो बोलने के समय को किसी भी प्रकार से नियन्त्रित किया जाए और न शास्त्रार्थ सभा में उपस्थिति के विषय में कोई नियम हो। शास्त्रार्थ में जो विचार-विनिमय हो, उसे लेखबद्ध करना भी मुसलमानों को स्वीकार नहीं था। देहरादून में भी स्वामी जी और मौलवियों में शास्त्रार्थ की बात चली थी। इसके लिए स्वामी जी के कहने पर मुसलमान जो नियम बना कर लाये थे, उनमें कुछ संशोधन करने का सुझाव स्वामी जी ने दिया, पर मुसलमान उन्हें मानने के लिए उद्यत नहीं हुए, जिसके कारण वहाँ शास्त्रार्थ न हो सका। अक्टूबर, १८८० में जब स्वामी जी दूसरी बार देहरादून गये, तो मुसलमानों और ईसाईयों की ओर से उनके साथ शास्त्रार्थ के प्रयत्न किये गये, पर नियमों के सम्बन्ध में ऐकमत्य न होने के कारण वे प्रयत्न सफल नहीं हो सके। शास्त्रार्थों का स्वामी जी क्या प्रयोजन समझते थे, और उनकी क्या व्यवस्था उन्हें अभीष्ट थी, यह उस विज्ञापन से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है, जो उनके देहरादून

पधारने पर वहाँ के आर्य सज्जनों द्वारा प्रचारित किया गया था—"स्वामी जी केवल वेद-मत को मानते हैं, और अन्य नवीन मतों अर्थात् पुराणी, कुरानी, किरानी, जैनी आदि की त्रुटियों और बुराइयों को उपयुक्त युक्तियों और शास्त्रोक्त प्रमाणों से सिद्ध करते हैं। इसलिए उपर्युक्त मतों में से जो सज्जन अपने मत की सत्यता और वेदमत का खण्डन कर सकते हों, वे आकर इस रूप में शास्त्रार्थ करें कि अपने पक्ष के बीस सत्यप्रिय और न्याय-कारी विद्वानों को अपने साथ लावें और उनको पंच ठहरावें। इसी प्रकार स्वामी जी की ओर से भी बीस मनुष्य पंच नियत किये जावें और तीन आशुलिपिक दोनों पक्षों के प्रश्नोत्तर लिखने के लिए (एक स्वामी जी की ओर से, दूसरा विरोधी पक्ष की ओर से और तीसरा पंचों की ओर से) नियत हों और प्रत्येक प्रश्नोत्तर पर दोनों पक्षों और पंचों के हस्ताक्षर कराये जावें। शास्त्रार्थ की समाप्ति के पश्चात् प्रश्नोत्तर की एक प्रतिलिपि स्वामी जी के पास और दूसरी विरोधी पक्ष के पास रहेगी और तीसरी पंचों के मतानुसार न्यायालय में भेजी जावेगी, ताकि कोई व्यक्ति किसी प्रकार का परिवर्तन न कर सके और न किसी को व्यर्थ बोलने का अवसर प्राप्त हो।" यदि शास्त्रार्थ का प्रयोजन किसी मत व सम्प्रदाय के मन्तव्यों के सत्यासत्य का निर्णय करना हो, तो इस प्रक्रिया से कौन असहमत हो सकता है। पर आश्चर्य है, कि कितने ही शास्त्रार्थ केवल इसीलिए नहीं हो सके, क्योंकि स्वामी जी के विरोधी इन युक्तियुक्त बातों को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं थे। सनातनी पण्डितों से भी अनेक शास्त्रार्थ नियमों पर ऐकमत्य न हो सकने के कारण ही नहीं होने पाए। मेरठ में एक 'सनातन धर्म रक्षिणी सभा' स्थापित थी, जिसे वहाँ के अनेक रईसों व सम्भ्रान्त व्यक्तियों का संरक्षण प्राप्त था। इस सभा द्वारा भी स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ का प्रस्ताव किया गया। स्वामी जी ने शास्त्रार्थ के लिए निम्नलिखित नियम निर्धारित करने के लिए कहा— (१) उभय पक्ष में निम्नलिखित १२ सज्जन सभा के प्रबन्धक नियत किये जाएँ, यदि वह स्वीकार करें। (यहाँ १२ सज्जनों के नाम थे, जिनमें एक मातहत जज भी थे) (२) इनमें से एक सज्जन और यदि सम्भव हो तो मातहत जज साहब प्रबन्धक सभा के सभापति नियत किए जाएँ। (३) प्रबन्धकों के अतिरिक्त उपस्थित जनों की संख्या हर एक ओर से पचास-पचास से अधिक न हो, तो अच्छा है। (४) उपस्थित होने वालों की जो संख्या नियत की जावे उतने ही टिकट छपवा कर आधे-आधे हर एक पक्ष को दे दिये जायें। (५) हर एक पक्ष अपनी ओर से उपस्थित मनुष्यों को नियम में रखे और सब प्रकार से उनका उत्तरदाता रहे। (६) हर एक पक्ष की ओर के योग्य पण्डितों की संख्या दस से अधिक न हो, कम का अधिकार है। (५) उभय पक्ष में से केवल एक ही पण्डित सभा में भाषण करे अर्थात् एक ओर से स्वामी दयानन्द सरस्वती और दूसरी ओर से पण्डित श्रीगोपाल। (८) इस सभा में हर विषय का खण्डन-मण्डन वेदों के प्रमाण से ही किया जावे। (६) वेदमन्त्रों के अर्थों के निश्चय के लिए ब्रह्मा जी से जैमिनि जी तक के ग्रन्थों की, जिन्हें दोनों पक्ष मानते हैं, साक्षी देनी होगी। (यहाँ इन ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं) (१०) विदित रहे कि ऐतरेय से लेकर अर्थवेदादि उपर्युक्त ग्रन्थ ही साक्षी और प्रमाण होंगे, परन्तु यदि इनमें भी कोई वाक्य वेद-विरुद्ध होगा, तो दोनों पक्ष उसे न मानेंगे। (११) उभय पक्ष को वेदों तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों, सृष्टि क्रम और सत्य धर्म से युक्त भाषण करना तथा मानना होगा। (१२) इस सभा में जो व्यक्ति किसी का पक्षपात और राग प्रदर्शन करे, उसे सहस्र ब्रह्महत्या का पाप होगा। (१३) यतः

बहुत बड़ी बात केवल एक पाषाणादि मूर्तिपूजन ही है, इसलिए इस सभा में मूर्तिपूजन का खण्डन और मण्डन होगा और यदि वेदों की रीति से पण्डित जी पाषाणादि मूर्तिपूजन का मण्डन कर देवें तो पण्डित जी की सब बातें सच्ची समझी जावेंगी और स्वामी जी मूर्ति-पूजन का खण्डन छोड़कर मूर्तिपूजन स्वीकार कर लेंगे, और जो स्वामी जी वेदों के प्रमाण से पाषाणादि मूर्तिपूजन खण्डन कर देवें तो स्वामी जी की और बातें भी सच्ची समझी जावेंगी और पण्डित जी उसी समय से मूर्तिपूजन छोड़कर मूर्तिपूजन का खण्डन स्वीकार कर लेवें। ऐसा ही उभय पक्ष को स्वीकार करना होगा। (१४) उभय पक्ष से प्रश्नोत्तर लिखित होने चाहिएँ, अर्थात् हर एक प्रश्न मौखिक किया जावे और तत्क्षण लिख दिया जावे। बल्कि जहाँ तक सम्भव हो, वक्ता का एक-एक शब्द लिखा जावे। हर एक प्रश्न के लिए पाँच मिनट और हर एक उत्तर के लिए पन्द्रह मिनट नियत हों और नियत समय की कमी का अधिकार है, परन्तु अधिक समय का नहीं। इन चौदह नियमों के अतिरिक्त छह अन्य नियम स्वामी जी की ओर से प्रस्तावित किये गये थे, जिनमें सभा के समय तथा स्थान आदि का उल्लेख था। साथ ही, एक नियम द्वारा यह भी व्यवस्था प्रस्तावित की गई थी, कि "प्रश्नोत्तर के लिखने के लिए तीन लेखक नियत होने चाहिए और प्रत्येक लेख का मिलान करने के पश्चात् प्रतिदिन दोनों पक्षों के हस्ताक्षर होकर एक-एक प्रति हर पक्ष को दी जाए और एक प्रति बक्स में बन्द करके उस पर उभय पक्ष और सभापति का ताला लगाकर सभापति के पास रहे ताकि लेखों में कुछ न्यूनाधिक न होने पावे और आवश्य-कता के समय काम आवे।"

पर सनातन धर्मरक्षिणी सभा के अधिकारी व पण्डितों को इन स्पष्ट व न्याय्य नियमों पर भी विप्रतिपत्तियाँ थीं, जिनके कारण मेरठ में मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ नहीं हो सका। स्वामी जी की ओर से प्रस्तावित नियमों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि वे शास्त्रार्थ को अत्यन्त गम्भीरता से लेते थे और उसका प्रधान प्रयोजन यही मानते थे कि उससे सत्य-असत्य के निर्णय में सहायता मिले। वे उसे सस्ते प्रचार या व्यर्थ की वाहवाही का साधन नहीं समझते थे। श्रोताओं की संख्या के अधिक न होने, शास्त्रार्थ-सभा में केवल टिकटों द्वारा प्रवेश होने, और सब भाषणों को लेखबद्ध किये जाने आदि पर जोर देने का यही कारण था।

यद्यपि अनेक शास्त्रार्थ नियमों का निर्धारण न हो सकने के कारण आयोजित नहीं हो पाए, फिर भी पौराणिक पण्डितों, ईसाई पादरियों, मुसलिम मौलवियों और जैन विद्वानों से जो शास्त्रार्थ स्वामी जी ने किये, उनकी संख्या भी कम नहीं है। काशी और चाँदापुर के मेले में हुए शास्त्रार्थों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इन शास्त्रार्थों के विवरण इस समय उपलब्ध भी हैं। १८६९ में काशी शास्त्रार्थ हुआ था, और उसी साल लाइट प्रेस, बनारस द्वारा उसका विवरण प्रकाशित कर दिया गया था। चाँदापुर मेले के शास्त्रार्थ का वृत्तान्त सबसे पूर्व सन् १८७८ में उर्दू में प्रकाशित हुआ था, जो अब उपलब्ध नहीं है। कुछ समय पश्चात् सन् १८८० में वह वैदिक यन्त्रालय, बनारस द्वारा उर्दू और हिन्दी दोनों में प्रकाशित किया गया था। 'सत्य धर्म विचार' नाम से यह उपलब्ध है।

सनातनी पौराणिक पण्डितों से स्वामी जी ने जो बहुत-से शास्त्रार्थ किये, उन सबका यहाँ उल्लेख कर सकना न सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। काशी शास्त्रार्थ के अतिरिक्त कुछ अन्य शास्त्रार्थों के विवरण पृथक् पुस्तिकाओं के रूप में उपलब्ध

हैं, या पुरानी पत्रिकाओं में उनकी रिपोर्ट विद्यमान है। ८ एप्रिल, १८७३ को हुगली में पण्डित ताराचरण के साथ स्वामी जी का शास्त्रार्थ हुआ था, जिसकी रिपोर्ट उसी वर्ष बंगला भाषा में प्रकाशित हो गई थी। वह रिपोर्ट इस समय उपलब्ध नहीं है, पर बाद में १८७३ में ही इस शास्त्रार्थ का विवरण लाइट प्रेस, बनारस से 'प्रतिमा पूजन विचार' नाम से हिन्दी में प्रकाशित हुआ था, जो अभी प्राप्तव्य है। इनके अतिरिक्त फर्रुखाबाद, कानपुर और कलकत्ता आदि में विविध पौराणिक पण्डितों से स्वामी जी के जो शास्त्रार्थ, प्रश्नोत्तर एवं शंका-समाधान हुए, उनके विवरण अनेक समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे, और उन्हें भी वर्तमान समय में उपलब्ध ही कहा जा सकता है।

ईसाई पादरियों से भी स्वामी जी के अनेक शास्त्रार्थ हुए थे। प्रेस्बिटीरियन मिशन अजमेर के पादरी रेवरेण्ड ग्रे और डा० हस्बैण्ड के साथ स्वामी जी का शास्त्रार्थ २८ नवम्बर, १८७८ को हुआ था, जिसकी अध्यक्षता सरदार बहादुर मुंशी अमीनचन्द साहब ने की थी। दोनों पक्षों के भाषणों को लेखबद्ध करने के लिए तीन व्यक्ति नियत किए गये थे, जिनमें दो हिन्दू और एक मुसलमान थे। इस शास्त्रार्थ का विवरण 'आर्य-दर्पण' अजमेर में प्रकाशित हुआ था, और वह 'शास्त्रार्थ अजमेर' नाम से पृथक् रूप से उपलब्ध है। अगस्त, १८७९ में ईसाईयों से एक अन्य शास्त्रार्थ बरेली में हुआ था, जिसमें स्वामी जी के प्रतिपक्षी रेवरेण्ड टी० जी० स्कॉट थे। पादरी स्कॉट से स्वामी जी पहले से ही परिचित थे, और चाँदापुर मेले में भी उनसे शास्त्रार्थ कर चुके थे। 'सत्यासत्य विवेक' नाम से बरेली शास्त्रार्थ का वृत्तान्त वर्तमान समय में भी उपलब्ध है। सबसे पहले यह शाहजहाँपुर के आर्यभूषण प्रेस से सन् १८७९ में प्रकाशित हुआ था। आगरा, बम्बई आदि अन्य नगरों में भी ईसाईयों के साथ स्वामी जी के शास्त्रार्थ हुए थे, जिनके संक्षिप्त वृत्तान्त उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में विद्यमान हैं।

चाँदापुर के मेले में दारुल-उलूम, देवबन्द के प्रधान मौलवी मुहम्मद कासिम से स्वामी जी का एक शास्त्रार्थ हुआ था। जैसा कि इसी प्रकरण में ऊपर लिखा जा चुका है, रुड़की और मेरठ में मौलवी साहब से शास्त्रार्थों के आयोजन के फिर प्रयत्न किए गये, पर वे सफल नहीं हो सके। जब स्वामी जी पंजाब में वेद प्रचार कर रहे थे, तो वहाँ उनके अनेक मौलवियों से शास्त्रार्थ हुए थे, जिनमें जालन्धर का शास्त्रार्थ सबसे प्रसिद्ध है। इसमें स्वामी जी के प्रतिद्वन्द्वी मौलवी हसन उर्फ वली मुहम्मद तपाखी थे। यह शास्त्रार्थ २४ सितम्बर, १८७७ को हुआ था और इसका वृत्तान्त उसी साल पंजाबी प्रेस, लाहौर द्वारा प्रकाशित हो गया था। यह भी वर्तमान समय में उपलब्ध है। उदयपुर में स्वामी जी ने मुसलमानों से एक अन्य शास्त्रार्थ किया था, जिसमें उनके प्रतिपक्षी मौलवी अब्दुर्रहमान सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस तथा न्यायाधीश, उदयपुर थे। यह शास्त्रार्थ ११, १३ और १७ सितम्बर, १८८२ को हुआ था। इसका वृत्तान्त भी उपलब्ध है।

जैनियों से भी स्वामी जी के अनेक बार प्रश्नोत्तर व शास्त्रार्थ हुए। पर उनका उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि उस विवाद का है जो सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) के बारहवें समुल्लास में जैन धर्म के सम्बन्ध में लिखी गई कतिपय बातों के कारण उठ खड़ा हुआ था। इस विवाद का प्रारम्भ पंजाब के लाला ठाकुरदास के उस पत्र से हुआ था, जिसे उन्होंने ३ जुलाई, १८८० के दिन स्वामी जी को लिखा था। इस पत्र में यह पूछा गया था, कि "उक्त पुस्तक के समुल्लास १२ में पृष्ठ ३९६ से लेकर जो

व्याख्यान जैनियों के विषय में लिखा है, और उनमें जो हवाला जैन मत के श्लोकों का लिखा है सो आप कृपा करके जैन के शास्त्रों के नाम लिखो कि यह कौन से जैन के शास्त्र के श्लोक हैं। इस बात का जवाब जल्दी भेजें। चूँकि जो जैन मत में यह श्लोक है नहीं, और झूठ लिखना यह बुद्धिमानी की बात नहीं।" इस पत्र का उत्तर मेरठ आर्यसमाज के मन्त्री मुंशी आनन्दीलाल ने दिया, और वे ही इस सम्बन्ध में लाला ठाकुरदास के साथ पत्र-व्यवहार करते रहे। १२ सितम्बर, १८८० के पत्र में उन्होंने यह सुझाव दिया कि जैन मत के किसी सुयोग्य विद्वान् से स्वामी जी के शास्त्रार्थ का आयोजन कर दिया जाए, ताकि सत्यासत्य का समुचित रूप से निर्णय हो सके। मुंशी आनन्दीलाल ने यह भी लिखा कि जैनों को अपने धर्मग्रन्थों को गुप्त नहीं रखना चाहिए, अपितु उनके अनुवाद भी उन्हें प्रकाशित करने चाहिएँ। "लोग ऐसा अपवाद तुम्हारे पर धरते हैं कि जैसे वेद आदि शास्त्रों का आर्य लोग, बाइबल आदि का ईसाई लोग और कुरान आदि का मुसलमान लोग व्याख्या और देश भाषान्तर में उलथा करके प्रचार कर रहे हैं वैसे जैन लोग क्यों नहीं करते? यदि जैनियों के मत विषयक पुस्तक ठीक-ठीक सत्य और विद्या-पुस्तकों के अनुकूल होते तो वाममार्गियों के सदृश कौल पद्धति के समान अपने पुस्तकों को गुप्त क्यों रखते? इत्यादि बुद्धिमानों द्वारा किये गये अपवाद का निवारण करना आप लोगों को अत्यन्त उचित है। इसके निवारण के उपाय दो ही हैं, एक स्वामी जी के साथ तुम्हारे मत के सर्वोत्तम विद्वान् का शास्त्रार्थ होना और द्वितीय अपने सब पुस्तकों के अनेक देश-भाषाओं में छपवा कर प्रसिद्ध करना।" उस समय पंजाब में श्री आत्माराम जैन धर्म के प्रसिद्ध पण्डित थे। मुंशी आनन्दीलाल का प्रस्ताव था, कि उनके साथ स्वामी जी के शास्त्रार्थ की व्यवस्था करा दी जाए। इसी बीच गुजराँवाला (ठाकुरदास जी एवं श्री आत्माराम वहीं पर रह रहे थे) के आर्यसमाज के नाम स्वयं स्वामी जी ने एक पत्र भेजा, जिसमें यह लिखा गया था कि आत्माराम जी के जो-जो सन्देश सत्यार्थप्रकाश के विषय में हों, उनसे लिखवा कर हमारे पास भिजवा दें, ताकि उनका यथोचित उत्तर दिया जा सके। इस पर श्री आत्माराम ने सब प्रश्न लिखकर अपने हस्ताक्षर के साथ आर्यसमाज गुजराँवाला को दे दिये, और वहाँ से वे स्वामी जी के पास भेज दिए गये। उस समय स्वामी जी देहरादून में थे। प्रश्न तो अनेक थे, पर उनमें सबसे अधिक विवादग्रस्त प्रश्न यह था कि सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) में जो श्लोक जैनियों के मत का विवेचन करते हुए लिखे गये हैं, वे जैन धर्म के किस शास्त्र या ग्रन्थ के हैं। इन श्लोकों में कुछ निम्न-लिखित थे—"यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिपुण्ड्रं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुष हीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेव विनिर्गतः कस्मात् भूयो न चायाति बन्धुस्नेह-समाकुलः॥ त्रयो वेदस्य कर्तारः भाण्ड धूर्त निशाचराः॥" "जब तक जिए सुख से जिए, मृत्यु कोई रहस्य नहीं, वह सबके लिए है। शरीर के भस्म हो जाने के बाद फिर उसका आना कहाँ? अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिपुंड्र, भस्म लगाना ये निर्बुद्धि और साहसरहित लोगों की जीविका है, यह बृहस्पति ने कहा है। यदि शरीर से निकलकर जीव परलोक को जाता है, तो बन्धुओं के प्रेम से फिर लौट कर क्यों नहीं आ जाता। तीनों वेदों के कर्ता भाण्ड, धूर्त और निशाचर हैं।" स्वामी जी ने श्री आत्माराम के इस प्रश्न का यह उत्तर दिया, कि ये श्लोक "बृहस्पतिमतानुयायी चार्वाक जिसके मत का दूसरा नाम लोकायत है और

वह जैन मतानुयायी हैं, उनके मतस्थ शास्त्र व ग्रंथों के हैं।" इसमें सन्देह नहीं कि ये श्लोक चार्वाक या लोकायत सम्प्रदाय के हैं, और 'सर्वदर्शनसंग्रह' ग्रन्थ में उस सम्प्रदाय के मन्तव्यों का निरूपण करते हुए दिये गये हैं। स्वामी जी का कथन था, कि चार्वाक सम्प्रदाय भी जैन धर्म की ही एक शाखा था। उन्होंने बौद्ध और जैन मतों का भी एक होना प्रतिपादित किया था। जैन और बौद्ध दोनों एक ही हैं, चाहे उनको बौद्ध कहो चाहे जैन कहो। कुछ स्थानों में महावीरादि तीर्थङ्करों को बुद्ध और बौद्धादि शब्दों से पुकारते हैं और कई स्थानों पर जिन, जैन, जिनवर, जिनेन्द्रादि नामों से बोलते हैं। जिनको चार्वाक बुद्ध की शाखाओं में कहते हैं, उन्हें लोग बुद्ध, स्वयंबुद्ध और चारबोधादि कहते हैं। आप अपने ग्रन्थों में देख लीजिये (ग्रन्थविवेकसार, पृष्ठ ६५, पंक्ति १३) विध, बोध यह एक सिद्ध अनेक सिद्ध भगवान् हैं (पृष्ठ ११३, पंक्ति ७)। चारबुद्ध की कथा (पृष्ठ १३७, पंक्ति ८) ...कई स्थानों पर महावीरादि तीर्थङ्करों को बौद्ध कहते हैं, उन्हीं को आप लोग जैन और जिनादि कहते हैं। अब रहे बौद्ध की शाखाओं के भेद जो चार्वाक, अभ्याणकादि हैं, जैसा कि आपके यहाँ श्वेताम्बर, दिगम्बर, ढूँढिया आदि शाखाओं के भेद हैं, कि उनमें कोई शून्यवादी, कोई क्षणिकवादी, कोई जगत् को नित्य मानते हैं और कोई आत्मा को पाँच तत्त्वों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और उनके मेल से) बनी हुई मानते हैं और उसका नाश हो जाना भी मानते हैं (देखो रत्नावली ग्रन्थ, पृष्ठ ३२, पंक्ति १३ से लेकर पृष्ठ ४३, पंक्ति १० तक) कि उस स्थान पर सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी लिखा है या नहीं। इसी प्रकार चार्वाकादि भी कई शाखा वाले—जिनको आप पुद्गल कहते हैं—उसको अलूकादि नाम से लिखते हैं और उनके आपस में मिलने से जगत् की उत्पत्ति और अलग होने से प्रलय होना ही मानते हैं, और वह जैन और बौद्ध से पृथक् नहीं है प्रत्युत् जैसे पौराणिक मत में रामानुजादि वैष्णवों की शाखा और पाशुपतादि शैवों की और वाममार्गियों की दस महादायास शाखायें और ईसाईयों में रोमन-कैथोलिक आदि और मुसलमानों में शिया और सुन्नी आदि शाखाओं के कतिपय भेद हैं और इतने पर भी वेद और बाइबल और कुरान के सम्प्रदाय में वह एक ही समझे जाते हैं वैसे ही आपके अर्थात् जैन और बौद्ध मत की शाखाओं के भेद यद्यपि अलग-अलग लिखे जा सकते हैं, परन्तु जैन तथा बौद्ध मत में एक ही हैं।" स्वामी जी के पत्र से जो यह उद्धरण दिया गया है, उससे उनकी युक्ति परम्परा इस प्रकार परिलक्षित होती है, कि जैन और बौद्ध धर्मों के ग्रन्थों में जिन आचार्यों व सिद्ध पुरुषों के नाम दिये गये हैं, उनमें से अनेक ऐसे हैं जो दोनों धर्मों में समान रूप से पाये जाते हैं। साथ ही, जिन और बुद्ध सदृश शब्द प्रायः पर्यायवाची रूप से प्रयुक्त हुए हैं। उनकी कथाओं तथा मन्तव्यों में भी सादृश्य है, दोनों अनीश्वरवादी और नास्तिक हैं। वेदों की प्रामाणिकता को दोनों ही स्वीकार नहीं करते। उनमें जो कतिपय भेद हैं, वे उसी ढंग के हैं जैसे कि हिन्दुओं में वैष्णव शैवादि सम्प्रदायों में हैं। चार्वाक या लोकायत भी बौद्ध सम्प्रदाय की अन्यतम शाखा है। अतः जैनों से इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध भी स्पष्ट है। स्वामी जी की युक्ति को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह भी कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में दो धार्मिक परम्पराएँ रही हैं, ब्राह्मण परम्परा और श्रमण परम्परा। ब्राह्मण परम्परा के लोग वेदों और ईश्वर में विश्वास रखते थे और चातुर्वर्ण्य को मानते थे। इसके विपरीत श्रमण परम्परा के लोगों को न वेदों में विश्वास था, न ईश्वर में और न चातुर्वर्ण्य में। जैन, बौद्ध, आजीवक और

चार्वाक सदृश सम्प्रदाय श्रमण परम्परा के ही थे। इसी कारण इनमें मन्तव्यों के भेद होते हुए भी एक प्रकार के आधारभूत सादृश्य की सत्ता है। हिन्दू धर्म में शैव, वैष्णव, शाक्त आदि कितने ही सम्प्रदाय हैं। उनके मान्य ग्रन्थों, देवी-देवताओं, पूजाविधि तथा दार्शनिक सिद्धान्तों में बहुत भिन्नता है। पर यह होते हुए भी आधारभूत मान्यताओं में सादृश्य होने के कारण उन्हें एक माना जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसी ढंग से बौद्ध, जैन और चार्वाक सम्प्रदायों की एकता प्रतिपादित की है, और इसे अयुक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

स्वामी जी को अपने इस विचार को प्रकट किए हुए एक सदी से भी अधिक समय हो चुका है। इस प्रसंग में यह कदापि नहीं भूलना चाहिए, कि उस समय प्राचीन भारतीय धर्मों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रारम्भिक दशा में था। बौद्ध धर्म का कुछ अनुशीलन अवश्य हुआ था, पर जैन धर्म तथा उसके साहित्य व दर्शन का अध्ययन अभी सर्वथा उपेक्षित था। जैन आचार्य अपने धर्मग्रन्थों को प्रायः गुप्त रखते थे, और उनका मुद्रण तथा प्रकाशन तब शुरू नहीं हुआ था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में ही (स्वामी जी के देहावसान के पर्याप्त समय पश्चात्) उनका प्रकाश में आना प्रारम्भ हुआ था। पाश्चात्य संसार के जो विद्वान् प्राच्य धर्मों व साहित्य के अध्ययन में तत्पर थे, उनमें से अनेक ऐसे भी थे जो बौद्ध और जैन धर्मों को एक ही वृक्ष की दो शाखाएँ मानते थे। विल्सन, बर्नोफ, लास्सन, वीबर आदि कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने जैनमत को बौद्ध धर्म का ही अन्यतम सम्प्रदाय माना है। उन्नीसवीं सदी के अन्त में जब जैनों के कुछ ग्रन्थ प्रकाश में आए, और जैकोबी तथा बूह्लर सदृश विद्वानों ने जैन धर्म का विवेचनात्मक अनुशीलन प्रारम्भ किया, तो उन्होंने इस धर्म की पृथक्ता प्रतिपादित की, यद्यपि उनके इस विचार को तब भी सब विद्वानों ने स्वीकार्य नहीं समझा। इस दशा में यदि स्वामी जी ने जैन, बौद्ध और चार्वाक सम्प्रदायों के ऐक्य को माना हो, तो इसे अनुचित अथवा अयुक्तियुक्त कैसे कहा जा सकता है? चाहे अब आधुनिक विद्वान् इन धर्मों को भिन्न मानने लगे हों, पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इन सब में आधारभूत एकता तथा सादृश्य की सत्ता है, क्योंकि इन सबका सम्बन्ध प्राचीन भारत की नास्तिक व अनीश्वरवादी श्रमण परम्परा के साथ है।

श्री आत्माराम और स्वामी जी में पत्रों द्वारा अभी प्रश्नोत्तर चल ही रहे थे, कि लाला ठाकुरदास ने स्वामी जी के नाम एक नोटिस जारी किया, जिसमें सत्यार्थप्रकाश के उन अंशों को, जो उसकी सम्मति में आपत्तिजनक थे, वापस लेने और उन्हें लिखने के लिए क्षमा माँगने को कहा और साथ ही यह धमकी भी दी कि यदि वे ऐसा नहीं करेंगे, तो न्यायालय में उनके विरुद्ध मुकदमा दायर कर दिया जाएगा (२२ नवम्बर, १८८०)। इसी प्रकार के नोटिस आर्यसमाजों को भी भेजे गये। इस बीच में लाला ठाकुरदास और उनके साथी यह भी प्रयत्न कर रहे थे, कि आर्यसमाज और स्वामी जी के विरुद्ध अन्य जैनियों का भी साहाय्य प्राप्त किया जाए। इसीलिए एक पत्र उन्होंने राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द को भी लिखा। राजा साहब हिन्दी के सुलेखक तथा इतिहास के ज्ञाता थे और जैन धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'इतिहासतिमिरनाशक' (प्रकाशन काल सन् १८७२) में लिखा था, कि "बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मत से है जो वेदविरुद्ध मत महावीर के गणधर गौतम स्वामी जी के समय से लेकर शंकर स्वामी के समय तक सारे

भारतवर्ष में फैला रहा था और जिसको अशोक और सम्प्रति महाराज ने माना। हम उससे बाहर किसी प्रकार नहीं निकल सकते क्योंकि जिससे जैन निकला उन्हीं से बौद्ध निकला। जैन बौद्ध दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। कोष में दोनों का अर्थ एक ही लिखा है और गौतम को दोनों मानते हैं, अन्यथा 'देववंश' इत्यादि पुराने बौद्ध ग्रन्थों में शाक्य-मुनि गौतम बुद्ध को प्रायः महावीर ही के नाम से लिखा गया है।" स्वामी जी ने इतिहास-तिमिरनाशक के इस कथन को अपने मन्तव्य की पुष्टि में प्रस्तुत भी किया था, पर जैन लोगों के रुख को देखकर राजा शिवप्रसाद अपने पहले मत से विमुख हो गये, और उन्होंने श्री शुक्ल जैन पंचायत गुजरांवाला को लिखा, कि "जैन और बौद्धमत एक नहीं हैं, सनातन से भिन्न-भिन्न चले आये हैं। जर्मन देश के एक बड़े विद्वान् ने इसके प्रमाण में एक ग्रन्थ छापा है। चार्वाक और जैन मतों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। जैन को चार्वाक कहना ऐसा है जैसा स्वामी दयानन्द सरस्वती को मुसलमान कहना।" पत्रों द्वारा स्वामी जी तथा अनेक आर्य सज्जनों का इस प्रश्न पर श्री आत्माराम आदि से विचार-विनिमय होता रहा, पर लाला ठाकुरदास ने इसे पर्याप्त नहीं समझा, और जून, १८८२ में अपने वकील की मार्फत एक अदालती नोटिस स्वामी जी को दे दिया। स्वामी जी ने भी उसका उत्तर अपने वकील द्वारा दिया, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् लाला ठाकुरदास ने मुकदमे का विचार छोड़ दिया। स्वामी जी सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग के लिए सदा उद्यत रहते थे। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में उन्होंने चार्वाकों के श्लोकों को जो जैन मत का लिखा था, वह उस समय उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही था। जब जैन विद्वानों ने उनका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया, कि चार्वाकों के मन्तव्य उनके अपने नहीं हैं, तो सत्यार्थप्रकाश के दूसरे संस्करण में उन्होंने इन मन्तव्यों के प्रतिपादक श्लोकों को चार्वाकों के नाम से ही उद्धृत किया, जैनों के नाम से नहीं। इसी प्रकार बौद्धों और जैनों के मन्तव्यों की भी उन्होंने पृथक्-पृथक् समीक्षा की। अपना मत स्थिर करने के लिए स्वामी जी ने जैनों के उस समय उपलब्ध ग्रन्थों (प्रायः हस्तलिखित) का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया। अन्य पुस्तकों के साथ-साथ जैनों के ग्रन्थों को भी स्वामी जी अपने साथ रखा करते थे। उनके आदेश पर बम्बई के कृष्णदास सेवकलाल ने बहुत से जैन ग्रन्थों का संग्रह किया था। इसमें ६१ से भी अधिक हस्तलिखित ग्रन्थ थे, जिनमें से कुछ की श्लोक संख्या १८,००० के लगभग थी। कुछ ग्रन्थ सदियों पुराने थे। इनके अतिरिक्त १२ मुद्रित ग्रंथ भी कृष्णदास सेवकलाल द्वारा एकत्र किए गये थे। किस ग्रन्थ में क्या विषय है, इसका संक्षिप्त विवरण भी उन्होंने तैयार करके स्वामी जी के पास भेज दिया था। जैन धर्म की समीक्षा करते हुए सत्यार्थप्रकाश के नवीन संस्करण में स्वामी जी ने इन ग्रन्थों का समुचित रूप से उपयोग किया था, और उनसे अनेक उद्धरण भी दिए थे।

इसमें सन्देह नहीं, कि वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए स्वामी जी ने पौराणिक पण्डितों, क्रिश्चियन पादरियों, मुस्लिम मौलवियों और जैन विद्वानों से जो बहुत-से शास्त्रार्थ किये, उनमें उनका उद्देश्य सत्यासत्य का निर्णय करना ही होता था। दूसरों के मन को दुखाना या उन पर आक्षेप करना उन्हें अभिप्रेत नहीं था। इसीलिए शास्त्रार्थ के नियमों का निर्धारण करते हुए वे प्रायः यह शर्त भी रखा करते थे, कि पराजित विद्वान् विजेता के मन्तव्य को स्वीकार कर ले। वे स्वयं इसके लिए सदा उद्यत रहते थे।

(४) परोपकारिणी सभा

स्वामी दयानन्द सरस्वती के उपदेशों से प्रभावित होकर और उनकी प्रेरणा से सबसे पूर्व राजकोट और बम्बई में आर्यसमाजों की स्थापना हुई, और फिर पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश आदि विविध प्रदेशों के कितने ही नगरों में समाज स्थापित होते गये। पर ये सब स्वायत्त संगठन थे, यद्यपि इनका प्रयोजन उन लक्ष्यों तक पहुँचना तथा उन आदर्शों को क्रियान्वित करना था जिन्हें सम्मुख रख कर स्वामी जी ने धर्म प्रचार एवं समाज सुधार के आन्दोलन का सूत्रपात किया था। स्वामी जी के कार्य को जारी रखने के लिए ही आर्यसमाजों की स्थापना की जा रही थी। पर स्वामी जी एक ग्रन्थलेखक भी थे। सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका और संस्कार विधि आदि के रूप में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी, और वेदों का एक सुविस्तृत भाष्य भी लिखा था जो संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में था। मुद्रित, प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थों के रूप में स्वामी जी की ऐसी निजी सम्पत्ति थी, जिस पर उनका पूर्ण स्वत्व था। साथ ही, इन ग्रन्थों के मुद्रण के लिए वे अपना प्रिंटिंग प्रेस भी स्थापित कर चुके थे, जिससे पुस्तक-प्रकाशन का कार्य भी होता था। इनके अतिरिक्त स्वामी जी के पास अन्य भी भौतिक सम्पत्ति थी, जो हस्तलिखित व मुद्रित पुस्तकों तथा वस्त्रों आदि के रूप में थी। कोई एक आर्यसमाज इस सब सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था। स्वामी जी के जीवनकाल में किसी केन्द्रीय या सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का संगठन भी नहीं हुआ था, यद्यपि बम्बई में निर्धारित नियमों में 'प्रधान' आर्य समाज का प्राविधान था। इस दशा में स्वामी जी ने यह आवश्यक समझा, कि अपनी सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में एक स्वीकारपत्र लिख दिया जाए और उसकी विधिवत् रजिस्ट्री भी करा दी जाए। परोपकारिणी सभा नाम से एक सभा को संगठित कर उसे स्वामी जी ने अपनी भौतिक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नियत किया, और सब सम्पत्ति उसके नाम वसीयत कर दी। परोपकारिणी सभा की स्थापना स्वामी जी ने १६ अगस्त, सन् १८८० को मेरठ में की थी, और दो दिन बाद १८ अगस्त को उसकी रजिस्ट्री भी मेरठ में करा दी गयी थी। इस सभा के अठारह सदस्य थे। प्रधान का पद लाला मूलराज को दिया गया था, और अनेक सुप्रतिष्ठित आर्य सज्जनों के अतिरिक्त थियोसोफिकल सोसायटी के नेता कर्नल आल्काट और मैडम ब्लेवेत्स्की को भी सभा के सदस्यों में रखा गया था। पर बाद में स्वामी जी ने उदयपुर में एक नया स्वीकारपत्र (वसीयतनामा) लिखा, और परोपकारिणी सभा को भी नये सिरे से संगठित किया। नया वसीयतनामा २७ फरवरी, १८८३ को रजिस्ट्री कराया गया था। इसके अनुसार परोपकारिणी सभा के सदस्यों की संख्या १८ से बढ़ाकर २३ कर दी गयी थी।

नये वसीयतनामे की आवश्यकता सम्भवतः इसलिए पड़ी थी, कि मेरठ में संगठित हुई परोपकारिणी सभा के कुछ सदस्यों को स्वामी जी सदस्यता से हटाना चाहते थे, और साथ ही कुछ अन्य व्यक्तियों को वे सभा का सदस्य बनाने के इच्छुक थे। इस समय तक थियोसोफिस्ट सोसायटी से स्वामी जी का मतभेद हो चुका था, और वे इसके साथ आर्यसमाज का कोई भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहते थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि कर्नल आल्काट और मैडम ब्लेवेत्स्की को परोपकारिणी सभा से

हटा दिया जाए। इसी प्रकार मुंशी इन्द्रमणि, जो मेरठ में संगठित परोपकारिणी सभा के सदस्य थे, अब आर्यसमाज से बहिष्कृत किए जा चुके थे। उन्हें भी परोपकारिणी सभा से पृथक् करना आवश्यक था। सभा के अन्य सदस्यों में डा० बिहारी लाल की मृत्यु हो चुकी थी। इस दशा में सभा में चार स्थान रिक्त थे। स्वामी जी ने अजमेर में संगठित नयी परोपकारिणी सभा में नौ नये सदस्य लिये, चार रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए और पाँच अतिरिक्त। सब नये सदस्य राजस्थान के थे, और उनका वहाँ के विविध राज्यों के राजकुलों तथा शासक वर्ग से सम्बन्ध था। उदयपुर के महाराणा सज्जन सिंह को परोपकारिणी सभा का प्रधान बनाया गया, और शाहपुरा के राजा श्री नाहर सिंह, मसूदा के रावत श्री बहादुरसिंह, भीलवाड़ा के राणा श्री फतेहसिंह, तथा असींद के रावत श्री अर्जुन सिंह को सदस्य। महाराणा सज्जन सिंह के समान ये चारों भी वंशक्रमानुगत राजा थे, और सामन्तों की स्थिति रखते थे। इनके अतिरिक्त जो चार अन्य व्यक्ति परोपकारिणी सभा के नये सदस्य बनाए गये, उनका सम्बन्ध मेवाड़ के सामन्त तथा शासक वर्ग के साथ था। स्वामी जी के जीवन के अन्तिम वर्ष प्रधानतया राजस्थान में व्यतीत हुए थे, और वहाँ के अनेक महाराजा व सामन्त उनके शिष्य हो गये थे। स्वामी जी का प्रयत्न था कि इनके चरित्र को सुधार कर तथा इन्हें वैदिक धर्म की शिक्षाओं का अनुसरण करने के लिए प्रेरित कर राजस्थान के राजकुलों में नवजीवन तथा शक्ति का संचार किया जाए, ताकि उनके प्रभाव का उपयोग देश की उन्नति के लिए किया जा सके। सभा के अन्य सदस्य वही थे, जिनकी नियुक्ति मेरठ में की गयी थी। इनमें लाला मूलराज एम० ए० (लाहौर), लाला रामशरण दास (मेरठ), पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलाल (मथुरा), रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल (आगरा), राजा जयकृष्ण दास (मुरादाबाद), लाला साईंदास (लाहौर), रायबहादुर गोपाल राव हरि देशमुख (पूना), और पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा (लन्दन) के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्य सदस्यों में चार फर्रुखाबाद के, एक दानापुर (बिहार) के और एक ग्वालियर के थे। परोपकारिणी सभा के सदस्यों पर दृष्टिपात करते हुए यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि उसके २३ सदस्यों में कम-से-कम १० ऐसे थे, जो किसी भी आर्यसमाज के सदस्य नहीं थे। उसके प्रधान महाराणा सज्जन सिंह स्वामी जी के भक्त अवश्य थे, पर आर्यसमाज की विधिवत् सदस्यता उन्होंने स्वीकार नहीं की थी। उदयपुर में सभा के जो नौ नये सदस्य बनाये गये थे, उनमें से कोई भी आर्यसमाज का सदस्य नहीं था। इससे सूचित होता है, कि स्वामी जी का प्रभाव क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था, वह केवल आर्यसमाजियों तक ही सीमित नहीं था। परोपकारिणी सभा में केवल राजा-महाराजा ही नहीं थे, अपितु अनेक जज, उच्च राजपदाधिकारी तथा विद्वान् भी उसके सदस्य थे। लाला मूलराज को सभा का उपप्रधान बनाया गया था, और कविराज श्यामल दास (उदयपुर) तथा लाला रामशरण दास (मेरठ) को मन्त्री।

परोपकारिणी सभा के स्वीकारपत्र के प्रथम नियम में सभा के उद्देश्यों व प्रयोजनों का इस प्रकार निरूपण किया गया था—"उक्त सभा जैसी कि इस समय मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा करके परोपकार के कार्य में लगाती है वैसे ही मेरे पीछे अर्थात् मेरे मरने के पश्चात् भी लगाया करे, अर्थात् (१) वेद और वेदांग आदि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने-कराने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपवाने

आदि में। (२) वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशक मण्डली नियत करके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग आदि में। (३) आर्यावर्त के अनाथ और अकिंचन लोगों के संरक्षण, पोषण और सुशिक्षा में व्यय करें और करावें।" इससे वे सब कार्य स्पष्ट रूप से वर्णित कर दिए गये हैं, जिनमें स्वामी जी स्वयं संलग्न थे, और जिन्हें सम्पन्न करते रहने की वे परोपकारिणी सभा से अपेक्षा रखते थे। इन कार्यों में वेदादि सत्य शास्त्रों के प्रचार और देश-विदेश के निवासियों को सत्य के ग्रहण तथा असत्य के परित्याग के लिए प्रेरित करते रहने के साथ-साथ आर्यावर्त (भारत) के दीनों व अनाथों का पालन-पोषण एवं शिक्षा भी सम्मिलित है। स्वामी जी जिस ढंग का सामाजिक संगठन स्थापित करना चाहते थे, उसका आधारभूत तत्त्व सबको योग्यता प्राप्त करने तथा उन्नति का समान अवसर प्रदान कराना है। अतः उन्होंने अपनी वसीयत में भी समाज के दीन व अनाथ वर्ग के समुचित रूप से संरक्षण, भरण-पोषण तथा शिक्षा की भी व्यवस्था रखी थी। स्वीकारपत्र की अन्य बातों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) वैदिक यन्त्रालय का हिसाब एवं कार्य विवरण सब सदस्यों को नियमित रूप से भेजा जाया करे और सभासद् उस पर अपनी सम्मति प्रधान को भेजा करें। (२) तेईस सदस्यों की यह परोपकारिणी सभा स्वामी जी की उत्तराधिकारी समझी जाए, और अपनी सम्पत्ति पर जो अधिकार स्वामी जी के हैं, उनकी मृत्यु के पश्चात् वे सभा को प्राप्त हों। (३) स्वामी जी का अन्त्येष्टि-संस्कार वैदिक रीति से किया जाए, और उनके शव को जल में प्रवाहित न कर अग्नि में भस्म किया जाए। (४) किसी सभासद् के वेदोक्त धर्म को छोड़-कर विरुद्ध आचरण करने लग जाने पर प्रधान को अधिकार हो कि वह अन्य सदस्यों की सम्मति से उसे सभा की सदस्यता से पृथक् कर दे और उसके स्थान पर अन्य वेदोक्त धर्म-युक्त आर्य पुरुष को नियुक्त कर दे। किसी सभासद् की मृत्यु हो जाने पर भी इसी ढंग से रिक्त स्थान की पूर्ति कर ली जाए। (५) वसीयतनामे के विषय में कोई विवाद उत्पन्न होने पर न्यायालय का आश्रय तभी लिया जाए, जब सभा स्वयं उसका निर्णय न कर सके। (६) सभा को यह अधिकार हो, कि वह किसी विशेष लाभ, देशोन्नति, शुभ कार्य और परोपकार को दृष्टि में रख कर इन नियमों में आवश्यक संशोधन व परिवर्तन कर सके। (७) यद्यपि परोपकारिणी सभा को यह अधिकार हो कि वह सब प्रकार का प्रबन्ध करे और इस स्वीकार पत्र के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नये साधन प्रयुक्त करे, पर यदि सभा स्वयं विचार व परस्पर परामर्श से कोई निश्चय न कर सके, तो सब आर्यसमाजों की उस विषय पर सम्मति ली जाए और बहुमत के अनुसार निर्णय किया जाए।

परोपकारिणी सभा एक स्थायी संस्था है। न उसके कोई निर्वाचक हैं, और न उसके सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा होती है। उनके कार्यकाल की कोई अवधि भी नियत नहीं है। वे जीवनपर्यन्त सभा के सदस्य रह सकते हैं, यदि स्वयं त्यागपत्र न दे दें, और या वेदोक्त धर्म के विरुद्ध आचरण के कारण उन्हें सदस्यता से पृथक् न कर दिया जाए।

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि आर्यसमाज के व्यापक संगठन में परोपकारिणी सभा का क्या स्थान है, और विविध आर्यसमाजों तथा आर्य प्रतिनिधि सभाओं के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? सभा के प्रथम अधिवेशन (दिसम्बर, १८८३) में ही श्री महादेव गोविन्द रानाडे, जो उसके अन्यतम सदस्य थे, ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि भविष्य में सभा के सभासदों का जो स्थान रिक्त हो उसकी पूर्ति आर्यसमाज के

प्रतिनिधियों द्वारा की जाया करे। स्वामी जी के देहावसान के तीन वर्ष बाद आर्य प्रतिनिधि सभाओं का संगठन प्रारम्भ हो गया था। सन् १८८६ तक उत्तर प्रदेश और पंजाब के आर्यसमाजों ने पृथक्-पृथक् अपनी प्रतिनिधि सभाएँ संगठित कर ली थीं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का निर्माण तब नहीं हुआ था। इस दशा में क्रियात्मक दृष्टि से यह निर्धारित कर सकना सुगम नहीं था, कि परोपकारिणी सभा के रिक्त स्थानों की पूर्ति आर्यसमाज के किस संगठन द्वारा की जाया करे। बाद के अधिवेशनों में भी इस समस्या पर विचार किया जाता रहा। दिसम्बर, १८८७ के अधिवेशन में यह निश्चय किया गया, कि प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाएँ जिन नियमों के अनुसार और जिस प्रकार प्रान्तों के अन्तर्गत आर्यसमाजों के साथ सम्बन्ध रखती हैं, उसी प्रकार परोपकारिणी सभा के साथ भी रखें। पर इस प्रस्ताव से आर्यसमाज के विविध संगठनों के साथ इस सभा का सम्बन्ध सुचारुरूप से स्पष्ट नहीं होता था। इसी कारण अनेक वर्षों तक यह परम्परा रही, कि परोपकारिणी सभा के अपने सदस्यों के अतिरिक्त विभिन्न आर्यसमाजों द्वारा भेजे गए प्रतिष्ठित आर्य सज्जन भी सभा के अधिवेशनों में उपस्थित हुआ करते थे। इस परम्परा का प्रारम्भ सन् १८८५ में ही हो गया था। परोपकारिणी सभा के कार्यालय द्वारा सभी आर्यसमाजों को सभा के अधिवेशन के स्थान, तिथि एवं समय की सूचना दे दी जाती थी, और उन्हें यह अवसर रहता था कि वे अपने प्रतिनिधि इन अधिवेशनों के लिए भेज सकें। उस समय आर्यसमाजों की संख्या अधिक नहीं थी। अतः यह व्यवस्था सर्वथा क्रियात्मक थी। सन् १८८५ के परोपकारिणी सभा के वार्षिक अधिवेशन में २२ आर्यसमाजों के ३३ प्रतिनिधि उपस्थित हुए थे। १८८७ के अधिवेशन में ४५ आर्यसमाजों के ७६ प्रतिनिधि, १८८८ के अधिवेशन में १६ आर्यसमाजों के ३३ प्रतिनिधि और १८९० के अधिवेशन में ३२ आर्यसमाजों के ६५ प्रतिनिधि आए थे। इसके पश्चात् यह परम्परा सन् १९०६ तक चलती रही। सभा के अधिवेशनों में इस ढंग से आर्यसमाज के जो सुप्रतिष्ठित सदस्य सम्मिलित हुए, उनमें पण्डित लेखराम, महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय, ब्रह्मचारी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों को निमन्त्रित करने की व्यवस्था के कारण परोपकारिणी सभा के अधिवेशनों का महत्त्व बहुत बढ़ जाता था, और उनमें हुए निर्णयों को सम्पूर्ण आर्य जगत् का निर्णय समझा जा सकता था।

पर परोपकारिणी सभा और आर्यसमाज के संगठन (जो धीरे-धीरे बहुत व्यापक रूप प्राप्त करता जा रहा था) में सम्बन्ध का क्या स्वरूप रहे, यह अभी सन्तोषजनक व सुस्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं हुआ था। अतः दिसम्बर १९०६ के सभा के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर एक बृहद् सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें सभा के ११ सदस्यों के अतिरिक्त विविध आर्यसमाजों के २५० प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए। इसमें सभा एवं आर्यसमाज में सम्बन्ध के स्वरूप के निर्धारण के प्रश्न पर विचार करने के लिए सात व्यक्तियों की एक उपसमिति बना दी गयी। इस उपसमिति ने जो सुझाव दिए, और बाद में इस समस्या का समाधान करने के लिए जो विविध प्रयत्न हुए, उन पर इस इतिहास के दूसरे भाग में विशद रूप से प्रकाश डाला जाएगा। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि परोपकारिणी सभा के सदस्य यही उचित समझते रहे हैं, कि इस सभा की पृथक् व स्वायत्त स्थिति कायम रहे। यथार्थ में तो आर्यसमाज ही स्वामी दयानन्द सरस्वती का

वास्तविक उत्तराधिकारी है, और उसकी स्थापना उनके कार्य को जारी रखने तथा उनके सन्देश को सम्पूर्ण विश्व में फैलाने के लिए ही हुई थी। पर ऐसी भी बहुत-सी सम्पत्ति थी, जिस पर स्वामी जी का वैयक्तिक कानूनी स्वत्वाधिकार था। मुद्रणालय, प्रकाशन-संस्था और स्वलिखित ग्रन्थों के रूप में जो उनकी निजी सम्पत्ति थी, उसका मूल्य कुछ कम न था। स्वामी जी ने न कोई आश्रम बनाया था, और न कोई मठ। उनका कोई उस ढंग का शिष्य या चेला भी नहीं था, जैसे कि प्रायः साधु-महात्माओं के हुआ करते हैं। उनके जीवनकाल में ही जिन आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी, उनकी संख्या ८५ के लगभग थी। इन सब आर्यसमाजों को एक सूत्र में संगठित करने के लिए किसी केन्द्रीय सभा का निर्माण स्वामी जी के जीवन काल में नहीं हुआ था। इस दशा में कोई एक समाज स्वामी जी की निजी सम्पत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं कर सकता था। अतः यही सर्वथा उचित व स्वाभाविक था, कि स्वामी जी एक ऐसी सभा संगठित कर दें, जो उनकी सब सम्पत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त करे और उस सम्पत्ति का उपयोग उन्हीं कार्यों के लिए करे जिनके लिए स्वामी जी स्वयं उसे प्रयुक्त कर रहे थे। परोपकारिणी सभा की स्थापना इसी प्रयोजन से की गयी थी, और निस्सन्देह स्वामी जी की सम्पूर्ण व्यक्तिगत सम्पत्ति की वह उत्तराधिकारी थी। इस प्रकार एक अर्थ में आर्यसमाज स्वामी जी की उत्तराधिकारी है, और दूसरे अर्थ में परोपकारिणी सभा।

स्वामी जी के देहावसान के पश्चात् परोपकारिणी सभा के उपमन्त्री पण्डित मोहनलाल पण्ड्या ने स्वामी जी के स्वत्व में विद्यमान सब सम्पत्ति को अपने अधिकार में ले लिया। सभा के प्रथम अधिवेशन (२८ दिसम्बर, १८८३) में इस सम्पत्ति का जो विवरण सुनाया गया, उसके अनुसार इसमें ४३०० रुपये नकद थे, ११,००० रुपये दूसरों से प्राप्तव्य थे, ४००० रुपये मूल्य का मुद्रणालय था, और ४८,००० रुपये की विक्रयार्थ पुस्तकें थीं। स्वामी जी के प्रयोग में आने वाले वस्त्र, पुस्तकें, बरतन तथा अन्य वस्तुएँ इनसे अतिरिक्त थीं। परोपकारिणी सभा ने अपने इसी अधिवेशन में यह निश्चय किया, कि स्वामी जी के वस्त्र, बरतन, काष्ठ की वस्तुएँ तथा उनके उपयोग के अन्य सब पदार्थ मेरठ भेज दिए जाएँ, और वहाँ आर्यसमाज के मन्त्री उनकी सूची बनाकर सब आर्यसमाजों को भेज दें। जो समाज जिस वस्तु के लिए सबसे अधिक कीमत देने को तैयार हो, वह उसे बेच दी जाए और इस प्रकार प्राप्त हुआ सब धन परोपकारिणी सभा के पास भेज दिया जाए। यदि कोई वस्तु बिकने से रह जाए, तो उसे स्वामी जी के शिष्यों को बिना मूल्य भी दिया जा सके। यह सब कार्य मेरठ आर्यसमाज तीन मास की अवधि में पूरा कर दे। परोपकारिणी सभा का यह निश्चय निःसन्देह अनुचित व दुर्भाग्यपूर्ण था। स्वामी जी के निजी प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुओं का ऐतिहासिक महत्त्व है। संसार में जो भी महापुरुष हुए हैं, उनका कार्यक्षेत्र चाहे धार्मिक रहा हो और चाहे राजनीतिक, लोग उन्हें अत्यधिक सम्मान से स्मरण करते हैं और उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए उनके प्रयोग में आने वाली वस्तुओं को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं। महात्मा बुद्ध के भौतिक अवशेषों (दाँत, भस्म आदि) पर उनके अनुयायियों ने विशाल स्तूपों का निर्माण किया था, और आज तक भी वे श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा करते हैं। वाशिंगटन और नैपोलियन सदृश अन्य देशों के राजनीतिक नेताओं का तो प्रश्न ही क्या, भारत में ही महात्मा गाँधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं के स्मृति-चिह्नों को सुरक्षित

किया गया है, और लोग उनसे प्रेरणा प्राप्त करते हैं। यदि स्वामी जी के प्रयोग की वस्तुओं की भी बिक्री न कर उन्हें सुरक्षित रखा जाता, तो बहुत उत्तम होता। पर फिर भी कुछ वस्तुएँ बिना बिके शेष रह गयीं, जिन्हें परोपकारिणी सभा द्वारा बाद में सुरक्षित रूप में लोगों के अवलोकन करने के लिए रख दिया गया। इन वस्तुओं में दो दुशाले, कमण्डल, पादुका, मसिपात्र, रेत घड़ी, चाकू और डाक के पैकेटों को तौलने के लिए तराजू उल्लेखनीय हैं।

स्वामी जी की जो सम्पत्ति परोपकारिणी सभा ने वसीयतनामा के अनुसार प्राप्त की, उसमें एक मुद्रणालय (प्रिंटिंग प्रेस) भी था। स्वामी जी के ग्रन्थ पहले अन्य प्रेसों में छपा करते थे, जिनमें लाजरस प्रेस, वाराणसी और निर्णयसागर प्रेस, बम्बई मुख्य थे। पर स्वामी जी के ग्रन्थों की संख्या और लोकप्रियता बढ़ने के साथ-साथ उनके प्रकाशन तथा मुद्रण की समस्या गम्भीर होती गयी, और यह अनुभव किया जाने लगा, कि इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए अपना प्रेस होना आवश्यक है। इसीलिए फरवरी, १८८० में स्वामी जी द्वारा लक्ष्मीकुण्ड, काशी में एक प्रेस की स्थापना की गयी। प्रारम्भ में इसका नाम 'आर्य प्रकाश यन्त्रालय' था, पर बाद में 'वैदिक यन्त्रालय' कर दिया गया। फर्रुखाबाद और मेरठ की आर्यसमाजों तथा राजा जय कृष्णदास ने इस प्रेस के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की थी। पर यह प्रेस देर तक वाराणसी में नहीं रहा। दो वर्ष पश्चात् उसे प्रयाग ले आया गया, और स्वामी जी के ग्रन्थों का मुद्रण तथा प्रकाशन प्रधानतया वहीं से होने लगा। प्रेस तथा पुस्तक प्रकाशन की सुव्यवस्था के लिए एक प्रबन्धकर्तृ सभा बना दी गयी, जिसके प्रधान रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल थे और मन्त्री पण्डित ज्वालादत्त शर्मा। १८८३ में जब स्वामी जी का देहावसान हुआ, तो मुंशी समर्थदान प्रयाग के वैदिक यन्त्रालय के व्यवस्थापक थे। स्वामी जी के वसीयतनामे के अनुसार इस प्रेस पर अब परोपकारिणी सभा का स्वत्व हो गया था, और उसने अपने पहले अधिवेशन (दिसम्बर, १८८३) में ही यह निश्चय कर लिया था कि प्रेस को प्रयाग से अजमेर ले आया जाए। पर सभा का यह निर्णय सन् १८९१ से पहले क्रियान्वित नहीं किया जा सका। प्रयाग में स्थित वैदिक यन्त्रालय का मूल्य १८८३ में चार हजार रुपये माना गया था, जो उस युग में रुपये की क्रय-शक्ति को दृष्टि में रखते हुए बहुत पर्याप्त था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, विक्रय के लिए स्वामी जी की जो पुस्तकें उस समय स्टॉक में थीं, उनका मूल्य चालीस हजार के लगभग था।

स्वामी जी के अपने उपयोग में आने वाली जो मुद्रित एवं हस्तलिखित पुस्तकें परोपकारिणी सभा को प्राप्त हुईं, वे इतनी अधिक थीं कि उन्हें २२ बण्डलों या बस्तों में अजमेर लाया गया था। इनमें अरबी का मूल कुरान तथा स्वामी जी द्वारा तैयार कराया गया उसका हिन्दी अनुवाद, बाइबल, जैन व अन्य सम्प्रदायों के मान्य ग्रन्थ आदि भी थे। वेद, वेदांग, स्मृति आदि वैदिक व लौकिक संस्कृत के ग्रन्थ तो थे ही। वसीयत द्वारा स्वामी जी से जो सम्पत्ति परोपकारिणी सभा ने प्राप्त की, बाद में उसमें निरन्तर वृद्धि होती गयी। स्वामी जी की पुस्तकों का कापीराइट भी चिरकाल तक सभा के हाथों में रहा, जिसके कारण उसे अपने प्रकाशन-कार्य को बढ़ाने तथा उस द्वारा धन कमाने का अनुपम अवसर प्राप्त हो गया। सभा ने इस धन का उपयोग स्वामी जी द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही किया।

स्वामी जी का वसीयतनामा उदयपुर में रजिस्ट्री हुआ था; और शुरू में वहीं परोपकारिणी सभा के अधिवेशन होते रहे थे। सभा के मन्त्री तथा उपमन्त्री उदयपुर के निवासी थे, अतः शुरू में उसका कार्यालय वहीं पर रहा। पर जब अजमेर निवासी श्री हरविलास शारदा सभा के संयुक्त मन्त्री चुने गये, तो उसका कार्यालय अजमेर ले जाया गया (१८९३)। तब से वह अजमेर में ही है।

परोपकारिणी सभा के प्रथम अधिवेशन में ही उसके प्रधान महाराणा सज्जन सिंह ने कविराज श्यामल दास द्वारा सभा को सूचित कर दिया था कि सभा के वार्षिक अधिवेशन का व्यय मेवाड़ राज्य की ओर से दिया जाया करेगा। तब से सन् १८९५ तक सभा के वार्षिक अधिवेशन की व्यवस्था के लिए २०० रुपये मेवाड़ राज्य द्वारा दिये जाते रहे। सन् १८८४ में महाराणा सज्जन सिंह का स्वर्गवास हो गया था, और महाराणा फतहसिंह उदयपुर की राजगद्दी पर विराजमान हो गये थे। फतहसिंह परोपकारिणी सभा के प्रधान पद को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हुए, और उन्होंने सभा के कार्यों में रुचि भी प्रदर्शित नहीं की। इसी का यह परिणाम था, जो मेवाड़ राज्य द्वारा सभा के वार्षिक अधिवेशन के लिए दी जाने वाली धन राशि सन् १८९५ के बाद बन्द कर दी गयी थी।

स्वामी जी ने परोपकारिणी सभा के जो २३ सदस्य मनोनीत किए थे, उनमें ७ राजस्थान के राजकुलों के थे और २ वहाँ के राजपदाधिकारी। पर राजा-महाराजाओं ने सभा के कार्यों में विशेष रुचि नहीं ली। इसी कारण कुछ ही वर्षों में इस सभा का संचालन आर्य नेताओं के हाथों में आने लग गया, और बाद में ऐसी स्थिति आ गयी, जबकि उसके प्रायः सभी पदाधिकारी विविध आर्य संन्यासी, नेता व विद्वान् ही होने लगे।

बारहवाँ अध्याय

थियोसोफिकल सोसायटी के साथ सम्बन्ध

(१) थियोसोफिकल सोसायटी

सन् १८७५ के एप्रिल मास में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी, और उसी साल नवम्बर में संयुक्त राज्य अमेरिका में थियोसोफिकल सोसायटी का संगठन किया गया था। कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की का इस सोसायटी की स्थापना में प्रमुख कर्तृत्व था। अध्यात्म और पारलौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना इस सोसायटी का प्रमुख उद्देश्य था। अठारहवीं सदी में पाश्चात्य जगत् में नवयुग का सूत्रपात हुआ था, और नए वैज्ञानिक आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रान्ति के कारण वहाँ के विभिन्न देश भौतिक सभ्यता में असाधारण गति से उन्नति करने में तत्पर हो गए थे। एशिया और अफ्रीका के विविध प्रदेशों पर उन्होंने अपना प्रभुत्व भी स्थापित करना आरम्भ कर दिया था। विज्ञान, उद्योग, यातायात, संचार और युद्धनीति आदि के क्षेत्रों में भारत, अरब, चीन, तिब्बत, जापान और मिस्र सदृश देश ब्रिटेन तथा फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत पीछे रह गए थे, और यूरोप तथा अमेरिका के गौरांग लोग एशियन व अफ्रीकन लोगों की अपेक्षा अपने को बहुत ऊँचा समझने लगे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि उस काल में विज्ञान तथा भौतिक सभ्यता की दृष्टि से पाश्चात्य लोग पूर्वी संसार की तुलना में बहुत अधिक उन्नत हो गए थे, पर जहाँ तक आध्यात्म ज्ञान और परलौकिक विषयों के चिन्तन का प्रश्न है, वे भारत, चीन और तिब्बत आदि के निवासियों का मुकाबिला नहीं कर सकते थे। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक प्राच्य देशों के धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य का यूरोप और अमेरिका में भी यवेश हो गया था, और वहाँ के अनेक विद्वान् इनके पठन-पाठन में भी तत्पर हो गए थे। वेद, उपनिषद्, गीता, त्रिपिटक आदि को पढ़कर अनेक पाश्चात्य विद्वान् प्राच्य अध्यात्म ज्ञान की उत्कृष्टता को अनुभव करने लग गए थे, और उनके प्रति उनकी रुचि निरन्तर बढ़ती जा रही थी। भारत, चीन, तिब्बत आदि के प्राचीन व परम्परागत पारलौकिक ज्ञान का आकर्षण केवल विद्वानों तक ही सीमित नहीं था। इन देशों के साधु-महात्माओं, योगियों, तान्त्रिकों, सिद्धों और पीरों के चमत्कारों तथा अद्‌भुत शक्तियों की चर्चा पाश्चात्य जगत् के सर्वसाधारण लोगों में भी होने लग गई थी, और वे इनके सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लग गए थे। यूरोप और अमेरिका में कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे, जिन्हें भौतिक सभ्यता से सन्तोष नहीं था और जो सांसारिक सुखों की प्राप्ति को मानव जीवन का अन्तिम ध्येय

न मानकर आत्मा, परमेश्वर और मोक्ष सदृश पारलौकिक विषयों के प्रति जिज्ञासा रखने लगे थे और प्राच्य देशों का अध्यात्म ज्ञान जिनके लिए विशेष कौतूहल का विषय था। पाश्चात्य जगत् में ऐसे व्यक्ति तो बहुत कम थे, जिन्हें वेद, उपनिषद् आदि के गम्भीर अध्यात्म ज्ञान की वास्तविक रूप से जिज्ञासा हो, पर ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं थी, जो तन्त्र-मन्त्र, जादू, टोने एवं चमत्कारों आदि के प्रति कौतूहल रखते थे और इनसे परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते थे। कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की की गणना भी ऐसे ही लोगों में की जा सकती है। इन्द्रियगम्य भौतिक जगत् से परे भी कोई ऐसी सत्ताएँ हैं, जिन्हें मनुष्य बुद्धि, मन व इन्द्रियों द्वारा नहीं जान सकता, पर साथ ही जिनकी सत्ता से इन्कार कर सकना भी सम्भव नहीं है, उनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की इन्हें बहुत उत्सुकता थी। मदाम ब्लैवेत्स्की कुछ समय मिस्र में भी रही थीं, और वहाँ ऐसे व्यक्तियों के साथ भी उसका सम्पर्क हुआ था, जो अलौकिक शक्तियाँ रखने का दावा करते थे। असम के समान मिश्र का भी जादू प्रसिद्ध है। वहाँ ऐसे जादूगर विद्यमान थे, जो अनेकविध चमत्कार दिखाकर लोगों को आश्चर्यचकित करते रहते थे। मदाम ब्लैवेत्स्की ने इनसे कतिपय जादू भी सीख लिये थे, और यह समझने लगी थी, कि प्राच्य देशों की अध्यात्म विद्या के अनेक रहस्य उसने जान लिये हैं। अमेरिका जाकर उसने पारलौकिक विषयों पर लेख लिखने प्रारम्भ किए और लोग उसे अध्यात्म ज्ञान में निष्णात मानने लगे। सन् १८७४ में कर्नल आल्कट से उसका परिचय हुआ। कर्नल की भी पारलौकिक विषयों के प्रति रुचि थी, और प्राच्य देशों के जादू, चामत्कारिक सिद्धियों एवं योग आदि के प्रति उसे भी आकर्षण था। आल्काट और ब्लैवेत्स्की के विचारों में बहुत समता थी, अतः उन्होंने परस्पर मिलकर कार्य करने का निश्चय किया। दोनों ही अध्यात्म, जादू तथा चमत्कारों पर पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने लगे, और फिर उन्होंने 'मिरेकल क्लब' नाम से एक सभा का संगठन किया। इस सभा में न केवल आध्यात्मिक चमत्कारों की चर्चा ही होती थी, अपितु अनेकविध चमत्कार प्रदर्शित भी किए जाते थे। यह स्वाभाविक था, कि अमेरिका की जनता का ध्यान इस सभा की ओर आकृष्ट हो, और वह उसमें रुचि लेने लगे। कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की के अतिरिक्त अन्य भी अनेक व्यक्ति अमेरिका में ऐसे थे, जो उन्हीं के समान प्राच्य अध्यात्म ज्ञान के प्रति आकृष्ट थे। पर 'मिरेकल क्लब' के चमत्कारों की सत्यता में इन्हें विश्वास नहीं था। ब्लैवेत्सकी द्वारा जो अनेक पुस्तकें अलौकिक सिद्धियों और अध्यात्म ज्ञान के सम्बन्ध में लिखी गई थीं, उनमें वर्णित बातों को भी ये अविश्वास व सन्देह की दृष्टि से देखते थे, और उनका विरोध करने में भी संकोच नहीं करते थे। परिणाम यह हुआ कि आल्काट और ब्लैवेत्स्की के अनेक आलोचक व विरोधी भी अमेरिका में उत्पन्न हो गए, पर इससे उनके उत्साह व प्रयत्न में कमी नहीं आई। ७ सितम्बर, १८७५ के दिन उन्होंने अपने कतिपय मित्रों को ब्लैवेत्सकी के निवास स्थान पर निमन्त्रित किया और अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति एवं प्रचार के प्रयोजन से एक नई सभा को संगठित करने का निश्चय किया, जिसका नाम 'थियोसोफिकल सोसायटी' रखा गया। सभा का संविधान तैयार करने के लिए एक उपसमिति की नियुक्ति की गई, जिसके चार सदस्य थे। अक्टूबर के अन्त तक सभा का संविधान तैयार कर लिया गया, और उसकी एक बैठक ३० अक्टूबर, १८७५ के दिन की गई, जिसमें कर्नल आल्काट को सभा का प्रधान तथा मदाम ब्लैवेत्स्की को मन्त्री

नियत किया गया। थियोसोफिकल सोसायटी का प्रथम अधिवेशन १७ नवम्बर, १८७५ को हुआ, और इसी को इस सोसायटी का स्थापना दिवस माना जाता है। शुरू में इस सभा के सोलह सदस्य थे, जिनमें अमेरिका के अनेकसम्भ्रान्त व उच्च स्थिति के व्यक्ति भी सम्मिलित थे।

(२) आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध का सूत्रपात

यद्यपि थियोसोफिकल सोसायटी ने अपना कार्य उत्साहपूर्वक प्रारम्भ कर दिया था, पर अमेरिका में उसके विरोधियों की भी कमी नहीं थी। बहुत से लोग उसका इस कारण विरोध कर रहे थे, क्योंकि उसके अनेक सदस्यों को क्रिश्चिएनिटी के मन्तव्यों के प्रति आस्था नहीं थी। ईसाई धर्मगुरुओं के प्रति असंतोष अनुभव कर वे प्राच्य अध्यात्म ज्ञान को महत्त्व देने में तत्पर थे, और पाश्चात्य भौतिकवाद तथा क्रिश्चिएनिटी के धार्मिक सिद्धान्तों का विरोध भी करते थे। यदि आल्काट और ब्लैवेत्स्की वास्तविक रूप से प्राच्य पारलौकिक ज्ञान से परिचित होते, और यथार्थ में उसका प्रतिपादन करते, तो शायद उनका अधिक विरोध न होता, पर उनका अध्यात्म ज्ञान जादू टोने तथा चमत्कारों तक ही सीमित था, और उसमें गम्भीरता की अपेक्षा प्रदर्शन तथा उथलेपन की अधिकता थी। इसी कारण अनेक अमेरिकन उन्हें ढोंगी व नास्तिक मानने लगे, और उनके प्रति विरोध-भावना में निरन्तर वृद्धि होती गई। इस दशा में आल्काट और ब्लैवेत्स्की को यह समझने में देर नहीं लगी कि अमेरिका उनके लिए उपयुक्त कार्यक्षेत्र नहीं है। उन्हें यह ज्ञात था, कि भारत सदा से अध्यात्म ज्ञान का केन्द्र रहा है। हिमालय की कन्दराओं में निवास करने वाले योगियों की अलौकिक सिद्धियों की भी उन्होंने चर्चा सुनी हुई थी। इस दशा में स्वाभाविक रूप से उनका ध्यान भारत की ओर गया, और उन्होंने इस देश को अपना कार्यक्षेत्र बनाने के सम्बन्ध में विचार करना शुरू किया। किस प्रकार आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में उन्हें जानकारी प्राप्त हुई और वे इनके साथ सम्पर्क बढ़ाने को तत्पर हुए, इस सम्बन्ध में कर्नल आल्काट का निम्नलिखित कथन उद्धरणीय है—"हम दोनों के हृदय प्राच्य जगत् की ओर आकृष्ट थे। हम भारत के सपने लेते थे। हमारी प्रबल इच्छा थी कि एशिया के लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करें। पर हमें इसके लिए कोई रास्ता दिखायी नहीं देता था, और अपनी पवित्र धर्मभूमि तक पहुँच सकने की सम्भावना हमें बहुत कम प्रतीत होती थी। पर १८७७ की एक सायंकाल एक अमेरिकन यात्री हमें मिलने के लिए आया, जो कुछ ही दिन पहले भारत होकर आया था। वह जिस स्थान पर आकर बैठा, उसके ठीक ऊपर दो हिन्दू सज्जनों (मूलजी ठाकरसी और तुलसीराम) के फोटोग्राफ लगे हुए थे। इनके साथ मैंने सन् १८७० में अटलाण्टिक सागर को पार किया था। मैंने उस अमेरिकन यात्री से पूछा कि क्या इनमें से किसी से उसका परिचय है। उसने उत्तर दिया, कि वह मूलजी ठाकरसी से परिचित है, और कुछ समय पूर्व वह बम्बई में उससे मिला भी था। मैंने उससे मूलजी का पता प्राप्त किया और अगली डाक से उन्हें एक पत्र लिखा, जिसमें कि अपनी सोसायटी तथा भारत के प्रति अपने प्रेमभाव पर प्रकाश डाला गया था।" मूलजी ने शीघ्र ही इस पत्र का उत्तर दिया, और उसमें यह लिखा कि किस प्रकार भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती हिन्दू धर्म में सुधार का प्रयत्न कर रहे हैं, और इसी प्रयोजन से उन्होंने बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की है, जिसके प्रधान

श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि हैं। कर्नल आल्काट को यह पत्र प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई, और उसने स्वामी दयानन्द सरस्वती से पत्र व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया। पहला पत्र उसने १८ फरवरी, सन् १८७८ को स्वामी जी के नाम लिखा था, जिसे बम्बई के पते पर श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा भेजा गया था। इस पत्र के कतिपय अंश इस प्रकार हैं—

"आध्यात्मिक ज्ञान के जिज्ञासु कुछ अमेरिकन तथा अन्य विद्यार्थी अपने को आपके चरणों में रखकर यह प्रार्थना करते हैं कि आप इनके मनों में ज्ञान का प्रकाश प्रदान करें।...तीन वर्ष हुए, उन्होंने अपनी एक संस्था बनायी थी, जिसका नाम थियोसोफिकल सोसाइटी है। चूँकि उन्होंने ईसाई धर्म में कोई ऐसी बात नहीं पाई जिससे बुद्धि एवं तर्क को सन्तोष हो सके और साथ ही यह देखा कि उसके विकृत सिद्धान्त किस प्रकार बुरे प्रभाव उत्पन्न कर रहे हैं, उसके पुरोहित कितने दम्भी, लोभी और कामुक हैं, उसके अनुयायी कैसे अपवित्र व पापमय जीवन बिताने में तत्पर हैं...और क्रिश्चियन जगत् का कितना अधःपतन हो गया है, वे अपनी इस दुनिया से विमुख होकर ज्ञान के प्रकाश के लिए अब पूर्व दिशा को ओर देख रहे हैं और उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने को ईसाइयत का शत्रु घोषित कर दिया है। हमारे इस आचरण की साहसिकता से जनता का ध्यान हमारी ओर आकृष्ट हुआ है।...हमें नास्तिक, काफिर तथा धर्म का शत्रु कहा जा रहा है।...हमें केवल उत्साहसम्पन्न एवं नवयुवकों की सहायता की ही आवश्यकता नहीं है, अपितु बुद्धिमान् तथा सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों का साहाय्य भी अपेक्षित है। इस कारण हम आपके चरणों में उसी प्रकार आते हैं, जैसे पिता के चरणों में पुत्र आता है और आपसे प्रार्थना करते हैं कि हमारे गुरु हमारी ओर देखिए और हमें बताइए कि हमें क्या करना चाहिए। हमें आप परामर्श दीजिए और सहायता प्रदान कीजिए। यहाँ ऐसे करोड़ों मनुष्य हैं, जो आध्यात्मिक प्रकाश से वंचित हैं और भौतिकवाद के अन्धकार में भटक रहे हैं। ये लोग केवल स्वयं पथभ्रष्ट, धर्मान्ध और अशान्त होकर ही सन्तुष्ट नहीं हैं, अपितु अपनी सम्पत्ति, सक्रिय बुद्धि तथा असीम शक्ति का उपयोग सम्पूर्ण प्राच्य जगत् में वहाँ के प्राचीन धर्मों तथा दार्शनिक मन्तव्यों के विरुद्ध जिहाद करने में कर रहे हैं, और यह प्रयत्न करने में तत्पर हैं कि वहाँ के भोले-भाले निवासी उनकी असत्य धार्मिक पद्धति को स्वीकार कर लें। हमारी सोसायटी के सदस्यों की पहुँच समाचार-पत्रों तक है। हम चाहते हैं कि समस्त क्रिश्चियन संसार में प्राच्य जगत् के मन्तव्यों व विचारों का उनके वास्तविक रूप में प्रचार करें। प्राच्य ज्ञान के तथाकथित विद्वान् संस्कृत एवं अन्य प्राचीन भाषाओं को पढ़कर वेदों तथा अन्य पवित्र ग्रन्थों का जिस ढंग से अनुवाद करते हैं, उससे उनके अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हम चाहते हैं कि सुयोग्य पण्डितों द्वारा भाष्य तथा शुद्ध अनुवाद कराके इन्हें मुद्रित व प्रकाशित किया जाए।...हम अपने-आपको आपके पथ-प्रदर्शन में रखते हैं। जिस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति में आप संलग्न हैं, सम्भवतः उसमें हम प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से आपके सहायक हो सकेंगे। हमारा कार्यक्षेत्र भारत तक विस्तृत है, हिमालय से लगाकर कुमारी अन्तरीप तक सर्वत्र हम काम कर सकते हैं। सम्माननीय महोदय,...हमारे अन्तःकरणों के अन्दर देखिए, आप पाएँगे कि हमारा कथन सत्य है। देखिए, आपकी सेवा में हम नम्रता से प्रस्तुत हो रहे हैं, अभिमान से नहीं। हम आपका परामर्श मानने के लिए और आप द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर कर्तव्यपालन के लिए

उद्यत हैं।…"

स्वामीजी को कर्नल आल्काट का यह पत्र तब मिला, जबकि वे लाहौर में थे। वैशाख बदी ५, संवत् १९३३ (२१ एप्रिल, सन् १८७८) को स्वामीजी ने इसका उत्तर संस्कृत में दिया। इस पत्र से स्वामीजी का प्रसन्न होना स्वाभाविक था, विशेषतया उस दशा में जबकि क्रिश्चियन पादरी भारत में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भगीरथ प्रयत्न कर रहे हों और प्राचीन आर्य धर्म के लिए घोर संकट उपस्थित हो। कर्नल आल्काट को जो पत्र स्वामीजी ने संस्कृत में लिखा, उसका सारांश यह है—"सर्वशक्तिमान् ईश्वर की कृपा से पाँच सहस्र वर्ष पश्चात् अब पुनः पाताल देश (अमेरिका) और आर्यावर्त में सम्बन्ध स्थापित हो रहा है। मुझे आपके साथ पत्र-व्यवहार करना सहर्ष स्वीकार है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैं आपको सहायता भी देता रहूँगा। क्रिश्चिएनिटी आदि मतों के सम्बन्ध में जो विचार आपने प्रकट किये हैं, मेरे भी वही विचार हैं। जैसे कि केवल एक परमेश्वर है, वैसे ही मनुष्यमात्र का भी एक ही मत (धर्म) होना चाहिए। यह एक धर्म प्रतिपादित करता है कि एक ईश्वर की उपासना की जाए, उसकी आज्ञाओं का पालन किया जाए, सबका उपकार किया जाए, और सबके प्रति न्याय्य, पक्षपातरहित व धर्मयुक्त व्यवहार किया जाए। यह धर्म सनातन वेद विद्या द्वारा प्रतिपादित है, आप्त विद्वान् लोग सदा से इसका पालन करते आ रहे हैं, और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से इसका कोई विरोध नहीं है। यह धर्म सबके लिए सुख देने वाला है, और सबको इसी का अनुसरण करना चाहिए। जो अन्य मत-मतान्तर हैं, वे सुख का विनाश करने वाले तथा दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं। परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि उसकी कृपा तथा मनुष्यों के प्रयत्न द्वारा वह सत्य सनातन धर्म सम्पूर्ण मानव-समाज में पुनः स्थित हो जाए, जिस का आर्य लोग परम्परागत रूप से पालन करते रहे हैं। जब आपका पत्र मुझे प्राप्त हुआ, तो मैं पंजाब के लाहौर नगर में निवास कर रहा था। वहाँ अनेक आर्यसमाजी विद्वानों ने आपके पत्र को पढ़ा और वे उसे पढ़कर अत्यन्त आनन्दित हुए। कार्य की अधिकता के कारण मुझे अवकाश नहीं मिलता, पर आप सदृश लोग जो सत्य धर्म की वृद्धि के लिए तत्पर हैं, उनके लिए मुझे अवश्य समय निकालना ही चाहिए। अतः आपके साथ पत्र-व्यवहार करता रहूँगा।"

कर्नल आल्काट ने अपने पत्र में स्वामीजी के सम्मुख यह प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया था, कि वे थियोसोफिकल सोसायटी का 'फेलो' बनने का प्रमाण-पत्र स्वीकार कर लें। पर स्वामीजी ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा। स्पष्ट है, कि थियोसोफिकल सोसायटी के प्रमाण-पत्र का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था। वे उससे केवल इस कारण सम्पर्क रखना चाहते थे, क्योंकि उसके पदाधिकारी व सदस्य वेद तथा आर्यधर्म की शिक्षाओं को ग्रहण करने के लिए उद्यत थे।

२१ एप्रिल, १८७८ का स्वामी जी का पत्र कर्नल आल्काट को २९ मई को मिला था, पर इससे पूर्व ही थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा यह निर्णय कर लिया गया था कि इस सोसायटी को आर्यसमाज के साथ सम्बद्ध कर दिया जाए और उसकी स्थिति समाज की शाखा व अंग के सदृश हो जाए। साथ ही आल्काट और ब्लैवेत्स्की सदृश सोसायटी के प्रमुख नेताओं ने अमेरिका से भारत के प्रति प्रस्थान का भी निश्चय कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है, कि १८ फरवरी, १८७८ को स्वामी जी के नाम भेजे गये पत्र के

अतिरिक्त भी आल्काट द्वारा अनेक पत्र बम्बई आर्यसमाज के प्रधान श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को लिखे गये थे, और इन दोनों के बीच पत्र-व्यवहार होता रहा था। इन पत्रों से भी आल्काट और ब्लैवेत्स्की को स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई, और उन्होंने भारत के इस महान् धार्मिक आन्दोलन के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने का निश्चय किया। थियोसोफिकल सोसायटी की एक बैठक २२ मई, १८७८ के दिन हुई, जिसमें सोसायटी के आर्यसमाज से संयुक्त हो जाने एवं स्वामीजी की उसमें शीर्षस्थालीय स्थिति को स्वीकार करने का निर्णय किया गया। इस निर्णय की सूचना श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को भेजे गये एक पत्र में इन शब्दों में दी गई थी—"आर्यसमाज के नेताओं के नाम। सम्माननीय बन्धुओ, सम्मान के साथ आपको यह सूचना दी जाती है कि थियोसोफिकल सोसायटी की कौंसिल की एक बैठक २२ मई, १८७८ को सोसायटी के प्रधान की अध्यक्षता में न्यूयार्क में हुई, जिसमें कि उप-प्रधान ए० बिल्डर द्वारा प्रस्तावित एवं कॉरस्पांन्डिग सेक्रेटरी एच० पी० ब्लैवेत्स्की द्वारा अनुमोदित यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ कि आर्यसमाज द्वारा प्रस्तुत सुझाव को स्वीकार कर थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज परस्पर संयुक्त हो जाएं, और इस सोसायटी का नाम 'थियोसोफिकल सोसायटी ऑफ इण्डिया' कर दिया जाए। यह भी निश्चय हुआ, कि थियोसोफिकल सोसायटी तथा अमेरिका, यूरोप व अन्यत्र विद्यमान उसकी सब शाखाएँ आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती पण्डित को अपना प्रधान व पथ-प्रदर्शक रूप से स्वीकार करती हैं। आप द्वारा इस निर्णय की पुष्टि तथा आपके आदेशों की मुझे प्रतीक्षा रहेगी।" यह पत्र थियोसोफिकल सोसायटी के रिकार्डिंग सेक्रेटरी आगुस्टस के हस्ताक्षर के साथ श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के पते पर भेजा गया था। इससे यह संकेत मिलता है, कि थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज के परस्पर संयुक्त हो जाने का सुझाव आर्यसमाज द्वारा दिया गया था, जिसे थियोसोफिकल सोसायटी की कौंसिल ने स्वीकार कर लिया था। पर यह सुझाव आर्यसमाज के किस पदाधिकारी द्वारा दिया गया, यह ज्ञात नहीं है। सम्भवतः, यह सुझाव श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा दिया गया था, क्योंकि उनका सोसायटी के साथ पत्र-व्यवहार था और वे बम्बई आर्यसमाज के प्रधान थे। उस समय तक आर्यसमाज के किसी केन्द्रीय संगठन की स्थापना नहीं हुई थी। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी के संयुक्त हो जाने का सुझाव आर्यसमाज के किसी नेता द्वारा दिया गया था, या सोसायटी के कतिपय पदाधिकारियों ने स्वयं ही इसकी कल्पना कर ली थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय अमेरिका में थियोसोफिकल सोसायटी की स्थिति बहुत डाँवाडोल थी। उसके प्रति विरोधभावना निरन्तर बढ़ रही थी, और उसके नेताओं को अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हो रही थी। इस दशा में स्वामी दयानन्द सरस्वती सदृश महान व्यक्ति की छत्रछाया में आने तथा आर्यसमाज जैसी नवोदित शक्तिशाली संस्था से संयुक्त हो जाने में ही यदि उन्होंने अपना हित समझा हो, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की ने न्यूयार्क से भारत के प्रति प्रस्थान करने का निश्चय २२ मई, १८७८ से पहले ही कर लिया था, २१ मई, १८७८ को ब्लैवेत्स्की ने एक पत्र श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को लिखा था, जिसमें कि उसने यूरोप होते हुए भारत आने के अपने विचार की सूचना दी थी और भारत को अपनी

'मातृभूमि' कहा था। ब्लैवेत्स्की के इस पत्र में आल्काट ने भी अपनी ओर से कुछ पंक्तियां जोड़ दी थी, जिनमें थियोसोफिकल सोसायटी को आर्यसमाज के साथ संयुक्त कर देने और स्वामी दयानन्द सरस्वती को अपना गुरु व पथप्रदर्शक मानने की बात की ओर भी संकेत कर दिया गया था। कर्नल आल्काट की ये पंक्तियाँ निम्नलिखित थीं—

"मैंने अपनी बहन के पत्र को पढ़ा है और उसमें जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उनका मैं अविकल रूप से समर्थन करता हूँ। यह विचार मुझे स्वीकार्य है कि मेरी सोसायटी आर्यसमाज की शाखा के रूप में विख्यात हो जाए और पण्डित दयानन्द तथा मेरे नियन्त्रण में कार्य करे। पण्डित दयानन्द सदृश पवित्र एवं बुद्धिमान् व्यक्ति को अपना पथप्रदर्शक तथा गुरु मानकर मुझे गर्व की अनुभूति होती है। हमें बहुत काम करना है, तभी हम कोई बड़ा परिणाम दिखा सकेंगे। जैसा कि आपने कहा है, हम साथ मिलकर काम करें, हृदय से हम एक दूसरे के सहयोगी बनें, तभी हम आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न कर सकेंगे।"

यद्यपि कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की भारत के लिये प्रस्थान करने का निश्चय कर चुके थे, पर उनके अमेरिका से चलने से पूर्व ही २९ मई को स्वामी जी का पत्र उन्हें प्राप्त हो गया। इसे पढ़कर उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उसी दिन आल्काट ने हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को एक पत्र लिखा, जिसमें अपनी प्रसन्नता उसने इन शब्दों में प्रकट की थी—"स्वामी दयानन्द सरस्वती के कृपा पत्र को प्राप्त कर हमें अपार प्रसन्नता हुई है। उन्होंने न केवल हमारे डिप्लोमा को ही स्वीकार कर लिया है, अपितु अपनी सम्मति को भी अत्यन्त कृपापूर्ण शब्दोंद्वारा हमें सूचित किया है। इससे हम अत्यन्त गौरवान्वित हैं। आर्य समाज के साथ हमारा भ्रातृत्व सम्बन्ध स्थापित हो गया है, इस बात से हमें जो अपार हर्ष हो रहा है, उसे शब्दों द्वारा प्रकट कर सकना सम्भव नहीं है। घनघोर जंगल में वन्य पशुओं से घिर जाने पर विपद्ग्रस्त पथिक को जो प्रसन्नता उस समय होती है, जब कि रक्षा करने वाली किसी पार्टी के आ जाने की सूचना उसे मिल जाए, ठीक वैसी ही प्रसन्नता समुद्रपार से आए इस पत्र को पाकर हमें हो रही है। ये ईसाई, जो हमें काफिर और बुतपरस्त कहते हैं, उनसे बढ़कर हमारा शत्रु व घोर विरोधी कोई जंगली पशु भी क्या हो सकता है। जब आपने हमारा हाथ पकड़ लिया है, तो हम सब विघ्न-बाधाओं तथा विरोधियों का मुकाबिला करने के लिये अपने को पूर्णतया समर्थ पाते हैं।" स्वामी जी ने थियोसोफिकल सोसायटी के डिप्लोमा की अपने पत्र में चर्चा तक नहीं की थी। फिर भी कर्नल आल्काट ने श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को यह लिख दिया कि स्वामी जी ने उनके डिप्लोमा को स्वीकार कर लिया है। इससे यह परिणाम निकाल सकना असंगत नहीं होगा, कि वह स्वामी जी तथा आर्य समाज के सम्पर्क का उपयोग अपने स्वार्थसाधन के लिए करना चाहता था। उसे आशा थी, कि इस प्रकार थियोसोफिकल सोसायटी के प्रभाव में वृद्धि कर सकना सुगम हो जायगा।

२२ मई, १८७८ को थियोसोफिकल सोसायटी की कौंसिल ने अपने को आर्य-समाज के साथ सम्बद्ध करने का निर्णय कर लिया था, पर कर्नल आल्काट को इस बात में सन्देह था, कि स्वामी दयानन्द सरस्वती इस निर्णय से सहमत होंगे या नहीं। इसीलिये ३० मई को उसने एक अन्य पत्र श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के नाम इस आशय का लिखा था कि यदि सम्माननीय स्वामी जी हमारी सोसायटी के नाम परिवर्तन तथा उसे आर्य समाज के साथ सम्बद्ध करना स्वीकार कर लेंगे, तो सब सदस्यों के पास नये डिप्लोमा भेज दिये

जा सकेंगे। हमारे सम्माननीय तथा सुप्रसिद्ध गुरु दोनों संस्थाओं के परस्पर मिल जाने के मामले में अनुकूल निर्णय देंगे—इसकी मुझे आशा व प्रतीक्षा है।

२६ मई, सन् १८७८ को ही कर्नल आल्काट ने एक पत्र न्यूयार्क से बम्बई से प्रकाशित होने वाले 'इण्डियन स्पेक्टेटर' संवादपत्र को भेजा था, जिसमें उसने वैदिक धर्म तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में अपने विचार प्रतिपादित किये थे। इसमें उसने लिखा था कि बौद्ध धर्म का अभिप्राय 'बोध धर्म' से है जिसे बुद्धि-धर्म (Wisdom Religion) भी कहा जा सकता है। यद्यपि इस धर्म का निरूपण शाक्य मुनि द्वारा ईस्वी सन् से कुछ सौ पूर्व किया गया था, पर वस्तुतः यह धर्म उससे बहुत पुराना है और यह अविकल रूप से वेदों में विद्यमान है। थियोसोफिकल सोसायटी इसी बुद्धि-धर्म को स्वीकार करती है, और इसी का प्रचार करने में तत्पर है। परम माननीय स्वामी दयानन्द पण्डित जिन मन्तव्यों का प्रतिपादन कर रहे हैं, वे इसी धर्म के हैं। यही कारण है, कि हमने अपनी सोसायटी को आर्यसमाज के साथ सम्बद्ध करने का निर्णय किया है, और इस समाज के प्रधान नेता को अपना सर्वोपरि धार्मिक गुरु, पथप्रदर्शक और शासक स्वीकृत कर लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचार एवं स्वीकृति की प्रतीक्षा किये बिना ही कर्नल आल्काट आदि ने थियोसोफिकल सोसायटी को आर्यसमाज के साथ सम्बद्ध करने का निर्णय कर लिया था। सम्भवतः, श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के साथ चल रहे अपने पत्र-व्यवहार के आधार पर ही उन्होंने यह समझ लिया था, कि आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द सरस्वती के नाम एवं प्रभाव का यथेष्ट रूप से प्रयोग कर सकने का उनका मार्ग प्रशस्त है।

२१ एप्रिल के स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र को २६ मई को प्राप्त कर कर्नल आल्काट ने एक अन्य पत्र ५ जून, १६७८ के दिन स्वामीजी की सेवा में भेजा था, जो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"बम्बई के बन्धु हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा जो कृपा-पत्र आपने हमें भेजा है, वह सुरक्षित रूप से हमें प्राप्त हो गया है। थियोसोफिकल सोसायटी के सदस्यों तथा पदाधिकारियों को जो आशीर्वाद आपने दिया है, और उनके दीर्घायु होने तथा सुख-समृद्धि के लिए जो शुभकामनाएँ आपने प्रकट की हैं, उससे सोसायटी के सदस्यों को अपार हर्ष हुआ है। बदले में हम अपनी यह उत्साहपूर्ण आशा अभिव्यक्त करते हैं कि जब तक आपका मिशन पूरा न हो जाए और मानव समाज आपकी युक्तियुक्त शिक्षाओं का श्रवण करने और उनसे लाभ उठाने के लिए तैयार न हो जाए, तब तक आपका जीवन इस पृथिवी पर विद्यमान रहे।

"थियोसोफिकल सोसायटी की कौंसिल ने सोसायटी को आर्यसमाज के साथ सम्बद्ध करने के विषय में जो प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किया था, वह बन्धु हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के पास इस आशा से भेज दिया गया है कि आप उसे समर्थनीय व स्वीकार्य पायेंगे। हम जानते हैं कि हमारी जाति का उद्गम आर्यों से है, और हमारे सब लौकिक व पारलौकिक ज्ञान के आदिस्रोत भी आर्य ही हैं। यदि आप हमें अपना शिष्य कहने तथा समस्त पाश्चात्य जगत् में आर्यसमाज और उसके सिद्धान्तों का प्रचार करने की अनुमति प्रदान कर सकें, तो हम बहुत गौरवान्वित होंगे। हमें अनुमति दीजिए कि हम आपको अपना गुरु, पिता और नेता कह कर पुकार सकें। जहाँ तक वैदिक दर्शन का सम्बन्ध है,

हमारी दशा बच्चों के समान है। आप हमें शिक्षा प्रदान करें, हम जनता को क्या बताएं और कैसे बताएँ? हम आपके आदेशों की प्रतीक्षा कर रहे हैं, हम उनका पालन करने को उद्यत हैं।

"सर्वत्र बहुत-से ऐसे विवेकशील स्त्री-पुरुष विद्यमान हैं, जो अवश्य ही आर्य-समाज में सम्मिलित हो जाएँगे, यदि उन्हें इसकी सत्ता का ज्ञान हो और साथ ही उन सच्चाइयों का, जिनका कि समाज द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। क्योंकि न यहाँ कोई स्वामी है और न कोई पण्डित, अतः इन स्त्री-पुरुषों से व्याख्यानों द्वारा सम्पर्क नहीं किया जा सकता। इस दशा में हमें प्रेस द्वारा ही इनके साथ सम्पर्क करना होगा। अपनी सीमित क्षमता द्वारा जो कुछ भी सम्भव है, वह सब हम आपके आदेशों को क्रियान्वित करने के लिए उद्यत व उत्सुक हैं। हमारी प्रार्थना हैं कि आप आप अपने व्यस्त समय में से कुछ अवकाश निकाल कर हमें आदेश देने की कृपा करें।

"क्या आप आर्यावर्त की सब आर्यसमाजों को यह विश्वास नहीं दिलाएँगे कि भूमण्डल के परली ओर स्त्री-पुरुषों का एक ऐसा भी समाज विद्यमान है, जिसकी वही धार्मिक फिलोसोफी है जो आर्यसमाज की है, जो आर्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, जिसे परलोक एवं पुनर्जन्म में विश्वास है और जिसकी वही भावनाएँ व विचार हैं जो आर्यसमाज के हैं।

"हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि आर्यसमाज के क्या नियम हैं, उसकी कार्य-विधि क्या है, कौन उसकी सदस्यता प्राप्त कर सकते हैं, विविध धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति हमारी क्या नीति होनी चाहिए, इस देश तथा यूरोप के जनसमाज के प्रति हमारा क्या रुख समुचित है, पाश्चात्य भाषाओं में कौन-सी ऐसी पुस्तकें हैं, जिन्हें पढ़ने के लिए हम लोगों से कह सकते हैं और आर्यसमाज के जो नियम भारतीयों के लिए बनाए गये हैं, क्या पश्चिमी दुनिया की विशेष परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उनमें कोई परि-वर्तन करना वाँछनीय होगा।

"आपके पत्र से यह ज्ञात होता है, कि आप 'चमत्कारों' को नहीं मानते। आप उन्हें दर्शनशास्त्र के अध्ययन तथा मनुष्य की अपनी आध्यात्मिक शक्तियों की अपेक्षा बहुत हीन समझते हैं। निस्सन्देह यही बात बुद्धिमत्ता की है और हम भी यही मानते हैं। पर यहाँ के सर्वसाधारण लोग दार्शनिकता के विरुद्ध हैं, और चमत्कारों के भूखे हैं।··· माध्यमों (उन मीडियमों जिन द्वारा मृत आत्माओं का आवाहन किया जाता है) से वे आश्चर्यजनक बातें देखते हैं, और हम उनके सम्मुख दर्शनशास्त्र के जो विचार-विमर्श प्रस्तुत करते हैं, उनसे कोई लाभ नहीं होता। सम्भवतः, हमने अभी तक श्रेष्ठ साधनों को प्रयुक्त नहीं किया। इस विचार से कि शायद यही बात हो, हम आपसे पथ-प्रदर्शन तथा शिक्षा प्राप्त करने के प्रयोजन से आपके चरणों में उपस्थित होते हैं।

"मेरा विचार है कि यदि पाश्चात्य जनता के समक्ष वैदिक दर्शन को उसके शुद्ध, उज्ज्वल तथा रोचक रूप में प्रस्तुत किया जाए, तो बहुत उन्नति हो सकेगी।

"हम आपसे इतनी दूर हैं, और गुरु तथा शिष्यों में सम्पर्क के लिए पत्र-व्यवहार का साधन इतना असन्तोषजनक व अपर्याप्त हैं, कि हममें से कुछ व्यक्ति इस बात की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं कि वे बहुत शीघ्र आर्यावर्त जाकर शिक्षा ग्रहण करें और अपने सजातीय लोगों में प्रचार कार्य करने के लिए अपने को योग्य बनाएं। हम

समझते हैं कि आर्यावर्त में हम दो या तीन सालों में इतना सीख जाएंगे, जितना कि यहाँ बीस वर्षों में भी नहीं सीख पाएँगे।"

५ जून, १८७८ का कर्नल आल्काट का यह पत्र स्वामी दयानन्द सरस्वती को ७ जुलाई को मिला। उस समय स्वामीजी अमृतसर में थे। इस पत्र में आर्यसमाज के नियमों और वैदिक मन्तव्यों के सम्बन्ध में जो बातें पूछी गई थीं, उन पर विशद रूप से प्रकाश डालते हुए स्वामी जी ने अपना उत्तर २६ जुलाई, १८७८ के दिन रुड़की से दिया। यह पत्र भी संस्कृत में था, पर इसका अंग्रेजी अनुवाद भी साथ भेज दिया गया था। स्वामी जी के इस पत्र की कुछ बातें यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

"थियोसोफिकल सोसायटी को जो आपने आर्यावर्त के आर्यसमाज की शाखा बनाने की बात लिखी है, वह हमें स्वीकार है।

"चारों वेदों की भूमिका (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका) में ईश्वर की उपासना की जो विधि प्रतिपादित की गई है, सब मनुष्यों को उसका अनुष्ठान करना चाहिए। (स्वामी जी ने इस पत्र में इस ईश्वरोपासना विधि का संक्षिप्त रूप से उल्लेख भी कर दिया है।)

" 'आर्य' उसे कहते हैं, जो विद्या और शिक्षा से युक्त हो, सबका उपकार करने वाला हो, और जिसके आचरण धर्म के अनुकूल हों। इसके विपरीत जिनके गुण, स्वभाव, कर्म तथा आचरण दुष्ट हों और जो दूसरों को हानि पहुँचाने वाले हों, उन्हें 'दस्यु' कहा जाता है।

"आदि सृष्टि हिमालय के क्षेत्र में हुई थी। जब वहाँ मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ गई, तो वहाँ के निवासियों में दो पक्ष हो गए। एक पक्ष श्रेष्ठ मनुष्यों का था और दूसरा पक्ष अश्रेष्ठ मनुष्यों का। स्वभाव में भिन्नता होने के कारण इन पक्षों में विरोध उत्पन्न हो गये। जो श्रेष्ठ या आर्य लोग थे, वे इस देश में आकर बस गए और उन्हीं के कारण इस देश का नाम आर्यावर्त हो गया।

"आर्यों का जो समाज या सभा है, उसी की आर्यसमाज संज्ञा है। दस्युभाव से त्याग तथा आर्य गुणों के ग्रहण के लिए जो सभा है, वह भी आर्यसमाज कहाती है।

"मनुष्यों को स्वयं सत्य शिक्षा, विद्या, न्याय, पुरुषार्थ, सौजन्य व परोपकार आदि का आचरण करना चाहिए और अन्य बन्धुओं से भी इसी प्रकार का आचरण कराना चाहिए।

"सुविस्तृत रूप से ज्ञान तो वेदादि शास्त्रों के अध्ययन और श्रवण से ही प्राप्त किया जा सकता है, पर वेदभाष्य, सन्ध्योपासन, आर्याभिविनय, वेदविरुद्धमतखण्डन, वेदान्तिध्वान्तनिवारण, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, आर्योद्देश्य रत्नमाला आदि जो ग्रन्थ मैंने लिखे हैं, उनसे भी वेदों के उपदेश जाने जा सकते हैं। (आगे पत्र में स्वामी जी ने वेद के मन्तव्यों व शिक्षाओं का संक्षेप से उल्लेख किया है।)

"आप मुझसे जो शिक्षा प्राप्त करना चाहते है, वह दो प्रकार की है, पारमार्थिक और व्यावहारिक। यह शिक्षा अत्यन्त विस्तीर्ण है। पत्र द्वारा इसका निरूपण कर सकना सम्भव नहीं है। अपने ग्रन्थों में मैंने संक्षेप से इसे प्रतिपादित किया है। मैंने हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को लिखा है कि 'आर्योद्देश्य रत्नमाला' नाम की मेरी पुस्तक का अंग्रेजी भाषान्तर करा शीघ्र ही आपके पास भिजवा दें। उसे पढ़कर आप कुछ सत्य शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे।

"जब आप ऐसा निर्णय करें, अपनी सोसायटी का नाम बदल सकते हैं। विद्वानों की सभा का यह नियम होता है, कि जब कोई नया काम करना हो, तो सब उत्तम विद्वान् सभासदों के सम्मुख उसे प्रस्तुत कर उनकी सम्मति से ही वह किया जाए। सभा का जो कार्य सबके हित के विरुद्ध हो उसे कदापि नहीं करना चाहिए। यदि आप अपनी सभा (थियोसोफिल सोसायटी) का नाम आर्यसमाज रखना चाहें, तो मुझे इससे कोई हानि प्रतीत नहीं होती।

"भविष्य में जो पत्र आप मुझे लिखें, उस पर मेरा नाम अवश्य लिख दिया करें। पर पत्र के आवरण (लिफाफे) पर श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि का नाम लिख दिया करें, और उन्हीं की मार्फत मुझे पत्र भेजा करें।

"सच्चिदानन्द परमेश्वर को धन्यवाद है कि उसकी कृपा से हमारा और आपका सम्पर्क हुआ है। हम मिलकर इस बात के लिए प्रयत्न करें, कि पृथिवी-मण्डल से पापाचरण, अविद्या, दुराग्रह आदि दोषों एवं विविध पाखण्ड मतों का निवारण होकर सत्य सनातन वैदिक धर्म का सर्वत्र प्रचार हो जाए।

"पत्र व्यवहार द्वारा अधिक कार्य सम्पादित कर सकना सम्भव नहीं है। जब तक मिलकर बातचीत नहीं होगी, पूरा लाभ नहीं हो सकेगा। जब परमेश्वर की कृपा से हमारा आपसे पत्रों द्वारा सम्पर्क हो गया, तो कभी साक्षात् सम्पर्क हो जाएगा—इसकी आशा है।

"श्रावण बदी ११, शुक्रवार संवत् १९३५ को यह पत्र लिखा गया।"

यह स्पष्ट है कि कर्नल आल्काट के पत्र तथा थियोसोफिकल सोसायटी के इस निर्णय से कि सोसायटी के नाम को बदल कर उसे आर्यसमाज की शाखा बना दिया जाए, स्वामी दयानन्द सरस्वती को हर्ष हुआ था। अपने हर्ष को बाबू दयाराम के नाम लिखे एक पत्र में स्वामी जी ने इस प्रकार प्रकट किया था—"बाबू दयाराम, आनन्द रहो। अमरीकन चिट्ठी की नकल करा कर रवाना करेंगे। और यह भी आपको विदित होगा कि अमरीका थियोसोफिकल सोसायटी आर्यसमाज की शाखा बन गई और अमरीका वाले बराबर वेद को मानते हैं और उसकी शिक्षा के इच्छुक हैं, और हम बहुत राजी-खुशी हैं।" स्वामी जी ने यह पत्र २७ जुलाई, १८७८ के दिन लिखा था, कर्नल आल्काट को संस्कृत में लिखे पत्र के केवल एक दिन पश्चात्। इसी प्रकार के पत्र उन्होंने कतिपय अन्य सज्जनों को भी लिखे थे। स्वामी जी के पत्र से स्पष्ट है कि थियोसोफिकल सोसायटी का नाम बदल दिए जाने और उसे आर्यसमाज की शाखा मान लेने में स्वामी जी को कोई ऐतराज नहीं था। आल्काट के पत्रों से उनका यह विचार बन गया था, कि थियोसोफिकल सोसायटी के सदस्य वस्तुतः वैदिक धर्म के प्रति आस्था रखते हैं और उनके पथ-प्रदर्शन में वेद की शिक्षाओं का पालन करने के लिए उद्यत हैं। इसी कारण उन्होंने अपने पत्र में यह भी सुझाव दे दिया था, कि आल्काट सदृश जो व्यक्ति अमेरिका से भारत आना चाहें, वे आ कर उनसे मिल सकते हैं और इस प्रकार साक्षात् सम्पर्क द्वारा सत्य सनातन आर्य धर्म का समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

स्वामी जी का यह पत्र कर्नल आल्काट को अगस्त, १८७८ के अन्त तक प्राप्त हो गया होगा। यह आश्चर्य की बात है, कि इसके बाद कई मास तक उसने स्वामी जी को कोई पत्र नहीं लिखा। यदि कोई पत्र उसने लिखे होंगे, तो वे उपलब्ध नहीं हैं। पर इसमें

सन्देह नहीं कि स्वामी जी के पत्र से थियोसोफिकल सोसायटी के सदस्यों व पदाधिकारियों को वेदों के मन्तव्यों का संक्षिप्त, पर स्पष्ट रूप से परिज्ञान अवश्य हो गया होगा, क्योंकि ईश्वर, जीव, प्रकृति, पुनर्जन्म आदि विभिन्न विषयों पर स्वामी जी ने आर्य धर्म के मन्तव्य उस पत्र में भलीभाँति प्रतिपादित कर दिए थे। सम्भवतः, ये मन्तव्य अमेरिका के लोगों के लिए नये थे। प्राच्य देशों के अध्यात्म ज्ञान का जो रूप उन्होंने समझा हुआ था, ये उनसे बहुत भिन्न थे। इन्हें समझने व आत्मसात् करने में समय लगना सर्वथा स्वाभाविक था। सम्भवतः, यही कारण था जो आल्काट और ब्लैवेत्स्की ने चिरकाल तक स्वामी जी को कोई पत्र नहीं लिखा, और भारत के लिए प्रस्थान करने में भी उन्हें पर्याप्त समय लग गया। २१ मई, १८७८ को मदाम ब्लैवेत्स्की ने जो पत्र श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को लिखा था, उसमें अमेरिका छोड़ देने को उसकी उत्सुकता प्रकट होती थी। उससे यह आभास मिलता था, कि वह तुरन्त ही भारत आ जाना चाहती है। उसमें एक वाक्य यह था, कि "मृत्यु के अतिरिक्त और कोई बात हमें आर्यावर्त में उचित समय पर पहुँच जाने से नहीं रोक सकेगी।" पर भारत आने की इतनी उत्कण्ठा होते हुए भी आल्काट और ब्लैवेत्स्की जो सात मास के लगभग देर करके भारत के लिए चले, इसका कारण शायद यह था कि स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज का संरक्षण तथा सहयोग प्राप्त हो जाने पर अमेरिका में थियोसोफिकल सोसायटी को बहुत बल मिल गया था।

(३) कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की का स्वामी दयानन्द सरस्वती के साथ सम्पर्क

१७ दिसम्बर, १८७८ को आल्काट और ब्लैवेत्स्की ने न्यूयार्क से प्रस्थान किया और लन्दन होते हुए १६ फरवरी, १८७९ के दिन वे बम्बई पहुँच गये। वहाँ वे श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के निवास स्थान पर ठहरे, जहाँ आर्यसमाज की ओर से उनका यथोचित आदर-सत्कार किया गया। थियोसोफिकल सोसायटी के कतिपय अन्य सदस्य भी उनके साथ थे। इन सबका रहन-सहन एवं खान-पान भारत के आर्यों के सदृश था। इस सम्बन्ध में 'आर्यवर्धिनी' पत्रिका के ये वाक्य उल्लेखनीय हैं—

"ये लोग ईसाइयों की भाँति नहीं रहते। इनके खाने-पीने का वही नियम है, जो कि हम लोगों का। मांस और मद्य आदि किसी वस्तु को बिल्कुल नहीं छूते। एक-दूसरे का झूठा नहीं खाते, प्रत्युत अत्यन्त सीधे-साधे ढंग से रहते हैं।" यह स्वाभाविक था, कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य बनने और वेदों की शिक्षा प्राप्त करने के संकल्प से आये हुए इन अमेरिकन लोगों के समाचारों से बम्बई में धूम मच जाती। वहाँ उनके अनेक व्याख्यान भी हुए, जिन्हें सुनने के लिए हजारों व्यक्ति उपस्थित हुआ करते थे। उस समय के स्थानीय समाचार-पत्रों में इन व्याख्यानों की रिपोर्ट भी प्रकाशित हुआ करती थी। ईसाई लोग भी इनके व्याख्यानों को सुनने के लिए आया करते थे, और वे इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते थे कि जब दो सौ वर्षों में भारत में केवल दस लाख व्यक्ति ही ईसाई बनाये जा सके हैं, आर्यसमाज ने केवल दो वर्षों में अमेरिका के लाखों ईसाइयों को अपना अनुयायी बना लिया है।" (श्री हरविलास शारदा के ग्रन्थ Life of Dayanand Saraswati के पृष्ठ ५३६ पर 'विद्याप्रकाश' पत्रिका के फरवरी, १८७९ के अंक से उद्धृत)

फरवरी, १८७६ में जब आल्काट और उनके साथी बम्बई पहुँचे, स्वामी दयानन्द सरस्वती मेरठ से सहारनपुर तथा ज्वालापुर के लिए प्रस्थान कर चुके थे। उस साल हरिद्वार में कुम्भ का मेला था, और स्वामी दयानन्द जी वहाँ वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जा रहे थे। जब उन्हें आल्काट आदि के बम्बई पहुँच जाने का समाचार मिला, तो उन्होंने १० मार्च, १८७६ को मुंशी समर्थदान को पत्र द्वारा यह आदेश दिया कि "बम्बई जाकर अमरीका वालों से मिलना और वृत्तान्त लिखना।" इधर आल्काट आदि थियोसोफिस्ट स्वामी जी से भेंट करने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे, और इसी प्रयोजन से उन्होंने उत्तर भारत की यात्रा प्रारम्भ कर दी थी। वे हरिद्वार जाकर स्वामी जी से मिलना चाहते थे। पर स्वामी जी हरिद्वार में बीमार पड़ गये थे, और स्वास्थ्य सुधार के लिए १४ एप्रिल को देहरादून चले गये थे। उनकी इच्छा थी कि थियोसोफिकल सोसायटी के सदस्य उनसे मिलने के लिए देहरादून आ जाएँ, और कुछ समय उनके पास देहरादून में ही निवास करें। इसीलिए उन्होंने एक पत्र में बाबू माधोलाल को लिखा था, "आपको सूचित किया जाता है कि अमेरिकन मिशन (कर्नल एच० एस० आल्काट और काउन्टेस एस० ब्लैवेत्स्की) इस मास की १४ तक मुझे मिलने देहरादून आ रहा है और मैं आशा करता हूँ कि मेरे साथ कुछ मास रहेंगे।" यह पत्र स्वामी जी ने १० एप्रिल, १८७६ को लिखा था। पर स्वामी जी देर तक देहरादून नहीं टिके। शीघ्र ही वहाँ उनके स्वास्थ्य में सुधार हो गया, और उन्होंने कर्नल आल्काट को यह सूचित कर दिया कि वे उनसे मिलने के लिए हरिद्वार या देहरादून न आएं। वे स्वयं शीघ्र सहारनपुर पहुँच रहे हैं, वहीं उनकी प्रतीक्षा करें। इस बीच कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की २६ एप्रिल, १८७६ को सहारनपुर पहुँच गये थे। वहाँ आर्यसमाज द्वारा उनका धूमधाम के साथ स्वागत किया गया और अगले दिन ३० एप्रिल को कर्नल आल्काट ने वहाँ एक व्याख्यान भी दिया। सहारनपुर के आर्यसमाजियों द्वारा अपने पाश्चात्य अतिथियों के सम्मान में एक भोज भी दिया गया, जो विशुद्ध भारतीय ढंग का था। मई को स्वामी दयानन्द सरस्वती भी देहरादून से सहारनपुर आ गये, और वहाँ आल्काट तथा ब्लैवेत्स्की ने उनके साथ भेंट की। सहारनपुर में स्वामीजी केवल दो दिन ठहरे, और ३ मई को अपने अमेरिकन अनुयायियों के साथ मेरठ चले गये। थियोसोफिकल सोसायटी के नेताओं के साथ स्वामी जी का यह प्रथम सम्पर्क था। आल्काट और ब्लैवेत्स्की से मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए थे, और उनका यह विचार बना था कि ये दोनों वस्तुतः सत्य सनातन वैदिक धर्म के प्रति आस्था रखते हैं, और इनके आचरण भी शुद्ध व सात्विक हैं। स्वामी जी की इनके विषय में क्या सम्मति बनी थी, यह स्पष्ट करने के लिए उनके पत्रों में से कुछ उद्धरण देना उपयोगी होगा—

"साहब की और हमारी सम्मति मिल गई है। किसी प्रकार का भेद नहीं। ··· साहब अत्यन्त शुद्ध अन्तःकरण सज्जन पुरुष हैं। इनमें किसी प्रकार का छलछिद्र नहीं है।"

"उक्त साहबों को अपनी समाज से कोई बात विरुद्ध नहीं है, अर्थात् अनुकूल आचरण स्वभाव है। क्योंकि चार-पाँच दिन से जो हम उनके साथ बात करते हैं तो बिल्कुल ये लोग शुद्ध अन्तःकरण प्रतीत होते हैं।" वे दोनों पत्र ५ मई, १८७६ के मेरठ से लिखे हुए हैं।

७ मई को बाबू माधोप्रसाद को लिखे एक पत्र में स्वामी जी ने लिखा था कि

"सब सज्जनों के प्रति एक आनन्द का समाचार प्रकट किया जाता है, वह यह है कि एच० एस० आल्काट साहब तथा एच० पी० ब्लैवेत्स्की लेडी जिनकी पत्री पहले अमेरिका से अपने समाजों में आई थी उनसे हमारा पहिली मई सन् हाल को सहारनपुर में समागम होने से मालूम हुआ कि जैसी उनकी पत्रियों में बुद्धि प्रकट होती थी उनके मिलने से अधिक योग्यता और सज्जनता प्रकट हुई। उनके साथ दो दिन सहारनपुर में समागम रहा और समाज के सब पुरुषों ने यथावत् सत्कार किया। उनका उपदेश सुनने से लोगों के चित्त बड़े प्रसन्न हुए।... उक्त साहबों का आचरण तथा स्वभाव हमको अत्यन्त शुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि वे लोग तन-मन-धन से सब प्रकार वेदमत की स्थापना करने में उद्यत हैं। अब इस पत्र को इस वृत्तान्त से पूर्ण करता हूँ कि इन साहबों के पूर्व पत्रों और सात दिन बातचीत करने से निश्चय किया है कि इनका तन-मन-धन सत्य के प्रकाश और असत्य के विनाश और सब मनुष्यों के हित करने में है, जैसा कि आप लोगों का निश्चय उद्योग है।"

थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज में क्या सम्बन्ध रहे, इस प्रश्न पर भी स्वामी जी और कर्नल आल्काट ने परस्पर विचार-विमर्श किया था। उससे स्वामी जी पूर्णतया सन्तुष्ट थे। मुंशी समर्थदान को लिखे एक पत्र (५ मई, १८७९) में स्वामी जी ने लिखा था—"परन्तु जबानी जो साहब (आल्काट) से कहा गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि हमारी थियोसोफिकल सोसायटी का अभी तक यह प्रयोजन था कि सब मतों के लोग इसमें दाखिल हों और अपनी-अपनी सम्मति देवें। अब आर्यसमाज के नियमों को समझकर जिस प्रकार आपकी आज्ञा होगी, उसी प्रकार किया जावेगा। आगे ऐसा न होगा और जो आर्यसमाज के नियमों को पसन्द नहीं करता है, वह थियोसोफिकल सोसायटी में नहीं रहेगा। इस वृतान्त को जब मूलजी भाई आवेंगे तब तुमको समझा देंगे।" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मूलजी भाई (मूलजी ठाकरसी) भी आल्काट और ब्लैवेत्स्की के साथ स्वामी जी से मिलने के लिए सहारनपुर गये थे।

कुछ दिन कर्नल आल्काट के साथ रहकर स्वामी जी को उन पर इतना अधिक विश्वास हो गया था, कि उन्होंने थियोसोफिकल सोसायटी सम्बन्धी सब प्रश्नों पर अपनी ओर से सम्मति देने का अधिकार आल्काट को दे दिया था। २ मई, १८७९ को लिखा गया यह अधिकारपत्र इस प्रकार था—"मैं इस लेख द्वारा हैनरी एस० आल्काट को थियोसोफिकल सोसायटी सम्बन्धी सब प्रश्नों पर जो मेरी अनुपस्थिति में साधारण सभा (General Council) के सम्मुख कार्यार्थ लाए जाएँ अपनी ओर से वोट देने के लिए अधिकृत करता हूँ और वे उन विचारों के अनुसार, जो मैंने स्वयं उनके सम्मुख प्रकट किये हैं, आर्यसमाज के प्राच्य और पाश्चात्य थियोसोफिस्टों के प्रधानाध्यक्ष के रूप में मेरे अधिकारों को प्रयुक्त कर सकते हैं।"

जिन दिनों कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की भारत आने पर बम्बई में श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के मकान पर निवास कर रहे थे, श्री हरिश्चन्द्र को इनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला था। इस दशा में उन्हें यह सन्देह हो गया था, कि इन थियोसोफिकल नेताओं की अभिरुचि वेदशास्त्रों के सत्य ज्ञान की अपेक्षा जादू-टोने तथा चमत्कारों आदि में अधिक है। अपने इस सन्देह को उन्होंने स्वामी जी के सम्मुख प्रकट भी कर दिया था। पर आल्काट तथा ब्लैवेत्स्की से मिलकर स्वामी जी उनसे इतने प्रभा-

वित हो गये थे कि बाबू मावोप्रसाद को लिखे पत्र (७ मई, १८७९) में उन्होंने लिखा था—"जो बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ने उक्त साहिबों के विषय में यह बात उड़ाई थी कि ये लोग जादू जानते हैं और जासूसों की तरह छल-कपटी बातें करते हैं उसकी यह बात मिथ्या है। क्योंकि जिसको जादू कहते हैं वो यथार्थ में पदार्थ विद्या है। उस विद्या को उन्होंने मूर्खों का भ्रम दूर करने और सत्य मार्ग में चलाने के लिए धारण किया है सो कुछ दोष नहीं हैं। परन्तु हरिश्चन्द्र जैसे मूर्खों को भूषण भी दूसरा ही दीख पड़ता है।" कर्नल आल्काट से अत्यधिक प्रभावित होकर ही स्वामी जी ने २७ मई, १८७९ को उसे अपनी ओर से पत्रों पर हस्ताक्षर करने का अधिकार भी दे दिया था।

थियोसोफिस्ट सोसायटी के ये पदाधिकारी (आल्काट और ब्लैवेत्स्की) ६ मई तक स्वामी जी के साथ रहे। ७ मई को वे बम्बई चले गये। छह दिन तक सहारनपुर और मेरठ में स्वामी जी के साथ उनका साक्षात् सम्पर्क रहा, और वे धर्म, अध्यात्म आदि विषयों पर उनसे वार्तालाप करते रहे। सहारनपुर और मेरठ में उनके अनेक व्याख्यान भी हुए, जिनमें उन्होंने वैदिक धर्म का पक्षपोषण करते हुए क्रिश्चिएनिटी का खण्डन भी किया। स्वामीजी से बातचीत करते हुए वे ईश्वर की सत्ता तथा वेदों की प्रामाणिकता पर अपनी आस्था प्रकट करते रहे, और अपना आचरण भी ऐसा रखा जो आर्य धर्म व संस्कृति के सर्वथा अनुरूप था। इस दशा में यदि स्वामी जी को उनके धर्म-प्रेम व सदाचरण के सम्बन्ध में विश्वास हो गया हो, तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। ७ मई के बाद आल्काट और ब्लैवेत्स्की के अनेक पत्र स्वामी जी को प्राप्त होते रहे, जिनमें कि उन्होंने स्वामी जी के जीवनवृत्त आदि के विषय में जायकारी प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। वैदिक धर्म के मन्तव्यों के सम्बन्ध में भी वे प्रश्न करते रहे, और उन्होंने स्वामी जी के सम्मुख यह विचार भी प्रस्तुत किया कि अंग्रेजी भाषा में एक समाचार-पत्र प्रकाशित किया जाए, जिससे वैदिक धर्म के प्रचार में सहायता मिल सके। स्वामी जी भी इन पत्रों के उत्तर देते रहे। १३ जुलाई, १८७९ को मुरादाबाद से लिखे एक पत्र में स्वामी ने यह सुझाव दिया था, कि समाचार-पत्र का नाम थियोसोफिस्ट के साथ-साथ आर्यप्रकाश भी रखा जाए। इसी पत्र में स्वामी जी ने आर्यसमाज के उद्देश्य निम्नलिखित शब्दों में सूचित किये थे—(१) सम्पूर्ण मानवसमाज को बुरे विचारों, बुरे कार्यों तथा बुरी आदतों से मुक्त कराना, और (२) सनातन वेद विद्या तथा ईश्वरकृत सृष्टि के अच्छे गुणों, कर्मों और स्वभाव को ग्रहण कराना। मदाम ब्लैवेत्स्की तथा थियोसोफिकल सोसायटी के अन्य सदस्य स्वामी जी से वैदिक धर्म तथा अध्यात्मवाद के सम्बन्ध में पत्रों द्वारा जो प्रश्न पूछा करते थे, उनमें पुनर्जन्म, कर्मफल, युक्ति, सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय, वेदों की अपौरुषेयता, आत्मा का स्वरूप और योगक्रियाएँ आदि मुख्य थे।

कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की के साथ स्वामीजी की दूसरी भेंट १५ दिसम्बर, १८७९ को वाराणसी में हुई। इस अवसर पर अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध समाचार-पत्र 'पायोनियर' के सम्पादक श्री ए० पी० सिनेट भी उनके साथ थे। इस भेंट में हुई बातचीत का विवरण उपलब्ध नहीं है। पर वाराणसी में भी आल्काट आदि ने अनेक व्याख्यान दिए थे, जिनमें कि उसने वेदों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हुए स्वामीजी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की थी। इसमें सन्देह नहीं, कि इस समय तक थियोसोफिकल सोसायटी और स्वामी जी के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे। यह समझा जाता था, कि आर्य-

समाज और थियोसोफिकल सोसायटी एक ही उद्देश्य को सम्मुख रखकर कार्य में तत्पर हैं, और यथार्थ में ये एक ही संगठन के दो अंग हैं। १४ जुलाई, १८८० के दिन स्वामी ने आल्काट और ब्लैवेत्स्की को सम्बोधन करके एक पत्र मेरठ से लिखा था, जो दोनों संस्थाओं के सम्बन्धों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है—"जो थियोसोफिकल सोसायटी में वैदिकी शाखा है वह आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी की भी शाखा है। न आर्यसमाज थियोसोफिकल सोसायटी की शाखा और न थियोसोफिकल सोसायटी आर्य-समाज की शाखा है, किन्तु जो इन दो सभाओं के धर्म सम्बन्धार्थ प्रेम का निमित्त वैदिकी शाखा है वही परस्पर सम्बन्ध का हेतु है— इत्यादि बातों की प्रसिद्धि जैसी आर्यसमाजों में मैं शीघ्र करूँगा वैसी प्रसिद्धि थियोसोफिकल सोसायटी में भी आप अवश्य करेंगे। इस बात का गुप्त रखना ठीक नहीं, क्योंकि आगे आर्यसमाज वैदिकी शाखा और थियोसो-फिकल सोसायटी के सभासदों को, जैसा पूर्वोक्त सम्बन्ध है, वैसा ही जानना, मानना, कहना और प्रसिद्धि करना सर्वदा उचित होगा, अन्यथा नहीं। ऐसी प्रसिद्धि हुए बिना किसी को कुछ भ्रम न रह कर सुनिश्चय से सबको आनन्द होता जाएगा। और जो मैंने सिनेट साहिब से कहा था वह ठीक है, क्योंकि मैं इन तमाशे की बातों को देखना-दिखलाना उचित नहीं समझता, चाहे वे हाथ की चालाकी से हों चाहे योग की रीति से हों, क्योंकि योग के किये-कराये बिना किसी को भी योग का महत्त्व या इसमें सत्य प्रेम कभी नहीं हो सकता, वरन सन्देह और आश्चर्य में पड़ कर उसी तमाशे दिखाने वाले की परीक्षा और सब सुधार की बातों को छोड़ तमाशे देखने को सब दिन चाहते हैं, और उसके साधन करना स्वीकार नहीं करते। जैसे सिनेट साहब को मैंने न दिखलाया और न दिखलाना चाहता हूँ, चाहे वे राजी रहें या नाराज हों, क्योंकि जो मैं इसमें प्रवृत्त होऊँ तो सब मूर्ख और पण्डित मुझसे यही कहेंगे कि हमको भी कुछ योग के आश्चर्य काम दिखलाइये, जैसा उसको आपने दिखलाया, ऐसी संसार को तमाशे की लीला मेरे साथ भी लग जाती जैसी मैडम एच० पी० ब्लैवेत्स्की के पीछे लगी है। अब जो इनको विद्या धर्मात्मता की बातें हैं कि जिनसे मनुष्यों के आत्मा पवित्र हो आनन्द को प्राप्त हो सकते हैं उनका पूछना और ग्रहण करने से दूर रहते हैं। किन्तु जो कोई आता है मैडम साहब आप हमको भी कुछ तमाशा दिखाइये। इत्यादि कारणों से इन बातों में प्रवृत्त नहीं करता न कराता हूँ। किन्तु कोई चाहे तो उसको योग रीति सिखा सकता हूँ कि जिससे वह स्वयं योगाभ्यास कर सिद्धियों को देख लेवे। इससे उत्तम बात दूसरी कोई नहीं। मैं बहुत प्रसन्नता से आप लोगों को लिखता हूँ कि जो आप ईसाई मत छोड़ परम पवित्र सनातन ईश्वरोक्त वेदमत को स्वीकार कर इसके प्रचार में तन, मन और धन भी लगाते हो। और इस बात से अति प्रसन्नता मुझको हुई कि जो आपने यह लिखा कि कभी आप भी वेदों को छोड़ दें तो भी हम लोग उसको न छोड़ेंगे। क्या यह बात छोटी है?" इसी पत्र में स्वामी जी ने यह भी सूचित किया था, कि उन्होंने एक वसीयतनामा (स्वीकार पत्र) रजिस्टर्ड कराने का निश्चय कर लिया है, और जिस सभा के नाम वे अपनी सब सम्पत्ति की वसीयत कर रहे हैं, आर्यावर्तीय आर्यसमाज के सोलह प्रतिष्ठित पुरुषों के अतिरिक्त कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की भी उसके सदस्य रहेंगे। थियोसोफिकल सोसायटी के इन दो पदाधिकारियों में स्वामीजी को कितना विश्वास था, यह इसका प्रमाण है।

थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज में क्या सम्बन्ध हो, इस विषय पर

स्वामी जी ने जो वाक्य उक्त पत्र में लिखे थे, उनका अभिप्राय पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। पर इस पत्र के लिखने के कुछ दिन बाद २६ जुलाई, १८८० को स्वामी जी ने एक विशिष्ट विज्ञापन प्रचारित कराया था, जिससे इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट जानकारी प्राप्त हो जाती है। इस विज्ञापन की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"(थियोसोफिकल सोसायटी के) जो (सदस्य) वेदों को पवित्र सनातन ईश्वरोक्त मानें वे वैदिकी शाखा में गिने जाएँ और वह आर्यसमाज की शाखा रहे, परन्तु वह सोसायटी की भी शाखा रहे क्योंकि वह सोसायटी की भी एक अंगवत् है अर्थात् न आर्यसमाज थियोसोफिकल सोसायटी की शाखा और न थियोसोफिकल सोसायटी आर्यसमाज की शाखा है, किन्तु जो वैदिकी शाखा (थियोसोफिकल) सोसायटी में है जिसमें एच० एस० कर्नल आल्काट साहब बहादुर और एच० पी० मैडम ब्लैवेत्स्की आदि सभासद हैं वह आर्यसमाज और (थियोसोफिकल) सोसायटी की शाखा है। ऐसा सब सज्जनों को जानना उचित है। इससे विपरीत समझना किसी को योग्य नहीं। देखिये यह बड़े आश्चर्य की बात हुई है कि जिस समय मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना हुई उसी समय न्यूयार्क में थियोसोफिकल सोसायटी का आरम्भ हुआ। जैसे आर्यसमाज के नियम लिखकर माने गये वैसे ही नियम थियोसोफिकल सोसायटी के निश्चित हुए।"

१४ जुलाई के पत्र और २६ जुलाई के विज्ञापन को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि थियोसोफिकल सोसायटी के सदस्य ऐसे व्यक्ति भी हो सकते थे जो वेदों को न मानते हों और किसी वेदविरुद्ध मत के अनुयायी हों। पर उस सोसायटी के सदस्यों का एक ऐसा वर्ग भी था, जो वैदिक धर्म में आस्था रखता था। आल्काट और ब्लैवेत्स्की इसी प्रकार के सदस्य थे। वेदों को मानने वाले इन सदस्यों की सामूहिक रूप से 'थियोसोफिकल सोसायटी की वैदिकी शाखा' संज्ञा थी। स्वामी जी को यह स्वीकार्य था, कि यह 'वैदिकी शाखा' आर्यसमाज की भी शाखा या अंग मानी जाए और थियोसोफिकल सोसायटी की भी।

(४) मतभेद का प्रारम्भ

थियोसोफिकल सोसायटी के सदस्य तथा पदाधिकारी प्रधानतया यौगिक चमत्कारों तथा जादू आदि की ओर आकृष्ट होते थे, और भारत के धर्माचार्यों से इन्हीं की शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे, इस तथ्य का संकेत स्वामी जी के ऊपर उद्धृत पत्र से भी मिलता है। पायोनियर के सम्पादक सम्भवत: इसी के सम्बन्ध में जिज्ञासा लेकर स्वामी जी से मिले थे। वाराणसी में आल्काट और ब्लैवेत्स्की ने भी स्वामी जी के साथ भेंट के समय सम्भवत: इसी विषय पर बातचीत की थी। पर स्वामी जी जादू तथा चमत्कारों को तमाशा समझते थे। यद्यपि अभी भी आल्काट और ब्लैवेत्स्की यह प्रदर्शित करते थे कि वे सत्य सनातन वैदिक धर्म के प्रति आस्था रखते हैं और परमेश्वर आदि के सम्बन्ध में उनके वही मन्तव्य हैं जो स्वामी जी के हैं, पर वस्तुत: भारत के प्रति उनके आकर्षण का कारण अध्यात्म का वह उथला ज्ञान था, जो जादू व चमत्कार आदि के रूप में प्रकट होता है। किसी माध्यम (मीडियम) द्वारा आत्माओं का आवाहन करना, उनसे बातचीत करना, रहस्यमयी सत्ताओं के विषय में उट्टंकनाएँ करना और सम्मोहन द्वारा लोगों को वश में ले आना सदृश बातें थीं, जिन्हें ये 'अध्यात्म' समझते थे। पर इस तथ्य को

जानने में स्वामी जी को समय लगा। सन् १८८० के मध्य तक थियोसोफिकल सोसायटी और उसके नेताओं की सत्यप्रियता और धर्माचरण पर स्वामी जी को पूर्ण विश्वास था, और वे इस बात से प्रसन्न थे कि इनके द्वारा पश्चिमी जगत् में भी सत्य सनातन वैदिक धर्म का प्रचार हो रहा है।

पर सितम्बर, १८८० में इस स्थिति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया। इस समय कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की इस प्रयोजन से शिमला की यात्रा के लिए गये थे, ताकि वहाँ भारत के वायसराय व गवर्नर-जनरल लार्ड रिपन को अध्यात्म विद्या के कतिपय चमत्कार प्रदर्शित करें। मार्ग में वे मेरठ रुके। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी तब मेरठ में ही थे। श्री पालीराम आदि कुछ आर्य सज्जन आल्काट और ब्लैवेत्स्की से मिलने के लिए गये। उनसे बातचीत करते हुए ब्लैवेत्स्की ने कहा कि वह ईश्वर को नहीं मानतीं। वस्तुतः ईश्वर की सत्ता है ही नहीं, अतः उसकी उपासना का कोई लाभ नहीं है। पण्डिता रमाबाई भी उस समय मेरठ में ही थीं। उनसे भी ब्लैवेत्स्की ने इसी प्रकार की बातें कहीं थीं। जब स्वामी जी को यह मालूम हुआ, तो उन्होंने आल्काट और ब्लैवेत्स्की से प्रश्न किया कि क्या आप वस्तुतः ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते? उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया, जिस पर स्वामी जी ने यह प्रस्ताव किया कि ईश्वर की सत्ता पर विचार-विमर्श करके निर्णय कर लिया जाए। स्वामी जी के निरन्तर आग्रह के कारण थियोसोफिकल सोसायटी के ये नेता विचार-विमर्श के लिए उद्यत तो हो गये, पर किसी परिणाम पर पहुँचे बिना ही उन्होंने मेरठ से चले जाने का निश्चय कर लिया। उसी दिन स्वामी जी ने यह घोषणा कर दी कि अब उनका थियोसोफिकल सोसायटी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। स्वामी जी का यह निर्णय सर्वथा समुचित व स्वाभाविक था, क्योंकि जिन व्यक्तियों का ईश्वर की सत्ता में विश्वास ही न हो, उन्हें वे आर्यसमाज में कैसे रहने दे सकते थे। जिस सभा में स्वामी जी ने थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज के सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा की थी, वह लाला रामशरणदास के निवास स्थान पर हुई थी।

कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की के ईश्वरसम्बन्धी विचारों में जो यह अकस्मात् परिवर्तन आ गया था, उसका कारण शायद यह था कि मई, १८८० में उन्होंने सीलोन (लंका) की यात्रा की थी, जहाँ उन्हें बौद्ध धर्म के निकट सम्पर्क मे आने का अवसर प्राप्त हुआ था। बौद्ध लोग सृष्टि के कर्त्ता और पालक के रूप में किसी ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनके विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में लोकोत्तर सत्ताओं की तो मान्यता है, पर सृष्टिकर्ता ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। चमत्कारों व सिद्धियों में भी बौद्ध लोग विश्वास करते हैं। आल्काट और ब्लैवेत्स्की को बौद्धों के मन्तव्य तथा आचरण अधिक आकर्षक प्रतीत हुए। इसी का यह परिणाम हुआ, कि लंका से भारत वापस आने के पश्चात् वे वैदिक धर्म से विमुख होने लगे, और ईश्वर की सत्ता से उन्होंने स्पष्ट रूप से इन्कार करना प्रारम्भ कर दिया। मेरठ से वे शिमला गये। वहाँ से ८ अक्टूबर, १८८० के दिन मदाम ब्लैवेत्स्की ने एक पत्र श्री छेदीलाल, मेरठ के पते पर स्वामी जी को लिखा था। यह पत्र बड़े महत्व का है। ब्लैवेत्स्की का कहना था कि स्वामी जी के मत में आर्यसमाज के दस नियम इतने पूर्ण व निर्भ्रान्त हैं कि किसी आर्यसमाजी को किसी भी ऐसी संस्था का सदस्य नहीं होना चाहि, जिसके नियम व मन्तव्य इतने ही पूर्ण व

निर्भ्रान्त न हों, और यदि किसी अन्य संस्था के नियम व उद्देश्य उतने ही उत्तम हों, जितने कि आर्यसमाज के हैं, तो आर्यसमाज के होते हुए उस संस्था का सदस्य बनने का लाभ ही क्या है ? ब्लैवेत्स्की के विचार में रोम का पोप भी अपनी निर्भ्रान्तिता का दावा करते हुए इससे अधिक क्या कह सकता है ? उसका आरोप था, कि धर्म के मामले में स्वामी जी की मनोवृत्ति संकीर्ण है। इसलिए उसने अपने पत्र में लिखा था कि "हम थियोसोफिस्ट लोग अपनी सोसायटी के प्रत्येक सदस्य के धर्म का सम्मान करते हैं। कोई मनुष्य चाहे आर्यसमाजी हो, चाहे ईसाई हो और चाहे मूर्तिपूजक हो, हमारी सोसायटी का सदस्य बन सकता है। हम अपने सदस्यों के धर्म के मामले में कभी हस्तक्षेप नहीं करते। स्वामी जी भी एक अपने धर्म के अनुयायी हैं, और आर्यसमाजियों के समान उसी धर्म में विश्वास रखते हैं। निस्सन्देह, हम स्वामी जी और सब आर्यसमाजियों को अपना बन्धु समझते हैं। यदि कोई आर्यसमाजी हमारी सोसायटी का सदस्य बन जाए, तो उसके धर्म में किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं किया जाता। वस्तुतः, ढाई साल से स्वामी जी हमारी सोसायटी के सबसे अधिक प्रतिष्ठित सदस्यों में एक रहे हैं, और साथ ही बहुत-से यूरोपियन तथा अमेरिकन थियोसोफिस्टों के गुरु भी। क्योंकि मैं ऐसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखती जो सृष्टि का कर्ता एवं पालक हो, अतः मैं आपके समाज की सदस्य नहीं बन सकती। उत्कृष्ट व उपयोगी भ्रातृत्व किस समाज में सम्भव है, क्या ऐसे समाज में जिसकी सदस्यता सब कोई प्राप्त कर सकें या एक ऐसे समाज में जिसके द्वार कुछ थोड़े से व्यक्तियों के लिए खुले हुए हों ? स्वामी जी ने जो कुछ घोषित किया है, उससे हमें बहुत आश्चर्य हुआ है और उससे उसके मन में हमारे प्रति विरोध भावना का बीजारोपण होता है। अब तक मेरा यह विश्वास था, कि आर्यसमाज और थियोसोफिस्ट भाई-भाई हैं। स्वामी जी स्वयं भी अपने व्याख्यानों और पत्रों में यही कहते रहे हैं। लण्डन और अमेरिका के थियोसोफिस्ट आर्यसमाजियों को अपने भाई समझते हैं, पर थियोसोफिकल सोसायटी के जो यूरोपियन सदस्य भारत में रहते हैं, ऐसा नहीं समझते। वे इस बात के लिए तो तैयार हैं कि सब थियोसोफिस्टों को, चाहे वे यूरोपियन हों और चाहे भारतीय हों, अपना भाई मानें। पर स्वामी जी के अतिरिक्त अन्य किसी आर्यसमाजी को अपना बन्धु मानना उन्हें युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। स्वामी जी को अपना बन्धु वे इस कारण स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे बहुत-से यूरोपियन बन्धुओं के गुरु हैं।"

मदाम ब्लैवेत्स्की का पत्र बहुत लम्बा है। उसमें उसने शिमला में अपनी सफलता का विशद रूप से वर्णन किया है, और उन अंग्रेज अफसरों के नाम भी दिए गये हैं, जिन्होंने थियोसोफिकल सोसायटी की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। इनमें कितने ही उच्च सरकारी एवं सैनिक पदाधिकारियों के नाम हैं, और साथ ही गवर्नर-जनरल की कौंसिल के कतिपय सदस्यों के भी। साथ ही, इस बात का भी उल्लेख है कि ब्लैवेत्स्की ने शिमला में किन प्रभावशाली व प्रतिष्ठित व्यक्तियों के सम्मुख अपने चमत्कार प्रदर्शित किये थे और उनका कितना अधिक प्रभाव पड़ा था। पत्र के ये वाक्य भी उल्लेखनीय हैं—"क्योंकि आर्यसमाज का यह मन्तव्य है कि परमेश्वर 'नियन्ता और पालक' है, अतः हम आर्यसमाजियों को अपना बन्धु क्यों कर मान सकते हैं ? यह आप स्वयं सोच सकते हैं, कि यदि आर्यसमाजी थियोसोफिकल सोसायटी के सदस्य नहीं बनते, तो इससे हमारी सोसायटी का कोई नुकसान नहीं होता, पर इससे नुकसान आर्यसमाजियों को ही होगा,

जैसा कि आप स्वयं ही देख लेंगे।...कृपया इस पत्र का अनुवाद करके स्वामी जी के पास भेज दीजिए, क्योंकि मैं इस प्रश्न का उनसे स्पष्ट उत्तर जानना चाहूँगी— 'क्या हम परस्पर मित्र होकर रहेंगे या शत्रु होकर...।' बस, मैं यही जानना चाहती हूँ।"

मदाम ब्लैवेत्स्की और कर्नल आलकाट की मनोवृत्ति का सही-सही परिचय इस पत्र से प्राप्त हो जाता है। उन्हें भारत में आये अठारह मास के लगभग समय हो चुका था। इस अवधि में उन्हें कितने ही सुशिक्षित एवं सम्भ्रान्त व्यक्तियों—यूरोपियन तथा भारतीय—से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था। भारत के ब्रिटिश शासकों तथा इस देश में निवास करने वाले अन्य गौरांग लोगों से सामीप्य प्राप्त कर सकना उनके लिए कठिन नहीं था। जिन भारतीयों ने ब्रिटिश सरकार तथा क्रिश्चियन मिशनों द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी, उनमें स्वाभाविक रूप से गौरांग लोगों को उत्कृष्ट समझने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। उनके लिए यह स्वाभाविक था, कि वे इन पाश्चात्य 'अध्यात्मवादियों' को न केवल कौतूहल से देखें, अपितु उनको अत्यधिक सम्मान भी दें। अंग्रेजी पढ़े-लिखे ऐसे भारतीय अब भी कम नहीं हैं, जो पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में अपने देश की परम्परागत संस्कृति को हीन समझते हैं, और गौरांग लोगों को उत्कृष्ट मानते हैं। अब से एक सदी पूर्व जब भारत अंग्रेजों के अधीन था, यह प्रवृत्ति और भी अधिक उग्र व प्रबल रूप के विद्यमान थी। जो थियोसोफिस्ट नेता भारत के धर्मग्रन्थों में प्रतिपादित अध्यात्मवाद की जिज्ञासा को लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती सदृश महान् विद्वान् तथा योगी से शिक्षा ग्रहण करने के लिए अमेरिका से इस देश में आये थे, यहाँ के वातावरण में रहकर यदि उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन आ गया हो, तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। भारतीयों से जो सम्मान उन्हें प्राप्त हो रहा था, उससे यदि उनका दिमाग फिर गया, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? थियोसोफिकल सोसायटी को आर्यसमाज की शाखा मानने के स्थान पर वे अब यह कल्पना करने लगे कि उनकी सोसायटी भारत में एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर सकती है, जिसमें सम्मिलित होना भारतीय लोग गौरव की बात समझने लगें और जिसके सम्मुख आर्यसमाज सर्वथा अगण्य हो जाए।

मदाम ब्लैवेत्स्की के ८ अक्टूबर, १८८० के पत्र का उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने २३ नवम्बर को दिया। इसके निम्नलिखित उद्धरणों से स्वामी जी का दृष्टिकोण भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है—

"आपने जो अमेरिका से पत्र और उनके उत्तर में यहाँ से मैंने वहाँ पत्र भेजे थे, पुनः आपका और मेरा समागम सहारनपुर, मेरठ, काशी और फिर मेरठ में हुआ था, उन सबके अनुसार अपने निश्चय के अनुकूल सब दिन मैं वर्तमान करता रहा हूँ। परन्तु वैसा वर्तमान आपका ठीक-ठीक नहीं देखता हूँ, क्योंकि प्रथम आप लोगों ने जैसा लिखा था, जैसा समागम में प्रथम विदित किया था, वैसा अब कहाँ है? आप अपने आत्मा से निश्चय कर लीजिए। प्रथम संस्कृत पढ़ने, शिक्षा लेने, सोसायटी को आर्यसमाज की शाखा करार देने आदि के लिए लिखा था, और वे चिट्ठियाँ छप के सर्वत्र प्रसिद्ध भी हैं और जो पत्र मैंने वहाँ भेजे थे उनकी नकल भी मेरे पास उपस्थित हैं।...उन्हीं के अनुसार मैं अब भी बराबर मानता और कहता हूँ कि आर्यसमाजस्थों को सोसायटी में धर्मादि विषयों के लिए मिलना उचित नहीं। और यही बात आप व एच० एस० कर्नल आलकाट

साहिब ने अपने पुस्तक, उपदेश और संवाद में क्या नहीं लिखी और नहीं कही है कि जो सत्यधर्म, सत्यविद्या और ठीक-ठीक सुधार की और परम योग आदि की बातें सदा से जैसी आर्यावर्तीय मनुष्यों और वेदादि शास्त्रों में थीं और हैं, वैसी कहीं न थीं और न हैं। अब विचारिये कि थियोसोफिस्टों को एतद्देशवासी मत में मिलना चाहिए कि वा आर्यावर्तियों को थियोसोफिस्ट होना चाहिए। और देखिए कि आज तक मैंने वा किसी आर्यसमाजस्थ ने किसी थियोसोफिस्ट को आर्यसमाज में मिलने का उपदेश वा प्रयत्न कभी किया है? और आप अपनी बात को अपने आत्मा में विचार लीजिये कि आपने क्या करी और क्या करने जाते हैं। कितनी ही आर्यसमाजस्थों को थियोसोफिस्ट होने के लिए कितना प्रयत्न और कितना उपदेश किया। इसीलिए अवश्य मैंने मेरठ आर्यसमाज में सबके सामने पूर्वोक्त हेतुओं से यह कहा था कि जो कभी आप वा एच० एस० कर्नल आल्काट साहेब वा और कोई जन किसी सभा में सभासद् होने के लिये कहे तो उसको यही उत्तर देना कि जो आर्यसमाज के नियमों से थियोसोफिकल सोसायटी आदि के नियम और उद्देश्य एक ही हैं तो हम और वे भी सब एक हैं और जो विरुद्ध हैं तो हमको सोसायटी वा अन्य किसी सभा में मिलना कुछ आवश्यक नहीं। और तब तक आर्यसमाज के नियम अखण्डित हैं, कि जब तक उनमें कोई बात खण्डनीय विदित न हो। अब कहिये, निर्भ्रान्ति पोप रूम की बात मेरी हैं वा आपकी? और जो मैंने, अन्य देशियों के समाज में मित्रता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता जैसा कि स्वदेशियों के समाज में, यह बात इस प्रसंग पर कही थी, कहता हूँ और कहूँगा कि ''' जिनका एक देश, एक भाषा, एकत्र जन्म, सहवास और विवाहादि व्यवहार सम्बन्ध आपस में होते हैं उनसे उनको जितना लाभ और उनकी उनमें जितनी प्रीति होती है उतनी अन्य देशवासियों से अन्य देशवासियों को लाभ और उन्नति नहीं हो सकती। देखिये भाषा के ही केवल भेद होने से मुझको और योरपियन को कितनी कठिनता परस्पर उपकार होने में होती है। और जिनके पूर्वोक्त सब भिन्न हैं, उनमें पूर्वोक्त बातें कम होती ही हैं। और जिनके वे सब एक हैं उनमें वे बातें सहज से शीघ्र अधिक होती हैं, इसमें क्या सन्देह है। ''' जब हम लोग थियोसोफिस्टों को भी आर्यसमाज के अवयवभूत शाखास्थ भ्रातृगणवत् मानते आये थे, और जहाँ तक बनेगा मानेंगे, ऐसा जानकर उनको आर्यसमाज में मिलने और उनसे १० रुपये फीस लेने आदि के लिए प्रयत्न न किया था और अब नहीं करते, उनसे यथाशक्ति प्रेम और उनका उपकार ही करते हैं; हाँ जो कोई आर्यसमाज वा सोसायटी से भिन्न हैं वे उपदेश से समझकर वेदमत में अपनी प्रसन्नता से स्वयं मिलते जाते हैं तो हम लोगों के लिए वह निषेध करना भी औषध नहीं क्योंकि हममें वह रोग ही नहीं है। (आगे स्वामी जी ने ब्लैवेत्स्की के इस कथन का खण्डन किया है, कि थियोसोफिकल सोसायटी किसी आर्यसमाजी को सोसायटी की सदस्यता के लिए प्रेरित नहीं करती। उन्होंने उन व्यक्तियों के नाम दिये हैं, जिन्हें सोसायटी का सदस्य हो जाने के लिए कहा गया था।)

"और जो बात आप आर्यसमाज के नियमों से विरुद्ध प्रत्येक धर्म के लोगों की प्रतिष्ठा और सब धर्म वाले हमारी सोसायटी में मिलें और उनके धर्म पर हम हाथ नहीं डालते हैं किन्तु एक भाईपन होने के लिए शामिल करते हैं और कोई बात उसकी थियोसोफिस्ट होने में निषेधक नहीं हो सकती। अब मैं इसमें आपसे पूछता हूँ कि आप का धर्म क्या है? जो आप कहें कि हमारा धर्म सबसे विरुद्ध है तो दूसरे धर्म वाला

आपकी सोसायटी में कभी नहीं मिल सकता। जैसा रात दिन का विरोध है वैसे विरुद्ध धर्म होते हैं। और जो कहें कि हमारा धर्म किसी से विरुद्ध नहीं तो उसमें मिलना किस लिए हो, क्योंकि वे एक ही हैं। जैसे मुसलमान अपने मजहब से भिन्न को काफिर और उनसे मेल कभी न करना चाहिए, कहते हैं, इत्यादि धर्म वाले आपकी सोसायटी में कैसे मिल सकते हैं।...

"क्या यह बात सर्वथा असम्भव नहीं है कि स्वामी जी भी अढ़ाई वर्ष से हमारे सबसे उत्तम सभासदों में एक हैं। भला आप कहिए तो कि मैंने आपकी सोसायटी का सभासद् होने के लिए दरखास्त भेजी थी? और मैंने कब आपसे कहा था कि मैं आपकी सोसायटी का सदस्य होना चाहता हूँ? क्या मैंने जो बम्बई में चिट्ठी भेजी थी, उस बात को भूल गई कि जो मैं सिवाय वेदोक्त सनातन आर्यावर्तीय धर्म के अन्य सोसायटी, समाज वा सभा के नियमों को स्वीकार न करता था, न करता हूँ, न करूँगा। क्योंकि यह बात मेरे आत्मा की दृढ़तर है, शरीर, प्राण भी जाएँ तो भी इस धर्म के विरुद्ध कभी नहीं हो सकता।... और इस बात को क्या भूल गई कि मेरठ में मूलजी ठाकरसी के सामने जहाँ आप भी सामने बैठीं, एच० एस० आलकाट साहब को मैंने कही थी कि आपने बम्बई की कौंशल (कौंसिल) में मेरा नाम सभासदों में क्यों लिखा, ऐसा काम आप लोग कभी मत कीजियेगा कि जिसमें मेरी सम्मति न हो और आप अपने मन से कर बैठोगे तो मैं उस बात को स्वीकार कभी न करूँगा। उस पर कर्नल आलकाट साहब ने कहा था कि हम ऐसा काम कभी न करेंगे। और बम्बई में मैंने चिट्ठी भी दी थी कि मेरा नाम आपने अपनी इच्छा से जहाँ कहीं सभासदों में लिखा हो, काट दीजिए। इतने हुए पर भी आपने इस चिट्ठी में जो यह बात लिखी इसको कोई भी सच कर सकता है? क्या आश्चर्य की बात है? आये तो विद्यार्थी और शिष्य बनने को, गुरु और आचार्य बनना चाहते हो। ऐसी पूर्वापर विरुद्ध बातें करना किसी को योग्य नहीं। (इसके बाद स्वामी जी ने यह लिखा है कि पहले ब्लैवेत्स्की ईश्वर में विश्वास रखती थीं, सृष्टि के कर्ता तथा धर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करती थी। इस विषय पर सुचारु रूप से प्रकाश डालकर उन्होंने ब्लैवेत्स्की के ईश्वर सम्बन्धी मन्तव्य में हुए परिवर्तन का उल्लेख किया है।)... मैं और जितने सज्जन आर्य हैं वे जैसा सदा से मानते आए हैं और मानेंगे भी कि सामान्यतः आर्यावर्तीय इंगलैण्ड और अमेरिका आदि भूमण्डलस्थ देशनिवासी मनुष्यों को सब दिन से भ्रातृ और मित्रवत् मानता है परन्तु सत्यधर्म व्यवहारों के साथ। असत्य और अधर्म के साथ नहीं। यहाँ के अंग्रेज लोग आर्यों को चाहे जैसा मानें, क्या वे राज्याधिकारी हों या व्यावहारिक हों, मुझको भी अपनी समझ के अनुकूल यथेष्ठ मानें। मैं तो सब मनुष्यों के साथ सुहृद् भाव से सदा बर्तता आया और बर्तना चाहता हूँ।...

"आप लोगों को अवश्य स्मरण होगा कि जो काशी की चिट्ठी के उत्तर में आप लोगों ने लिखा था कि जो आप भी वेदों को छोड़ दें तो भी हम लोग कभी न छोड़ेंगे वह आप लोगों की बात प्रशंसनीय और धन्यवादार्ह है। ऐसे ही सब योरुपियन इस उत्तम बात में मिलें तो क्या ही कहना है, और जो कभी न मिलें, हम आर्यों और आर्यसमाजों की कदापि हानि नहीं हो सकती, क्योंकि यह बात नवीन नहीं है। हम लोग जबसे सृष्टि और वेद का प्रकाश हुआ है उसी समय से आज पर्यन्त ऐसी बात को मानते आते हैं। क्या हुआ कि अब थोड़े समय से अज्ञानता और उत्तम उपदेशकों के बिना बहुत-से आर्य

वेदोक्त मत से कुछ-कुछ विरुद्ध और बहुत-से अनुकूल आचरण भी करते हैं। अब जिसको प्रसन्नता हो अपनी और सबकी उन्नति के लिए इस आर्यसमाज में मिलें या न मिलें। उसके न मिलने से हमारी कुछ हानि नहीं, किन्तु उन्हीं की हानि है। हम लोगों का तो यही अभीष्ट, यही कामना और यही उत्साह है कि सबकी उन्नति में अपनी उन्नतिसमझनी।... हमारा तो संसार का उपकार करना और हानि किसी की न करना मुख्य तात्पर्य है, सो है ही है। यहाँ हम भी कह सकते हैं कि जो थियोसोफिस्ट आर्यसमाजों से विरोध करेंगे तो हमारी कुछ हानि भी नहीं, किन्तु वे आप ही अपने भ्रातृत्व मुख्य उद्देश्य को नष्टकर अपनी हानि कर लेंगे। हम तो हमारा स्वभाव जो कि धर्मात्माओं से सुहृद् भाव और अधर्मियों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न और बन्धुवत् स्नेह करना है, करते हैं और करते रहेंगे।..."

स्वामी जी का यह पत्र इतना स्पष्ट है कि इस पर किसी भी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। मदाम ब्लैवेत्स्की ने जो भी आरोप लगाये थे, उन सबका उत्तर इसमें आ गया है। स्वामी जी ने कभी यह प्रयत्न नहीं किया, कि किसी थियोसोफिस्ट को आर्यसमाज का सदस्य बनाएँ, इसके विपरीत थियोसोफिस्ट यह प्रयत्न करते रहे कि आर्य-समाजियों को अपनी सोसायटी के सभासद् बना लें। स्वामी जी के मन्तव्य सर्वथा सुस्पष्ट थे। उन्हें सृष्टिकर्ता ईश्वर की सत्ता और वेदों की अपौरुषेयता पर पूर्ण विश्वास था। आर्यसमाज के सदस्य केवल वही व्यक्ति हो सकते थे, ईश्वर की सत्ता तथा वेदों की अपौरुषेयता पर जिन्हें विश्वास हो। अत: ऐसे थियोसोफिस्टों को जो ईश्वर व वेद को न मानते हों तथा अन्य विधर्मियों को आर्यसमाज में सम्मिलित करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। जब कर्नल आल्काट तथा मदाम ब्लैवेत्स्की भारत आये थे, तो इस देश के अध्यात्मवाद के प्रति वे प्रबल आकर्षण अनुभव करते थे, और अमेरिका में रहते हुए भारत के धर्म, अध्यात्मवाद आदि के विषय में जो जानकारी उन्हें थी, उसके अनुसार वे यह मानने लगे थे कि भारत के धार्मिक जीवन तथा अध्यात्म के आदिस्रोत वेद हैं और उनकी शिक्षा प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन स्वामी दयानन्द सरस्वती का शिष्य बनकर वेद-शास्त्रों का अध्ययन करना है। इसी प्रयोजन से वे भारत आये थे। पर यहाँ आकर उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन आने लगा। इस देश के शिक्षित वर्ग में अंग्रेजी शिक्षा के कारण अपने को हीन समझने की जो प्रवृत्ति विकसित हो गई थी और ब्रिटिश लोगों के शासन में रहने के कारण जो वे गौरांग लोगों को अपने से ऊँचा मानने लग गये थे, उस का यह परिणाम हुआ कि थियोसोफिकल सोसायटी के नेता भारत के इस वातावरण में अपने को शिष्य के बजाय गुरु समझने लग गये। स्वामी जी ने इस तथ्य को भलीभाँति जान लिया था। इसीलिए उन्होंने अपने पत्र में ब्लैवेत्स्की को लिखा था, कि "क्या आश्चर्य की बात है? आये तो विद्यार्थी और शिष्य बनने को, गुरु और आचार्य बनना चाहते हो।" भारत के वातावरण में स्वराज्य के पैंतीस वर्ष बाद आज भी यह दशा है कि पश्चिमी जगत् के गौरांग लोगों को ऊँचा समझने की प्रवृत्ति विद्यमान है। अतः यदि १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की विफलता के बीस-पच्चीस साल बाद, जब अंग्रेजी शासन का मध्याह्न काल था, अमेरिका से आए हुए इन गौरांग व्यक्तियों में अपनी उत्कृष्टता और भारतीयों को अपने से हीन समझने का विचार उत्पन्न हो गया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। जब ये लोग शुरू में भारत आये थे, तो इन्हें अपनी विशिष्ट स्थिति की जानकारी नहीं थी। उस समय ये आर्यसमाज को महत्त्व देते थे। पर जब उन्होंने देखा

कि भारतीय लोग न केवल उनके प्रति आकृष्ट ही होते हैं, अपितु उन्हें अत्यधिक सम्मान भी उनसे प्राप्त होता है, और भारत में रहने वाले अंग्रेज, चाहे वे राजपदाधिकारी हों और चाहे व्यापारी हों, उनके प्रति एकत्व तथा बन्धुत्व की भावना रखते हैं, तो वे आर्यसमाज से विमुख होने लग गये।

पर स्वामी दयानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व इतना महान् था और उनकी विद्वता इतनी गम्भीर थी कि मदाम ब्लैवेत्स्की के लिए उनकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं हुआ। २३ नवम्बर, १८८० के उनके पत्र का जो उत्तर उसने १७ जनवरी, १८८१ को बम्बई से दिया, उसके भाव शिमला से (८ अक्टूबर, १८८० को) भेजे गए पत्र से बहुत भिन्न थे। इस पत्र में ब्लैवेत्स्की ने लिखा था, कि उसके स्वामी जी से जो मतभेद उत्पन्न हो गये हैं, उनका कारण एक-दूसरे की भाषा को न समझ सकना है। मूलजी ठाकरसी, प्रमोददास मित्र और छेदीलाल आदि जो व्यक्ति उनके बीच में दुभाषिये का काम करते रहे हैं, वे ठीक प्रकार से उनके विचारों को प्रकट नहीं कर सके, जिसके कारण उनके बीच में अनेक गलतफहमियाँ पैदा हो गई हैं। "वे न आपके विचारों को सही ढंग से हमारे सम्मुख अभिव्यक्त कर सके, और न हमारे विचारों को आपके सम्मुख। ईश्वर के विषय में हमारे विचार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हम उसे सब दृश्यमान जगत् का कारण मानते हैं, उसे चाहे किसी भी नाम से कहिये। हमें यह भी मान्य है कि वेद सब धर्मों के आदि स्रोत हैं।" इस प्रकार ईश्वर और वेदों में अपनी आस्था स्वीकार कर तुरन्त बाद ब्लैवेत्स्की ने उन मतभेदों का भी संकेत किया है, जो थियोसोफिस्टों और आर्यसमाजियों में उत्पन्न हो गये थे।

"मूलजी ने हमें कहा था कि ईश्वर के सम्बन्ध में हममें कोई मतभेद नहीं है, पर मेरठ में जब हम आपस में मिले तो यह ज्ञात हुआ कि परमेश्वर के व्यक्तित्व तथा गुणों के विषय में हमारे विचार नहीं मिलते।" स्पष्ट है, कि ईश्वर के विषय में आल्काट और ब्लैवेत्स्की सदृश थियोसोफिस्टों का मन्तव्य स्वामी जी के मत से भिन्न था। इस मूलभूत बात पर मतभेद होने के कारण यह सम्भव नहीं था, कि थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज में एकत्व व सहयोग रह सके। ब्लैवेत्स्की ने आगे अपने पत्र में लिखा था—"हमारी सोसायटी कोई धार्मिक संस्था नहीं है। पर क्योंकि इस द्वारा पुराने ज्ञान-विज्ञान में शोध किया जाता है, अतः पुराने तथा नये धर्मों में शोध करना इसका कार्य है। हम यह कभी नहीं कहते कि आर्यसमाजी धार्मिक प्रयोजन से हमारे साथ सहयोग करें। पर अपने देश का हित चाहने वाले कुछ व्यक्तियों से हमने सहयोग करने के लिए अवश्य कहा है, बिना इस बात की परवाह किये कि वे आर्यसमाजी हैं या ईसाई, मुसलमान या वेदान्ती हैं।" ब्लैवेत्स्की के पत्र के कुछ अन्य अंश भी उद्धरण के योग्य हैं—"यह एक भ्रम है कि हम ऐसे मुसलमानों, जैनियों और अन्य धर्मावलम्बियों को भी अपना सदस्य बना लेते हैं, जिन्होंने कि अभी दूसरों के प्रति घृणा व विरोधभाव का परित्याग नहीं किया हो। हम ऐसे व्यक्तियों को कभी अपनी सोसायटी में सम्मिलित नहीं करते, जो स्पष्ट रूप से यह घोषणा न कर दें कि वे सब मनुष्यों को अपने विश्वासों के अनुसार पूजापाठ करने देंगे और सबको उसी प्रकार से अपना बन्धु समझेंगे जैसे कि स्वधर्मियों को समझते हैं।...हमारी सोसायटी न धार्मिक संस्था है और न जातिगत। अमेरिका से प्रस्थान करने से पूर्व और बाद में सब अवसरों पर और सब परिस्थितियों में कर्नल आल्काट और मैं

सदा आपकी सहायता करते रहे हैं। भाषण तथा लेखों द्वारा हमने सदा आपकी प्रशंसा की है, और हमसे अधिक सच्चा सहायक आप कोई अन्य नहीं पाएँगे। यह कितने खेद की बात है कि यह सब जानते हुए भी आप कहते हैं कि हम आर्यसमाज को क्षति पहुँचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। अपनी सोसायटी की शाखाओं को आर्यसमाज के साथ सम्बद्ध कर हमने आपके प्रति अपनी भक्ति को प्रमाणित कर दिया है, और आपको अपना सर्वोपरि प्रधान भी माना है। पर बदले में आर्यसमाज ने कुछ नहीं किया, और अब आपने थियोसोफिकल सोसायटी के विरुद्ध खुले तौर पर प्रचार प्रारम्भ कर दिया है, और उसे आप एक अपनी विरोधी संस्था कहते हैं, जो वह वस्तुतः नहीं है।"

पत्र के अन्त में मदाम ब्लैवेत्स्की ने लिखा था—"यदि आप चाहें, तो अगले वर्ष के प्रारम्भ से हम थियोसोफिकल सोसायटी के सब पत्रों आदि में सोसायटी के सर्वोपरि प्रधान के रूप में जो आपका नाम दिया जाता है, उसे हटा देंगे। साथ ही, इंगलैण्ड और अमेरिका के अपने मित्रों को सूचित कर देंगे कि आप सोसायटी के सर्वोपरि प्रधान नहीं रहना चाहते। पर यह मैं तब तक नहीं करूँगी, जब तक कि आप हमें लिखित रूप से नहीं दे देंगे।"

मदाम ब्लैवेत्स्की का यह पत्र परस्परविरोधी बातों से परिपूर्ण है। एक ओर इसमें यह कहा गया है, कि स्वामी जी से उसके मतभेद का कारण दुभाषियों द्वारा एक-दूसरे के अभिप्राय को सही रीति से प्रकट न कर सकना है, और ईश्वर तथा वेदों में उसकी आस्था है; पर साथ ही पत्र में यह भी लिख दिया गया है कि परमेश्वर के व्यक्तित्व (स्वरूप) और गुणों के विषय में हमारे विचार नहीं मिलते। वस्तुतः, भारत में आने के पश्चात् आल्काट और ब्लैवेत्स्की के विचारों में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया था। इस देश में वे अपना गुरुडम स्थापित कर सकते हैं, वे यह समझने लग गये थे, और साथ ही वे यह भी जान गये थे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती सत्य के विषय में कदापि कोई समझौता नहीं कर सकते। उन्हें यह भी ज्ञात हो गया था, कि अध्यात्मवाद के जिस रूप को सम्मुख रख कर वे भारत आये थे, जिसमें जादू-टोने तथा चमत्कारों की प्रधानता थी, स्वामी जी का अध्यात्मवाद तथा योगसाधना उससे बहुत भिन्न है। इस दशा में उनका स्वामी जी तथा आर्यसमाज से दूर हटते जाना सर्वथा स्वाभाविक ही था।

(५) थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज का सम्बन्ध विच्छेद

१७ जनवरी, १८८१ के मदाम ब्लैवेत्स्की के पत्र का उत्तर स्वामी जी ने १७ मार्च, १८८१ को दिया। स्वामी जी का यह पत्र आल्काट तथा ब्लैवेत्स्की दोनों के नाम था। इसके कुछ अंश इस प्रकार थे—

"मैं सब काल में एक सी बात कहता हूँ। जो आपने अपना निश्चय न बदला होगा तो गुप्त रक्खा होगा, जबकि मूलजी ठाकरसी के साथ बात हुई थी। मैं जानता हूँ, उस समय आप ईश्वर को मानते थे, अब कुछ दूसरी बात पहिली बातों से बिपरीत देखने में आती है जो कि आपने मेरठ में की है, और हम किसी से संसार भर में विरोध करना नहीं चाहते सिवाय उनके जो अधर्म और अन्याययुक्त आचरण करें। आर्यसमाज ठीक वैदिक मत पर है। उसके उद्देश्य में कुछ किसी प्रकार का फर्क नहीं है। और 'भ्रातृभाव' जो कि आपका बड़ा भारी नियम है वह कभी पूरा-पूरा नहीं बर्ता जा सकता, जब तक कि

मजहबी तास्सुब और द्वेष बिलकुल दूर न हो जावे। मैं जानता हूँ कि आप फिर भी आर्य-समाज के नियम विषय में भूलती हो। पहले भी कहा गया था कि आर्यसमाज के नियम से दूसरी किसी सभा के जो नियम मिलते हैं वे उसके अनुकूल ही हैं, उससे विरुद्ध कैसे अनुकूल हो सकते हैं? दो बातें जो परस्पर विरुद्ध हों कैसे सत्य हो सकती हैं? यह प्रत्यक्ष है कि उन दोनों में से एक ही सत्य होगी।

"चाहे कोई हो जब तक मैं न्यायाचरण देखता हूँ, मेल करता हूँ और जब अन्यायाचरण प्रकट होता है फिर उससे मेल नहीं करता।

"जैसा आप दुष्ट जनों को सभासद् नहीं करते वैसे ही आर्यसमाज भी नहीं करता, आर्यसमाज के नियमों में देख लो कि "सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए" यह नियम पड़ा है वा नहीं?

"मैं कोई नवीन मत चलाना नहीं चाहता, किन्तु सनातन वेदमत का प्रकाश करता हूँ। जो न मानेगा उसकी हानि होगी, मेरी कुछ हानि नहीं। जैसी मुझसे आप सत्यभाव से प्रीति रखते हैं, वैसी ही मैं भी रखता हूँ। और आपसे क्या सब सज्जन पुरुषों से मेरी वैसी ही प्रीति है।

"परस्पर संसार की उन्नति करने में सहायक होना ही बहुत अच्छी बात है। और मैं अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेद का उपदेश करता हूँ। सिवाय उपदेशक के मैं कुछ अधिकार नहीं चाहता। तुम मुझको कहीं सभासद् लिख देते हो, कहीं कुछ लिख देते हो, मैं कुछ बड़ाई और प्रतिष्ठा नहीं चाहता, और जो मैं चाहता हूँ वह बहुत बड़ा काम है, सो आशा है कि ईश्वर की दया और सज्जन तथा विद्वानों के सहाय से कृतकृत्य हूँगा।"

स्वामी जी ने यह पत्र भरतपुर से लिखा था। उन्हें यह भलीभाँति ज्ञात हो गया था कि आल्काट और ब्लैवेत्स्की सत्य सनातन वैदिक धर्म से दूर हटते जा रहे हैं और थियोसोफिकल सोसायटी तथा आर्यसमाज के उद्देश्यों व नियमों में भी मौलिक भेद हैं। इस दशा में स्वामी जी की इच्छा थी, कि इस मामले का शीघ्र निबटारा कर लिया जाए, ताकि आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी के परस्पर सम्बन्धों के विषय में किसी को कोई भ्रम व गलतफहमी न रहे। स्वामी जी चाहते थे कि आल्काट और ब्लैवेत्स्की के साथ खुल कर विचार-विमर्श कर लिया जाए। यदि वे अविकल रूप से वैदिक धर्म को स्वीकार करने के लिए तैयार हों तब तो ठीक है, अन्यथा उनसे तथा उनकी सोसायटी से सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाए। ३० सितम्बर, १८८१ को स्वामी जी बम्बई गये। कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की तब बम्बई में ही थे, और स्वामी जी के स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर भी उपस्थित थे। वस्तुतः, स्वामी जी इसी प्रयोजन से राजस्थान से बम्बई गये थे, कि थियोसोफिकल सोसायटी के इन नेताओं से मिलकर अन्तिम रूप से यह निर्णय कर लिया जाए कि वे क्या वस्तुतः परमेश्वर और वेदों में विश्वास रखते हैं, और उनकी सोसायटी का आर्यसमाज के साथ किस रूप में सम्बन्ध रखा जा सकता है। स्वामी जी चाहते थे कि उन दोनों से मिलकर सब बातों पर स्पष्टतया विचार-विमर्श कर लिया जाए। पर कर्नल आल्काट मामले को टालते रहे। बम्बई में रहते हुए स्वामी जी को दो मास बीत गये, पर थियोसोफिस्टों के ये नेता कोई-न-कोई ऐसा बहाना बना देते, जिससे कि वे विचार-विमर्श न कर सकें। अन्त में स्वामी जी ने सेठ पन्नाचन्द आनन्दजी और राव बहादुर गोपालराव हरि देशमुख को कर्नल आल्काट

से मिलने के लिए भेजा, और परमेश्वर की सत्ता, स्वरूप एवं गुणों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के लिए कोई दिन तथा समय निश्चित कर देने के लिए कहलाया। इस पर आल्काट ने १७ मार्च, १८८२ का दिन निश्चित किया, पर उस दिन वह विचार-विमर्श के लिए उपस्थित ही नहीं हुआ। इसके बाद भी स्वामी जी ने अनेक प्रयत्न इस बात के लिए किये, कि थियोसोफिकल सोसायटी के नेताओं से विचार-विमर्श कर मतभेदों को दूर किया जाए, और उन्हें सत्य धर्म के मार्ग पर ले आया जाए। पर वे स्वामी जी से मिलने के लिए भी उद्यत नहीं हुए। स्वामी जी बम्बई केवल इसीलिए गए थे, कि थियोसोफिस्टों की समस्या का सन्तोषजनक रीति से समाधान किया जा सके। पर जब उन्होंने देखा कि आल्काट और ब्लैवेत्स्की टालमटोल कर रहे हैं, तो उन्होंने उनसे यह कहलवा दिया कि यदि वे बहुत शीघ्र, तीन या चार दिनों के अन्दर-अन्दर विचार-विमर्श द्वारा मामले को तय नहीं कर लेंगे, तो २८ मार्च, १८८२ के दिन फ्रामजी कासवजी इंस्टीट्यूट में आयोजित एक सार्वजनिक सभा में वे अपनी स्थिति स्पष्ट कर देंगे। पर इसका भी जब स्वामी जी को कोई उत्तर नहीं मिला, तो उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा कर दी, कि २८ मार्च को सायंकाल ६ बजे फ्रामजी कासवजी इंस्टीट्यूट में एक सार्वजनिक सभा होगी, जिसमें कि एक व्याख्यान द्वारा आर्यसमाज तथा थियोसोफिकल सोसायटी में परस्पर सम्बन्ध का जो स्वरूप वर्तमान समय में है, उस पर प्रकाश डाला जाएगा। नोटिस के अनुसार २८ मार्च को एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें स्वामी जी ने उन तथ्यों पर प्रकाश डाला जिनके कारण थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज में सहयोग सम्भव नहीं रह गया है। फिर उनकी ओर से एक विज्ञापन प्रकाशित कराया गया, जिसमें आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी के सम्बन्ध-विच्छेद की स्पष्ट रूप से घोषणा थी। यह विज्ञापन स्वामी जी के पत्र के साथ सब आर्यसमाजों को भी भेज दिया गया। बम्बई के ओरियण्टल प्रेस में यह विज्ञापन ३१ मार्च, १८८२ को मुद्रित हुआ था, और इस से मे सब कारण भलीभाँति सुस्पष्ट हो जाते हैं, जिनसे कि आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी में सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य हो गया था। इस विज्ञापन के कतिपय अंश इस प्रकार हैं—

"थियोसोफिस्टों की गोलमाल पोलपाल—श्री स्वामी जी ने और आर्यसमाज के लोगों ने उनके पूर्व पत्र और व्यवहारों से यह अनुमान किया था कि उससे आर्यावर्त देश का कुछ उपकार होगा। किन्तु यह अनुमान व्यर्थ हो गया, (१) क्योंकि जो-जो उन्होंने प्रथम अपनी चिटठियों में प्रसिद्ध लिखा था कि हमारी थियोसोफिकल सोसायटी आर्यसमाज की शाखा हुई। उससे यह लोग बदल गये। (२) उन्होंने कहा था कि वेदोक्त सनातन धर्म के ग्रहण और विद्यार्थी होकर संस्कृत विद्या को पढ़ने को आते हैं, सो तो न किया, किन्तु अब किसी धर्म को नहीं मानते और न कुछ किसी धर्म की जिज्ञासा की। न आज तक संस्कृत विद्या पढ़ने का आरम्भ किया और न करने की आशा है। (३) ··· (४) प्रथम इन्होंने अपने पत्रों में और यहां आकर स्वामी जी और सबके सामने ईश्वर को स्वीकार किया, फिर उसके विरुद्ध मेरठ में स्वामी जी और अनेक भद्रपुरुषों के सामने दोनों ने कहा कि हम दोनों ईश्वर को नहीं मानते ···। (५) जब यह आर्यावर्त देश में आने लगे तब एक समाचार-पत्र 'इण्डियन स्पेक्टेटर' में तारीख २४ जुलाई सन् ७८ईस्वी में छपवाया था कि न हम बुधिष्ट, न हम क्रिश्चियन और न हम ब्राह्मण अर्थात् पुराणमत के मानने वाले

हैं, किन्तु हम आर्यसामाजिक हैं। अब इससे विरुद्ध छपवाया कि हम बहुत वर्षों से बुद्धिष्ट थे और अब भी हैं ...। (६) यहाँ आकर प्रथम थियोसोफिकल सोसायटी को आर्यसमाज की शाखा स्वीकार करके पश्चात् कहा कि मुख्य सोसायटी न आर्यसमाज की शाखा और न आर्यसमाज मुख्य सोसायटी की शाखा है, किन्तु जो एक-दूसरे वेद की शाखा दोनों के साझे की है। इससे विरुद्ध अब छाप के प्रकाशित किया कि हमारी सोसायटी कभी आर्य-समाज की शाखा नहीं हुई थी और हम आर्यसमाज से बाहर हैं ...। (७) जो इन्होंने मेरठ में प्रतिज्ञा की थी कि आज से पीछे आर्यसमाज के सभासदों को अपनी सोसायटी में भरती होने को कभी न कहेंगे, इसी के दो दिन पीछे जब बाबू छेदीलाल जी अम्बाले तक उनके साथ गये, तब मार्ग में बहुत समझाते गये कि आप हमारी सोसायटी के साथ हूजिये ...। (८) पत्र के (इस भाग में यह विवरण दिया गया है, कि किस प्रकार बम्बई में आल्काट और ब्लैवेत्स्की स्वामी जी के विचार-विमर्श करने की बात को टालते रहे।) (९) (थियो-सोफिस्टों के वेद विरुद्ध बातों की ओर संकेत कर अन्त में इस विज्ञापन में लिखा गया है, कि) उनकी सोसायटी और उनके साथ सम्बन्ध रखने से आर्यावर्त देश और आर्यसमाज को सिवाय हानि के कुछ लाभ नहीं क्योंकि इन लोगों का आन्तरिक अभिप्राय क्या है, इसको वे ही जानते होंगे। जो इनका अन्तर ही निष्कपटी होता तो ऐसा पूर्वापर विरुद्ध व्यवहार क्यों करते ? जब ये भयंकर नास्तिक, वाचाल और स्वार्थी मनुष्य हैं तो आर्या-वर्त देश और आर्यसमाजस्थ पुरुषों को उचित है कि इनसे सम्बन्ध बनाये रखने की और देशोन्नति की आशा न रखें। देखो और भी थोड़ा-सा उनके प्रपंच का नमूना, प्रथम स्वामी जी का नाम लेते थे, जब स्वामी जी उनके जाल में न फँसे तो अब कोट हूमीलाल का नाम लेते हैं कि जिसको न किसी ने देखा और न पूर्व सुना था। जो कभी उसके नाम से स्वार्थ सिद्ध न होगा तो कदाचित् गोत्र कोट हूमींसिंह का नाम लेने लगेंगे। अब कहते हैं कि वह हमारे पास आता है, बातें और चमत्कार दिखाता है। देखो, यह फोटोग्राफ हैं, चिट्ठियाँ और पुष्प ऊपर से गिरते हैं, खोई हुई चीज निकलती हैं—इत्यादि सब बातें उनकी झूठ हैं, क्योंकि दूसरी को तो जाने दो, परन्तु जब प्रथम करनैल साहब मैडम के साथ बम्बई में आये, तब कुछ वस्त्र आदि की चोरी हुई थी, उसके लिए बहुत सा यत्न पुलिस आदि से कराया था, उनको क्यों नहीं मँगा लिया ? जब अपने पदार्थ न मंगवा सके तो शिमले की बात को सच्ची कौन विद्वान् मानेगा।

"जब स्वामी जी और मैडम से मेरठ में योग विषय में बात हुई थी तब कहा था कि योगशास्त्र और सांख्य की रीति से मैं योग करती हूँ। तब स्वामी जी ने उससे उस शास्त्रोक्त योग की रीति पूछी तब कुछ भी उत्तर न दे सकी अर्थात् जैसे कि मेस्मरेजम, जैसे बाजीगर तमाशा करते हैं—उसी प्रकार इनकी भी बातें हैं। जो योग को थोड़ा भी करते हैं वह भीतर और बाहर से शीतलता भरा हुआ एक व्यवहार करते हैं, झूठ और छल से पृथक् सो वैसा व्यवहार उनका नहीं है। जो योग विद्या को कुछ भी जानते तो ईश्वर को न मानकर भयंकर नास्तिक क्यों बन जाते ? इनके योग विद्या के न जानने में ईश्वर का न मानना ही प्रमाण है। इसलिए यही निश्चय है कि यह सोसायटी और इनकी पूर्वापरविरुद्ध बातें विश्वास के योग्य नहीं हैं। इसलिए इनसे पृथक् रहना अति उत्तम है।"

इस प्रकार २८ मार्च, १८८२ के दिन आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी के उस सम्बन्ध का अन्त हो गया, जिसका प्रारम्भ फरवरी, १८७८ में हुआ था। थियो-

सोफिकल सोसायटी से सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा करते हुए स्वामी जी ने जो विज्ञापन प्रचारित किया था, कर्नल आल्काट ने उसका प्रतिवादात्मक उत्तर 'थियोसोफिस्ट' पत्र के जुलाई, १८८२ के अंक के साथ एक परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया। कर्नल आल्काट ने केवल 'थियोसोफिस्ट' के परिशिष्ट में ही नहीं, अपितु अपनी पुस्तक 'ओल्ड डायरी लीव्स' (Old Diary Leaves) में भी स्वामी जी के विरुद्ध अपने पक्ष का समर्थन करने का प्रयत्न किया था। यह पुस्तक स्वामी जी के देहावसान के पश्चात् सन् १८९५ में प्रकाशित हुई थी। मदाम ब्लैवेत्स्की ने भी अपने पक्ष के पोषण में अनेक लेख आदि लिखे। आर्य विद्वानों द्वारा भी उनके उत्तर दिये जाते रहे। 'थियोसोफिस्ट' के जुलाई, १८८२ के अंक के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित कर्नल आल्काट के लेख का उत्तर अक्टूबर, १८८२ में पण्डित उमराव सिंह द्वारा एक पुस्तिका के रूप में दिया गया था। मार्च, १८८२ के बाद थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज में कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। यद्यपि थियोसोफिस्ट नेता स्वामी जी तथा आर्यसमाज पर बाद में भी आक्षेप करते रहे थे, पर इनका समाज की प्रगति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। थियोसोफिकल सोसायटी का प्रभावक्षेत्र अत्यन्त सीमित था। भारत या अन्यत्र कहीं भी वह भलीभाँति पनप नहीं सकी। उसके नेताओं और स्वामी दयानन्द सरस्वती में जो मतभेद हुए, और बाद में जो परस्पर विरोध के रूप में परिणात हो गये, उनके कारणों पर कुछ प्रकाश ऊपर डाला जा चुका है। पर इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह उपयोगी होगा, कि उनके सम्बन्ध में कुछ विशद् रूप से विवेचन कर दिया जाए।

कर्नल आल्काट और मदाम ब्लैवेत्स्की सदृश थियोसोफिस्ट नेताओं ने भारत आदि प्राच्य देशों के अध्यात्म ज्ञान की गहराई में जाने का कभी प्रयत्न नहीं किया। वे पूर्वी जगत् के जादू-टोने तथा चमत्कारों आदि से आकृष्ट हुए थे, और उन्हीं को योग की सिद्धियाँ समझ बैठे थे। किसी माध्यम (मीडियम) द्वारा आत्माओं को बुलाना, उनसे भूत और भविष्य की बातें पूछना और खोई हुई वस्तुओं का पता लगाना, किसी को सम्मोहित कर देना और विविध प्रकार के जादू के खेल दिखाना ही उनकी दृष्टि में 'योग' था, और इसी को वे 'अध्यात्म' समझते थे। मदाम ब्लैवेत्स्की स्वयं भी इस प्रकार के चमत्कार दिखाया करती थी। जब वह शिमले में थी, तो इण्डियन नेशनल कांग्रेस के संस्थापक श्री ए० ओ० ह्यूम के घर उसने एक खोये हुए आभूषण का पता बता दिया था। बाद में पता चला कि यह आभूषण मि० ह्यूम के घर से उड़वाया गया था, और ब्लैवेत्स्की ने स्वयं ही उसे छिपाकर रख दिया था। भारत में विविध प्रकार के जादू दिखाने वालों की कोई कमी नहीं है। बहुत-से खेल हाथ की सफाई के होते हैं, और अन्य साधारण विज्ञानसम्मत बातें, जिन्हें अशिक्षित लोग चमत्कार समझ बैठते हैं। थियोसोफिस्ट नेताओं का विचार था, कि ऐसे चमत्कार दिखाकर वे जनता को अपना अनुयायी बना सकते हैं। सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता जो ईश्वर है, विश्व का संचालन करने वाली जो अनिर्वचनीय अनादि शक्ति है, स्थूल शरीर के अतिरिक्त जो चित्स्वरूप आत्मा है, शरीर का अन्त हो जाने पर इस आत्मा का क्या होता है, दृश्यमान जगत् से भिन्न भी क्या कोई लोक है—इन सब बातों के गम्भीर ज्ञान का कोई प्रयत्न इन द्वारा नहीं किया गया। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की कीर्ति उन तक अवश्य पहुँची थी। उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि यह संन्यासी न केवल सुधारक है, अपितु

महान् योगी भी है। पर उनके योग का क्या स्वरूप है, इस विषय में उन्हें भ्रम था। वे समझते थे कि स्वामी जी भी प्राच्य जगत् के अन्य बहुत-से तथाकथित योगियों के समान ही चमत्कार दिखाने वाले 'सिद्ध' हैं। वे उनके प्रभाव का उपयोग कर अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। वेद-शास्त्रों से भी उनका साधारण परिचय था। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक मैक्समूलर सदृश अनेक पाश्चात्य विद्वान् संस्कृत भाषा सीखने और वेद तथा विविध आर्ष शास्त्रों के यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद करने में भी तत्पर हो गये थे। इन्हें पढ़कर पाश्चात्य लोगों में प्राचीन भारतीय ज्ञान तथा साहित्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा भी उत्पन्न होने लग गई थी। आल्काट और ब्लैवेत्स्की में भी यह जिज्ञासा विद्यमान थी। इसी कारण उन्होंने अमेरिका से जो पत्र स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा अन्य आर्य नेताओं के पास भेजे, उनमें संस्कृत पढ़ने तथा वैदिक साहित्य से परिचय प्राप्त करने की भी इच्छा प्रकट की गई थी। वे यह भी कहते थे कि वे स्वामी को अपना गुरु मानते हैं, और शिष्य भाव से उनके चरणों में उपस्थित होना चाहते हैं। पर उनमें वह गम्भीरता नहीं थी, जो सच्चे शिष्यों और विद्या के अनुरागियों में होती है। न वे योग की गम्भीरता को समझते थे और न वैदिक धर्म को। योग उनके लिए जादू के खेलों और चमत्कारों का नाम था, और अध्यात्मज्ञान उन प्रदर्शनों का जो आत्माओं का किसी माध्यम द्वारा आह्वान करने तथा उनसे प्रश्न पूछने के लिए आयोजित किये जाते हैं। जब उन्हें योग-सिद्धियों के उस स्वरूप के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हुई, जिसका प्रतिपादन स्वामी जी करते थे, और यह ज्ञात हुआ कि उनके लिए कितनी साधना की आवश्यकता है, तो 'योगी' बनने की उनकी आशा पर कितना तुषारपात हुआ होगा, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। वे एक सरल मार्ग पर चलना चाहते थे, पर वास्तविक योग का मार्ग तो सरल नहीं है। सम्भवतः, उन्हें तो वास्तविक योग साधना अभीष्ट भी नहीं थी। उनके लिए तो वही चमत्कार योग थे, जिन्हें स्वामी जी तमाशा कहते थे। जब उनके और स्वामी जी के विचारों में इतना भेद हो, तो उनका साथ रह सकना सम्भव ही कैसे हो सकता था? ईश्वर के स्वरूप और गुणों आदि के विषय में भी उनके विचारों में बहुत भिन्नता थी। थियोसोफिस्ट एक ऐसे परमेश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते थे, जो सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता हो। उनका ईश्वर एक लोकोत्तर सत्ता था, जैसे कि बौद्ध और जैन मतों में माना जाता है। दार्शनिक विचारों में वे वैदिक धर्म की अपेक्षा बौद्धों के अधिक समीप थे। वेदों को वे विभिन्न धर्मों के आदि स्रोत के रूप में तो मान सकते थे, पर अपौरुषेय, अनादि व ईश्वरकृत नहीं।

थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज के उद्देश्यों और नियमों में भी बहुत भेद था। किसी भी धर्म का अनुयायी थियोसोफिकल सोसायटी का सदस्य हो सकता था। हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध, नास्तिक, आस्तिक, सब उसमें सम्मिलित हो सकते थे। पर आर्यसमाज के सदस्यों के लिए यह आवश्यक था, कि वे ईश्वर की सत्ता और वेदों की अपौरुषेयता में विश्वास रखें। वैदिक धर्म के अनुयायियों के अतिरिक्त किसी अन्य धर्मावलम्बी के लिए आर्यसमाज में सम्मिलित हो सकना असम्भव था। इस दशा में थियोसोफिकल सोसायटी की स्थिति आर्यसमाज की शाखा की कैसे हो सकती थी? इसीलिए आल्काट और ब्लैवेत्स्की द्वारा यह यत्न किया गया कि थियोसोफिकल सोसायटी की एक वैदिकी शाखा हो, जिसमें वेदों में विश्वास रखने वाले व्यक्ति सदस्य हों, और

इस वैदिकी शाखा को आर्यसमाज की शाखा व अंग मान लिया जाए। पर वेदों में आस्था रखने वाले लोगों के लिए आर्यसमाज से भिन्न इस वैदिकी शाखा का सदस्य होने की आवश्यकता ही क्या थी ?

वास्तविकता यह है कि भारत में आकर थियोसोफिस्ट नेताओं ने यह अनुभव कर लिया था, कि वे इस देश के अज्ञान, अन्धश्रद्धा और गौरांग लोगों के प्रति उत्कृष्टता की भावना से लाभ उठाकर अपनी खिचड़ी अलग पका सकते हैं, और अपने महत्त्व की स्थापना के लिए आर्यसमाज के सहयोग की उन्हें विशेष आवश्यकता नहीं। साथ ही, वे यह भी जान गये थे कि जिस स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य बनने के लिए वे भारत आए हैं, वह यथार्थ में गुरु ही बनकर रहेगा। उसके सुनिश्चित सिद्धान्त हैं, सदाचरण आदि के विषय में सुनिर्धारित मान्यताएं हैं। इनके विषय में वह किसी भी प्रकार का कोई समझौता करने को उद्यत नहीं होगा, और उसके शिष्य होकर उनके लिए धार्मिक सिद्धान्तों और सदाचरण विषयक मान्यताओं में मनमानी कर सकना सर्वथा असम्भव है। इस दशा में वे कब तक स्वामी जी और आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध रख सकते थे ? पर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करके थियोसोफिकल सोसायटी की अपनी ही हानि हुई। आर्यसमाज की निरन्तर उन्नति होती गई और आज उसने एक विश्वव्यापी जन-आन्दोलन का रूप प्राप्त कर लिया है। इसके विपरीत थियोसोफिकल सोसायटी का अब नाम ही शेष है। विश्व के धार्मिक व दार्शनिक क्षेत्र में उसकी स्थिति नगण्य है।

तेरहवाँ अध्याय

महर्षि दयानन्द सरस्वती की धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी मान्यताएँ

(१) वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप का पुनरुत्थान

महर्षि दयानन्द सरस्वती का प्रधान कार्य वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप के पुनरुत्थान के सम्बन्ध में है। उनका मन्तव्य था कि सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुसार ईश्वर एक है जो विश्व की सर्वोच्च सत्ता है, उसका कोई आकार नहीं होता, अतः उसकी मूर्ति नहीं बनायी जा सकती। ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता। वह सर्वशक्तिमान् है, अतः किसी भी कार्य के सम्पादन के लिए उसे मानव या अन्य जीव का शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। राम और कृष्ण आदि महापुरुष थे, पर न वे ईश्वर थे और न ईश्वर के अवतार ही। आत्मा ईश्वर से भिन्न है। तीन अनादि सत्ताएँ हैं, ईश्वर या परमात्मा, जीव या आत्मा और प्रकृति। वे त्रैतवाद के समर्थक थे, और अद्वैतवाद को वेदानुकूल व युक्तिसंगत नहीं मानते थे। उनका मन्तव्य था, कि मृत्यु के साथ आत्मा का अन्त नहीं हो जाता। अन्त शरीर का होता है, आत्मा का नहीं। पुराने शरीर को त्याग कर आत्मा नया शरीर ग्रहण करती है, और इस प्रकार उसका पुनर्जन्म होता है। मृत व्यक्ति के लिए पिण्डदान करना, पितरों का श्राद्ध और तर्पण करना वेदों द्वारा विहित नहीं है। उन्नीसवीं सदी में हिन्दू (आर्य) धर्म का जो रूप था, महर्षि की दृष्टि में वह सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुरूप नहीं था। उसके बहुत-से मन्तव्य, पूजा-विधि तथा अनुष्ठान आदि न केवल वेद-विरुद्ध थे, अपितु मनुष्यों के वैयक्तिक तथा सामाजिक हित-कल्याण में बाधक भी थे। महर्षि ने आर्य धर्म की सब विकृतियों के विरुद्ध आवाज उठाई, और उसके सत्य स्वरूप को प्रतिपादित किया। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था, और महर्षि का सम्पूर्ण कर्तृत्व व कार्यकलाप इसी कार्य के साथ सम्बन्ध रखता है।

सत्य सनातन वैदिक धर्म अत्यन्त प्राचीन है। समय-समय पर उसमें अनेक-विध विकृतियाँ प्रादुर्भूत होती रही हैं, और अनेक सुधारक उन्हें दूर करने का भी प्रयत्न करते रहे हैं। महाभारत युद्ध के पश्चात् जब यज्ञों में पशुबलि दी जाने लगी, तो राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में अनेक ऋषियों ने उसके विरुद्ध आवाज उठाई और याज्ञिक कर्मकाण्ड की तुलना में भक्तिमार्ग के आश्रय को उत्कृष्ट प्रतिपादित किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चातुर्वर्ण्य का आधार जब गुण-कर्म के स्थान पर जन्म को माना जाने लगा

और उसके कारण समाज में ऊँच-नीच का भेद विकसित होना प्रारम्भ हुआ, तो योगिराज कृष्ण ने यह घोषणा की, कि गुण-कर्म के अनुसार ही चातुर्वर्ण्य का निर्धारण होता है। याज्ञिक अनुष्ठानों की भी उन्होंने युक्तिसंगत रूप से व्याख्या की, और यह कहा कि यज्ञ द्वारा पर्जन्य (बादल) प्रादुर्भूत होते हैं, बादलों से वृष्टि और वृष्टि के जल से अन्नों का प्रादुर्भाव होता है जिनसे सब मनुष्यों को भोजन प्राप्त होता है। कृष्ण ने वैदिक धर्म की विकृतियों को दूर कर सच्चे आर्य धर्म की पुनःस्थापना का प्रयत्न किया था, और उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हुई थी। पर छठी सदी ईस्वी पूर्व से पहले ही वैदिक धर्म में पुनः विकार उत्पन्न होने शुरू हो गये थे। यज्ञों में फिर से पशुओं की आहुतियाँ दी जाने लगी थीं, और ब्राह्मण कुलों में उत्पन्न व्यक्ति केवल जन्म के आधार पर ही अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगे थे। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने इन विकृतियों को दूर करने का प्रयत्न किया, पर ऐसा करते हुए उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता तथा सृष्टिकर्ता ईश्वर की सत्ता से ही इन्कार कर दिया। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में इन नास्तिक मतों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और वेदों को प्रमाण-रूप से स्वीकार कर पुरातन याज्ञिक कर्मकाण्ड का फिर से अनुष्ठान किया जाने लगा। पर इस समय जो वैदिक धर्म प्रचलित हुआ, वह विशुद्ध वैदिक धर्म से बहुत भिन्न था। मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, देवी-देवताओं पर विश्वास आदि कितने ही ऐसे तत्त्व इसमें समाविष्ट हो गये जो वास्तविक वैदिक धर्म में नहीं थे। बाद में भी अनेक धर्माचार्यों, विद्वानों तथा संन्यासियों ने वैदिक धर्म की शक्ति का संवर्धन करने, उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने और उसके प्रचार के लिए उद्योग किया। उन्हीं के प्रयत्न का यह परिणाम था कि भारत से ऐसे अनेक सम्प्रदायों का सर्वथा लोप हो गया, जो वेदों की प्रामाणिकता को नहीं मानते थे और जिनमें सृष्टि के कर्ता, पालक तथा संहर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की जाती थी। लंका, बरमा, चीन, तिब्बत, जापान आदि कितने ही देशों में बौद्ध धर्म अब तक भी विद्यमान है। पर भारत में जो वह नहीं टिक सका, वह इन विद्वानों तथा धर्माचार्यों के प्रयत्न का ही परिणाम था। शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि आचार्य इनमें प्रमुख थे। वैदिक धर्म के संवर्धन के सम्बन्ध में उनका कार्य वस्तुतः अत्यन्त महत्त्व का था, पर उन्होंने आर्य धर्म के जिस रूप का निरूपण किया, वह सत्य सनातन वैदिक धर्म से अनेक अंशों में प्रतिकूल था। इन आचार्यों के न दार्शनिक मन्तव्य वैदिक धर्म के अनुसार थे और न पूजाविधि। हिन्दुओं (आर्यों) के समाज-संगठन को वेदों की शिक्षाओं के अनुरूप बनाने का भी इन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि इस देश के धर्म की विकृतियों में वृद्धि ही होती गयी और उनका निराकरण नहीं किया जा सका। मध्य युग के सन्त-महात्मा भी इस कार्य में असफल रहे। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में नवीन पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित राजा राम मोहन राय सदृश सुधारकों ने हिन्दू धर्म की सामाजिक बुराइयों को दूर करने का अवश्य प्रयत्न किया, पर इस धर्म के वास्तविक व विशुद्ध रूप को प्रस्तुत करने पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। इसी कारण उन द्वारा संचालित आन्दोलन जनता के बहुत छोटे-से भाग को प्रभावित कर सके। वैदिक धर्म के वास्तविक व विशुद्ध रूप को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न भारत के सुदीर्घ इतिहास में योगिराज कृष्ण के पश्चात् केवल महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा ही किया गया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है, और यही महर्षि की सबसे बड़ी देन है।

(२) एकेश्वरवाद

महर्षि का यह मन्तव्य है कि विश्व की सर्वोच्च शक्ति केवल एक ईश्वर है, जिसका सर्वश्रेष्ठ नाम 'ओ३म्' है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, वायु आदि जो बहुत-से नाम वेदों में आते हैं, और जिन्हें विभिन्न देवताओं के नाम समझा जाता है, वे सब एक ईश्वर के ही विभिन्न नाम हैं। स्वयं ऋग्वेद (१/१६४/४६) में यह कहा गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण आदि एक ही सर्वोच्च सत्ता के सूचक हैं, जिसे 'सद्विप्र' (श्रेष्ठ विद्वान्) इन विविध नामों से कहते हैं। विश्व में बहुत-से देवी-देवताओं की सत्ता है, यह मन्तव्य वेदानुकूल नहीं है। सृष्टि का कर्ता, पालक और संहर्ता एक ईश्वर है, और विश्व की यह सर्वोपरि शक्ति प्रकृति के विविध रूपों तथा सृष्टि के अनेकविध तत्त्वों में अपने को अभिव्यक्त करती है। इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर विविध देवताओं की कल्पना की गयी है। पर ये देवता परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों व गुणों के परिचायक ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। वैदिक धर्म में इन देवताओं के रूप में विश्व की मूलभूत, सर्वोच्च, अधिष्ठातृ शक्ति की उपासना का ही विधान है। अग्नि, मित्र आदि जहाँ परमेश्वर के नाम हैं, वहाँ उनके अन्य अर्थ भी हैं, यथा अग्नि आग को भी कहते हैं, और मित्र सुहृद् को भी। वेद में कहाँ इनसे परमेश्वर अभिप्रेत है, इसका निर्णय प्रकरण के अनुसार किया जा सकता है। देवता उसे कहते हैं, जिसके गुण, कर्म और स्वभाव दिव्य हों। परमेश्वर सर्वोपरि देवता या देवताओं का भी देवता है, अतः उसे 'महादेव' भी कहा जाता है। अपने इस मन्तव्य को महर्षि ने यजुर्वेद-भाष्य (१४/२०) में इस प्रकार प्रकट किया है —"इस संसार में जो अच्छे गुणों वाले पदार्थ हैं वे दिव्य गुण, कर्म और स्वभाव वाले होने से देवता कहाते हैं और जो देवताओं का देवता होने से महादेव सबका धारक रचक रक्षक सबकी व्यवस्था और प्रलय करने हारा सर्वशक्तिमान् दयालु न्यायकारी उत्पत्तिधर्म से रहित है उस सबके अधिष्ठाता परमात्मा को सब मनुष्य जानें।" महर्षि के मन्तव्य के अनुसार वैदिक शब्द रूढ़ि न होकर यौगिक है। प्रत्येक शब्द किसी धातु से बना है, जिसके अनुसार उसका अर्थ किया जा सकता है। पृथिवी, अन्न, आकाश सदृश शब्दों को भी महर्षि ने ईश्वर-वाचक प्रतिपादित किया है, यद्यपि इनके अन्य अर्थ भी होते हैं। बहुत-से शब्दों के व्याकरण द्वारा धात्वर्थ देकर उन्होंने यह प्रतिपादित किया है, कि इनका अर्थ ईश्वर भी है। जल का भी अर्थ ईश्वर है, क्योंकि "जलति घातयति दुष्टान्, संघातयति अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्" जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योऽन्य संयोग का वियोग करता है वह परमात्मा 'जल' संज्ञक कहाता है। महर्षि ने इस शैली से एक सौ के लगभग शब्दों की उत्पत्ति देकर उन्हें ईश्वरपरक निरूपित किया है। पर इन शब्दों के लौकिक व सामान्य प्रचलित अर्थ भी हैं। परन्तु वैदिक संहिताओं में जो अग्नि, वरुण, मित्र सदृश बहुत-से शब्द आये हैं, वे सब प्रायशः ईश्वर के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं किन्हीं ऐसे देवताओं के लिए नहीं जो ईश्वर से अतिरिक्त अपनी कोई प्रथक् सत्ता रखते हों, महर्षि का यही मन्तव्य है। ये सब शब्द ईश्वर के विभिन्न गुणों व शक्तियों के सूचक हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस ढंग से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया है, उन्नीसवीं सदी के हिन्दुओं में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं के लिए वह एक नयी बात थी। उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड का विशेष प्रचलन नहीं था। मन्दिरों में विविध देवी-देवताओं तथा राम-कृष्ण आदि, जिन्हें ईश्वर का अवतार माना जाता था, की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा की जाती थी। दुर्गा, काली, सूर्य आदि देवी-देवताओं के भी मन्दिर थे, और राम-कृष्ण आदि अवतारों के भी। ऐसी दशा में महर्षि का यह सिद्धान्त कि ईश्वर एक है, और जिन्हें देवी-देवता माना जाता है वे ईश्वर से भिन्न कोई सत्ता नहीं रखते, हिन्दुओं के लिए एक नया मन्तव्य था। यद्यपि यज्ञों की परिपाटी सर्वसाधारण जनता में उस समय प्रचलित नहीं थी, पर विवाह सदृश संस्कारों के समय और विशिष्ट अवसरों पर ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा यज्ञों का भी अनुष्ठान कराया जाता था। इन यज्ञों में यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर घृत तथा अन्य सामग्री की आहुतियाँ दी जाती थीं और यह समझा जाता था कि अग्नि में दी हुई आहुति देवताओं के पास पहुँच जाती हैं, और अग्नि इस आहुति के लिए वाहन का काम करती है। यज्ञ में आहुतियाँ वायु, वरुण आदि के लिए प्रदान की जाती थीं, जिन्हें पृथक् देवता माना जाता था। पर महर्षि ने यह प्रतिपादित किया कि वायु, वरुण आदि ईश्वर के ही नाम हैं, और यज्ञों में दी गयी आहुतियाँ विश्व की सर्वोच्च शक्ति परमेश्वर के लिए ही होती हैं, उससे भिन्न किसी देवता के लिए नहीं। यज्ञीय भावना यही है कि मनुष्य अपने सब स्वत्व को भगवान् के अर्पण करे और यह समझे कि उसके पास जो कुछ भी है, वह उसका अपना न होकर ईश्वर का है। आहुति देते हुए यही कहा जाता है—'इदं वायवे इदन्न मम', 'इदं वरुणाय इदन्न मम', यह वायुरूप परमेश्वर का है मेरा नहीं है, यह वरुण रूप परमेश्वर का है मेरा नहीं है। याज्ञिक कर्मकाण्ड में देवताओं की जो पृथक् सत्ता मानी जाती थी, महर्षि को वह स्वीकार्य नहीं थी।

महर्षि के अनुसार ईश्वर निराकार है, उसकी कोई आकृति नहीं होती, अतः उसकी मूर्ति बनायी ही नहीं जा सकती। इस दशा में मन्दिरों में मूर्तियों को प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा करना सर्वथा अनुचित है। ईश्वर के स्वरूप का सुस्पष्ट प्रतिपादन आर्य-समाज के द्वितीय नियम में इस प्रकार किया गया है—"ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्ता है।" ईश्वर सृष्टि का उपादान कारण न होकर निमित्त कारण है। प्रकृति भी अनादि और अनन्त है, जिसे ईश्वर उसी प्रकार सृष्टि के रूप में विकसित अथवा निर्मित करता है, जैसे कि कुम्हार मिट्टी को घड़े के रूप में। अद्वैतवादी वेदान्तियों के अनुसार प्रकृति की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं होती। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, और माया द्वारा संसार की रचना उसी से होती है, यह मन्तव्य महर्षि को स्वीकार्य नहीं है। वे ईश्वर को सृष्टि का कर्ता (निमित्त कारण) मानते हैं। केवल ईश्वर ही 'सत्' नहीं है, प्रकृति और जीव भी 'सत्' हैं। इसी प्रकार केवल ईश्वर ही 'चित्' नहीं है, जीव या आत्मा भी 'चित्' है। पर 'ईश्वर' 'आनन्द' भी है। न प्रकृति 'आनन्द' है और न आत्मा। महर्षि के अनुसार प्रकृति सत् है, उसकी अनादि और अनन्त सत्ता है। जीव सत् और चित् है। वह अनादि और अनन्त भी है, और साथ ही चित् या चैतन्य भी। पर ईश्वर

सत् और चित् होने के साथ-साथ आनन्दमय या आनन्दस्वरूप भी है। वह सर्वाधार, सर्वेश्वर (सर्वोपरि) और सर्वव्यापक है, उससे बढ़ कर कोई नहीं है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ईश्वर के इसी रूप को मानते थे।

(३) मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विरोध

विश्व की सर्वोच्च शक्ति परमेश्वर की पूजा के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्तुति, प्रार्थना और उपासना का विधान किया है। मूर्तिपूजा के वे न केवल समर्थक नहीं थे, अपितु प्रबल विरोधी थे। क्योंकि ईश्वर निराकार है अतः उसकी मूर्ति हो ही नहीं सकती, इस प्रधान युक्ति के अतिरिक्त अन्य भी अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों को प्रस्तुत कर उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन किया है। जो लोग यह कहते हैं कि निराकार होने के कारण परमेश्वर का ध्यान करना कठिन होता है, अतः किसी मूर्ति को उसका संकेत व सूचक मानकर उसकी पूजा करना उचित व आवश्यक है, उनका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि निराकार का ध्यान कर सकने में कोई कठिनाई नहीं है। "शब्द का आकार नहीं तो भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं ? आकाश का आकार नहीं तो भी आकाश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं ? जीव का आकार नहीं तो भी जीव का ध्यान होता है वा नहीं ?" (उपदेश मञ्जरी, पृष्ठ ३७) सत्यार्थप्रकाश में यह प्रश्न उठाकर कि, "परमेश्वर निराकार है, वह ध्यान में नहीं आ सकता, इसलिए अवश्य मूर्ति होनी चाहिए। भला जो कुछ भी नहीं करे तो मूर्ति के सम्मुख जा, हाथ जोड़ परमेश्वर का स्मरण करते और नाम लेते हैं। इसमें क्या हानि है ?" इसका उत्तर महर्षि ने इस प्रकार दिया है—"जब परमेश्वर निराकार, सर्वव्यापक है तब उसकी मूर्ति ही नहीं बन सकती और जो मूर्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर का स्मरण होवे तो परमेश्वर के बनाये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि अनेक पदार्थ, जिनमें ईश्वर ने अद्भुत रचना की है क्या ऐसी रचनायुक्त पृथिवी, पहाड़ आदि परमेश्वर रचित महामूर्तियाँ कि जिन पहाड़ आदि से मनुष्यकृत मूर्तियाँ बनती हैं, उनको देखकर परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकता ?" (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २९६) महर्षि का कथन यह है कि यदि मूर्तिपूजा केवल इस कारण की जाए, कि स्थूल मूर्ति को देखकर सृष्टिकर्ता ईश्वर का स्मरण हो जाता है, तो ईश्वर द्वारा बनाए हुए जो गगनचुम्बी पहाड़, अगाध समुद्र, हरे-भरे जंगल, सुन्दर नील आकाश, कलकल करती नदियाँ, रंगबिरंगे फूल आदि हैं क्या उन्हें देखकर उन सबके रचयिता ईश्वर का स्मरण करने में कोई कठिनाई है। महर्षि का मन्तव्य है कि मूर्तिपूजा न केवल वेदशास्त्रों द्वारा विहित ही नहीं है, अपितु उनके विरुद्ध भी है। वेदशास्त्रों में स्पष्ट रूप से उसका विरोध किया गया है। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' यह यजुर्वेद (३२/३) का मन्त्र है, जिसमें ईश्वर की प्रतिमा (मूर्ति) न होने की बात को प्रतिपादित किया गया है। यजुर्वेद के ही एक अन्य मन्त्र (४०/९) का अर्थ करते हुए महर्षि ने लिखा है—कि जो पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं वे अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख चिरकाल घोर दुःखरूप नरक में गिर के महाक्लेश भोगते हैं। (सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ३००)।

यदि मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध है और प्राचीन आर्य मूर्तिपूजक नहीं थे, तो स्वाभाविक

रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वेदों को प्रमाणरूप से स्वीकार करने वाले आस्तिक हिन्दुओं (आर्यों) में मूर्तिपूजा का चलन कब और किस प्रकार हुआ? महर्षि का मत है कि मूर्तिपूजा का चलन जैनियों से हुआ था, बाद में वह बौद्धों में प्रचलित हुई और फिर वैदिक धर्म के अनुयायियों में। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात ठीक है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वैदिक युग के आर्य विश्व की सर्वोच्च शक्ति के रूप में एक ईश्वर में विश्वास रखते थे, और उसकी पूजा के लिए स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना का आश्रय लेते थे। उनमें जो धार्मिक कर्मकाण्ड प्रचलित था, वह यज्ञों के रूप में था जिसका स्वरूप उस काल में बहुत सरल था। बाद में जब सनातन वैदिक धर्म में विकृति आने लगी और यज्ञों में पशुओं की बलि तक दी जाने लगी, तो उसके विरुद्ध आन्दोलन होना सर्वथा स्वाभाविक था। ये आन्दोलन प्रधानतया जैन और बौद्ध धर्मों के रूप में प्रारम्भ हुए थे। इनके अतिरिक्त लोकायत (चार्वाक) और आजीवक आदि अन्य भी अनेक ऐसे सम्प्रदाय थे, जो न वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते थे, न ईश्वर को मानते थे और न आर्यों के पुरातन याज्ञिक कर्मकाण्ड आदि की उपयोगिता में विश्वास रखते थे। छठी सदी ईस्वी पूर्व व उसके लगभग के समय में प्रारम्भ हुए इन नास्तिक सम्प्रदायों में जैन और बौद्ध प्रमुख थे, और बहुत-से आर्य प्राचीन वैदिक धर्म को त्याग कर उनके अनुयायी हो गये थे। एक समय तो ऐसा भी था, जब कि ये ही भारत के सर्वप्रधान धर्म बन गये थे। ये दोनों धर्म सदाचरण और चरित्र की शुद्धता को बहुत महत्त्व देते थे। उनका मन्तव्य था कि जब तक मनुष्यों का चरित्र शुद्ध नहीं होगा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पर वे विजय नहीं करेंगे, तब तक उनका कल्याण सम्भव नहीं है। जैन धर्म के प्रवर्तक (चौबीसवें तीर्थङ्कर) वर्धमान महावीर के अनुसार मानव जीवन का परम लक्ष्य 'केवली' पद की प्राप्ति है। जब मनुष्य संसार के संसर्ग से सर्वथा मुक्त हो जाता है, सुख-दुःख की अनुभूति से ऊपर उठ जाता है, और अपने को अन्य सब वस्तुओं से पृथक् 'केवलरूप' समझने लगता है, तब यह 'केवली' की दशा आती है। महावीर स्वयं इस केवली दशा को प्राप्त थे। बुद्ध निर्वाणपद को प्राप्त करना जीवन का परम लक्ष्य मानते थे। निर्वाण किसी पृथक् लोक का नाम नहीं है, न ही निर्वाण कोई ऐसा पद है जिसे मनुष्य मृत्यु के बाद प्राप्त करता है। निर्वाण उस अवस्था का नाम है जिसमें ज्ञान द्वारा अविद्या रूपी अन्धकार दूर हो जाता है। यह अवस्था इसी लोक में, इसी जन्म में प्राप्त की जा सकती है। बुद्ध के अनुसार, "जो धर्मात्मा लोग किसी की हिंसा नहीं करते, शरीर की प्रवृत्तियों का संयम कर पापों से बचे रहते हैं, वे उस अच्युत निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं जहाँ शोक तथा सन्ताप का नाम भी नहीं।" सदाचारमय जीवन तथा संयम द्वारा 'केवली' एवं 'निर्वाण' पद की प्राप्ति का प्रतिपादन करते हुए महावीर और बुद्ध ने सूक्ष्म और जटिल दार्शनिक विचारों के निरूपण पर अधिक ध्यान नहीं दिया। बुद्ध ने ईश्वर, परलोक सदृश दार्शनिक विषयों पर अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं किए। वे समझते थे कि जीवन की पवित्रता और आत्मकल्याण के लिए इन पर विचार करना विशेष लाभकारी नहीं है। महावीर ने सृष्टि के कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया। उनका मत था कि साधना तथा ज्ञान से मनुष्य लोकोत्तर स्थिति प्राप्त कर सकता है। इस लोकोत्तर दशा का परम रूप 'तीर्थङ्कर' होना है। इस तीर्थङ्कर से अधिक ऊँची सत्ता विश्व में अन्य कई नहीं होती। महावीर और बुद्ध दोनों ने ही किसी अमानव सर्वोच्च सत्ता का प्रति-

पादन नहीं किया। इसीलिए उनके सम्प्रदायों में सृष्टिकर्ता और सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है।

मनुष्यों में किसी सर्वोच्च व सर्वशक्तिमान् सत्ता की पूजा करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वह एक निर्बल प्राणी है, जिसे रोग, मृत्यु, हानि आदि के रूप में अनेकविध दुःखों का सामना करना पड़ता है। व्याधि, बाढ़, भूकम्प आदि के सम्मुख वह अपने को असहाय अनुभव करता है, और ऐसे समयों में किसी उच्च शक्ति से सहायता तथा बल को प्राप्त करना चाहता है। जब जैनों और बौद्धों में ईश्वर के रूप में किसी उच्च सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया, तो उन्होंने अपने धर्माचार्यों और गुरुओं—अर्हतों, सिद्धों और आचार्यों को ही उच्च सत्ता मानकर उनकी पूजा प्रारम्भ कर दी। मूर्तिपूजा का प्रारम्भ इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ। ईश्वर तो निराकार और अगोचर है, जैन और बौद्ध उसकी सत्ता स्वीकृत भी नहीं करते थे। पर महावीर और बुद्ध के रूप में ऐसी लोकोत्तर सत्ताएँ उनके सम्मुख थीं, जिन्हें वे पूर्णगुणसम्पन्न, सम्पूर्ण ज्ञानी तथा अत्यन्त महान् मानते थे। ये महापुरुष साकार थे, उनकी मूर्ति या किसी चिह्न को सम्मुख रखकर उनका ध्यान कर सकना सम्भव था। याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा निराकर ईश्वर की स्तुति की तुलना में सर्वसाधारण लोगों को यह अधिक सुगम प्रतीत होता था, कि वे मन्दिरों में जाकर एक सर्वज्ञ एवं सर्वगुणसम्पन्न तीर्थङ्कर बुद्ध या बोधिसत्व की मूर्ति का दर्शन करें, उसके सम्मुख सिर झुकाएँ और उसके सदाचारमय जीवन तथा उत्कृष्ट गुणों का ध्यान कर स्वयं अपने जीवन में उन्हें क्रियान्वित करने का प्रयत्न करें। मूर्तिपूजा का प्रारम्भ इसी प्रकार हुआ, पहले जैनों ने अपने तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ बनाईं, और फिर बौद्धों ने। बौद्धों ने पहले भगवान् तथागत बुद्ध की अस्थियों (शरीर के अवशेषों) की पूजा शुरू की, फिर उनके पद (पैरों से अंकित प्रस्तर या स्थान) की, और फिर उनकी मूर्तियों की। महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह मन्तव्य ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य है, कि आर्यों में मूर्तिपूजा का प्रारम्भ जैनियों द्वारा ही किया गया था। सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में एक ऐसी मूर्ति भी मिली है, जिसे किसी उपास्य देव की समझा जाता है। यद्यपि यह सब ऐतिहासिकों को स्वीकार्य नहीं है, पर महत्त्व की उल्लेखनीय बात यह है कि जैन लोग इसे महावीर से पूर्ववर्ती किसी तीर्थङ्कर की मूर्ति प्रतिपादित करते हैं। इससे भी मूर्तिपूजा का प्रारम्भ जैनियों द्वारा हुआ ही सूचित होता है।

दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में सनातन वैदिक धर्म का जिस रूप में पुनरुत्थान हुआ, उसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की तुलना में मूर्तिपूजा का स्थान अधिक महत्त्व का था। जैन और बौद्ध सृष्टिकर्ता और पालक ईश्वर को नहीं मानते थे। पर महावीर और बुद्ध की वे पूर्ण-पुरुषों के रूप में पूजा किया करते थे। चार सदियों तक भारत में इन सम्प्रदायों का प्राधान्य रहा था। इस सुदीर्घ काल में भारत की जनता में यह विचार बद्धमूल हो गया था कि मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए एक पूर्ण-पुरुष को आदर्श के रूप में सम्मुख रखना चाहिए। निर्गुण, निराकार ईश्वर की पूजा वैसी क्रियात्मक नहीं है, जैसी कि तीर्थङ्करों, बुद्ध व बोधिसत्वों की पूजा। इसी विचारसरणी का यह परिणाम हुआ, कि दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के वैदिक धर्म में वासुदेव कृष्ण की पूजा का सूत्रपात हुआ। निस्सन्देह, कृष्ण एक लोकोत्तर पुरुष थे। उनका जीवन आदर्श था, उनकी शिक्षाएँ अत्यन्त उत्कृष्ट थीं। यदि जैनों और बौद्धों के पास महावीर और बुद्ध के

रूप में लोकोत्तर आदर्श पुरुष थे, तो वेदों की प्रामाणिकता और ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाले वैदिक धर्मावलम्बी आर्यों के पास वासुदेव कृष्ण के रूप में एक ऐसा पुरुष था, जो आदर्श बालक, आदर्श युवा, आदर्श राजनीतिज्ञ, आदर्श तत्त्वज्ञानी और पूर्ण योगी था। अब वैदिक धर्म के अनुयायियों के सम्मुख भी एक ऐसा पूर्ण, आप्त एवं लोकोत्तर पुरुष विद्यमान था, जो ब्रज में शरीर धारण कर ग्वाल-बालों के साथ खेलता है, अन्धक-वृष्णि संघ का संघमुख्य बनकर कंस और जरासन्ध जैसे अत्याचारी शासकों का वध करता है, कुरुक्षेत्र के मैदान में गीता का उपदेश देता है और अन्त में योग द्वारा शरीर का त्याग करता है। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के वैदिकधर्मियों ने कृष्ण को प्रायः उसी रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें कि जैन और बौद्ध महावीर तथा बुद्ध को करते थे। अन्तर यह था, कि वे कृष्ण को विष्णु का अवतार भी मानते थे। उनका कहना था कि यदि सिद्धार्थ गौतम ने अनेक पूर्वजन्मों में साधना द्वारा बोधिसत्व पद एवं बुद्धत्व को प्राप्त किया था, तो कृष्ण तो साक्षात् भगवान् विष्णु के अवतार थे। इस नये परिवर्तित वैदिक धर्म में कृष्ण के रूप में ईश्वर की पूजा के लिए मूर्तियाँ बनाना और उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करना प्रारम्भ हुआ। मन्दिरों में पूजा की जो नयी पद्धति शुरू हुई, उसमें भक्ति का मुख्य स्थान था। भक्त लोग मन्दिरों में एकत्र होते थे। गीत गाकर, नैवेद्य चढ़ाकर और पूजा करके वे अपने उपास्य देव को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते थे, क्योंकि वे यह मानते थे कि भक्ति द्वारा मनुष्य अभिलषित फल प्राप्त कर सकता है। वासुदेव कृष्ण की पूजा के साथ-साथ संकर्षण, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध आदि की पूजा भी इस काल में प्रारम्भ हुई और उन्हें कृष्ण का 'व्यूह' माना जाने लगा। कृष्ण की पूजा करने वाले वैदिक सम्प्रदाय का नाम वैष्णव या भागवत था। पर इसी काल में अन्य भी अनेक ऐसे सम्प्रदायों का विकास हुआ, जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए कृष्ण व विष्णु के भिन्न अन्य रूपों में परमेश्वर की पूजा करते थे। ऐसा एक सम्प्रदाय पाशुपत शैवों का था, जिसके प्रवर्तक लकुलीश थे। पुराणों में उन्हें शिव का अवतार माना गया है। दुर्गा, लक्ष्मी, सूर्य आदि अन्य भी अनेक देवी-देवताओं की पूजा इस युग में प्रारम्भ हुई, जिसके कारण सत्य सनातन वैदिक धर्म का स्वरूप पूर्णतया परिवर्तित हो गया। वैदिक धर्म में यह महान् परिवर्तन किस प्रकार आया, इसका वृत्तान्त इस इतिहास में लिख सकना न सम्भव है और न उसकी आवश्यकता ही है। पर यह स्पष्ट है कि मूर्ति-पूजा वेदानुकूल नहीं है। उसका प्रारम्भ विशेष परिस्थितियों में हुआ था, और बौद्ध तथा जैन जैसे नास्तिक मतों से जनता को विमुख करने में उससे सहायता भी मिली थी। पर बाद में धीरे-धीरे मूर्तिपूजा ने एक ऐसा रूप प्राप्त कर लिया, जिसे मानव जीवन के हित-कल्याण में सहायक नहीं कहा जा सकता। मन्दिरों में मूर्तियों को प्रतिष्ठापित कर उनकी जिस ढंग से पूजा की जाती थी, उसके कारण भक्त लोग प्रचुर मात्रा में नैवेद्य व अन्य भेंट सामग्री मूर्तियों को अर्पित करते थे। यह सम्पत्ति मन्दिरों में संचित होती जाती थी, और पुजारी लोग उसका स्वेच्छापूर्वक भोग कर सकते थे। भक्तजन तो यह मानकर मन्दिरों में भेंट-पूजा अर्पित करते थे कि उन द्वारा दी गयी सामग्री या सम्पत्ति देवता के लिए है। पर प्रस्तर की मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठापित देवता तो न पूजा के फल व प्रसाद को खा सकता था, न वस्त्र तथा आभूषण धारण कर सकता था, और न किसी अन्य प्रकार से उनका उपभोग कर सकता था। मन्दिरों में अर्पित भेंट-पूजा द्वारा वहाँ अपार

धन संचित होता जाता था, और पुरोहित तथा पुजारी उसे सुखभोग में खर्च कर देते थे। इससे उनका जीवन न केवल विलासमय होने लग गया, अपितु अनेकविध अनाचार भी प्रारम्भ हो गये। एक समय ऐसा भी आया, जब कि शैव और शाक्त सम्प्रदायों के कतिपय मन्दिरों में ऐसी बातें भी होने लगीं जिन्हें सदाचरण के अनुकूल नहीं माना जा सकता। कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी विकसित हो गये, जो मांस-मदिरा के सेवन तथा मैथुन को साधना के लिए आवश्यक समझते थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने समय में प्रचलित वैदिक धर्म के अनेक रूपों को स्वयं अपनी आँखों से देखा था और मूर्तिपूजा के विरोध में उन्होंने एक युक्ति यह भी दी थी, कि "दुष्ट पुजारियों को धन देते हैं वे उस धन को वेश्या, परस्त्रीगमन, मद्य, मांसाहार, लड़ाई बखेड़ों में व्यय करते हैं जिससे दाता के सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है।" और "पुजारी परस्त्रियों के संग और पुजारिन परपुरुषों के संग से प्रायः दूषित होकर स्त्री-पुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं।" (सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ३०४) महर्षि ने मूर्तिपूजा का विरोध अनेक कारणों से किया है, वेदविरुद्ध होने के कारण और उससे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों को दृष्टि में रख कर। महर्षि के मन्तव्य में पाँच 'मूर्तिमान् देव' हैं—माता, पिता, आचार्य, अतिथि (विद्वान्, धार्मिक व्यक्ति जो सबकी उन्नति की इच्छा से जगत् में भ्रमण कर रहा हो) और स्त्री के लिए पति और पुरुष के लिए स्त्री। "इनकी सेवा न कर जो पाषाणादि मूर्ति पूजते हैं, वे अतीव नरकगामी हैं।" "पाषाणादि मूर्तिपूजा को सर्वथा छोड़ने और मातादि मूर्तिमानों की सेवा करने में ही कल्याण है। बड़े अनर्थ की बात है कि साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक देवों को छोड़कर के अदेव पाषाणादि में सिर मारना मूढ़ों ने इसीलिए स्वीकार किया है कि जो माता-पितादि के सामने नैवेद्य वा भेंट पूजा धरेंगे तो स्वयं खा लेंगे और भेंट पूजा लेंगे तो हमारे मुख वा हाथ में कुछ न पड़ेगा। इससे पाषाणादि की मूर्ति बना, उसके आगे नैवेद्य धर ··· लीला इन पुजारियों अर्थात् पूजा नाम सत्कर्म के शत्रुओं की है। मूढ़ों को चटक, मटक, चलक, झलक, मूर्तियों को बना ठना, आप वेश्या व भड़वा के तुल्य बन ठन के बिचारे निर्बुद्धि अनाथों का माल मार के मौज करते हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ३०६)।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मूर्तिपूजा के समान अवतारवाद का भी विरोध किया है। सनातन वैदिक धर्म में जब मूर्तिपूजा का सूत्रपात हुआ, तो राम और कृष्ण आदि जिन महापुरुषों की मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं, उन्हें परमेश्वर का अवतार भी प्रतिपादित किया गया। यह माना जाने लगा कि ये महापुरुष न केवल सर्वगुणसम्पन्न तथा पूर्ण ही थे, अपितु स्वयं भगवान् इनके रूप में शरीर धारण कर अवतरित हुए थे। पर यह बात महर्षि को स्वीकार्य नहीं है। वे वासुदेव कृष्ण को योगिराज तथा आप्त पुरुष अवश्य मानते हैं, पर उन्हें ईश्वर का अवतार स्वीकार नहीं करते। कृष्ण अवतार थे, इस मान्यता के पक्ष में प्रायः गीता का यह श्लोक प्रस्तुत किया जाता है—'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।' महर्षि ने इस श्लोक के अभिप्राय को इस प्रकार सूचित किया है कि, "श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म ले के श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ।" अवतारवाद वेदविरुद्ध है, इस मन्तव्य की पुष्टि में महर्षि ने वेदों से अनेक प्रमाण भी दिए हैं। अवतारवाद के पक्ष में दी जाने वाली एक युक्ति को प्रश्न के रूप में उठाकर

(जो ईश्वर अवतार न लेवे तो कंस रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके ?) महर्षि ने उसका उत्तर इस प्रकार किया है—"जो ईश्वर अवतार शरीरधारण किए विना जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है, जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव युक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिए जन्म-मरणयुक्त रहने वाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है ?" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १७६) तर्क द्वारा महर्षि ने यही प्रतिपादित किया है, कि ईश्वर को अवतार ग्रहण करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। साथ ही, 'महर्षि ने यह युक्ति भी दी है, कि यदि ईश्वर अवतार ग्रहण करेगा, तो उसे माता के गर्भ में रह कर समय पर जन्म लेना होगा। ऐसा होने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सर्वव्यापक व अनन्त ईश्वर एक स्त्री के गर्भ में कैसे आ सकता है।' "जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में आया वा मुठी में धर लिया, ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश अनन्त और सब में व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता, वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उनका आना जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया ? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला ? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा।" (स० प्र०, पृष्ठ १७७) अवतारवाद के खण्डन में महर्षि की एक युक्ति यह भी है कि राग, द्वेष, क्षुधा, तृष्णा, भय, शोक, दुःख, सुख, जन्म, मरण आदि मनुष्य के गुण हैं, ईश्वर के नहीं। इस कारण ईसा आदि को भी न ईश्वर माना जा सकता है और न उसके अवतार। इसी प्रकार महर्षि को यह भी स्वीकार्य नहीं था, कि मनुष्यों को धर्म का उपदेश देने के प्रयोजन से परमेश्वर अपना कोई प्रतिनिधि भेजता है, जैसे कि इस्लाम में मुहम्मद को पैगम्बर रूप में माना जाता है। क्रिश्चियन लोग ईसा को ईश्वर का पुत्र बताते हैं। महर्षि के मन्तव्य में सभी मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं।

(४) त्रैतवाद

महर्षि दयानन्द सरस्वती के दार्शनिक मन्तव्यों में त्रैतवाद का प्रमुख स्थान है। जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, उनके अनुसार तीन सत्ताएँ या तत्त्व अनादि हैं, ईश्वर, जीव और प्रकृति। ये तीनों एक-दूसरे से पृथक् अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। यही मन्तव्य वेदानुकूल है, और उपनिषदों तथा दर्शनग्रन्थों में इसी को प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार ईश्वर सृष्टिकर्ता है, वह सृष्टि का निमित्त कारण है, और उसी प्रकार प्रकृति से सृष्टि का निर्माण करता है जैसे कि कुम्हार मिट्टी से घड़े का। जीव या जीवात्मा भी ईश्वर के समान ही अनादि है। वह शरीर से भिन्न होता है। शरीर जड़ है, वह क्रिया नहीं करता। आत्मा शरीर का स्वामी होता है, जो शरीर में रहता हुआ मन, बुद्धि आदि द्वारा उसे क्रियाशील रखता है। जीवात्मा एक न होकर अनेक हैं, और शरीर की मृत्यु हो जाने के साथ उसकी मृत्यु नहीं हो जाती। वह पुनः जन्म लेता है, और मोक्ष हो जाने तक जन्म-मरण का यह क्रम चलता रहता है। मोक्ष की अवधि भी अनन्त नहीं है। जीवात्मा का वहाँ से भी पुनः आगमन होता है। प्रकृति

भी अनादि है, और वह सृष्टि या जगत् की उपादान कारण है। प्रलयकाल में भी प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म दशा में विद्यमान रहती है। न उसका नाश होता है और न ईश्वर या ब्रह्म में विलय। प्रलय के अन्त में ईश्वर द्वारा प्रकृति से जगत् का निर्माण किया जाता है। ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति—इन तीन अनादि तत्त्वों को महर्षि ने ऋग्वेद के इस मन्त्र को उद्धृत कर सुचारुरूप से पृथक्-पृथक् प्रतिपादित किया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। (ऋग्वेद १/१६४/२)

ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं, और वैसा ही अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर छिन्न-भिन्न हो जाता है वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्य रूप फलों को अच्छी प्रकार भोगता हुआ और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।''' प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है। (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृष्ठ १६५-९६)।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदमन्त्रों तथा उपनिषदों के आधार पर त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है। इस मन्तव्य के अनुसार जीवात्मा ईश्वर से पृथक् व भिन्न है। अतः उसे अपने हित व कल्याण के लिए स्वयं प्रयत्न करना होता है। यह जीवात्मा कार्य करने में स्वतन्त्र है। अतः जैसे कर्म करता है, उनके अनुसार फलों का भोग करता है। जन्म मरण के बन्धन में भी वह अपने कर्मों के कारण ही फँसता है। सत्य सनातन वैदिक धर्म के इसी मन्तव्य को महर्षि ने आधुनिक युग में एक बार फिर युक्तियों व तर्क द्वारा समर्थित किया है।

छठी सदी ईस्वी पूर्व में जब जैन, बौद्ध, आजीवक आदि ऐसे सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते थे और साथ ही सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में किसी सर्वोच्च शक्ति व परमेश्वर की भी सत्ता से इन्कार करते थे, तब इन सम्प्रदायों द्वारा ऐसे दार्शनिक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया, जो त्रैतवाद के अनुरूप नहीं थे। जैनों के अनुसार किसी ऐसी सर्वोपरि शक्ति की सत्ता नहीं है जो सृष्टि की कर्ता हो। ईश्वर की सत्ता जैन लोग स्वीकार नहीं करते। जब कोई ईश्वर हो ही नहीं, तो उसकी स्तुति, प्रार्थना व उपासना का कोई अर्थ नहीं रहता। जीव संख्या में अनगिनत हैं। प्रत्येक जीव में दो अंश होते हैं, आत्मा और भौतिक तत्त्व। आत्मा अनन्त, असीम और सत् हैं। इसके विपरीत भौतिक तत्त्व असत् है। सत्रूप आत्मा असत् भौतिक तत्त्वों से आच्छन्न रहने के कारण बन्धन में रहता है और उसका वास्तविक सत् रूप प्रकट नहीं हो पाता। जब आत्मा भौतिक तत्त्व के बन्धन से मुक्त हो जाता है,

तभी निर्वाण की प्राप्ति होती है जो प्रत्येक जीव का परम लक्ष्य है। यह पद प्राप्त कर सकना मनुष्य के अपने प्रयत्न पर निर्भर है। पाप और पुण्य मनुष्य के कर्मों से होते हैं, और उन्हीं के अनुसार उसे फल मिलता है। सब प्राणी अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियाँ प्राप्त करते हैं, और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्कर में फँसे रहते हैं। कर्म फल को भोगे बिना मुक्ति या निर्वाण सम्भव नहीं है। पुनर्जन्म इसीलिए होता है, कि प्राणी अपने कर्मों का फल भोग सके। अतः प्रत्येक मनुष्य को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह कर्मों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करे। कर्म-फल की समाप्ति होने पर ही निर्वाण या मोक्ष सम्भव है। इसीलिए मनुष्य को प्रवृत्ति मार्ग को त्याग कर निवृत्ति मार्ग को अपनाना चाहिए। प्रवृत्ति मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य सदा सुख और समृद्धि के लिए प्रयत्न करता है, और अनेकविध कर्मों का निष्पादन करता है। पर जब वह निवृत्ति मार्ग को अपना लेता है, तो वह सुखोपभोग की इच्छा छोड़कर अपने को सब कर्मों से निवृत्त कर लेता है, और कर्मों के अभाव में उनके फल को प्राप्त करने के लिए उसे जन्म ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। जहाँ तक कर्म फल और निवृत्ति मार्ग का सम्बन्ध है, जैन दर्शन को वैदिक सिद्धान्तों के प्रतिरूप नहीं कहा जा सकता। पर उसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति की पृथक् सत्ता स्वीकृत नहीं की जाती, जिस कारण वह वेदों तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित त्रैतवाद के विरुद्ध हो जाता है। वैदिक धर्म के विरोध में जो नये धार्मिक आन्दोलन छठी सदी ईस्वी पूर्व में प्रारम्भ हुए थे, उनके लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे ऐसे दार्शनिक चिन्तन को प्रस्तुत करें, जो वैदिक मन्तव्यों के अनुरूप न हो।

जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म में भी अनेक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, जो त्रैतवाद के विपरीत हैं। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म व जटिल दार्शनिक विचारों को उपयुक्त स्थान नहीं दिया था। जीव का क्या स्वरूप है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, अनादि तत्त्व कितने और कौन-से हैं, सृष्टि का कर्ता कोई ईश्वर है या नहीं—इस प्रकार के दार्शनिक प्रश्नों से वे सदा बचते रहे। उनका विचार था कि जीवन की पवित्रता और आत्मकल्याण के लिए इन प्रश्नों पर विचार करना विशेष उपयोगी नहीं है। पर मनुष्यों में इन विषयों के सम्बन्ध में जिज्ञासा का होना सर्वथा स्वाभाविक है। यही कारण है कि आगे चल कर बौद्ध धर्म में अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ, और बौद्ध विद्वानों ने आत्मा, सृष्टि आदि के गम्भीर रहस्यों पर विचार कर बहुत-से ऐसे मन्तव्य प्रतिपादित किए, जो एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इन सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों पर इस इतिहास में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाल सकना भी सम्भव नहीं है। पर इनमें दो सम्प्रदाय ऐसे हैं, जिनके मन्तव्यों ने बाद के समय के उन दार्शनिकों के चिन्तन को बहुत प्रभावित किया, जो वेदों को ईश्वर-कृत व प्रमाणरूप स्वीकृत करते थे और ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते थे। ये आस्तिक दर्शनाचार्य वैदिक दर्शनशास्त्र को ऐसी दिशा में ले गये, जो वेदों में प्रतिपादित त्रैतवाद से भिन्न थी। इन पर जिन बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रभाव था, वे शून्यवाद और विज्ञानवाद थे। शून्यवाद के अनुसार वस्तुएँ न तो पूर्ण रूप से असत् हैं, और न ही पारमार्थिक दृष्टि से सत् हैं। न कोई वस्तु ऐकान्तिक सत् है और न ऐकान्तिक असत्, अपितु उसका स्वरूप दोनों के मध्य बिन्दु पर ही निर्णीत किया जा सकता है, जो शून्य-

रूप ही होगा। शून्यवाद दो प्रकार के सत्यों का निर्देश करता है, परमार्थ सत्य और संवृति सत्य। जगत् की सत्ता अवश्य है, पर सांवृतिक या व्यावहारिक रूप से। अविद्या, मोह आदि संवृतियों से पारमार्थिक सत्य आवृत रहता है और वही जगत् दृश्यमान होता है व्यावहारिक रूप से जिसकी सत्ता है। वस्तुओं का परमार्थ रूप जो अविद्या, मोह आदि से संवृत न हो—ही परम सत्य है, जिसके ज्ञान से संवृतिजन्य कष्टों का अन्त हो जाता है। पर व्यावहारिक सत्य को जान कर ही उस परमार्थ सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, जिसे जान कर निर्वाण पद की प्राप्ति सम्भव है। शून्यवाद में इस परमार्थ तत्त्व को ही 'शून्य' कहा गया है, क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। बौद्ध धर्म के अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय विज्ञानवाद के अनुसार सत्ता दो प्रकार की होती है, व्यावहारिक और पारमार्थिक। व्यावहारिक सत्ता के दो भेद हैं, एक परिकल्पित सत्ता जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम, और दूसरी परतन्त्र सत्ता जैसे रज्जु का सत्ता। पारमार्थिक सत्ता का परम तत्त्व वह चित्त है, जो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीन रूपों में रहता है। अविद्या के कारण ये पृथक् रूप में आभासित होते हैं, यद्यपि परमार्थ में ये चित्त से अभिन्न हैं और वस्तुतः एक ही हैं। ज्ञाता और ज्ञेय में कोई भेद नहीं है। चित्त को 'आलय विज्ञान' भी कहा जाता है। प्राणियों के सभी विज्ञान—कायिक, वाचिक और मानसिक—के वासना रूप बीजों का यह चित्त आलय या घर है, जिसके कारण यह 'आलय विज्ञान' कहलाता है। ये बीज पल्लवित होकर सांसारिक व्यवहार के रूप में प्रकट होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप 'प्रवृत्ति विज्ञान' का निर्माण होता है। विज्ञानवाद चित्त या विज्ञान को ही एकमात्र वास्तविक सत्ता मानता है। इस प्रकार बौद्धों के दोनों प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदायों—शून्यवाद और विज्ञानवाद के अनुसार न ईश्वर की सत्ता है और न प्रकृति की। पारमार्थिक रूप से दृश्यमान जगत् की सत्ता है ही नहीं। परमार्थ सत्ता केवल विज्ञान है। व्यावहारिक रूप से जो वस्तुएँ हमें दिखाई देती हैं, उनकी सत्ता वास्तविक न होकर परिकल्पित है। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि वास्तविक रूप से ज्ञेय ज्ञाता से अभिन्न है। बौद्ध दार्शनिकों के इस चिन्तन में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के रूप में तीन मूल व अनादि तत्त्वों की सत्ता सम्भव ही नहीं रहती। बौद्धों के अन्य भी अनेक सम्प्रदाय हैं, पर किसी में भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया, यद्यपि कतिपय सम्प्रदाय बुद्ध को 'अमानव', 'लोकोत्तर' एवं सर्वोपरि मान कर देवता के रूप में उसकी पूजा का प्रतिपादन करते हैं। पर यह सर्वथा स्पष्ट है कि जैनों के समान बौद्धों ने भी जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, वे वैदिक त्रैतवाद के अनुरूप नहीं हैं।

बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो कर जब सत्य सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो अनेक ऐसे आस्तिक दार्शनिक विद्वान् हुए, जिन्होंने कि बौद्धों द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद व विज्ञानवाद आदि का खण्डन कर उन दार्शनिक सिद्धान्तों के समर्थन व व्याख्या में उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे, जो वैदिक धर्म की मान्यताओं के अनुरूप थे। मीमांसा, सांख्य, वेदान्त आदि आस्तिक दर्शनों पर जो ग्रन्थ वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के युग में लिखे गये, उनमें बौद्ध दर्शन का खण्डन कर वैदिक दर्शन का मण्डन किया गया। ऐसे आस्तिक दर्शनाचार्यों में सर्वप्रधान शंकर थे, जिन्होंने वेदान्त दर्शन के ब्रह्मसूत्रों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या कर उस दार्शनिक विचारधारा का प्रतिपादन किया, जिसे 'अद्वैतवाद'

कहते हैं। शंकराचार्य के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, और जीव की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। दृश्यमान जगत् माया का परिणाम है या माया ही है, जिसकी यथार्थ में कोई सत्ता नहीं है। शंकराचार्य के ये मन्तव्य प्रायः वैसे ही हैं जैसे कि बौद्ध विज्ञानवाद या शून्यवाद के हैं। जिस प्रकार से परमार्थ सत्य और व्यावहारिक सत्य में विज्ञानवादी भेद करते हैं, वैसे ही शंकराचार्य ने भी किया है। विज्ञानवादियों के समान शंकराचार्य भी परमार्थ रूप से केवल ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन में जो स्थान विज्ञान या शून्य का है, शंकर के अद्वैत-वाद में वही 'ब्रह्म' का है। भेद केवल यह है कि ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द रूप है, जो माया से अवच्छिन्न होकर 'ईश्वर' का रूप प्राप्त कर लेता है। पर बौद्ध दर्शन और शंकर के अद्वैतवाद में तात्त्विक भेद का अभाव है। यही कारण है जो अनेक विद्वानों ने शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। शंकर आस्तिक थे, वेदों को प्रमाण मानते थे, पर उन्होंने जिस दार्शनिक विचारसरणी का प्रतिपादन किया, वह वैदिक सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं है। ब्रह्म से पृथक् जीवात्मा की सत्ता न मानने से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। जब जीव और ब्रह्म एक ही हों, तो मनुष्य ईश्वर की भक्ति क्यों करे? इसीलिए शंकराचार्य ने ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन किया था। उनका कथन था, कि जैसे सैकड़ों-हजारों वर्षों का अन्धकार प्रकाश की एक किरण से नष्ट हो जाता है, वैसे ही यह जान लेने पर कि 'मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ' मन का अज्ञानरूपी अन्धकार क्षण भर में नष्ट हो जाता है। इस विचारसरणी में न भक्ति के लिए स्थान रहता है, और न पूजा-पाठ आदि के लिए। इसी तथ्य को अनुभव कर अनेक आस्तिक दार्शनिकों ने वेदान्त दर्शन के ब्रह्मसूत्रों की इस ढंग से व्याख्या की, जिसमें ब्रह्म और जीव की पृथक् सत्ता सिद्ध की गयी। इन दार्शनिक आचार्यों में रामानुज और मध्व का प्रमुख स्थान है। रामानुजाचार्य ने प्रतिपादित किया कि जीव और जगत् ईश्वर के ही दो प्रकार हैं। ब्रह्म से भिन्न न होते हुए भी उनका अपना विशिष्ट रूप व प्रकार है, जिसके कारण जीवात्मा ब्रह्म या ईश्वर की भक्ति कर सकता है। रामानुजाचार्य का यह मन्तव्य 'विशिष्टाद्वैतवाद' कहाता है। मध्वाचार्य के मत में ईश्वर और जीव दो पृथक् सत्ताएँ हैं। उनके दर्शन को 'द्वैतवाद' कहा जाता है। निम्बाकाचार्य पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर और जीव को अभिन्न मानते हैं, पर व्यावहारिक रूप से उनकी भिन्न व पृथक् सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसीलिए उनके दर्शन को 'द्वैताद्वैत' कहा जाता है। मध्य युग में भारत में अन्य भी बहुत-से विचारक, सन्त-महात्मा और विद्वान् हुए, जिन्होंने कि ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हुए उनके सगुण या निर्गुण रूपों का प्रतिपादन किया। भारत के इतिहास में इन द्वारा प्रचारित धार्मिक विचारधाराओं का बहुत महत्त्व है, और जनता को उन्होंने अनेक प्रकार से प्रभावित भी किया है। हिन्दू (आर्य) धर्म का जो रूप इस समय भारत में विद्यमान है, वह इन्हीं सन्त-महात्माओं व विचारकों के कर्तृत्व का परिणाम है। प्रायः ये सब शंकर, रामानुज आदि महान् दार्शनिकों के मन्तव्यों से प्रभावित थे और इन्होंने किसी नये दार्शनिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि अपने मान्य दार्शनिक मन्तव्य के अनुसार भक्ति, पूजा या साधना के विभिन्न रूप इन द्वारा अवश्य प्रतिपादित किए गये। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात महत्त्व की है कि वेदों, उपनिषदों,

और प्राचीन आस्तिक दर्शनों में जिस त्रैतवाद का निरूपण किया गया है, उसके पुनः स्थापन का कोई प्रयत्न उन दार्शनिकों द्वारा नहीं किया गया, जो वेदों के प्रामाण्य में आस्था रखते थे। केवल मध्वाचार्य का 'द्वैतवाद' ही वैदिक त्रैतवाद के समीप है, क्योंकि उसमें ब्रह्म और जीव को दो पृथक् सत्ताओं के रूप में प्रतिपादित किया जाता है। भारतीय इतिहास के पूर्व-मध्य युग में अनेक दार्शनिक ग्रन्थ लिखे गये। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील और ज्ञानश्री सदृश बौद्ध विद्वानों, सिंहसेन, दिवाकर, समन्त-भद्र, परिभद्र और विद्यानन्द आदि जैन पण्डितों, तथा कुमारिल भट्ट, मंडनमिश्र, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, रामानुज, शंकराचार्य और मध्व आदि आस्तिक दर्शना-चार्यों ने दर्शनशास्त्र के विविध सम्प्रदायों को विकसित करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बौद्ध दर्शन का तर्कसंगत ढंग से खण्डन कर अनेक विद्वानों ने मीमांसा, न्याय, वेदान्त आदि आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों का समर्थन किया। इस युग के बहुत-से दार्शनिक विद्वान् ऐसे भी थे, जो शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद के समर्थक नहीं थे। पर यह स्वीकार करना होगा, कि भारत के दार्शनिक चिन्तन में अद्वैतवाद का प्रमुख स्थान था, और उस द्वारा जनसाधारण के मानस पर भी गहरा प्रभाव पड़ रहा था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उन सब दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रबल रूप से खण्डन किया, जो वेदों द्वारा प्रतिपादित त्रैतवाद के अनुरूप नहीं हैं। बौद्ध और जैन सदृश नास्तिक दर्शनों का भी उन्होंने खण्डन किया, और शंकर, रामानुज आदि आस्तिक दार्शनिकों के मन्तव्यों का भी। महर्षि का प्रयत्न था कि सनातन वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप की पुनःस्थापना की जाए। अतः उनके लिए यह भी आवश्यक था कि छह आस्तिक दर्शनों की जो व्याख्याएँ वेदविरुद्ध दार्शनिक मन्तव्यों का प्रतिपादन करती हैं, उनका भी तर्कसंगत रूप से निराकरण किया जाए। भारत के धार्मिक इतिहास की दृष्टि से महर्षि का यह कार्य अत्यन्त महत्त्व का है। दार्शनिक सिद्धान्त धर्म के आधार होते हैं। पूजा विधि क्या हो, धार्मिक अनुष्ठानों का रूप क्या हो, अनाचार व सदाचार में विवेक किस प्रकार किया जाए---इन सब बातों का निर्णय उन दार्शनिक मन्तव्यों के आधार पर किया जाता है, जो धर्म में मान्य हों। वैदिक धर्म का जो स्वरूप उन्नीसवीं सदी में प्रचलित था, उसके निर्माण में शंकराचार्य सदृश अद्वैतवादियों का प्रमुख हाथ था। उसे परिवर्तित कर सकना तभी सम्भव था, जबकि उसकी आधाररूप दार्शनिक मान्यताओं का निराकरण कर उस त्रैतवाद का प्रतिपादन किया जाए जिस पर कि विशुद्ध वैदिक धर्म की उपासनाविधि एवं सदाचरण के मन्तव्य आधारित थे। अद्वैतवाद के खण्डन पर महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में विस्तार के साथ लिखा है। शंकराचार्य के मत में जीवात्मा ब्रह्म का ही एक रूप है, जो अविद्योपाधि से पृथक् भासता है। माया या अविद्या से अवच्छिन्न ब्रह्म ही जीवात्मा है। वेदान्तियों के इस मन्तव्य का विवेचन करते हुए महर्षि ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि माया (अविद्या या अज्ञान)से अवच्छिन्न ब्रह्म जीवात्मा है, तो ब्रह्म के एक देश (अंश या भाग) में अज्ञान रहने से ब्रह्म शुद्ध नहीं रहेगा। "और जब एक देश में अज्ञान मानोगे, तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता जाता रहेगा। वह जहाँ जावेगा वहाँ-वहाँ का ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश को छोड़ता जाएगा उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि शुद्ध ज्ञान मुक्त न कह सकोगे।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १८३) शंकर मत के खण्डन में महर्षि

ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उनका संक्षेप के साथ उल्लेख कर सकना भी इस इतिहास में सम्भव नहीं है। अत्यन्त गम्भीर व युक्तिसंगत विचार-विमर्श के पश्चात् महर्षि ने यह प्रतिपादित किया है कि "ईश्वर नाम ब्रह्म का है और ब्रह्म से भिन्न अनादि, अनुत्पन्न और अमृतस्वरूप जीव का नाम जीव है।" (स० प्र०—पृष्ठ १८४) "परमेश्वर के अनन्त ज्ञान, आनन्द, बल, क्रिया, निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, अल्पस्वरूप, सभ्रान्तित्व और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं, क्योंकि इनका स्वरूप भी (परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से) भिन्न है।" (स० प्र०, पृ० १८५) अद्वैतवाद के अतिरिक्त ऐसे अनेक अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का भी महर्षि ने खण्डन किया है, जो त्रैतवाद के विरुद्ध हैं।

(५) षड्दर्शनों में समन्वय

वेदों को स्वतःप्रमाण मानने वाले आस्तिक दर्शन छह हैं, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और वेदान्त या उत्तर मीमांसा। चिरकाल से यह माना जाता रहा है, कि इन दर्शनों के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखते हुए 'प्रधानमल्ल निर्बर्हणन्याय' से सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। सांख्य के विषय में यह समझा जाता है कि सृष्टिकर्ता के रूप में उसे ईश्वर की सत्ता स्वीकार्य नहीं है। जिस प्रकार जैन महावीर को सर्वज्ञ व लोकोत्तर पुरुष मानते हैं, उसी प्रकार सांख्य दर्शन के प्रमुख आचार्य कपिलमुनि को ही सांख्य विचारसरणी में सर्वज्ञ स्वीकार किया जाता है। उनके अतिरिक्त किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्ता परमेश्वर का निरूपण सांख्यों द्वारा नहीं किया जाता। इसके विपरीत न्याय और वैशेषिक दर्शन सृष्टि का निमित्त कारण ईश्वर को मानते हैं, और वेदान्त (उत्तर मीमांसा) के अनुसार ब्रह्म सृष्टि का निमित्त एवं उपादान दोनों प्रकार का कारण है। सांख्य दर्शन द्वारा सत्कार्यवाद का प्रतिपादन किया गया है, और न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों द्वारा असत्कार्यवाद का। सत्कार्यवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई कारण होता है। घट कार्य है, और मिट्टी उसका कारण। यदि मिट्टी न हो, तो घट नहीं बन सकता। इसी प्रकार मिट्टी का भी कोई कारण होता है। कार्य के कारण का इसी ढंग से पता करते हुए हम ऐसे तत्त्व तक पहुँच जाते हैं, जो सबका आदि या मूल कारण है, पर स्वयं कार्य नहीं है। सांख्य दर्शन में इसी आदितत्त्व को प्रकृति कहा गया है। यह प्रकृति सब पदार्थों का मूल कारण है, स्वयं अनादि है, किसी अन्य का कार्य नहीं है। कारण के व्यक्त रूप का नाम ही कार्य है। प्रत्येक कार्य अपने कारण में अव्यक्त दशा में विद्यमान रहता है। जब वह व्यक्त हो जाता है, तो कार्य कहाने लगता है। वस्त्र कार्य है और सूत कारण। सूत कार्य है और रुई कारण। अव्यक्त रूप में वस्त्र सूत में विद्यमान था, और सूत रुई में। व्यक्त होकर सूत ने वस्त्र का रूप प्राप्त कर लिया, और रुई ने सूत का। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन असत्कार्यवाद के प्रतिपादक माने जाते हैं। उनके मत में कार्य पहले से ही कारण में विद्यमान नहीं होता, अपितु कारणरूप वस्तु के विनष्ट होने पर ही कार्यरूप पदार्थ की उत्पत्ति होती है। बीज से अंकुर या पौदे की उत्पत्ति होती है, बीज कारण है और पौदा कार्य। पौदे की उत्पत्ति तभी हो सकती है, जबकि बीज नष्ट हो जाए, उसकी

सत्ता न रहे। इस प्रकार ये दर्शन जिस मन्तव्य का निरूपण करते हैं, उसे 'असत्कार्यवाद' कहा जाता है। षड्दर्शनों में इसी प्रकार के कितने ही विपरीत मत, जो एक-दूसरे के विरोधी हैं, माने जाते रहे हैं। न केवल शंकराचार्य ही अपितु रामानुजाचार्य आदि अन्य दार्शनिक विद्वानों तथा बहुत-से टीकाकारों का भी यही मत रहा है कि छह आस्तिक दर्शनों के मन्तव्यों में परस्पर विरोध है।

पर महर्षि दयानन्द सरस्वती यह स्वीकार नहीं करते। उनका मन्तव्य यह है कि छहों आस्तिक दर्शन दार्शनिक तथ्यों का भिन्न-भिन्न पहलुओं से प्रतिपादन करते हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है। उनके मन्तव्यों का अनुशीलन समन्वयात्मक दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए, और यही मत दर्शनशास्त्रों के प्राचीन व्याख्याकारों का भी था। षड्दर्शनों में विरोध नहीं है, अपने इस मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए महर्षि ने लिखा है—"विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छह शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। मीमांसा में 'ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म-चेष्टा न की जाय', वैशेषिक में 'समय न लगे बिना बने ही नहीं', न्याय में 'उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता', योग में 'विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाए तो नहीं बन सकता', सांख्य में 'तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता', और वेदान्त में 'बनाने वाला न बनावे तो कोई पदार्थ उत्पन्न न हो सके', इसलिए सृष्टि छह कारणों से बनती है। उन छह कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छह पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें वैसे ही सृष्टि रूप कार्य की व्याख्या छह शास्त्रों ने मिलकर पूरी की है। जैसे पाँच अन्धे और एक मन्द दृष्टि को किसी ने हाथी का एक-एक देश बतलाया। उनसे पूछा कि हाथी कैसा है? उनमें से एक ने कहा खम्बे, दूसरे ने कहा सूप, तीसरे ने कहा मूसल, चौथे ने कहा झाड़ू, पाँचवें ने कहा चौतरा और छठे ने कहा काला-काला चार खम्बों के ऊपर कुछ भैंसा-सा आकार वाला है। इस प्रकार आजकल के··· नवीन क्षुद्रबुद्धिकल्पित संस्कृत और प्राकृत भाषा वालों ने ऋषि प्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर एक-दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है।" (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृष्ठ २०८) महर्षि के मत में छह आस्तिक दर्शन वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, उन्हें स्वत:प्रमाण मानते हैं। अत: यह सम्भव नहीं है कि वे किसी ऐसे मन्तव्य का प्रतिपादन करें, जो वेदविरुद्ध हो। जब सबके मन्तव्य वेदानुकूल हों, तो उनमें विरोध हो ही कैसे सकता है? आस्तिक दर्शनों के रचयिता ऋषि मुनि थे। ऋषियों को 'साक्षात्कृतधर्मा' कहा गया है। ऋषि वही कहा सकता है, जिसे अपने विषय का पूर्ण ज्ञान हो, जिसे सब ज्ञान प्रत्यक्ष हो। जब छहों दर्शन ऋषियों द्वारा बनाए गये हों, तो उन सब द्वारा प्रतिपादित मन्तव्य व ज्ञान सत्य ही होना चाहिए, और सत्यज्ञान में परस्पर विरोध मानना सर्वथा असंगत है। उनमें जो विरोध दिखायी देता है, उसका कारण यह है कि विभिन्न दर्शनशास्त्रों की प्रतिपादन शैली में विभिन्नता है, और साथ ही उनके पारिभाषिक शब्द भी पृथक्-पृथक् हैं। सांख्य ने जिस अर्थ में पुरुष शब्द का प्रयोग किया है, न्याय और वैशेषिक दर्शनों में उसी अर्थ में 'आत्मा' शब्द प्रयुक्त है। सांख्य को पुरुष शब्द से जीवात्मा और ब्रह्म (परमेश्वर) दोनों अभिप्रेत हैं। इसी प्रकार वैशेषिक और न्याय दर्शनों द्वारा 'आत्मा' शब्द से परमेश्वर और जीवात्मा दोनों को सूचित

किया गया है। कहाँ पुरुष अथवा आत्मा से ईश्वर का ग्रहण करना उचित है, और कहाँ जीवात्मा का, इस बात का, निर्धारण प्रसंग के अनुसार किया जाना चाहिए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत में सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी नहीं है। वह भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। जिसे सांख्य का 'सत्कार्यवाद' और न्याय तथा वैशेषिक का 'असत्कार्यवाद' कहा जाता है, उनमें भी परस्पर कोई विरोध नहीं है। महर्षि के शब्दों में, "जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है जानो वह अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १७५) सांख्य दर्शन का एक सूत्र (१/६२) 'ईश्वरासिद्धेः' है। इसी प्रकार, अन्य सांख्य सूत्र 'प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः' (५/१०) और 'सम्बन्धाभावान्नानुमानम्' (५/११) हैं। इन सूत्रों द्वारा यह प्रतिपादित किया जाता है, कि सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी है, क्योंकि इनमें कहा गया है कि ईश्वर की सिद्धि न प्रत्यक्ष प्रमाण से की जा सकती है और न अनुमान प्रमाण द्वारा। पर महर्षि ने इन सूत्रों की व्याख्या एक भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार इन सूत्रों में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया गया है, अपितु यह कहा गया है कि ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिये जा सकते। इन्द्रिय का अर्थ (विषय) के साथ सम्पर्क होने पर जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। आँखों से देखा जाता है और कान से सुना जाता है। आँख से देखकर या कान से सुनकर जो ज्ञान हो, वह प्रत्यक्ष कहाएगा। पर इस ढंग से इन्द्रियों द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। महर्षि के अनुसार 'ईश्वरासिद्धेः' सदृश सांख्यसूत्रों द्वारा केवल यही कहा गया है, कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि जिन प्रमाणों द्वारा जिस ढंग से साधारण पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उनसे न ईश्वर को जाना जा सकता है और न उसकी सत्ता सिद्ध की जा सकती है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि सांख्य ईश्वर को मानता ही नहीं। महर्षि के शब्दों में, "पुरुष से विलक्षण अर्थात् पूर्ण होने से परमात्मा का नाम पुरुष, और शरीर में शयन करने से जीव का भी नाम पुरुष है। सांख्यसूत्रों में न केवल 'पुरुष' शब्द द्वारा ईश्वर भी अभिप्रेत है, अपितु स्पष्ट रूप से भी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। एक सांख्यसूत्र (३/५६) 'सहि सर्ववित् सर्वकर्ता' में ईश्वर को सर्वज्ञ और सबका कर्ता कहा गया है, और एक अन्य सूत्र (५/३) 'न ईश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः' में कर्म फल देने वाला। इस प्रकार महिष का यह मन्तव्य कि सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी न होकर ईश्वर को सृष्टिकर्ता एवं सृष्टि का निमित्त कारण मानता है, सर्वथा संगत है।

सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद का प्रतिपादक है, और न्याय-वैशेषिक असत्कार्यवाद के, अतः इन दर्शनशास्त्रों में भेद हैं, इस मत का भी महर्षि दयानन्द सरस्वती ने तर्क एवं युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। महर्षि स्वयं सत्कार्यवाद के समर्थक हैं, और यह मानते हैं कि न्याय-वैशेषिक दर्शनों में भी यही वाद प्रतिपादित है। "यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, अभाव न था।" (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृष्ठ १६७) सब पदार्थ अव्यक्त रूप में अपने कारणों में भी विद्यमान रहते हैं, अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, सत्कार्यवाद का यही अभिप्राय है। पर न्याय दर्शन का कहना है, कि अभाव या असत् से ही पदार्थ की उत्पत्ति होती है। 'अभावादभावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (न्याय सूत्र ४/१/१४) इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि जैसे बीज का विनाश हुए बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता और

बीज को तोड़कर देखा जाए तो वहाँ अंकुर का अभाव होता है, तो इससे यह सूचित हुआ कि अभाव से ही अंकुर रूप पदार्थ की उत्पत्ति हुई। महर्षि दयानन्द के मत में यह सूत्र पूर्व पक्ष के रूप में है, न्याय दर्शन का सिद्धान्त नहीं है। इसी कारण इसे पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत कर महर्षि ने इसका यह उत्तर दिया है—"जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज में था, जो न होता तो कभी उत्पन्न न होता।" (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृष्ठ २०३) महर्षि का 'अभावाद् भावोत्पत्तिः' सूत्र को पूर्वपक्ष प्रतिपादित करना सर्वथा समुचित है, क्योंकि न्याय दर्शन के अगले ही सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र के तर्क को व्याघात दोष से दूषित कह दिया गया है। वस्तुतः, सांख्य, न्याय और वैशेषिक तीनों दर्शन कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। इनमें भेद केवल इतना है कि न्याय-वैशेषिक का यह कहना है कि उत्पन्न हुए पदार्थ का पहले अभाव था, अर्थात् वह पहले उस रूप में नहीं था जिसमें कि उत्पन्न होने के पश्चात् वह हो गया। सांख्य और न्याय-वैशेषिक एक ही बात कहते हैं, यद्यपि उनके कहने के ढंग में अन्तर है। दोनों को यही स्वीकार्य है, कि असत् से सत् की या अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

जो प्रकृति सम्पूर्ण सृष्टि या जगत् की उपदान कारण है, उसके स्वरूप के सम्बन्ध में भी सांख्य तथा न्याय-वैशेषिक में भेद प्रतीत होता है जो महर्षि दयानन्द सरस्वती को मान्य नहीं है। सांख्य के अनुसार प्रकृति में तीन गुण हैं, सत्व, रज तथा तम। जब प्रकृति अव्यक्त दशा में होती है, तो ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। जब गुणों की यह साम्यावस्था भंग होने लगती है, और सत्व आदि गुण सम न रहकर न्यूनाधिक होने लगते हैं, तो प्रकृति में विकार या विकृति उत्पन्न होने लगती है और वह अव्यक्त दशा से व्यक्त दशा में आ जाती है। सृष्टि प्रकृति का ही व्यक्त रूप है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रकृति का सूक्ष्मतम रूप परमाणु हैं। परमाणु वे होते हैं, जिनका विभाग न किया जा सके। सृष्टि के प्रत्येक तत्त्व के अपने-अपने पृथक् परमाणु होते हैं, जो न्यूनाधिक संख्या में परस्पर मिलकर विविध पदार्थों का निर्माण करते हैं। ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के स्वरूप के सम्बन्ध में इन दर्शन शास्त्रों में भेद है। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती यह नहीं मानते। उनके मत में प्रकृति के विषय में सांख्य और वैशेषिक के मन्तव्यों में कोई विरोध नहीं है। उनके अनुसार सृष्टि के उत्पत्ति-क्रम का प्रतिपादन करता हुआ सांख्य दर्शन वैशेषिक दर्शन की अपेक्षा अधिक गहरा या अधिक परे चला गया है। उनके शब्दों में,"अनादि नित्यस्वरूप सत्व, रजस और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था का सूक्ष्म स्थूल-स्थूल बनते बनाते विचित्र रूप बनी है इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहाती है।" (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृष्ठ २०६) सांख्य के अनुसार सत्व, रज और तम की साम्यावस्था के कारण प्रकृति का जो मूल या अनादि रूप था, उसमें विकृति (साम्यावस्था का अभाव) आने पर क्रमशः महद्, अहंकार और पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। परमाणु इसके साथ बने, या तन्मात्राओं के रूप में ही परमाणु उत्पन्न हुए। परमाणुओं के उत्पन्न हो जाने के बाद सृष्टि का विकास किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में सांख्य तथा वैशेषिक के मन्तव्य प्रायः एकसमान हैं। क्योंकि वैशेषिक ने सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम परमाणुओं से प्रारम्भ किया है, और सांख्य ने उससे पहले से, जब कि सत्व, रज और तम की साम्यावस्था में

प्रकृति अपने मूल व अनादि रूप में थी, अतः उनमें अन्तर तो है पर उसे विरोध नहीं कहा जा सकता। विरोध तो तब होगा, जब कि एक ही विषय पर दो मन्तव्य हों। महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह मन्तव्य सर्वथा युक्तिसंगत है कि कार्य कारण भाव को जिस ढंग से न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य दर्शनों ने प्रतिपादित किया है, वे परस्पर विरोधी नहीं हैं और न्याय-वैशेषिक भी सांख्य के समान सत्कार्यवाद के ही प्रतिपादक हैं।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है। यह वाद त्रैतवाद का विरोधी है, और ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य अनादि तत्त्व-जीव और प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह मन्तव्य है, कि अद्वैतवाद न केवल वेदविरुद्ध ही है, अपितु वेदान्त दर्शन के वास्तविक सिद्धान्त के भी अनुसार नहीं है। वस्तुतः, वेदान्त में भी ब्रह्म और जीवात्मा की पृथक् सत्ता तथा प्रकृति के इन दोनों से पृथक् अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है। महर्षि को यही मत स्वीकार्य है, और उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि ब्रह्म सूत्रों के आधार पर की है। 'नेतरोऽनुपपत्तेः' (१/१/१६) आदि दस ब्रह्मसूत्रों को उद्धृत कर महर्षि ने उनकी व्याख्या करते हुए कहा है—"ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्ता नहीं है क्योंकि इस अल्प, अल्पज्ञ सामर्थ्य वाले जीव में सृष्टि कर्तृत्व नहीं घट सकता। इससे जीव ब्रह्म नहीं। 'रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह उपनिषद् का वचन है। जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादन किया है। जो ऐसा न होता तो रस अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है यह प्राप्ति-विषय ब्रह्म और प्राप्त होने वाले जीव का निरूपण नहीं घट सकता। इसलिए जीव और ब्रह्म एक नहीं ॥२॥ (सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ २८५) महर्षि द्वारा की गयी दस ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या को यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। 'शारीरश्चोऽभयेऽपि हि भेदेनैवमधीयते' इस ब्रह्मसूत्र में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि शारीर या शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद उनके स्वरूप से सिद्ध है। सत्यार्थप्रकाश में महर्षि ने उन सब विषयों पर पर्याप्त विस्तार के साथ विवेचन किया है, जिनके सम्बन्ध में यह माना जाता रहा है कि छह आस्तिक दर्शनों में मतभेद है। इन तथाकथित मतभेदों का युक्तिसंगत रूप से निराकरण कर महर्षि ने छहों दर्शनों में समन्वय के सिद्धान्त का निरूपण किया है। भारत के दार्शनिक चिन्तन में महर्षि की यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है। सांख्य, योग आदि आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित कर महर्षि ने वैदिक धर्म को एक अत्यन्त ठोस दार्शनिक आधार प्रदान कर दिया है।

(६) वेदों के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्य

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों के विषय में अपने मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट किया है—"चारों वेदों (विद्याधर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूँ, वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतःप्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं, और चारों वेदों के ब्राह्मण, छह अंग, छह उपांग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यान

रूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाए ग्रन्थ हैं उनको परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और इनमें से वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता है।" (स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश, मन्तव्य २) आर्यसमाज के दस नियमों में भी महर्षि ने 'वेद को सत्यविद्याओं का पुस्तक' कहा है, और उसका पढ़ना-पढ़ाना व सुनना-सुनाना आर्यों का परम धर्म बताया है। महर्षि की दृष्टि में वेदों का अत्यधिक महत्त्व था। वे उन्हें ईश्वरकृत मानते थे और उनका यह भी विश्वास था कि सब ज्ञान-विज्ञान वेदों में विद्यमान् हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों के सम्बन्ध में महर्षि के ये मन्तव्य अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि भारत में सदा से वेदों को अत्यन्त श्रद्धा से देखा जाता रहा है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्', वेद सम्पूर्ण धर्म का मूल है या धर्मविषयक सब मान्यताएँ व सिद्धान्त वेदों पर ही आश्रित हैं, यह विचार सदा से भारत के आस्तिक विद्वानों को स्वीकार्य रहा है। पर ऐसे भी विचारक इस देश में रहे हैं, जो न केवल वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते थे, अपितु उनके कर्ताओं को धूर्त, भाण्ड और निशाचर कहने में भी संकोच नहीं करते थे। पर चार्वाक, जैन, बौद्ध और आजीवक आदि अपवादों को छोड़कर सभी भारतीय विद्वान् व सम्प्रदाय वेदों को प्रमाण रूप से स्वीकार करते रहे हैं। परन्तु वेदमन्त्रों के अर्थ व अभिप्राय के सम्बन्ध में उनमें मतभेद भी रहा है। बौद्ध युग से पूर्ववर्ती समय में ही वेदार्थ के विषय में दो सम्प्रदाय विकसित हो गये थे, नैरुक्त और ऐतिहासिक। ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अनुयायी वेदों में पुरातन इतिवृत्त के संकेतों व विवरणों की सत्ता प्रतिपादित करते थे, और नैरुक्त लोग वैदिक शब्दों को रूढ़ि न मानकर यौगिक मानते थे। क्योंकि वेदों की भाषा लौकिक संस्कृत से भिन्न है, अतः उनके अर्थों को भली भाँति समझ सकना सुगम नहीं है। इसी कारण बहुत प्राचीन समय से ही वेदों पर भाष्य लिखकर उनके अभिप्राय को स्पष्ट करने की परम्परा रही है। पर अधिक प्राचीन वेदभाष्य इस समय उपलब्ध नहीं हैं। जो भाष्य अब उपलब्ध हैं, वे सब मध्ययुग के हैं। इनमें स्कन्दस्वामी, महीधर, उव्वट और सायण के भाष्य सबसे प्रसिद्ध हैं। सायण ने चारों वेदों पर भाष्य लिखा है, और पण्डितवर्ग में उसी का विशेष रूप से अध्ययन-अध्यापन होता रहा है। आधुनिक युग में जब पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों का अनुशीलन प्रारम्भ किया, तो उनके अर्थ को समझने के लिए उन्होंने सायण भाष्य का ही आश्रय लिया। मैक्समूलर, ग्रीफिथ, विल्सन आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने उन्नीसवीं सदी में तथा उसके पश्चात् भी वेदों के यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद किए और उनके सम्बन्ध में अनेक विवेचनात्मक ग्रन्थों की रचना की। यह परम्परा अब भी जारी है, और यूरोप तथा अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों में वेदसम्बन्धी शोध का कार्य हो रहा है। पर पाश्चात्य विद्वानों का यह सब कार्य प्रधानतया महीधर और सायणाचार्य के वेदभाष्यों पर ही आधारित है। वेदों को जिस रूप में ये पाश्चात्य विद्वान् समझ पाए, उससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वेदों की रचना उस समय हुई थी जबकि आर्य जाति सभ्यता, संस्कृति और चिन्तन के क्षेत्र में आदिम अवस्था में थी। उस समय के आर्य प्रकृति की शक्तियों की पूजा किया करते थे और अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों के प्रकोप से बचने के लिए अनेकविध अनुष्ठानों में विश्वास रखते थे। इन अनुष्ठानों में यज्ञों की प्रधानता थी। यज्ञ कुण्ड में अग्नि का आधान कर वे देवताओं का आह्वान करते थे, और उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए अन्न, घृत आदि विविध सामग्री की आहुतियाँ दिया करते थे। उस युग में मनुष्यों

के मन अधिक विकसित नहीं थे। अतः स्वाभाविक रूप से वेदमन्त्र ऐसे कवियों अथवा ऋषियों की उक्तियाँ हैं, जो सभ्यता की दृष्टि से अभी बहुत पिछड़े हुए थे। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के विषय में जो इस प्रकार के विचार प्रकट किये, उनके लिए सायण और महीधर सदृश वेदभाष्यकार प्रधान रूप से उत्तरदायी हैं, क्योंकि मैक्समूलर, ग्रीफिथ आदि ने इन्हीं के भाष्यों से वेदों के अर्थ समझने का प्रयत्न किया था और इन्हीं के आधार पर वेदों के अपने अनुवाद किये थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती से पूर्व भारत में वेदों के अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी अधिक नहीं रही थी। सर्वसाधारण जनता के लिए तो इनके पठन-पाठन का प्रश्न ही नहीं था। यह समझा जाता था कि वेद पढ़ने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है। पर ब्राह्मणों में भी वेदों की तुलना में पुराणों तथा अन्य अनार्ष ग्रन्थों का अध्ययन अधिक प्रचलित था। कतिपय विशिष्ट ब्राह्मण कुलों में ही वेदों को कण्ठस्थ करने और उनका सस्वर पाठ करने की परिपाटी विद्यमान थी। वेदमन्त्रों के अर्थ व अभिप्राय को समझने के लिए सायण व महीधर सदृश मध्यकालीन विद्वानों के वेदभाष्यों का ही आश्रय लिया जाता था। इन विद्वानों ने वेदमन्त्रों का इस ढंग से भाष्य किया है जिससे कि कर्मकाण्ड के लिए उनके उपयोग को समझा जा सके। पर वेदों के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करने में इनके भाष्यों से विशेष सहायता नहीं मिलती। अतः जिन बहुत थोड़े-से ब्राह्मण परिवारों में वेदों का पठन-पाठन जारी था, वे या तो उनका अर्थ जानने का यत्न ही नहीं करते थे और यदि करते थे तो सायण और महीधर के भाष्यों द्वारा ही। हिन्दुओं में वेदों के प्रति श्रद्धा का भाव तो था, पर यह श्रद्धा एक ऐसी सत्ता के प्रति थी जिसे वे दूर से ही देखते थे, जिसे जानने व समझने का वे कोई प्रयत्न नहीं करते थे। इसके विपरीत जब पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों का अध्ययन प्रारम्भ किया, तो उन्होंने वेद मन्त्रों के अभिप्राय को समझने तथा अपनी भाषाओं में उनका अनुवाद करने का प्रयत्न किया। पर ऐसा करते हुए उन्होंने जिन वेदभाष्यों का सहारा लिया, उनके कारण वे पथभ्रष्ट हो गये और वेदों के वास्तविक अभिप्राय को न समझ कर ऐसे मन्तव्य प्रकट करने लगे जो किसी गम्भीर विद्वान् को शोभा नहीं देते। उन्होंने कहा कि वेद एक ऐसे आदिम व बर्बर जन-समाज की उक्तियों का संग्रह है, जिसके नैतिक व धर्मसम्बन्धी विचार प्रारम्भिक दशा में थे और सभ्यता में जिसने अभी अधिक उन्नति नहीं की थी। पाश्चात्य विद्वानों का वेदों के सम्बन्ध में यही विचार था। पर दुर्भाग्य की तो बात यह है, कि भारत के शिक्षित वर्ग में भी ये ही विचार प्रचलित होने लग गये थे। उन्नीसवीं सदी में ईसाई मिशनरियों और ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत में जो शिक्षणालय स्थापित किए गये थे, इनमें इतिहास आदि की पुस्तकों में वेदों के विषय में इन्हीं विचारों का समावेश था। परिणाम यह था कि नयी पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली से शिक्षित हुए भारतीयों की वेदों के प्रति आस्था हटती जाती थी, और अपने प्राचीन धर्म तथा संस्कृति को हीन समझने की प्रवृत्ति उनमें बढ़ती जाती थी।

यह दशा थी, जब महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों के विषय में उन मन्तव्यों का युक्तिपूर्वक एवं प्रबल रूप से प्रतिपादन किया जो प्राचीन समय में भारत के विद्वानों तथा ऋषि मुनियों को मान्य थे और जिन्हें दृष्टि में रख कर ही 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' कहा गया था। महर्षि के अनुसार वेद मनुष्यकृत नहीं हैं। ईश्वर द्वारा चार ऋषियों

(अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा) के माध्यम से उन्हें प्रकट किया गया था। क्योंकि वे ईश्वरीय ज्ञान हैं, अतः सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान उनमें बीज रूप से विद्यमान है। उनका प्रतिपाद्य विषय केवल कर्मकाण्ड ही नहीं है, अपितु सब आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक ज्ञान की उनमें सत्ता है, और उनके सही-सही अभिप्राय को समझने के लिए वैदिक शब्दों को किसी एक अर्थ में रूढ़ि न समझकर उनका यौगिक अर्थ करना चाहिए।

महर्षि ने अपने इस मन्तव्यों की पुष्टि प्रमाणों तथा युक्तियों द्वारा की है। उनका कथन है कि ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् आदि सभी आर्षग्रन्थ वेदों को ईश्वरकृत मानते व प्रतिपादित करते रहे हैं। स्वयं वेद भी यही बात कहते हैं। महर्षि ने इस सम्बन्ध में दो वेदमन्त्र उद्धृत किए हैं। यस्माद् ऋचो अपातक्षन्यजुर्यस्मदपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (अथर्ववेद १०/२३/४/२०) जिस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं वह कौन-सा देव है? इसका (उत्तर) "जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है वह परमात्मा है। स्वयंम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः (यजुर्वेद ४०/८) जो स्वयम्भू सर्व-व्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १८८)। वेदों की अन्तःसाक्षी प्रस्तुत करने के पश्चात् महर्षि ने शतपथ ब्राह्मण व श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रमाण देकर अपने इस मन्तव्य को पुष्ट किया है, कि "प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा इन ऋषियों की आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया।" इन चार ऋषियों में ही क्यों वेद का प्रकाश किया गया, यह प्रश्न उठाकर महर्षि ने इसका यह उत्तर दिया है—"वे ही चार सब जीवों में अधिक पवित्रात्मा थे, अन्य उनके सदृश नहीं थे इसलिए पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हीं में किया।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १८९) यदि वेदों का प्रकाश परमात्मा द्वारा अग्नि आदि चार ऋषियों द्वारा किया गया था, तो वेदमन्त्रों के साथ अन्य ऋषियों के नाम क्यों जुड़े हुए हैं? वेदों में प्रत्येक मन्त्र के देवता और ऋषि के नाम मन्त्रों के साथ मिलते हैं, क्यों न इन ऋषियों को वेदमन्त्रों का कर्ता या रचयिता माना जाए? यह प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक है। इसका उत्तर महर्षि ने इस प्रकार दिया है—"जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है। जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्ता बतलाते हैं, उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मन्त्रों के अर्थप्रकाशक हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १९१) इससे स्पष्ट है कि महर्षि के मत में वेदमन्त्रों के साथ जिन ऋषियों के नाम दिए जाते हैं वे उनके रचयिता न होकर 'द्रष्टा' हैं। उन्हीं द्वारा वेदमन्त्रों का अर्थ सबसे पूर्व प्रकाशित किया गया था। इसीलिए उनकी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए उनके नाम उन मन्त्रों के साथ दे दिये गये, जिनके अर्थ का उन्होंने दर्शन व प्रतिपादन किया था। महर्षि के शब्दों में "धर्मात्मा योगी-महर्षि लोग जब-जब जिस-जिस के अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये। जब बहुतों के आत्मा में वेदार्थप्रकाश हुआ तब ऋषि-मुनियों ने वह अर्थ और

ऋषि-मुनियों के इतिहास पूर्वक ग्रन्थ बनाये। इनका नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १६१) महर्षि के मत में चारों वेद ईश्वरकृत हैं, ऋषि इनके मन्त्रार्थों के द्रष्टा हैं, और परमेश्वर से वेदों के प्रकाश को प्राप्त कर ऋषि-मुनियों द्वारा वेदार्थ को स्पष्ट करने सदृश प्रयोजनों से अन्य भी अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी। ये ग्रन्थ ब्राह्मण कहाते हैं। महर्षि के अनुसार वेद केवल चार हैं, और ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हैं। वेद केवल मन्त्र भाग की संज्ञा है, और ब्राह्मण 'व्याख्या भाग' (जिसमें वेदमन्त्रों की व्याख्या की गयी है) की। परमात्मा ने वेदों का ज्ञान संस्कृत भाषा में ही क्यों दिया, किसी अन्य देश की भाषा में क्यों नहीं दिया? महर्षि ने यह प्रश्न उठाकर इसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि संस्कृत या वैदिक भाषा किसी देश विशेष की भाषा नहीं है, अपितु सब भाषाओं की जननी है। अन्य भाषाएँ उसी से विकसित हुई हैं। महर्षि के शब्दों में "वेद भाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है। उसी में वेदों का प्रकाश किया। जैसे ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि सब देश और देश वालों के लिए एक-सी और सब शिल्प विद्या का कारण है वैसे परमेश्वर की विद्या की भाषा भी एक-सी होनी चाहिए कि सब देश वालों को पढ़ने-पढ़ाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता। और सब भाषाओं का कारण भी है।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १८६)।

वेदों के ईश्वरकृत होने के विषय में महर्षि ने केवल शास्त्र प्रमाणों को ही प्रस्तुत नहीं किया, अपितु तर्क द्वारा भी यह सिद्ध किया है कि मनुष्य के लिए ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति और बौद्धिक विकास तभी सम्भव है जबकि विश्व की सर्वोच्च शक्ति द्वारा उसे सब ज्ञान मूल या बीज रूप में उपलब्ध करा दिया जाए। महर्षि विकासवाद को स्वीकार्य नहीं मानते थे। उन्होंने यह प्रश्न उठाकर कि "वेद को ईश्वर से होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं, क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे।" इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—"कभी नहीं बना सकते, क्योंकि बिना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जंगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाए तो विद्वान् हो जाते हैं, और अब भी किसी से पढ़े बिना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन आदिसृष्टि के ऋषियों को वेद विद्या न पढ़ाता और वे अन्य को न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान् ही रह जाते। जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश, अविद्वानों वा पशुओं के संग रख देवें तो वह जैसा संग है वैसा ही हो जायेगा। इसका दृष्टान्त जंगली भील आदि हैं। जब तक आर्यावर्त देश से शिक्षा नहीं गयी थी तब तक मिस्र, यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी, और इंग्लैंड के कुलुम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जब तक नहीं गये थे तब तक वे भी सहस्रों, लाखों, करोड़ों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्या-हीन थे, पुनः सुशिक्षा के पाने से विद्वान् हो गये हैं वैसे ही परमात्मा से सृष्टि की आदि में विद्या शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आये। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योग सूत्र (समाधिपादे सू० २६) जैसे वर्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ के ही विद्वान् होते हैं वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ाने हारा है, क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं वैसा परमेश्वर नहीं होता। उसका ज्ञान नित्य है।"

(सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १९०-९१) ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में विकासवाद के विरुद्ध महर्षि का यह तर्क है कि कोई मनुष्य स्वयं ज्ञान को उपलब्ध नहीं कर सकता। उसे किसी से सीखने की आवश्यकता होती है। यदि किसी छोटे बच्चे को ऐसे निर्जन स्थान पर छोड़ दिया जाए जहाँ किसी अन्य मनुष्य का उससे सम्पर्क न हो, या पालन के लिए उसे बहरी व गूंगी दाई के सुपुर्द कर दिया जाए, या उसे कोई भेड़िया उठा ले जाए और वही उसका पालन करे, तो वह बच्चा न स्वयं बोलना सीख सकेगा और न ही किसी की बात समझ सकने की शक्ति उसमें होगी। बालक सिखाने से ही सीखते हैं। यही बात जातियों व देशों के सम्बन्ध में भी सत्य है। अफ्रीका महाद्वीप की बहुत-सी जातियाँ सैकड़ों-हजारों सालों से अशिक्षित व असभ्य चली आ रही थीं। वे स्वयं न ज्ञान का विकास कर सकीं और न शिल्प आदि का। पर पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क में आकर उन्होंने बहुत थोड़े समय में उस ज्ञान-विज्ञान में निपुणता प्राप्त करनी प्रारम्भ कर दी, जिसका विकास पाश्चात्य देशों में हो चुका था। यही प्रक्रिया महर्षि के अनुसार प्राचीन काल में हुई थी, जबकि यूनान, मिस्र और यूरोप के लोगों ने (जो उस समय अशिक्षित व पिछड़े हुए थे) आर्यावर्त के विद्वानों से ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण की थी। महर्षि का मन्तव्य है कि परमेश्वर ने अग्नि आदि चार ऋषियों द्वारा आदि-सृष्टि के प्रारम्भ में जो ज्ञान दिया था, वही वैदिक संहिता कहाता है, उसी का अर्थ ज्ञान कर विविध ऋषि-मुनियों ने मानव समाज को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित किया और मनुष्यों ने सभ्यता व संस्कृति के मार्ग पर अग्रसर होना प्रारम्भ किया। यदि सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर द्वारा ज्ञान न दिया जाए, तो मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकेगा।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि यह मान भी लिया जाए कि मनुष्यों के लिए ईश्वरीय ज्ञान का होना अनिवार्य है, पर यह क्यों स्वीकार किया जाए कि वेद ही ईश्वर-कृत है? महर्षि ने इसका भी उत्तर दिया है—"जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध गुण कर्म-स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुण वाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत अन्य नहीं, और जिसमें सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त। जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो वह ईश्वरोक्त, जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है वैसा ही ईश्वर, सृष्टिकार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है और जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो, इस प्रकार के वेद हैं। अन्य बाइबल, कुरान आदि पुस्तकें नहीं।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १९०) केवल वेद ही ईश्वरकृत है, अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में महर्षि का तर्क यह है कि जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित सत्यज्ञान का प्रतिपादन हो, वही ईश्वरकृत हो सकती है, क्योंकि जब ईश्वर भ्रान्तिरहित है तो उस द्वारा दिया गया ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिए। ऐसा ज्ञान केवल वेदों में है, कुरान, बाइबल आदि में नहीं है। सत्यार्थप्रकाश के तेरहवें तथा चौदहवें समुल्लासों में महर्षि ने तर्क और युक्ति द्वारा यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया है, कि इन ग्रन्थों का ज्ञान युक्तिसंगत व भ्रान्तिरहित नहीं है।

वेदों को ईश्वरकृत सिद्ध कर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इनके अर्थ एवं अभिप्राय को सुचारु रूप से समझने के लिए एक ऐसी पद्धति का प्रतिपादन किया है, जो सायण

आदि मध्यकालीन विद्वानों की वेदभाष्य-प्रणाली से भिन्न है। महर्षि के अनुसार वैदिक शब्दों के अभिप्राय को तभी जाना जा सकता है, जबकि उस धातु के अर्थ पर ध्यान दिया जाए जिससे कि वह शब्द बना है। यही मत निरुक्त को भी अभिप्रेत है। निरुक्त अन्यतम वेदाङ्ग है। इस शास्त्र द्वारा प्रत्येक शब्द की निरुक्ति करके उसके वास्तविक अर्थ को स्पष्ट किया जाता है। उदाहरण के लिए देव शब्द को लीजिए। निरुक्त के अनुसार देव की निरुक्ति या व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा।' (निरुक्त ७/१५) महर्षि ने निरुक्त के इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया है—"दान देने से देव नाम पड़ता है, और दान कहते हैं अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देना। दीपक कहते हैं प्रकाश करने को। द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को। इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं। तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं। (दीपक) अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्यादि लोकों का नाम भी देव है। (द्योतन) तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथि भी पालन विद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं।" (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृष्ठ ७२) निरुक्त के अनुसार देव शब्द के अनेक अर्थ हैं। जो दान दे, जो प्रकाशित करे, जो द्योतन करे और जो द्युस्थान में रहे, उन सबका देव शब्द से बोध होता है। महर्षि ने निरुक्त के मत को और अधिक स्पष्ट कर ईश्वर, विद्वान्, सूर्य, माता, पिता, अतिथि आदि के लिए इस शब्द का प्रयुक्त होना प्रतिपादित किया है। जिन किन्हीं पदार्थों या प्राणी में दान, दीपन और द्योतन आदि के गुण हों, वे सब नैरुक्त पद्धति और महर्षि की वेदभाष्य प्रणाली के अनुसार देव कहायेंगे। निरुक्त में अग्नि शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—'अग्निः कस्मात् अग्रणी भवति।' जो अग्रणी हो, उसे अग्नि कहा जाएगा। अग्नि का यह अर्थ लेने पर राजा, सेनापति, नेता, ईश्वर आदि सबके लिए इस शब्द का प्रयोग हो सकेगा, क्योंकि ये सब अग्रणी होते हैं। ईश्वर सबका अग्रणी है, अतः वह अग्नि है। इसी प्रकार राजा, सेनापति आदि भी अग्रणी हैं। सामान्यतया, यज्ञ शब्द से उस हवन का बोध होता है, जिसमें यज्ञकुण्ड में अग्नि को प्रज्ज्वलित कर घृत, अन्न, वनस्पति आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं। पर यज्ञ के अन्य भी अनेक अर्थ हैं। यह शब्द 'यज्' धातु से बना है, जिससे देवपूजा, संगतिकरण और दान अभिप्रेत होते हैं। यज् का यह अर्थ लेने पर यज्ञ शब्द का अर्थ भी अत्यन्त व्यापक हो जाता है। महर्षि के अनुसार वैदिक शब्द 'यौगिक' हैं, 'रूढ़ि' नहीं हैं। यौगिक शब्द वे कहाते हैं, जिसके अर्थ को जानने के लिए उस धातु का अर्थ जानना होता है जिससे कि वह शब्द बना है। अश्व शब्द घोड़े के लिए प्रयुक्त होता है, यदि अश्व का रूढ़ि अर्थ लिया जाए तो उससे घोड़े का ही बोध होगा। पर यह शब्द 'वह्' धातु से बना है और इसकी निरुक्ति 'आशु वहति इति अश्वः' है, अर्थात् जो तेज चले उसे अश्व कहते हैं। इस प्रकार घोड़ा भी अश्व है, और नौका, विमान आदि यानों को भी अश्व कह सकते हैं। वेदमन्त्रों में शब्दों का प्रयोग कहाँ किस अर्थ में किया गया है, इसका निर्धारण प्रसंग के अनुसार किया जाएगा। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र 'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजम्' में अग्नि शब्द का प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में हुआ है, आग के लिए नहीं, यह सर्वथा स्पष्ट है। इसी प्रकार 'इमाः अश्वाः आप्लवन्ते' में अश्व शब्द नौका के लिए प्रयुक्त है, घोड़े के लिए नहीं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में वैदिक शब्दों को यौगिक मानकर

प्रसंगानुसार ही उनका अर्थ किया है। यह पद्धति निरुक्त के सिद्धान्त के अनुरूप है, और महर्षि के शब्दों में "जो ब्रह्मा से ले के व्यासपर्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं उनकी जो व्याख्या रीति है उससे युक्त ही यह वेदभाष्य (महर्षि द्वारा कृत वेदभाष्य) है।" महर्षि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या-दोषों के आरोप हुए हैं," उनके निवारण का यही उपाय है कि वैदिक शब्दों को यौगिक मानकर नैरुक्त पद्धति से वेदभाष्य किया जाए। ब्रह्मा से लेकर व्यासपर्यन्त सब ऋषि-मुनि वेदों के अभिप्राय का निरूपण करने के लिए इसी पद्धति का प्रयोग किया करते थे, पर बाद में जब इसका परित्याग कर तथा वैदिक शब्दों को रूढ़ि मानकर उनका अर्थ किया जाने लगा, तो वेदों का सत्य अर्थ प्रकट नहीं हो सका। इसी कारण उन पर अनेकविध मिथ्या दोष लगाए जाने लगे, और आधुनिक युग में उनके प्रति श्रद्धा भी कम होने लगी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य की प्राचीन आर्ष प्रणाली को अपना कर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, ऐतिहासिक दृष्टि से उसका भी बहुत महत्त्व है।

वेदों में कौन-से विषय प्रतिपादित हैं, इस पर महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में विस्तार के साथ विवेचन किया है। महर्षि के अनुसार, "वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं—(१) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (२) दूसरा कर्म, (३) तीसरा उपासना, और (४) चौथा ज्ञान है।" (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ ४८) महर्षि के शब्दों में, "विज्ञान उसको कहते हैं ··· परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना। इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है। सो भी दो प्रकार का है—एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना, और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन-कौन पदार्थ किस-किस प्रयोजन के लिए रचे हैं।" (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृष्ठ ४८) परमेश्वर से लगाकर तृणसदृश जो छोटी-से-छोटी वस्तु हैं, उन सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराना वेदों का मुख्य विषय है। इसी को महर्षि ने 'विज्ञान' कहा है। यद्यपि सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर के सम्बन्ध में सही-सही ज्ञान कराना वैदिक विज्ञान का प्रधान प्रयोजन है, पर उसके अतिरिक्त सृष्टि में जो भी पदार्थ हैं, जो भी शक्तियाँ हैं, जो भी सत्ताएँ हैं, उन सबका यथार्थ ज्ञान भी वेदों द्वारा प्रदान किया गया है, ताकि मनुष्य उनके गुण आदि को भली भाँति जान कर अपने हित व कल्याण के लिए उन्हें प्रयुक्त कर सके। महर्षि के अनुसार, "वेदों में दो विद्या हैं, एक अपरा, दूसरी परा। इनमें से अपरा वह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेकर प्रकृति-पर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है, और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।" (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृष्ठ ४९) वेदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय वह 'विज्ञान' है, जिस द्वारा मनुष्य ईश्वर तथा विश्व के सब पदार्थों का सही-सही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वेदों का दूसरा विषय कर्म या कर्मकाण्ड है, जिससे महर्षि को धर्म का ज्ञान तथा उसका यथावत् अनुष्ठान अभिप्रेत है। कर्मकाण्ड का प्रधान भाग यही धर्म का ज्ञान एवं धर्म का यथावत् अनुष्ठान है, और दूसरा भाग वह है जिससे अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की

प्राप्ति होती है। उपासना और ज्ञान दो अन्य विषय हैं जो वेदों में प्रतिपादित हैं। पर उनका मुख्य विषय 'विज्ञान' ही है, जिसमें सब भौतिक ज्ञान भी अन्तर्गत है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार विद्युत्, विमान विद्या, खगोल ज्ञान, भूगोल, गणित आदि सभी विज्ञानों का वेदों में मूल या बीज रूप से अस्तित्व है। उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में नौविमानादि विद्या, तार विद्या, वैद्यक शास्त्र, गणित विद्या आदि भौतिक विज्ञानों के मूल तत्त्वों को वेदमन्त्रों द्वारा प्रतिपादित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि ये सब विज्ञान वेदों में विद्यमान हैं। अपने वेदभाष्य में भी महर्षि ने अनेक वेदमन्त्रों में विज्ञान के महत्त्व, उसके उपयोग तथा सिद्धान्तों को निरूपित किया है। वेदों के सम्बन्ध में महर्षि का यह दृष्टिकोण सर्वथा मौलिक है और युक्तिसंगत रूप से इसका प्रतिपादन कर उन्होंने विद्वत्समाज के सम्मुख वेदों का एक ऐसा स्वरूप प्रस्तुत कर दिया है जो आधुनिक युग के लिए सर्वथा नवीन है। दयानन्द सरस्वती एक ऋषि थे। उन्होंने वेद मन्त्रों का जिस रूप में 'दर्शन' किया, वह मध्ययुगीन तथा आधुनिक वैदिक विद्वानों व भाष्यकारों के लिए सर्वथा नया है। पर वह प्राचीन आर्ष परम्परा के अनुरूप है। वेदों की व्याख्या के लिए उन्होंने जो पद्धति अपनायी, वह यास्काचार्य सदृश नैरुक्तों द्वारा भी प्रतिपादित है, और महर्षि ने वेदमन्त्रों की अपनी व्याख्या को शास्त्रीय प्रमाणों तथा युक्तियों द्वारा भी सुचारु रूप से पुष्ट किया है।

(६) जीवात्मा, पुनर्जन्म, कर्म फल और मोक्ष

महर्षि दयानन्द सरस्वती ईश्वर के समान जीव को भी अनादि तथा नित्य मानते हैं। स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में उन्होंने जीव और ईश्वर में भेद को इस प्रकार प्रतिपादित किया है—"जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं, अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ।" (मन्तव्य ५) जीव और ईश्वर में साधर्म्य भी है, क्योंकि दोनों अनादि और नित्य हैं, उनमें वैधर्म्य भी है क्योंकि जीव इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ है, और इसके विपरीत ईश्वर इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख से विरहित और सर्वज्ञ है। ईश्वर और जीव में वह सम्बन्ध है जो व्यापक और व्याप्य में तथा उपास्य और उपासक में होता है। महर्षि के अनुसार जीव शरीर से भिन्न है। शरीर के विनाश के साथ जीव का अन्त नहीं हो जाता। शीत-उष्ण आदि की अनुभूति और सुख-दु:ख आदि के भोग जीव को होते हैं, देह और अन्त:करण को नहीं, क्योंकि ये जड़ हैं। महर्षि के शब्दों में,"देह और अन्त:करण जड़ है, उसको शीतोष्ण प्राप्ति और भोग नहीं है। जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसको स्पर्श करता है उसी को शीत उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड़ है न उनको भूख, न पिपासा, किन्तु प्राण वाले जीव को क्षुधा, तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है, न उसको हर्ष, न शोक हो सकता है किन्तु मन से हर्ष, शोक, दु:ख, सुख का भोग जीव करता है जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे-बुरे शब्दादि विषयों को ग्रहण करके जीव सुखी दुखी होता है वैसे ही अन्त:करण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प, विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता

है।" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ २२१) महर्षि के अनुसार शरीर, मन, बुद्धि आदि सब जड़ हैं, जीवात्मा चेतन है। शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि की अनुभूति या बोध चेतन को ही हो सकता है, जड़ को नहीं। इसीलिए मृत्यु के पश्चात् इनका कोई बोध शरीर को नहीं होता। साथ ही, तब जीव भी इनकी अनुभूति नहीं कर सकता, क्योंकि वह इन्द्रिय, मन आदि के माध्यम से ही इनकी प्रतीति करता है। इस तथ्य को महर्षि ने न्याय और वैशेषिक दर्शनों के दो सूत्रों को उद्धृत कर यह प्रतिपादित किया है कि "इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, हर्ष आदि जीवात्मा के गुण हैं। ये गुण परमात्मा के गुणों से भिन्न हैं।" "जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं और जब शरीर छोड़ चला जाता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हो और न होने से न हों वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुणों द्वारा होता है।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १७९) जीवित प्राणियों में जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि देखे जाते हैं, वे शरीर के गुण नहीं हैं, क्योंकि मृत्यु हो जाने पर शरीर के विद्यमान रहते हुए भी ये उसमें नहीं पाये जाते। इस दशा में यह स्वीकार करना होगा कि ये गुण किसी अन्य सत्ता के हैं, जो शरीर से भिन्न है। यह सत्ता जीव, आत्मा या जीवात्मा है, जिसका बोध इच्छा, द्वेष आदि गुणों द्वारा होता है, और जो परमात्मा के समान ही अनादि व नित्य है। जीव और ईश्वर दोनों चित् या चेतन हैं, पर उनके गुणों व कर्मों में भेद है। महर्षि के शब्दों में, "परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सबको नियम से रखना, जीवों के पाप और पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्प विद्यादि अच्छे-बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्यज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं और जीव के इच्छा, द्वेष आदि।" (सत्यार्थ-प्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १७८) जीवात्मा और परमात्मा में एक अन्य महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ। महर्षि के अनुसार, "परमेश्वर अनन्त स्वरूप सामर्थ्य, गुण, कर्म, स्वभाव वाला है इसलिए वह कभी अविद्या और दुःख बन्धन में नहीं गिर सकता। जीव मुक्त होकर भी शुद्धस्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला रहता है परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता।" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ २३०) यदि जीव चिर काल तक भी अपने ज्ञान में वृद्धि करता जाए, तो भी महर्षि के अनुसार उसका ज्ञान सीमित ही रहेगा। वह कभी परमेश्वर के समान अनन्त ज्ञान तथा अनन्त सामर्थ्य वाला नहीं हो सकता।

शरीर और परमात्मा से जीव की भिन्नता का प्रतिपादन कर महर्षि ने अपने इस मन्तव्य का निरूपण किया है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करता है। पर स्वतन्त्र होते हुए भी जीव जो चाहे नहीं कर सकता, क्योंकि महर्षि के मत में वह "अपने कर्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है।" स्वतन्त्र वह इसलिए है, क्योंकि शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि उसके अधीन हैं। जीव उनसे अपनी इच्छा व विवेक के अनुसार कार्य लेता है। क्योंकि जीव अपने कर्मों में स्वतन्त्र है, इसी कारण उसे अपने कर्मों का, अपने किए पाप-पुण्य का फल प्राप्त होता है। यदि वह परमात्मा की प्रेरणा से या अधीनता में कार्य करे, तो उसे पाप व पुण्य न लगे। "क्योंकि जैसे भृत्य, स्वामी और सेना, सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा

प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मार के अपराधी नहीं होता, वैसे ही परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता में काम सिद्ध हों तो जीव को पाप व पुण्य न लगे। उस फल का भोगी परमेश्वर होवे। नरक-स्वर्ग अर्थात् दुःख-सुख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्रविशेष से किसी को मार डाला तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिए अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिए कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःखरूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १७७-७८) महर्षि दयानन्द सरस्वती जीव को कर्मों का साक्षीमात्र नहीं मानते, अपितु कर्ता प्रतिपादित करते हैं। यदि वह केवल साक्षी या दृष्टा हो या परमेश्वर के हाथों में कठपुतली के समान हो, वह कर्मफल का भोक्ता कैसे हो सकता है? अतः उसे स्वतन्त्र रूप से कर्ता मानना ही समुचित है। महर्षि के अनुसार जीव अनादि है। वह कभी उत्पन्न नहीं होता, उसे किसी ने नहीं बनाया, परमेश्वर ने भी नहीं। पर जीव का शरीर तथा इन्द्रियाँ परमेश्वर द्वारा बनाए हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के अधीन हैं, मन, वचन और कर्म से जो पाप-पुण्य किया जाता है, वह सब जीव ही करता है। मन, शरीर आदि जीव के साधन हैं। अतः वही कर्ता एवं भोक्ता है, ईश्वर नहीं। महर्षि के शब्दों में, "जैसे किसी कारीगर ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया, उसकी दुकान से लोहार ने ले तलवार बनाई, उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहाँ जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनाने वाले और तलवार को पकड़कर राजा दण्ड नहीं देता किन्तु जिसने तलवार से मारा वही दण्ड पाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर उसके कर्मों का भोक्ता नहीं होता किन्तु जीव को भुगाने वाला होता है। जो परमेश्वर कर्म कराता, तो कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १७८) कर्म करने में स्वतन्त्र होने के कारण जीव स्वेच्छा व स्वविवेक से जैसे कर्म करता है, उन्हीं के अनुसार उसे इस जन्म में तथा अगले जन्मों में फल की प्राप्ति होती है। महर्षि ने लिखा है, कि "पूर्व जन्म के पाप-पुण्य के अनुसार वर्तमान जन्म और वर्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ २३७)।

कर्मफल के सिद्धान्त का जिस ढंग से महर्षि दयानन्द सरस्वती ने निरूपण किया है, उसके अनुसार पुनर्जन्म आवश्यक है। जीवात्मा अनादि, नित्य एवं अमर है। जिसे सामान्य भाषा में मृत्यु कहा जाता है, उसमें जीव अपने वर्तमान शरीर का परित्याग कर अपने कर्मों के अनुसार अन्य शरीर प्राप्त कर लेता है। इसी को पुनर्जन्म कहते हैं। इस विषय में महर्षि ने यह प्रश्न उठाकर कि यदि जन्म अनेक हों अथवा पुनर्जन्म होता हो, तो पूर्वजन्म की बातों का स्मरण क्यों नहीं होता, इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—'जीव अल्पज्ञ है त्रिकालदर्शी नहीं इसलिए स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्वजन्म की बात तो दूर रहने दीजिए इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पाँचवें वर्ष से पूर्व

तक जो-जो बातें हुई हैं उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता? और जागृत वा स्वप्न में बहुत-सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है तब जागृत आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता? और तुमसे कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व…पाँचवें महीने के नवम दिन…तुमने क्या किया था…जब इसी शरीर में ऐसा है तो पूर्वजन्म की बातों के स्मरण में शंका करना केवल लड़कपन की बात है और जो स्मरण नहीं होता है इसी से जीव सुखी है नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख-देख दुःखित होकर मर जाता।" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ २३४-३५) यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य की जीवात्मा अगले जन्म में भी मनुष्य का शरीर ही धारण करे। पुनर्जन्म होने पर कौन जीव किस योनि में जाएगा, इसका निर्धारण उसके कर्मों व पाप-पुण्य के अनुसार ही होगा। जब पाप अधिक और पुण्य न्यून हो, तो जीव पशु आदि नीच योनि में जन्म ग्रहण करता है। यदि धर्म (पुण्य) अधिक तथा अधर्म (पाप) न्यून हो, तो देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता है, और यदि पुण्य-पाप बराबर हो, तो साधारण मनुष्य के रूप में जीव नया जन्म लेता है। साथ ही, पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम व निकृष्ट होने से मनुष्यों में भी उत्तम, मध्यम व निकृष्ट शरीरादि की प्राप्ति होती है, यही मन्तव्य महर्षि को स्वीकार्य है। (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ २३८) जीव के शरीर से निकलने को मृत्यु कहते हैं, और शरीर के साथ उसके पुनः संयोग होने को 'जन्म' कहा जाता है। कर्म, पाप, पुण्य के अनुसार जन्म-मरण का यह चक्कर तब तक चलता रहता है, जब तक कि 'उत्तम कर्मोपासना ज्ञान' को करके जीव मुक्ति नहीं पा लेता। महर्षि के अनुसार नीच कर्म से नीच योनि, पुण्य पाप के बराबर होने से साधारण मनुष्य की योनि और पुण्य की अधिकता से उत्कृष्ट मनुष्य या देव की योनि प्राप्त होती है। और जब मनुष्य निरन्तर उत्तम कर्म करता हुआ, उत्तम ज्ञान प्राप्त कर परमेश्वर की उपासना में लीन रहने लगता है, तब वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर तथा सब दुःख-क्लेश से विरहित होकर महाकल्प पर्यन्त आनन्द में रहता है। इसी दशा को मुक्ति या मोक्ष कहा जाता है। कोई जीव एक ही जन्म में मोक्ष नहीं पा सकता। जब अनेक जन्मों में जीव के हृदय की अविद्या-अज्ञान रूपी गाँठ कट जाती है, सब संशय छिन्न हो जाते हैं, और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, तभी जीव मुक्ति प्राप्त करता है। महर्षि ने मुक्ति के साधनों पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार मिथ्याभाषणादि जिन कर्मों का फल दुःख है उनको छोड़ सुख रूप फल को देने वाले सत्यभाषणादि धर्माचरण मुक्ति का एक उपाय या साधन है। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य सत्पुरुषों के संग से सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य में विवेक कर धर्माचरण के लिए प्रवृत्त हो। पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म स्वभाव को जानकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करना तथा उसकी उपासना में तत्पर रहना ही विवेक है। महर्षि ने मोक्ष या मुक्ति के लिए 'षट्कसम्पत्ति' का प्रतिपादन किया है। ये षट् या छह शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान हैं। अपने आत्मा तथा अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखने को 'शम' कहते हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शम कर्मों में प्रवृत्त रहना 'दम' कहाता है। दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से दूर रहना 'उपरति' है। निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ से ऊपर उठकर मुक्ति के साधनों से लगे रहने का नाम 'तितिक्षा' है। वेदादि सत्य

शास्त्र तथा इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना 'श्रद्धा' है। चित्त की एकाग्रता को 'समाधान' कहते हैं। मोक्ष की साधना के लिए इसी 'षट्क सम्पत्ति' का आश्रय लेना चाहिए। शम, दम आदि द्वारा साधना करते हुए मनुष्य के लिए यह भी आवश्यक है, कि उसमें 'मुमुक्षुत्व' भी हो। जैसे भूख और प्यास से आतुर प्राणी को अन्न-जल के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे ही मुमुक्षु को मुक्ति और उसके साधनों के अरिरिक्त किसी अन्य में प्रीति नहीं होनी चाहिए। (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ २३१-३२) महर्षि ने मोक्ष के लिए अन्य भी अनेक उपायों व साधनों का प्रतिपादन किया है। उस सबको यहाँ लिख सकना सम्भव नही है, और न उसका विशेष उपयोग ही है। पापाचरण के त्याग तथा धर्माचरण और सत्य ज्ञान द्वारा जब जीव की अविद्या नष्ट हो जाती है, तब वह अपने शुद्ध स्वरूप में ब्रह्म में स्थित हो जाता है। यही मुक्ति की दशा है। इसमें जीव ब्रह्म या परमेश्वर में लीन नहीं हो जाता, अपितु उससे पृथक् रहता है। अपने इस मन्तव्य के पक्ष में महर्षि ने यह युक्ति दी है कि यदि मुक्ति में जीव ईश्वर में मिल जाए, तो मुक्ति का सुख कौन भोगेगा और जिन साधनों द्वारा जीव मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है वे सब निष्फल हो जाएँगे। जीव के ब्रह्म में लीन हो जाने से जीव की मुक्ति तो क्या होगी, उसका प्रलय (नाश) ही हो जाएगा। अतः मोक्ष में भी जीव अपनी पृथक् सत्ता रखता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मुक्ति में जीव का शरीर साथ रहता है या नहीं? यदि नहीं रहता, तो जीव सुख आनन्द का भोग कैसे कर सकेगा, क्योंकि सुख की प्राप्ति तो शरीर व इन्द्रियों द्वारा ही सम्भव है। इस शंका का समाधान महर्षि ने इस प्रकार किया है—"जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते उन सब में घूमता है, वह सब पदार्थों को, जो कि उसके ज्ञान से आगे हैं, सबको देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्व ज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का ज्ञान यथावत् होता है। यही सुखविशेष स्वर्ग और विषयतृष्णा में फँस कर दुःखविशेष भोग करना नरक कहाता है। 'स्वः' सुख का नाम है। "स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः अतो विपरीतो दुःखभोगो नरक इति" जो सांसारिक सुख है वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वही विशेष स्वर्ग कहाता है।" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ २३९) मुक्त अवस्था में जीव परम सुख व आनन्द का भोग करता है, क्योंकि उस दशा में वह परमेश्वर में निवास करता है, परमेश्वर उसका आधार होता है। मोक्ष की यही दशा विशेष स्वर्ग है। इससे भिन्न किसी अन्य लोक को स्वर्ग नहीं कहते। सांसारिक जीवन में, मुक्त हुए बिना भी जीव स्वर्ग-सुख पा सकता है, पर वह सामान्य स्वर्ग होगा। विशेष या सम्पूर्ण स्वर्ग तो मुक्त दशा में ही सम्भव है।

मुक्ति के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह मन्तव्य भी उल्लेखनीय है कि जीव सदा के लिए, अनन्त समय के लिए मुक्त नहीं होता। वह एक निश्चित अवधि तक परमेश्वर में व्याप्य-व्यापक भाव से रहकर और मुक्त दशा के आनन्द का भोग कर

पुनः जन्म-मरण के बन्धन में आ जाता है। अपने इस मन्तव्य की पुष्टि महर्षि ने शास्त्रों के प्रमाणों तथा युक्तियों द्वारा की है। ऋग्वेद के मन्त्रों तथा सांख्य दर्शन के एक सूत्र से अपने मन्तव्य की पुष्टि करने के पश्चात् इसके पक्ष में उन्होंने एक युक्ति यह दी है कि जीव का सामर्थ्य स्वल्प होता है, अनन्त नहीं। अल्प सामर्थ्य से अनन्त फल कैसे प्राप्त किया जा सकता है? "प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं पुनः उनका फल अनन्त कैसे हो सकता है? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिए अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ २२६) इसी प्रकार से अन्य भी अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत कर महर्षि ने मुक्त जीव के पुनः जन्म-मरण के बन्धन में फँसने के अपने मन्तव्य का प्रतिपादन किया है। महर्षि के अन्य सब मन्तव्यों की तरह यह भी वेद शास्त्रों के अनुकूल है, इसमें सन्देह नहीं। इसीलिए महर्षि ने वेदों से प्रमाण देकर भी इस मन्तव्य को सिद्ध किया है।

(८) पितृतर्पण और श्राद्ध

पौराणिक युग से वैदिक धर्म का जो स्वरूप चला आ रहा है, उसमें पितरों के तर्पण तथा श्राद्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पौराणिक लोग यह मानते हैं, कि मृत्यु के पश्चात् पितरों का तर्पण तथा श्राद्ध किया जाना चाहिए। इसके लिए अनेकविध कर्म-काण्ड विहित हैं। मृत पूर्वजों या पितरों के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है, और दान-दक्षिणा दी जाती है। यह माना जाता है कि श्राद्ध के समय जो भोजन व द्रव्य ब्राह्मणों को दिया जाएगा, वह पितरों के पास पहुँच जाएगा, और इससे वे तृप्ति अनुभव करेंगे। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती को यह बात मान्य नहीं है। पितृयज्ञ का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है, कि "उसके दो भेद हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध। उनमें से जिस कर्म को करके विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, सो 'तर्पण' कहाता है। तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है, उसी को 'श्राद्ध' जानना चाहिए। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष है, उन्हीं में घटता है, मरे हुओं में नहीं। क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है। इसीलिए उनकी सेवा नहीं हो सकती। तथा जो उनके लिए कोई पदार्थ दिया चाहे, वह भी उनको नहीं मिल सकता। इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम 'तर्पण' और 'श्राद्ध' वेदों में कहा है। क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करने वाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं।" (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृष्ठ २८६) महर्षि के अनुसार देव, ऋषि और पितर सत्कार के योग्य होते हैं, और इन्हीं का तर्पण व श्राद्ध करना चाहिए। पितरों से उन्हें परिवार के बड़े माता-पिता तथा गुरुजन अभिप्रेत हैं, मृत व्यक्ति नहीं।

चौदहवाँ अध्याय

राज्य और शासन के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचार

(१) राष्ट्रीय स्वाधीनता और स्वराज्य

महर्षि दयानन्द सरस्वती का कार्यक्षेत्र केवल धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं था। राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए भी उन्होंने प्रयत्न किया, और ऐसे विचार व मन्तव्य प्रतिपादित किए, जिनके द्वारा न केवल भारत का अपितु सम्पूर्ण विश्व का हित व कल्याण हो सकता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, विश्वशान्ति, लौकिक अभ्युदय, सामाजिक न्याय और आर्थिक उन्नति आदि के सम्बन्ध में जो चिन्तन महर्षि ने किया, वह भी अत्यन्त महत्त्व का है।

सन् १७५७ में प्लासी के युद्ध के साथ भारत में अंग्रेजी शासन का सूत्रपात हो गया था। बक्सर के युद्ध (१७६४) में परास्त होने पर मुगल सम्राट् ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों की दीवानी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को वैध रूप से प्रदान कर दी थी, और इस प्रकार से ये पूर्वी प्रदेश अंग्रेजी आधिपत्य में आ गये थे। एक सदी के लगभग तक अंग्रेज लोग भारत में अपने शासन के विस्तार के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे, और उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यह स्थिति आ गई थी कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण देश पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। यद्यपि सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के सीधे शासन में नहीं था, पर माइसूर, हैदराबाद अवध, राजस्थान, पंजाब, मध्यभारत और काश्मीर आदि के विविध राजा व नवाब अंग्रेजों के आधिपत्य को स्वीकार करने लग गए थे, और उनकी सत्ता ब्रिटिश शासकों की कृपा पर ही निर्भर रह गयी थी।

भारत के लोग विदेशी शासन से सन्तुष्ट नहीं थे। न केवल पुराने राजा, महाराजा, सामन्त, ठाकुर और जागीरदार आदि ही, अपितु सर्व-साधारण जनता भी अंग्रेजों के शासन से उद्वेग अनुभव करती थी। यदि पुराने शासक वर्ग को अपने हाथों से राजशक्ति छिन जाने के कारण आक्रोश था, तो किसान, कारीगर और मजदूर वर्गों के लोग अपनी आर्थिक दुर्दशा से परेशान थे। इसी का यह परिणाम था, कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत के अनेक प्रदेशों में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह हुए और १८५७ में जनता का अंग्रेजों

के प्रति आक्रोश एक व्यापक क्रान्ति के रूप में फूट पड़ा था। भारत का यह प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध सफल नहीं हो सका। अंग्रेज इसमें विजयी हुए, और कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा कि भारत की शक्ति ब्रिटेन के सम्मुख सर्वथा नगण्य है। भारत के इतिहास में साधु-संन्यासियों और ब्राह्मणों का सदा महत्त्व रहा है। जनता को धर्म का मार्ग प्रदर्शित करने के साथ-साथ वे देश की राजनीति में भी भाग लेते रहे हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक नीति और अत्याचारों के कारण जब बंगाल की जनता अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हो गई, तो संन्यासियों ने वहाँ अंग्रेजी शासन के विरुद्ध किया और कम्पनी की सेनाओं से लड़ाई छेड़ दी। अन्त में यद्यपि अंग्रेज संन्यासी विद्रोह का दमन करने में समर्थ हुए, पर यह स्वीकार करना होगा कि कुछ समय के लिए संन्यासी सैनिकों के कारण बंगाल में अंग्रेजों की स्थिति डाँवाडोल हो गयी थी। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में भी साधु-संन्यासियों, ब्राह्मणों और मुसलिन फकीरों का महत्त्वपूर्ण कर्तृव्य था। उस युग में ये ही सर्वसाधारण जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया करते थे। १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में जिस ढंग से भारतीयों की पराजय हुई थी, उसके कारण जहाँ पुराने राजा, महाराजा, सामन्त और जागीरदार अपने को असहाय अनुभव करने लगे, वैसे ही साधु-संन्यासियों के लिए भी यह संभव नहीं रह गया कि वे विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि को प्रज्ज्वलित रख सकें। ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब भारत में कोई ऐसी शक्ति नहीं रह गयी, जो देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर सके। यही समय था, जबकि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने यह प्रतिपादित करना प्रारम्भ कर दिया था, कि गौरांग लोग सब मनुष्यों में उत्कृष्ट हैं और एशिया तथा अफ्रीका के निवासियों को सभ्य बनाने का मत्त्हवपूर्ण कार्य ईश्वर द्वारा उनके सुपुर्द किया गया है। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक व उचित है कि पाश्चात्य देश एशिया तथा अफ्रीका पर शासन करें। पाश्चात्य विद्वानों के इस मन्तव्य का प्रभाव भारतीयों पर भी पड़ना प्रारम्भ हो गया था। अंग्रेजों के सम्पर्क के कारण जिन भारतीयों ने अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त की थी, वे इस विदेशी शासन को अपने देश के लिए न केवल स्वाभाविक व समुचित मानने लगे थे, अपितु यह भी समझने लगे थे कि यह शासन उनके लिए वस्तुतः हितकारी है।

ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम और हालैण्ड सदृश पाश्चात्य देश उन्नीसवीं सदी में एशिया तथा अफ्रीका के बहुत-से देशों को अपनी अधीनता में ले आ सकने में समर्थ हो गये थे। इसका कारण यह था, कि नये वैज्ञानिक आविष्कारों और औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इन देशों के हाथों में ऐसे साधन आ गये थे, जो भारत आदि प्राच्य देशों के पास नहीं थे। अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में ब्रिटेन, फ्रांस आदि यूरोपियन देशों की प्रायः वही दशा थी, जो चीन, भारत आदि प्राच्य देशों की थी। उस समय यूरोप का किसान भी हल से जमीन जोतता था, खुरपी से उसकी नलाई करता था और दराँती से फसल काटता था। कारीगर तकुए पर सूत कातते थे और लकड़ी से बनी खड्डी पर कपड़े की बुनाई करते थे। लकड़ी से बनी गाड़ियाँ असबाब ढोने और यात्रा करने के काम आती थीं। घोड़े की अपेक्षा तेज चलने वाली कोई सवारी उस समय यूरोप में भी नहीं थी। पर अठारहवीं सदी में इस दशा में परिवर्तन आना शुरू हुआ। नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण पश्चिमी यूरोप के लोग भाप और बिजली की यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग करने लगे और ऐसे कारखाने स्थापित होने शुरू हुए, जिनमें यान्त्रिक शक्ति द्वारा बड़ी

मात्रा में माल तैयार किया जाता था। इतिहास में इसी को 'औद्योगिक क्रान्ति' कहा जाता है। उन्नीसवीं सदी के शुरू में लोकोमोटिव इंजन का भी आविष्कार हुआ, और १८२५ में इंग्लैण्ड में पहले-पहल रेलवे का प्रयोग होने लगा। औद्योगिक क्रान्ति के कारण पाश्चात्य देशों के पास ऐसे अस्त्र-शस्त्र और अन्य साधन आ गये, जिनका प्रयोग कर वे एशिया तथा अफ्रीका के उन देशों को अपने प्रभुत्व में ले आने में समर्थ हो गये, जहाँ अभी नये वैज्ञानिक आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात नहीं हुआ था। पर यह कोई असाधारण बात नहीं थी। मंगोल लोग, जो प्रशान्त महासागर से लगाकर वोल्गा नदी से भी पश्चिम तक और उत्तरी समुद्र से ईरान की खाड़ी तक अपना विशाल साम्राज्य स्थापित कर सके थे, उसका कारण बारूद और तोपों का आविष्कार था, जिसका प्रयोग युद्धों के लिए सबसे पूर्व मंगोलों द्वारा किया गया था। नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जो उत्कृष्ट साधन पाश्चात्य लोगों के हाथों में आ गए थे, उनका उपयोग कर जब उन्होंने प्राच्य देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, तो वे यह भी प्रतिपादित करने लगे कि उनकी सभ्यता, धर्म, भाषा, साहित्य, संस्कृति आदि विश्व में सर्वोत्कृष्ट हैं, और उन्हें पिछड़े हुए प्राच्य लोगों को सभ्य बनाना है। पर वैज्ञानिक आविष्कार सदा के लिए किसी एक देश तक ही सीमित नहीं रह सकते। गणित, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र आदि के क्षेत्र में जो आविष्कार प्राचीन समय में भारत में हुए थे, वे धीरे-धीरे पहले अरब में और फिर अरबों द्वारा यूरोप में चले गये थे। इसी प्रकार अठारहवीं सदी में जो नये वैज्ञानिक आविष्कार पश्चिमी यूरोप में हुए, वे भी धीरे-धीरे अन्य देशों में गये, और विश्व के अन्य देशों में भी औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात प्रारम्भ हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजों के सम्पर्क से भारत में इस प्रक्रिया के विकास में कुछ सहायता अवश्य मिली। पर यह नहीं समझना चाहिए, कि अंग्रेजी प्रभुत्व के अभाव में नये युग की प्रवृत्तियाँ भारत में प्रारम्भ न हो पातीं। जापान कभी किसी पाश्चात्य देश के अधीन नहीं रहा। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक जापान की प्रायः वही दशा थी, जो अठारहवीं सदी में भारत की थी। पर जब जापानी लोगों ने एक बार यह अनुभव कर लिया, कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में वे पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत पीछे रह गये हैं, तो वे उन्नति के लिए तत्पर हो गये और आधी सदी के स्वल्प काल में ही वे अनेक यूरोपियन देशों से भी आगे बढ़ गये।

ज्ञान-विज्ञान और औद्योगिक उन्नति में भारत की तुलना में बहुत आगे होने के कारण अंग्रेज लोग इस देश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हो गये थे, और भारत की उन सब शक्तियों पर उन्होंने काबू पा लिया था, जिन्होंने कि १८५७ में उनके शासन के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष किया था। भारत को सदा के लिए अपनी अधीनता में ले आने के उद्देश्य से उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का इस देश में प्रारम्भ किया। ब्रिटिश सरकार और ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में जो भारतीय विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, अंग्रेजों की उत्कृष्टता पर वे विश्वास करने लगते थे और यह मानने लगते थे कि उनके अपने देश की सभ्यता व संस्कृति अत्यन्त हीन है। पर इस नवीन अंग्रेजी शिक्षा का एक परिणाम यह भी हुआ कि भारतीयों को उन नयी विचारधाराओं से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला जो उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड तथा अन्य पाश्चात्य देशों में प्रादुर्भूत हो चुकी थीं। इस युग में यूरोप में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए थे, जो लोकतन्त्र शासन और राष्ट्रीयता के पक्षपाती थे। वाल्तेयर, रूसो और मांतस्क्यू सदृश विचारकों

की पुस्तकों के कारण ही फ्रांस की जनता में बूर्बों वंश के स्वेच्छाचारी और निरंकुश राजाओं के शासन के विरुद्ध भावना उत्पन्न हुई थी, और १७८६ में वहाँ राज्यक्रान्ति हो गयी थी। इन फ्रेंच क्रान्तिकारियों का साहित्य अंग्रेजी में भी उपलब्ध था। स्वयं इंग्लैण्ड में जान स्टुअर्ट मिल और स्पेन्सर आदि ने लोकतन्त्रवाद के समर्थन में अनेक पुस्तकें लिखी थीं। अंग्रेजी साहित्य राष्ट्रीयता राजनीतिक स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद सदृश प्रगतिशील विचारों से परिपूर्ण था। अंग्रेजी सीख लेने के कारण सुशिक्षित भारतीयों को भी इस साहित्य से परिचित होने का अवसर मिला और उनमें भी स्वाधीनता व राष्ट्रीयता के नये विचार प्रसारित होने प्रारम्भ हो गये। अंग्रेजी द्वारा भारतीय उस नए ज्ञान-विज्ञान से भी परिचित हुए, जो इस काल में पाश्चात्य देशों में विकसित हो रहा था। अनेक युवक उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इस समय विदेश भी जाने लगे। वहाँ जाकर उन्होंने जहाँ नये ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण की, वहाँ साथ ही यह भी देखा कि यूरोप के विभिन्न देशों में शासन की क्या पद्धति है, वहाँ किन विचारों का प्रचार है, और वहाँ के लोगों के क्या आदर्श हैं। पर अंग्रेजी शिक्षा ने गौराङ्ग लोगों की उत्कृष्टता का विचार इन शिक्षित भारतीयों में इतने सुदृढ़ रूप से बद्धमूल कर दिया था, कि वे विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह करके राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति की कल्पना तक भी नहीं कर सके। वे यही समझते रहे कि अंग्रेजी शासन दैवी विधान का परिणाम है, और भारतीयों का हित इसी में है कि वे ब्रिटिश क्राउन की अधीनता में रहते हुए अंग्रेजों के पथ-प्रदर्शन में अपनी उन्नति के लिए तत्पर रहें। सन् १८५७ के बाद भारत में अंग्रेजी शासन के विरूद्ध ऐसे संघर्ष बहुत कम हुए, जिनमें सर्वसाधारण लोगों का हाथ था। नयी शिक्षा से प्रभावित भारतीयों में यह विचार उस समय अवश्य उत्पन्न हो गया था, कि देश के शासन में उनका भी कुछ योगदान होना चाहिए, पर वे यह सोच भी नहीं सकते थे कि भारत का शासन पूर्णतया भारतीयों के ही हाथों में रहना चाहिए, और उनके देश पर विदेश का प्रभुत्व सर्वथा अनुचित है।

पाश्चात्य जगत् की प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित होकर अनेक भारतीयों ने ऐसे संगठनों का निर्माण प्रारम्भ किया, जिनका उद्देश्य सुशिक्षित वर्ग को संगठित कर अंग्रेजों से भारतीय शासन में सुधार कराना था। ऐसा एक पुराना व महत्त्वपूर्ण संगठन 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन' था, जिसकी स्थापना सन् १८५१ में कलकत्ता में हुई थी। इसके प्रधान श्री राधाकान्त देव और मन्त्री श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर थे। इसके कुछ समय बाद बम्बई में 'बोम्बे एसोसियेशन' और मद्रास में 'मद्रास नेटिव ऐसोसियेशन' स्थापित किए गए। ये संगठन राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए कोई आन्दोलन नहीं करते थे। इनका प्रयोजन केवल यह था कि सरकारी कानूनों तथा शासन कार्यों की समय-समय पर आलोचना करते रहें। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की सेवा में आवेदनपत्र भेजते रहने और भारतीय जनता की दुर्दशा के प्रति उसका ध्यान आकृष्ट करने तक ही इनका कार्य सीमित था। बाद में अन्य भी अनेक ऐसी संस्थाएँ कायम हुईं, जो सब उस राष्ट्रीय चेतना का परिणाम थीं जिसकी प्रेरणा भारत के सुशिक्षित वर्ग द्वारा पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क से प्राप्त की जा रही थीं। १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के पश्चात् भारत का शासन ब्रिटिश क्राउन ने सीधे अपने हाथों में ले लिया था, और उस द्वारा नियुक्त 'वायसराय व गवर्नर-जनरल' देश के शासन का संचालन करने लगा था। भारत के शासन को अपने हाथों में लेते हुए

महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणापत्र प्रकाशित किया था, उसमें यह आश्वासन दिया गया था कि भविष्य में सम्राट् की सम्पूर्ण प्रजा (भारतीय एवं इंगलिश) के प्रति समानता का बरताव किया जाएगा और भारतीयों की भी निष्पक्ष रूप से सरकारी पदों पर नियुक्ति की जाया करेगी। ब्रिटिश शासन के नये स्वरूप से उत्साहित होकर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने यह माँग शुरू की, कि उन्हें देश के शासन में हाथ बँटाने का अवसर प्रदान किया जाए। अपनी माँग को पूरा कराने के लिए उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन भी शुरू किए। इस प्रयोजन से स्थापित एक संगठन 'इण्डियन एसोसियेशन' था, जिसकी स्थापना सन् १८७६ में कलकत्ता में की गई थी। इसके अन्यतम नेता श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी थे। १८७७ में उन्होंने उत्तरी भारत का भ्रमण किया, और अगले वर्ष दक्षिणी भारत का। यात्रा का प्रयोजन यह था, कि देश भर के राष्ट्रीय विचारों के सुशिक्षित व्यक्तियों को परस्पर परिचय प्राप्त करने का अवसर मिले और वे संगठित होकर अपनी माँगें सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर सकें। इण्डियन एसोसियेशन की ओर से सन् १८८० में श्री लालमोहन घोष इंग्लैण्ड गये। वहाँ उस समय ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के नये चुनाव की तैयारी हो रही थी। घोष महोदय का इस अवसर पर इंग्लैण्ड जाने का उद्देश्य यह था, कि वहाँ के मतदाताओं को भारत की समस्याओं का बोध कराएँ। इण्डियन ऐसोसियेशन के समान अन्य भी अनेक संगठन इस काल में कायम हुए, जिनमें पूना की सार्वजनिक सभा और मद्रास की महाजन सभा उल्लेखनीय है। इसी परम्परा में सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई।

पर ये सब संगठन अंग्रेजी शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि के समान भारत को भी एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, पूर्णतया स्वतन्त्र राज्य होना चाहिए, यह विचार भी इन संगठनों के नेताओं के मन में नहीं आया था। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन (१८८५) के प्रधान श्री उमेशचन्द्र बैनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण का समापन इन शब्दों के साथ किया था—"ग्रेट ब्रिटेन ने हमें शान्ति और व्यवस्था प्रदान की है, उसने हमें रेलवे दी है, और सबसे बढ़कर उसने हमें पाश्चात्य शिक्षा का अमूल्य वरदान दिया है। पर अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है।...यूरोप में शासन के सम्बन्ध में जो विचार वर्तमान समय में प्रचलित हैं, यदि भारतीय लोग उनके अनुसार अपने देश के शासन के संचालन की इच्छा करें, तो यह बात ब्रिटिश सरकार के प्रति उनकी भक्ति की भावना में किसी भी प्रकार बाधक नहीं होगी। भारतीयों की केवल यही आकांक्षा है कि सरकार के आधार को अधिक विस्तृत किया जाए और जनता का उसमें समुचित हाथ हो।" कांग्रेस के इस प्रथम वार्षिक अधिवेशन में जो प्रस्ताव स्वीकृत किए गए, उन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग के गण्यमान्य सुशिक्षित भारतीयों के सम्मुख न विदेशी शासन से मुक्त होने का कोई प्रश्न था, और न वे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आवाज ही बुलन्द करना चाहते थे। उनके संतोष के लिए यही पर्याप्त था कि भारत के शासन में कतिपय सुधार कर दिए जाएँ। उनका यह विचार नहीं था, कि भारत में विदेशियों का शासन अनुचित है। पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता व स्वराज्य की कल्पना तक अभी उनमें उत्पन्न नहीं हुई थी। उनके लिए यही पर्याप्त था कि अंग्रेज शासकों को इस बात का विश्वास दिला दिया जाए कि भारत में भी एक ऐसा वर्ग है जो शिक्षा, ज्ञान आदि में पर्याप्त रूप से उन्नत है और जो ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति पूर्ण

निष्ठा व भक्ति रखते हुए देश के शासन में अंग्रेजों का हाथ बँटा सकता है। उस युग के कांग्रेस के अधिवेशनों में स्पष्ट रूप से ब्रिटिश शासन के प्रति आस्था प्रकट की जाती थी, और अनेक बार महारानी विक्टोरिया की जय-जयकार भी बोली जाती थी।

१८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध के विफल हो जाने के पश्चात् के काल में भारत की राजनीति का यही रूप था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आकर जो अनेक महानुभाव इस काल में समाज सुधार और धार्मिक सुधारणा आदि के लिए प्रयत्नशील थे, देश की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का प्रश्न उनके सम्मुख भी विद्यमान नहीं था। वे यह अनुभव करते थे कि भारत की अवनति का कारण वे बुराइयाँ हैं जो यहाँ के धर्म एवं समाज में प्रविष्ट हो गयी हैं। इनके निवारण के लिए वे अवश्य प्रयत्नशील थे। पर राजनीतिक दासता भी एक बहुत बड़ी बुराई है, इस तथ्य की ओर उनका ध्यान नहीं गया था। इसी का यह परिणाम था, कि भारतीयों में अपने धर्म, संस्कृति एवं परम्पराओं के प्रति हीनता की भावना में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी, और सुशिक्षित लोग निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करने लग गए थे कि अंग्रेज उनकी तुलना में सब दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं और उनका यह सौभाग्य है कि वे इस विदेशी शासन में सुख शान्ति पूर्वक जीवन बिताते हुए नवीन सभ्यता को अपनाने का अवसर प्राप्त कर रहे हैं।

भारतीयों में निरन्तर बढ़ती हुई इस हीन भावना को दूर करने का प्रयत्न सबसे पहले महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया। उन्होंने अपने देशवासियों का ध्यान भारत के प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट कर यह प्रतिपादित किया, कि यह देश संसार का शिरोमणि है, इसकी सभ्यता, धर्म और संस्कृति सर्वोत्कृष्ट है, इसके सदृश विश्व में कोई अन्य देश नहीं है, कभी संसार के सभी देशों पर यहाँ के आर्यों का राज्य था, सर्वत्र यहाँ के धर्म का प्रचार था, ज्ञान-विज्ञान में भी भारत सबका अग्रणी था, और वह समय दूर नहीं है जबकि एक बार फिर यह देश अपने प्राचीन विलुप्त गौरव को प्राप्त कर लेगा। महर्षि के शब्दों में, "यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके समान भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसीलिए इस भूमि का नाम स्वर्णभूमि है।...जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है वह बात तो झूठी है परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।...सृष्टि से लेके पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था, अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे, क्योंकि कौरव-पाण्डव पर्यन्त यहाँ के राज्य और राजशासन में भूगोल के सब राजा और प्रजा रहते थे।" महाराजा युधिष्ठिर जी के राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध पर्यन्त यहाँ के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो! चीन का भगदत्त, अमेरिका का बभ्रुवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार सदृश आँख वाले, यवन जिनको यूनान कह आये और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में आज्ञानुसार आए थे।" (सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ २६२) जिस युग में सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों से पदाक्रान्त हो चुका था, पाश्चात्य देशों की विजय पताकाएँ एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों के प्रायः सभी देशों में फहरा रही थीं, भारत का सुशिक्षित वर्ग अंग्रेजी शासन को एक वरदान मान रहा था, और हीन भावना सब भारतीयों में घर करती जा रही थी, महर्षि

दयानन्द सरस्वती का यह कथन क्रान्ति के प्रचण्ड घोष के समान था। यूरोप के समुन्नत वैज्ञानिक आविष्कार भी महर्षि में हीन भावना उत्पन्न नहीं कर सके थे। उनका मन्तव्य था कि तोप, बन्दूक आदि जिन अस्त्र-शस्त्रों, यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले जिन यानों और तार टेलीफोन आदि संचार के जिन साधनों पर पाश्चात्य लोग अभिमान करते हैं वे सब और उनसे भी उत्कृष्ट उपकरण प्राचीन काल में भारत में विद्यमान थे। वेदों के आधार पर उन्होंने ऐसे यानों की सत्ता प्रतिपादित की, जो आकाश, जल और स्थल सर्वत्र समान रूप से आ-जा सकते थे। यह ध्यान में रखना चाहिए, कि विमानों (हवाई जहाजों) का आविष्कार बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भी नहीं हुआ था। भारत के लोग कहीं पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के सम्मुख अपने को हीन न समझने लगें, इसलिए महर्षि ने कहा—"जितनी विद्या भूगोल में फैली है वह सब आर्यावर्त देश से मिस्र वालों, उनसे यूनानी, उनसे रूम और उनसे यूरोप देश में उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।" (सत्यार्थ-प्रकाश, पृष्ठ २६४) जब भारत विश्व का सबसे समुन्नत देश रह चुका है, तो यदि वह कतिपय कारणों से कुछ समय के लिए उन्नति की दौड़ में पीछे रह गया, तो इसमें निराशा या हीन भावना की क्या बात है? महर्षि ने उन कारणों का भी विवेचन किया है, जिनसे इस देश की अवनति प्रारम्भ हुई। उनके शब्दों में "यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थरहितता, ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्यासुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं जैसे कि मांस, मद्य सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते हैं, और जब युद्ध विभाग में युद्ध विद्या कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करने वाला दूसरा न हो तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं, तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से कोई ऐसा समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे।" (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २६३)।

महर्षि का मन्तव्य था कि महाभारत युद्ध के पश्चात् भारत में यही सब हुआ, और इन्हीं के कारण इस देश की शक्ति का ह्रास प्रारम्भ हुआ। वे यह मानते थे कि "विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण व वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।" "जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकार पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पाँच सहस्र वर्ष पूर्व हुई थीं, उनको भूल गए? देखो, आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया। सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख सागर में डुबा मारेगा। इसी दुष्ट दुर्योधन, गोत्र हत्यारे, स्वदेश-विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जावे।" (सत्यार्थप्रकाश) महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचार में भारत पर ब्रिटिश लोग जो अपना शासन स्थापित करने में समर्थ हुए थे, उसका कारण उनका भारतीयों से उत्कृष्ट होना नहीं था, उसका कारण आपसी फूट का वह राजरोग था जिसका प्रारम्भ महाभारत युग में हो चुका था। इसमें सन्देह नहीं

कि भारत की पराधीनता के जिन कारणों का महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रतिपादन किया था, वे पूर्णतया सत्य हैं। पतन के इन कारणों को दूर कर देने पर भारत अपने विलुप्त गौरव को पुनः प्राप्त कर सकता है, यह महर्षि का मन्तव्य था। भारत की जनता में ये दोष उन्नीसवीं सदी के मध्य में भी विद्यमान थे, और आज भी इनकी सत्ता पूर्ववत् ही है। आपस की फूट, विषयासक्ति आदि दोषों के कारण यदि कोई देश दूसरों की अधीनता में आ जाए, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। इसीलिए महर्षि ने लिखा था कि "सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती, सार्वभौम आर्यकुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पदाक्रान्त हो रहे हैं।" आर्यों का यह अभाग्योदय किन कारणों से हुआ, इस पर महर्षि ने बार-बार प्रकाश डाला है। विदेशियों का शासन उनकी आखों में शूल की तरह चुभता था। यह वह समय था, जबकि भारत के सुशिक्षित सम्भ्रान्त लोग अंग्रेजी शासन को ईश्वरीय विधान व वरदान मानते थे, और यह समझते थे कि भारतीयों का हित ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा बनकर रहने में ही है। पर महर्षि दयानन्द की दृष्टि में विदेशी शासन न केवल अनुचित और अन्याय्य ही था, अपितु उसके प्रति उनके मन में घोर आक्रोश भी था। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। उसके दौरान अंग्रेजों ने भारतीयों पर जो अमानुषिक अत्याचार किए थे और जिस प्रकार हिन्दू देवस्थानों को नष्ट किया था, उस सबका उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था। इससे उन्हें जो आक्रोश हुआ, उसे एक स्थान पर उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है—"जब संवत् १९१४ (अर्थात् सन् १८५७) में तोपों के मारे मन्दिर की मूर्ति अंग्रेजों ने उड़ा दी थी तब मूर्ति कहाँ गयी थी? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता दिखाई और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्री कृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और यह भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाए, उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें।" (सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ३१२) महर्षि ने इन शब्दों में जहाँ मूर्ति की अशक्तता प्रकट की है, वहाँ साथ ही उन अंग्रेजों के प्रति रोष भी प्रकट किया है जिन्होंने कि मन्दिर में प्रतिष्ठापित मूर्ति को नष्ट किया था। मूर्तिपूजा के प्रबल विरोधी होते हुए भी महर्षि दयानन्द उन अंग्रेजों के धुर्रे उड़ा देने के समर्थक थे, जिन्होंने कि मन्दिर को भ्रष्ट किया था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रबल पक्षपाती थे। भारत पर जिस प्रकार विदेशी शासन स्थापित था, उससे वे उद्वेग अनुभव करते थे। उन्होंने लिखा है कि "अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृष्ठ २१४) १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की विफलता के पश्चात् महारानी विक्टोरिया ने यह

घोषणा की थी कि भारत के शासन के लिए ऐसी नीति को बरता जाएगा, जिसमें किसी के प्रति धार्मिक विश्वास आदि के आधार पर भेदभाव व पक्षपात नहीं होगा, जिसमें भारत के निवासियों के प्रति भी हमारी वही जिम्मेवारियाँ होंगी जो कि अन्य प्रजा के प्रति हमारी हैं, और उन लोगों के प्रति भी दया प्रदर्शित की जाएगी जिन्होंने कि १८५७ के संग्राम में ब्रिटिश जनों की हत्या के अतिरिक्त अन्य अपराध किए थे। इस घोषणा से वे लोग अत्यधिक संतुष्ट थे, जो अंग्रेजी शासन को भारत के लिए वरदान समझते थे। सर्वसाधारण जनता ने भी इसका स्वागत किया था। उसे आशा थी कि अब देश में एक ऐसा शासन स्थापित हो जाएगा, जो न्याय पर आश्रित होगा और जिसमें सबके प्रति पक्षपात-शून्य व्यवहार होगा। १८५७ के बाद के वर्षों का भारत का वातावरण ऐसा था, जिसमें कि अंग्रेजी शासन का विरोध प्रायः नगण्य था और जिसमें लोग यह अनुभव करते थे कि भारत में जो शान्ति और व्यवस्था कायम है उसका श्रेय ब्रिटिश शासन को दिया जा सकता है। अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में जब औरंगजेब की साम्प्रदायिक नीति के कारण मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड होने लग गया, तो भारत के इतिहास में अव्यवस्था और अशान्ति के युग का सूत्रपात हुआ। ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन काल भी प्रधानतया युद्धों में व्यतीत हुआ, और सर्वसाधारण जनता को शान्ति से जीवन बिता सकने की परिस्थितियाँ प्राप्त नहीं हो सकीं। डेढ़ सदी के पश्चात् अब वह समय आया था, जब देश में शान्ति थी, और एक व्यवस्थित शासन स्थापित था। ब्रिटिश क्राउन द्वारा इस समय यह भी दावा किया जा रहा था, कि भारत पर अंग्रेजों का शासन न्याय पर आश्रित है और उसमें किसी के प्रति पक्षपात नहीं किया जाता। इस दशा में यदि भारतीय जनसाधारण भी इस विदेशी शासन का स्वागत करने लगे, तो यह अस्वाभाविक नहीं था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण भारत में अकेले महर्षि दयानन्द सरस्वती ही ऐसे चिन्तक थे, जिन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि 'मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है, और कोई कितना ही कहे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।' महर्षि के इन वाक्यों से स्पष्ट झलक मिलती है, कि महारानी विक्टोरिया की घोषणा और भारतीयों पर उससे उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया उनके सम्मुख थी। वे जनता को यह जताना चाहते थे कि अंग्रेज लोग इस देश में चाहे एक ऐसा शासन स्थापित करने में समर्थ भी हो जाएँ, जो न्याय पर आधारित तथा पक्षपात से शून्य हो, पर वह स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता। राष्ट्रीय स्वाधीनता और स्वराज्य का यह उदात्त स्वरूप आधुनिक युग में सबसे पूर्व महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ही प्रतिपादित किया था। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल का काल भी उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में है। उन्होंने यह मन्तव्य निरूपित किया था कि "सुराज स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता।" महर्षि ने इसी मन्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट व सशक्त रूप से प्रतिपादित किया है, और वह भी मिल से पहले तथा इस अंग्रेज विद्वान् व उसकी कृतियों से कोई भी परिचय न होते हुए।

पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि महर्षि दयानन्द की दृष्टि में भारत में अंग्रेजों का शासन 'सुराज' था, अथवा वह न्याय के अनुसार एवं पक्षपातरहित रूप से संचालित होता था। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि अंग्रेजों के शासन में गोरों के प्रति

पक्षपात किया जाता है। उनके शब्दों में, "ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी कर छोड़ देते हैं।" ईसाई से यहाँ महर्षि को अंग्रेज अभिप्रेत हैं। उन्हीं के विरुद्ध महर्षि का यह कथन है, कि गोरे (अंग्रेज) द्वारा काले (भारतीय) की हत्या कर दिये जाने पर भी बहुधा उसे निरपराधी प्रमाणित कर छोड़ दिया जाता है। यह तथ्य महर्षि ने उस समय घोषित किया था, जबकि आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीय अंग्रेज सरकार की न्यायप्रियता की दुहाई देते हुए नहीं थकते थे; केवल न्याय के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु राजकीय कर-प्रणाली आदि के सम्बन्ध में भी महर्षि को अंग्रेजी शासन से अनेक शिकायतें थीं। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में उन्होंने लिखा था, कि "एक तो यह बात है कि नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है मुझको अच्छा मालूम नहीं होता क्योंकि नोन बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं, किन्तु सबको नोन आवश्यक होता है और वे मेहनत मजदूरी से जैसे-तैसे निर्वाह करते हैं उनके ऊपर भी यह नोन का (कर) दण्डतुल्य रहता है। इससे दरिद्रों को क्लेश पहुँचता है। अतः कर (टैक्स) लवणादिकों के ऊपर न चाहिए। पौन रोटी से भी गरीबों को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले जाए या लकड़ी का भार (तो) उनके ऊपर कौड़ियों के लगने से उनको अवश्य क्लेश होता होगा, इससे पौन रोटी का जो कर स्थापन करना है सो भी हमारी समझ से अच्छा नहीं।" महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आन्दोलन का प्रारम्भ नमक कानून के विरुद्ध ही किया था (सन् १९३०)। नमक एक ऐसी वस्तु है जिसका प्रयोग गरीब-से-गरीब आदमी द्वारा भी किया जाता है। सरकार ने उस पर भी कर लगा रखा था, और सरकार से लाइसेन्स लिये बिना कोई व्यक्ति नमक का निर्माण नहीं कर सकता था। कर के कारण नमक बाजार में महँगा बिकता था, और इसीलिए गांधीजी इस कर को अनुचित व अन्याय्य समझते थे। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने महात्मा गांधी से आधी सदी से भी अधिक समय पूर्व स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया था कि नमक सदृश वस्तु पर कर लगाना सर्वथा अनुचित है। सरकारी कचहरियों में आवेदनपत्र व मुकदमे दायर करते हुए जो कागज (स्टाम्प) खरीदना होता है, उसकी कीमत में वृद्धि भी महर्षि की दृष्टि में अनुचित थी। उन्होंने कहा था—"सरकार कागज को बेचती है और बहुत-सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है। इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है। सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं, क्योंकि इसके होने से गरीब लोग दुःख पाके बैठे रहते हैं। कचहरी में बिना धन के कुछ बात होती नहीं, इससे कागजों के ऊपर जो बहुत धन लगाया है सो मुझको अच्छा मालूम नहीं देता।" सम्भवतः, महर्षि दयानन्द सरस्वती पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कि अंग्रेजी शासन के दोषों को स्पष्ट व निर्भीक रूप से जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया था। उनका यह मन्तव्य तो था ही, कि "जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि होता है," और "माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुख-दायक नहीं है।" पर वे अंग्रेजों के विदेशी शासन को पूर्णतया न्याय के अनुरूप एवं पक्षपात से रहित नहीं मानते थे, और यह भी स्पष्टतया कहते थे कि इस शासन में गरीबों के प्रति समुचित नीति का अनुसरण नहीं किया जा रहा है।

'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग भी सबसे पहले महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा ही किया गया था। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने 'स्वदेशी राज्य' शब्द प्रयुक्त किया है, और

आर्याभिविनय में 'स्वराज्य' का। परमेश्वर की प्रार्थना करते हुए वे कहते हैं—"हमको भी सत्य विद्या से युक्त सुनीति दे के साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिए। हम पर सहाय करो, जिससे सुनीतियुक्त हो के हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।" ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में भी महर्षि ने स्वराज्य शब्द प्रयुक्त किया है।

महर्षि के हृदय में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना इतनी बद्धमूल थी, कि वेदों का भाष्य करते हुए भी अनेक मन्त्रों में उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रार्थना की है। यजुर्वेद भाष्य (१५/५) में उन्होंने कहा है, कि 'मनुष्यों को चाहिए कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ा के स्वाधीनता निरन्तर स्वीकार करें।" एक अन्य वेदमन्त्र के आधार पर प्रार्थना करते हुए महर्षि का कथन है कि "हे महाराजधिराज परब्रह्म ... अन्य देश-वासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" (आर्याभि-विनय)।

(२) स्वदेशी

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश में स्वराज्य के लिए 'स्वदेशी राज्य' शब्द का जो प्रयोग किया है, उसका भी अपना विशेष महत्त्व है। देशवासियों का अपना ऐसा स्वशासन भी हो सकता है, जिसमें अपनी विशेषताओं का अभाव हो। देश या भूमि राष्ट्र का कलेवर होती है, पर उसकी आत्मा संस्कृति होती है। भाषा, धर्म, रहन-सहन, परम्पराएँ, कला आदि संस्कृति के विविध अंग हैं। स्वदेशी राज्य वही होगा, जिसमें अपनी संस्कृति की रक्षा के साथ-साथ उसका संवर्धन व विकास भी किया जाता हो। यही कारण है, जो महर्षि ने स्वदेशीय संस्कृति को बहुत महत्त्व दिया है। उनका मन्तव्य था, कि सब भारतीयों को स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए, अपनी भाषा, अपने धर्म तथा अपनी परम्पराओं का आदर करना चाहिए, और भारत का जो अपना है उसे अपनाये रहने में गौरव अनुभव करना चाहिए। अंग्रेजों के स्वदेश प्रेम की प्रशंसा करते हुए महर्षि ने लिखा है, कि "देखो! अपने देश के बने हुए जूते को ऑफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लो कि अपने देश के बने हुए जूतों का भी कितना मान-प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। देखो! कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आए यूरोपियों को हुए, आज तक यह लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत-से लोगों ने उनकी नकल कर ली, इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धि-मान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं और जो जिस काम पर रहता है उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्ती बराबर रहते हैं। अपने देश वालों को व्यापार आदि में सहायता देते हैं, इत्यादि गुणों और अच्छे-अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है। मुण्डे जूते, पतलून, कोट, होटल में खाने-पीने आदि साधारण और बुरे कामों से नहीं बढ़े हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ३७१)।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ब्राह्मसमाज आदि के जो सुधार आन्दोलन भारत में प्रारम्भ हुए थे, उनके लिए प्रेरणा प्रधानतया पाश्चात्य जगत् से ली गयी थी। इसी कारण उनके नेता भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं को समुचित महत्त्व नहीं देते थे। उनकी आलोचना करते हुए महर्षि ने लिखा है, कि "इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है।

ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं। खानपान, विवाहादि के नियम भी बदल दिए हैं। अपने देश की प्रशंसा या पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही उसके बदले पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजी के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई भी विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आए हैं। इनकी उन्नति कभी नहीं हुई।··· भला जब आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न जल खाया-पिया अब भी खाते-पीते हैं अपने माता, पिता, पितामहादि के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों को एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करते हैं। इंगलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है?" (स० प्र०, ११ स०, पृ० ३६६-७०) पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने की जो प्रवृत्ति इस युग में भारत में विकसित हो रही थी, और उसके कारण अपनी संस्कृति के प्रति जो हीन भावना उत्पन्न होने लगी थी, उस पर महर्षि ने कितने मार्मिक रूप से दुःख प्रकट किया है। भारत की प्राचीन परम्पराओं और अपने पूर्वजों को भुलाकर यूरोपियन विद्वानों की प्रशंसा करने की जो प्रवृत्ति पढ़े-लिखे सम्भ्रान्त वर्ग में उत्पन्न हो रही थी, उसके सम्बन्ध में महर्षि का यह कथन महत्त्व का है—"ऋषि-महर्षियों के किए उपकारों को न मानकर ईसा आदि के पीछे झुक पड़ना अच्छा नहीं। ब्रह्मा से लेकर पीछे आर्यावर्त में बहुत-से विद्वान् हो गये हैं, उनकी प्रशंसा न करके यूरोपियन की स्तुति में उतर पड़ना पक्षपात और खुशामद के बिना क्या कहा जाय?"

स्वदेश में निर्मित्त वस्तुओं से महर्षि को कितना प्रेम था, यह उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट हो जाता है—"हम और आपको उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है आगे भी होगा, उसकी उन्नति तन, मन,धन से सब मिलकर प्रीति से करें।" महर्षि ने स्वदेशी के प्रचार के लिए प्रयत्न भी किया। वे अपने अनुयायियों को सदा इस बात के लिए प्रेरित करते थे कि वे केवल स्वदेश में निर्मित वस्तुओं का ही उपयोग किया करें। महर्षि के जीवन के अन्तिम वर्ष राजस्थान में व्यतीत हुए थे, और वहाँ के राजाओं के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। उन्हें आशा थी,कि इन राजाओं को वे सन्मार्ग पर लाकर देश की उन्नति के लिए प्रेरित कर सकते हैं। इसीलिए उन्होंने जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह को अपने राज्य में सुधार करने और स्वयं अपने चरित्र को सुधारने के सम्बन्ध में अनेक परामर्श दिए थे। इनमें से एक परामर्श या उपदेश यह भी था, कि महाराजा और उनकी प्रजा केवल स्वदेशी वस्त्रों का ही प्रयोग किया करें। इसे महाराजा ने स्वीकार भी कर लिया था, और स्वयं महाराजा तथा उनके सब राजपदाधिकारी व कर्मचारी व सेवक मारवाड़ में तैयार हुए कपड़े (खादी) को प्रयुक्त करने लग गये थे। प्रसिद्ध अंग्रेजी समाचारपत्र स्टेट्समैन की एक रिपोर्ट (अगस्त १४, १८७६) के अनुसार पण्डित (स्वामी) दयानन्द सरस्वती द्वारा लाहौर में स्थापित आर्यसमाज के सब सदस्यों ने समाज मन्दिर में एकत्र होकर यह निर्णय किया था, कि वे अंग्रेजी वस्त्रों को धारण नहीं करेंगे और केवल ऐसे वस्त्र ही प्रयोग में लाएँगे जो भारत में बने हों। सम्भवतः, भारत के आधुनिक इतिहास में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और स्वदेशी कपड़े को अपनाने का यह प्रथम सामूहिक प्रयत्न था, जिसका सम्पूर्ण श्रेय

दयानन्द सरस्वती और उन द्वारा स्थापित आर्यसमाज को प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के एक परिशिष्ट में स्टेट्समैन में प्रकाशित वह पत्र जिसमें आर्य सभासदों के स्वदेशी वस्त्रों के सम्बन्ध में निर्णय की रिपोर्ट उल्लिखित है और उस पर सम्पादक की टिप्पणी दी गई हैं जो अत्यन्त महत्त्व की है।

संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग भाषा है। प्रत्येक राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए, जो जहाँ शिक्षा का माध्यम हो वहाँ साथ ही सब राजकीय कार्यों तथा परस्पर व्यवहार में जिस का उपयोग किया जाए। उन्नीसवीं सदी के अंग्रेज शासकों की यह नीति थी कि शिक्षणालयों में अंग्रेजी भाषा को प्रधान स्थान दिया जाए, शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी को ही प्रयुक्त किया जाए और सरकारी कामकाज में भी वही काम में लायी जाए। महर्षि दयानन्द की दृष्टि में यह सर्वथा अनुचित था। उन्होंने ही सबसे पूर्व इसके विरुद्ध आवाज उठाई, और हिन्दी को शिक्षा तथा सरकारी कार्यों के लिए प्रयुक्त करने पर जोर देना प्रारम्भ किया। महर्षि हिन्दी के लिए आर्य भाषा शब्द का प्रयोग करते थे, क्योंकि इसे वे सम्पूर्ण आर्यावर्त (भारत) की भाषा मानते थे। उन्होंने लिखा है कि बच्चों की शिक्षा का प्रारम्भ देवनागरी अक्षरों से किया जाए। "जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें।" (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृ० २३)। उन्होंने जो पाठन विधि प्रतिपादित की है, उसमें संस्कृत और हिन्दी का प्रमुख स्थान है। वे अन्य भाषाओं के विरोधी नहीं थे। देश की अन्य भाषाओं के अक्षरों का अभ्यास कराने का भी उन्होंने विधान किया है। पर वे यह मानते थे कि सम्पूर्ण आर्यावर्त की एक भाषा अवश्य होनी चाहिए, और उनके मत में यह भाषा हिन्दी (आर्य भाषा) ही हो सकती थी। राजकीय कार्यों तथा पारस्परिक व्यवहार में भी वे इसी भाषा को प्रयुक्त करने पर बल देते थे। १४ अगस्त, १८८२ के एक पत्र में उन्होंने लाला कालीचरण रामचरण को लिखा था, कि "इस समय (आर्य भाषा के) राजकार्य में प्रवृत्त होने के अर्थ जो मेमोरियल छपे हैं सो शीघ्र भेजना। और आप लोग भी जहाँ तक हो सके...आर्य-भाषा के राजकार्य में प्रवृत्त होने के अर्थ शीघ्र प्रयत्न कीजिए।" (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३६६-६७)। ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि की प्रेरणा से एक मेमोरियल (मेमोरेण्डम या ज्ञापन) इस आशय का तैयार किया गया था कि राजकार्य में आर्य भाषा हिन्दी को प्रयुक्त किया जाया करे। इसी के सम्बन्ध में महर्षि ने लाला कालीचरण रामचरण को पत्र लिखा था। श्रावण शुक्ल ३, संवत् १९३९ (१७ अगस्त, १८८२) को इसी विषय में एक पत्र महर्षि ने बाबू दुर्गा प्रसाद को लिखा था—"आजकल सर्वत्र अपनी आर्य भाषा के राजकार्य में प्रवृत्ति होने के अर्थ (भाषा के प्रचारार्थ जो कमीशन हुआ है उसमें) पंजाब हाथा आदि से मेमोरियल भेजे गये हैं। परन्तु मध्यप्रान्त, फर्रुखाबाद, कानपुर, बनारस आदि स्थानों से नहीं भेजे गये, ऐसा ज्ञात हुआ है, और गत दिवस नैनीताल की सभा की ओर से एक इसी विषय में पत्र आया था। उसके अवलोकन से निश्चय हुआ कि पश्चिमोत्तर देश से मेमोरियल नहीं भेजे गये। और हमको लिखा है कि आप इस विषय में प्रयत्न कीजिए।...आपको अति उचित है कि मध्य देश में सर्वत्र पत्र भेजकर बनारस आदि स्थानों से और जहाँ-जहाँ परिचय हो सब नगर व ग्रामों से मेमोरियल भिजवाइए। यह काम एक के करने का नहीं। और अवसर चूके वह अवसर आना दुर्लभ है। जो यह कार्य हुआ तो आशा है कि मुख्य सुधार की एक नींव पड़ जावेगी।"

(ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पत्र संख्या ३०३, पृष्ठ ३६९-७०) महर्षि ने केवल यह प्रतिपादित ही नहीं किया कि हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा होनी चाहिए, अपितु उसे राष्ट्र भाषा के रूप में प्रयुक्त कराने के लिए आन्दोलन भी किया। ये पत्र इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

शिक्षा में हिन्दी को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए, महर्षि का यह भी मन्तव्य था। जोधपुर नरेश को एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"महाराज कुमार के संस्कार सब वेदोक्त कराइएगा। २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रख के प्रथम देवनागरी भाषा और पुनः संस्कृत विद्या, जिसमें सनातन आर्ष ग्रन्थ हैं, जिनके पढ़ने से परिश्रम और समय कम होवे और महान् लाभ प्राप्त हो। इन दोनों को पढ़े। पश्चात् यदि समय हो तो अंग्रेजी भी।" (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पत्र संख्या ४१९, पृष्ठ ४९८) संस्कृत से भी पहले देवनागरी भाषा (हिन्दी) पढ़ने का आदेश महर्षि ने दिया, यह सूचित करता है कि उनकी दृष्टि में हिन्दी का कितना अधिक महत्त्व था। इस प्रसंग में महर्षि का एक अन्य पत्र भी उल्लेखनीय है—"आप लोगों की पाठशाला में आर्य भाषा और संस्कृत का प्रचार बहुत कम और अन्य भाषा उर्दू, फारसी अधिक पढ़ाई जाती है ... यह हजार मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल होता भासता है।"

महर्षि दयानन्द सरस्वती आर्यावर्त (भारत) में जिस स्वदेशी राज्य की स्थापना करना चाहते थे, उसमें स्वशासन के साथ-साथ स्वकीय संस्कृति की सत्ता भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इसीलिए उन्होंने स्वकीय रहन-सहन, स्वकीय चाल-चलन, सनातन आर्य धर्म और पुरातन परम्पराओं के साथ स्वकीय 'आर्य भाषा' को प्रयोग में लाने पर भी बहुत बल दिया।

(३) स्वदेशी शासन व स्वराज्य का स्वरूप

महर्षि दयानन्द अंग्रेजों के विदेशी शासन के अत्यन्त विरुद्ध थे और यह प्रतिपादित करते थे कि आर्यावर्त (भारत) में आर्यों का अपना शासन होना चाहिए। इस स्वदेशी शासन का स्वरूप क्या हो, इस विषय में उनके ग्रन्थों से पर्याप्त व समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है, यद्यपि उन्होंने राजनीतिशास्त्र पर किसी पृथक् ग्रन्थ की रचना नहीं की।

राज्यसंस्था के प्रधान के लिए महर्षि ने 'राजा' शब्द का प्रयोग किया है। पर उनका राजा वंशक्रमानुगत एवं स्वेच्छाचारी शासक न होकर जनता द्वारा वरण किया हुआ या निर्वाचित ऐसा व्यक्ति है, जो सभा के सहयोग एवं परामर्श से राज्य का शासन करता है। ऋग्वेद भाष्य में महर्षि ने स्थान-स्थान पर राजा का अर्थ 'सभापति' और 'सभाध्यक्ष' किया है, और राजा के साथ इन विशेषणों का प्रयोग किया है। यह सभापति या सभाध्यक्ष राजा वंशक्रमानुगत न होकर 'निर्वाचित' या प्रजा जन (जनता) द्वारा इस पद पर नियुक्त होना चाहिए, यह भी महर्षि ने स्पष्ट रूप से निरूपित कर दिया है। इस सम्बन्ध में महर्षि के वेदभाष्य से कुछ उद्धरण अवलोकनीय हैं—"मनुष्यों को चाहिए ... उसी को सभाध्यक्ष का अधिकार देकर राजा मानें।" (ऋग्वेद १/७७/३) "हे मनुष्यों! उसी को राजा करो।" (ऋग्वेद ३/१६/१८) "हे मनुष्यों, जो सबसे श्रेष्ठ होवें उसी को राजा करो।" (ऋग्वेद ४/३०/१) "उत्तम प्रजाजनों को चाहिए कि सबसे उत्तम पुरुष

को सभाध्यक्ष राजा मान के ···" (यजुर्वेद १२/११) "प्रजाजनों को यह उचित है कि आपस में सम्मति कर किसी उत्कृष्ट गुण युक्त सभापति को राजा मानकर ···" (यजुर्वेद ६/२७) "वही राजा होने योग्य है जिसको समस्त प्रजाजन स्वीकार करें।" (ऋग्वेद २/१/८) "हे राजा प्रजाजन ! आप जो हमारे बीच शुभ गुण कर्म स्वभाव युक्त हो उसी को राज्य करने में अच्छे प्रकार युक्त करो।" (ऋग्वेद ६/५२/१२) "हे मनुष्यों ! जो सम्पूर्ण राजकर्मों में निपुण हो उसको राजा करके न्याय से राज्य का पालन करो।" (ऋग्वेद ६/२३/४) महर्षि के वेदभाष्य के ये उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि उनके मन्तव्य के अनुसार राजा वंशक्रमानुगत न होकर प्रजा द्वारा नियुक्त या निर्वाचित होना चाहिए, और ऐसे व्यक्ति को ही इस महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए जो सर्वश्रेष्ठ एवं शुभ गुण कर्म स्वभाव युक्त हो। ऋग्वेद के एक मन्त्र (१/७३/३) का भावार्थ बताते हुए महर्षि ने राजा के सम्बन्ध में अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"मनुष्यों को चाहिए कि जो सबसे अधिक गुण कर्म और स्वभाव तथा सबका उपकार करने वाला सज्जन मनुष्य है उसी को सभाध्यक्ष का अधिकार दे के राजा मानें अर्थात् किसी एक मनुष्य को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देवें। किन्तु पुरुषों की जो सभा है उसी के अधीन राज्य के सब कार्य रखें।" महर्षि के विचार में शासन का अधिकार एक मनुष्य के हाथों में न होकर शिष्टपुरुषों की सभा के हाथों में होना चाहिए, और इस सभा का जो अध्यक्ष हो (जिसकी नियुक्ति योग्यता व गुणों के आधार पर की जाएगी) उसी को राजा माना जाना चाहिए। राजा के वंशक्रमानुगत होने की बात महर्षि को इतनी अधिक असह्य थी, कि उन्होंने यह माना है कि इक्ष्वाकु सदृश प्राचीन आर्य राजा भी निर्वाचित या जनता द्वारा नियुक्त ही थे। पूना में दिए अपने एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था—"इक्ष्वाकु यह आर्यावर्त का प्रथम राजा हुआ ···इक्ष्वाकु राजा हुआ तो वह इससे नहीं कि राजकुल में वह उत्पन्न हुआ था अथवा उसने बलात्कार राज्य उत्पन्न किया हो, किन्तु सारे लोगों ने उसे उसकी योग्यतानुकूल राजसभा में अध्यक्ष स्थान पर बैठाया। ···इक्ष्वाकु राजसभा का प्रथम अध्यक्ष था।" (उपदेश मंजरी, पृष्ठ, १०७-१०८)

महर्षि दयानन्द सरस्वती एकतन्त्र शासन के बहुत विरुद्ध थे। उन्हें ऐसा शासन ही स्वीकार्य था, जिसमें सब कार्य सभा द्वारा विचार-विमर्श के अनन्तर किये जाएँ। उन्होंने लिखा है—"मनुष्यों को चाहिए कि सभा और सभापतियों से ही राज्य की व्यवस्था करें। कभी एक राजा की अधीनता में स्थिर न हों क्योंकि एक पुरुष से बहुत के हिताहित का विचार कभी नहीं हो सकता।" (यजुर्वेद १६/२४) ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में उनके ये वाक्य उद्धरण योग्य हैं—"यत्रैको मनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः। ···यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति, तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायते।" (ऋ० भा० भू०, पृष्ठ २४७-४८) जहाँ एक व्यक्ति का शासन होता है, वहाँ प्रजा का पीड़न अवश्यम्भावी है। जहाँ राजप्रबन्ध सभा के हाथों में हो, वहाँ सम्पूर्ण प्रजा का हित सम्पादित होता है। एकतन्त्र शासन के दोषों को महर्षि ने अनेक स्थानों पर निरूपित किया है। "जैसे सिंह वा माँसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं, वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है। अर्थात् किसी को अपने से अधिक नहीं होने देगा। श्रीमान् को लूट-खसोट अन्याय से दण्ड दे के अपना प्रयोजन पूरा करेगा। (स० प्र०, छठा समुल्लास, पृ० १२५) जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके का प्रजा

नाश किया करे, जिस लिए अकेला राजा स्वाधीन व उन्मत्त हो के प्रजा का नाशक होता है, अर्थात् वह राजा प्रजा को खाए जाता है। इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। (स० प्र०, छठा स०, पृ० १२५) महर्षि के इन उद्धरणों में स्वतन्त्र एवं स्वाधीन शब्दों से स्वेच्छाचारी अर्थ अभिप्रेत है। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में महर्षि ने एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का पुनः विरोध किया है—"जैसे माँसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उसका माँस खा जाता है, वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करने हारा होता है, क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है।" (ऋ० भा० भू०, पृष्ठ ३८३) "यस्माद् सभया विनेकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीड़िता भवति। तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्तव्यो, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति। तस्मात्सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्तुं शक्योऽस्ति।···सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्य-व्यवहारेणैव भद्रमिति।" (ऋ० भा० भू०, पृष्ठ २६५-६६) जहाँ सभा के अभाव में एक पुरुष का शासन होता है, वहाँ प्रजा सदा पीड़ित होती है। एक पुरुष को कभी राजा नहीं बनाना चाहिए। एक पुरुष में राजधर्म का अनुष्ठान करने की सामर्थ्य कदापि नहीं होती। सभा द्वारा ही राज्य प्रबन्ध करना चाहिए, यही कल्याणकर है।

महर्षि के मन्तव्य के अनुसार राजा वंशक्रमानुगत न होकर जनता द्वारा निर्वाचित या नियुक्त होना चाहिए, पर उसकी नियुक्ति व निर्वाचन किस प्रकार हो, यह उनके ग्रन्थों से स्पष्ट नहीं होता। सम्भवतः, उनके मत में राजा की नियुक्ति का कार्य 'सभासदों' (सभा के सदस्यों) द्वारा किया जाना चाहिए। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के निम्नलिखित वाक्य इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है—"सर्वे सभासदः···मिलित्वैवं विचारं कर्मयुतो न कदाचित् सुखहानिपराजयौ स्याताम्। यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः,) पराक्रमवत्तमः, (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः, (सहिष्ठः) अतिशयेन सहनशीलः, (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्त श्रेष्ठः, (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति। वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चेम इतीच्छेयुः। तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुरेवं भूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्वर्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः।" (ऋ० भा० भू०, पृष्ठ २६१) संस्कृत भाषा के इस संदर्भ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यह निरूपित किया है कि सब सभासदों को परस्पर मिलकर ऐसा विचार करना चाहिए जिससे उनकी सुख समृद्धि का ह्रास तथा पराजय न हो। विद्वान् देव लोगों में जो सबसे अधिक पराक्रमी, सर्वाधिक बलवान्, सबसे अधिक सहनशील, सब गुणों में सर्वश्रेष्ठ, युद्धादि दुःखों के निवारण में सबसे अधिक समर्थ, विजय कराने के योग्य तथा सबमें श्रेष्ठतम हो, ऐसे सर्वश्रेष्ठ पुरुष का निश्चय (निर्धारण) कर उसे हम अभिषिक्त करें। क्योंकि ऐसा पुरुष सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने वाला होता है, इसी कारण उसे 'इन्द्र' कहते हैं।

सभाध्यक्ष राजा की स्थिति से जिस व्यक्ति को राज्य का संचालन करना हो, उसे अत्यन्त योग्य होना चाहिए। इसीलिए 'राजा' के गुणों तथा योग्यता के विकास को महर्षि ने बहुत महत्त्व दिया है। इस सम्बन्ध में महर्षि ने प्रायः वे ही विचार अभिव्यक्त किए हैं, जो कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में पाए जाते हैं। कौटिल्य का राजा एक राजर्षि के समान था, जिसे आदर्श व्यक्ति बनाने के लिए अत्यधिक प्रशिक्षण की आवश्यकता थी। अन्य गुणों के साथ राजा के लिए एक गुण कुलीन होना भी था, क्योंकि माता-पिता तथा अन्य पूर्वजों

का प्रभाव मनुष्य के चरित्र पर अवश्य पड़ता है। गुणों और योग्यता के आधार पर सभासद् लोग जिस व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानें, उसे ही वे अपना 'सभाध्यक्ष राजा' नियुक्त करें, यह महर्षि दयानन्द सरस्वती का मन्तव्य था। ऐसे व्यक्ति के चुनाव के लिए सम्भवतः मतदान की कोई आवश्यकता नहीं होती। सामान्य सहमति से ऐसा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति स्वयं ही सबको स्वीकार्य हो जाता है।

गुणों और योग्यता के आधार पर जो व्यक्ति 'सभाध्यक्ष राजा' के पद पर नियुक्त हो जाए, उसके हाथों में भी असीम शक्ति नहीं दी जानी चाहिए। राजा होकर उसे सभा की सहायता से ही शासन कार्य का संचालन करना है। पर वह सभा के हाथों में कठपुतली बन कर भी कार्य नहीं कर सकता। शासन में राजा और सभा दोनों का महत्त्व-पूर्ण स्थान है, दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। इस तथ्य को महर्षि ने इस शब्दों में प्रकट किया है—"एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए, किन्तु, राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन, और प्रजा राजसभा के आधीन रहे।" (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १२५) वस्तुतः, महर्षि का यह मन्तव्य था कि राजा, सभा और प्रजा सबका राज्य में अपना-अपना महत्त्व है। शासनकार्य का संचालन राजा को करना है, पर अकेले या स्वेच्छाचारी रूप से नहीं। सभा की अधीनता, निरीक्षण एवं नियन्त्रण में रहते हुए ही उसे शासनकार्य करना है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि सभा के सम्मुख उसकी स्थिति सर्वथा नगण्य हो। सभा को भी उसकी अधीनता में रहना होगा। क्योंकि राजशक्ति का वास्तविक रूप से प्रयोग राजा (जो सभा द्वारा निर्वाचित व नियुक्त होगा) को करना है और वही देश में शान्ति व्यवस्था व उन्नति के लिए अन्तिम रूप से उत्तरदायी है, अतः सभा को भी उसकी सम्मति को समुचित महत्त्व देना होगा और अनेक ऐसे अवसर भी आ सकेंगे जब कि सभा को राजा के सम्मुख झुक जाना पड़ेगा। 'राजा के अधीन सभा' का यही अभिप्राय है। पर राजा और सभा की अपेक्षा भी एक ऊँची सत्ता है, जिसे प्रजा या जनता कहते हैं। राजा और सभा दोनों प्रजा के अधीन हैं। उनकी स्थिति प्रजा की सहमति व स्वीकृति पर ही निर्भर है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राज्य के संचालन के लिए तीन सभाओं का प्रति-पादन किया है। महर्षि के शब्दों में, "तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिए एक 'आर्य-राजसभा' कि जिससे विशेष करके सब राजकार्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी 'आर्य विद्या-सभा' कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाए, तीसरी 'आर्य धर्मसभा' कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे।" (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृष्ठ २४८) इन्हीं सभाओं को महर्षि ने अन्यत्र राजार्य सभा, विद्यार्य सभा और धर्मार्य सभा नाम से लिखा है। यद्यपि इन सभाओं के अपने-अपने पृथक् कार्य हैं, और पृथक् रूप से ही उन कार्यों का सम्पादन इन द्वारा किया जाता है, पर महर्षि ने यह भी विधान किया है कि ये तीनों सभाएँ सामान्य विषयों के लिए परस्पर मिलकर (एक अधिवेशन में सम्मिलित हो) उत्तम व्यवहारों का निर्धारण किया करें। (परन्वेतास्तिस्रस्सभाः सामान्ये कार्ये मिलित्वैव सर्वानुत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति, ऋ० भा० भू०, पृष्ठ २४७)।

इन तीन सभाओं में आर्य राजसभा या राजार्य सभा की स्थिति सर्वोच्च है।

शासन का संचालन उसी द्वारा किया जाता है। कानून बनाना व राजकीय आदेशों को जारी करना उसी का कार्य है। महर्षि के शब्दों में, "जो नियम राजा और प्रजा के सुख-कारक और धर्मयुक्त समझें, उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बाँधा करें।" (सत्यार्थप्रकाश, छठा समुल्लास) शासक वर्ग तथा जनता के लिए हितकारी एवं धर्मानु-कूल नियमों (कानूनों) को बाँधना (निर्माण करना) राजसभा का प्रमुख कार्य है। राज-सभा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य 'सभाध्यक्ष राजा' का निर्वाचन करना है। ऊपर यह लिखा जा चुका है कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित शासन व्यवस्था में राजा वंशक्रमानुगत न होकर सभा द्वारा निर्वाचित या नियुक्त होता है। महर्षि ने सभाध्यक्ष राजा को निर्वाचित करने का कार्य जिस सभा के सुपुर्द किया है, वह राजसभा या राजार्य सभा ही है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि "वैसे ये राजसभा के सदस्य ··· जो सब गुणों में उत्तम हो उसी को सभापति करें और वह सभापति भी उत्तम नीति से समस्त राज्य के प्रबन्ध को चलावे।" (यजुर्वेद भाष्य ७/३५) राजसभा को जहाँ देश के लिए कानून बनाने हैं और सभापति राजा की नियुक्ति करनी है, वहाँ साथ ही शासन का भी संचालन करना है। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित राजार्य सभा जहाँ विधानमण्डल का कार्य करती है, वहाँ शासन का नियन्त्रण भी उसी के हाथों में है। वह राज्य की संसद् (पार्लियामेण्ट) है, और राजा का चुनाव भी वही करती है।

विद्यार्य सभा का कार्य विद्या का प्रचार व विस्तार करना है। महर्षि दयानन्द शिक्षा एवं विद्या को बहुत महत्त्व देते थे। उनके मन्तव्य के अनुसार विद्या का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही नहीं है। ज्ञान मनुष्यमात्र के लिए है, और राजनियम द्वारा सब बालकों और बालिकाओं को अनिवार्य रूप से शिक्षणालयों में जाकर विद्याध्ययन करना चाहिए। महर्षि की सम्मति में कोई देश तभी उन्नति कर सकता है, जबकि उसके सब निवासी योग्य एवं सुशिक्षित हों। अतः विद्यार्य सभा का कार्य अत्यन्त महत्त्व का है। महर्षि के शब्दों में, "दूसरी विद्या सभा जिससे विद्या का प्रचार अनेकविध किया जावे और अविद्या का नाश होता रहे।" (यजुर्वेद भाष्य ७/४५)।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस धर्मार्य सभा का विधान किया है, उसका कार्य जनता को सच्चरित्र एवं कर्तव्यनिष्ठ बनाना है। राज्य की रक्षा व समृद्धि उसके नाग-रिकों के चरित्र पर ही निर्भर होती है। अतः यह आवश्यक है कि उनमें सद्गुणों के विकास का प्रयत्न किया जाए। महर्षि का मन्तव्य है कि जनता को सच्चरित्र बनाने का कार्य ऐसे उपदेशकों द्वारा किया जाए, जो धर्मार्य सभा के तत्त्वावधान में नियुक्त हों।' "जो धर्मसभा के अधिकृत लोगों के अधीन में वर्तमान उपदेश देने वाले सबको सत्य-असत्य का उपदेश देकर धर्मात्मा करें और उनके प्रश्नों को सुन के समाधान करें और पृथ्वी आदिकों के समीप से क्षमा आदि गुणों का ग्रहण करके अन्यों को ग्रहण करा पाखण्ड का नाश और धर्म को प्राप्त कराके सबको श्रेष्ठ करें।" (ऋग्वेद भाष्य ३/५४/१९) प्रजा को धर्म मार्ग पर स्थिर रखने के प्रयोजन से राज्य द्वारा उपदेशकों की नियुक्ति के विषय को महर्षि ने एक अन्य स्थान पर भी निरूपित किया है। "राजा और प्रजाजनों को चाहिए कि जो जितेन्द्रिय धर्मात्मा और परोपकार में प्रीति रखने वाले विद्वान् होवें उनको प्रजा में धर्मोपदेश के लिए नियुक्त करें और उपदेशकों को चाहिए कि प्रयत्न के साथ सबको अच्छी शिक्षा से एक धर्म में निरन्तर विरोध को छोड़कर सुखी करें। ··· (यजुर्वेद

भाष्य १२/५९) महर्षि को यह अभिप्रेत नहीं था कि धर्मार्य सभा द्वारा नियुक्त उपदेशक प्रजा को किसी मत या सम्प्रदाय का अनुयायी बनाने का यत्न करें। उनका कार्य प्रजाजनों को 'श्रेष्ठ' बनाना था, और यह कार्य उन्हें उस धर्म का उपदेश करके करना था, जिसका किसी से भी विरोध नहीं हो सकता, जो सबको स्वीकार्य होता है। महर्षि ने पृथ्वी से क्षमा सदृश गुणों का ग्रहण करने का संकेत कर यह स्पष्ट कर दिया है, कि धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीः, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस जो धर्म के लक्षण किये गये हैं, उनका प्रचार कर प्रजाजन को 'श्रेष्ठ' बनाने का प्रयत्न करना ही धर्मार्य सभा द्वारा नियुक्त उपदेशकों का कार्य है। इस प्रसंग में हमारा ध्यान उन 'धर्म-महामात्रों' की ओर जाता है, जिनकी नियुक्ति की व्यवस्था मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा की गई थी। ये धर्म महामात्र साम्राज्य में सर्वत्र इस प्रयोजन से नियुक्त किये गये थे कि जनता को धर्म के 'सार' का उपदेश दें, ऐसे धार्मिक तत्त्वों का, जिनसे मनुष्यों का वास्तविक हित होता है, और जिनसे किसी का विरोध नहीं हो सकता। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस समय धर्मार्य सभा और उस द्वारा नियुक्त उपदेशकों की बात लिखी थी, तब अशोक के वे शिलालेख प्रकाश में नहीं आये थे जिनमें कि धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। जनता को श्रेष्ठ एवं सच्चरित्र बनाने के प्रयोजन से उपदेशकों की नियुक्ति महर्षि का एक मौलिक विचार है।

जिस सभा (राजार्य सभा या राजसभा) द्वारा सभापति या सभाध्यक्ष राजा का चुनाव किया जाना है, और जिन तीन सभाओं के सहयोग एवं नियन्त्रण में राजा को शासन-कार्य का संचालन करना है, उनके सभासदों की नियुक्ति किस प्रकार की जाए, इस सम्बन्ध में महर्षि के मन्तव्य का कोई स्पष्ट निर्देश उनके ग्रन्थों से नहीं मिलता। पर इन सभासदों के क्या गुण व योग्यताएँ हों, यह महर्षि ने अनेक स्थानों पर स्पष्ट किया है। "मनुष्यों को योग्य है कि जो कवि, सब शास्त्र का वक्ता, कुटिलता का विनाश करने, दुष्टों में कठोर, श्रेष्ठों में कोमल सर्वथा बल को बढ़ाने वाले पुरुष हैं उसी को सभा आदि के अधिकारों में स्वीकार करें।" (ऋग्वेद भाष्य १/५/११) "जो सभ्य जन परमेश्वर से डर के उसकी आज्ञा के अनुसार जैसे रात्रि और दिन सम्पूर्ण संसार के नियमपूर्वक पालनकर्ता होते हैं वैसे ही सभा में धर्म के विजय और अधर्म के पराजय से प्रजाओं को आनन्दित करें।" (ऋग्वेद भाष्य ३/५५/१२) महर्षि के अनुसार सभासद् ऐसे होने चाहिएँ जो कुटिलता का विनाश करने वाले हों, दुष्टों के प्रति कठोर और श्रेष्ठों के प्रति कोमल हों, शास्त्रों के ज्ञाता हों और राजशक्ति को बढ़ाने की सामर्थ्य रखते हों। ईश्वर से भय खाते हुए वे सदा अधर्म की पराजय तथा धर्म की विजय के लिए प्रयत्नशील रहने वाले हों। एक अन्य स्थान पर महर्षि ने लिखा है, कि उन्हीं लोगों को विद्वान् और धार्मिक जानना चाहिए जो राजा आदि राजपदाधिकारियों की झूठी स्तुति न करें (ऋग्वेद भाष्य ३/३५/७) महर्षि चाटु-कारिता या खुशामद के बहुत विरुद्ध थे, और ऐसे व्यक्ति उनके मत में सभासद् होने योग्य नहीं थे जो झूठी प्रशंसा करते हों। इस प्रकार के सुयोग्य व धर्मनिष्ठ व्यक्ति किस प्रक्रिया द्वारा सभासद् नियुक्त किये जाएँ, इस सम्बन्ध में महर्षि ने जो कोई निर्देश नहीं दिये, उसका कारण शायद यह है कि सभाओं के सभासदों की नियुक्ति के लिए कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं हो सकती जो सब देशों और सब समयों के लिए समुचित हो। देश व काल के अनुसार उसका परिवर्तित होते रहना सर्वथा स्वाभाविक व उचित है। वर्तमान

समय में विश्व के बहुसंख्यक लोकतन्त्र राज्यों में विधानमण्डल के सदस्यों की नियुक्ति के लिए वयस्क मताधिकार द्वारा चुनाव की पद्धति का आश्रय लिया जाता है। पर यह अनुभव किया जाने लगा है, कि यह पद्धति सर्वथा निर्दोष नहीं है। प्राचीन गणराज्यों में सभाओं के सदस्यों के लिए कतिपय अन्य पद्धतियों को अपनाया गया था। महर्षि ने केवल यह सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिया है, कि राज्य का शासन एक व्यक्ति के हाथों में न होकर सभा के अधीन होना चाहिए और सभा के सदस्यों का सर्वश्रेष्ठ, सुयोग्य, सदाचारी और धार्मिक होना आवश्यक है। इनकी नियुक्ति की पद्धति देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न ही होगी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राज्य-संस्था के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में भी कतिपय विचार प्रकट किये हैं। बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से देश की रक्षा, शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना, जनता का हित सुख और कल्याण सम्पादित करना, ज्ञान-विज्ञान को विकसित करना, शिक्षा का प्रसार करना, सबके प्रति यथायोग्य और एक समान बरताव करना, धर्मानुकूल न्याय करना और सार्वजनिक हित के अनेकविध कार्यों की व्यवस्था करना महर्षि के अनुसार राज्य-संस्था के आवश्यक कार्य हैं। राज्य-संस्था के लिए महर्षि द्वारा विहित कार्यों में कुछ का विशेष रूप से उल्लेख करना उपयोगी है। इनमें एक कार्य "मादक द्रव्य अर्थात् उन्मत्तता करने वाले द्रव्यों के सेवनकर्ताओं को दण्ड देना" है (ऋग्वेद भाष्य ३/४८/४)। एक मन्त्र के भाष्य में उन्होंने "सर्वत्र नहर आदि के द्वारा जल पहुँचाना" राज्य का कार्य कहा है (यजुर्वेद भाष्य २३/८८)। राजा आदि राजपुरुषों को विमान सदृश यान बनवाकर देश-देशान्तर में जाने के लिए तथा युद्ध में उनका उपयोग करने की बात भी महर्षि ने लिखी है (ऋग्वेद भाष्य ३/५३/६)। पर विविध प्रकार के वाहनों का निर्माण राजा आदि द्वारा केवल अपने प्रयोग के लिए ही नहीं किया जाना है, जनता के लिए भी ये यान राज्य-संस्था द्वारा बनाये जाने चाहिए। महर्षि ने लिखा है कि "आप सब लोगों के सुख के लिए नदी नद तड़ाग और समुद्र आदि के पार उतरने के लिए नौका आदि बना के धनाढ्य निरन्तर कीजिए।" (ऋग्वेद भाष्य ४/१९/६) योजना-पूर्वक नगरियों का निर्माण भी महर्षि के अनुसार राज्य का कार्य है। (ऋग्वेद भाष्य २/२०/८)

(४) चक्रवर्ती राज्य का संगठन तथा आदर्श

महर्षि दयानन्द सरस्वती स्वदेशी राज्य या स्वराज्य में विश्वास रखते थे। वे ईश्वर से प्रार्थना करते थे कि "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" (आर्याभिविनय, पृ० ८१) प्रत्येक देश को पूर्णतया सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न होना चाहिए, यही मन्तव्य महर्षि को अभिप्रेत था। पर साथ ही वे यह भी आवश्यक समझते थे कि एक ऐसा विश्व संगठन भी होना चाहिए, जिसका सब राज्यों पर नियन्त्रण हो और जो सबको सन्मार्ग पर स्थिर रखे। महर्षि ने ऐसे संगठन को ही चक्रवर्ती राज्य की संज्ञा दी है। सब राज्यों की शक्ति एक समान नहीं होती, उनके भौतिक साधन भी एक सदृश नहीं होते। जनता की योग्यता, कार्यकुशलता आदि की दृष्टि से भी राज्यों में भेद होता है। अतः महर्षि ने विविध राज्यों को उत्तम, मध्यम और निकृष्ट गुण कर्म स्वभाव का कहा है (ऋग्वेद भाष्य १/१०८/९)। पर राज्य चाहे उत्तम कोटि

का हो और चाहे निकृष्ट कोटि का, सबको स्वाधीन तो होना ही चाहिए। राज्यों की शक्ति एक समान न होने से उन्हें सदा यह भय बना रह सकता है, कि कोई शक्तिशाली राज्य आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन न कर ले। शक्ति की असमानता के कारण ही साम्राज्यवाद का विकास होता है। अतः विश्व के सम्पूर्ण राज्यों का एक ऐसा संगठन होना चाहिए, जिसके कारण कोई राज्य दूसरों को आक्रान्त न कर सके। मनुस्मृति के राजधर्म प्रकरण के कुछ श्लोकों की व्याख्या करते हुए महर्षि ने इस विश्व संगठन या चक्रवर्ती राज्य के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"सहस्र-सहस्र के दश अधिपति, दश सहस्र के अधिपति को और लक्षग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जताया करें। और वे सब राजसभा, महाराजसभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा में सब भूगोल का वर्तमान जताया करें।" (स० प्र०, षष्ठ समुल्लास, पृ० १४०) महर्षि के अनुसार राज्य (सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य) का शासन राजसभा द्वारा किया जाता है। राजसभाओं द्वारा शासित इन राज्यों से ऊपर 'महाराजसभा' या 'सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा' की सत्ता होनी चाहिए, जिसे सब राज्यों की राजसभाएँ अपने-अपने क्षेत्र के वर्तमान (सामयिक घटनाएँ व गतिविधि) से अवगत रखें। सम्पूर्ण भूगोल व विश्व का यह संगठन भी 'महाराजसभा' द्वारा शासित होगा, एक व्यक्ति द्वारा नहीं। सम्राट् के लिए भी 'चक्रवर्ती' शब्द का प्रयोग होता रहा है। पर महर्षि ने इस शब्द का प्रयोग किसी विश्व-विजेता सम्राट् के लिए न कर एक ऐसे संगठन के लिए किया है, जिसमें विविध राज्यों में सहयोग स्थापित करने के लिए एक सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा विद्यमान हो। पृथिवी पर जब बहुत-से सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य विद्यमान हों और सबके सामूहिक हित की दृष्टि से उन पर नियन्त्रण रखने वाली कोई सत्ता न हो, तो भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष के मार्ग निष्कण्टक व भयहीन नहीं रह सकते। चक्रवर्ती राज्य का एक महत्त्व-पूर्ण प्रयोजन यह है कि उस द्वारा ये मार्ग सुरक्षित रखे जाएँ। इसी बात को महर्षि ने इस प्रकार प्रकट किया है—"मनुष्यों को भूमि, समुद्र, अन्तरिक्ष में रथ, नौका, विमानों के लिए सरल, दृढ़, कण्टक चोर डाकू भय आदि दोषरहित मार्गों को सम्पादन करना चाहिए, जहाँ किसी को कुछ भी दुःख वा भय न होवे इन सब को सिद्ध करके अखण्ड चक्र-वर्ती राज्य को भोग करना वा कराना चाहिए।" (ऋग्वेद भाष्य १/४१/४) अन्तर्राष्ट्रीय मार्गों को सबके लिए निष्कण्टक व सुरक्षित रखना महर्षि के अनुसार चक्रवर्ती विश्व संग-ठन का ही कार्य है। यजुर्वेद के एक मन्त्र का भावार्थ लिखते हुए महर्षि ने चक्रवर्ती राजा और अन्य राजा के भेद को स्पष्ट किया है—"प्रजा के बीच अपनी-अपनी सभाओं सहित राजा होने के योग्य दो होते हैं। एक चक्रवर्ती अर्थात् एक चक्र राज करने वाला और दूसरा माण्डलिक कि जो मण्डल-मण्डल का ईश्वर हो। ये दोनों प्रकार के राजा जन उत्तम-उत्तम न्याय, नम्रता, सुशीलता और वीरतादि गुणों से प्रजा की रक्षा अच्छे प्रकार करें।" (यजुर्वेद भाष्य ८/३७) महर्षि ने साधारण राजाओं को यहाँ माण्डलिक कहा है, और सम्पूर्ण पृथिवी के शासक को चक्रवर्ती। दोनों का शासन कार्य में अपना-अपना क्षेत्र है, और दोनों को एक साथ रहते हुए जनता का हित-कल्याण सम्पादित करना है। महर्षि यह मानते थे कि ऐसा चक्रवर्ती राज्य इतिहास में चिरकाल तक रहा भी है। उन्होंने लिखा है—"सृष्टि से ले के पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम, चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात्

छोटे-छोटे राजा रहते थे।" (स० प्र०, एकादश समुल्लास, पृ० २६२) महर्षि के अनुसार युधिष्ठिर इसी प्रकार के चक्रवर्ती राजा थे, जिनके राजसूय यज्ञ में चीन, अमेरिका और यूरोप आदि सब देशों से राजा सम्मिलित हुए थे। महर्षि ने सुधुम्न, ययाति, मरुत्त आदि अन्य भी अनेक चक्रवर्ती राजाओं का उल्लेख किया है, जिनका शासन सम्पूर्ण पृथिवी पर विद्यमान था। पर इनके कारण अन्य राजाओं या राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त नहीं हो गयी थी। महर्षि के अनुसार विश्व के अन्य सब राज्य आर्यावर्त के चक्रवर्ती सार्वभौम आर्य राजा का नेतृत्व स्वीकार करते थे; जिसके परिणामस्वरूप संसार के राज्यों का एक ऐसा संगठन बन गया था जिसमें विविध राज्यों की स्वतन्त्रता व प्रभुता सुरक्षित थी और साथ ही सबकी सामूहिक एवं सर्व-सामान्य उन्नति व सुरक्षा के लिए वे एक संगठन में भी बँध गये थे। इस विश्वव्यापी राज्य संगठन का संचालन व व्यवस्था भी किसी एक व्यक्ति के हाथों में न होकर एक महाराजसभा के अधीन थी, जिसे सम्पूर्ण भूगोल की गतिविधि से अवगत रखा जाता था। चक्रवर्ती सार्वभौम राज्य-संगठन के लिए भी महर्षि एक सुयोग्य सभाध्यक्ष तथा सभा (चक्रवर्ती सभा) की उसी प्रकार आवश्यकता समझते थे, जैसे कि राज्यों के लिए। उन्होंने लिखा है—"मनुष्यों को चाहिए कि परमोत्तम सभाध्यक्ष के साथ सभा का निर्माण कर राजव्यवहार का पालन तथा चक्रवर्ती राज्य का प्रशासन करें। इसके बिना किसी का भी राज्य कभी स्थिर नहीं हो सकता।" (ऋग्वेद भाष्य १/७८/४, संस्कृत भावार्थ) विश्व के विविध राज्यों की स्थिरता के लिए भी एक ऐसे चक्रवर्ती राज्य की सत्ता आवश्यक है, जिसका सभाध्यक्ष परमोत्तम हो और जो सभा की सहायता से शासन करे, महर्षि का यही मन्तव्य था।

(५) राज्य शासन विषयक कतिपय अन्य मान्यताएँ

राज्य और उसके शासन के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कतिपय अन्य भी विचार अपने ग्रन्थों में प्रकट किए हैं, जिनका संक्षेप के साथ यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा। सभाध्यक्ष राजा एवं राजसभा द्वारा किन तथा किस प्रकार के राजपदाधिकारियों व कर्मचारियों से शासन कार्य सम्पादित कराना चाहिए, इस विषय पर महर्षि के विचार उस पत्र से भली भाँति स्पष्ट हो जाते हैं, जो उन्होंने उदयपुर नरेश महाराणा श्री सज्जन सिंह को लिखा था। "बिना योग्यता व परीक्षा के किसी को बड़ा वा छोटा अधिकार न देवे। किन्तु जो धर्मात्मता से उस कार्य को करने में समर्थ हो उसी के आधीन वह कार्य सिद्ध करे वा करावें। दरिद्र वा लोभी को प्रारम्भ में बड़ा अधिकार न देवे, और एक कुटुम्ब सम्बन्धी परस्पर मित्रों को भी एक अधिकार में न रक्खें।" महर्षि के विचार में राजकीय पदों पर नियुक्ति का आधार योग्यता और धर्मात्मता ही है। और इनके बारे में सुचारु रूप से परीक्षा करके ही किसी को राजकीय पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि एक कुटुम्ब के बहुत से-व्यक्तियों को राजकीय पद नहीं दिये जाने चाहिए।

राजकीय कर्मचारियों को यथोचित वेतन दिया जाना चाहिए, पर अपराध करने पर उन्हें दण्ड भी मिलना चाहिए, इस सम्बन्ध में महर्षि के ये वाक्य महत्त्व के हैं—"जो राजपुरुष अन्याय से वादी प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे उसका सर्वस्व हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रक्खे कि जहाँ से पुनः लौटकर न आ सके,

क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाय तो उसको देख के अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करें और दण्ड दिया जाय तो बचे रहें, परन्तु जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भली भाँति हो और वे भली भाँति धनाढ्य भी हों उतना धन वा भूमि राज्य की ओर से मासिक वा वार्षिक वा एक बार मिला करे, और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे परन्तु यह ध्यान में रक्खें कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे पश्चात् नहीं, परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवें। और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उनकी स्त्री जीती हो तो उन सबके निर्वाहार्थ राज्य की ओर से यथायोग्य धन मिला करे परन्तु जो उसकी स्त्री या लड़के कुकर्मी हो जायें तो कुछ भी न मिले।" (सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास, पृष्ठ ४०-१४१)।

राज्य के शासन में स्त्रियों का क्या स्थान हो, इस सम्बन्ध में भी महर्षि के मन्तव्य महत्त्व के हैं। "राजपुरुष आदि को चाहिए कि आप जिस-जिस राजकार्य में प्रवृत्त हों उस-उस कार्य में अपनी-अपनी स्त्रियों का भी स्थापन करें, जो-जो राजपुरुष जिन-जिन पुरुषों का न्याय करे उस-उसकी स्त्री, स्त्रियों का न्याय किया करें।" (यजुर्वेद भाष्य १३/१७) स्त्रियों के मुकदमों की सुनवाई स्त्री-न्यायाधीशों द्वारा ही की जानी चाहिए, महर्षि को यही व्यवस्था स्वीकार्य थी। उन्होंने लिखा है—"स्त्रियों का न्यायादि पुरुष न करें क्योंकि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भययुक्त होकर यथावत् बोल या पढ़ ही नहीं सकती।" (यजुर्वेद भाष्य १०/२६) महर्षि का यह मन्तव्य प्रतीत होता है, कि जिन व्यक्तियों को 'सभाध्यक्ष राजा' के पद पर और अन्य राजकीय पदों पर नियुक्त किया जाए, उनकी पत्नियाँ भी पतियों के समान ही सुयोग्य होनी चाहिएँ। राजकीय पदों पर नियुक्ति के समय यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है, जिसे दृष्टि में रखना चाहिए। महर्षि ने लिखा है कि "जैसी राजनीति विद्या को राजा पढ़ा हो वैसी ही विद्या उसकी रानी भी पढ़ी होनी चाहिए''' स्त्रियों की स्त्री रानी और पुरुषों का पुरुष राजा न्याय करे।" (य० भा० १६/१६) केवल न्याय कार्य में ही नहीं, अपितु युद्ध में भी स्त्री (रानी) को पुरुष (राजा) की सहधर्मिणी होना चाहिए। महर्षि के अनुसार "हे मनुष्यो! जो रानी धनुर्वेद जानती हुई अस्त्र-शस्त्र फेंकने वाली है उसका वीरों को निरन्तर सत्कार करना चाहिए।" (ऋग्वेद भाष्य ६/७५/१५) "संग्राम में राजा के अभाव में रानी सेना-पति हो और जैसे राजा युद्ध कराने को वीरों को प्रेरणा दे वैसे ही वह भी आचरण करे।" (ऋग्वेद भाष्य ६/७५/१३)।

इसमें सन्देह नहीं कि राज्य और उसके शासन के सम्बन्ध में जो विचार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रतिपादित किये हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, मौलिक व प्रगतिशील हैं। उनके मत में एक व्यक्ति का शासन सर्वथा अनुचित व हानिकारक है। शासन का अधिकार निर्वाचित सभाध्यक्ष (राजा) के हाथों में रहना चाहिए और उसे भी सभा के नियन्त्रण में रहकर ही अपना कार्य करना चाहिए। वस्तुतः, वंशक्रमानुगत स्वेच्छाचारी राजा की कल्पना तक भी महर्षि को असह्य थी। वे तो राजव्यवहार (राजकीय कानून) को ही राजा मानते थे, किसी व्यक्ति को नहीं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि महर्षि ने ये विचार उस समय प्रतिपादित किये थे, जबकि केवल दो राज्यों (स्विट्जरलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका) के अतिरिक्त संसार में सर्वत्र वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, और लोकतन्त्रवाद का सूत्रपात पश्चिमी यूरोप के देशों में भी अत्यन्त प्रारम्भिक दशा में था।

भारत में तो उस समय सभाओं द्वारा लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात भी नहीं हुआ था। यूरोप में जो नयी विचारधाराएँ इस काल में कुछ प्रगतिशील विचारकों द्वारा प्रतिपादित की जा रही थीं, महर्षि को उनके सम्पर्क में आने का अवसर ही नहीं मिला था। वे कोई भी यूरोपियन भाषा नहीं जानते थे। राज्य शासन सम्बन्धी महर्षि के ये विचार प्राचीन वेदों के उन मन्त्रों पर आधारित थे, जिनका उन्होंने एक नये रूप में 'दर्शन' किया था।

(६) विधि (कानून) और न्याय व्यवस्था

राज्य के शासन में न्याय विभाग और कानून का बहुत महत्त्व होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इनके सम्बन्ध में भी कतिपय विचार प्रकट किये हैं। विधि (Law) के लिए उन्होंने 'नियम' और 'कानून' शब्दों का प्रयोग किया है। "जो नियम राजा और प्रजा के सुख कारक और धर्मयुक्त समझें उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बाँधा करे।" (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १६०) इस वाक्य में महर्षि ने नियम शब्द का प्रयोग विधि के अर्थ में किया है, और यह प्रतिपादित किया है कि विधि या नियमों का कार्य राजसभा का है, जिसके सदस्य पूर्ण विद्वान् होने चाहिएँ। ये जिन नियमों को 'बाँधें' (बनाएँ या संहिता के रूप में संकलित करें, वे धर्मानुकूल एवं प्रजा के लिए सुख कारक होने चाहिए। एक विज्ञापन में महर्षि ने इसी बात को अधिक विशद् रूप से इस प्रकार प्रकट किया है—"ऐसा कानून राजा और प्रजा को चलाना और मानना चाहिए जिससे द्यूत, चोरी, परस्त्रीगमन और मिथ्यासाक्षी, बाल्यावस्था में विवाह और विद्या का लोप न होने पावे। फिर राजा और प्रजा उस कानून को धर्म माने और उस पर ही सब चलें। परन्तु ऐसा वह कानून होय जिससे यह लोक और परलोक दोनों शुद्ध होवें। वह कानून धर्म से कुछ भी विरुद्ध न होवे क्योंकि धर्म नाम है न्याय का और न्याय नाम है पक्षपात का छोड़ना।" (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २५-२६) सत्यार्थप्रकाश में महर्षि ने विधि शब्द प्रयुक्त किया है, और इस विज्ञापन में कानून। कानून धर्म के विरुद्ध नहीं होना चाहिए, और उसका प्रयोजन इहलोक और परलोक दोनों में शुद्धता वा हित कल्याण का सम्पादन होना चाहिए। जिन प्रयोजनों से कानून बनाये जाएँ, उनके भी कुछ उदाहरण महर्षि ने दिये हैं द्यूत, चोरी, परस्त्रीगमन, बाल्यावस्था में विवाह आदि को रोकना और विद्या के लोप को न होने देना। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि राज्य-संस्था द्वारा ऐसे कानून बनाये जाएँ जिनसे द्यूत, चोरी आदि बुराइयों को रोका जा सके और विद्या की वृद्धि से मनुष्यों के सुखों व हित में वृद्धि हो सके। जो कानून बन जाएँ, उन पर चलना राजा और प्रजा (शासक वर्ग तथा जनता) दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है।

महर्षि ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इस बात पर जोर दिया है, कि मनुष्यों को सदा धर्म का पालन तथा अधर्म का परित्याग करना चाहिए, और राजा द्वारा जो नियम या कानून बनाये जाएँ वे धर्मानुकूल या धर्म के अविरुद्ध होने चाहिएँ। प्रश्न यह है कि उनको 'धर्म' से क्या अभिप्रेत था? स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में उन्होंने धर्म और अधर्म के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"जो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों के अविरुद्ध है उसको धर्म और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण मिथ्या भावनादि वेदविरुद्ध है उसको अधर्म मानता हूँ।" धर्म के प्रमुख तत्त्व न्याय, सत्य और ईश्वरीय विधान से आनुकूल्य हैं। ईश्वरीय विधान क्या है, इसका परिज्ञान वेदों से प्राप्त

किया जा सकता है। इस प्रकार महर्षि के मत में धर्म उसे कहा जाएगा, जो न्याय, सत्य तथा वेदानुकूल हो। सृष्टि में हमें सर्वत्र ईश्वरीय विधान दृष्टिगोचर होता है। सूर्य नियम से उदय होता है, नियम से अस्त होता है। नक्षत्र, तारा, ग्रह आदि सबकी गति एक निश्चित नियम के अनुसार होती है। ऋतुएँ, जीव, चर, अचर, सब ऐसे नियमों के अधीन हैं, जिनसे विरुद्ध आचरण सम्भव ही नहीं है। जब सम्पूर्ण सृष्टि कतिपय ऐसे विधानों के नियन्त्रण में है, जिनका निर्माण किसी अज्ञेय सर्वोच्च शक्ति द्वारा किया गया है, तो मनुष्यों, मानव समाज और राज्य-संस्था को भी उसी शक्ति (परमेश्वर) द्वारा विहित व्यवस्था के अधीन रहते हुए ही सब कार्य करने चाहिएँ। इस ईश्वरीय विधान को महर्षि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"परमेश्वर ने सब मनुष्यों के नियम के सेवन करने योग्य धर्म का उपदेश किया है जो कि न्याययुक्त परीक्षा किया हुआ सत्य लक्षणों से प्रसिद्ध और सबका हितकारी तथा इस लोक अर्थात् संसारी और परलोक अर्थात् मोक्ष सुख का हेतु है। यही सबको आचरण करने योग्य है, और उससे विरुद्ध जो कि अधर्म कहाता है वह किसी को ग्रहण करने योग्य कभी नहीं हो सकता क्योंकि सर्वत्र उसी का त्याग करना है।" (यजुर्वेद भाष्य १/५) मनुष्यों के सांसारिक (ऐहलौकिक) और आध्यात्मिक सुखों के लिए ईश्वर द्वारा जिन नियमों का उपदेश या प्रतिपादन किया गया है और जो न्याय तथा सत्य से युक्त हैं, महर्षि ने उन्हीं को धर्म माना है। ईश्वर के उपदेश बिना मनुष्य को धर्म और अधर्म का समुचित ज्ञान नहीं हो सकता। महर्षि के शब्दों में, "जो ईश्वर धर्म अधर्म को न जनावे तो धर्माधर्म के स्वरूप का ज्ञान किसी को भी न हो।" यजुर्वेद भाष्य १६/७७) ईश्वर द्वारा जनाया हुआ ज्ञान ही वेद है, और राजसभा जो भी नियम या कानून बनाए, वे इसी ज्ञान पर आधारित धर्म के अनुकूल होने चाहिएँ। यह तो सम्भव नहीं है कि राज्य के लिए आवश्यक सब कानून 'शास्त्रोक्त' हों, क्योंकि काल और देश की परिस्थितियों के अनुसार नये-नये नियमों व कानूनों के निर्माण की आवश्यकता पड़ती रहती है। अतः महर्षि का कथन है, कि "जो नियम शास्त्रोक्त न पावें और उनके होने की आवश्यकता जाने तो उत्तमोत्तम नियम बाँधे कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो।" (सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास) इस प्रकार धर्म, सत्य और न्याय को दृष्टि में रखकर राजसभा जो कानून बनाए, राज्य में उसकी स्थिति सर्वोपरि होती है और उसका पालन करना सबके लिए परमावश्यक है। महर्षि के शब्दों में 'न्याययुक्त' दण्ड ही का नाम धर्म है जो उसका लोप करता है उससे नीच पुरुष दूसरा नहीं होता।" प्राचीन नीतिग्रन्थों में 'दण्ड' शब्द का प्रयोग सजा के लिए तो हुआ ही है, पर प्रशासन व राजशक्ति के लिए भी 'दण्ड' शब्द प्रयुक्त किया गया है। इसीलिए राजनीति शास्त्र को दण्डनीति भी कहा जाता है। जो राजशक्ति न्याय पर आधारित हो और जिसका प्रयोग राजसभा द्वारा निर्धारित नियमों (विधि) के अनुसार किया जाता हो, महर्षि के मन्तव्य में वह भी धर्म है। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "राजसभा व्यवहार एव राजास्ति" (पृ० २५४) इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि राजसभा द्वारा जो व्यवहार निर्धारित किया जाए, जो नियम व कानून वह बनाए, राज्य में उनकी स्थिति सर्वोपरि है, क्योंकि राजा व राजपुरुष भी उसके अधीन होते हैं।

न्यायाधीशों द्वारा दण्ड की व्यवस्था करते हुए किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में महर्षि के ये कथन उद्धरण के योग्य हैं—"चाहे पिता, आचार्य,

मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो, जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठकर न्याय करे तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथोचित दण्ड दे।" न्याय सबके प्रति एक समान रूप से किया जाना चाहिए, और न्यायाधीशों व राजपुरुषों का चाहे कोई व्यक्ति कितना ही आत्मीय क्यों न हो, अपराध करने पर उसे दण्ड मिलना ही चाहिए और उसके प्रति पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए, महर्षि का यही मत है। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि एक ही अपराध के लिए सबको एक सदृश दण्ड देना उचित नहीं है। जिसकी स्थिति अधिक ऊँची हो, जिसके हाथों में अधिक शक्ति हो और जिसे अनेकविध अधिकार प्राप्त हों, यदि वह अपराध करे, तो उसे साधारण मनुष्यों की तुलना में अधिक दण्ड दिया जाना चाहिए। महर्षि के अनुसार, "जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराध में राजा को··· सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिए, मन्त्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा और उससे भी न्यून को छह सौ गुणा इसी प्रकार उत्तर-उत्तर अर्थात् जो एक छोटे-से-छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिए, क्योंकि यदि प्रजा पुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुषों का नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे-से-छोटे भृत्य पर्यन्त राजपुरुषों को प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १५६) दण्ड के विषय में महर्षि का यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्व का है। उनके मत में राजा व राजपुरुष दण्ड से ऊपर नहीं हैं, अपितु दण्ड के अधीन हैं। पर उनके लिए दण्ड की मात्रा सर्वसाधारण जनता की तुलना में बहुत अधिक होनी चाहिए। राजकीय सेवा में नियुक्त छोटे-से-छोटे चपरासी को भी साधारण नागरिक की तुलना में कम-से-कम आठ गुणा दण्ड दिया जाना चाहिए। राजपदाधिकारी, राजकर्मचारी आदि राजपुरुषों के लिए दण्ड की मात्रा उनकी स्थिति के अनुसार अधिक-अधिक होनी चाहिए, महर्षि का यह मन्तव्य क्रियात्मक दृष्टि से उपयोगी है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। महाभारत में भीष्म ने कहा है—"कालो वा कारण राज्ञः राजा वा काल कारणम्, इति ते संशयो मा भूत् राजा कालस्य कारणम्।" राजा काल का कारण है या काल राजा का, इसमें संशय न करो, वस्तुतः, राजा ही काल का कारण है। राजा या शासक वर्ग ही काल या युग का निर्माण करते हैं। वे जिस नीति का निर्धारण करें, जिसके लिए प्रयत्न करें उसी के अनुसार समाज व जनसमूह का निर्माण हो जाता है। आचार्य कौटल्य ने लिखा है कि 'यदि राजपुरुष व राजा उद्यमी हों, तो अन्य सब भी उद्यमी हो जाते हैं और यदि वे प्रमाद करने लगें तो अन्य सब भी प्रमाद करने लगते हैं। जिन राजपुरुषों का कार्य ही अपराधों का निवारण करना और जनता से कानून का पालन कराना है यदि वे स्वयं अपराध करने लगें या स्वयं कानून का उल्लंघन करने लगें, तो उसका परिणाम बहुत भयंकर होगा। इसीलिए महर्षि ने अपराध करने पर उनके लिए बहुत अधिक दण्ड की व्यवस्था की है।

ऊँची स्थिति के लोगों को दण्ड दे सकना सुगम नहीं होता। पर महर्षि ने इस बात पर बहुत जोर दिया है, कि किसी को भी दण्ड से मुक्त नहीं समझना चाहिए। इस प्रसंग में उनका यह संदर्भ उद्धरण के योग्य है—

"(प्रश्न) जो राजा वा राणी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि

कुकर्म करे तो उसको कौन दण्ड देवे ?" (उत्तर) सभा अर्थात् उनको तो प्रजा पुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिए। (प्रश्न) राजादि उनसे दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे ? (उत्तर) राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है, जब उसी को दण्ड न दिया जाए और वह दण्ड ग्रहण न करे तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे ? और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें तो अकेला राजा क्या कर सकता है। जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्याय धर्म को डुबा के सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जाएँ। (सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास, पृष्ठ १५६)।

महर्षि दयानन्द सरस्वती कठोर दण्ड के पक्षपाती थे। उसके समर्थन में उन्होंने यह युक्ति दी है—"जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं वे राजनीति को नहीं समझते क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकर दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्ममार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो यही है कि एक राई भर भी यह दण्ड सबके भाग में न आवेगा, और जो सुगम दण्ड दिया जाए तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगें। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो वह करोड़ों गुणा अधिक होने से करोड़ों गुणा कठिन होता है क्योंकि जब अधिक मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा-थोड़ा भी दण्ड देना पड़ेगा।" (स० प्र०, पृष्ठ १५६) महर्षि का मन्तव्य यह है, कि दण्ड इतना कठोर होना चाहिए कि दूसरों को शिक्षा मिले और वे अपराध में प्रवृत्त न हों। उनके अपने शब्दों में, "जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिए उसी का नाम न्याय है। और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो दया का नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों मनुष्यों को दुःख देना है, जब एक के छोड़ने में सहस्रों को दुःख प्राप्त होता है वह दया किस प्रकार हो सकती है। दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रख कर पाप करने से बचाना, डाकू पर और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास,पृष्ठ १६५) दण्ड से कोई भी वंचित न रहे, इसे स्पष्ट करते हुए महर्षि ने लिखा है—"राजा वा प्रजाजन कभी अधर्म के कार्यों को न करें। जो किसी प्रकार कोई करे तो अपराध के अनुकूल प्रजा, राजा को और राजा प्रजा को दण्ड देवे किन्तु कभी अपराधी को दण्ड दिये बिना न छोड़े और निरपराधी को निष्प्रयोजन पीड़ा न देवे।" (यजुर्वेद भाष्य ८/२३)।

न्याय विभाग के संगठन कर महर्षि के ग्रन्थों से विशेष परिचय नहीं मिलता, यद्यपि उनके अनुसार सर्वोच्च न्यायालय राजसभा का है, जिसे सभाध्यक्ष व सभापति राजा को भी दण्ड देने का अधिकार है। पर समुचित न्याय को महर्षि कितना अधिक महत्त्व देते थे, यह उनके एक पत्र से सूचित होता है जिसमें उन्होंने लिखा था—"सदा बलवान् और राजपुरुषों से सताये हुओं की पुकार यदि भोजन पर भी बैठे हो तो भोजन को भी छोड़ के उनकी बात सुननी और यथोचित उनका न्याय करना। ऐसा न होवे कि निर्बल अनाथ लोग बलवान् और राजपुरुषों से पीड़ित होकर रुदन करें और उनका अश्रुपात भूमि पर गिरे कि जिससे सर्वनाश हो जावे।"

पन्द्रहवाँ अध्याय

समाज संगठन और आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचार

(१) सामाजिक न्याय की समस्या

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर, समाज का एक अंग बन-कर ही अपनी उन्नति करता है। पर सामाजिक जीवन में मनुष्यों का एक-दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध हो, यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर और विवादग्रस्त है। प्राचीन वैदिक युग के समाज को जाने दीजिये, बाद के इतिहास में मनुष्यों का एक वर्ग दूसरों का शोषण करता रहा है, और वर्तमान समय में भी इस दशा का अन्त नहीं हुआ है। सब मनुष्यों की स्थिति का असमान होना, कुछ को ऊँचा और दूसरों को नीचा व अस्पृश्य माने जाना और एक वर्ग को शिक्षा तक से वंचित रखना चिरकाल से सामाजिक संगठन की विशेषताएँ रही हैं। भारत के इतिहास में बौद्ध युग के प्रारम्भ होने से पूर्व सूत्र ग्रन्थों के समय में सामाजिक व्यवस्था में विकृति आनी शुरू हो गई थी। उस समय समाज में सब वर्णों के लोगों की न केवल स्थिति ही एक समान नहीं थी, अपितु उनके लिए कानून भी पृथक्-पृथक् थे। एक ही अपराध करने पर विविध वर्णों के व्यक्तियों के लिए विभिन्न दण्डों का विधान था। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण का अपमान करने पर क्षत्रिय को १०० कार्षापण जुर्माना देना होता था। पर यदि ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करे, तो उस पर केवल ५० कार्षापण जुर्माना किया जाता था। ब्राह्मण द्वारा वैश्य को अपमानित करने पर केवल २५ कार्षापण दण्ड का विधान था। समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त हीन थी। उनका एकमात्र कार्य तीनों उच्च वर्णों के लोगों की सेवा करना ही माना जाता था। उनकी स्थिति दासों के सदृश थी। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि उच्च वर्णों के लोगों के जो जूते, वस्त्र आदि जीर्ण-शीर्ण हो जाएँ, उन्हें शूद्रों के प्रयोग के लिए दे दिया जाए और उनके भोजन पात्रों में जो जूठन बच जाए, शूद्र उस द्वारा अपनी क्षुधा को शान्त करें। शूद्रों को इतना हीन माना जाने लगा था कि किसी शूद्र की हत्या कर देने पर हत्यारे के लिए उसी दण्ड का विधान था जो कि कौवे, मेंढक, कुत्ते आदि को मारने के लिए विहित था। शूद्र को न वेद पढ़ने का अधिकार था, और न यज्ञ करने का। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार यदि कोई शूद्र वेदमन्त्र सुनले, तो उसके कानों में सीसे या लाख को पिघला कर डाल

देना चाहिए, और यदि कोई शूद्र वेदमन्त्रों का उच्चारण कर ले, तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए। शूद्रों के लिए उपनयन संस्कार निषिद्ध था, अतः वे विद्याध्ययन का अवसर प्राप्त ही नहीं कर सकते थे। किसी भी प्रकार की विद्या व शिल्प की शिक्षा प्राप्त न कर सकने के कारण शूद्रों के लिए एकमात्र यही मार्ग रह जाता था कि वे उच्च वर्ग के घरों में काम करें या उनके खेतों आदि में अशिक्षित मजदूर का कार्य कर अपना जीवन निर्वाह किया करें।

बुद्ध के प्रादुर्भाव (छठी सदी ईस्वी पूर्व) के समय तक भारत के सामाजिक संगठन का रूप अत्यन्त विकृत हो चुका था। इसी कारण बौद्ध साहित्य में वर्णभेद की कटु आलोचना की गई है, जन्म के स्थान पर कर्म को महत्त्व दिया गया है, और सामाजिक ऊँच-नीच के विरुद्ध आवाज उठायी गई है। बुद्ध का कथन था, कि जन्म से न कोई ब्राह्मण है, और न कोई चाण्डाल। कर्म के आधार पर ही किसी को ब्राह्मण या चाण्डाल मानना उचित है। जैन धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर ने भी जन्म की तुलना में गुण कर्म को ही मनुष्यों की सामाजिक स्थिति का निर्धारक प्रतिपादित किया था। बौद्ध और जैन धर्मों ने भारत के सामाजिक जीवन की बुराइयों को दूर करने में कुछ अंश तक सफलता अवश्य प्राप्त की। कौटलीय अर्थशास्त्र की रचना चौथी सदी ईस्वी पूर्व में हुई थी। उसके अनुशीलन से प्रतीत होता है, कि उस काल तक शूद्रों की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हो गया था। शूद्रों के 'स्वधर्म' (कार्यों) का निरूपण करते हुए कौटल्य ने कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को भी शूद्रों के स्वधर्म के अन्तर्गत किया है, जो स्मृतियों और धर्मसूत्रों में नहीं पाया जाता। चौथी सदी ईस्वी पूर्व में शूद्रों का कार्य केवल द्विजातियों की सेवा तक ही सीमित नहीं रह गया था, वे वैश्यों के सहायक रूप में या स्वतन्त्र रूप से कृषि, पशुपालन और वाणिज्य भी करने लग गये थे। सेना में भी उन्हें भरती किया जाने लगा था। क्षत्रियों की सेना को श्रेष्ठ बताते हुए कौटल्य ने यह भी लिखा है कि ऐसी वैश्य सेना और शूद्र सेना भी श्रेष्ठ हैं, जिनके सैनिक संख्या में बहुत अधिक हों। यद्यपि शूद्र के स्वधर्म में कौटल्य ने यजन और अध्ययन को अन्तर्गत नहीं किया है, पर कतिपय दशाओं में वे भी यज्ञ कर सकते थे और उन्हें भी वेदादि की शिक्षा दी जाती थी। इसीलिए कौटल्य ने लिखा है कि यदि किसी पुरोहित को 'अयाज्य' (शूद्र सदृश ऐसे व्यक्ति जिन्हें यज्ञ का अधिकार न हो) का यज्ञ कराने और उसे पढ़ाने का आदेश दिया जाए और वह इस आदेश का पालन न करे, तो उसे अपने पद से च्युत कर दिया जाए।

बौद्ध और जैन नेताओं के प्रयत्न से यद्यपि शूद्रों की दशा में कुछ सुधार अवश्य हुआ था, पर चौथी सदी ईस्वी पूर्व में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के लोगों की स्थिति एक समान नहीं हो पायी थी। न्यायालयों द्वारा अपराधियों को दण्ड देते हुए या वाद के सम्बन्ध में साक्षी को शपथ दिलाते हुए वर्ण की दृष्टि से भेदभाव किया जाता था। यदि निचले वर्ण का कोई व्यक्ति उच्च वर्ण के व्यक्ति के प्रति 'वाक् पारुष्य' का प्रयोग करे तो उसे अधिक दण्ड मिलता था, उस दण्ड की तुलना में जो कि उच्च वर्ण के व्यक्ति द्वारा नीचे वर्ण के व्यक्ति के प्रति किए गए उसी अपराध के लिए दिया जाता था। चार वर्णों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग भी इस काल में विद्यमान था, जिसकी स्थिति शूद्रों की तुलना में भी हीन थी। इसे 'अन्तावसायी' कहते थे, और चाण्डाल व श्वपाक सदृश लोग इस वर्ग के अन्तर्गत थे। वर्तमान समय में जिन लोगों को अस्पृश्य समझा

जाता है, वे सम्भवतः इन्हीं 'अन्तावसायियों' के उत्तराधिकारी हैं।

दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हुआ था, और नये परिवर्तित रूप में प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान भी। बौद्ध धर्म में मनुष्य की सामाजिक स्थिति के लिए जन्म की अपेक्षा गुणों और कर्मों को अधिक महत्त्व दिया जाता था, और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए व्यक्ति जन्म के आधार पर अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं यह मान्य नहीं था। बौद्धों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के काल में प्राचीन वैदिक धर्म की विशुद्ध रूप में स्थापना नहीं हुई, अपितु उन अनेक विकृतियों का भी प्रबल रूप से समर्थन किया जाने लगा, जो छठी सदी ईस्वी पूर्व से पूर्ववर्ती काल में सनातन वैदिक धर्म में उत्पन्न हो गई थीं। जन्म के आधार पर ब्राह्मणों को उच्च व सर्वश्रेष्ठ मानने की बात इन विकृतियों में एक थी। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति ने इस काल में जो रूप प्राप्त किया, उसके अनुसार ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लोग न वेदों का अध्ययन कर सकते हैं, न यज्ञ कर सकते हैं और न दान ग्रहण कर सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मनु ने ब्राह्मणों के लिए जीवन का अत्यन्त उच्च आदर्श प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार ब्राह्मण को उञ्छवृत्ति (खेतों में बचे रह गये अन्न के दानों को बीन कर) से अपना निर्वाह करना चाहिए। वह केवल उतना ही अन्न संचित करे जो एक कुम्भी को भरने के लिए पर्याप्त हो या जिससे अपने परिवार का तीन दिनों के भोजन का काम चला सके। स्मृतिकारों के अनुसार ब्राह्मण का जीवन लोभ से रहित, अकिञ्चन, त्यागी व तपस्वी होना चाहिए। जिन ब्राह्मणों का जीवन सचमुच ऐसा हो, समाज में उन्हें विशिष्ट व उच्च स्थिति प्राप्त होनी ही चाहिए। क्योंकि ब्राह्मणों के लिए अकिञ्चन होना आवश्यक था, अतः स्मृतिकारों की यह व्यवस्था भी सर्वथा उचित थी कि ब्राह्मणों से न केवल कोई कर ही लिया जाए, अपितु राजा उनके भरण-पोषण का भी ध्यान रखे। उनकी उच्च सामाजिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए कतिपय प्रकार के दण्डों से भी उन्हें मुक्त रखा गया था। उन्हें अवध्य, अदण्ड्य, अबन्ध्य और अबहिष्कार्य माना जाता था। पर यदि ब्राह्मण व्यभिचार, सुरापान तथा चोरी जैसा अपराध करे, तो उसे भी दण्ड देने की व्यवस्था थी। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार ऐसे अपराध करने वाले ब्राह्मण के माथे पर तपे हुए लोहे का दाग लगाकर उसे देश से बहिष्कृत कर देना चाहिए। यद्यपि स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों के लिए जीवन का अत्यन्त उच्च आदर्श प्रतिपादित किया है, पर जन्म के आधार पर वर्ण के माने जाने की प्रवृत्ति के कारण ऐसे ब्राह्मण भी समाज में विद्यमान थे, जिनका जीवन ब्राह्मणत्त्व से शून्य था। मनुस्मृति में ऐसे कर्म करने वाले ब्राह्मणों की सूची दी गई है, जिन्हें श्राद्ध कर्म में निमन्त्रित नहीं करना चाहिए। इन्हें 'अपांक्तेय' कहा जाता था, क्योंकि इन्हें विद्वान् व सदाचारी ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठने का अधिकार नहीं था। जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण होने के कारण ब्राह्मण ऐसे भी होते थे जो सदाचारी, विद्वान् और तपस्वी हों, और ऐसे भी जो विद्या तथा सत्कर्मों से विरहित हों। पतंजलि के अपने महाभाष्य में दोनों प्रकार के ब्राह्मणों के लिए 'जाति-ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है। जन्म के कारण ऐसे लोग भी ब्राह्मण माने जाने लगे थे जो वाणिज्य द्वारा जीवन निर्वाह करते हों, पशुओं के क्रय-विक्रय का रोजगार करते हों, इमारतें बनाने का पेशा करते हों, खेती करते हों, भीख माँगते हों या माँस बेचते हों। बुद्ध और महावीर के धार्मिक सुधारों के बावजूद वर्ण-व्यवस्था के विकृत स्वरूप में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हो सका था, और ब्राह्मण

कुल में उत्पन्न लोगों को गुण, कर्म व स्वभाव में ब्राह्मणत्व के विरुद्ध होते हुए भी ब्राह्मण माना जाता था।

ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय वर्ण भी अब प्रधानतया जन्म पर आधारित हो गया था। इसीलिए ऐसे क्षत्रिय भी थे, जो वैश्यवृत्ति द्वारा आजीविका कमाते थे। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में विपत्तिकाल में क्षत्रियों को यह अनुमति दी गई है कि वे वैश्य कर्म कर सकें। समाज में शूद्रों की स्थिति पूर्ववत् हीन ही थी। न वे वेदाध्ययन कर सकते थे, और न याज्ञिक कर्मकाण्ड की ही उन्हें अनुमति थी। उनके लिए यही पर्याप्त था कि देवताओं का स्मरण कर उनके प्रति नमस्कार निवेदन कर दें। शूद्रों के लिए दण्ड-विधान भी अत्यन्त कठोर था। यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण स्त्री से सम्भोग करे, तो उसके लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी। पर ब्राह्मण द्वारा अन्य वर्ण की स्त्री से सम्भोग करने पर केवल अर्थ-दण्ड (जुरमाने) का विधान था। यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण को गाली दे, तो उसकी जीभ काट ली जाती थी। पर ब्राह्मण द्वारा शूद्र को गाली देने पर केवल १२ पण जुरमाने की सजा दी जाती थी। शूद्रों को वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में प्रवेश का अधिकार नहीं था। उनका उपनयन संस्कार भी नहीं होता था, अतः वे ब्रह्मचारी होकर विद्याध्ययन भी नहीं कर सकते थे। पतंजलि ने रथकारों, धीवरों, तन्तुवायों (जुलाहों), कुम्भकारों (कुम्हारों), अयस्कारों (लुहारों), नापितों, चर्मकारों (चमारों), आभीरों और धोबियों को शूद्र कहा है। पर शूद्रों का एक ऐसा वर्ग भी था, जिसकी सामाजिक स्थिति अत्यधिक हीन थी। इस वर्ग में चाण्डालों को अन्तर्गत किया जाता था। ये लोग नगरों और ग्रामों से बाहर रहा करते थे। पतंजलि के अनुसार शूद्रों के दो वर्ग थे—निरवसित और अनिरवसित। जुलाहे, नाई, लुहार, धोबी आदि शिल्पी अनिरवसित वर्ग में थे। ये उच्च वर्णों के लोगों के भोजन पात्रों को छू सकते थे। पर निरवसित शूद्र (चाण्डाल आदि) यदि किसी के पात्र को छू दें, तो वह अपवित्र हो जाता था और अग्नि द्वारा शुद्ध कर लेने पर भी उच्च वर्ण के व्यक्ति उसे प्रयोग में नहीं ला सकते थे।

दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में चातुर्वर्ण्य का जो स्वरूप विकसित होना शुरू हुआ था, गुप्त युग तथा मध्य काल में भी वह प्रायः उसी प्रकार क़ायम रहा। वर्ण-भेद का आधार इस सुदीर्घ काल में गुण व कर्म न होकर जन्म ही था। मनुष्य का कर्म चाहे कोई भी क्यों न हो, उसे उसी वर्ण का माना जाता था जिसमें कि उसका जन्म हुआ था। दसवीं सदी के अन्त में जब अरब विद्वान् अलबरूनी भारत आया था, तो यहाँ के चातुर्वर्ण्य की ओर उसका भी ध्यान गया था। उसने लिखा है कि इस देश के समाज में विविध वर्णों के अपने-अपने कर्म नियम हैं, और राजा का यह कर्तव्य माना जाता है कि वह किसी को अपने वर्ण के कार्यों का अतिक्रमण न करने दे।

समय के साथ-साथ भारत में वर्ण-भेद अधिकाधिक संकीर्ण व कठोर होता गया। यह तो अब सम्भव ही नहीं रहा था, कि गुणों और कर्मों के आधार पर नीचे वर्ण में उत्पन्न कोई व्यक्ति ऊँचा वर्ण प्राप्त कर सके। किसी विदेशी व विधर्मी व्यक्ति का अपने समाज का अंग बन सकना भी अब असम्भव होता जा रहा था। चौथी सदी ईस्वी पूर्व से लगा कर सातवीं सदी तक यवन, शक, कुशाण, हूण आदि अनेक जातियाँ भारत में प्रविष्ट हुईं, और गुण, कर्म के अनुसार उन्हें भारत के चातुर्वर्ण्य में स्थान प्रदान कर दिया गया। पर सामाजिक संकीर्णता में वृद्धि के कारण मध्य काल में इस स्थिति में परिवर्तन हुआ।

दसवीं सदी के अन्त में जब तुर्क लोग भारत में प्रविष्ट होने शुरू हुए, तो भारतीय समाज उन्हें आत्मसात् नहीं कर सका। अलबरूनी ने इस सम्बन्ध में लिखा है, कि "हिन्दुओं की कट्टरता का शिकार विदेशी जातियाँ हैं। वे उन्हें म्लेच्छ व अपवित्र समझते हैं। उनके साथ वे खानपान व विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उनका विचार है कि ऐसा करने से हम भ्रष्ट हो जाएँगे।" तेरहवीं सदी में भारत पर तुर्क-अफगान लोगों की राजनीतिक सत्ता का सूत्रपात हुआ, और कुछ ही समय में उत्तरी भारत का बड़ा भाग उनके प्रभुत्व में आ गया। इन नये 'यवनों' या 'हूणों' को भारतीय समाज का अंग नहीं बनाया जा सका, और इनका एक पृथक् वर्ग बन गया, जिसमें वे हिन्दू या आर्य भी सम्मिलित होते गये जो तुर्क-अफगानों के सम्पर्क में आकर इस्लाम को अपना लेते थे। इस प्रकार भारत का समाज जहाँ हिन्दू और मुसलिम वर्गों में विभक्त हो गया, वहाँ वर्ण-भेद या जाति-भेद के कारण हिन्दू समाज में ऐसा संगठन नहीं रह गया, जिसके कारण उसे एक जाति समझा जा सके। हिन्दुओं की यह बहुत बड़ी निर्बलता थी। मुसलमानों में ऊँच-नीच का वैसा भेद नहीं था, जैसा कि हिन्दुओं में था। नीच व अस्पृश्य समझे जाने वाले हिन्दू इस्लाम को अपना कर अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा बना सकते थे। हिन्दू धर्म के लिए यह बहुत बड़ी चुनौती थी। इस दशा में अनेक ऐसे हिन्दू नेता और धार्मिक आचार्य उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि जहाँ एक ओर हिन्दू धर्म की विकृतियों को दूर कर धार्मिक सुधार का प्रयत्न किया, वहाँ साथ ही हिन्दू समाज से ऊँच-नीच का भेद हटाकर सबको सामाजिक दृष्टि से समान स्थिति प्रदान करने के पक्ष में आन्दोलन किया। इन धार्मिक नेताओं का कहना था कि भगवान् की दृष्टि में न कोई मनुष्य नीच है न कोई उच्च। अपने गुण, कर्म, सदाचार व भक्ति द्वारा ही मनुष्य ऊँचा पद प्राप्त कर सकता है। मध्य युग के इन धार्मिक नेताओं का यहाँ संक्षेप के साथ भी परिचय दे सकना सम्भव नहीं है। रामानन्द, चैतन्य, नानक, कबीर आदि इनमें प्रमुख थे। रामानन्द भक्ति मार्ग के अनुयायी थे और राम के रूप में विष्णु की भक्ति का उपदेश करते थे। उन्होंने राम-भक्ति का मार्ग सब जातियों के लिए खोल दिया। उनके प्रधान शिष्यों में कबीर जाति से जुलाहे थे, और सेन नाई थे। रैदास जाति से चमार थे। चैतन्य भी भक्ति मार्ग के अनुयायी थे, और कृष्ण की भक्ति को मोक्ष का साधन मानते थे, और भक्ति में ऊँच-नीच के भेदभाव को कोई स्थान नहीं देते थे। उनका अन्यतम शिष्य हरिदास जाति से अछूत था। उसने एक बार अपने गुरु से कहा कि वे उसे स्पर्श न करें क्योंकि वह अछूत है। इस पर चैतन्य आवेश में आ गये, और उन्होंने हरिदास को छाती से लगा लिया। ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान सब चैतन्य के उपदेश को भक्तिपूर्वक सुनते थे और उनके अनुकरण में अपनी जाति व धर्म को भूल जाते थे। गुरु नानक की दृष्टि में छूत-अछूत और हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद नहीं था। वे मनुष्य-मात्र की समता में विश्वास रखते थे और एक ऐसे समाज के निर्माण के लिए प्रयत्नशील थे जिसमें सबकी स्थिति एक समान हो। मध्य युग में अन्य भी अनेक ऐसे सन्त-महात्मा हुए, जिन्होंने जात-पाँत के भेदभाव की उपेक्षा कर मनुष्यों की एकता, समता और भक्तिमार्ग का उपदेश दिया। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव का एक शिष्य चोखमेला जाति से महार था। महार लोग अछूत माने जाते हैं। जब चोखमेला पंढरपुर के प्रसिद्ध मन्दिर का दर्शन करने गये, तो ब्राह्मण पुरोहितों ने उन्हें मन्दिर में प्रविष्ट नहीं होने दिया। इस पर उन्होंने कहा—ईश्वर अपने बच्चों से भक्ति और प्रेम चाहता है, उनकी जाति नहीं देखता।

पर मध्य युग के ये सन्त-महात्मा हिन्दू समाज से ऊँच-नीच और छूत-अछूत के रोग का निवारण करने में असमर्थ रहे। सामाजिक दृष्टि से न रैदास ऊँची स्थिति प्राप्त कर सके और न कबीर, सैना तथा चोखमेला। रैदास के चरित्र और भक्ति से उच्च वर्णों के लोग प्रभावित अवश्य हुए, पर उन्हें वैष्णव धर्म में ब्राह्मण आचार्यों के समकक्ष स्थिति प्राप्त नहीं हुई। रैदास के अनुयायी सजातीय लोग एक पृथक् पन्थ के रूप में परिवर्तित हो गये, और हिन्दू समाज में उनकी स्थिति नीची ही मानी जाती रही। यही बात कबीर आदि अन्य सन्तों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

भारत के सामाजिक जीवन से ऊँच-नीच और छूत-अछूत के भेद को दूर करने के लिए अनेक बार प्रयत्न हुए हैं। गौतम बुद्ध और वर्धमान महावीर ने इस सम्बन्ध में श्लाघनीय कार्य किया। आंशिक रूप से उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। बौद्ध संघ में सब कोई प्रवेश पा सकते थे, और भिक्षु व स्थविर बनने के लिए जाति का कोई प्रश्न नहीं था। जैनों में अध्यापक, पौरोहित्य तथा धार्मिक नेतृत्व किसी एक जाति या वर्ण तक सीमित नहीं होता। पर ये दोनों धार्मिक आन्दोलन भारतीय जनता के बड़े भाग को प्रभावित कर सकने में असमर्थ रहे। इन धर्मों की मान्यताएँ भारत की प्राचीन परम्पराओं के अनुकूल नहीं थीं। ये न वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करते थे, और न सृष्टि के कर्ता व पालक के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते थे। इसी कारण ये भारतीय जनता को स्थायी व गहन रूप से अपने प्रभाव में नहीं रख सके, और समाज में ऊँच-नीच आदि के भेदभाव को दूर कर समानता स्थापित कर सकने में भी असफल रहे। मध्य काल के सन्त-महात्मा भक्ति मार्ग के प्रतिपादक थे और भगवान् की भक्ति में ऊँच-नीच के भेदभाव को भूल जाते थे। भक्तों की अपनी सीमित मण्डली में नीच समझे जाने वाले लोगों से उन्होंने प्रेम अवश्य किया, पर व्यापक सामाजिक जीवन को वे प्रभावित नहीं कर सके।

उन्नीसवीं सदी में भारत में नव-जागरण और धार्मिक सुधार के आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। इन आन्दोलनों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। ब्राह्मसमाज ने सामाजिक सुधारों पर बहुत बल दिया। उसके नेता बाल-विवाह के विरोधी थे, विधवा-विवाह का समर्थन करते थे, परदा-प्रथा के विरोधी और स्त्री शिक्षा के समर्थक थे और बहुविवाह को हानिकारक मानते थे। सब धर्मों व सम्प्रदायों के प्रति सम्मान की भावना रखना भी उनकी दृष्टि में उपयोगी था। विविध जातियों में परस्पर विवाह सम्बन्ध स्थापित करना और खानपान विषयक संकीर्ण विचारों का विरोध करना भी वे अपना कर्तव्य समझते थे। इसमें सन्देह नहीं, कि ब्राह्मसमाज ने बंगाल में हिन्दूधर्म की पुरानी रूढ़ियों और कुरीतियों को दूर करने के सम्बन्ध में बहुत उपयोगी कार्य किया। पर भारतीय समाज में जात-पाँत और ऊँच-नीच के भेदभाव के रूप में जो आधारभूत बुराई है, उसकी ओर उन्होंने समुचित ध्यान नहीं दिया और उसका निवारण कर सकने में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज के रूप में जो सुधार आन्दोलन उन्नीसवीं सदी में प्रारम्भ हुआ, अछूतोद्धार, स्त्री-शिक्षा, जाति-भेद का विरोध, अन्तर्जातीय विवाह एवं विधवा-विवाह आदि पर उस द्वारा समुचित जोर दिया जाता था। पर प्रार्थनासमाज का कार्यक्षेत्र केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित रहा और वह भारतव्यापी आन्दोलन का रूप नहीं प्राप्त कर सका। भारत के सामाजिक संगठन की मूलभूत बुराइयों को दूर करने का जो सबसे अधिक सशक्त आन्दोलन उन्नीसवीं सदी में चला, वह आर्यसमाज का था

और उसके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती थे।

जाति-भेद भारत के सामाजिक संगठन की एक अनुपम विशेषता है। इस प्रकार का जाति-भेद किसी अन्य देश में नहीं पाया जाता। भारत में जात-पाँत का भेद केवल हिन्दुओं में ही नहीं है, मुसलमानों और ईसाइयों में भी वह विद्यमान है। प्राचीन समय में इसका चाहे कोई उपयोग रहा हो, पर चिरकाल से यह भारत की उन्नति में बाधा उपस्थित करता रहा है। इसके कारण भारतीयों में संकीर्णता की प्रवृत्ति विकसित हुई। विद्या और ज्ञान केवल ब्राह्मण वर्ण का क्षेत्र समझा जाने लगा, और सर्वसाधारण जनता को शिक्षित होने का अवसर नहीं मिला। शिल्पी और व्यवसायी शिक्षा से प्रायः वंचित रहे। प्राचीन और मध्य युग में भारत का शिल्पी पाश्चात्य जगत् के शिल्पी से किसी भी तरह पिछड़ा हुआ नहीं था। पर आधुनिक युग में जब यूरोप के शिल्पी नये वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से अपने-अपने शिल्पों की उन्नति करने लगे, तो भारत के शिल्पी निरक्षर व अशिक्षित होने के कारण अपनी पुरानी पद्धतियों व उपकरणों में समुचित प्रगति नहीं कर सके। ब्राह्मण के पास ज्ञान था, विद्या थी और शिल्पी के पास कला (हुनर) थी। पर इन दोनों में किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं था। ब्राह्मण का ज्ञान अधिक अक्रियात्मक होता गया, और वह सिद्धान्तों के विवेचन में ही व्यापृत रहा। विद्या के प्रकाश के अभाव में यहाँ का शिल्पी उन्नति की दौड़ में पीछे रह गया। जाति-भेद का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि भारत की जनता में एकता की भावना समुचित रूप से विकसित नहीं हो सकी। जाट अपने को जाट समझते रहे, कायस्थ-कायस्थ और राजपूत-राजपूत। सब भारतीय एक हैं, एक समाज व एक राष्ट्र के अंग हैं, यह विचार यहाँ पनपने नहीं पाया। अब तक भी भारत में राष्ट्रीय भावना की जो कमी है, उसका एक प्रधान कारण जाति-भेद की सत्ता ही है। इसी जाति-भेद के कारण भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग पद-दलित है। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के लोग संख्या में कम हैं। बहुसंख्यक जनता उन जातियों व वर्णों द्वारा निर्मित है, जिन्हें ब्राह्मण और क्षत्रिय नीची दृष्टि से देखते हैं। जनता के एक अच्छे-बड़े वर्ग को अछूत तक माना जाता है। उसे मानवता के साधारण अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। समाज में उनकी स्थिति अत्यन्त हीन है। ऊँच-नीच और छूत-अछूत के ये भेद भारत के सामाजिक संगठन के लिए घोर अभिशाप हैं।

(२) गुण-कर्मानुसार चातुर्वर्ण्य का महर्षि द्वारा प्रतिपादित स्वरूप

बुद्ध, महावीर, रामानन्द, चैतन्य आदि महापुरुष भारत के इस रोग की चिकित्सा कर सकने में असमर्थ रहे। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित उन्नीसवीं सदी के सुधारक भी इस सम्बन्ध में विशेष कार्य नहीं सक सके। वस्तुतः, भारत के इतिहास में अकेले महर्षि दयानन्द सरस्वती ही ऐसे चिन्तक हुए हैं, जिन्होंने कि इस देश की इस भयंकर सामाजिक बीमारी के मूल कारणों का पता किया और उसके निवारण के लिए क्रियात्मक व सशक्त उपाय प्रतिपादित किये।

वर्णभेद या जाति-भेद का आधार जन्म को न मानकर गुण और कर्म को मानना चाहिए, यह विचार नया नहीं है। कृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से निरूपित किया था, कि चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर ही हुई है। बुद्ध और महावीर भी केवल जन्म के आधार पर किसी को ऊँचा या नीचा मानने को तैयार नहीं थे। मध्य

काल के सन्त-महात्मा भक्तिमार्ग के अनुयायियों में जाति का कोई भेद नहीं रखते थे। पर ये सब सुधारक और महात्मा इस तथ्य को महत्त्व नहीं दे पाए, कि जब तक किसी को शिक्षा प्राप्त करने और अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास करने का अवसर न मिले, वह उन गुणों को कैसे विकसित कर सकता है और कैसे उन कर्मों को करने की क्षमता प्राप्त कर सकता है, जिसकी योग्यता अविकसित रूप में उसमें विद्यमान है। जब तक शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति को शिक्षा नहीं दी जाएगी, उपनयन संस्कार के अनन्तर वह भी आचार्य से विद्या ग्रहण नहीं करेगा, उसमें वे गुण कैसे विकसित हो सकेंगे, जिनके आधार पर वह ब्राह्मण या क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित होने के योग्य समझा जा सके। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस तथ्य को अनुभव कर यह प्रतिपादित किया, कि सब बालकों और बालिकाओं को शिक्षा का समान अवसर दिया जाना चाहिए, चाहे वे किसी भी वर्ण या कुल में उत्पन्न हुए हों। स्त्रियों और शूद्रों को शिक्षित करने का उन्होंने प्रबल रूप से समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है कि "सब मनुष्यों के वेदादिशास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥ यजु० २६/२

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देने हारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आ वदानि) उपदेश करता हूँ, वैसा तुम भी किया करो। यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही को वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं। (उत्तर) (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य, (शूद्राय) शूद्र (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ा के अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग कर के दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों।...क्या ईश्वर शूद्रों का भला नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों को पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करें।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ६४)।

वेदादि का ज्ञान प्राप्त करने और विद्याएँ पढ़ने का अधिकार केवल द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को ही नहीं अपितु शूद्रों और अतिशूद्रों को भी है, और उन्हें भी अन्य सबके समान शिक्षा का अवसर मिलना चाहिए, यही मत महर्षि को अभिप्रेत था। 'स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्' सदृश वचनों के वास्तविक अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए महर्षि ने लिखा है कि "जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है, और उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है।" एक अन्य स्थान पर सुश्रुत के सूत्रस्थान के इस कथन को उद्धृत कर कि "जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्र-संहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे," महर्षि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "यह मत अनेक आचार्यों का है।" शूद्र को मन्त्र-संहिता न पढ़ायी जाए, यह महर्षि का अपना मत नहीं है। वे तो यह मानते थे कि 'जन्म से सब कोई शूद्र ही होते हैं, शिक्षा और संस्कार द्वारा ही कोई व्यक्ति द्विज बनता है।' (जन्मना जायते शूद्रः संस्का-

रात् द्विज उच्चते)। प्राचीन धर्माचार्यों और सन्त-महात्माओं ने यह तो कहा कि मनुष्य की स्थिति जन्म पर आधारित न होकर गुण-कर्म के अनुसार निर्धारित की जानी चाहिए, पर शिक्षा और विद्या प्राप्त करने का अवसर दिए जाने पर ही कोई व्यक्ति ऐसा गुणी बन सकता है और ऐसे कर्मों को अपना सकता है जिनसे कि वह उच्च वर्ण में सम्मिलित हो सके, इस मूलभूत तथ्य पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। यही कारण है, जो उनके उपदेश भारत से नीच-ऊँच और छूत-अछूत आदि के भेदभाव को दूर नहीं कर सके, और मनुष्यों की स्थिति उनके जन्म के आधार पर ही निश्चित होती रही। महर्षि ने यह प्रतिपादित किया, कि विद्या सबके लिए है और सबको ज्ञान प्राप्ति का एक समान अवसर दिया जाना चाहिए, और शिक्षा काल की समाप्ति पर ही यह निर्धारित किया जाना चाहिए कि अपनी योग्यता और गुणों के कारण कौन व्यक्ति किस वर्ण में होने के योग्य है। जब वर्ण निर्धारित हो जाए, तो सबको उनके वर्णों के अनुरूप कार्य भी दिया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में महर्षि के कुछ कथन उद्धरण के योग्य हैं—

"जन्म से पाँचवें वर्ष तक बालकों को माता, छठे वर्ष से आठवें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और नौवें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्या दान करने वाली हों वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेद दें।" (स० प्र०, द्वितीय समु०, पृ० २६)।

"इसलिए आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्यकुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।"

"इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।"

"विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए ··· पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहे। सबको तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिए जायें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र की सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० २९-३०)।

"राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का व लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्यकुल में रहें।"

"आज कल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरों को विद्या-सत्संग से हटा और अपने जाल में फँसा के उनका तन, मन, धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जाएँगे तो हमारे पाखण्ड-जाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे। इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ६३)।

ये सब उद्धरण सत्यार्थप्रकाश से लिये गये हैं। इन्हें पढ़कर इस बात में कोई

सन्देह नहीं रह जाता, कि सब बालकों और बालिकाओं को शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर प्रदान करना महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार परम आवश्यक है। कोई बालक चाहे ब्राह्मण व क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ हो और चाहे जन्म से शूद्र व अतिशूद्र हो, सबको एक समान शिक्षा का अवसर प्राप्त कराया जाना चाहिए। यह बात केवल मनुष्यों की इच्छा पर ही नहीं छोड़ी जा सकती। महर्षि के अनुसार इसके लिए राजनियम (राजकीय कानून) और जातिनियम (सामाजिक व सामूहिक मान्यता) दोनों होने चाहिएँ, और सामाजिक तथा राजकीय व्यवस्था द्वारा सब बच्चों को आठ वर्ष की आयु हो जाने पर अनिवार्य रूप से आचार्यकुलों या गुरुकुलों में भेज देना चाहिए, जहाँ सबको समान निवास-स्थान, समान भोजन, समान वस्त्र और समान शिक्षा दी जाए, चाहे कोई राजकुमार या राजकुमारी हो और चाहे रंक की सन्तान। महर्षि का यह भी मत है, कि शिक्षाकाल में "बालक और बालिकाएँ अपने गुरुकुलों में निवास करें, जहाँ माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें, और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक-दूसरे से कर सकें।" महर्षि की यह व्यवस्था भी बड़े महत्त्व की है। पाठशाला या गुरुकुल में निवास करता हुआ किसी गरीब शूद्र का बालक जब अपने माता-पिता के घर जाएगा या उसके माता-पिता जब उससे मिलेंगे, तब उसे अपने परिवार की हीन सामाजिक व आर्थिक स्थिति का अवश्य बोध हो जाएगा। इससे उसमें एक प्रकार की हीन भावना उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकेगी। इसी प्रकार किसी उच्च राजपदाधिकारी व उद्योगपति की सन्तान जब अपने माता-पिता से मिलने के लिए घर जाएगी या उसके माता-पिता गुरुकुल आयेंगे, तो उसे अपने परिवार की उच्च आर्थिक व सामाजिक स्थिति का परिज्ञान हो जाएगा, जिससे उसमें अपने उच्च होने की भावना उत्पन्न हो जाएगी। गुरुकुल में रंक और राजा की सन्तान के लिए समान निवास, समान भोजन और समान वस्त्रों की व्यवस्था होते हुए भी उनमें हीनता और उच्चता की भावना विकसित होने लगेगी, जो उनकी अन्तर्निहित शक्तियों के विकास के लिए बाधक होगी। यह सर्वथा सम्भव है, कि एक राज-पदाधिकारी, उद्योगपति व वैज्ञानिक का बालक बुद्धिहीन और अयोग्य हो, और निर्धन चपड़ासी या मजदूर का बालक प्रतिभाशाली, बुद्धिमान् व सुयोग्य हो। गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते हुए उनकी स्थिति उनकी अपनी योग्यता के अनुसार ही मानी जानी चाहिए, अपने माता-पिता की स्थिति के अनुसार नहीं। तभी वे अपना समुचित रूप से विकास कर सकेंगे। महर्षि को तो यह भी अभिप्रेत था, कि गुरुकुलों में एक समान रूप से शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर गुरुओं द्वारा ही यह निर्धारित किया जाए कि कौन बालक और बालिका किस वर्ण के योग्य है। गुरुजन जिसका जो वर्ण निर्धारित करें, विद्यासभा और राजसभा को वही मान्य होगा और उसी के अनुरूप कार्य उसे राज्यसंस्था द्वारा प्रदान किया जाएगा। विवाह सम्बन्ध भी गुण, कर्म के अनुसार निर्धारित वर्ण में ही तय किया जाना चाहिए। महर्षि ने लिखा है—"यह गुण, कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुष की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए, और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या, शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिए, तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य होगी।" प्रत्येक व्यक्ति को गुण और कर्म के आधार पर ही वर्ण दिया जाना है, इसे महर्षि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण, कर्म हों उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं, क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा। विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना, क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथा-योग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य को हानि वा विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों को ही होना योग्य है, क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह विद्यारहित मूर्ख होने से विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है।" (स०प्र०, चतुर्थ समुल्लास, पृ० ८०) महर्षि ने ब्राह्मणादि वर्णों के अधिकार में जो ये कार्य रखे हैं ये उन ब्राह्मणादि के लिए हैं जो अपने गुणों के आधार पर इन कार्यों की योग्यता रखते हों। जन्म से ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि महर्षि को अभिप्रेत नहीं हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था के अनुसार सन्तान के साथ माता-पिता के सम्बन्ध का उस समय सब क्रियात्मक दृष्टियों से अन्त हो जाता है, जब उसकी आयु आठ वर्ष की हो जाए। आठ वर्ष की आयु से पूर्व सन्तान की शिक्षा माता-पिता के हाथों में रहेगी। पर बाद में सबके लिए यह अनिवार्य होगा कि अपने बालकों व बालिकाओं को गुरुकुलों में भेज दें और उनसे न कभी मिलें-जुलें और न कभी पत्र-व्यवहार ही करें। गुरुजन अपने शिष्यों को उसी प्रकार अपने प्रभाव में रखें और वैसे ही बाह्य प्रभावों से बचाएँ, जैसे कि माता गर्भ में रखकर बच्चे की रक्षा करती है। गुरुकुलों में एक सदृश परिस्थितियों में निवास करते हुए विद्यार्थी यह भूल जाएँगे कि वे किस जाति के हैं, किस वर्ण में उनका जन्म हुआ है, उनके माता-पिता की क्या स्थिति है और वे धनी या निर्धन हैं। गुरुकुल में सबकी स्थिति एक समान होगी और सब कोई समान रूप से अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास कर सकेंगे। उनमें जो भी भेद होगा, उसका आधार एकमात्र उनकी अपनी योग्यता ही होगी। शिक्षाकाल के पूर्ण हो जाने पर गुरुओं द्वारा यह निर्णय किया जाएगा कि कौन किस वर्ण के योग्य है, किसके गुण, कर्म किस वर्ण के अनुरूप हैं। यह सर्वथा सम्भव है, कि गुरुजनों की दृष्टि में किसी उद्योगपति व धनी व्यापारी का पुत्र मूर्ख, अयोग्य व उद्दण्ड हो और वह अपने पिता के व्यापार व उद्योग को सँभालने की योग्यता न रखता हो। इसके विपरीत यह भी सम्भव है, कि किसी मजदूर का पुत्र अत्यन्त बुद्धिमान् और प्रबन्ध कुशल हो। जब गुरुजनों द्वारा गुण, कर्म के अनुसार वर्णों का निर्धारण किया जाएगा, तो स्वाभाविक रूप से उद्योगपति के अयोग्य पुत्र को शूद्र वर्ण में स्थान मिलेगा, और मजदूर के योग्य पुत्र को वैश्य वर्ण में। ऐसी दशा में यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है, कि "जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो और वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाए तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा और वंशोच्छेदन भी हो जायेगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए?" इस प्रश्न को स्वयं उठाकर महर्षि ने इसका उत्तर निम्न प्रकार से दिया है—"न किसी की सेवा का भंग और वंशोच्छेदन होगा, क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्या-सभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिए कुछ भी अव्यवस्था नहीं होगी।"

(सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ ७८)।

सत्यार्थप्रकाश का यह सन्दर्भ अत्यन्त महत्त्व का है। इसमें महर्षि ने चातुर्वर्ण्य को गुणकर्मानुसार व्यवस्थित करने का क्रियात्मक ढंग प्रतिपादित किया है। यदि गुरुकुलों के शिक्षकों की सम्मति में किसी धनी व उद्योगपति की सन्तान पिता की सम्पत्ति व व्यापार आदि को सँभालने योग्य न हो, चाहे इसका कारण उसकी बुद्धिहीनता हो या ब्राह्मणवृत्ति, तो वह अपनी पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता, और पिता के जीवनकाल में भी उसका पैतृक सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रहेगा। पर उद्योगपति व व्यापारी का उसके जीवनकाल में भी कोई सहयोगी होना चाहिए, जो बाद में उसके उद्योग व व्यापार को उत्तराधिकार में भी प्राप्त कर सके। ऐसे व्यक्ति का निर्धारण गुरुजनों की सम्मति के अनुसार किया जाएगा, और जिसे वे उद्योग व व्यापार को सँभाल सकने के लिए उपयुक्त पाएँ, विद्यासभा उसे उद्योगपति व व्यापारी के कारोबार को सँभालने के लिए नियुक्त कर देगी। यह उपयुक्त व्यक्ति जहाँ उद्योगपति व व्यापारी के जीवनकाल में उसके कारोबार में सहयोग देगा, वहाँ वह उसकी सम्पत्ति को उत्तराधिकार में भी प्राप्त कर लेगा। यह व्यक्ति उसी प्रकार उद्योगपति व व्यापारी की सेवा करेगा, जैसे कि उसकी अपनी सन्तान करती। यही सच्चे अर्थों में उसकी सन्तान मानी जाएगी और उसके वंश का उच्छेदन भी नहीं होने देगी। महर्षि का 'अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान मिलने' का यही अभिप्राय है।

गुणकर्मानुसार चातुर्वर्ण्य की स्थापना के लिए जो क्रियात्मक पद्धति महर्षि ने प्रतिपादित की है, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—(१) राजनियम और जातिनियम द्वारा यह अनिवार्य हो, कि सब बालकों और बालिकाओं को आठ वर्ष की आयु हो जाने पर गुरुकुलों (आवासीय शिक्षणालयों) में पढ़ने के लिए भेज दिया जाए। शिक्षा सबके लिए अनिवार्य हो और एक समान हो, चाहे कोई द्विज की सन्तान हो और चाहे शूद्र या अतिशूद्र की। (२) गुरुकुलों में सबको समान आसन, समान वस्त्र और समान भोजन मिले, चाहे वे धनी माता-पिता की सन्तान हों और चाहे दरिद्र माता-पिता की। (३) गुरुवर्ग अपने शिष्यों के गुण, कर्म और स्वभाव पर दृष्टि रखें, और शिक्षाकाल में उनकी गतिविधि तथा प्रवृत्तियों का सूक्ष्मता के साथ अध्ययन करें। (४) आठवें वर्ष के पश्चात् माता-पिता का सन्तान से कोई सम्पर्क न रहे। (५) शिक्षा पूर्ण होने पर गुरुजनों द्वारा यह निर्धारित किया जाए कि कौन कुमार व कुमारी अपने गुणों व प्रवृत्तियों के अनुसार किस वर्ण के योग्य है। (६) माता-पिता और कुल के संस्कार सन्तान में अवश्य आते हैं। अतः सामान्यतया यह आशा की जा सकती है कि व्यापारी व उद्योगपति की सन्तान में वैश्य वर्ण के गुण होंगे, और अकिंचन विद्वान् ब्राह्मण का पुत्र अपने पिता के अनुरूप ब्राह्मण वृत्ति को अपनाएगा। पर इस सामान्य नियम के अपवाद भी हो सकते हैं। अतः यह आवश्यक है कि ऐसी व्यवस्था की जाए जिससे कि वैश्य गुणों से युक्त व्यक्ति ही व्यापार व कल-कारखानों के संचालक बनें। धनी की सन्तान होने के कारण ही कोई उद्योग-धन्धों का संचालन व सम्पत्ति का स्वामी न हो जाए, चाहे उसमें इन्हें सँभाल सकने की क्षमता भी न हो। महर्षि द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार व स्वत्व जन्म के आधार पर निर्धारित नहीं होना चाहिए। यह अधिकार व स्वत्व पूर्ण व निरपवाद न होकर सापेक्ष है, और उसी दशा में किसी को प्राप्त हो सकता है, जब कि

गुरुजनों की सम्मति में वह उसके योग्य हो। गुणकर्मानुसार चातुर्वर्ण्य की स्थापना की यह क्रियात्मक पद्धति महर्षि द्वारा ही प्रतिपादित की गई है। न इसकी ओर बुद्ध और महावीर का ध्यान गया, न मध्य काल के सन्त-महात्माओं का, और न उन्नीसवीं सदी के उन सुधारकों का जो पाश्चात्य जगत् से प्रेरणा प्राप्त कर भारत की सामाजिक दशा को सुधारना चाहते थे।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में महर्षि ने जो यह लिखा है, कि शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुलों में भेज दें, इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि शिक्षाकाल में महर्षि भी द्विजों और शूद्रों में भेद करते थे। द्विजों के लिए उन्होंने अपने बालक-बालिकाओं का घर पर उपनयन करके गुरुकुलों में भेजने की व्यवस्था की है, और शूद्रों के लिए बिना उपनयन कराये। पर यह भेदभाव तात्त्विक नहीं है। बालक-बालिकाओं का उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) दो बार होना चाहिए, प्रथम बार माता-पिता के घर में और दूसरी बार पाठशाला या गुरुकुल में (स० प्र०, तृतीय समुल्लास, पृ० ३०) गुरुकुल में प्रवेश के समय सबका उपनयन अवश्य किया जाएगा, चाहे कोई द्विज की सन्तान हो और चाहे शूद्र व अतिशूद्र की। पर शूद्र परिवारों में घर पर सन्तान का उपनयन नहीं होगा, क्योंकि उनके घरों में वह वातावरण नहीं हो सकता, जोकि उपनयन जैसे संस्कार के लिए होना चाहिए। इस प्रसंग में शूद्र से वे व्यक्ति अभिप्रेत नहीं हैं, जिनका जन्म शूद्र परिवार में हुआ हो। महर्षि के मत में वही व्यक्ति शूद्र है, जो शिक्षा का पूरा अवसर प्राप्त करके भी मूर्ख व जड़बुद्धि बना रहे। ऐसे व्यक्ति के घर में उपनयन संस्कार का होना कोई अर्थ नहीं रखता।

(३) सामाजिक और आर्थिक न्याय पर आधारित समाज के निर्माण की समस्या

जन्म के आधार पर निर्मित चातुर्वर्ण्य के कारण भारत के सामाजिक संगठन की जो दुर्दशा हुई, उस पर पिछले प्रकरण में प्रकाश डाला जा चुका है। पर समाज सम्बन्धी एक अन्य समस्या है, जो केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। यह समस्या विश्व-व्यापक है, और इसके कारण प्रायः सभी देशों में अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न होती रहती है। सर्वत्र समाज के प्रायः दो वर्ग हैं, शोषक और शोषित। पूंजीपति शोषक हैं, और मजदूर व किसान शोषित। आर्थिक उत्पादन के साधनों का कुछ व्यक्तियों के स्वत्व में आ जाना उन्हें यह अवसर प्रदान कर देता है, कि मजदूरों को उनके श्रम का समुचित पारिश्रमिक न देकर उनका शोषण करते रहें और सब मुनाफा स्वयं प्राप्त करते रहें। शोषकों और शोषितों के ये वर्ग आधुनिक युग में ही विकसित नहीं हुए, प्राचीन और मध्य युग में भी इनकी सत्ता रही है। प्राचीन ग्रीक गणराज्यों और रोम आदि में बहुसंख्यक लोग (९० प्रतिशत के लगभग) दास हुआ करते थे, और थोड़े-से लोग स्वतन्त्र एवं स्वामी। स्वतन्त्र ग्रीक नागरिक भूमि के स्वामी होते थे, और दासों से खेती कराके स्वयं सुख भोग का जीवन बिताते थे। मध्य युग में दासों का स्थान ऐसे अर्ध-दासों (serfs या बन्धकों) ने ले लिया, जो पूर्णतया भूमिपतियों पर आश्रित थे और जिन्हें जब चाहे जमीन से बेदखल किया जा सकता था। नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अठारहवीं सदी में यूरोप में जब

औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, तो यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले बड़े-बड़े कारखाने खुलने प्रारम्भ हुए, जिनमें काम करने वाले मजदूरों की स्थिति प्राचीन समय के दासों की तुलना में बहुत अच्छी नहीं थी। कारखानों से होने वाले मुनाफे को प्राप्त कर पूँजीपति अधिक अमीर होते गये, और शोषित मजदूरों की दशा निरन्तर बिगड़ती चली गई। इस दशा में अनेक विचारकों ने यह सोचना प्रारम्भ किया, कि क्या समाज में पूँजीपतियों का प्रभुत्व और मजदूरों की गरीबी व असहायपन उचित तथा न्याय्य है। १७८६ ईस्वी में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई थी, जिस द्वारा वहाँ के स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं के शासन का अन्त कर लोकतन्त्र शासन की स्थापना का प्रयत्न किया गया था। इस क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप यह विचार जोर पकड़ने लगा कि राज्य में किसी एक व्यक्ति या एक वर्ग का प्रभुत्व न होकर जनता का शासन होना चाहिए। यूरोप के प्रायः सभी प्रगतिशील विचारकों को यह बात स्वीकार्य थी। पर शीघ्र ही यह विचार भी प्रादुर्भूत होने लगा कि यदि स्वाधीनता, समानता और भ्रातृभाव के सिद्धान्त राजनीतिक क्षेत्र के लिए सही हैं, तो आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी इन्हें प्रयुक्त किया जाना चाहिए। जैसे राजवंश और उसके सहायक कुलीनवर्ग का राजनीतिक प्रभुत्व अनुचित और हानिकारक है, वैसे ही आर्थिक जीवन में पूँजीपतियों का प्रभुत्व भी अनुचित है। राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित करना भी परमावश्यक है।

इसी विचारसरणी के कारण उस नवीन आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसे स्थूल रूप से 'समाजवाद' कहा जाता है। पूँजीवाद का अन्त कर जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए, उसके स्वरूप को सां सिमों (१७६०-१८२५) ने इस प्रकार प्रकट किया था कि भूमि और पूँजी पर व्यक्तियों का स्वामित्व न होकर उन्हें राष्ट्र की सम्पत्ति होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति व क्षमता के अनुसार काम दिया जाना चाहिए, और आवश्यकता के अनुसार वेतन या पारिश्रमिक। उन्नीसवीं सदी में यूरोप में बहुत-से ऐसे विचारक हुए, जिन्होंने पूँजीवाद का अन्त कर समाजवाद या साम्य-वाद की स्थापना के लिए विविध प्रकार की योजनाएँ व विचार प्रस्तुत किये। इनमें सबसे प्रसिद्ध कार्ल मार्क्स थे। १८४८ ई० में उन्होंने एक घोषणापत्र प्रकाशित किया था जिसे कम्युनिज्म की आधारशिला माना जाता है। मार्क्स वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखते थे और यह प्रतिपादित करते थे कि मनुष्य जाति का इतिहास वस्तुतः विविध आर्थिक श्रेणियों के परस्पर संघर्ष का इतिहास है। वर्तमान समय में ये आर्थिक श्रेणियाँ पूँजीपतियों और मजदूरों की हैं, जिनमें संघर्ष का रहना अवश्यम्भावी है। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के अनुसार यह आवश्यक है, कि इन श्रेणियों में संघर्ष हो, जिसमें अन्ततोगत्वा मजदूर श्रेणी की विजय सर्वथा सुनिश्चित है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का स्वत्व न होकर समाज का स्वामित्व होना चाहिए, और सब कल-कारखानों का संचालन श्रमिकवर्ग द्वारा ही किया जाना चाहिए। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद अब केवल एक वाद ही नहीं रह गया है, रूस, चीन, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी आदि कितने ही देशों में समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो चुकी है, और जहाँ अभी पूँजीवादी व्यवस्था विद्यमान है, वहाँ भी कम्युनिज्म का आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं, कि समाजवाद द्वारा जिस व्यवस्था की स्थापना की जाती है, उसमें पूँजीपति श्रेणी की सत्ता नहीं रहती और इस श्रेणी के अभाव में

मजदूरों के लिए अपने श्रम का समुचित फल प्राप्त करना सम्भव हो जाता है। न्याय पर आधारित समाज के निर्माण में इससे अवश्य सफलता मिलती है।

पर समाजवादी व्यवस्था में अनेक दोष भी हैं। इसमें व्यक्तियों की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण नहीं रहने पाती। उनकी स्थिति मशीन के पुर्जों के समान हो जाती है, और वे अपनी स्वतन्त्र इच्छा व रुचि के अनुसार कार्य करने का अवसर प्राप्त नहीं कर पाते। उन्नति करने की प्रेरणा भी उनमें नहीं रह जाती। मनुष्य अध्यवसाय व परिश्रम इसी कारण करते हैं, जिससे कि वे अधिक उन्नति कर सकें, अधिक धन कमा सकें। पर समाजवाद में उनमें यह प्रवृत्ति नहीं रह जाती। रोटी-कपड़े का मनुष्य के लिए बहुत महत्त्व है, पर स्वतन्त्रता खोकर इन्हें प्राप्त करने पर उसे प्रसन्नता नहीं होती। समाजवादी व्यवस्था में सरकारी कर्मचारियों और राज-पदाधिकारियों का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है, और उनके सम्मुख श्रमिक वर्ग की स्थिति प्रायः नगण्य हो जाती है। भौतिकवाद की प्रधानता भी समाजवाद का एक दोष माना जा सकता है। आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों की तुलना में उसमें सांसारिक सुखों और भौतिकवादी प्रवृत्तियों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। जिस रूप में रूस, चीन आदि देशों ने कम्युनिज्म को अपनाया, उसमें ईश्वर व धर्म के लिए कोई स्थान नहीं रखा गया। इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद पर किये जाने वाले इन आक्षेपों में सचाई है। यही कारण है, जो कम्युनिस्ट देशों में भी उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के चिह्न प्रकट होने लग गए हैं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि पूँजीवाद समाजवाद की तुलना में उत्कृष्ट है। पूँजीवादी व्यवस्था के दोष और भी अधिक गम्भीर हैं। उसमें श्रमिक लोग न अपने श्रम का समुचित फल प्राप्त करते हैं, और न समाज में उनकी स्थिति सम्मानास्पद होती है। उन्हें वोट का अधिकार अवश्य प्राप्त है, और वे अपने वोटों का प्रयोग कर ऐसी सरकार भी कायम कर सकते हैं जो उनके हितों का ध्यान रखे। पर पूँजीपति लोग गरीब किसानों के वोटों को खरीद लेते हैं, और विधानमण्डल में ऐसे सदस्यों को चुनवा सकने में समर्थ हो जाते हैं जो पूँजीपतियों के हाथों में कठपुतली के समान हों। पूँजीवाद में शोषण बना रहता है, और सर्वसाधारण जनता के प्रति न्याय नहीं हो पाता। अमीर और गरीब का भेद यदि उनकी योग्यता पर आधारित हो, तो उसे अनुचित नहीं कहा जाएगा। पर आधुनिक युग के अमीर अपनी योग्यता के कारण धनी नहीं बने हैं। उनके धन का बहुत बड़ा भाग उस अनुपार्जित आमदनी का परिणाम है, जो सामाजिक कारणों से उन्हें प्राप्त हो जाती है। शहरों की वृद्धि से जमीनों की कीमतें बढ़ जाती हैं, और युद्ध की परिस्थिति में वस्तुएँ महँगी होने लगती हैं। ऐसे समय वे व्यक्ति अकस्मात् धनी हो जाते हैं जिनके पास शहरों के समीप कोई जमीन हो या जिनके पास विक्रेय वस्तुओं का संचय हो। 'अर्थैः अर्थाः प्रबाध्यन्ते' के सिद्धान्त के अनुसार धन, धन को खींचता है, और अमीर लोग निरन्तर अधिक धनी होते जाते हैं। इस प्रकार समाज में धनी और निर्धन का जो भेद निरन्तर बढ़ता जाता है, उसे किसी भी प्रकार समुचित मान सकना कठिन है।

वस्तुतः, वर्तमान समय में सबसे प्रधान समस्या एक ऐसे सामाजिक संगठन का निर्माण करने की है जो न्याय पर आधारित हो, जिसमें योग्यता प्राप्त करने और योग्यता के अनुसार कार्य व पद पा सकने का सबको समान अवसर हो, गरीबों और अमीरों का भेद जिसमें मनुष्यों की कार्यक्षमता और योग्यता के अनुसार हो, और जिसमें कोई किसी

को शोषण न कर सके। यह सही है, कि सबकी योग्यता एक सदृश नहीं होती। न शारीरिक बल में सब मनुष्य बराबर होते हैं, न बुद्धि में, और न साहस व पराक्रम में। जब उनके शरीर, बुद्धि आदि में भेद हैं, तो उनकी आर्थिक आमदनी और सामाजिक स्थिति में में भेद होना भी अनिवार्य है। पर यह भेद किसी ऐसे कारण पर आधारित होना चाहिए, जो समुचित व न्याय्य हो। इस समय मनुष्यों में जो अमीर-गरीब आदि के भेद हैं, उनका कोई न्याय्य आधार नहीं है। इसी का यह परिणाम है कि प्राय: सभी देशों में, विशेषतया पूँजीवादी व्यवस्था के अनुयायी राज्यों में, शान्ति और व्यवस्था नहीं रहने पाती। लोग आन्दोलनों में तत्पर रहते हैं, ऐसे आन्दोलनों में भी जिनमें हिंसा का आश्रय लिया जाता है। समाजवाद की लोकप्रियता में जो निरन्तर वृद्धि हो रही है, उसका प्रधान कारण भी यही है कि वर्तमान समाज न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है। विचारशील लोग अनुभव करते हैं कि पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाएँ दोषयुक्त हैं, और उनमें सुधार व परिवर्तन की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में हमारा ध्यान महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित उस व्यवस्था की ओर जाता है, जिसे उन्होंने गुणकर्मानुसार चातुर्वर्ण्य कहा है और जिसका संक्षेप से निरूपण हमने पिछले प्रकरण में किया है। इस व्यवस्था में सबको योग्यता प्राप्त करने का एक समान अवसर मिलता है, और एकसदृश परिस्थितियों में शिक्षा प्राप्त कर जो व्यक्ति जिस योग्य बन जाए उसे अपनी योग्यता व रुचि के अनुसार कार्य तथा सामाजिक स्थिति प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त हो जाती है। सामाजिक न्याय का यही अभिप्राय है। जब मनुष्यों की शक्ति, क्षमता और योग्यता में अन्तर हो, तो उनके पारिश्रमिक व स्थिति में अन्तर होना सर्वथा स्वाभाविक व उचित है। किसी को उससे शिकायत नहीं हो सकती। शिकायत तब होती है, जब कि जनता के बहुत बड़े भाग को न तो शिक्षा की समुचित सुविधा हो, और न योग्यता के अनुरूप कार्य प्राप्त करने के अवसर। पूँजीवादी व्यवस्था से लोगों में जो असन्तोष है, उसका यही कारण है। महर्षि द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था में इस शिकायत व असन्तोष की कोई गुञ्जाइश नहीं है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये किन्हीं जातियों अथवा अपरिवर्तनीय वर्णों के नाम नहीं हैं। ये चार ऐसे विभाग हैं, जो सभी समाजों में पाये जाते हैं। कौन ऐसा समाज है, जिसमें अध्यापक, विद्वान्, धर्माचार्य व वैज्ञानिक (ब्राह्मण) न हों, सैनिक, शासक, राजपदाधिकारी और पुलिस (क्षत्रिय) न हो, उद्योगपति, व्यापारी, कृषक, पशुपालक व शिल्पी (वैश्य) न हों, और साथ ही ऐसे व्यक्ति न हों जो अन्य कार्यों के लिए उपयुक्त न होने के कारण केवल मजदूरी द्वारा निर्वाह करने के लिए विवश (शूद्र) हों। ब्राह्मण आदि समाज के चार स्वाभाविक वर्ग हैं, और चारों ही प्रकार के लोगों की समाज में आवश्यकता होती है। यह सम्भव ही नहीं है, कि किसी समाज में केवल ब्राह्मण, केवल क्षत्रिय, केवल वैश्य या केवल शूद्र हों, क्योंकि मनुष्यों की अन्तर्निहित शक्तियों में भेद होते हैं और शिक्षा द्वारा जब इन शक्तियों व योग्यताओं का विकास हो जाता है, तब मनुष्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार किसी एक वर्ण (वर्ग) में स्थान प्राप्त कर लेता है। जब सबको योग्यता प्राप्त करने का पूरा-पूरा अवसर मिले और साथ ही योग्यता के अनुरूप कार्य भी, तो किसी को शिकायत का कोई मौका नहीं रह जाता। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित 'चातुर्वर्ण्य' की यही विशेषता है। उसमें न पूँजीवाद के दोष हैं,

और न समाजवाद के। सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर जब केवल ऐसे व्यक्ति का स्वत्व रहे, जो उन्हें सँभालने के योग्य हो और जो उनका उपयोग धर्मानुकूल ढंग से करे, तो व्यक्तिगत सम्पत्ति में कोई अनौचित्य नहीं रह जाता। महर्षि के अनुसार सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वत्व सापेक्ष है, उसे सन्तान तभी उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकती है, जब कि वह उसे सँभालने और धर्मानुसार उसका उपयोग करने के योग्य हो। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वत्व के दोषों का इस व्यवस्था से निराकरण हो जाता है, और उसका यह लाभ बना रहता है कि वैश्य वर्ण के गुण वाले व्यक्ति सम्पत्ति के स्वामी होने के कारण उसमें वृद्धि कर सकेंगे जिससे सम्पूर्ण जनता व देश को लाभ होगा।

पूँजीवादी व्यवस्था की एक बुराई यह है कि उसमें धनिक वर्ग की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। पूँजीपति केवल आर्थिक जीवन का ही संचालन नहीं करते, अपितु धन का उपयोग कर शासन पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं। वैज्ञानिक और विद्वान् तक उनके वशवर्ती होकर रहते हैं। समाजवादी व्यवस्था पर भौतिकवादी होने का जो आक्षेप किया जाता है, वह पूँजीवादी समाज के विषय में भी पूरी तरह सही है। उसमें धन-सम्पत्ति की स्थिति सर्वोपरि रहती है, और पूँजीपति वर्ग के लोग अन्य सबको अपने उत्कर्ष व समृद्धि का साधन बना लेते हैं। पर महर्षि द्वारा प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य में यह दोष नहीं है। उसके अनुसार समाज में सर्वोच्च स्थान उन ब्राह्मणों का है, जो अकिंचनता को अपना आदर्श मानते हैं। ब्राह्मण धनी बनने की कभी इच्छा नहीं करता, ज्ञान और तप ही उसकी सम्पत्ति होते हैं। पर समाज में सबसे अधिक प्रतिष्ठा उसकी होती है। क्षत्रिय का कार्यक्षेत्र भी आर्थिक उत्पादन से भिन्न है। वह राजकीय सेवा में रह कर या सैनिक के रूप में देश की बाह्य तथा आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करता है। समाज में उसकी स्थिति ब्राह्मणों से नीचे पर वैश्यों से ऊपर है। वैश्य को समाज में वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है, जो ब्राह्मणों और क्षत्रियों को है। उसके पास धन अवश्य होता है, आर्थिक उत्पादन के साधनों पर उसी का स्वत्व रहता है, पर समाज और राज्य-संस्था में उसका स्थान गौण है। इस प्रकार महर्षि के चातुर्वर्ण्य में पूँजीपति अथवा धनी व्यापारी (वैश्य) के हाथों में वह शक्ति नहीं रह जाती, जिसके कारण सब कोई धन-सम्पदा के पीछे भागते हैं।

समाज में उन लोगों की संख्या अधिक होती है जो शारीरिक श्रम व मजदूरी द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। महर्षि ने इन्हें शूद्र वर्ण के अन्तर्गत किया है। विद्या पढ़ने और योग्य बनने का समुचित अवसर प्राप्त होने पर भी जो किसी उत्तम प्रकार के कार्य करने के योग्य नहीं बन सकें, उनके लिए यही मार्ग रह जाता है कि वे दूसरों की नौकरी कर या मजदूरी कर जीवनयापन करें। स्वाभाविक रूप से उनकी स्थिति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के लोगों की तुलना में हीन होगी। पर महर्षि उनके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है।" (सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास, पृष्ठ १५०) महर्षि के मत में राजा का यह कर्तव्य है कि श्रमिक वर्ग की रक्षा करे, उनके हितों को ध्यान में रखे और उन्हें राजाओं का भी राजा समझे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था में सबके प्रति न्याय होता है, सबको अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य एवं स्थिति प्राप्त होती है और किसी के

लिए किसी का शोषण कर सकना सम्भव नहीं रहता। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें न पूँजीवाद के दोष रहते हैं, और न समाजवाद के। इसमें सन्देह नहीं, कि इसी द्वारा मानव समाज का वास्तविक रूप से कल्याण हो सकता है।

(४) भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में समन्वय—वर्णाश्रम व्यवस्था

वर्तमान समय में भौतिकवाद (Materialism) बहुत प्रबल हो रहा है। सांसारिक सुख वैभव प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते रहने के अतिरिक्त मानव जीवन का अन्य भी कोई प्रयोजन है, न पूँजीवादी व्यवस्था में इस पर ध्यान दिया जाता है और न समाजवादी व्यवस्था में। इसी के कारण मनुष्यों में स्वार्थ की प्रवृत्ति बढ़ रही है, और वे केवल अपने ही सुख वैभव के लिए प्रयत्न करते हैं। इसीलिए मानवसमाज से नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। भौतिकवाद की बुराइयों को दृष्टि में रखकर प्राचीन समय के अनेक विचारक व धर्माचार्य सांसारिक सुखों को हेय प्रतिपादित करते रहे। पर वैदिक धर्म और संस्कृति में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों के लिए स्थान है। वे इन दोनों में समन्वय का निरूपण करते हैं। उनके अनुसार धर्म का लक्षण यह है—'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः', जिससे सांसारिक अभ्युदय और मोक्ष दोनों की सिद्धि हो, वही धर्म है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वर्णाश्रम व्यवस्था का जिस रूप में प्रतिपादन किया है, उसमें भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, सांसारिक अभ्युदय और मोक्षप्राप्ति सबका सुन्दर समन्वय है। मनुष्य को अपना सम्पूर्ण जीवन भौतिक व सांसारिक सुखों की प्राप्ति और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही नहीं लगा देना चाहिए, इसी प्रयोजन से चार आश्रमों की व्यवस्था की गई है। चातुर्वर्ण्य के समान चार आश्रम भी आर्य संस्कृति की अनुपम विशेषता हैं। मानव जीवन को चार भागों में विभक्त कर भारत के प्राचीन आर्य विचारकों ने यह व्यवस्था की थी, कि पहले पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यतीत किए जाएँ, जिसमें मनुष्य बुद्धि के विकास, शिक्षा के ग्रहण और शक्ति के संचय के लिए प्रयत्न करे। जो पच्चीस वर्ष गृहस्थ आश्रम के लिए नियत थे, उनमें मनुष्य को धर्मपूर्वक धन का उपार्जन करना तथा सांसारिक सुखों का भोग करना होता था। पर इस जीवन की एक सीमा थी। पचास वर्ष की आयु हो जाने पर गृहस्थों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे वन में जाकर आरण्यक आश्रमों में निवास करें और अध्यात्म चिन्तन तथा सेवा में अपना समय लगाएँ। पचत्तर साल की आयु हो जाने पर विशेष रूप से ज्ञानी एवं समर्थ व्यक्तियों से यह आशा की जाती थी, कि वे अपना शेष जीवन परोपकार में व्यतीत करेंगे और संन्यास आश्रम में प्रवेश कर तप, त्याग और संयम के चरम आदर्शों को अपने सम्मुख रखेंगे।

संन्यासी को पूर्णतया अकिञ्चन होकर भैक्षचर्या द्वारा अपना जीवन निर्वाह करना चाहिए, और सब कामनाओं, वासनाओं एवं एषणाओं से ऊपर उठकर मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। संन्यासियों के लिए यह आवश्यक था कि वे प्रवृत्ति मार्ग का त्याग कर निवृत्ति मार्ग को अपनाएँ और इस प्रकार उस लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न करें, जिसे प्राचीन आर्य चिन्तक मानव जीवन का चरम व परम उद्देश्य मानते थे और जिसे वे 'मोक्ष' कहते थे। इस प्रकार आश्रमव्यवस्था में सांसारिक अभ्युदय और भौतिक सुखों के लिए भी समुचित स्थान है, और साथ ही अध्यात्मवाद के लिए भी। ये आश्रम मानव-

जीवन के मार्ग में चार मंजिलों के समान हैं, जिनमें से चौथी मंजिल पर पहुँचने के लिए पिछली तीनों मंजिलों से होकरजाना होता है। संन्यास का प्रयोजन मोक्ष की सिद्धि या अध्यात्म का साधन करना है। पर यह तभी किया जा सकता है, जबकि पहले ब्रह्मचर्य द्वारा शक्ति का संचय कर लिया जाए, और फिर गृहस्थ आश्रम में रहकर सांसारिक अभ्युदय। सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकना सबके लिए न सम्भव है और न उचित। कोई अपवादस्वरूप असाधारण व्यक्ति ही ऐसा कर सकते हैं। महात्मा बुद्ध ने जिस बौद्ध संघ की स्थापना की थी, उसमें आर्यों की इस प्राचीन परिपाटी को ध्यान में नहीं रखा गया था। किसी भी आयु का व्यक्ति भिक्षुव्रत ग्रहण कर संघ में सम्मिलित हो सकता था। यह आवश्यक नहीं था, कि ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-आश्रमों के धर्मों का पालन करने के पश्चात् ही भिक्षु बना जाए। किशोरवय बालिकाएँ व युवतियाँ भी भिक्षु व्रत ग्रहण कर भिक्षुणी-संघ में शामिल हो सकती थीं। इसका यह परिणाम हुआ कि सभी आयु के स्त्री-पुरुष आर्थिक उत्पादन व धन उपार्जन की चिन्ता से मुक्त हो बहुत बड़ी संख्या में भिक्षु बनने लग गए, और प्राचीन आश्रम मर्यादा कायम नहीं रही। यह बात वैदिक धर्म एवं आर्य संस्कृति के प्रतिकूल थी। जैनों ने भी आश्रम मर्यादा का सही ढंग से पालन नहीं किया, और बौद्धों तथा जैनों के अनुकरण में हिन्दू संन्यासियों के उन विविध सम्प्रदायों ने भी,जो बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद भारत में स्थापित हुए थे। बौद्ध भिक्षुओं व स्थविरों, जैन मुनियों और हिन्दू साधु-संन्यासियों ने लौकिक अभ्युदय और निःश्रेयस या भौतिकवाद और अध्यात्म-वाद में जो समन्वय आश्रम व्यवस्था द्वारा स्थापित था, उसे कायम नहीं रहने दिया, जिसके परिणामस्वरूप इस देश के धार्मिक नेता व आचार्य भौतिक उन्नति को समुचित महत्त्व देने की उपेक्षा करने लगे।

मानव समाज का कल्याण तभी सम्भव है, जबकि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों को समुचित महत्त्व दिया जाए, इस तथ्य को अनुभव कर महर्षि ने एक बार फिर आश्रम व्यवस्था को सही रूप में पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। महर्षि के अनुसार ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम सबके लिए हैं। राजनियम और जातिनियम द्वारा सब बालकों और बालिकाओं को आठ वर्ष की आयु के पश्चात् गुरुकुलों में जाकर ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहना चाहिए और तप तथा धर्मानुष्ठान करते हुए विद्याभ्यास करना चाहिए। महर्षि के शब्दों में "ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रखे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक-ठीक ब्रह्मचारी रहूँगा तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य बलवान् हो के शुभगुणों को बसाने वाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यो! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूँ। २४ वर्ष के पश्चात् गृहस्थाश्रम करूँगा तो प्रसिद्ध है कि रोग-रहित रहूँगा।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ३७)।

जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम सबके लिए है, वैसे ही गृहस्थ आश्रम भी है। उसके महत्त्व का प्रतिपादन महर्षि ने इस प्रकार किया है—"जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते ? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है।" मनुस्मृति के श्लोकों को उद्धृत कर महर्षि ने गृहस्थाश्रम को 'ज्येष्ठाश्रम' कहा है, और सांसारिक सुख तथा मोक्ष दोनों के लिए उसकी अनिवार्यता प्रतिपादित की है। उन्होंने लिखा है—"जो मोक्ष और संसार

के सुख की इच्छा करता है, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ० ११०) बौद्धों के समान महर्षि ने गृहस्थ जीवन को गर्ह्य नहीं माना, अपितु निःश्रेयस व मोक्ष के लिए भी उसकी आवश्यकता स्वीकार की है।

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम सबके लिए न होकर केवल द्विजों के लिए है। महर्षि के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकते हैं। शूद्रों के वानप्रस्थी होने की बात उन्हें स्वीकार्य नहीं है। यह उचित भी है क्योंकि महर्षि के अनुसार शूद्र वही है, विद्याभ्यास का अन्य सबके समान अवसर प्राप्त करने पर भी जो जड़बुद्धि होने के कारण पढ़-लिख न सके। ऐसे लोग वानप्रस्थ बन कर क्या करेंगे? वानप्रस्थ को तो आरण्यक आश्रम में निवास करते हुए स्वाध्याय में संलग्न रहना है, और जितेन्द्रिय होकर दूसरों को विद्या का दान देना है। शूद्र यह सब कैसे कर सकेगा? वानप्रस्थ आश्रम में पति-पत्नी साथ रह सकते हैं, पर उन्हें ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना होगा, विषयचेष्टा उनके लिए निषिद्ध है। मोक्ष प्राप्ति के लिए जिस साधना व योग्यता की आवश्यकता है, उसकी तैयारी के लिए वानप्रस्थ आश्रम का विधान है। महर्षि के शब्दों में वानप्रस्थी को चाहिए कि "नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करें।" (स० प्र०, पंचम समुल्लास, पृ० ११२) यह कर सकना शूद्रों और अतिशूद्रों के लिए सम्भव नहीं हो सकता, इसी कारण उन्हें वानप्रस्थ का अधिकार नहीं दिया गया है।

वानप्रस्थ आश्रम में रहते हुए जो व्यक्ति विषयासक्ति से विरहित हो जाएँ, जिनकी अपनी कोई कामनाएँ न रहें, जिन्हें न प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा रहे और न धन के भोग आदि की, केवल उन्हीं को संन्यासी होने का अधिकार है। महर्षि ने लिखा है कि "सब मनुष्य संन्यास ग्रहण कर ही नहीं सकते, क्योंकि सबकी विषयाशक्ति कभी नहीं छूट सकेगी।"…"संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा, औरों को भी डुबाएगा।" सामान्यतया, सबके लिए यही उचित है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में जीवन व्यतीत करने के अनन्तर उस दशा में ही संन्यास आश्रम में प्रवेश करें, जब उसके 'अधिकारी' हो जाएँ। संन्यासियों के लिए महर्षि ने अत्यन्त उच्च आदर्श प्रतिपादित किए हैं। उन्होंने लिखा है कि "जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं जिससे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख को भोग करते कराते हैं वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं।" "वेदोक्त धर्म में ही आप चलना और दूसरों को समझाकर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है। …धीरे-धीरे सब संगदोषों को छोड़ हर्ष-शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों से छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर सत्यधर्म युक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें।" "कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करें, किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे…अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षा रहित, मद्य-मांसादि वर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहे।…सब प्राणियों

में पक्षपात रहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करें।…सब मनुष्यादि प्राणियों को सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है।" "जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकल के संन्यासी होता है वह ब्रह्मचारी अर्थात् परमेश्वर प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्द स्वरूप लोक प्राप्त होता है।" (सत्यार्थप्रकाश, पंचम समुल्लास, पृ० ११५)।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति है, पर यह तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि सांसारिक अभ्युदय की आकाँक्षा से ऊपर उठकर मनुष्य सब ईषणाओं और कामनाओं पर काबू पा ले और संन्यास आश्रम में प्रवेश कर मनुष्य-मात्र को वेदोक्त धर्म तथा सत्य विद्याओं के उपदेश में प्रवृत्त हो, और इस प्रकार सबके हित-कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। संन्यासी को अपना सब समय इसी में लगाना है। सब वानप्रस्थी भी बाद में संन्यास आश्रम में प्रवेश कर ऐसा जीवन नहीं बिता सकते। "जो पूर्ण विद्वान्, जितेन्द्रिय, विषयभोग की कामना से रहित, परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हों", वही संन्यास का अधिकारी है। वानप्रस्थ का अधिकार द्विज मात्र को है। क्षत्रिय और वैश्य भी वानप्रस्थी हो सकते हैं। पर केवल ब्राह्मण वानप्रस्थियों से ही यह आशा की जा सकती है कि वे पूर्णतया जितेन्द्रिय होकर संन्यास धर्म का पालन कर सकें। इसीलिए महर्षि ने यह प्रश्न उठाया है कि संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है या क्षत्रियादि का भी? इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया है—"ब्राह्मण ही को अधिकार है क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकारप्रिय मनुष्य है उसी का 'ब्राह्मण' नाम है। बिना पूर्ण विद्या के धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता, इसलिए लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार है अन्य को नहीं।" (सत्यार्थप्रकाश, पंचम समुल्लास, पृष्ठ ११८)।

महर्षि के मन्तव्यानुसार मनुष्यों को सांसारिक सुख, लौकिक अभ्युदय और भौतिक उन्नति के लिए यत्न अवश्य करना है, पर उन्हीं को अपने जीवन का एकमात्र प्रयोजन नहीं समझना चाहिए। उन्हें सदा यह ध्यान में रखना उचित है, कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। पर मोक्ष की साधना न सुगम है और न सबके लिए सम्भव है। मनुष्यों को उसके लिए तैयारी अवश्य करनी है, पर बहुत कम व्यक्तियों के लिए यह सम्भव हो सकेगा कि वे मोक्ष की प्राप्ति के लिए सक्रिय हो सकें। कुछ अपवादों को छोड़कर सभी को गृहस्थ होकर सांसारिक सुख और अभ्युदय के लिए प्रयत्न करना है, पर सदा उन्हीं में नहीं फँसे रहना। पचास वर्ष की आयु हो जाने पर द्विजों के लिए यह आवश्यक है कि वे वानप्रस्थी होकर तप का जीवन बिताएँ और धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त हों। वानप्रस्थियों में जो सच्चे ब्राह्मण हों, उन्हें तुरीयावस्था में संन्यासी होकर प्राणिमात्र के उपकार, सबको सत्य मार्ग के प्रदर्शन और सत्य विद्या की वृद्धि में तत्पर रहना चाहिए, और सब द्वन्द्वों से विरक्त होकर ब्रह्म में अवस्थित होना चाहिए। महर्षि के मत में संन्यासी को इसी प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है। वस्तुतः, आश्रम-व्यवस्था का महर्षि ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है, जिससे भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में समुचित समन्वय हो जाता है। उन द्वारा प्रतिपादित

चातुर्वर्ण्य में भी इन दोनों वादों में समन्वय विद्यमान है। समाज में वैश्यों को सम्पत्ति के उपार्जन और आर्थिक उत्पादन में अपनी शक्ति को लगाना है, शूद्रों को इस कार्य में उनकी सहायता करनी है, पर सबको केवल धनोपार्जन और भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न नहीं करना है। समाज में दो ऐसे भी वर्ग (ब्राह्मण और क्षत्रिय) होंगे, जो धनोपार्जन की तुलना में अधिक ऊँचे कार्यों में तत्पर रहेंगे और जो भौतिकवाद की अपेक्षा अन्य मानव मूल्यों को अधिक महत्त्व देंगे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वर्णाश्रम व्यवस्था का जिस ढंग से निरूपण किया है, उसकी यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(५) स्त्रियों की स्थिति और स्त्री शिक्षा

प्राचीन वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति प्रायः पुरुषों के समान होती थी। स्त्री को पुरुष की सहधर्मिणी माना जाता था और यह समझा जाता था कि स्त्री के बिना पुरुष का कोई यज्ञ व धार्मिक कृत्य पूरा नहीं हो सकता। स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान विद्याध्ययन करती थीं, और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन में उनका हाथ बँटाती थीं। कालान्तर में स्त्रियों की स्थिति निरन्तर हीन होती गई, और बाद में ऐसा समय भी आ गया, जबकि वे परदे में रहने लगीं और सार्वजनिक जीवन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। भारत में स्त्रियों की स्थिति में यह परिवर्तन कैसे आया, इसका ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन कर सकना इस ग्रन्थ में न सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है कि मौर्य युग तथा उसके पश्चात् के काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति हीन होने लग गई थी। उनका मुख्य कार्य विवाह करके सन्तान उत्पन्न करना और पति की सेवा माना जाने लगा था। कौटल्य ने कहा है कि 'स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही होती हैं।' मनु के अनुसार स्त्रियों के लिए वैवाहिक विधि ही संस्कार है, पति की सेवा ही गुरु के आश्रम में निवास है, और घर की अग्नि ही दैनिक अग्निहोत्र का अनुष्ठान है। इस प्रसंग में एक प्राचीन ग्रन्थ के निम्नलिखित वाक्य महत्त्व के हैं—"पुराने समयों में कुमारियों का भी उपनयन हुआ करता था, वे भी वेद का अध्ययन किया करती थीं और उन्हें भी सावित्री का वाचन सिखाया जाता था। पर अब केवल पिता, पितृव्य तथा भाइयों द्वारा ही उन्हें पढ़ाया जाना चाहिए।" मौर्योत्तर युग में स्त्री के लिए पातिव्रत्य को ही परम धर्म समझा जाने लगा था, जिसका पालन करने से वह उस स्वर्गलोक को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है जिसे महर्षि तथा पवित्र आत्माएँ ही प्राप्त कर सकती हैं। एक स्मृतिकार का कथन है कि पति चाहे स्वच्छन्द, गुणशून्य तथा दुःशील भी क्यों न हो, साध्वी पत्नी का कर्तव्य है कि देवता के समान उसकी पूजा किया करे। स्त्रियों की दशा में हीनता आ जाने के साथ-साथ भारत में परदे की प्रथा भी प्रचलित होने लग गई थी। समाज के उच्च वर्गों में इस प्रथा का प्रारम्भ छठी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग ही हो चुका था। इसीलिए पाणिनय अष्टाध्यायी में राजघरानों की महिलाओं के लिए 'असूर्यम्पश्या' (जिन्हें सूर्य भी न देख सके) विशेषण का प्रयोग किया गया है। रामायण, महाभारत और भास के नाटकों में भी परदा प्रथा की सत्ता के संकेत मिलते हैं। यही बात मध्य युग के अनेक काव्यग्रन्थों व नाटकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस प्रथा का विशेष रूप से विकास सम्भवतः उस काल में हुआ जबकि भारत पर यवन, शक, युइशि, कुशाण, हूण आदि जातियों के

आक्रमण हो रहे थे। यही वह समय था, जिसके विषय में मनुस्मृति में लिखा गया है कि "जिस राजा और उसके राजपुरुषों के देखते हुए चीखती-पुकारती प्रजा को दस्यु लोग पकड़ कर ले जाते हैं, उसे मरा हुआ समझो, जीवित नहीं।" निस्सन्देह, यवन, शक आदि विदेशी व विधर्मी आक्रान्ताओं द्वारा भारतीयों पर जो घोर अत्याचार किए जा रहे थे, उनके कारण स्त्रियों का सतीत्व भी सुरक्षित नहीं रह गया था। इस दशा में यदि परदा प्रथा तथा बालविवाह का सूत्रपात हो गया हो, तो वह अस्वाभाविक नहीं है। माता-पिता छोटी आयु में कन्या का विवाह कर उसकी जिम्मेदारी से मुक्त होने का प्रयत्न करने लगे, और बालविवाह को समुचित व उपयोगी माना जाने लगा। इस दशा में कन्याओं के उपनयन संस्कार तथा गुरुकुलों में जाकर विद्या पढ़ने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था।

तुर्क-अफगान युग में स्त्रियों की स्थिति पर और भी बुरा प्रभाव पड़ा। मध्य काल के ये आक्रान्ता हूणों की तुलना में भी अधिक बर्बर थे। इस युग में स्त्रियों की स्थिति का स्पष्ट परिचय याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका से मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि स्त्री बिना कहे घर से बाहर न जाए, और चादर ओढ़े बिना कहीं न जा सके, वणिक्, संन्यासी तथा वृद्ध वैद्य के अतिरिक्त किसी परपुरुष से बात न करे, एड़ी तक कपड़ा पहने, मुँह को ढके बिना हँसे नहीं और दुःशील स्त्रियों से कभी सम्पर्क न करे। तुर्क-अफगान युग के टीकाकार का यह विधान स्वाभाविक व समुचित ही था, क्योंकि उस समय में स्त्रियों का स्वतन्त्र रूप से कहीं जाना-आना निरापद नहीं रहा था। ऐतिहासिक कारणों से स्त्रियों की जो हीन स्थिति मध्य काल में विकसित हो गई थी, वही उन्नीसवीं सदी में भी विद्यमान थी। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' का अनुसरण कर उस समय न बालिकाओं का उपनयन होता था, न वे पाठशालाओं में जाकर नियम-पूर्वक शिक्षा प्राप्त करती थीं, और न पुरुषों के समान स्वतन्त्र रूप से कहीं जा आ सकती थीं। परदा प्रथा को तब भली भाँति प्रयोग में लाया जाता था, और छोटी आयु में ही बालिकाओं का विवाह कर दिया जाता था। परदे की प्रथा प्रधानतया उत्तरी भारत में ही थी। दक्षिण में इसका चलन नहीं था, क्योंकि भारत के दक्षिणी प्रदेश न यवन, शक, कुशाण, हूणों द्वारा आक्रान्त हुए थे और न तुर्क-अफगानों द्वारा। पर वहाँ भी सम्पत्ति के स्वत्व तथा उत्तराधिकार आदि के विषय में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की तुलना में हीन थी।

केवल भारत में ही नहीं, अपितु यूरोप में भी मध्य काल में स्त्रियों को समाज में वह स्थिति प्राप्त नहीं थी, जो पुरुषों को थी। अठारहवीं सदी में यूरोप की स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घरों तक ही सीमित रहता था, घर से बाहर वे बहुत कम दिखायी देती थीं। जब पश्चिमी यूरोप में लोकतन्त्रात्मक शासनों का सूत्रपात हुआ और विधानमण्डलों के सदस्यों का चुनाव किया जाने लगा, तो स्त्रियों को वोट के अधिकार से वंचित रखा गया। बीसवीं सदी का प्रारम्भ हो जाने के बाद तक भी इंग्लैण्ड में स्त्रियाँ वोट का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकी थीं। औद्योगिक क्रान्ति के कारण जब बड़े कल-कारखाने खुले, तो स्त्रियाँ भी उनमें कार्य करने लगीं और घर की चहारदीवारी से निकल कर उन्होंने भी स्वतन्त्रता की साँस लेनी प्रारम्भ की। इसी समय (उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध) में इंग्लैण्ड में स्त्री शिक्षा के प्रचार में भी समुचित वृद्धि हुई। पर वोट का

अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। स्त्रियों को वोट का अधिकार देने के सम्बन्ध में एक बिल ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में सन् १९१३ में प्रस्तुत किया गया था, पर वह स्वीकृत नहीं हो सका था। इंग्लैण्ड में स्त्रियों को वोट का अधिकार तथा देश की राजनीति में भाग लेने के अवसर प्रथम विश्व युद्ध (१९१४-१८) की समाप्ति के बाद ही प्राप्त हुए।

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भी विश्व में और विशेषतया भारत में स्त्रियों की जो स्थिति थी, उसके परिप्रेक्ष्य में स्त्री शिक्षा और स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचारों पर प्रकाश डालना उपयोगी होगा। जिस युग में यूरोप में स्त्रियों को वोट का अधिकार भी प्राप्त नहीं था, महर्षि ने यह प्रतिपादित किया था कि राज्य के शासन में भी स्त्रियों को पुरुषों का हाथ बँटाना चाहिए, और देश की रक्षा, न्याय, युद्ध एवं शासन में पुरुषों के समान उन्हें भी कार्य करना चाहिए। इस विषय में महर्षि के कुछ कथन उद्धरण के योग्य हैं—

"जैसी राजनीति विद्या को राजा पढ़ा हो वैसा ही विद्या उसकी रानी को भी पढ़ी होनी चाहिए ··· स्त्रियों का स्त्री रानी और पुरुषों का पुरुष राजा न्याय करें।"

(यजु० भा० १३/१६)

"राजपुरुष आदि को चाहिए कि आप जिस-जिस राजकार्य में प्रवृत्त हों, उस-उस कार्य में अपनी-अपनी स्त्रियों का भी स्थापन करें। जो-जो राजपुरुष जिन-जिन पुरुषों का न्याय करें उस-उस की स्त्री स्त्रियों का न्याय किया करें।"

(यजु० भा० १३/१७)

"स्त्रियों का न्यायादि पुरुष न करें क्योंकि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भययुक्त होकर यथावत् बोल व पढ़ ही नहीं सकतीं।"

(यजु० भा० १०/२६)

"हे मनुष्यो ! जो रानी धनुर्वेद जानती हुई अस्त्र-शस्त्र फेंकने वाली है उसका वीरों को निरन्तर सत्कार करना चाहिए।"

(ऋग्वेद भाष्य ६/७५/१५)

"संग्राम में राजा के अभाव में रानी सेनापति हो और जैसे राजा युद्ध कराने को वीरों को प्रेरणा दे वैसे ही वह भी आचरण करे।"

(ऋग्वेद भाष्य ६/७५/१३)

जैसा कि पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है, महर्षि को 'राजा' से निर्वाचित सभाध्यक्ष अभिप्रेत था। राजसभा के सभासदों द्वारा ही किसी योग्य व श्रेष्ठ पुरुष को 'राजा' नियुक्त किये जाने की बात महर्षि को अभिप्रेत थी। वे यह मानते थे कि पुरुष को राजा नियुक्त करते हुए यह भी ध्यान में रखा जाए, कि उसकी पत्नी भी उसी के समान योग्य व गुणवती हो, ताकि अपने पति की सच्चे अर्थों में सहधर्मिणी होकर राज्य-कार्य में भी उसका हाथ बँटा सके। यही बात महर्षि को अन्य राजपुरुषों के विषय में भी अभिप्रेत थी। निर्वाचित सभाध्यक्ष 'राजा' के अतिरिक्त जो अन्य राजपुरुष राजकीय सेवा में नियुक्त किये जाएँ, उनकी पत्नियाँ भी ऐसी होनी चाहिएँ जो अपने पतियों के शासन सम्बन्धी कार्यों में भी सहयोगी हो सकें।

जब राज्य के शासन तक में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समान हो, तो समाज के अन्य क्षेत्रों में वे कैसे हीन समझी जा सकती हैं। इसीलिए महर्षि ने यह प्रतिपादित

किया है, कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही शिक्षा दी जानी चाहिए। जैसे राज-नियम और जातिनियम द्वारा आठ वर्ष की आयु हो जाने पर बालकों के लिए गुरुकुलों में रह कर विद्याभ्यास करना अनिवार्य हो, वैसे ही बालिकाओं के लिए भी हो। लड़कियों के लिए पृथक् पाठशालाएँ हों, जहाँ सब अध्यापिकाएँ व भृत्य स्त्रियाँ ही हों। लड़कियों को भी अर्थसहित गायत्री मन्त्र का उपदेश किया जाए। (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३०) महर्षि ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है।" (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ६४) "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" (अथर्ववेद १/२३/३/१८) के इस मन्त्र को उद्धृत कर महर्षि कहते हैं कि "जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त हो के युवती, विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती हो के पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्णयुवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।" "क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़े ?" यह प्रश्न उठाकर महर्षि ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—"अवश्य, देखो श्रौत सूत्रादि में 'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे, तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सके। भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ के पूर्ण विदुषी हुई थी, यह शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो, तो नित्यप्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे, फिर सुख कहाँ ? इसलिए जो स्त्री न पढ़े तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्यों कर हो सके तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना, इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।" (स०प्र०, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ६५) स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समकक्ष होनी चाहिए और उन्हें भी किन कारणों से विद्याभ्यास करना चाहिए—इसका इससे स्पष्ट व युक्तियुक्त प्रतिपादन सम्भव नहीं है, स्त्रियों को अध्यापिका का कार्य भी करना है, न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होकर न्याय भी करना है। और घर के काम भी उन्हीं के अधीन रहते हैं। शिक्षा के बिना इनका ठीक प्रकार से सम्पादन वे कर नहीं सकतीं। पारिवारिक सुख-शान्ति के लिए भी पति-पत्नी का समान रूप से शिक्षित होना आवश्यक है।

प्राचीन समय में आर्य स्त्रियाँ सुशिक्षित होती थीं, इसे महर्षि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"देखो ! आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं, क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्यों कर जा सकतीं और युद्ध कर सकतीं।" (स० प्र०, तृतीय समुल्लास पृष्ठ, ६५) स्त्रियों को किन विद्याओं की शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिए, इस सम्बन्ध में महर्षि का यह मत है कि "जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिए। क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि के अनुकूल

वर्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिए वैसा करना कराना, वैद्यक-विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें। शिल्प विद्या के जाने बिना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणित विद्या के बिना सबका हिसाब समझना समझाना, वेदादि शास्त्रविद्या के बिना ईश्वर और धर्म को न जान के अधर्म से कभी न बच सके।" (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ६५-६६) महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार स्त्रियों को जो कम-से-कम शिक्षा अवश्य ही प्राप्त करनी चाहिए, उसमें व्याकरण, धर्म, चिकित्साशास्त्र, गणित और शिल्पविद्या अन्तर्गत हैं। जो स्त्री इन सबकी शिक्षा प्राप्त करें, वह समाज में अपनी समुचित स्थिति प्राप्त किए बिना कैसे रह सकती है। महर्षि का मत है, कि पुरुष और स्त्री तब विवाह करें, जबकि वे ब्रह्मचर्य आश्रम में रह कर चारों वेदों या कम-से-कम एक वेद का साँगोपाँग अध्ययन कर चुकें। उनके अपने शब्द इस प्रकार हैं—"जब यथावत् ब्रह्मचर्य में आचार्यानुकूल वर्तकर, धर्म से चारों वेद, तीन या दो अथवा एक वेद को साँगोपाँग पढ़ के जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करें।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ० ६७) महर्षि के मत में वेदों का अध्ययन जैसे पुरुषों के लिए आवश्यक है, वैसे ही स्त्रियों के लिए भी है। दोनों के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम में रह कर आचार्य के पथ-प्रदर्शन में विद्याध्ययन करना आवश्यक है, तभी वे विवाह के अधिकारी होते हैं।

वेदभाष्य में भी महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अनेक स्थानों पर स्त्री शिक्षा की महत्ता एवं उपयोगिता का निरूपण किया है। "कन्याओं को चाहिए कि ब्रह्मचर्य से विद्या और सुशिक्षा को समग्र ग्रहण करके अपनी बुद्धियों को बढ़ावें।" (यजुर्वेद भाष्य २०/८६) "जो स्त्रियों के बीच में विदुषी स्त्री हो वह सब स्त्रियों को सदा सुशिक्षा करे जिससे स्त्रियों में विद्या की वृद्धि हो।" (यजुर्वेद भाष्य २०/८५) "हे राजा आदि पुरुषो! तुम लोग इस जगत् में कन्याओं को पढ़ाने के लिए शुद्ध विद्या की परीक्षा करने वाली स्त्री लोगों को नियुक्त करो। जिससे ये कन्या लोग विद्या और शिक्षा को प्राप्त हो के जवान हुई प्रिय वर पुरुषों के साथ स्वयंवर विवाह करके वीर पुरुषों को उत्पन्न करें।" (यजुर्वेद भाष्य १०/६) "जो कुमार और कुमारी दीर्घ ब्रह्मचर्य सेवन से साँगोपाँग वेदों को पढ़ और अपनी-अपनी प्रसन्नता से स्वयंवर विवाह करके ऐश्वर्य के लिए प्रयत्न करें।" (य० भा० १२/५६) "जो कन्या लोग चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन और जितेन्द्रिय होकर छः अंग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, उपांग अर्थात् मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त तथा आयुर्वेद अर्थात् वैद्यक-विद्या आदि को पढ़ती हैं, वे सब संसारस्थ मनुष्य जाति की शोभा करने वाली होती हैं।" (ऋग्वेद भाष्य १/७९/१) स्त्रियों के लिए केवल अक्षराभ्यास या साधारण शिक्षा ही नहीं है, उन्हें अंगों और उपांगों के साथ पूर्ण शिक्षा प्राप्त करनी है, और विद्या में पुरुषों से पीछे नहीं रहना है। महर्षि के शब्दों में "जैसे पुरुष ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ के सब पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभावों को जानकर विद्वान् होते हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी हों।" (ऋग्वेद भाष्य २/३१/५) जहाँ तक ब्रह्मचर्य आश्रम और वहाँ रह कर विद्याभ्यास का प्रश्न है, महर्षि ने बालकों और बालिकाओं में कोई भेद नहीं किया है। दोनों के लिए सत्य शास्त्रों और

विविध ज्ञान-विज्ञान की समान रूप से आवश्यकता व उपयोगिता है, क्योंकि गृहस्थ जीवन में दोनों को एक-दूसरे का सहयोगी बनकर रहना है।

(६) आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचार

समाज के आर्थिक संगठन के सम्बन्ध में महर्षि ने अपने ग्रन्थों में अधिक नहीं लिखा है। पर सत्यार्थप्रकाश, वेदभाष्य तथा अन्य ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर उनके ऐसे कथन विद्यमान् हैं, जिनसे सम्पत्ति के उत्पादन, उत्पन्न सम्पत्ति के वितरण तथा सम्पत्ति के उपभोग के विषय में महर्षि के विचारों पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है।

कृषि और पशुपालन को समुचित महत्त्व देते हुए भी महर्षि शिल्प, उद्योग तथा व्यापार की वृद्धि पर बहुत जोर देते थे, और औद्योगिक उन्नति के लिए विज्ञान के उपयोग के पक्षपाती थे। सम्पत्ति के उत्पादन में शिल्प तथा विज्ञान के महत्त्व के सम्बन्ध में महर्षि के कुछ वाक्य उद्धरण के योग्य हैं—

"जो शिलिकादि यन्त्रों से अर्थात् जिनमें कोठे पर कोठे कलाओं के होते हैं उन यन्त्रों से बिजुली आदि उत्पन्न कर और विमान आदि यानों में उनका संप्रयोग कर कार्य-सिद्धि को करते हैं वे मनुष्य बड़ी भारी लक्ष्मी को पाते हैं।"

(ऋग्वेद भाष्य १/१८३/१०)

"जो शीघ्र ले जाने वाले और पखेरू के समान आकाश में चलने वाले साँगोपाँग अच्छे बने हुए रथ को नहीं सिद्ध करते हैं वे कैसे ऐश्वर्य को पाएँ।"

(ऋग्वेद भाष्य १/१८३/१)

"जो क्रियाकुशल शिल्पीजन ऐश्वर्य को प्राप्त हों वे सबको सत्कार करने योग्य हों जैसे-जैसे विद्या आदि अच्छे गुण अधिक हों वैसे-वैसे अभिमान रहित हों।"

(ऋग्वेद भाष्य १/१७७/५)

"जो मनुष्य विद्वानों की अच्छे प्रकार रक्षा कर उनकी विद्याओं को प्राप्त हो जलादि पदार्थों से शिल्प विद्या को सिद्ध करके बढ़ते हैं वे सब सुखों को प्राप्त होते हैं।"

(ऋग्वेद भाष्य १/११२/५)

"जैसे सब शिल्पशास्त्रों में चतुर विद्वान् विमानादि यानों में कलायन्त्रों को रख के उनमें जल विद्युत् आदि का प्रयोग कर यन्त्र से कलाओं को चला अपने अभीष्ट स्थान में जाना-जाना करता है वैसे ही सभा सेना के पति किया करें।"

(ऋग्वेद भाष्य १/११२/१२)

"इस संसार में विद्वानों को चाहिए कि जो उन्होंने अपने पुरुषार्थ से शिल्पक्रिया प्रत्यक्ष कर रक्खी है उनको सब मनुष्यों के लिए प्रकाशित करें कि जिससे बहुत मनुष्य शिल्प क्रियाओं को करके सुखी हों।" (ऋग्वेद भाष्य १/१०७/१)

महर्षि के वेदभाष्य से ऐसे ही बहुत-से अन्य उद्धरण दिए जा सकते हैं जिनमें उन्होंने शिल्प तथा विज्ञान के महत्त्व का संकेत किया है। इन्हें दृष्टि में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि महर्षि आर्थिक उत्पादन में वैज्ञानिक उपकरणों, विद्युत् सदृश प्रकृतिप्रदत्त शक्तियों तथा विविध प्रकार के यन्त्रों के उपयोग के पक्षपाती थे। वे प्रतिपादित करते थे, कि मनुष्यों को ऐसे यानों का निर्माण करना चाहिए, जो कि

यान्त्रिक शक्ति द्वारा आकाश में चलते हों और जिनसे कुछ ही समय में बहुत दूर की यात्रा की जा सके। उन्होंने ऐसे यानों का भी उल्लेख किया है, जिनका उपयोग पृथिवी, जल तथा आकाश में समान रूप से किया जा सकता है। ध्यान देने योग्य बात यह है, कि महर्षि ने यह सब उस समय लिखा था, जबकि पाश्चात्य जगत् में यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले विमानों (हवाई जहाजों) की कल्पना तक भी उत्पन्न नहीं हुई थी, उनके निर्माण का तो प्रश्न ही क्या था? महर्षि ने लिखा है, कि इन यानों का उपयोग सुदूरवर्ती देशों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में जाने-आने और उनके साथ व्यापार करने में किया जाना चाहिए।

"जो विद्वान् राज्य को बढ़ाने की इच्छा करें वे बड़ी अग्नियन्त्र से चलाने योग्य नौकाओं को बनाकर द्वीप-द्वीपान्तरों में जा आ के व्यवहार से धन आदि के लाभों को बढ़ा के अपने राज्य को धनधान्य से विभूषित करें।" (ऋग्वेद भाष्य १/८०/८)

"मनुष्यों को चाहिए कि जैसे मनुष्य और घोड़े आदि पशु पैरों से चलते हैं वैसे चलने वाली बड़ी नाव रच के और एक द्वीप से दूसरे द्वीप वा समुद्र में युद्ध अथवा व्यवहार के लिए जाय आय करके ऐश्वर्य की उन्नति निरन्तर करें।"

(ऋग्वेद भाष्य १/१४०/१२)

"जैसे मनुष्य अच्छी प्रकार सिद्ध किये हुए विमान आदि यान से अति कठिन मार्गों में भी सुख से जाना आना करके कार्यों को सिद्ध कर समस्त दरिद्रता आदि दुःख से छूटते हैं वैसे ही ईश्वर की सृष्टि के पृथिवी आदि पदार्थों वा विद्वानों का ज्ञान उपकार में लाकर उनका अच्छे प्रकार सेवन कर बहुत सुख को प्राप्त हो सकते हैं।"

(ऋग्वेद भाष्य १/१०६/१)

"जैसे ईश्वर के बनाये हुए पृथिवी आदि पदार्थ सब प्राणियों के उपकार के लिए हैं वैसे ही सबके उपकार के लिए विद्वानों को नित्य अपना बर्ताव रखना चाहिए जैसे अच्छे दृढ़ विमान आदि यान पर बैठ देश-देशान्तर को जाकर व्यापार वा विजय से धन और प्रतिष्ठा को प्राप्त हो दरिद्रता और अपयश से छूटकर सुखी होते हैं।"

(ऋग्वेद भाष्य १/१०६/२)

"मनुष्यों को चाहिए कि कलाओं में अच्छी प्रकार जोड़ के चलाये हुए वायु और अग्नि आदि पदार्थों से युक्त विमान आदि रथों से आकाश, समुद्र और भूमि मार्गों में एक देश से दूसरे देशों को जाकर सर्वदा अपने अभिप्राय की सिद्धि से आनन्द रस भोगें।"

(ऋग्वेद भाष्य १/१००/१)

"विचारशील पुरुषों को यह अवश्य जानना चाहिए कि जहाँ-जहाँ मूर्तिमान् लोक हैं वहाँ-वहाँ पवन और बिजुली अपनी व्याप्ति से वर्तमान हैं जितना मनुष्यों का सामर्थ्य है उतने तक इनके गुणों को जानकर और पुरुषार्थ से उपयोग लेकर परिपूर्ण सुखी होवें।" (ऋग्वेद भाष्य १/१०८/२)

"जब शिल्पियों से पवन और बिजुली कार्यसिद्धि के अर्थ कलायन्त्रों की क्रियाओं से युक्त किए जाते हैं तब वे सर्व सुखों के लाभ के लिए समर्थ होते हैं।"

(ऋग्वेद भाष्य १/१०८/४)

महर्षिकृत वेदभाष्य से लिये गए ये उद्धरण यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं कि उनके मन्तव्य के अनुसार कल-कारखानों तथा सब प्रकार के उद्योगों में जल, वायु, अग्नि और विद्युत् सदृश सब प्रकार की शक्तियों से संचालित यन्त्रों का उपयोग किया

जाना चाहिए और ऐसे यानों का भी निर्माण करना चाहिए जिनका संचालन यान्त्रिक शक्ति द्वारा किया जाता हो। भौतिक उन्नति व सांसारिक सुख के लिए वे शिल्प तथा विज्ञान को प्रयुक्त करने में विश्वास रखते थे। दरिद्रता को वे एक दुःख मानते थे, और दारिद्रय रूपी दुःख से छुटकारा पाने के लिए शिल्प व उद्योगों का उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्व था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी उनके मत में देश की आर्थिक उन्नति के लिए बहुत उपयोगी है। उन्होंने लिखा है, कि "क्या बिना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार किए स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है। जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें तो बिना दारिद्रय और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५१)।

महर्षि द्वारा प्रतिपादित आर्थिक व्यवस्था में शिल्प और यान्त्रिक शक्ति के साथ-साथ कृषि और पशु-पालन का भी प्रमुख स्थान है। पशुधन को उन्होंने बहुत महत्त्व दिया है, और इसीलिए गोरक्षा पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने लिखा है कि "जिसमें उपकारक प्राणियों की हिंसा अर्थात् जैसे एक गाय के शरीर से दूध, घी, बैल, गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में चार लाख पचहत्तर सहस्र छः मनुष्यों को सुख पहुँचता है वैसे पशुओं को न मारे न मारने दें।" "देखो! जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तभी आर्यावर्त वा अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द से मनुष्यादि प्राणी बसते थे क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आ के गौ आदि पशुओं को मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों की दुःख की बढ़ती होती जाती है।" (स० प्र०, दशम समुल्लास, पृ० २५४) महर्षि ने 'गौकरुणा निधि' नाम से एक पुस्तिका भी लिखी है, जिसमें गौरक्षा के लाभों का विशद् रूप से प्रतिपादन किया गया है। गौहत्या को वे मानव समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक मानते थे और उनका यह मन्तव्य था कि राज्य द्वारा गौवध को बन्द कर गौरक्षा तथा गौवंश संवर्धन के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस विषय में वेदभाष्य से उनके कुछ वचन उद्धरणीय हैं—

"राजपुरुषों को चाहिए कि गौ घोड़े आदि वीर, उपकारी जीवों की कभी हत्या न करें...गौ आदि पशु दूध आदि पदार्थों को देने से जो सबका उपकार करते हैं उससे उनकी सदैव वृद्धि करें।" (यजुर्वेद भाष्य १६/१६)

"मनुष्यों को चाहिए कि गौ आदि पशुओं के पालन और भयंकर जीवों की शान्ति करके सन्तोष करें।" (यजुर्वेद भाष्य १६/४०)

"जो मनुष्य मेघ से उत्पन्न वर्षा और वर्षा से उत्पन्न हुए तृण आदि की रक्षा से गौ आदि पशुओं को बढ़ावें वे पुष्कल भोग को प्राप्त होवें।" (यजुर्वेद भाष्य १६/४४)

"जैसे पृथिवी महान् ऐश्वर्य को बढ़ाती है वैसे गौवें अत्यन्त सुख देती हैं इससे ये गौवें कभी किसी को मारनी न चाहिएँ।" (ऋग्वेद भाष्य १/१६४/२७)

"हे राजपुरुष ? जैसे सूर्य, मेघ को मार और उसको भूमि में गिराय सब प्राणियों से प्रसन्न करता है वैसे ही गौओं को मारने वालों को मार गौ आदि पशुओं को निरन्तर सुखी करो।" (ऋग्वेद भाष्य १/१२१/१०)

"जो मनुष्य पशुओं की रक्षा और बढ़ने आदि के लिए वनों को राख उन्हीं में उन पशुओं को चरा दूध आदि का सेवन कर खेती आदि कामों को यथावत् करें वे राज्य के

ऐश्वर्य से सूर्य के समान प्रकाशमान् होते हैं और गौ आदि पशुओं को मारने वाले नहीं।"
(ऋग्वेद भाष्य १/१२१/७)

गौ आदि पशुओं का उपयोग जहाँ दूध, दही, घी आदि के लिए है, वहाँ खेती के लिए भी उन्हें प्रयुक्त किया जाता है। महर्षि ने इन पशुओं की रक्षा तथा संवर्धन के साथ खेती के लिए भूमि के समुचित उपयोग को भी महत्त्व दिया है। उन्होंने लिखा है कि "जो जन भूमि के गुणों को जानने वालों की विद्या को जानके उससे उपयोग करना जानते हैं वे अत्यन्त बल को पाकर सब पृथिवी का राज्य कर सकते हैं।" (ऋग्वेद भाष्य १/१६०/५) भूमि के गुणों को जानकर सब प्रकार की मिट्टी को खेती के लिए प्रयुक्त करना तथा भूमि के नीचे जो विविध प्रकार के खनिज पदार्थ विद्यमान हैं उन्हें प्रयोग में लाना देश की आर्थिक समृद्धि के लिए आवश्यक है, इस तथ्य को महर्षि ने उपर्युक्त मन्त्र द्वारा सूचित किया है।

खेती, पशुपालन, शिल्प और उद्योगों का समुचित विकास और उनकी वृद्धि होने पर वस्तुओं के विनिमय तथा व्यापार की आवश्यकता होती है। महर्षि ने जिस राज्य का प्रतिपादन किया है, वह धन-धान्य से परिपूर्ण है और उसमें अनेकविध पदार्थों का निर्माण होता है, जिनके उत्पादन के लिए यान्त्रिक शक्ति तथा शिल्प का प्रयोग किया जाता है। ऐसे राज्य में व्यापार का विकसित दशा में होना अनिवार्य है, केवल राज्य का आन्तरिक व्यापार ही नहीं, अपितु देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर तक व्याप्त व्यापार। इसीलिए महर्षि ने कहा है—"जो विद्वान् मनुष्य वा विदुषी पण्डिता स्त्री लड़के-लड़कियों को शीघ्र विद्वान् और विदुषी करते वा जो वणिये सब देशों की भाषाओं को जान के देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर से धन को लाय ऐश्वर्ययुक्त होते हैं वे सबको सब प्रकारों से सत्कार करने योग्य हैं।" (ऋग्वेद भाष्य १/१२२/१४) दूसरे देशों के साथ व्यापार करने वाले व्यापारियों की रक्षा करना तथा उनके हितों को ध्यान में रखना राज्य का कर्तव्य है। इसीलिए महर्षि ने लिखा है—"जो सभा और सेना के अधिपति वणिजों की भली भाँति रक्षा कर रथ आदि यानों में बैठाकर द्वीप-द्वीपान्तर में पहुँचावें वे बहुत धनयुक्त होकर निरन्तर सुखी होते हैं।" (ऋग्वेद भाष्य १/११६/६)

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने चातुर्वर्ण्य का जिस रूप में प्रतिपादन किया है, उसके अनुसार सम्पत्ति का उत्पादन वैश्यों का कार्य है। खेती, पशुपालन, शिल्प, उद्योग, व्यापार आदि सब आर्थिक कार्य वैश्य वर्ण के लोगों द्वारा किए जाने चाहिएँ। अवसर पाकर भी जो पढ़-लिख न सके हों, गुरुकुलों में प्रवेश पाकर और वहाँ विद्याभ्यास का समुचित अवसर प्राप्त होने पर भी जो मूढ़बुद्धि रहे हों, महर्षि के मन्तव्य में वही शूद्र हैं। ऐसे लोग स्वतन्त्र रूप से किसी व्यापार व व्यवसाय के योग्य नहीं होंगे। वे केवल शारीरिक श्रम कर सकेंगे और यह उन्हें वैश्यों के अधीन रह कर ही करना होगा। इस प्रकार महर्षि द्वारा प्रतिपादित आर्थिक व्यवस्था में सम्पत्ति के उत्पादन का कार्य वैश्यों और शूद्रों द्वारा किया जाएगा। खेतों और कारखानों आदि का स्वामित्व वैश्यों का होगा, वे ही उनका संचालन करेंगे, पर आर्थिक उत्पादन के लिए आवश्यक शारीरिक श्रम को वे शूद्रों से प्राप्त कर सकेंगे। पर इन्हें अपनी सेवा में रखते हुए वैश्यों को उनके भरणपोषण व अन्य हितों का समुचित ध्यान रखना होगा। यह नहीं समझना चाहिए कि महर्षि ने शूद्र वर्ग के प्रति कोई अन्याय किया है। उनके शब्दों में "शूद्र को सेवा का अधिकार इस

लिए है कि वह विद्यारहित, मूर्ख होने से विज्ञान सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है।'' विद्यारहित व्यक्ति के लिए जब कुछ और कर सकना सम्भव ही न हो, तब उसके सम्मुख दूसरों की सेवा या उनके अधीन रह कर शारीरिक श्रम करने के अतिरिक्त अन्य मार्ग ही क्या रह जाता है?

महर्षि द्वारा प्रतिपादित अर्थव्यवस्था में रुपये को ब्याज पर देना समुचित है, पर ब्याज की दर अधिक नहीं होनी चाहिए। उनके अनुसार एक सैकड़े में चार, छह, आठ, बारह, सोलह व बीस आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और देना—ऋण और ब्याज के विषय में ये नियम समुचित हैं। (स० प्र०, चतुर्थ समुल्लास, पृ० ८०) महर्षि के मन्तव्य में ब्याज की दर २० प्रतिशत वार्षिक से अधिक किसी भी दशा में नहीं होनी चाहिए। सामान्यतया तो इसका और भी कम होना उचित है। एक अत्यन्त महत्त्व की बात महर्षि ने यह लिखी है, कि ब्याज को शामिल कर ऋण की मूलराशि किसी भी दशा में दो गुनी से अधिक नहीं होनी चाहिए, चाहे ऋण की अदायगी में सौ वर्ष भी क्यों न लग जाएँ। ऋण लेने वाला व्यक्ति सदा महाजन के चंगुल में न फँसा रहे, इसके लिए महर्षि द्वारा की गई यह व्यवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ तक सम्पत्ति के उत्पादन का सम्बन्ध है, महर्षि का यह मत है कि मनुष्यों को भूमि एवं प्रकृति द्वारा प्रदत्त सब साधनों का प्रयोग कर प्रचुर सम्पत्ति अर्जित करनी चाहिए। सम्पत्ति का उत्पादन व धन कमाना वैश्यों का कार्य है, पर वे अकेले उसका उपभोग नहीं कर सकते। उन द्वारा उत्पन्न सम्पत्ति ब्राह्मणों, क्षत्रियों और शूद्रों के निर्वाह के लिए भी प्रयुक्त होगी। ये तीनों वर्ण स्वयं प्रत्यक्ष रूप से सम्पत्ति का उत्पादन नहीं करते। ब्राह्मण विद्या दान का कार्य करते हैं, जनता को शिक्षा देना तथा सबको धर्म-मार्ग का प्रदर्शन करना उनका कार्य है। क्षत्रिय बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से राज्य की रक्षा करते हैं, और देश में शान्ति व व्यवस्था कायम रखते हैं। यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने-अपने कार्यों को भली भाँति सम्पादित न करें, तो वैश्य (कृषक, शिल्पी, व्यापारी आदि) निश्चिन्त होकर आर्थिक उत्पादन कैसे कर सकेंगे। अतः वैश्यों द्वारा उत्पन्न की गई सम्पत्ति से ही ब्राह्मणों और क्षत्रियों का निर्वाह होगा। शूद्र वर्ण के लोग आर्थिक उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से वैश्यों की सहायता करते हैं, अतः उनका भरण-पोषण भी वैश्यों की उत्तरदायिता है। उत्पन्न सम्पत्ति से ब्राह्मणों, क्षत्रियों और शूद्रों को किस ढंग से अपने निर्वाह के लिए धन प्रदान किया जाए, इस विषय पर महर्षि के ग्रन्थों से कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होते। सम्भवतः, उनके मत में भी इस सम्बन्ध में वही व्यवस्था समुचित है, जो कौटलीय अर्थशास्त्र सदृश नीतिग्रन्थों और स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित है। सब राजपुरुष (प्रशासक, सैनिक आदि) क्षत्रिय वर्ग के अन्तर्गत होते हैं, उन्हें समुचित वेतन देना राज्य का कार्य है। ब्राह्मणों (अध्यापक, श्रोत्रिय आदि) को अपने कार्य के लिए जो पारिश्रमिक आदि प्रदान किया जाए, उसे कौटल्य ने 'देवपूजा' कहा है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजकीय आय का एक भाग देवपूजा के लिए भी व्यय किया जाना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है, कि क्षत्रियों और ब्राह्मणों के जीवन निर्वाह के लिए जो धन अपेक्षित है, उसकी व्यवस्था राजा द्वारा की जाएगी और उसे करों द्वारा प्राप्त किया जाएगा। स्वाभाविक रूप से यह कर वैश्य लोग ही प्रदान करेंगे, क्योंकि खेती,

व्यापार, शिल्प, उद्योग आदि द्वारा वे ही सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं। राज्यसंस्था के कार्यों का प्रतिपादन करते हुए महर्षि ने स्थान-स्थान पर लिखा है, कि प्रजाओं का पालन करना, प्रजाओं की वृद्धि करना, प्रजाओं को सुखी बनाना, प्रजाओं की रक्षा करना, मनुष्यों का हित सम्पादित करना, सबके प्रति न्याय करना, प्रजा को धनाढ्य बनाना और सबको विद्या से युक्त करना राज्य के कर्तव्यों में प्रमुख हैं। ऋग्वेद भाष्य में महर्षि ने अनेक स्थानों पर इनका उल्लेख किया है। "तभी राजा और प्रधानादिकों की प्रशंसा होवे कि जब प्रजा को धन और विद्या से युक्त करें।" (ऋग्वेद भाष्य ४/४६/४) "हे राजन्, तभी आप सत्य राजा होवें जब अपने और पिता के सदृश हम लोगों का पालन और वृद्धि कराके आनन्द देवें।" (ऋग्वेद भाष्य ४/३/१०) इस प्रकार के बहुत-से कथनों द्वारा प्रजा की रक्षा, पालन, सुख, वृद्धि, शिक्षा आदि के जो अनेक कार्य महर्षि ने राज्य संस्था के लिए निरूपित किए हैं, उनका सम्पादन ब्राह्मणों और क्षत्रियों द्वारा ही कराया जा सकता है। महर्षि को यह अभिप्रेत है कि ये कार्य जो करें उनके निर्वाह की उत्तरदायिता राज्य पर हो, और इसी के लिए धन की समुचित व्यवस्था के प्रयोजन से राजकीय कर वसूल किये जाएँ। कर के सम्बन्ध में महर्षि के ये कथन महत्त्व के हैं—

"जो ये राजपुरुष हम लोगों से कर लेते हैं वे हमारी निरन्तर रक्षा करें नहीं तो न लें। हम भी उनको कर न देवें। इस कारण प्रजा की रक्षा और दुष्टों के साथ युद्ध करने के लिए ही कर देना चाहिए अन्य किसी प्रयोजन के लिए नहीं यह निश्चित है।"
(यजुर्वेद भाष्य ६/१७)

राज्य द्वारा इस प्रकार जो कर वसूल किया जाएगा, वह देश की रक्षा करने वाले क्षत्रियों और मनुष्यों को विद्यादान देने वाले ब्राह्मणों पर ही व्यय होगा। तभी वे जीवन निर्वाह की समस्या से निश्चिन्त होकर अपने कार्यों का सम्पादन कर सकेंगे। यह सही है कि वे वैश्यों के समान धनी नहीं होंगे। धन की आकांक्षा सब में होती भी नहीं है, और सब में उसके उपार्जन की एक सदृश योग्यता भी नहीं होती। समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की जो उच्च स्थिति होती है, उन्हें जो सम्मान प्राप्त होता है, वे जिस प्रकार सबका नेतृत्व करते हैं, उनके हाथों में जो शक्ति होती है, वे उसी से सन्तोष व गौरव अनुभव करते हैं। अतः वैश्यों के धन से उन्हें ईर्ष्या नहीं होती। यदि शक्ति और सम्मान को धन से पृथक् कर दिया जाए, तो धन में विशेष आकर्षण नहीं रह जाता। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य की यही विशेषता है कि उसमें सब वर्णों के लोग अपनी-अपनी स्थिति व कार्यों से सन्तुष्ट रहते हैं, क्योंकि ये उनकी अपनी योग्यता व गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप होते हैं। शूद्रों की स्थिति अन्य वर्णों की तुलना में अवश्य हीन होती है, सम्मान में भी और आर्थिक आमदनी में भी। पर इसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी होते हैं, क्योंकि शिक्षा का समान अवसर प्राप्त करके भी वे अपने को योग्य नहीं बना सके। पर समुचित रूप से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी राज्यसंस्था का कर्तव्य है, और महर्षि के अनुसार राजा को उनकी रक्षा—उनके हितों की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि उनके शब्दों में "परिश्रम करने वाले राजाओं के भी राजा हैं।" महर्षि द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था में उनके हितों की भी समुचित रूप से रक्षा हो जाती है, विशेषतया उस दशा में जब कि शूद्रों की सन्तान को भी शिक्षा का वही अवसर मिलेगा, जो राजपुरुषों की सन्तान को प्राप्त हो।

सोलहवाँ अध्याय

शिक्षा प्रणाली और पठन-पाठन विधि

(१) शिक्षा का महत्त्व

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में शिक्षा को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उनके मत में व्यक्ति, समाज और राज्य की उन्नति तथा सुख-समृद्धि उसी दशा में सम्भव है, जब सब स्त्री-पुरुष सुशिक्षित हों, सबको धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य का समुचित ज्ञान हो और विद्या तथा विज्ञान को सबके हित-कल्याण के लिए प्रयुक्त किया जाए। मनुष्य के लिए वास्तविक आभूषण उसकी विद्या व ज्ञान ही है, सोने-चाँदी के आभूषण नहीं। महर्षि के शब्दों में, "सोने, चाँदी, माणिक, मोती, मूँगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण करने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता, क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों की मृत्यु दुष्टों के हाथों से होती है।" "सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप आभूषणों को धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है।" जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शील स्वभावयुक्त, सत्य भाषणादि नियम-पालन युक्त और जो अभिमान, अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्या दान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेद-विहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीत समुल्लास, पृष्ठ २६) शिक्षा के महत्त्व को यजुर्वेद भाष्य (२०/७८) में महर्षि ने इस प्रकार प्रकट किया है—"पशु भी सुशिक्षा पाये हुए उत्तम कार्य सिद्ध करते हैं, क्या फिर विद्या की शिक्षा से युक्त मनुष्य लोग सब उत्तम कार्य सिद्ध नहीं कर सकते।" "विद्वान् पुरुष और विदुषी स्त्रियों का मुख्य कर्तव्य यही है कि जो पुत्र और पुत्रियों को ब्रह्मचर्य और सुशिक्षा से विद्वान् और विदुषी सुन्दर शील-युक्त नित्य किया करें।" (१६/२६) "पिता, पितामह और प्रपितामहों को योग्य है कि अपने कन्या और पुत्रों को ब्रह्मचर्य, अच्छी शिक्षा और धर्मोपदेश से संयुक्त करके विद्या और उत्तमशील से युक्त करें।" (१६/३८) "माता, पिता और आचार्य का यही परम धर्म है जो सन्तानों के लिए अच्छी विद्या और अच्छी शिक्षा की प्राप्ति कराना।" (१२/४५) वेदभाष्य में अन्यत्र भी कितने ही स्थानों पर महर्षि ने शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। मानव समाज के हित-कल्याण तथा उन्नति के लिए जो भी विचार महर्षि ने

प्रस्तुत किए हैं, उन सबको क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने उत्तम शिक्षा का ही आश्रय लिया है।

महर्षि के मत में मनुष्य के तीन शिक्षक होते हैं, माता, पिता और आचार्य। इनसे समुचित शिक्षा प्राप्त करके ही कोई व्यक्ति सुयोग्य, विद्वान्, धर्मात्मा तथा सदाचारी हो सकता है। शिक्षा पढ़ाना आचार्यों (अध्यापकों) का कार्य है। ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा उन्हीं द्वारा प्रदान की जाती है। पर बच्चों के प्रशिक्षण तथा उनकी शक्तियों के विकास का सूत्रपात माता-पिता द्वारा किया जाता है। महर्षि के शब्दों में "वह कुल धन्य ! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् ! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम (और) उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता।" (सत्यार्थ-प्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृष्ठ २१) महर्षि यह मानते हैं कि सन्तान की शिक्षा गर्भाधान के समय से ही प्रारम्भ हो जाती है। इसीलिए गर्भाधान के समय पति-पत्नी दोनों के शरीर स्वस्थ होने चाहिएँ, दोनों प्रसन्न हों, दोनों में परस्पर प्रीति हो और उन्हें किसी प्रकार का शोक न हो। गर्भावस्था में स्त्री प्रसन्नचित्त रहे, स्वास्थ्यप्रद भोजन करे तथा अपने विचारों को शुद्ध रखे। सन्तान पर इसका प्रभाव बहुत अच्छा पड़ेगा। सन्तान के उत्पन्न हो जाने पर उसकी प्रथम शिक्षिका उसकी माता होती है। माता को चाहिए कि सन्तान को सभ्य बनाने का यत्न करे, उसे ऐसी शिक्षा दे जिससे वह किसी अंग से कोई कुचेष्टा न कर पाए। जब वह कुछ-कुछ बोलने व समझने लगे, तब उसे शुद्ध उच्चारण करना सिखाए और यह भी शिक्षा दे कि परिवार में सब छोटों, बड़ों, मान्य जनों, विद्वानों तथा राजपुरुषों से किस प्रकार बोला जाए, उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाए। "जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करे वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्याद्वेषादि न करें। ... सदा सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें।" ये सब बातें बहुत छोटी आयु में ही बच्चों को सिखानी चाहिएँ और यह कार्य प्रधानतया माता का है। पर पिता को भी उसके काम में हाथ बँटाना चाहिए। जब बच्चा कुछ बड़ा हो जाए, तो उसे अक्षराभ्यास भी प्रारम्भ करा देना चाहिए। महर्षि के मत में जब बच्चे की आयु पाँच वर्ष की हो जाए, तब उसे देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराना शुरू कर देना उचित है। देवनागरी के साथ-साथ अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का ज्ञान भी बचपन में ही करा देना चाहिए। पर छोटी आयु में अक्षराभ्यास की अपेक्षा दूसरों के प्रति समुचित व्यवहार, सदाचरण और धर्म का ज्ञान कराना अधिक उपयोगी है। इस प्रयोजन से बच्चों को अच्छे-अच्छे श्लोक व पद्य आदि भी कण्ठस्थ कराने चाहिएँ। महर्षि के शब्दों में, "जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे बर्तना इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थ सहित कण्ठस्थ करावें, जिससे सन्तान किसी धूर्त के बहकावे में न आवे, और जो-जो विद्या धर्म-विरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिराने वाले व्यवहार हैं उनका भी उपदेश कर दें, जिससे भूतप्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।" (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृष्ठ २३) महर्षि के अनुसार बालकों और बालिकाओं की शिक्षा का प्रारम्भ माता और पिता

द्वारा इसी ढंग से किया जाना चाहिए। पाँच वर्ष की आयु तक माता बच्चे की शिक्षिका होती है, फिर छठे वर्ष से आठवें वर्ष तक पिता को सन्तान का शिक्षक होना चाहिए। शिक्षा कार्य में माता-पिता का कर्तृत्व बच्चे की आठ वर्ष की आयु हो जाने पर समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् उसकी शिक्षा आचार्य द्वारा की जाती है। महर्षि ने शिक्षा विषयक अपने विचारों का प्रतिपादन शतपथ ब्राह्मण के इस वचन से प्रारम्भ किया है—"मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।" ब्राह्मण ग्रन्थ के इस वाक्य का यही अभिप्राय है।

(२) गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के मूल तत्त्व

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यानुसार बालकों और बालिकाओं के आठ वर्ष के हो जाने पर उनकी शिक्षा के सम्बन्ध में माता-पिता का कर्तृत्व समाप्त हो जाता है, न केवल शिक्षा के सम्बन्ध में, अपितु उनके चरित्र-निर्माण, भरण-पोषण तथा भविष्य के विषय में भी। अब यह उत्तरदायित्व गुरुजनों, मानव तथा राज्यसंस्था पर आ जाता है। आठ वर्ष की आयु हो जाने पर बालकों और बालिकाओं को विद्याध्ययन के लिए उन शिक्षणालयों में भेज दिया जाना चाहिए, जिन्हें महर्षि ने 'पाठशाला', 'गुरुकुल' और 'आचार्यकुल' नाम से कहा है। इस आयु से बालक-बालिकाओं को आचार्यों या गुरुजनों द्वारा शिक्षा दी जाती है, और विद्याभ्यास के काल (जिसकी न्यूनतम अवधि पुरुषों के लिए पच्चीस साल की आयु तक और स्त्रियों के लिए सोलह साल की आयु तक है) में उन्हें ही अपने शिष्यों की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिए यत्न करना है। आचार्य वर्ग के संरक्षण में रहते हुए छात्र किस प्रकार का जीवन व्यतीत करें, उन्हें कौन-सी विद्याएँ पढ़ायी जाएँ, पठन-पाठन विधि क्या हो—इन सब बातों पर महर्षि ने अपने ग्रन्थों में विशद् रूप से प्रकाश डाला है। वस्तुतः, महर्षि द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार यह शिक्षा प्रणाली ही है। इसे ही गुरुकुल शिक्षा प्रणाली कहा जाता है। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) बालक-बालिकाओं को शिक्षा के लिए गुरुकुलों में भेजना माता-पिता के लिए अनिवार्य होना चाहिए। इस बात पर महर्षि ने बहुत जोर दिया है। उन्होंने लिखा है—"इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ३०) "नौवें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपनी सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें।" (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृष्ठ २७) "राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखकर विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता-पिता को दण्ड देना, अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष पश्चात् लड़का और लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्यकुल में रहें। जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ६६) शिक्षा के लिए बालक-बालिकाओं को अनिवार्य रूप से गुरुकुलों में भेजना महर्षि की दृष्टि में केवल वांछनीय ही नहीं है,

अपितु उसके लिए सबको बाध्य करना भी आवश्यक है। केवल उपदेश या प्रेरणा से यह नहीं कराया जा सकता। इसके लिए जातिनियम और राजनियम के प्रयोग का महर्षि ने प्रतिपादन किया है। राजकीय कानूनों का उल्लंघन किया जा सकता है, यदि लोकमत उनके साथ न हो और यदि जनता स्वयं उनका पालन करने के लिए कटिबद्ध न हो। इसी कारण महर्षि ने राजनियम (राजकीय कानून) के साथ-साथ जातिनियम (जनता का समर्थन) को भी अनिवार्य गुरुकुल शिक्षा के लिए आवश्यक माना है।

(२) महर्षि दयानन्द सरस्वती बालक-बालिकाओं या स्त्री-पुरुषों की सह-शिक्षा के प्रबल विरोधी हैं। उन्होंने लिखा है कि "लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक-दूसरे से दूर होनी चाहिए। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य, अनुचर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुष की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी रहें तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन सब बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ २९-३०) महर्षि ने जिन शिक्षणालयों (गुरुकुलों) का निरूपण किया है, वे कन्याओं और बालकों के पृथक्-पृथक् होंगे, उनके बीच की दूरी दो कोस (चार मील के लगभग) होगी, और कन्या गुरुकुलों में सब शिक्षक, कर्मचारी व सेवक स्त्रियाँ होंगी, और पुरुषों के गुरुकुलों में पुरुष। महर्षि ने केवल कक्षा में पढ़ते समय बालकों और बालिकाओं के एक साथ पढ़ने का ही विरोध नहीं किया है, अपितु यह भी कहा है कि कन्या गुरुकुलों में कोई भी पुरुष (पाँच वर्ष से अधिक आयु का) न जाने पाए। इसी प्रकार बालकों के गुरुकुल में कोई भी स्त्री न जाने पाए, जिससे कि वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ जीवन बिता सकें। महर्षि ने आठ प्रकार के मैथुनों का उल्लेख किया है। स्त्री-पुरुषों का आपस में बातचीत करना, एक-दूसरे को देखना, स्पर्श करना और परस्पर मिलकर खेलना भी उन्होंने अनुचित माना है। शिक्षा काल में वे स्त्री-पुरुषों या बालक-बालिकाओं के किसी भी प्रकार से सम्पर्क में आने को अनुचित समझते थे। इसीलिए उन्होंने दोनों प्रकार के गुरुकुलों को एक-दूसरे से दूर रखना तथा उनमें भिन्न लिंग के शिक्षकों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति का विरोध किया है।

(३) गुरुकुलों के सब विद्यार्थियों को एक समान भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा आदि दी जानी चाहिए। महर्षि के शब्दों में "सब को तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जाएँ, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो और चाहे दरिद्र की सन्तान हो।" (सत्यार्थ-प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ३०) महर्षि की यह व्यवस्था गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की आधारशिला है, और इसी द्वारा सच्चे अर्थों में 'सबको समान अवसर' तथा 'सामाजिक न्याय' के आदर्श क्रियान्वित किये जा सकते हैं। गुरुकुलों में सब विद्यार्थी एक साथ निवास करेंगे, सबके निवास स्थान, शय्या आदि एक सदृश होंगे, सबके वस्त्र एक जैसे होंगे, सबको भोजन एक जैसा मिलेगा, सबका रहन-सहन एक समान होगा और सबको समान शिक्षा दी जाएगी। गुरुकुलों में द्विज और शूद्र, ऊँच और नीच, छूत और अछूत, धनी

और निर्धन, पूँजीपति और मजदूर, राजकीय पदाधिकारी और चपड़ासी की सन्तान में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं किया जाएगा।

(४) गुरुकुलों से नगर और ग्राम दूर होने चाहिए। महर्षि के शब्दों में, "पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहे।" महर्षि की दृष्टि में विद्याभ्यास के काल में विद्यार्थियों को शहरों और ग्रामों के वातावरण से दूर रखना आवश्यक है, ताकि वे नागरिक जीवन के आकर्षणों से मुक्त रहते हुए अपना सारा ध्यान विद्याध्ययन में लगा सकें। शहरों और गाँवों में अनेक प्रकार के आकर्षण होते हैं, वहाँ की प्रमोदशालाएँ, विलासमय जीवन तथा सुख भोग किशोर वय के बालक-बालिकाओं को आकृष्ट कर उन्हें विद्याभ्यास से विमुख कर सकते हैं। अतः महर्षि ने यह व्यवस्था की है कि गुरुकुल शहरों और नगरों से दूर एकान्त स्थान पर स्थापित किये जाने चाहिएँ। पर महर्षि को यह अभिप्रेत नहीं था, कि विद्यार्थी संसार तथा उसकी समस्याओं से सर्वथा अपरिचित रहें और नागरिक जीवन के सम्पर्क में कदापि न आएँ। गुरुकुलों के विद्यार्थी भ्रमण करने के लिए नगरों व ग्रामों में जा सकते हैं, पर ऐसे समय अध्यापक उनके साथ रहने चाहिएँ, ताकि वे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें। (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ३०) अध्यापकों के साथ भ्रमण के लिए जाने पर विद्यार्थी संसार से परिचित भी हो जाएँगे, और शहरों के जीवन के बुरे प्रभाव भी उन पर नहीं पड़ने पाएँगे।

(५) गुरुकुल में प्रवेश पाने के पश्चात् बालकों व बालिकाओं का अपने माता-पिता से कोई सम्पर्क नहीं रहना चाहिए। महर्षि के शब्दों में "उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ३७) महर्षि के इस मन्तव्य का अनुसरण करने से 'सबको समान अवसर' प्राप्त होने और सामाजिक न्याय की स्थापना में कैसे सहायता मिलती है, इस विषय पर इस इतिहास के पन्द्रहवें अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है।

(६) गुरुकुलों में विद्यार्थियों का जीवन तपस्यामय होना चाहिए और उन्हें ब्रह्मचर्य व्रत का अविकल रूप से पालन करना चाहिए। महर्षि ने ब्रह्मचर्य और तप पर बहुत जोर दिया है। "जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मचर्य के पालन के लिए यह आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा, अंगों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आँखों में अंजन, जूते और छत्र को धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, नाच, गान और बाजा बजाना, द्यूत, छल, स्त्रियों की कथा, निन्दा, मिथ्या-भाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें। सर्वत्र एकाकी सोवें, वीर्य स्खलित कभी न करें, जो कामना से वीर्य स्खलित कर दें तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ४२-४३) ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी के लिए यह आवश्यक है कि वे उन बातों से दूर रहें, जिनसे विद्याभ्यास में विघ्न पड़ता है। महर्षि के शब्दों में, "जो विद्या पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न हैं उनको छोड़ देवें, जैसा कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों

का संग, दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना ···अतिभोजन, अति जागरण करना, पढ़ने-पढ़ाने, परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना। ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना ··· लोभ से धनादि में प्रवृत्त होकर विद्या में प्रीति न रखना, इधर-उधर व्यर्थ घूमते रहना ···।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ६३) ब्रह्मचर्य के पालन के लिए महर्षि ने यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) तथा नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) को बहुत उपयोगी माना है। गुरुकुलों में ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणी का जीवन तपस्वी, इन्द्रिय संयमी, लोभरहित, पवित्र, संतुष्ट और भक्तिमय होना चाहिए। पर महर्षि को यह अभिप्रेत नहीं है, कि मनुष्य सन्तुष्ट होकर निरुद्यमी हो जाए और पुरुषार्थ करना छोड़ दे। ब्रह्मचर्य में महर्षि वीर्य रक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। उन्होंने लिखा है कि "देखो, जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति से कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषय का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।" (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृष्ठ २६)।

(७) गुरुकुल में विद्याभ्यास करते हुए छात्र-छात्राओं के प्रति उनके गुरुजनों का व्यवहार कैसा रहे, इस सम्बन्ध में भी महर्षि ने अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। गुरुओं का अपने शिष्यों के साथ वही सम्बन्ध होना चाहिए, जो माता-पिता का सन्तान के साथ होता है। आठ वर्ष की आयु में जब माता-पिता अपनी सन्तान को गुरुकुल भेज देते हैं, तो उनका स्थान गुरु व अध्यापक ले लेते हैं और बालक-बालिकाओं की देखभाल उसी प्रकार से करते हैं, जैसे कि माता-पिता द्वारा की जाती है। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध उसी प्रकार का है, जैसा कि पिता-पुत्र का होता है। परन्तु गुरुओं को शिष्यों का लाड़-चाव नहीं करना चाहिए। महर्षि का यह मत केवल गुरुओं के लिए ही नहीं है। माता-पिता को भी सन्तान का लाड़-चाव न कर उनकी ताड़ना करनी चाहिए। महर्षि के शब्दों में "जो माता-पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं और जो सन्तान वा शिष्यों का लाड़न करते हैं वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिलाकर नष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़न से गुणयुक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्य लोग भी ताड़न से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता-पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भय प्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें।" (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृष्ठ २७) शिष्यों के हित की दृष्टि से कभी-कभी यह आवश्यक हो जाता है कि उन्हें कुमार्ग से हटाने के लिए ताड़ना का आश्रय लिया जाए। ऐसे अवसर पर भी लाड़-चाव करने से उनका अहित होता है, अतः उनको सन्मार्ग पर लाने के लिए ताड़ना करना सर्वथा उचित है,

यही महर्षि का मन्तव्य है।

(८) गुरुकुलों में जो व्यक्ति अध्यापन का कार्य करें, उन्हें न केवल विद्वान् ही होना चाहिए, अपितु यह भी आवश्यक है कि वे धार्मिक तथा सदाचारी भी हों। महर्षि ने लिखा है कि "जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।" जिस शिक्षणालय में ये सब विशेषताएँ हों, वही गुरुकुल या आचार्यकुल कहा सकता है। महर्षि के मत में ऐसे शिक्षणालयों में ही राजनियम और जातिनियम द्वारा अनिवार्य रूप से सब बालक-बालिकाओं को विद्या प्राप्ति के लिए भेजा जाना चाहिए।

(३) पठन-पाठन की विधि

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्य के अनुसार बच्चों को अक्षर ज्ञान तो माता-पिता द्वारा घर पर ही करवा दिया जाना चाहिए, देवनागरी अक्षरों का भी और अन्य-देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। इस दशा में जब कोई बालक या बालिका शिक्षा के लिए गुरुकुल में प्रवेश करेगा, तब उसे देवनागरी लिपि और आर्यभाषा (हिन्दी) का तो प्रारम्भिक ज्ञान होगा ही, पर साथ में कम-से-कम एक विदेशी भाषा का भी उसका कुछ परिचय हो चुका होगा। गुरुकुल में आकर सबसे पूर्व छात्र-छात्राओं को संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ करना होगा। संस्कृत के अध्यापन करने के लिए महर्षि ने पाणिनि मुनिकृत 'शिक्षा' और अष्टाध्यायी का आश्रय लेना समुचित माना है। उनकी दृष्टि में व्याकरण का समुचित रूप से ज्ञान हो जाने पर वैदिक एवं लौकिक शब्दों का भली भाँति बोध हो सकता है। एक बार संस्कृत व्याकरण का समुचित अध्ययन कर लेने का यह परिणाम होगा, कि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के शब्दों का यथार्थ अभिप्राय समझने और साहित्य का अनुशीलन करने में कोई कठिनाई नहीं रहेगी। संस्कृत व्याकरण की शिक्षा के लिए महर्षि ने सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमा आदि व्याकरण ग्रन्थों को उतना उपयोगी नहीं पाया, जितना कि पाणिनि मुनि के व्याकरण को। उनके अनुसार पाणिनि की शिक्षा तथा अष्टाध्यायी और पतंजलि के महाभाष्य से जितना बोध तीन वर्षों में प्राप्त किया जा सकता है, उतना सारस्वत आदि से पचास वर्षों में भी सम्भव नहीं है। क्योंकि "जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्यों कर हो सकता है? महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण करने में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्प लाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना। और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ५८)।

व्याकरण के अध्ययन के लिए महर्षि ने तीन साल का समय रखा है। फिर निरुक्त और निघण्टु (छह या आठ महीने), छन्द (चार महीने), मनुस्मृति, बाल्मीकीय रामायण और महाभारत के चुने हुए अंश (एक वर्ष), मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त तथा दस उपनिषद् (दो वर्ष), और फिर ऐतरेय, शतपथ, गोपथ और

साम इन चार ब्राह्मणों तथा चारों वेदों (छह वर्ष) का अध्ययन किया जाए। इन सबके अध्ययन में तेरह वर्ष का समय अपेक्षित होगा। पर गुरुकुलों की शिक्षा संस्कृत व्याकरण, कल्प, षड्दर्शन, ब्राह्मण, आरण्यक और वैदिक संहिताओं तक ही सीमित नहीं है। आयुर्वेद (चिकित्सा शास्त्र), धनुर्वेद (युद्धविद्या तथा राजनीतिशास्त्र), गान्धर्ववेद (संगीत-शास्त्र), अथर्ववेद (पदार्थविद्या तथा शिल्प विद्या), ज्योतिष शास्त्र (अंकगणित, बीज-गणित, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या), और यन्त्रकला की शिक्षा के लिए भी उसमें स्थान है। महर्षि ने आयुर्वेद के लिए चार वर्ष, धनुर्वेद के लिए दो वर्ष, और गान्धर्व वेद आदि के लिए स्थूल रूप से दो वर्ष का समय रखा है। इस प्रकार गुरुकुल में शिक्षा का कुल समय इक्कीस साल के लगभग का है, जिसमें से तेरह वर्ष संस्कृत भाषा, वेद, वेदांग तथा अन्य शास्त्रों के अध्ययन में लगाये जाएँगे और आठ साल का समय गणित, पदार्थ विद्या (भौतिक विज्ञान), राजनीति आदि के अध्ययन में व्यतीत होगा। रामायण और महाभारत इतिहास के ग्रन्थ हैं। शिक्षा में उन्हें भी स्थान दिया गया है, जिससे इतिहास का अध्ययन ही अभिप्रेत है। यह तो सर्वथा स्पष्ट है कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम में उन विषयों या विद्याओं को भी समुचित स्थान दिया गया है, जिन्हें आधुनिक प्रचलित भाषा में सामाजिक विज्ञान और भौतिक विज्ञान कहा जाता है। वेद-शास्त्रों और धार्मिक साहित्य, चिकित्सा शास्त्र, राजनीति शास्त्र, गणित, भूगोल आदि का भी सब छात्र-छात्राओं को अध्ययन करना है। इनके पठन-पाठन में कितना-कितना समय लगाया जाए, महर्षि ने इसका भी निर्देश दिया है। पर प्रश्न यह है, कि क्या पहले व्याकरण, निरुक्त, निघण्टु, रामायण, महाभारत, स्मृति ग्रन्थ, उपनिषद्, ब्राह्मण दर्शन और वेदों की पढ़ाई कर चुकने के पश्चात् गणित, भूगोल, राजनीति शास्त्र और पदार्थ विज्ञान की पढ़ाई प्रारम्भ की जाएगी या इनकी शिक्षा व्याकरण आदि के साथ-साथ दी जाएगी। सत्यार्थप्रकाश में पठन-पाठन विधि का जिस ढंग से निरूपण किया गया है, उससे इस प्रश्न का स्पष्ट व प्रामाणिक उत्तर दे सकना सम्भव नहीं है। इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि महर्षि के अनुसार बच्चों को गुरुकुलों में भेजने से पूर्व घरों पर ही देवनागरी अक्षरों के साथ-साथ अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी अभ्यास करा देना चाहिए। क्या महर्षि को यह अभिप्रेत हो सकता है, कि जो विद्यार्थी कम-से-कम दो भाषाओं का सामान्य परिचय प्राप्त कर शिक्षा के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट हो, वह तेरह साल तक संस्कृत भाषा, वेद, वेदांग, तथा शास्त्रों के अतिरिक्त और कुछ भी न पढ़े ? यह बात कुछ असंगत प्रतीत होती है। इसी को दृष्टि में रखकर महर्षि द्वारा प्रतिपादित पठन-पाठन विधि की एक अन्य ढंग से व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। यह मान-कर कि गुरुकुल में शिक्षाकाल इक्कीस वर्ष है, उसका विभाजन व्याकरण, निरुक्त, दर्शन वेद, आयुर्वेद, गणित, भूगोल आदि उस प्रकार से किया जा सकता है जैसे कि महर्षि ने लिखा है। यदि महर्षि का यह अभिप्राय मान लिया जाए, तो वेद, वेदांग एवं अन्य शास्त्रों आदि के अध्यापन के लिए तेरह वर्ष का कुल समय नियत होगा, तो जिन विद्याओं को भौतिक विज्ञान व सामाजिक विज्ञान कहा जाता है उनके लिए आठ वर्ष होंगे। इसी बात को इस ढंग से भी कहा जा सकता है, कि यदि प्रतिदिन पढ़ाई का समय पाँच घण्टे रखा गया हो, तो उसमें से तीन घण्टे के लगभग वेद, वेदांग आदि के लिए होंगे और शेष दो घण्टे के लगभग समय सामाजिक व भौतिक विज्ञानों के लिए रहेगा। वेद,

वेदांगों के लिए निर्धारित कुल समय का उपयोग इस प्रकार से किया जा सकता है, कि पहले इसे व्याकरण, छन्द, निरुक्त आदि के अध्यापन में प्रयुक्त किया जाए और फिर उपनिषद्, दर्शन, ब्राह्मण और वैदिक संहिताओं के लिए। पर इस प्रश्न पर मतभेद की गुंजाइश का रहना सर्वथा स्वाभाविक है, और आग्रहपूर्वक यह कह सकना सम्भव नहीं है कि पठन-पाठन विधि में विविध शास्त्रों तथा विद्याओं की शिक्षा के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में महर्षि का वास्तविक मन्तव्य क्या है।

इस विवादग्रस्त विषय पर कुछ प्रकाश महर्षि द्वारा प्रचारित उस विज्ञापन से पड़ता है, जो उन्होंने काशी के केदारघाट पर स्थापित आर्य विद्यालय के सम्बन्ध में सन् १८७४ में प्रचारित किया था। इस विद्यालय में षड्दर्शन, मनुस्मृति, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त और छन्द के साथ-साथ काव्यालंकार और ज्योतिष की शिक्षा की भी व्यवस्था की गयी थी, और यह ज्ञापित किया गया था कि बाद में वेद और उपवेद के अध्यापन का भी प्रबन्ध किया जाएगा। इस 'विज्ञापन' से जिस पाठ्यक्रम का संकेत मिलता है, उससे काव्यालंकार और ज्योतिष की शिक्षा व्याकरण, मनुस्मृति आदि के साथ-साथ दी जानी है, उसके बाद नहीं। महर्षि द्वारा प्रचारित यह विज्ञापन 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ के तेईसवें पृष्ठ पर दिया गया है। इसमें पठन-पाठन विधि में विभिन्न विद्याओं के पौर्वापर्य के विषय में कुछ निर्देश अवश्य विद्यमान हैं।

महर्षि द्वारा निर्धारित पठन-पाठन विधि में जिन बहुत-सी विद्याओं व विषयों का उल्लेख है, क्या सब छात्र-छात्राओं को उन सबकी शिक्षा दी जाए या विद्यार्थी अपनी रुचि व आवश्यकता के अनुसार उनमें से कतिपय का अध्ययन कर सकें, इस प्रश्न पर भी मतभेद सम्भव है। पर सत्यार्थप्रकाश से इस विषय में निर्णय करने के लिए कुछ सहायता अवश्य मिलती है। वहाँ लिखा है—"जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और व्यवहार की विद्या न्यून-से-न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिए। क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि के अनुकूल वर्त्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन-वर्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिए वैसा करना, कराना वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकती जिनसे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें। शिल्प-विद्या के जाने बिना घर का बनवाना, वस्त्र-आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणित विद्या के बिना सबका हिसाब समझना समझाना, वेदादि शास्त्र विद्या के बिना ईश्वर और धर्म को न जान के अधर्म से कभी न बच सकें।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ६५-६६) यह स्पष्ट है कि महर्षि के मत में स्त्रियों के लिए वैद्यक, गणित और शिल्पविद्या की शिक्षा प्राप्त करना उपयोगी है, और ये सभी बालिकाओं को पढ़ाई जानी चाहिए। चाहे उनका गुरुकुल में विद्याध्ययन का काल केवल आठ वर्ष (आठ वर्ष की आयु से सोलह वर्ष की आयु तक, जबकि वे समावर्तन के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकती हैं) ही क्यों न हो। आठ वर्षों में ही उन्हें संस्कृत व्याकरण तथा धर्म के अतिरिक्त गणित, वैद्यक और शिल्प विद्या भी सीखनी होगी। यह तभी सम्भव है, जबकि इनकी शिक्षा संस्कृत व्याकरण आदि के साथ-साथ दी जाएँ, पौर्वापर्य रूप से नहीं। इससे पठन-पाठन विधि में विभिन्न विद्याओं

के लिए समय का जो निर्देश दिया है, उसके अभिप्राय को समझने में कुछ सहायता अवश्य मिलती है।

महर्षि ने पाठ्यक्रम में आर्ष ग्रन्थों को पढ़ाने पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने बहुत-से ऐसे ग्रन्थों को पढ़ाने का निषेध किया है जो ऋषिकृत या आर्ष नहीं हैं। इनमें सब तन्त्रग्रन्थ, पुराण, उपपुराण, रघुवंश, किरातार्जुनीय आदि काव्य, तुलसीकृत रामायण आदि भी अन्तर्गत हैं। महर्षि ने स्वयं यह प्रश्न उठाया है कि "क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं ?" इसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया है, "थोड़ा सत्य है परन्तु इसके साथ बहुत-सा असत्य भी है इससे 'विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्याः' जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है वैसे ये ग्रन्थ हैं।" महर्षि ने जो रघुवंश, किरातार्जुनीय और तुलसीकृत रामायण को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित न करने की बात कही है उसका कारण उन्होंने स्वयं यह बताया है कि इनमें ऐसे भी अनेक अंश हैं जो या तो सत्य नहीं हैं और या अन्य दृष्टियों से किशोरवय बालक-बालिकाओं को पढ़ाने के अयोग्य हैं। रघुवंश सदृश काव्यों में शृंगार रस की भी सत्ता है, जिसका आस्वादन ब्रह्मचर्य आश्रम में अनुचित माना जा सकता है। तुलसीकृत रामायण में पुराणों पर आधारित अनेक ऐसी कथाएँ दी गई हैं जिन्हें सत्य व युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। स्मृति-ग्रन्थों तक में अनेक ऐसे प्रक्षिप्त श्लोक हैं, जिनका अभिप्राय सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुरूप नहीं हैं। इस दशा में यदि गुरुकुलों में उनके अध्यापन का महर्षि ने विरोध किया, तो इसका युक्तियुक्त कारण था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में जब बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो उसमें अनेक ऐसे तत्त्वों का समावेश हो गया जो पुरातन वैदिक मान्यताओं के अनुरूप नहीं हैं। अनेक प्रकार के अन्धविश्वास एवं अनैतिक तत्त्व भी इस समय से भारत के धर्म में समाविष्ट होने लग गये। तन्त्र ग्रन्थों तथा पुराणों आदि में ये तत्त्व विद्यमान् हैं, और इनका प्रभाव इस युग के काव्य ग्रन्थों पर भी है। महर्षि को यह अभिप्रेत है, कि बालक-बालिकाएँ इन्हें न पढ़ें, ताकि इनका कुप्रभाव उनके अविकसित मनों पर न पड़ सके। किशोर आयु के व्यक्ति शृंगार रस आदि की ओर सुगमता से आकृष्ट हो जाते हैं। इससे उनकी शिक्षा पर अवांछनीय प्रभाव पड़ सकता है। इसीलिए महर्षि ने इनका निषेध किया है।

(४) शिक्षा में विज्ञान का स्थान

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस पठन-पाठन विधि का प्रतिपादन किया है, उसमें विज्ञान की शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उन्होंने लिखा है कि "अथर्ववेद कि जिसको शिल्पविद्या कहते हैं उसको पदार्थ गुण विज्ञान, क्रिया कौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है उस विद्या को सीख के दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या हैं इसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि को सीखें।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ६०) वेदभाष्य में भी महर्षि ने अनेक स्थानों पर विज्ञान पढ़ने-पढ़ाने और शिल्प की शिक्षा पर जोर दिया है। ऐसे कुछ उद्धरण निम्नलिखित हैं—

"इस संसार में विद्वानों को चाहिए कि जो उन्होंने अपने पुरुषार्थ से शिल्पक्रिया

प्रत्यक्ष कर रक्खी हैं उनको सब मनुष्यों के लिए प्रकाशित करें कि जिससे बहुत मनुष्य शिल्पक्रियाओं को करके सुखी हों।" (ऋग्वेद भाष्य १/१०७/१)।

"मनुष्य लोग जैसे-जैसे विद्वानों के संग से विद्या को बढ़ावें वैसे-वैसे विज्ञान में रुचि वाले होवें।" (यजुर्वेद भाष्य २०/८०)।

"मनुष्यों को चाहिए कि धर्मात्मा अध्यापक और उपदेशकों से विद्या और सुशिक्षा अच्छे प्रकार ग्रहण करके विज्ञान की वृद्धि सदा किया करें।" (यजुर्वेद भाष्य २०/८४)।

"विद्वान् लोग अग्नि विद्या को आप धार के दूसरों को सिखावें।" (यजुर्वेद भाष्य १५/२६)।

"विचारशील पुरुषों को यह अवश्य जानना चाहिए कि जहाँ-जहाँ मूर्तिमान् लोक हैं वहाँ-वहाँ पवन और बिजली अपनी व्याप्ति से वर्तमान हैं। जितना मनुष्यों का सामर्थ्य है उतने तक इनके गुणों को जानकर पुरुषार्थ से उपयोग लेकर पूर्ण सुखी हों।" (ऋग्वेद भाष्य १/१०८/२)।

"विद्वानों को चाहिए कि जैसे पदार्थों की परीक्षा से अपने आप पदार्थ विद्या को जानें वैसे ही दूसरों के लिए भी उपदेश करें।" (यजुर्वेद भाष्य १५/५६)।

महर्षि का यह मन्तव्य था कि विज्ञान और शिल्प विद्या का उपयोग कर आर्थिक उत्पादन में वृद्धि करनी चाहिए और देश-विदेश में दूर-दूर तक व्यापार के लिए जा-आकर अपने देश को समृद्ध बनाना चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि देश के शिल्पी व कारीगर विभिन्न पदार्थ विज्ञानों में निष्णात होकर यान्त्रिक शक्ति का उपयोग कर सकें और भूमि, समुद्र तथा आकाश में चलने वाले ऐसे यानों का निर्माण करें जिन्हें चलाने के लिए वायु, अग्नि तथा विद्युत्शक्ति का उपयोग किया जाए। इसीलिए महर्षि ने विज्ञान की शिक्षा पर बहुत ध्यान दिया है।

(५) महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली का विवेचन

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भारत के शिक्षणालय मुख्यतया उन पाठशालाओं तथा मदरसों के रूप में थे, जिनका संचालन धार्मिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था। इनमें प्रधान रूप से संस्कृत, अरबी व फारसी की शिक्षा दी जाती थी। गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि विषयों की पढ़ाई की इनमें कोई व्यवस्था नहीं होती थी। धर्म-शास्त्रों तथा प्राचीन भाषाओं के ग्रन्थों में जो ज्ञान उपलब्ध था, विद्यार्थी केवल उसे ही प्राप्त कर सकते थे। इन पाठशालाओं और मदरसों में केवल पुरुष ही पढ़ा करते थे, स्त्रियों को उनमें प्रवेश नहीं मिलता था, और न उनके लिए कोई पृथक् शिक्षणालय थे। स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार बहुत कम था। उनके लिए वही शिक्षा पर्याप्त समझी जाती थी जिसे वे घर में रहते हुए प्राप्त कर सकें। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बंगाल पर अंग्रेजों का शासन भली भाँति स्थापित हो गया था। इस समय तक पश्चिमी यूरोप में नवीन शिक्षा का सूत्रपात हो चुका था, और वहाँ के शिक्षणालयों में उस नये ज्ञान-विज्ञान का पठन-पाठन भी प्रारम्भ कर दिया गया था, जो इस काल में पाश्चात्य देशों में विकसित हो रहा था। शुरू-शुरू में अंग्रेजों ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि अपने शासन में विद्यमान बंगाल में भी ऐसे शिक्षणालय स्थापित किये जाएँ, जिनमें नये ज्ञान-विज्ञान की पढ़ाई का प्रबन्ध हो। वे समझते थे कि भारतीयों के लिए वही

शिक्षा-पद्धति उपयुक्त है जो परम्परागत रूप से इस देश में चली आ रही है। संस्कृत, अरबी व फारसी के अध्ययन से ही भारतीयों का काम चल सकता है, नये ज्ञान-विज्ञान को सीखने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिए वारेन हेस्टिंग्स ने १७८१ ईस्वी में कलकत्ता में जिस मदरसे की स्थापना की, उसमें अरबी और फारसी के अध्ययन की ही व्यवस्था की गयी थी। १७८४ में सर विलियम जोन्स ने 'एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल' का संगठन किया, जिसका उद्देश्य भारत के प्राचीन ज्ञान का अनुशीलन करना था। १७९२ में जोनाथन डंकन द्वारा काशी में संस्कृत कालिज स्थापित किया गया। ये तीनों संस्थाएँ प्राचीन ज्ञान के अनुशीलन एवं अध्ययन के लिए ही स्थापित की गयी थीं। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भारत के ब्रिटिश शासकों ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि इस देश की सर्वसाधारण जनता को शिक्षित करने और यूरोप में प्रादुर्भूत हो रहे नवीन ज्ञान-विज्ञान से भारतीयों को परिचित कराने के सम्बन्ध में भी उनका कुछ कर्तव्य है।

यद्यपि अंग्रेज शासक नवीन शिक्षा के सम्बन्ध में सर्वथा उदासीन थे, पर ईसाई पादरी इस ओर से विमुख नहीं थे। वे समझते थे कि भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने के कार्य में अंग्रेजी शिक्षा बहुत सहायक हो सकती है। इसी बात को दृष्टि में रखकर वे भारत में ऐसे स्कूल खोलने में तत्पर हुए, जिनमें कि अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ गणित, भूगोल, इतिहास और भौतिक विज्ञान आदि आधुनिक विषयों की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। ईसाई पादरियों के कार्यकलाप को देखकर अनेक विचारशील भारतीयों का ध्यान भी नवीन शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ, और राजा राममोहन राय तथा उनके साथियों ने सन् १८१७ में हिन्दू विद्यालय (हिन्दू कालिज) की स्थापना की। यही आगे चलकर प्रेजिडेन्सी कालिज के रूप में परिवर्तित हो गया। ईसाई पादरियों और राजा राममोहन राय सदृश भारतीयों के प्रयत्न से भारत में नवीन शिक्षा के लिए जो रुचि उत्पन्न हो रही थी, अंग्रेजी सरकार के लिए उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। उन्होंने भी इस पर ध्यान दिया। पर भारत में शिक्षा का स्वरूप क्या हो, इस प्रश्न पर अंग्रेज शासकों में मतभेद था। बहुसंख्यक अंग्रेजों का विचार था कि भारत के लिए संस्कृत, अरबी और फारसी की शिक्षा ही उपयुक्त है, और सरकार को उसी के लिए प्रयत्न करना चाहिए। पर कतिपय विचारक ऐसे भी थे जो भारत में अंग्रेजी शिक्षा के सूत्रपात के समर्थक थे। मैकाले इनमें प्रमुख थे। उनका यह मत था कि शासन कार्य की सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि कुछ ऐसे भारतीय भी होने चाहिएँ जो अंग्रेजी भाषा तथा अंग्रेज शासकों की विचारसरणी से भली भाँति परिचित हों। इस विशाल देश में शासन के लिए बहुत-से भारतीय कर्मचारियों का सहयोग भी आवश्यक होगा, और ये तभी अपना कार्य भली भाँति कर सकेंगे जबकि अंग्रेजी भाषा का इन्हें समुचित ज्ञान हो। मैकाले भारतीयों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करने का पक्षपाती था, जो शक्ल और रंग में तो भारतीय हो, पर भाषा, रहन-सहन, खान-पान, संस्कृति और विचारों में पूरी तरह से पाश्चात्य रंग से रँगा हुआ हो। उसका विचार था, कि भारतीयों का यह वर्ग ब्रिटिश शासन का सदा समर्थक रहेगा और इससे भारत को सदा अपनी अधीनता में रखा जा सकेगा। शुरू में पहला मत अधिक प्रबल रहा, और इसीलिए उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक अंग्रेजी सरकार द्वारा शिक्षा सम्बन्धी जो भी प्रयत्न हुए, उन

सबका उद्देश्य भारत की प्राचीन भाषाओं तथा उनके साहित्य का अध्ययन ही था। पर बाद में इस स्थिति में परिवर्तन आया, और मैकाले की नीति का अनुसरण कर सन् १८३५ के पश्चात् सरकार की ओर से अनेक ऐसी शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित की जानी प्रारम्भ हुईं, जिनमें अंग्रेजी भाषा और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था थी। इन शिक्षणालयों की स्थापना करते हुए अंग्रेज शासकों के मन में जो विचार काम कर रहा था, वह सर चार्ल्स ट्रेविलियन के इन शब्दों से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—"इस शिक्षा को प्राप्त कर भारत के लोग हिन्दू होने की तुलना में उसी प्रकार अधिक अंग्रेज हो जाएँगे, जैसे कि रोमन साम्राज्य के प्रान्तों के निवासी गाल आदि होने की अपेक्षा रोमन अधिक हो गये थे।" अंग्रेजी सरकार ने भारत में जो शिक्षणालय इस काल में स्थापित करने आरम्भ किये, उनका यही प्रयोजन था कि इनमें शिक्षा प्राप्त कर हिन्दू लोग हिन्दुत्व की तुलना में अंग्रेजियत को श्रेष्ठ मानने लगें और अंग्रेजों का अनुकरण करने में गौरव अनुभव करने लगें। वे इसमें सफल भी हुए, और सरकारी तथा ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित स्कूलों और कालिजों में शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीय अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को हीन मानने लगे, और अंग्रेजों का अनुकरण करने में तत्पर हुए।

सन् १८३५ के बाद भारत में अंग्रेजी शिक्षा का तेजी से प्रसार होने लगा। १८३५-३६ में सरकार द्वारा २३ स्कूल खोले गये, जिनमें अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को प्रधान स्थान दिया गया था, और शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी रखा गया था। १८४२ में ऐसे स्कूलों की संख्या ५१ हो गयी, और बाद में उसमें निरन्तर वृद्धि होती गयी। १८५० में कलकत्ता में भारत के पहले अंग्रेजी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, और बाद में शीघ्र ही मद्रास और बम्बई के विश्वविद्यालयों की। १८८७ तक भारत में पाँच विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे, और देश में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या पच्चीस लाख के लगभग हो गई थी। ये विद्यार्थी उन स्कूलों और कालिजों में शिक्षा प्राप्त करते थे, जिनमें शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा थी, और पाठ्यक्रम में भारतीय भाषाओं तथा साहित्य की पूर्णतया उपेक्षा की गयी थी। यद्यपि इन शिक्षणालयों में भौतिक विज्ञानों की शिक्षा का प्रबन्ध था, पर शिल्प तथा इन्जीनियरिंग आदि पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया था। उस समय अंग्रेज शासक भारतीयों के लिए इनकी शिक्षा की आवश्यकता भी नहीं समझते थे, क्योंकि उनकी नीति यह थी कि भारतीय कच्चे माल को सस्ती कीमत पर प्राप्त किया जाए, और ब्रिटेन के कल-कारखानों में उसे तैयार माल के रूप में परिवर्तित कर महँगी कीमत पर भारत में बेचा जाए। इसी कारण वे इस देश में कल-कारखाने स्थापित करने को अनावश्यक मानते थे और उनकी दृष्टि में भारतीयों को शिल्प आदि की शिक्षा देने का कोई उपयोग नहीं था।

इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में दो प्रकार के शिक्षणालय विद्यमान थे, एक पुरानी परिपाटी की पाठशालाएँ और मदरसे जिनमें संस्कृत, अरबी और फारसी की पढ़ाई होती थी और पुराने धार्मिक साहित्य का पठन-पाठन होता था। नये ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को इनमें कोई स्थान नहीं था। दूसरे प्रकार के शिक्षणालय ईसाई मिशनरियों और अंग्रेजी सरकार द्वारा स्थापित किए गये थे जिनमें अंग्रेजी भाषा शिक्षा की माध्यम थी और अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई पर विशेष जोर दिया जाता था। ये दोनों

ही प्रकार के शिक्षणालय भारत की प्रगति के लिए सर्वदा अनुपयुक्त थे। पुरानी पाठशालाओं और मदरसों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान, नये चिन्तन एवं प्रगति से सर्वथा अपरिचित रहते थे, और अंग्रेजी स्कूलों, कालिजों में पढ़े हुए लोग अपनी संस्कृति से विमुख होते जाते थे। उनमें हीन भावना विकसित हो जाती थी, और वे अंग्रेजी शासन को अपने देश के लिए वरदान समझने लगते थे। इस काल में भारत के नव जागरण के जो अनेक आन्दोलन चल रहे थे, उनके नेता भी अंग्रेजी शिक्षा के समर्थक थे, और ऐसे ही स्कूल व कालिज स्थापित करने में तत्पर थे, जिनमें अंग्रेजी को प्रमुख स्थान प्राप्त हो। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के प्रमुख भारतीय सुधारक राजा राममोहन राय थे, जिन्होंने धार्मिक सुधार तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने के प्रयोजन से ब्राह्मसमाज की स्थापना की थी। अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रारम्भ की गयी पाश्चात्य ढंग की शिक्षा को वे भी भारतीयों के लिए उपयोगी मानते थे, और उन्होंने उसके प्रसार के लिए कार्य भी किया था। वे तथा इस युग के अन्य सुधारक यह सोच भी नहीं सकते थे कि एक ऐसी शिक्षा पद्धति भी हो सकती है जिसके अनुसार शिक्षा प्राप्त कर भारतीय विद्यार्थी जहाँ नये ज्ञान-विज्ञान से पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकें, वहाँ साथ ही अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने धर्म का भी उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान रहे और भारतीयता के प्रति उनकी आस्था में न केवल कमी न आये अपितु उसमें वृद्धि हो। ऐसी शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन आधुनिक युग में केवल महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा ही किया गया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात अत्यन्त महत्त्व की है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, महर्षि द्वारा प्रतिपादित पाठ्य विषय में संस्कृत भाषा, वेद-वेदांग तथा दर्शन शास्त्रों को प्रमुख स्थान दिया गया है। साथ ही चिकित्सा शास्त्र, राजनीति शास्त्र, युद्ध विद्या शिल्प विद्या, भौतिक विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि के अध्ययन को भी समुचित महत्त्व प्राप्त है। अंग्रेजी भाषा से परिचय की भी महर्षि ने उपेक्षा नहीं की। वे तो यह मानते थे कि बचपन में देवनागरी अक्षरों के साथ-साथ अन्यदेशीय भाषाओं (जिनमें अंग्रेजी भी अन्तर्गत हो सकती है) का भी ज्ञान कराना प्रारम्भ कर दिया जाए। पर किसी विदेशी भाषा को पढ़ना एक बात है, और उसे शिक्षा का माध्यम बनाना उससे भिन्न बात है। भारत की विदेशी सरकार द्वारा जिस पद्धति का सूत्रपात किया गया था, उसके मुख्य दोष ये थे कि उसमें अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को प्रमुख स्थान प्राप्त था, वही भाषा शिक्षा की माध्यम थी, और भारत की आधुनिक तथा प्राचीन भाषाओं तथा उनके साहित्य की उसमें उपेक्षा की गयी थी। महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति में इनमें से कोई भी दोष नहीं था। इसी प्रकार पुरानी परम्परा की पाठशालाओं तथा मदरसों में केवल प्राचीन भाषाएँ पढ़ाई जाती थीं और केवल उस साहित्य का वहाँ अध्यापन होता था जिसका निर्माण मुख्यतया मध्य युग में हुआ था। संस्कृत की पाठशालाओं में अर्थसहित वेदों के पढ़ाने का तो प्रश्न ही क्या, व्याकरण तक के लिए उन ग्रन्थों का आश्रय लिया जाता था जो ऋषिकृत न होकर बाद के समय के पण्डितों द्वारा लिखे गये थे। जिस नये ज्ञान-विज्ञान का आधुनिक युग में पश्चिमी यूरोप में विकास हो रहा था, पाठशालाओं और मदरसों के विद्यार्थी उससे सर्वथा अपरिचित रहते थे। महर्षि द्वारा जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया, उसमें संस्कृत भाषा, वैदिक वाङ्मय तथा प्राचीन शास्त्रों के अध्यापन के साथ-साथ नये ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की भी सुचारु रूप से व्यवस्था की गयी है।

इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि महर्षि इस मामले में भी सतर्क थे कि कहीं नये ज्ञान-विज्ञान को पढ़ने से विद्यार्थी यह न समझने लगें कि ये सब पाश्चात्य लोगों की देन है, और जो अंग्रेज इस प्रकार के नये वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा उत्कृष्ट यान्त्रिक साधनों का निर्माण करते हैं वे भारतीयों की तुलना में उत्कृष्ट हैं। अंग्रेज शासक भारतीयों में अपनी सभ्यता, साहित्य तथा संस्कृति के प्रति इसी भावना को प्रादुर्भूत करने के लिए प्रयत्नशील थे और उन द्वारा स्थापित स्कूल और कालिज इसके साधन थे। महर्षि ने इस तथ्य को दृष्टि में रखकर अपनी शिक्षा प्रणाली में विज्ञानों को आयुर्वेद, धनुर्वेद, अथर्ववेद आदि नामों से सम्मिलित किया—ऐलोपेथी, मिलिटरी सायन्स, टैक्नोलोजी सदृश नामों से नहीं। वे यह मानते थे कि आयुर्वेद से सम्पूर्ण चिकित्साशास्त्र अभिप्रेत है। समय के साथ-साथ सब विज्ञानों में नये-नये तथ्यों का समावेश होता जाता है, परीक्षणों द्वारा अनेक नयी बातें ज्ञात होती रहती हैं, और उन्हें विज्ञानों में समाविष्ट कर लिया जाता है। पर ऐसा करने से उस विज्ञान की मूल धारा के प्रवाह में बाधा नहीं पड़ती। भारत में जिस ढंग से आयुर्वेद का विकास हुआ, उसमें भी रस-चिकित्सा सदृश अनेक चिकित्साएँ बाद में सम्मिलित की गयीं। पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली (ऐलोपेथी) द्वारा जो अनेक नये तथ्य गत दो सदियों में प्रतिपादित किये गये हैं, शल्य चिकित्सा को जिस प्रकार से विकसित किया गया है, उस सबको भारत की प्राचीन परम्परागत चिकित्सा पद्धति (आयुर्वेद) में समाविष्ट कर ऐसा रूप दिया जा सकता है जो पूर्णतया प्राचीन होते हुए भी आधुनिकतम हो। भारत के प्राचीन वैज्ञानिक यह करते भी रहे हैं। ग्रीक लोगों ने गणित की कुछ शाखाओं में जो नये आविष्कार किये थे, उन्हें सीखकर भारत के प्राचीन विद्वानों ने यह कहने में संकोच नहीं किया था, 'यवन (ग्रीक) यद्यपि म्लेच्छ हैं, पर ऋषिवत् पूज्य हैं।' पाश्चात्य जगत् में जिस नये ज्ञान-विज्ञान का आधुनिक युग में विकास हुआ, उसके प्रति भी भारत के विद्वानों की यही वृत्ति होनी समुचित थी। पर इससे उनमें हीन भावना उत्पन्न होने लगी। वे यह भूल गये कि कोई वैज्ञानिक आविष्कार किसी देश में होता है, और कोई किसी अन्य देश में। नया आविष्कार कहीं भी क्यों न हुआ हो, सब उसे अपना लेते हैं। गणित में शून्य (०) का जो आविष्कार सबसे पूर्व भारत में हुआ था, उसे पहले अरबों ने और फिर यूरोप के लोगों ने अपना लिया। मंगोलों द्वारा किया हुआ बारूद का आविष्कार संसार के सब देशों ने सीख लिया। गत दो सदियों में पश्चिमी संसार ने जो वैज्ञानिक उन्नति की, भारत को उसे सीखना ही चाहिए था—पर उसे पूर्णतया अपने ज्ञान का अंग बनाकर, उसे आत्मसात् कर। महर्षि दयानन्द सरस्वती को यही अभिप्रेत था। इसी कारण वे यह कहते थे कि कोई ऐसा आविष्कार नहीं है, जो भारत में पहले न हो चुका हो। कोई ऐसा वैज्ञानिक तथ्य नहीं है, जो प्राचीन भारतीयों को ज्ञात न रहा हो। जब देश का नेतृत्व पाखण्डी व अज्ञानी लोगों के हाथों में आ गया, तो इस देश का पुराना ज्ञान-विज्ञान विलुप्त होने लगा। वह सब प्राचीन ऋषिकृत ग्रन्थों में विद्यमान है और उनके सही ढंग से अध्ययन द्वारा उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है। पाश्चात्य लोगों ने आधुनिक युग में परीक्षणों द्वारा जिन नये वैज्ञानिक तथ्यों का पता किया है, वे यद्यपि प्राचीन ऋषिकृत ग्रन्थों के लिए नवीन नहीं हैं, पर उनसे भारतीय आयुर्वेद, अथर्ववेद आदि के वास्तविक अभिप्राय को समझने में सहायता अवश्य ली जा सकती है। पूना में दिए गये

अपने दसवें व्याख्यान में महर्षि ने कहा था कि "एक अंग्रेज विद्वान् डाक्टर हमको मिला, उसने मुझसे कहा कि हमारे प्राचीन आर्य लोगों में डाक्टरी औजारों का कुछ भी प्रचार न था और उन्हें विदित न था। तब मैंने सुश्रुत का 'नेत्र अध्याय' जिसमें कि बारीक-से-बारीक औजार का वर्णन है निकालकर उसे दिखाया, तब उसको ज्ञात हुआ कि आर्य लोग चिकित्सा में बड़े चतुर थे और उन्हें औजारों की विद्या भी उत्तम ज्ञात थी।" (उपदेश मंजरी, पृष्ठ १२३) अन्य विज्ञानों के विषय में भी महर्षि का यही मन्तव्य था। प्राचीन भारतीय ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, वरुणास्त्र, नारायणास्त्र आदि का निर्माण करते थे, कोई मन्त्र बोलकर नहीं, अपितु पदार्थों के गुण व दोष जानकर और उनका समुचित रूप से प्रयोग करके। जब विद्यार्थी यह समझकर भौतिक विज्ञानों का अध्ययन करेंगे कि प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों ने भी वैज्ञानिक क्षेत्र में समुचित उन्नति की थी, और जो ज्ञान-विज्ञान पाश्चात्य जगत् की पुस्तकों का सहारा लेकर हमें पढ़ाया जा रहा है वह ज्ञान-विज्ञान की पुरातन धारा का पूरक मात्र है, तो उनमें किसी प्रकार से हीन भावना प्रादुर्भूत नहीं हो पाएगी। महर्षि को यही अभिप्रेत था, और उन द्वारा प्रतिपादित पाठ्य-क्रम की यह एक अनुपम विशेषता है।

महर्षि की शिक्षा प्रणाली में चरित्र के निर्माण पर अत्यधिक जोर दिया गया है। ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर विद्याभ्यास करने के लिए प्रवृत्त होने का प्रयोजन ही यह है, कि बालिकाएँ और बालक अपने शरीर को नीरोग तथा बलवान्, मन को शुभ संकल्प वाला और आत्मा को समुन्नत बनाने के लिए प्रयत्न करते रहें। शिक्षणालयों की स्थापना जो नगरों और ग्रामों से दूर एकान्त स्थान पर किये जाने की व्यवस्था महर्षि ने की है, उसका प्रयोजन भी यही है कि छात्रों पर जनसमाज के दूषित वातावरण का प्रभाव न पड़े, और उनके चरित्र में कोई दोष न आने पाए। इसीलिए अध्यापकों और अध्यापिकाओं के लिए विद्वान् होने के अतिरिक्त सदाचारी होने की बात भी आवश्यक रखी गयी है। महर्षि के शब्दों में, "जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हो उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्णविद्यायुक्त होवें वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।"

भारत में अनेक प्रकार के अन्धविश्वास चिरकाल में प्रचलित रहे हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य में भी ये विद्यमान थे, और अब तक भी नष्ट नहीं हुए हैं। भूत-प्रेत की सत्ता मानना भी इसी प्रकार का एक अन्धविश्वास है। ग्रहों का मनुष्य के जीवन पर प्रभाव, दुष्ट ग्रहों की शान्ति के लिए नानाविध अनुष्ठान, राशिफल, जन्मपत्री, फलित ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र, दैवी प्रकोप आदि पर भारतीय जनता का अगाध विश्वास रहा है। महर्षि इन बातों को नहीं मानते थे, और इन अन्धविश्वासों को दूर करना आवश्यक समझते थे। इसके लिए उन्होंने शिक्षा काल को प्रयुक्त करने का निरूपण किया है। उनका मन्तव्य है कि माता-पिता और गुरुजन बालक-बालिकाओं को ऐसी शिक्षा दें, जिससे वे इन मिथ्या बातों पर कदापि विश्वास न करें। वे भूत-प्रेत को नहीं मानते थे। उनके मत में मृत शरीर (शव) को प्रेत कहते हैं, और जब शव का दाह हो चुके तो उसे 'भूत' नाम दे दिया जाता है। "अज्ञानी लोग वैद्यक शास्त्र वा पदार्थ विद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपात ज्वरादि शारीरिक और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं। उनका औषध सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त, पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भंगी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी

विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल, कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा, धागा आदि मिथ्या मन्त्र-यन्त्र बाँधते-बँधवाते फिरते हैं, अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते फिरते हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृष्ठ २३-२४) धूर्त, पाखण्डी लोग उन्माद सदृश रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों के बारे में यह कह कर कि इन पर भूत, प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आ गई हैं, उन्हें कैसे ठगते फिरते हैं, महर्षि ने इसका अत्यन्त मार्मिक वर्णन सत्यार्थप्रकाश में किया है। इसी प्रकार उन्होंने ग्रहफल, जन्मपत्री आदि का भी युक्तियुक्त खण्डन किया है। ज्योतिष शास्त्र को वे मानते हैं, पर केवल उस भाग को जिसमें अंक, बीज, रेखागणित विद्या हैं, उसमें जो ग्रहफल की लीला है उसे नहीं। महर्षि के मन्तव्य के अनुसार जन्मपत्री बनवाना, उसके आधार पर भविष्यफल निकलवाना और जो दुष्ट ग्रह हों उनकी शान्ति के लिए मन्त्र, जप, दान, ब्रह्मभोज आदि कराना सब निरर्थक है। ये सब बातें अन्धविश्वास का परिणाम हैं और धूर्त पाखण्डी लोग इन द्वारा भोली-भाली जनता को ठगते रहते हैं। महर्षि ने अपने पाठ्यक्रम में ज्योतिष-शास्त्र को भी स्थान दिया है। परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है "परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्री, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं उनको झूठ मानकर कभी न पढ़ें पढ़ावें।" शीतला आदि देवियों पर विश्वास, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि की क्रियाएँ सब महर्षि के मत में मिथ्या हैं। इन्हें करने वालों को उन्होंने 'महापामर' कहा है। पर ये बातें जन-साधारण के मन में इतनी बद्धमूल होकर रहती हैं, कि इन पर से विश्वास हटा सकना सुगम नहीं होता। महर्षि ने इसी कारण इस बात पर जोर दिया है कि बाल्यावस्था में ही बच्चों के मन पर यह बात भली भाँति बैठा देनी चाहिए कि तन्त्र-मन्त्र, भूत-प्रेत, दुष्ट ग्रहों की शान्ति सदृश सब बातें मिथ्या हैं, ताकि वे भ्रमजाल में पड़कर दुःख न पावें।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा संस्थाओं एवं शिक्षा-प्रणाली के लिए जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उनका अपना विशेष महत्त्व है। शिक्षा के लिए जो अनेकविध पद्धतियाँ इस समय भारत तथा अन्य देशों में प्रचलित हैं, महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति को भी उन्हीं में से एक समझना या उन्हीं का विकल्प रूप मानना किसी भी प्रकार संगत नहीं है। महर्षि के शिक्षा विषयक जिन मूल तत्त्वों का इस अध्याय के दूसरे प्रकरण में उल्लेख किया गया है, उनको क्रियात्मक रूप देने का परिणाम एक ऐसे समाज का निर्माण होगा, जिसमें सबको एक समान अवसर प्राप्त हो और जो पूर्णतया सामाजिक न्याय पर आधारित हो। वस्तुतः, महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली एक ऐसे क्रान्तिकारी एवं प्रगतिशील कार्यक्रम का श्रीगणेश करने में समर्थ है जिससे मानवसमाज के सब अन्याय, विषमता और शोषण दूर हो जाएँ, और मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का आधार औचित्य तथा न्याय हो जाए। समाज के वास्तविक हित-कल्याण के लिए महर्षि द्वारा शिक्षा विषयक जो मौलिक विचार प्रस्तुत किए गये हैं, उनके सार्वभौम और सार्वकालिक महत्त्व पर ध्यान देना आवश्यक है।

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में भारत की जो सामाजिक दशा थी, उसे दृष्टि में रखते हुए जब महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली पर विचार किया जाता है, तो उसके क्रान्तिकारी एवं प्रगतिशील तत्त्वों पर आश्चर्य होना स्वाभाविक है। महर्षि ने केवल स्त्री शिक्षा का समर्थन ही नहीं किया, अपितु पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा को

एक समान महत्त्व दिया। इसी प्रकार शूद्रों और अतिशूद्रों (जिन्हें आजकल हरिजन कहा जाता है और जो अछूत माने जाते हैं) को भी शिक्षा की ठीक वही सुविधाएँ दी जानी चाहिए जो द्विजों व सम्भ्रान्त वर्ग के बालक-बालिकाओं को प्राप्त हों—इनसे अधिक प्रगतिशील विचार कौन हो सकते हैं ? ये विचार महर्षि ने उस समय प्रतिपादित किए थे, जब 'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्' का सिद्धान्त क्रियान्वित हो रहा था, स्त्रियों के लिए शिक्षा का तो प्रश्न ही क्या, उनका घर से बाहर जाना भी बुरा माना जाता था, और शूद्रों को तो साधारण मानव अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। स्त्रियों के लिए महर्षि ने केवल अक्षराभ्यास एवं साधारण पढ़ाई-लिखाई का ही प्रतिपादन नहीं किया, अपितु उन्हें चिकित्सा शास्त्र, धनुर्विद्या (युद्ध नीति), शिल्प और पदार्थ विज्ञान की शिक्षा दिये जाने पर भी जोर दिया। महर्षि के मन्तव्य के अनुसार स्त्रियों को उत्तम गृहिणी तो होना ही चाहिए, पर साथ ही यह भी आवश्यक है कि वे सच्चे अर्थों में पति की सहधर्मिणी भी हों। यह तभी सम्भव है, जबकि वे भी उच्च शिक्षा प्राप्त करें और ऐसे ही पुरुष के साथ विवाह करें जो योग्यता तथा गुण-कर्म में उनके अनुरूप हो।

सतरहवाँ अध्याय

प्रचलित सामाजिक बुराइयाँ और उनके निवारण के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचार

(१) बालविवाह और अनमेल विवाह

भारत के प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनुसार विवाह एक धार्मिक कृत्य है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे। पत्नी के बिना कोई भी यज्ञ पूरा नहीं होता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि जो पुरुष 'अपत्नीक' हो, वह 'अयज्ञिय' होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जाया (स्त्री) पुरुष की 'अर्ध' (आधी) होती है, और उसे प्राप्त करके ही मनुष्य 'सर्व' (पूर्ण) बनता है। मनु ने लिखा है कि सन्तान की प्राप्ति, धर्म कार्यों का अनुष्ठान, ऐन्द्रिय सुख और स्वर्ग की प्राप्ति—ये सब 'पराधीन' (पत्नी के अधीन) हैं, अतः सबको चाहिए कि विवाह कर इन्हें प्राप्त करें। जीवन में जिस विवाह सम्बन्ध का इतना महत्त्व था, उसके लिए धर्मशास्त्रों में अनेक नियम भी निर्धारित हैं। विवाह सम्बन्ध निर्धारण करते हुए यह दृष्टि में रखा जाता था कि वर और वधू 'सदृश' हों। कुल, गुण, स्वभाव, शरीर, रूप, आयु, विद्या और धन में वे एक समान हों। उन्हें युवक और युवती भी होना चाहिए। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार ऐसे युवक को विवाह करना चाहिए जो अविलुप्त ब्रह्मचर्य हो, और वह ऐसी वधू से ही विवाह करे जो युवावस्था को प्राप्त कर चुकी हो। बाल-विवाह प्राचीन भारत में प्रचलित नहीं था, और ऐसे युवक-युवतियों के विवाह को भी समुचित नहीं समझा जाता था, जो गुण, कर्म, स्वभाव आदि की दृष्टि से एक समान न हों। भारत बहुत बड़ा देश है। प्राचीन समय में यहाँ बहुत-से जनपद थे, जिनके सामाजिक जीवन तथा आचार-विचार आदि में विभिन्न युगों में अनेकविध विभिन्नताओं का विकास होता रहा। इसीलिए अनेक प्रकार के विवाह भारत में प्रचलित रहे। धर्मशास्त्रों के अनुसार ये विवाह आठ प्रकार के थे—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इनमें से पहले चार 'धर्म्य' (प्राचीन आर्य धर्म की मर्यादा के अनुरूप) माने जाते थे, और शेष चार ऐसे थे जो 'धर्म्य' न होने पर भी कतिपय प्रदेशों व जातियों में प्रचलित थे और राज्य संस्था जिन्हें स्वीकार करती थी।

यवन, शक, कुशाण, हूण आदि विदेशी व विधर्मी जातियों के आक्रमणों के समय

भारत में स्त्रियों की दशा में कि प्रकार हीनता आनी प्रारम्भ हुई, इस विषय पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। इसी समय में भारत में बालविवाह की प्रथा का प्रारम्भ हुआ, और साथ ही परदा प्रथा का भी। तुर्क-अफगान युग में बालविवाह और परदा प्रथा में और भी अधिक वृद्धि हुई, और उद्दण्ड मुसलिम सैनिकों तथा राजकर्मचारियों के भय से हिन्दू लोग बचपन में ही अपनी बालिकाओं का विवाह करने लगे, ताकि माता-पिता शीघ्र ही कन्यादान का पुण्य प्राप्त कर निश्चिन्त हो जाएँ।

ब्रिटिश शासन के स्थापित होने पर उन्नीसवीं सदी में भारत में नवजागरण तथा धार्मिक सुधारण के जो आन्दोलन चले, उनमें बालविवाह के विरोध पर भी समुचित ध्यान दिया गया। इसमें महर्षि दयानन्द सरस्वती का कर्तृत्व सबसे अधिक महत्त्व का है। बालविवाह का उन्होंने प्रबल रूप से विरोध किया, और यह कहा कि "जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्या ग्रहण रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है।" (स० प्र०, तृतीय समुल्लास, पृ० ७०) 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा च रोहिणी दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला। माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥" पौराणिक साहित्य के इन श्लोकों को उद्धृत कर महर्षि ने उनका खण्डन किया है। इन श्लोकों में यह कहा गया है कि दस वर्ष की आयु के पश्चात् कन्या रजस्वला हो जाती है। उससे पहले ही उसका विवाह कर देना चाहिए। जिस कन्या का विवाह राजस्वला होने से पहले ही न हो जाए, उसके माता-पिता और बड़े भाई तीनों नरक को जाते हैं। महर्षि का मत है, कि "सोलहवें वर्ष से ले के चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से ले के अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह-बीस की स्त्री, तीस-पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है।" (सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास, पृ० ६६) ऋग्वेद भाष्य में वेदों के आधार पर भी महर्षि ने यही मत प्रतिपादित किया है—"मनुष्यों को चाहिए कि अपने पुत्रों को कम-से-कम चौबीस और अधिक-से-अधिक अड़तालीस वर्ष तक और कन्याओं को कम-से-कम सोलह और अधिक-से-अधिक चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करावें। जिससे सम्पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को पाकर वे परस्पर परीक्षा और अति प्रीति से विवाह करें जिससे सब सुखी रहें।" (ऋग्वेद भाष्य १/४५/१) अन्य वेदमन्त्रों के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए भी महर्षि ने यही मन्तव्य निरूपित किया है—"विद्याओं में प्रवृत्ति करते हुए कुमार और कुमारियों की रक्षा कर विद्या और अच्छी शिक्षा उनको दिलवाना चाहिए। बालकपन में अर्थात् पच्चीस वर्ष से भीतर पुरुष और सोलह वर्ष से भीतर स्त्री के विवाह को रोके इसके उपरान्त अड़तालीस वर्ष पर्यन्त पुरुष और चौबीस वर्ष पर्यन्त स्त्री का स्वयंवर विवाह कराकर सब के आत्मा और शरीर के बल को पूर्ण करना चाहिए (ऋग्वेद भाष्य १/११६) "सुख पाने की इच्छा करने वाले पुरुष और स्त्रियों को धर्म से सेवित ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या और युवावस्था को प्राप्त होकर अपनी तुल्यता से ही विवाह करना योग्य है अथवा ब्रह्मचर्य ही में ठहर कर सर्वदा स्त्री-पुरुषों को अच्छी शिक्षा करना योग्य है क्योंकि तुल्य गुण, कर्म, स्वभाव वाले स्त्री-पुरुषों के बिना गृहाश्रम को धारण करके कोई किञ्चित् भी सुख वा उत्तम सन्तान को प्राप्त होने में समर्थ नहीं होते, इससे इसी प्रकार विवाह करना चाहिए।" (ऋग्वेद १/११२/१६) इस

मन्त्र द्वारा महर्षि ने यह प्रतिपादित करते हुए कि ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर पूर्ण विद्या प्राप्त कर चुकने और युवा हो जाने के पश्चात् ही स्त्री-पुरुषों को विवाह करना चाहिए, यह भी बलपूर्वक कहा है कि विवाह बन्धन में बँधते हुए स्त्री-पुरुषों को समान गुण, कर्म, स्वभाव का होना आवश्यक है। गुण, कर्म, स्वभाव की तुल्यता को महर्षि ने इतना अधिक महत्त्व दिया है कि अनमेल विवाह की अपेक्षा तो अविवाहित रह जाना ही अधिक अच्छा है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए मनुष्यों को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पारिवारिक उत्तरदायिता के निर्वाह के लिए आवश्यक धन की सुविधा भी उनके पास है या नहीं। अपने इस मन्तव्य को महर्षि ने यजुर्वेद के एक मन्त्र के भावार्थ में इस प्रकार प्रकट किया है—"ब्रह्मचर्य से शुद्ध शरीर सद्गुण सद्विद्यायुक्त होकर विवाह की इच्छा करने वाले कन्या और पुरुष युवावस्था को पहुँच और परस्पर एक-दूसरे के धन की उन्नति को अच्छे प्रकार देखकर विवाह करें नहीं तो धन के अभाव में दुःख की उन्नति होती है।" (यजुर्वेद ८/११) महर्षि बालविवाह को इतना अधिक हानिकारक मानते थे कि उन्होंने इस प्रथा को रोकने के लिए राजशक्ति के प्रयोग का भी परामर्श दिया है। राजसभा द्वारा जिन प्रयोजनों के लिए कानून बनाने चाहिएँ, उनमें महर्षि ने बाल्यावस्था में विवाह को रोकना भी सम्मिलित किया है। (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २५-२६)। यजुर्वेद के एक मन्त्र के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए भी महर्षि ने कहा है कि "राजपुरुषों को चाहिए कि अपने व प्रजा के बालकों, कुमार और गौ, घोड़े आदि वीर, उपकारी जीवों की कभी हत्या न करें और बाल्यावस्था में विवाह कर व्यभिचार से अवस्था की हानि भी न करें।" (यजुर्वेद १६/१६)।

बालविवाह के साथ-साथ महर्षि ने अनमेल विवाह का भी प्रबल शब्दों में विरोध किया है। उनका मन्तव्य था कि जिन स्त्री-पुरुषों का विवाह हो, विद्या, कुल, रूप, शरीर, धन, गुण, कर्म, स्वभाव आदि में उन्हें तुल्य होना चाहिए, और विवाह सम्बन्ध का निर्धारण माता-पिता द्वारा न किया जाकर युवक और युवती द्वारा स्वेच्छापूर्वक किया जाना उचित है। महर्षि ने स्वयंवर विवाह का समर्थन किया है। सत्यार्थप्रकाश में यह प्रश्न उठाकर कि विवाह करना माता-पिता के अधीन होना चाहिए या लड़का-लड़की के अधीन रहे, महर्षि ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—"लड़का लड़की के आधीन विवाह होना उचित है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए क्योंकि एक-दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता से विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है माता-पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ ७२)।

इसी प्रसंग में महर्षि ने आगे चलकर लिखा है—"जैसी स्वयंवर की रीति आर्यावर्त में परम्परा से चली आती है वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें, तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल और शरीर का परिमाणादि योग्य होना चाहिए। जब तक इनका मेल नहीं होता तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता।" "अच्छे प्रकार निश्चय करके ब्रह्मचर्य से विद्या, शिक्षा, शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त हो के ही विवाह करें,

इससे विरुद्ध करना वेद विरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता है।"

"जब तक इसी प्रकार सब ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के आधीन विवाह होने लगा तब से क्रमशः आर्यावर्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्ण-व्यवस्था भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ ७२, ७३, ७४)।

विवाह सम्बन्ध गुण, कर्म और स्वभाव की एक सदृशता के आधार पर तथा युवक और युवती की इच्छा के अनुसार होना चाहिए, महर्षि ने अपने इस मन्तव्य को वेदभाष्य में अनेक स्थानों पर प्रतिपादित किया है। इस विषय में उनके कुछ कथन यहाँ उद्धरण योग्य हैं—

"स्त्री और पुरुष विवाह से पहिले परस्पर एक-दूसरे की परीक्षा करके अपने समान गुण, कर्म, स्वभाव, रूप, बल, आरोग्य, पुरुषार्थ और विद्या युक्त होकर स्वयंवर विधि से विवाह करके ऐसा यत्न करें कि जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को प्राप्त हों। जिसके माता और पिता विद्वान् न हों उनके सन्तान भी उत्तम नहीं हो सकते इससे अच्छी और पूर्ण विद्या को ग्रहण करके ही गृहाश्रम के आचरण करें इसके पूर्व नहीं।" (यजुर्वेद भाष्य ८/६)।

"कन्या और वर को चाहिए कि अपनी-अपनी प्रसन्नता से कन्या पुरुष की और पुरुष कन्या की आप ही परीक्षा करके ग्रहण करने की इच्छा करे। जब दोनों का विवाह करने में निश्चय होवे तभी माता-पिता और आचार्य आदि इन दोनों का विवाह करें और ये दोनों आपस में भेद वा व्यभिचार कभी न करें। किन्तु अपनी स्त्री के नियम में पुरुष और पतिव्रता स्त्री होकर मिल कर चलें। (यजुर्वेद भाष्य ११/६४) "कन्या को चाहिए कि अपने से अधिक बल और विद्या वाले वा बराबर के पति को स्वीकार करे किन्तु छोटे वा न्यून विद्या वाले को नहीं। (यजुर्वेद भाष्य ११/७१) "स्त्री पुरुषों को चाहिए कि अच्छी प्रीति से परस्पर परीक्षापूर्वक स्वयंवर विवाह और सत्य आचरणों से सन्तानों को उत्पन्न कर बहुत ऐश्वर्य को प्राप्त हो के नित्य उन्नति पावें।" (यजुर्वेद भाष्य ८/५)।

"कुमार स्त्री पुरुष धर्मयुक्त सेवन किये ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ आप धार्मिक हो पूर्ण युवावस्था की प्राप्ति में कन्याओं की पुरुष और पुरुषों की कन्या परीक्षा कर अत्यन्त प्रीति के साथ चित्त से परस्पर आकर्षित होके अपनी इच्छा से विवाह कर धर्मानुकूल सन्तानों को उत्पन्न और सेवा से अपने माता-पिता का सन्तोष करके आप्त विद्वानों के मार्ग से निरन्तर चलें और जैसे धर्म के मार्गों को सरल करें वैसे ही भूमि, जल और अन्तरिक्ष के मार्गों को भी बनावें।" (यजुर्वेद भाष्य १५/५३)।

वेदभाष्य से लिये ये उद्धरण यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं कि महर्षि ने स्त्री और पुरुष के स्वेच्छा से, परीक्षा द्वारा स्वयं निर्णय करने, स्वयं अपना जीवन-साथी चुनने और इस प्रकार स्वयंवर विवाह करने को बहुत महत्त्व दिया है। महर्षि के अनुसार विवाह सम्बन्ध का निर्धारण माता-पिता का काम नहीं है। युवा होकर जब स्त्री और पुरुष स्वयं यह निर्धारित करने योग्य हो जाएँ कि कौन उनके गुण, कर्म और स्वभाव के

अनुरूप है और किसके साथ वे प्रीतिपूर्वक जीवन बिता सकते हैं, तब उन्हें स्वयं विवाह सम्बन्ध का निर्धारण करना चाहिए। युवक और युवती किस प्रकार अपने जीवन-साथी का चुनाव करें, इस विषय पर महर्षि ने ये विचार अभिव्यक्त किये हैं—

"जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो, अर्थात् जब एक वर्ष वा छह महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूर्ण होने में शेष रहें तब तक कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको 'फोटोग्राफ' कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें, जिस-जिस का रूप मिल जाए उस-उसके इतिहास अर्थात् जो जन्म से ले के उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का पुस्तक हो उसको अध्यापक लोग मँगवा के देखें, जब दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव सदृश हों तब जिस-जिसके साथ जिस-जिसका विवाह होना योग्य समझें उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो सो हमको विदित कर देना। जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय तब उन दोनों का समावर्तन एक ही समय में होवे। जो वे अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहाँ, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिख के एक-दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें। जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाय तब से उनके खानपान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए कि जिससे उनका शरीर जो पूर्व ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल होता है वह चन्द्रमा की कला के समान बढ़ के थोड़े ही दिनों में पुष्ट हो जाय।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ ८२)।

यह सन्दर्भ अपने आप में पूर्णतया स्पष्ट है। इसमें महर्षि ने एक ऐसी क्रियात्मक विधि का प्रतिपादन किया है, जिसके युवक और युवती को स्वेच्छापूर्वक विवाह सम्बन्ध निर्धारित करने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है, पर साथ ही उन्हें वह सब सामग्री (जन्म से लगातार पूरा रिकार्ड) भी प्रदान कर दी जाती है जिससे वे यह निश्चय कर सकते हैं कि कौन व्यक्ति गुण, कर्म, स्वभाव, शरीर, रूप आदि से उनके योग्य है। उन्मुक्त प्रेम से मनुष्य धोखा खा सकते हैं। अतः महर्षि ने युवक-युवती के परस्पर परिचय की ऐसी विधि लिखी है, जिससे वे मर्यादा में रहते हुए स्वेच्छापूर्वक अपने जीवन-साथी को चुन सकते हैं। वर या वधू के चुनाव के सम्बन्ध में अध्यापक लोग अपने शिष्यों का मार्गदर्शन अवश्य करें और उन्हें समुचित परामर्श भी दें, पर युवक किस युवती से और युवती किस युवक से विवाह करे, इसका अन्तिम निर्णय उन्हीं के हाथों में रहना चाहिए।

जो पुरुष और स्त्री पूर्ण युवक और युवती होकर तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास कर चुकने पर स्वेच्छापूर्वक (स्वयंवर विधि से) विवाह करें, महर्षि के अनुसार उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय एक प्रतिज्ञा करनी चाहिए। इसे महर्षि के अपने शब्दों में उद्धृत करना उपयोगी है—"हे स्त्रि! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिए तेरा हस्त ग्रहण करता हूँ, और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो काम तुझको अप्रिय होगा उसको मैं कभी न करूँगा। ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा, उसको मैं कभी न करूँगी। और हम दोनों व्यभिचारादि दोष रहित होके वृद्धावस्था

पर्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा। जो ऐश्वर्यवान्, सब जीवों के पाप-पुण्य के फलों को देने वाला, सब जगत् को उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देने वाला, तथा सब जगत् का धारण करने वाला परमेश्वर है, वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है। तथा परमेश्वर और विद्वानों ने मुझको तेरे लिए और तुझको मेरे लिए दिया है, कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे, तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह करेंगे, और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म में ही वर्तेंगे। सब जगत् का उपकार करने के लिए सत्यविद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिक्षित करेंगे, इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे। हे विद्वान् लोगो ! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिए विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति नहीं मानूँगी। तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूँगा।" (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृ० २४०) वैवाहिक जीवन का इससे सुन्दर आदर्श हो ही नहीं सकता। विवाह के समय वर और वधू जो प्रतिज्ञा करते हैं; उसका पालन न करने पर उन्हें दण्ड भी दिया जाना चाहिए, महर्षि का यह मन्तव्य था। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में उन्होंने लिखा है—"यद्यावां प्रतिज्ञोल्लंघनं कुर्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेति।" (पृ० २३९) इसका अर्थ यह है कि यदि हम दोनों विवाह के समय की गई इस प्रतिज्ञा का उल्लंघन करें, तो हमें परमेश्वर द्वारा और विद्वानों द्वारा दण्ड दिया जाए। विद्वानों से महर्षि का अभिप्राय सम्भवतः विद्यासभा या धर्मसभा से है। पर उनका यह मन्तव्य सुस्पष्ट है कि एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त रहने की प्रतिज्ञा का पालन न करने पर पति-पत्नी को राज्यसंस्था के उपयुक्त विभाग द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिए।

(२) विधवा विवाह, नियोग और बहु विवाह

उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज में विधवाओं की संख्या बहुत अधिक थी। बालविवाह की प्रथा के कारण बहुत-सी कन्याएँ बचपन में ही विधवा हो जाती थीं, और उन्हें अपना सम्पूर्ण जीवन पति के बिना अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त रूप से बिताना पड़ता था। राजा राममोहन राय आदि जो अनेक सुधारक उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में बंगाल में सामाजिक बुराइयों को दूर करने के प्रयत्न में थे, विधवाओं की दुर्दशा की ओर उनका भी ध्यान गया था और उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में आन्दोलन किया था। महर्षि दयानन्द सरस्वती का ध्यान भी इस ओर गया, और उन्होंने इस समस्या के समाधान के लिए जो विचार प्रस्तुत किए, वे अत्यन्त महत्त्व के हैं।

भारत में विधवाएँ दो प्रकार की हैं, बाल-विधवाएँ जिनके पति की मृत्यु बाल्यावस्था में ही हो जाए और युवती होने से पहले ही जो विधवा हो जाएँ। दूसरी प्रकार की विधवाएँ वे हैं जो पति के साथ सहवास कर चुकी हों और जो युवती होने के पश्चात् विधवा हुई हों। पहले प्रकार की विधवाओं—बाल-विधवाओं के लिए महर्षि के मत में पुनर्विवाह होना सर्वथा उचित है। महर्षि के शब्दों में, "जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहण

मात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री अक्षतवीर्य पुरुष हो उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ० ९९, १००) महर्षि के समय में विधवाओं की बहुत बड़ी संख्या बालविधवाओं की ही थी। उनके लिए पुनर्विवाह का विधान कर उन्होंने उनकी समस्या का सुचारु रूप से समाधान कर दिया था। महर्षि यह मानते थे कि विधवाओं की समस्या का मूल कारण बाल-विवाह की प्रथा है। पूना में व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा था—"प्राचीन आर्य लोग पूर्ण युवावस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करते थे, बाल-विवाह का उस समय कोई नाम तक नहीं जानता था। विधवा-विवाह का प्रचार केवल शूद्रों में था।" (बारहवाँ व्याख्यान, उपदेश मंजरी, पृष्ठ १३७) जो पुरुष और स्त्री गुरुकुलों में ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास कर विद्याध्ययन के अनन्तर पूर्ण युवावस्था को प्राप्त होने पर विवाह करेंगे, उनसे यह आशा की जा सकती है कि उनकी अकाल मृत्यु नहीं होगी और वे पूर्ण आयु भोगेंगे। ऐसे विवाहों में वैधव्य की समस्या कभी अपवाद रूप से ही उत्पन्न होगी। पर जिन बालकों और बालिकाओं का कच्ची आयु में ही विवाह हो जाए, जिन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताकर शारीरिक बल और मानसिक योग्यता को प्राप्त करने का कोई प्रयत्न न किया हो, उनमें इस बात की सम्भावना बहुत अधिक हो सकती है कि उनमें से किसी एक की मृत्यु युवावस्था तक पहुँचने से पूर्व ही हो जाए। बाल-विधवाओं की संख्या के अत्यधिक होने तथा विधवा हो जाने पर उनके असहाय व दुर्दशाग्रस्त हो जाने का यही कारण था। महर्षि के समय में इन विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता था, जिसके दुष्परिणामों को उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है—"आजकल के आर्यों में जो-जो भ्रष्टाचार फैला हुआ है, वह आप लोग देख ही रहे हैं। हजारों गर्भ गिराए जाते हैं, भ्रूण हत्याएँ होती हैं। एक गर्भ गिराने से एक ब्रह्महत्या का पाप होता है। सोचो कि इस देश में कितनी ब्रह्महत्यायें प्रतिदिन होती हैं। क्या कोई उनकी गणना कर सकता है ? इन सब पापों का बोझ हमारे सिर पर है।...देवालयों, मठों और मन्दिरों में पाप की भरमार हो रही है। न जाने कितने गर्भ गिराये जाते होंगे। यह पाप, दुराचार और अनर्थ का समय बन रहा है।" (उपदेश मंजरी, पृष्ठ १४०)।

जिन बाल-विधवाओं के कारण ये सब अनर्थ होते हैं, उनके लिए महर्षि ने स्पष्ट रूप से पुनर्विवाह का विधान किया है। जो स्त्री बचपन में ही विधवा हो जाए, जो अक्षतयोनि हो, जिसने पति से कभी संभोग न किया हो, उनके पुनर्विवाह की महर्षि ने अनुमति प्रदान की है। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में जो लाखों विधवाएँ अपने पितृकुल और पतिकुल दोनों की दृष्टि में अवांछनीय होकर देवालयों, मठों और मन्दिरों में जाकर आश्रय ग्रहण करने के लिए विवश होती थीं और वहाँ दुराचारियों के चंगुल में फँस कर पाप का जीवन बिताती थीं, उनमें बहुत बड़ी संख्या बाल-विधवाओं की ही होती थी। महर्षि के मत में ऐसी बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह सर्वथा समुचित, शास्त्रानुमोदित तथा धर्मानुकूल है। ऐसी विधवाएँ चाहे किसी भी वर्ण की हों, उनके कुल की स्थिति चाहे कितनी ही ऊँची हो, महर्षि के मत में उन्हें पुनर्विवाह कर गृहस्थ जीवन बिताना चाहिए।

पर ऐसी भी विधवाएँ हो सकती हैं जो युवती होने के पश्चात् विधवा हुई हों, जो क्षतयोनि हों, जो पति के साथ संभोग कर चुकी हों। ऐसी विधवाओं के लिए महर्षि के मत में पुनर्विवाह उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में महर्षि ने द्विजों और शूद्रों में भेद

किया है। उनके मन्तव्य के अनुसार "ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री, और क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ १००) पर क्षतयोनि शूद्र स्त्री और क्षतवीर्य शूद्र पुरुष पुनर्विवाह कर सकते हैं। पूना के व्याख्यान में भी महर्षि ने इसी विचार को प्रकट किया है। क्षतयोनि और क्षतवीर्य होने की दशा में पुनर्विवाह के सम्बन्ध में द्विजों और शूद्रों में महर्षि ने जो भेद किया है, उसका कारण सम्भवतः यह है कि महर्षि ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों (गुण-कर्मानुसार जो इन वर्णों के हों) से यह अपेक्षा करते थे कि एक बार विधुर या विधवा हो जाने पर वे पुनः गृहस्थ जीवन नहीं बिताएँगे, अपितु ब्रह्मचारी रहते हुए ही अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन करेंगे। पर शूद्रों से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसीलिए वे पुनर्विवाह कर सकते हैं।

पर सब द्विजों से भी यह आशा नहीं की जा सकती कि उनके विधुर या विधवा हो जाने पर कोई समस्या उत्पन्न नहीं होगी। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर महर्षि ने यह प्रश्न उठाया है—"जब वंशोच्छेदन हो जाय तब भी उसका कुल नष्ट हो जाएगा और स्त्री-पुरुष व्यभिचारादि कर्म करके गर्भपात आदि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे इसलिए पुनर्विवाह होना अच्छा है।" महर्षि ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार किया है—"नहीं नहीं, क्योंकि जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य में स्थित रहना चाहें तो कोई भी उपद्रव न होगा और जो कुल की परम्परा रखने के लिए किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ १००) बाल्यावस्था में वैधव्य को प्राप्त हुई द्विज स्त्रियों तथा विधुर हुए द्विज पुरुषों के अतिरिक्त अन्य द्विज विधुरों व विधवाओं के सम्मुख महर्षि के मन्तव्यानुसार निम्नलिखित विकल्प हैं—वे विवाह-बन्धन में न फँस अपना जीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक व्यतीत करें, यदि अपने वंश को चलाने या कुल को कायम रखने के लिए उन्हें सन्तान की इच्छा हो, तो वे किसी स्वजातीय बालक को गोद ले लें, पर यदि उनके लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिता सकना सम्भव न हो या वंशतन्तु का उच्छेद न होने देने के लिए वे अपनी ही सन्तान चाहें तो नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति कर लें। द्विजों के लिए महर्षि ने पुनर्विवाह के स्थान पर 'नियोग' का विधान किया है।

आधुनिक युग के लिए नियोग एक नयी बात है। पर प्राचीन काल में भारत में इसका चलन था, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। महर्षि ने स्वयं इसके उदाहरण दिये हैं—"महाभारत में व्यास जी ने विचित्रवीर्य की दोनों विधवा स्त्रियों से नियोग किया था। मनु जी ने भी नियोग की आज्ञा दी है। प्राचीन आर्य लोगों में पति के जीते-जी भी नियोग होता था, इसकी पुष्टि में महाभारत में लिखे बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। व्यास जी बड़े पण्डित और धर्मात्मा थे। उन्होंने चित्रांगद और विचित्रवीर्य की स्त्रियों से नियोग किया और इनमें से एक के गर्भ से धृतराष्ट्र और दूसरी की कुक्षि से पाण्डु उत्पन्न हुए और यह पहले ही वर्णन हो चुका है कि पाण्डु की विद्यमानता में ही उसकी स्त्री ने दूसरे पुरुषों के साथ नियोग किया था। इस प्रकार नियोग का उस समय प्रचार था।" (उपदेश मंजरी, पृष्ठ १३९-४०) सत्यार्थप्रकाश में महर्षि ने नियोग के समर्थन में ऋग्वेद तथा मनुस्मृति से भी अनेक प्रमाण दिए हैं।

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

ऋग्वेद के दसवें मण्डल (४०/२) के इस मन्त्र को उद्धृत कर महर्षि ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है––"हे स्त्री पुरुषो ! जैसे देवर को विधवा और विवाहिता स्त्री अपने पति को समान स्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानोत्पत्ति को, सब प्रकार से उत्पन्न करती है वैसे तुम दोनों स्त्री-पुरुष कहाँ रात्रि और कहाँ दिन में बसे थे ? कहाँ पदार्थों की प्राप्ति की ? और किस समय कहाँ वास करते थे ? तुम्हारा शयनस्थान कहाँ है ? तथा कौन वा किस देश के रहने वाले हो ।" इससे यह सिद्ध होता है कि देश-विदेश में स्त्री-पुरुष संग में ही रहें। और विवाहित पति के समान नियुक्त पति को ग्रहण करके विधवा स्त्री भी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे। (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ १०३-१०४)।

नियोग के सम्बन्ध में मनुस्मृति का मन्तव्य भी सर्वथा स्पष्ट है। वहाँ से दो श्लोक (९/५८,५९) उद्धृत कर महर्षि ने उनके अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"पति की छह पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए परन्तु जो वह मृतस्त्रीक पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है। और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे। जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी पुनः वे नियुक्त आपस में समागम करें तो पतित हो जाएँ।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ १०५,१०६) महर्षि ने नियोग के समर्थन में वेदशास्त्रों से अन्य भी अनेक प्रमाण दिये हैं, और प्राचीन इतिहास से उदाहरण देकर यह भी कहा है कि प्राचीन भारत में नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति की भी जाती थी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने विधवाओं और विधुरों के पुनर्विवाह के विकल्प के रूप में नियोग को प्रतिपादित कर एक अत्यन्त नवीन एवं क्रान्तिकारी पग उठाया है। भारत में अत्यन्त प्राचीन काल में नियोग का चलन था, यह निर्विवाद है। पर चिरकाल से यह प्रयुक्त नहीं हुआ, यह भी तथ्य है। यद्यपि मनुस्मृति में नियोग का विधान विद्यमान है, पर वहाँ भी कलियुग में इसे वर्जित व निषिद्ध माना गया है। इस दशा में महर्षि ने नियोग का जो प्रबल रूप से समर्थन किया, निःसन्देह उसे एक मौलिक व क्रान्तिकारी विधान कहा जा सकता है।

विवाह और नियोग के भेद को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। युवक और युवती विवाह इस प्रयोजन से करते हैं, ताकि वे जीवनपर्यन्त एक-दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार हों, साथ मिलकर धर्मानुष्ठान करें, उनके शरीर और मन एक हों, वे सच्चे अर्थों में सह-धर्मा होकर रहें और सन्तान उत्पन्न कर अपने वंश व कुल की वृद्धि करें। विवाह सम्बन्ध स्थायी होता है। इसके विपरीत पुरुष और स्त्री का नियोग द्वारा जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह स्थायी न होकर सामयिक होता है और उसकी स्थापना एक निश्चित उद्देश्य से की जाती है, केवल सन्तान की प्राप्ति के लिए। ऊपर से देखने पर नियोग की बात दुरा-चार प्रतीत होती है। महर्षि ने स्वयं आशङ्का की है, कि "हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है" और "परन्तु वह वेश्या के सदृश कर्म दीखता है।" नियोग पर ये आपत्तियाँ उठाकर महर्षि ने इनका समाधान भी किया है। उनका कथन है, कि "वेश्या के

समागम में किसी निश्चित पुरुष वा कोई नियम नहीं है और नियोग में विवाह के समान नियम हैं। जैसे दूसरे को लड़की देने, दूसरे के साथ समागम करने में विवाहपूर्वक लज्जा नहीं होती वैसे ही नियोग में भी न होनी चाहिए।...जो नियोग की बात में पाप मानते हो तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते ? पाप तो नियोग को रोकने में है, क्योंकि ईश्वर के सृष्टि-क्रमानुकूल स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान् पूर्ण विद्वान् योगियों के। क्या गर्भपातनरूप भ्रूण हत्या और विधवा स्त्री और मृत-पत्नीक पुरुषों के महासंताप को पाप नहीं गिनते हो ? क्योंकि जब तक वे युवावस्था में हैं मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होने वालों को किसी राज-व्यवहार वा जाति-व्यवहार के रुकावट होने से गुप्त कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं। इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह या नियोग भी न करें तो ठीक है। परन्तु जो ऐसे नहीं हैं उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए। इससे व्यभिचार का न्यून होना, प्रेम से उत्तम सन्तान उत्पन्न होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है। नीच पुरुषों से उत्तम स्त्री और वेश्यादि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूपी कुकर्म, उत्तम कुल में कलंक, वंश का उच्छेद, स्त्री-पुरुषों को संताप और गर्भहत्यादि कुकर्म विवाह और नियोग से निवृत्त होते हैं, इसलिए नियोग करना चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ १०२)।

नियोग के पक्ष में महर्षि ने जो युक्तियाँ दी हैं, उन पर कुछ और अधिक प्रकाश डालना उपयोगी है। जिन स्त्री-पुरुषों का विवाह न हुआ हो, उनमें शारीरिक सम्पर्क व सम्भोग धर्म की दृष्टि से पाप माना जाता है और सामाजिक दृष्टि से अनुचित। पर विवाह संस्कार के होते ही स्त्री और पुरुष शारीरिक सम्पर्क करने तथा सम्भोग करने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। समाज की दृष्टि में यह सर्वथा समुचित होता है और शास्त्र भी इन्हें 'धर्म्य' (धर्मानुकूल) प्रतिपादित करते हैं। कुटुम्बीजनों एवं जनता के सम्मुख जब विधिवत् पाणिग्रहण हो चुकता है, तब स्त्री-पुरुष में सम्पर्क व सम्भोग पाप न होकर 'धर्म्य' हो जाता है। यही बात नियोग के सम्बन्ध में सत्य है। विवाह परिवार तथा समाज की अनुमति से सबके सम्मुख किया जाता है, सब कोई उससे प्रसन्नता अनुभव करते हैं। इसी प्रकार यदि नियोग भी कुटुम्बीजनों की सहमति से समाज के सम्मुख किया जाए, और उसके लिए सुनिश्चित विधि का अनुसरण किया जाए, तो उसे अनुचित या पाप कैसे कहा जा सकता है ? समाज व परिवार की मर्यादाओं में देश और काल के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। उनके सम्बन्ध में मनुष्यों की जो मान्यताएँ होती हैं, वे भी सदा एक-सी नहीं रहतीं। अतः यदि विशेष परिस्थितियों में, जिन्हें महर्षि ने 'आपत्काल' कहा है, नियोग द्वारा सन्तान की उत्पत्ति कर ली जाए, तो यह उचित ही होगा अनुचित नहीं। विवाह के भी कुछ नियम होते हैं, उसकी भी एक मर्यादा होती है। उन नियमों के अधीन रहते हुए तथा निर्धारित मर्यादा का पालन करते हुए यदि स्त्री-पुरुष परस्पर सम्बन्ध रखेंगे, तो समुचित होगा। इसी प्रकार नियोग के भी निश्चित नियम हैं, सुनिर्धारित मर्यादा है। उनका पालन करते हुए यदि स्त्री और पुरुष परस्पर सम्बन्ध रखें, तो उसे अनुचित कदापि नहीं कहा जा सकता। महर्षि ने इसी युक्ति परम्परा से नियोग का समर्थन किया है।

वे कौन-सी परिस्थितियाँ व आपत्काल हैं, जिनमें नियोग समुचित व धर्मानुकूल है? यदि युवा पुरुष विधुर हो जाए या युवती स्त्री विधवा हो जाए, तो उन्हें अधिकार है कि वे नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सकें। पर नियोग सम्बन्ध केवल सन्तान के लिए है, विषयभोग या ऐन्द्रिय सुख के लिए नहीं। इसीलिए महर्षि ने लिखा है "महीने-महीने में एक बार ही गर्भाधान के प्रयोजन से नियोग द्वारा स्त्री-पुरुष को सम्भोग करना चाहिए और जब स्त्री को गर्भ रह जाए, तो एक वर्ष पर्यन्त उन्हें एक-दूसरे से पृथक् रहना चाहिए।" यदि सन्तान प्राप्ति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन (यथा ऐन्द्रिय सुख के लिए) से नियोग के अधीन स्त्री-पुरुष सम्भोग करें, तो महर्षि के अनुसार वे न केवल पाप के भागी होंगे, अपितु राज्य और जाति द्वारा दण्डनीय भी होंगे। विधवा तथा विधुर हो जाने के अतिरिक्त अन्य भी कतिपय ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनमें सन्तान की प्राप्ति के लिए नियोग का आश्रय लिया जा सकता है। यदि रोग, नपुंसकता आदि कारणों से पति सन्तान उत्पन्न करने के योग्य न हो, और इसी प्रकार यदि पत्नी गर्भ धारण करने में असमर्थ हो, तो दोनों को अधिकार है कि वे नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त कर सकें। चिर-काल तक पति के परदेश गये होने की दशा में भी स्त्री नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सकती है। महर्षि ने लिखा है कि "विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या कीर्ति के लिए गया हो तो छह और धनादि कमाने के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक बाट देखने के पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर ले, जब विवाहित पति आवे तो नियुक्त पति छूट जावे। वैसे ही पुरुष के लिए भी नियम है कि बन्ध्या हो तो आठवें (विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री को गर्भ न रहे), सन्तान होकर मर जावे तो दसवें, जब-जब हो तब-तब कन्या ही होवें पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्ष तक और जो अप्रिय बोलने वाली हो तो सद्यः उस स्त्री को छोड़ के दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे। वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो तो स्त्री को उचित है कि उसको छोड़ के दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति से दायभागी सन्तान कर लेवे। (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ १०७)।

नियोग द्वारा स्त्री और पुरुष कितनी सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं, इस सम्बन्ध में भी महर्षि ने कतिपय नियम प्रतिपादित किए हैं। सामान्यतया, स्त्री और पुरुष दोनों अपने-अपने लिए दो-दो तक सन्तानें नियोग द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी हैं। क्योंकि नियोग का प्रयोजन केवल सन्तान का उत्पादन है, अतः यदि इच्छित सन्तान की प्राप्ति के पश्चात् भी नियुक्त (नियोग सम्बन्ध से बद्ध) स्त्री-पुरुष सम्भोग करें, तो उनका ऐसा करना सर्वथा अनुचित व निन्दनीय होगा। महर्षि के शब्दों में "नियोग सन्तान के लिए ही है, पशुवत् कामक्रीड़ा के लिए नहीं।"

नियोग द्वारा उत्पन्न सन्तान स्त्री की होगी या पुरुष की, इस विषय में जो नियम महर्षि ने निरूपित किए हैं, वे भी महत्त्व के हैं। स्त्री स्वयं अपने लिए सन्तान प्राप्त करने के लिए भी किसी पुरुष के साथ नियोग कर सकती है, और कोई पुरुष भी अपने लिए सन्तान प्राप्त करने के प्रयोजन से किसी स्त्री के साथ नियोग कर सकता है। पहली दशा में सन्तान स्त्री की मानी जाएगी, दूसरी दशा में पुरुष की। पति के चिर काल के लिए परदेश चले जाने की दशा में पत्नी नियोग द्वारा जिस सन्तान को उत्पन्न करेगी, वह उस स्त्री की ही होगी, और जहाँ तक कुल या वंश का सम्बन्ध है उस स्त्री द्वारा उत्पन्न सन्तान

उस विवाहित पति के कुल या बंश की ही मानी जाएगी जो परदेश चले जाने के कारण स्वयं सन्तान उत्पन्न नहीं कर सका था। यहीं बात विधवा स्त्री की उस सन्तान के सम्बन्ध में है, जिसे उसने नियोग द्वारा उत्पन्न किया हो। महर्षि के शब्दों में "जैसा 'औरस' अर्थात् विवाहित पति से उत्पन्न हुआ पुत्र पति के पदार्थों का स्वामी होता है, वैसे ही 'क्षेत्रज' अर्थात् नियोग से उत्पन्न हुए पुत्र भी मृत पिता के दायभागी होते हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ १०७) यहाँ 'मृत पिता' से वह व्यक्ति अभिप्रेत है, जो सन्तान को जन्म देने वाली माता का विवाहित पति था, और जिसकी मृत्यु के कारण विधवा को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता हुई थी।

महर्षि को यह किसी भी दशा में स्वीकार्य नहीं है कि विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष का और कुमारी स्त्री के साथ मृतस्त्रीक (विधुर) पुरुष का विवाह हो। महर्षि की सम्मति में विधवा और विधुर के लिए यही उचित है कि वे पुनर्विवाह न कर नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करें। वे नियोग को न केवल व्यभिचार नहीं मानते, अपितु उसे धर्मानुकूल प्रतिपादित करते हैं। उन्होंने लिखा है कि "जैसे बिना विवाहितों का व्यभिचार होता है वैसे बिना नियुक्तों का व्यभिचार कहाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा नियम से विवाह होने पर व्यभिचार नहीं कहाता तो नियमपूर्वक नियोग होने से व्यभिचार न कहावेगा। जैसे दूसरे की कन्या का दूसरे के कुमार के साथ शास्त्रोक्त विधिपूर्वक विवाह होने पर समागम में व्यभिचार वा पाप लज्जा नहीं होती वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार पाप लज्जा न मानना चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ० १०१)।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने द्विज विधवाओं और विधुरों के लिए पुनर्विवाह के स्थान पर जो नियोग का प्रतिपादन किया है, वह मनुष्यों की वर्तमान मान्यताओं के अनुकूल नहीं है। इसके औचित्य को स्वीकार करने में बहुत-से विचारक संकोच करते हैं। पर दयानन्द सरस्वती ऋषि थे। जो अपने युग से आगे देख सकें, जो क्रान्तदर्शी हों, जिनकी दृष्टि सुदूर को देख सकती हो, उन्हें ही ऋषि कहा जाता है। ऐसा समय आ सकता है, जबकि नियोग को पुनर्विवाह की तुलना में अधिक उपयोगी माना जाने लगे। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों में जो नयी प्रवृत्तियाँ प्रादुर्भूत हो रही हैं, वे उन्हें उच्छृंखलता की ओर ले जा रही हैं। भारत में भी उन प्रवृत्तियों का प्रवेश होने लगा है। लैंगिक सम्बन्ध को मर्यादित करना मानव समाज के कल्याण के लिए परमावश्यक है। महाभारत की एक कथा के अनुसार एक ऐसा समय भी था, जब विवाह संस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, उस समय स्त्रियाँ 'स्वेच्छाचार विहारिण्यः' (स्वेच्छापूर्वक जिस किसी से विहार या सम्भोग करने वाली) हुआ करती थीं। बाद में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को विवाह द्वारा मर्यादित किया गया। महर्षि के मन्तव्य के अनुसार स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को दो प्रकार से मर्यादित किया जा सकता है, विवाह द्वारा और नियोग द्वारा। पर द्विजों में विवाह केवल एक ही बार होता है। महर्षि के शब्दों में, "द्विजों में स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह वेदादि शास्त्रों में लिखा है, द्वितीय बार नहीं।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ १०३) यदि पति और पत्नी पूर्णायु प्राप्त करें, दोनों स्वस्थ रहें, और प्रायशः एक साथ रहते हुए जीवनयापन करें, तो उनमें से किसी को 'स्वेच्छाचारविहारी' होने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर यह भी सम्भव है, कि पति पत्नि में से किसी एक की अकाल मृत्यु हो जाए, या कोई एक चिररोगी हो जाए, या सुदीर्घ काल के लिए परदेश चला जाए, तो

इन दशाओं में वही परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसमें स्वेच्छाचार विहारिता की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत होने लगती है। उसे भी मर्यादित व नियन्त्रित करना आवश्यक है। इसी के लिए महर्षि ने नियोग का प्रतिपादन किया है। नियोग एक सामयिक समस्या के समाधान का सामयिक उपाय है। पाश्चात्य संसार में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में जो उच्छृंखलता वर्तमान समय में बढ़ रही है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह मानना असंगत नहीं है कि ऐसा समय भी आ सकता है जब विशेष परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हो सकने वाली स्त्री-पुरुषों की सम्भावित 'स्वेच्छाचार विहारिता' को मर्यादित करने के लिए नियोग की उपयोगिता को सब विचारक स्वीकार करने लगें।

पर महर्षि यह जानते थे, कि नियोग का प्रचार बहुत सुगम नहीं है। साथ ही, विधवाओं की दुर्दशा का भी उन्हें भली भाँति परिज्ञान था। अतः यदि वे विधवाओं के पुनर्विवाह का विरोध कर नियोग पर ही जोर देते रहते, तो सम्भवतः विधवाओं के प्रति न्याय न होता। इसी कारण नियोग के प्रतिपादक होते हुए भी उन्होंने विधवा विवाह का विरोध करना उचित नहीं समझा। पूना के एक व्याख्यान में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था, कि "विधवा विवाह से जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवा विवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है। पर यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं, क्योंकि वह न्यायकारी है। उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे।" (उपदेशमंजरी, पृष्ठ १६७) सहारनपुर में निवास करते हुए महर्षि ने मुंशी चण्डीप्रसाद के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भी विधवा विवाह का समर्थन किया था। वेद के दृष्टिकोण से विधवा स्त्री अथवा विधुर पुरुष का (पुनः) विवाह उचित है या नहीं, इस प्रश्न का महर्षि ने यह उत्तर दिया था—"विधवा स्त्री का पुनर्विवाह होना चाहिए और पुरुष अपनी स्त्री के जीवित रहते हुए दूसरे विवाह का पात्र नहीं है, परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसको अधिकार है कि वह पुनः विवाह चाहे करे वा न करे। ऐसा ही अधिकार विधवा स्त्री को भी होना चाहिए।" (महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, आ० स० नयाबाँस, पृष्ठ ३०५) इसमें सन्देह नहीं कि क्रियात्मक दृष्टि को सम्मुख रखकर महर्षि ने यह उचित समझा था कि विधवा विवाह का न केवल विरोध न किया जाए, अपितु पुरुषों के समान उन्हें भी पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान की जाए। यही कारण है, जो आर्यसमाज विधवा विवाह का पक्षपाती है, और इसके लिए उस द्वारा प्रयत्न भी किया जाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती बहुविवाह के विरोधी थे। उनका यह स्पष्ट मत है कि स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह शास्त्रानुकूल है। दूसरे विवाह की अनुमति न वे विधवा को देते हैं, और न विधुर को। इस दशा में स्त्री के जीवित होते हुए पुरुष के लिए दूसरा विवाह कर सकने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

(३) अस्पृश्यता या अछूतपन की समस्या

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में जनता के एक अच्छे बड़े भाग को अस्पृश्य माना जाता था। आज भी भारत के जनसमाज की यही दशा है। अछूतों या दलितों की दशा को सुधारने के लिए महर्षि ने जो विचार प्रतिपादित किये हैं, उनके मूल में यह बात काम कर रही है, कि समाज में मनुष्य की स्थिति उसके गुण, कर्म के अनुसार होनी चाहिए,

और सबको शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर दिया जाना चाहिए। महर्षि के अनुसार जिन लोगों को शूद्र या अतिशूद्र समझा जाता है, उनकी सन्तान को भी शिक्षा के लिए वे ही सुविधाएँ प्राप्त होंगी, जो कुलीन-से-कुलीन तथा उच्च-से-उच्च स्थिति के माता-पिता की सन्तान को प्राप्त हों। इस दशा में कोई मनुष्य अस्पृश्य रह ही कैसे सकता है। शिक्षा प्राप्त कर सब अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य प्राप्त करेंगे, और जन्म या कुल के आधार पर किसी को बड़ा या छोटा नहीं माना जाएगा। कुछ लोग ऐसे भी अवश्य होंगे, जो शिक्षा का समुचित अवसर प्राप्त करके भी मूर्ख व अयोग्य रह जाएँगे। इन्हीं को महर्षि ने शूद्र वर्ग के अन्तर्गत किया है। ये शारीरिक श्रम तथा अन्य वर्णों की सेवा कर अपने जीवन का निर्वाह करेंगे। पर इन्हें भी समाज का अंग माना जाएगा, और इनकी स्थिति भी हीन नहीं होगी, क्योंकि समाज के लिए इनका भी उपयोग है। इसीलिए महर्षि ने लिखा है कि "चारों वर्णों को परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख, दुःख, हानि, लाभ में ऐकमत्य रह कर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन, मन, धन का व्यय करते रहना।" (सत्यार्थ-प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ ६६) भारत के प्राचीन विचारक समाज को एक शरीर (Organism) के रूप में प्रतिपादित करते थे। शरीर में सिर की भी आवश्यकता है, बाहुओं की भी, पेट की भी और पैरों की भी। सब अंगों तथा सम्पूर्ण शरीर का हित कल्याण सब अंगों के योगक्षेम पर आधारित है। समाज रूपी शरीर में शूद्र पादस्थानीय हैं पर उनका उपयोग भी अत्यधिक है, अतः उन्हें भी समुचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। महर्षि को भी यही मत स्वीकार्य है। इसीलिए उन्होंने समाज में शूद्रों की स्थिति को भी समुचित महत्त्व दिया है। उन्होंने शूद्रों के विषय में लिखा है—"शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अति प्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से अपनी उपजीविका कर, और द्विज लोग उसके खान, पान, वस्त्र, स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब कुछ देवें। अथवा मासिक कर देवें।" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ ६६) जिन शूद्रों को द्विजों के घर में सेवा कार्य करना हो, उनका भोजन बनाना हो, वे अस्पृश्य कैसे समझे जा सकते हैं। महर्षि के मत में रसोई बनाना शूद्र का ही कार्य होना चाहिए। "द्विज अपने हाथ से रसोई बना के खावें वा शूद्र के हाथ की बनाई खावें?" यह प्रश्न उठाकर महर्षि ने इसका यह उत्तर दिया है—"शूद्र के हाथ की बनाई खावें, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्य-पालन और पशुपालन, खेती, व्यापार के काम में तत्पर रहें।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५२) महर्षि के अनुसार शूद्र अस्पृश्य नहीं है, और वस्तुतः किसी भी मनुष्य को अछूत मानना किसी भी दृष्टि से समुचित नहीं है। पर जो लोग मद्य आदि अपेय तथा अखाद्य पदार्थों का सेवन करेंगे, उनके शरीर में दुर्गन्धादि दोष उत्पन्न हो जायेंगे। महर्षि के मत में ऐसे लोगों के हाथ का बना भोजन अखाद्य होता है।

जिस रूप में महर्षि ने चातुर्वर्ण्य का प्रतिपादन किया है, उसमें कोई भी अछूत नहीं रह सकता। उनकी दृष्टि में अस्पृश्यता की समस्या का यही समाधान है।

(४) विदेश यात्रा

प्राचीन काल में आर्य लोग धर्म प्रचार, व्यापार और उपनिवेश बसाने आदि कार्यों के लिए विदेशों में दूर-दूर तक आया-जाया करते थे। बहुत प्राचीन समय की बात

जाने दीजिए, बौद्ध काल तथा उसके बाद बारहवीं सदी व उसके कुछ समय पश्चात् तक भी आर्य लोग समुद्र यात्रा में कोई पाप या अनौचित्य नहीं मानते थे। राजा अशोक के समय में बौद्ध धर्म का देश-देशान्तर में प्रचार करने के लिए जिन अनेक प्रचारक-मण्डलियों का आयोजन आचार्य उपगुप्त द्वारा किया गया था, वे लंका, मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया और बरमा आदि सर्वत्र प्रचार के लिए गई थीं। व्यापार के लिए समुद्र मार्गों द्वारा दूर-दूर तक यात्रा करने वाले साहसी व्यापारियों की कितनी ही कथाएँ जातक ग्रन्थों, कथासरित्सागर आदि में विद्यमान हैं। मध्य एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीयों द्वारा उपनिवेश बसाये गए थे। शैव और वैष्णव आचार्यों ने भी विदेशों में अपने धर्मों का प्रचार किया था। पर उन्नीसवीं सदी तक आर्यों का इतना पतन हो गया था, कि वे समुद्र-यात्रा करने और विदेश जाने को पाप व अनुचित मानने लगे थे। बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक भी उनकी मनोवृत्ति में विशेष परिवर्तन नहीं आया था। कितनी ही जातियों व बिरादरियों में यह प्रथा थी, कि विदेश गये व्यक्ति को जाति व बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया जाता था, और अनेक प्रकार से प्रायश्चित्त कराने तथा दण्ड देने के बाद ही उसे फिर से बिरादरी में सम्मिलित किया जाता था। यह प्रथा उन जातियों में विशेष रूप से प्रचलित थी, जो सम्भ्रान्त व कुलीन समझी जाती थीं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई और विदेश यात्रा का प्रबल रूप से समर्थन किया। "आर्यावर्त देशवासियों का आर्यावर्त देश से भिन्न-भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है वा नहीं?" यह प्रश्न उठाकर उन्होंने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—"यह बात मिथ्या है, क्योंकि जो बाहर-भीतर की पवित्रता करनी, सत्यभाषणादि आचरण करना है वह जहाँ कहीं करेगा आचार और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा, और जो आर्यावर्त में रह कर भी दुष्टाचार करेगा वही धर्म और आचार-भ्रष्ट कहावेगा।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृ० २५०-५१) यदि विदेश जाने से मनुष्य के आचारभ्रष्ट होने व धर्माचरण न कर सकने की आशंका की जाए, तो महर्षि का यह कथन है कि मनुष्य आर्यावर्त में रहता हुआ भी धर्मविरुद्ध आचरण कर दुष्टाचार में प्रवृत्त हो सकता है। यह कठिन नहीं है कि कोई व्यक्ति विदेश में निवास करता हुआ भी धर्मानुकूल सदाचार का जीवन बिता सके। अपने मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए महर्षि ने लिखा है—"सो प्रथम आर्यावर्तदेशीय लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकावे और अज्ञान बढ़ने से है। जो मनुष्य देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में जाने-आने में शंका नहीं करते वे देश-देशान्तर के अनेकविध मनुष्यों के समागम रीति भाँति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय शूरवीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला जो महाभ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचारभ्रष्ट धर्महीन नहीं होते किन्तु देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं! यह केवल मूर्खता की बात नहीं तो क्या है? हाँ, इतना कारण तो है कि जो लोग माँस-भक्षण और मद्यपान करते हैं उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं इसलिए उनके संग करने से आर्यों को भी ये कुलक्षण न लग जाएँ यह तो ठीक है। परन्तु जब इनसे व्यवहार और गुणग्रहण करने में कोई भी दोष वा पाप नहीं है किन्तु इनके

मद्यपानादि दोषों को छोड़ गुणों को ग्रहण करें तो कुछ हानि नहीं। जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्खजन पाप गिनते हैं इसी से उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते, क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना अवश्य है। सज्जन लोगों को राग, द्वेष, अन्याय, मिथ्याभाषणादि दोषों को छोड़ निर्वैर प्रीति, परोपकार सज्जनतादि का धारण करना उत्तम आचार है। और यह भी समझ लें कि धर्म हमारे आत्मा और कर्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं तो हमको देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता, दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। हाँ, इतना अवश्य चाहिए कि वेदोक्त धर्म का निश्चय और पाखण्ड मत का खण्डन करना अवश्य सीख लें जिससे कोई हमको झूठा निश्चय न करा सके। क्या देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार किये बिना स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? ... पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम इनको विद्या पढ़ावेंगे और देश-देशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड जाल में न फँसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जावेगी। इसलिए भोजन छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें। हाँ, इतना अवश्य चाहिए कि मद्य, माँस का ग्रहण कदापि भूलकर भी न करें।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५१) प्राचीन समय में आर्य लोग अन्य देशों में जाया-आया करते थे, इसके अनेक उदाहरण भी महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में दिये हैं। उनके मत में पाण्डु की स्त्री माद्री ईरान के राजा की कन्या थी, और धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार (कन्धार) की राजपुत्री के साथ हुआ था। अर्जुन की पत्नी उलोपी पाताल देश (अमेरिका) की कन्या थी। महर्षि उद्दालक इसी पाताल देश के निवासी थे, जहाँ से उन्हें श्रीकृष्ण और अर्जुन युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए लाये थे। युधिष्ठिर के यज्ञ में सब देशों के राजाओं को बुलाया गया था, और उन्हें निमन्त्रण देने के लिए भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव स्वयं विविध देशों में गये थे। जब प्राचीन समय में आर्य लोग पृथिवी पर सर्वत्र जाते-आते थे, तो अब उनमें जो इस प्रथा का अन्त हो गया है, उसके लिए कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है। महर्षि के मत में पाखण्डियों ने धर्मभ्रष्टता आदि की विभीषिका उत्पन्न कर आर्यों को विदेश जाने में जो प्रतिबन्ध लगाये हैं, वे उनकी स्वार्थवृत्ति के ही परिणाम हैं। देश-देशान्तर में जाने-आने तथा समुद्र यात्रा करने के विरुद्ध जो यह कहा जाता है कि इससे मनुष्य मद्य, माँस आदि का सेवन करने लगते हैं, अपने धर्म में स्थिर नहीं रह पाते और विदेशियों की संस्कृति से प्रभावित हो जाते हैं, इसका भी महर्षि ने युक्तिपूर्वक उत्तर दिया है। उनका कथन है कि मनुष्य सदाचरण एवं धर्म से अपने देश में रहते हुए भी च्युत हो सकते हैं, और परदेश में भी अपने धर्म व आचरण पर दृढ़ रह सकते हैं। हाँ, विदेश जाने वालों को इस विषय में सावधान अवश्य रहना चाहिए।

वेदभाष्य में भी महर्षि ने अनेक स्थानों पर अन्तरिक्ष एवं समुद्र मार्ग से देश-देशान्तर जाने-आने का समर्थन किया है। "जैसे अच्छे दृढ़ विमान आदि यान पर बैठ देश-देशान्तर को जा-आकर व्यापार वा विजय से धन और प्रतिष्ठा को प्राप्त हो दरिद्रता और अयश से छूटकर सुखी होते हैं...।" (ऋग्वेदभाष्य १/१०६/२) "जैसे मनुष्य अच्छी प्रकार सिद्ध किये हुए विमान आदि यान से अति कठिन मार्गों को सिद्ध कर समस्त दरिद्रता आदि दुःख से छूटते हैं...।" (ऋग्वेदभाष्य १/१०६/१) "जो जन लम्बी-चौड़ी ऊँची नावों को रच के समुद्र के बीच जाना-आना करते हैं वे आप सुखी होकर औरों को सुखी

करते हैं।" (ऋग्वेदभाष्य १/१८२/५) "मनुष्य जब नौका में बैठ के समुद्र के मार्ग से जाने की इच्छा करें तब बड़ी नाव के साथ छोटी-छोटी नावें जोड़ समुद्र में जाना-आना करें।" (ऋग्वेदभाष्य १/१८२/६) यह स्वीकार करना होगा कि समुद्र यात्रा और व्यापार आदि के लिए देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर जाने-आने पर बहुत जोर देकर महर्षि ने एक ऐसी परम्परा का पुनः सूत्रपात करने का प्रयत्न किया था, जिसे भारत के आर्य कई सदियों से भुलाये हुए थे।

(५) खाद्य और अखाद्य

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यानुसार दो प्रकार के पदार्थ अखाद्य हैं, एक तो माँस, मछली आदि जिनकी प्राप्ति के लिए मनुष्यों को हिंसा करनी पड़ती है, दूसरे वे जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हों। माँस भक्षण का उन्होंने सत्यार्थप्रकाश, वेदभाष्य तथा अपने पत्रों और व्याख्यानों में स्पष्ट रूप से विरोध किया है। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने लिखा है, कि गाय, बैल, भैंस, हाथी, घोड़े, ऊँट, भेड़, गधे आदि जिन पशुओं द्वारा मनुष्यों का उपकार किया जाता है, उनकी हत्या कदापि न की जाए। "जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तभी आर्यावर्त वा अन्य भूगोल देशों में आनन्द से मनुष्यादि प्राणी वर्तते थे, क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न, रस, पुष्कल प्राप्त होते थे।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५५) महर्षि ने गाय, भैंस, बकरी, घोड़े, ऊँट आदि बहुत-से पशुओं को उपयोगी माना है, और उनकी हत्या करने तथा उनके माँस का भक्षण करने का विरोध किया है। पर गाय को वे सबसे अधिक उपयोगी मानते थे। उन्होंने लिखा है कि गाय के घी-दूध से जिस प्रकार बुद्धि की वृद्धि व अन्य लाभ होते हैं, वैसे भैंस के दूध से नहीं होते। गाय को उन्होंने 'मुख्योपकारक' कहा है, और उसकी रक्षा पर विशेष बल दिया है। पशु हिंसा तथा माँस भक्षण का विरोध किये जाने पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि जो हानिकारक पशु हैं या जो पशुओं तथा मनुष्यों की हिंसा करते हैं (यथा व्याघ्र आदि) क्या उनको मारना भी पाप है। और यदि पाप नहीं है, तो उनके माँस का क्या किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि ने यह दिया है कि हानिकारक व हिंस्र पशुओं को नष्ट करना राजपुरुषों (राज्यसंस्था) का कार्य है, और उनका माँस कुत्ते आदि माँसाहारी पशुओं को खिला देना चाहिए। महर्षि ने क्रियात्मक दृष्टि से यह भी स्वीकार किया है कि ऐसे पशुओं का माँस उन मनुष्यों को भी दिया जा सकता है जो माँसाहारी हों। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि माँसाहारी होकर मनुष्य का स्वभाव हिंसक हो जाता है, अतः माँस न खाना ही समुचित है। महर्षि का स्पष्ट रूप से यह मन्तव्य है, कि उपकारक (गाय, बैल, भैंस, बकरी, घोड़े आदि) पशुओं को न मारें और न मारने दें। पर व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं तथा हानिकारक पशुओं को या तो दण्ड के अधीन रखा जाए (अर्थात् ऐसा प्रबन्ध किया जाए कि वे किसी को हानि न पहुँचा सकें) और या उन्हें प्राणों से वियुक्त कर दिया (मार दिया) जाए। ऐसे पशुओं के माँस को खाना भी महर्षि के मत में उचित नहीं है, क्योंकि इससे मनुष्य के स्वभाव में हिंसक प्रवृत्ति की वृद्धि हो सकती है।

कतिपय शाक, फल, मूल आदि ऐसे भी होते हैं, जिनके उत्पादन के लिए 'मलिन विष्ठा मूत्रादि' का प्रयोग किया जाता है या जिस खेत में वे पैदा होते हैं, उसका इन

मलिन वस्तुओं से सम्पर्क रहता है। महर्षि का मत है कि इनको भी भोजन के रूप में प्रयुक्त करना उचित नहीं है। मनुस्मृति के जिस श्लोक (५/५) को उद्धृत कर (अभक्ष्याणि द्विजातीमाममेध्यप्रभवाणि च) महर्षि ने यह बात प्रतिपादित की है, उसमें 'अमेध्य-प्रभव' (मलिन विष्टा आदि के सम्पर्क से उत्पन्न) वस्तुओं के प्रयोग को द्विजों के लिए निषिद्ध कहा गया है। पर महर्षि ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के साथ शूद्रों को भी सम्मिलित कर सबके लिए इनका प्रयोग वर्जित कर दिया है। (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५४) साथ ही मद्य, गाँजा, भाँग, अफीम आदि उन पदार्थों के सेवन का भी महर्षि ने निषेध किया है जो मदकारी (मादक) और बुद्धि का नाश करने वाले हैं।

पूना के व्याख्यान (उपदेशमञ्जरी, सातवाँ व्याख्यान) में भी महर्षि ने पशुओं की हत्या तथा माँस भक्षण का प्रबल रूप से विरोध किया है। उनका कथन है कि "इन दिनों माँसाहारियों ने राजबल के आधार से इतना जबर हाथ फेरना प्रारम्भ किया कि चौपाये फिलहाल न्यून होते जाते हैं।... जिस देश में बिलकुल माँस नहीं खाते उस देश में दूध-घी की खूब ही बहुतायत हो रही है अर्थात् वहाँ पर खूब समृद्धि रहती है।"

माँस भक्षण का निषेध कर महर्षि ने यह प्रतिपादित किया है, कि मनुष्यों को फल, अन्न आदि का ही भोजन के लिए प्रयोग करना चाहिए और उनका उत्पादन भी इस ढंग से किया जाए जिससे कि उनका मल-मूत्रादि से सम्पर्क न हो। इस विषय में महर्षि के वेदभाष्य के कुछ उद्धरण महत्त्व के हैं—

"जो चतुर खेती करने हारे गौ और बैल आदि की रक्षा करके विचार के साथ खेती करते हैं वे अत्यन्त सुख को प्राप्त होते हैं। इन खेतों में विष्टा आदि मलिन पदार्थ नहीं डालने चाहिएँ। किन्तु बीज सुगन्धि आदि से युक्त करके ही बोवें कि जिससे अन्न भी रोगरहित उत्पन्न होकर मनुष्यादि की बृद्धि को बढ़ावे।" (यजुर्वेदभाष्य १२/६९)।

"मनुष्यों को चाहिए कि गौ आदि पशुओं को कभी न मारें न मरवावें तथा न किसी को मारने दें।" (यजुर्वेदभाष्य १२/७३)।

भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेचन करते हुए महर्षि ने इस मन्तव्य का भी प्रतिपादन किया है, कि जो पदार्थ हिंसा द्वारा प्राप्त होते हैं (यथा माँस), उनके समान उन पदार्थों का भी भोजन के रूप में प्रयोग करना अनुचित है जो चोरी, विश्वासघात, छल, कपट आदि से प्राप्त किए जाएँ। ऐसे पदार्थ भी अभक्ष्य हैं। वे ही पदार्थ भक्ष्य हैं जिन्हें अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त किया गया हो। "जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धिबलपराक्रमवृद्धि और आयुवृद्धि होवे उन तण्डुलादि गोधूम, फल, मूल, कन्द, दूध, मिष्टादि पदार्थों का सेवन यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना सब भक्ष्य कहाता है, जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध विकार करने वाले हैं उन-उन का सर्वथा त्याग करना और जो-जो जिसके लिए विहित हैं उन-उन पदार्थों का ग्रहण करना यह भी भक्ष्य है।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५६)।

भक्ष्य और अभक्ष्य का युक्तिसंगत रूप से विवेचन कर भोजन के सम्बन्ध में कतिपय अन्य मत भी महर्षि ने प्रतिपादित किये हैं। हिन्दुओं में चौका लगाकर भोजन करने की जो रीति है, महर्षि उसके विरुद्ध थे। वे यह अवश्य स्वीकार करते थे कि जिस स्थान पर भोजन किया जाए, उसे धोकर, झाड़ू लगाकर, लीप कर, कूड़ा-कर्कट वहाँ से दूर रख-कर उसे स्वच्छ व पवित्र रखा जाए, पर चौका लगा कर उसमें किसी दूसरे को न आने

देना या उससे दूसरों के स्पर्श को भी बचाना उनके मत में अनुचित है। उन्होंने लिखा है, कि "क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि जो राजपुरुषों से युद्ध के समय में भी चौका लगाकर रसोई बना के खाना अवश्य पराजय का हेतु है ? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ या पैदल होके मारते जाना, अपनी विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है। इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५२) चौका लगाकर रसोई बनाने और चौके में बैठकर भोजन करने को महर्षि समुचित नहीं समझते थे। रसोई बनाने और भोजन करने के लिए अच्छा रमणीक स्वच्छ स्थान होना चाहिए, महर्षि का यही मन्तव्य है।

मनुष्य अपने ही हाथ का बनाया भोजन खावें और दूसरे के हाथ का नहीं, इस विषय में महर्षि का यह मत है कि भोजन शुद्ध ढंग से ही बनाया जाना चाहिए। भोजन बनाने का काम शूद्र लोगों का है, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जब वे भोजन बनाएँ, तो उनके शरीर, वस्त्र आदि साफ हों और नखों आदि में भी मैल न हो। भोजन बनाने का काम शूद्रों का है, अपने इस मन्तव्य को प्रतिपादित करते हुए महर्षि ने यह भी लिखा है, कि "ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्यपालन और पशु-पालन, खेती, व्यापार के काम में तत्पर रहें ... आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादि सेवा करें परन्तु वे शरीर, वस्त्र आदि से पवित्र रहें।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५२)।

भारत में सखरी और निखरी का विचार भी बहुत प्रचलित था, और अब तक भी है। इस पर विवेचन करते हुए महर्षि ने लिखा है—"सखरी जो जल आदि में अन्न पकाये जाते और जो घी, दूध में पकाते हैं वह निखरी अर्थात् चोखी। यह भी इन धूर्तों का चलाया हुआ पाखण्ड है, क्योंकि जिनमें घी, दूध अधिक लगे उसको खाने में स्वाद और उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे इसलिए यह प्रपञ्च रचा है, नहीं तो अग्नि या काल से पका हुआ पदार्थ पक्का और न पका हुआ कच्चा है। जो पक्का खाना और कच्चा न खाना है वह भी सर्वत्र ठीक नहीं क्योंकि चने आदि कच्चे भी खाये जाते हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५२)।

क्या पति-पत्नी एक-दूसरे का उच्छिष्ट (झूठा) और शिष्य गुरु का उच्छिष्ट खा सकते हैं, इस प्रश्न का महर्षि ने यह उत्तर दिया है, कि इनके लिए भी उच्छिष्ट भोजन अनुचित है, क्योंकि सबके शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है। जो लोग एक साथ बैठकर एक पात्र में भोजन करते हैं, महर्षि उसे भी समुचित नहीं मानते। उनका कथन है कि एक साथ खाने में दोष है, क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। फिर यह भी सम्भावना बनी रहती है कि एक का रोग दूसरे को लग जाए। पर एक साथ बैठकर भोजन करने में कोई दोष व अनौचित्य नहीं। महर्षि ने लिखा है, कि "महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा, ऋषि, महर्षि आये थे वे सब एक ही पाकशाला में भोजन किया करते थे।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५८) सब आर्यों के परस्पर एक साथ बैठकर भोजन करने में महर्षि के मत में कोई हानि नहीं है।

ऐसा करना सर्वथा उचित है। पर जो लोग मद्यपान और गौमांसादि का भक्षण करते हों, उनके हाथ का बना भोजन करना महर्षि को स्वीकार्य नहीं है। उन्होंने लिखा है, कि "आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता। जब तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है। परन्तु केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु जब तक बुरी बातें नहीं छोड़ते और अच्छी बातें नहीं करते तब तक बढ़ती के बदले हानि होती है।" (सत्यार्थ-प्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५३)।

आचार (सदाचार) और अनाचार—मनुष्य कैसे वस्त्र पहना करें, सिर पर शिखा रखें या नहीं, बाल लम्बे रखें या छोटे, दाढ़ी और मूँछ मुँडायी जाएँ या बढ़ायी जाएँ, प्रत्येक मानव समूह में इन बातों के सम्बन्ध में कुछ मान्यताएँ होती हैं और लोग आचार व अनाचार के साथ भी उनका सम्बन्ध समझने लगते हैं। इस विषय में महर्षि के विचार बहुत ही युक्तियुक्त हैं। उन्होंने लिखा है—"ब्राह्मण के सोलहवें, क्षत्रिय के बाईसवें और वैश्य के चौबीसवें वर्ष में केशान्त कर्म और क्षौर मुण्डन हो जाना चाहिए, अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रख के अन्य दाढ़ी मूँछ और शिर के बाल सदा मुँड़वाते रहना चाहिए, अर्थात् फिर कभी न रखना और जो शीतप्रधान देश हो तो कामाचार है चाहे जितने केश रक्खे और जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिए, क्योंकि शिर के बाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उसमें बुद्धि कम हो जाती है।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २४६-४७) महर्षि के ये वाक्य बहुत महत्त्व के हैं। इनके अनुसार केश, दाढ़ी, मूँछ आदि का सम्बन्ध देश और जलवायु के साथ है, धर्म के साथ नहीं। हिन्दुओं में सिर पर शिखा रखना आवश्यक माना जाता है। पर महर्षि के मत में अति उष्ण देशों में शिखा का भी छेदन करा देना चाहिए। जो बात शिखा, दाढ़ी, मूँछ और केश के विषय में है, वही वस्त्रों के सम्बन्ध में भी है। जलवायु के अनुसार ही वस्त्र होने चाहिएँ। महर्षि 'युक्ताहार-विहार' के पक्ष में थे। मनुष्य को इन्द्रियों का दास न होकर उन्हें अपना वशवर्ती बनाना चाहिए, और धर्म मार्ग से चलकर अपनी तथा सम्पूर्ण संसार की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, यही महर्षि का मन्तव्य था।

अठारहवाँ अध्याय

महर्षि दयानन्द के सहयोगी तथा उनसे सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण व्यक्ति

वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्य को आगे बढ़ाने में स्वामी दयानन्द सरस्वती बहुत-से लोगों के सम्पर्क में आए, और उनमें से अनेक व्यक्तियों से उन्हें सहयोग भी प्राप्त हुआ। ऐसे कतिपय व्यक्तियों का परिचय यहाँ इस दृष्टि से दिया जा रहा है, क्योंकि उससे स्वामीजी के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा कार्य विधि पर प्रकाश पड़ता है।

(१) श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा (१८५७-१९३०)

सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी, विदेशों में रहकर ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष का संगठन करने वाले, विश्वविख्यात रूसी लेखक मेक्सिम गोर्की द्वारा भारत के मेजिनी कहे जाने वाले, लंदन में इण्डिया हाउस की स्थापना करने वाले श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा के आरम्भिक जीवन पर स्वामी दयानन्द जी का प्रबल प्रभाव पड़ा। वे उनके शिष्य और अनुयायी थे। स्वामी जी को उन पर इतना अधिक विश्वास था कि उन्होंने वेदभाष्य के प्रकाशन का सारा कार्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को सौंपने के लिए अक्टूबर, १८७८ में उनको दिल्ली और अजमेर से कई पत्र लिखे। संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके इंग्लैण्ड चले जाने पर भी स्वामी जी उन्हें निरन्तर पत्र लिखते रहे। इनमें एक बड़ा पत्र संस्कृत की गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू शैली में लिखा गया है, और इसमें श्यामजी को स्वामी जी ने यह प्रेरणा दी है कि वे पार्लियामेण्ट में अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये गये अत्याचारों का भण्डाफोड़ करें, और ब्रिटिश जनता को यह बताएँ कि अंग्रेज अधिकारी भारतीयों का उत्पीड़न किस प्रकार कर रहे हैं। विशेष रूप से वे मुंशी इन्द्रमणि वाले मामले में ब्रिटिश न्यायाधीशों द्वारा किए अन्याय को वहाँ के अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत कराना चाहते थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि श्यामजी कृष्ण वर्मा ने राष्ट्रीयता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने का पहला पाठ स्वामी दयानन्द जी से पढ़ा, और वे जीवन-भर भारत को स्वतन्त्र बनाने के लिए विदेशों में प्रयास करते रहे। यह उनके निम्नलिखित संक्षिप्त जीवन वृत्त से स्पष्ट हो जाएगा।

श्यामजी का जन्म सौराष्ट्र के कच्छ प्रदेश के माण्डवी नामक कस्बे में

४ अक्टूबर, १८५७ को हुआ था। इनके पिता कृष्णजी भणशाली निर्धन परिवार के थे। इनकी आरम्भिक शिक्षा पहले माण्डवी के एक प्राइमरी स्कूल में हुई, और बाद में भुज के हाई स्कूल में इन्होंने अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की। १० वर्ष की आयु में माता का देहान्त होने पर, इन्हें एक धनी भाटिया मित्र अपने साथ बम्बई ले गया। ये वहाँ विल्सन हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए और परीक्षा में अपनी कक्षा में प्रथम आए। इसके साथ ही इन्होंने एक प्राथमिक संस्कृत पाठशाला में एक शास्त्री से संस्कृत पढ़ना भी शुरू किया। १८७५ में हाई स्कूल में संस्कृत में प्रथम आने के लिए इन्हें गोकुलदास कहानदास पुरस्कार मिला। इन्होंने एलफिन्स्टन स्कूल से प्रथम स्थान प्राप्त कर हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। इनके एक सहपाठी मित्र रामदास एक धनी व्यापारी सेठ छबीलदास लल्लू भाई के सपूत थे, रामदास की बहिन भानुमति से १८७५ में इनका विवाह हुआ। इसी समय से ये अपने एक मित्र माधवदास रघुनाथ के साथ समाजसुधार के कार्यों तथा विधवा विवाह आन्दोलन में दिलचस्पी लेने लगे।

स्वामी जी से सम्बन्ध—१८७५ में स्वामी दयानन्द जी ने बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। श्यामजी बम्बई समाज के पहले सदस्यों में से थे। स्वामी जी के साथ इनके सम्पर्क में आने की घटना बड़ी मनोरंजक है। १२ जून, १८७५ को रामानुज सम्प्रदाय के आचार्य पं० कमलनयन के साथ स्वामी जी का सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ मूर्तिपूजा के विषय पर हुआ था। इस शास्त्रार्थ को देखने सुनने वालों में श्री श्यामजी भी थे। इस समय वे स्वामी जी से अत्यधिक प्रभावित हुए। उनके शिष्य और आर्यसमाज के सभासद् बने, और इसके प्रचार आन्दोलनों में गहरी दिलचस्पी लेने लगे।

स्वामी जी के निर्देश से १८७७ में इन्होंने धर्म प्रचार के उद्देश्य से एक यात्रा की। नासिक में संस्कृत में भाषण दिया। मई में पूना और अहमदाबाद गए। जून में बड़ौदा, भड़ौंच, भुज, माण्डवी में आर्यसमाज का प्रचार किया, और १८७८ में व्याख्यान देने के लिए लाहौर पहुँचे। इनके संस्कृत भाषणों की सब जगह धूम मच गई और पण्डितों ने इनकी प्रशंसा की।

वेदभाष्य के प्रबन्धक—इसी समय स्वामी जी ने इन्हें वेदभाष्य के प्रबन्धकर्ता का कार्य सौंपा। वेदभाष्य को ठीक समय पर छपाना तथा ग्राहकों को ठीक समय पर पहुँचाना इनका कार्य था। इस कार्य को वे इंग्लैण्ड जाने के समय तक करते रहे।

१८७४ में इनका ब्रिटिश संस्कृतज्ञ मोनियर विलियम्स से परिचय हुआ। बाद में जब विलियम्स आक्सफोर्ड में संस्कृत के प्रोफेसर बने, तो श्यामजी ने उच्च शिक्षा एवं बैरिस्टरी की परीक्षा पास करने के लिए इंग्लैण्ड जाने का निश्चय किया। अपने श्वसुर और मित्रों से सहायता लेकर यह विलायत गये। वहाँ संस्कृत पढ़ने के लिए आक्सफोर्ड के बेलियोल कालेज में प्रवेश लिया और कानून के लिए इनर टेम्पल में दाखिल हुए। १८८३ में इन्होंने आक्सफोर्ड से बी० ए० पास किया। इससे पहले बर्लिन में इन्होंने प्राच्यविद्याविदों के एक सम्मेलन में भाग लिया। १८८४ में बैरिस्टरी की परीक्षा पास की, और अगले ही वर्ष भारत लौट आए। जब तक ये विलायत रहे, स्वामी जी इन्हें निरन्तर पत्र लिखकर इनसे यह अनुरोध करते रहे कि वे ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत में किए जाने वाले अत्याचारों का तथा मुँशी इन्द्रमणि के साथ हुए अन्याय का मामला पालियामेण्ट में संसद-सदस्यों के सम्मुख प्रस्तुत करें। इसी समय से स्वामी जी

के पत्रों से श्यामजी के मन में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता के विचार प्रबल होने लगे।

भारत लौटने पर बम्बई हाईकोर्ट में कुछ समय वकालत करने के बाद इन्होंने देशी रियासतों में नौकरी करना अधिक अच्छा समझा, क्योंकि वे रियासतों को भारतीय स्वतन्त्रता का पुराना गढ़ समझते थे। कुछ समय तक रतलाम राज्य में दीवान के पद पर रहने के बाद स्वास्थ्य ठीक न रहने से वहाँ से त्यागपत्र दे दिया, और अजमेर में वकालत शुरू की। १८९३ में वे उदयपुर रियासत में राज्य परिषद् के दीवान और २ वर्ष बाद जूनागढ़ के दीवान बने। यहाँ ब्रिटिश अधिकारियों से इनकी नहीं बनी, वेतन के बारे में भी कुछ झगड़ा था, इसलिए पुनः ये उदयपुर राज्य में चले आए। इसी समय से ब्रिटिश शासकों के न्याय पर से इनकी आस्था उठ गई।

१८९७ में लोकमान्य तिलक एवं नाटू बन्धुओं की गिरफ्तारी से ये ब्रिटिश शासन के विरोधी बन गए और उसी वर्ष भारत छोड़कर पुनः इंग्लैण्ड चले गए। १८९९ में ट्रान्सवाल में सोने की खानों का पता लगने पर जब अंग्रेजों ने उस प्रदेश को वहाँ बसे बोअर लोगों से जबरदस्ती लेने के लिए युद्ध शुरू किया, तो श्यामजी ने अंग्रेजों के विरुद्ध बोअर लोगों का समर्थन किया।

श्यामजी कृष्ण वर्मा स्वामी दयानन्द, तिलक, मिल और स्पेन्सर के विचारों से बड़े प्रभावित थे। वे १४ दिसम्बर, १९०३ को स्पेन्सर की मृत्यु के बाद उनके अन्त्येष्टि संस्कार में सम्मिलित हुए और उन्होंने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के लिए स्पेन्सर व्याख्याता वृत्ति के एक हजार पौंड उनकी स्मृति में देने की घोषणा की।

८ दिसम्बर, १९०४ को उन्होंने भारतीय छात्रों के लिए इंग्लैण्ड में पढ़ने के लिए सहायता देने के उद्देश्य से कुछ छात्रवृत्तियाँ देने की योजना बनाई। किन्तु इसकी यह शर्त रखी, कि इन छात्रवृत्तियों से लाभ उठाने वाले विद्यार्थी ब्रिटिश सरकार की सेवा नहीं करेंगे। काँग्रेस ने उनकी इस योजना का विरोध किया।

१९०५ में भारत के वायसराय लार्ड कर्जन के दमनकारी कानूनों और बंग-भंग से भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल होने लगा। इसी समय जनवरी, १९०५ से भारतीय स्वतन्त्रता के समर्थन तथा सामाजिक और धार्मिक सुधारों के लिए इन्होंने एक मासिक पत्र भारतीय समाजशास्त्री (Indian Sociologist) निकाला। इसके पहले अंक में ही इन्होंने स्पेन्सर के इस आदर्श का प्रबल समर्थन किया कि अत्याचारी शासक का प्रतिरोध करना न केवल न्यायोचित है, अपितु आवश्यक भी है। इस पत्र का उद्देश्य इंग्लैण्ड में भारतीय दृष्टिकोण की व्याख्या करना था। इसमें श्यामजी को इंग्लैण्ड के फ्रेडरिक हैरिसन तथा हिण्डमैन जैसे क्रान्तिकारी विचारकों का समर्थन मिला। पोर्ट आर्थर में रूस की पराजय होने पर, इन्होंने जापान की विजय की प्रशंसा की। इस पत्र के दूसरे अंक से श्यामजी ब्रिटिश शासन की आलोचना करने लगे। २४ फरवरी, १९०५ को उनकी अध्यक्षता में इण्डियन होमरूल सोसायटी की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य भारत में जनता का, जनता द्वारा तथा जनता के लिए शासन स्थापित करना था। इसी वर्ष १ जुलाई, १९०५ को इन्होंने लन्दन में आने वाले भारतीय विद्यार्थियों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के निवास के लिए इण्डिया हाउस खोलने की घोषणा की।

अपनी मासिक पत्रिका 'भारतीय समाजशास्त्री' (इण्डियन सोशियोलोजिस्ट)

के अक्टूबर के अंक में उन्होंने भारत को स्वतन्त्र करने के लिए शान्तिपूर्ण निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन करने का प्रस्ताव रखा, और यह कहा कि यदि भारतीय अंग्रेजों की सरकारी नौकरियाँ करना बन्द कर दें, तो सरकार का शासन-तन्त्र भारत में ठप्प हो जाएगा।

अक्टूबर, १९०५ में लार्ड कर्जन द्वारा बंग-भंग किए जाने पर जब भारत में स्वदेशी और ब्रिटिश माल के बहिष्कार का आन्दोलन प्रबल हुआ, तो इसे दबाने के लिए सरकार ने दमन की जो नीति अपनाई, उसका इन्होंने स्पष्ट विरोध किया और १९०५ में बनारस में गोखले की अध्यक्षता में हुई काँग्रेस में इस विषय में जो नरम प्रस्ताव पास किया गया था, उसकी इन्होंने कड़ी आलोचना की।

१९०५ का वर्ष श्यामजी के लिए इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था कि स्कॉटलैण्ड में अध्ययन करने वाले श्री बापट अपनी छात्रवृत्ति छोड़कर भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में इनका सहयोग देने लगे। बाद में ये सेनापति बापट के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी वर्ष विनायक दामोदर सावरकर के इण्डिया हाउस में आ जाने से श्यामजी को एक बड़ा महत्त्वपूर्ण सहयोगी मिला। १९०७ में इन्होंने 'देशभक्त समाज' नामक संस्था की स्थापना की।

१९०७ में श्री सावरकर ने भारत के १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम की स्वर्ण जयन्ती श्यामजी के साथ मिलकर मनाई। पंजाब से लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीतसिंह के निर्वासन से राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। इस समय की घटनाओं से प्रभावित होकर श्यामजी ने १९०७ में फ्रांस के क्रान्तिकारी राष्ट्रीय गीत का गुजराती में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित कराया।

अगस्त, १९०७ में श्यामजी के मित्र सरदारसिंह राणा तथा मदाम कामा ने जर्मनी के स्टटगर्ट शहर में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में भाग लिया और वहाँ पहली बार स्वतन्त्र भारत का तिरंगा झण्डा फहराया गया।

इस समय श्यामजी ने भारत में सरकार द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने के लिए अपनाई गई दमन नीति का प्रभावशाली विरोध करने के लिए जनता को सरकार से असहयोग करने तथा हड़ताल करने का परामर्श दिया, और अन्त में इस बात पर भी बल दिया कि अत्याचारी शासन का तख्ता पलटने के लिए पराधीन जाति को सशस्त्र संघर्ष का मार्ग अपनाना चाहिए।

३० एप्रिल, १९०८ को खुदीराम बोस द्वारा दो अंग्रेज महिलाओं पर बम फेंकने के विषय में लोकमान्य तिलक द्वारा लिखे गए लेखों के लिए जब उन्हें ब्रिटिश सरकार द्वारा दण्डित किया गया, तो श्यामजी ने इसके लिए ब्रिटिश सरकार की कड़ी आलोचना की। इस समय इण्डिया हाउस, इंग्लैण्ड में ब्रिटिश सरकार का विरोध करने वाले क्रान्तिकारियों का प्रमुख अड्डा था। श्री सावरकर ने बम बनाने की विधि पर एक पुस्तक और कुछ रिवाल्वर भारत भिजवाए और उनके साथी मदनलाल ढींगरा ने एक ब्रिटिश अधिकारी कर्जन वाइली की हत्या की। मार्च, १९०८ में श्री सावरकर की लन्दन में गिरफ्तारी से श्यामजी ने वहाँ रहना उचित नहीं समझा और वे पेरिस चले गए। वे न केवल भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के ही, अपितु मिस्र आदि सभी पराधीन देशों के स्वाधीनता आन्दोलनों के कट्टर समर्थक थे। १९१४ में उनकी दूरदृष्टि

ने यह जान लिया था कि अब महायुद्ध छिड़ने वाला है। उस समय पेरिस में रहना असुरक्षित समझकर वे युद्ध में सदैव तटस्थ रहने वाले स्विटजरलैण्ड के जिनेवा शहर में चले आए और मृत्यु पर्यन्त वहीं रहे। उन्होंने गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन का प्रबल समर्थन किया। ३१ मार्च, १९३० को जिनेवा में इस महान् क्रान्तिकारी की मृत्यु हो गई।

स्वामीजी से पत्र-व्यवहार

स्वामी जी ने वेदभाष्य के प्रकाशन का कार्य जब बम्बई से आरम्भ किया, तो यह काम आर्यसमाज के प्रधान बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को सौंपा। किन्तु उन्होंने यह काम ठीक ढंग से नहीं किया और वेदभाष्य के लिए आने वाले चन्दे के रुपये में भी बड़ा गोलमाल किया। इस कारण स्वामी जी ने श्यामजी को वेदभाष्य का प्रबन्धक बनाया और उन्हें इस विषय में अनेक पत्र लिखे। इस पत्र-व्यवहार से इन दोनों के सम्बन्धों तथा आर्यसमाज के इतिहास पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

स्वामीजी ने श्यामजी कृष्ण वर्मा को जो पत्र लिखे थे, उन्हें स्वामी जी के दिनांक २२ अक्टूबर, १८७८ के पत्र में दिये गए निर्देश के अनुसार श्यामजी कृष्ण वर्मा ने बहुत सँभाल कर रखा। जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने ये पत्र पेरिस निवासी अपने व्यापारी मित्र और क्रान्तिकारी कार्यों में सहयोगी राणा महोदय को अपनी पुस्तकों के साथ सौंप दिए। डा० धीरेन्द्र वर्मा १९३६ में जब डी० लिट्० के अध्ययन के लिए पेरिस गए, तो उन्हें इस बात का पता लगा। राणा महोदय से मिलकर उन्होंने १८७७-७९ के बीच में लिखे स्वामी जी के २९ पत्र प्राप्त किए। इनमें तीन आद्योपान्त स्वामी जी के हाथ से लिखे हुए हैं। स्वामी जी के ये पत्र 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' में प्रकाशित हुए हैं।[1] इनमें से सत्रह पत्र श्यामजी को लिखे गए हैं। ये पत्र स्वामी जी की कार्य पद्धति और विचारों पर उत्तम प्रकाश डालते हैं। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय देना उचित है।

पहला पत्र अमृतसर से १५ जुलाई, १८७८ को लिखा गया है। इसमें स्वामी जी ने इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की है कि श्यामजी संस्कृत (पढ़ने) पढ़ाने के लिए इंग्लैण्ड जाना चाहते हैं। उनके शब्दों में "यह विचार बहुत अच्छा है, परन्तु आपको पहले भी लिखा था और अब भी लिखते हैं कि जो हमारे पास रहकर वेद और शास्त्र के मुख्य-मुख्य विषय देख लेते तो अच्छा होता।" स्वामी जी ने इस बात पर बल दिया है कि वे विदेश में जाकर "कोई ऐसा काम न करें जिससे अपने देश का ह्रास हो।" हमारी किसी तरह की बदनामी न हो।[2]

वेदभाष्य के पते देवनागरी में लिखने का आग्रह—७ अक्टूबर, १८७८ को दिल्ली से श्यामजी को लिखे दूसरे पत्र में स्वामी जी ने इस बात पर बल दिया है कि जब वेद-भाष्य के लिफाफे ग्राहकों को भेजे जाएँ तो उनपर पते देवनागरी में अवश्य लिखे जाएँ,

---

१. पं० भगवद्दत्त बी० ए०—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सम्वत् २००२। एवं पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा संशोधित व परिवर्धित संस्करण।

२. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० १०४।

क्योंकि गाँवों में अंग्रेजी पढ़े-लिखे नहीं होते हैं। "इसलिए तुम बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि जी से कहो कि वे इस पत्र को पाते ही फौरन देवनागरी जानने वाला मुंशी रख लें और वेदभाष्य के पते देवनागरी में लिखवाकर भिजवाया करें।" इसके साथ ही स्वामी जी ने श्यामजी को लिखा है कि "तुम इस काम की देखभाल करो और बाबू हरिश्चन्द्र से पुस्तकों का पूरा हिसाब लेकर हमें भिजवा दो।" इस पत्र के अन्त में मेरठ में आर्यसमाज स्थापित होने की सूचना भी दी गई है।[१]

उपर्युक्त पत्र के सात दिन बाद ही दिल्ली से १४ अक्टूबर, १८७८ को लिखे पत्र में स्वामीजी ने श्यामजी को वेदभाष्य का काम सँभालने के लिए निर्देश देते हुए लिखा है कि "वेदभाष्य के काम का तुम ही प्रबन्ध करो, क्योंकि बिना आपके यह काम न चलेगा या किसी देवनागरी (जानने) वाले को वहाँ रखा दो, क्योंकि **बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि जी अंग्रेजी में भी लिखते हैं तो भी छेदीलाल को शादीलाल लिख देते हैं** और न ग्राहकों के नम्बर लिखते हैं।"[२]

वेदभाष्य का प्रबन्धक बनाना—दिनांक २२ अक्टूबर, १८७८ के दिल्ली से लिखे चौथे पत्र में स्वामी जी ने पुनः श्यामजी को लिखा है कि "जब तक तुम मुंबई में रहो तभी तक वेदभाष्य का काम उठा लो और खूब होशियारी से करो।" इसके साथ ही स्वामी जी ने श्यामजी को यह भी सूचित किया है कि उन्होंने बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को वेदभाष्य का काम उन्हें सौंप देने के लिए लिखा है। इसमें स्वामी जी ने यह निर्देश दिया है कि "यह पहला पत्र व्यवहार का हमारा तुम्हारे पास पहुँचता है। इसको रख लेना और आगे से सब रखते जाना।"[३] श्यामजी ने इस आदेश का पूरा पालन किया और विदेश जाने पर अन्तिम समय तक इन पत्रों को सुरक्षित रखा। उनके संग्रह में न केवल उन्हें लिखे पत्र हैं, अपितु वेदभाष्य के सम्बन्ध में लिखे हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि को लिखे गए पत्र भी हैं।

दिनांक २७ अक्टूबर, १८७८ को दिल्ली से लिखे पाँचवें पत्र में स्वामी जी ने श्यामजी को यह सूचित किया है कि वेदभाष्य का काम उन्हें सौंपने के लिए वे बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को तीन पत्र लिख चुके हैं, और एक चिट्ठी आज फिर लिख रहे हैं। पहली नवम्बर से वेदभाष्य का सारा काम सँभालने के लिए स्वामी जी ने श्यामजी को पुनः निर्देश भेजा है।[४]

तीन दिन बाद पुनः दिल्ली से ३० अक्टूबर, १८७८ को लिखे छठे पत्र में श्यामजी को हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से वेदभाष्य के सम्बन्ध में काम लेने की बात लिखी है और यह भी पूछा है कि छापाखाना लगाने में यन्त्र, अक्षर टाइप के मँगाने में क्या खर्च होता है।[५] इस समय से स्वामी जी अपना प्रेस लगाने की बात सोचने लगे थे।

स्वामी जी ने दिल्ली से ही २ नवम्बर, १८७८ को लिखे पत्र में उन्होंने हरिश्चन्द्र

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० १२२-२३।
२. वही, पृ० १२३।
३. वही, पृ० १२७।
४. वही, पृ० १३०।
५. वही, पृ० १३०-३१।

चिन्तामणि द्वारा वेदभाष्य का काम श्यामजी को जल्दी न सौंपने पर खेद प्रकट किया है और श्यामजी को इस कार्य में लीलाधर हरिदास से सहायता लेने को तथा सुन्दरदास पुरुषोत्तम आदि से मिलकर इस काम को चलाने का निर्देश दिया है।[1]

अजमेर से लिखे १० नवम्बर, १८७८ के आठवें पत्र में उन्होंने श्यामजी को बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के वेदभाष्य की व्यवस्था के न सौंपने और अड़ियल रवैया अपनाने पर खेद प्रकट करते हुए लिखा है कि "वेदभाष्य का सारा काम तुम ही करो।" इसके साथ ही उन्होंने प्रूफों को देखना, ग्राहकों के पास वेदभाष्य नियमित रूप से भेजने तथा अच्छा कागज लगाने के लिए उन्हें निर्देश भेजे हैं।[2]

अजमेर से लिखे २० नवम्बर, १८७८ के नवें पत्र से यह प्रतीत होता है कि बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ने स्वामी जी के बार-बार लिखने पर भी श्यामजी को वेदभाष्य का काम नहीं सौंपा और अन्त में विवश होकर स्वामी जी ने श्री गोपालराव हरिदेशमुख को पत्र लिखा कि वे मुंबई आकर अपने सामने चिन्तामणि से हिसाब-किताब लेकर सारा काम श्यामजी को सौंप दें और इसके साथ ही श्यामजी को यह निर्देश भेजा है कि ग्राहकों को वेदभाष्य के अंक रजिस्टर से उनके पते अच्छी तरह मिलाकर ही भेजें।[3]

नसीराबाद, जिला अजमेर से लिखे ११ दिसम्बर, १८७८ के दसवें पत्र से यह सूचित होता है कि स्वामी जी वेदभाष्य के मुद्रण पर आने वाले व्यय को कम करने की दृष्टि से इसकी ३१०० की जगह १५०० कापियाँ छपवाना चाहते थे और उन्होंने श्याम जी से पूछा है कि ऐसा करने पर छापे वालों का बिल और कागज आदि का खर्चा कितना कम हो सकेगा।[4]

वेदभाष्य को नियत समय पर निकालने पर बल—मेरठ से १७ जनवरी, १८७९ को श्यामजी को लिखे पत्र में स्वामी जी ने पूछा है कि "वेदभाष्य का चौथा अंक अब तक क्यों नहीं निकला है, छापेखाने में आजकल क्या हो रहा है और बाबू साहब (हरिचन्द्र चिन्तामणि) क्या करते हैं? दो-दो महीने हो जाते हैं कि अंक नहीं निकलता। ग्राहक लोग बहुत तकाजा करते हैं।"[5] इससे यह स्पष्ट है, कि स्वामी जी वेदभाष्य के अंकों को नियमित रूप से छपवाने और ग्राहकों के पास तक पहुँचाने के लिए अतीव उत्सुक रहते थे और अपनी ओर से इसका पूरा प्रयास करते थे।

वेदभाष्य की लागत कम करना—२ दिन बाद पुनः मेरठ से लिखे १९ जनवरी, १८७९ के पत्र में स्वामी जी ने पुनः श्यामजी से पूछा है कि चौथा अंक हरिश्चन्द्र ने छपवाया है या नहीं। "बाबू जी की प्रतिज्ञानुसार माघ महीना पूरा होने वाला है, इसलिए तुम उनसे अब वेदभाष्य का काम ले लो, अब पाँचवाँ अंक तुम्हीं निकालो और छापे वालों से इकरार लिखा लो कि हमारा काम मिति वार (निश्चित तिथि पर) निकला करे और हम रुपया दूसरे महीने और तीसरे महीने भेजते रहेंगे।" इस पत्र से यह भी विदित

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० १३२-३३।
२. वही, पृष्ठ १३३।
३. वही, पृ० १३४।
४. वही, पृ० १३४-३५।
५. वही, पृ० १३६।

होता है कि स्वामी जी वेदभाष्य की छपाई का खर्चा घटाने के लिए अतीव उत्सुक थे। उन्होंने हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से पूछा था कि ३१०० के स्थान पर १५०० प्रतियाँ छपवाने से कितना खर्च कम होगा। इस विषय में बाबू चिन्तामणि ने स्वामी जी को जो उत्तर दिया था उसे वे ठीक नहीं समझते थे, अतः उन्होंने श्यामजी को यह लिखा कि "बाबू जी लिखते हैं कि पन्द्रह सौ की छपाई में कुल सौ रुपया कम होगा, जिसमें ७० रुपये ५० पैसे तो कागज के ही कम होंगे, फिर छपाई और बँधाई वगैरह का कुछ भी कम नहीं होता। इससे यह हिसाब तुम तलाश करके विस्तारपूर्वक लिखो। जो तुमको हजार काम भी हों तो उनको छोड़कर इस पत्र के प्रत्येक अक्षर का उत्तर लिखकर बहुत जल्दी भेजो। और यहाँ मेरठ में कई एक धनाढ्य छापाखाना किया चाहते हैं, इसलिए इसका निश्चय करके लिखो कि टाइप आदि लेने में कितना रुपया लगेगा।"[1] इससे यह स्पष्ट है कि स्वामी जी छपाई सम्बन्धी बातों के विस्तृत ब्यौरे में खूब गहराई में जाते थे। वे वेदभाष्य को कम-से-कम दामों में जनता को देने के लिए उत्सुक थे, ताकि अधिक-से-अधिक लोग वेदभाष्य को पढ़कर उससे लाभ उठा सकें।

१ मार्च, १८७९ को हरिद्वार से लिखे १३वें पत्र में उन्होंने श्यामजी से वेदभाष्य का काम करने के लिए हरिद्वार से मुंशी समर्थदान नामक व्यक्ति को दो-चार दिन में भेजने को लिखा है। इनकी विशेषता नागरी और फारसी जानने के साथ-साथ, अंग्रेजी भाषा का भी थोड़ा ज्ञान था। बम्बई में इनके निवास आदि के लिए उत्तम व्यवस्था करने पर स्वामी जी ने इसमें बहुत बल दिया है।

आर्यसमाज को आत्मनिर्भर बनाना—४ मार्च, १८७९ को हरिद्वार से लिखे पत्र की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह सारा पत्र स्वामी जी के हस्तलेख में लिखा हुआ है। इस पत्र से यह पता लगता है कि स्वामी जी सब आर्यसमाजियों को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे और अयोग्य एवं गलत काम करने वाले व्यक्तियों को समाज से निकाल देने पर बल देते थे। उस समय स्वामी जी को यह लिखा गया था कि वे जल्दी ही बम्बई आ जाएँ, नहीं तो यह समाज टूट जाएगा। इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा—"क्या तुमने समाज हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के ही भरोसे किया था और जो मेरे आने-जाने पर ही समाज की स्थिति है तो मैं अकेला कहाँ-कहाँ जा आ सकता हूँ। जो समाज में अयोग्य प्रधान हो उसको छुड़ा (हटा) कर दूसरा नियत करके समाज का काम ठीक-ठीक बनाना चाहिए।" इसके बाद उन्होंने पुनः वेदभाष्य के काम के लिए मुंशी समर्थदान को भेजने की बात लिखी है।[2]

उपर्युक्त पत्र के एक दिन बाद ५ मार्च, १८७९ को आद्योपान्त अपने हाथ से संस्कृत भाषा में लिखे गये पत्र में स्वामी जी ने पिछले पत्र की बातों को दुहराते हुए वेदभाष्य के प्रबन्ध के लिए मुंशी समर्थदान को भेजने, बम्बई में उसके निवास आदि की व्यवस्था प्रेम भाव से करने और पूरी सहायता देने की बात लिखी है, और साथ ही बम्बई में विद्यमान संयुक्त राज्य अमेरिका से आए कर्नल आल्काट आदि को आशीर्वाद

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० १५६-५७।
२. वही, पृ० १४४-४५।

देने को कहा है और उनका कुशल क्षेम पूछा है।[1]

हरिश्चन्द्र चिन्तामणि का वेदभाष्य में गोलमाल—३० जून, १८७९ को स्वामी जी की ओर से वेदभाष्य के प्रबन्धकर्ता मुंशी समर्थदान ने श्यामजी कृष्ण वर्मा को उनके विलायत जाने के बाद यहाँ की घटनाओं की सूचना देते हुए आक्सफोर्ड के पते से एक पत्र लिखा है। इसमें श्यामजी को यह बताया गया है कि बम्बई आर्यसमाज का प्रधान बाबू हरिश्चन्द्र वेदभाष्य के बहुत रुपये खा गया है और विदेश चला गया है। उसे समाज के प्रधान पद से हटा दिया गया है और इस पद पर रावबहादुर गोपाल राव हरि देशमुख नियत हुए हैं। श्यामजी को बाबू हरिश्चन्द्र का लन्दन का पता भिजवाने और समाचार-पत्रों में यह नोटिस देने को लिखा है कि यदि किसी को स्वामी जी को पत्र भेजना हो तो वह स्वामी जी के एजेण्ट मुंशी समर्थदान के द्वारा भेजे। मोनियर विलियम्स के पास वेदभाष्य का अंक पहुँचने की बात पूछी है, और यह लिखा है कि प्रोफेसर मैक्स मूलर तथा मोनियर विलियम्स से वेदभाष्य का मूल्य और चन्दा भिजवा देना और यह भी लिखना कि उन लोगों का स्वामी जी और वेदभाष्य के बारे में क्या कहना है। स्वामी जी उनके भाष्य का जो खण्डन करते हैं, उसके बारे में उनकी क्या सम्मति है। इसके बाद स्वामी जी ने यह पूछा है कि वहाँ के संस्कृत कालिज में कौन-सी पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, संस्कृत विद्या का वहाँ कैसा प्रचार है, और आर्यसमाज के बारे में वे लोग क्या कहते हैं। अन्त में पुनः बाबू हरिश्चन्द्र का पता भेजने के लिए कहा है, और यह भी लिखा है, कि यदि वह आर्यसमाज और स्वामी जी की कोई बुराई अखबारों में छापे तो आप उसका पूरा जवाब दें।[2]

विदेशों के बारे में जिज्ञासा—मेरठ से १२ जुलाई, १८८० को स्वामी जी का संस्कृत भाषा में लिखा सोलहवाँ पत्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इससे स्वामी जी की उत्कट जिज्ञासा वृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। इसमें स्वामीजी ने श्यामजी से इंगलैण्ड के लोगों के गुण, कर्म, स्वभाव, वहाँ की भूमि, जलवायु, खाए जाने वाले भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चूसे जाने वाले (चूष्य) पदार्थों के बारे में पूछा है। साथ ही यह भी प्रश्न किया है कि वहाँ कितने लोग संस्कृत पढ़ते हैं, और किस-किस ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं। आपका शरीर स्वस्थ है या नहीं, यात्रा का प्रयोजन प्रतिदिन पूरा हो रहा है या नहीं, वहाँ आपका मासिक आय-व्यय कितना है। स्वामी जी ने श्यामजी को यह परामर्श दिया है कि अपना पठन-पाठन पूरा करने के बाद वे वहाँ वेदार्थ की उत्कृष्टता पर भाषण देकर ही वापस स्वदेश लौटें। लन्दन को नन्दनपुरी बताते हुए उन्होंने वहाँ थियोसोफिकल सोसाइटी की शाखा के बारे में जानकारी चाही है और यह भी पूछा है कि आपने कभी महारानी के और पार्लियामेण्ट की सभा के दर्शन किए हैं या नहीं। उन्होंने सब प्रश्नों का उत्तर विस्तार से भेजने को तथा मोनियर विलियम्स को नमस्ते देने के लिए कहा है।[3]

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में आन्दोलन करने की प्रेरणा—स्वामी जी ने इन्हें अन्तिम

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० १४५।
२. वही, पृ० १६१-६२।
३. वही, पृ० २०३-२०४।

तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पत्र २५ दिसम्बर, १८८० को भेजा था।[1] इसकी कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। पहली विशेषता इसका गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू शैली की संस्कृत में लिखा होना है। इसमें बाईस पद्य हैं और वे संस्कृत के विभिन्न छन्दों—अनुष्टुप-मालिनी, शार्दूल-विक्रीड़ित आदि, में हैं। स्वामी जी के किसी अन्य पत्र में पद्यों की इतनी अधिक संख्या और छन्दों का इतना वैविध्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

दूसरी विशेषता इसमें यह है कि स्वामी जी ने श्यामजी कृष्ण वर्मा को इसमें यह निर्देश दिया है कि वे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में जाकर उसके सदस्यों को यह बताएँ कि ब्रिटिश शासकों ने इस देश के निवासियों की क्या दुर्दशा कर दी है और उन पर कैसे अत्याचार हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने मुंशी इन्द्रमणि के मामले में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा मुसलमानों के प्रति पक्षपात तथा हिन्दुओं के प्रति होने वाले अन्यायों की कथा पार्लियामेण्ट के सदस्यों के सम्मुख विशेष रूप से प्रस्तुत करने को कहा है। तीसरी विशेषता स्वामी जी द्वारा इस बात का प्रतिपादन करना है कि विदेशों से उनके पास अनेक पत्र आते हैं, किन्तु उनकी भाषा का ज्ञान न होने से वे उन पत्रों का उत्तर नहीं दे सकते। इस पत्र का संक्षिप्त सारांश निम्नलिखित है—

पहले दो श्लोकों में श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा अपने पत्र में स्वामी जी को विदेश के समाचार लिखने पर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की है। चौथे श्लोक में यह कहा है कि जर्मनी से उनके पास कई पत्र आए हैं। उन्होंने देश के सुख के लिए और यहाँ उद्योग-धन्धे स्थापित करने के लिए कहा है। छठे श्लोक में स्वामी जी ने श्यामजी कृष्ण वर्मा को यह आदेश दिया है कि विलायत से स्वदेश लौटने से पहले वे धन से समृद्ध यूरोप में वैदिक विषयों पर व्याख्यान दें और उन्हें भारतीय संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान कराएँ। उन्होंने अगले श्लोक में इस बात पर खेद प्रकट किया है कि श्यामजी ने आक्सफोर्ड में संस्कृत के प्रोफेसर मोनियर विलियम्स का कोई समाचार नहीं लिखा है, और अगले श्लोक (संख्या ८) में यह पूछा है कि तुमने मेरी नमस्ते उन्हें दी है या नहीं और अपने देहरादून जाने का कार्यक्रम लिखा है।

नवें श्लोक में यह कहा गया है कि आप पार्लियामेण्ट में जाएँ, वहाँ वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल व्याख्यान देकर उन्हें भारतवर्ष के मनु आदि पुराने धर्मशास्त्रकारों के बनाये हुए नियमों से अवगत कराएँ और यह कार्य इस ढंग से करें कि वे भारत के दुःखपीड़ित लोगों की दशा को जान सकें और उन्हें यह पता लगे कि विधर्मी म्लेच्छ अपनी दुष्टता से भारतीयों को किस प्रकार पीड़ित कर रहे हैं।[2]

दसवें श्लोक में उन्होंने यह बताया है कि ब्रिटिश शासक मुसलमानों के मत को अपने धर्म के अनुकूल समझते हैं (यवनजनमतं हि स्वीयधर्मानुकूलम्) और ऐसा सोचकर

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० २३६-४२।

२. वही, पृ० २४०।

गत्वा पारलिमैण्ट सज्जन सभां व्याख्यानमाख्यावरम्
दत्त्वा भारतवर्ष पूर्वनियम प्रेक्षावतस्तान् कुरु।
पश्येयुर्यैस ईदृशं निजदशादुःखं द्रुतं दुःखिनाम्
म्लेच्छा म्लेछतया च भारतजनान् संपीडयन्तीतियत्॥

वे वैदिक सिद्धान्तों का पालन करने वालों का सदैव विध्वंस करना चाहते हैं। इसका उदाहरण देते हुए उन्होंने अगले चार श्लोकों में मुरादाबाद के मुंशी इन्द्रमणि के साथ ब्रिटिश शासकों द्वारा किये गए घोर अन्याय का विस्तृत वर्णन किया है। इस मामले का स्वामी जी के मन पर गहरा असर पड़ा था। इसने ब्रिटिश सरकार की न्यायपरायणता में उनकी आस्था शिथिल कर दी और वे सरकार की अन्यायपूर्ण नीति के विरोधी बन गए। इसे समझने के लिए मुंशी इन्द्रमणि के मामले का संक्षिप्त परिचय देना यहाँ आवश्यक है।

मुंशी इन्द्रमणि का मामला—मुंशी इन्द्रमणि मुरादाबाद के रहने वाले माथुर वैश्य थे। वे अरबी-फारसी के बहुत अच्छे विद्वान् थे, और फारसी में पद्यों की रचना भी कर लेते थे। उनके समय में स्वामी जी के कार्यक्षेत्र में अवतरित होने से पहले मुसलमान हिन्दू धर्म पर आरोप करने वाली अनेक भद्दी रचनाएँ कर रहे थे। उन्होंने ऐसी हिन्दुत्व-विरोधी पुस्तकों का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए तथा हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपनी लेखनी उठाई और फारसी में अनेक रचनाएँ लिखीं।

इस विवाद में पहल मुसलमानों द्वारा की गई थी।[1] सर्वप्रथम १८४५ ई० के आसपास इस्माइल नामक एक मौलवी ने हिन्दू धर्म की आलोचना करते हुए रद्दे हनूद (हिन्दू मत का खण्डन) के नाम से एक पुस्तक बम्बई से प्रकाशित करवाई। इसके उत्तर में चौबे बद्रीदास ने उन्हीं दिनों रद्दे मुसलमान (मुस्लिम मत का खण्डन) नामक एक पुस्तक लिखी। इसके बाद अब्दुल्ला नामक व्यक्ति ने १२७४ हिजरी (१८५६ ई०) में हिन्दू देवी-देवताओं की कठोर आलोचना तथा निन्दा करते हुए तोहफतुल-हिन्द (भारत की सौगात) के नाम से एक पुस्तक उर्दू में प्रकाशित की। लेखराम जी के कथनानुसार इसे पढ़कर कई अज्ञानी हिन्दू मुसलमान हो गए थे।

ऐसी स्थिति में मुरादाबाद वासी मुंशी इन्द्रमणि ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उपर्युक्त पुस्तक का उत्तर तोहफतुल-इस्लाम (इस्लाम का उपहार) के नाम से फारसी भाषा में दिया। सैयद महमूद हुसैन ने इसके खण्डन में 'खिलअत अल हनूद' नामक पुस्तक छापी। इसके प्रत्युत्तर में मुंशी इन्द्रमणि ने फारसी में 'पादाशे इस्लाम' नामक पुस्तक १८६६ ई० में लिखी। इसके तीन वर्ष बाद उन्होंने बरेली के एक मुसलमान द्वारा लिखी असूले दीने हिन्दू (हिन्दू धर्म के सिद्धान्त) नामक पुस्तक का उत्तर देने के लिए असूले दीने अहमद (इस्लाम के सिद्धान्त) के नाम से लिखी।

मुसलमान इससे भड़क उठे और १८७३ में एक मुसलमान ने अत्यन्त अश्लील शब्दों में 'तेगे फकीर बर गरदने शरीर' (दुष्ट व्यक्तियों की गर्दन पर फकीर की तलवार) नामक पुस्तक और मौलवी अहमद दीन ने अयजाजे मुहम्मदी और मौलवी कुतुब आलम ने हदिया उल इस्लाम नामक पुस्तकें लिखीं। इनके जवाब में मुंशी इन्द्रमणि ने हमलये हिन्द (१८६३ ई०), समसामे हिन्द और सौलते हिन्द (१८६८ ई०) नामक तीन पुस्तकें तैयार करके मेरठ से छपवायीं।

इसी बीच में स्वामी जी १८७६ में मुरादाबाद पधारे। उनके उपदेश से मुंशी

---

1. हरिश्चन्द्र विद्यालंकार द्वारा सम्पादित एवं लेखराम कृत महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र, पृ० ८३६-५४।

इन्द्रमणि पौराणिक मत छोड़कर आर्यसमाज के सदस्य बने और मुरादाबाद में आर्य-समाज के स्थापित होने पर उसके पहले प्रधान चुने गए।

१८८० में मुंशी इन्द्रमणि की तीनों पुस्तकें तीसरी बार मुरादाबाद से प्रकाशित हुईं। इनसे मुसलमानों में इस कारण बड़ा रोष उत्पन्न हुआ कि ये मुसलमानों के एक बड़े गढ़ मुरादाबाद में छपी थीं। एक मुस्लिम पत्र जामे जमशेद ने १६ मई, १८८१ के अंक में लिखा कि "इस्लाम के शत्रु मुंशी इन्द्रमणि ने मुरादाबाद में एक प्रेस चलाकर इस्लाम की निन्दा पर कमर बाँधी है। इस समय तक एक पुस्तक हमलये हिन्द छप चुकी है और दूसरी पुस्तक इसी सप्ताह मुंशी इन्द्रमणि ने समसाये हिन्द के नाम से निकाली है, जिसमें इस्लाम के पैगम्बरों को खुल्लम-खुल्ला गालियाँ लिखी हैं। ये पुस्तकें शरारत का घर और उपद्रव का कार्यालय हैं और मुरादाबाद के मुसलमान उत्तेजित हो रहे हैं। यदि मुंशी इन्द्रमणि की यही दशा रही, तो बकरे की माँ कब तक खैर बनाएगी। अन्त में एक दिन गला और छुरी दिखाई देगी।...हम गवर्नमेण्ट से प्रार्थना करते हैं कि इन पुस्तकों को जलवा दें और भविष्य में मुद्रणालय बन्द करा दें।"

इस पर सरकारी मशीनरी बड़ी जल्दी सक्रिय हो गई, और २२ जुलाई, १८८० को मुंशी इन्द्रमणि के नाम वारण्ट जारी करके भारतीय दण्ड संहिता की धारा २९२,२९३ के अनुसार उन्हें कचहरी में बुलाया गया और हमलये हिन्द तथा समसाये हिन्द की कुछ आपत्तिजनक बातों के बारे में मुंशी इन्द्रमणि से जवाब माँगा गया। यद्यपि मुंशी इन्द्रमणि और उनके वकीलों ने सब पूछे गए प्रश्नों का समुचित उत्तर दे दिया, फिर भी मुंशी इन्द्रमणि पर निचली अदालत ने ५०० रु० जुर्माना किया और कोर्ट इंस्पेक्टर को भेजकर मुंशी साहब के मकान से हमलये हिन्द और समसामे हिन्द की सब प्रतियाँ मँगाकर फड़वा डालीं। इस निर्णय के विरुद्ध मुंशी इन्द्रमणि ने उपरली अदालत में अपील की।

इस विषय पर तत्कालीन आर्यसमाजी पत्रों--आर्य समाचार, मेरठ व आर्यदर्पण शाहजहाँपुर और प्रमुख उर्दू तथा अंग्रेजी के अखबारों ने अनेक लेख लिखे। भारत सरकार को कई स्थानों से आवेदनपत्र भेजे गए। गवर्नर-जनरल ने शिमला से तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रान्त (उत्तर प्रदेश) की सरकार को और उसने मुरादाबाद के मैजिस्ट्रेट को मुंशी इन्द्रमणि के मुकदमें की मिसल भेजने के लिए लिखा। मैजिस्ट्रेट ने उत्तर दिया कि मामला अपील के लिए विचाराधीन है। १८ सितम्बर, १८८० को इसकी पेशी है। इस पर शिमला से आदेश आया कि अपील के निर्णय के बाद मिसल जज साहब की आज्ञा की प्रतिलिपि सहित भेजी जाए।

१८ सितम्बर, १८८० को इसकी अपील जब जज साहब के सामने पेश हुई तो वकीलों और बैरिस्टरों ने कुरान शरीफ के अंग्रेजी अनुवाद और अरबी कोशों के आधार पर मुंशी इन्द्रमणि के अर्थों तथा व्याख्या को सही मानने के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किये और इसके साथ ही **'तेगे फकीर बर गरदने शरीर'** व तोहफ तुल हिन्दू आदि मुसलमानों द्वारा हिन्दू धर्म पर आक्षेप करने वाली पुस्तकों पर भी विचार करने के लिए कहा, जिनके उत्तर में इन्द्रमणि ने ये पुस्तकें हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए लिखी थीं। इन सब बातों पर कोई ध्यान न देते हुए २२ सितम्बर, १८८० को अपील का निर्णय करते हुए जज ने यह आदेश दिया कि ५०० रुपये के जुर्माने में से ४०० रुपये क्षमा कर दिये जायें

और १०० रुपये का जुर्माना कायम रखा जाये।

इस निर्णय के विरुद्ध एक अपील हाईकोर्ट में की गयी। इसकी सुनवाई ६ मई, १८८१ को हुई। यद्यपि न्यायाधीश ने यह कहा कि मुरादाबाद के मजिस्ट्रेट ने सारी कार्यवाही अधूरी की है, प्रतिवादी के गवाहों को नहीं सुना, मुसलमानों ने इस प्रकार की जो पुस्तकें लिखी हैं, उन पर मुकदमा क्यों नहीं चलाया, और अपील की अवधि के भीतर मुंशी इन्द्रमणि की पुस्तकों को नष्ट क्यों किया, फिर भी ३ जून, १८८१ को हाईकोर्ट ने मुरादाबाद के मजिस्ट्रेट के निर्णय को बहाल रखा। इस विषय में प्रबल आन्दोलन होने पर अन्त में २६ जून को लेफ्टिनैण्ट गवर्नर ने इस मामले पर विशेष विचार करते हुए मुंशी इन्द्रमणि का १०० रुपये का जुर्माना भी माफ कर दिया।

स्वामी जी को इस मामले में ब्रिटिश अधिकारियों के पक्षपातपूर्ण रवैये और मुंशी इन्द्रमणि के साथ होने वाले अन्याय से बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने सब समाजों को इस विषय में मुंशी इन्द्रमणि की आर्थिक सहायता करने के गश्ती पत्र जारी किये (८ अगस्त, १८८०)।

मुंशी इन्द्रमणि के इसी मामले को छह श्लोकों में विस्तार से प्रतिपादित करते हुए स्वामी जी ने श्यामजी कृष्ण वर्मा को यह सारा मामला पार्लियामेण्ट में प्रस्तुत करने का आदेश दिया है।[1]

इस पत्र के अन्तिम श्लोकों (संख्या १८ से २१ तक) में उन्होंने पुनः इस बात पर बल दिया है कि "मैं थियोसोफिकल सोसायटी के प्रधान ब्लावत्स्की तथा कर्नल आल्काट को उनकी भाषा न जानने के कारण उत्तर देने से असमर्थ हूँ। मेरे पास इतनी धनराशि नहीं है कि मैं यहाँ अपने पास हिन्दी-अंग्रेजी जानने वाले व्यक्ति को रख सकूँ। यदि कर्नल आल्काट को मुझसे अपने पत्र का उत्तर पाना हो, तो वे मेरे पास ऐसा दुभाषिया रखने की व्यवस्था करें।"

अन्त में स्वामी जी ने श्यामजी को यह सूचना दी है कि "मैंने यहाँ एक परोपकारिणी सभा की व्यवस्था की है। उसका एक सभासद् आपको भी बनाया गया है, उसके नियमों की सरकारी मुद्रायुक्त एक प्रति आपको भिजवा रहा हूँ।"

१८८५ ई० में स्थापित होने वाली राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) ने अपनी माँगों और प्रस्तावों को ब्रिटिश सरकार से स्वीकृत कराने के लिए इंग्लैण्ड में अपने प्रतिनिधिमण्डल भेजकर आन्दोलन चलाने की जिस नीति का श्रीगणेश किया था, उसके प्रवर्त्तक स्वामी जी ही थे। उन्होंने कई वर्ष पहले इस पत्र द्वारा श्यामजी कृष्ण वर्मा को ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में मुंशी इन्द्रमणि के मामले को उठाने की प्रेरणा दी थी और यह कहा था कि वे 'म्लेच्छों' द्वारा भारतीयों पर किये जाने वाले अत्याचारों का विवरण ब्रिटिश जनता के सम्मुख प्रस्तुत करें। श्री श्यामजी द्वारा भारत को स्वतन्त्र कराने के उद्देश्य से किये गये उपर्युक्त कार्य-कलापों से स्पष्ट है कि वे आजीवन स्वामी जी के आदेश का पालन करते रहे।

---

1. श्लोक संख्या १७, सर्वमेतत् समाख्याहि पार्लियामैण्ट संसदि।

(२) गोपालरावहरि देशमुख लोकहितवादी (१८२३-१८६२)

लोकहितवादी श्री गोपालरावहरि देशमुख बम्बई आर्यसमाज के प्रधान थे और स्वामीजी को सुधार कार्यों में बड़ा सहयोग देते थे। स्वामीजी ने उन्हें परोपकारिणी सभा का भी सदस्य बनाया था। उनके समाजसुधार सम्बन्धी विचार स्वामीजी जैसे थे। **लोकहितवादी** नामक मराठी पत्रिका उस समय महाराष्ट्र में समाजसुधार की अग्रगण्य पत्रिका थी और उसके साथ उनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि उनके नाम के साथ लोकहितवादी का शब्द जोड़ा जाने लगा।

श्री गोपालहरि देशमुख का जन्म महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध चितपावन ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके पूर्वज कोंकण प्रदेश के वंशपरम्परागत देशमुख थे। उनके दादा अपने भाइयों के साथ नौकरी की खोज में १७५४ में पूना आए। उनके चाचा नाना फड़नवीस के देहावसान के बाद पेशवा के फड़नवीस बने। उनके पिता हरिदेशमुख पेशवाओं के अन्तिम महासेनापति हरिबापू गोखले के फड़नवीस थे।

लोकहितवादी की शिक्षा पूना के इंग्लिश स्कूल में १८४१ से १८४४ तक हुई और शिक्षा समाप्ति के बाद १८४४ में ही अनुवादक के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। इसके साथ ही वे दक्खन में सरदारों के एजेण्ट बने। १८४६ में उन्होंने मुन्सिफ की परीक्षा पास की, और ६ वर्ष बाद वे वाई (जिला सतारा) में प्रथम श्रेणी के मुन्सिफ बने। १८५५ में सरकार ने उन्हें उपसहायक इनाम कमिश्नर बनाया और २ वर्ष बाद पदोन्नत होकर वे सहायक इनाम कमिश्नर बने।

मई, १८६१ में बम्बई सरकार ने हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक रीति-रिवाजों तथा विधि-विधानों का संकलन करके एक डाइजैस्ट या निबन्ध-ग्रन्थ बनाने का काम उन्हें सौंपा। अगले ही वर्ष जुलाई में वे अहमदनगर के और सितम्बर, १८६२ में अहमदाबाद के सहायक न्यायाधीश बने। सितम्बर, १८६६ में वे अहमदाबाद के खफीफा-अदालत के सहायक न्यायाधीश बने। मार्च, १८६७ में न्यायाधीश के रूप में उनकी सम्पुष्टि कर दी गयी। १८७७ में वे नासिक के संयुक्त न्यायाधीश हुए और दो वर्ष बाद उन्होंने सेवा से अवकाश ग्रहण किया।

बम्बई आर्यसमाज, थियोसोफीकल सोसायटी और गुजराती बुद्धिवर्धक सभा के वे प्रधान थे। ब्रिटिश सरकार ने १८७७ में उन्हें रायबहादुर की उपाधि प्रदान की। इसी वर्ष अगस्त में उन्हें जस्टिस आफ पीस तथा मार्च, १८८१ में प्रथम श्रेणी का सरदार बनाया गया।

वे मराठी भाषा के मासिक पत्र 'लोकहितवादी' के सम्पादक थे। इसमें वे ब्राह्मणों की कड़ी आलोचना करते थे। उनका यह मत था कि भारत की सामाजिक प्रगति में द्विज बाधक हैं, क्योंकि वे पुरानी हानिकारक रूढ़ियों और कुरीतियों का समर्थन करते हैं। उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह और स्त्रियों की दशा उन्नत करने का प्रबल समर्थन किया। वे बालविवाहों और विधवाओं के सिर मुँड़वाने के विरोधी एवं जातिप्रथा और दासप्रथा के कड़े आलोचक थे।

उन्हें भाषण देने का बड़ा शौक था। वे अहमदाबाद, नासिक, बम्बई आदि जिन स्थानों पर सरकारी पदों पर रहे, वहाँ सदैव व्याख्यान देते रहे। इनके व्याख्यानों का मुख्य

विषय न केवल सामाजिक कुरीतियों का सुधार, अपितु भारत का औद्योगीकरण तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार भी था।

उन्होंने अहमदाबाद में प्रार्थनासमाज की स्थापना की, **विधवा पुनर्विवाह मण्डल** बनाया, गुजराती भाषा में हितेच्छु नामक पत्र निकाला। निर्धनों को मुफ्त दवाइयाँ वे अपने घर के औषधालय से वितरण किया करते थे। वे निर्धन विद्यार्थियों को पुस्तकें और फ़ीस के लिए भी आर्थिक सहायता प्रदान किया करते थे।

उन्होंने लोकहितवादी के अतिरिक्त बम्बई से मराठी का इन्दुप्रकाश और पूना से ज्ञानप्रकाश नामक सुप्रसिद्ध पत्र निकालने में सहायता दी थी। पण्ढरपुर में अनाथ बालकाश्रम और सूतिकागृह की स्थापना की और विभिन्न सार्वजनिक संस्थाओं को १५ हजार रुपये से अधिक की धनराशि का दान दिया था।

स्वामी जी के साथ सम्बन्ध—गोपालरावहरि देशमुख ने पश्चिमी भारत में स्वामी जी को समाजसुधार और आर्यसमाज के कामों में बड़ी सहायता दी थी। वे आयु में स्वामी जी से एक वर्ष बड़े थे और जब स्वामी जी गुरु की खोज में हिमालय की उत्तुंग पर्वतमालाओं में पर्यटन कर रहे थे, उसी समय से ही लोकहितवादी देशमुख ने ब्राह्मणों की प्रभुता के विरोध में लेख लिखने शुरू कर दिए थे, और हिन्दू समाज पर उनके दुष्प्रभाव तथा उनमें विद्यमान जातीय अभिमान के वे बड़े कटु आलोचक थे। १८४८ से १८५० के बीच में लिखे गये उनके सौ पत्रों का संग्रह (शतपत्र) **प्रभाकर** में छपा था और इन पत्रों में इस बात पर बल दिया गया था कि ब्राह्मण संस्कृत के माध्यम से भोली-भाली हिन्दू जनता को ठग रहे हैं। उन्होंने विधवा पुनर्विवाह के लिए आन्दोलन चलाया था और १८६२ में विष्णु शास्त्री पण्डित के साथ साप्ताहिक **इन्दुप्रकाश** नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया था।

उनके अधिकांश विचार स्वामी जी के विचारों से मेल खाते थे। उन्होंने स्वामी जी को अहमदाबाद आने का निमन्त्रण दिया, और वहाँ स्थापित किये गये पहले आर्यसमाज के वे सदस्य बने। बाद में स्वामी जी ने बम्बई आर्यसमाज के प्रधान बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा रुपये-पैसे का गोलमाल करने पर उसे समाज से निकालने के पश्चात् देशमुख को बम्बई समाज का प्रधान बनवाया। वे वेदभाष्य के प्रकाशन, वैदिक प्रेस की व्यवस्था और गौरक्षा के बारे में स्वामी जी को बहुमूल्य सहायता देते रहे। स्वामी जी ने उन्हें परोपकारिणी सभा का ट्रस्टी बनाया था। स्वामी जी का स्वर्गवास होने पर लोकहितवादी पत्र में श्री देशमुख ने उनके कार्य की सराहना करते हुए एक लम्बा लेख लिखा था।

स्वामी जी के साथ पत्र व्यवहार—गोपालरावहरि देशमुख को स्वामी जी द्वारा लिखे गये १२ पत्र इस समय उपलब्ध हैं। इनसे स्वामी जी के साथ उनके सम्बन्धों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। २० फरवरी, १८७५ के पहले पत्र में स्वामी जी ने उनसे पूछा है कि "अहमदाबाद में अब तक आप लोगों ने आर्यसमाज का प्रारम्भ किया है वा नहीं? जो न किया हो तो जल्दी करें। अच्छे काम में देर नहीं लगानी चाहिए।" इसके बाद उन्होंने आर्यसमाज के नाम का औचित्य स्पष्ट करते हुए प्रार्थनासमाज के नाम की आलोचना की है, और यह भी सूचना दी है कि वे संस्कार विधि और आर्याभिविनय की पुस्तक लिखने की तैयारी कर रहे हैं, और संध्या भाष्य की पुस्तक छपकर तैयार होने वाली है। उन्होंने उस समय तक सत्यार्थप्रकाश की १२० पृष्ठ तक छपे फार्मों की कुछ प्रतियाँ

उन्हें उनके पुत्र के हाथ भेजीं।[1]

१६ मार्च, १८७५ के पत्र में स्वामी जी ने देशमुख को बम्बई के समाचार बड़ी रोचक भाषा में लिखते हुए कहा है कि वहाँ पण्डितों ने किस प्रकार एक शास्त्रार्थ में उन्हें व्याकरण में हराने का प्रयास किया क्योंकि उनका यह विचार था कि स्वामी जी को व्याकरण का अच्छा ज्ञान नहीं है, किन्तु जब व्याकरण में प्रश्नोत्तर होने लगा तो "पण्डितों की धूल उड़ गई। पण्डित लोग चुप हो गये।"[2]

बम्बई आर्यसमाज की स्थापना—१८ एप्रिल, १८७५ को लिखे पत्र में स्वामी जी ने देशमुख जी को यह शुभ सूचना दी है कि "मुम्बई में चैत्र सुदी पाँच शनिवार के दिन संध्या के साढ़े पाँच बजे आर्यसमाज का आनन्दपूर्वक आरम्भ हुआ। आप लोग भी वहाँ (अहमदाबाद में आर्यसमाज का) आरम्भ कर दीजिये।" इस पत्र के साथ स्वामी जी ने संध्योपासनादि पाँच महायज्ञ विधान के हाल में छपे भाष्य की १० पुस्तकें उनके लड़के के हाथ उन्हें भिजवाई थीं।[3]

२६ मई, १८७५ को स्वामी जी ने देशमुख को यह सूचना दी कि आर्याभिविनय के दो अध्याय बन गये हैं। चार आगे बनने हैं और सत्यार्थप्रकाश के १२ फार्म छप गये हैं। अपना पूना जाने का विचार भी उन्होंने प्रकट किया है।[4]

वेदभाष्य के लिए धनसंग्रह—१० अगस्त, १८७५ को पूना से लिखे पत्र में स्वामी जी ने यह सूचना दी है कि पूना में महादेव गोविन्द रानाडे, माधवराव मोरेश्वर कुण्टे तथा लस्कर में गंगाराम भाऊ आदि पुरुषों ने अच्छी प्रकार से व्याख्यान का प्रबन्ध कराया और व्याख्यान छपवाये भी हैं। वेदभाष्य बनवाने के वास्ते कुछ फण्ड जमा किया है। महादेव गोविन्द आदि ने एक पण्डित रखने के लिए प्रतिमास पचास रुपये देने का निश्चय किया है। मथुरादास लौजी और छबीलदास लल्लू भाई आदि आर्यसभासदों ने वेदभाष्य के लिए २० हजार रुपये जमा करने का निश्चय किया है। एक पण्डित रखने के लिए राजा जयकृष्णदास जी ने स्वीकार किया है। यहाँ महादेव गोविन्द आदि की तथा हमारी भी इच्छा है कि एक पण्डित के रखने के लिए पचास रुपये का प्रबन्ध आप लोगों की ओर से हो जाये तो अच्छा है।[5]

१६ अक्टूबर, १८७५ को लिखे पत्र में स्वामी जी ने पूना में आर्यसमाज की स्थापना की सूचना देते हुए कहा है कि महादेव गोविन्द रानाडे को प्रधान तथा केशवराव गोड्बोले को मन्त्री बनाना नियत हुआ है। प्रार्थनासमाज के सब सभासद् आर्यसमाज के सदस्य बन गये हैं। संस्कार की पुस्तक बनाने के लिए एक पण्डित की खोज हो रही है, सो अब तक मिला नहीं है। मुम्बई आर्यसमाज ने वेदभाष्य के लिए पाँच हजार रुपये इकट्ठा कर लिये हैं। २०-२५ हजार रुपये इकट्ठा करने वाले हैं। अहमदाबाद से कोई ऐसा पण्डित हो तो भेज दीजिए। चालीस, पचास या तीस रुपये पर्यन्त जो मासिक

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० २६।
२. वही, पृ० ३०।
३. वही, पृ० ३२।
४. वही, पृ० ३३।
५. वही, पृ० ३४।

रुपया भेजना सम्भव हो तो भेज देना।[1]

वेदभाष्य को सुबोध बनाना—रावलपिण्डी से २८ नवम्बर, १८७७ के पत्र में स्वामी जी ने शीघ्र ही मुद्रित किये जाने वाले वेदभाष्य के नमूने की एक प्रति देशमुख जी को भेजते हुए लिखा है कि "मैं अपनी ओर से इस बात का पूरा प्रयत्न करूँगा कि **वेद के कठिनतम विषयों को इतनी सरल संस्कृत और देवनागरी में लिखा जाये कि बहुत थोड़ा ज्ञान रखने वाले बच्चे भी इसे बिना किसी सहायता के समझ सकें।**" पाठकों की सुविधा के लिए विभिन्न व्याख्यानों को विभिन्न साइजों में छपवाने के बारे में उन्होंने देशमुख से शीघ्र ही अपना परामर्श देने को लिखा है और अन्त में इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की है कि श्री देशमुख जी हर पखवाड़े को बम्बई आर्यसमाज में जाते हैं और वहाँ विभिन्न विषयों पर सुन्दर व्याख्यान देते हैं।[2]

प्रूफ संशोधन का महत्त्व—६ दिसम्बर, १८७७ को रावलपिण्डी से लिखा गया पत्र इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उसमें स्वामी जी ने लिखा है कि "वे हिन्दी में प्रूफ देखना अपना कर्तव्य समझते हैं। प्रतिमास वे दो-तीन बार प्रूफ संशोधन किया करेंगे।"[3] अब तक वेदभाष्य बनारस में डॉ० लाजरस छाप रहे थे, अब वे वेद मुद्रण का कार्य बम्बई में शुरू कराना चाहते थे। अतः उन्होंने बनारस में डॉक्टर लाजरस के प्रेस में वेदभाष्य की इकतीस सौ प्रतियों की छपाई और कागज की कीमतें ६.६/११/ पाई की दर से १६१ रु० १४ पैसे लिखी है। कवर की छपाई, भराई और स्टिच करने की दर पन्द्रह रुपये प्रति हजार तथा अन्य खर्च ३० रुपये प्रति मास लिखे हैं। इससे अगले पत्र में उन्होंने बम्बई में छपाई की और कागज की दरें पूछी हैं और यह लिखा है कि यदि बम्बई में छपाई सस्ती है तो इसे वहाँ कराने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी।[4]

१३ दिसम्बर, १८७७ के पत्र में उन्होंने देशमुख जी को वेदभाष्य के मुद्रण के लिए कागज का एक नमूना भेजा है और वेदभाष्य को तीन अलग-अलग टाइपों में छपवाने की भी बात लिखी है और बड़ौदा के ग्राहकों का चन्दा भिजवाने को कहा है। अगला पत्र जेहलम से लिखा गया है और उसमें पोस्टमास्टर की मार्फत उन्हें ग्राहकों के चन्दा मनी-आर्डर से भेजने की बात लिखी गई है।[5]

लोकहितवादी को वेदभाष्य के मुद्रण के निरीक्षण का कार्य सौंपना—२ नवम्बर, १८७८ को दिल्ली से लिखे पत्र में स्वामी जी ने बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा वेदभाष्य के प्रबन्ध की व्यवस्था की बड़ी कटु आलोचना की है। उस समय स्वामी जी का वेदभाष्य बम्बई में छप रहा था और बम्बई आर्यसमाज के प्रधान बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को उन्होंने वेदभाष्य के अंक छपवाकर ठीक समय पर ग्राहकों को भिजवाने की व्यवस्था का कार्य सौंपा था। किन्तु वे सम्भवतः इस काम में आवश्यक दिलचस्पी नहीं लेते थे और इस ओर पूरा ध्यान नहीं देते थे। इसलिए वेदभाष्य के अंक ग्राहकों के पास

---

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३५।
२. वही, पृ० ८२-८३।
३. वही, पृ० ८३।
४. वही, पृ० ८३।
५. वही, पृ० ८५।

ठीक से नहीं पहुँचते थे। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए स्वामी जी ने देशमुख जी की सलाह से यह काम श्यामजी कृष्ण वर्मा को सौंपने का निश्चय किया। इस बारे में स्वामी जी ने लिखा है—"जिस दिन से बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि जी के प्रबन्ध में वेद-भाष्य का काम गया है, तब से किसी ग्राहक के पास अंक यथार्थ ठीक-ठीक नहीं पहुँचते। अब हम इस बात से बहुत प्रसन्न हुए कि आपने श्यामजी कृष्ण वर्मा को इस काम के लिए स्वीकार करने के लिए उद्दित (उद्यत) किया। यह पुरुष इस काम के बहुत योग्य हैं। आप इस काम के अधिपति रहें और बाबू जी का भी नाम रहे परन्तु सब काम आपके नीचे श्यामजी करें तब यह काम ठीक-ठीक होगा।" इसके बाद स्वामी जी ने दिल्ली में आर्य-समाज स्थापित होने की सूचना दी है।[1]

उपर्युक्त पत्रों से स्पष्ट है कि स्वामी जी के लोकहितवादी से बड़े मधुर सम्बन्ध थे। वे उनसे वेदभाष्य के बारे में परामर्श किया करते थे, उन्हें अपने ग्रन्थों के प्रकाशन की प्रगति से निरन्तर अवगत कराते रहते थे, और वेदभाष्य के लिए धनसंग्रह के काम में उनसे सहयोग लेते थे। हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को हटाकर उनके स्थान पर उन्हें बम्बई आर्यसमाज का प्रधान बनाया था, और उनकी प्रेरणा से श्यामजी को वेदभाष्य की छपाई का कार्य सौंपा था। सम्भवतः, उनके सहयोग को दृष्टि में रखते हुए ही उन्होंने वेदभाष्य के मुद्रण कार्य को काशी से हटाकर बम्बई में शुरू किया था।

(३) महादेव गोविन्द रानाडे (१८४२-१९०१)

पश्चिम भारत में महान् समाज सुधारक और सुप्रसिद्ध न्यायाधीश श्री रानाडे का स्वामी जी के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। पूना में स्वामी जी के व्याख्यान कराने में उन्होंने बड़ा सहयोग दिया था। पूना आर्यसमाज के वे प्रथम प्रधान थे।

इनका जन्म नासिक जिले के एक गाँव विफड़ में चितपावन ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके दादा अमृतराव ब्रिटिश सेवा में मामलातदार के पद तक पहुँचे। पिता गोविन्दराव पहले अहमदनगर में ब्रिटिश सरकार की सेवा में थे। १८४५ में उन्होंने इस सेवा से त्यागपत्र देकर कोल्हापुर राज्य में सेवा प्रारम्भ की।

रानाडे की शिक्षा मराठी माध्यम से राजाराम हाईस्कूल में हुई (१८५१-१८५६)। १८५३ से इन्होंने अंग्रेजी का अभ्यास शुरू किया और १८५७ में बम्बई आकर एल्फिन्स्टन कालिज में प्रविष्ट हुए। दो वर्ष में इसकी शिक्षा पूरी करने के बाद १८६२ में इन्होंने इतिहास तथा अर्थशास्त्र में प्रथम श्रेणी में स्नातक की पदवी प्राप्त की। १८६४ में इन्हीं दोनों विषयों में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करते हुए इन विषयों में प्रवीणता के लिए स्वर्ण पदक प्राप्त किया। इसी वर्ष इन्होंने एल-एल० बी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की, और ७ वर्ष बाद १८७१ में एडवोकेट की परीक्षा उत्तीर्ण की। महाविद्यालय में इनके समकालीन सहपाठी रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, फिरोजशाह मेहता, दीनशा वाचा जैसे प्रतिभाशाली छात्र थे। किन्तु ये इन सबसे अधिक मेधावी विद्वान् समझे गये। ये एल्फिन्स्टन कालिज में १८६० से १८६३ तक जूनियर फैलो रहे, और १८६८ से १८७१ तक इतिहास

---

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० १३१-३२।

और अंग्रेजी के प्राध्यापक का कार्य करते रहे।

१८७१ में इन्होंने बम्बई की न्यायिक सेवा में प्रवेश किया और क्रमशः पदोन्नति करते हुए बम्बई हाईकोर्ट के न्यायाधीश के पद तक पहुँचे, जो उस समय भारतीयों के लिए अतीव दुर्लभ समझा जाता था। बम्बई सरकार ने १८८५ में इन्हें वहाँ की व्यवस्थापिका परिषद् का कानूनी सदस्य बनाया। भारत सरकार ने बम्बई सरकार के प्रतिनिधि के रूप में १८८६-८७ में इन्हें वित्त आयोग का सदस्य नामजद किया, और १८८७ में ये सी० आई० ई० की उपाधि से ब्रिटिश सरकार द्वारा सम्मानित किए गये। १८९३ में ये बम्बई हाईकोर्ट के न्यायाधीश बनाए गये और १९०१ में मृत्युपर्यन्त उस पद पर बने रहे।

रानाडे के विचार—रानाडे उपनिषदों के प्रभाव से एकेश्वरवादी विचारक थे, और जातिप्रथा, अस्पृश्यता, विधवाविवाहनिषेध आदि कुप्रथाओं के कट्टर विरोधी थे। स्त्रियों की स्थिति को वे समाज में ऊँची उठाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि जब तक भारत सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उन्नति नहीं कर लेता, तब तक वह स्वतन्त्रता पाने में समर्थ नहीं होगा। ब्रिटिश शासन को भारत के लिए लाभकर समझते हुए भी वे साम्राज्यवाद के दोषों को भी स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करते थे।

रानाडे का राष्ट्रीय आन्दोलन का ढंग बड़ा निराला था। उनका विश्वास था, कि यदि हम अपने सामाजिक दोषों को सुधारों द्वारा दूर कर लें तो राष्ट्रीय आन्दोलन इतना प्रबल हो जायेगा कि अंग्रेजों को स्वतन्त्रता देने के लिए विवश होना पड़ेगा। भारत की आर्थिक उन्नति के लिए वे औद्योगीकरण को अतीव आवश्यक समझते थे।

१८६४ से १८७१ तक रानाडे अंग्रेजी तथा मराठी में बम्बई से छपने वाले दैनिक 'इन्दुप्रकाश' के सम्पादक रहे, और सामाजिक सुधारों का प्रबल समर्थन करते रहे।

बम्बई प्रान्त में वे प्रार्थनासमाज के संस्थापकों में से थे। यह समाज ब्राह्मसमाज का ही एक रूपान्तर था। किन्तु ब्राह्मसमाज से इसका एक बड़ा भेद यह था कि इसके मत में सुधारों को शनैः-शनैः इस ढंग से किया जाना चाहिए कि पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं को कोई प्रबल आघात न पहुँचे। वे अपने जीवन में अत्यन्त सरल, न्यायप्रेमी और सब मनुष्यों की समानता में अगाध विश्वास रखने वाले थे।

स्वामी जी से सहयोग—रानाडे आर्यसमाज के कार्यों में दिलचस्पी लेते थे। बम्बई आर्यसमाज में वे कई बार व्याख्यान देते थे, और स्वामी जी के पूना में व्याख्यानों को कराने तथा छपवाने में उन्होंने सहयोग प्रदान किया था। उनके प्रभाव से सुधारवादी प्रवृत्ति वाले नवयुवक आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए।

सामान्य रूप से सामाजिक सुधारों के प्रश्न पर स्वामी जी से सहमति रखते हुए भी रानाडे उनके वेदविषयक दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। इस विषय में उनके दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए चन्दावरकर ने कहा था—"यदि स्वामी दयानन्द यह कहते हैं कि वेद और केवल वेद ही ईश्वर की वाणी है तो इसमें आपत्ति की क्या बात है? यह उनका विश्वास है। हमें गहराई में जाकर यह देखना चाहिए कि इसके अतिरिक्त उनमें हमारे सिद्धान्तों से समानता रखने वाली क्या बातें हैं?" ऐसी अनेक बातें होने के कारण रानाडे ने स्वामी जी का समर्थन किया। स्वामी जी रानाडे पर बड़ा स्नेहभाव रखते थे और उन्होंने अपने स्वीकारपत्र में ट्रस्टियों में उनका नाम सम्मिलित कर उनके प्रति अपना विश्वास प्रकट किया था।

(४) महात्मा जोतीराव गोविन्दराव फुले (१८२७-१८९०)

पूना निवास (जुलाई, १८७५) में जब स्वामी जी के सम्मान में जुलूस निकाला गया, उस समय स्वामी जी के एक ओर महादेव गोविन्द रानाडे और दूसरी ओर महात्मा फुले चल रहे थे। ये दोनों तत्कालीन महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध समाज सुधारक थे। स्वामी जी ने जिन सामाजिक सुधारों को आर्यसमाज के माध्यम से और अपने व्याख्यानों द्वारा करने का प्रयास किया, उनमें से अनेक सुधारों को महात्मा फुले ने स्वामी जी के कार्यक्षेत्र में अवतरण से काफी पहले शुरू कर दिया था। स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में ब्राह्मणों की पोप लीला की कड़ी आलोचना की है। फुले उनसे पहले ही ब्राह्मणों की प्रभुता के उग्र विरोधी बन चुके थे। यही कारण है, कि स्वामी जी के पूना पधारने पर महात्मा फुले ने उनका समर्थन किया, और उनके साथ सहयोग किया। महाराष्ट्र में स्वामी जी के समर्थकों में फुले भी एक थे।

जोतीराव का जन्म पूना में क्षत्रिय माली जाति में हुआ था। इनके परिवार का मूल उपनाम गोड़े था; किन्तु इनके पिता गोविन्दराव पेशवाओं के घर में फूल मालायें ले जाने का व्यवसाय करते थे, अतः इनके परिवार को फुले का नाम मिला।

जोतीराव की शिक्षा पुराने ढंग की मराठी पाठशाला में आरम्भ हुई। इन्होंने बड़े परिश्रम से अध्ययन करना शुरू किया, किन्तु इसी समय इनके पिताजी को किसी ने यह बहका दिया कि यदि लड़के को पढ़ाया गया तो वह वंशपरम्परागत कार्य करना छोड़ देगा, अतः उन्होंने बच्चे को स्कूल से हटाकर बगीचे में कुदाल चलाने का काम सौंप दिया। बाद में कुछ अन्य पड़ोसियों के सत्परामर्श से पिता ने इन्हें पुनः स्काटिश मिशन स्कूल में पढ़ने भेजा और १८४७ में इन्होंने अपना स्कूल का पाठ्यक्रम समाप्त कर लिया।

बचपन में इन पर शिवाजी और वाशिंगटन की जीवनियों का गहरा प्रभाव पड़ा। इन्होंने पराधीन मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने का संकल्प किया और सैनिक प्रशिक्षण में प्रवीणता प्राप्त की। इनके जीवन पर थामस पेन द्वारा लिखित राइट्स आफ मैन (मानव के अधिकार) नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक का भी जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। इससे वे सब मनुष्यों को ईश्वर का पुत्र और समान स्थिति रखने वाला भाई समझने लगे।

इसी समय इनके साथ घटी एक घटना ने इनको कट्टर ब्राह्मणविरोधी बना दिया। इनके एक ब्राह्मण मित्र ने अपने परिवार के एक विवाह समारोह में इन्हें आमन्त्रित किया। किन्तु जब ये बाराती बनकर बरयात्रा में सम्मिलित हुए, तो कुछ कट्टरपन्थी ब्राह्मणों ने अपनी जाति की बारात में सम्मिलित होने के इनके दुस्साहस पर इन्हें इतनी बुरी तरह से फटकारा कि ये उसी समय से ब्राह्मणों की प्रभुता के कटु आलोचक बन गये और जीवन भर उनके विरुद्ध प्रबल आन्दोलन करते रहे।

स्त्री शिक्षा—वे देश की उन्नति के लिए स्त्रियों तथा निम्न वर्गों की जातियों में शिक्षा का प्रसार आवश्यक समझते थे, इनके उत्थान को ही उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बनाने का संकल्प किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए १८४८ में बुधवार पेठ में अपने एक मित्र भिडे के मकान पर इन्होंने निम्न वर्गों की लड़कियों की एक पाठशाला स्थापित की। उस समय स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार न होने के कारण महिला अध्यापक सुलभ नहीं

थीं, अतः जोतीराव ने पहले अपनी पत्नी सावित्री बाई को पढ़ाया और फिर उन्हें इस पाठशाला में निम्न वर्गों की लड़कियों को पढ़ाने का काम सौंपा।

इस घटना से समाज के उच्च वर्गीय व्यक्ति इनसे बड़े नाराज हो गये, और उन्होंने इनके पिता पर इतना दबाव डाला कि जोतीराव को स्कूल कुछ समय के लिए बन्द करना पड़ा और आजीविका कमाने के लिए विवश होना पड़ा।

किन्तु जोतीराव इतनी जल्दी हिम्मत हारने वाले नहीं थे। वे स्त्रियों में शिक्षा प्रसार के अपने संकल्प पर अटल रहे। सौभाग्यवश इस विषय में कुछ यूरोपियन तथा भारतीय भद्रपुरुषों से उन्हें बहुमूल्य सहायता मिली। शीघ्र ही उन्होंने दूसरा स्कूल बुधवार पेठ में स्थापित किया (१८५१)। इसके बाद उन्होंने तीन अन्य स्कूल चलाये। निम्न वर्गों में शिक्षा के प्रसार के सराहनीय कार्य के लिए ब्रिटिश सरकार ने दो सौ रुपये के मूल्य का एक शाल देकर उन्हें सम्मानित किया।

१८५४ में स्काटिश मिशन स्कूल में इन्होंने अंशकालिक अध्यापक का कार्य करना शुरू किया। रेवरेण्ड मरे के प्रभाव से इन्होंने हिन्दू धर्म के दोषों को उद्‌घाटित करने वाली अंग्रेजों द्वारा लिखी गयी पुस्तकें पढ़ीं और वे यह अनुभव करने लगे कि ब्राह्मणों ने हिन्दू धर्म पर बड़े अत्याचार किये हैं और निम्न वर्गों को अपना दास बना कर रखा है।

१८५५ में प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए इन्होंने एक रात्रि पाठशाला शुरू की। इस समय इनके कुछ विरोधियों ने इन्हें मारने का षड्‌यन्त्र रचा, किन्तु जिन लोगों को इनकी हत्या का कार्य सौंपा गया था, वे इनका काम देखकर इनके भक्त बन गये (१८५६)। अगले वर्ष १८५७ में बम्बई सरकार ने निम्न वर्ग की महार आदि जातियों में शिक्षा-प्रसार के लिए उन्हें ६ एकड़ ३३ गुट्‌ठा भूमि प्रदान की।

१८६० में कुमार्गगामी ब्राह्मण विधवाओं द्वारा आत्महत्या को रोकने, उन्हें अपने बच्चों को पालने-पोसने तथा ईसाई मत स्वीकार करने से रोकने के लिए इन्होंने अनेक प्रयास किये। बच्चों के पालन-पोषण के लिए इन्होंने एक अनाथालय की स्थापना की और एक ब्राह्मण विधवा का पुत्र गोद लेकर अपने उदाहरण से समाज को इस बुराई को छोड़ने के लिए प्रेरित किया।

१८७३ में जोतीराव ने **सत्य शोधक समाज** की स्थापना की। इसका उद्देश्य निम्न वर्गों को मानवीय अधिकार और सामाजिक न्याय दिलाना था। १८७३ से १८८२ तक जोतीराव पूना नगरपालिका के सदस्य रहे। उन्होंने १८८८ में कनाट के ड्यूक और डचेस के सम्मान समारोह में शासकों को चेतावनी देते हुए कहा था—"हमें समारोह आयोजित करने में ऊपरी चमक-दमक से प्रभावित नहीं होना चाहिए। महारानी विक्टोरिया की अधिकांश प्रजा गाँवों में रहती है। वह निर्धन, भूखी, नंगी और निराश्रित है। उसकी दशा उन्नत करने का प्रयास किया जाना चाहिए।"

१८८८ में फुले के अनुयायियों ने उन्हें महात्मा की पदवी प्रदान की। बड़ौदा के महाराजा सयाजी गायकवाड़ ने संयुक्त राज्य अमरीका में नीग्रो लोगों की दशा सुधारने वाले नेता के नाम पर उन्हें बुकर टी वाशिंगटन की उपाधि देने का प्रस्ताव रखा।

बालविवाह का विरोध तथा अन्य सुधार—स्वामी जी की भाँति वे बालविवाह के विरोधी थे, क्योंकि यह स्त्रियों की शिक्षा में बाधक था। वे विधवा विवाह के समर्थक थे और उस समय प्रचलित विधवाओं के सिर मुण्डन के कट्टर विरोधी थे। विवाह पद्धति में

इन्होंने एक मौलिक परिवर्तन किया। ब्राह्मण विरोधी होने के कारण इन्होंने यह व्यवस्था की, कि विवाह ब्राह्मण पुरोहितों के बिना ही सम्पन्न किये जायें। वर-वधू गुरुजनों के समक्ष वैवाहिक दायित्वों को पूरा करने की प्रतिज्ञा करें और उनका आशीर्वाद ग्रहण करें। यही विवाह की विधि समझी जाये, उसके लिए ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रोच्चारण की विधि आवश्यक नहीं है। **सत्य शोधक समाज** द्वारा प्रचलित विवाह की यह पद्धति उस समय प्रचलित व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करने वाली थी। कट्टरपन्थी लोगों ने इसका प्रबल विरोध किया और इसके द्वारा किये जाने वाले विवाहों के अवैध होने की घोषणा की। किन्तु **सत्य शोधक समाज** इस मामले को बम्बई हाईकोर्ट तक ले गया और उसने निम्न जातियों के ऐसे विवाहों को वैध घोषित किया। १८७५ में इन्होंने अहमदाबाद के बाढ़ पीड़ितों को सहायता देने के कार्य का संगठन किया और १८७८-७९ में पूना में अकाल पड़ने पर बच्चों की सुरक्षा के लिए अनाथालय की स्थापना की।

महात्मा फुले ने स्त्रियों की शिक्षा, बालविवाह निषेध आदि सामाजिक सुधार के कार्य १८४८ में स्वामी जी से काफी पहले ही शुरू किये थे। दोनों के दृष्टिकोण में कुछ अंशों में समानता थी, अतः महात्मा फुले ने पूना में स्वामी जी को उनके कार्य में सहयोग प्रदान किया था। पूना में कुछ विरोधी एवं उपद्रवी तत्वों ने स्वामी जी के सम्मान में निकाली जाने वाली शोभायात्रा में बाधा डालने का निन्दनीय प्रयास किया। इस समय जोतीराव फुले के अनुयायी समाजसुधारकों की रक्षा के लिए बड़ी संख्या में इस जलूस में सम्मिलित हुए।[1] महर्षि फुले ने पूना में स्वामी जी को पूर्ण समर्थन प्रदान किया।

(५) केशवचन्द्र सेन (१८३८-८४)

ब्राह्मसमाज के सुप्रसिद्ध नेता, समाज सुधारक और सुप्रसिद्ध वक्ता केशवचन्द्र सेन का कलकत्ता में स्वामी जी से काफी वार्तालाप और विचार-विमर्श हुआ। केशवचन्द्र सेन उन्हें अपनी विभिन्न संस्थाएँ दिखाने ले गए। स्वामी जी ने उनके अनुरोध पर वस्त्र धारण करना और संस्कृत के स्थान पर हिन्दी में भाषण देना आरम्भ किया।

श्री केशवचन्द्र सेन का जन्म १९ जनवरी, १८३८ को एक वैष्णव परिवार में हुआ था। इनके दादा कमल सेन बंगाल की नवजागृति में प्रमुख भाग लेने वाले थे। वे १८१७ में हिन्दू कालेज के, १८१८ में स्कूल बुक सोसायटी के और १८२४ में संस्कृत कालेज के संस्थापकों में से थे। उन्होंने अंग्रेजी-बंगला का कोष भी बनाया था और वे टकसाल के दीवान थे। उनके पुत्र प्यारे मोहन भी इस टकसाल के दीवान रहे। उन्होंने केशवचन्द्र सेन को पहले हिन्दू स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा और १८५६ में वे हिन्दू कालेज के स्नातक बने। दर्शन में श्री सेन की बड़ी अभिरुचि थी और इस विषय का वे बड़ी दिलचस्पी से अध्ययन करते रहे। इसी समय उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्य, भगवद्गीता तथा वेदों का भी अध्ययन किया।

श्री सेन राजनारायण बोस की ब्राह्मसमाज पर लिखी पुस्तिका से बड़े प्रभावित हुए, ब्राह्मसमाज के अतीव उत्साही कार्यकर्ता बने और समाज सुधार पर अधिक बल

---

१. जे० टी० एफ० जोर्डन्स—स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ० १३६।

देने लगे। वे न केवल नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा के समर्थक थे, अपितु हिन्दू समाज की प्रमुख कुरीतियों—अस्पृश्यता और जातिप्रथा का उन्मूलन करना चाहते थे। वे स्त्रियों में शिक्षाप्रसार के समर्थक और मद्यपान के विरोधी थे। छात्रों की औद्योगिक शिक्षा पर बल देते थे, ताकि वे जीवन में स्वावलम्वी बन सकें। प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम के लिए उन्होंने सायंकालीन स्कूल चलाए। विधवा विवाह के न केवल वे समर्थक ही थे, अपितु उमेशचन्द्रदत्त द्वारा लिखे विधवा विवाह नाटक का मंचन करके इसका प्रचार भी करते थे। १८६३ में उन्होंने जातिप्रथा के विरुद्ध जिहाद छेड़ा, और सार्वभौम भ्रातृभाव का उपदेश दिया। उन्होंने अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन १८६१ में शुरू किया और १८७२ में उनके प्रयत्न से सरकार द्वारा ब्राह्मो मैरिज एक्ट बनाया गया।

स्त्रियों की उन्नति के लिए वे स्त्रियों की शिक्षा पर बहुत बल देते थे। उनमें शिक्षा के प्रसार के लिए उन्होंने **बामा-बौधिनी** नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। १८६५ में स्त्रियों के लिए ब्राह्मिका समाज बनाया। लड़कियों की शिक्षा के लिए १८७१ में लेडीज नार्मल स्कूल खोला, और वामा-हितैषिणी सभा की स्थापना की।

श्री केशवचन्द्र सेन अपने समय के उच्च कोटि के पत्रकार थे और उन्होंने लगभग एक दर्जन पत्र निकाले। १८६१ में अंग्रेजी में **इण्डिया मिरर** को पाक्षिक पत्र के रूप में शुरू किया गया था। १० वर्ष बाद इसे दैनिक बना दिया गया। १८६४ में उन्होंने **धर्म-तत्त्व** नामक मासिक पत्रिका निकाली। १८७० में **सुलभ समाचार** नाम से उन्होंने एक पैसे के मूल्य वाला साप्ताहिक बंगला पत्र निकाला। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि दो महीने में इसकी ८ हजार प्रतियाँ बिकने लगीं। मद्यपान के विरोध में भी उन्होंने मद या गरल (शराब या जहर) नामक पत्र निकाला। उन द्वारा निकाले गए कुछ अन्य पत्र ये थे—वामा-बौधिनी (१८७०), धर्म साधन (१८७२), सण्डे मिरर (१८७३), बालक-बन्धु (१८७८), और परिचारिका (१८८०)। उन्होंने अपने सभी पत्रों को समाज सुधार का प्रबल माध्यम बनाया।

ब्राह्मसमाज के प्रचार के लिए १८५७ से १८८४ तक उन्होंने सारे भारत की यात्रा की। वे बड़े प्रभावशाली वक्ता थे। उनकी यात्रा से विभिन्न शहरों में ब्राह्मसमाज की ६५ शाखाएँ स्थापित हुईं। किन्तु जब उनके व्याख्यानों में ईसाइयत का प्रभाव बढ़ने लगा और उन्होंने अपनी नाबालिग लड़की का विवाह कूच-बिहार के राजकुमार से किया, तो उनकी लोकप्रियता को गहरा धक्का लगा। १८८४ में स्वामी जी की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही उनका स्वर्गवास हो गया।

स्वामी जी के साथ सम्बन्ध—केशवचन्द्र सेन स्वामी जी से आयु में तेरह वर्ष छोटे थे। स्वामी जी उनपर बड़ा स्नेह भाव रखते थे। पहली बार मिलने पर ही दोनों में परस्पर प्रीति हो गई थी। कहा जाता है कि जब इन दोनों की पहली भेंट हुई, तो बात-चीत की समाप्ति पर श्री सेन महोदय ने पूछा कि क्या आप केशवचन्द्र सेन से मिले हैं? स्वामी जी ने उत्तर दिया—मिला हूँ। उन्होंने फिर पूछा—वे तो कहीं बाहर गए थे, आप उनसे कब मिले। स्वामी जी ने कहा कि मैं मिल चुका हूँ। दो तीन बार यही प्रश्न होने पर स्वामी जी ने कहा—तुम्हीं केशवचन्द्र सेन हो। सेन महोदय ने प्रश्न किया, कि आपने मुझे कैसे पहचाना? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि यह बातचीत किसी दूसरे की

नहीं हो सकती।[1] उस दिन से दोनों में परस्पर बहुत स्नेह हो गया और श्री सेन नित्य-प्रति स्वामी जी के पास आते रहे और घण्टों धार्मिक वार्तालाप करते रहे।

इस समय केशवचन्द्र सेन अपने प्रभाव के चरम शिखर पर थे। १८७० में वे ग्रेट ब्रिटेन हो आए थे। १८७१ में उन्होंने हिन्दू धर्म के सुधार के लिए इण्डियन रिफार्म एसोसियेशन की स्थापना की थी, और १८७२ में उनके प्रयत्न से ब्राह्म लोगों के विवाहों को बगैर मूर्ति पूजन के वैध मान लेने वाला एक विशेष विवाह कानून सरकार द्वारा बनाया गया था। उस समय वे सबसे अधिक कर्मठ समाज सुधारक समझे जाते थे। उन्होंने अपने ओजस्वी भाषणों और समाचार-पत्रों के माध्यम से ब्राह्मसमाज का सारे देश में प्रचार और प्रसार किया था। स्त्री शिक्षा, बालविवाह निषेध, विधवा विवाह के समर्थन और सस्ते साहित्य प्रकाशन के लिए अनेक प्रकार की संस्थाएँ तथा पत्रिकाएँ उन्होंने स्थापित की थीं।

वे स्वामी जी को अपनी सब संस्थाओं को दिखाने के लिए ले गये। उनकी प्रमुख संस्थाएँ थीं—भारत आश्रम, लड़कियों का नार्मल स्कूल, ब्राह्म निकेतन का छात्रावास, मजदूरों की संस्था, दस्तकारी का स्कूल, प्रेस तथा ब्राह्म मन्दिर, जिसके स्थापत्य में हिन्दू, बौद्ध, मुस्लिम और ईसाई कला-शैलियों का सम्मिश्रण था।

केशवचन्द्र सेन की इन संस्थाओं को देखकर स्वामी जी बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने प्रेस तथा समाचार-पत्रों के प्रभाव तथा विभिन्न कार्यों के लिए संस्थायें बनाकर काम करने की पद्धति को काफी निकट से देखा। इससे उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि धार्मिक और सामाजिक सुधार के लिए ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं और संस्थाओं का निर्माण आवश्यक है। इसके बाद स्वामी जी ने इस ओर विशेष ध्यान दिया।

मतभेद—स्वामी जी और केशवचन्द्र सेन में कुछ प्रश्नों पर मौलिक मतभेद था। स्वामी जी कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर पूर्ण विश्वास रखते थे और वेदों को निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण और ईश्वरप्रणीत मानते थे। केशवचन्द्र सेन का यह विचार था कि ईश्वर समय-समय पर महापुरुषों के और पैगम्बरों के माध्यम से इलहाम देता रहता है, और इनके रूप में अवतार ग्रहण करता है। न केवल वेद, अपितु बाइबल, कुरान तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थ भी ईश्वरप्रणीत और प्रामाणिक हैं। स्वामी जी केवल वेदों को ही स्वतःप्रमाण और ईश्वरीय ग्रन्थ मानते थे। केशवचन्द्र सेन ने उनसे यह प्रश्न किया था कि इस समय संसार के तीन ग्रन्थों वाले धर्म सबसे बढ़े हुए हैं—बाइबल, कुरान और वेद। अपने-अपने धर्मग्रन्थ को सभी परमेश्वर कृत कहते हैं, किसको सत्य मानें? स्वामी जी ने युक्तियों से वेद को ईश्वरकृत सिद्ध किया। उनकी प्रधान युक्ति यह थी कि कुरान और बाइबल में अनेकविध कहानियों की सत्ता है और अन्य मतों का खण्डन पाया जाता है। परन्तु वेद में उपदेश के अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिए वेद ही सच्चा है।

दोनों महानुभावों में कई बार परिहासपूर्ण नोंक-झोंक भी हुई। एक बार केशवचन्द्र सेन ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि स्वामी जी अंग्रेजी नहीं जानते हैं। यदि उन्हें अंग्रेजी आती होती, तो वे इंग्लैण्ड की अगली यात्रा में उन्हें अपने साथ ले जाते।

---

१. हरिश्चन्द्र विद्यालंकार द्वारा सम्पादित एवं लेखराम कृत महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र पृ० २३२-३३।

इस पर स्वामी जी ने यह व्यंग्यपूर्ण उत्तर दिया कि यह उससे भी बड़े खेद और दुःख की बात है कि ब्राह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और ऐसी (अंग्रेजी) भाषा में बोलता है जिसे अधिकांश भारतीय समझ नहीं सकते हैं। स्वामी जी ने केशवचन्द्र सेन के सुझाव पर ही वस्त्र धारण करना और हिन्दी में भाषण देना शुरू किया।[1]

केशवचन्द्र सेन के साथ सम्पर्क में आने से स्वामी जी को ब्राह्मसमाजियों का ईसाइयत की ओर झुकाव, उनके आपसी झगड़े, उनके द्वारा पश्चिम का अन्धानुकरण भली भाँति स्पष्ट हो गया। इसीलिए एक वर्ष बाद लिखे जाने वाले सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने ब्राह्मसमाजियों की कड़ी आलोचना की[2] और वेद को ही अपने धर्म का आधार-स्तम्भ बनाया।

(६) रमाबाई पण्डिता (१८५८)

स्वामी जी के संस्कृत भाषा में लिखे दो पत्र रमाबाई पण्डिता के नाम मिलते हैं। इनको लेकर कुछ कट्टरपंथी लोगों ने स्वामी जी पर कीचड़ उछालने का भी प्रयत्न किया था। पिछली शताब्दी में हिन्दू समाज में स्त्रियों को शिक्षा देना और विशेषकर संस्कृत की शिक्षा देना बहुत बुरा समझा जाता था, क्योंकि उस समय स्त्रियों और शूद्रों को वेद न पढ़ाने की धारणा समाज में सर्वमान्य थी, और 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' को आदर्श नियम समझा जाता था।[3] ऐसे समय में एक स्त्री द्वारा संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण देने की बात बड़ी विलक्षण और आश्चर्यजनक थी। स्वामी जी ने रमाबाई की यह विशेषता सुनकर ही उनको दो पत्र लिखे, जिन द्वारा वे यह जानना चाहते थे कि उनका क्या कार्यक्रम है। सम्भवतः, वे उनसे आर्यसमाज के प्रचार कार्य में सहायता लेना चाहते थे। अतः यहाँ पण्डिता रमाबाई का संक्षिप्त जीवन परिचय देना उचित है।

रमाबाई का जन्म मँगलोर के मलहेरजी गाँव में हुआ था। उनके पिता अनन्त पद्मनाभ डोंगरे वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् थे। किन्तु वे अपने जातीय बन्धु ब्राह्मणों द्वारा प्रबल उत्पीड़न और सामाजिक बहिष्कार का शिकार हुए, क्योंकि उन्होंने अपनी पत्नी लक्ष्मीबाई को संस्कृत पढ़ाकर पण्डिता बनाया था। वे अपने जातीय बन्धुओं के व्यवहार से इतने खिन्न हुए कि अपना गाँव छोड़कर गंगामूल की पहाड़ियों में आश्रम बनाकर रहने लगे। यहाँ २३ एप्रिल, १८५८ को रमाबाई का जन्म हुआ। इसके छह महीने बाद वे तीर्थयात्रा के उद्देश्य से घर से निकले और फिर वहाँ कभी वापिस नहीं आए। स्वभाव से उदार होने के कारण उन्होंने शीघ्र ही थोड़े से तीर्थों की यात्रा करने के बाद अपनी सारी सम्पत्ति लुटा दी। निर्धन दशा में तीर्थयात्रा करते हुए जुलाई, १८७४ में उनकी मृत्यु हो गई। एक महीने बाद उनकी पत्नी लक्ष्मीबाई और कन्या कृष्णा का भी देहावसान हो गया। किन्तु रमाबाई और उसके भाई श्रीनिवास शास्त्री ने तीर्थयात्रा जारी रखी और ४,००० मील की यात्रा के बाद वे १८७८ में कलकत्ता पहुँचे।

रमाबाई को आरम्भिक शिक्षा उनकी माता ने प्रदान की। बचपन से उन्हें संस्कृत

---

१. लेखराम कृत महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित, पृ० २३२।
२. सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ३६९-७०।
३. वही, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ६३।

के श्लोक याद कराये जाने लगे। शीघ्र ही रमाबाई ने १८ हजार श्लोक कंठस्थ कर लिये और संस्कृत में इतनी प्रवीणता प्राप्त कर ली कि वे उसमें धाराप्रवाह भाषण देने लगीं। रमाबाई और श्रीनिवास तीर्थयात्रा में व्याख्यान देकर थोड़ी बहुत कमाई कर लेते थे और किसी प्रकार उदर पूर्ति किया करते थे। कलकत्ता में इनके संस्कृत भाषणों की धूम मच गई। वहाँ के पण्डितों ने इन्हें सरस्वती की उपाधि दी और संस्कृत भाषण में उनकी योग्यता की कीर्ति सारे भारत में फैलने लगी। इसी को सुनकर स्वामी जी ने इन्हें पहला पत्र लिखा था।

रमाबाई का जीवन शुरू से अन्त तक बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण रहा। कलकत्ता में १८८० में इनके भाई श्रीनिवास का देहान्त हो गया। इस समय रमाबाई ने अकेली रह जाने पर कायस्थ जाति के विपिन विहारी दास बंगाली युवक से विवाह किया। विवाह के दो वर्ष बाद पति के दिवंगत हो जाने पर वे अपनी पुत्री मनोरमा के साथ देश का पर्यटन करती हुई पूना में आकर बस गईं।

पूना में उनकी संस्कृत की योग्यता से प्रभावित होकर कुछ प्रतिष्ठित धनी व्यक्तियों ने उन्हें सहायता प्रदान की। उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा एवं सुधार हेतु पहले पूना में **आर्य महिला समाज** की स्थापना की और फिर इसकी शाखाएँ अहमदनगर, शोलापुर, थाना, और बम्बई में स्थापित की गईं। इसका मुख्य उद्देश्य भारत की नारियों को परम्परागत प्राचीन रूढ़ियों से मुक्त कराना था। १८८३ में रमाबाई ने हण्टर आयोग के समक्ष मराठी में गवाही दी तथा भारतीय स्त्रियों के लिए चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ अधिक बढ़ाने पर बल दिया।

१८८३ में रमाबाई अंग्रेजी पढ़ने के लिए अपनी लड़की के साथ इंग्लैण्ड गईं। वहाँ वाण्टेज नामक स्थान में सिस्टर्स आफ सेन्ट मेरी वर्जिन के साथ रहकर इन्होंने अंग्रेजी का अध्ययन किया। इस समय वे पथभ्रष्ट स्त्रियों के प्रति ईसाइयों के उदार दृष्टिकोण से बड़ी प्रभावित हुईं। उन्हें ये विचार भारतीय धर्म ग्रन्थों में नहीं मिले थे। अतः हिन्दू धर्म में उनकी आस्था क्षीण होने लगी और २९ सितम्बर, १८८३ को उन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया।

१८८६ में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने के लिए वे संयुक्त राज्य अमेरिका गईं। वहाँ उनकी यह इच्छा तो पूरी नहीं हो सकी, किन्तु उन्होंने बच्चों की शिक्षा के लिए फ्रोबल द्वारा आविष्कृत किण्डर गार्टन (बालोद्यान) की शिक्षा पद्धति सीखी और मराठी में इस पर कई पुस्तकें लिखीं। इसी समय उनकी अंग्रेजी में लिखी **हाई कास्ट हिन्दू वीमेन** नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सर्वत्र इसकी सराहना हुई, और बोस्टन में रमाबाई एसोसियेशन स्थापित हुई (१३ दिसम्बर, १८८७)। इसका उद्देश्य भारत में उच्च जातियों की बाल विधवाओं को शिक्षा देना था। इस कार्य के लिए अमेरिकन लोग १० वर्ष तक इस योजना के व्यय का भार उठाने को तैयार हो गए।

रमाबाई ने सन् १८८९ में भारत लौटकर विधवाओं की शिक्षा के लिए पहले बम्बई में और अगले वर्ष पूना में **शारदा सदन** की स्थापना की। इसमें विधवाओं तथा लड़कियों को शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस संस्था के बारे में शीघ्र ही ये अफवाहें उड़ने लगीं कि यहाँ छात्रों को ईसाइयत स्वीकार करने के लिए बाधित किया जाता है। अतः महादेव गोविन्द रानाडे और रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने इस संस्था के परामर्श-

दाता के पद से त्यागपत्र दे दिया।

१८९७ में रमाबाई ने पूना से ३५ मील दूर केड़ा गाँव में खेतों पर काम करने के लिए विधवाओं को भेजा और वहाँ **रमाबाई मुक्ति मिशन** की स्थापना की। इस मिशन ने १९०० के अकाल में स्त्रियों की बड़ी सहायता की। पथभ्रष्ट स्त्रियों के सुधार के लिए एक **कृपा सदन** बनाया गया। यहाँ स्त्रियों को नाना प्रकार की दस्तकारियाँ, खेती, बुनाई, और कपड़ों पर छपाई के काम का प्रशिक्षण दिया जाता था। लड़कियों ने मुक्ति मिशन के लिए नौ कुएँ खोदे। यहाँ लड़कियों को मराठी, अंग्रेजी, यूनानी, इब्रानी भाषाओं में मुद्रण का काम भी सिखाया जाता था। इसके बाद विभिन्न आयु के व्यक्तियों के लिए **प्रीति सदन तथा शान्ति सदन** चलाये गए। शीघ्र ही, मुक्ति मिशन का क्षेत्र २०० एकड़ भूमि में विस्तृत हो गया और इसमें मिशन में रहने वालों के लिए अनाज, सब्जी, फल पैदा किए जाने लगे। बूढ़ों के लिए **सूर्यास्त गृह** (सन्सेट होम) की स्थापना एक नयी बात थी।

महादेव गोविन्द रानाडे का विरोध होते हुए भी रमाबाई स्त्रियों के राजनीति में प्रवेश की समर्थक थीं। वे राष्ट्रीय महासभा के पाँचवें अधिवेशन में आठ प्रतिनिधियों के साथ सम्मिलित हुई थीं। उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका के अपने अनुभवों को **'यूनाइटेड स्टेट्स की लोकशक्ति'** नामक मराठी पुस्तक में लिखा और हिन्दी को भारत की राष्ट्रीय भाषा बनाने का समर्थन किया। १८९७ में पूना में प्लेग फैलने पर वहाँ इसकी रोकथाम के लिए सरकार द्वारा स्थापित शिविरों में स्त्रियों के साथ जो दुर्व्यवहार हुआ, उसके विरुद्ध रमाबाई ने जबर्दस्त आवाज उठाई। इस मामले में जब बम्बई के गवर्नर ने सरकारी अधिकारियों का समर्थन करना चाहा, तो रमाबाई ने उनको भी फटकारने में संकोच नहीं किया।

रमाबाई का समूचा जीवन दुर्भाग्यपूर्ण रहा। माता, पिता और बहन उनके बचपन में ही भूखे मर गए। उनके सगे भाई श्रीनिवास की जवानी में ही अकाल मृत्यु हुई। उनका अपना वैवाहिक जीवन केवल १९ महीने का ही रहा। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में उनकी इकलौती लड़की का स्वर्गवास हो गया। किन्तु उन्हें भगवान् पर इतना दृढ़ विश्वास था कि वे कभी हतोत्साह नहीं हुईं।

रमाबाई पण्डिता के साथ पत्र-व्यवहार—रमाबाई पण्डिता को स्वामी जी द्वारा लिखे गए दो पत्र संस्कृत में उपलब्ध हैं। पहला पत्र स्वामी जी ने मेरठ से २२ जून, १८८० को लिखा था। इसमें रमाबाई के संस्कृत के अध्ययन तथा धाराप्रवाह भाषण देने की कीर्ति सुनकर उन्होंने यह पूछा है कि अब उनका क्या करने का विचार है। वे स्वयंवर विधि से विवाह करने के लिए अपने समान गुण कर्म वाले पति को ढूँढ़कर गृहस्थ जीवन बिताना चाहती हैं अथवा गार्गी आदि प्राचीन ब्रह्मचारिणी कुमारियों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहती हैं। वे बंगाल छोड़कर अन्यत्र कोई यात्रा क्यों नहीं करतीं? क्योंकि एक जगह रहने से वे लोगों को उतना लाभ नहीं पहुँचा सकतीं, जितना कि विभिन्न स्थानों की यात्रा करके पहुँचाया जा सकता है। यदि वे मेरठ आना चाहें, तो वहाँ उनके ठहरने आदि की व्यवस्था की जा सकती है और उनकी भारत (आर्यावर्त) की यात्रा के लिए यहाँ धन देने वालों की कोई कमी नहीं है।

२१ जुलाई, १८८० को रमाबाई के पत्र का उत्तर देते हुए स्वामी जी ने अपने

दूसरे पत्र में उन्हें आधुनिक अनपढ़ भारतीय स्त्रियों के कलंक को दूर करने वाला बताया है, और उनके जन्म स्थान, शिक्षा, अध्ययन किये गए ग्रन्थों तथा माता-पिता, और भाई-बहनों आदि के बारे में जिज्ञासा प्रकट की है। उन्होंने यह भी पूछा है कि वे संस्कृत और भारत की भाषाओं के अतिरिक्त, अन्य देशों की भाषाओं का ज्ञान रखती हैं या नहीं ? मार्ग व्यय के लिए जो धन आवश्यक हो उसे भी भिजवाने की बात लिखी है और अन्त में स्वामी जी ने अपना विभिन्न स्थानों पर जाने का पूरा कार्यक्रम लिखा है ताकि उन्हें स्वामी जी से मिलने में कोई कठिनाई न हो।

२१ जुलाई, सन् १८८० के स्वामी जी के पत्र को प्राप्त कर रमाबाई कलकत्ता से मेरठ आ गयीं। उस समय स्वामी जी मेरठ में निवास कर रहे थे। उनकी इच्छा थी, कि रमाबाई सदृश विदुषी महिला ब्रह्मचारिणी रहकर वैदिक धर्म के प्रचार तथा स्त्रियों को शिक्षित करने में अपना जीवन व्यतीत करे। मेरठ में रहते हुए वह आर्यसमाज के सम्पर्क में आयीं, और वहाँ उसने अनेक व्याख्यान भी दिये। स्वामी जी से वह दर्शनशास्त्रों का अध्ययन भी करती रहीं। पर उससे स्वामी जी ने जो आशाएँ की थीं, वे पूरी नहीं हुई। वह विदुषी अवश्य थी, पर उसका चरित्र बल उच्च कोटि का नहीं था। उसके नैतिक आचरण के सम्बन्ध में स्वामी जी को सन्देह हो गया, जिसे उन्होंने बाबू दुर्गाप्रसाद को लिखे एक पत्र में इस प्रकार प्रकट किया था—"इसकी कुछ कुचाली हो गयी है ऐसा लोग संशय करते हैं। चित्त भी चंचल है।... गुस्सा भी बहुत है। इसकी कुचाली में जो लोग शंका करते हैं वह लिखने योग्य नहीं है।" रमाबाई देर तक स्वामी जी तथा आर्यसमाज के सम्पर्क में नहीं रहीं। बाद में वह ईसाई हो गयी थीं। विद्वता की तुलना में चरित्र को स्वामी जी कितना अधिक महत्त्व देते थे, यह रमाबाई के काण्ड से स्पष्ट हो जाता है।

(७) हरिश्चन्द्र चिन्तामणि

स्वामी जी को आरम्भ में इन पर बड़ा विश्वास था। लार्ड लिटन द्वारा पहली जनवरी, १८७७ को विक्टोरिया द्वारा भारत की महारानी (एम्प्रेस आफ इण्डिया) की पदवी ग्रहण के समारोह पर आयोजित दिल्ली दरबार के अवसर पर स्वामी जी ने धार्मिक सुधार के कार्य में सहयोग प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण भारत के चुने हुए व्यक्तियों का एक सम्मेलन बुलाया था। उसमें बंगाल के केशवचन्द्र सेन, पंजाब के बाबू नवीनचन्द्र राय, उत्तर पश्चिमी प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के सैयद अहमद खान, और पंजाब के मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी के साथ बम्बई के हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को भी आमन्त्रित किया गया था।

स्वामी जी ने जब बम्बई के निर्णय सागर प्रेस से वेदभाष्य छपवाना शुरू किया, तो उसका कार्य हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को ही सौंपा। इनका काम वेदभाष्य को प्रेस में समय पर छपवाना, ग्राहकों से चन्दा वसूल करना और छपने पर वेदभाष्य ग्राहकों को भिजवाना था। ये स्वामी जी के वेदभाष्य के पहले प्रबन्धक थे।

वेदभाष्य के पहले चार मासिक अंक भी नहीं निकल पाए थे कि स्वामी जी को चिन्तामणि का असली रूप पता लगने लगा। इन्होंने वेदभाष्य को समय पर छपवाने की व्यवस्था नहीं की। मासिक अंकों के छपने में दो-दो महीने का विलम्ब होने लगा।

इनसे स्वामी जी की दूसरी शिकायत यह थी, कि ये ग्राहकों के पते अंग्रेजी में लिखते थे। स्वामी जी का आदेश था कि पते देवनागरी में लिखे जाएँ, क्योंकि उनके मतानुसार "गाँवों में अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति न होने के कारण ग्राहकों को वेदभाष्य समय पर पहुँचने में कठिनाई हो सकती थी।" तीसरा कारण वेदभाष्य का हिसाब ठीक न रखना और रुपये खा जाना था। २४ एप्रिल, १८७९ को देहरादून से बाबू माधोलाल (दानापुर) को लिखे पत्र में तथा मुंशी समर्थदान को लिखे ५ मई, १८७९ के पत्र में स्वामी जी ने हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के इन दोषों का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] पहले पत्र में यह कहा गया है कि बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि की "बड़ी कुटिलता और बुरे आचार के कारण वेदभाष्य के प्रेस में से उचित समय पर निकलने में देर हो गई है।" दूसरे पत्र में भी उन्होंने लिखा है कि "हरिश्चन्द्र ने ऐसा किया जिसका हम कथन नहीं कर सकते हैं।"

थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रधान कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेत्स्की जब बम्बई आए तो हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ने उनके मन में कई प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न कीं जो सहारनपुर में स्वामी जी से मिलने पर ही दूर हुईं।[2]

स्वामी जी ने हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा वेदभाष्य के प्रबन्धक का काम ठीक न करने पर श्यामजी कृष्ण वर्मा को उनके स्थान पर प्रबन्धक बनाया और उन्हें वेदभाष्य का सारा चार्ज लेने को लिखा। किन्तु जब श्यामजी कृष्ण वर्मा उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड जाने लगे तो स्वामी जी ने हरिद्वार से मुंशी समर्थदान को वेदभाष्य के काम के लिए मार्च, १८७९ में बम्बई भिजवाया। मुंशी समर्थदान ने जब बम्बई पहुँचकर वहाँ काम सँभाला तो यह पता लगा कि हरिचन्द्र चिन्तामणि ने रुपये का बहुत गोलमाल किया है, अतः स्वामी जी ने उसे बम्बई आर्यसमाज के प्रधान पद से हटाकर राव बहादुर गोपालरावहरि देशमुख को प्रधान नियुक्त किया और श्यामजी कृष्ण वर्मा को आक्सफोर्ड भेजे गए ३० जून, १८७९ के पत्र में यह सूचित किया कि "बाबू बहुत रुपये खा गया है। और उस पर नालिश करने का विचार है।"[3] श्यामजी कृष्ण वर्मा को उन्होंने निर्देश भेजा कि वे इंग्लैण्ड के समाचार-पत्रों में यह सूचना छपवा दें कि हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को बम्बई आर्यसमाज के प्रधान पद से हटा दिया गया है और उसके माध्यम से स्वामी जी को कोई धनराशि या पत्र आदि न भेजे जाएँ। इसके बाद स्वामी जी का हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

(८) पण्डित भीमसेन शर्मा

ये स्वामी जी के शिष्य, लेखन कार्य में उनके सहायक और वैदिक यन्त्रालय में पहले प्रूफ संशोधक थे। मार्च, १८८६ में मुंशी समर्थदान द्वारा वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक पद से त्याग पत्र देने पर वे लगभग सवा वर्ष तक (जुलाई १८८७ तक) वैदिक यन्त्रालय में प्रबन्धक के पद पर काम करते रहे।

श्री भीमसेन शर्मा का जन्म उत्तर प्रदेश के एटा जिले के लालपुर ग्राम में पण्डित नेकराम मिश्र के यहाँ कार्तिक शुक्ला पंचमी १९११ विक्रमी को हुआ था। फर्रुखाबाद में

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० १५३।
२. वही, पृ० १५५
३. वही, पृ० १६१।

स्वामी जी द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशाला में लगभग चार वर्ष तक पण्डित भीमसेन शिक्षा ग्रहण करते रहे। अध्ययन समाप्त हो जाने पर वे स्वामी जी के पास रहकर उन्हें ग्रन्थ लेखन में सहायता देने और उनके ग्रन्थों की प्रेस कापी तैयार करने आदि का कार्य करते रहे।[1]

प्रेस का प्रगति विवरण मँगाना—जब १८८० के आरम्भ में स्वामी जी ने अपनी पुस्तकों के व्यवस्थित रूप से मुद्रण और प्रकाशन के लिए काशी में वैदिक यन्त्रालय की स्थापना की, तो उसका प्रबन्धक मुंशी बख्तावर सिंह मन्त्री आर्यसमाज शाहजहाँपुर को बनाया गया। इस प्रेस में श्री शर्मा को ग्रन्थ संशोधक के रूप में रखा गया। इसके अतिरिक्त स्वामी जी उनसे दूसरा कार्य यह लेना चाहते थे वे उन्हें प्रेस में छपने वाली पुस्तकों का पूरा विवरण और प्रगति की रिपोर्ट भेजते रहें, और साथ ही, मुंशीजी से हिसाब पूछकर उन्हें लिखते रहें। इससे स्वामी जी मुंशी बख्तावर सिंह पर पूरा नियन्त्रण और ऐसा अंकुश रखना चाहते थे कि वह प्रेस के काम में कोई गड़बड़ न कर सके। यह बात स्वामी जी के जुलाई, १८८० में पण्डित भीमसेन को लिखे पत्र से स्पष्ट होती है। इसमें उन्होंने पूछा है— कि "अब तुमने आठ दिन पीछे चिट्ठी भेजना बन्द क्यों कर दिया है? बराबर आठ दिन पीछे चिट्ठी भेजा करो और यह लिखा करो कि इस सप्ताह में इतनी पुस्तकें छपीं और यह-यह काम हुआ और अब क्या होता है। आगे सप्ताह में कौन-कौन काम होने वाला है। जब-जब पुस्तकें छपकर तैयार हुआ करें सब गिन कर संख्या लिखा करो।"[2] इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी प्रेस की व्यवस्था को दूर बैठे हुए भी पण्डित भीमसेन की साप्ताहिक प्रगति रिपोर्टों द्वारा पूरा नियन्त्रित करना चाहते थे। सम्भवतः, उन्हें मुंशी बख्तावर सिंह पर कुछ सन्देह था। बाद में उसके व्यवहार से इसकी पुष्टि भी हुई।

स्वामी जी ने सम्भवतः, १४ अक्टूबर, १८८० को लिखे पत्र में पुनः पण्डित भीमसेन जी को पुस्तकें और सब वस्तुएँ अच्छी प्रकार से गिन कर ताला-कुंजी अपने हाथ में कर लेने को लिखा है और मुंशी बख्तावर सिंह के पत्र को उद्धृत करते हुए लिखा है— "कि प्रेस के कारीगर बहुत चालाक होते हैं। अतः तुम्हें बहुत सावधानी से काम करना चाहिए।" इस पत्र में उनकी सहायता के लिए उन्होंने एक व्यक्ति को भेजने की भी बात लिखी है।

प्रेस में गड़बड़—इसी बीच में पण्डित भीमसेन बीमार होकर छुट्टी लेकर गाँव चले गए। स्वामी जी द्वारा भिजवाये जाने वाले नये व्यक्ति मास्टर शादीराम और पण्डित ज्वालादत्त उनके चले जाने के बाद प्रेस पहुँचे। इस समय तक मुंशी बख्तावर सिंह को गड़बड़ और बेईमानी करने का पूरा अवसर मिल चुका था। मास्टर शादीराम ने जब उसकी बेईमानी पकड़ना शुरू किया, तो उसने इसका सारा आरोप पण्डित भीमसेन पर डाल दिया। इस पर स्वामी जी ने पण्डित भीमसेन को लिखा था, कि—"मुंशी जी ने अकलमन्दी से और चालाकी से आधी वस्तु छापेखाने की अपनी बना ली हैं और रुपये

---

१. परोपकारिणी पत्रिका, मई, १९८०, पृ० १६।

२. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० २०६।

का कोई हिसाब नहीं देता है।"[1] इसलिए उन्होंने पण्डित भीमसेन से सब बातों की जल्दी जानकारी माँगी।

किन्तु भीमसेन ने स्वामी जी के पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। इससे स्वामी जी को यह सन्देह हुआ कि शायद भीमसेन भी मुंशी बख्तावर सिंह के साथ मिला हुआ था और उसने उन्हें धोखा दिया है। भीमसेन शर्मा के जिले एटा में ही स्वामी जी के एक भक्त रईस ठाकुर चौधरी जालिम सिंह जी रहा करते थे। स्वामी जी ने भरतपुर से १६ मार्च को चौधरी साहब को भीमसेन का पता लगाने के लिए एक पत्र उर्दू में भेजा और उसमें लिखा कि भीमसेन छुट्टी पर गया था और उसने अपना कोई समाचार नहीं दिया, "क्या उसने हमको धोखा दिया। हम इसको ऐसा नहीं समझते थे सो तुम जल्दी लिखो।"[2]

ठाकुर साहब की प्रेरणा से भीमसेन शर्मा पुनः स्वामी जी के पास चले गए। स्वामी जी ने मनचाहा वेतन देकर उन्हें रख लिया और उसके भाई ख्यालीराम को भी अपना खाना बनाने के काम पर लगा लिया। किन्तु इससे स्वामी जी को जो परेशानी हुई उसका वर्णन करते हुए उन्होंने चौधरी साहब को ७ मार्च, १८८१ के पत्र में लिखा था—"अब देखिए कि जैसी भीमसेन की इच्छा थी वैसा ही १५ रुपये माहवारी और एक रुपया हाथ खर्च और खाने में ३ रुपये से कम नहीं लगते। एक महीना जब तक उसका मासिक पूरा नहीं हुआ था, तब तक काम भी अच्छा करता था, अब ठीक-ठीक नहीं करता। ये लोग भीतर से मैले और बाहर से शुद्ध दिखाई देते हैं। अच्छा, जब तक बनेगा तब तक रखना होगा। बहुत अपराध करेगा, तब निकाल देना पड़ेगा। देखिए मैंने इससे कहा था कि जो तेरा भाई रसोई कर सके तो लाना, नहीं तो आपके मार्फत रसोइया लाने को कहा था। परन्तु लोभ का मारा अपने महामूर्ख जड़ बुद्धि भाई को लेता आया। आज इसको रसोई बनाते १५ दिन हो चुके हैं कुछ भी न आया और न आगे आने की आशा है। आज भी इसने रसोई जला दी।"[3]

पण्डित भीमसेन ने पुनः स्वामी जी के आदेशों का पालन नहीं किया और उनके द्वारा बताए काम को भी ठीक ढंग से नहीं किया। सम्भवतः, स्वामी जी के लेखों में भी अपनी ओर से कुछ पौराणिक बातें (पोप लीला) घुसेड़ दी। अतः स्वामी जी ने भीमसेन को अपनी सेवा से पृथक् कर दिया। वह पुनः चौधरी जालिम सिंह की शरण में गया। उन्होंने स्वामी जी को उसे पुनः काम पर लगाने को लिखा।

२८ मार्च, १८८३ को स्वामी जी ने शाहपुरा से चौधरी साहब की चिट्ठी का उत्तर देते हुए लिखा—"भीमसेन को न हम अपने पास वा न अन्यत्र कुछ काम देना चाहते हैं। वह काम करने में अयोग्य और स्वभाव का भी बहुत बुरा आदमी है। वह न किसी आर्यसमाज में रहने के योग्य है।...चाहे इनके ऊपर कितनी दया करो वे कृतघ्नता ही करते जाते हैं। जब से वह गया है तब से जो पुरुष हमारे पास हैं आनन्द में रहते हैं।"[4]

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० २४६।
२. वही, पृ० २८६।
३. वही, पृ० २६१।
४. वही, पृ० ४०८।

इसी बीच में पण्डित भीमसेन ने स्वामी जी को अपनी गलतियों के लिए माफी माँगते हुए और भविष्य में स्वामी जी की आज्ञा का पालन करने का विश्वास दिलाते हुए दो पत्र लिखे। इस पर स्वामी जी ने चौधरी साहब को अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व ही ५ सितम्बर, १८८३ को एक पत्र लिखकर पण्डित भीमसेन को पुनः रखने के बारे में उनकी सम्मति पूछी थी। स्वामी जी का यह विचार था कि यदि उसे पुनः रख लें और वह अनुचित काम करे और उसे निकालना पड़े तो यह अच्छी बात नहीं होगी। स्वामी जी यह समझते थे कि उसमें अच्छे गुण हैं, किन्तु बुरे गुण ऐसे प्रबल हैं कि अच्छे गुणों को मात कर देते हैं।[1] स्वामी जी का यह विचार था कि दुनिया में उत्तम धार्मिक पुरुषार्थी मनुष्य का सहसा मिलना असम्भव नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है। इसीलिए लाचारी में स्वामी जी को ऐसे व्यक्तियों को अपना काम चलाने के लिए रखना पड़ता था।

पहले बताया जा चुका है कि मुंशी समर्थदान द्वारा वैदिक यन्त्रालय के पद से त्यागपत्र दे देने पर मार्च, १८८६ से जुलाई, १८८७ तक पण्डित जी प्रबन्धक के पद पर कार्य करते रहे। इसके बाद उन्होंने वैदिक यन्त्रालय से पृथक् होकर आर्य सिद्धान्त नामक मासिक पत्र चलाया। वैदिक यन्त्रालय के अजमेर आने पर दूसरी बार पण्डित भीमसेन वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक के पद पर नियुक्त हुए और कुछ समय तक काम करते रहे।

अन्तिम समय में पण्डित भीमसेन का आर्यसमाज से कई मौलिक सैद्धान्तिक प्रश्नों के बारे में मतभेद हो गया और उन्होंने आर्यसमाज से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया। फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि स्वामी जी के ग्रन्थों की प्रेस कापी तैयार करने, प्रूफ संशोधन करने और उनका मुद्रण कराने में उनका बहुमूल्य योगदान है, और उन्हें स्वामी जी की पहली पाठशाला के प्रथम शिष्य के रूप में सदैव स्मरण किया जाएगा। उन्होंने स्वामी का एक जीवनचरित्र भी लिखा था।

पण्डित भीमसेन के उपर्युक्त विवरण से कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। स्वामी जी को वेदभाष्य में सहायता देने के लिए जैसे संस्कृतज्ञ, कर्मठ एवं योग्य पुरुषों की आवश्यकता थी, वैसे व्यक्ति उस समय अतीव दुर्लभ थे। अतः स्वामी जी को लाचारी में पण्डित भीमसेन जैसे व्यक्तियों को रखकर काम चलाना पड़ता था। पण्डित भीमसेन ने यद्यपि स्वामी जी की पाठशाला में शिक्षा प्राप्त की थी, और वे स्वामी जी के सान्निध्य में कई वर्षों तक रहे थे, फिर भी उनके पौराणिक संस्कार निर्मूल नहीं हुए और वे पुनः स्वामी जी द्वारा खण्डन किए सिद्धान्तों को मानने लगे और आर्यसमाज से पृथक् हो गए।

(६) देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५)

स्वामी जी को कलकत्ता बुलाने वाले व्यक्तियों में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता व आदि-ब्राह्मसमाज के नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर प्रमुख थे। इनके साथ स्वामी जी का कलकत्ता में काफी समय तक विचार-विमर्श हुआ। स्वामी जी ने इनकी ब्राह्मधर्म की पुस्तक को सुना और इनके निमन्त्रण पर वे ब्राह्मसमाज के उत्सव में विशेष अतिथि बने। श्री ठाकुर ने स्वामी जी के कई व्याख्यान भी कराये। स्वामी जी के समान देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी ब्राह्मसमाजी होने के नाते मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे और वे हवन तक को मूर्ति-

---

1. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ४९२।

पूजा का रूप मानकर उसका विरोध करते थे। आज भी शान्ति निकेतन में उनकी ज्ञान-प्राप्ति के क्षेत्र में न केवल मूर्तिपूजा ही नहीं की जा सकती, अपितु होम भी नहीं किया जा सकता। श्री ठाकुर कितने प्रगतिशील विचारों के थे, यह उनके जीवन के संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट हो जाएगा।

श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर प्रिन्स कहलाने वाले द्वारिकानाथ के सुपुत्र, राजा राम-मोहनराय के सहयोगी, कलकत्ता के कुलीन जमींदार और मैसर्स कार टैगोर एण्ड कम्पनी के स्वामियों में से थे। १५ मई, १८१७ को इनका जन्म हुआ। उन्होंने स्कूली शिक्षा राजा राममोहनराय के एंग्लो हाई स्कूल में पाई, और १८३१ में हिन्दू कालेज में प्रवेश किया। यहाँ उनके जीवन में उदारता की भावना उत्पन्न हुई। वे पश्चिम के अन्धानुकरण के विरोधी थे और उनका दृष्टिकोण बड़ा सन्तुलित था। राजा राममोहनराय के बाद वे ब्राह्मसमाज के नेता बने। इन्हें १८ वर्ष की आयु में अपनी दादी की मृत्यु के बाद कुछ ऐसे विचित्र आध्यात्मिक अनुभव हुए कि इसके बाद वे सब प्रकार के सांसारिक भोगों से विरत रहते हुए अतीव सादा जीवन व्यतीत करते रहे। व्यापार में इनका विशेष ध्यान नहीं था, अतः पिता ने इन्हें जमींदारी का काम सौंपा। १८४७ में इनकी कम्पनी और बैंक दिवालिया हो गए, किन्तु देवेन्द्रनाथ इससे तनिक भी नहीं घबराए। इन्होंने रुपया देने वाले व्यक्तियों को सारी स्थिति बताई और ८ वर्ष में कम्पनी का सारा ऋण चुका दिया।

१८३९ में इन्होंने तत्त्व बोधिनी सभा स्थापित की। इसका उद्देश्य वेदों के शुद्ध ज्ञान का प्रसार करना, तथा नवयुवकों में देश के प्रति सम्मान और गौरव की भावना उत्पन्न करना था। १८४३ में इन्होंने अपनी यह सभा ब्राह्मसमाज में ही मिला दी। अगले ही वर्ष १८४० में भारतीय विषयों का विवेचन करने के लिए उन्होंने अपना एक स्कूल भी स्थापित किया, और **तत्त्व बोधिनी पत्रिका** निकाली। इसके सम्पादन में ईश्वरचन्द विद्यासागर, राजनारायण बोस, आनन्दकृष्ण बोस, और राजेन्द्रलाल मित्र सहयोग देते थे। इसमें सभी विषयों पर लेख रहते थे।

१८४६ में हिन्दुओं को ईसाई बनने से रोकने के लिए इन्होंने **हिन्दू हितार्थी विद्यालय** स्थापित किया। इसमें धर्म सभा के नेता राजा राधाकान्त देव ने इन्हें सहयोग दिया और भूदेव मुखोपाध्याय शुरू में इसके प्रधानाध्यापक बने।

श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। १८४९ में उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाले **ब्राह्मधर्म** ग्रन्थ की रचना पण्डितों की सहायता से की। १८५६ में उन्होंने हिमालय की यात्रा की।

१८६४ में ब्राह्मसमाज में केशवचन्द्र सेन से उनके मतभेद बढ़ने लगे, क्योंकि वे ब्राह्म होते हुए भी ब्राह्मसमाज को हिन्दू धर्म से पृथक् नहीं करना चाहते थे और उसमें परम्परागत संस्थाओं को बनाए रखने के पक्ष में थे। अतः १८६६ में केशवचन्द्र सेन इनके ब्राह्मसमाज से पृथक् हो गए। इन्होंने बोलपुर में भूमि खरीदकर ब्रह्मचर्य आश्रम स्थापित किया था। उसी ने बाद में शान्ति निकेतन और विश्व भारती का रूप धारण किया। श्री ठाकुर के ९ पुत्र और ६ पुत्रियाँ थीं, जो सब अतीव प्रतिभाशाली और अपने क्षेत्र में उच्चतम शिखर पर पहुँचने वाले थे। इनके सबसे बड़े लड़के सत्येन्द्रनाथ ठाकुर इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा सफलतापूर्वक पास करके उसमें प्रवेश करने वाले

पहले भारतीय थे और सबसे छोटे लड़के रवीन्द्रनाथ साहित्य में नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाले प्रथम भारतीय थे। राष्ट्रीय विचारधारा का अनुयायी होने से इन्हें ब्रिटिश सरकार द्वारा कोई खिताब या पद नहीं मिला, पर इनके अनुयायियों ने इन्हें महर्षि की उपाधि दी।

स्वामी दयानन्द के साथ सम्बन्ध—श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर इलाहाबाद के कुम्भ मेले पर जनवरी, १८७० में स्वामी जी से मिले थे और उन्होंने स्वामी जी को कलकत्ता आने का निमन्त्रण दिया था। स्वामी जी के १० दिसम्बर, १८७२ से मार्च, १८७३ तक कलकत्ता निवास में श्री ठाकुर का स्वामी जी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। उन्होंने माघ मास में होने वाले आदि-ब्राह्मसमाज के वार्षिक उत्सव में स्वामी जी को व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया। स्वामी जी जब उनके घर पर प्रवचन देने के लिए गये, तो देवेन्द्र-नाथ ठाकुर ने यह भी निवेदन किया कि वे उनके मकान की तीसरी मंजिल पर कुछ दिन तक निवास करें। किन्तु स्वामी जी ने उत्तर दिया "मैं गृहस्थ के घर पर रहना अच्छा नहीं समझता।"[1]

कलकत्ता में अपने निवास स्थान—प्रमोद कानन—में देवेन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र को देखकर स्वामी जी ने कहा था कि इनका स्वाभाविक अनुराग ऋषि श्रेणी की ओर है। कलकत्ता रहते हुए दोनों महर्षियों में बड़ी प्रीति हो गई थी।

स्वामी जी ने महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर का **ब्राह्मधर्म** नामक ग्रन्थ एक बंगाली श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती से सम्पूर्ण सुनने के बाद कहा था कि—इसका नाम उपनिषद् की टीका छोड़कर, ब्राह्मधर्म क्यों रखा गया? जब इसके समस्त श्लोक उपनिषदों के हैं तो यह नाम उपयुक्त नहीं है।

(१०) मुंशी (मनीषी) समर्थदान

स्वामी दयानन्द जी को वेदभाष्य और अन्य ग्रन्थों के छपवाने में बहुमूल्य सहयोग देने वाले व्यक्तियों में मुंशी समर्थदान का स्थान बहुत ऊँचा है। ये अपनी कार्य-कुशलता, परिश्रम तथा ईमानदारी से स्वामी जी के विश्वासपात्र और स्नेहभाजन बने।

मुंशी समर्थदान राजस्थान में सीकर जिले के नेठवा नामक ग्राम के निवासी थे। वे सिढायच गोत्र के चारण थे। इनके पिता का नाम मंगलदान था। बचपन में इन्होंने एक मौलवी से उर्दू पढ़ी थी। उनकी योग्यता, व्यवहार एवं सदाचार की ये बड़ी सराहना किया करते थे और उनका इनके देशभक्तिपूर्ण जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा। उर्दू और फारसी पढ़ने वालों को उन दिनों मुंशी कहा जाता था। अतः इनके नाम के साथ भी बचपन से ही मुंशी शब्द जोड़ा जाने लगा।

मुंशी समर्थदान युवावस्था में महर्षि दयानन्द के सम्पर्क में आए और उन्होंने संस्कृत का भी अभ्यास किया। इस समय इन्होंने अपनी फारसी उपाधि मुंशी को मनीषी में परिवर्तित कर लिया।

स्वामी जी ने सर्वप्रथम हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को वेदभाष्य को निर्णय सागर प्रेस में

---

१. हरिश्चन्द्र विद्यालंकार द्वारा सम्पादित लेखराम कृत महर्षि दयानन्द का जीवनचरित, दिल्ली, पृ० २२९।

मुद्रण कराने का कार्य सौंपा था। वे बम्बई आर्यसमाज के पहले प्रधान थे। उन्होंने न केवल वेदभाष्य छपवाने में बड़ी शिथिलता दिखाई, अपितु हिसाब में भी इतना गोलमाल किया कि स्वामी जी को उन्हें समाज के प्रधान तथा वेदभाष्य के प्रबन्धक पद से हटाना पड़ा। उन्होंने श्यामजी कृष्ण वर्मा को उनके स्थान पर बम्बई में वेदभाष्य का प्रबन्धकर्ता नियुक्त किया। इन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। ये स्वामी जी के प्रिय शिष्य और विश्वासपात्र कार्यकर्ता थे। किन्तु शीघ्र ही ये उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड चले गए। उनके विदेश जाने से पहले ही स्वामी जी ने मुंशी समर्थदान को हरिद्वार से वेदभाष्य की छपाई का प्रबन्ध करने के लिए भेज दिया और श्यामजी से बम्बई में उनके निवास की व्यवस्था करने को कहा। हरिद्वार से लिखे दिनांक १ मार्च, १८७९ के पत्र में मुंशी समर्थदान की प्रशंसा करते हुए स्वामी जी ने लिखा था, कि—

"(यह) वेदभाष्य का काम वहाँ (बम्बई में) करेगा। यह बड़ा भद्र पुरुष है। नागरी पारसी (फारसी) तो अच्छी तरह जानता है, थोड़ी-सी अंग्रेजी भी जाने है। अपने घर का प्रतिष्ठित मातवर पुरुष है। यह यहाँ हरिद्वार से दो-चार दिनों में मुंबई को आने के लिए रवाना होकर वहाँ पहुँचेगा। इसको सब काम छापे वालों से और कागज वालों से नियम व्यवहार करा देना और इनको किसी प्रकार का दुःख न हो, इसलिए स्थान आदि का प्रबन्ध कर देना। सबसे मिलाप भी करा देना।"[1]

इससे यह स्पष्ट है कि स्वामी जी ने मुंशी समर्थदान को मार्च, १८७९ के आरम्भ में वेदभाष्य का कार्य सँभालने के लिए बम्बई भेजा था। इन्होंने इस कार्य को बड़ी योग्यतापूर्वक सम्पन्न किया। स्वामी जी को उन पर विश्वास था।

स्वामी जी के निर्देशानुसार बम्बई जाकर मुंशी जी ने लगभग दो वर्ष (चैत्र १९३५ विक्रमी से फाल्गुन १९३६ विक्रमी) तक बम्बई रहकर निर्णय सागर प्रेस में छपने वाले वेदभाष्य की व्यवस्था का कार्य किया। इसके बाद जब स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों के छापने के लिए वैदिक यन्त्रालय की स्थापना की, तो १८८२ में मुंशी जी इस प्रेस के प्रबन्धक नियुक्त किये गए। वेदभाष्य तथा सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संशोधित संस्करण के मुद्रण का सारा कार्य इन्हीं की देखरेख में हुआ।

स्वामी जी इन पर इतना अधिक विश्वास रखते थे कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में, विशेष रूप से सत्यार्थप्रकाश में समुचित संशोधन-परिवर्तन आदि का भी अधिकार उन्हें दे रखा था। स्वामी जी ने ९ सितम्बर, १८८२ के पत्र में मुंशी जी को लिखा था 'अच्छा, जहाँ कहीं रह जाए तो तुम देख लिया करो कि किस-किस मन्त्र में क्या-क्या छूटा है।'[2] इसी प्रकार दिनांक २३ अगस्त, १८८३ के पत्र में स्वामी जी ने मुंशी जी को लिखा था कि तुम थोड़ी-सी भाषा देख लिया करो। १५ अगस्त, १८८२ के पत्र में उन्होंने लिखा था—"जो कहीं भाषा असम्बद्ध हो और अभिप्राय व अक्षर मात्रा आदि से अशुद्ध हो उसको तुम ही शोध लिया करो।"[3]

स्वामी जी के दिवंगत होने के बाद भी मुंशी जी वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० १४४।
२. वही, पृ० ३७४।
३. वही, पृ० ३८०।

बने रहे और उन्होंने स्वामी जी के ग्रन्थों को शुद्धता व शीघ्रता से छपाने का प्रयास किया। मार्च, १८८६ में उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और अजमेर में ही एक सुन्दर स्थान में मकान बना कर रहने लगे। उन्होंने राजस्थान यन्त्रालय की स्थापना की, और **राजस्थान सरकार** नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। कुछ समय तक उन्होंने राजस्थान ग्रन्थ माला भी निकाली, और कई जिल्दों में हिन्दुस्तान का विस्तृत इतिहास निकालने की योजना बनाई। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इन्हें राजपूताने के हिन्दी साहित्य सेवियों में वृद्ध वसिष्ठ की उपमा दी है।[1]

मुंशी समर्थदान जी का स्वामी जी के साथ पत्र-व्यवहार—स्वामी जी के ग्रन्थ छपाने के कारण मुंशी जी का स्वामी जी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। स्वामी जी द्वारा उनके नाम लिखे हुए ५४ पत्र मिलते हैं। इतने अधिक पत्र किसी अन्य व्यक्ति के नाम लिखे नहीं मिलते। इनमें न केवल ग्रन्थों की छपाई सम्बन्धी बातों की चर्चा है, अपितु सभी प्रकार के विषयों का वर्णन पाया जाता है। स्वामी जी अपने स्वास्थ्य और आर्यसमाज की प्रगति आदि के सब समाचार मुंशी जी को लिखते रहते थे। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया जाएगा।

कुम्भ के समाचार—स्वामी जी ने उन्हें पहले पत्र मार्च-एप्रिल, १८७९ में हरिद्वार से लिखे हैं। इस समय वहाँ कुम्भ का मेला चल रहा था और स्वामी जी ने इसके समाचार देते हुए मुंशी जी को लिखा है 'यहाँ मेला अब तक साधुओं का ही है। गृहस्थ लोग तो कम आए हैं।'[2] अगले ही दिन २७ मार्च, १८७९ के पत्र में लिखा है—"२ लाख के लगभग वैरागी तथा संन्यासी आए हैं। हैजा से पाँच व्यक्ति तीन दिन में मर गए हैं।"[3]

कुम्भ के मेले में ही स्वामी जी को अतिसार हो गया था। दो एप्रिल के पत्र में उन्होंने लिखा था, कि पन्द्रह दिन से उन्हें यह शिकायत है और इस कारण निर्बलता बहुत है। इसके ६ दिन बाद ८ एप्रिल के पत्र में उन्होंने लिखा है "तुम्हारे जाने के पीछे हमारा शरीर अच्छा नहीं रहा अर्थात् ४०० से अधिक दस्त हो गए शरीर अधिक दुर्बल हो गया।"[4]

कर्नल आल्काट से मिलना—इन्हीं दिनों थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेत्स्की बम्बई आए थे और जल्दी ही स्वामी जी से मिलना चाहते थे। इन दिनों स्वामी जी ने प्रायः प्रत्येक पत्र में अमेरिका वालों का हाल पूछा है। २६ मार्च के पत्र में उन्होंने लिखा था—"अमेरिका वालों से अति प्रेम से हमारा नमस्कार कहना और उनसे कुशलता पूछना कि लाहौर आदि के समाज आप लोगों के लिए (स्वागत की) तैयारी कर चुके हैं, वहाँ कब तक आएँगे।" स्वामी जी यह चाहते थे कि कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेत्स्की शीघ्र ही संस्कृत भाषा का अभ्यास करें। अतः उन्होंने मुंशी जी से पूछा था, कि "उन्होंने संस्कृत पढ़ने का आरम्भ किया है वा नहीं और जो कुछ हमारे विषय में कहा करें, सो लिख दिया करना और हम नहीं लिखें तो भी उनकी

१. परोपकारी, मई, १९८०, पृ० २०।
२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० १४७।
३. वही, पृ० १४८।
४. वही, पृ० १४८।

कुशलता आदि सदैव लिखते रहना।"[1]

थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक स्वामी जी से जल्दी मिलना चाहते थे और उनका यह आग्रह था कि स्वामी जी जल्दी ही बम्बई आकर उनसे मिलें। किन्तु स्वामी जी कुम्भ के समय अतिसार से पीड़ित होने के कारण अतीव निर्बल हो गए थे। अतः स्वामी जी ने कुम्भ के बाद देहरादून जाने का निश्चय किया ताकि वहाँ की पर्वतीय जलवायु से उनको लाभ हो। मुंशी जी को उन्होंने लिखा—"उनको समझा दो कि हमारा शरीर महीने-डेढ़-महीने से कम में अच्छा नहीं होगा और इस गर्मी के दिनों में रेल में बड़ी गर्मी होगी। तुम उनको अच्छे प्रकार सन्तुष्ट कर देना कि हम अवश्य आएँगे। जिस दिन हमारी देह को आराम होगा और हमको बड़ा दुःख है कि अमेरिका वाले ऐसे समय में आए हैं जिसमें हमारा उनसे शीघ्र मिलाप नहीं हो सकता।"

किन्तु अमेरिका वाले उनसे मिलने को अतीव उत्सुक थे और वे उनसे सहारनपुर में आकर मिले। बम्बई आर्यसमाज के प्रधान हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ने उनके मन में कुछ शंकाएँ उत्पन्न कर दी थीं। स्वामी जी के साथ बातचीत करने पर कर्नल आल्काट तथा मैडम ब्लेवेत्स्की की शंकाएँ दूर हो गईं। स्वामी जी इस बात से बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने ५ मई, १८७९ के पत्र में लिखा—"साहब की और हमारी सम्मति मिल गई है। किसी प्रकार का भेद नहीं है और जो कुछ हरिश्चन्द्र ने उनके चित्त में शंका डाली थी, वह सब निवृत्त हो गई है।"[2]

आत्मकथा लिखने का आग्रह—मुंशी समर्थदान को लिखे पत्रों से यह विदित होता है कि वे स्वामी जी से अपनी आत्मकथा लिखकर देने के लिए इस समय निरन्तर आग्रह कर रहे थे। स्वामी जी अतिसार और ज्वर से पीड़ित होने के कारण अतीव निर्बल हो गए थे। इसके अतिरिक्त उनको अनेक प्रकार के अन्य कार्य भी लगे रहते थे। इसलिए वे आत्मकथा लेखन का कार्य जल्दी नहीं कर सके और मुंशी जी को उन्होंने नवम्बर, १८७९ को दानापुर (पटना) से एक पत्र में लिखा—

"कर्नल आल्काट साहब को मेरे शरीर का हाल विदित नहीं है कि दस मास तक तो दस्तों का रोग रहा। पश्चात् एक बड़ा ज्वर आने लगा। सो तीन बार आकर टूट गया है। अब दोनों रोग नहीं हैं, परन्तु विचार करो कि इतने रोग के पश्चात् निर्बलता और अस्वस्थता कितनी हो सकती है। इसमें भी हमको कितने काम आवश्यक हैं, जिनसे दमभर अवकाश नहीं मिल सकता। जो एक जन्मचरित्र के लिखने लिखवाने का काम ही होता तो एक बार लिख लिखवा के भेज दिया होता।"[3]

स्वस्थ होने पर स्वामी जी ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा लिखकर कर्नल आल्काट को भेज भी दी थी।

स्वामी जी ने बम्बई से वेदभाष्य के १२ अंक छपवाने के बाद चौदहवाँ अंक काशी से अपने प्रेस आर्यप्रकाश यन्त्रालय से छपवाने का निश्चय किया और इसका अध्यक्ष मुंशी बख्तावर सिंह, मन्त्री आर्यसमाज, शाहजहाँपुर को १८८० के शुरू में नियुक्त किया।

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० १४७।
२. वही, पृ० १५४।
३. वही, पृ० १७८।

बख्तावर सिंह यह कार्य ठीक ढंग से नहीं चला सके और स्वामी जी को पुनः मुंशी समर्थदान को प्रेस की व्यवस्था करने के लिए प्रयाग बुलाना पड़ा, क्योंकि इस बीच में स्वामी जी का प्रेस बनारस से इलाहाबाद आ चुका था और पण्डित सुन्दरलाल जी इसकी देखभाल कर रहे थे। इस समय स्वामी जी द्वारा मुंशी जी को लिखे पत्रों से यह प्रतीत होता है कि बख्तावर सिंह द्वारा पाँच मन टाइप चुरा कर ले जाने के कारण प्रेस में टाइप की बड़ी कमी हो गई थी। इसलिए स्वामी जी ने इसके दाम का पता करके बम्बई और कलकत्ता से टाइप मँगवाने का निर्देश भेजा। इस समय प्रेस में वेदभाष्य के अतिरिक्त, सत्यार्थप्रकाश, आख्यातिक, वेदांगप्रकाश आदि कई ग्रन्थ छप रहे थे। इनके लिए टाइप की अधिक आवश्यकता थी।

मुंशी समर्थदान ने इस समय प्रेस में मुद्रण की व्यवस्था बहुत अच्छी कर ली और वे स्वामी जी को जल्दी-जल्दी प्रूफ भेजने के लिए आग्रह करने लगे। उन्होंने यह लिखा था कि "आप एक फार्म नित्यप्रति शोध कर भेज दिया करें।" उदयपुर से १५ अक्टूबर, १८८२ को स्वामी जी ने जो पत्र लिखा था उसमें इस बात पर बल दिया गया था कि—"यदि प्रतिदिन एक फार्म प्रूफ देखकर भेजा जाए तो वेदभाष्य की रचना आदि का सब काम छूट जाएगा।"[1] स्वामी जी इस काम को इस समय सबसे ज्यादा महत्त्व दे रहे थे। यह इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने उदयपुर के महाराणा से भी यह कह दिया था कि वे संध्या समय में ही मिलने आया करें। प्रातःकाल ग्यारह बजे तक वे वेदभाष्य करते थे और उसके बाद प्रूफ आदि देखते थे।

वैदिक यन्त्रालय में बाहर का काम लेना—इस समय प्रेस को लाभ की दृष्टि से चलाने के लिए पण्डित सुन्दरलाल जी और मुंशी जी स्वामी जी को यह सुझाव दे रहे थे कि यन्त्रालय में बाहर का भी काम लिया जाना चाहिए। इस बारे में स्वामी जी का यह विचार था कि बाहर की पुस्तकों का काम उसी दशा में लिया जाना चाहिए, जब अपनी पुस्तकों के छपने में विलम्ब न हो। यदि ऐसा हुआ तो बाहर का काम लेना फौरन बन्द करा दिया जाएगा। स्वामी जी के शब्दों में, "जो बाहर का काम यन्त्रालय में लिया जाए तो यन्त्रालय को अधिक फायदा हो सकता है और हानि किसी प्रकार से न होगी तो भले ही बाहर का काम ले लो। कुछ चिन्ता नहीं। परन्तु जब हम बाहर के काम से निज पुस्तकों को छपने में व कुछ और प्रकार से हानि होती देखेंगे तो उसी समय बाहर का काम बन्द करा देंगे।"[2]

उदयपुर से ही एक अन्य पत्र में स्वामी जी ने मुंशी जी को यह निर्देश भेजा था कि "सत्यार्थप्रकाश आदि किसी पुस्तक में जो नोट लिखो तो उसमें किसी का नाम न लिखना, किन्तु टाइटल पेज के ऊपर तुम्हारा नाम रहना ही चाहिए। परन्तु ग्रन्थ के नोट पर न रहना चाहिए।"[3] ऐसा लगता है कि सत्यार्थप्रकाश के किसी प्रूफ में स्वामी जी के पास कोई ऐसी टिप्पणी पहुँची होगी, जिस पर स्वामी जी ने मुंशी जी को ऐसा करने से रोका।

डेढ़ वर्ष में वेदभाष्य पूरा करना—२३ अगस्त, १८८३ के पत्र में स्वामी जी ने

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३८०।
२. वही, पृ० ३२६।
३. वही, पृ० ३७८।

मुंशी जी को यह शुभ समाचार दिया है कि—"ऋग्वेद के चौथे अष्टक का एक भाष्य पूरा हो गया है, पाँचवें अष्टक का एक अध्याय कल पूरा होगा। परमेश्वर की कृपा से एक वर्ष में सब ऋग्वेदभाष्य पूरा हो जाएगा और एक व डेढ़ वर्ष साम व अथर्व में लगेगा।" इसके साथ ही स्वामी जी ने यह भी लिखा है—"बाहर का काम कुछ भी न लो, हमारे पास छपने को बहुत-सी पुस्तकें हैं। तुम छापते-छापते थक जाओगे तो भी न चुकेगा।"[1] उस समय किसी को यह मालूम नहीं था कि स्वामी जी का निर्वाण इतनी जल्दी हो जाएगा और वे वेदों का भाष्य पूरा नहीं कर सकेंगे।

महाराणा द्वारा सम्मान—चित्तौड़ से ४ मार्च, १८८३ को स्वामी जी ने एक पत्र में मुंशी जी को यह शुभ समाचार दिया है कि उदयपुर में उन्होंने महाराणा को मनुस्मृति के राजधर्म के सब प्रकरण पढ़ा दिए हैं और वहाँ की राजकीय पाठशाला और चारणों की पाठशाला में संस्कृत के वेदांग प्रकाश आदि ग्रन्थ पाठ्यपुस्तक के रूप में लगवा दिये गए हैं। महाराणा ने उदयपुर से विदा होते हुए उन्हें बारह सौ रुपये वेदभाष्य के लिए और एक दुशाला दिया है। इन रुपयों को उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए सुरक्षित रखवा दिया है और इसका नाम वैदिक निधि रखा है। स्वीकारपत्र में से उन्होंने कर्नल आल्काट, मैडम ब्लैवेत्स्की तथा मुंशी इन्द्रमणि के नाम निकाल दिए हैं, और पाँच और नाम बढ़ा दिए हैं। स्वामी जी ने इस पत्र में यह निर्देश दिया है कि इस स्वीकारपत्र को अच्छे टाइप में छपवाकर महाराणा जी को धन्यवाद सहित भिजवा दो।[2]

स्वामी जी ने ३ सितम्बर, १८८३ को एक पत्र में बाबू विश्वेश्वर सिंह को लिखा था—"सब पदार्थ संसार में सुलभ हैं, परन्तु शुद्ध मनुष्य का मिलना दुर्लभ है।"[3] स्वामी जी को मुंशी समर्थदान से पहले प्रेस के सभी प्रबन्धक बेईमान मिले। मुंशी जी ने स्वामी जी के ग्रन्थों को बड़ी ईमानदारी, निष्ठा, परिश्रम और योग्यतापूर्वक छापा। वे वस्तुतः बड़े दुर्लभ पुरुष थे, इसीलिए स्वामी जी ने उन्हें धार्मिक, निष्कपट, सच्चा, उद्योगशील, परिश्रमी, चतुर, सभ्य, सुशील और श्रेष्ठ पुरुष समझा था। वे इन पर अतीव विश्वास और स्नेह रखते थे।

(११) पण्डित ज्वालादत्त

ये स्वामी जी के वेदभाष्य तथा लेखनकार्य में पण्डित भीमसेन शर्मा की तरह सहायक और वैदिक यन्त्रालय में प्रूफ संशोधन करने वाले थे। इन्हें स्वामी जी ने काशी में वैदिक यन्त्रालय का कार्य आरम्भ होने पर वहाँ भेजा था और इनके पत्रों से यह प्रतीत होता है कि वैदिक यन्त्रालय में आने से पहले भी काफी समय से इनका स्वामी जी के साथ सम्बन्ध था।[4]

पहले स्वामी जी ने इनसे प्रेस में प्रूफ संशोधन का काम कराया। पण्डित ज्वालादत्त तथा पण्डित भीमसेन द्वारा वैदिक यन्त्रालय में छपवाई जाने वाली पुस्तकों में कितनी

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० ४८६।
२. वही, पृ० ३६८-६६।
३. वही, पृ० ४६१।
४. मुंशीराम—ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार पृ० ४१०।

अशुद्धियाँ रह जाती थीं, यह बात स्वामी जी के १७ जनवरी, १८८१ को आगरा से लिखे पत्र से स्पष्ट है। इसमें स्वामी जी ने यह बताया है कि भीमसेन ने सन्धिविषय के जिन चालीस पृष्ठों को प्रूफ देखकर छपवाया था, उनमें इक्यावन अशुद्धियाँ हैं और संस्कृत की अशुद्धियाँ बहुत कम हैं। किन्तु ज्वालादत्त के चौबीस पृष्ठों में ५६ अशुद्धियाँ हैं। इनमें भाषा की कम और संस्कृत की अधिक हैं तथा शुद्ध को भी अशुद्ध कर दिया है। अतः स्वामी जी ने लिखा है कि "आगे से हम सब पुस्तक देखा करेंगे और अपना लिखाया और तुम्हारा शोधा पुस्तक भी मँगा लिया करेंगे।" अन्त में उन्होंने इतनी अधिक अशुद्धियाँ रह जाने पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—"बड़े आश्चर्य की बात है कि जब लाजरस (मुद्रणालय बनारस) और (निर्णय सागर प्रेस) बम्बई से (वेदभाष्य) छपता था कभी ऐसी अशुद्धि न होती थी, जैसे कि अब घर के छापेखाने में होती है। जो ऐसी अशुद्धि हुआ करेगी तो सब पुस्तक में अशुद्धिपत्र ही भरा करेंगे और छपवाने वालों और प्रेस की भी बदनामी होगी।"[1]

स्वामी जी के बार-बार लिखने पर भी ज्वालादत्त प्रूफ संशोधन में गलतियाँ छोड़ देते थे। इस पर स्वामी जी ने २२ दिसम्बर, १८८१ के एक पत्र में पण्डित ज्वालादत्त को लिखा—"हम नहीं जानते थे कि शोधने में तुम्हारी ऐसी कच्ची दृष्टि है। देखो वेद-भाष्य की शुद्धि अशुद्धि के केवल चार-पाँच पत्र ही नमूने के तौर पर लिखकर भेजते हैं। खैर अब ऐसा हुआ सो हुआ, आगे कभी ऐसा न होने पावे। शोधने में खूब दृष्टि दिया करो। एक भी अशुद्धि न रहे।" इसके साथ ही उन्होंने वैदिक यन्त्रालय के एक अन्य कार्यकर्ता मास्टर शादीराम को भी लिखा है कि पण्डित ज्वालादत्त के शोधन में बहुत गलती रहती हैं, उन्हें ताकीद कर दो कि खूब गौर से शोधें ताकि गलती न रहे।"[2]

स्वामी जी ने इनको मुख्य रूप से वेद मन्त्रों के संस्कृत भाष्य की भाषा बनाने का कार्य सौंपा था। संस्कृत में वेद मन्त्रों के भाष्य का सम्पूर्ण कार्य स्वामी जी स्वयं करते थे। उसके बाद इसके हिन्दी में अनुवाद का काम पण्डितों को दे देते थे। ज्वालादत्त को जिन शर्तों पर भाषा बनाने का काम दिया गया था उनका उल्लेख स्वामी जी द्वारा मुंशी समर्थदान को २६ एप्रिल, १८८३ को लिखे पत्र में किया गया है।[3] इसमें स्वामी जी ने ज्वालादत्त के लिए भाषा बनाने के बारे में निम्नलिखित शर्तें लिखी हैं :—

(१) यदि वह सत्रह रुपये ही अपना मासिक रखना चाहे तो १६ मन्त्र की भाषा प्रतिदिन बनानी पड़ेगी चाहे वह गायत्री छन्द हो या उत्कृति अर्थात् छोटे-बड़े मन्त्र सब गिनती में आएँगे।

(२) अक्षर स्पष्ट और चित्त लगाकर सुन्दर भाषा बनानी होगी।

(३) यदि उसे यह स्वीकार न हो तो वह घर को चला जाए। यदि घर में रह कर भाषा बनाना चाहे तो उसको आठ रुपया माहवारी दें और १२ मन्त्रों की भाषा प्रतिदिन बना दिया करे। बाकी अपना घर का काम किया करे। डाक और कागज का खर्च हमारा होगा। यन्त्रालय में अच्छी भाषा और कुछ अधिक काम करेगा तो उसका

---

१. भगवद्दत्त—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३११।
२. वही, पृ० ३११।
३. वही, पृ० ४१८-१९।

मासिक यथायोग्य यथासमय बढ़ा दिया जाएगा।

(४) यदि वह यह कहे कि इतनी भाषा मुझसे नहीं बनायी जाती है तो उसका कहना व्यर्थ है क्योंकि "जब हम दो घण्टे व ढाई घण्टे अथवा तीन घण्टे में २४ गायत्री मन्त्र, १२ त्रिष्टुप और १० जगती छन्द का भाष्य सुखपूर्वक बना लेते हैं तो इससे अधिक समय और परिश्रम नहीं लग सकता।"

इसके बाद स्वामी जी ने लिखा है यदि उसे ये शर्त स्वीकार न हों तो हम किसी दूसरे को रखकर भाषा बनवा लेंगे। किन्तु उसे ऐसी जीविका कहीं नहीं मिलेगी और वह घर पर मृतक कर्म कराके मुर्दाविधान खाया करेगा।

पण्डित ज्वालादत्त स्वामी जी की शर्तों को स्वीकार करके काम करने लग गए। किन्तु स्वामी जी को उनके कार्य से सन्तोष नहीं था। उन्होंने मुंशी समर्थदान को २३ अगस्त, १८८३ के पत्र में लिखा था—"यह ज्वालादत्त तो विक्षिप्त पुरुष है। इसका ध्यान सदा मासिक बढ़ाने पर रहता है, काम बढ़ाने पर नहीं।" अब यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता, किन्तु घास भी काटता है। छह मन्त्र की भाषा भी रोज नहीं बनाता। ऐसे पुरुष हमारे सामने ही काम दे सकते हैं और यह भी है कि ऐसे पुरुष हमारे सामने नहीं रह सकते हैं।[1]

एक अन्य पत्र में दिनांक २६ जून, १८८३ को स्वामी जी ने समर्थदान को लिखा था—"पण्डित ज्वालादत्त ने आठ दिन में पचास मन्त्र की भाषा बनायी। कुछ भी नहीं बनायी। तुम इसके काम का यथातथ्य निकालो। ज्वालादत्त जो भाषा बनाता है, ऐसा न हो (उसमें) कहीं पोपलीला (पौराणिक बातें) घुसेड़ दे। जैसी हमारी संस्कृत हो, उसके अनुकूल लिखे और कुछ न करें।"[2]

पोपलीला की बातें—स्वामी जी को मुंशी समर्थदान ने एक पत्र में लिखा था कि ज्वालादत्त नयी भाषा बनाता है। इस पर स्वामी जी को यह शंका हुई कि कहीं वह वेदभाष्य में पौराणिक बातें न ठूंस दे। अतः उन्होंने वैदिक यन्त्रालय में काम की देखरेख करने वाले बाबू विश्वेश्वर सिंह जी को ३१ जून, १८८३ के पत्र में लिखा कि "यदि वह नयी भाषा हमारी संस्कृत और अभिप्राय के अनुकूल हो तो ठीक है, नहीं तो जो पोपलीला की भाषा बनाकर वहाँ ही छपवा दे और हमको मालूम न हो, पश्चात् प्रसिद्ध होने से कोलाहल होगा तो क्या होगा। इसलिए जो कुछ वह बनाए उसको समर्थदान देख ले।"[3]

पण्डित ज्वालादत्त के पत्रों से प्रकट होता है कि स्वामी जी ज्वालादत्त की गलतियों को बताया करते थे और उसे अधिक काम करने को लिखते रहते थे।[4] पण्डित ज्वालादत्त अपनी गलतियाँ स्वीकार करते हुए स्वामी जी को भविष्य में ऐसा न करने का आश्वासन देते थे और यह कहते थे कि आपने मुझ पर इतना काम लाद दिया है कि रात्रि को भी परिश्रम करता हूँ फिर भी काम पूरा नहीं होता और मुंशी समर्थदान मुझे नौकरी से निकलवाना चाहते हैं। भीमसेन के साथ भी इनकी बड़ी खटपट रहती थी।

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० ४८५-८६।
२. वही, पृ० ४४७-४८।
३. वही, पृ० ४६०।
४. मुंशीराम जिज्ञासु—ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार, प्रथम भाग, पृ० ४०३-४२२।

अतः वैदिक यन्त्रालय के व्यवस्थापक सुन्दरलाल ने स्वामी जी को यह सुझाव दिया था कि ये दोनों बारी-बारी से एक साल प्रेस में और एक साल स्वामी जी के पास रहें ताकि दोनों में झगड़ा न हो और काम अधिक हो।[1]

पण्डित ज्वालादत्त विषयक उपर्युक्त विवरण से कई बातें स्पष्ट होती हैं। स्वामी जी अपने सहयोगियों से खूब कस कर काम लेना चाहते थे। वेदभाष्य का काम जल्दी पूरा करने के लिए यह अतीव आवश्यक था। इसी दृष्टि से भाषा बनाने का काम उन्होंने पण्डितों को सौंपा था। कोई पण्डित काम में ढील न करे, इसलिए उन्होंने उनके दैनिक कार्य की मात्रा निश्चित कर दी थी, किन्तु पण्डित इसकी तुलना में बहुत कम काम करते थे। वेदभाष्य के हिन्दी अनुवाद में ये अपनी ओर से कुछ नयी पौराणिक बातें भी डाल देते थे। स्वामी जी ने इसे देखने का काम मुंशी समर्थदान को सौंपा था। स्वामी जी पण्डितों के कार्य से प्रसन्न नहीं थे, वे उनकी गलतियाँ बार-बार इस दृष्टि से बताते थे कि वे भविष्य में वैसी गलतियाँ न करें। उस समय उत्तर प्रदेश में संस्कृत पढ़े-लिखे अच्छे पण्डितों का अभाव था। अतः स्वामी जी को ज्वालादत्त जैसे पण्डित लाचारी में अपना काम चलाने के लिए रखने पड़ते थे। वस्तुतः, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसे अयोग्य पण्डितों की सहायता से स्वामी जी ने वेदभाष्य का और इतने अधिक ग्रन्थों के लेखन का कार्य किया।

---

१. मुंशीराम — ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार, पृ० ४२५।

उन्नीसवाँ अध्याय

सन् १८८३ तक स्थापित आर्यसमाज और उनका कार्यकलाप

(१) उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में आर्यसमाजों की स्थापना

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करते हुए सबसे अधिक समय उत्तर प्रदेश में व्यतीत किया, और उनके प्रयत्न तथा प्रेरणा से उनके जीवनकाल में (सन् १८८३ तक) पचास से भी अधिक आर्यसमाज वहाँ स्थापित हो गए थे। स्वामी जी के देहावसान तक भारत भर में आर्यसमाजों की संख्या ८५ के लगभग थी। उनमें से ५० से भी अधिक समाजों का उत्तर प्रदेश में होना आर्यसमाज के इतिहास की दृष्टि से इस प्रदेश के महत्त्व को सूचित करने के लिए पर्याप्त है।

स्वामी जी के जीवन काल में उत्तर प्रदेश में किस प्रकार अनेक आर्यसमाजों की स्थापना हुई, इस पर कुछ प्रकाश इस ग्रन्थ के ग्यारहवें अध्याय में डाला जा चुका है। प्रारम्भ में इन आर्यसमाजों की स्थापना में किन महानुभावों का विशेष कर्तृत्व था, और कौन इनके प्रधान व मन्त्री आदि पदाधिकारी नियत हुए थे, इस सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी हमें उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं, कि आर्यसमाज के इतिहास में इन सज्जनों का नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाना चाहिए, क्योंकि उन्नीसवीं सदी के तृतीय चरण में आर्यसमाज का सदस्य एवं पदाधिकारी होना एक साहस की बात थी। जो समाज उस समय के हिन्दुओं की कितनी ही मान्यताओं का घोर विरोधी हो, जो सामाजिक विषमता तथा ऊँच-नीच के विरुद्ध आवाज उठाता हो, स्त्री-शिक्षा एवं विधवा विवाह का समर्थक हो, मूर्तिपूजा और श्राद्ध आदि का खण्डन करता हो और इस्लाम व क्रिश्चिएनिटी के विरुद्ध प्रचार में तत्पर हो, उसमें सम्मिलित होना ऐसे ही व्यक्तियों के लिए सम्भव था, जो प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी हों और जिनमें पुराने अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों को न मानने का साहस हो। इस अध्याय में इन महानुभावों का भी कुछ परिचय देने का प्रयत्न किया जाएगा।

रुड़की आर्यसमाज—उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में सबसे पूर्व आर्यसमाज की स्थापना रुड़की में हुई थी। पंजाब में वैदिक धर्म का प्रचार कर और अनेक नगरों में आर्य-समाजों की स्थापना कर जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पूर्व की ओर प्रस्थान किया, तो सबसे पहले वे रुड़की में रहे। उस समय इस नगरी में इन्जीनियरिंग कालिज की स्थापना हो चुकी थी, जिसके कारण वहाँ सुशिक्षित व्यक्ति अच्छी संख्या में विद्यमान थे। जून,

१८७८ में लाला मुरलीधर वैश्य पंजाब से रुड़की आए थे, और वहाँ उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों तथा आर्यसमाज की चर्चा की थी। इससे रुड़की के अनेक प्रशिक्षित व्यक्तियों में स्वामी जी तथा आर्यसमाज के सम्बन्ध में उत्सुकता उत्पन्न हुई और लाला मुरलीधर वैश्य के सुझाव पर उन्होंने एक पत्र स्वामी जी की सेवा में भेजा जिसमें उन्हें रुड़की पधारने के लिए निमन्त्रित किया गया था। रुड़की से स्वामी जी को निमन्त्रित करने वाले महानुभावों में श्री उमरावसिंह प्रमुख थे। वह थामसन इन्जीनियरिंग कालिज में अध्यापक थे, और स्वामी जी के रुड़की निवास के समय निरन्तर उनके साथ रहे थे। स्वामी जी के पास अंग्रेजी में जो पत्र आते थे, उनका अनुवाद करने तथा उनके उत्तर लिखने में भी वह सहायता करते थे, और रुड़की में आर्यसमाज की स्थापना में उन्होंने विशेष उत्साह प्रदर्शित किया था। श्री उमरावसिंह के अतिरिक्त जिन अन्य सज्जनों ने स्वामी जी को रुड़की पधारने के लिए निमन्त्रित किया था, उनमें लाला कन्हैयालाल और लाला सरजन दास के नाम भी उल्लेखनीय हैं। २५ जुलाई, सन् १८७८ के दिन स्वामी जी रुड़की पधारे। स्वामी ब्रह्मानन्द, पण्डित भीमसेन और पाँच-छह अन्य व्यक्ति उनके साथ थे। स्वामी जी के निवास की व्यवस्था लाला शम्भूनाथ के बँगले पर की गई थी। २५ जुलाई से २० अगस्त, १८७८ तक स्वामी जी रुड़की में रहे, और चार सप्ताह के इस निवास में उन्होंने जो व्याख्यान वहाँ दिए, उनके कारण न केवल थामसन इन्जीनियरिंग कालिज में और रुड़की नगरी में ही, अपितु वहाँ के ब्रिटिश अधिकारियों तथा प्रोफेसरों में भी वैदिक धर्म और आर्यसमाज के मन्तव्यों की धूम मच गई। इसी का यह परिणाम हुआ कि कितने ही लोग स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हुए और २० अगस्त, १८७८ को वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गई। समाज के प्रथम प्रधान मास्टर शंकरलाल चुने गए, और प्रथम मन्त्री श्री उमराव-सिंह। ये दोनों सज्जन थामसन इन्जीनियरिंग कालिज में प्राध्यापक थे। लाला रंगीलाल रुड़की आर्यसमाज के प्रथम कोषाध्यक्ष नियुक्त हुए। जो अन्य सज्जन शुरू में रुड़की आर्यसमाज के सदस्य बने, उनमें लाला भगीरथ लाल, लाला खूबचन्द, बाबू नाथूराम और लाला कन्हैयालाल के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रारम्भ में रुड़की आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था। अतः उसके साप्ताहिक सत्संग श्री उमरावसिंह के मकान पर हुआ करते थे। पर इस मकान में स्थान की कमी थी, अतः एक चौबारे में, जो महन्त वाला चौबारा कहाता था, साप्ताहिक अधिवेशनों की व्यवस्था की गई। वर्तमान समय में बलदेवसहाय आत्माराम आढ़ती की जहाँ दुकान है, उसके ऊपर ही यह चौबारा विद्यमान था। कुछ समय पश्चात् यह स्थान भी आर्य-समाज के साप्ताहिक सत्संग के लिए छोटा पड़ गया। तब लाला हरवन्स लाल के चौबारे पर समाज के अधिवेशनों की व्यवस्था की गई, और जब तक आर्यसमाज का अपना भवन नहीं बन गया, वहीं पर साप्ताहिक सत्संग होते रहे।

सन् १८७८ में स्वामी दयानन्द सरस्वती की उपस्थिति में आर्यसमाज का जो बीजारोपण हुआ था, आगे चलकर उसने बहुत उन्नति की। उसके तत्त्वावधान में आर्य कन्या पाठशाला, वाचनालय व पुस्तकालय, और आर्य व्यायामशाला आदि अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई, और वैदिक धर्म के प्रचार में इस आर्यसमाज ने बहुत उत्साह प्रदर्शित किया। इसी समाज के उत्साही पदाधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं ने रामनगर, लिब्बरहेड़ी

आदि में आर्यसमाजों की स्थापना की और गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर और वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर सदृश समीपवर्ती आर्य संस्थाओं के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लिया। पर जहाँ तक रुड़की आर्यसमाज की सन् १८८३ तक की गतिविधि का सम्बन्ध है, बहुत कम बातें ज्ञात हैं। सन् १८७६ में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था। उस अवसर पर हरिद्वार जाते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती मार्च, १८७६ में रुड़की ठहरे थे। इस समय उन्होंने रुड़की आर्यसमाज की अन्तरंग सभा को सम्बोधित भी किया था। पर स्वामी जी अधिक समय रुड़की नहीं ठहरे, और शीघ्र हरिद्वार चले गए। रुड़की हरिद्वार के समीप ही है, अतः वहाँ के बहुत-से आर्य सज्जन कुम्भ के मेले पर हरिद्वार गए, और वहाँ स्वामी जी के प्रवचनों में उपस्थित होकर उनसे लाभ उठाते रहे।

रुड़की आर्यसमाज के इतिहास की एक बात यह उल्लेखनीय है, कि जून, १८८१ में मार्टिन लूथर नाम के एक ईसाई ने अपनी पत्नी के साथ क्रिश्चिएनिटी का परित्याग कर वैदिक धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। मार्टिन लूथर रुड़की के क्रिश्चियन अनाथालय का अध्यापक एवं उपप्रबन्धक रहा था।

मेरठ आर्यसमाज—आर्यसमाज के इतिहास में मेरठ का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनकाल में मेरठ आर्यसमाज की स्थिति बहुत उच्च व महत्त्वपूर्ण थी। बम्बई में निर्धारित आर्यसमाज के नियमों में 'प्रधान आर्यसमाज' का जिस रूप में उल्लेख है, मेरठ का आर्यसमाज वास्तविक अर्थों में उसी प्रकार का 'प्रधान आर्यसमाज' था। स्वामी जी नौ बार मेरठ पधारे थे, और अनेक बार तो कई-कई सप्ताहों तक उन्होंने वहाँ निवास किया था। मेरठ आर्यसमाज की स्थापना उन्होंने स्वयं की थी, और इसके अनेक वार्षिकोत्सवों में भी वे सम्मिलित हुए थे। परोपकारिणी सभा की स्थापना भी पहले उन्होंने मेरठ में ही की थी। आर्यसमाज के क्षेत्र में जो स्थान वर्तमान समय में दिल्ली को प्राप्त है, स्वामी जी के जीवनकाल में वह प्रायः मेरठ को प्राप्त था। यदि इस समय इस समाज की गतिविधि तथा कार्यकलाप का विवरण उपलब्ध हो सकता, तो आर्यसमाज के प्रसार, विस्तार तथा प्रगति को सुचारु रूप से समझने के लिए वह अत्यन्त उपयोगी व सहायक सिद्ध होता। पर दुर्भाग्य की बात है कि वह उपलब्ध नहीं है और सदा के लिए नष्ट हो गया है। मेरठ जाने पर आर्यसमाज, बुढ़ाना दरवाजा (जिसे स्वामी जी ने स्वयं स्थापित किया था) के पदाधिकारियों से मिलने पर ज्ञात हुआ, कि उस समाज का पूर्ण कार्य विवरण (अन्तरंग सभाओं की बैठकों की कार्यवाही, साप्ताहिक सत्संगों का विवरण, वार्षिकोत्सवों का वृत्तान्त आदि) विद्यमान था, पर सुरक्षा के प्रति सावधान न होने के कारण उसे दीमक लग गई और वह नष्ट हो गया। यही कारण है कि इस प्रधान आर्यसमाज के प्रारम्भिक वर्षों के सम्बन्ध में बहुत कम बातें यहाँ दी जा सक रही हैं।

सन् १८७८ के अगस्त मास में जब स्वामी दयानन्द सरस्वती चौथी बार मेरठ पधारे, तब उन्होंने वहाँ आर्यसमाज की स्थापना की थी। इस बार वे रुड़की से अलीगढ़ होते हुए २६ अगस्त को मेरठ पहुँचे थे और वहाँ लाला दामोदर दास की कोठी (जो मेरठ छावनी में थी) में निवास किया था। इस समय स्वामी जी के धर्म प्रचार की कीर्ति दूर-दूर तक व्याप्त हो चुकी थी, अतः उनके मेरठ पधारने पर वहाँ की जनता में उत्साह का संचार हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। मेरठ के बहुत-से लोग स्वामी जी

के दर्शन करने तथा प्रवचन सुनने के लिए लाला दामोदर दास की कोठी पर आने लगे। एक सप्ताह तक वहीं स्वामी जी धर्मोपदेश करते रहे। पर यह स्थान जनता के लिए सुविधाजनक नहीं था, अतः लोगों के अनुरोध पर 'जलवए-तूर' प्रेस के अध्यक्ष राय गणेशीलाल की कोठी पर स्वामी जी के व्याख्यानों की व्यवस्था की गई। व्याख्यानों की श्रृंखला एक सितम्बर (१८७८) को सायंकाल ६ बजे से प्रारम्भ हुई, जिसकी सूचना एक विज्ञापन द्वारा दी गई थी। विज्ञापन इस प्रकार था—"महाराज स्वामी दयानन्द सरस्वती मेरठ में पधारे हैं। पहली तारीख को ६ बजे शाम के समय उनका उपदेश राय गणेशीलाल की कोठी पर होगा। इसलिए पधारने और उपदेश सुनने के लिए यह विज्ञापन दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या अंग्रेज सज्जन पधार कर उपदेश सुनें और जो कुछ प्रश्नोत्तर पण्डित (स्वामी जी) से करें उसका पण्डित जी अत्यन्त युक्तिपूर्वक मौखिक उत्तर देंगे। कुछ लोग पण्डित जी के बारे में यह भी कहते हैं कि वह वेद और देवताओं की निन्दा और अपमान करते हैं। उनका यह विचार बिल्कुल झूठ है। पण्डित जी वेद और सत्यशास्त्र के अनुसार उपदेश करते हैं। इसमें किसी प्रकार की बात जिस सज्जन को समझ में न आवे, पण्डित जी उसको वेद के अनुसार अच्छी प्रकार समझा सकते हैं और यह उपदेश ६ बजे शाम से प्रारम्भ होगा और ८ बजे तक चलेगा।" विज्ञापन के प्रकाशक मास्टर अजुध्याप्रसाद थे, और वह सुल्तान उलमुतावह छापाखाना कैम्प मेरठ में छपा था।

सितम्बर (१८७८) मास के पहले चार दिन स्वामी जी के व्याख्यान गणेशीलाल की कोठी पर हुए, फिर नौ दिन (५ से १३ सितम्बर तक) लाला रामशरणदास रईस की कोठी पर और फिर नौ दिन (१४ से २२ सितम्बर तक) बाबू छेदीलाल गुमाश्ता कमसरियट की कोठी पर। २२ दिनों के इन निरन्तर व्याख्यानों के कारण मेरठ में स्वामी जी की धूम मच गयी, और जनता उनके उपदेशों तथा धार्मिक मन्तव्यों से बहुत प्रभावित हुई। इसी का यह परिणाम हुआ कि आश्विन बदी तीस, सम्वत् १९३५ तदनुसार २९ सितम्बर, सन् १८७८ को वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गई। मेरठ के इस प्रथम आर्यसमाज के पदाधिकारी निम्नलिखित महानुभाव थे—प्रधान—पण्डित कुन्दन लाल, सेकण्ड मास्टर, जिला स्कूल मेरठ, उपप्रधान—लाला रामशरणदास रईस, मंत्री—बाबू आनन्द के० लाल, सेकण्ड क्लर्क दफ्तर जरनैली, उपमन्त्री—पण्डित अम्बाशंकर, सेकण्ड क्लर्क नहर, कोषाध्यक्ष—बाबू छेदीलाल गुमाश्ता कमसरियट, और पुस्तकाध्यक्ष—पण्डित जगन्नाथ रईस। इन छह पदाधिकारियों के अतिरिक्त निम्नलिखित सज्जन आर्यसमाज मेरठ की अन्तरंग सभा के सदस्य नियुक्त हुए थे—मास्टर अजुध्याप्रसाद, पण्डित पालीराम, अध्यापक नार्मल स्कूल, लाला गंगासहाय, बाबू उदयचन्द्र बैनर्जी, क्लर्क दफ्तर कमिश्नरी और पण्डित प्राणनाथ।

मेरठ में सन् १८७८ में स्थापित आर्यसमाज के सभासदों की सूची भी उपलब्ध है। किस वर्ग के व्यक्ति सबसे पहले आर्यसमाज में सम्मिलित हुए थे, इसका अनुशीलन करने के लिए इस सभासदों के नामों को यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी होगा—

१. राय गणेशीलाल, प्रबन्धक जलवयेतूर प्रेस।
२. बाबू बहकी लाल, क्लर्क महकमा गंग नहर।
३. लाला चन्द्रसेन।

४. पण्डित किशनलाल ।
५. लाला प्रागदत्त ।
६. लाला बलदेव प्रसाद ।
७. लाला बिशनसहाय ।
८. लाला कृपाशंकर, अहलमद फौजदारी, तहसील बागपत ।
९. बाबू सूरजभान, एकाउण्टेण्ट ।
१०. मुंशी ललिता प्रसाद ।
११. पण्डित गोपीनाथ, हैड क्लर्क, दफ्तर जेल ।
१२. मुंशी श्यामसुन्दर, क्लर्क दफ्तर, सुपरिण्टेण्डिंग इन्जीनियर ।
१३. मुंशी बशेश्वर दयाल ।
१४. पण्डित बिहारीलाल, अध्यापक नार्मल स्कूल, मेरठ ।
१५. बाबू भोलानाथ, क्लर्क दफ्तर, इन्सपैक्टर आफ स्कूल्स ।
१६. बाबू चुन्नीलाल, नक्शानवीस, गंग नहर ।
१७. डाक्टर रामचन्द्र ।
१८. लाला गणेशीलाल, नक्शानवीस ।
१९. लाला नन्दराय ।
२०. बाबू शिवप्रसाद, क्लर्क दफ्तर कमिश्नरी ।
२१. लाला देवीप्रसाद ।
२२. पण्डित देवीचन्द, नकल नवीस, अदालत दीवानी ।
२३. चौधरी मोहन सिंह, जमींदार ग्राम मसोदरा निवासी ।
२४. मुंशी डालचन्द, हैडमास्टर, जिला स्कूल मुजफ्फरनगर ।
२५. लाला सीताराम, मुजफ्फरनगर निवासी ।
२६. मुंशी कल्याणराय, अध्यापक, स्कूल सहारनपुर ।
२७. पण्डित बलदेव सहाय, कस्बा थाना भवन ।
२८. लाला प्रागदास, छात्र गवर्नमेण्ट स्कूल ।
२९. लाला चुन्नीलाल मिस्त्री ।
३०. लाला मुन्नालाल साहू ।
३१. बाबू टोडरमल जैन ।
३२. पण्डित विश्वम्भर सहाय ।
३३. लाला गंगासरण ।
३४. बाबू नत्थीमल चित्रकार ।
३५. लाला नथलदास, पुस्तक विक्रेता ।
३६. बाबू बालमुकुन्द ।
३७. लाला गंगा प्रसाद ।
३८. लाला ज्वालानाथ, कानूनगो ।
३९. लाला बद्रीप्रसाद ।
४०. बख्शी किशनलाल ।
४१. बाबू किशनचरन सरकार, क्लर्क दफ्तर, सुपरिण्टेण्डिंग इन्जीनियर, मेरठ ।

४२. पण्डित चन्द्रभान, अध्यापक।
४३. पण्डित बटेश्वर प्रसाद, नकशानवीस।
४४. पाण्डे रघुवरदयाल।
४५. बाबू मोहन दत्त, हैड क्लर्क दफ्तर जनरैली।
४६. डाक्टर बसन्त राय।
४७. बाबू द्वारकानाथ घोष, क्लर्क दफ्तर कमिश्नरी।
४८. बाबू मुन्नालाल।
४९. लाला मथुरा दास।
५०. लाला शम्भूनाथ, कर्मचारी डाकखाना मेरठ।
५१. पण्डित बालमुकुन्द, क्लर्क दफ्तर जेल।
५२. लाला जगन्नाथ, कानूनगो तहसील, हापुड़।
५३. पण्डित गंगाप्रसाद, पटवारी ग्राम गहायन।
५४. लाला श्यामसुन्दर लाल।
५५. लाला ज्योतिस्वरूप।
५६. लाला भोलानाथ।
५७. लाला चेतराम।
५८. मुंशी रामशरण दास।
५९. लाला मुन्नालाल।
६०. श्री मनोहर चरन शरण राय।
६१. राय कामता प्रसाद, प्रबन्धक 'साहिले-हिन्द' समाचारपत्र।
६२. श्री हरिहर हीरालाल, नाजिर अदालत सब-जजी, मेरठ।
६३. लाला जैसीराम।
६४. चौधरी गुलाबसिंह।
६५. लाला हीरालाल।
६६. लाला मिट्ठूमल।
६७. बाबू जुगल किशोर।
६८. पण्डित अजुध्यानाथ।
६९. बाबू गणेशी लाल, क्लर्क दफ्तर सुपरिण्टेण्डिंग इंजीनियर, गंग नहर।
७०. लाला रामलाल।

ऊपर मेरठ आर्यसमाज के जिन ७० सभासदों के नाम लिखे गये हैं, उनके अतिरिक्त समाज के छह पदाधिकारी और पाँच अन्तरंग सदस्य भी थे। इस प्रकार प्रारम्भ में मेरठ आर्यसमाज के सभासदों की कुल संख्या ८१ थी।

किस वर्ग के व्यक्ति शुरू-शुरू में मेरठ में आर्यसमाज के प्रति आकृष्ट हुए, ऊपर दी गई सूची से इस बात का अनुशीलन कर सकना सम्भव है। मेरठ आर्यसमाज के ८१ सभासदों में ७ अध्यापक थे, २६ सरकारी सर्विस में थे, ५ का सम्बन्ध प्रिंटिंग प्रेस, समाचारपत्र व पुस्तक व्यवसाय से था, १ विद्यार्थी था, २ डाक्टर थे, १ मिस्त्री था, १ चित्रकार था, २ रईस थे और १ जमींदार था। शेष ३५ सभासदों के व्यवसाय या कारोबार के सम्बन्ध में कोई संकेत सदस्य सूची से प्राप्त नहीं होता। उनके नामों के साथ लाला,

मुंशी, पण्डित और बाबू सदृश शब्दों का जो प्रयोग किया गया है, उससे यह अवश्य सूचित होता है, कि जन-समाज में उनकी स्थिति पर्याप्त रूप से प्रतिष्ठित थी और सम्भवतः, वे महाजनी, दुकानदारी, पौरोहित्य आदि के कार्यों में संलग्न थे।

मेरठ आर्यसमाज के प्रथम प्रधान पण्डित कुन्दनलाल थे, जो जिला स्कूल मेरठ के सेकण्ड मास्टर थे। समाज की अन्तरंग सभा में पण्डित पालीराम और मास्टर अजुध्यानाथ के रूप में दो शिक्षक विद्यमान थे, और साधारण सभासदों में नार्मल स्कूल के एक अध्यापक, मुजफ्फरनगर के जिला स्कूल के हैडमास्टर, सहारनपुर के एक स्कूल के अध्यापक और एक अन्य अध्यापक थे। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि सन् १८७८ तथा उसके बहुत समय पश्चात् तक मेरठ में न किसी डिग्री कालिज की सत्ता थी, और न इण्टर कालिज की। उस समय सर्वोच्च शिक्षणालय जिला स्कूलों और नार्मल स्कूलों के रूप में ही थे। मुजफ्फरनगर, सहारनपुर आदि समीपवर्ती नगरों की भी यही दशा थी। इन नगरों के स्कूलों के हैड मास्टर प्रायशः या तो अंग्रेज हुआ करते थे, या क्रिश्चियन, और या बंगाल के ब्राह्मसमाजी। उत्तर प्रदेश के निवासियों में नवीन शिक्षा का प्रारम्भ हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। इस कारण शिक्षणालयों में हेडमास्टर सदृश पदों पर उनकी नियुक्ति अपवाद रूप से ही होती थी। मेरठ आर्यसमाज के सात शिक्षक सभासदों में एक हेडमास्टर थे और एक सेकण्ड मास्टर। यह बात महत्त्वपूर्ण है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि जो व्यक्ति प्रारम्भ में मेरठ आर्यसमाज के सदस्य बने थे, उनमें दो ऐसे भी थे, शिक्षा के क्षेत्र में जिनकी स्थिति अत्यन्त उच्च थी। सम्भवतः, मेरठ और समीपवर्ती जिलों के स्थानीय निवासियों में ये अत्यधिक शिक्षित व्यक्ति थे, क्योंकि उस समय शिक्षा के क्षेत्र में उनसे अधिक ऊँचे व्यक्तियों के होने का प्रश्न ही नहीं था। इस समय तक उत्तर प्रदेश के इस क्षेत्र में न किसी यूनिवर्सिटी की सत्ता थी, और न किसी डिग्री या पोस्ट-ग्रेजुएट कालिज की। स्कूल भी उस समय बहुत कम थे। ऐसी दशा में सात अध्यापकों का मेरठ आर्यसमाज का सभासद् बनना और एक का प्रधान पद पर नियत होना सूचित करता है, कि उस काल के सुशिक्षित वर्ग के व्यक्तियों को स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्य स्वीकार्य प्रतीत होते थे, और वे आर्यसमाज के प्रति आकर्षण का अनुभव करते थे। प्रिंटिंग प्रेस, समाचारपत्र और पुस्तक व्यवसाय से सम्बद्ध व्यक्तियों का आर्य सभासद् बनना भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है। सरकारी सर्विस के २६ व्यक्ति मेरठ आर्यसमाज के प्रारम्भिक सभासद् बने थे। ये प्रायः मिलिटरी, कचहरी, नहर विभाग आदि में क्लर्क, नकशानवीस व इसी प्रकार के साधारण पदों पर थे। इस प्रसंग में भी यह नहीं भूलना चाहिए कि उस समय सब उच्च सरकारी पदों पर अंग्रेज ही नियुक्त हुआ करते थे। भारतीयों के लिए हेड क्लर्क की सर्विस प्राप्त कर लेना बहुत बड़ी बात होती थी, और सरकारी सर्विस में क्लर्क की नौकरी प्राप्त कर लेना गौरव की बात समझी जाती थी। उस युग के जन समाज में इन साधारण स्थिति के सरकारी कर्मचारियों की भी स्थिति बहुत प्रतिष्ठित मानी जाती थी। समाज के इस सम्मानित वर्ग ने भी आर्य-समाज के प्रति आकर्षण अनुभव किया था, यह ध्यान देने योग्य है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मेरठ आर्यसमाज का सारा पुराना रिकार्ड दीमकों द्वारा खाया जाने के कारण नष्ट हो गया है, और प्रारम्भिक वर्षों में उसकी गति-विधि एवं कार्यकलाप की जानकारी प्राप्त कर सकने का कोई साधन नहीं है। शुरू में

मेरठ आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था। साप्ताहिक अधिवेशन लाला रामशरण दास रईस के मकान पर हुआ करते थे। यह मकान मेरठ के पत्थरवालान मोहल्ला में था। साप्ताहिक सत्संग में सन्ध्या, हवन तथा भजनों के बाद किसी सभासद् का लेख पढ़ा जाता था, और उसके पश्चात् किसी शास्त्रीय विषय के आशय को स्पष्ट किया जाता था। उस समय संस्कृत, हिन्दी और देवनागरी लिपि का प्रचार बहुत कम था। मेरठ आर्यसमाज ने प्रारम्भ से ही इस बात पर ध्यान दिया और उसके सभासदों ने देवनागरी लिपि, हिन्दी भाषा तथा संस्कृत पढ़ना शुरू कर दिया। इसके लिए उनमें बहुत उत्साह था।

मेरठ आर्यसमाज के प्रारम्भिक वर्षों के सम्बन्ध में एक अन्य बात उल्लेखनीय है। प्रीतिभोज या सहभोज की परम्परा का अनुसरण इस समाज द्वारा भी किया जाता था। आर्यसमाज के सत्संगों तथा उपदेशों में जो व्यक्ति उपस्थित होते थे, उन्हें प्रसाद रूप में हलवा आदि बाँटा जाया करता था। श्री निहालसिंह नाम के एक सज्जन ने जब इस प्रकार प्रसाद ग्रहण कर लिया, तो उनके गाँव तथा बिरादरी के लोगों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि निहाल क्रिश्चियन हो गये हैं, क्योंकि जो हलवा प्रसाद रूप में उन्होंने ग्रहण किया था, उसमें स्वामी जी ने थूक दिया था। इस प्रकार की बातें उस समय आर्यसमाज को बदनाम करने के लिए प्रायः कही जाया करती थीं।

आर्यसमाज के क्षेत्र में मेरठ जिले का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस समय वहाँ १६५ से भी अधिक समाजें विद्यमान हैं, और कितने ही आर्य शिक्षणालयों तथा अन्य आर्य संस्थाओं की वहाँ सत्ता है। पर सन् १८८३ तक मेरठ जिले में केवल एक ही आर्यसमाज था, जिसे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वयं स्थापित किया था। इस समाज को केन्द्र बनाकर समीप के ग्रामों, कसबों और नगरों में निरन्तर सत्य सनातन वैदिक धर्म का प्रचार किया जाता रहा। इस प्रचार के परिणामस्वरूप जनता में आर्यसमाज के प्रति कितनी अधिक रुचि उत्पन्न हो गई थी, इसका कुछ अनुमान समाज के वार्षिकोत्सवों की उन रिपोर्टों से किया जा सकता है, जिनमें से कुछ अब भी उपलब्ध हैं। ऐसी एक रिपोर्ट मेरठ आर्यसमाज के पाँचवें वार्षिकोत्सव की है, जो सन् १८८३ में मनाया गया था। इस रिपोर्ट पर अन्यत्र विशद रूप से प्रकाश डाला जाएगा।

आगरा—उन्नीसवीं सदी के तृतीय चरण में आगरा का विशेष महत्त्व था। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में वही ऐसा नगर था, जहाँ सबसे पूर्व ऐसे शिक्षणालयों की स्थापना हुई थी, जिनमें अँग्रेजी भाषा तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उच्च शिक्षा दी जाती थी। शासन की दृष्टि से आगरा ब्रिटिश भारत में एक पृथक् इकाई की स्थिति रखता था। उस समय उत्तर प्रदेश को 'आगरा और अवध का संयुक्त प्रान्त' (United Provinces of Agra and Avadh) कहा जाता था। इस प्रदेश का यह नाम स्पष्टतया सूचित करता है कि आगरा एक प्रान्त का भी नाम था, जिसका शासन केन्द्र आगरा नगर था। क्रिश्चियन मिशनरी वहाँ चिरकाल से ईसाई मत के प्रसार में संलग्न थे, जिसके कारण वहाँ ईसाई तथा नवशिक्षित लोग भी पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती तीन बार आगरा गये थे। उन्होंने मथुरा रहकर स्वामी विरजानन्द जी महाराज से सत्य शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी। जब वे मथुरा में अपनी शिक्षा पूर्ण कर चुके, तो गुरु महाराज से विदा लेकर वे सबसे पहले आगरा गये, और यमुना के तट पर लाला गल्लामल रूपचन्द की वाटिका में निवास किया। इसी समय

(सन् १८६३ में) रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल से उनका सम्पर्क हुआ। पण्डित सुन्दर लाल ने उच्च आधुनिक शिक्षा प्राप्त की थी, और वह पोस्टमास्टर जनरल के कार्यालय में एक उच्च पद पर कार्यरत थे। स्वामी जी के उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने मूर्ति-पूजा छोड़ दी और सत्य धर्म के परिज्ञान के लिए संस्कृत भाषा पढ़नी आरम्भ कर दी। आगे चलकर पण्डित सुन्दरलाल ने आर्यसमाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। आगरा में दूसरी बार स्वामी जी नवम्बर, सन् १८६६ के प्रारम्भ में गये थे। उन दिनों आगरा में एक शाही दरबार हो रहा था, जिसमें देशी रियासतों के बहुत-से राजा, जागीरदार तथा अन्य सम्भ्रान्त व्यक्ति सम्मिलित हुए थे। स्वामी जी ने इस अवसर का उपयोग धर्म-प्रचार के लिए किया, और लोगों को वैदिक धर्म की सत्य शिक्षाओं को अपनाने तथा गौरक्षा के लिए प्रेरणा प्रदान की।

पर अभी आर्यसमाज की स्थापना के स्वामी जी के विचार ने मूर्तरूप धारण नहीं किया था। सबसे पूर्व आर्यसमाज की बम्बई में स्थापना सन् १८७५ में हुई थी। इस दशा में सन् १८६३ और १८६६ में आगरा में आर्यसमाज के स्थापित होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। पर जब नवम्बर, १८८० में स्वामी जी तीसरी बार आगरा आए, तो बम्बई, लाहौर, अमृतसर, फीरोजपुर, मुलतान, रुड़की, मेरठ आदि कितने ही नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी, और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों के कितने ही लोग मेरठ आर्यसमाज के सम्पर्क में आकर अपने-अपने नगरों में आर्यसमाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करने लगे थे। ऐसे लोगों में एक मास्टर लक्ष्मण प्रसाद भी थे जो आगरा के रहने वाले थे, पर मेरठ के एक स्कूल में अध्यापक का कार्य कर रहे थे। मेरठ में वह स्वामी जी तथा आर्यसमाज के सम्पर्क में आए, और उन्होंने स्वामी जी को आगरा चलने के लिए निमन्त्रित किया। मास्टर लक्ष्मण प्रसाद के निमन्त्रण को स्वीकार कर जब स्वामी दयानन्द सरस्वती २६ नवम्बर, १८८० के दिन आगरा पधारे, तो उन्होंने श्री गिरिधर लाल वकील के मकान पर निवास किया। यह मकान बेलनगंज मुहल्ले के भैरों बाजार में है, और इस समय श्री गिरिधर लाल के पौत्र श्री कृष्णचन्द्र भार्गव वहाँ निवास करते हैं। आगरा में स्वामी जी के व्याख्यानों आदि की सब व्यवस्था मास्टर लक्ष्मण दास जी द्वारा की गई। २८ नवम्बर से २२ दिसम्बर तक उनके व्याख्यान पीपल मण्डी में स्थित मुफीदे-आम स्कूल में हुए। आगरा में स्वामी जी की दूसरी व्याख्यानमाला २२ जनवरी से २९ जनवरी (सन् १८८१) तक हुई। बाद में भी उनके व्याख्यान होते रहे, जिनका जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। क्रिश्चियन मिशनरी और पौराणिक पण्डित बहुधा स्वामी जी से धर्म के विषय में चर्चा व विचार-विमर्श करते रहते थे। इस बार स्वामी जी पर्याप्त समय तक (२६ नवम्बर, १८८० से १० मार्च, १८८१ तक) आगरा में रहे और उनके व्याख्यानों का वहाँ की जनता पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि बहुत-से लोग उनके अनुयायी हो गये, और उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय किया।

ऐसा प्रतीत होता है, कि इससे पहले भी मास्टर लक्ष्मण प्रसाद जी के प्रयत्न से आगरा के गोकुलपुरा मोहल्ले में एक आर्यसमाज स्थापित हो चुका था। इस समाज का उल्लेख लाला मूलराज को आगरा से लिखे एक पत्र में भी स्वामी जी ने किया है। यह पत्र लाला मूलराज के ६ दिसम्बर, १८८० के पत्र के उत्तर में लिखा गया था, और इसकी अन्तिम पंक्ति यह थी—"यहाँ नगर के बाहर गोकुलपुरा में एक छोटा-सा समाज

स्थापन किया गया है।" यह समाज सन् १८८० के एप्रिल मास में मास्टर लक्ष्मण प्रसाद जी के प्रयत्न से स्थापित हुआ था, पर गोकुलपुरा मोहल्ला आगरा शहर के मध्य भाग से दूर पड़ता था, और वहाँ जाना-आना लोगों के लिए सुविधाजनक नहीं था। अतः २६ दिसम्बर, १८८० के दिन एक सभा की गई, जिसमें नगर के किसी सुविधाजनक स्थान पर आर्यसमाज स्थापित करने का निश्चय किया गया। पर औपचारिक रूप से समाज की स्थापना में अभी कुछ समय लगा। नियमित रूप से आगरा आर्यसमाज २६ फरवरी, सन् १८८१ को स्थापित हुआ। उस समय स्वामी जी आगरा में विराजमान थे, और उन्होंने स्वयं अपने एक व्याख्यान के पश्चात् आर्यसमाज का सभासद् बनने के लिए लोगों से अपील की थी। स्थापना के समय प्रारम्भ में जो महानुभाव आगरा आर्यसमाज के सभासद् बने उनमें निम्नलिखित के नाम उल्लेखनीय हैं—पण्डित मोहनलाल शाण्डिल्य, मास्टर मुरलीधर, श्री गिरिधर लाल वकील, बाबू जमुनादास विश्वास, सेठ सोनीमल, महाशय मूलचन्द वर्मा, महाशय चुन्नीलाल रोहतगी, मास्टर मथुरादास, महाशय जाहिर-सिंह, महाशय रामदास क्षत्रिय, महाशय नन्दकिशोर चिट्ठीरसा, लाला भगवानदास खत्री मुख्तार, महाशय भोला सितारवाला और बाबू रामेश्वरदयाल। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि आगरा आर्यसमाज के इन प्रारम्भिक सभासदों में बहुत-से सुशिक्षित व्यक्ति थे। श्री गिरिधर लाल वकील थे और लाला भगवानदास खत्री मुख्तार। पण्डित मोहन लाल शाण्डिल्य उस समय विद्यार्थी थे, पर बाद में वह एम० ए० पास कर वकालत करने लगे थे। सभासदों में अनेक शिक्षक भी थे, और अनेक व्यापारी व रईस थे।

श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन-चरित्र में आगरा आर्यसमाज का स्थापना दिवस २५ दिसम्बर, १८८० लिखा है। यद्यपि २६ दिसम्बर के दिन आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय हो गया था, पर औपचारिक रूप से वह २६ फरवरी, सन् १८८१ को स्थापित हुआ था। स्वामी सत्यानन्द जी के ग्रन्थ में एक दिन का जो अन्तर है, उसका कारण विक्रम सम्वत् की तिथि को क्रिश्चियन सन् में परिवर्तित करने के हिसाब में भेद हो सकता है। आगरा आर्यसमाज के प्रथम प्रधान बाबू जमुनादास विश्वास नियत हुए थे। उनका निवासस्थान सेब बाजार में था। उस समय आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था, अतः साप्ताहिक अधिवेशन सेब बाजार में बाबू जमुनादास विश्वास के मकान पर ही हुआ करते थे। २७ फरवरी और ६ मार्च को स्वामी जी ने भी इसी स्थान पर व्याख्यान दिये थे। इस बीच में आगरा आर्यसमाज की ओर से स्वामी जी की सेवा में एक अभिनन्दन-पत्र भी प्रस्तुत किया गया था, जो महात्मा मुंशीराम जिज्ञासु (स्वामी श्रद्धानन्द) द्वारा संकलित 'ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार' पुस्तक में अविकल रूप से दिया गया है। इस अभिनन्दन-पत्र की कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित थीं—

"कृपालु ईश्वर ने हमारे अज्ञान अन्धकार संयुक्त मनों को सत्य स्वच्छ अमोघ आनन्दमय पदार्थ से प्रकाश करने के लिए श्री महानुभाव महात्मा गुणागार दयासागर श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को इस स्थान पर भेजा कि जिनके सूर्यवत् प्रकाश से सत्यावलम्बी-जनों के कोमल कमल सम संकुचित हृदय तत्क्षणात् प्रफुल्लित हो गये और मोह विमोहित जनों के उनकी प्रभाकरवत् प्रभा से ज्ञानचक्षु प्रकाशित हो गये, उक्त महानुभाव के शुभागमन से असत्य का ह्रास और सत्य का प्रकाश हुआ। धन्य है ऐसे वीर्यशाली पुरुष को जिन्होंने अपने तन, मन और धन को केवल परोपकार में ही लगाया, सफल है उनकी विद्या

कि जिनसे संसार की अविद्या विनाशार्थ उसका प्रकाश किया, सफल है उनका पुरुषार्थ जिन्होंने असत्य सागर से जीवरूपी पोत को निमग्न होने से बचाया……और वेदों के उद्धार से और उनके सत्य अर्थों के प्रकाश से जीवों को भ्रम जाल से छुड़ाया और इन्हीं महात्मा ने यथार्थ आर्य-धर्म का (कि जो सहस्रों वर्षों से अन्धकूप में पड़ा था) पुनः प्रकाश करके उद्धार किया।…अब हमारी श्री महाराज आपसे यह प्रार्थना है कि हम अल्पज्ञ जनों पर सदा सर्वदा कृपा रखेंगे और अपने शुभ समाचारों से ज्ञात करके आनन्दित करते रहेंगे।" अभिनन्दन-पत्र पर बाबू जमुनादास विश्वास के अतिरिक्त तेरह अन्य महानुभावों के हस्ताक्षर थे। आगरा आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्यों के अतिरिक्त भी कुछ सज्जन थे, जिन्होंने इस अभिनन्दन-पत्र पर हस्ताक्षर कर स्वामी जी के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट की थी। ये सज्जन श्री किशन नारायण, श्री सनरमक (!), श्री भागवत प्रसाद, श्री हरिकिशन, श्री ज्वाला प्रसाद, श्री लक्ष्मण प्रसाद, श्री प्रयाग नारायण, श्री गेंदालाल और श्री सोहनलाल थे। सम्भवतः, इनमें श्री लक्ष्मण प्रसाद सदृश अनेक ऐसे महानुभाव थे, जो गोकुलपुरा आर्यसमाज के सभासद् थे।

प्रारम्भ से आगरा आर्यसमाज के अधिवेशन बाबू जमुनाप्रसाद विश्वास के मकान पर हुआ करते थे, जो उस समय समाज के कर्ता-धर्ता थे। पर ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में आर्यसमाज के कार्यों में उनकी अधिक रुचि नहीं रही, जिसके परिणामस्वरूप सभा का स्थान भैरों बाजार के निकट चौबे कुंजबिहारी लाल के मकान पर परिवर्तित कर दिया गया। श्री चौबे आगरा में डिप्टी इन्सपैक्टर मदारिस (स्कूल) थे। अब बाबू जमुना-प्रसाद विश्वास के स्थान पर श्री गिरिधरलाल वकील को आर्यसमाज का प्रधान बनाया गया। कुछ महीने बाद समाज के साप्ताहिक अधिवेशन वकील साहब के भैरों बाजार स्थित मकान में होने लगे, क्योंकि वह स्थान आर्य सभासदों तथा अन्य लोगों के लिए अधिक सुविधाजनक था। सन् १८८८ तक आगरा आर्यसमाज का अपना कोई भवन नहीं था, और न कोई ऐसा कमरा जिसे स्थायी रूप से किराए पर लिया गया हो। इस दशा में साप्ताहिक अधिवेशनों के स्थान में परिवर्तन होते रहना स्वाभाविक ही था। श्री गिरिधर लाल वकील के मकान के बाद लाला भगवानदास मुख्तार द्वारा पन्नी गली में लिये गए एक मकान में और फिर लाला रामेश्वरदयाल जी के प्रबन्ध से मोती कटरा में समाज के साप्ताहिक सत्संग होते रहे। सन् १८८३ और उसके कुछ वर्ष पश्चात् तक भी इसी प्रकार समाज के स्थान परिवर्तित होते रहे। इस बीच में श्री गिरिधरलाल वकील के बाद मास्टर मथुरादास जी ने आर्यसमाज का प्रधान पद ग्रहण कर लिया था। आगरा आर्य-समाज के इतिहास के इस काल के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि उन दिनों आगरा कालिज में एक विद्यार्थी थे, जिनका नाम गंगा प्रसाद था। यह मेरठ के निवासी थे, पर अपने नगर में उच्च शिक्षा की सुविधा न होने के कारण आगरा में पढ़ रहे थे। वह नियमपूर्वक आगरा आर्यसमाज के अधिवेशनों में उपस्थित हुआ करते थे, और उसके कार्यकलाप में भाग लेते रहते थे। आगे चलकर ये आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् और नेता बने, और सांसारिक दृष्टि से भी इन्होंने बहुत उन्नति की।

वर्तमान समय में आगरा नगर में अनेक आर्यसमाजें हैं। पर सबसे पुरानी समाज हींग की मण्डी में है। स्वामी जी द्वारा उसी की स्थापना की गई थी। १८८९ ईस्वी से उस समाज का अपना स्थान हींग की मण्डी में हो गया था, जहाँ अब समाज मन्दिर के

अतिरिक्त अनेक आर्य संस्थाएँ भी विद्यमान हैं।

आगरा आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव प्रतिवर्ष शिवरात्रि के अवसर पर मनाये जाते हैं। शिवरात्रि के वार्षिकोत्सव रखने की परम्परा वहाँ बहुत पुरानी है, और प्रारम्भ से ही इसका पालन किया जा रहा है। सन् १८८२ और सन् १८८३ के वार्षिकोत्सव भैरों बाजार में श्री गिरिधर लाल वकील के मकान पर हुए थे। इन वर्षों के उत्सवों में स्वामी सहजानन्द के अनेक व्याख्यान हुए थे। स्वामी सहजानन्द को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वयं संन्यास आश्रम की दीक्षा दी थी, और उन्हें वैदिक धर्म के प्रचार के लिए नियुक्त किया था। स्वामी आत्मानन्द और स्वामी गोकुलानन्द ने भी आगरा के प्रारम्भिक वार्षिकोत्सवों को सुशोभित किया था।

देहरादून आर्यसमाज—हिमालय के चरणों में स्थित देहरादून में आर्यसमाज की स्थापना २९ जून, सन् १८७९ को हुई थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दो सप्ताह के लगभग (१४ एप्रिल, १८७९ से ३० एप्रिल, १८७९ तक) देहरादून में निवास किया था, और उनके व्याख्यानों तथा उपदेशों से सारे नगर में धूम मच गई थी। पर देहरादून में आर्यसमाज की स्थापना स्वामी जी की उपस्थिति में नहीं हुई। उनके वहाँ से चले जाने के दो मास बाद २९ जून को देहरादून में आर्यसमाज स्थापित हुआ। देहरादून आर्यसमाज के स्थापना दिवस के सम्बन्ध में सब विद्वान् एकमत नहीं हैं। पण्डित लेखराम जी का मत २९ जून, १८७९ के पक्ष में है, पर पण्डित घासीराम जी ने महर्षि के जीवन-चरित्र में देहरादून आर्यसमाज का स्थापना दिवस २९ एप्रिल, १८७९ लिखा है। उत्तर प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा का जो इतिहास सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है, उसके अनुसार भी देहरादून में आर्यसमाज की स्थापना २९ एप्रिल को ही हुई थी। इनमें कौन-सा मत सही है, यह निर्णय कर सकना सुगम नहीं है। देहरादून के समान अन्य कितने ही नगरों की आर्यसमाजों की स्थापना दिवस के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के मतभेद विद्यमान हैं। बम्बई आर्यसमाज की स्थापना की तिथि के विषय में भी दो मत हैं। इन मतभेदों का कारण समाज की स्थापना के विचार के परिपक्व होने और औपचारिक रूप से समाज के स्थापित होने में कुछ दिनों या सप्ताहों का अन्तर होना हो सकता है। २९ जून, १८७९ को औपचारिक व नियमित रूप से आर्यसमाज की स्थापना हो जाने पर निम्नलिखित महानुभाव उसके पदाधिकारी नियुक्त हुए थे—प्रधान—बाबू माधोनारायण, मन्त्री—पण्डित कृपाराम और कोषाध्यक्ष—बाबू गोपाल सिंह। प्रारम्भ में देहरादून आर्यसमाज के कौन महानुभाव सभासद् बने और उनकी कुल संख्या कितनी थी, यह ज्ञात नहीं है। पर कुछ ऐसे सज्जनों के नाम अवश्य ज्ञात हैं, जिन्होंने देहरादून आर्यसमाज की स्थापना (सन् १८७९) से १८८३ तक उसकी उन्नति के लिए समुचित श्रम किया था। ये सज्जन दरोगालाल सिंह, मुंशी अलखधारी, पण्डित रामानन्द उपाध्याय, बाबू लक्ष्मण सिंह, ठाकुर मित्रजीत सिंह, पण्डित गोवर्धन प्रसाद और बाबू हुकुम सिंह आदि थे। दरोगालाल सिंह आर्यसमाज की स्थापना के समय से मार्च, १९०३ तक (जब उनका देहावसान हुआ) जी-जान से वैदिक धर्म के प्रचार और समाज की उन्नति के लिए प्रयत्न करते रहे। मुंशी अलखधारी जन्म से मुसलमान थे। स्वामी जी के प्रवचनों का श्रवण कर उन्होंने वैदिक धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी और मुहम्मद उमर से अलखधारी बन गये थे। वह ठेकेदारी का पेशा करते थे और उससे जो कुछ कमाते थे उसका बड़ा भाग आर्यसमाज

को दान कर देते थे। अपनी योग्यता के अनुसार वह आर्य धर्म के प्रचार में भी तत्पर रहते थे। जिन अन्य महानुभावों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उन सबका भी देहरादून में आर्यसमाज की नींव को मजबूत करने में महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था।

पर देहरादून में आर्यसमाज की स्थापना का प्रधान श्रेय पण्डित कृपाराम को है। पण्डित जी सहारनपुर जिले के निवासी थे, और उनके पूर्वज रुड़की में रहा करते थे। वन विभाग में सरकारी नौकरी मिल जाने पर वह देहरादून चले आए थे, और वहीं निवास करने लग गए थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती को देहरादून पधारने का निमन्त्रण पण्डित कृपाराम ने ही दिया था। यह निमन्त्रण किस परिस्थिति में दिया गया, इसका उल्लेख करना उपयोगी है। देहरादून के एक अत्यन्त सम्भ्रान्त रईस परिवार के दो बालक बलदेव सिंह और मोहन सिंह एक क्रिश्चियन स्कूल में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क से उनका झुकाव क्रिश्चिएनिटी की ओर होने लगा, और हिन्दू धर्म के मन्तव्यों के प्रति उनकी आस्था में शिथिलता आने लगी। ईसाई पादरी वेदशास्त्रों और हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों पर जो आक्षेप करते थे, उनका उत्तर दे सकने वाला कोई पण्डित उस समय देहरादून में नहीं था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि ये किशोरवय युवक क्रिश्चिएनिटी की ओर झुकते जाएँ। उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी थी, कि यदि छह मास के अन्दर हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में हमारी शंकाओं का सन्तोषजनक रूप से समाधान नहीं कर दिया जाएगा, तो हम स्वेच्छा से ईसाई बन जाएँगे। देहरादून के हिन्दुओं के लिए यह एक चुनौती थी। इस दशा में पण्डित कृपाराम उन युवकों के माता-पिता से मिले। पण्डित जी ने बालकों को समझाया कि कुम्भ के मेले पर एक विद्वान् संन्यासी हरिद्वार आने वाले हैं, वे तुम्हारी सब शंकाओं का समाधान कर देंगे। १ फरवरी, १८७९ के दिन पण्डित कृपाराम ने स्वामी जी को एक पत्र लिखा, जिसमें उनसे देहरादून आने की प्रार्थना की गई थी। स्वामी जी इस प्रार्थना को स्वीकार कर १४ एप्रिल, १८७९ को देहरादून पहुँच गए। पण्डित भीमसेन, श्री नीलाम्बर और एक विद्यार्थी उनके साथ थे। स्वामी जी के निवास के लिए देहरादून में राजपुर रोड पर स्थित एक बँगले में व्यवस्था की गयी थी। यह बँगला मिस डिक नाम की एक महिला का था। स्वामी जी के स्वागत एवं निवास की व्यवस्था करने वाले लोगों में बहुत-से बंगाली महाशय भी थे, जो ब्राह्मसमाज के अनुयायी थे। पंजाब के लाहौर आदि नगरों के समान देहरादून में भी उस समय सरकारी सर्विस आदि में बंगाली लोग अच्छी बड़ी संख्या में थे। तब देहरादून की जनसंख्या दस हजार से अधिक नहीं थी। गुरखा सेनाओं को परास्त कर ब्रिटिश लोगों द्वारा इस घाटी को अपनी अधीनता में लाए हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ था। एक अच्छी बड़ी अंग्रेजी पलटन वहाँ स्थापित थी, और इस क्षेत्र पर अपने शासन को व्यवस्थित रूप देने के लिए अंग्रेजों ने जो भारतीय कर्मचारी नियुक्त किए थे, उनमें बंगाली बड़ी संख्या में थे। ये बंगाली प्रायः ब्राह्मसमाजी थे, और पौराणिक हिन्दू धर्म के विरोधी थे। क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती भी पौराणिकों की अनेक मान्यताओं का खण्डन करते थे, अतः ब्राह्मसमाजियों का विचार था, कि उनसे ब्राह्मसमाज को बल प्राप्त हो सकता है। यही कारण था जो उन्होंने स्वामी जी को देहरादून बुलाने में पण्डित कृपाराम का साथ दिया, और स्वामी जी की यात्रा तथा निवास आदि की व्यवस्था के लिए उदारतापूर्वक चन्दा भी दिया। देहरादून में प्रगतिशील हिन्दुओं की संख्या न के बराबर थी। अतः पण्डित

कृपाराम की सहायता करने वाले मुख्यतया ब्राह्मसमाजी बंगाली ही थे। पर ब्राह्मसमाज के लोग वेद की अपौरुषेयता को स्वीकार नहीं करते थे, अतः स्वामी जी का उनसे सहमत हो सकना सम्भव ही नहीं था। इस दशा में स्वामी जी ने यह पसन्द नहीं किया, कि उनके निवास आदि की व्यवस्था ब्राह्मसमाजियों के साहाय्य से की जाए। पर पण्डित कृपाराम की विवशता भी वे जानते थे। उन्हें ज्ञात था, कि हिन्दू लोगों की सहायता उन्हें प्राप्त नहीं थी। पण्डित कृपाराम ने स्वामी जी के स्वागत एवं आतिथ्य के लिए जो धनराशि एकत्र की थी, उसके दाताओं में दो के अतिरिक्त अन्य सब बंगाली व ब्राह्मसमाजी थे।

स्वामी जी के सम्मुख मुख्य कार्य देहरादून के एक अत्यन्त सम्भ्रान्त व सम्पन्न कुल के किशोरवय युवकों को क्रिश्चियन हो जाने से बचाना था। ये युवक स्वामी जी के निवास-स्थान पर बुलाये गये, और उन्हें अपनी शंकाएँ प्रस्तुत करने के लिए कहा गया। युवक शंकाएँ करते जाते थे, और स्वामी जी उनका समाधान। कुछ ही देर में श्री बलदेव सिंह और श्री मोहन सिंह की सब शंकाएँ निवृत्त हो गयीं, और उन्होंने क्रिश्चियन मत को ग्रहण करने के विचार का परित्याग कर दिया। स्वामी जी चाहते थे, कि ईसाई पादरी भी उनसे वार्तालाप करने के लिए आएँ, ताकि उन्हें भी सत्य धर्म का मार्ग प्रदर्शित किया जा सके। पर वे इसके लिए उद्यत नहीं हुए। उन्होंने अपने स्कूल के उन दोनों विद्यार्थियों (बलदेव सिंह और मोहन सिंह) को धमकाना शुरू किया, कि यदि वे ईसाई न हो गये, तो जिले का कलेक्टर उनसे नाराज हो जाएगा। पर उन युवकों ने इस धमकी की कोई परवाह नहीं की। अपने आत्मजों को हिन्दू धर्म में स्थिर देखकर उनके पिता बहुत प्रसन्न हुए। स्वामी जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने कुछ धनराशि उन्हें समर्पित करनी चाही, पर स्वामी जी उसे ग्रहण करने को उद्यत नहीं हुए। उन्होंने कहा कि इस धनराशि का उपयोग देहरादून में एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना करने के लिए कर लिया जाए। श्री बलदेव सिंह स्वामी जी के इस आदेश को भूले नहीं। अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होंने स्वामी जी के आदेश के पालन के लिए अच्छी बड़ी सम्पत्ति दान में दे दी थी।

स्वामी जी ने सोलह दिन देहरादून में निवास किया। जब वे हरिद्वार में थे, उन का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। देहरादून की स्वास्थ्यप्रद जलवायु में रहकर वे शीघ्र ही स्वस्थ हो गए। प्रतिदिन सायंकाल उनके व्याख्यान होते रहे, जिनमें वैदिक धर्म के सत्य मन्तव्यों के प्रतिपादन के अतिरिक्त क्रिश्चिएनिटी, इस्लाम तथा ब्राह्मसमाज का खण्डन भी किया जाता था। इससे विधर्मियों ने बहुत उद्वेग अनुभव किया, और वे गाली-गलौच तथा मार-पीट पर भी उतर आए। पर स्वामी जी पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, और धर्मप्रचार के कार्य में वे पूर्ववत् व्यापृत रहे। उनके उपदेशों का देहरादून के निवासियों पर कितना अधिक प्रभाव पड़ा होगा, इसे स्पष्ट करने के लिए यह लिख देना पर्याप्त है कि मोहम्मद उमर नाम का एक मुसलमान इस्लाम का परित्याग कर वैदिक धर्म की दीक्षा लेने को उद्यत हो गया। स्वामी जी ने उसको 'शुद्धि' कर मोहम्मद उमर से अलखधारी बना दिया। विधर्मियों का धर्मान्तरण कर उन्हें हिन्दू (आर्य) समाज में सम्मिलित कर लेने की जो परम्परा चिरकाल से बन्द हो चुकी थी, स्वामी जी द्वारा वह फिर से प्रारम्भ की गयी। इससे पहले पंजाब में वे कितने ही ईसाइयों को शुद्ध कर आर्य बना चुके थे, पर सम्भवतः, यह पहला अवसर था जबकि किसी मुसलमान को शुद्धि द्वारा स्वामी जी ने

आर्य बनाया। देहरादून को ही यह गौरव प्राप्त है कि वहाँ मुसलमानों को आर्य बनाने की परम्परा का सूत्रपात हुआ। मोहम्मद उमर सहारनपुर का निवासी था, और देहरादून में ठेकेदारी करता था। स्वामी जी के व्याख्यान सुनकर वह वैदिक धर्म के प्रति आकृष्ट हुआ था। आगे चलकर मोहम्मद उमर या अलखधारी आर्यसमाज का एक अत्यन्त उत्साही और कर्मठ कार्यकर्ता बना, और वैदिक धर्म के उत्कर्ष के लिए उसने अपनी सब शक्ति लगा दी।

देहरादून आर्यसमाज के रिकार्ड में एक पुराना पत्र विद्यमान है, जो सम्भवत: मोहम्मद उमर का लिखा हुआ है। पत्र इस प्रकार है—

देहरादून

मान्यवर नमस्ते,

सेवा में निवेदन है कि मेरा बहुत दिनों से विचार हो रहा है कि मैं शुद्धि द्वारा आर्यसमाज में हिन्दू हो जाऊँ और हिन्दुत्व की मान की रक्षा करूँ। आशा है कि आप इस दास की प्रार्थना स्वीकृत कर हिन्दू बनाकर अपनावेंगे।

—आपका दास—मोहम्मद उमर बल्द ख्वाजा हुसैन
कौम कम्बोह
सहारनपुर

पत्र पर दो गवाहों के हस्ताक्षर भी हैं, एक देवनागरी में और दूसरा मुण्डी लिपि में। मोहम्मद उमर के अँगूठे का निशान भी पत्र पर है।

मोहम्मद उमर के इस पत्र पर यह उट्टंकना की गई है, कि क्या यह वस्तुत: उस मोहम्मद उमर का है जिसे स्वयं स्वामी जी ने शुद्ध कर अलखधारी बनाया था, या किसी अन्य का। स्वामी जी द्वारा शुद्ध किए गये मोहम्मद उमर का ही यह पत्र है, इस बात में आशंका इस कारण की जाती है कि जब मोहम्मद उमर उर्दू जानता था, और प्रारम्भ के वर्षों में आर्यसमाज का कार्य भी प्राय: उर्दू में हुआ करता था, तो यह पत्र हिन्दी में क्यों लिखा गया और पढ़ा-लिखा होने पर भी प्रार्थी ने अँगूठे के निशान से इसे क्यों अंकित किया। साथ ही, स्वामी जी के देहरादून निवास के समय वहाँ आर्यसमाज की स्थापना नहीं हुई थी। यदि वहाँ समाज की स्थापना तिथि २९ एप्रिल, १८७९ भी मान ली जाए, तो भी मोहम्मद उमर के पत्र में "शुद्धि द्वारा आर्यसमाज में हिन्दू हो जाऊँ" यह कथन संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि स्वामी जी ने अगले दिन ३० एप्रिल को देहरादून से सहारनपुर के लिए प्रस्थान कर दिया था।

पर इन आशंकाओं पर विचार करते समय यह दृष्टि में रखना चाहिए, कि सहारनपुर के मुसलमानों और मौलवियों में उर्दू के साथ-साथ हिन्दी के पढ़ने-लिखने की भी परम्परा रही है। मोहम्मद उमर जाति के कम्बोह थे। कम्बोह जाति के बहुसंख्यक लोग हिन्दू हैं। यह जाति प्राचीन समय के कम्बोज गण की उत्तराधिकारी है। बौद्ध साहित्य में परिगणित अष्टादश महाजनपदों में कम्बोजगण भी एक था। कम्बोह जाति के मोहम्मद उमर के लिए हिन्दी भाषा से भी परिचित होना कोई असाधारण बात नहीं समझी जा सकती। वैदिक धर्म को ग्रहण करने की अपनी इच्छा को प्रकट करते समय यदि उसने अपना आवेदनपत्र हिन्दी में लिखा या लिखवाया हो, तो वह स्वाभाविक ही था। महत्त्वपूर्ण पत्रों व दस्तावेजों पर अँगूठे का निशान लगाने व लगवाने की प्रथा आज

भी विद्यमान है। सम्पत्ति का बैनामा करते समय सुशिक्षित विक्रेताओं से भी अँगूठे का निशान आज भी लगवाया जाता है, केवल कुछ अपवादों को छोड़कर। इस दशा में मोहम्मद उमर ने धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी अपने आवेदनपत्र पर अँगूठे का निशान लगा कर उस समय की परम्परा का अनुसरण ही किया था। उसके पत्र में आर्यसमाज के उल्लेख से भी किसी प्रकार की आशंका करने की आवश्यकता नहीं है। यदि तब तक देहरादून में विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना नहीं भी हुई हो, पर अन्यत्र कितने ही समाज तब तक स्थापित हो चुके थे, और देहरादून का वातावरण भी आर्यसमाज से गुंजायमान था। इस दशा में मोहम्मद उमर द्वारा अपने आवेदनपत्र में आर्यसमाज का उल्लेख अस्वाभाविक नहीं है। यह भी सम्भव है कि मोहम्मद उमर की शुद्धि स्वामी जी के देहरादून में दूसरी बार निवास के समय (७ अक्टूबर से २० नवम्बर, १८८० तक) हुई हो, और यह पत्र उसी काल में लिखा गया हो। तब तक देहरादून में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। पत्र पर कोई तिथि नहीं है, अतः यह सम्भावना भी असंगत नहीं है।

शुरू में देहरादून आर्यसमाज का अपना कोई भवन नहीं था। इसलिए साप्ताहिक अधिवेशन कभी कहीं होते थे, कभी कहीं। खुड़बुड़ा और वामावाला देहरादून के पुराने मुहल्ले हैं। जो लोग प्रारम्भ में आर्यसमाज के सभासद् बने थे, उनका निवास प्रायः इन्हीं मुहल्लों में था। अतः साप्ताहिक अधिवेशन भी वहीं हुआ करते थे। आर्यसमाज के अपने भवन की व्यवस्था सन् १८८६ में हुई, जब कि एक भूखण्ड इस कार्य के लिए क्रय किया गया।

सन् १८८३ में स्वामी जी के देहावसान के समय तक देहरादून आर्यसमाज की क्या गतिविधि रही, इस सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इतना ही सुनिश्चित रूप से ज्ञात है, कि इस काल में पण्डित कृपाराम ही आर्यसमाज के मन्त्री रहे, और वह इस नये पौदे को सींचने तथा इसको बड़ा करने के लिए उत्साह के साथ प्रयत्न करते रहे। १८७६ के बाद शीघ्र ही देहरादून में आर्यसमाज ने जड़ पकड़ ली थी, यह इस बात से सूचित होता है कि सितम्बर, १८८० में जब स्वामी जी आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर मेरठ गये, तो देहरादून के आर्यसमाजी उन्हें अपने नगर में आमन्त्रित करने के लिए बेचैन हो उठे। स्वामी जी को मेरठ से मुजफ्फरनगर और वहाँ से सहारनपुर जाना था। जब वे रेलगाड़ी द्वारा सहारनपुर स्टेशन पर पहुँचे, तो देहरादून के आर्यसमाजियों की एक मण्डली वहाँ उपस्थित थी। स्वामी जी ने उनकी आग्रहपूर्ण प्रार्थना स्वीकार कर ली, और ७ अक्टूबर, १८८० को उन्होंने दूसरी बार देहरादून में पदार्पण किया। इस बार वे २० नवम्बर, १८८० तक वहाँ रहे। स्वामी जी के ४४ दिनों के निवास से देहरादून में आर्यसमाज को बहुत बल मिला। वहाँ उनके बहुत-से व्याख्यान हुए, और विधर्मियों से शास्त्रार्थों की भी अनेक बार चर्चा हुई। ईसाई पादरी और मुसलमान मौलवी स्वामीजी के धर्मप्रचार से बहुत उद्विग्न थे। पर शास्त्रार्थ द्वारा खुलकर स्वामी जी से धर्मचर्चा करने का उन्हें साहस नहीं हुआ। इसके लिए जो भी प्रयत्न किये गए, वे पूर्णरूप से सफल नहीं हो सके। जनता ने यह भली भाँति अनुभव कर लिया, कि स्वामी जी जिन मन्तव्यों का प्रतिपादन कर रहे हैं, वे सत्य हैं और अन्य सम्प्रदायों व धर्मों के धर्माचार्य उनका खण्डन नहीं कर सकते। स्वामी जी के व्याख्यानों के कारण न केवलसर्वसाधारण जनता पर, अपितु पौराणिक पण्डितों, पादरियों और मौलवियों पर भी वैदिक धर्म की धाक जम गई,

और आर्यसमाज की जड़ मजबूत होने में इससे बहुत सहायता मिली। पण्डित कृपाराम अब अपना सारा समय आर्यसमाज के कार्य में लगाने लगे थे, और उन्हें पण्डित के स्थान पर 'महाशय' कहा जाने लगा था।

देहरादून आर्यसमाज के प्रारम्भिक वर्षों का विवरण देते हुए स्वामी महानन्द जी का उल्लेख करना भी आवश्यक है। स्वामी महानन्द पहले दादूपन्थ के साधु थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती के साथ उनका सम्पर्क १८६७ ईस्वी में कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में हुआ था। तब तक उन्हें वेदों के सम्बन्ध में कोई भी जानकारी नहीं थी। स्वामी जी के प्रवचनों को सुनकर साधु महानन्द इतने प्रभावित हुए कि वह वैदिक धर्म के अनुयायी बन गये। ऐसा प्रतीत होता है कि देहरादून आर्यसमाज की स्थापना हो जाने पर स्वामी महानन्द ने उसके कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेना प्रारम्भ कर दिया और जब समाज के भवन के लिए धन का प्रश्न उत्पन्न हुआ, तो उन्होंने घर-घर घूमकर चन्दा एकत्र किया। समाज भवन के निर्माण में स्वामी महानन्द के अनुपम योगदान को दृष्टि में रखकर उनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए समाज भवन के महराब पर 'महानन्द आश्रम आर्य-समाज' शब्द अंकित करा दिये गए थे। क्योंकि स्वामी महानन्द सन् १८६७ में ही वैदिक धर्म को अपना चुके थे, अतः यह कल्पना सहज में की जा सकती है कि १८७९ में देहरादून में आर्यसमाज की स्थापना और समाज भवन के निर्माण (सन् १८९०) के मध्यवर्ती काल में भी वह वैदिक धर्म के प्रचार के कार्य में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे थे। इसी कारण देहरादून के समाज भवन का नाम 'महानन्द आश्रम' रखा गया था।

बिजनौर जिले में आर्यसमाजों की स्थापना—उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले के किसी भी नगर या स्थान में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वयं वैदिक धर्म का प्रचार नहीं किया। वहाँ स्वामी जी का सन्देश उनके शिष्यों द्वारा पहुँचा, और उन्हीं के प्रयत्न से आर्यसमाजों की स्थापना हुई। स्वामी जी के एक शिष्य सहजानन्द थे, जिन्हें उन्होंने स्वयं संन्यास आश्रम की दीक्षा दी थी। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए वह सन् १८८३ के प्रारम्भिक समय में बिजनौर आये थे, और उन्होंने इस जिले के अनेक नगरों व ग्रामों में अपने गुरु स्वामी दयानन्द सरस्वती का सन्देश पहुँचाया था। उनके प्रयत्न से ही स्वामी जी के देहावसान (अक्टूबर, १८८३) के समय तक बिजनौर जिले में अनेक स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना हो गई थी। इस क्षेत्र में आर्यसमाजों का संस्थापक स्वामी सहजानन्द को ही कहा जा सकता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वयं उन्हें इस कार्य के लिए नियुक्त किया था, जैसा कि उनके निम्नलिखित पत्र से स्पष्ट है—

> "सर्व आर्यसमाजस्य प्रधानादि आनन्दित रहो।
>
> विदित हो कि स्वामी सहजानन्द सरस्वती उपदेशक, इसने संन्यासाश्रम भी मुझसे लिया है, आता है। इसको जब तक वहाँ रहे अन्न, स्थानादि और जब एक समाज से दूसरे समाज को जाये तब रेल के भाड़े आदि से सत्कार किया करना। जिस समाज से दूसरे समाज को जाना चाहे उस समाज का मन्त्री दूसरे समाज के मन्त्री के पास पत्र भेज देवे कि वह स्टेशन पर आके निवास-स्थान को ले जावे।"
>
> मिती फाल्गुन बदी १२ ह० दयानन्द सरस्वती
> मंगल, सम्वत् १९३९ वि० चित्तौड़—मेवाड़

स्वामी जी ने यह पत्र सम्वत् १९३९ या सन् १८८२ में लिखा था, और इस द्वारा उन्होंने सहजानन्द सरस्वती की उपदेशक के रूप में औपचारिक रूप से नियुक्ति कर दी थी। स्वामी सहजानन्द ने उत्साहपूर्वक कार्य प्रारम्भ किया, और सन् १८८३ की वर्षा ऋतु में बिजनौर नगरी में आर्यसमाज की स्थापना कर दी।

पर बिजनौर जिले में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित सत्य-सनातन वैदिक धर्म का प्रवेश स्वामी सहजानन्द के आगमन से पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था। नैनीताल जिले के दक्षिणी क्षेत्र में जसपुर नाम का एक गाँव है। वहाँ पण्डित सुखदेवप्रसाद नामक एक ब्राह्मण निवास करते थे। सन् १८७५ में सत्यार्थप्रकाश का जो प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था, पण्डित जी ने उसे पढ़ा था। उसे पढ़कर वह स्वामी दयानन्द सरस्वती के परम भक्त हो गये थे, और उनके मन्तव्यों के प्रति आस्था रखने लगे थे। पण्डित सुखदेवप्रसाद के कुटुम्बी लोग कट्टर पौराणिक थे। उनके भय से पण्डित जी सत्यार्थप्रकाश को पढ़ते हुए अपने घर के दरवाजे बन्द कर लेते थे, ताकि कोई अन्य व्यक्ति उन्हें इस क्रान्तिकारी ग्रन्थ को पढ़ते हुए देख न ले। पण्डित सुखदेवप्रसाद के एक परिचित व मित्र पण्डित रामयश थे, जो नगीना (जिला बिजनौर) के निवासी थे। वह प्रायः सुखदेवप्रसाद जी के पास जसपुर जाने-आने रहते थे। वहाँ उन्होंने भी सत्यार्थप्रकाश से परिचय प्राप्त किया, जिसके कारण उनके विचारों में भारी परिवर्तन आ गया। सत्यार्थ-प्रकाश की एक प्रति उन्होंने भी प्राप्त कर ली, और नगीना में अपने घर पर उसका अनुशीलन करने लगे। पण्डित रामयश के पुत्र पण्डित हरिशंकर थे, जो उस समय युवा थे। उन्होंने भी सत्यार्थप्रकाश पढ़ा, और उसकी चर्चा अपने मित्रों में प्रारम्भ कर दी। धीरे-धीरे नगीना में बहुत-से लोगों को स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों से परिचय हो गया, और वहाँ आर्यसमाज की स्थापना के लिए मैदान तैयार होने लगा।

नगीना के समीप ही नजीबाबाद है, जो बिजनौर जिले का सबसे बड़ा नगर है। पण्डित हरिशंकर का वहाँ भी जाना-आना रहता था। वहाँ उन्हें पण्डित रामजीलाल शर्मा के रूप में एक ऐसे सहयोगी मिल गये, जो स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में अगाध श्रद्धा रखते थे। पण्डित रामजीलाल बदायूँ के निवासी थे, पर नजीबाबाद में रेलवे की सर्विस में थे। पण्डित हरिशंकर जी के साथ मिलकर उन्होंने नजीबाबाद के लोगों में वैदिक धर्म के विशुद्ध मन्तव्यों का प्रचार प्रारम्भ कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप २३ जून, सन् १८८१ के दिन मोहल्ला दीवान परमानन्द में स्थित झण्डी वालों के घेर में आर्य-समाज की स्थापना हो गई। प्रारम्भ में जो महानुभाव इस समाज के सभासद बने, उनमें पण्डित बालमुकुन्द मुख्तार, मुंशी लक्ष्मी नारायण, साहू बैजनाथ रईस, लाला ज्वालाप्रसाद, लाला शंकरलाल और लाला मुकुन्दीलाल के नाम उल्लेखनीय हैं। शुरू में इस आर्यसमाज का बहुत विरोध हुआ। जो सज्जन आर्यसमाज के सभासद बनते थे, बिरादरी वाले उन्हें धमकियाँ दिया करते थे। इसी काल में प्रयागदत्त नाम के एक कट्टर पौराणिक पण्डित नजीबाबाद आये, और उन्होंने वहाँ की हिन्दू जनता को आर्यसमाज के विरुद्ध भड़काना प्रारम्भ किया। उन्होंने एक ऐसी मण्डली भी तैयार की, जो साप्ताहिक अधिवेशन के अवसर पर आर्य सज्जनों पर आक्रमण करने के लिए चढ़ आयी और उसने गालियाँ बकने के साथ-साथ हवनकुण्ड में कीचड़ आदि फेंकना शुरू कर दिया। इस मण्डली द्वारा इस प्रकार का विरोध प्रदर्शन अनेक बार किया गया। आर्य लोग इस विरोध की परवाह न

कर अपना कार्य उत्साहपूर्वक करते रहे, और नजीबाबाद आर्यसमाज के अधिवेशन नियमपूर्वक होते रहे। पर पण्डित प्रयागदत्त द्वारा असामाजिक तत्त्वों को समाज के विरुद्ध जिस ढंग से भड़काया जा रहा था, सर्वसाधारण हिन्दू जनता उससे बहुत उद्वेग अनुभव करने लगी। परिणाम यह हुआ कि आर्य सभासद् भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे, और उन्होंने यही उचित समझा कि कुछ समय के लिए साप्ताहिक अधिवेशनों को स्थगित कर दिया जाए। पर वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप की जो ज्योति नजीबाबाद में प्रकाशित हो गई थी, उसे देर तक तिरोहित रख सकना सम्भव नहीं था। उसकी दशा राख से ढकी आग के समान हो गई थी। कुछ वर्ष पश्चात् नजीबाबाद में आर्यसमाज का कार्य फिर से नियमित रूप में प्रारम्भ हो गया, और कालान्तर में उसने बहुत उन्नति की।

यद्यपि सन् १८८१ में बिजनौर जिले में एक आर्यसमाज की स्थापना हो गई थी, पर वास्तविक अर्थों में वहाँ समाज के कार्य का सूत्रपात सन् १८८३ में स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा ही किया गया। इस वर्ष की वर्षा ऋतु में उन्होंने बिजनौर में जिस आर्यसमाज की स्थापना की, उसके प्रथम प्रधान कुँअर भारतसिंह नियुक्त हुए, और मन्त्री का कार्य बाबू जीराजसिंह ने सँभाला। कुँअर भारतसिंह का सम्बन्ध रीवां रियासत (मध्यप्रदेश) के राजवंश के साथ था, और उन्होंने वाराणसी में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वह सरकारी सर्विस में ले लिये गये थे, और उनकी पहली नियुक्ति बिजनौर में ज्वायण्ट मजिस्ट्रेट के रूप में हुई थी (सन् १८८०)। कुँअर साहब सुशिक्षित एवं प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे, अतः उनका आर्यसमाज के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेना सर्वथा स्वाभाविक था। क्योंकि वह बिजनौर सभा के प्रधान थे, अतः कचहरी के कर्मचारियों और वकीलों आदि ने भी आर्यसमाज के प्रति रुचि प्रदर्शित करनी प्रारम्भ कर दी, और उनमें से अनेक आर्यसमाज के सभासद् भी बन गये। समाज के प्रथम मन्त्री बाबू जीराजसिंह वकील थे। उन्हें स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों पर अगाध आस्था थी, और वह आर्यसमाज के कार्यों का अत्यन्त उत्साह व लगन के साथ सम्पादन करते थे। बाद में उन्होंने 'तोहफेहिन्द' नाम से एक समाचार-पत्र का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया था, जिस द्वारा विधर्मियों द्वारा वैदिक धर्म पर किये जाने वाले आरोपों का वह युक्तिपूर्वक उत्तर दिया करते थे।

बिजनौर नगर के पश्चात् बिजनौर जिले में मोहम्मदपुर-देवमल नामक ग्राम में आर्यसमाज की स्थापना हुई। यह ग्राम बिजनौर से छह मील की दूरी पर मण्डावर के समीप स्थित है। इसके बहुसंख्यक निवासी बिश्नोई सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और वहाँ के सम्भ्रान्त साहूकार तथा जमींदार भी इसी सम्प्रदाय को मानने वाले थे। इस सम्प्रदाय में जहाँ वैदिक धर्म के अहिंसा सदृश सिद्धान्त को अविकल रूप से स्वीकार किया जाता है, वहाँ साथ ही शव को दफनाने जैसी प्रथाएँ भी उसमें प्रविष्ट हो गई हैं। शेख रोशन तथा शेख पन्ना सदृश मुसलमानी नाम भी उन द्वारा रख लिये जाते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों से वे पृथक् हैं। उनका अपना ही पृथक् सम्प्रदाय है, जिसमें हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों का सम्मिश्रण है। बिजनौर जिले में बिश्नोई सम्प्रदाय का यही रूप था। मोहम्मदपुर-देवमल के बिश्नोई लोगों में सेठ जौहरीमल प्रमुख थे। बिजनौर में आर्यसमाज की स्थापना कर स्वामी सहजानन्द सरस्वती मोहम्मदपुर-देवमल गये, और उनके उपदेशों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि सेठ जौहरीमल और उनके बहुत-से बिश्नोई साथी वैदिक धर्म के अनुयायी हो गये। स्वामी सहजानन्द ने उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराया, और गायत्री मन्त्र की शिक्षा

दी। आर्यसमाज के प्रचार का यह प्रभाव पड़ा कि अन्य हिन्दुओं ने इन विश्नोइयों (जो अब वैदिक धर्म को अपना चुके थे) के साथ भोजन का व्यवहार प्रारम्भ कर दिया। रूढ़िवादी कट्टरपन्थी हिन्दुओं ने इसका प्रबल रूप से विरोध किया, पर उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। शीघ्र ही मोहम्मदपुर-देवमल के प्रायः सब विश्नोई लोग वैदिक धर्म में दीक्षित हो गये, और अन्य हिन्दुओं ने भी उन्हें अपना अंग मानना प्रारम्भ कर दिया। बिजनौर जिले का यह आर्यसमाज बहुत प्रभावशाली रहा है, और इस द्वारा देहाती क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है।

मोहम्मदपुर-देवमल के विश्नोई लोगों के सहयोग से ही नगीना में आर्यसमाज की स्थापना हुई। पण्डित हरिशंकर वहाँ सत्यार्थप्रकाश की चर्चा में तत्पर थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। लोग उससे प्रभावित भी हो रहे थे, पर उन्हीं दिनों ब्रह्मानन्द नाम के एक साधु नगीना में आये। वह पहले विश्नोई सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर स्वामी सहजानन्द सरस्वती के उपदेशों को सुनकर वैदिकधर्मी बन गये थे। नगीना में भी विश्नोई लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। जब साधु ब्रह्मानन्द ने भी वहाँ वैदिक धर्म के मन्तव्यों का प्रतिपादन प्रारम्भ किया, तो नगीना के विश्नोई भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि सन् १८८३ का अन्त होने से पूर्व ही नगीना के विश्नोई मौहल्ले में आर्यसमाज की स्थापना हो गई। मुंशी छेदालाल अग्रवाल इस समाज के प्रथम प्रधान नियुक्त हुए, और भक्त हरकृष्णदास उपप्रधान। समाज के प्रथम सभासदों में मुंशी सत्यासिंह और मुंशी केवलराम के नाम उल्लेखनीय हैं। नगीना में आर्यसमाज की स्थापना तो हो गई, पर उसके कारण एक गम्भीर समस्या भी उत्पन्न होने लगी। आर्यसमाज द्वारा विश्नोई लोगों को यज्ञोपवीत धारण कराया जा रहा था, और आर्यसमाजियों ने उनके साथ खानपान भी प्रारम्भ कर दिया था। नगीना के हिन्दुओं में इससे बहुत हलचल मची, और उन्होंने आर्यसमाज का प्रबल रूप से विरोध करना शुरू कर दिया। विश्नोई लोगों का यज्ञोपवीत संस्कार जिन पण्डित मुकुन्दराम द्वारा कराया जा रहा था, ब्राह्मणों ने उन्हें जातिच्युत कर दिया। अग्रवाल आदि अन्य बिरादरियों में भी अपने जातिबन्धु आर्यसमाजियों को जातिच्युत कर देने के निर्णय किये जाने लगे। विश्नोई लोगों में भी दो पक्ष हो गये। यज्ञोपवीत धारण कर जो विश्नोई आर्यसमाज में सम्मिलित हो गये थे, उनका अन्य विश्नोइयों द्वारा प्रबल विरोध किया जाने लगा। आर्यसमाज के विरोधी विश्नोइयों ने साधु ब्रह्मानन्द को भी अपने साथ मिला लिया, और समाज में सम्मिलित हुए अनेक विश्नोइयों के यज्ञोपवीत उतरवाकर उनसे प्रायश्चित कराया गया। पर इस सबसे नगीना में आर्यसमाज के कार्य को अधिक क्षति नहीं पहुँची। १८८३ में वहाँ जिस आर्यसमाज की स्थापना हो गई थी, वह अब तक विद्यमान है और उसके तत्त्वावधान में न केवल अनेक संस्थाओं का संचालन हो रहा है अपितु वैदिक धर्म के प्रचार में भी उस द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है।

बिजनौर जिले के अन्य महत्त्वपूर्ण नगर धामपुर में आर्यसमाज की नियमित रूप से स्थापना तो सन् १८९८ में हुई थी, पर वैदिक धर्म का प्रचार वहाँ उससे पहले ही प्रारम्भ हो गया था। धामपुर में आर्यसमाज की चर्चा सन् १८७८ में ठाकुर तुकमानसिंह द्वारा शुरू हो गई थी, जो उस समय वहाँ तहसीलदार थे। ठाकुर तुकमानसिंह से आर्यसमाज के मन्तव्यों की जानकारी प्राप्त कर धामपुर के अनेक व्यक्ति उसके प्रति आस्था रखने

लगे। इनमें एक मुंशी मन्नूलाल थे, जो गिरदावर कानून-गो के पद पर नियुक्त थे। आर्य-समाज के मन्तव्यों से वह इतने प्रभावित हुए, कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के दर्शन के लिए मुरादाबाद गये। वहाँ जाकर उन्होंने स्वामी जी के व्याख्यान सुने और उनसे अपनी शंकाओं का समाधान भी किया। मुरादाबाद से धामपुर लौटकर मुंशी मन्नूलाल ने अपने मित्रों से स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों की चर्चा प्रारम्भ की, जिससे प्रभावित होकर लाला रूपचन्द, लाला बुलाकीचन्द और लाला कन्हैयालाल आदि कितने ही सज्जनों का झुकाव वैदिक धर्म की ओर होने लगा, और ऐसा वातावरण तैयार होना शुरू हो गया, जिसके कारण कुछ वर्ष बाद धामपुर में नियमित रूप से आर्य-समाज की स्थापना हो सकी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के देहावसान (अक्टूबर, १८८३) तक बिजनौर जिले के कुछ ही नगरों या ग्रामों में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। पर वैदिक धर्म का प्रचार अन्य भी अनेक स्थानों पर प्रारम्भ हो चुका था। स्वामी सहजानन्द सरस्वती नहटौर, चाँदपुर आदि अन्य भी कितने ही स्थानों पर गये थे, और वहाँ उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का प्रचार किया था। आर्यसमाज के प्रचार तथा आर्य संस्थाओं की दृष्टि से बिजनौर जिले का विशेष महत्त्व है। आगे चलकर वह आर्यसमाज का सुदृढ़ दुर्ग बना। पर वहाँ वैदिक धर्म की नींव सन् १८८३ से पूर्व ही रखी जा चुकी थी, यह सुनि-श्चित रूप से कहा जा सकता है।

बिजनौर जिले में आर्यसमाजों की स्थापना सन् १८८३ में हुई थी, और उनके लिए स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने विशेष प्रयत्न किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि सहजानन्द सरस्वती बिजनौर के क्षेत्र में कुछ मास प्रचार का कार्य कर और वहाँ वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के लिए उत्साह उत्पन्न कर १८८३ के प्रारम्भ में पंजाब चले गये थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती को लिखे गये उनके जो अनेक पत्र उपलब्ध हैं, उनसे सूचित होता है कि सन् १८८३ की ग्रीष्म ऋतु में वह फरीदकोट, लुधियाना, फीरोजपुर, मुलतान, सक्खर, शिकारपुर आदि में वेद प्रचार करते हुए परिभ्रमण कर रहे थे। अतः यह मानना समुचित होगा, कि बिजनौर जिले में उन्होंने उससे पूर्व १८८२-८३ के शीतकाल में प्रचार कार्य किया था। स्वामी सहजानन्द ने वहाँ आर्यसमाज के लिए मैदान तैयार कर दिया था, और उनके पंजाब चले जाने पर उन महानुभावों ने अपने-अपने नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना की थी, जो स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के प्रति आस्था रखने लगे थे। प्रचार कार्य करते हुए स्वामी सहजानन्द किसी एक नगर में देर तक नहीं रहते थे। उनके उपलब्ध पत्रों से ज्ञात होता है कि मई, जून, जुलाई (१८८३) महीनों में उन्होंने पंजाब और सिन्ध के कितने ही नगरों का भ्रमण कर लिया था, और वहाँ आर्य-समाजों की स्थापना में सहायता दी थी। यदि बिजनौर में भी उनका निवास कुछ ही महीनों का रहा हो, और स्वल्पकाल में ही उन्होंने वहाँ सुचारु रूप से आर्यसमाज का बीजारोपण कर दिया हो, तो इसे अस्वीकार्य नहीं कहा जा सकता। स्वामी सहजानन्द संस्कृत के भी अच्छे विद्वान् थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती को लिखे गये उनके अनेक पत्र संस्कृत भाषा में भी हैं, जिनसे उनके संस्कृत ज्ञान का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

फर्रुखाबाद—उत्तर प्रदेश के आर्यसमाजों में फर्रुखाबाद आर्यसमाज का विशिष्ट स्थान था। उस पर अगले प्रकरण में पृथक् रूप से प्रकाश डाला जाएगा।

मुरादाबाद—वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती दो बार मुरादाबाद गये थे, सन् १८७६ में और फिर सन् १८७९ में। इससे पूर्व भी एक बार सन् १८५८ में वे इस नगर से होते हुए सम्भल गये थे। १८७६ में मुरादाबाद आने पर महर्षि ने राजा जयकृष्णदास की कोठी पर निवास किया था, और वहीं उनके व्याख्यानों की व्यवस्था की गई थी। व्याख्यानों की सूचना कुँवर परमानन्द की ओर से प्रकाशित की गई थी, और मुरादाबाद के न केवल सर्वसाधारण लोग ही, अपितु वहाँ के रईस तथा सम्भ्रान्त वर्ग के व्यक्ति भी बड़ी संख्या में महर्षि के दर्शन करने और उनके प्रवचनों को सुनने के लिए एकत्र हुआ करते थे। इस समय जो व्यक्ति महर्षि के सम्पर्क में आये, उनमें साहू श्यामसुन्दर कोठीवाल का नाम उल्लेखनीय है। वह मुरादाबाद के समृद्ध रईस थे, पर अनेकविध दुर्व्यसनों से ग्रस्त थे। उन्होंने महर्षि को अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रित किया, जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए महर्षि ने अपने व्याख्यान में सार्वजनिक रूप से साहू साहब से कहा—"जब तक तू कुकर्मों का त्याग नहीं करेगा, हम तेरे घर भोजन नहीं करेंगे।" इस पर साहू श्यामसुन्दर को बहुत दुःख हुआ, और उन्होंने कुकर्मों का त्याग कर देने का संकल्प कर लिया। बाद में साहू साहब और उनके पुत्र साहू रामस्वरूप तथा साहू शान्तिस्वरूप महर्षि के भक्त और अनुयायी हो गये। मुरादाबाद में आर्यसमाज की स्थापना हो जाने पर साहू श्यामसुन्दर उसके कोषाध्यक्ष निर्वाचित हुए, और उन्होंने समाज के लिए भूमि तथा भवन दान देने का वचन दिया। उनके पुत्र रामस्वरूप और शान्तिस्वरूप भी आर्यसमाज की अन्तरंग सभा के सदस्य रहे।

महर्षि के सन् १८७६ में मुरादाबाद पधारने पर वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गई थी। पर यह समाज देर तक कायम नहीं रह सका, शीघ्र ही उसका विघटन हो गया। उसकी वही गति हुई, जो राजकोट में स्थापित आर्यसमाज की हुई थी। यदि यह समाज विघटित न होता, तो सम्भवतः इसे बम्बई समाज के पश्चात् स्थापित हुए द्वितीय या तृतीय आर्यसमाज का गौरव प्राप्त होता।

यथार्थ में मुरादाबाद में आर्यसमाज की स्थापना महर्षि के सन् १८७९ में वहाँ पधारने पर हुई। इस बार भी वे राजा जयकृष्णदास की कोठी पर ही ठहरे। कुछ अस्वस्थ होने के कारण इस बार महर्षि ने मुरादाबाद में केवल तीन व्याख्यान दिये, पर अपने एक मास के लगभग (३ जुलाई से ३० जुलाई तक) के निवास में उन्होंने स्वयं आर्यसमाज की स्थापना कर दी (२० जुलाई, १८७९)। ३८ व्यक्ति मुरादाबाद के इस प्रथम आर्यसमाज के सभासद् बने, और उसके निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गये---प्रधान-मुंशी इन्द्रमणि, मन्त्री-कुँवर परमानन्द और ठाकुर शंकरसिंह, कोषाध्यक्ष-साहू श्यामसुन्दर और पुस्तकाध्यक्ष-श्री जगन्नाथदास। अभी आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था। अतः शुरू में उसके अधिवेशन राजा जयकृष्णदास की कोठी पर ही हुआ करते थे, और वहीं पर समाज की स्थापना भी हुई थी। पर कुछ ही दिनों बाद साप्ताहिक अधिवेशन साहू श्यामसुन्दर की कोठी पर होने लगे थे। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, साहू श्यामसुन्दर ने समाज के लिए एक भू-खण्ड दान में दिया था, जिस पर दूकानें और बालाखाना बना हुआ था। उसकी मरम्मत करा के भवन बनवा दिया गया, और बाद में वहीं आर्यसमाज के अधिवेशन होने लगे।

मुंशी इन्द्रमणि मुरादाबाद आर्यसमाज के प्रथम प्रधान निर्वाचित हुए थे, पर वह देर तक इस पद पर नहीं रह सके। उन्होंने इस्लाम की आलोचना में तीन पुस्तकें लिखी थीं, जिनके कारण मुसलमानों ने उन पर मुकदमा कर दिया था। अदालत ने मुंशी जी को ५०० रुपया जुरमाना अदा करने की सजा दी। इस पर उन्होंने महर्षि को पत्र लिखा कि यह मेरा व्यक्तिगत मुकदमा नहीं था, अपितु वैदिक धर्म के प्रचार के लिए मैंने वे पुस्तकें लिखी थीं। अतः जुरमाने तथा मुकदमे के खर्च का बोझ आर्यसमाज द्वारा उठाया जाना चाहिए। इस पर महर्षि की प्रेरणा से मेरठ आर्यसमाज में एक समिति स्थापित की गई, जिसके प्रधान लाला रामशरण दास रईस थे। समिति द्वारा चन्दे के लिए अपील की गई, जिससे पर्याप्त धन एकत्र हो गया और मुकदमा हाईकोर्ट तक लड़ा गया। इस मुकदमे का वृत्तान्त लिखने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। महत्त्व की बात यह है, कि मुकदमे के लिए जो धनराशि आर्यसमाज द्वारा मुंशी इन्द्रमणि को दी गई थी, उसका हिसाब उन्होंने नहीं दिया। यही नहीं, उन्होंने महर्षि पर आक्षेप करने भी प्रारम्भ कर दिये। मुरादाबाद आर्यसमाज के पुस्तकाध्यक्ष श्री जगन्नाथ दास ने भी इस कार्य में मुंशी इन्द्रमणि का साथ दिया। इस पर इन दोनों को आर्यसमाज से निकाल दिया गया। इस सम्बन्ध में 'देशहितैषी' पत्र में निम्नलिखित सूचना प्रकाशित की गई थी—"विदित हो कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती की आज्ञानुसार आर्यसमाज के नियमों के विरुद्ध आचरण करने के कारण मुंशी इन्द्रमणि प्रधान और लाला जगन्नाथ दास पुस्तकाध्यक्ष अपने-अपने पद और इस आर्यसमाज की सभासदी से २९ मई, सन् १८८३ से अलग किये गये, और मुंशी दुर्गाचरण प्रधान नियत हुए।" यह सूचना देश हितैषी में समाज के मन्त्री मुंशी खेमकरन द्वारा प्रकाशित करायी गयी थी। सन् १८८३ में वही समाज के मन्त्री थे।

आगे चल कर मुरादाबाद आर्यसमाज ने बहुत उन्नति की। उसका अपना भवन सन् १८८१ में बन कर तैयार हो गया था, और समाज के साप्ताहिक अधिवेशन वहीं पर होने लग गये थे। समाज के वार्षिकोत्सव भी बड़ी धूमधाम के साथ मनाये जाते थे, जिनमें प्रसिद्ध आर्यनेता भी भाग लिया करते थे। आर्यसमाज मुरादाबाद की स्थापना के समय से ही एक किशोरवय विद्यार्थी का उसके साथ सम्बन्ध था, जिसका नाम नारायण प्रसाद था। यही आगे चल कर महात्मा नारायण स्वामी के नाम से विख्यात हुए, और आर्यसंन्यासियों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। आर्य जगत् में श्री नारायण प्रसाद ने अपना जीवन मुरादाबाद आर्यसमाज के उपमन्त्री के रूप में प्रारम्भ किया था। मुरादाबाद नगर में इस समय अनेक आर्यसमाज विद्यमान हैं। पर महर्षि द्वारा स्थापित समाज मण्डी बाँस की है।

बदायूँ—महर्षि दयानन्द सरस्वती ३१ जुलाई, सन् १८७९ को मुरादाबाद से बदायूँ पधारे थे। उनके आगमन से पूर्व ही बदायूँ में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। उस समय तक मुरादाबाद, बरेली, बदायूँ आदि के क्षेत्र में महर्षि की शिक्षाओं की सर्वत्र धूम मची हुई थी, और लोग आर्यसमाज की ओर आकृष्ट होने लग गये थे। महर्षि ने ३१ जुलाई से १४ अगस्त, १८७९ तक बदायूँ में निवास किया, और श्री गंगाप्रसाद के दीवानखाने तथा लाला गंगाराम के बाग में उनके अनेक व्याख्यान हुए। महर्षि के निवास की व्यवस्था भी लाला गंगाराम के बाग में, जो सागरताल पर है, ही हुई थी। उन दिनों बदायूँ में पण्डित रामप्रसाद और श्री वृन्दावन लाल नामक दो पौराणिक पण्डित थे, जो

अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। महर्षि ने दो दिन उनसे शास्त्रार्थ किया, जिसे सुनकर बदायूँ की जनता बहुत प्रभावित हुई, और आर्यसमाज के प्रति लोगों में बहुत उत्साह उत्पन्न हुआ।

बदायूँ आर्यसमाज के प्रथम प्रधान श्री दीवानसिंह निर्वाचित हुए थे, और मन्त्री श्री देवीप्रसाद। उसके प्रारम्भिक सभासदों में पण्डित बिहारी लाल, मुंशी लालबहादुर, मुंशी जुगल किशोर, श्री अशर्फीलाल, श्री कन्हैयालाल और पण्डित टीकाराम के नाम उल्लेखनीय हैं। जुलाई, १८७९ में जब महर्षि मुरादाबाद में धर्मप्रचार कर रहे थे, तो बदायूँ आर्यसमाज की ओर से पण्डित बिहारी लाल उनकी सेवा में उपस्थित हुए थे और उन्हें बदायूँ पधारने के लिए निमन्त्रित किया गया था। मुंशी देवी प्रसाद उर्दू और फारसी के अच्छे विद्वान् थे, और कविता भी किया करते थे। मुंशी लालबहादुर प्रतिष्ठित रईस तथा जमींदार थे। मुंशी जुगल किशोर वकील थे, और पण्डित टीकाराम अध्यापक। श्री दीवानसिंह और लाला कन्हैयालाल बदायूँ के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। लाला कन्हैयालाल के सुपुत्र डाक्टर मंगलदेव शास्त्री संस्कृत तथा वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित के रूप में बहुत प्रसिद्ध हुए, और आर्यसमाज के विद्वानों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। बदायूँ आर्यसमाज के प्रारम्भिक सभासदों में मुंशी शंकरभक्त का स्थान भी महत्त्वपूर्ण था। अपने नगर के आर्यसमाज मन्दिर के लिए उन्होंने उदारतापूर्वक धनराशि प्रदान की थी।

शाहजहाँपुर—बदायूँ से महर्षि दयानन्द सरस्वती ने १४ अगस्त, १८७९ के दिन प्रस्थान किया था। १४ अगस्त से ३ सितम्बर तक उन्होंने बरेली में निवास किया, और फिर वे शाहजहाँपुर चले गये। बदायूँ के समान शाहजहाँपुर में भी महर्षि के आगमन से पूर्व ही आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। अतः आर्यसमाज की ओर से ही महर्षि के निवास आदि की सब व्यवस्था की गई थी। जब महर्षि शाहजहाँपुर पहुँचे, तो आर्य सभासदों ने अत्यन्त प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक उनका स्वागत किया, और खजानची साहब के बँगले पर उन्हें ठहराया। महर्षि के शाहजहाँपुर पहुँचते ही आर्यसमाज की ओर से एक विज्ञापन छपवाकर सर्वसाधारण जनता में बाँटा गया और नगर के सम्भ्रान्त व्यक्तियों तथा पण्डितों के पास भेजा गया। विज्ञापन में महर्षि के शाहजहाँपुर पधारने, उनके व्याख्यानों के लिए नियत स्थान, समय तथा तिथियों की सूचना देने के पश्चात् जनता को उनके विचारों को सुनने व अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए आमन्त्रित किया गया था। इस विज्ञापन पर बख्तावरसिंह के हस्ताक्षर थे, जो उस समय शाहजहाँपुर आर्यसमाज के मन्त्री थे। इन्हीं बख्तावरसिंह को बाद में महर्षि ने अपने प्रिंटिंग प्रेस का मैनेजर भी नियुक्त किया था।

यद्यपि शाहजहाँपुर आर्यसमाज की स्थापना सन् १८७९ में हो गई थी, पर प्रारम्भिक वर्षों में इस समाज की दशा सन्तोषजनक नहीं रही। एक समय तो ऐसा भी आया, जब कि समाज के साप्ताहिक अधिवेशन भी नियमपूर्वक नहीं हो सके। यही कारण है, जो इस समाज के प्रारम्भिक वर्षों का विवरण उपलब्ध नहीं है। सन् १८९६ तक शाहजहाँपुर आर्यसमाज व्यवस्थित रूप में आ गया था। पर जिन सज्जनों के प्रयत्न से शाहजहाँपुर में आर्यसमाज की स्थापना हुई, और बाद में उसने व्यवस्थित रूप प्राप्त किया, उनके नाम ज्ञात हैं। इनमें बाबू शिवलाल वकील, दारोगा लक्ष्मीनारायण, मास्टर देवीप्रसाद, श्री बख्तावरसिंह, लाला जवाहर लाल हलवाई, हकीम प्रसादीलाल, मुंशी

इन्द्रजीत और महाशय लालमन मुख्तार के नाम उल्लेखनीय हैं।

हरदोई—शाहजहाँपुर और लखनऊ के मध्यवर्ती क्षेत्र में स्थित हरदोई नगर में आर्यसमाज की स्थापना महर्षि के देहावसान (सन् १८८३) से पूर्व ही हो गई थी। उसकी स्थापना में पण्डित रामप्रसाद, बाबू मोहनलाल वकील और श्री गंगाविशन का विशेष कर्तृत्व था।

अन्य नगरों के आर्यसमाज—उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में बरेली, कर्णवास, पीलीभीत, सहारनपुर, सिकन्दराबाद और मथुरा आदि कितने ही अन्य नगरों में भी महर्षि के देहावसान के समय तक आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी। पर उनकी स्थापना तथा प्रारम्भिक समय के विवरण अभी उपलब्ध नहीं हो सके हैं। सम्भवतः, शाहजहाँपुर के समान इन नगरों के समाजों की जड़ें भी उस समय तक सुदृढ़ नहीं हुई थीं, और या उनके शुरू के कार्यकलाप का रिकार्ड सुरक्षित नहीं रखा जा सका था। उनके सम्बन्ध में जो थोड़ी-बहुत बातें अब तक संकलित की जा सकी हैं, वे सन् १८८३ और उसके बाद के काल की ही हैं। अतः इस इतिहास के द्वितीय भाग में ही उन्हें उल्लिखित करना उपयोगी होगा।

(२) फर्रुखाबाद आर्यसमाज और उसका कार्यकलाप

१८७५ से १८८३ तक के आठ वर्षों में आर्यसमाज का क्या कार्यकलाप रहा, अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उस द्वारा किन साधनों को अपनाया गया, और भारतीय समाज का कौन-सा वर्ग आर्यसमाज की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ—इन बातों का विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। सौभाग्यवश, कुछ ऐसी सामग्री अब भी उपलब्ध है, जिससे इनका समुचित रूप से अध्ययन किया जा सकता है और आर्यसमाज ने गत सौ वर्षों में जो असाधारण उन्नति की, उसके मूल कारणों को हम भली भाँति जान सकते हैं।

फर्रुखाबाद के साथ महर्षि का घनिष्ट सम्बन्ध रहा था। सन् १८६७ के कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में पाखण्ड-खण्डिनी पताका फहरा कर जब उन्होंने सत्य सनातन वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया, तब वे उसी वर्ष फर्रुखाबाद भी गये। इसके पश्चात् सन् १८६८, ७१, ७३, ७६, ७९ और ८० में महर्षि ने फर्रुखाबाद की यात्राएँ कीं, और इस प्रचार कुल सात बार वे इस नगरी में धर्म प्रचार के लिए गये। फर्रुखाबाद गंगा के तट पर स्थित है, और तीर्थस्थान माना जाता है। संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का भी वह केन्द्र रहा है। महर्षि ने सनातनी पण्डितों से वहाँ अनेक शास्त्रार्थ किये थे, और इस क्षेत्र के बहुत से व्यक्तियों ने उनसे सत्य धर्म की शिक्षा ग्रहण की थी। महर्षि ने वहाँ एक विद्यालय की भी स्थापना की थी। फर्रुखाबाद के आर्य जनों के साथ महर्षि का निकट सम्पर्क रहा, और वे महर्षि के विश्वासपात्र भी थे। इसीलिए जब महर्षि ने परोपकारिणी सभा का संगठन किया, तो फर्रुखाबाद के अनेक आर्य सज्जनों को भी उन्होंने उसका सदस्य बनाया। फर्रुखाबाद में यद्यपि अनेक महानुभाव महर्षि के परम भक्त थे, और उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप को भी स्वीकार कर लिया था, पर वहाँ आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना जुलाई, १८७९ में हुई। इस समाज के कार्यकलाप और प्रगति पर 'भारत सुदशा प्रवर्तक' पत्र से बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है,

और उसका अनुशीलन कर यह भली भाँति जाना जा सकता है कि आर्यसमाज के आदि-युग में उसके प्रचारकार्य आदि का क्या ढंग था, और किस प्रकार सर्वसाधारण लोग महर्षि की शिक्षाओं से प्रभावित होते जा रहे थे। 'भारत सुदशा प्रवर्तक' पत्र का प्रकाशन फर्रुखाबाद की आर्यसमाज द्वारा किया जाता था, और उसके मन्त्री लाला कालीचरण उसके सम्पादक भी थे। पण्डित गणेशप्रसाद ने फर्रुखाबाद का जो इतिहास सन् १९३१ में लिखा था, उसमें वहाँ के आर्यसमाज के इतिहास का भी विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, जिसके लिए उन्होंने 'भारत सुदशा प्रवर्तक' में प्रकाशित लेखों तथा समाचारों का सुचारु रूप से प्रयोग किया है। पण्डित गणेश प्रसाद स्वयं भी इस पत्र के सम्पादक रहे थे, और उन्होंने उसमें विद्यमान सामग्री का प्रयोग कर फर्रुखाबाद आर्यसमाज के प्रारम्भिक इतिहास पर जो प्रकाश डाला है, वह वस्तुतः बड़े महत्त्व का है। वहाँ की आर्यसमाज ने जो कार्यनीति अपनाई, जिस ढंग से प्रचारकार्य किया और जिस प्रकार अपने सदस्यों पर अनुशासन रखा, उस सब पर महर्षि के विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। फर्रुखाबाद की आर्य-समाज के कार्यों में महर्षि इतनी अधिक दिलचस्पी रखते थे कि समाज द्वारा प्रकाशित मासिक पत्र का नाम उनके सुझाव पर ही 'भारत सुदशा प्रवर्तक' रखा गया था। शुरू में इस पत्र का नाम 'भारत दुर्दशा प्रमर्दक' था। पर महर्षि के सुझाव पर अक्टूबर, १८७९ से उसका नाम बदल कर 'भारत सुदशा प्रवर्तक' कर दिया गया था।

१२ जुलाई, १८७९ के दिन फर्रुखाबाद आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। प्रारम्भ में उसके सदस्यों की संख्या ६१ थी, पर एक मास के स्वल्प समय में ही यह संख्या बढ़कर ८७ तक पहुँच गई। फर्रुखाबाद की जनता के किस वर्ग ने प्रारम्भ में आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार की थी, यह सदस्यों की उस सूची से भली भाँति जाना जा सकता है, जो 'भारत सुदशा प्रवर्तक' के अगस्त तथा सितम्बर, १८७९ के अंकों में प्रकाशित हुई थी। इस सूची में आर्य सभासदों के नामों के साथ उनका पेशा या व्यवसाय भी उल्लिखित है। फर्रुखाबाद आर्यसमाज के प्रारम्भिक ८७ सदस्यों में से ६१ अध्यापक, ५ विद्यार्थी, २ वकील, ४ व्यापारी, ५ जमींदार-साहूकार और ३ सरकारी कर्मचारी थे। ७ सभासदों के नामों के साथ उनका पेशा या व्यवसाय उल्लिखित नहीं है। पर उनमें से कतिपय के साथ 'वेदपाठी', 'पाठक' सदृश शब्दों के प्रयोग से सूचित होता है कि वे भी सुशिक्षित व्यक्ति थे। ८७ सभासदों में से ६१ का सम्बन्ध शिक्षा के साथ होना एक अत्यन्त महत्त्व की बात है, क्योंकि इससे सूचित होता है कि शिक्षित वर्ग के लोग आर्यसमाज की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। इन ६१ सभासदों में फर्रुखाबाद जिले के डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स, सब-इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स, हाई स्कूल के अध्यापक और तहसीली स्कूल के अध्यापक भी सम्मिलित थे। वकील, रईस, व्यापारी और साहूकार-जमींदार भी आर्यसमाज के सदस्य बने थे, और यथार्थ में इस समाज को फर्रुखाबाद की जनता के प्रबुद्ध व शिक्षित वर्ग की संस्था कहा जा सकता था। यदि जन्म की जाति की दृष्टि से देखा जाए, तो फर्रुखाबाद आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्यों में ६० ब्राह्मण थे और शेष २७ वैश्य, कायस्थ, क्षत्रिय व अन्य जातियों के। जन्म के ब्राह्मण लोगों का इतनी बड़ी संख्या में आर्यसमाज का सदस्य बनना इस बात का प्रमाण है, कि महर्षि की गम्भीर विद्वत्ता से फर्रुखाबाद के पण्डित अत्यधिक प्रभावित थे, और उन्होंने यह स्वीकार कर लिया था कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित धर्म ही सच्चा वैदिक धर्म है।

फर्रुखाबाद आर्यसमाज के प्रथम प्रधान लाला जगन्नाथ प्रसाद चुने गये थे, और प्रथम मन्त्री पं० गोपालराव हरि, जो उस समय उस जिले में सब-डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स के पद पर कार्य कर रहे थे। बाद में सेठ निर्भयराम समाज के प्रधान निर्वाचित हो गये, पर मन्त्री के पद पर पण्डित गोपालराव हरि ही रहे। शुरू में आर्यसमाज का कोई अपना स्थान नहीं था। उसके अधिवेशन मटिया मुहल्ला के तहसीली स्कूल में हुआ करते थे। बाद में समाज द्वारा एक स्थान किराये पर ले लेने का निश्चय किया गया। पर इसकी आवश्यकता नहीं हुई, क्योंकि समाज के अन्यतम सभासद् लाला मदनमोहन लाल ने अपनी कोठी का आधा भाग बिना किराये के समाज को देना स्वीकार कर लिया। यह स्थान इतना बड़ा था, कि समाज के अधिवेशनों के साथ-साथ पाठशाला के लिए भी वहाँ पर्याप्त जगह थी। २० मई, सन् १८८० को महर्षि सातवीं बार फर्रुखाबाद पधारे, और ३० जून तक वहाँ रहे। उनकी उपस्थिति में ही लाला मदनमोहन लाल के मकान में आर्य-समाज के लिए स्थान प्राप्त कर लिया गया था (११ जून, १८८०)। जिन दिनों महर्षि फर्रुखाबाद में निवास कर रहे थे, वहाँ के आर्यसमाज को उनका पथ-प्रदर्शन पूर्णरूप से प्राप्त था। इस काल में जहाँ महर्षि के सुझाव पर समाज के मुखपत्र का नाम बदल कर 'भारत सुदशा प्रवर्तक', किया गया, वहाँ समाज के कतिपय उपनियम भी बनाये गये, जिन्हें यहाँ अविकल रूप से उद्धृत करना बहुत उपयोगी है—

(१) कोई सभासद् किसी अपने सभासद् की बुराई अन्तरंग सभा के सिवा किसी अन्य समय और अन्य स्थान पर तथा किसी अन्य पुरुष से न कर सकेगा। इसके विरुद्ध जो चलेगा उसको अन्तरंग सभा की उस विषय की व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी।

(२) किसी सभासद् के घर जब मंगल कार्य हो तो उसकी सूचनानुसार यथा-संख्याक पुरुष कि जिनकी योजना कार्य करने वाला करे उसके घर अवश्य जावें परन्तु दुःखावस्था में बिना सूचना भी सबको सहायक होना अवश्य होगा, नहीं तो सभा की उचित व्यवस्था स्वीकृत करनी होगी।

(३) सबको आपस में प्रीति बढ़ाने और विरोध छुड़ाने के उपाय सदैव अवश्य करने चाहिएँ।

(४) जो सभासद् बराबर ३ सभा या उपसभा में उपस्थित न होगा और न कुछ अपने हर बार की अनुपस्थिति का कारण प्रति समय लिख जतावेगा तो अन्तरंग सभा उसके लिए कुछ उचित व्यवस्था करेगी और वह उसको अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी इसलिए प्रत्येक सभासद् को अधिकार है कि अपना प्रतिनिधि भी भेज सके।

(५) सभा में सत्य और असत्य की व्यवस्था पर सब सभासदों को अधिकार है कि अच्छे प्रकार खण्डन और मण्डन कर सकें और सदैव सबको सत्य की विजय और असत्य के पराजय में निश्चय रहना चाहिए और खण्डन-मण्डन की दशा में कभी कोई किसी से अप्रसन्न न होवे और न विरोध माने, चाहे कोई खण्डनकार पुरुष छोटा हो वा बड़ा क्योंकि सभा में न कोई छोटा है न बड़ा अर्थात् सत्य ही बड़ा और असत्य छोटा है इसलिए सबको समानाधिकार समझना चाहिए।

ये उपनियम महर्षि ने स्वयं बनाये थे, और २२ मई, सन् १८८० को इन्हें फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया था। उस समय महर्षि फर्रुखाबाद में ही विराजमान थे। आर्यसमाज के जो सुप्रसिद्ध दस नियम लाहौर

में बनाये गये थे, वे आर्यसमाज के उद्देश्यों व मन्तव्यों के परिचायक हैं। पर फर्रुखाबाद में महर्षि द्वारा निर्मित पाँच उपनियम ऐसे व्यावहारिक व उपयोगी हैं कि उनका पालन करने पर समाज के सभासदों में ऐक्य तथा संगठन स्थापित रह सकता है। महर्षि को यह अभीष्ट था कि आर्यसमाज के सभासदों में भ्रातृभाव तथा ऐक्य का विकास हो, सब एक-दूसरे के सुख-दुःख में सम्मिलित हों, कोई किसी की निन्दा व आलोचना न करे, यदि किसी को किसी अन्य में कोई बुराई या दोष दिखायी दे, तो उसकी चर्चा केवल अन्तरंग सभा के सम्मुख ही की जाए, अन्यत्र नहीं। ऐसी दशा में अन्तरंग सभा का जो निर्णय हो, जो व्यवस्था उस द्वारा की जाए वह सबको स्वीकार्य हो। किसी सभासद् के घर कोई मंगलकार्य हो, तब तो केवल उतने सभासदों को ही उसमें सम्मिलित होना चाहिए जितनों के लिए उसकी योजना हो या जितनों को वह बुलाना चाहे, पर यदि किसी सभासद् के घर कोई दुःख का कारण (रोग, मृत्यु आदि) हो, तो बिना बुलाये या बिना औपचारिक सूचना के भी सब सभासदों को दुःखपीड़ित सभासद् की स्वेच्छापूर्वक सहायता करनी चाहिए। ऐसा न करना समाज की दृष्टि में एक अपराध समझा जाएगा और इस अपराध की दशा में अन्तरंग सभा जो व्यवस्था करे, वह सबको स्वीकार करनी होगी। आर्यसमाज तथा उसकी अन्तरंग सभा के अधिवेशनों में सभासद् लोग उपस्थित हुआ करें। बिना विशेष कारण वे अनुपस्थित न हुआ करें, इसके लिए भी महर्षि ने एक उपनियम द्वारा व्यवस्था की थी। समाज, अन्तरंग सभा व किसी उपसभा के अधिवेशनों में बराबर तीन बार अनुपस्थित रहने पर सभासद् के लिए यह आवश्यक था, कि प्रत्येक अनुपस्थिति का कारण वह लिख कर भेजे। ऐसा न करने पर अन्तरंग सभा ऐसे सभासद् के विषय में जो व्यवस्था करे, वह उसे अनिवार्य रूप से स्वीकार करनी होती थी। २४ जनवरी, सन् १८८१ के दिन फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा द्वारा यह निश्चय किया गया, कि यदि कोई पदाधिकारी समाज व अन्तरंग सभा के अधिवेशन में उपस्थित न हो और न ही अपनी अनुपस्थिति का कारण सूचित करे, तो उससे एक रुपया दान की भाँति लिया जाए (दूसरे शब्दों में प्रत्येक अनुपस्थिति के लिए उस पर एक रुपया जुरमाना किया जाए)। अधिवेशनों में यदि कोई साधारण सभासद् (जो पदाधिकारी न हो) अनुपस्थित हो और अपनी अनुपस्थिति का कारण सूचित न करे, तो उसके लिए जुरमाने (या दान) की मात्रा चार आना निर्धारित की गई थी। किसी पदाधिकारी व साधारण सभासद् के विरुद्ध जब अनुशासनात्मक कार्यवाही किये जाने का विषय प्रस्तुत हो, तो अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए उसे यह अधिकार था कि अन्तरंग सभा की बैठक में वह स्वयं उपस्थित हो सके, या अपना कोई प्रतिनिधि भेज सके।

लोकतन्त्रवाद पर निर्मित संगठनों व सभाओं में मतभेद उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक होता है। अधिकारियों के चुनाव व नियुक्ति सदृश प्रश्नों पर उनमें वैमनस्य भी प्रादुर्भूत हो जाता है। मई, १८८० में जब फर्रुखाबाद आर्यसमाज के नये पदाधिकारी नियुक्त हुए, तो पण्डित गोपालराव हरि के स्थान पर लाला कालीचरण को मन्त्री बनाया गया। यह बात श्री गोपालराव हरि को बुरी लगी। उस समय 'भारत सुदशा प्रवर्तक' के सम्पादक भी वही थे। नाराज होकर उन्होंने इस पत्र के सम्पादन से भी इन्कार कर दिया। उनका कथन था कि जब कालीचरण जी मन्त्री नियुक्त हुए हैं, तो 'भारत सुदशा प्रवर्तक' का सम्पादक उन्हें ही होना चाहिए। समाज के सभासदों ने पण्डित जी को बहुत

समझाया, पर वह यही कहते रहे कि उनके साथ न्याय नहीं हुआ है। उन दिनों महर्षि दयानन्द सरस्वती फर्रुखाबाद में ही थे। जब पण्डित गोपालराव हरि की नाराजगी की बात उनके सम्मुख प्रस्तुत हुई, तो उन्होंने कहा कि समाज के हितैषियों को उसके निश्चय में परतन्त्र रहना चाहिए। इसमें मन मैला करना उचित नहीं, सर्वसम्मत निश्चय को बदलना अन्तरंग सभा के कार्य की अवहेलना है। यों सभा के कार्य का गौरव नहीं रह सकता, जो सभी का गौरव नहीं रखता उसका भी अगौरव होता है। इसलिए जो निश्चय हो चुका, वह अटल रहे। कुछ आर्य सभासदों का विचार था, कि समाज व अन्तरंग सभा द्वारा भी भूल हो सकती है। अतः उनके निर्णयों पर भी निष्पक्ष रूप से विचार की व्यवस्था होनी चाहिए। महर्षि ने इस विचार को युक्तिसंगत समझा। अतः उन्होंने सभा के निर्णयों पर पुनर्विचार करने के लिए एक 'मीमांसकोपसभा' की स्थापना का निश्चय किया। इस उपसभा के अधिकारक्षेत्र के सम्बन्ध में यह तय किया गया कि इसका "आधिपत्य अन्तरंग सभा पर रहेगा। इसमें पक्षपातरहित न्याययुक्त उन बातों का निर्णय किया जाएगा जो कि अन्तरंग सभा में ठीक-ठीक निश्चित नहीं हुई हैं।" फर्रुखाबाद आर्यसमाज के मन्त्री पद के सम्बन्ध में जो वैमनस्य उत्पन्न हो गया था, उसका निवारण करने के लिए जो 'मीमांसकोपसभा' बनायी गई, पण्डित गोपालराव हरि को भी उसका अन्यतम सदस्य नियुक्त किया गया। उनके अतिरिक्त उपसभा के चार अन्य सदस्य थे। इसके गठित हो जाने पर महर्षि ने एक पत्र पण्डित गोपालराव हरि को लिखा, जिसमें मीमांसकोपसभा के गठित होने की बात लिखकर उनसे यह अपेक्षा की गई कि 'जहाँ तक बने अवश्य आप उपस्थित हों और व्याख्यान भी समाज में दिया करें। जो मासिक पुस्तक (भारत सुदशा प्रवर्तक) निकलता है वह भी आपके हाथ से बनेगा अथवा बनने पर शुद्ध कर देंगे। इसी प्रकार प्रबन्ध करना अच्छा होगा।' महर्षि के पत्र का यह प्रभाव हुआ कि पण्डित गोपालराव हरि आर्यसमाज के अधिवेशनों में यथावकाश उपस्थित होने लग गये, पर 'भारत सुदशा प्रवर्तक' का सम्पादन कार्य हाथ में लेने को वह उद्यत नहीं हुए। लोकतन्त्रवाद पर आधारित आर्यसमाज में मतभेदों को दूर करने तथा वैमनस्य के निराकरण के लिए जिस ढंग की 'मीमांसकोपसभा' फर्रुखाबाद में गठित की गई थी, निस्सन्देह वह बहुत उपयोगी थी। इस पद्धति को अब भी आर्यसमाज में अपनाया जा सकता है।

लाला मदनमोहन लाल ने अपनी कोठी का आधा भाग बिना किराये आर्यसमाज के लिए प्रदान कर दिया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। ११ जून, १८८० को फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा की बैठक में यह भी निश्चय किया गया कि समाज या पाठशाला को अपने मकान से हटा देना मकान मालिक (लाला मदनमोहन लाल) की इच्छा पर नहीं रहेगा। समाज जब तक चाहे, उनके स्थान का उपयोग कर सकेगी। यह निर्णय भी महत्त्व का था, क्योंकि इस द्वारा फर्रुखाबाद आर्यसमाज को ऐसा भवन प्राप्त हो गया था, जिस पर उसका पूरा अधिकार था।

महर्षि के तत्त्वावधान में फर्रुखाबाद में जिस आर्यसमाज की स्थापना हुई, उसके सभासदों से उनकी आमदनी का निश्चित भाग मासिक चन्दे के रूप में लिया जाता था। पर चन्दे की दर एक प्रतिशत न होकर रुपये में एक पाई थी। उस समय एक रुपये में १९२ पाइयाँ हुआ करती थीं। इस प्रकार चन्दे की दर १/२ प्रतिशत के लगभग रखी गई थी, जिसे प्रदान कर सकना सभासदों के लिए कठिन नहीं होता था। समाज के अधिवेशन

प्रति सप्ताह रविवार को नियमपूर्वक हुआ करते थे।

(३) आर्यसमाज का कार्यकलाप

प्रारम्भ काल में आर्यसमाज का क्या कार्यकलाप था, इसका अनुशीलन भी बहुत उपयोगी है। इसके लिए फर्रुखाबाद आर्यसमाज के कार्यकलाप को दृष्टि में रखकर यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि अन्य आर्यसमाजों के कार्य भी इस काल में प्रायः इसी प्रकार के होंगे।

(१) सत्य सनातन वैदिक धर्म का प्रचार आर्यसमाज का मुख्य कार्य था। समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में प्रार्थना, उपासना, यज्ञ आदि के अनन्तर धर्म पर प्रवचन हुआ करते थे। व्याख्यान किन विद्वानों के होंगे —यह पहले ही निर्धारित कर दिया जाता था। दिसम्बर, १८८० से सितम्बर, १८८१ तक के काल में फर्रुखाबाद में किन महानुभावों के व्याख्यान होंगे, और किस महीने में कौन विद्वान् व्याख्यान देंगे, यह पहले ही निश्चित कर दिया गया था। इन विद्वानों तथा इनके व्याख्यानों आदि का पूरा विवरण उपलब्ध है। ये सब आर्यसमाज के सभासद् थे, और अध्यापन, वकालत, सरकारी नौकरी व स्वतन्त्र व्यवसाय करते थे। महर्षि के मन्तव्य के अनुसार प्रत्येक आर्य का यह परम कर्तव्य है, कि वह वेदों को पढ़े, पढ़ाये और सुने, सुनाये। इसी के अनुसार ये आर्य सभासद् स्वयं धर्मशास्त्रों का अनुशीलन कर उनकी शिक्षाओं का व्याख्यानों में निरूपण किया करते थे। शुरू में आर्यसमाज के अधिवेशनों में ऐसे महानुभाव भी व्याख्यान दे सकते थे, जो आर्य सभासद् न हों। पर १ जनवरी, १८८२ के दिन फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने यह निर्णय किया, कि आर्यसमाज में केवल आर्य ही व्याख्यान दे सकें, चाहे वे किसी भी आर्यसमाज के सदस्य हों। इस निर्णय की आवश्यकता इस कारण हुई, क्योंकि एक थियोसोफिस्ट सज्जन ने आर्यसमाज में ऐसा व्याख्यान दिया था, जिसमें कि भूत-प्रेत, चुड़ैल आदि की सत्ता की पुष्टि की गई थी। यह व्याख्यान महर्षि के मन्तव्यों के विरुद्ध था, अतः स्वाभाविक रूप से समाज की ओर से उसका खण्डन भी किया गया, जिस पर व्याख्याता महोदय ने यह शिकायत की, कि किसी को व्याख्यान के लिए निमन्त्रित कर उसके कथन का खण्डन करना उसके लिए अपमानजनक है। इस दशा में अन्तरंग सभा ने जो निर्णय किया, वह सर्वथा उचित ही था।

फर्रुखाबाद आर्यसमाज के सभासद् केवल अपने समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में ही व्याख्यान नहीं देते थे, अपितु अन्य नगरों तथा ग्रामों में भी धर्मप्रचार के लिए जाया करते थे। यह युग ऐसा था, जबकि सभी आर्य सभासद् धर्मप्रचारक व उपदेशक भी हुआ करते थे। प्रचारकों व उपदेशकों का कोई पृथक् वर्ग तब नहीं था। पर ज्यों-ज्यों आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में वृद्धि होती गई, यह अनुभव किया जाने लगा कि ऐसे विद्वानों को भी समाज की सेवा में नियुक्त किया जाना चाहिए जो कि अपना सम्पूर्ण समय धर्म प्रचार में लगा सकें। उस समय नयी-नयी आर्यसमाजें स्थापित होती जा रही थीं, और उनसे प्रचारकों व उपदेशकों की निरन्तर माँग आती रहती थी। उन दिनों उत्तर प्रदेश में मेरठ का आर्यसमाज सर्वप्रधान था। आर्यसमाज के क्षेत्र में तब मेरठ का वही स्थान था जो वर्तमान समय में दिल्ली का है। मेरठ के आर्यसमाज के पास निरन्तर ऐसे पत्र आते रहते थे, जिनमें कि उपदेशक भेजने की माँग की जाती थी। अतः यह विचार किया गया कि अन्य आर्यसमाजों

के सहयोग से मेरठ में एक वैतनिक उपदेशक की नियुक्ति कर ली जाए। मेरठ आर्यसमाज के मन्त्री बाबू आनन्द स्वरूप का इस आशय का पत्र प्राप्त होने पर १ जुलाई, १८८२ के दिन फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने उस पर विचार कर यह निर्णय किया कि आर्यसमाज द्वारा एक वैतनिक उपदेशक की नियुक्ति के लिए यथाशक्ति आर्थिक सहायता प्रदान की जाए। यद्यपि फर्रुखाबाद आर्यसमाज द्वारा कोई वैतनिक धर्मप्रचारक नियुक्त नहीं किया गया था, पर उसके तत्त्वावधान में स्थापित पाठशालाओं के अध्यापक समय-समय पर अन्यत्र भी धर्मप्रचार के लिए जाते रहते थे। समाज के उत्साही आर्य सभासद् तो इस कार्य में समय लगाते ही थे।

(२) आर्यसमाज के अधिवेशन शान्तिपूर्वक तथा व्यवस्थित ढंग से हुआ करें, इस प्रयोजन से फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने २१ अगस्त, १८८० को अपनी बैठक में यह निश्चय किया कि एक समाज-व्यवस्थापक की नियुक्ति की जाए, जो आर्य-समाज तथा उसकी अन्तरंग सभा के अधिवेशन में उपस्थित होने के लिए आये हुए व्यक्तियों को आदरपूर्वक बिठाया करे और इस बात का ध्यान रखे कि किसी प्रकार शान्ति भंग न होने पाए और न कोई बात मर्यादा से बाहर हो सके। जो व्यक्ति सभा में बैठने के योग्य न हो, उसे युक्तिपूर्वक वहाँ उपस्थित न होने देने की उत्तरदायिता इसी समाज-व्यवस्थापक की होती थी। इसका यह भी कार्य था, कि समय-समय पर अन्य स्थानों के आर्यसमाजों में जाकर व्याख्यान भी दिया करे। फर्रुखाबाद आर्यसमाज ने प्रथम समाज-व्यवस्थापक चौबे तोताराम को नियुक्त किया था। बाद में आर्यसमाजों में पुरोहित नियुक्त करने की जो पद्धति प्रचलित हुई, उसका यह प्रारम्भिक रूप ही था।

(३) २१, अगस्त, १८८० की बैठक में फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने एक अन्य प्रस्ताव स्वीकृत किया, जिसके अनुसार दीन-दुखियों को सहारा देने की व्यवस्था की गई। प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए लाला सन्नूमल जी ने कहा कि कभी-कभी हमारे व आप लोगों के सम्मुख इक्के वा ठेले के आघात व आप ही ठोकर लगने अथवा अचानक रोग आदि के परिणामस्वरूप न चल सकने के कारण दीन जन सड़क पर पड़े हुए कष्ट भोगते हैं और अस्पताल तक नहीं पहुँच पाते, इनकी सेवा व दवा का प्रबन्ध होना चाहिए। लाला सन्नूमल के प्रस्ताव पर यह निश्चय हुआ कि ऐसे अवसर पर प्रत्येक सभासद् एक रुपये तक मन्त्री समाज को सूचित कर व्यय कर सकता है। धर्मार्थ कोष से मन्त्री समाज को दस रुपये तक ऐसे कार्यों में व्यय करने का अधिकार दिया जाता है। धर्मार्थकोष की स्थापना २७ जून, १८८० को की गई थी, जिसके लिए सबसे पहले बाबू दुर्गाप्रसाद ने ५०० रुपये दान दिये थे। उस समय महर्षि दयानन्द सरस्वती फर्रुखाबाद में ही थे, और उनके तत्त्वावधान में ही यह कोष स्थापित किया गया था। इसका धन दीन-दुखियों की सहायता के लिए ही व्यय किये जाने की व्यवस्था थी।

(४) फर्रुखाबाद आर्यसमाज की ओर से हिन्दी में एक मासिक पत्र भी प्रकाशित किया जाता था, जिसका नाम 'भारत सुदशा प्रवर्तक' था। इसमें जहाँ धर्म पर लेख होते थे, वहाँ साथ ही फर्रुखाबाद आर्यसमाज व उसकी अन्तरंग सभा का कार्य-विवरण भी नियमपूर्वक प्रकाशित किया जाता था। वस्तुतः, इस मासिक-पत्र में ही वह महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है, जिस द्वारा आदिकाल के आर्यसमाज के कार्यकलाप, कार्यविधि तथा प्रगति पर समुचित प्रकाश पड़ता है।

(५) महर्षि दयानन्द सरस्वती गौरक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। इसके लिए उन्होंने प्रबल व व्यापक आन्दोलन का सूत्रपात भी किया था। महर्षि से प्रेरणा प्राप्त कर २८ जनवरी, सन् १८८१ के दिन फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने गौरक्षा के लिए क्रियात्मक रूप से कार्य करने का निश्चय किया। सभा का विचार यह था कि यदि एक वर्ष में २०० गौवों को मृत्यु-मुख से बचाकर उनको क्रय कर लिया जाए और उनके भोजन, पालन आदि की समुचित व्यवस्था की जाए, तो इस कार्य में ६५०० रुपये वार्षिक व्यय होगा—१५०० रुपये गौवों को खरीदने में और ५००० रुपया (२५ रुपये प्रति गाय के हिसाब से) २०० गौवों के भोजन व पालन-पोषण में। उन दिनों रुपये का क्रय मूल्य बहुत अधिक था, जिसके कारण वस्तुएँ बहुत सस्ती थीं। पशुओं का चारा इतना सस्ता था, कि दो रुपये मासिक पर एक गाय के लिए भूसे आदि की व्यवस्था की जा सकती थी। गाय, बैल आदि पशु भी तब बहुत सस्ते थे। इस कारण गौरक्षा के लिए फर्रुखाबाद ने ६५०० रुपये का जो वार्षिक बजट स्वीकार किया था, उससे निःसन्देह २०० गौओं की रक्षा हो सकती थी। महर्षि द्वारा गौरक्षा के लिए जो आवेदन-पत्र सरकार की सेवा में भेजे गये, उन पर हस्ताक्षर कराने तथा इस कार्य के लिए धन जुटाने में भी फर्रुखाबाद के आर्य-समाज ने समुचित उत्साह प्रदर्शित किया।

(६) फर्रुखाबाद आर्यसमाज का एक महत्त्वपूर्ण कार्य बालकों तथा बालिकाओं के लिए दो पृथक् पाठशालाओं का संचालन करना भी था। महर्षि ने पाठशालाओं व विद्यालयों को धर्मप्रचार का महत्त्वपूर्ण साधन माना था, इसीलिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व ही अनेक विद्यालय स्थापित कर दिये थे, जिनमें संस्कृत तथा धर्मशास्त्रों की शिक्षा का प्रमुख स्थान था। ऐसा एक विद्यालय महर्षि द्वारा सन् १८६६ में फर्रुखाबाद में भी स्थापित किया गया था। इसके लिए लाला पन्नालाल वैश्य ने उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान की थी। पर यह विद्यालय देर तक कायम नहीं रह सका। उसकी शिक्षा तथा व्यवस्था से महर्षि को सन्तोष नहीं था, अतः सन् १८७६ में उसे बन्द कर दिया गया था। पर धर्मप्रचार के साथ-साथ उत्तम शिक्षा का प्रचार भी आर्यसमाज का एक प्रधान कार्य था। अतः फर्रुखाबाद में आर्यसमाज की स्थापना हो जाने के अनन्तर बालकों और बालिकाओं की शिक्षा के लिए भी पुनः प्रयत्न प्रारम्भ किया गया। ११ मार्च, सन् १८८० को फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा में यह निश्चय किया गया कि इस कार्य के लिए ५५६ रु० समाज के कोष से प्रतिवर्ष व्यय किये जाएँ। इसके अनुसार १५ मार्च, १८८० के दिन बालकों और बालिकाओं के लिए दो पृथक् पाठशालाएँ खोल दी गईं, जिनमें शिक्षा निःशुल्क रूप से दी जाती थी। दोनों पाठशालाओं के लिए स्थान पृथक् रखे गये थे। इन पाठशालाओं में संस्कृत पढ़ना सब बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य था, पर साथ ही अंग्रेजी और हिसाब (गणित) की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। पर पाठ्यक्रम इस ढंग से निर्धारित किया गया था, कि विद्यार्थी इन्ट्रेन्स (मैट्रिक्युलेशन) स्तर की शिक्षा समुचित रूप से प्राप्त कर लें। इन पाठशालाओं की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी, कि इनके विद्यार्थी उस युग के अन्य विद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले विषयों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का भी समुचित ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। पाठशालाओं में कौन-सी पुस्तकें पढ़ायी जाएँ, इसका निर्धारण आर्यसमाज द्वारा ही किया जाता था। इसके लिए समय-समय पर पाठ्यपुस्तकों का चयन करने वाले व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे।

२३ जनवरी, १८८३ को अन्तरंग सभा द्वारा इस कार्य के लिए पण्डित लक्ष्मीदत्त तथा लाला खुन्नूलाल वकील की नियुक्ति की गई थी। इसी दिन पाठशालाओं के विषय में अन्य भी अनेक व्यवस्थाएँ अन्तरंग सभा द्वारा की गईं। समाज के मन्त्री को प्रति मास पाठशालाओं का निरीक्षण करना चाहिए, और एक अध्यापक के अध्यापन को समाज मन्त्री के सम्मुख अन्य अध्यापक द्वारा जाँचा जाया करे। पाठशालाओं में वर्ष में दो बार परीक्षाएँ भी ली जाया करें, एक बार समाज के वार्षिकोत्सव से पहले और दूसरी उसके छह मास पश्चात्। दीन व उत्साही विद्यार्थियों को दो रुपयों तक की पुस्तकें बिना मूल्य प्रदान किया जाना भी अन्तरंग सभा द्वारा स्वीकृत किया गया। उस युग में दो रुपयों में भी इतनी पुस्तकें आ जाती थीं, जो विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए पर्याप्त होती थीं। पहले इन पाठशालाओं में उर्दू भाषा भी पढ़ायी जाती थी, और मिर्जा बाबर बेग उर्दू के अध्यापक के रूप में पाठशाला में नियुक्त भी थे। पर ४ मई, सन् १८८२ को आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने यह निर्णय किया कि आर्यसमाज की पाठशाला (आर्य विद्यालय) में संस्कृत, नागरी (हिन्दी) और अंग्रेजी ही पढ़ायी जाएँ, उर्दू नहीं। यद्यपि उर्दू भाषा को आर्य विद्यालय के पाठ्यक्रम से हटा दिया गया था, पर आर्यसमाज की यह शिक्षा संस्था उन्नति पथ पर निरन्तर अग्रसर होती गई। क्योंकि उसमें मिडिल तथा मैट्रिकुलेशन स्तर तक विविध विषयों (संस्कृत की अनिवार्यता के साथ-साथ) की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी, अतः सब वर्गों के विद्यार्थी उसकी ओर आकृष्ट होने लग गये थे और उसमें विद्यार्थियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। आर्यसमाज की दृष्टि में इस विद्यालय का इतना महत्त्व था, कि २१ एप्रिल, १८८३ के दिन अन्तरंग सभा ने यह निश्चय किया कि आर्यसमाज के वार्षिक बजट में जो बचत हो, उसे पाठशाला कोष में जमा कर दिया जाया करे। इस निश्चय के अनुसार २२ मई, १८८३ को हिसाब की जाँच किये जाने पर यह ज्ञात हुआ कि वर्ष के अन्त में समाज के बजट में ३६१ रुपये के लगभग की बचत थी। इसमें से ३०० रुपये पाठशाला कोष में जमा कर दिये गये। यद्यपि बालकों की पाठशाला (आर्य विद्यालय) सुचारु रूप से उन्नति कर रही थी, पर पुत्री पाठशाला की दशा सन्तोषजनक नहीं थी। उसमें बालिकाओं की संख्या बहुत कम थी। वस्तुतः, उस समय स्त्री शिक्षा का प्रारम्भ ही हो रहा था, और वह भी प्रधानतया आर्यसमाज द्वारा। गृहस्थ अपनी कन्याओं को पढ़ाना-लिखाना सर्वथा व्यर्थ समझते थे। इस दशा में यदि फर्रुखाबाद आर्यसमाज की पुत्री पाठशाला की दशा सन्तोषजनक न हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

आर्य विद्यालय जो निरन्तर अधिक-अधिक लोकप्रिय होता जा रहा था, उसका एक कारण उसमें प्रायः उसी शिक्षा की व्यवस्था का होना था, जो उस काल के सरकारी स्कूलों में भी दी जाती थी, यद्यपि संस्कृत की पढ़ाई वहाँ अनिवार्य थी। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत में आर्यसमाज द्वारा केवल ऐसे ही शिक्षणालय स्थापित व संचालित किये जाने चाहिएँ थे, जिनमें आर्ष पद्धति द्वारा संस्कृत व प्राचीन वेदशास्त्रों की शिक्षा प्रधान रूप से दी जाए। फर्रुखाबाद का आर्य विद्यालय जिस दिशा में प्रगति कर रहा था, महर्षि की दृष्टि में वह समुचित नहीं था। इसीलिए उन्होंने श्री लाला कालीचरण-रामचरण (जो १८८० में फर्रुखाबाद आर्यसमाज के मन्त्री नियुक्त हुए थे) को एक पत्र में लिखा—"जो हो तुम्हारा प्रबन्ध भी पाठशाला का अच्छा नहीं है। अब कई बार हमने लिखा कि पण्डित लक्ष्मीदत्त जी के आने के पश्चात् वा पहिले संस्कृत में कौन-कौन ग्रन्थों को किस-किससे

वा कितनों ने पढ़ा वा पढ़ते हैं। इसका समाचार कुछ भी नहीं लिखा, इससे विदित होता है कि तुम्हारी पाठशाला में अलिफ, बे, और कैट-बैट का भरोस है जोकि आर्यसमाजों का विशेष कर्तव्य नहीं है।" इस पत्र से स्पष्ट है कि महर्षि आर्यसमाजों द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में संस्कृत की शिक्षा को प्रधान स्थान देने के पक्ष में थे। अंग्रेजी, उर्दू आदि की पढ़ाई के वे विरुद्ध नहीं थे, पर उनकी शिक्षा की व्यवस्था करना वे आर्यसमाज का कर्तव्य नहीं मानते थे।

१७ जून, १८८१ को महर्षि ने फर्रुखाबाद आर्यसमाज के प्रधान श्री दुर्गाप्रसाद को एक पत्र लिखा था, जिसमें कि वहाँ के आर्य विद्यालय (पाठशाला) में संस्कृत की शिक्षा को प्रधानता देने की बात इन शब्दों में प्रकट की गई थी---"पाठशाला में संस्कृत का काम ठीक-ठीक होना चाहिए। जैसे मिशन स्कूलों के लड़के अपने अन्य स्वार्थ सिद्धि के लिए बाइबिल सुन लेते हैं और कुछ ध्यान नहीं देते वैसे जो संस्कृत सुन लिया तो क्या लाभ होगा। इस पाठशाला में संस्कृत जो मातृभाषा है उसकी ही वृद्धि होनी चाहिए वरन् फारसी का होना कुछ अवश्य नहीं केवल संस्कृत और राजभाषा अंग्रेजी (२) दो ही का पठन-पाठन अवश्य है। सो आधे-आधे समय दोनों जारी रहें और दोनों की परीक्षा भी माहवार बड़ी सावधानी और दृढ़ नियम से हुआ करे और दोनों ही की अपेक्षा से कक्ष वा नम्बर की वृद्धि विद्यार्थियों की हुआ करे और हमको सदैव परीक्षा-पत्र भेजा करो विशेषकर संस्कृत के विद्यार्थियों के माहवार पठन का ब्यौरा और किस कक्षा में कौन-कौन पुस्तकें पढ़ायी जाती हैं कितनी-कितनी हुईं यह सब सूचना दिया करो।" पाठशाला के विद्यार्थियों को केवल मात्र संस्कृत पढ़ाना महर्षि को अभीष्ट नहीं था। वे अंग्रेजी भाषा की उपयोगिता को स्वीकार करते थे, और उसे भी संस्कृत के समकक्ष रूप से (दोनों को एक-बराबर समय व भाग देकर) पढ़ाने के पक्षपाती थे। पर उर्दू व फारसी की शिक्षा का उनकी दृष्टि में कोई उपयोग नहीं था, क्योंकि न वह आर्य धर्मशास्त्रों की भाषा थी और न सरकार की भाषा। नवीन आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का साहित्य भी उसमें नहीं था। महर्षि के इसी मन्तव्य के अनुसार बाद में फर्रुखाबाद के आर्य विद्यालय में उर्दू पढ़ाना बन्द कर दिया गया था।

फर्रुखाबाद के आर्य विद्यालय में संस्कृत की शिक्षा किस पद्धति से दी जाए, इस सम्बन्ध में महर्षि ने एक पत्र वहाँ के आर्यसमाज के मन्त्री लाला कालीचरण रामचरण को लिखा था---"विद्यार्थियों को निम्न लेखानुसार ग्रन्थ पढ़ना-पढ़ाना चाहिए कि प्रथम क्रम से वेदांगप्रकाश पढ़वाना फिर वैदिक निघण्टु फिर पिंगलसूत्र पश्चात् काव्यरीति से मनुस्मृति इत्यादि ग्रन्थ जब पढ़ चुके तब आगे पूछना।" महर्षि की इच्छा थी, कि आर्य विद्यालयों में उसी ढंग से संस्कृत की शिक्षा दी जाए, जिसका प्रतिपादन उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश में किया था।

पाठशाला (आर्य विद्यालय) के व्यवस्थित रूप से संचालन के प्रयोजन से फर्रुखाबाद आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने १८ जुलाई, १८८२ को एक 'पाठशाला संदर्शक' की नियुक्ति का भी निर्णय किया था, और इस पद पर लाला बालमुकुन्द को नियुक्त किया गया था।

(७) नागरी (हिन्दी या आर्य भाषा) का प्रचार, प्रयोग तथा उन्नति भी फर्रुखाबाद के आर्यसमाज के कार्यकलाप का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। महर्षि दयानन्द

सरस्वती हिन्दी के परम पक्षपाती थे, और राज्य कार्य के लिए इसी भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए, इसके लिए आन्दोलन करने में भी तत्पर थे। सन् १८८२ में उन्होंने एक पत्र फर्रुखाबाद आर्यसमाज के प्रधान श्री दुर्गाप्रसाद को लिखा था, जिसमें हिन्दी के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य थे—"दूसरी अति शोक करने की यह बात है कि आजकल सर्वत्र अपनी आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्ति होने के अर्थ (भाषा के प्रचारार्थ जो कमीशन हुआ है उसमें) पंजाब आदि हातों से मेमोरियल भेजे गये हैं परन्तु मध्यप्रान्त, फर्रुखाबाद, कानपुर, बनारस आदि स्थानों से नहीं भेजे गये।...इसलिए जहाँ तक हो सके तन, मन, धन से सब आर्यों को अति उचित है कि इन दोनों कार्यों (आर्यभाषा को राजभाषा के रूप में प्रयुक्त कराने तथा गौरक्षा) के सिद्ध करने में प्रयत्न करें।" सन् १८८२ में ही एक अन्य पत्र में महर्षि ने लाला कालीचरण को लिखा था, कि "इस समय आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्त होने के अर्थ जो मेमोरियल छपे हैं, सो शीघ्र भेजना और आप लोग भी जहाँ तक हो सके गौरक्षार्थ सही और आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्त होने के अर्थ शीघ्र प्रयत्न कीजिए।" ऐसा प्रतीत होता है, कि फर्रुखाबाद आर्यसमाज ने शुरू में हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रयुक्त किये जाने के सम्बन्ध में महर्षि के प्रयत्न का समर्थन करने में विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित नहीं किया था। पर महर्षि के इन पत्रों का यह परिणाम हुआ, कि फर्रुखाबाद के आर्य बन्धुओं ने इस कार्य में उत्साह से काम करना प्रारम्भ कर दिया और अपने क्षेत्र से हिन्दी को राजभाषा बनाने के पक्ष में कई हजार हस्ताक्षर एकत्र कर सरकार की सेवा में प्रेषित किये। कुछ समय बाद जब प्रयाग में नागरी उद्धारिणी सभा की स्थापना हुई, तो फर्रुखाबाद आर्यसमाज ने उससे भी सहयोग लिया और लाला नारायणदास को अपना प्रतिनिधि बनाकर उस सभा में भेजने का निश्चय किया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी भाषा की उन्नति और उसे राष्ट्रभाषा या राजभाषा के पद पर अधिष्ठित करने के लिए आर्यसमाज द्वारा प्रारम्भ से ही प्रयत्न किया जाता रहा है।

(८) महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा जो वेदभाष्य तैयार किया जा रहा था, उसका प्रकाशन आर्य बन्धुओं से आर्थिक सहायता प्राप्त होने पर ही सम्भव था। इस सम्बन्ध में भी फर्रुखाबाद आर्यसमाज का कर्तृत्व महत्त्व का था। वेदभाष्य के प्रकाशन के लिए महर्षि द्वारा काशी में वैदिक यन्त्रालय की भी स्थापना की गई थी। फर्रुखाबाद आर्यसमाज ने इस यन्त्रालय (प्रिंटिंग प्रेस) के लिए १८०० रुपये भेजे थे (सन् १८८०)। २७ जून, १८८० को महर्षि का आर्यसमाज मन्दिर में एक व्याख्यान हुआ, जिसके पश्चात् वेदभाष्य के लिए चन्दा एकत्र किया गया, जिसकी राशि १३५० रुपये थी। बाद में भी वेदभाष्य के लिए समाज द्वारा सहायता दी जाती रही।

(९) पाठशाला (आर्य विद्यालय) के साथ ही फर्रुखाबाद आर्यसमाज ने एक पुस्तकालय की भी स्थापना की थी। जनवरी, १८८३ में पण्डित लक्ष्मीदत्त को इस पुस्तकालय के लिए पुस्तकें खरीदने का अधिकार प्रदान किया गया था। आर्यसमाजों में अपना पुस्तकालय रखने की जो पद्धति विद्यमान है, उसका प्रारम्भ प्रायः समाज की स्थापना के साथ ही हो गया था।

फर्रुखाबाद आर्यसमाज के कार्यकलाप का जो विवरण इस प्रकरण में ऊपर दिया गया है, वह उदाहरण या निर्देशन के रूप में है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान (अक्टूबर, १८८३) तक भारत के ८५ से भी अधिक नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना

हो चुकी थी। इन सब समाजों के कार्यकलाप का वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है। पर यह अनुमान लगाना असंगत नहीं होगा, कि अन्य आर्यसमाजों का कार्यकलाप भी प्रायः वैसा ही होगा, जैसा कि फर्रुखाबाद के आर्यसमाज का था। सब में साप्ताहिक अधिवेशन नियमपूर्वक हुआ करते होंगे, जैसे कि फर्रुखाबाद में प्रतिवर्ष ५२ अधिवेशन होते थे। सब समाजों में अन्तरंग सभाएँ विद्यमान थीं, जिन द्वारा ही समाज के कार्यों का निर्णय किया जाया करता था। पाठशालाएँ व विद्यालय सब आर्यसमाजों में नहीं थे, पर इस महत्त्वपूर्ण कार्य के प्रति सबका ध्यान अवश्य था। वेद प्रचार के लिए सभी आर्यसमाज सजग थीं, और प्रायः सभी आर्य सभासद् सत्य धर्म के निरूपण तथा प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहते थे। गौरक्षा तथा आर्यभाषा के प्रयोग के लिए निरन्तर प्रयत्न आर्यसमाजों के कार्यकलाप के महत्त्वपूर्ण अंग थे। आर्यसमाज द्वारा अपनी स्थापना के प्रारम्भ से ही देश की उन्नति तथा मानव समाज के हितकल्याण के लिए जो प्रयत्न किये जाने लगे थे, उनका एक स्पष्ट चित्र फर्रुखाबाद आर्यसमाज के कार्यविवरण से हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

(४) आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज के प्रसार और वैदिक धर्म के प्रचार में वार्षिकोत्सवों का बहुत योगदान रहा है। प्रायः सभी आर्यसमाज अपने वार्षिक उत्सवों का आयोजन करते हैं, जिनमें यज्ञ, हवन, प्रार्थना, उपासना और भजन-कीर्तन के अतिरिक्त विविध धार्मिक विषयों पर प्रवचन, उपदेश व व्याख्यान भी होते हैं। इनमें केवल आर्य सभासद् ही सम्मिलित नहीं होते, अपितु जनता के सभी वर्गों के नर-नारी अच्छी-बड़ी संख्या में उपस्थित होकर सत्य धर्म का श्रवण करते हैं। केवल हिन्दू ही नहीं, अपितु वेदविरुद्ध सम्प्रदायों के अनुयायी भी इन उत्सवों में सम्मिलित होते हैं, यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं होती। वार्षिकोत्सवों की इस परम्परा का प्रारम्भ आर्यसमाज की स्थापना के साथ ही हो गया था। मेरठ, फर्रुखाबाद आदि अनेक आर्यसमाजों के इन उत्सवों के विवरण इस समय उपलब्ध हैं, जिनसे प्रारम्भ काल में आर्यसमाज के कार्यकलाप तथा जनता पर इनके प्रभाव पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

फर्रुखाबाद आर्यसमाज की स्थापना जुलाई, १८७६ में हुई थी। उसका प्रथम वार्षिकोत्सव सन् १८८१ के पहले चरण में हुआ। इसका आयोजन नगर से बाहर एक मील की दूरी पर स्थित लाला कालीचरण के बाग में किया गया था। लाला कालीचरण फर्रुखाबाद के अत्यन्त सम्भ्रान्त रईस थे, और उनके बाग में एक भव्य व विशाल भवन भी बना हुआ था, जिसमें एक सहस्र के लगभग व्यक्ति आराम से बैठ सकते थे। हवन के लिए एक पृथक् यज्ञशाला बनायी गई थी, जिसके चार द्वार केले के स्तम्भों तथा पत्रपुष्पों से सुसज्जित किए गये थे। प्रातःकाल ईश्वर प्रार्थना और हवन से वार्षिकोत्सव का प्रारम्भ किया गया। प्रार्थना, स्वस्तिवाचन और शान्तिपाठ के मन्त्रों के पाठ के अनन्तर यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान किया गया, और यजुर्वेद संहिता के मन्त्रों से अग्नि में आहुतियाँ दी गईं। यज्ञ की समाप्ति दोपहर एक बजे के लगभग हुई। फिर सब उपस्थित जनों में यज्ञशेष बाँटा गया, और विद्वान् ब्राह्मणों का वस्त्र, पात्र व द्रव्य से सत्कार किया गया। इसके पश्चात् प्रीतिभोज हुआ। इसमें निमन्त्रित व अनिमन्त्रित का कोई विचार नहीं रखा गया, कोई भी व्यक्ति इस भोज में सम्मिलित हो सकता था।

प्रवचनों और व्याख्यानों का समय तीसरे पहर रखा गया था। सबसे पूर्व पण्डित गणेश प्रसाद शर्मा ने ईश्वर प्रार्थना की। उसके बाद मुंशी हरनारायण ने एक लेख पढ़ा, जो सनातन धर्म के अनुयायी लाला विश्वेश्वर दयाल द्वारा विरचित 'हितोपदेश' नामक पुस्तक के उत्तर में था। मुंशी हरनारायण के पश्चात् लाला रामचरण ने एक निबन्ध पढ़ा, जिसका विषय मांसाहार था। इस निबन्ध में युक्तियों और प्रमाणों से माँस भोजन का खण्डन किया गया था। अन्तिम भाषण पण्डित गोपालराव हरि का था, जिन्होंने कि राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द द्वारा लिखित 'इतिहास तिमिर नाशक' पुस्तक के तृतीय खण्ड में प्रतिपादित बातों की युक्तिपूर्वक आलोचना की थी। यह भाषण भी लिखित रूप में था। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि फर्रुखाबाद आर्यसमाज के प्रथम वार्षिकोत्सव में जो भी भाषण हुए, लिखित रूप में थे। स्वाभाविक रूप से उनमें यह यत्न किया गया था, कि जनता के सम्मुख जो भी बातें प्रस्तुत की जाएँ, वे भली भाँति तैयारी के साथ और व्यवस्थित रूप में हों।

व्याख्यानों के पश्चात् आर्यसमाज के तत्कालीन मन्त्री लाला कालीचरण ने समाज की वार्षिक रिपोर्ट पढ़ कर सुनाई। पाठशालाओं के सम्बन्ध में इस रिपोर्ट में बताया गया, कि बालकों के विद्यालय में ३ अध्यापक और ८५ छात्र हैं। बालिकाओं की पाठशाला में केवल एक अध्यापिका है, और छात्राओं की संख्या बहुत कम है। पाठशालाओं में कोई फीस नहीं ली जाती, और असमर्थ छात्रों को पुस्तक आदि से सहायता भी दी जाती है। फर्रुखाबाद आर्यसमाज द्वारा समीप के क्षेत्र में धर्म प्रचार के लिए जो कार्य किया जा रहा था, उसका विवरण भी वार्षिक रिपोर्ट में दिया गया। इसी प्रचार के परिणामस्वरूप कायमगंज, मंझना, शमसाबाद और फतेहगढ़ में आर्यसमाजों की स्थापना हो गई थी, और इन समाजों से भी अनेक सज्जन वार्षिकोत्सव में पधारे थे। वार्षिक रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि समाज के प्रचार के कारण आर्यों में सन्ध्योपासना और यज्ञ-हवन के लिए उत्साह बढ़ रहा है, कुरीतियाँ घट रही हैं, और विद्या के प्रति रुचि में वृद्धि हो रही है। गत एक वर्ष में आर्यसमाज के ५२ साप्ताहिक अधिवेशन नियमपूर्वक हुए और अन्तरंग सभा की १४ बैठकें हुईं। 'भारत सुदशा प्रवर्तक' पत्र का मासिक रूप से प्रकाशन भी समय पर होता रहा। समाज की वार्षिक रिपोर्ट के पश्चात् परमेश्वर, महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा सब उपस्थित महानुभावों को धन्यवाद दिया गया। अन्त में आतिशबाजी छुड़ाई गई, और बड़ी धूमधाम तथा हर्ष-उल्लास के साथ आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव समाप्त हुआ।

वार्षिकोत्सव के अवसर पर जो प्रीतिभोज हुआ था, उससे फर्रुखाबाद नगर में बड़ी धूम मची। सम्भवतः, यह पहला मौका था जब कि वहाँ विविध जातियों के लोगों ने एक साथ बैठकर प्रीतिपूर्वक सहभोज किया था। कुछ विरोधियों ने इस पर यह अफवाह फैला दी, कि दयानन्द की जूठ पार्सल से फर्रुखाबाद आई थी, और उसे सहभोज में परोसे गये खाद्य-पदार्थों में मिला दिया गया था। अतः जो लोग आर्यसमाज के भोज में सम्मिलित हुए थे, वे भ्रष्ट हो गये हैं। उनसे खान-पान का कोई व्यवहार नहीं करना चाहिए। पर इस अफवाह का अधिक प्रभाव नहीं हुआ, और समझदार लोगों ने ऐसी झूठ बात की कोई परवाह नहीं की।

फर्रुखाबाद आर्यसमाज का दूसरा वार्षिकोत्सव १६ मार्च, सन् १८८२ को हुआ,

सन्ध्योपासना, यज्ञ-हवन, उपदेश, व्याख्यान, प्रीतिभोज आदि सब प्रथम वार्षिकोत्सव के समान हुए। पर आतिशबाजी नहीं छोड़ी गई। धर्म प्रचार के लिए आयोजित उत्सव में आतिशबाजी की कोई तुक भी नहीं थी। इस वार्षिकोत्सव में मेरठ, कानपुर, और इटावा आदि से भी अनेक सज्जन सम्मिलित हुए थे, और उन्होंने वहाँ व्याख्यान भी दिये थे। सन् १८८१ में फर्रुखाबाद आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों की जो परम्परा शुरू हुई थी, वह बाद में भी सफलतापूर्वक सम्पन्न होती रही।

(५) उत्तरी भारत के पूर्वी क्षेत्र में आर्यसमाजों की स्थापना

दानापुर—वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन एवं प्रचार करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती बिहार और बंगाल भी गये थे। पर उनके जीवनकाल में इन प्रदेशों में केवल दानापुर में ही आर्यसमाज की स्थापना हो सकी थी। सन् १८७२ में जब महर्षि कलकत्ता गये, तो मार्ग में बक्सर, डुमरांव, आरा, पटना, जमालपुर, मुंगेर और भागलपुर आदि में उन्होंने कुछ समय व्यतीत किया, और कलकत्ता से वापिस लौटते हुए भी उन्होंने बिहार के अनेक स्थानों पर धर्म प्रचार किया। इसके परिणामस्वरूप बिहार के अनेक व्यक्ति उनके अनुयायी हो गये थे, और उनके प्रति श्रद्धा रखने लगे थे। इनमें बाबू माधोलाल, बाबू जनकधारीलाल और श्री ठाकुरप्रसाद शाह के नाम उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मसमाज की स्थापना के कारण बंगाल में नवजागरण की जिस लहर का प्रारम्भ हुआ था, ये सब उससे परिचित थे, और धर्म तथा समाज सुधार आदि विषयों पर परस्पर विचार-विमर्श करते रहते थे। इसी प्रयोजन से उन्होंने 'हिन्दू सत्य सभा' नाम की एक सभा संगठित की हुई थी, जिसमें प्रायः ब्राह्मसमाज की पुस्तकें पढ़ी जाती थीं और ब्राह्म प्रचारक प्रवचन किया करते थे। सन् १८७२ में जब महर्षि पटना व दानापुर गये, तो हिन्दू सत्य सभा के सदस्यों ने उनके प्रवचनों को सुना, जिनसे वे बहुत प्रभावित हुए। उनका झुकाव महर्षि द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के स्वरूप की ओर होने लगा, और महर्षि के साथ अपना सम्पर्क उन्होंने निरन्तर बनाये रखा। एप्रिल, १८७५ में जब बम्बई में आर्यसमाज स्थापित हो गया, और अन्य नगरों में भी आर्यसमाजों की स्थापना के लिए उद्योग किया जाने लगा, तो बिहार के इन प्रबुद्ध व्यक्तियों ने भी अपने क्षेत्र में आर्यसमाज स्थापित करने का विचार किया, और इसी प्रयोजन से दानापुर के बाबू माधोलाल आदि अनेक सज्जन महर्षि से मिलने के लिए बम्बई गये। उन्होंने महर्षि को दानापुर आने के लिए निमन्त्रित किया, और उनकी प्रेरणा से हिन्दू सत्य सभा को आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित करना स्वीकार किया। श्री माधोलाल आदि जो सज्जन महर्षि से भेंट करने के लिए बम्बई गये थे, वे वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के लिए अनुपम उत्साह लेकर अपने नगर को वापस आये, और कुछ समय पश्चात् उन्होंने दानापुर में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना कर दी। बिहार और बंगाल के क्षेत्र का यह प्रथम आर्यसमाज था, जिसकी स्थापना २८ मार्च, १८७८ के दिन हुई थी, और जिसके प्रथम मन्त्री बाबू माधोलाल नियुक्त हुए थे।

इस समय तक पंजाब में अनेक आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी, पर उत्तर प्रदेश के मेरठ, रुड़की आदि नगरों में अभी आर्यसमाज स्थापित नहीं हुए थे, यद्यपि उनके लिए तैयारी प्रारम्भ हो गयी थी। मेरठ से भी पहले दानापुर में आर्यसमाज का स्थापित

हो जाना एक महत्त्व की बात है। सन् १८७८ के मार्च मास में वहाँ आर्यसमाज की स्थापना का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था, कि बाबू माधोलाल आदि ने महर्षि के साथ अपना सम्पर्क कायम रखा हुआ था, और महर्षि अपने पत्रों द्वारा उन्हें आर्यसमाज के लिए प्रेरणा देते रहते थे। बाबू माधोलाल के नाम महर्षि के लिखे हुए अनेक पत्र इस समय भी उपलब्ध हैं। अक्टूबर, १८७८ में बाबू भोलानाथ, बाबू मक्खनलाल और बाबू बुद्धोलाल दानापुर आर्यसमाज की ओर से इस प्रयोजन से दिल्ली भेजे गये थे, ताकि वे महर्षि को दानापुर पधारने के लिए निमन्त्रित करें। वे चाहते थे, कि दानापुर का आर्यसमाज भी उसी प्रकार व्यवस्थित ढंग से काम करने लगे, जैसे कि बम्बई, लाहौर, मुलतान आदि के आर्यसमाजों द्वारा किया जा रहा था। इसके लिए वे महर्षि का मार्ग-दर्शन प्राप्त करने को उत्सुक थे। बाबू भोलानाथ आदि के जोर देने पर महर्षि ने दानापुर जाना स्वीकार कर लिया, पर इसके लिए वे शीघ्र समय नहीं निकाल सके। उन दिनों उत्तर प्रदेश के अनेक नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना की जा रही थी, और बहुत-से स्थानों पर महर्षि को आमन्त्रित किया जा रहा था। साथ ही, महर्षि का ध्यान वेदभाष्य लिखने पर भी लगा हुआ था। पर बिहार के आर्यजनों को महर्षि ने निराश नहीं किया। ३० अक्टूबर, सन् १८७९ को वे दानापुर गये, जहाँ धूमधाम के साथ उनका स्वागत किया गया। दानापुर में वे बाबू माधोलाल के मकान पर ठहरे। वह मकान नगर के बीच में था, पर महर्षि एकान्त स्थान पर निवास करना चाहते थे। अतः उनके निवास आदि की व्यवस्था 'दीवा लाज' नाम की कोठी में की गई, जहाँ वे लगभग तीन सप्ताह ठहरे। इस अवधि में उनके कितने ही व्याख्यान मन्दिरों, मठों, बाजारों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों पर होते रहे। कितने ही ईसाई पादरी, मौलवी और अंग्रेज अफसर भी उनके भाषणों को सुनने के लिए आते रहे, और दानापुर में आर्यसमाज के लिए असाधारण रूप से उत्साह उत्पन्न हो गया। इस समय तक आर्यसमाज का संगठन सुनिश्चित रूप प्राप्त कर चुका था। लाहौर में आर्यसमाज के जिन नियमों और उपनियमों का निर्माण हुआ था, सर्वत्र उन्हीं के अनुसार आर्यसमाजों की स्थापना की जा रही थी। अक्टूबर, १८७९ में महर्षि के दानापुर आने पर नये नियमों-उपनियमों के अनुसार वहाँ के आर्यसमाज को पुनर्गठित किया गया, और शीघ्र ही यह समाज बिहार, बंगाल में वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप के प्रचार का प्रधान केन्द्र बन गया। उत्तर प्रदेश और पंजाब से आर्य विद्वान्, साधु-संन्यासी, उपदेशक और प्रचारक दानापुर आने लगे और वहाँ के आर्यसमाज को केन्द्र बनाकर पूर्वी भारत के विविध नगरों में आर्य धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के संगठन के लिए प्रयत्न करने लगे। कुछ ही वर्षों के बाद पटना, आरा, छपरा, सीवान, मुंगेर, राँची, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, मोतीहारी आदि सर्वत्र आर्यसमाजों की स्थापना हुई, और बिहार के इन समाजों में दानापुर आर्यसमाज की स्थिति 'प्रधान आर्यसमाज' की बनी रही।

कानपुर—महर्षि दयानन्द सरस्वती का कानपुर में तीन बार आगमन हुआ था, सन् १८६८, सन् १८७३ और सन् १८७९ में। आर्यसमाज की वहाँ स्थापना महर्षि के तीसरी बार आगमन के समय में हुई। महर्षि के कानपुर आगमन के अवसर पर जो लोग उनके दर्शन के लिए जाया करते थे, उनमें पण्डित हृदयनारायण वकील, पण्डित शिवसहाय मिश्र और डाक्टर श्यामसुन्दर के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हीं के प्रयत्न से १६ नवम्बर, १८७९ के दिन कानपुर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। प्रारम्भ में जो महानुभाव आर्य-

समाज के सभासद् बने, उनमें लाला माधवराम, पण्डित शिवसहाय मिश्र, लाला सेवाराम, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, डाक्टर श्यामसुन्दर, बाबू बंशीधर, बाबू शिवनारायण, बाबू श्रीनारायण खन्ना, बाबू माधवप्रसाद चक्रवर्ती और पण्डित प्रभुदयाल आदि के नाम उल्लेख के योग्य हैं। समाज के प्रथम प्रधान लाला माधवरामजी नियुक्त किये गये, और प्रथम मन्त्री पण्डित शिवसहाय मिश्र। लाला माधवराम कानपुर के प्रतिष्ठित रईस थे, और पण्डित शिवसहाय एक अध्यापक थे जो संस्कृत भी भली भाँति जानते थे। डाक्टर श्यामसुन्दर को कानपुर आर्यसमाज का कोषाध्यक्ष नियत किया गया था। कानपुर के सर्वप्रथम आर्य सभासदों में जिन पण्डित प्रताप नारायण मिश्र का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे और उनकी गणना हिन्दी के श्रेष्ठ व उच्च कोटि के कवियों में की जाती है।

प्रारम्भ में कानपुर आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था। उसके अधिवेशन बाबू माधवप्रसाद चक्रवर्ती के घर पर हुआ करते थे, जो पण्डित गुरुप्रसाद शुक्ल के अहाते में था। उस समय समाज के सभासदों की संख्या २५ तक भी नहीं पहुँची थी, अतः बाबू माधवप्रसाद के घर पर साप्ताहिक अधिवेशन हो सकने में कोई कठिनाई नहीं थी। बाद में समाज के लिए किराये पर मकान लिये जाते रहे, और यह सिलसिला तब तक जारी रहा जब तक कि आर्यसमाज का अपना भवन नहीं बन गया (सन् १८६४)।

कानपुर में आर्यसमाज के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर कुछ व्यक्तियों ने उसके विरोध के लिए एक सभा बनाई, जिसका उद्देश्य समाज के सभासदों को बिरादरी से बहिष्कृत करना था। उस युग में ब्राह्मण, कायस्थ आदि जातियों की बिरादरियाँ बहुत प्रभावशाली थीं, और अपने सदस्यों पर कड़ा नियन्त्रण रखा करती थीं। उस समय जाति या बिरादरी से बहिष्कृत होकर रह सकना सुगम बात नहीं थी। पर आर्यसमाज के विरोध में बनायी गयी सभा देर तक कायम नहीं रह सकी। शीघ्र ही उसका अन्त हो गया, और आर्यसमाज की शक्ति व प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होती गयी। कानपुर आर्यसमाज के न केवल साप्ताहिक अधिवेशन ही नियमपूर्वक हुआ करते थे, अपितु विविध अवसरों पर शहर के विभिन्न स्थानों पर उस द्वारा प्रचार भी किया जाता था। समाज का वार्षिकोत्सव सन् १८८४ में पहली बार धूमधाम से मनाया गया था, जिसमें अन्य नगरों से भी अनेक आर्य विद्वान् सम्मिलित हुए थे।

काशी—महर्षि दयानन्द सरस्वती अनेक बार काशी गये थे। काशी संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के लिए भारत भर में प्रसिद्ध थी, और उसे पौराणिक धर्म का गढ़ माना जाता था। वहीं महर्षि ने दिग्गज पौराणिक पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। सन् १८८० में जब महर्षि काशी गये, तो उन्होंने २१ मार्च से ५ एप्रिल तक वहाँ १४ व्याख्यान दिये। पर इससे जनता को तृप्ति नहीं हुई, और उसके अत्यधिक अनुरोध पर उन्होंने छह व्याख्यान और देना स्वीकार कर लिया। काशी में महर्षि का अन्तिम व्याख्यान १५ एप्रिल, १८८० को हुआ, और उसी दिन वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई।

लखनऊ—महर्षि दयानन्द सरस्वती का लखनऊ में सर्वप्रथम आगमन सन् १८७२ में हुआ था। तब वे घसियारी मण्डी में ठाकुर गजाधरसिंह की कोठी पर ठहरे थे, और वहीं उन्होंने अपने मन्तव्यों का प्रचार किया था। दूसरी बार वे सितम्बर, १८७६ में

लखनऊ गये, और हुसैनाबाद में सरदार विक्रमसिंह की कोठी पर उन्होंने निवास किया। इस समय तक अनेक स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी, और लखनऊ में भी अनेक ऐसे सज्जन थे जो महर्षि के उपदेशों से प्रभावित होकर अपने नगर में समाज स्थापित करने के इच्छुक थे। पर उन दिनों महर्षि का ध्यान प्रधानतया वेदों का भाष्य करने तथा उसे प्रकाशित करने पर केन्द्रित था। अतः समाज की स्थापना के सम्बन्ध में विशेष कार्य नहीं हो सका। पर श्री केशवराम विष्णु पाण्ड्या, श्री रामाधार बाजपेयी और बाबू कन्हैयालाल आदि अनेक ऐसे सज्जन महर्षि के निरन्तर सम्पर्क में रहे, जिन्होंने भविष्य में लखनऊ आर्यसमाज की स्थापना में बहुत उत्साह प्रदर्शित किया। महर्षि तीसरी बार लखनऊ में १८ सितम्बर, १८७९ के दिन गये, और गोमती नदी के तट पर विद्यमान मोती महल कोठी में ठहरे। गणेशगंज तथा चौक में महर्षि ने अनेक व्याख्यान दिये, और उन्होंने यह इच्छा भी प्रकट की कि लखनऊ में भी आर्यसमाज की स्थापना की जानी चाहिए। पर अभी लखनऊ के आर्य लोग समाज को स्थापित करने की स्थिति में नहीं थे। कुछ महीने बाद मई, सन् १८८० में जब महर्षि चौथी बार लखनऊ गये, तब तक वहाँ आर्यसमाज की स्थापना के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हो चुकी थी, जिसके परिणामस्वरूप ९ मई, १८८० के दिन लखनऊ में आर्यसमाज स्थापित हुआ। अपनी चौथी लखनऊ यात्रा में महर्षि का निवास नाका हिण्डोले के पास राजा शंकरबख्श की वाटिका में हुआ था, और नवाब अमीनुद्दौला के इमामबाड़े के चौतरे पर उनके व्याख्यान हुआ करते थे। आर्यसमाज की स्थापना भी इसी चौतरे पर स्वयं महर्षि द्वारा की गई थी। प्रारम्भ में लखनऊ आर्यसमाज के सभासदों की संख्या २५ थी, और निम्न-लिखित सज्जन उसके पदाधिकारी निर्वाचित हुए थे—प्रधान—पण्डित इन्द्रनारायण मसालदान, उपप्रधान—पण्डित रामाधार बाजपेयी, मन्त्री—पण्डित रामदुलारे बाजपेयी, उपमन्त्री—बाबू सरजूदयाल, कोषाध्यक्ष—पण्डित अयोध्याप्रसाद और पुस्तकाध्यक्ष—बाबू चन्द्रगोपाल। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित छह सज्जन अन्तरंग सभा के सदस्य निर्वाचित हुए थे—पण्डित देवीप्रसाद मिश्र, पण्डित सीताराम बन्द्योपाध्याय, पण्डित वेणीमाधव बाजपेयी, श्री हरप्रसाद, श्री छोटेलाल बी० ए० और पण्डित केशवराम विष्णुलाल पाण्ड्या।

यद्यपि प्रारम्भ में लखनऊ आर्यसमाज के केवल २५ सभासद् थे, पर इस संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई और पहले वर्ष में ही सभासदों की संख्या २५ से ४६ हो गई। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि उस समय आर्यसमाज के सभासदों के नियम बहुत कठोर थे और उनका पालन भी कठोरता के साथ किया जाता था। उस समय सामान्य आर्य सभासद् वही व्यक्ति हो सकता था, जो प्रातः सायं सन्ध्या अवश्य करे, और ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सत्यार्थप्रकाश एवं वर्णोच्चारण शिक्षा तथा सन्धि विषय को यथावत् पढ़ सके। ये बातें आर्यसमाज का साधारण या तीसरी श्रेणी का सभासद् बनने के लिए आवश्यक थीं। द्वितीय तथा प्रथम श्रेणियों के आर्य सभासदों के लिए अधिक उच्च स्तर का पाठ्यक्रम नियत था, जिसका निर्धारण समय-समय पर अन्तरंग सभा द्वारा किया जाता था। प्रत्येक आर्य के लिए यह भी आवश्यक समझा जाता था, कि उसके पास 'पञ्चमहायज्ञविधि' हो, और यज्ञों के मन्त्र उसे कण्ठस्थ हों। यदि किसी पर यह सन्देह हो जाता था, कि उसे मन्त्र याद नहीं हैं, तो उसका नाम समाज के अधिवेशन में

घोषित कर दिया जाता था। इस व्यवस्था के कारण आर्यसमाज के सभासद हिन्दी तथा संस्कृत भाषा की समुचित जानकारी प्राप्त कर लेना अपना कर्तव्य समझते थे, महर्षि द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का अध्ययन करते थे, वेदमन्त्र कण्ठस्थ करते थे और दोनों समय सन्ध्या किया करते थे। उनका यह भी प्रयत्न रहता था, कि आपस में मेल-मिलाप से रहें और परस्पर प्रेम सम्बन्ध को बढ़ाने के लिए एक-दूसरे के घर में जाया-आया करें। आर्यों को संस्कृत की शिक्षा देने और महर्षिप्रणीत पुस्तकों के अभिप्राय को सुचारु रूप से स्पष्ट कराने के प्रयोजन से लखनऊ में एक 'सत्यप्रकाश पाठशाला' भी स्थापित की गयी थी, जिसमें वयस्क लोग भी पठन-पाठन के लिए आया करते थे।

लखनऊ आर्यसमाज के प्रारम्भिक वर्षों के सम्बन्ध में जो यह विवरण उपलब्ध है, वह अत्यन्त महत्त्व का है। उससे सूचित होता है कि शुरू-शुरू के काल में आर्य-सभासदों से क्या अपेक्षाएँ की जाती थीं। आर्यसमाज की स्थापना अत्यन्त उच्च उद्देश्यों को सम्मुख रखकर की गयी थी। उनकी पूर्ति तभी सम्भव थी, जब कि आर्य सभासद् सुयोग्य हों, उनका आचरण धर्मानुकूल हो और उन्हें वेद एवं महर्षि की शिक्षाओं की समुचित जानकारी हो। यह कल्पना असंगत नहीं है, कि उस समय अन्य आर्यसमाज भी अपने सभासदों से यही अपेक्षा रखा करते थे।

आर्यसमाज के संगठन के अनुसार प्रधान, मन्त्री आदि पदाधिकारियों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाती है। इस पद्धति में चुनाव के अवसर पर विविध प्रत्याशियों में संघर्ष का होना तथा कटुता का भी उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर लखनऊ आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने यह नियम बनाया था, कि आगामी वर्ष के निर्वाचन से पूर्व सब अधिकारी अपने-अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया करें, जिससे कि अन्य सभासदों को समाज की सेवा का अवसर प्राप्त करने में कठिनाई न रहे, और कोई अपने पद से अनुचित लाभ न उठा सके।

शुरू में लखनऊ आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था। पहले वर्ष समाज के अधिवेशन सत्यप्रकाश पाठशाला में होते रहे, और बाद में समाज के उपप्रधान पण्डित रामाधार वाजपेयी ने अपने मकान में समाज के अधिवेशनों की व्यवस्था कर दी। पर किसी गृहस्थ के घर पर भी समाज का रहना क्रियात्मक दृष्टि से उचित नहीं था। अतः बाद में एक मकान किराये पर ले लिया गया, और जब तक अपना भवन नहीं बन गया, समाज के अधिवेशन किराये के मकान में होते रहे।

लखनऊ आर्यसमाज का पहला वार्षिकोत्सव १ मई, सन् १८८१ को बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। उसमें न केवल लखनऊ के लोग ही अच्छी बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए, अपितु अन्य नगरों तथा ग्रामों के भी बहुत-से नर-नारियों ने पधार कर अपनी धर्म-पिपासा शान्त की। बाद में प्रतिवर्ष लखनऊ आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव नियमपूर्वक होते रहे। सन् १८८२ के वार्षिकोत्सव का विवरण पद्य रूप में लिखा गया था, जो अब भी उपलब्ध है। उस समय के आर्यों में क्या भावनाएँ कार्य कर रही थीं, इसे स्पष्ट करने के लिए इस विवरण की दो पंक्तियों का उल्लेख उपयोगी होगा—

चिर जियहु आर्यसमाज दिनकर निसि अविद्या जेहि हरा।
अरु लाय त्रेता सत्ययुग कलि काल ऊपर जेहि धरा॥

सन् १८८२ में लखनऊ आर्यसमाज द्वारा यह भी निश्चय किया गया कि आर्य

लोग अपना सब कार्य देव भाषा (हिन्दी) में किया करें। उस समय तक 'हिन्दी' शब्द का अधिक प्रचलन नहीं हुआ था। इस भाषा को आर्य भाषा एवं देवभाषा कहा जाता था। लखनऊ के सब आर्य पत्र-व्यवहार आदि सब कार्य देवभाषा हिन्दी में ही किया करें, इसके लिए समाज द्वारा एक समिति भी बना दी गयी थी।

यह ऊपर लिखा जा चुका है, कि लखनऊ आर्यसमाज के सभासदों को उनकी शिक्षा तथा धर्मज्ञान के आधार पर तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया था। प्रथम श्रेणी के विद्वान् सभासदों का यह कर्तव्य माना जाता था, कि वे अन्य सभासदों को धार्मिक सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करने तथा अपने आचरण व रहन-सहन को धर्मानुकूल बनाने के कार्य में सहायता प्रदान किया करें। अच्छे धनी एवं सम्भ्रान्त आर्य सभासद् भी अपने को सभासदों की तृतीय श्रेणी में रखकर प्रथम श्रेणी के विद्वान् सभासदों (चाहे वे धन आदि की दृष्टि से उनके समकक्ष न हों) से धर्म की शिक्षा प्राप्त करते रहना अपना कर्तव्य समझते थे।

सन् १८८३ तक उत्तर भारत में मेरठ आर्यसमाज की स्थिति 'प्रधान आर्यसमाज' की थी, और अन्य समाज उसके नेतृत्व को स्वीकार करते थे। मेरठ आर्यसमाज ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की, कि समाजों के उत्सवों तथा अन्य अवसरों पर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए उपदेशक मण्डली बनायी जाए। लखनऊ आर्यसमाज के सदस्यों ने इस प्रस्ताव का हार्दिक स्वागत किया, और निश्चय किया कि सब आर्य सभासद् अपनी एक मास की आमदनी इस शुभ कार्य के लिए प्रदान करें।

आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र का जिस तेजी के साथ विस्तार हो रहा था, उसके लिए केवल एक 'प्रधान आर्यसमाज' की सत्ता पर्याप्त नहीं थी। अभी प्रान्तीय या प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाओं का संगठन नहीं हुआ था। अतः लखनऊ तथा समीपवर्ती क्षेत्र के आर्य सज्जनों ने यह विचार किया, कि अवध के क्षेत्र के सब आर्यसमाजों को मिलाकर एक 'अधिष्ठाता' या 'प्रधान' आर्यसमाज नियत कर दी जाए, और उसके निर्देशन में अन्यत्र समाज के कार्यकलाप का विस्तार किया जाए। इस विचार के अनुसार लखनऊ आर्यसमाज को 'अधिष्ठाता' समाज की स्थिति प्रदान कर दी गयी। पर अभी लखनऊ में आर्यसमाज का अपना भवन नहीं बना था। इसलिए यह सुगम नहीं था, कि प्रधान समाज के कर्तृत्व को वह समुचित रूप से निवाह सके। इसी बीच सन् १८८५ में संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) की आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हो गयी, जिसके कारण लखनऊ आर्यसमाज को 'प्रधान' समाज माने जाने की आवश्यकता ही नहीं रह गयी। सन् १८८० में लखनऊ में आर्यसमाज की स्थापना हो जाने पर उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में अनेक स्थानों (सीतापुर, आजमगढ़, गोरखपुर, हरदोई आदि) पर आर्यसमाज स्थापित हो गये थे। इसी कारण उस क्षेत्र में एक 'प्रधान' समाज की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। इन अनेक आर्यसमाजों की स्थापना महर्षि के देहावसान से पहले ही हो गयी थी।

अन्यत्र आर्यसमाजों की स्थापना—उत्तरी भारत के पूर्वी क्षेत्र में जिन अन्य स्थानों पर सन् १८८३ तक आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे, उनमें प्रयाग, चुनार, गाजीपुर, चन्दौली, इटर्रा, भोलेपुर, हरदोई, जलालाबाद, आजमगढ़, सीतापुर और गोरखपुर उल्लेखनीय हैं। इनमें बहुत-से स्थान ऐसे हैं जिनमें महर्षि स्वयं नहीं गये थे। वहाँ आर्य-समाजों की स्थापना ऐसे महानुभावों द्वारा की गयी थी, जिन्होंने अन्यत्र महर्षि के प्रवचनों

जो सुना था और उनसे प्रभावित होकर जो उनके अनुयायी बन गये थे। यह भी सम्भव है, कि मेरठ, लखनऊ सदृश प्रमुख समाजों के प्रचारक तथा आर्य संन्यासी आदि वहाँ गये हों, और उनके प्रयत्न से इन आर्यसमाजों की स्थापना हुई हो। पर इनकी स्थापना का विवरण अभी संकलित नहीं किया जा सका है। यह तो स्पष्ट ही है, कि ये समाज सन् १८८० या उसके बाद ही स्थापित हुए थे, अतः इनका विवरण इस इतिहास के द्वितीय भाग में देना भी अनुपयुक्त नहीं होगा।

मिर्जापुर आर्यसमाज---उत्तरी भारत के पूर्वी क्षेत्र में महर्षि के जीवनकाल में जिन नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना हुई, मिर्जापुर का उनमें विशेष महत्त्व है। सम्भवतः, वहाँ का आर्यसमाज उत्तर भारत में सबसे पुराना है। श्री मास्टर नन्हूलाल द्वारा लिखित 'आर्यसमाज मीरजापुर का इतिहास' पुस्तक के अनुसार इस समाज की स्थापना १८ एप्रिल, १८७५ के दिन हुई थी। मास्टर जी मिर्जापुर आर्यसमाज के संस्थापकों में से थे, और अपने समाज का उन द्वारा लिखा हुआ इतिहास (जिसमें सन् १८९० तक का वृत्तान्त है) वस्तुतः अत्यन्त प्रामाणिक है। मिर्जापुर में आर्यसमाज की स्थापना महर्षि द्वारा नहीं की गयी थी, उसका श्रेय कतिपय ऐसे सज्जनों को प्राप्त है, जो कानपुर, काशी आदि में महर्षि के सम्पर्क में आये थे और उनके उपदेशों को सुनकर उनके भक्त व अनुयायी बन गये थे। इनमें पण्डित बन्धुदेव भारद्वाज, पण्डित रामप्रकाश शर्मा, पण्डित रामानन्द पाठक, बाबू लक्ष्मीनारायण और मास्टर नन्हूलाल के नाम उल्लेखनीय हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती अनेक बार मिर्जापुर गये थे। उनके वहाँ अनेक व्याख्यान भी हुए थे, और पौराणिक पण्डितों के साथ उन्होंने अनेक बार शास्त्रचर्चा भी की थी। उनसे प्रभावित होकर मिर्जापुर के विद्वान् व प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने एक परिषद् बना ली थी, जिसमें धार्मिक एवं साहित्यिक विषयों की चर्चा होती रहती थी। इस प्रकार वहाँ की जनता में एक ऐसा उद्बुद्ध वर्ग उत्पन्न हो गया था, जो प्रगतिशील व सुधारवादी विचारों के ग्रहण के लिए उद्यत था। इसीलिए सन् १८७० में महर्षि की प्रेरणा से मिर्जापुर में एक वैदिक पाठशाला स्थापित की जा सकी थी, जिसमें महर्षि के सहपाठी पण्डित जुगलकिशोर को अध्यापन के लिए नियुक्त किया गया था।

बम्बई में आर्यसमाज की विधिवत् एवं स्थायी रूप से स्थापना से पहले भी अनेक स्थानों पर समाज का बीजारोपण किया जा चुका था, और राजकोट में तो समाज की स्थापना भी हो गयी थी। अन्यत्र भी आर्यसमाज की चर्चा थी। इस दशा में मिर्जापुर में जहाँ महर्षि के विचारों से प्रभावित सज्जनों ने एक विद्वत्परिषद् बनायी हुई थी, और जहाँ वैदिक पाठशाला भी विद्यमान थी, आर्यसमाज की स्थापना के लिए क्षेत्र तैयार था। इसी कारण वहाँ १८ एप्रिल, १८७५ को आर्यसमाज स्थापित हुआ, जिसके प्रथम प्रधान पण्डित गुरुचरनलाल निर्वाचित हुए, और पण्डित रामप्रकाश शर्मा मन्त्री। अन्य प्रमुख सभासद् पण्डित रामानन्द पाठक, पण्डित बन्धुदेव भारद्वाज, पण्डित सरयूप्रसाद शुक्ल, सेठ रामरतन लड्ढा, पण्डित रामाधीन तिवारी, पण्डित मोतीराम शर्मा, पण्डित कालिका-प्रसाद शर्मा, श्रीरामचन्द्र घोष, मुंशी भवानीप्रसाद, सेठ भवानीराम, श्री लक्ष्मीनारायण और मास्टर नन्हूलाल थे।

प्रारम्भ में आर्यसमाज का अपना भवन नहीं था। अतः श्री रामचन्द्र घोष के

मकान पर साप्ताहिक अधिवेशन होने लगे, जिनमें पण्डित रामप्रकाश शर्मा, पण्डित रामाधीन तिवारी और पण्डित कालिकाप्रसाद शर्मा उपदेश, भजन तथा वेदकथा किया करते थे। मार्च, १८७६ में समाज के स्थान में परिवर्तन किया गया, और साप्ताहिक अधिवेशन शिवाले के सामने वाली छत पर होने लगे। अक्टूबर, १८७९ में जब महर्षि मिर्जापुर आये, तो आर्यसमाज के पदाधिकारियों द्वारा ही उनके निवास एवं व्याख्यानों आदि की व्यवस्था की गयी थी।

दिसम्बर, १८७९ में आर्यसमाज की ओर से मिर्जापुर में एक आर्य पाठशाला स्थापित की गयी, जिसमें हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी और उर्दू की शिक्षा दी जाती थी। पाठशाला का कार्य वेदमन्त्रों के पाठ से प्रारम्भ होता था, जिसमें सब अध्यापक और विद्यार्थी भाग लेते थे। पाठशाला की स्थापना हो जाने पर आर्यसमाज के अधिवेशन भी वहीं होने लगे। समाज के सभासदों की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी, और मिर्जापुर की जनता पर आर्यसमाज की शिक्षाएँ प्रभाव उत्पन्न कर रही थीं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जब गोरक्षा के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया, और गोहत्या को बन्द करने के प्रयोजन से सरकार से अनुरोध करने के लिए एक आवेदनपत्र पर लोगों के हस्ताक्षर कराने शुरू किये, तो उन्होंने मिर्जापुर समाज के मन्त्री पण्डित रामप्रकाश शर्मा के पास भी इस आवेदनपत्र की प्रतियाँ हस्ताक्षर कराने के लिए भेजीं।

सन् १८७६ के बाद से मिर्जापुर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव प्रति वर्ष नियमपूर्वक होते रहे। मिर्जापुर में विद्वानों की कमी नहीं थी। आर्यसमाज के प्रधान और मन्त्री आदि पदाधिकारी स्वयं भी संस्कृतज्ञ और वेदशास्त्रों से सुपरिचित थे। अतः वार्षिकोत्सवों पर भी प्रायः इन्हीं के उपदेश व व्याख्यान हुआ करते थे। मिर्जापुर के समीपवर्ती क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाजों की स्थापना में भी इन विद्वानों का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व रहा। ये अन्य आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर भी जाया करते थे, और इनके कारण उत्तर प्रदेश के पूर्वी अञ्चल में मिर्जापुर आर्यसमाज की स्थिति बहुत महत्त्व की हो गयी थी।

(६) राजस्थान में स्थापित आर्यसमाज

महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान (सन् १८८३) तक राजस्थान के क्षेत्र में अजमेर, जयपुर, रामगढ़, पावटा, शाहपुरा और चूरू में आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। उदयपुर, जोधपुर, चित्तौड़गढ़ आदि में महर्षि के प्रति श्रद्धा रखने वाले बहुत-से लोग थे। पर अभी उनमें आर्यसमाज स्थापित नहीं हुए थे। राजस्थान के आर्यसमाजों में अजमेर का समाज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था, और अब तक भी उसकी वही स्थिति कायम है।

अजमेर—महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रथम बार सन् १८६६ में अजमेर पधारे थे, और फिर दूसरी बार १८७८ में। सन् १८७८ तक बम्बई, लाहौर, मेरठ, आगरा आदि कितने ही नगरों में आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे, और उत्तरी भारत में प्रायः सर्वत्र महर्षि के मन्तव्यों की चर्चा होने लग गयी थी। इस दशा में जब महर्षि ने सन् १८७८ में अजमेर में पदार्पण किया, तो वहाँ भी उनके भक्तों तथा अनुयायियों में आर्य-समाज की स्थापना के लिए उत्साह उत्पन्न हुआ, और उसके परिणामस्वरूप कुछ समय

पश्चात् १३ फरवरी, सन् १८८१ के दिन अजमेर में भी आर्यसमाज स्थापित हो गया। प्रारम्भ में अजमेर आर्यसमाज के अधिवेशन लाखन कोटड़ी में दर्जियों के मन्दिर के पीछे हटड़ी चौक में होते थे। समाज मन्दिर लक्ष्मीनारायण जी दर्जी के मकान में था। अजमेर आर्यसमाज के प्रथम पदाधिकारी निम्नलिखित सज्जन थे---प्रधान---श्री पदमचन्द, मन्त्री---श्री मथुराप्रसाद, उपमन्त्री---श्री शिवप्रसाद। इन पदाधिकारियों के अतिरिक्त जो सज्जन समाज की अन्तरंग सभा के सदस्य निर्वाचित हुए थे, उनमें से कतिपय के नाम उल्लेखनीय हैं---श्री हरनामसिंह, पण्डित कमलनैन, बाबू बहालीराम, बाबू मुन्नालाल, पण्डित नाथूराम, बाबू जैठमल, पण्डित श्यामसुन्दर, बाबू बनवारीलाल और पण्डित नन्दकिशोर।

अजमेर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा की कार्यवाही का विवरण सुरक्षित रूप में विद्यमान है। यद्यपि यह कार्यवाही नियमित रूप से ४ जुलाई, १८८२ से ही उपलब्ध है, पर इस तथ्य के प्रमाण विद्यमान हैं कि अजमेर में आर्यसमाज की स्थापना उससे सवा साल पहले फरवरी, १८८१ में हो चुकी थी। 'भारती विलास' नामक पत्रिका में १५ एप्रिल, १८८१ के अंक में यह समाचार छपा था---"अजमेर नगर में भी सज्जन आर्य-पुरुषों ने एक आर्यसमाज १३ फरवरी, सन् १८८१ को स्थापित किया है। प्रत्येक आदित्य-वार को गायन सहित ईश्वर प्रार्थना की जाती है, तत्पश्चात् एक या दो सभासद् देशोन्नति या आर्य धर्म के विषय पर व्याख्यान देते हैं। आशा है, कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती के आने से यह समाज शीघ्र उन्नति करेगा।" महर्षि ५ मई, सन् १८८१ को तीसरी बार अजमेर पधारे, और रेलवे स्टेशन पर आर्यजनों ने श्रद्धापूर्वक उनका स्वागत किया। उनके निवास की व्यवस्था सेठ फतहमल के बगीचे की कोठी में की गयी, और आर्यसमाज द्वारा उनके व्याख्यानों के स्थान तथा समय की सूचना एक विज्ञापन छपवाकर सर्वत्र प्रसारित कर दी गयी। २३ जून तक महर्षि का अजमेर में निवास रहा। इस अवधि में उन्होंने जहाँ सेठ गजमल की कोठी पर अनेक व्याख्यान दिये, वहाँ साथ ही समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में भी उनके उपदेश होते रहे। महर्षि के अजमेर निवास के समय ही पण्डित लेखराम पेशावर से उनके दर्शन के लिए आये थे, और उनसे वार्तालाप कर उनके परम भक्त बन गये थे।

महर्षि का अजमेर आर्यसमाज के साथ सम्पर्क उनके अजमेर से चले जाने के बाद भी बना रहा। उन्होंने समाज के मन्त्री श्री मुन्नालाल तथा पण्डित कमलनैन को अनेक पत्र लिखे थे, जिनमें से १६ अब प्रकाशित भी हो गये हैं।

अजमेर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा की जो प्रारम्भिक कार्यवाही इस समय उपलब्ध है, उससे ज्ञात होता है कि आर्यसमाजों के एक केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता बहुत पहले ही अनुभव की जाने लगी थी। उस समय मेरठ आर्यसमाज की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण थी, और अन्य आर्यसमाजों का मार्ग-दर्शन उसी द्वारा किया जाता था। सन् १८८३ में मेरठ आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में अजमेर आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में पण्डित श्यामसुन्दर सम्मिलित हुए थे, और वहाँ यह निश्चय हुआ था, कि "आर्यसमाज के सब सभाओं के उचित प्रबन्ध के निमित्त एक महासभा नियत की गयी जिसका स्थान मेरठ नियत किया गया और इसके सभासद् वे आर्य समझे जायेंगे, जिनको प्रत्येक समाज अपना प्रतिनिधि नियत करेगा, और इस प्रबन्ध के ठीक-ठीक चलाने के निमित्त प्रति खण्ड

में एक-एक खण्ड अर्थात् प्रोविन्शल सभा नियत होना चाहिए।"

मेरठ आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर हुए इस निश्चय का रिकार्ड अजमेर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा के कार्य-विवरण में विद्यमान है। सब आर्यसमाजों की एक केन्द्रीय महासभा (सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा) और विविध खण्डों (प्रान्तों या प्रदेशों) की प्रोविन्शल सभाओं (आर्य प्रतिनिधि सभाओं) के जो संगठन बने, उनका पूर्वाभास इस निश्चय से प्राप्त होता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अजमेर में अपने भौतिक शरीर का परित्याग किया था। अतः उनके अन्त्येष्टि संस्कार की सब व्यवस्था अजमेर आर्यसमाज द्वारा ही की गयी थी।

राजस्थान में अन्यत्र आर्यसमाजों की स्थापना—राजस्थान में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती अनेक बार जयपुर गये थे। पर आर्यसमाजों की स्थापना के प्रारम्भ होने के पश्चात् वे १४ दिसम्बर, सन् १८७८ को जयपुर गये, और उन्होंने बाग ठड्डा में निवास किया। बड़ी संख्या में लोग उनके दर्शन करने तथा उनके सम्पर्क से लाभ उठाने के लिए वहाँ जाने लगे, और उनके प्रवचनों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने जयपुर में आर्यसमाज स्थापित करने का निश्चय कर लिया। इस अवसर पर महर्षि का जयपुर में निवास केवल दस दिन (१४ से २४ दिसम्बर तक) का रहा, पर इस बीच में वहाँ आर्यसमाज स्थापित हो गया, जिसमें बाबू हरिप्रसाद, श्री भगवानदास, श्री कन्हैयालाल और चौबे भगवानदास का विशेष कर्तृत्व था। जयपुर में आर्यसमाज की स्थापना के सम्बन्ध में यह विवरण नीमचाना निवासी हजारीलाल वैश्य द्वारा पण्डित लेखराम जी को दिया गया था। पर सम्भवतः, दिसम्बर, सन् १८७८ में जयपुर में आर्यसमाज का बीजारोपण ही हुआ था। सन् १८८१ में जब महर्षि राजस्थान में धर्मोपदेश करते हुए पुनः जयपुर गये, तो उनका निवास अचरौल वाले ठाकुरों के बाग में हुआ। नगर के लोग अपनी धर्म पिपासा को शान्त करने के लिए वहाँ जाते रहे। इस समय वहाँ 'वैदिक धर्म सभा' नाम से एक सभा स्थापित हुई, जो कुछ समय पश्चात् आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित हो गयी।

शाहपुरा राज्य के अधिपति राजाधिराज नाहरसिंह वर्मा महर्षि दयानन्द सरस्वती के परम भक्त थे। लार्ड रिपन (१८८१) द्वारा आयोजित दरबार के अवसर पर उन्होंने महर्षि के दर्शन किये थे, और उन्हें अपने राज्य में पधारने के लिए निमन्त्रित किया था। शाहपुरा जाने के लिए महर्षि मार्च, सन् १८८३ में समय निकाल सके और ८ मार्च से २३ मई तक उन्होंने वहाँ निवास किया। इस काल में न केवल शाहपुराधीश ने ही, अपितु सर्वसाधारण लोगों ने भी महर्षि के उपदेशों से लाभ उठाया और उनसे प्रेरित होकर वे आर्यसमाज की स्थापना के लिए तत्पर हो गये।

(७) पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश

पंजाब (भारत तथा पाकिस्तान, दोनों के अन्तर्गत) में आर्यसमाजों की स्थापना कब और किस प्रकार हुई, इस पर इस इतिहास के दसवें अध्याय (चतुर्थ प्रकरण) में प्रकाश डाला जा चुका है। महर्षि के जीवन काल में देश के इस क्षेत्र में लाहौर, अमृतसर, मुलतान, लुधियाना, गुजरात, फिरोजपुर, गुजराँवाला, गुरुदासपुर, आदमवाहन (?),

रावलपिण्डी, पेशावर, जेहलम, वजीराबाद और जालन्धर में आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। इनमें से लाहौर, मुलतान, गुजरात, गुजराँवाला, रावलपिण्डी, जेहलम, और वजीराबाद पाकिस्तान में हैं, और उनके आर्यसमाजों की स्थापना के सम्बन्ध में मुख्यतया वही सूचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं, जो पण्डित लेखराम तथा श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा विरचित महर्षि के जीवन-चरित्रों में संकलित हैं। सन् १९४७ में जब भारत का विभाजन हुआ, तो इन आर्यसमाजों का पुराना विवरण प्रायः नष्ट हो गया, और जो थोड़ा बहुत भारत लाया जा सका, उसे भी अब तक व्यवस्थित रूप में लाया नहीं जा सका है।

लाहौर आर्यसमाज की स्थापना पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। उसके प्रारम्भिक पदाधिकारियों तथा सभासदों के विषय में भी जो जानकारी उपलब्ध है, उसका भी उल्लेख किया जा चुका है। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना २४ जून, १८७७ को हुई थी, और कालान्तर में उसने न केवल पंजाब, अपितु देश भर की आर्यसमाजों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। आर्यसमाज के दस नियमों का निर्धारण वहीं पर हुआ था, और वहीं आर्यसमाज की अनेक प्रसिद्ध शिक्षा-संस्थाओं की नींव रखी गयी थी।

जुलाई, १८७७ में महर्षि रावलपिण्डी गये और वहाँ एक पारसी व्यापारी जामास्पजी की कोठी पर ठहरे। उनके व्याख्यान भी पहले वहीं होते रहे। पर कुछ दिन वहाँ रहकर महर्षि सरदार सुजानसिंह की कोठी पर निवास करने के लिए चले गये, और उनके वहीं रहते हुए रावलपिण्डी में आर्यसमाज की स्थापना हुई, जिसके पदाधिकारी निम्नलिखित सज्जन निर्वाचित हुए—प्रधान—गणेशदास, मन्त्री—भक्त किशनचन्द, सहकारी मन्त्री—लाला गोपीचन्द। प्रारम्भ में जो व्यक्ति रावलपिण्डी आर्यसमाज के सभासद् बने, उनकी संख्या २८ थी।

रावलपिण्डी के पश्चात् महर्षि ने जेहलम में धर्म का प्रचार किया, और उनकी उपस्थिति में ही वहाँ आर्यसमाज स्थापित हो गया। जेहलम में महर्षि का निवास दो सप्ताह तक (३१ दिसम्बर, १८७७ से १३ जनवरी, १८७८ तक) रहा। जेहलम आर्यसमाज के प्रथम प्रधान मास्टर लछमन प्रसाद निर्वाचित हुए। यह सज्जन पहले ब्राह्मसमाजी थे, पर महर्षि के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके अनुयायी हो गये थे। मन्त्री बाबू ज्वालाप्रसाद को तथा कोषाध्यक्ष लाला नौबतराय को नियुक्त किया गया था। जेहलम के बाद महर्षि गुजरात गये (१३ जनवरी, १८७८), और उनके निवास काल में ही वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हो गयी। जब २ फरवरी, १८७८ को महर्षि गुजरात से वजीराबाद गये, तो वहाँ आर्यसमाज विद्यमान था, और उसके सभासद् स्टेशन पर महर्षि के स्वागत के लिए उपस्थित थे। वजीराबाद के प्रधान लाला लब्भाराम थे, और लाला सुखदयाल मन्त्री थे। वजीराबाद से महर्षि गुजराँवाला गये, और ४ मार्च, १८७८ को वहाँ आर्यसमाज की स्थापना हुई, जिसके पदाधिकारी निम्नलिखित थे—प्रधान—मुंशी नारायनकिशन, मन्त्री-मास्टर पोहलूराम, कोषाध्यक्ष-लाला आत्माराम। सभासदों में सरदार सन्तसिंह, हजूरासिंह, मथुरादास, पण्डित भगवद्दत्त और मास्टर दयाराम के नाम उल्लेखनीय हैं। मुलतान में महर्षि का पदार्पण १२ मार्च, १८७८ को हुआ था, और १९ अप्रिल तक उन्होंने वहाँ निवास किया था। ४ एप्रिल को वहाँ आर्यसमाज स्थापित

हुआ। आरम्भ में उसके केवल ७ सभासद् थे। इस समाज के प्रथम प्रधान सरदार प्रेमसिंह निर्वाचित हुए थे, और मन्त्री पण्डित किशननारायण सूरी। बाबा ब्रह्मानन्द का मुलतान आर्यसमाज की स्थापना में विशेष कर्तृत्व था।

पाकिस्तान के क्षेत्र में पेशावर आर्यसमाज की गणना उन आर्यसमाजों में की गयी है, जिनकी स्थापना सन् १८८३ तक हो चुकी थी। महर्षि स्वयं पेशावर नहीं गये थे। उनके मन्तव्यों व उपदेशों से परिचय प्राप्त करने के परिणामस्वरूप कतिपय सज्जनों ने वहाँ समाज स्थापित किया होगा, यह तो स्पष्ट है, पर उसके सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं हो सका है।

पंजाब का जो भाग भारत के अन्तर्गत है, उसमें महर्षि के जीवनकाल में केवल अमृतसर, लुधियाना, फीरोजपुर, गुरदासपुर और जालन्धर में ही आर्यसमाजों की स्थापना हुई थी। उस काल के समाजों की सूची में 'आदमवाहन' का भी नाम है, पर इससे कौन-सा नगर अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है।

अमृतसर में १२ अगस्त, १८७७ के दिन आर्यसमाज स्थापित हुआ। आरम्भ में उसके ५० सभासद् थे। बाबू कन्हैयालाल वकील (प्रधान), पण्डित शालिग्राम वकील (उपप्रधान), बाबू नारायणसिंह वकील (मन्त्री) और पण्डित हृदयनारायण (उपमन्त्री) अमृतसर आर्यसमाज के प्रथम पदाधिकारी थे, और इस समाज की स्थापना मियाँ जान मुहम्मद की कोठी में हुई थी। बाद में मलोई बंगा में समाज के लिए एक मकान ले लिया गया था, जिसके चौक में महर्षि ने स्वयं हवन कराया था। अमृतसर में आर्यसमाज की स्थापना कर महर्षि गुरुदासपुर गये (१८ अगस्त, १८७७), और २४ अगस्त को वहाँ आर्यसमाज स्थापित हुआ, जिसके प्रथम पदाधिकारी निम्नलिखित थे—प्रधान—मुंशी सूरजमल मुंसिफ, और मन्त्री-- दीवान किशनदास। इनके अतिरिक्त डाक्टर बिहारीलाल असिस्टेण्ट सर्जन, बाबू अमृतकिशन बोस, लाला हरचरणदास मुन्सिफ, लाला कन्हैया-लाल साहूकार, लाला काकामल, लाला रामसरनदास वकील, बाबा खिजानसिंह साहूकार, डाक्टर भगतराम, लाला हंसराज साहनी तथा लाला गुरचरनदास वकील गुरदासपुर आर्यसमाज के सर्वप्रथम सभासद् थे।

२६ अक्टूबर, १८७७ को महर्षि फीरोजपुर गये और वहाँ उनका निवास ४ नवम्बर तक रहा। उनके लाहौर के लिए प्रस्थान कर देने के पश्चात् वहाँ विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना हो गयी। फीरोजपुर में हिन्दूसभा पहले से विद्यमान थी। महर्षि के उपदेशों से वही आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित हो गयी, जिसके प्रधान बाबू मथुरादास निर्वाचित हुए और मन्त्री मुंशी गोविन्दलाल। महर्षि के आगमन से पूर्व फीरोजपुर में हिन्दूसभा नाम से एक सभा विद्यमान थी, जिसके प्रधान राय साहब लाला मथुरादास थे। इस सभा के दो सदस्य बाबू रघुवंश सहाय और बाबू दीनदयाल वकील लाहौर में महर्षि के व्याख्यान सुन आये थे। इन्होंने फीरोजपुर आकर महर्षि की अगाध विद्वत्ता तथा व्यक्तित्व का जो विवरण किया, उससे प्रभावित होकर हिन्दूसभा के सदस्यों ने महर्षि को अपने नगर में आमन्त्रित करने का निश्चय किया, और उसके प्रधान लाला मथुरदास ने लाहौर से महर्षि को अपने साथ लिवा लाने के लिए मुंशी गोविन्दलाल को भेजा। फीरोजपुर में महर्षि के व्याख्यानों का श्रवण कर श्री रघुवंश सहाय के प्रस्ताव पर हिन्दूसभा को आर्यसमाज के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

फीरोजपुर में निवास करते हुए महर्षि ने देखा कि कुछ नंगे-भूखे बच्चे रोते हुए बाजार में फिर रहे हैं। इस हृदय विदारक दृश्य को देखकर महर्षि ने एक अनाथालय स्थापित करने का विचार किया, ताकि वहाँ अनाथ बच्चों का भरण-पोषण हो सके और उचित शिक्षा देकर उन्हें उत्तम नागरिक बनाया जा सके। इस विचार को क्रियान्वित करने के लिए महर्षि ने लाला मथुरादास को अनाथालय खोलने की प्रेरणा दी। इसी के परिणामस्वरूप फीरोजपुर के आर्य अनाथालय की स्थापना हुई, जो आर्यसमाज का प्रथम अनाथालय था। लाला मथुरादास उसके प्रबन्धकर्ता नियुक्त हुए, जिन्होंने जीवनपर्यन्त इस उत्तरदायित्व को योग्यतापूर्वक निबाहा।

वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती सितम्बर, १८७७ में जालन्धर गये थे। वहाँ उनके अनेक व्याख्यान हुए और विद्यार्थियों से शास्त्रचर्चा भी। यद्यपि उनके व्याख्यानों को सुनकर जालन्धर के अनेक व्यक्ति महर्षि के प्रति श्रद्धा रखने लगे और उनके मन्तव्यों की सत्यता स्वीकार करने लगे, पर उस समय वहाँ आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना नहीं हुई। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के इतिहास के अनुसार जालन्धर में सन् १८८२ में आर्यसमाज स्थापित हुआ था।

पंजाब जाते हुए महर्षि सबसे पहले लुधियाना ठहरे थे (३१ मार्च, १८७७ से १९ एप्रिल, १८७७ तक)। उनके व्याख्यानों से वहाँ के लोग बहुत प्रभावित हुए, पर उस समय वहाँ आर्यसमाज की स्थापना नहीं हुई। सन् १८८३ में भारत के आर्यसमाजों की जो सूची इस अध्याय के परिशिष्ट में दी गयी है, उनमें लुधियाना का भी नाम है। इससे सूचित होता है, कि महर्षि के देहावसान से पहले ही वहाँ भी आर्यसमाज स्थापित हो गया था। सन् १८८५ के अक्टूबर मास में अमृतसर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर पंजाब के आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ था, जिसमें आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना का निश्चय किया गया था। इस निश्चय के अनुसार लाहौर आर्यसमाज के मन्त्री श्री हंसराज ने प्रतिनिधि सभा का जो पहला सम्मेलन बुलाया, उसमें लुधियाना समाज के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए थे। इससे भी यह प्रमाणित होता है, कि १८८५ से कुछ पहले ही (सन् १८८३ तक) लुधियाना में भी आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। महर्षि के देहावसान के पश्चात् पंजाब में आर्यसमाज का प्रसार बहुत तेजी से हुआ और होशियारपुर, रायकोट, दीनानगर आदि में आर्यसमाज स्थापित हुए। इसका श्रेय मुख्यतया पण्डित लेखराम, पण्डित गुरुदत्त, महात्मा मुंशीराम और महात्मा हंसराज आदि आर्य नेताओं को है, जिनके प्रयत्न से पंजाब आर्यसमाज का शक्तिशाली क्षेत्र बन गया, और वहाँ की आर्यसमाजों के सम्मुख मेरठ और फर्रुखाबाद सदृश आर्यसमाजों का तेज मन्द पड़ गया।

पंजाब के साथ ही उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त तथा सिन्ध का भी उल्लेख कर देना उचित है। इन प्रदेशों में सक्खर, शिकारपुर और पेशावर में आर्यसमाज स्थापित हो गये थे। सिन्ध में आर्यसमाजों की स्थापना के लिए स्वामी सहजानन्द ने बहुत कार्य किया था। वहाँ से महर्षि की सेवा में लिखे हुए उनके अनेक पत्र उपलब्ध हैं।

(८) हरयाणा में स्थापित आर्यसमाज

[illegible] को [illegible] कर महर्षि दयानन्द सरस्वती जब

वापस लौट रहे थे, तो १७ जुलाई, १८७८ को वे अम्बाला रुके थे। यद्यपि वे अधिक समय वहाँ नहीं ठहरे, पर अपने स्वल्प निवास का उपयोग उन्होंने धर्मचर्चा में किया, जिससे अम्बाला के लोग बहुत प्रभावित हुए। पर अभी वहाँ आर्यसमाज की स्थापना नहीं हुई। अम्बाला के अतिरिक्त हरयाणा का केवल एक नगर और था, जहाँ महर्षि ने पदार्पण किया था। यह नगर रिवाड़ी था, जहाँ महर्षि जयपुर से दिल्ली आते हुए २५ दिसम्बर, सन् १८७८ को पधारे थे, और जहाँ उन्होंने ६ जनवरी, १८७९ तक निवास किया था। हरयाणा में केवल रिवाड़ी को ही यह गौरव प्राप्त हैं, कि वहाँ महर्षि दो सप्ताह से भी कुछ अधिक समय ठहरे और वहाँ उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए अनेक व्याख्यान दिये।

लार्ड लिटन ने १ जनवरी, १८७७ को दिल्ली में जो दरबार आयोजित किया था, रिवाड़ी के प्रतिष्ठित रईस व जागीरदार राव युधिष्ठिरसिंह भी उसमें गये थे। महर्षि भी उस अवसर पर दिल्ली पधारे हुए थे। राव युधिष्ठिरसिंह ने उनसे भेंट की, और उनके प्रवचनों को सुनकर तथा उनसे बातचीत कर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने महर्षि से रिवाड़ी पधारने के लिए भी अनुरोध किया। उस समय तो महर्षि रिवाड़ी नहीं जा सके, पर राव युधिष्ठिरसिंह के बार-बार जोर देने पर वे सन् १८७८ के अन्त में वहाँ गये, और अपने दो सप्ताह के लगभग के निवास में उन्होंने वहाँ ११ व्याख्यान दिये। राव युधिष्ठिर सिंह ने अपने सम्बन्धियों तथा उस क्षेत्र के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को महर्षि के व्याख्यान सुनने के लिए आग्रहपूर्वक निमन्त्रित किया था, जिसके परिणामस्वरूप रिवाड़ी तथा उसके समीप-वर्ती प्रदेश में वैदिक धर्म के प्रति लोगों में आस्था उत्पन्न हो गई थी। राव युधिष्ठिर सिंह स्वयं भी महर्षि के अनुयायी बन गये थे, और पण्डित ठाकुरसिंह आदि अपने सहयोगियों के साथ वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए तत्पर हो गये थे। महर्षि ने तो ६ जनवरी, १८७९ को रिवाड़ी से दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया था, पर इसके कुछ ही समय पश्चात् १४ जनवरी के दिन वहाँ आर्यसमाज स्थापित हो गया, जिसके प्रधान राव युधिष्ठिरसिंह थे, और मन्त्री पण्डित ठाकुरसिंह। कोषाध्यक्ष के पद पर श्री नरसिंह देव नियुक्त हुए थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि सन् १८७९ में स्थापित रिवाड़ी का यह आर्यसमाज देर तक कायम नहीं रहा। यही कारण है, जो १८८३ की आर्यसमाजों की सूची में रिवाड़ी का नाम नहीं है। वस्तुतः, १८७९ में रिवाड़ी में आर्यसमाज का बीजा-रोपण ही हुआ था, उसे अंकुरित होने में समय लगा। वहाँ व्यवस्थित रूप से समाज की स्थापना १८९० में हुई थी।

आर्यसमाज के इतिहास में रिवाड़ी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण वहाँ की वह गौशाला है, जिसकी स्थापना राव युधिष्ठिरसिंह ने महर्षि की प्रेरणा से की थी। महर्षि गोरक्षा के प्रबल समर्थक थे, और गौ सदृश दूध देने वाले पशुओं को भारत के आर्थिक जीवन के लिए परम उपयोगी मानते थे। इसी कारण उन्होंने राव युधिष्ठिरसिंह को गौशाला स्थापित करने के लिए प्रेरित किया था, और सम्भवतः आधुनिक युग में यह भारत की सबसे पहली गौशाला थी, जिसे सार्वजनिक हित की दृष्टि से स्थापित किया गया था।

सन् १८८३ तक स्थापित आर्यसमाजों की जो सूची उपलब्ध है, उसके अनुसार महर्षि के देहावसान तक हरयाणा में रोहतक और करनाल में आर्यसमाज स्थापित हो चुके

थे। वहाँ आर्यसमाजों की स्थापना में पण्डित बस्तीराम का कर्तृत्व महत्त्व का है। पण्डित जी का जन्म रोहतक जिले के सुलतानपुर खेड़ी गाँव में सन् १८४१ में हुआ था। उनके परिवार के लोग कट्टर पौराणिक थे, और बस्तीराम भी अपने यजमानों के घर जाकर पुराणों की कथाओं के प्रवचन किया करते थे। उन दिनों महर्षि दयानन्द सरस्वती मूर्तिपूजा के खण्डन तथा सत्य वैदिक धर्म की पुनः स्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रयोजन से उन द्वारा विज्ञापन भी प्रकाशित किये जाते थे, जिनमें अपने विरोधियों का शास्त्रार्थ के लिए आह्वान भी किया जाता था। ऐसा एक विज्ञापन पण्डित बस्तीराम के हाथ भी लग गया, और वह महर्षि से शास्त्रार्थ व प्रश्नोत्तर करने के लिए हरिद्वार गये। सम्भवतः, यह सन् १८६७ की बात है, जब हरिद्वार में कुम्भ का मेला था और महर्षि ने पाखण्ड-खण्डिनी पताका स्थापित की थी। महर्षि से वार्तालाप कर पण्डित बस्तीराम के विचार बदल गये, और उन्होंने पौराणिक मत का परित्याग कर वैदिक-धर्म को अपना लिया। उस समय बस्तीराम जी की आयु २६ साल की थी। उन्होंने अब अपने क्षेत्र में मूर्तिपूजा आदि पौराणिक बातों का खण्डन प्रारम्भ कर दिया, और सन् १८७८ के अन्त में जब महर्षि रिवाड़ी पधारे, तो वह भी उनसे मिलने के लिए वहाँ गये। बस्तीराम को गान विद्या में रुचि थी, और वे गीत व भजन भी लिखा करते थे। रिवाड़ी में उन्होंने महर्षि की प्रशंसा में एक गीत गाया, पर महर्षि ने उन्हें अपनी प्रशंसा करने से मना कर दिया। बस्तीराम जब लगभग चालीस वर्ष के थे, तो शीतला के कारण उनकी आँखें जाती रहीं। पर इससे उनके धर्मप्रचार के कार्य में कोई बाधा नहीं पड़ी, क्योंकि उनके ज्ञान नेत्र तो खुले हुए थे। उन्होंने ११७ वर्ष की आयु प्राप्त की, और सन् १९५८ में उनका देहावसान हुआ। सन् १८८३ में उनकी आयु ४२ वर्ष की थी। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि अपनी युवा अवस्था में उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो प्रयत्न किया, उसी का यह परिणाम हुआ कि हरयाणा में आर्यसमाज की जड़ें मजबूत हो गईं।

हरयाणा में रोहतक आर्यसमाज बहुत पुराना है। लाला लाजपतराय के पिता रोहतक में अध्यापक थे। सन् १८८४ में लाला लाजपतराय अपने पिता के पास रहकर मुख्त्यारी की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे और आर्यसमाज के कार्यों में रुचि भी लेने लगे थे। इसीलिए उन्हें रोहतक आर्यसमाज का मन्त्री भी बना दिया गया था। इससे यह परिणाम निकलता है, कि रोहतक में आर्यसमाज की स्थापना लालाजी के सन् १८८४ में वहाँ आने से पहले ही हो चुकी थी।

हरयाणा में करनाल, कालका और पानीपत में भी सन् १८८३ तक आर्यसमाजों की स्थापना हो गयी थी। महर्षि के शिष्य स्वामी आत्मानन्द तथा स्वामी ईश्वरानन्द का इन समाजों की स्थापना में विशेष कर्तृत्व था। करनाल में स्वामी आत्मानन्द के प्रयत्न से आर्यसमाज स्थापित हुआ था, यह उस पत्र से ज्ञात होता है, जो श्री गोपालसहाय (मन्त्री, आर्यसमाज, करनाल) ने ५ अक्टूबर, १८८३ को महर्षि को लिखा था। पत्र इस प्रकार है—"श्रीयुत मान्यवर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज, नमस्ते। विदित हो कि यहाँ श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती जी के उपदेश से आर्यसमाज स्थापित हुई है और इस समाज में मुंशी शिवप्रसाद साहब मजिस्ट्रेट व बाबू गोपालदास साहब इन्जीनियर करनाल प्रधान, उपप्रधान हैं इसलिए आपसे निवेदन करते हैं कि आप भी कृपा करके यहाँ सुशोभित हों कि यह महापापों का नगर है और ७ अक्टूबर को स्वामी आत्मानन्द

सरस्वती जी यहाँ से जायेंगे आप सदैव काल इस समाज पर कृपा दृष्टि रखें।" ५/१०/८३ गोपालसहाय, मन्त्री आर्यसमाज, करनाल।[1]

सितम्बर, १८८३ में स्वामी ईश्वरानन्द ने महर्षि को एक पत्र पानीपत से लिखा था, जिसमें वहाँ आर्यसमाज स्थापित हो जाने की सूचना दी गयी है। लाला चिरंजीलाल, श्री ज्वालाप्रसाद और लाला कसुम्भरीदास आदि सज्जनों ने इस समाज की स्थापना में विशेष उत्साह प्रदर्शित किया था। पानीपत समाज द्वारा पण्डित श्रीनिवास की नियुक्ति भी समाज के कार्य के लिए कर दी गई थी। पानीपत में आर्यसमाज की स्थापना का प्रधान श्रेय स्वामी आत्मानन्द जी को ही है, जो शिमला से कालका होते हुए वहाँ गये थे। स्वामी ईश्वरानन्द के एक पत्र में उनके पानीपत पधारने का स्पष्ट उल्लेख हैं।[2] १२ जुलाई, १८८३ को कालका से महर्षि के नाम लिखे एक पत्र में स्वामी आत्मानन्द ने लिखा था— "यहाँ से लाला खोशीराम मन्त्री आर्यसमाज की नमस्ते पहुँचे इसी के यत्न से यहाँ आर्यसमाज स्थापित हुई है।"

हरयाणा में कालका में भी सन् १८८३ तक आर्यसमाज स्थापित हो चुका था, इसका संकेत आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के इतिहास में भी विद्यमान है। वहाँ (पृष्ठ ७-८) लिखा है, कि "सन् १८८३ ही में जब ऋषि दयानन्द के देहावसान को अभी कुछ मास भी गुजरने न पाये थे, कालका के मुसलमानों ने आर्यों का काफिया तंग करना चाहा। मुहम्मद बलाल और मुहम्मद अब्दुल्ला खाँ ने अपने आप को ऋषि दयानन्द को विजेता उद्घोपित किया। आर्यसमाजी उठ खड़े हुए। पं० गोपीचन्द और लाला खुशीराम ने ऋषि का स्थान सँभाला। कोट डक्साई के डिप्टी इन्स्पेक्टर मीर बशीर हुसैन और कालका के डिप्टी इन्स्पेक्टर लाला मुन्नालाल निर्णायक नियत हुए। निर्णयिकों का निर्णय यही था कि पण्डितों के प्रश्नों का उत्तर मौलवियों से नहीं बना। ऋषि की आन ऋषि के चेलों ने सुरक्षित रखी।" इससे स्पष्ट है, कि सन् १८८३ में कालका में आर्यसमाजी विद्यमान थे, और वे ऋषि के कार्य को सँभालने के लिए कृतनिश्चय भी थे।

हरयाणा के साथ ही दिल्ली में आर्यसमाज की स्थापना का उल्लेख समुचित होगा। मेरठ में आर्यसमाज की स्थापना के अनन्तर महर्षि ९ अक्टूबर, सन् १८७८ को दिल्ली पधारे थे और ६ नवम्बर तक उन्होंने सब्जी मण्डी में लाला बालमुकुन्द केसरीचन्द के बाग में निवास किया था। १३ अक्टूबर से छत्ता शाहजी में उनके व्याख्यान प्रारम्भ हुए। इन व्याख्यानों के कारण दिल्ली में आर्यसमाज का जो वातावरण तैयार हो रहा था, उसका आभास दानापुर के बाबू मक्खनलाल के १७ अक्टूबर, १८७८ को लिखे पत्र से मिलता है "कल उन्होंने बहुत ही बढ़िया उपदेश लोगों को सुनाया है। इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, कि थोड़े दिनों में यहाँ भी समाज स्थापित हो जावे क्योंकि तीन-चार मनुष्य बड़े सहायक हैं और सभासद् (भी) हो गये हैं और एक नया समाज स्थापित किया जाएगा।" लाला मक्खनलाल उस समय दिल्ली में थे, और महर्षि के दर्शन के लिए दानापुर से आए थे। महर्षि के उपदेशों के परिणामस्वरूप १८७८ के नवम्बर मास

---

१. मुंशीराम—ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार, पृ० ३०७-३०८।
२. वही, पृ० २५।

के प्रथम सप्ताह में दिल्ली आर्यसमाज स्थापित हो गया, जिसके प्रथम प्रधान लाला मक्खनलाल थे और मन्त्री लाला हुकूमतराय।

(६) अन्य प्रदेशों में स्थापित आर्यसमाज

सन् १८८३ तक स्थापित हुए आर्यसमाजों की जो सूची उपलब्ध है, उनमें कुछ ऐसे भी हैं जो गुजरात, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में थे। उस समय बम्बई प्रान्त बहुत विशाल था और गुजरात भी उसके अन्तर्गत था। उस समय के बम्बई प्रान्त में पूना, बम्बई, सूरत, दादरा आदि में आर्यसमाज स्थापित हो चुके थे, और बम्बई की समाजों की सूची में खरसाज, वटा, खलकिच, स्यास और डूगरा ऐसे नाम हैं जो या तो शुद्ध नहीं लिखे गये हैं और या अप्रसिद्ध हैं। महर्षि २० जून, सन् १८७५ को पूना गये थे, और वहाँ उनके अनेक व्याख्यान भी हुए थे। वहाँ उन्होंने आर्यसमाज स्थापित भी कर दिया था, पर वह देर तक कायम नहीं रह सका था। ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद में (१८८३ से पहले ही) वहाँ पुनः आर्यसमाज की स्थापना हो गयी थी। यह आश्चर्य की बात है कि १८८३ में अहमदाबाद में आर्यसमाज विद्यमान नहीं था। महर्षि ने वहाँ भी धर्म प्रचार किया था, और वहाँ के कतिपय सज्जनों को समाज की स्थापना के लिए प्रेरणा भी दी थी। वस्तुतः, महर्षि का कार्यक्षेत्र प्रधानतया उत्तरी भारत में ही रहा। अतः उनके जीवन-काल में अन्य प्रदेशों में आर्यसमाज का आन्दोलन अधिक जोर नहीं पकड़ सका।

सन् १८८३ में मध्य प्रदेश के जबलपुर, मुरार और बिलासपुर में आर्यसमाज स्थापित थे, और हिमाचल प्रदेश में शिमला और कसौली में। मध्यप्रदेश के जबलपुर आदि नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना का प्रारम्भिक वृत्तान्त अभी ज्ञात नहीं किया जा सका है। हिमाचलप्रदेश में आर्यसमाजों की स्थापना के लिए स्वामी आत्मानन्द ने बहुत प्रयत्न किया था। १८८२ के मध्य तक शिमला में आर्यसमाज स्थापित हो गया था, जिसके प्रारम्भिक सभासदों में लाला ठाकुरदास और पण्डित परमानन्द वाजपेयी के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित सुन्दरलाल (रायबहादुर) ने भी शिमला में आर्यसमाज के कार्यों में विशेष उत्साह प्रदर्शित किया था। कसौली में भी आर्यसमाज की स्थापना सन् १८८२ में हो गयी थी, और स्वामी आत्मानन्द वहाँ भी प्रचार के लिए गये थे।

उत्तर प्रदेश के जिन अनेक आर्यसमाजों (जो सन् १८८३ की सूची में हैं) की स्थापना तथा प्रारम्भ काल का विवरण इस अध्याय में नहीं दिया जा सका है, उसका कारण यह है कि इन आर्यसमाजों ने महर्षि के देहावसान के समय तक व्यवस्थित रूप ग्रहण नहीं किया था। इनका बीजारोपण तो उस समय हो गया था, पर वे अंकुरित व पल्लवित नहीं हो पाये थे। इस दशा में उनका विवरण इस इतिहास के द्वितीय भाग में ही दिया जाना उचित होगा।

परिशिष्ट १

सन् १८८३ तक स्थापित आर्यसमाजों की सूची

(परोपकारिणी सभा अजमेर के रिकार्ड से)

पंजाब

१. लाहौर
२. अमृतसर
३. मुलतान
४. लुधियाना
५. गुजरात
६. रोहतक
७. फीरोजपुर
८. गुजरांवाला
९. आदमवाहन
१०. गुरदासपुर
११. रावलपिंडी
१२. पेशावर
१३. करनाल
१४. चांदियाना
१५. कसौली, आदि आदि

राजपूताना

१. जयपुर
२. अजमेर
३. रामगढ़
४. पावटा
५. शाहपुरा
६. चूरू, आदि आदि

बम्बई

१. बम्बई
२. पूना
३. सूरत
४. खरसाज
५. बटा
६. खलकिच
७. दादरा
८. डूगरा
९. स्याम, आदि आदि

सिन्ध

१. सक्खर, आदि आदि

पश्चिमोत्तर देश

१. सहारनपुर
२. इलाहाबाद
३. जब्बलपुर
४. मेरठ
५. लखनऊ
६. मुरार
७. दानापुर
८. फर्रुखाबाद
९. बरेली
१०. देहरादून
११. शिमला
१२. मुरादाबाद
१३. कानपुर
१४. पुराना कानपुर
१५. शाहजहाँपुर
१६. मथुरा
१७. मिर्जापुर
१८. सिकन्दराबाद
१९. रुड़की
२०. आगरा
२१. मैनपुरी
२२. बिलासपुर
२३. चुनार
२४. गाजीपुर

२५. चंदौली
२६. इटर्रा
२७. पचरांव
२८. बदायूँ
२९. बनारस
३०. भोलेपुर
३१. हरदोई
३२. जलालाबाद
३३. चाँदोस
३४. शिकारपुर
३५. आजमगढ़
३६. सीतापुर (अवध)
३७. नगलिया उदयभान
३८. कायमगंज
३९. गोरखपुर
४०. हजारीबाग (बंगाल)
४१. पीलीभीत
४२. पचम्भा
४३. बिजनौर
४४. मुहम्मपुर
४५. नगला शरकी (जिला बदायूँ)
४६. सिखड
४७. मुहम्मदपुर
४८. कर्णवास, आदि आदि

उन अन्य आर्यसमाजों की सूची, जो सन् १८८३ तक स्थापित हो गये थे, पर जिनका उल्लेख ऊपर दी गई सूची में नहीं है—

१. नभला
२. शमसाबाद
३. फतेहगढ़
४. कालका
५. नजीबाबाद
६. भारौल
७. पानीपत
८. रिवाड़ी
९. नगीना
१०. मोहम्मदपुर-देवमल

नोट—परोपकारिणी सभा से प्राप्त सूची में कितने ही स्थान स्पष्ट नहीं हैं, और कुछ स्थानों का उल्लेख अन्य प्रदेशों में कर दिया गया है, यथा शिकारपुर का पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तर प्रदेश)।

परिशिष्ट २

बम्बई आर्यसमाज के नियमों में संशोधन

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में आर्यसमाज की व्यवस्था के लिए २८ नियम बनाये थे। ये नियम अतीव विस्तृत थे। लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना करते हुए बम्बई आर्यसमाज के नियमों में संशोधन किया गया। इनकी संख्या २८ से घटाकर १० कर दी गई। विस्तृत नियमों के स्थान पर अतीव संक्षिप्त एवं व्यापक नियम बनाये गये, विस्तार की बातें छोड़ दी गईं और उन्हें उपनियमों में स्थान दिया गया।

इन नियमों को न केवल लाहौर के आर्यसमाज ने ही स्वीकार किया, अपितु पंजाब और तत्कालीन उत्तर पश्चिमी प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में नये आर्यसमाज स्थापित करते हुए सर्वत्र इन्हीं को मान्यता दी गयी।

३१ दिसम्बर, १८८१ को जब स्वामी जी पुनः बम्बई पधारे, तो उन्होंने बम्बई आर्यसमाज के नियमों में परिवर्तन का समर्थन किया।

बम्बई के आर्यसमाजी अपने नियमों को उत्कृष्ट समझते थे। वे पंजाब और उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों (उत्तर प्रदेश) में प्रचलित दस नियमों को मानने के लिए आरम्भ में तैयार नहीं थे। इस विषय में स्वामी जी से उनकी बहुत दिनों तक चर्चा होती रही। स्वामी जी आर्यसमाज के क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए लाहौर में स्वीकृत दस नियमों के समर्थक थे और उनका पोषण करते हुए उन्होंने बम्बई के आर्यसमाजियों को इस प्रकार समझाया—

"...भाई, स्वदेश सुधार की बात हमको साथ मिलकर करने की है। दो चार बात में हमारा मतभेद रहे तो और बात है, पर हम साथ मिलकर क्यों न काम करें? जिस बात में मतभेद हो, वे भी जब हम प्रीति के साथ बैठ कर विचार करेंगे तो निश्चय हो जाएगा। इसी प्रकार से कुछ बातों में मतभेद होने से आपस में लड़कर ही हम लोगों ने भारतवर्ष की दुर्दशा की है।...इसी से शिष्ट लोगों में प्रथम विद्वेषाग्नि को दूर करने से ही यथोचित विचार होगा और पक्षपात छोड़कर प्रीति से विचार करने से ही धर्मोन्नति होगी, **इसलिए पूर्व नियम बदले गये हैं और यह लाहौर के बनाये हुए नियम ऐसे रचे हुए हैं कि जिसमें कोई मिथ्या अनुवाद नहीं कर सकेगा इसलिए मुंबई के नियम भी सुधार लेने चाहिएँ, जिससे सारे भारतवर्ष में एक नियम हो जायें।** उपनियमों में स्थानिक व्यवस्था के लिए सुधार कर लेना चाहिए, किन्तु नियम तो एक ही होने चाहिएँ...?"[1]

स्वामी जी के उपर्युक्त कथन पर विचार एवं निर्णय करने के लिए ८ एप्रिल, १८८२ को बालकेश्वर में रात के समय स्वामी जी की उपस्थिति में बम्बई आर्यसमाज की अन्तरंग सभा की बैठक हुई। इसमें इस प्रश्न पर विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन के बाद सर्वसम्मति से अग्रलिखित प्रस्ताव पास हुआ।

---

१. दामोदरदास सुन्दरदास—मुंबई आर्यसमाज नु इतिहास (गुजराती में), बम्बई, पृ० २५।

"जो नियम उपनियम स्वामी जी की सम्मति से लाहौर आर्यसमाज तथा अन्य सब स्थानों की आर्यसमाजों के लिए हिन्दी में प्रकाशित किये गये हैं, उन्हें बम्बई आर्य-समाज स्वीकार करती है। इसके लिए नैमित्तिक साधारण सभा बुलाकर उसकी सहमति लेनी चाहिए।"

इस प्रस्ताव के अनुसार शनिवार, १४ एप्रिल, १८८२ को रात के ८ बजे वालकेश्वर में स्वामी जी की अध्यक्षता में साधारण सभा की बैठक हुई और उसमें विचार के बाद सर्वसम्मति में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—

"स्वामी जी की सम्मति से सब स्थानों की समाजों के लिए लाहौर आर्यसमाज ने जो नियम-उपनियम प्रकाशित किये हैं, उन्हें उसी प्रकार रखा जाए। किन्तु उनमें बम्बई की स्थानीय आर्यसमाज के लिए देश काल के अनुसार जो परिवर्तन, वृद्धि या कमी करनी हो, तो उसके लिए नीचे लिखे व्यक्तियों की समिति नियुक्त की जाती है। इनके नाम हैं—राव बहादुर गोपालराव हरि देशमुख, आत्माराम बापू दलवी, इच्छाराम, भगवानदास बी० ए०, सेवक लाल, करसनदास तथा प्राणजीवन कहान दास।"

इस समिति ने लाहौर के नियमों को स्वीकार कर लिया और अपनी आवश्यकता के अनुसार उपनियमों में कुछ परिवर्तन किया। इस समिति के प्रस्ताव को २८ मार्च, १८८५ की वार्षिक साधारण सभा में स्वीकार किया गया और बाद में अन्तरंग सभा ने भी इन्हें स्वीकार किया।[1]

---

१. दामोदरदास सुन्दरदास—मुंबई आर्यसमाज नु इतिहास, पृ० २६।

परिशिष्ट ३

लाहौर आर्यसमाज के सभासदों द्वारा अंग्रेजी वस्त्रों को प्रयुक्त न करने तथा स्वदेशी वस्त्रों के उपयोग का निर्णय

(स्टेट्समैन पत्र की रिपोर्ट के अनुसार)

THE STATESMAN
August 14, 1879
(Letter to the Editor)

EUROPE GOODS

To
The Editor,

Sir, The present condition of India is one of rapidly increasing improverishment. In this condition of our country, there is, I think, no public question of such high importance and absorbing interest, as the question of the revival of our trades and industries. The action of the members of the Lahore Arya Samaj, founded by the learned Pundit Daya Nand Saraswati should, therefore, be hailed with satisfaction by those who have the interest and welfare of this country at heart. They resolved at a meeting lately held at the premises of the Arya Samaj building to abstain from the use of English cloths. Henceforward they will stick to the cloths manufactured solely in India. If they can fulfil their promises, and others follow their example, a great object will be gained. This is the only way by which the influence of Manchester can be counteracted in the Indian market. It is the duty of every right-thinking man to discourage Lancashire linen, as it is superfluous to add that had it not been for the cotton lords of Manchester, who exercise a vast influnce over the Indian Minister, the deputation of the British India Association would not have received the sharp rebuke from the Viceroy at the time of the presentation of its memorial on the subject of cotton duties. But the Manchester cloths have taken so deep a root into the Indian markets, that it will take years to uproot them. Wherever you go, Europe-made goods meet the eye. They have crept not only into our houses, bed chambers, curtains, cushions, and chairs, but they have into our food, drink, and habiliments and are used in our very

poojahs and shrads. This altered condition of India has been so beautifully described by De Foe, that I cannot resist the temptation of quoting the following passage from his writing—"Natives for the most part wear Manchester cotton fabrics, children play in the bazaar with English and French toys, Moonshees write on foreign paper, the sick drink foreign medicines, native ladies wear imitation pearls manufactured in Paris, the toper has his foreign manufactured glass, out of which he drinks French or British brandy, the sportsman of position shoots with a rifle purchased in the Strand and the English speaking native official has begun to aborn his understanding with stockings from Paisley or Leicester and patent leather boots and shoes made by machinery in Birmingham." The whole nation, like the Americans should, therefore, rise as one man and resolve not to consume English goods. P.C.

Lahore, August 10, 1879

NOTE—Instead of respectable natives binding themselves thus to wear nothing but the coarse cloth made in India, it would be a wiser course if they took steps to improve the quality of Indian manufactures, for the cotton grown here, with the help of a little American to form a superior mixture, is quite good enough to admit of a much finer quality of cloth being made—Ed-S.

बीसवाँ अध्याय

शुद्धि (वैदिक धर्म में प्रत्यावर्तन) का पुनः प्रारम्भ

(१) प्राचीन एवं मध्य युगों में शुद्धि

चौथी सदी ईस्वी पूर्व और उसके पश्चात् की सदियों में जब यवन, शक, तुषार, पल्हव, हूण आदि विदेशी व विधर्मी जातियों के भारत पर आक्रमण होने लगे, तो इस देश के चिन्तकों के सम्मुख यह समस्या उत्पन्न हुई, कि इन जातियों के साथ सामाजिक सम्बन्ध का क्या स्वरूप हो, और इन्हें किस प्रकार सत्य धर्म का बोध कराया जाए। महाभारत के शान्तिपर्व में इस विषय पर मान्धाता और इन्द्र का एक सम्वाद है, जिससे उस युग के विचारकों के चिन्तन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। मान्धाता इन्द्र से प्रश्न करते हैं—"यवन, किरात, गान्धार, चीन, शबर, बर्बर, शक, तुषार, कंक, पल्हव, आन्ध्र, मद्रक, पौण्ड्र, पुलिन्द, रमठ और काम्बोज लोग जो ब्रह्म क्षत्र से प्रसूत हैं और वैश्य, शूद्र आदि के कर्मों का अनुसरण करते हैं, किस प्रकार इनसे धर्म का आचरण कराया जा सकता है, और इन्हें धर्म में स्थापित कराने के लिए मेरा क्या कर्तव्य है?" मान्धाता के इस प्रश्न का इन्द्र ने यह उत्तर दिया, कि "सब कोई को माता-पिता की सेवा, आचार्यों, गुरुओं, आश्रमवासियों और भूमिपतियों की सेवा, वेदधर्मानुकूल क्रियाओं का अनुष्ठान, पितृयज्ञ, कूप, प्रथा आदि का निर्माण, दान, सत्य, अहिंसा, अक्रोध, पुत्र, स्त्री व अन्य पारिवारिक जनों का भरण-पोषण, शुचिता, अद्रोह, सब यज्ञों में दक्षिणा का प्रदान और अन्य विविध प्रकार के लोकोपकारी कार्यों का सम्पादन करना ही चाहिए। यवन, किरात, शक आदि सभी को, जो आर्य न होकर दस्युसंज्ञक हैं, ये कर्तव्य कार्य सब लोगों तथा सब देशों के निवासियों के लिए हैं। क्योंकि ये कर्तव्य कर्म सब के लिए हैं, अतः आर्य-भिन्न लोगों (दस्युओं) के लिए भी हैं, और सबसे इनका पालन कराना व सबको इन धर्मों में स्थिर रखना राजा का कर्तव्य है। ईश्वर (प्रजापति) द्वारा क्षत्र (राजशक्ति) का सृजन ही इस प्रयोजन से किया गया है, कि सबसे इस धर्म व इन कर्तव्यों का पालन कराए। भगवान् ने धर्म में प्रवृत्ति तथा अधर्म से निवृत्ति के लिए ही क्षत्र को उत्पन्न किया है। जब क्षत्र द्वारा धर्म का प्रवर्तन किया जाता है, तो किसका साहस है कि उसका पालन न करे।" महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ६५।

मान्धाता और इन्द्र का यह सम्वाद उस युग के भारतीय चिन्तन का परिचायक है, जबकि यवन, शक आदि विदेशी आक्रान्ता भारत की क्षत्र-शक्ति से पराभूत हो गए थे,

और वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। उस समय के विचारकों का यह मन्तव्य था कि माता-पिता की सेवा, अहिंसा, सत्य, दान, यज्ञ आदि मनुष्य-मात्र के लिए हैं, और उन आर्य-भिन्न लोगों को भी इन कर्तव्य कर्मों का सम्पादन करना ही चाहिए, जो भारत में स्थायी रूप से बस गए थे। उस युग के भारतीय आचार्य (वैदिक, बौद्ध तथा जैन) इन विधर्मियों को अपने-अपने धर्मों में दीक्षित करने के लिए तत्पर थे। पर राजशक्ति का भी इस सम्बन्ध में कुछ कर्तव्य था। राजाओं को भी यह प्रयत्न करना चाहिए था, कि यवन, शक, तुषार आदि विदेशी लोगों को ऐसे धर्म व ऐसे कर्तव्यों का पालन करने के लिए विवश करें, जो मनुष्य-मात्र के लिए हैं, जो किसी एक देश या जाति-विशेष के लिए ही नहीं हैं।

शान्तिपर्व (महाभारत) के इस सन्दर्भ से यह संकेत भी मिलता है, कि यवन, शक, तुषार (तुखार) आदि विधर्मी जातियों को आर्य धर्म के मन्तव्यों (ऐसे मन्तव्यों जिनसे कि किसी भी धर्म व सम्प्रदाय का विरोध नहीं हो सकता) के अनुसार जीवन बिताने के लिए विवश व प्रेरित करने के प्रयोजनों से राजशक्ति (क्षत्र) का भी उपयोग किया गया था। पर इसमें सन्देह नहीं कि भागवत (शैव, वैष्णव), बौद्ध तथा जैन धर्मों के उदात्त सिद्धान्तों तथा परम्परागत आर्य संस्कृति के सम्पर्क में आकर इन जातियों ने भारतीय धर्मों तथा जीवन परिपाटी को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया था। इसीलिए श्रीमद्भागवत पुराण में भगवान् प्रभविष्णु विष्णु की महिमा का बखान करते हुए यह कहा गया है कि किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, कंक, यवन, खस तथा अन्य पाप जातियाँ जिस प्रभुविष्णु के आश्रय में आकर शुद्ध हो जाती हैं, उसे हमारा नमस्कार हो।[1] इन विविध पाप व पापयोनि जातियों के हेलिओदोर सदृश कितने ही व्यक्ति विष्णु के उपासक होकर भागवत धर्म के अनुयायी हो गए थे, यह उनके उत्कीर्ण लेखों से स्पष्ट है। दिय (Dion) के पुत्र हेलिओदोर (Heliodorus) का स्तम्भ लेख बेसनगर में विद्यमान है,[2] और नासिक, कार्ले आदि की गुहाओं में कितने ही अन्य यवन भागवतों के दान-पुण्य का वृत्तान्त उत्कीर्ण है।[3] आर्य-भिन्न विधर्मी जातियों के लोगों को आर्य धर्म एवं समाज का अंग बना लेने के लिए सूत्रग्रन्थों में 'व्रात्यस्तोम' यज्ञ का विधान किया गया है। कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार व्रात्यस्तोम यज्ञ का अनुष्ठान कर लेने के परिणामस्वरूप व्रात्यत्व नहीं रहने पाता, और आर्य लोग उनके साथ व्यवहार (खान-पान) आदि कर सकते हैं। आर्य-भिन्न जातियों के विधर्मी लोगों के लिए ही प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में 'व्रात्य' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। उन्हें शुद्ध कर आर्य बनाने के लिए ही व्रात्यस्तोम यज्ञ की विधि प्रतिपादित है। पारस्कर गृह्य सूत्र में कहा गया है, कि व्रात्यों का संस्कार करने (उन्हें शुद्ध करने) का इच्छुक

---

१. किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीर कंका यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धियन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥
—श्रीमद्भागवत पुराण, द्वितीय स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय, श्लोक १८।

2. J. R. A. S, 1909, pp. 1053, 1087.

3. Indian Antiquary, Vol. VII, pp. 53-55.
Ibid, Vol. VIII, p. 90.
Ibid, Vol. XVIII, p. 325.

व्रात्यस्तोम यज्ञ का अनुष्ठान करें, जिसके कारण वे 'व्यवहार्य' हो जाते हैं।[1] ताण्ड्य ब्राह्मण के सतरहवें अध्याय में भी उस विधि का वर्णन है, जिससे विधर्मियों को आर्य धर्म में ग्रहण किया जा सकता है।

मानव सम्प्रदाय (विचार-सम्प्रदाय) के आचार्यों के सम्मुख भी विदेशी व विधर्मी लोगों की समस्या उपस्थित हुई थी। उनका कथन था, कि यवन, शक, काम्बोज, पारद, पल्हव, चीन, किरात, दरद, खश, पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़—ये सब वस्तुतः क्षत्रिय जातियाँ हैं। पर ब्राह्मणों के साथ सम्पर्क न रह जाने के कारण ये वृषलत्व को प्राप्त हो गई थीं, और इनमें चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था नहीं रह गई थी। चाहे इनकी भाषाएँ आर्य हों, और चाहे म्लेच्छ, पर ये सब आर्य-भिन्न हैं, अतः दस्यु वर्ग के अन्तर्गत हैं।[2] मनुस्मृति का यह मत है, कि आर्य ब्राह्मण विद्वानों व आचार्यों के साथ सम्पर्क न रहने के कारण इन जातियों के धार्मिक कार्य आर्य नहीं रह गए। पर यदि इनका आर्य विद्वानों से पुनः सम्पर्क हो जाए, और उसके परिणामस्वरूप ये आर्यों के धर्म-कर्म को अपना लें, तो इन्हें आर्य वर्ग में सम्मिलित करने में कोई बाधा नहीं रह जाती। महाभारत, धर्मसूत्र और मनुस्मृति आदि द्वारा प्रतिपादित इसी मन्तव्य का यह परिणाम हुआ, कि यवन, शक, तुषार आदि विधर्मी जातियों को आर्य धर्म में दीक्षित कर सकना और आर्यों के समाज में सम्मिलित कर सकना सुगम हो गया। चौथी सदी ईसवी पूर्व से लगाकर पाँचवीं सदी तक के आठ सदी के लगभग के सुदीर्घ काल में यवन, शक, पल्हव, कुशाण, हूण आदि जो भी जातियाँ आक्रान्ता के रूप में भारत में प्रविष्ट होती रहीं, उन सबको आर्य धर्म में दीक्षित कर लिया गया। इन सबने शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध, जैन आदि भारतीय धर्मों को स्वीकृत कर लिया और पूर्ण रूप से भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं को अपना लेने के कारण ये सब इस देश की जनता में घुल-मिल गईं, उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रह गई।

आठवीं सदी के प्रारम्भ में भारत के पश्चिमी क्षेत्र पर अरबों के आक्रमण प्रारम्भ हुए। अरब लोग इस्लाम के अनुयायी थे, और इस नये धार्मिक आन्दोलन ने उनमें अनुपम जोश, बल एवं उत्साह का संचार कर दिया था। पश्चिम दिशा में वे स्पेन तक विजय कर चुके थे, और सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया तथा ईरान उनकी अधीनता में आ चुके थे। भारत में भी सिन्ध के दक्षिणी प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित करने में उन्हें सफलता प्राप्त हो गई थी। इस विजित प्रदेश की जनता पर अत्याचार करने, बलपूर्वक नर-नारियों का अपहरण करने और मुसलमान बन जाने के लिए उन्हें विवश करने में अरब आक्रान्ताओं ने संकोच नहीं किया। इस स्थिति में भारत के चिन्तकों के सम्मुख एक नयी समस्या उत्पन्न हुई। अरबों द्वारा बलपूर्वक मुसलमान बना लिये गये लोगों को शुद्ध कर क्या पुनः आर्यों के समाज में सम्मिलित किया जा सकता है, इस प्रश्न पर उन्होंने गम्भीरता

१. व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा व्रात्यभावाद्विरमेयुः।
व्यवहार्या भवन्ति। कात्यायन श्रौत सूत्र, XXII, ४।

२. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजाःयवनाःशकाः। पारदाः पल्हवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवो स्मृताः॥
—मनुस्मृति, १०/४३-४५

के साथ विचार किया। इस विचार-विमर्श का परिणाम देवलस्मृति में उल्लिखित है।[१]

इस स्मृति के अनुसार मुनिसत्तम (सर्वश्रेष्ठ मुनि) देवल सिन्धु (सिन्ध) नदी के तट पर सुखपूर्वक विराजमान थे। सब मुनि लोग उनकी सेवा में उपस्थित हुए, और उन्हें यह वचन कहा—"जिन ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों का म्लेच्छों ने बलपूर्वक अपहरण कर लिया हो, उन्हें किस प्रकार पुनः शुद्ध किया जा सकता है ? जिन्होंने अपेय (जो पीने योग्य न हो) पी लिया हो, अभक्ष्य खा लिया हो और अगम्य (जिसके साथ सम्पर्क व सम्भोग करना उचित न हो) के साथ गमन (सम्पर्क व सम्भोग) कर लिया हो, उनकी शुद्धि किस प्रकार की जाए ? म्लेच्छों ने जिन्हें बलपूर्वक अपना दास बना लिया हो, गौ आदि प्राणियों की हिंसा सदृश अशुभ व बुरे कर्म जिनसे करा लिए गये हों, जिन्हें झूठा भोजन करने तथा झूठे पात्रों को माँजने के लिए विवश किया गया हो, ऊँट, गधे व सुअर आदि के माँस को खाने के लिए जिन्हें विवश कर दिया गया हो, म्लेच्छ स्त्रियों का संग व उनके साथ सम्भोग करने तथा उनके साथ भोजन करने के लिए जो विवश कर दिये गये हों, उनकी शुद्धि का क्या उपाय है ?" देवल मुनि ने इन प्रश्नों के उत्तर में उन प्रायश्चित्तों का विशद रूप से विधान किया है, जिनसे अरब रूपी म्लेच्छों द्वारा अपहरण किये गये और बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये लोगों को शुद्ध किया जा सकता है। ये प्रायश्चित विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ इनका विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है कि मुसलिम अरबों के आक्रमण तथा उन द्वारा आर्यों को बलपूर्वक मुसलमान बनाने के कारण जो नयी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसमें मुनि देवल ने आर्य धर्म की रक्षा के लिए नयी स्मृति की रचना की थी। यह कल्पना सहज में की जा सकती है, कि देवल मुनि के विधान को स्वीकार कर कितने ही आर्य नर-नारियों को वैदिक धर्म में पुनः वापस ले आया गया होगा, और इस प्रकार भारत में इस्लाम के प्रसार में एक सशक्त बाधा उपस्थित हो गई होगी।

यद्यपि आठवीं सदी के अरब आक्रान्ता भारत के एक छोटे-से कोने पर ही अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके थे, और बाद में इस देश में अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए जो भी प्रयास उन्होंने किये, वे सफल नहीं हुए थे, पर इस्लाम के रूप में जो नयी

---

१. सिन्धुतीरे सुखासीनं देवलं मुनिसत्तमम्।
समेत्य मुनयः सर्वे इदं वचनमब्रुवन् ॥१॥
भगवन् म्लेच्छनीताः हि कथं शुद्धिमवाप्नुयुः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैवानुपूर्वशः ॥२॥
अपेयं येन संपीतमभक्ष्यं चापि भक्षितम्।
म्लेच्छैर्नीतेन विप्रेण अगम्यागमनं कृतम् ॥६॥
बलाद्दासीकृता ये च म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः।
अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥७॥
उच्छिष्टमार्जनं चैव तथा तस्यैव भोजनम्।
खरोष्ट्रविड्वराहाणां आमिषस्य च भक्षणम् ॥८॥
तत्स्त्रीणां च तथा सङ्गं ताभिश्च सह भोजनम् ॥१६॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तमिदं शुभम्।
स्त्रीणां म्लेच्छैश्च नीतानां बलात्संवेशने क्वचित् ॥३६॥
—देवल स्मृति

शक्ति पश्चिमी एशिया में प्रादुर्भूत हुई थी, भारत देर तक उसके प्रभाव से बचा नहीं रह सका। दसवीं सदी के अन्तिम चरण में अफगानिस्तान के मार्ग से तुर्कों ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये, और दूर-दूर तक इस देश को आक्रान्त कर सकने में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। अरबों के सम्पर्क से तुर्क लोग इस्लाम को अपना चुके थे, और अपने नये धर्म के लिए उनमें असाधारण उत्साह था। अरबों के आक्रमण के कारण जो परिस्थिति सिन्ध में उत्पन्न हुई थी, वही तुर्कों के कारण उत्तर-पश्चिमी भारत तथा पंजाब में प्रादुर्भूत हो गई। इसीलिए याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में शुद्धि विषयक उन अनेक श्लोकों को उद्धृत किया गया, जो देवलस्मृति में पाये जाते हैं। मिताक्षरा के लेखक धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य थे। उन्होंने भी इस बात की आवश्यकता अनुभव की थी, कि म्लेच्छों ने जिन नर-नारियों को बलपूर्वक अपना दास बना लिया हो, जिन्हें गोवध, मांस भक्षण आदि धर्मविरुद्ध कार्यों के लिए विवश किया गया हो, उन्हें शुद्ध करके अपने धर्म में वापस ले आने की व्यवस्था की जाए। महमूद गजनवी सदृश तुर्क आक्रान्ता जिस ढंग से सहस्रों आर्य नर-नारियों को गुलाम बना कर गजनी ले जा रहे थे और वहाँ उन्हें बलपूर्वक धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया जा रहा था, उसे दृष्टि में रखकर याज्ञवल्क्य-स्मृति के मिताक्षरा टीकाकार का ध्यान देवल मुनि द्वारा किये गये विधान की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। देवल मुनि द्वारा शुद्धि की जिस परम्परा का सूत्रपात किया गया था, भारत के इतिहास के मध्य युग में उसका पर्याप्त रूप से पालन होता रहा, इसका स्पष्ट संकेत आचार्य विद्यारण्य द्वारा विरचित 'पंचदशी' में विद्यमान है। पंचदशी वेदान्तदर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ है, और उसमें अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। शरीर तथा अन्य भौतिक तत्त्वों का सम्पर्क होने पर भी आत्मा किस प्रकार उनसे असम्पृक्त रहता है, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यारण्य ने कहा है कि जिस प्रकार म्लेच्छों द्वारा बलपूर्वक ग्रहण किये गये (अपने धर्म में दीक्षित किये गये) ब्राह्मण में प्रायश्चित के अनन्तर कोई म्लेच्छत्व नहीं रह जाता, उस पर म्लेच्छों का कोई प्रभाव नहीं रहता और वह पुनः ब्राह्मण बन जाता है, उसी प्रकार शरीरादि से सम्पर्क हो जाने पर भी आत्मा का विशुद्ध चिद् रूप विनष्ट नहीं हो जाता, उसका शुद्ध स्वरूप पूर्ववत् कायम रहता है।[1] आचार्य विद्यारण्य स्वामी का समय चौदहवीं सदी में है। उस समय तक उत्तरी भारत के बड़े भाग पर तुर्क-अफगान सुलतानों का शासन स्थापित हो चुका था, और दक्षिण पर भी उनके आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। दक्षिणी भारत को मुसलिम प्रभुत्व से मुक्त रखने के लिए वहाँ विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हो गई थी, और उसकी स्थापना में विद्यारण्य स्वामी का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। यह स्वाभाविक था, कि तुर्क सुलतानों की बढ़ती हुई शक्ति तथा उन द्वारा इस्लाम के उत्कर्ष के प्रयत्नों से उन्हें चिन्ता होती, और वे भी उस शुद्धि विधान का समर्थन करते, जिसका प्रतिपादन देवल मुनि द्वारा किया गया था। पंचदशी का यह श्लोक आचार्य विद्यारण्य के इस सम्बन्ध में मन्तव्य का स्पष्ट रूप से संकेत करता है। देवलस्मृति, मिताक्षरा तथा पंचदशी के विधान का प्रयोग कर कितने

---

१. गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन्पुनः ।
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथाभासः शरीरकैः ॥
—पञ्चदशी तृप्ति दीप, (५, २३१)

नर-नारियों को विधर्मी होने से बचाया गया, या कितने मुसलमानों को शुद्ध कर आर्य धर्म में वापस लाया गया, इसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। पर ईरान, पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका तथा मध्य एशिया के समान भारत में इस्लाम को जो सफलता प्राप्त नहीं हो सकी, उसमें मध्य युग के इन आचार्यों द्वारा की गई व्यवस्था का अवश्य ही महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व रहा होगा।

देवलमुनि द्वारा शुद्धि का जो विधान किया गया था, सतरहवीं सदी तथा उसके पश्चात् भी उसका अनुसरण किया जाता रहा। शिवाजी के अन्यतम सेनापति राजा नेतजी पल्कर को औरंगजेब द्वारा बलपूर्वक मुसलमान बना लिया गया था। पर शिवाजी ने उसे पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित करवा दिया। शिवाजी के अष्टप्रधानों (मन्त्रिपरिषद्) में एक मन्त्री 'पण्डितराव' भी होता था। जब कतिपय मुसलमानों ने एक ब्राह्मण को इस्लाम का अनुयायी बना लिया, तो पण्डितराव ने विद्वान् पण्डितों की एक सभा का आयोजन किया। इस सभा के सम्मुख उस ब्राह्मण का प्रश्न प्रस्तुत किया गया। सभा में एकत्र विद्वान् पण्डितों ने प्रायश्चित्त का विधान कर मुसलमान बने उस ब्राह्मण को पुनः हिन्दू बना लेने और ब्राह्मण जाति द्वारा उसे अपना अंग स्वीकार कर लिए जाने की व्यवस्था की और प्रायश्चित्त के अनन्तर उसे हिन्दू बना लिया गया। शिवाजी के उत्तराधिकारी सम्भाजी के शासनकाल में गंगाधर रंगनाथ कुलकर्णी नाम का एक ब्राह्मण मुसलमान हो गया था। सम्भाजी के पण्डितराव ने भी पण्डितों की एक सभा बुलवाई। इस पण्डित सभा ने मिताक्षरा आदि धर्म ग्रन्थों का अवलोकन कर उसके लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की, और उसे पुनः हिन्दू बना लिया गया। इसी प्रकार के कितने ही अन्य उदाहरण विद्यमान हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आर्य धर्म में प्रत्यावर्तन या शुद्धि की परम्परा का भारतीय इतिहास के मध्य युग में भी पूर्णतया लोप नहीं हुआ था, यद्यपि अशिक्षा और संकीर्णता के कारण इसका अधिक प्रचलन नहीं रह गया था।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि देवल मुनि ने प्रायश्चित्त व शुद्धि का जो विधान किया था, वह केवल उन नर-नारियों के लिए था, जिन्हें कि म्लेच्छों द्वारा बलपूर्वक विधर्मी बना लिया जाता था। इसी विधान का अनुसरण व समर्थन मिताक्षरा तथा विद्यारण्य स्वामी द्वारा किया गया था। पर इस शुद्धि व्यवस्था में म्लेच्छों (अरब, तुर्क, अफ़गान आदि) को आर्य धर्म में दीक्षित कर सकने के लिए कोई विधान नहीं था। सम्भवतः, उस युग के आर्य मुनियों व आचार्यों के सम्मुख प्रधान समस्या आत्मरक्षा की ही थी। उन्हें यह क्रियात्मक व सम्भव प्रतीत नहीं होता था, कि इस्लाम के अनुयायी अरबों तथा तुर्क-अफगानों को आर्य बना सकें। उस समय इस्लाम में अनुपम शक्ति थी, वह एक प्रगतिशील धार्मिक आन्दोलन था। इसके विपरीत प्राचीन आर्य या वैदिक धर्म में गम्भीर रूप से विकृति आ चुकी थी। वर्णव्यवस्था का रूप बिगड़ गया था, और ऊँच-नीच तथा छूत-अछूत के भेदभाव के कारण हिन्दू समाज में संगठन व सौमनस्य का अभाव हो गया था। सम्पूर्ण समाज जात-पाँत के ऐसे तंग दायरों में विभक्त था, किसी विजातीय व विधर्मी व्यक्ति के लिए जिनमें प्रवेश पा सकना असम्भवप्राय था। इस दशा में मध्य युग के मुनि व आचार्य यह प्रयत्न कैसे कर सकते थे कि अरब, तुर्क-अफ़गान तथा मुगलों के रूप में जो नवीन म्लेच्छ भारत को आक्रान्त कर रहे थे, उन्हें अपने समाज में आत्मसात् कर सकें। उनके लिए यही कम नहीं था, कि वे आर्यों (हिन्दुओं) को मुसलमान बनने से

बचाएँ, और जो कोई इस्लाम को ग्रहण कर ले उसे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध करके अपने धर्म में वापस ले आएँ। उन्होंने इसी के लिए प्रयत्न किया, और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। यवन, शक, तुखार, कुशाण, पल्हव, हूण आदि विदेशी व विधर्मी जातियों के आक्रमण के काल में भारत के धर्म में समुचित जीवनी शक्ति विद्यमान थी। भागवत धर्म के रूप में प्राचीन सत्य सनातन वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, उसके परिणामस्वरूप वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों में नवजीवन तथा अनुपम शक्ति का संचार हो गया था। इसीलिए श्री भागवत पुराण में उस प्रभविष्णु विष्णु को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया गया है, जिसकी शरण में आ जाने से यवन, शक, हूण आदि पाप जातियाँ शुद्ध हो गई थीं। पर आठवीं सदी व उसके बाद के काल में भागवत धर्म के 'विष्णु' में वह क्षमता नहीं रह गई थी, जिस द्वारा कि अरब, तुर्क-अफगान व मुगल लोगों को शुद्ध किया जा सकता।

मध्य युग में भी एक बार फिर भागवत धर्म का उत्कर्ष हुआ। यह उत्कर्ष भक्ति आन्दोलन के रूप में था। भक्ति प्रधान हिन्दू धर्म का सूत्रपात दक्षिण में हुआ और उत्तरी भारत में उसका प्रवेश बाद में हुआ। इस समय तक उत्तरी भारत के अनेक प्रदेशों पर तुर्क-अफगानों का शासन स्थापित हो चुका था, और इस्लाम का वहाँ प्रबल रूप से प्रचार हो रहा था। भक्ति आन्दोलन द्वारा आर्य (हिन्दू) धर्म की रक्षा में बहुत सहायता मिली और उसकी उत्कृष्टता का सिक्का न केवल हिन्दुओं पर, अपितु मुसलमानों पर भी जमने लग गया। अनेक मुसलिम भी भक्ति मार्ग के प्रभाव में आए, और ऐसे भी अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। भक्ति मार्ग के आचार्य स्वामी रामानन्द के शिष्यों में सन्त कबीर भी एक थे, जिन्हें हिन्दू हिन्दू समझते थे, और मुसलमान मुसलिम। वर्तमान समय में कबीर पन्थ के अनुयायियों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही हैं। इसी प्रकार बंगाल के सुलतान हुसैनशाह (१४९३-१५१८) द्वारा 'सत्यपीर' नामके एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया गया, जिसका उपास्य देव 'सत्यपीर' था। हिन्दू और मुसलमान दोनों इस सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए, और वे इस उभयनिष्ठ देवता की समान रूप से पूजा करने लगे। आगे चल कर मुगल युग में सतनामी और नारायणी नामक दो अन्य सम्प्रदायों का प्रारम्भ हुआ, हिन्दू और मुसलमान जिनमें समान रूप से सम्मिलित होते थे। तुर्क-अफगान तथा मुगल युगों की इन प्रवृत्तियों का भारत के सांस्कृतिक इतिहास में कुछ-न-कुछ महत्त्व अवश्य है। पर इन द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐक्य स्थापित नहीं हो सका। बादशाह अकबर ने दीने-इलाही के रूप में जिस सम्प्रदाय की स्थापना की थी, वह भी पनप नहीं सका, और हिन्दू धर्म तथा इस्लाम के बीच की गहरी खाई को पाट सकने में वह भी असमर्थ रहा। भक्ति आन्दोलन ने अपने अनुयायियों को आश्वस्त अवश्य किया था, पर वह हिन्दू धर्म की उन विकृतियों और सामाजिक बुराइयों (ऊँच-नीच और छूत-अछूत के भेदभाव आदि) को दूर नहीं कर सका था, जो चिरकाल से उसमें विकसित हो रही थीं। इस्लाम के धर्माचार्यों ने इससे लाभ उठाया, और हिन्दुओं के अनेक वर्गों में अपने धर्म का परित्याग कर मुसलिम बन जाने की प्रवृत्ति पूर्ववत् बनी रही। इस दशा में यह तो आशा ही कैसे की जा सकती थी, कि तुर्क-अफगान व मुगल आदि विदेशी व विधर्मी जातियाँ उस ढंग से हिन्दू धर्म व भारतीय समाज में आत्मसात् हो जातीं, जैसे कि प्राचीन समय में यवन, शक आदि जातियाँ हुई थीं। हिन्दू लोग इस

बात पर अवश्य गर्व व संतोष अनुभव कर सकते हैं, कि विपरीत परिस्थितियों तथा अपने धर्म व समाज में अनेकविध विकृतियों के होते हुए भी वे पर्याप्त अंश तक अपने धर्म की रक्षा करने में समर्थ रहे।

भगवान् 'प्रभविष्णु' विष्णु की जो पावनी शक्ति सदियों तक तिरोहित रही थी, जिसके मन्द पड़ जाने के कारण अरब, तुर्क-अफगान और मुगल लोगों को मध्य काल में और यूरोपियन लोगों को आधुनिक काल में भारतीय धर्मों में दीक्षित कर सकना और भारतीय समाज में आत्मसात् कर सकना सम्भव नहीं रह गया था, महर्षि दयानन्द सरस्वती के कर्तृत्व के कारण वह पुनः प्रकट होनी शुरू हुई और अनेक ऐसे व्यक्तियों को भी शुद्ध कर वैदिक धर्म का अनुयायी बनाना प्रारम्भ किया गया, जो मूलतः विजातीय व विधर्मी थे। महर्षि और उनके अनुयायियों ने इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि जिन आर्यों को बलपूर्वक या प्रलोभन द्वारा मुस्लिम या ईसाई बना लिया गया था, या जिनके पूर्वज किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में अपने कुलक्रमानुगत धर्म का परित्याग कर मुसलमान बन गये थे, शुद्धि द्वारा उन्हें पुनः आर्य धर्म में दीक्षित कर लिया जाए। केवल यही नहीं, उन्होंने ऐसे लोगों को भी आर्य धर्म में दीक्षित करना प्रारम्भ किया, जिनका सम्बन्ध अरब, तुर्क, मुगल, यूरोपियन आदि विधर्मियों से था। ऐतिहासिक दृष्टि से इस बात का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि महर्षि तथा आर्यसमाज द्वारा आर्य धर्म में एक बार फिर उस शक्ति का संचार हुआ, जिसकी सत्ता का श्रीमद्भागवत में गर्व के साथ उल्लेख है।

(२) महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा शुद्धि का पुनः प्रारम्भ

हिन्दू (आर्य) धर्म की रक्षा के लिए शुद्धि स्वामी दयानन्द सरस्वती की एक सर्वथा नवीन, मौलिक और क्रान्तिकारी देन थी। इसके प्रादुर्भाव का इतिहास अतीव रोचक है और इस बात को स्पष्ट करता है कि स्वामी जी अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए किस प्रकार मौलिक चिन्तन करते थे और तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए नूतन हल खोजते थे।

स्वामी जी के मन में शुद्धि का विचार सर्वप्रथम अपनी पंजाब यात्रा में उत्पन्न हुआ। उस समय ईसाई प्रचारक हिन्दुओं, सिक्खों और मुसलमानों को अपने धर्म का अनुयायी बनाने के लिए बड़े पैमाने पर संगठित प्रयत्न कर रहे थे। उन्हें राज्य का प्रबल संरक्षण प्राप्त था। अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि से प्रचुर आर्थिक सहायता भी उन्हें मिल रही थी। इस कारण वे हिन्दू धर्म के लिए एक बड़ा खतरा बन चुके थे। स्वामी दयानन्द ने इस संकट को पंजाब में पहली बार तीव्रता से अनुभव किया और इसके प्रतिकार के लिए शुद्धि के उपाय का प्रतिपादन किया।

शुद्धि का विचार भारतीय समाज में अतीव प्राचीन था। किन्तु स्वामी जी ने इसका जिस अर्थ में प्रयोग किया, वह सर्वथा नवीन था। इस शब्द का मूल अर्थ मलिनताओं को दूर करना और सफाई करना है। मनु ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग करते हुए लिखा है कि शरीर की सफाई जल से होती है (अद्भिर्गात्राणिशुद्ध्यन्ति)। पहले धार्मिक कार्यों को करने से पूर्व शरीर की शुद्धि आवश्यक समझी जाती थी। शनैः-शनैः शुद्धि शब्द के अर्थ का विस्तार होने लगा और विभिन्न धार्मिक कर्मकाण्डों को पूरा करने से पहले उनके लिए आवश्यक पवित्रता प्राप्त करने के विधि-विधानों को ही शुद्धि कहा जाने लगा।

धीरे-धीरे मध्यकालीन हिन्दू समाज में यह विचार विकसित हुआ कि विधर्मियों के साथ सम्पर्क से और समुद्र यात्रा से मनुष्य पापी हो जाता है। इसके लिए आवश्यक शुद्धि के विधान किए जाने लगे। १९वीं शताब्दी में जो व्यक्ति इंग्लैण्ड आदि समुद्र पार के देशों की यात्रा करते थे, उन्हें म्लेच्छों के साथ सम्पर्क के कारण पतित माना जाता था। उनकी पञ्चगव्य से शुद्धि की जाती थी। स्वामी जी और उस समय के अनेक विचारक इस व्यवस्था के विरोधी थे। स्वामी जी यह मानते थे कि प्राचीन काल में भारत का विदेशों के साथ बहुत सम्पर्क था और अब इस सम्पर्क के न होने से ही आर्यावर्त की अवनति हो रही है। अतः उन्होंने शुद्धि शब्द का प्रयोग इससे सर्वथा भिन्न अर्थ में ईसाई व मुसलमान धर्म स्वीकार करने वाले व्यक्तियों को अपने धर्म में पुनः दीक्षित करने वाली विधि के लिए किया।

स्वामी जी के सामने लगभग वही परिस्थितियाँ थीं, जो सिन्ध पर अरबों के आक्रमण के समय देवल मुनि के सम्मुख थीं। यदि उस समय भारत के एक प्रदेश में मुस्लिम राज्य स्थापित हुआ था, तो अब सारे देश में ईसाइयों का राज्य था। उनके प्रचारक उस समय बड़ी तेजी से सब प्रकार के आधुनिक साधनों की सहायता से हिन्दुओं में ईसाइयत का प्रचार कर रहे थे, और शासकों का उन्हें प्रबल समर्थन प्राप्त था। ऐसे समय में स्वामी दयानन्द जब पंजाब पहुँचे तो उन्हें यह नितान्त आवश्यक प्रतीत हुआ कि वे इस संकट का प्रतिकार शुद्धि द्वारा करें।

पंजाब में शुद्धि का प्रश्न स्वामी जी के सम्मुख सबसे पहले लुधियाना में आया। यहाँ अमेरिका के प्रैस्बिटीरियन मिशन की १८३४ में स्थापना हुई थी, अगले ही वर्ष उन्होंने एक हाई स्कूल की नींव डाली और यह स्थान ईसाई प्रचारकों की गतिविधि का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। यहाँ के मिशन स्कूल में रामशरण नामक एक ब्राह्मण पढ़ाया करता था। स्वामी जी लुधियाना पहुँचे, तो वह ईसाई धर्म की दीक्षा लेने वाला था। कुछ हिन्दुओं ने स्वामी जी का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और उनसे रामशरण के धर्मान्तरण को रोकने का प्रयास करने के लिए कहा। स्वामी जी ने रामशरण को अपने पास बुलाया, उसे उपदेश दिया और कुछ बातें समझाईं। इससे प्रभावित होकर रामशरण ने ईसाई मत को स्वीकार न करने का निर्णय किया।

पंजाब में स्वामी जी के सामने इस प्रकार की कई समस्याएँ आती रहीं, अतः उन्होंने इस प्रश्न पर गम्भीर विचार किया। जालन्धर में उन्होंने शुद्धि पर एक व्याख्यान दिया और एक ईसाई की शुद्धि की। खड़कसिंह नामक एक व्यक्ति ने स्वामी जी के प्रभाव से ईसाइयत का परित्याग किया। इसे अमृतसर के रेवेरैण्ड क्लार्क ने ईसाई बनाया था। ईसाई बनने से पहले यह साधु रह चुका था और ईसाइयत के बारे में उसे कई प्रकार के संदेह थे। उसने लिखा है—"इस समय मैं पुनः स्वामी दयानन्द से मिला। मैं उनसे पहले भी मिल चुका था, जबकि हम दोनों फकीर या संन्यासी थे। उन्होंने मुझे बताया कि मैंने वेदों का अर्थ ठीक ढंग से नहीं समझा है। मोक्ष पाने के लिए उन्होंने मुझे योगाभ्यास करने को कहा। कुछ समय तक मैंने उनका अनुसरण किया, मैं आर्य बन गया और ईसाइयों ने मुझे छोड़ दिया।"[1]

---

1. सी० एफ० एण्ड्रूज—इन नौर्थ इण्डिया, लन्दन (१९०८), पृ० १३९।

स्वामी जी के अमृतसर के अन्तिम निवास में उन्हें यह पता लगा कि वहाँ के मिशन स्कूल के चालीस विद्यार्थी ईसाइयत से आकर्षित हो रहे हैं। वे विधिवत् बपतिस्मा लेकर अभी तक ईसाई नहीं बने थे और अपने को बगैर बपतिस्मे वाला ईसाई कहा करते थे। उन्होंने 'प्रार्थना परिषद्' के नाम से अपना एक संगठन भी बना रखा था। स्वामी जी के प्रचार का ईसाई बनने की आकांक्षा रखने वाले इन युवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके विचारों में परिवर्तन आने लगा। इससे वहाँ के पादरी रैवरैण्ड बेयरिंग को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने स्वामी जी के प्रचार के प्रभाव का निराकरण करने के लिए १२ वर्ष से ईसाई बने हुए पंडित खानसिंह के साथ स्वामी दयानन्द का शास्त्रार्थ कराने का निश्चय किया। किन्तु जब खानसिंह स्वामी दयानन्द से मिला तो उनसे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने ईसाइयत को तिलांजलि दे दी। वह पुनः हिन्दू हुआ, और स्वामी जी का अनुयायी बन गया। रैवरैण्ड बेयरिंग के लिए यह स्थिति असह्य थी। स्वामी जी के प्रचार का प्रतिकार करने के लिए उन्होंने कलकत्ता के एक सुप्रसिद्ध ईसाई प्रचारक रैवरैण्ड के० एन० बैनर्जी को बुलाकर शास्त्रार्थ कराने का निश्चय किया। अपनी कन्या की बीमारी के कारण श्री बैनर्जी कलकत्ता से नहीं आ सके। इस समय कुछ अन्य ईसाइयों ने भी ईसाइयत का परित्याग किया और शुद्ध होकर पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित हुए।

पंजाब में एक अन्य घटना ने भी स्वामी जी के शुद्धि के विचार को पुष्ट एवं प्रोत्साहित किया। पंजाब की यात्रा के समय ही स्वामी दयानन्द को अमरीका से थियोसोफिस्टों का पहला पत्र मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि पश्चिमी जगत् के अनेक ईसाई ईसाइयत से संतुष्ट नहीं हैं, और वे अपनी धर्मपिपासा को शान्त करने के लिए भारतीय धर्मों की ओर उन्मुख हो रहे हैं। जोर्डन्स के मतानुसार इससे भी स्वामी जी को ईसाइयों को हिन्दू धर्म में लाने की प्रेरणा मिली होगी।[1]

शुद्धि के सम्बन्ध में आर्यसमाज की ब्राह्मसमाज के साथ तुलना बड़ी रोचक है। ब्राह्मसमाजी नेताओं के सामने भी हिन्दुओं के ईसाई बनने की समस्या आई, किन्तु उन्होंने इस प्रश्न पर न तो कोई मौलिक चिन्तन किया, न ही इसका कोई समाधान ढूँढ़ा। इसके प्रतिकार के जो उपाय उन्होंने किए, वे प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए। १८३० में सुप्रसिद्ध स्काट मिशनरी एलेक्जेण्डर डफ कलकत्ता आए। उन्होंने अपना मिशन स्कूल खोला। उन दिनों अंग्रेजी की शिक्षा की बड़ी माँग होते हुए भी ईसाई पादरियों के प्रति बंगालियों में इतना अधिक अविश्वास था कि डफ राजा राममोहन राय की सहायता से ही अपना स्कूल खोलने में समर्थ हुए, और शुरू में बड़ी मुश्किल से उन्हें छह विद्यार्थी प्राप्त हुए।

१८४५ में इस स्कूल में पढ़ने वाले एक विद्यार्थी उमेश चन्द्र सरकार ने अपनी पत्नी सहित ईसाई धर्म स्वीकार किया। इससे उस समय कलकत्ता में बड़ी सनसनी फैल गई। उस समय ब्राह्मसमाज के नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे और इन्हीं के परिवार की देख-रेख में चलने वाले यूनियन बैंक में उमेश के पिता कार्य करते थे। देवेन्द्रनाथ ने कलकत्ता के प्रमुख हिन्दुओं को ईसाइयत के संकट का मुकाबला करने के लिए संगठित किया। डा० डफ के स्कूल के विरोध में एक आन्दोलन चलाया गया। श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर के आह्वान पर बुलाई गई एक बैठक में कलकत्ता के प्रमुख हिन्दू एकत्र हुए। इसमें ईसाइयत

1. जोर्डन्स—दयानन्द सरस्वती, पृ० १७१।

के खतरे को रोकने के लिए एक स्कूल खोलने के उद्देश्य से बत्तीस हजार रुपयों का चन्दा एकत्र किया गया। इसमें दस हजार रु० की धन राशि कलकत्ता के लखपति बाबू आशुतोष देव ने दी थी। इस धनराशि से हिन्दू विद्यार्थी विद्यालय की स्थापना की गई। देवेन्द्रनाथ ठाकुर और हरिमोहन सेन इस विद्यालय का प्रबन्ध करने वाले मन्त्री बनाए गए। किन्तु कुछ वर्ष बाद ही यह स्कूल बन्द हो गया, क्योंकि इसकी धनराशि जिस व्यापारी घराने में जमा थी वह दिवालिया हो गया।[1]

इस घटना की तुलना जब हम लुधियाना के मिशन स्कूल में पढ़ने वाले रामशरण की घटना से करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर था। स्वामी जी ने रामशरण को उपदेश देकर समझाया था और ईसाई बनने वाले हिन्दुओं को पुनः अपने धर्म में लाने के लिए शुद्धि की नवीन विधि का आविष्कार किया था। इस तरह की कोई व्यवस्था ब्राह्मसमाज के नेता नहीं कर सके, इसीलिए वे ईसाइयत के संकट का सामना करने में असमर्थ रहे।

शुद्धि का जो कार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पंजाब में प्रारम्भ किया था, वह निरन्तर आगे बढ़ता गया। उसी के कारण देहरादून के एक प्रसिद्ध सम्पन्न परिवार के दो पुत्रों को ईसाई होने से बचाया जा सका। देहरादून आर्यसमाज की स्थापना का विवरण देते हुए इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है। जब महर्षि देहरादून में धर्म-प्रचार कर रहे थे, (एप्रिल, १८७६), जन्म का एक मुसलमान भी उनके उपदेश सुनने के लिए आया करता था। इसका नाम मोहम्मद उमर था। वह सहारनपुर का निवासी था, पर ठेकेदारी के लिए देहरादून रह रहा था। महर्षि के प्रवचनों से वह इतना प्रभावित हुआ, कि उसने वैदिक धर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रकट की। उसे शुद्ध करके हिन्दू (आर्य) बना लिया गया, और उसका नया नाम अलखधारी रखा गया। यह कहा जाता है कि मोहम्मद उमर की शुद्धि स्वयं महर्षि ने की थी। सदियों के बाद यह पहला अवसर था, जब किसी जन्म से मुसलमान के लिए वैदिक धर्मी व आर्य बन जाने का मार्ग खोल दिया गया था। महर्षि की प्रतिभा व प्रयत्न से आर्य धर्म में उस शक्ति का संचार होना प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण प्राचीन समय में कितनी ही विदेशी व विधर्मी जातियों को आर्य बना लिया गया था।

महर्षि के जीवन काल में कितने ही अन्य विधर्मी स्त्री-पुरुषों को शुद्धि द्वारा आर्य समाज में सम्मिलित किया गया। ऐसी एक शुद्धि अजमेर में की गई थी, जिसके कारण एक ईसाई महिला ने अपने दो बच्चों के साथ वैदिक धर्म को स्वीकार कर लिया था। अजमेर आर्यसमाज के मन्त्री पण्डित कमलनयन शर्मा ने ३१ अगस्त, १८८३ को इस शुद्धि के सम्बन्ध में महर्षि को एक पत्र लिखा था, जिसमें यह सूचित किया गया था, कि २६ अगस्त को रक्षाबन्धन के अवसर पर सरदार भगतसिंह तथा पण्डित भागराम सदृश बहुत-से प्रतिष्ठित सज्जनों की उपस्थिति में इस ईसाई महिला ने वैदिक धर्म स्वीकार किया, जिससे सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। अपने अगले पत्र में पण्डित कमलनयन शर्मा ने महर्षि को यह भी लिखा था, कि "इस स्त्री के वेदमत स्वीकार करने से यहाँ के ईसाइयों में बड़ी हलचल मच रही है, और ईसाई मत में उन्हीं को शंका उत्पन्न होने लग गई है। आशा है कि

---

१. शिवनाथशास्त्री—हिस्ट्री आफ ब्राह्मसमाज, पृ० ६७-६८।

वर्ष दिन के भीतर और भी कितनेक ईसाई मनुष्य और स्त्रियाँ वेदमत को स्वीकार करेंगे।" (मुंशीराम—ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार, पृ०१६६)।

महर्षि द्वारा विधर्मियों को आर्य धर्म में दीक्षित कर लेने की बात इतनी प्रसिद्ध हो गई थी, कि सन् १८७९ के कुम्भ के अवसर पर जब वे हरिद्वार गये, तो उमैद खाँ नाम के एक मुसलमान ने उनसे प्रश्न किया कि क्या यह सच है कि आप मुसलमानों को भी आर्य बना लेते हैं। इस पर महर्षि ने कहा—आर्य के अर्थ श्रेष्ठ और सत्य मार्ग पर चलने वाले के हैं। अतः जब आप सत्य धर्म को ग्रहण करेंगे तो आर्य हो जाएँगे। वस्तुतः, महर्षि ने वैदिक धर्म का द्वार सबके लिए खोल दिया था, और बहुत-से विधर्मियों ने उसमें प्रवेश करना प्रारम्भ भी कर दिया था। पर यह स्वीकार करना होगा, कि अभी हिन्दुओं के मज्जातन्तुगत संस्कारों तथा बद्धमूल धारणाओं में इतना परिवर्तन नहीं आया था, जिससे कि वे मुसलमानों तथा ईसाइयों को सुगमता से आत्मसात् कर सकें। इसके लिए समय तथा निरन्तर प्रयत्न की अपेक्षा थी। पर यह स्पष्ट है कि शुद्धि द्वारा महर्षि ने हिन्दुओं के हाथों में एक ऐसा साधन प्रदान कर दिया है, जिसका उपयोग कर वे अपनी शक्ति में वृद्धि कर सकते हैं।

इक्कीसवाँ अध्याय

आर्यसमाज का संगठन और प्रचार

(१) आर्यसमाज का संगठन

क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम के समान आर्यसमाज कोई नया धार्मिक मत नहीं है, और न वह शैव, वैष्णव, शाक्त आदि के समान वैदिक धर्म का कोई सम्प्रदाय ही है। वह एक धार्मिक संगठन है, जिसकी स्थापना महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप को पुनः स्थापित करने के अपने कार्य को आगे बढ़ाने के लिए की थी। बुद्ध और वासुदेव कृष्ण सदृश धर्माचार्यों ने सनातन आर्य धर्म में उत्पन्न हुई विकृतियों का निराकरण करने के प्रयोजन से जिन आन्दोलनों का सूत्रपात किया था, बाद में उन्होंने नवीन मत-मतान्तरों का रूप प्राप्त कर लिया। बुद्ध के अनुयायी परम्परागत आर्य धर्म से दूर हटते गये, और उन द्वारा प्रतिपादित 'मध्यमा प्रतिपदा' व 'अष्टाङ्गिक आर्य मार्ग' एक नया धार्मिक सम्प्रदाय बन गया। वासुदेव कृष्ण के अनुयायी ईश्वर की सत्ता तथा वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते थे, पर उनकी पूजा-विधि में ऐसे नवीन तत्त्वों का समावेश हो गया जो वेद की शिक्षाओं के अनुरूप नहीं है, और इसीलिए भागवत वैष्णव धर्म की स्थिति एक पृथक् मत की हो गई। यही 'शैव भागवत' तथा अन्य वैदिक मतों के सम्बन्ध में भी हुआ। बुद्ध और कृष्ण के समान महर्षि दयानन्द सरस्वती ने परम्परागत सनातन आर्य धर्म में उत्पन्न हुई विकृतियों को दूर करने के साथ-साथ वैदिक धर्म के उस विशुद्ध स्वरूप को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया, जो इतिहास के वैदिक या आर्ष युग में आर्यावर्त में प्रचलित था। उन्होंने किसी नये मत व सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं किया। आर्यसमाज एक संस्था है, एक संगठन है, जिसका निर्माण किसी निश्चित उद्देश्य व प्रयोजन को सम्मुख रखकर किया गया था। लाहौर में निर्धारित आर्यसमाज के दस नियमों के अनुसार यह उद्देश्य संसार का उपकार करना है। आर्यसमाज का छठा नियम यह है—"संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" मनुष्यों की व्यक्तिगत तथा मानव समाज की सामूहिक उन्नति के प्रयोजन से ही महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की थी। बम्बई आर्यसमाज द्वारा निर्धारित नियमों में पहला नियम इस प्रकार था—"आर्यसमाज का सब मनुष्यों के हितार्थ होना आवश्यक है।" इसका भी वही अभिप्राय है, जो लाहौर में निर्धारित छठे नियम का है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि आर्यसमाज एक ऐसा संगठन है, जिसका निर्माण सम्पूर्ण संसार व मानव समाज के हित-कल्याण के

सम्पादन के प्रयोजन से किया गया है। उसका कार्यक्षेत्र किसी एक देश, एक जाति या एक जनसमुदाय तक सीमित नहीं है। वह एक सार्वदेशिक व सार्वभौम संस्था है, जिसे सब लोगों की उन्नति के लिए प्रयत्न करना है।

सम्भवतः, कोई ऐसा अन्य धार्मिक संगठन नहीं है, जिसके नियम इतने सुनिर्धारित हों, जैसे कि आर्यसमाज के हैं। आर्यसमाज के समान सुस्पष्ट लिखित संविधान शायद ही किसी अन्य धार्मिक संगठन का होगा। तथागत गौतम बुद्ध ने अपने मन्तव्यों का प्रचार करने तथा 'बहुजन के हित व सुख' के लिए संघ का निर्माण किया था। पर इस संघ में केवल स्थविर तथा भिक्षु ही होते थे, गृहस्थों को इसके सदस्य होने की अनुमति नहीं थी। बौद्ध गृहस्थ 'श्रावक' कहाते थे। भिक्षु संघ के स्थविरों के प्रवचन सुनने और चैत्यों आदि की पूजा के लिए वे संघारामों में अवश्य जाया करते थे, पर उनके संचालन, प्रबन्ध, व्यवस्था आदि में उनका कोई हाथ नहीं होता था। बौद्ध संघ की कार्यविधि सुनिश्चित रूप से निर्धारित थी। उसके संगठन के भी सुनिश्चित नियम थे। महात्मा बुद्ध का जन्म एक गणराज्य में हुआ था। गणों की कार्यविधि से वे भली भाँति परिचित थे। इसीलिए उन्होंने भिक्षु संघ के लिए भी उसी कार्यविधि को अपनाया था, जो गणराज्यों में प्रचलित थी। उन्होंने संघ के लिए सात अपरिहार्य धर्मों का विधान किया था—१. एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते रहना। २. एक हो बैठक करना, एक हो उत्थान करना, और एक हो संघ के सब कार्यों को सम्पादित करना। ३. जो संघ द्वारा विहित है, उसका कभी उल्लघंन न करना। जो संघ में विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करना। जो भिक्षुओं के पुराने नियम चले आ रहे हैं, उनका सदा पालन करना। ४. जो अपने में बड़े धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघ के पिता, संघ के नायक स्थविर भिक्षु हैं उनका सत्कार करना, उन्हें बड़ा मानकर उनका पूजन करना और उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझना। ५. पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश में न आना। ६. वन की कुटियों में निवास करना। ७. सदा यह स्मरण रखना कि भविष्य में केवल ब्रह्मचारी ही संघ में सम्मिलित हों और सम्मिलित हुए लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहें। ये सात अपरिहार्य धर्म बौद्ध भिक्षु संघ के स्वरूप को भली भाँति स्पष्ट कर देते हैं। उसमें केवल ऐसे पुरुष ही सम्मिलित हो सकते थे जो गृहस्थ न हों, जिनका जीवन अनुशासित हो और जो तृष्णा के वशीभूत न होकर तप का जीवन बिताने को उद्यत हों। बौद्ध संघ ऐसे व्यक्तियों का संगठन था, जो सांसारिक सुखों का परित्याग कर तप और साधना में तत्पर हों और बुद्ध के उपदेश के अनुसार बहुजन के हित व सुख के लिए प्रयत्न करें।

बौद्ध भिक्षुओं के रहन-सहन, और कार्य आदि के सम्बन्ध में नियम व व्यवस्थाएँ संघ सभा द्वारा निर्धारित की जाती थीं। संघ सभा में सब भिक्षु एकत्र होते थे, और उनके बैठने के लिए आसन नियत रहते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे 'आसनप्रज्ञापक' कहते थे। संघ में जिस विषय पर विचार होना होता था, उसे पहले प्रस्ताव के रूप में पेश किया जाता था। पर प्रस्ताव को उपस्थित करने से पूर्व उसकी सूचना देनी होती थी। इस सूचना को 'ज्ञप्ति' कहते थे। ज्ञप्ति (ज्ञापन) के बाद प्रस्ताव उपस्थित किया जाता था। बौद्ध साहित्य में प्रस्ताव के लिए प्रतिज्ञा शब्द प्रयुक्त किया गया है। जो प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) के पक्ष में होते थे, वे चुप रहते थे। जो विरोध में हों, अपना विरोध प्रकट करते थे। प्रस्ताव के उपस्थित किए जाने

पर यदि संघ चुप रहे, तो उसे तीन बार पेश किया जाता था। तीनों बार सब चुप रहें, तो प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकृत मान लिया जाता था। विरोध होने की दशा में बहुसम्मति द्वारा निर्णय की प्रथा थी। सम्मति लेने से पूर्व प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में भाषण होते थे। किसी प्रस्ताव पर संघ की क्या सम्मति है, यह जानने के लिए वोट लिए जाते थे। वोट के लिए बौद्ध साहित्य में 'छन्द' शब्द प्रयुक्त हुआ है और वोट के लिए प्रयुक्त होने वाली पर्चियों के लिए 'शलाका' शब्द। वोट लेने का कार्य जिस भिक्षु-कर्मचारी के सुपुर्द होता था, उसे 'शलाकाग्राहक' कहते थे। संघ में दिए गए भाषणों को लेखबद्ध करने के लिए लेखक भी हुआ करते थे। कोरम का नियम भी भिक्षु संघ में था। कम-से-कम तीन भिक्षुओं की उपस्थिति संघ के अधिवेशन के लिए आवश्यक मानी जाती थी। यदि कोरम न हो, तो 'गणपूरक' कर्मचारी का यह कर्तव्य था कि आवश्यक संख्या में भिक्षुओं को एकत्र करे, ताकि संघ की बैठक हो सके।

बौद्ध भिक्षु संघ की जिस कार्यविधि का ऊपर विवरण दिया गया है, उससे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि महात्मा बुद्ध द्वारा स्थापित धार्मिक संगठन लोकतन्त्रवाद के मन्तव्यों पर आधारित था। पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि बौद्ध संघ के सदस्य स्थविर और भिक्षु ही हो सकते थे। जिन्होंने भिक्षु व्रत ग्रहण न किया हो, उनके लिए संघ में कोई स्थान नहीं था। इस दशा में बौद्ध संघ एक वर्ग विशेष का संगठन था, बुद्ध की शिक्षाओं को मानने वाले सब लोगों का नहीं। साथ ही, संघ का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था, और स्थानीय संघों की सदस्यता भी सुनिश्चित नहीं होती थी। संघ की बैठक में कोई भी भिक्षु उपस्थित हो सकता था और उसकी कार्यवाही में भाग ले सकता था, चाहे वह कहीं का भी निवासी क्यों न हो। सारनाथ के संघ में पुरुषपुर, शाकल और श्रावस्ती के भिक्षु सम्मिलित हो सकते थे, ठीक उसी ढंग से जैसे कि सारनाथ के भिक्षु। बौद्धसंघ 'चातुर्दिश' कहाता था, क्योंकि चारों दिशाओं—सब स्थानों के भिक्षु उसमें भाग ले सकते थे। पर उसका कोई ऐसा केन्द्रीय संगठन नहीं था, जो स्थान-स्थान पर विद्यमान संगठनों को अनुशासित कर सके, उन पर नियन्त्रण रख सके और उन्हें तथागत बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टाँगिक आर्य मार्ग से विचलित न होने दे। इसी का यह परिणाम हुआ कि स्थान भेद से बौद्ध संघों के आचार-विचार आदि में भेद आता गया और बहुत से ऐसे समुदाय विकसित हो गए, जिनके न केवल आचार-विचार में ही, अपितु मन्तव्यों और पूजाविधि में भी बहुत भेद था। हीनयान और महायान बौद्धों के दो प्रमुख सम्प्रदाय थे, जिन दोनों की कितनी ही शाखाएँ थीं।

जैन धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर द्वारा जिस संगठन का निर्माण किया गया था, उसका स्वरूप प्रायः वही था जो बौद्ध संघ का था। बुद्ध के समान महावीर भी एक गणराज्य में उत्पन्न हुए थे, और गणों की कार्यविधि व परम्पराओं से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने मुनियों के संदोह या संघ का निर्माण किया और उस द्वारा उनकी शिक्षाओं का दूर-दूर तक प्रचार हुआ। पर जैन संघ में भी केवल मुनि ही सम्मिलित हो सकते थे। जनसाधारण या गृहस्थों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं था। बौद्ध संघ के समान उसका भी कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था।

बौद्ध धर्म के ह्रास और जैन धर्म की शक्ति के क्षीण होने पर जब वैदिक धर्म के शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों का विकास हुआ, तो इन सम्प्रदायों में भी अनेक संगठनों

का निर्माण हुआ। आदि-शंकराचार्य ने साधु-संन्यासियों के संगठन की उसी ढंग से स्थापना की, जैसे कि बौद्ध भिक्षुओं और जैन मुनियों के संघ थे। जैसे बौद्ध स्थविर और भिक्षु संघारामों में निवास करते थे, वैसे ही शंकराचार्य के अनुयायी दशनामी संन्यासी आश्रमों में निवास किया करते थे। विविध हिन्दू (आर्य) धर्माचार्यों ने भी अपने-अपने सम्प्रदायों के साधुओं के ऐसे ही संघ बनाए, जिन में जनसाधारण व गृहस्थों के लिए कोई स्थान नहीं था। वे श्रावकों, उपासकों व भक्तों की स्थिति में ही संन्यासी-महात्माओं के सम्पर्क में आते थे और उनके दर्शन कर व प्रवचन सुनकर ही धर्म का लाभ प्राप्त करते थे। साधु-संन्यासियों के कार्यकलाप व गतिविधि पर उनका किसी भी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं था। संन्यासियों के इन संगठनों का निर्माण मध्य युग में हुआ था। उस समय गणों की परम्परा का अन्त हो चुका था, और राज्यसंस्था में सामन्त-पद्धति का प्रमुख स्थान हो गया था। इस दशा में यह सम्भव नहीं था, कि संन्यासियों के संगठन गणों के सदृश हों। सामन्त पद्धति (Feudal System) पिरामिड के समान होती है। मध्य युग के संन्यासियों के संगठन भी पिरामिडों के सदृश थे, जिनमें एक महामण्डलेश्वर या महन्त-महान् के नियन्त्रण में बहुत-से छोटे-बड़े मठाधीश हुआ करते थे।

क्रिश्चियन धर्म का प्रारम्भ हुए दो हजार साल के लगभग समय हो चुका है। शुरू में इसका संगठन भी बौद्ध धर्म के सदृश था। क्रिश्चियन साधु (Monks) समूहों में संगठित होकर धर्म प्रचार का कार्य करते थे, और जन-साधारण को क्राइस्ट का अनुयायी बनाने का प्रयत्न करते थे। क्रिश्चियन धर्म का प्रादुर्भाव एक ऐसे प्रदेश में हुआ था, जो रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत था। रोमन लोग सम्राट् को दैवी मानते थे, और देवता के रूप में उसकी पूजा करते थे। क्रिश्चियन लोग क्राइस्ट को ईश्वर का पुत्र प्रतिपादित करते थे, और रोमन सम्राट् को देवता मानने के लिए उद्यत नहीं थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि उन पर घोर अत्याचार किए गए। क्राइस्ट को शूली पर चढ़ाया गया, और उसके अनुयायियों के लिए आत्मरक्षा कर सकना भी कठिन हो गया। इस दशा में क्रिश्चिएनिटी के धार्मिक संगठन का यही लक्ष्य रहा, कि उसके साधु या भिक्षु रोमन राजकर्मचारियों की क्रूर दृष्टि से बचने का प्रयत्न करते हुए अपने धर्म का प्रचार करते रहें। धीरे-धीरे क्रिश्चियन धर्म की उन्नति होती गई, और उसके साधुओं व स्थविरों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। चार सदी के लगभग समय में यह स्थिति आ गई, कि रोम के सम्राट् भी इस धर्म के अनुयायी हो गए और क्रिश्चिएनिटी ने रोमन साम्राज्य के राजधर्म की स्थिति प्राप्त कर ली। अब ईसाई साधु खुलकर मैदान में आ गये, और उनके प्रचारकों ने उन जातियों को भी अपने धर्म में दीक्षित करना प्रारम्भ कर दिया, जो उत्तर की ओर से आक्रमण कर रोमन साम्राज्य को तहस-नहस करने में तत्पर थीं। विदेशी आक्रमणों के कारण रोम की राजशक्ति में तो क्षीणता आ रही थी, पर क्रिश्चियन धर्म की शक्ति में निरन्तर वृद्धि हो रही थी, क्योंकि उसके अनुयायिओं की संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी।

यह स्थिति थी, जबकि क्रिश्चिएनिटी के संगठन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। रोम में चर्च की स्थापना क्राइस्ट के अन्यतम शिष्य सेण्ट पीटर द्वारा की गई थी। चिर काल से रोमन साम्राज्य का केन्द्र रोम नगर रहा था, अतः उसका महत्त्व बहुत अधिक था। यह स्वाभाविक था, कि रोम में स्थापित चर्च का भी क्रिश्चियन लोगों की दृष्टि में

विशेष महत्त्व हो। बाइबल में भी कुछ ऐसे सन्दर्भ व संकेत विद्यमान हैं, जिनके कारण सेण्ट पीटर का क्रिश्चियन जगत् में विशेष सम्मान था। इस दशा में यदि सेण्ट पीटर द्वारा स्थापित रोम के चर्च तथा उसके प्रमुख धर्माचार्य (जिसे पोप कहा जाता था) का क्रिश्चियन लोगों पर विशेष प्रभाव स्थापित हो गया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। जब क्रिश्चिएनिटी ने रोमन साम्राज्य के राजधर्म की स्थिति प्राप्त कर ली, तो रोम के सम्राट् के समान वहाँ के क्रिश्चियन धर्माचार्य (पोप) की शक्ति भी बहुत बढ़ गई, और उसे सब क्रिश्चियन अपना धर्मगुरु मानने लगे। रोम के पोप की शक्ति तथा महत्त्व की वृद्धि में एक अन्य बात भी सहायक हुई। हूणों के आक्रमणों के कारण जब इटली सुरक्षित नहीं रह गया, तब रोमन साम्राज्य की राजधानी को पूर्व में बाइजेण्टियम (कान्स्टेण्टिनोपल) ले जाया गया, और रोमन सम्राट् वहीं से अपने विशाल साम्राज्य का शासन करने लगे। पर साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेशों पर सुदृढ़ रूप से शासन कर सकना उनके लिए सुगम नहीं था। हूणों के आक्रमण उन पर निरन्तर हो रहे थे, और एक प्रकार की अराजकता वहाँ उत्पन्न हो गई थी। बहुत-से छोटे-बड़े राजा वहाँ शासन करने लग गये थे। नाम को ये बाइजेण्टियम के रोमन सम्राट् के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे, पर क्रियात्मक दृष्टि से इनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओं की थी। राजनीतिक एकता के अभाव के इस काल में क्रिश्चिएनिटी द्वारा एक प्रकार की एकता उत्पन्न की जा रही थी, क्योंकि रोमन साम्राज्य के सब निवासी इस समय तक क्राइस्ट के अनुयायी हो चुके थे, और आक्रान्ता जातियों ने भी इस धर्म को स्वीकार कर लिया था। क्रिश्चियन होने के कारण सब कोई रोम के पोप को अपना धार्मिक नेता मानते थे, और उसके आदेशों का प्रसन्नतापूर्वक पालन करते थे। अव्यवस्था और अराजकता के इस काल में क्रिश्चियन चर्च के रूप में एक ऐसे संगठन की सत्ता थी, जो रोमन सम्राट् की प्रजा को एक सूत्र में बाँधे रखने में समर्थ थी। पर क्रिश्चियन चर्च का संगठन लोकतन्त्रवाद के अनुसार नहीं था। बौद्ध संघ से वह बहुत भिन्न था। उसका निर्माण ऐसी परिस्थितियों में हुआ था, जब कि पाश्चात्य जगत् में सामन्त पद्धति पर आधारित एकतन्त्र व निरंकुश शासनों का विकास हो रहा था। उस युग के राजा एकतन्त्र व निरंकुश होते थे, और उनकी शक्ति सामन्त वर्ग पर आश्रित रहती थी। सामन्तों के अनुकूल व वशवर्ती रहने पर ही वे अपनी सत्ता कायम रख सकते थे। रोमन साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेशों में जिन अनेक प्रतापी राजाओं ने अपने पृथक् राज्य स्थापित कर लिये थे, वे उसी समय तक सुरक्षित रह सकते थे, जब तक कि अपने सामन्तों को वे वश में रख सकें। इसके लिए पोप का समर्थन व साहाय्य उनके लिए अत्यन्त उपयोगी था। रोमन सम्राट् को अपना अधिपति मानते हुए भी पोप के आशीर्वाद का उनके लिए बहुत महत्त्व था, क्योंकि इससे उन्हें एक प्रभावशाली व प्रतापी धर्मगुरु द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाती थी। फिर एक समय ऐसा भी आया, जब पश्चिमी प्रदेश रोमन सम्राटों की अधीनता में नहीं रह गए, और वहाँ के विविध राजा स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने राज्यों में शासन करने लगे। इन राजाओं में निरन्तर युद्ध होते रहते थे, और सबका यह प्रयत्न रहता था कि अन्य राजाओं को जीतकर अपने अधीन कर लें। रोमन साम्राज्य की स्मृति अभी नष्ट नहीं हुई थी। पश्चिमी यूरोप के सभी प्रतापी राजाओं की यह आकांक्षा रहती थी, कि वे अपनी शक्ति में वृद्धि कर वह स्थिति प्राप्त कर लें, जो पहले रोमन सम्राटों की होती थी। शार्लमेगन

(महान् चार्ल्स) नाम के राजा की यह आकांक्षा पूर्ण हुई, और वह यूरोप के बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकने में सफल हुआ। उसने यह भी प्रयत्न किया कि पुराने सम्राटों की परिपाटी का अनुसरण कर रोम में अपना राज्याभिषेक कराए। वह क्रिश्चिएनिटी का अनुयायी था, और रोम के पोप को अपना धर्मगुरु मानता था। उसने रोम आ कर पोप द्वारा अपना राज्याभिषेक कराया, और पवित्र रोमन सम्राट् (Holy Roman Emperor) का पद प्राप्त किया। इस समय से पोपों के प्रभाव व शक्ति में और भी अधिक वृद्धि हो गई, और पाश्चात्य संसार की राजनीति का संचालन भी उन द्वारा किया जाने लगा। मध्य काल में पोप इस स्थिति में थे, कि राजाओं को भी अपने आदेशों का पालन करने के लिए विवश कर सकते थे। अब रोम के पोप की यह स्थिति नहीं रह गई है, पर एक ऐसा छोटा-सा राज्य है, जिसके वे सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राजा होते हैं। यह राज्य 'वेटिकन' कहाता है। पोप जहाँ सार्वभौम रोमन कैथोलिक चर्च के सर्वोपरि धर्मगुरु हैं, वहाँ साथ ही वेटिकन के राजा भी हैं। पोप की अधीनता में विद्यमान रोमन कैथोलिक चर्च लोकतन्त्रवाद पर आधारित नहीं है। उसके संचालन व व्यवस्था में क्रिश्चियन जनता का कोई हाथ नहीं होता। यह सही है कि पोप का पद वंशक्रमानुगत नहीं है, और उसकी नियुक्ति चुनाव से होती है। पर चुनाव में चर्च के कतिपय बड़े-बड़े पदाधिकारी ही भाग ले सकते हैं। सोलहवीं सदी में यूरोप में धार्मिक सुधारणा (Reformation) के आन्दोलनों के परिणामस्वरूप जो अनेक प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय विकसित हुए, उनके संगठन अधिक लोकतान्त्रिक हैं, पर उनका संचालन भी सर्व-साधारण जनता के हाथों में नहीं है।

विश्व का एक अन्य प्रमुख धर्म इस्लाम है, जिसका प्रादुर्भाव सातवीं सदी में हुआ था। उसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद थे, जो अपने जीवनकाल में उसके सर्वप्रधान गुरु व नेता रहे। उनकी मृत्यु के पश्चात् इस्लाम के जो तीन धर्मगुरु व खलीफा बने, उनकी नियुक्ति मुसलमानों की आम सहमति द्वारा हुई थी। उस समय मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी, और वे प्रधानतया मदीना में केन्द्रित थे। उनके लिए यह सम्भव था, कि परस्पर मिलकर सबकी सहमति से अपने नेता व गुरु को चुन सकें। उस समय मुसलमान अपने विरोधियों से संघर्ष में तत्पर थे, और अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए समीप के प्रदेशों पर आक्रमण भी कर रहे थे। तब उनके पास न सांसारिक वैभव था, और न धन-सम्पत्ति। अपने धर्म पर अगाध आस्था और उसके लिए मर मिटने तथा तन, मन, धन अर्पित कर देने की आकांक्षा ही उनकी सबसे बड़ी शक्ति थी। इस दशा में मुसलमानों के लिए यह कठिन नहीं था, कि किसी सुयोग्य व कुशल व्यक्ति को अपना खलीफा बनाने के लिए सहमत हो सकें। पर कुछ समय बाद ही इस दशा में परिवर्तन आ गया। हजरत अली के खलीफा बनने के प्रश्न पर मुसलमानों में मतभेद उत्पन्न हो गया, और इस मतभेद ने हिंसात्मक संघर्ष का रूप प्राप्त कर लिया। परिणाम यह हुआ, कि खलीफा की नियुक्ति में 'सहमति' के तत्त्व का अन्त हो गया, और उसका स्थान षड्यन्त्रों और युद्धों ने ले लिया। खलीफा जहाँ मुसलमानों का धर्मगुरु होता था, वहाँ साथ ही अरब साम्राज्य का राजा व अधिपति भी वही होता था। ज्यों-ज्यों अरब साम्राज्य का क्षेत्र विस्तृत होता गया, खलीफाओं की शक्ति में भी वृद्धि होती गयी। वे उसी स्थिति को प्राप्त हो गए, जिसमें पहले रोम के सम्राट् होते थे। अरब का साम्राज्य

पश्चिम में स्पेन से लगाकर पूर्व में सिन्ध तक और उत्तर में ईरान से भी आगे मध्य एशिया तक विस्तृत था। इस विशाल साम्राज्य के अधिपति खलीफा के पद के लिए यदि सशस्त्र संघर्ष होने लगें, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। वह एकतन्त्र निरंकुश शासनों का युग था, और राजा का पद भी वंशक्रमानुगत हुआ करता था। खलीफा भी वंशक्रमानुगत होने लगे, और अरबों के विविध कुल खलीफत को अपने वंश में स्थिर करने के लिए संघर्ष व युद्धों में तत्पर हो गए। इसी संघर्ष के परिणामस्वरूप खलीफत की राजधानी पहले मदीना से हट कर दमिश्क (दमास्कस) हुई, और फिर बगदाद। तुर्कों के आक्रमणों के कारण जब विशाल अरब साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और उसके उत्तरी प्रदेशों में अनेक तुर्क राज्य स्थापित हो गये, तो मुस्लिम राजशक्ति अरबों के हाथों से निकल कर तुर्कों के पास चली गई, और तुर्कों के शक्तिशाली राजाओं ने (जिन्होंने अरब को भी जीतकर अपने अधीन कर लिया था) खलीफा का पद प्राप्त कर लिया। सन् १९१४-१८ के महायुद्ध तक तुर्की के सुलतान को ही मुस्लिम जगत् का खलीफा भी माना जाता रहा। पर जब तुर्की में राजतन्त्र शासन का अन्त होकर गणराज्य की स्थापना हो गई, तो खलीफा का स्वयमेव अन्त हो गया, और अब कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रह गया है, जो सम्पूर्ण मुस्लिम संसार का अधिपति व धर्मगुरु हो। पर यह स्पष्ट है, कि अबसे कुछ ही समय पहले तक इस्लाम का संगठन एकतन्त्र था, और मुसलमानों का सर्वोच्च धर्मगुरु एक ऐसा व्यक्ति होता था, जिसके खलीफा के पद पर नियुक्ति में उनका कोई भी हाथ नहीं था। इस धर्मगुरु द्वारा समय-समय पर जो फतवे जारी किये जाते थे, उन्हें मानना सब मुसलमानों के लिए अनिवार्य होता था।

विश्व के प्रमुख धार्मिक सम्प्रदायों के संगठनों का जो उल्लेख ऊपर किया गया है, उसका प्रयोजन यह है कि आर्यसमाज से संगठन से उनकी तुलना की जा सके। क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम के संगठनों में लोकतान्त्रिक तत्त्व का अभाव है। उनके धर्म-गुरुओं की नियुक्ति में जनता का कोई हाथ नहीं है, और सर्वसाधारण लोग उनके कार्यकलाप व गतिविधि पर कोई नियन्त्रण भी नहीं रखते। बौद्ध संघ के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। यह सही है, कि भिक्षुसंघ का कार्य गणराज्यों की पद्धति के अनुसार होता था, पर जनसाधारण का उस पर कोई नियन्त्रण नहीं था। जो व्यक्ति काषाय वस्त्र पहन कर प्रव्रज्या ले भिक्षु या भिक्षुणी बन जाते, संघ का संचालन उन्हीं के हाथों में आ जाता और वे ही बहुसम्मति से सब बातों का निर्णय किया करते। प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए न आयु की कोई मर्यादा थी और न विद्या की। गृहस्थ लोग श्रद्धा के साथ संघ को दान-दक्षिणा प्रदान किया करते थे, पर इस ढंग से दी गई अपार सम्पत्ति पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं होता था। संघ के स्थविर और भिक्षु उसको अपनी इच्छा से जैसे चाहें व्यय कर सकते थे। पर आर्यसमाज किसी वर्ग विशेष का संगठन नहीं है। आर्यसमाज में साधु-संन्यासी भी हैं, विद्वान् उपदेशक और पुरोहित भी हैं। पर बौद्ध संघ और जैनों के मुनिसंदोह के समान आर्यसमाज केवल साधु-संन्यासियों व प्रचारकों का ही संगठन नहीं है। आर्यसमाज के दस नियमों को जो स्वीकार करें और महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के मन्तव्यों के अनुसार जीवन बिताने का जिनका प्रयत्न हो, ऐसे सब व्यक्ति, स्त्री और पुरुष, आर्यसमाज के सभासद् बन सकते हैं। आर्य सभासद् के रूप में अपने अधिकारों के प्रयोग के लिए यह

भी आवश्यक है, कि वे अपनी आय का शतांश या अधिक आर्यसमाज को दिया करें। महर्षि के जीवनकाल में जब आर्यसमाजों की स्थापना प्रारम्भ ही हुई थी, आर्य सभासद् बनने के इच्छुक व्यक्ति को जिस अभिलाष-पत्र या प्रवेश-पत्र को हस्ताक्षर के साथ भरकर देना होता था, उसमें वह अपना नाम, अपने पिता का नाम, निवासस्थान, आयु, शिक्षा, सपत्नीक या एकाकी, सन्तान, जाति (गोत्र आदि सहित), जीविका और वार्षिक चन्दा आदि का उल्लेख करता था, और आर्यसमाज के उद्देश्यों के अनुकूल आचरण करना स्वीकार करता था। आर्य सभासद् बनने का इच्छुक व्यक्ति जिस प्रवेश-पत्र पर हस्ताक्षर करता था, उसमें निम्नलिखित पंक्तियाँ रखी गई थीं—"मैं प्रसन्नतापूर्वक आर्यसमाज के उद्देश्यों के (जैसा कि नियमों में वर्णन किये गये हैं) अनुकूल आचरण स्वीकार करता हूँ। मेरा नाम आर्य समाज में लिख लें।" इससे स्पष्ट है, कि कोई भी व्यक्ति, जो आर्यसमाज के दस नियमों के अनुकूल आचरण करने को उद्यत हो, समाज का सभासद् बन सकता था, बशर्ते कि अपनी आय का शतांश भी वह समाज की निधि में प्रदान करता रहे। बाद में प्रवेश-पत्र में कुछ संशोधन इस प्रयोजन से किये गये, ताकि आर्य सभासद् बनने के लिए उन मन्तव्यों को मानना भी आवश्यक हो, जो वेदों के आधार पर ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में लिखे गये हैं। यह सही है, कि वर्तमान समय में आर्यसमाज का सभासद् बनने के लिए यह आवश्यक है कि सभासद् न केवल आर्यसमाज के उद्देश्यों के अनुकूल आचरण ही स्वीकार करे, अपितु उन मन्तव्यों तथा सिद्धान्तों को भी माने, जिनका प्रतिपादन महर्षि ने वेदों के आधार पर अपने ग्रन्थों में किया है। पर इन दो बातों को स्वीकार करने वाले तथा अपनी आय का शतांश समाज के लिए प्रदान करने वाले सब स्त्री-पुरुष आर्यसमाज के सभासद् बन सकते हैं, चाहे वे गृहस्थ हों या वानप्रस्थ व संन्यासी हों, और चाहे वे किसी भी वर्ण या जाति के हों, और चाहे वे धनपति व उद्योगपति हों या किसान व मजदूर हों। शर्त केवल यह है कि उनका आचरण आर्यसमाज के नियमों के अनुकूल हो, और महर्षि द्वारा प्रतिपादित मन्तव्य व सिद्धान्त उन्हें स्वीकार्य हों। इस कारण आर्यसमाज की सदस्यता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो जाता है। बौद्ध और जैन संघों के समान वह केवल भिक्षुओं और मुनियों तक ही सीमित नहीं रहता। आर्यसमाज में सब सभासदों की स्थिति एक समान मानी जाती है। पदाधिकारियों का चुनाव सब सभासदों के वोटों द्वारा किया जाता है, और कार्यकलाप, गतिविधि आदि के सम्बन्ध में भी सब निर्णय सभासद् ही करते हैं। इस दृष्टि से यह अन्य सभी धार्मिक संगठनों से भिन्न है। बौद्ध भिक्षुओं, जैन मुनियों, ईसाई मिशनरियों व साधुओं (Monks), दशनामी संन्यासियों, उदासी व वैरागी साधुओं, नाथपन्थी योगियों और मुसलिम मौलवियों व पीरों के समान आर्यसमाज में भी साधु-संन्यासी, उपदेशक, पुरोहित और प्रचारक हैं। पर वे सब एक ऐसे संगठन के अनुशासन व नियन्त्रण में हैं, जिसमें सभी आश्रमों, वर्णों तथा जातियों के वयस्क स्त्री-पुरुष सभासद् रूप से सम्मिलित हो सकते हैं। आर्यसमाज की यह एक ऐसी विशेषता है, जो किसी भी अन्य धार्मिक संगठन में नहीं है। इसके कारण आर्यसमाज में पुरोहितों व साधु-संन्यासियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न ही नहीं हो सकता, जो अपनी स्थिति के आधार पर समाज का नेतृत्व प्राप्त कर ले। इस वर्ग के व्यक्ति अपनी विद्वत्ता, सदाचारमय जीवन, त्याग, तपस्या और सेवाभाव के आधार पर ही समाज में उच्च स्थिति प्राप्त कर सकते हैं।

उन्हें कोई ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हैं, जो दूसरों को न हों। यथार्थ बात तो यह है, कि आर्यसमाज में पुरोहित, उपदेशक व प्रचारक आदि के कार्य किसी भी ऐसे व्यक्ति द्वारा सम्पादित किये जा सकते हैं, जिसमें इन कार्यों को करने की योग्यता हो। जिन्हें शूद्र या हरिजन समझा जाता है, उन कुलों के लोग भी शिक्षा प्राप्त कर आर्यसमाज में पुरोहित आदि के कार्य कर सकते हैं। आर्यसमाज का संचालन आर्य सभासदों द्वारा किया जाता है, चाहे वे किसी भी जाति या कुल के हों। जिसे पुरोहित वर्ग (Priestly Class) कहा जाता है, आर्यसमाज में उसकी सत्ता है ही नहीं। यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों को कोई भी व्यक्ति सम्पादित करा सकता है, यदि उसमें उपयुक्त योग्यता हो।

लोकतन्त्रवाद पर आधारित होना आर्यसमाज के संगठन की एक अन्य अनुपम विशेषता है। इतिहास में लोकतन्त्र शासन बहुत पुराने नहीं हैं। बहुत पुराने काल में ऐसे गणराज्यों की सत्ता अवश्य थी, जिनमें राजकीय नीति का निर्धारण एवं शासन शक्ति का प्रयोग गणसभाओं द्वारा किया जाता था। पर गणराज्य बहुत छोटे-छोटे होते थे, और उनके नागरिकों के लिए गणसभा में एकत्र हो सकना कठिन नहीं होता था। उनमें जनता का प्रत्यक्ष शासन था, प्रतिनिधि चुनने की प्रथा उनमें नहीं थी। इसीलिए वर्तमान युग की संसदों के समान प्रतिनिधि सभाओं का उनमें अभाव था। विशाल साम्राज्यों के निर्माण और सामन्त-पद्धति के युगों में लोकतन्त्र शासनों का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में यूरोप में लोकतन्त्रवाद का सूत्रपात हुआ, और पाश्चात्य देशों में जनता के शासन स्थापित होने में एक सदी से भी अधिक समय लग गया। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस समय सन् १८७५ में पहले-पहल आर्यसमाज की स्थापना की, और बम्बई में उसके लिए नियमों का निर्माण किया गया, तो भारत की तो बात ही क्या, यूरोप में भी लोकतन्त्रवाद शैशव दशा में था। वहाँ के बहुसंख्यक राज्यों में वंशक्रमानुगत राजाओं के एकतन्त्र व निरंकुश शासन विद्यमान थे। सम्पूर्ण यूरोप में केवल दो राज्य (स्विट्जरलैण्ड और फ्रांस) ही ऐसे थे, जिनमें वंशक्रमानुगत राजा न होकर राष्ट्रपतियों की सत्ता थी। इनमें भी फ्रांस में वंशक्रमानुगत राजाओं के शासन का अन्त हुए चार वर्ष से भी कम समय हुआ था। ग्रेट ब्रिटेन में पार्लियामेण्ट की सत्ता अवश्य थी, पर उसके एक सदन में तो केवल वंशक्रमानुगत या राजा की कृपा से बनाए गए लार्ड ही सदस्य होते थे। यद्यपि दूसरे सदन (हाउस आफ कामन्स) के सदस्य निर्वाचित हुआ करते थे, पर वे जनता के एक बहुत छोटे भाग का ही प्रतिनिधित्व करते थे, क्योंकि उस समय ब्रिटेन में वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को प्राप्त था। स्त्रियों को वोट का अधिकार तो उस समय था ही नहीं। भारत में अभी लोकतन्त्र संस्थाओं का सूत्रपात भी नहीं हुआ था। प्रान्तों तथा केन्द्र में सभाएँ अवश्य थीं, पर उनके सदस्य मनोनीत होते थे, निर्वाचित नहीं। स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में भी जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की नियुक्ति का क्रम तब तक प्रारम्भ नहीं हुआ था। ऐसी दशा में महर्षि दयानन्द सरस्वती की सहमति एवं निदेशन में आर्यसमाज के जिन नियमों का निर्माण किया गया, उनमें लोकतन्त्रवाद को पूर्णरूप से अपनाया गया था और उसी के अनुसार समाज के संचालन की व्यवस्था की गई थी।

बम्बई में निर्धारित नियमों द्वारा आर्यसमाज के संगठन का स्वरूप भली भाँति स्पष्ट नहीं था। प्रधान, मन्त्री आदि समाज के पदाधिकारी किस प्रकार और कितने समय

के लिए नियुक्त किए जाएँ, यह उनमें स्पष्टतया प्रतिपादित नहीं था। दो वर्ष पश्चात् सन् १८७७ में आर्यसमाज के जिन नियमों और उपनियमों का लाहौर में निर्माण हुआ, उनसे समाज के लोकतान्त्रिक शासन को स्पष्ट रूप प्राप्त हो गया। लाहौर में निर्धारित उप-नियमों के अनुसार आर्यसमाज के पदाधिकारियों (प्रधान, उपप्रधान, मन्त्री, कोषाध्यक्ष तथा पुस्तकाध्यक्ष और आवश्यकतानुसार उपमन्त्री, उपकोषाध्यक्ष तथा उपपुस्तकाध्यक्ष) और अन्तरंग सभा के सदस्यों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा करने की व्यवस्था की गई। लाहौर में आर्यसमाज के जो उपनियम बनाए गए, वे संविधान के सदृश हैं। उनके अनुसार आर्यसमाज के सब कार्य आर्य सभासदों की बहुसम्मति द्वारा निर्धारित किए जाने चाहिएँ, और पदाधिकारियों तथा अन्तरंग सभा के सदस्यों का चुनाव प्रतिवर्ष समाज के वार्षिक अधिवेशन में किया जाना चाहिए। पदाधिकारियों पर नियन्त्रण रखने के लिए भी अनेक व्यवस्थाएँ इन उपनियमों में की गई हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि जिस ढंग का आर्यसमाज का संविधान लाहौर में सन् १८७७ में स्वीकृत किया गया था, वह केवल धार्मिक संगठनों के लिए ही नया नहीं था, पर राज्य-संस्था के लिए भी उसे नवीन कहा जा सकता है, विशेषतया भारत की राज्य-संस्था के लिए जहाँ अंग्रेजों का निरंकुश शासन विद्यमान था।

बम्बई और लाहौर में आर्यसमाज के संगठन का जो स्वरूप निर्धारित किया गया, वह स्थानीय आर्यसमाजों के लिए था। किसी बड़े क्षेत्र (जिला, प्रान्त, देश या विश्व) के लिए आर्यसमाज के संगठन का क्या रूप हो, इस विषय में कोई व्यवस्था सन् १८७५ और १८७७ में नहीं की गई थी। बम्बई में निर्धारित नियमों में एक 'प्रधान' समाज के स्थापित किए जाने की व्यवस्था अवश्य की गई थी, जो इस प्रकार थी— "इस समाज में प्रति देश मध्य (में) एक प्रधान समाज होगा और दूसरी शाखाएँ होंगी (नियम ३)। प्रधान समाज के अनुकूल और सब समाजों की व्यवस्था रहेगी (नियम ४)। प्रधान समाज में वेदोक्त अनुकूल संस्कृत और आर्यभाषा में सत्योपदेश के लिए नाना प्रकार के पुस्तक रहेंगे और एक 'आर्य प्रकाश' पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाज में प्रवृत्त किए जाएँगे (नियम ५)।" इन नियमों से स्पष्ट है कि आर्यसमाज की स्थापना के समय से ही यह विचार विद्यमान था, कि जहाँ एक ओर सब नगरों और ग्रामों में स्थानीय आर्यसमाज स्थापित किए जाएँ, वहाँ साथ ही प्रत्येक देश व प्रदेश में एक-एक प्रधान समाज भी हो। इस प्रधान समाज का मुख्य प्रयोजन अपनी शाखा-प्रशाखाओं (स्थानीय आर्यसमाजों) का मार्ग प्रदर्शित करना हो, और इसी निमित्त उस द्वारा एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया जाया करे। महर्षि के जीवनकाल में इस विचार को क्रियान्वित नहीं किया जा सका। पर उनके देहावसान के पश्चात् सितम्बर, १८८४ में बम्बई आर्यसमाज के उपप्रधान श्री सेवकलाल कृष्णदास ने भारत भर के आर्यसमाजों को पत्र भेजकर उन्हें सम्पूर्ण देश का एक 'प्रधान समाज' बनाने के लिए प्रेरित किया। शीघ्र ही, प्रधान समाज के निर्माण के आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया, जिसके परिणामस्वरूप सबसे पूर्व पंजाब के आर्यसमाजों ने अपना केन्द्रीय संगठन (आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब) बनाया (सन् १८८५), और कुछ समय बाद पश्चिमोत्तर प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के आर्य समाजों ने। धीरे-धीरे अन्य प्रदेशों में भी आर्य प्रतिनिधि सभाओं का गठन होता गया। कुछ वर्ष पश्चात् देश भर की प्रतिनिधि सभाओं का एक केन्द्रीय संगठन 'सार्वदेशिक सभा' के नाम से बनाया गया (३१ अगस्त, १९०९)। भारत से बाहर मारीशिस, फिजी, अफ्रीका

आदि में भी ज्यों-ज्यों आर्यसमाजों की स्थापना होती गई, सार्वदेशिक सभा का क्षेत्र भी अधिक-अधिक विस्तृत होता गया, और अब वह समय आ चुका है, जबकि इस सभा ने विश्व भर के आर्यसमाजों के सार्वभौम शिरोमणि संगठन का रूप प्राप्त कर लिया है।

'प्रधान आर्यसमाज' के विचार को सम्मुख रखकर किस प्रकार विविध क्षेत्रों, प्रदेशों और देशों में आर्य उपप्रतिनिधि सभाओं, प्रतिनिधि सभाओं और सबसे ऊपर सार्वदेशिक सभा के संगठन बने, इस विषय पर इस इतिहास के द्वितीय भाग में विशद रूप से प्रकाश डाला जाएगा। यहाँ इन संगठनों का उल्लेख केवल इस प्रयोजन से किया गया है, जिससे कि आर्यसमाज के संगठन के लोकतान्त्रिक स्वरूप को प्रतिपादित किया जा सके। प्रत्येक आर्यसमाज का संगठन तो लोकतन्त्रवाद पर आधारित था ही, क्योंकि उसके पदाधिकारियों की नियुक्ति चुनाव द्वारा की जाती थी और समाज के कार्यकलाप सम्बन्धी सब निर्णय भी सभासदों की सम्मति लेकर (बहुमत के अनुसार) किए जाते थे। पर जब प्रधान समाज के रूप में केन्द्रीय आर्य संगठनों का निर्माण शुरू हुआ, तो उनके लिए भी मतदान, निर्वाचन तथा प्रतिनिधित्व का आश्रय लिया गया। महर्षि के देहावसान के कुछ ही समय पश्चात् जब पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन किया गया, तो उसमें पंजाब के सोलह आर्यसमाजों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे, और उन्होंने अन्तरंग सभा के पन्द्रह सदस्यों का चुनाव किया था। बाद में आर्यसमाजों और उसके सभासदों की संख्या बढ़ जाने पर यह व्यवस्था करने की आवश्यकता हुई, कि किस समाज से कितने प्रतिनिधि आर्य प्रतिनिधि सभा में लिये जाएँ, और प्रतिनिधियों को किस ढंग से निर्वाचित किया जाया करे। आर्य प्रतिनिधि सभाओं की कार्यविधि आदि के सम्बन्ध में भी नियमों का निर्माण किया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि ये नियम अविकल रूप से लोकतन्त्रवाद पर आधारित हैं। ध्यान देने योग्य महत्त्व की बात यह है कि उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही आर्यसमाज ने अपने स्थानीय एवं केन्द्रीय संगठनों के लिए ऐसी ही नियमावली या संविधान का निर्माण कर लिया था, जो पूर्णतया लोकतान्त्रिक था, और यह कार्य उसने उस समय सम्पादित किया था, जबकि भारत की शासन-संस्थाओं पर लोकतन्त्रवाद का कोई भी प्रभाव नहीं था।

लोकतान्त्रिक संगठन दो प्रकार के हो सकते हैं, एक तो वे जिनमें शक्ति का स्रोत नीचे से ऊपर की ओर बहता हो, और दूसरे वे जिनमें शक्ति केन्द्र में निहित रहे और केन्द्र द्वारा उसे नीचे की ओर प्रसारित किया जाए। आर्यसमाज का संगठन पहले प्रकार का है। शक्ति के वास्तविक स्रोत वे आर्यसमाज हैं, जो महानगरों, नगरों, कसबों और गाँवों में स्थापित हैं। उनके सभासद् समाज के साप्ताहिक व विशेष अधिवेशनों में उपस्थित होकर समाज के उद्देश्यों की पूर्ति के साधनों व उपायों का निर्धारण करते हैं, अपने पदाधिकारियों को चुनते हैं, और प्रतिनिधि सभा के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। प्रतिनिधि सभा इन स्थानीय समाजों से ही शक्ति प्राप्त करती है। प्रतिनिधि सभा तथा सार्वदेशिक सभा का संचालन व नेतृत्व किन व्यक्तियों के हाथों में रहे, इसका निर्णय भी स्थानीय समाजों द्वारा ही परोक्ष रूप से किया जाता है। पर स्थानीय समाजें भी पूर्णतया स्वाधीन नहीं हैं। प्रतिनिधि सभा व सार्वदेशिक सभा का नियन्त्रण उन पर विद्यमान है, और उन्हें उन नियमों के अधीन रहना पड़ता है, जिनका निर्माण केन्द्रीय आर्य संगठनों द्वारा किया गया हो। केन्द्र का यह अनुशासन एकतन्त्र व निरंकुश

नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिनिधि सभाओं के चुनाव तीन-तीन वर्ष बाद होते रहते हैं, और उनके सदस्य ऐसे ही व्यक्ति चुने जा सकते हैं जिन्हें आर्य सभासदों का समर्थन प्राप्त हो।

प्रतिनिधि सभाओं के चुनाव के लिए आर्यसमाज द्वारा जो पद्धति अपनायी गई है, वह आदर्श है। उनके सदस्यों का निर्वाचन आर्य सभासदों द्वारा किया जाता है। समाज के सभासदों की संख्या के अनुसार जब यह तय हो जाए कि किस समाज को कितने प्रतिनिधि चुनने हैं, तो सभासद् वोट देकर अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। इस पद्धति के कारण प्रतिनिधि सभा के सदस्य आर्यों के लोकमत का सही-सही प्रतिनिधित्व कर पाते हैं। सार्वदेशिक सभा के सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय या प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाओं द्वारा किया जाता है। इसके सदस्य भी आर्य जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि उनका चुनाव प्रतिनिधि सभा के वे सदस्य करते हैं, जो स्वयं निर्वाचित होते हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि आर्य सभासद् बनने के लिए न धनी होना आवश्यक है, और न उच्चकोटि का विद्वान्। निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति आर्यसमाज का सभासद् बन सकता है, क्योंकि सभासद् बनने के लिए उसे आमदनी का शतांश ही चन्दे के रूप में देना होगा। जो मजदूर सौ रुपए मासिक कमाता है, समाज का सभासद् बनने के लिए उसे केवल एक रुपया मासिक चन्दा देना होगा। लाखों की आमदनी वाले धन-पतियों को आर्य सभासद् बनने के लिए हजारों रुपया प्रतिमास आर्यसमाज को देना होगा। धनियों की तुलना में निर्धनों की संख्या अधिक होती है, और धनी व निर्धन सब आर्य सभासदों के वोट का मूल्य एक समान है। इस दशा में धनी व्यक्ति आर्यसमाज का नेतृत्व तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब निर्धन आर्य सभासदों का विश्वास उन्हें प्राप्त हो। आर्य-समाज के संगठन में सब (धनी व निर्धन) को वोट का अधिकार उस समय दिया गया था, जबकि ग्रेट-ब्रिटेन तक में हाउस आफ कामन्स के निर्वाचक होने के लिए सम्पत्ति की शर्त विद्यमान थी, और निर्धन लोगों को वहाँ वोट का अधिकार प्राप्त नहीं था। स्त्रियों को तो तब यह अधिकार था ही नहीं।

आर्यसमाज के संगठन में गुरुओं के लिए कोई स्थान नहीं है। विद्वानों और संन्यासियों को समाज द्वारा सम्मान अवश्य दिया जाता है, उनके प्रवचनों तथा उपदेशों को महत्त्व भी सब आर्य देते हैं। पर समाज के संगठन में उन्हें कोई विशेषाधिकार व विशिष्ट स्थिति प्राप्त नहीं है। बम्बई में जब सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना हुई, तो कतिपय सज्जनों ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा था, कि वे आर्य-समाज के अधिनायक व अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लें। पर वे इससे सहमत नहीं हुए। लोगों के बहुत कहने पर उन्होंने अन्य सभासदों के समान बम्बई आर्यसमाज का एक साधारण सभासद् बनना स्वीकार कर लिया और अन्य सभासदों की भाँति वे भी चन्दा देते रहे। सन् १८७७ में जब लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई, तो वहाँ भी यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि महर्षि को लाहौर आर्यसमाज के संरक्षक का पद प्रदान किया जाए। पर वे इससे सहमत नहीं हुए। उनका कथन था, कि "इससे गुरुडम की गन्ध आती है, और मेरा उद्देश्य ही गुरुडम को तोड़ने का है न कि स्वयं गुरु बनकर एक नया पन्थ स्थापित करने का। यदि कल इस पदवी से मेरा ही मस्तिस्क फिर जाए, अथवा ऐसा न हो और मेरा स्थानापन्न घमण्ड में आकर कोई (अन्यथा) कार्य करने लगे तो तुम

लोगों को बड़ी कठिनता होगी और वही दोष उत्पन्न हो जाएँगे जो दूसरे नवीन पन्थों में हो गए हैं।" महर्षि दयानन्द सरस्वती के यही विचार थे, जिनके कारण उन्होंने आर्यसमाज के संगठन को लोकतन्त्रवाद के अनुसार बनाया, और सब आर्य सभासदों की स्थिति को एक समान रखने की व्यवस्था की। यह सर्वथा सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपनी विद्वत्ता, कार्यक्षमता, सेवा आदि गुणों के कारण आर्यसमाज में विशिष्ट स्थिति प्राप्त कर ले। ऐसा होना उचित भी है। पर ऐसे व्यक्ति की विशिष्ट स्थिति भी तब तक ही रहेगी, जब तक कि आर्य सभासदों की समष्टि की उस पर आस्था और श्रद्धा कायम रहे। निःसन्देह, धार्मिक संगठनों के इतिहास में महर्षि द्वारा एक ऐसा पग उठाया गया था जो सर्वथा नवीन और मौलिक था, पर साथ ही जिसके कारण आर्यसमाज के पथभ्रष्ट हो जाने की सम्भावना का अन्त हो जाता था।

(२) आर्यसमाज के प्रचारक तथा प्रचार कार्य

महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन काल (सन् १८८३ तक) में उन संन्यासियों तथा प्रचारकों की संख्या बहुत कम थी, जो वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाजों की स्थापना में तत्पर हों। इस काल में आर्यसमाज का जो भी प्रचार व प्रसार हुआ, वह प्रायः महर्षि के ही कर्तृत्व का परिणाम था। पर फिर भी कुछ अन्य व्यक्ति भी इस समय में महर्षि के कार्य में हाथ बटाने में तत्पर थे।

साधु-संन्यासी—महर्षि के जीवन काल में स्वामी आत्मानन्द, स्वामी ईश्वरानन्द और स्वामी सहजानन्द नाम के तीन संन्यासी आर्यसमाज के प्रचार में तत्पर थे। ये तीनों महर्षि के शिष्य थे, और उन्हीं से इन्होंने संन्यास आश्रम की दीक्षा ली थी। स्वामी आत्मानन्द का कार्यक्षेत्र हरयाणा, राजस्थान और मध्य प्रदेश में था। हिमाचलप्रदेश के शिमला, और कांगड़ा आदि में भी उन्होंने धर्म प्रचार कर आर्यसमाजों की स्थापना की थी। १० जुलाई, १८८३ को महर्षि के नाम लिखे एक पत्र में उन्होंने अपने कार्य के सम्बन्ध में इस प्रकार परिचय दिया था—"विदित हो कि मैं अप्रैल में शमलः (शिमला) पर्वत पर गया था वहाँ आर्यसमाज में एक मास तक रहा··· आजकल कालका में रह रहा हूँ। यहाँ पर लाला गोपीनाथ के प्रबन्ध से आर्यसमाज है और अब यहाँ से मैं कसौली आर्यसमाज जाकर उपदेश करूँगा।" इस पत्र में स्वामी आत्मानन्द ने यह भी लिखा है कि शिमला में आर्यसमाज की स्थापना लाला ठाकरदास डाक्टर और पण्डित परमानन्द बाजपेयी के प्रयत्न से हुई है। पत्र के अन्त में महर्षि को सम्बोधन कर यह भी कहा गया है, कि "आपकी कृपा चाहिए आर्यसमाज प्रति नगर ग्राम स्थापित हो जाएगी।" स्वामी आत्मानन्द ने महर्षि को जो लिखा, उसे करके भी दिखाया। सन् १८८३ और उसके बाद जितने आर्यसमाज उन द्वारा स्थापित किए गए, उतने किसी अन्य ने नहीं किए। उनके प्रचार कार्य का परिचय प्रधानतया उन द्वारा लिखे गए पत्रों द्वारा ही प्राप्त होता है।

स्वामी ईश्वरानन्द भी महर्षि के शिष्य थे, और संस्कृत व्याकरण तथा शास्त्रों के अध्ययन के साथ-साथ धर्मप्रचार के कार्य में भी व्यापृत रहते थे। उनका कार्यक्षेत्र हरयाणा तथा पंजाब में था। पानीपत (जिला करनाल) से महर्षि को लिखे हुए उनके अनेक पत्र उपलब्ध हैं, जिनसे सूचित होता है कि हरयाणा व पंजाब में उन्होंने आर्यसमाज का खूब प्रचार किया था। सितम्बर, १८८३ के एक पत्र में उन्होंने लिखा है,

कि "वर्तमान समय पर सहर पानीपत के लोगों से आर्यसमाज की स्थापित होने पर अत्युतमता पाई जाती है···श्रीमानों को विदित हो कि एक नया समाज सहर पानीपत में भी हो गया है।" पानीपत में स्वामी ईश्वरानन्द का ठिकाना बाजार बजाजा में चिरंजीवलाल कन्हैयालाल की दुकान पर था, और उसके मालिक लाला चिरंजीवलाल तथा ज्वालाप्रसाद नाम के एक अन्य सज्जन जो मूलतः धनौरा (जिला मुरादाबाद) के निवासी थे, पानीपत में आर्यसमाज की स्थापना में विशेष उत्साह प्रदर्शित कर रहे थे। उनके अतिरिक्त लाला कसुम्भरी दास, लाला सालगराम, लाला ताराचन्द, लाला मुरलीधर, श्री गणेशीलाल और पण्डित श्रीनिवास का भी पानीपत आर्यसमाज की स्थापना में महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। पण्डित श्रीनिवास को समाज द्वारा अपना पण्डित या पुरोहित भी नियुक्त कर दिया गया था। स्वामी ईश्वरानन्द के जो पत्र उपलब्ध हैं, उनसे पानीपत में उनके कार्य का परिचय समुचित रूप से प्राप्त हो जाता है। यह कल्पना असंगत नहीं है, कि हरयाणा तथा समीप के अन्य क्षेत्रों में भी उन द्वारा धर्मप्रचार किया गया था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के एक अन्य शिष्य स्वामी सहजानन्द थे। महर्षि की सेवा में लिखे हुए उनके जो पत्र श्री मुंशीराम कृत 'ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार' में संकलित हैं, वे गुजरांवाला, फरीदकोट और मुलतान आदि से लिखे हुए हैं। इससे ज्ञात होता है, कि स्वामी सहजानन्द पंजाब तथा सिन्ध में धर्मप्रचार में तत्पर थे। सन् १८८३ के ज्येष्ठ मास के पत्र में उन्होंने लिखा था—"आपके अनुग्रह से इन दिनों मैं महाराज विक्रमसिंह फरीदकोटाधीश को व्याख्यान श्रवण कराता हूँ। उक्त वर राजवंसाधीश ने मुझको फीरोजपुर से बुलवाया है।" ६ मई, १८८३ के पत्र में स्वामी सहजानन्द ने लुधियाना, अमृतसर और लाहौर जाने का उल्लेख किया है। मई, १८८३ के अन्त में वह फीरोजपुर आ गए थे, और वहाँ प्रचार कर जुलाई के प्रारम्भ तक मुलतान पहुँच गए थे। २७ जुलाई को वे सक्खर गए, और वहाँ आर्यसमाज के कार्य से संतोष अनुभव किया। अगस्त में वे शिकारपुर (सिन्ध) में थे। १२ अगस्त, १८८३ के पत्र में उन्होंने लिखा है—"शिकार-पुरस्थं विद्धि निवासं मदीयं शिकारपुर में भी समाज अस्थित हो गया, आपकी कृपा से इहा का प्रधान चाण्डूमल भाटिआ जब साहेब का वकिल मसन्द प्रीतमदास मन्त्री।" झंग में भी तब आर्यसमाज की स्थापना की चर्चा थी। ११ सितम्बर, १८८३ के पत्र में स्वामी सहजानन्द ने लिखा था— "सक्खर का समाचार अच्छा है अब आपकी कृपा से यदि झंग से लोगों ने बुलवाया तो मैं झंग जाऊँगा वहाँ पर भी समाज स्थापित लोगों ने करने को चाहता है।"

महर्षि जब पंजाब में वैदिक धर्म का प्रचार कर रहे थे, तो गुजरात, जेहलम और वजीराबाद में भी आर्यसमाज स्थापित हो गए थे। स्वामी सहजानन्द के ६ अक्तूबर, १८८३ के पत्र से सूचित होता है, कि इन समाजों की दशा ठीक नहीं थी। "महाराज, इन दिनों मैं गुजरात में हूँ। यहाँ की समाज भी बहुत ही टूट गई थी परन्तु श्रीयुत् बाबू दयाराम मास्टर मुलतान से आकर बहुत तरकीब की है गुजरात समाज की, और झेलम समाज भी टूट गई है और ओजिराबाद की समाज भी टूट गई क्योंकि बिना उपदेशक समाज क्योंकर अस्थिर रहें यहाँ पर कोई समाज ऐसी नहीं जो एक उपदेशक समाज से रख कर समाज से उसको उपदेशार्थ खर्च दे। जो हरेक समाज में उपदेश करता रहे तो कभी समाज में हानि न हो दिन प्रतिदिन उन्नति होती जाए कभी समाज ऐसी दशा को

प्राप्ति हो कभी नहीं यह सब प्रबन्ध लाहौर समाज को करना चाहिए क्योंकि सब समाज उसी के आश्रय हैं।" यह असंदिग्ध है, कि सन् १८८३ में स्वामी सहजानन्द पंजाब तथा सिन्ध में कार्यरत थे। पर इससे पहले वे बिजनौर तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाजों की स्थापना में तत्पर थे, यह पिछले एक अध्याय में लिखा जा चुका है। एक अन्य आर्य साधु स्वामी आत्माराम थे जो कराची के निवासी थे। बम्बई आर्यसमाज के मन्त्री श्री सेवकलाल कृष्णलाल के २५ जून, १८८३ के पत्र से ज्ञात होता है कि वे मई मास से बम्बई में धर्मप्रचार कर रहे थे।

महर्षि के एक शिष्य ब्रह्मचारी रामानन्द थे जो प्रायः उन्हीं के साथ रहा करते थे। उनकी शिक्षा की व्यवस्था महर्षि द्वारा की गई थी, और वह चिरकाल तक उनके निजी सहायक के रूप में कार्य करते रहे थे। बाद में ब्रह्मचारी रामानन्द ने संन्यास ले लिया था, और उनका नया नाम स्वामी शंकरानन्द हुआ था। महर्षि के जीवन काल में ये ही प्रमुख आर्य संन्यासी थे, जो विविध स्थानों पर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए कार्य कर रहे थे।

उपदेशक—प्रारम्भ के काल में आर्यसमाजों में वैतनिक उपदेशकों अथवा पुरोहितों को नियुक्त करने की प्रथा नहीं थी। साप्ताहिक अधिवेशनों में सन्ध्या, हवन आर्य सभासद् स्वयं करते थे, और ईश्वर प्रार्थना तथा प्रवचन भी उन्हीं द्वारा किए जाते थे। आर्य सभासद् अपना यह कर्तव्य समझते थे, कि वेद शास्त्रों तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का अध्ययन करें और साप्ताहिक सत्संगों में उन पर प्रवचन किया करें। अपने नगर तथा समीपवर्ती क्षेत्र में प्रचार-कार्य के लिए भी वे उत्साहपूर्वक जाया-आया करते थे। आर्यसमाजों द्वारा जो संस्कृत पाठशालाएँ व वेद विद्यालय स्थापित थे, उनके अध्यापक प्रचार कार्य में विशेष रुचि लिया करते थे। इन शिक्षा संस्थाओं में प्रायः ऐसे ही अध्यापक नियुक्त किए जाते थे, जो शिक्षण कार्य के साथ-साथ धर्म प्रचार भी किया करें। इस प्रकार के एक अध्यापक पण्डित लक्ष्मीदत्त पाण्डे थे, जो फर्रुखाबाद के आर्य विद्यालय के मुख्याध्यापक पद पर नियुक्त थे। वे दूर-दूर तक धर्म प्रचार के लिए जाया करते थे, और मेरठ आदि के आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर भी उन्हें व्याख्यान के लिए निमन्त्रित किया जाता था। पर यह पर्याप्त नहीं था। प्रचार कार्य को आगे बढ़ाने के लिए आर्यसमाज द्वारा उपदेशक मण्डलियों का संगठन किया गया और उपदेशकों की नियुक्ति की गई, इसे इस सम्बन्ध में लाहौर आर्यसमाज द्वारा किए गए प्रयत्न का उल्लेख कर स्पष्ट किया जा सकता है। ६ जुलाई, १८८२ के दिन आर्य-समाज लाहौर द्वारा एक वैदिक मिशनरी फण्ड खोलने का निश्चय किया गया। कुछ समय बाद अगस्त (१८८२) में आर्य उपदेशक-मण्डली की इस प्रयोजन से स्थापना की गई, ताकि तर्क और युक्तियों द्वारा क्रिश्चिएनिटी पर घातक प्रहार किए जा सकें। अब तक तो ईसाई मिशनरी हिन्दू धर्म पर विभिन्न प्रकार के आक्षेप करते रहते थे। बाजारों और मुहल्लों में खड़े होकर वे हिन्दुओं की मान्यताओं और प्रथाओं की कटु आलोचना किया करते थे, और उन्हें अपने धर्म में दीक्षित कर लेने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। पर अब आर्य उपदेशकों ने घूम-घूमकर अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। २० अगस्त, १८८३ के 'रीजनरेटर आफ आर्यावर्त' के अंक के अनुसार सायं के समय आर्य उपदेशक-मण्डलियाँ भजन गाती हुई अनारकली बाजार आया करती थीं, और

कुछ समय वहाँ रुक कर क्रिश्चिएनिटी के विरुद्ध प्रचार किया करती थीं। बाद में वे ईश्वर भक्ति के भजन गाती हुई और प्रार्थना के मन्त्रों का पाठ करती हुई अनारकली से शहर को लौट जाती थीं। अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए आर्यसमाज को ब्राह्मसमाज, क्रिश्चिएनिटी, इस्लाम और रूढ़िवादी पौराणिक मत—सभी का सामना करना था। पर उसका सबसे अधिक विरोध क्रिश्चिएनिटी से था। इसके कारण को 'रीजनरेटर आफ आर्यावर्त' (सितम्बर, १८८३) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"वे (ईसाई मिशनरी) लोगों को अपने धर्म का अनुयायी बनाने के लिए अच्छे-बुरे सब प्रकार के उपायों का प्रयोग करने में तत्पर हैं। सम्प्रति किशोर व कच्ची आयु के बालक उनके सर्वाधिक शिकार हो रहे हैं। इन बालकों को अपने धर्म की जरा भी जानकारी नहीं है। ये उसका क ख ग भी नहीं जानते। धर्म के मामले में ये पूर्णतया अन्धकार में हैं। क्योंकि क्रिश्चियन सिद्धान्तों के हानिकारक व विनाशकारी प्रभाव का निराकरण कर सकने वाली किसी शक्ति का अभाव है, इसलिए ये बालक सुगमता से उनसे प्रभावित हो जाते हैं, चाहे वे उनके तथा उनके सम्बन्धियों के हित-कल्याण व प्रसन्नता में कितने ही बाधक क्यों न हों।" उस समय पंजाब में अंग्रेजी भाषा और नयी शिक्षा का तेजी के साथ प्रचार हो रहा था। इसमें सन्देह नहीं, कि यह शिक्षा पंजाबी युवकों के लौकिक अभ्युदय व उन्नति में बहुत सहायक थी, क्योंकि इसे प्राप्त कर वे सरकारी नौकरियाँ प्राप्त कर सकते थे और वकालत आदि के पेशों द्वारा अच्छा धन कमा सकते थे। पर यह शिक्षा प्रधानतया ईसाई मिशनों के हाथों में थी, और आधुनिक ढंग के शिक्षणालयों में क्रिश्चिएनिटी का वातावरण था। आर्यसमाज के नेता और कार्यकर्ता अपने देश और धर्म पर आए हुए इस खतरे की गम्भीरता को भली भाँति अनुभव करते थे। इसीलिए 'रीजनरेटर आफ आर्यावर्त' ने लिखा था—"जो बालक मिशन स्कूलों में पढ़ते हैं उनके लिए उस बीमारी से बचे रह सकना सम्भव नहीं होता जिससे उनके शिक्षक ग्रस्त हैं, और जिसे ये शिक्षक अत्यन्त सुन्दर रूप से प्रस्तुत करते हैं। पूरे छह घण्टे इन बालकों को क्रिश्चियन शिक्षकों के साथ रहना होता है। इतने समय तक निरन्तर उनके साथ रहते रहने पर इन बालकों के लिए यह सम्भव ही कैसे हो सकता है कि वे शिक्षकों द्वारा कही गई बातों को सत्य न समझने लगें।··· बचपन में मनुष्यों के मनों में जिस किसी प्रकार के विचार भर दिए जाएँगे, वे अन्त तक उनके जीवन में बने रहेंगे और उनका आचरण भी उसी प्रकार का हो जाएगा।" क्रिश्चियन मिशनरियों के प्रचार के कारण पंजाब के बालकों के लिए जो भयानक स्थिति उत्पन्न हो गई थी, आर्य प्रचारक उसका प्रत्युपाय करने के लिए प्रयत्नशील थे। इसीलिए कुछ वर्ष बाद आर्यसमाजों द्वारा अपने स्कूलों तथा कालिजों की स्थापना की गई। इन आर्य शिक्षणालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी क्रिश्चिएनिटी के हानिकारक प्रभाव से बचे रह सकते थे। पर इन आर्य शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना का समय अभी नहीं आया था। आर्य उपदेशक-मण्डलियों द्वारा बाजारों, मुहल्लों और चौकों में ईसाई मत के खण्डन तथा वैदिक धर्म के निरूपण के लिए जो प्रयत्न इस काल में किया जा रहा था, वह भी कम महत्त्व का नहीं था। किशोरवय के बालक तथा विद्यार्थी इन मण्डलियों के भजनों तथा प्रवचनों को रुचिपूर्वक सुनते थे और अपने धर्म की उत्कृष्टता का बोध प्राप्त कर लेने के कारण उनके लिए अन्य सम्प्रदायों (विशेषतया क्रिश्चिएनिटी) के प्रभाव से बचे रह सकना सम्भव हो जाता था।

क्रिश्चिएनिटी के आक्रमणों का मुकाबला और अपने धर्म का प्रचार करते हुए आर्य उपदेशकों को कौन-सी भावनाएँ प्रेरित करती थीं, इसे स्पष्ट करने के लिए 'रीजनरेटर आफ आर्यावर्त' का यह सन्दर्भ पर्याप्त है—"भारत इंग्लैण्ड द्वारा जीत लिया गया है। इंग्लैण्ड का धर्म चाहता है कि भारत के धर्मों की भी विजय कर लें। पर ऐसा कर सकना उसकी शक्ति में नहीं है···। यद्यपि ऊपर से देखने पर हिन्दू धर्म अत्यन्त भद्दे अन्धविश्वासों का पुतला दिखाई देता है, पर यथार्थ में वह ऐसा नहीं है। इसका आदि स्रोत वेद है, और बाद में इसमें चाहे कितनी ही गन्दगी समाविष्ट हो गई हो, पर जिस गन्द ने इसे हानिकारक बना दिया है उसे नष्ट कर इसे शुद्ध कर सकना बहुत सुगम है। हिन्दू धर्म में दार्शनिक चिन्तन के ऐसे सर्वोत्कृष्ट तथ्य विद्यमान हैं, जिनकी तुलना में बाइबल के विवरण कोरी गप्पें प्रतीत होते हैं।" यह विश्वास था, जो आर्य उपदेशकों में नयी स्फूर्ति का संचार कर रहा था।

पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन—अपने मन्तव्यों के प्रचार के लिए आर्यसमाज द्वारा जो एक अन्य साधन अपनाया गया, वह पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन था। क्रिश्चियन मिशन तथा ब्राह्मसमाज प्रचार के इस साधन को बहुत महत्त्व देते थे। आर्यसमाज ने भी इस साधन को अपनाया, और मार्च, १८८२ में लाला रतन चन्द बेरी द्वारा 'आर्य मैगजीन' नाम से एक मासिक पत्र का लाहौर से प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। जैसा कि 'आर्य मैगजीन' के प्रथम अंक में कहा गया था, इस पत्र का प्रयोजन आर्य दर्शन, साहित्य, विज्ञान, कला और धर्म को प्रकाश में लाने के साथ-साथ सामाजिक, धार्मिक तथा वैज्ञानिक विषयों पर आर्यों के मन्तव्यों का स्पष्टीकरण करना भी था। इन विषयों के सम्बन्ध में आर्यसमाज के दृष्टिकोण को सही रूप में प्रतिपादित करना इस पत्र का मुख्य उद्देश्य था। आर्यसमाज के उद्देश्यों तथा कार्यकलाप के सम्बन्ध में जो अनेकविध भ्रान्तियाँ उस समय उत्पन्न हो रही थीं, उनके निवारण के लिए आर्य मैगजीन ने विशेष प्रयत्न किया, और उसके प्रयत्नों का ही यह परिणाम हुआ कि जो लोग आर्यसमाज पर विभिन्न प्रकार के आक्षेप करने में तत्पर थे, उनको बुरी तरह से नीचा देखना पड़ा।

सन् १८८२ के प्रारम्भ में ही आर्य प्रेस के स्वत्वाधिकारी लाला शालिग्राम ने यह प्रस्ताव किया कि आर्यसमाज की ओर से दो पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ किया जाना चाहिए, एक अंग्रेजी में और दूसरा उर्दू में। लाला शालिग्राम के इस प्रस्ताव का अच्छा स्वागत हुआ, और कुछ युवा विद्यार्थियों ने आर्यसमाज लाहौर की ओर से एक अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र के प्रकाशन व सम्पादन कार्य को सँभाल लिया। इन युवकों में लाला लाजपत राय, लाला हंसराज, लाला शिवनाथ और पण्डित गुरुदत्त उल्लेखनीय हैं। इस साप्ताहिक अंग्रेजी पत्र का नाम 'रीजनरेटर आफ आर्यावर्त' रखा गया और लाला हंसराज तथा पण्डित गुरुदत्त इसके सम्पादक बने। दो वर्षों तक यह पत्र नियमपूर्वक प्रकाशित होता रहा, और नव-शिक्षित युवकों में आर्यसमाज के मन्तव्यों का प्रचार करने में इस द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। उर्दू में जिस समाचार पत्र का प्रकाशन इस समय प्रारम्भ किया गया, उसका नाम 'देशोपकार' था, और उसके सम्पादक लाला लाजपतराय थे। यद्यपि यह पत्र भी चिरकाल तक कायम नहीं रह सका, पर इससे समाचार-पत्रों के प्रकाशन का सिलसिला बन्द नहीं हुआ। यदि एक समाचार-पत्र बन्द होता था, तो दूसरा उसका स्थान ले लेता था, और इस प्रकार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्रचार कार्य निरन्तर चलता

रहता था। लाहौर से प्रकाशित होने वाले इन पत्रों को अन्य स्थानों के लोग भी उत्सुकता-पूर्वक पढ़ा करते थे, और आर्यसमाज के प्रचार के लिए उनका उपयोग किया करते थे। पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ अनेक पुस्तिकाएँ भी इस काल में आर्यसमाजों द्वारा प्रकाशित की गईं, जो प्रायः पंजाबी और उर्दू भाषाओं में होती थीं। उस समय पंजाब में हिन्दी का प्रचार बहुत कम था, और हिन्दू लोग भी प्रायः उर्दू तथा पंजाबी में ही लिखा-पढ़ा करते थे। महर्षि के जीवनकाल में पंजाब में लाहौर ही आर्य पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का प्रधान केन्द्र रहा। बाद में अन्य नगरों से भी आर्य साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, पर सन् १८८३ तक प्रायः सभी आर्य पत्र-पत्रिकाओं व पुस्तिकाओं का प्रकाशन लाहौर में ही केन्द्रित रहा। इस काल में जो बहुत-सी पुस्तिकाएँ लाहौर के आर्यों द्वारा प्रकाशित की गईं, उनमें कोई-कोई ही इस समय उपलब्ध है, और उनके विषय में पूरी जानकारी भी प्राप्त नहीं है। इन पुस्तिकाओं के लेखकों में लाला जीवनदास का नाम उल्लेखनीय है। 'हमारी देसी जबान' नामक पुस्तिका में उन्होंने यह प्रतिपादित किया था, कि हिन्दी ही हमारी अपनी भाषा है। यह पुस्तिका सन् १८८२ में प्रकाशित हुई थी। एक अन्य पुस्तिका में लाला जीवनदास ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य का समर्थन करते हुए उन आक्षेपों का युक्तिसंगत रूप से निराकरण किया था जो यूरोपियन व भारतीय विद्वानों द्वारा उस पर किए जा रहे थे। यह पुस्तिका अंग्रेजी में लिखी गई थी। 'सदाए-हक' नामक एक अन्य पुस्तिका में लाला जीवनदास ने स्त्री शिक्षा का समर्थन किया था। यह पुस्तिका भी सन् १८८२ में प्रकाशित हुई थी। हिन्दी के समर्थन में एक पुस्तिका लाला द्वारकादास ने भी लिखी थी। आर्यसमाज के मन्तव्यों का प्रतिपादन करने के प्रयोजन से बाबा नारायण सिंह ने दो पुस्तिकाओं की रचना की थी, एक पंजाबी में और दूसरी उर्दू में। उनकी पंजाबी पुस्तिका का नाम 'वेदों ताँ बुधन तां धर्म सम्बन्ध' था, जो अमृतसर के चश्माए नूर प्रेस से सन् १८७८ में प्रकाशित हुई थी, और उर्दू पुस्तिका का नाम 'धर्म-विचार' था, जिसका प्रकाशन सन् १८८२ में लाहौर के आर्य प्रेस से हुआ था। इसी प्रकार की कितनी ही अन्य भी पुस्तिकाएँ इस काल में पंजाब में प्रकाशित हुईं जिन द्वारा आर्यसमाज के प्रचार कार्य में बहुत सहायता मिली।

पंजाब के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों में भी आर्यसमाजों द्वारा अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जा रहा था, जिनसे वैदिक धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिल रही थी। ऐसा एक पत्र 'आर्य दर्पण' था जिसका प्रकाशन मुंशी बख्तावर सिंह ने सन् १८७० में प्रारम्भ किया था। यह पत्र साप्ताहिक था। शाहजहाँपुर से ही सन् १८७७ में 'आर्य भूषण' नामक मासिक पत्र प्रकाशित होना शुरू हुआ था। सन् १८७७ में अलीगढ़ से 'भारतबन्धु' प्रकाशित होने लगा था, और सन् १८७८ में फर्रुखाबाद से 'भारत सुदशा प्रवर्तक'। इसी समय (१८७८) मेरठ आर्यसमाज द्वारा 'आर्यसमाचार' का प्रकाशन शुरू किया गया था, और चार वर्ष बाद प्रयाग के आर्यसमाज द्वारा 'देश हितैषी' का। महर्षि के देहावसान के पश्चात् आर्यसमाजों द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर वृद्धि होती गई, और इनसे आर्यसमाज के प्रचार तथा प्रसार में बहुत सहायता प्राप्त हुई।

(३) वार्षिकोत्सव

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप के

प्रतिपादन एवं प्रचार के लिए आर्यसमाज ने जिन साधनों को अपनाया, आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सव भी उनमें अन्यतम हैं। आर्यसमाजों की स्थापना के साथ ही वार्षिकोत्सवों की परम्परा प्रारम्भ हो गई थी, जिनमें न केवल स्थानीय लोग ही बड़ी संख्या में सम्मिलित हुआ करते थे, अपितु दूर-दूर से भी बहुत-से व्यक्ति आर्य संन्यासियों, विद्वानों तथा उपदेशकों के प्रवचनों को सुनने के लिए आया करते थे। इन वार्षिकोत्सवों के सम्बन्ध में पहले भी फर्रुखाबाद आर्यसमाज के कार्यकलाप पर प्रकाश डालते हुए लिखा जा चुका है। जब तक आर्य प्रतिनिधि सभाओं का संगठन नहीं हुआ था, मेरठ आर्यसमाज की स्थिति 'प्रधान' समाज की थी। अतः उसके वार्षिकोत्सवों का तब बहुत महत्त्व था। अतः यह उपयोगी होगा, कि मेरठ आर्यसमाज के एक वार्षिकोत्सव का अधिक विस्तृत रूप से विवरण देकर यह प्रदर्शित किया जाए कि ये उत्सव किस प्रकार आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में सहायक हुआ करते थे।

मेरठ आर्यसमाज का पाँचवाँ वार्षिकोत्सव ७ अक्तूबर, १८८३ को मनाया गया था। उत्सव से बीस दिन पहले उसकी सूचना तथा निमन्त्रण-पत्र भारत की सब आर्य-समाजों के पास भेज दिये गये थे। साथ ही मेरठ नगरी के उन सब रईसों, सम्भ्रान्त व्यक्तियों तथा अन्य लोगों की सेवा में उत्सव में पधारने के लिए निमन्त्रण-पत्र भेजे गये थे, जिनकी आर्यसमाज के उद्देश्यों तथा कार्यों से सहानुभूति थी। लाहौर, रुड़की, सहारनपुर, आगरा, मुरादाबाद, कानपुर, अम्बेहटा, रोहतक, दिल्ली, अजमेर, तीतरों, चन्दक, बुलन्दशहर, फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, मथुरा, मुजफ्फरनगर, परीक्षितगढ़, जानसठ और बरेली के बहुत-से आर्यसभासदों ने इस उत्सव की शोभा बढ़ायी थी। सरकारी अफसर, साहूकार, रईस, व्यापारी, डाक्टर, वकील आदि सब वर्गों के लोगों ने, ईसाई और मुसलमान, सबने इस अवसर पर पधार कर मेरठ आर्यसमाज को कृतार्थ किया था। भवन लोगों से खचाखच भरा हुआ था। सबके चेहरे प्रसन्नता से प्रफुल्लित थे। आर्यसमाज मन्दिर को फूलों, लताओं और वन्दनवारों से भली भाँति सजाया गया था, और आर्यसमाज के नियम वहाँ सुवर्णाक्षरों में अंकित थे। वक्ताओं के लिए एक ऊँचे व्यासपीठ का निर्माण किया गया था, जिस पर आर्यावर्त के आधुनिक ऋषि मुनि विराज-मान थे। सब ओर आह्लाद और सात्विकता का वातावरण छाया हुआ था।

प्रातः ८ बजे अग्निहोत्र के साथ वार्षिकोत्सव प्रारम्भ हुआ। चन्दन, कस्तूरी, केसर आदि के साथ सुगन्धित जड़ी-बूटियों की सामग्री से यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा यज्ञकुण्ड में आहुतियाँ दी गईं। अग्निहोत्र की समाप्ति पर फर्रुखाबाद के एंग्लो-वैदिक विद्यालय के संस्कृत के अध्यापक पण्डित लक्ष्मीदत्त का व्याख्यान हुआ। उनके व्याख्यान का विषय 'हवन के लाभ' था। अपने भाषण में उन्होंने युक्तियुक्त ढंग से यह प्रतिपादित किया कि हवन से किस प्रकार वायु शुद्ध होती है और उसके परिणामस्वरूप महामारियाँ नहीं फैलने पातीं। पण्डित लक्ष्मीदत्त जी के व्याख्यान के पश्चात् बालकों और बालिकाओं की संध्या में परीक्षा ली गई, और जो उसमें उत्तीर्ण हुए, उन्हें पारितोषिक दिए गये। बच्चों की सन्ध्या में योग्यता से न केवल परीक्षक ही, अपितु उपस्थित महानुभाव भी बहुत प्रसन्न व संतुष्ट हुए।

वार्षिकोत्सव की प्रातःकालीन बैठक ११ बजे समाप्त हुई। दूसरी बैठक तीसरे पहर साढ़े तीन बजे प्रारम्भ हुई। इसमें उपस्थिति बहुत अधिक थी। सबसे पूर्व लाहौर

आर्यसमाज के सभासदों द्वारा आधे घण्टे तक भजन गाए गये। तत्पश्चात् मेरठ आर्यसमाज के आचार्य (सम्भवतः पुरोहित) पण्डित चन्द्रभान ने ईश्वर की स्तुति और प्रार्थना की। प्रार्थना के बाद मेरठ आर्यसमाज के मुंशी लालता प्रसाद ने ऋषि-मुनियों की सूक्तियों का उल्लेख कर यह बताया कि आर्यावर्त के इन चिन्तकों ने दर्शन, विज्ञान और कला में कितनी उन्नति की हुई थी। मुंशी जी के पश्चात् फर्रुखाबाद आर्यसमाज की मासिक पत्रिका (भारत सुदशा प्रवर्तक) के सम्पादक पण्डित गणेश प्रसाद का व्याख्यान हुआ, जिसमें उन्होंने आर्यावर्त की वर्तमान दुर्दशा का हृदयस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं से तथ्यों को संकलित कर देश की दयनीय दशा की ओर श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट किया। इसके पश्चात् पण्डित लक्ष्मीदत्त शास्त्री मञ्च पर आए और उन्होंने जीवात्मा की सत्ता को सिद्ध करने के लिए वेदों और उपनिषदों से बहुत-से उद्धरण प्रस्तुत किए। जीवात्मा सदृश गहन एवं कठिन विषय का उन्होंने ऐसी सरल रीति से निरूपण किया, कि लोगों को उसे समझने में जरा भी कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने इस बात पर दुःख प्रकट किया कि एम० ए० और बी० ए० पास युवक बौद्ध (नास्तिक) आन्दोलन की ओर आकृष्ट होते जा रहे हैं, और सच्चे वैदिक धर्म की शिक्षा ग्रहण करने का वे कोई यत्न नहीं करते। शास्त्री जी के भाषण से उनके गम्भीर पाण्डित्य, संस्कृत के ज्ञान, तीक्ष्ण बुद्धि तथा भाषण शक्ति का सिक्का लोगों पर जम गया।

पण्डित लक्ष्मीदत्त शास्त्री के व्याख्यान के पश्चात् सहारनपुर आर्यसमाज के लाला दुर्गा प्रसाद ने एक कविता पढ़ी, और फिर मेरठ आर्यसमाज के लाला विष्णु सहाय ने आर्यावर्त देश के अतीत गौरव का चित्र खींच कर श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर दिया। उनके बाद कानपुर आर्यसमाज के लाला जुगल किशोर ने बाल विवाह की बुराइयों पर व्याख्यान दिया, और बरेली आर्यसमाज के प्रधान बाबू तुलसीराम ने आर्यसमाज के दस नियमों पर। फिर लाहौर आर्यसमाज के उपप्रधान बाबू जीवनदास द्वारा वेदों की प्रामाणिकता पर एक निबन्ध पढ़ा गया, जिसमें उन आक्षेपों का युक्तियुक्त ढंग से उत्तर दिया गया जो ब्राह्मसमाजियों आदि द्वारा वेदों पर किए जाते थे। बाबू जीवनदास के निबन्ध के पश्चात् आध घण्टे तक वेदमन्त्रों का पाठ हुआ, और फिर रुड़की आर्यसमाज के मन्त्री पण्डित उमरावसिंह का सदाचरण विषय पर प्रभावजनक व्याख्यान। पण्डित जी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती का चित्र दिखाते हुए जनता से कहा, कि जो कोई अपना और संसार का हित कल्याण करना चाहे और मोक्ष की प्राप्ति जिसका लक्ष्य हो, उसे इस महान् योगी के जीवन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। अन्त में मेरठ आर्यसमाज के मन्त्री बाबू आनन्दलाल ने सन् १८८२-८३ की वार्षिक रिपोर्ट पढ़ कर सुनाई, जिसमें आर्यसमाज के कार्यकलाप का विवरण देते हुए अपने सहयोगियों तथा कार्यकर्ताओं को धन्यवाद दिया गया था। मेरठ आर्यसमाज के प्रधान लाला रामशरण दास का गत वर्ष देहावसान हो गया था, जिससे समाज के कार्य को अपार क्षति पहुँची थी। वार्षिक रिपोर्ट में उनके आकस्मिक निधन पर शोक प्रकट किया गया था। उस समय आर्यसमाज के प्रमुख सभासद् व कार्यकर्ता निम्नलिखित महानुभाव थे—लाला मुन्नालाल रईस, मुंशी लक्ष्मण-स्वरूप वकील, बाबू आनन्द लाल, मुंशी लक्ष्मणदास, मुंशी कल्याणराय और पण्डित बिहारी लाल। रात के ११ बजे तक वार्षिकोत्सव की कार्यवाही होती रही, और लोग बड़े उत्साह तथा श्रद्धा के साथ उसमें भाग लेते रहे। अगले दिन ८ अक्टूबर को मेरठ

आर्यसमाज की जनरल मीटिंग हुई, जिसमें अन्य नगरों से आए हुए आर्य समासद् भी सम्मिलित हुए, और सबने मिलकर समाज से सम्बद्ध विषयों तथा भावी कार्यक्रम पर विचार-विमर्श किया।

मेरठ आर्यसमाज के पाँचवें वार्षिकोत्सव का यह विवरण 'आर्य मैगजीन' नामक अंग्रेजी पत्रिका के नवम्बर, १८८३ के अंक में प्रकाशित रिपोर्ट के आधार पर दिया गया है। इसे पढ़कर उस समय के आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

फर्रुखाबाद आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों का वृत्तान्त इस ग्रन्थ के उन्नीसवें अध्याय में दिया जा चुका है। मेरठ और फर्रुखाबाद के आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों के इन विवरणों से यह भली भाँति जाना जा सकता है, कि आर्यसमाज के प्रचार कार्य में समाजों के ये वार्षिकोत्सव भी कितने सहायक थे।

बाईसवाँ अध्याय

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा विरचित ग्रन्थ तथा पुस्तिकाएँ

(१) महर्षि की रचनाएँ

महर्षि दयानन्द सरस्वती जहाँ परम विद्वान्, सत्य सनातन वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप के पुनःसंस्थापक, समाजसुधारक तथा प्रगतिशील मौलिक चिन्तक थे, वहाँ साथ ही एक महान् लेखक भी थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी और संस्कृत भाषाओं में जितने विशाल साहित्य का सृजन उन्होंने किया, उतना किसी अन्य विद्वान् व साहित्यकार ने नहीं किया। उनकी प्रकाशित तथा अप्रकाशित छोटी-बड़ी रचनाओं की संख्या ६६ है, और इनकी पृष्ठ संख्या १५,००० से भी अधिक है। महर्षि द्वारा विरचित यह विशाल साहित्य केवल धार्मिक व दार्शनिक ही नहीं है। उनकी अनेक पुस्तकों का सम्बन्ध व्यावहारिक व लौकिक विषयों से भी है। उनके ग्रन्थों में हिन्दी गद्य की एक ऐसी शैली विकसित हुई है, जो सरल, सरस तथा मनोहारी है। हिन्दी गद्य के इतिहास में महर्षि दयानन्द सरस्वती का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उनकी मातृ-भाषा गुजराती थी, और उन्होंने सब शिक्षा संस्कृत भाषा में प्राप्त की थी, पर बड़ी आयु में हिन्दी पढ़कर भी इस भाषा पर उन्होंने इतना अधिकार प्राप्त कर लिया था कि इसमें वे बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना कर सके। जिसे हिन्दी की खड़ी बोली कहा जाता है, उसमें गम्भीर व दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति का प्रथम सफल प्रयास महर्षि द्वारा ही किया गया था। केवल यही नहीं, खड़ी बोली में जिस ढंग के सरस आख्यान महर्षि ने अपने ग्रन्थों में लिखे हैं, वैसे उनसे पूर्व किसी अन्य ने नहीं लिखे।

महर्षि की रचनाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—(१) वेद-भाष्य तथा उससे सम्बद्ध ग्रन्थ। (२) सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण (३) सत्यार्थ-प्रकाश का संशोधित द्वितीय संस्करण। (४) नैत्यिक और नैमित्तिक धर्मानुष्ठान के प्रतिपादक ग्रन्थ। (५) वेदविरुद्ध मत-मतान्तरों के खण्डन के प्रयोजन से लिखी गयी पुस्तकें। (६) संस्कृत भाषा तथा व्याकरण के पठन-पाठन के लिए विरचित पुस्तकें। (७) आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन एवं शोध के लिए उपयुक्त पुस्तकें। (८) अन्य मत-मतान्तरों के अध्ययन एवं शोध के लिए उपयुक्त पुस्तकें। (९) शास्त्रार्थ और व्याख्यान। (१०) विविध रचनाएँ।

महर्षि ने वास्तविक रूप से साहित्य सृजन का कार्य सन् १८७४ में प्रारम्भ किया था, यद्यपि इससे पूर्व भी उनकी कुछ रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। सन् १८८३ में उनका देहावसान हो गया। दस साल से भी कम समय में वे जो इतने विशाल साहित्य का निर्माण कर सके, यह उनकी अद्भुत प्रतिभा तथा असाधारण कार्यक्षमता के कारण ही सम्भव हो सका था। यह सही है, कि अपने ग्रन्थों की रचना में उन्होंने अनेक पण्डितों से सहायता ली थी। इसका यह परिणाम भी हुआ, कि कुछ पण्डितों ने महर्षि की पुस्तकों में, विशेषतया सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में, ऐसी बातों का भी समावेश कर दिया जो उनके मन्तव्यों के विरुद्ध थीं। पर महर्षि अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में इतने सावधान थे कि शीघ्र ही उन्होंने उनमें संशोधन कर दिया। आज महर्षि के ग्रन्थ जिस रूप में उपलब्ध हैं उनमें वही मन्तव्य प्रतिपादित हैं जो उन्हें स्वीकार्य थे, और उन्हें महर्षि द्वारा विरचित ही माना जाना समुचित है।

इस इतिहास में पहले भी प्रसंगवश महर्षि के ग्रन्थों के सम्बन्ध में लिखा गया है। पर उनके साहित्यिक कार्य की समुचित रूप से जानकारी प्राप्त करने के लिए यह उपयोगी होगा, कि उनके विविध प्रकार के ग्रन्थों पर पृथक्-पृथक् एवं विशद रूप से प्रकाश डाला जाए।

(२) वेदभाष्य तथा उससे सम्बद्ध ग्रन्थ

महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में वेदभाष्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुओं के सभी सम्प्रदाय वेदों को प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं। कतिपय दार्शनिक सम्प्रदाय ऐसे हैं, जो सृष्टि के कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकृत नहीं करते, पर वे भी वेदों को अनादि, अपौरुषेय तथा प्रमाण मानते हैं। यह बात बड़ी अद्भुत है, कि सभी हिन्दुओं की दृष्टि में जिन वेदों का इतना महत्त्व हो, उन्नीसवीं सदी के मध्य तक उनका पठन-पाठन भारत में प्रायः न के बराबर था। वस्तुतः, वेदों के अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी अब से ढाई हजार के लगभग वर्ष पूर्व उस समय अवरुद्ध हो गयी थी, जबकि बौद्ध, जैन, चार्वाक और आजीवक सदृश सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ और भारत के बहुसंख्यक निवासी उनके प्रभाव में आ गये। छठी सदी ईस्वी पूर्व से दूसरी सदी ईस्वी पूर्व तक की चार शताब्दियों में विविध नास्तिक मत इतने प्रबल रहे, कि वेदों के पठन-पाठन की परिपाटी प्रायः बन्द हो गई। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में सेनानी पुष्यमित्र शुंग के समय में नास्तिक सम्प्रदायों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य' लिखने वाले पतंजलि मुनि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। व्याकरण के अध्ययन के प्रयोजन या लाभ का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है, कि ब्राह्मण को बिना कारण (बिना प्रयोजन) भी षड्वेदांगों के साथ वेदों का अध्ययन करना चाहिए (ब्राह्मणेन निष्कारणं षडंगो वेदोध्येयः)। पतंजलि का यह कथन यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है, कि दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में वेद तथा व्याकरण सदृश वेदांगों के पठन-पाठन का कोई लाभ नहीं समझा जाता था और महाभाष्य के रचयिता को यह प्रतिपादित करने की आवश्यकता हुई थी, कि वेद और वेदांगों का अध्ययन ब्राह्मणों को अकारण भी करना चाहिए।

पुष्यमित्र शुंग के समय में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान अवश्य हुआ, पर उसके शुद्ध

रूप में नहीं। इस काल का वैदिक धर्म बौद्धों और जैनों के मन्तव्यों तथा पूजाविधि से अत्यधिक प्रभावित था। जैसा कि इस इतिहास के दूसरे और तीसरे अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है, शुंग काल के वैदिक धर्म को पौराणिक धर्म कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि उस समय में शिव, विष्णु आदि की मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाने लगीं, और उन्हें देवता मानकर उनकी मूर्तियों की पूजा आर्य धर्म की पूजाविधि का प्रधान अंग बन गई। साथ ही, उस युग के आर्य यह भी विश्वास करने लगे कि मन्त्रों में विशेष प्रकार की शक्ति होती है, और उनके जप व पाठ से अभिलषित फल प्राप्त किया जा सकता है। यह एक नवीन तत्त्व था, जिसका आर्य धर्म में प्रवेश बौद्धों के प्रभाव व सम्पर्क द्वारा हुआ था। बौद्ध लोग अपने 'सुत्तों' (सूक्तों) या मन्त्रों की शक्ति में विश्वास रखते थे, और उनके पाठ व जाप को बौद्ध धर्म की पूजापद्धति में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इन सुत्तों या मन्त्रों के अर्थ को जानने की बौद्ध लोग विशेष आवश्यकता नहीं समझते थे। उनका विचार था कि इनके शब्दों में ही ऐसी शक्ति विद्यमान है, जिससे मनुष्य अपना मनोरथ सिद्ध कर सकता है। जब नवीन आर्य या पौराणिक धर्म के अनुयायी भी वेदमन्त्रों या उनके शब्दों में विशेष शक्ति की सत्ता मानने लगे, तो उनकी दृष्टि में वेद मन्त्रों के अर्थ व अभिप्राय को जानने का विशेष महत्त्व नहीं रह गया। इसी का यह परिणाम हुआ कि वेदों के पठन-पाठन का केवल यह प्रयोजन रह गया, कि वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ कर उनका जाप किया जाए या याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा देवी-देवताओं की पूजा में उनका प्रयोग किया जाए। प्राचीन काल में यह माना जाता था, कि वेद सम्पूर्ण धर्म के मूल व स्रोत हैं (वेदऽखिलो धर्ममूलम्) और वेद सम्पूर्ण ज्ञान के भण्डार हैं (सर्वज्ञानमयो हि सः)। अतः धर्म के तत्त्वों को जानने तथा सब प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदों का अध्ययन-अध्यापन किया जाता था। इसके लिए उन ग्रन्थों का आश्रय लिया जाता था, जिनकी रचना का मुख्य प्रयोजन वेद के अध्ययन में सहायक होना ही था। वेदांगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) की रचना भी इसी प्रयोजन से की गई थी। चार उपवेद, प्रातिशाख्य और अनुक्रमणी आदि का अध्ययन भी वेदों का अर्थ समझने में सहायक होता था। जिस युग में वेद-वेदांगों का पठन-पाठन भलीभाँति प्रचलित था, तब उन पर भाष्य लिखने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि व्याकरण और निरुक्त सदृश वेदांगों की सहायता से वेदमन्त्रों के अभिप्राय को समझा जा सकता था। पर जब बौद्ध, चार्वाक आदि नास्तिक मतों के प्रादुर्भाव के कारण वेद-वेदांगों का अध्ययन-अध्यापन बन्द हो गया, तो वेदमन्त्रों के ऋषिकृत अर्थों का परिज्ञान प्राप्त कर सकना कठिन हो गया। जब बाद में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तब भी जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, वेदों के अर्थ के परिज्ञान के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया गया, क्योंकि बौद्धों के अनुकरण में वैदिक धर्म के अनुयायी भी मन्त्रों के शब्दों में विशेष शक्ति मानने लग गए, और उनका पाठ, जाप व उच्चारण कर लेना ही धार्मिक अनुष्ठानों, पूजापाठ एवं साधना के लिए पर्याप्त समझने लगे।

दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में नास्तिक मतों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने के कारण यज्ञों की परिपाटी का पुनः प्रारम्भ हुआ, और देवताओं की मूर्तियों की पूजा के साथ-साथ यज्ञों का कर्मकाण्ड भी वैदिक धर्म के धार्मिक अनुष्ठानों का अंग बन गया। याज्ञिक कर्मकाण्ड वेदमन्त्रों द्वारा ही सम्पन्न किये जाते

थे, अतः इस बात का महत्त्व बहुत बढ़ गया, कि विविध यज्ञों में किन मन्त्रों को और किस प्रकार प्रयुक्त किया जाए। क्योंकि वेदांगों की सहायता से वेदार्थ को अवगत करने की परिपाटी इस समय तक प्रायः अवरुद्ध हो चुकी थी, अतः यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि वेदमन्त्रों के अभिप्राय को भाष्य द्वारा इस ढंग से स्पष्ट किया जाए, ताकि याज्ञिक कर्मकाण्ड में उन्हें सुचारु रूप से प्रयुक्त किया जा सके। इसी कारण मध्य युग में अनेक ऐसे विद्वान् हुए, जिन्होंने वेदभाष्य लिखकर वेदमन्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। स्कन्दस्वामी, दुर्गाचार्य, उद्‌गीथ, हरिस्वामी, उव्वट, वररुचि, भट्ट भास्कर, वेंकट माधव, आत्मानन्द, आनन्द तीर्थ, माधव, भरतस्वामी, देवपाल और आनन्द बोध आदि इसी प्रकार के वेदभाष्यकार थे। पर इन्होंने जो वेदभाष्य किये, वे प्राचीन आर्ष पद्धति के अनुसार नहीं थे। वेदों के शब्द रूढ़ि न होकर यौगिक हैं, और वेदमन्त्रों की व्याख्या आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार से की जानी चाहिए, प्राचीन ऋषियों के इस मन्तव्य का इन भाष्यकारों ने अविकल रूप से अनुसरण नहीं किया। वे प्रधानतया वेदमन्त्रों के यज्ञपरक अर्थ करने में ही तत्पर रहे, और वेदों का जो 'अखिल धर्म मूल' तथा 'सर्वज्ञानमय' रूप प्राचीन ऋषियों को अभिमत था, उसे इन्होंने दृष्टि में नहीं रखा। यही कारण है, कि ये वैदिक मन्तव्यों एवं शिक्षाओं को समग्र रूप से अभिव्यक्त कर सकने में असमर्थ रहे। इतना ही नहीं, सत्य सनातन वैदिक धर्म के जो अनेक विकृत रूप मध्यकाल में विकसित हो गये थे, उनके प्रभाव से भी ये भाष्यकार बचे नहीं रह सके। बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के सम्पर्क से आर्य धर्म में भी वाम मार्ग का विकास हो गया था। इससे प्रभावित हो मध्यकाल के कतिपय विद्वानों ने वेद मन्त्रों की इस ढंग से व्याख्या की, जिससे वाममार्ग की पूजाविधि की पुष्टि होती थी। वाम मार्ग से प्रभावित विद्वानों ने अनेक वेदमन्त्रों का अत्यधिक अश्लील अर्थ करने में भी संकोच नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं, कि दूसरी सदी ईस्वी-पूर्व में पुष्यमित्र शुंग के नेतृत्व में वैदिक धर्म का जो पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ था, उसका निरन्तर उत्कर्ष होता रहा। शुंग, कण्व, आन्ध्र सातवाहन, भारशिव, वाकाटक, गुप्त आदि राजवंशों के प्रायः सब राजा वैदिक धर्म के अनुयायी थे, और उनकी राजसभाओं में कितने ही कलावन्तों, कवियों, ज्योतिषियों और विद्वानों ने आश्रय प्राप्त किया हुआ था। पर खेद की बात है, कि वैदिक धर्म के उत्कर्ष के इस सुदीर्घकाल में भी वेदों के अर्थ को आर्ष पद्धति से स्पष्ट करने का समुचित प्रयत्न नहीं हुआ, और आर्य विद्वान् याज्ञिक विधि-विधान के लिए उनका प्रयोग करते रहने में ही सन्तोष अनुभव करते रहे।

बारहवीं सदी के अन्त में जब उत्तरी भारत के एक भाग पर अफगानों का प्रभुत्व स्थापित हो गया, और उनके प्रतापी सुलतान पूर्व तथा दक्षिण में अपनी शक्ति का विस्तार करने में संलग्न हो गए, उस समय आर्यों के सम्मुख आत्मरक्षा ही एक बड़ी समस्या थी। उस काल में यह आशा ही कैसे की जा सकती थी, कि कोई विद्वान् प्राचीन आर्ष पद्धति से वेदों की व्याख्या करने का प्रयास करे। चौदहवीं सदी में जब दक्षिणी भारत में विजयनगर राज्य की स्थापना हुई, तो उसके शक्तिशाली राजाओं के कारण तुर्क-अफगान सुलतानों के दक्षिण में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के सब प्रयत्न विफल हो गए। दक्षिण के इस आर्य राज्य की स्थापना में सायणाचार्य नाम के एक वैदिक विद्वान् का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। वेदों का भाष्य कर उन्होंने एक ऐसा कार्य किया, जो

अत्यन्त महत्त्व का है। एक ऐसे समय में जब कि वेदों के अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी को अवरुद्ध हुए सदियाँ बीत चुकी थीं और वेदमन्त्रों का श्रवण भी जनता के बहुत बड़े भाग के लिए सर्वथा निषिद्ध था, सायणाचार्य ने वेदभाष्य लिखकर वेदार्थ का परिज्ञान प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने उस समय में किया, जब कि उत्तरी भारत तुर्क-अफगान सुलतानों की अधीनता में आ चुका था, और दक्षिण में भी उनके आक्रमणों का भय सदा बना रहता था। पर सायणाचार्य वेदमन्त्रों का यथार्थ रूप से दर्शन कर उनका वास्तविक अभिप्राय प्रकाशित कर सकने में असमर्थ रहे। उन्होंने वेद के शब्दों के यौगिक अर्थों की उपेक्षा की, और वेदमन्त्रों को प्रधानतया यज्ञपरक रूप से ही प्रतिपादित किया। भाष्य करते हुए उन्होंने वेदों के उस स्वरूप को दृष्टि में नहीं रखा, जिसका उल्लेख तैत्तिरीय संहिता के उपोद्घात में उन्होंने स्वयं किया था, "प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान प्रमाण द्वारा जिन तथ्यों को नहीं जाना जा सकता, उनका ज्ञान वेदों द्वारा ही प्राप्त होता है। वेद को जो वेद कहा गया है, उसका यही कारण है।" जब सायणाचार्य का यह मन्तव्य था, तो उन्हें वेदों के उस ज्ञान को प्रकट करना चाहिए था, जिसे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता, और जिसका सम्बन्ध आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों क्षेत्रों के साथ है। पर उन्होंने यह नहीं किया। वेदमन्त्रों की यज्ञपरक व्याख्या करके ही उन्होंने अपने कर्तव्य की इतिश्री कर दी। सायण विद्वान् अवश्य थे, पर ऋषि नहीं थे। मन्त्रों का 'दर्शन' कर सकने में वह असमर्थ रहे थे। इसीलिए अपने वेदभाष्य में वह प्राचीन ऋषि-मुनियों की वेदार्थ सम्बन्धी उन मान्यताओं का प्रयोग नहीं कर सके, जिनका प्रतिपादन यास्ककृत निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों में किया गया है। पर सायणाचार्य के वेदभाष्य का यह लाभ अवश्य हुआ, कि संस्कृत के विद्वानों के लिए वेदमन्त्रों के अर्थ को समझ सकना सम्भव हो गया, चाहे वह अर्थ एकांगी एवं अशुद्ध ही क्यों न हो। यूरोपियन देशों का भारत के साथ सम्पर्क होने पर जब पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान वैदिक साहित्य की ओर गया, तो वेदमन्त्रों का अर्थ करने के लिए उन्होंने सायणाचार्य के वेदभाष्य का ही आश्रय लिया, और उसी की सहायता से अपनी भाषाओं में वेदों का अनुवाद किया। राथ, मैक्समूलर, ग्रीफिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गए वेदों के अनुवाद प्रायः सायण के वेदभाष्य पर ही आधारित हैं, और उनके अनुवादों के कारण वेदों के सम्बन्ध में जो अनेकविध भ्रान्तियाँ व मिथ्या धारणाएँ आधुनिक विद्वत्समाज में प्रादुर्भूत हुईं, उनकी उत्तरदायिता भी मुख्यतया सायणाचार्य पर ही है। उन्नीसवीं सदी में क्रिश्चियन मिशनरी भारत में अपने धर्म के प्रचार के लिए जी जान से प्रयत्न कर रहे थे। हिन्दुओं को अपने परम्परागत धर्म से विमुख करने के लिए उन्होंने वेदों पर आक्षेप करने प्रारम्भ किये, और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गए वेदों के अनुवादों का सहारा लेकर यह प्रदर्शित करना शुरू किया कि हिन्दुओं के सर्वमान्य धर्म ग्रन्थ के मन्तव्य कितने उपहासास्पद हैं। हिन्दुओं के धर्माचार्य इन आक्षेपों का क्या उत्तर दे सकते थे? उन्हें वेदों का ज्ञान न के बराबर था, और वेदमन्त्रों तथा उनके अर्थ के सम्बन्ध में उनकी जानकारी केवल सायणाचार्य कृत वेदभाष्य तक ही सीमित थी। सायणाचार्य के वेदभाष्य में आर्ष नैरुक्त प्रणाली का प्रयोग नहीं किया गया था, और वैदिक शब्दों का अर्थ प्रायः वही कर दिया गया था, जिनमें कि वे लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी

सायण की पद्धति का अनुसरण किया, जिसके परिणामस्वरूप वेदों का वास्तविक अर्थ प्रकट हो ही नहीं सका, और हिन्दू धर्माचार्यों के लिए अपने सर्वमान्य धर्म ग्रन्थ पर किये जाने वाले मिथ्या आक्षेपों का उत्तर दे सकना सम्भव नहीं रह गया।

यह स्थिति थी, जब महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन आर्ष पद्धति से वेदभाष्य करना प्रारम्भ किया, और वेदार्थविषयक अपने मन्तव्यों तथा पद्धति का निरूपण करने के प्रयोजन से 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' की रचना की। यह ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में है, और इसमें वेदभाष्य सम्बन्धी अपने प्रयोजन व लक्ष्य को महर्षि ने इन शब्दों में प्रकट किया है—"इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से ले के व्यास पर्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं उनकी जो व्याख्या रीति है उससे युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जाएगा। यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जाएँगे। और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध हो, कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिए यह प्रयत्न मैं करता हूँ, सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छी प्रकार सिद्ध हो, यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है।" ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त ऋषि-मुनि वेदमन्त्रों का जिस ढंग से अर्थ करते रहे थे, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उसी का अनुसरण कर अपना वेदभाष्य लिखा। इस प्राचीन आर्ष पद्धति के अनुसार वैदिक शब्द रूढ़ि न होकर यौगिक है, और वेदमन्त्रों का अर्थ आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार से किया जाना चाहिए। वेदों के सम्बन्ध में आर्ष मन्तव्य ये हैं कि वेद ईश्वरकृत, अनादि और नित्य हैं, और उनमें दो प्रकार की विद्याएँ हैं, "एक अपरा, दूसरी परा। इनमें अपरा वह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है, और दूसरी परा कि जिससे सर्व-शक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।" महर्षि के ये वाक्य यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि आर्ष मन्तव्य के अनुसार वेद केवल परा या ब्रह्म विद्या का ही निरूपण नहीं करते, अपितु भौतिक प्रकृति के सब तत्त्वों एवं शक्तियों का सही-सही ज्ञान भी उन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। पर यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए, कि "वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के ही प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेश रूप वेदों से कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिए सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें, यही मनुष्य देह धारण करने के फल हैं।" महर्षि के अनुसार वेद सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। उनमें एह-लौकिक व प्राकृतिक विद्याओं के मूल तत्त्व भी विद्यमान हैं, और पारलौकि ज्ञान की भी उनमें सम्पूर्ण रूप से सत्ता है। वेद सदृश महत्त्वपूर्ण एवं 'सर्वज्ञानमय' ग्रन्थ के यथार्थ अभि-प्राय को समझने के सम्बन्ध में महर्षि के निम्नलिखित वाक्य उल्लेखनीय हैं—"वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदांगों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्व मीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों

की शिक्षा, उनके संग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के व्याख्यानों को न देखें, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिए सब आर्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि से युक्त जो तर्क है, वही मनुष्यों के लिए ऋषि है।" महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों का जो भाष्य किया है, उसमें जहाँ उपरिलिखित बातों को दृष्टि में रखा गया है, वहाँ साथ ही 'तर्क' रूप ऋषि द्वारा प्रदर्शित मार्ग का भी अविकल रूप से अनुसरण किया गया है।

क्योंकि वेदों में सब सत्य विद्याएँ हैं, अतः महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका में वेदों द्वारा प्रतिपादित इन सत्य विद्याओं का संक्षेप के साथ निदर्शन भी कर दिया है। ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, गणितविद्या, नौविमानविद्या, तारविद्या, वैद्यक-शास्त्र, पुनर्जन्म, विवाह, नियोग, राजधर्म, वर्णाश्रमव्यवस्था, स्तुति प्रार्थना और उपासना, मुक्ति, पंच महायज्ञ आदि कितने ही विषय हैं, जिनका संक्षिप्त रूप से निदर्शन कर महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में वेदभाष्य सम्बन्धी आर्ष पद्धति पर प्रकाश डाला है। अपने भाष्य के विषय में महर्षि की यह स्थापना ध्यान देने योग्य है—"यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उव्वट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाए हैं, वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों के विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता, क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो तो वेद, वेदांग, ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है, यही इसमें अपूर्वता है।... और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात अप्रमाण या अपनी रीति से नहीं लिखी जाती। और जो-जो भाष्य उव्वट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेद-व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो-जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेद व्याख्यान बने हैं, वे भी अशुद्ध हैं।" आर्ष पद्धति द्वारा किये गए अपने वेदभाष्य से क्या लाभ होगा, इसे महर्षि ने इन शब्दों में प्रकट किया है—"इस भाष्य में पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जाएगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई हैं, उन सबकी निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जाएगा। तथा जो-जो सायण, माधव, महीधर और अंग्रेजी वा अन्य भाषा में उलथे वा भाष्य किये जाते वा (किये) गए हैं, तथा जो-जो देशान्तर भाषाओं में टीका हैं, उन अनर्थ व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुख लाभ पहुँचेगा, क्योंकि बिना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रम निवृत्ति कभी नहीं हो सकती।" महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य में जिस आर्ष पद्धति का अनुसरण किया, और वेदों का एक नया भाष्य लिखने में उनका क्या प्रयोजन था, यह उन उद्धरणों से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। नास्तिक मत-मतान्तरों के प्रादुर्भाव के कारण वेदों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा में जो अवरोध उत्पन्न हो गया था, और सत्य सनातन आर्य धर्म के पौराणिक धर्म के रूप में पुनरुत्थान होने पर भी जिस अवरोध का अन्त नहीं हुआ, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य द्वारा उस अवरोध का अन्त कर दिया और आर्ष पद्धति से वेदों के पठन-पाठन के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' और 'सर्वज्ञानमयोहि सः' के वेदविषयक मन्तव्यों का

उन्होंने युक्तिसंगत रूप से तथा तर्क रूपी ऋषि के साहाय्य से प्रतिपादन किया। वैदिक धर्म के सत्य व विशुद्ध स्वरूप के पुनरुद्धार के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती की यह सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

महर्षि वेदों के कितने भाग पर भाष्य लिख सके, इस पर इस इतिहास के दसवें अध्याय (तीसरे प्रकरण) में प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। महर्षिकृत वेदभाष्य संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में है। उसकी एक विशेषता यह भी है, कि वेदमन्त्रों के अर्थ व व्याख्या के पश्चात् उसका भावार्थ भी दे दिया गया है। इस भावार्थ में महर्षि ने अनेक ऐसे मन्तव्यों का निरूपण कर दिया है, जो उनके गम्भीर चिन्तन तथा वेदमन्त्रों के यथार्थ 'दर्शन' के परिचायक हैं। यह आर्य जाति और आर्यावर्त देश का दुर्भाग्य था कि महर्षि चारों वेदों का भाष्य नहीं कर सके। पर उन्होंने वेदों के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञान का जो उपाय निरूपित कर दिया है, वह वस्तुतः अत्यन्त महत्त्व का है। उसका प्रयोग कर बाद में अनेक विद्वानों से चारों वेदों के भाष्य लिखे, और अब वह समय आ चुका है जब कि आर्ष पद्धति और प्राचीन ऋषि-मुनियों के मन्तव्यों के अनुसार वेदों का पठन-पाठन सम्भव हो गया है। वेदभाष्य लिख कर जहाँ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदार्थ की सदियों से लुप्त आर्ष पद्धति का पुनः स्थापन किया, वहाँ साथ ही हिन्दी भाषा में भी वेदमन्त्रों का अर्थ कर जनसाधारण के लिए भी वेदों का ज्ञान प्राप्त कर सकने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। महर्षि का वेदभाष्य इसी कारण उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है।

(३) सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण

जब महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रवचनों, व्याख्यानों और शास्त्रार्थों द्वारा वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप के प्रचार में तत्पर थे, राजा जयकृष्णदास उनके सम्पर्क में आए और उनके उपदेशों को सुनकर महर्षि के परम भक्त बन गए। राजा जयकृष्णदास मुरादाबाद के निवासी थे, और ब्रिटिश सरकार की सेवा में डिप्टी कलेक्टर के पद पर नियुक्त थे। उन दिनों किसी भारतीय के लिए डिप्टी कलेक्टर का पद प्राप्त कर लेना भी बहुत बड़ी बात थी। इण्डियन सिविल सर्विस में उस समय तक भारतीयों का लिया जाना शुरू नहीं हुआ था, और कलेक्टर, जज आदि पदों पर अंग्रेजों की ही नियुक्ति की जाती थी। राजा जयकृष्ण दास समय-समय पर महर्षि से मिलते रहते थे। सन् १८७४ के जनवरी मास में जब वह महर्षि से मिले, तो उन्होंने यह सुझाव दिया कि यदि महर्षि के उपदेश एवं विचार लेख-बद्ध हो जाएँ और पुस्तक के रूप में छप जाएँ, तो जनता का बहुत उपकार होगा। मौखिक उपदेशों से वही लोग लाभ उठा सकते हैं, जो वहाँ उपस्थित हों। न तो सब लोग महर्षि की व्याख्यान सभा में उपस्थित हो सकते हैं, और न ही महर्षि स्वयं सब स्थानों पर जा-आ सकते हैं। महर्षि के मन्तव्यों, विचारों तथा उपदेशों के पुस्तक रूप में छप जाने पर जहाँ बहुत-से लोग उनसे लाभ उठा सकेंगे, वहाँ वे स्थायी भी हो जाएँगे और भविष्य में भी उन्हें पढ़कर महर्षि के मन्तव्यों से परिचित होने का अवसर प्राप्त करते रह सकेंगे। राजा जयकृष्णदास ने अपने इस विचार या सुझाव को महर्षि के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए यह भी निवेदन किया कि इस पुस्तक को लिखवाने तथा प्रकाशित कराने में जो भी व्यय होगा, उसे वह स्वयं वहन करेंगे।

महर्षि ने राजा साहब के सुझाव को स्वीकार कर लिया, और राजा साहब ने पुस्तक लिखने के लिए चन्द्रशेखर नामक एक महाराष्ट्रीय पण्डित को नियुक्त कर दिया। इस प्रकार महर्षि द्वारा जिस ग्रन्थ की रचना हुई, वह सत्यार्थप्रकाश था। इसका लेखन कार्य पहले काशी में हुआ (जून, १८७४ में), और फिर प्रयाग में। महर्षि तीन मास के लगभग (जुलाई से अक्टूबर के प्रारम्भ तक) प्रयाग रहे, और वहाँ रहकर उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश को लिखवाना शुरू किया। इस काल में उनके उपदेश, प्रवचन आदि भी प्रयाग में होते रहे, पर उनका समय प्रधानतया सत्यार्थप्रकाश की रचना में ही व्यतीत हुआ। अक्टूबर, १८७४ में महर्षि प्रयाग से जबलपुर चले गए, और सत्यार्थप्रकाश के मुद्रण का कार्य काशी में मुंशी हरवंशलाल के प्रबन्ध में होना शुरू हुआ। सन् १८७५ में सत्यार्थ-प्रकाश का प्रथम संस्करण छपकर प्रकाशित हो गया। इस संस्करण में केवल बारह समुल्लास थे। तेरहवें और चौदहवें समुल्लास, जिनमें इस्लाम तथा क्रिश्चिएनिटी के मन्तव्यों का विवेचन है, इस संस्करण में प्रकाशित नहीं हुए थे। सन् १८७५ में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश में महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों व विचारों का अविकल रूप से समावेश है या नहीं, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। आर्यसमाज द्वारा इसे मान्य रूप से स्वीकार नहीं किया जाता। इसका कारण यह है, कि इसमें अनेक ऐसी बातों का प्रतिपादन है, जो महर्षि के मन्तव्यों के अनुरूप नहीं हैं, यथा मृत पितरों का श्राद्ध, तर्पण और श्राद्ध में माँस का पिण्ड दान। इस प्रकार के मन्तव्यों का समावेश हो जाने के कारण महर्षि को यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि सत्यार्थप्रकाश का पूर्णरूप से संशोधन कर उसका एक नया संस्करण प्रकाशित किया जाए। यह कार्य उन्होंने प्रधानतया सन् १८८३ में उदय-पुर में सम्पन्न किया, यद्यपि सत्यार्थप्रकाश के संशोधित नये (द्वितीय) संस्करण का प्रकाशन उनके जीवनकाल में नहीं हो सका। पर इसमें सन्देह नहीं, कि सत्यार्थप्रकाश को महर्षि ने स्वयं पूर्णरूप से संशोधित कर दिया था, और उसका मुद्रण भी उनके जीवन-काल में प्रारम्भ हो गया था। आर्यसमाज को सन् १८८४ में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश ही मान्य है। १८७५ में मुद्रित सत्यार्थप्रकाश में प्रतिपादित मृतक पितरों का श्राद्ध सदृश बातों की ओर जब महर्षि का ध्यान आकृष्ट किया गया, तो उन्हें देखकर वे बहुत आश्चर्य-चकित हुए। यह वस्तुतः आश्चर्य की बात थी, कि उनके ग्रन्थ में इस प्रकार की बातें कैसे समाविष्ट हो गईं, जिनका वे खण्डन करते रहे थे। इसीलिए महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में वेदविरुद्ध बातों के समावेश को दृष्टि में रखकर उसे वापस ले लिया था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की मातृभाषा गुजराती थी। उनकी शिक्षा संस्कृत भाषा में हुई थी, और उत्तरी भारत में परिभ्रमण करते हुए वे इसी भाषा में प्रवचन आदि किया करते थे। जन-साधारण की भाषा हिन्दी से उन्हें समुचित परिचय नहीं था। इसका परिणाम यह था, कि सामान्य जनता उनके उपदेशों से लाभ नहीं उठा सकती थी। इसीलिए महर्षि ने हिन्दी में भाषण देने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, और मई, १८७४ में काशी नगरी में हिन्दी भाषा में पहला व्याख्यान दिया। इस अवसर पर भी हिन्दी का पर्याप्त अभ्यास न होने के कारण वे वाक्य-के-वाक्य संस्कृत में बोल गए। जून, १८७४ में महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश बोलकर लिखवाना शुरू किया था। स्पष्ट है, कि तब तक हिन्दी भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार नहीं हुआ था, जिसके कारण लेखक-पण्डितों को ग्रन्थ में

ऐसी बातों के समावेश का अवसर मिल गया था जो महर्षि के मन्तव्यों के विपरीत थीं। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण की भूमिका में महर्षि ने लिखा है—"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गयी थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसीलिए इस ग्रन्थ को भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है, कहीं-कहीं शब्द, वाक्य, रचना का भेद हुआ है सो करना उचित था, क्योंकि इसके भेद किये बिना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी, परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हाँ, जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल शोध कर ठीक कर दी गई है।" सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में केवल बारह समुल्लास थे। नये संस्करण में उनकी संख्या चौदह कर दी गयी। इस सम्बन्ध में महर्षि ने लिखा है—"यह ग्रन्थ १४ (चौदह) समुल्लास अर्थात् चौदह विभागों में रचा गया है। इसमें १० (दस) समुल्लास पूर्वार्ध और ४ (चार) उत्तरार्द्ध में बने हैं, परन्तु अन्त के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण प्रथम नहीं छप सके थे अब वे भी छपवा दिये हैं।" भूमिका के इन वाक्यों से यह स्पष्ट है, कि सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण अधूरा था, क्योंकि किन्हीं कारणों से उसमें अन्त के दो समुल्लास तथा स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश को समाविष्ट नहीं किया जा सका था। साथ ही प्रथम संस्करण के "छपने में जो कहीं-कहीं भूल रही थी वह निकाल शोधकर ठीक कर दी गयी" थी। यहाँ स्पष्ट रूप से महर्षि का संकेत मृत पितरों के श्राद्ध-तर्पण सदृश उन बातों की ओर है, जो भूल से प्रथम संस्करण में आ गयी थीं। इस भूल का क्या कारण था और इसके लिए कौन उत्तरदायी था, इस पर महर्षि ने कोई प्रकाश नहीं डाला। ऐसा करना उनकी प्रकृति व स्वभाव के प्रतिकूल था। जो व्यक्ति विष देने वालों को भी क्षमा कर देता हो, वह उन पण्डितों के विरुद्ध कोई शब्द क्यों लिखता जिन्होंने कि हिन्दी भाषा पर महर्षि का पूरा अधिकार न होने का लाभ उठाकर अनेक वेदविरुद्ध बातें सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) में समाविष्ट कर दी थीं। द्वितीय संस्करण में महर्षि ने जिन भूलों का सुधार किया, वे महर्षि की न होकर लेखक-पण्डितों की थीं, यह बात राजा जयकृष्णदास के इस कथन से भी स्पष्ट है—"सत्यार्थप्रकाश में जो मत स्वामी जी का लिखा गया था, जो कुछ पीछे परिवर्तित हुआ उसके लिए स्वामी जी इतने उत्तरदायी नहीं हैं। स्वामी जी को उस समय प्रूफ देखने का अवकाश नहीं था। पहले-पहल स्वामी जी सभी लोगों को अच्छा समझ कर उनका विश्वास कर लेते थे। हो सकता है कि लेखक वा मुद्रक द्वारा यह सब मत सत्यार्थप्रकाश में छप गया हो और यह भी हो सकता है कि उनका मन पीछे परिवर्तित हो गया हो।" राजा जयकृष्ण-दास ने यह सम्भावना भी व्यक्त की है, कि मृतक पितरों के श्राद्ध-तर्पण सदृश जो बातें सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में विद्यमान हैं, पहले (सन् १८७४ में) महर्षि उन्हें मानते हों, पर बाद में (सन् १८८२ के लगभग) उनका मत परिवर्तित हो गया हो। पर यह सम्भावना निराधार है। इसका कारण यह है, कि जून, १८७४ से बहुत समय पहले ही महर्षि अपना यह मन्तव्य स्थिर कर चुके थे कि मृत पितरों का श्राद्ध, तर्पण, यज्ञों में पशुबलि और माँस भक्षण न वेदशास्त्र सम्मत हैं, और न समुचित। पण्डित लेखराम

और श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने महर्षि के जो जीवनचरित्र लिखे हैं, उनमें सन् १८६८ तथा १८६९ में महर्षि द्वारा जीवित पितरों के श्राद्ध का प्रतिपादन करने और मृत पितरों के श्राद्ध-तर्पण का खण्डन करने का उल्लेख विद्यमान है। इस दशा में यह कैसे सम्भव है, कि १८७४ में लिखाये गए सत्यार्थप्रकाश में महर्षि ने मृत पितरों के श्राद्ध का विधान किया हो। यह सही है, कि महर्षि के विचारों तथा मन्तव्यों में परिवर्तन होते रहे थे। समय के साथ-साथ वेद शास्त्रों के उनके ज्ञान में वृद्धि होती गयी थी, जिसके परिणामस्वरूप उनके अनेक मन्तव्यों में भी परिवर्तन हुआ था। पर यह कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता, कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के प्रकाशन के समय (सन् १८७५) में महर्षि मृत पितरों के श्राद्ध-तर्पण के समर्थक थे। इस बात का सत्यार्थप्रकाश में समावेश लेखक-पण्डितों अथवा प्रूफ रीडरों की भूल का परिणाम था, इस तथ्य को महर्षि ने वेदभाष्य के एक विज्ञापन में इन शब्दों द्वारा प्रकट कर दिया था—"और जो सत्यार्थप्रकाश के ४२ पृष्ठ और २५ पंक्ति में पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करे और जितने मर गये हैं उनका तो अवश्य करे।" तथा पृष्ठ ४७ पर "मरे गए पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है। इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है सो लिखने और शोधन वालों की भूल से छप गया है। इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परम धर्म है और जो मर गए हों उनका नहीं करना क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि के दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है अन्य नहीं।" यह विज्ञापन ऋग् और यजुर्वेद भाष्य के अंक १ और २ के टाइटल के पृष्ठ पर छपा है, और इसे महर्षि ने सन् १८७८ में प्रकाशित करा दिया था। इस विज्ञापन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है, कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखने और शोधने वालों की भूल के कारण अनेक ऐसी बातें छप गयी थीं, जो महर्षि के मन्तव्यों के विपरीत थीं। यही कारण था, जो महर्षि ने उसे अमान्य ठहरा दिया था, और सत्यार्थप्रकाश का संशोधित नया संस्करण तैयार किया था, जिसका प्रकाशन उनके जीवनकाल में नहीं हो सका था, यद्यपि उसका मुद्रण तब शुरू हो चुका था और उसके कुछ प्रूफों का महर्षि ने स्वयं भी अवलोकन कर लिया था।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में अंग्रेजी शासन की न्याय पद्धति तथा कर-नीति की आलोचना की गयी है। राज्य शासन के सम्बन्ध में महर्षि के विचारों पर इस ग्रन्थ के सोलहवें अध्याय में प्रकाश डाला गया है। अंग्रेजों की न्याय पद्धति और करनीति के विषय में महर्षि के ये विचार वहाँ उल्लिखित कर दिये गए हैं।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है, कि उसमें महर्षि ने अपने मन्तव्यों के प्रतिपादन में वेदमन्त्रों का उतना अधिक प्रयोग नहीं किया है जितना कि संशोधित संस्करण में है। साथ ही, जैन धर्म की आलोचना में प्रथम संस्करण में केवल ग्यारह पृष्ठ दिये गए हैं, जबकि नये संस्करण में चालीस से भी अधिक पृष्ठों में इस मत की समीक्षा की गयी है। इसका कारण यही है, कि प्रथम सत्यार्थप्रकाश के लिखने के समय तक जैनों का बहुत कम धार्मिक व दार्शनिक साहित्य महर्षि की दृष्टि

में आया था।

(४) सत्यार्थप्रकाश-एक सर्वांग-सम्पूर्ण धर्मग्रन्थ या धर्मशास्त्र

महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में वेदभाष्य के बाद सत्यार्थप्रकाश का सर्वाधिक महत्त्व है। उसे सच्चे अर्थों में धर्मग्रन्थ कहा जा सकता है, एक ऐसा धर्मग्रन्थ जो सर्वांग-सम्पूर्ण है। ईसाई बाइबल को अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं, और मुसलमान कुरान को। पर आर्यसमाज के लिए सत्यार्थप्रकाश उन अर्थों में धर्मग्रन्थ नहीं है, जिनमें कि ईसाई और मुसलमानों के लिए बाइबल और कुरान हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती वेदों को ईश्वर-कृत, अपौरुषेय, अनादि, अनन्त और स्वतःप्रमाण मानते थे। आर्यसमाज भी वेदों को इसी रूप में स्वीकार करता है। उसके धर्मग्रन्थ वेद ही हैं। पर आर्य धर्म में यह परम्परा रही है, कि वेदों की शिक्षाओं तथा मन्तव्यों को प्रतिपादित करने के लिए समय-समय पर मुनियों व विद्वानों द्वारा स्मृति ग्रन्थों व धर्मशास्त्रों की रचना की जाए। मनुस्मृति इसी प्रकार का ग्रन्थ है। सम्पूर्ण धर्म एवं ज्ञान का मूल स्रोत वेद है, यह स्वीकार कर मनुस्मृति में उस धर्म का प्रतिपादन किया गया है, जो वेदानुकूल है। इसीलिए यह माना जाता रहा है, कि मनु ने जो कुछ कहा है, वह औषधियों का भी औषध है। (यत्किञ्चिन्मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः)। देश और काल के अनुसार मनुष्यों के आचरण तथा समाज के संगठन के सम्बन्ध में जो धर्म हो, स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों द्वारा उन्हीं को प्रतिपादित किया जाता है। नयी परिस्थिति में क्या बात धर्मानुकूल है, और कौन-सा व्यवहार मनुष्यों के लिए समुचित है, स्मृतियाँ तथा धर्मशास्त्र यह भी प्रतिपादित करते हैं। अरब लोगों ने जब सिन्ध को अपने अधीन कर हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाना, स्त्रियों का अपहरण करना और उनके साथ बलात्कार करना प्रारम्भ किया, तो एक नयी समस्या उत्पन्न हुई। इसके समाधान के लिए देवलमुनि ने एक नयी स्मृति की रचना की, जिसमें बलपूर्वक मुसलमान बनाए गए व्यक्तियों की शुद्धि कर उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने की व्यवस्था की गयी। देवल स्मृति की रचना एक विशेष परिस्थिति में हुई थी, पर उस द्वारा समस्या का जो समाधान किया गया था, वह वेदानुकूल था। इसी कारण देवलमुनि की कृति को स्मृतिग्रन्थ की स्थिति प्राप्त हुई। अन्य भी अनेक स्मृतिग्रन्थ देश और काल की विशेष परिस्थितियों में निर्मित हुए थे। इस कारण अनेक विषयों के सम्बन्ध में जहाँ उनमें अनेकविध मतभेदों की सत्ता है, वहाँ साथ ही कतिपय ऐसे मन्तव्य भी उनमें पाए जाते हैं जिन्हें अविकल रूप से वेदानुकूल नहीं कहा जा सकता। मनुस्मृति इसका अपवाद है, यद्यपि बाद के समय में उसमें भी अनेक ऐसी बातें प्रक्षेप के रूप में सम्मिलित कर दी गयी हैं, जो वेदविरुद्ध हैं। इसी प्रकार जो अनेक सूत्र ग्रन्थ प्राचीन समय में लिखे गए, उनमें गृहस्थ आश्रम, धार्मिक कर्मकाण्ड, विधि-विधान आदि के ऐसे नियम प्रतिपादित हैं जो धर्म के अंग हैं और प्रायशः वेदानुकूल भी हैं। इसीलिए उन्हें धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत किया जाता है। पर इन स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों की प्रामाणिकता उसी अंश तक है, जिस तक कि ये वेदविरुद्ध न हों। यही कारण है, जो इन्हें स्वतःप्रमाण न मानकर परतःप्रमाण माना जाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा विरचित सत्यार्थप्रकाश को इन स्मृतिग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों के वर्ग में ही रखा जाना उपयुक्त है। उसकी प्रामाणिकता वेदों पर आधारित

होने के कारण ही है। उसमें जो मन्तव्य व विचार प्रतिपादित किये गए हैं, वे वेदों के अनुकूल हैं। उनका निरूपण करते हुए महर्षि ने युक्ति और तर्क के साथ-साथ वेदों के प्रमाणों का भी आश्रय लिया है। पर अन्य स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों की तुलना में सत्यार्थप्रकाश अत्यधिक उत्कृष्ट है, क्योंकि उसमें जिस धर्म का प्रतिपादन किया गया है, वह सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक है। मनुस्मृति के समान उसमें अभी कोई प्रक्षेप भी नहीं हुए हैं, यद्यपि उसके प्रथम संस्करण में लेखक-पण्डितों ने कुछ प्रक्षेप समाविष्ट कर दिए थे। प्राचीन शास्त्रों में धर्म का यह लक्षण किया गया है—"जिससे अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो, वह धर्म है" (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः)। धर्म द्वारा मनुष्यों को ऐसा मार्ग प्रदर्शित किया जाना चाहिए, जिससे कि वे अपनी सांसारिक उन्नति व विकास कर सकें, पर उसे ही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य न मानकर मोक्ष प्राप्ति के चरम उद्देश्य को भी दृष्टि में रखें और उस तक पहुँचने के लिए प्रयत्न भी करें। अतः धर्मग्रन्थ के लिए यह आवश्यक है, कि उस द्वारा लौकिक अभ्युदय तथा मोक्ष दोनों के उपाय प्रतिपादित किये जाएँ। संसार में सम्भवतः कोई भी अन्य ऐसा धर्मग्रन्थ नहीं है (चाहे वे कुरान और बाइबल सदृश ईश्वरीय माने जाने वाले धर्मग्रन्थ हों और चाहे वेदों पर आधारित स्मृतिग्रन्थ अथवा श्रीमद्भगवद्गीता सदृश प्राचीन भारतीय शास्त्र), जिसमें कि धर्म के इन दोनों प्रयोजनों (अभ्युदय और निःश्रेयस) का इस प्रकार अविकल रूप से प्रतिपादन किया गया हो, जैसा कि सत्यार्थप्रकाश में है। इसी कारण हमने इसे सर्वांग-सम्पूर्ण धर्मग्रन्थ या धर्मशास्त्र कहा है।

मनुष्य के अभ्युदय (लौकिक उन्नति) के लिए यह आवश्यक है कि वह सदाचारी हो, उसका आचरण धर्मानुकूल हो, इन्द्रियों पर उसका वश हो और वह अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए तत्पर रहे। सदाचरण क्या है, इन्द्रियों को कैसे वश में रखा जा सकता है, और कौन-से ऐसे धार्मिक अनुष्ठान हैं जिन्हें सम्पादित करना सब मनुष्यों के लिए आवश्यक है—धर्मग्रन्थ में इन सबका प्रतिपादन किया ही जाना चाहिए। पर मनुष्य एक सामाजिक प्राणी भी है। वह समाज में उत्पन्न होता है और समाज में रहकर ही जीवन व्यतीत करता है। उसके सामाजिक व सामुदायिक जीवन के अनेक रूप हैं, परिवार, बिरादरी, ग्राम, राज्य आदि। परिवार का अंग होने के कारण प्रत्येक मनुष्य के अन्य पारिवारिक जनों—माता-पिता, भाई-बहन, सन्तान आदि के साथ अनेकविध सम्बन्ध होते हैं जिनके परिणामस्वरूप उसके इन सबके प्रति अनेकविध कर्तव्य भी हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य किसी ग्राम एवं राज्य का भी सदस्य होता है, और इस कारण ग्राम के अन्य निवासियों तथा राज्य के अन्य नागरिकों के साथ उसका सम्बन्ध रहता है और उनके प्रति भी उसके अनेकविध कर्तव्य हो जाते हैं। मनुष्य को अपने इन सब प्रकार के कर्तव्यों का भी सम्यक् प्रकार से बोध होना चाहिए। धर्मग्रन्थ के लिए यह भी आवश्यक है, कि वह मनुष्यों के सामूहिक जीवन विषयक इन कर्तव्यों का भी बोध कराए। सामाजिक या सामुदायिक जीवन के अन्य भी अनेक रूप हैं, अन्य भी अनेक प्रकार से मनुष्य एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध रखते हैं। शिक्षा काल में गुरु और उसके शिष्यों में सम्बन्ध होता है। मनुष्य आर्थिक उत्पादन अकेले नहीं करता। उद्योगपति, शिल्पी और श्रमिक सब परस्पर सहयोग से सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं, और परस्पर सहयोग से ही उत्पन्न सम्पत्ति का वितरण तथा उपभोग किया जाता है। विश्व या सम्पूर्ण मानव-

समाज भी एक विशाल समुदाय है, जो बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त है। इन राज्यों में भी परस्पर सम्बन्ध होता है। सामाजिक व सामुदायिक जीवन में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का स्वरूप ऐसा होना चाहिए, जो सबके लिए हितकर हो। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः उसका हित-कल्याण इन सम्बन्धों के धर्मानुकूल व समुचित होने पर ही निर्भर करता है। इस दशा में एक आदर्श व सर्वांग सम्पूर्ण धर्मग्रन्थ के लिए यह आवश्यक है, कि उस द्वारा न केवल मनुष्यों के व्यक्तिगत सदाचरण व उत्कृष्ट जीवन के नियमों का प्रतिपादन किया जाए, अपितु यह भी बताया जाए, कि समाज में रहता हुआ मनुष्य अपने साथी अन्य मनुष्यों के साथ किस प्रकार ऐसे बरत सकता है या ऐसे सम्बन्ध रख सकता है जो न्याययुक्त और धर्मानुकूल हों और जिनसे केवल उसका अपना ही हित न होकर सबका हित सम्पादित होता हो। सत्यार्थप्रकाश ही एक ऐसा धर्मग्रन्थ है, जिसमें जहाँ मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति, सदाचारमय जीवन तथा अभ्युदय का मार्ग स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है, वहाँ साथ ही वे सब व्यवस्थाएँ भी स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं जिन द्वारा मानव समाज सामुदायिक जीवन के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति करता रह सकता है। अन्य कोई भी ऐसा धर्मग्रन्थ नहीं है, जिसमें मनुष्य के व्यक्तिगत अभ्युदय और सामाजिक हित-कल्याण का इतने विशद रूप से निरूपण किया गया हो, जैसा कि सत्यार्थप्रकाश में है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मनुष्य के लिए सांसारिक अभ्युदय आवश्यक तो है, पर वह उसका चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। चरम लक्ष्य निःश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति है। अतः धर्मग्रन्थ में उन उपायों व साधना का भी निरूपण किया जाना चाहिए, जिनसे मनुष्य इस चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को सृष्टि के तत्त्वों एवं स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो। सत्यार्थप्रकाश में इस सब विषय का भी विशद् रूप से प्रतिपादन किया गया है।

सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुसार मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक हित-कल्याण के लिए मानव जीवन को चार आश्रमों में और मानव समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है। इसी को वर्णाश्रम व्यवस्था कहते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। मनुष्य अपना व्यक्तिगत अभ्युदय तभी कर सकता है, जबकि वह क्रमशः चारों आश्रमों के धर्मों का पालन करे। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य अपने शरीर, मन और आत्मा की शक्तियों का विकास करता है। उसे तपस्या का जीवन बिताना होता है, और संसार के भौतिक सुखों तथा भोग-विलास से पृथक् रहकर ज्ञानोपार्जन में ही अपना सब ध्यान लगाना होता है। गृहस्थ आश्रम में मनुष्य आर्थिक उत्पादन करता है, और सांसारिक सुखों का भोग करता है। पर उसे अपना सम्पूर्ण जीवन सम्पत्ति के उपार्जन तथा सुख-भोग में ही नहीं बिता देना है। पच्चीस वर्ष गृहस्थ रहकर उसे वानप्रस्थ हो जाना चाहिए। वानप्रस्थ आश्रम स्वाध्याय के लिए है, और उसमें रहते हुए मनुष्य को इन्द्रियजयी होकर सबके प्रति मैत्री तथा करुणा की भावना रखते हुए सबके हित-कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मानवजीवन का अन्तिम आश्रम संन्यास है। "जो ब्रह्मज्ञानी हो और जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाए वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह संन्यासी कहाता है।" क्योंकि मनुष्य का चरम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है, अतः संन्यास आश्रम में प्रवेश कर वह सब प्रकार से दुष्ट कर्मों का त्याग कर उत्तम स्वभावयुक्त हो जाता है और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करता है, जिससे कि मोक्ष का मार्ग उसके लिए प्रशस्त हो

जाता है। मानवजीवन के इन चारों आश्रमों का और उनमें मनुष्य के कर्तव्यों का सत्यार्थ-प्रकाश में विशद् रूप से प्रतिपादन किया गया है। मनुष्य जिस आश्रम में हो, उसके कर्तव्यों या धर्मों का उसे विधिवत् व निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए, इसी में उसका हित है। आश्रम धर्म का पालन करके ही मनुष्य ऊँचा उठ सकता है, और अपने व्यक्तिगत तथा सामुदायिक हित-कल्याण में समर्थ हो सकता है।

भौतिक क्षेत्र में मनुष्य बहुत उन्नति कर चुका है। भौतिक विज्ञानों के विकास के कारण उसके हाथों में ऐसे साधन आ गए हैं, जिनका उपयोग कर उसका जीवन सांसारिक दृष्टि से बहुत सुखी हो सकता है। पर जहाँ तक मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, उसमें अभी कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। वह अब भी ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, दर्प आदि का शिकार है, और अपने स्वार्थ साधन के लिए तत्पर रहता है। इसका कारण यही है, कि उसके सम्मुख निःश्रेयस प्राप्ति का उच्च आदर्श नहीं है, और वह भौतिक सुखों की प्राप्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझता है। संसार में आज जो सर्वत्र हिंसा और अशान्ति का वातावरण है, उसका यही कारण है। इसी के परिणाम-स्वरूप मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में भी शान्ति और सन्तोष का अभाव है। मानव जीवन की इस गम्भीर समस्या के समाधान का एक सशक्त साधन आश्रम धर्म का पालन है, क्योंकि उस द्वारा एक उच्च आदर्श मनुष्य के सम्मुख सदा उपस्थित रहता है। वह केवल अपने लिए ही नहीं जीता, अपितु अपने जीवन का उपयोग दूसरों के सुख एवं हित-कल्याण के लिए करता है। गृहस्थ आश्रम में उसकी शक्ति अपने परिवार के हित के लिए प्रयुक्त होती है, और वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों में सब मनुष्यों तथा प्राणिमात्र के हितकल्याण के लिए। उसके ममत्व तथा आत्मभाव का क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता जाता है। गृहस्थ आश्रम में वह तभी सुख अनुभव करता है, जब उसकी पत्नी तथा सन्तान भी सुखी हों, क्योंकि उसके ममत्व तथा आत्मभाव का क्षेत्र केवल अपने तक ही सीमित न रहकर अपने परिवार तक विस्तृत हो गया होता है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में आत्मभाव का क्षेत्र और अधिक विस्तृत होने लगता है, और मनुष्य न केवल सब मनुष्यों में ही, अपितु प्राणिमात्र में आत्मभावना विकसित कर लेता है। ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, दर्प, स्वार्थ आदि से ऊँचा उठने का यही उपाय है। इसी से मानव समाज का कल्याण सम्भव है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश में आश्रम धर्म का विशद रूप से प्रतिपादन कर मनुष्यों को वह मार्ग प्रदर्शित कर दिया है, जिस पर चलकर वे लौकिक अभ्युदय के साथ-साथ निःश्रेयस की ओर भी अग्रसर हो सकते हैं।

सामुदायिक अभ्युदय तथा सामूहिक हितकल्याण के लिए सत्य सनातन वैदिक धर्म में वर्णव्यवस्था का विधान किया गया है। वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जिस प्रकार शरीर के विविध अंग एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं, उसी प्रकार समाज के ये चारों अंग परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक होते हैं। वर्णविभाग का आधार जन्म न होकर गुण, कर्म और स्वभाव हैं। सब मनुष्यों की क्षमता, योग्यता, प्रवृत्ति तथा स्वभाव एकसदृश नहीं होते। उनकी प्रकृति में भी अन्तर होता है। जन्म से सभी मनुष्य शूद्र होते हैं, क्योंकि शैशव की दशा में उनके गुण आदि अविकसित दशा में रहते हैं। पर ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर उनकी प्रवृत्तियों, क्षमता, बल तथा गुणों आदि का विकास होते लगता है, और वे अपने गुण, कर्म तथा

स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण आदि वर्ण प्राप्त करते हैं। प्रत्येक वर्ण के अपने-अपने कर्म हैं। यदि सब मनुष्य अपने-अपने वर्ण के धर्म का पालन करते रहें, तब समाज का उन्नति पथ पर आरूढ़ रहना सुनिश्चित है। वर्णों में न कोई छोटा है न बड़ा है, न कोई नीच है न कोई उच्च है। सब एक-दूसरे के पूरक हैं। समाज में बुद्धिजीवी भी चाहिएँ, वीर योद्धा एवं प्रशासक भी, उद्योगपति, शिल्पी, व्यापारी और कृषक भी, तथा श्रमजीवी भी। उनमें विरोध की कोई गुञ्जाइश ही नहीं है, बशर्ते कि सब अपने-अपने स्वधर्म का पालन करें और केवल अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न होकर सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझें। वर्ण विभाग केवल इस कारण है, क्योंकि मनुष्यों की प्रवृत्ति, क्षमता और स्वभाव में भेद है, और साथ ही मनुष्यों के सामूहिक हित के लिए विविध प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव वाले मनुष्यों का परस्पर सहयोग से कार्य करना और प्रीतिभाव से एक साथ रहना आवश्यक है। पर समाज का संगठन न्याय पर आधारित होना चाहिए। ऐसे समाज का निर्माण कर सकना तभी सम्भव है, जब सब मनुष्यों को शिक्षा प्राप्त करने और अपनी क्षमता तथा गुणों को विकसित करने का समान अवसर प्राप्त हो, और साथ ही अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप कार्य तथा सामाजिक स्थिति प्राप्त करने का भी पूरा-पूरा अवसर हो। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वर्णव्यवस्था का जो रूप प्रतिपादित किया है, सामाजिक न्याय की पूर्णरूप से स्थापना उसी द्वारा हो सकती है।

न्याय पर आधारित समाज के निर्माण के लिए वर्णाश्रम धर्म का अविकल रूप से पालन आवश्यक है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर महर्षि ने पठन-पाठन की विधि, ब्रह्मचर्य का पालन, वयस्क आयु में विवाह, स्त्री-पुरुष का परस्पर सम्बन्ध, पिता-पुत्र और गुरु-शिष्य में सम्बन्ध, विविध वर्णों का पारस्परिक व्यवहार, शूद्रों के प्रति वृत्ति, छुआछूत और भक्ष्याभक्ष्य आदि विविध विषयों पर विशद रूप से प्रकाश डाला है। सामुदायिक जीवन का सर्वोच्च रूप राज्य है। राज्यसंस्था ही सर्वोच्च समुदाय है। अन्य सब समुदायों को नियन्त्रण में रखना राज्यसंस्था का महत्त्वपूर्ण कार्य है। मनुष्यों का हित-कल्याण प्रायः राज्यसंस्था पर ही निर्भर करता है। इसीलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश में राजधर्म का भी विशद रूप से निरूपण किया है। राज्य क्या है, उस का शासन किस प्रकार किया जाना चाहिए, शासन शक्ति का प्रयोग किस प्रकार और किस द्वारा किया जाना उचित है, न्याय व्यवस्था का क्या रूप हो, कर कौन से लिए जाएँ, दण्ड विधान का क्या स्वरूप हो, किन दशाओं में युद्ध किया जाए और राज्य के संविधान व शासन पद्धति का क्या रूप हो—इन सब बातों के मूल सिद्धान्तों का भी सत्यार्थप्रकाश में निरूपण कर दिया गया है। यथार्थ बात यह है कि मनुष्यों के वैयक्तिक तथा सामूहिक हितकल्याण के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, वह सब सत्यार्थप्रकाश में प्रतिपादित है, क्योंकि वह सब धर्म का अंग है। अन्य कोई भी धर्मग्रन्थ ऐसा नहीं है, जिसमें धर्म के सब अंगों का इतने विशद एवं स्पष्ट रूप से निरूपण किया गया हो।

पर मानव जीवन का लक्ष्य केवल व्यक्तिगत या सामूहिक हितकल्याण ही नहीं है। उसका चरम लक्ष्य निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति है, जिसके लिए सृष्टि के सब तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान अनिवार्य है। आँखों से दिखाई देने वाले वाले व इन्द्रियगोचर इस जगत् से परे भी कोई सत्ता है या नहीं, स्थूल शरीर से भिन्न क्या कोई ऐसी भी सत्ता है शरीर के विनाश के साथ जो नष्ट नहीं हो जाती, और इस चर-अचर जगत् का कोई नियन्ता

व संचालक है या नहीं—ये तथा ऐसे कितने ही प्रश्न हैं जो विचारशील मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होते रहते हैं। इनका समुचित उत्तर पाकर ही मनुष्य मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। यदि मनुष्य यह मानने लगे कि इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता है ही नहीं, शरीर के साथ ही जीव का भी अन्त हो जाता है, न कोई परलोक है और न पुनर्जन्म होता है, तो जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण वही हो जाएगा जो चार्वाकों का था। उनका कथन था, कि जब शरीर के भस्म हो जाने पर जीव का पुनरागमन होता ही नहीं, तो धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि का विवेक ही व्यर्थ है। अतः मनुष्य को केवल भौतिक सुख-साधन में ही तत्पर रहना चाहिए। पर सनातन वैदिक धर्म के अनुसार पुनर्जन्म, परलोक, जीवात्मा आदि की भी सत्ता है, और मनुष्य को भौतिक व सांसारिक अभ्युदय के साथ-साथ निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य प्रकृति, जीवात्मा और परमेश्वर के सम्बन्ध में सही-सही ज्ञान प्राप्त करे। सत्यज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव ही नहीं है (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः), इस तथ्य को दृष्टि में रखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के स्वरूप का विशद रूप से प्रतिपादन किया है, और साथ ही मोक्ष प्राप्ति के उपायों पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार महर्षि द्वारा विरचित सत्यार्थप्रकाश एक सर्वांग-सम्पूर्ण धर्मग्रन्थ की स्थिति प्राप्त कर लेता है, क्योंकि उसमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों के साधन उपदिष्ट हैं।

महात्मा गौतम बुद्ध एक महान् धर्म सुधारक थे। धर्म के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने किए, उनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। पर उन्होंने दार्शनिक प्रश्नों की उपेक्षा की। ईश्वर है या नहीं, जीवात्मा का क्या स्वरूप है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, ऐसे प्रश्नों पर विचार करने की उन्होंने कोई आवश्यकता नहीं समझी। उनका कथन था, कि मनुष्य के हितकल्याण के लिए सदाचरण ही पर्याप्त है, दार्शनिक प्रश्नों के जाल में फँसना उसके लिए निरर्थक है। इसी कारण उन्होंने अष्टांगिक आर्य मार्ग का प्रतिपादन किया। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् विचार और सम्यक् ध्यान—धर्म के ये आठ अंग हैं, जिन्हें बुद्ध सदाचरण के लिए आवश्यक मानते थे और जिनका साधन कर मनुष्य दुःखों से बचा रह सकता है। बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म व जटिल दार्शनिक विचारों को स्थान नहीं दिया। इनकी उन्होंने उपेक्षा की। उनका मत था कि जीवन की पवित्रता और आत्म-कल्याण के लिए इन पर विचार करना लाभकारी नहीं है। पर मनुष्यों में इन प्रश्नों के सम्बन्ध में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। बौद्ध लोग भी इस जिज्ञासा से बचे नहीं रह सके, और उन्होंने बहुत-से ऐसे दार्शनिक सम्प्रदायों को विकसित कर लिया, जो एक-दूसरे के विरोधी हैं। बुद्ध के निर्वाण के केवल सौ वर्ष पश्चात् बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों (स्थविरवाद और महासांघिक) में विभक्त हो गया था, और तीन सौ वर्ष बाद अठारह सम्प्रदायों में। इन अठारह सम्प्रदायों के भी अनेक उपसम्प्रदाय थे। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में लिखे गए बौद्ध ग्रन्थ 'कथावत्थु' में बौद्ध धर्म के २१४ वादों का विवेचन किया गया है। यह इस तथ्य को सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि दार्शनिक बातों की उपेक्षा कर महात्मा बुद्ध ने एक भूल की थी। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यह भूल नहीं की। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति, जीव प्रकृति और

परमेश्वर का अनादित्व, पुनर्जन्म, परलोक, मोक्ष आदि सब दार्शनिक प्रश्नों का विवेचन किया है, और इनके सम्बन्ध में सन्देह एवं मतभेद की कोई गुञ्जाइश नहीं रखी है। महर्षि दयानन्द एकेश्वरवाद में विश्वास रखते थे। उनका मत था कि ईश्वर अनादि, अजन्मा, निराकार, सर्वव्यापक और सच्चिदानन्द रूप है। उसकी मूर्ति हो ही नहीं सकती, अत: मूर्तिपूजा अनुचित है। महर्षि के दार्शनिक मन्तव्यों का एक पृथक् अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि दार्शनिक तथ्यों का स्पष्ट रूप से निरूपण कर महर्षि ने उस मार्ग को निभ्रान्ति रूप से प्रदर्शित कर दिया है, जिसका अनुसरण कर नि:श्रेयस की प्राप्ति की जा सकती है। वस्तुत:, सत्यार्थप्रकाश एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें धर्म का कोई भी अंग प्रतिपादित होने से शेष नहीं रहा है। यही कारण है, जो हमने उसे एक सर्वांग-सम्पूर्ण धर्मग्रन्थ या धर्मशास्त्र की संज्ञा दी है।

विविध सम्प्रदायों व मत-मतान्तरों के अनुयायी जिन पुस्तकों को अपना-अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं, उनके साथ सत्यार्थप्रकाश की तुलना करना हम आवश्यक व उपयोगी नहीं समझते। केवल श्रीमद्भगवद् गीता का इस प्रसंग में उल्लेख करना उपयोगी हो सकता है। गीता एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व मान्य धर्मग्रन्थ है। प्राच्य और पाश्चात्य प्राय: सभी विद्वान् उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। उसे उपनिषदों का सार कहा गया है। "सब उपनिषदें गाय के समान हैं, और कृष्ण उनका दोहन करने वाले हैं। उपनिषद् रूपी गौवों को दुहकर कृष्ण ने जो दुग्धामृत निकाला है, वही श्रीमद्भगवद् गीता है।" यह कथन भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में गीता के महत्त्व पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है। इसमें सन्देह नहीं, कि गीता में आत्मा की अमरता, निष्काम कर्म, परमेश्वर की भक्ति तथा ज्ञान, कर्म और भक्ति मार्गों में समन्वय आदि कितने ही अत्यन्त उच्च, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विषयों का सुचारु रूप से निरूपण किया गया है। उसे पढ़कर मनुष्य को अपने कर्तव्य का बोध होता है, और वह सुख-दु:ख, जय-पराजय और हानि-लाभ की परवाह न कर कर्तव्यपालन के लिए तत्पर हो जाता है। सब कार्य हमें परमेश्वर के अर्पण करके ही सम्पादित करने हैं, गीता द्वारा यह उपदेश भी दिया गया है। पर मानव जीवन तथा मानवसमाज के सब अंगों पर उससे मार्ग दर्शन नहीं होता। मनुष्य के अन्य मनुष्यों के साथ जो अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, उनका क्या स्वरूप हो, गीता इस विषय में प्राय: चुप है। यह विशेषता केवल सत्यार्थप्रकाश की ही है, कि धर्म का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जिस पर उससे मार्गदर्शन न होता हो।

सत्यार्थप्रकाश में धर्म का जो रूप प्रतिपादित किया गया है, वह तर्क, युक्ति और वेदशास्त्रों के प्रमाणों पर आधारित है। केवल तर्क द्वारा सत्य का निर्णय कर सकना सम्भव नहीं होता। जो बातें प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से नहीं जानी जा सकतीं, उनके लिए शब्द प्रमाण (वेद शास्त्रादि) का आश्रय लेना ही पड़ता है। वेद, मनुस्मृति सदृश स्मृतिग्रन्थों तथा उपनिषदों आदि को आर्यों (हिन्दुओं) के सभी सम्प्रदाय प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं, यद्यपि स्वत:प्रामाण्य केवल वेदों का है। अत: महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ईश्वर,मोक्ष सदृश विषयों के प्रतिपादन के लिए युक्ति और तर्क के साथ-साथ वेदों का भी आश्रय लिया है, और राजधर्म, वर्णाश्रम धर्म आदि के लिए मनुस्मृति सदृश धर्मग्रन्थों का भी।

धर्म के सब अंगों का निरूपण महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के पूर्वार्द्ध

में दस समुल्लासों में किया है। मानवजीवन के चारों आश्रमों के धर्म सत्यार्थप्रकाश के दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें समुल्लास में प्रतिपादित हैं, और चारों वर्णों के चौथे समुल्लास में। शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों और पठन-पाठन विधि का विवेचन दूसरे और तीसरे समुल्लास में किया गया है, और विवाह, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तथा नियोग का चौथे समुल्लास में। क्या सदाचार है और क्या अनाचार, एवं क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य, इसका विवेचन दसवें समुल्लास में है। छठे समुल्लास में राजधर्म पर प्रकाश डाला गया है। पहले, सातवें, आठवें और नवें समुल्लासों का सम्बन्ध परा विद्या के साथ है, और इनमें एकेश्वरवाद, ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर का अस्तित्व, जीव की ईश्वर से भिन्नता सृष्टि की उत्पत्ति, विद्या और अविद्या तथा मुक्ति आदि आध्यात्मिक, पारलौकिक व दार्शनिक विषयों का निरूपण है। इन पर महर्षि के मन्तव्य इतने स्पष्ट हैं कि उनमें किसी सन्देह, भ्रान्ति व मतभेद का अवकाश ही नहीं है। इसीलिए आर्यसमाज में उस प्रकार के परस्परविरोधी दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव व विकास हो ही नहीं सकता, जैसा कि बौद्धों में हुआ था। महर्षि द्वारा प्रतिपादित पूजाविधि भी सर्वथा स्पष्ट है। उसमें पंच-महायज्ञों का समावेश है। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी को केवल दो यज्ञ (ब्रह्म-यज्ञ और देव यज्ञ या अग्निहोत्र) करने होते हैं, और गृहस्थ को पाँचों यज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ और भूतयज्ञ)। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना महर्षि द्वारा प्रतिपादित पूजाविधि के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। सत्यार्थप्रकाश में वह सब पूजापाठ, याज्ञिक अनुष्ठान आदि विशद रूप से प्रतिपादित हैं, जिन द्वारा मनुष्य लौकिक अभ्युदय के साथ निःश्रेयस की साधना में भी तत्पर हो सकता है।

सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध में चार समुल्लास हैं, जिनमें विविध सम्प्रदायों तथा मत-मतान्तरों के सिद्धान्तों, मन्तव्यों तथा पूजापद्धति आदि का तर्कसंगत रूप से विवेचन किया गया है। सत्य सनातन वैदिक धर्म में जिन अनेक ऐसे सम्प्रदायों का विकास हो गया था, जिनके बहुत-से मन्तव्य वेदविरुद्ध हैं, उनकी विवेचना ग्यारहवें समुल्लास में की गई है। ये सम्प्रदाय वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं, और ईश्वर में भी विश्वास रखते हैं। इन्हें वैदिक धर्म का विकृत या परिवर्तित रूप कहा जा सकता है। हिन्दू धर्म का जो रूप उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में प्रचलित था, वह विशुद्ध वैदिक न होकर पौराणिक था। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में उसी की आलोचना की है। बारहवें समुल्लास में उन सम्प्रदायों व मतों की समीक्षा है, जो वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते। तेरहवें समुल्लास में क्रिश्चियन मत की समीक्षा है, और चौदहवें समुल्लास में इस्लाम की।

विभिन्न मतों के विवेचन, समीक्षा या खण्डन में महर्षि का क्या प्रयोजन था, यह सत्यार्थप्रकाश की भूमिका के निम्नलिखित वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है—"इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं वे-वे सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो-जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उन-उनका खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि सब मत-मतान्तरों की गुप्त वा प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है, जिससे सबसे सबका विचार होकर परस्पर मैत्री हो के एक सत्य मतस्थ होवें।" वैदिक धर्म से भिन्न जो बहुत-से सम्प्रदाय व मत-मतान्तर हैं उनमें भी सत्य बातें हैं, इस तथ्य को महर्षि ने

स्वीकार किया है। ये बातें 'सबमें अविरुद्ध' या सबमें एक समान हैं, अतः उन्हें लिखने या उन्हें प्रतिपादित करने से कोई लाभ नहीं है। आवश्यकता इस बात की है, कि उनमें जो बातें प्रकट रूप से या गुप्त रूप से बुरी व असत्य हैं, उन्हें प्रकाश में लाया जाए और उनका खण्डन किया जाये। सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध में महर्षि ने यही किया है। उत्तरार्द्ध के चार समुल्लासों में अन्य मतों के खण्डन में उनका जो प्रयोजन व उद्देश्य था, उसे बार-बार स्पष्ट किया गया है। "इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो इसलिए यह ग्रन्थ बनाया है। जो-जो इसमें सत्य मत का मण्डन और असत्य का खण्डन लिखा है वह सबको जनाना ही प्रयोजन समझा गया है। इसमें जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या और जितना इन चारों मतों के मूल ग्रन्थ देखने से बोध हुआ है उसको सबके आगे निवेदित कर देना मैंने उत्तम समझा है, क्योंकि विज्ञान गुप्त हुए का पुनः मिलना सहज नहीं है। पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्यासत्य मत सबको विदित हो जाएगा। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा। ··· मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्याय दृष्टि से वर्तना अति उचित है। मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने के लिए है, न कि वाद-विवाद, विरोध करने-कराने के लिए। इसी मत-मतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे, उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मत-मतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द नहीं होगा।"[1]

बारहवें समुल्लास में बौद्ध, जैन आदि नास्तिक मतों की समीक्षा करने से पूर्व महर्षि ने अनुभूमिका में अपने प्रयोजन को इस प्रकार व्यक्त किया है—"जो-जो हमने इनके मत के विषय में लिखा है वह केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है न कि विरोध या हानि करने के अर्थ। इस लेख को जब जैनी, बौद्ध वा अन्य लोग देखेंगे तब सबको सत्यासत्य के निर्णय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा। जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाए तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता, तभी अविद्वानों को महाअन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है, इसीलिए सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद या लेख करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।"

अन्य मतों की समीक्षा व खण्डन महर्षि ने किस प्रयोजन से किया, इसे स्पष्ट करने के लिए सत्यार्थप्रकाश से कुछ अन्य उद्धरण देना भी उपयोगी होगा। तेरहवें समुल्लास की अनुभूमिका में उन्होंने लिखा है—"यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिए है न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ। ··· इससे एक यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि मनुष्यों को धर्म विषयक ज्ञान बढ़कर यथायोग्य सत्यासत्य मत और कर्तव्याकर्तव्य कर्म सम्बन्धी विषय विदित होकर सत्य और कर्तव्य कर्म का स्वीकार असत्य और अकर्तव्य कर्म का परित्याग करना सहजता से हो सकेगा। ··· मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है जितना अपना

१. सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास की अनुभूमिका, पृ० २६०-६१।

पठित वा श्रुत है उतना निश्चय कर सकता है। यदि एकमत वाले दूसरे मत वाले के विषयों को जानें और अन्य न जानें तो यथावत् सम्वाद नहीं हो सकता किन्तु अज्ञानी किसी भ्रम रूप बाड़े में घिर जाते हैं, ऐसा न हो इसीलिए इस ग्रन्थ में प्रचलित सब मतों का विषय थोड़ा-थोड़ा लिखा है। इतने ही से शेष विषयों में अनुमान कर सकता है कि वे सच्चे हैं वा झूठे। जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं वे तो सबमें एक से हैं। झगड़ा झूठे विषयों में होता है।" इसी भाव को महर्षि ने चौदहवें समुल्लास की अनुभूमिका में भी दोहराया है। वे बार-बार इस तथ्य को प्रबल रूप से प्रस्तुत कर देना चाहते हैं कि अन्य सम्प्रदायों व मत-मतान्तरों की आलोचना व खण्डन करने में उनका प्रयोजन विरोधभाव न होकर सत्यासत्य के निर्णय में सहायक होना ही है। महर्षि यह भी भली भाँति जानते थे कि अन्य मतों की आलोचना उन मतावलम्बियों को बुरी लगेगी। इसीलिए गीता के एक श्लोक (अध्याय १८, श्लोक ३७) "यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्" को उद्धृत कर उन्होंने लिखा है कि "जो-जो विद्या और धर्म प्राप्ति के कर्म हैं वे प्रथम करने में विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ ३)। किसी मत की असत्य बातों का खण्डन उस मत के अनुयायियों को बुरा लगना सर्वथा स्वाभाविक है। पर अच्छा काम शुरू में बुरा लग सकता है, यद्यपि उसका परिणाम सदा अच्छा व अमृत सदृश होता है। इसी प्रकार विविध मत-मतान्तरों के अनुयायियों को जब अपने मतों के असत्य का बोध हो जायेगा, तब वे उसका परित्याग कर सत्य को ग्रहण करने में तत्पर हो सकेंगे। इस प्रकार असत्य बातों का खण्डन मनुष्यों के लाभ के लिए ही है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध में वेद विरोधी मतों व सम्प्रदायों के खण्डन का एकमात्र प्रयोजन सत्य व असत्य का निर्णय करना ही था। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अन्य मतों की समीक्षा की जो शैली महर्षि ने अपनायी है वह उपयुक्त है या नहीं। साथ ही, जिस ढंग से अन्य मतों की आलोचना उन्होंने की है उसे क्या युक्तियुक्त व समुचित माना जा सकता है। इन प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की उन परिस्थितियों को हमें दृष्टि में रखना चाहिए जब कि महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश की रचना की थी। सत्यार्थप्रकाश को लिखे एक सदी का समय बीत चुका है। इस काल में भारत में शिक्षा का बहुत प्रचार हुआ है, नव-जागरण की प्रवृत्तियों ने न केवल विद्वानों को ही, अपितु जनसाधारण को भी प्रभावित किया है, और नये ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने का भारतीयों को अवसर प्राप्त हुआ है। इस सबसे उनके चिन्तन में बहुत परिवर्तन आ गया है। अब वे अपने धार्मिक मन्तव्यों, कर्मकाण्ड, पूजाविधि आदि की नवीन दृष्टिकोण से व्याख्या करने लग गये हैं। यही नहीं, अपने धर्म-ग्रन्थों को भी उन्होंने नये प्रकाश में प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया है, और अन्धविश्वासों, रूढ़ियों तथा संकीर्ण रीति-रिवाजों तक को वे युक्तिसंगत रूप देने लग गये हैं। पर उन्नीसवीं सदी के तृतीय चरण में यह बात नहीं थी। उस समय के बहुसंख्यक पुजारी, महन्त एवं साधु प्राय: अर्द्धशिक्षित थे, शास्त्रों का उनका ज्ञान गम्भीर नहीं था, अन्ध-विश्वासों और रूढ़िवाद से वे ग्रस्त थे और उनका दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित था। भूत, प्रेत और चमत्कार आदि में उन्हें अगाध विश्वास था, और पुराणों की ऐसी गाथाओं व बातों को भी वे आँख मींचकर स्वीकार करते थे, जिन्हें कदापि युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, कि उस समय हिन्दू धर्म के विविध सम्प्रदाय अनेक

प्रकार के ग्रन्धविश्वासों ग्रौर पाखण्ड से परिपूर्ण थे, ग्रौर काली, कामाक्षा, जगन्नाथ, कालियाकान्त, सोमनाथ ग्रादि की मूर्तियों के चमत्कारों पर लोगों का ग्रन्धविश्वास था। धर्म के नाम पर ग्रनेकविध ऐसी गुह्य क्रियाग्रों का भी कतिपय सम्प्रदायों की पूजाविधि में समावेश हो गया था, जो नैतिकता के सर्वथा विरुद्ध हैं। कतिपय सम्प्रदाय तो पंचमकार के सेवन को भी धर्म का ग्रंग मानने लग गये थे। ऐसी दशा में किसी भी सच्चे सुधारक के लिए यह ग्रावश्यक था, कि वह उनका खण्डन करता ग्रौर तर्क तथा वेदशास्त्र के प्रमाणों से यह सिद्ध करता कि ये बातें सत्य सनातन ग्रार्य धर्म के विपरीत हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यही किया, ग्रौर उन्होंने ग्रपनी सशक्त ग्रावाज हिन्दू धर्म में प्रचलित ग्रन्ध-विश्वासों, पाखण्ड तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध उठाई। वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप को पुनःस्थापित करने का महान् उद्देश्य उनके सम्मुख था। इसके लिए यह ग्रावश्यक था, कि ग्रसत्य का खण्डन ग्रौर सत्य का मण्डन किया जाए। सत्यार्थप्रकाश के पूर्वार्द्ध में वे सत्य का मण्डन कर चुके थे। ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने उन मिथ्या-विश्वासों, मन्तव्यों, धारणाग्रों तथा दुराचरण का खण्डन किया, जो विविध हिन्दू मत-मतान्तरों में समाविष्ट थे। सत्य सनातन ग्रार्य धर्म की स्थापना ऐसा किये बिना नहीं हो सकती थी।

बारहवें समुल्लास में जिन चार्वाक, बौद्ध ग्रौर जैन मतों की समीक्षा की गई है, उनका बहुत कम साहित्य उन्नीसवीं सदी के तृतीय चरण में उपलब्ध था। बौद्ध मत के भारत से लुप्त हुए सदियाँ बीत चुकी थीं ग्रौर उसके ग्रन्थ श्रीलंका, बरमा, तिब्बत ग्रादि सीमान्तवर्ती देशों में ही उपलब्ध थे, ग्रौर वे भी प्रायः हस्तलिखित रूप में। बौद्ध साहित्य का ग्रनुशीलन पाश्चात्य विद्या केन्द्रों में शुरू ग्रवश्य हो चुका था, पर वह ग्रभी प्रारम्भिक दशा में था। जैन ग्रन्थ ग्रच्छी बड़ी संख्या में भारत में विद्यमान थे, पर ग्रभी वे मुद्रित नहीं हुए थे, ग्रौर जैन मुनि व विद्वान् उन्हें ग्रपने तक ही सीमित रखना चाहते थे। चार्वाक सम्प्रदाय के ग्रन्थ तो प्रायः उपलब्ध थे ही नहीं। इस दशा में महर्षि दयानन्द सरस्वती के लिए इन सम्प्रदायों के मन्तव्यों की समीक्षा करना सुगम नहीं था। उन्होंने बड़े प्रयत्न से जैन धर्म के बहुत-से ग्रन्थों को प्राप्त किया था, ग्रौर उन्हीं के ग्राधार पर उसके मन्तव्यों की ग्रालोचना की थी।

क्रिश्चिएनिटी की समीक्षा के लिए वह कठिनाई नहीं थी, जो बौद्ध ग्रादि नास्तिक मतों के लिए थी। बाइबल के ग्रनुवाद ग्रनेक भारतीय भाषाग्रों में हो चुके थे, जो विद्वान् ईसाई पादरियों द्वारा किये गये थे। इन्हीं को सम्मुख रखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने क्रिश्चिएनिटी की ग्रालोचना की है। गत एक सदी में यूरोप व ग्रन्य पाश्चात्य देशों में ज्ञान-विज्ञान का जिस ढंग से ग्रसाधारण विकास हुग्रा है, उसके परिणामस्वरूप ईसाई पादरियों ने भी बाइबल की व्याख्या नये ढंग से प्रारम्भ कर दी है, ग्रौर वे उसके सिद्धान्तों को युक्तिसंगत रूप से प्रतिपादित करने लग गये हैं। पर उन्नीसवीं सदी के ईसाई पादरियों का मानसिक स्तर ग्रन्य सम्प्रदायों के धर्माचार्यों की तुलना में विशेष ऊँचा नहीं था, ग्रौर ज्ञान-विज्ञान से भी वे ग्रधिक परिचय नहीं रखते थे। बाइबल की कथाग्रों की उन द्वारा की जाने वाली व्याख्या पौराणिक कथाग्रों से ग्रधिक भिन्न नहीं थी। इस दशा में सत्यार्थ-प्रकाश के तेरहवें समुल्लास में ईसाई मत की जो समीक्षा की गई है, उसे समुचित ही मानना होगा। वर्तमान समय में भी क्रिश्चियन पादरियों के कितने ही मन्तव्य तर्क की

कसौटी पर खरे नहीं उतरते, और वैज्ञानिक तथ्यों से तो उनका विरोध सर्वथा स्पष्ट है।

इस्लाम की समीक्षा सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास में की गई है। कुरान अरबी भाषा में है। वर्तमान समय में तो प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में उसके अनुवाद उपलब्ध हैं। पर उन्नीसवीं सदी में यह बात नहीं थी। मौलवियों द्वारा तब उर्दू में तो उसका अर्थ व अनुवाद किया जा चुका था, पर हिन्दी में कुरान का अनुवाद नहीं हुआ था। महर्षि ने कुरान के उर्दू अनुवाद को देवनागरी लिपि में लिखवाया और आर्य भाषा (हिन्दी) में उसका अनुवाद भी कराया। उसकी आलोचना करने से पूर्व महर्षि ने यह भी आवश्यक समझा, कि अरबी भाषा के सुयोग्य विद्वानों से उसे शुद्ध करवा लिया जाए, ताकि किसी को यह कहने का अवसर न मिले कि जिन बातों की विवेचना की जा रही है, वे कुरान में हैं ही नहीं। किसी धर्म व सम्प्रदाय के मत की समीक्षा केवल सत्य और असत्य के निर्णय के लिए ही की जाए, और किसी के धर्मग्रन्थ के प्रति अन्याय न होने पाए, इस सम्बन्ध में महर्षि कितने जागरूक थे, इसे स्पष्ट करने के लिए कुरान का सही हिन्दी अनुवाद कराने के लिए उनका प्रयत्न ही पर्याप्त है। कुरान की आलोचना करने से पूर्व चौदहवें समुल्लास की अनुभूमिका में महर्षि ने इस्लाम की समीक्षा का जो प्रयोजन लिखा है, वह उद्धरण के योग्य है—"यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिए सब मतों के विषय का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक-दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों को ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर न इस मत पर झूठे-मूठे बुराई वा भलाई का प्रयोजन है किन्तु जो भलाई है वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने या माने किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता और यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों को ग्रहण और दोषों का त्याग करे और हठियों का हठ दुराग्रह न्यून करे करावे, क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं।... इसमें जो कुछ विरुद्ध लिखा गया हो उसको सज्जन लोग विदित करें तत्पश्चात् जो उचित होगा तो माना जाएगा, क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने लिए किया गया है न कि उसको बढ़ाने के अर्थ, क्योंकि एक-दूसरे की हानि करने से पृथक् रहकर परस्पर का लाभ पहुँचाना हमारा मुख्य कर्म है। अब यह चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों का मत विषय सब सज्जनों के सामने निवेदन करता हूँ, विचार कर इष्ट का ग्रहण अनिष्ट का परित्याग कीजिये।"

विविध मत-मतान्तरों की महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जो समीक्षा की है, उससे उनका एकमात्र प्रयोजन यह था, कि उनमें जो असत्य बातें हैं उन्हें प्रकाश में ले आया जाए, ताकि सब कोई स्वयं सत्यासत्य का निर्णय कर सकें। वे न किसी का विरोध करना चाहते थे, और न किसी को कष्ट पहुँचाना। जो बात असत्य हो, जो मान्यताएँ व प्रथाएँ हानिकारक हों, उन्हें उनके असत्य व हानिकारक रूप में प्रकट करना मनुष्यों के लाभ के लिए ही होता है। महर्षि ने अन्य मतों की आलोचना द्वारा यही कार्य किया था। औषधियाँ प्रायः कड़वी होती हैं, और शुरू में रोगियों को वे विष के समान भी प्रतीत होती हैं, पर उनके सेवन से लाभ होता है, और उनका परिणाम अमृत के तुल्य होता है। यही बात

उस आलोचना के सम्बन्ध में भी सत्य है, जो पाखण्ड, अन्धविश्वास आदि से ग्रस्त जनता को सत्यासत्य का निर्णय करने में सहायता देने के प्रयोजन से की जाती है। महर्षि के शब्दों में "बहुत से हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत वाले लोग। क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फँस के नष्ट हो जाती है। इसलिए जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूँ, वैसा सबको करना योग्य है।" वस्तुतः, सत्यार्थप्रकाश की रचना में महर्षि दयानन्द सरस्वती का मुख्य प्रयोजन यही था, कि "जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या" प्रतिपादित किया जाए। सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध के चार समुल्लासों में भी महर्षि ने यही किया है।

इन समुल्लासों की आलोचना में प्रायः यह भी कहा जाता है, कि इनमें अन्य मत-मतान्तरों के कतिपय मन्तव्यों व पद्धतियों की समीक्षा करते हुए कटु शब्दों का प्रयोग किया गया है, और उनके प्रवर्त्तकों व आचार्यों के प्रति समुचित सम्मान प्रदर्शित नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में यह दृष्टि में रखना चाहिए, कि आलोचना, समीक्षा व खण्डन की शैली सदा एक-सी नहीं रहती। पुराने सन्त-महात्मा अन्य मतों की आलोचना करते हुए किस प्रकार के कटाक्ष करते रहे हैं, इसके लिए सन्त कबीर के दो दोहे उद्धरण के योग्य हैं—

> पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
> ताते या चाकी भली, पीस खाय संसार॥
> काँकर पाथर जोरि के मस्जिद लई चुनाय।
> ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥

मूर्तिपूजक हिन्दुओं और मस्जिद में बाँग देने वाले मुल्लाओं पर किये गये इन कटु कटाक्षों पर कोई विप्रतिपत्ति नहीं की जाती, क्योंकि सन्त कबीर का उद्देश्य पुनीत था। यही बात महर्षि दयानन्द सरस्वती के विषय में भी पूर्णतया सत्य है। सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध के चारों समुल्लासों की अनुभूमिका में उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया है, कि अन्य मतों की समीक्षा का उनका प्रयोजन सत्यासत्य का निर्णय करना है, किसी का मन दुखाना नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्यावर्त और आर्य जाति के अधःपात का मूल कारण महर्षि की दृष्टि में यह था, कि यहाँ बहुत-से ऐसे मत-मतान्तर प्रचलित हो गये थे जो सत्य पर आश्रित नहीं थे और जिनके आचरण के नियम धर्मानुकूल नहीं थे। इनमें जो असत्य था, या सदाचार व धर्म के विरुद्ध बातें थीं, उन्हें प्रकट करना वे भारत तथा विश्व की उन्नति के लिए आवश्यक समझते थे। अन्य मत-मतान्तरों की आलोचना में उनका यही उद्देश्य था। यह सही है कि सब धर्मों व सम्प्रदायों का समुचित सम्मान किया जाना चाहिए, पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनकी ऐसी प्रथाओं और ऐसे आचरणों की आलोचना भी नहीं की जानी चाहिए, जो उनके अनुयायियों को अधःपतन के मार्ग पर ले जाते हों। भारत के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में जो गन्दगी व्याप्त हो गई थी, उसे साफ कर देने के लिए ही महर्षि ने विविध मत-मतान्तरों की समीक्षा की है।

(५) नैत्यिक और नैमित्तिक धर्मानुष्ठान के प्रतिपादक ग्रन्थ

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अनेक ऐसे ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें नैत्यिक और नैमित्तिक धर्मानुष्ठान का प्रतिपादन किया गया है। वैदिक धर्म के अनुयायियों के लिए पंच महायज्ञों का अनुष्ठान आवश्यक है। वे आर्यों के नैत्यिक धर्म हैं। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ—ये पाँच महायज्ञ हैं, जिनका अनुष्ठान करना सब गृहस्थों के लिए आवश्यक है। वैदिक पूजापद्धति में इनका प्रमुख स्थान है। इन्हीं महायज्ञों को क्रमशः सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र, पितृतर्पण, बलिवैश्वदेव यज्ञ और अतिथि यज्ञ भी कहा जाता है। 'पंचमहायज्ञ विधि' ग्रन्थ की रचना महर्षि ने इन यज्ञों की विधि का प्रतिपादन करने के प्रयोजन से की थी, और उसका पहला संस्करण बम्बई के आर्य प्रेस में मुद्रित होकर सन् १८७४ में प्रकाशित हुआ था। उससे पूर्व महर्षि 'सन्ध्या' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित कर चुके थे (सन् १८६३), जिसमें ब्रह्मयज्ञ या सन्ध्योपासना की विधि निरूपित थी। 'सन्ध्या' पुस्तक संस्कृत में है, और 'पंचमहायज्ञविधि' संस्कृत और हिन्दी दोनों में। आर्यों के धर्मानुष्ठान को प्रतिपादित करने वाला महर्षि का एक अन्य ग्रन्थ 'संस्कार विधि' है, जिसमें सोलह संस्कारों का विधान व विवरण है। ये सोलह संस्कार गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, गृहाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास हैं। मनुष्य की मृत्यु हो जाने पर उसके शव के दाह के लिए अन्त्येष्टि संस्कार का विधान भी इस ग्रन्थ में है। संस्कार विधि का प्रथम संस्करण बम्बई से प्रकाशित हुआ था। उसमें कुछ कमियाँ रह गई थीं, जिनका संशोधन कर बाद में नया संस्करण तैयार किया गया, जो आर्यसमाज के लिए धर्मानुष्ठान के सम्बन्ध में सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थ है। नये संस्करण की आवश्यकता महर्षि द्वारा इन शब्दों में प्रकट की गई थी—"उस (प्रथम संस्करण) में संस्कृत पाठ सब एकत्र और भाषा पाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करने वाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर-दूर होने से कठिनता पड़ती थी। ··· अबकी बार जिस-जिस संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाण वचन और प्रयोजन है वह-वह संस्कार के पूर्व लिखा जाएगा, तत्पश्चात् जो-जो संस्कार में कर्तव्य विधि है उस-उस को क्रम से लिखकर पुनः उस संस्कार-का शेष विषय जो कि दूसरे संस्कार तक करना चाहिए, वह लिखा है, और जो विषय प्रथम अधिक लिखा था उसमें से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है। और अबकी बार जो-जो अत्यन्त उपयोगी विषय है वह-वह अधिक भी लिखा है।" संस्कार विधि में यज्ञों तथा संस्कारों की जो विधि प्रतिपादित है, वेदों तथा धर्मशास्त्रों के आधार पर है। कर्म काण्ड और अनुष्ठानों का प्रत्येक धर्म व सम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। धर्म में उनकी स्थिति कलेवर के समान होती है। हिन्दू (आर्य) धर्म के विविध सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार के धर्मानुष्ठान विद्यमान थे। यज्ञों का प्रतिपादन सर्वत्र था, पर उनके अनुष्ठान की विधि में अन्तर था। संस्कारों की परिपाटी तो प्रायः लुप्त ही हो चुकी थी। उपनयन और विवाह, ये दो संस्कार अवश्य हुआ करते थे। पर उपनयन संस्कार केवल ब्राह्मणों का होता था और विवाह संस्कार की विधि न केवल विविध जातियों में भिन्न-भिन्न थी, अपितु देशभेद से भी उसके अनेक प्रकार थे। इस दशा में एकशदृश धर्मानुष्ठान के अभाव के कारण आर्यों में धार्मिक एकता भी नहीं रह गई थी। महर्षि

दयानन्द सरस्वती ने पंचमहायज्ञ विधि और संस्कार विधि लिखकर वैदिक आर्य धर्म के अनुयायियों के लिए धर्मानुष्ठान की एक ऐसी विधि तैयार कर दी, जिसे सब आर्य समान रूप से स्वीकार कर सकते हैं। इन ग्रन्थों में यज्ञों और संस्कारों की केवल विधि ही प्रतिपादित नहीं की गई हैं, अपितु उनके लाभों और शास्त्रीय आधार पर भी प्रकाश डाला गया है।

इसी प्रसंग में महर्षि द्वारा विरचित 'आर्याभिविनय' पुस्तक का भी उल्लेख किया जाना समुचित होगा। इसमें १०७ वेदमन्त्रों का संग्रह है, जिनमें से ५३ ऋग्वेद से लिये गये हैं और ५४ यजुर्वेद से। वेदमन्त्रों का हिन्दी (आर्य भाषा) में अर्थ भी साथ-साथ दे दिया गया है। ये १०७ मन्त्र ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना के साथ है। अर्थ को समझते हुए इनका पाठ करने पर ईश्वर के गुण मनुष्य के सम्मुख साक्षात् हो जाते हैं, और उसकी प्रवृत्ति ईश्वर भक्ति की ओर होने लगती है। पंच महायज्ञों में प्रथम जो ब्रह्मयज्ञ है, उस द्वारा भी ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की जाती है। इसीलिए उसे सन्ध्योपासन भी कहा जाता है। ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासन) में जो वेदमन्त्र प्रयुक्त होते हैं, उनके अतिरिक्त भी कितने ही मन्त्र वेदों में हैं, जिन द्वारा ईश्वर की भक्ति की जा सकती है। ऐसे ही १०७ मन्त्रों का संग्रह कर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने एक ऐसे ग्रन्थ की रचना कर दी है, जिसे आर्य लोग अपनी प्रार्थना पुस्तक के रूप में प्रयोग में ला सकते हैं। आर्याभिविनय का प्रथम संस्करण सन् १८७६ में बम्बई से प्रकाशित हुआ था।

(६) वेदविरुद्ध मत-मतान्तरों के खण्डन के प्रयोजन से लिखी गई पुस्तकें

वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप की पुनः स्थापना करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती को हिन्दुओं के अनेक सम्प्रदायों व मत-मतान्तरों के ऐसे सिद्धान्तों व मन्तव्यों का खण्डन करने की आवश्यकता हुई थी, जो वेदविरुद्ध थे। इनका प्रतिपादन संस्कृत के पण्डितों द्वारा किया जाता था, और वे उन्हें वेदशास्त्रों के अनुकूल मानते थे। इस दशा में महर्षि ने उनका खण्डन करने के लिए संस्कृत भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, जिनके नामों का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा।

१. भागवत खण्डनम्, सन् १८६४ में ज्वालाप्रकाश प्रेस, आगरा से प्रकाशित।
२. अद्वैतमत खण्डनम्, सन् १८७० में लाइट प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित।
३. वेदान्तिध्वान्तनिवारण, सन् १८७४ में ओरियण्टल प्रेस बम्बई से प्रकाशित।
४. वेदविरुद्ध मत खण्डन, सन् १८७५ में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।
५. शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण, सन् १८७६ में बम्बई से प्रकाशित।
६. भ्रान्तिनिवारण, सन् १८७७ में आर्यभूषण यन्त्रालय, शाहजहाँपुर से प्रकाशित।
७. भ्रमोच्छेदन, सन् १८८० में वैदिक यन्त्रालय, वाराणसी से प्रकाशित।
८. अनुभ्रमोच्छेदन, सन् १८८० में वैदिक यन्त्रालय, वाराणसी से प्रकाशित।

इन आठ ग्रन्थों में भ्रान्तिनिवारण हिन्दी में है, और अन्य सबकी भाषा संस्कृत है। शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण का गुजराती अनुवाद भी संस्कृत के साथ प्रकाशित हुआ

था। यह अनुवाद श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा किया गया था।

(७) संस्कृत भाषा तथा व्याकरण के पठन-पाठन के लिए विरचित पुस्तकें

महर्षि दयानन्द सरस्वती संस्कृत भाषा को बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिए उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में पठन-पाठन की जिस विधि का प्रतिपादन किया है, उसमें संस्कृत भाषा को प्रमुख स्थान दिया गया है। संस्कृत भाषा के समुचित ज्ञान के लिए व्याकरण का बहुत उपयोग है। संस्कृत व्याकरण के लिए जिन ग्रन्थों का उपयोग उन्नीसवीं सदी व उससे पूर्व किया जाता था, वे आर्ष नहीं थे। सिद्धान्त कौमुदी और सारस्वत सदृश व्याकरणों द्वारा वैदिक संस्कृत का समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं था। महर्षि व्याकरण के लिए पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा पातंजल महाभाष्य सदृश ग्रन्थों को उपयोगी मानते थे। साथ ही, वे यह भी समझते थे कि ऐसी पुस्तकों की रचना की जानी चाहिए, जो आर्ष पद्धति के अनुसार लिखी गई हों और जिन द्वारा विद्यार्थी संस्कृत भाषा तथा व्याकरण का स्वल्प समय में सरल रीति से ज्ञान प्राप्त कर सकें। इसी प्रयोजन को दृष्टि में रखकर उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की थी—

१. संस्कृत वाक्य प्रबोध, सन् १८८० में वैदिक यन्त्रालय, वाराणसी से प्रकाशित।

२. वेदांग प्रकाश—इस ग्रन्थ के १४ खण्ड हैं, जिनका प्रकाशन सन् १८८० से १८८३ तक वाराणसी और प्रयाग के वैदिक यन्त्रालयों द्वारा किया गया था।

३. अष्टाध्यायी भाष्य—महर्षि ने संस्कृत व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर भाष्य भी लिखा था। पर वे उसे पूरा नहीं कर सके थे, और उसका प्रकाशन भी उनके जीवन काल में नहीं हो सका था।

इनके अतिरिक्त चार अन्य पुस्तकें हैं, जो अभी अप्रकाशित हैं—१. वार्तिक पाठ सभाष्य। २. अष्टाध्यायी का यादीपत्र। ३. प्राकृत-संस्कृत अनुवाद। ४. महाभाष्य संक्षेप।

(८) आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन एवं शोध के लिए उपयोगी पुस्तकें

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अनेक ऐसी पुस्तकों की भी रचना की थी, जिनसे आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन तथा शोध में बहुत सहायता मिल सकती है। प्राचीन ग्रन्थों के शोध की जिस वैज्ञानिक विधि को वर्तमान समय में प्रयुक्त किया जाता है, उसमें विषय-सूचियों के निर्माण का बहुत महत्त्व है। महर्षि द्वारा आर्ष ग्रन्थों के विषयों आदि की जो सूचियाँ तैयार की या करायी गयी थीं, उनका प्रयोजन भी इन ग्रन्थों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन, अनुशीलन तथा अवगाहन करना था। खेद है कि शोध की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी ये सूचीग्रन्थ अभी प्रायः अप्रकाशित हैं। ये ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—१. चतुर्वेद-विषय सूची। २. ऋग्वेदमन्त्र सूची। ३. यजुर् अथर्व मन्त्र सूची। ४. अथर्व मन्त्र सूची। ५. वेद ब्राह्मण सूची। ६. निरुक्त की विषय सूची। ७. ऐतरेय ब्राह्मण सूची। ८. शतपथ ब्राह्मण विषय सूची। ९. तैत्तिरीयोपनिषद् मिश्रित सूची। १०. ऋग्वेद विषय स्मरणार्थ सूची। ११. शतपथ ब्राह्मण सूची। १२. धातुपाठ सूची। १३. कारिका संकेत सूची-

१४. निघण्टु सूची। १५. ऐतरेय उपनिषद् सूची। १६. छान्दोग्योपनिषद् सूची। १७. ऋग्वेद सूक्त सूची। १८. शतपथ शिलाष्ट प्रतीक सूची।

(९) अन्य मत-मतान्तरों के अध्ययन एवं शोध के लिए उपयोगी पुस्तकें

महर्षि दयानन्द का मत था, कि सबको सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। इसलिए वे यह आवश्यक समझते थे कि अन्य सम्प्रदायों व मत-मतान्तरों के ग्रन्थों का भी समुचित रूप से अध्ययन किया जाए, और उनके मन्तव्यों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति से शोध भी की जाए। कुरान का हिन्दी अनुवाद सबसे पूर्व महर्षि ने ही कराया था, और वह अनुवाद सही है इस बात को उन्होंने विद्वान् मौलवियों द्वारा प्रमाणित भी करा लिया था। अन्य मत-मतान्तरों के अध्ययन व शोध के प्रयोजन से उन्होंने निम्नलिखित पुस्तकों की रचना की या करायी थी—१. कुरान सूची। २. बाइबिल सूची। ३. कुरान (अनुवाद)। ४. जैन धर्म ग्रन्थ सूची। ५. जैन श्लोक संग्रह। ६. रामसनेही मत का गुटका।

ये पुस्तकें भी अभी अप्रकाशित हैं।

(१०) शास्त्रार्थ और व्याख्यान

पौराणिक धर्म तथा अन्य मत-मतान्तरों के आचार्यों व पण्डितों के साथ महर्षि ने अनेक शास्त्रार्थ किये थे, जिनके विवरण पुस्तक रूप में उपलब्ध हैं। इन्हें भी महर्षि की रचनाओं में सम्मिलित किया जा सकता है, क्योंकि इन द्वारा उनके मन्तव्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

१. काशी शास्त्रार्थ—सन् १८६९ में लाइट प्रेस, वाराणसी द्वारा प्रकाशित। इसी शास्त्रार्थ का अन्य विवरण पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा हिन्दू कमन्टेटर के दिसम्बर, १८६९ के अंक में भी प्रकाशित कराया गया था।

२. हुगली शास्त्रार्थ—इस शास्त्रार्थ का विवरण पहले बंगाली भाषा में सन् १८७३ में प्रकाशित हुआ था, और उसका हिन्दी रूप 'प्रतिमा पूजन विचार' नाम से बाद में श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा वाराणसी से प्रकाशित किया गया था।

३. जालन्धर शास्त्रार्थ—सन् १८७७ में पंजाबी प्रेस, लाहौर से प्रकाशित।

४. शास्त्रार्थ मेला चाँदापुर—इस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ का विवरण सबसे पहले सन् १८७८ में उर्दू भाषा में प्रकाशित हुआ था। पर वह इस समय उपलब्ध नहीं है। बाद में सन् १८८० में 'सत्य धर्म विचार' नाम से उसका हिन्दी भाषा में प्रकाशन वैदिक यन्त्रालय, वाराणसी द्वारा किया गया था।

५. बरेली शास्त्रार्थ—इसका प्रकाशन 'सत्यासत्य विवेक' नाम से सन् १८७९ में आर्यभूषण प्रेस, शाहजहाँपुर द्वारा किया गया था।

६. अजमेर शास्त्रार्थ—सन् १८८० में अजमेर में हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में प्रकाशित।

७. मसूदा शास्त्रार्थ—सन् १८८० में अजमेर से प्रकाशित।

८. उदयपुर शास्त्रार्थ—यह शास्त्रार्थ दिसम्बर, १८८२ में हुआ था, पर इसका विवरण महर्षि के जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हो सका था। बाद में पण्डित लेखराम जी

ने इसका वृत्तान्त संकलित कर स्वचरित महर्षि के जीवन चरित्र में संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत कर दिया था।

वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कानपुर, फर्रुखाबाद आदि कितने ही अन्य स्थानों पर भी विधर्मियों से अनेक शास्त्रार्थ किये थे। यद्यपि इनके विवरण पुस्तक रूप में अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं, पर पुरानी पत्र-पत्रिकाओं में उनके वृत्तान्त विद्यमान हैं, और पण्डित लेखराम जी ने "महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र" में उन्हें उल्लिखित भी किया है। महर्षि ने ये विविध शास्त्रार्थ केवल पौराणिक पण्डितों से ही नहीं किये थे, क्रिश्चियन पादरियों और मुसलिम मौलवियों से भी उनके अनेक शास्त्रार्थ हुए थे, जो यह सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं कि महर्षि का इन मतों का ज्ञान भी बहुत व्यापक व गम्भीर था।

महर्षि ने जो बहुत से व्याख्यान विविध नगरों में दिये थे, उनके विवरण यदि उपलब्ध होते, तो धार्मिक व दार्शनिक साहित्य में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता। पर खेद है, कि न तो इनके विवरण अविकल रूप से सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए, और न उन्हें संकलित कर पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया गया। यह तो ज्ञात है, कि आगरा, बम्बई, फर्रुखाबाद आदि नगरों में महर्षि के कितने-कितने व्याख्यान हुए, और बहुत-से व्याख्यानों के विषयों का विवरण भी उपलब्ध है, पर इन व्याख्यानों में महर्षि ने क्या कुछ कहा, यह ज्ञात नहीं है। केवल पूना के व्याख्यान इसके अपवाद हैं। महर्षि सन् १८७५ में पूना गये थे और पूना नगर तथा पूना छावनी में उन्होंने ५० के लगभग व्याख्यान दिये थे। इनकी स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में बहुत चर्चा हुई थी, और इनमें से १५ व्याख्यानों का विवरण भी उनमें प्रकाशित हुआ था। मराठी और गुजराती भाषाओं में प्रकाशित इन पन्द्रह व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद बाद में 'उपदेश मञ्जरी' नाम से एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। महर्षि के मन्तव्यों और विचारों का सही-सही परिचय प्राप्त करने के लिए यह पुस्तक भी बहुत उपयोगी है। महर्षि के व्याख्यानों की शैली का इससे समुचित बोध हो जाता है।

(११) अन्य विविध रचनाएँ

आर्योद्देश्य रत्न माला—महर्षि दयानन्द सरस्वती जब पंजाब में थे, उन्होंने इस पुस्तक की रचना की थी, और चश्मनार प्रेस, अमृतसर से सन् १८७७ के अन्त में इसका प्रकाशन हुआ था। ईश्वर, धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, सत्य भाषण, मिथ्या भाषण, विश्वास, अविश्वास, लोक, परलोक, जन्म, मरण, स्वर्ग, नरक, विद्या, सत्पुरुष, सत्संग, कुसंग, तीर्थ, स्तुति, निन्दा, प्रार्थना, उपासना, निर्गुणोपासना, सगुणोपासना, मुक्ति, मुक्ति के साधन, कर्ता, कारण निमित्त कारण, उपादान कारण, साधारण कारण, जाति, मनुष्य, आर्य, आर्यावर्त, दस्यु, सृष्टि, वर्ण, वर्ण के भेद, आश्रम आदि सौ शब्दों के लक्षण एवं अभिप्राय इस पुस्तक में प्रतिपादित किये हैं, जिन्हें पढ़कर आर्य धर्म के सिद्धान्तों व मन्तव्यों को सरल व स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। पुस्तक सरल हिन्दी में लिखी गई है।

गौकरुणानिधि—महर्षि दयानन्द सरस्वती गौरक्षा के प्रबल समर्थक थे, और गौहत्या पर प्रतिबन्ध लगवाने के लिए उन्होंने सशक्त आन्दोलन का सूत्रपात किया था।

इसी के लिए उन्होंने यह पुस्तक लिखी थी, जिसका प्रयोजन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार था—"यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है कि जिससे गौ आदि पशु यथाशक्ति बचाये जावें और उनके बचाने से दूध, घी और खेती के बढ़ने से सबका सुख बढ़ता रहे।" समीक्षा, नियम और उपनियम इन तीन प्रकरणों में पुस्तक को विभक्त कर महर्षि ने पशुओं की हिंसा का प्रबल रूप से विरोध किया है। इस पुस्तक का विषय केवल गौवध तक ही सीमित नहीं है। भैंस, बकरी, ऊँट, घोड़ा, हाथी, सूअर आदि अन्य पशुओं की हत्या को भी इसमें अनुचित ठहराया गया है, क्योंकि ये भी अनेक प्रकार से मनुष्यों के लिए उपयोगी हैं। पशुहिंसा के विरोध में महर्षि के ये शब्द कितने मार्मिक हैं—"शुभ गुण युक्त सुख कारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले और पापी जन होंगे।" गौ आदि पशुओं की हत्या क्यों नहीं करनी चाहिए, माँस भक्षण से क्या हानियाँ हैं और गौ आदि किस प्रकार मनुष्यों की सुख समृद्धि में सहायक हैं, इन सब बातों का इस पुस्तक में युक्तिसंगत रूप से प्रतिपादन किया गया है।

व्यवहार भानु—यह पुस्तक मार्च, १८८० में वैदिक यन्त्रालय, वाराणसी से प्रकाशित हुई थी। सदाचार और सद्व्यवहार के कितने ही विषयों का इसमें प्रश्न और उत्तर के रूप में प्रतिपादन है, और विषय को स्पष्ट करने के लिए कतिपय कहानियाँ भी इसमें दी गई हैं। गुरु और शिष्य, पति और पत्नी, माता-पिता और सन्तान, राजा और प्रजा आदि में परस्पर क्या सम्बन्ध होना चाहिए, सत्य का क्या स्वरूप है, ब्रह्मचर्य के क्या लाभ हैं, कारोबार और व्यापार में नैतिकता और औचित्य के किन नियमों का पालन किया जाना चाहिए—वे तथा इसी प्रकार के कितने ही विषय हैं, जिनका इस पुस्तक में रोचक व हृदयग्राही रूप से निरूपण किया गया है। पुस्तक हिन्दी में है। इसकी भाषा इतनी सरल और शैली इतनी आकर्षक है, कि इसे हिन्दी गद्य के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती की मातृभाषा हिन्दी नहीं थी, और इस भाषा का ज्ञान उन्होंने बड़ी आयु में ही प्राप्त किया था, पर कुछ ही समय में उन्होंने इस पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया था कि अपनी पुस्तकों द्वारा हिन्दी गद्य की एक उत्कृष्ट शैली का विकास कर सकने में वे समर्थ हो गये थे।

आत्मचरित—महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपना जीवनवृत्त हिन्दी में लिखा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद थियोसोफिस्ट पत्रिका में तीन किस्तों में प्रकाशित हुआ था। ये तीन किस्तें थियोसोफिस्ट के अक्टूबर १८७९, दिसम्बर, १८७९ और नवम्बर, १८८० के अंकों में प्रकाशित हुई थीं। महर्षि द्वारा हिन्दी में लिखित मूल आत्मचरित भी बाद में उपलब्ध हो गया, और परोपकारिणी सभा, अजमेर के मुखपत्र 'परोपकारी' में सन् १९७५ में उसे प्रकाशित कर दिया गया। महर्षि का यह प्रामाणिक जीवनवृत्त है, जिसकी सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

गौतम अहिल्या की कथा—यह पुस्तिका सन् १८७९ में प्रकाशित हुई थी। यह वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है।

गर्दभतापनी उपनिषद्—संस्कृत की यह अनूठी पुस्तक है, जो महर्षि की चौमुखी प्रतिभा पर प्रकाश डालती है। यह भी अभी अप्रकाशित है।

महर्षि की जिन रचनाओं का ऊपर परिचय दिया गया है, उनके अतिरिक्त उनके

साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग वे विज्ञापन हैं, जिन्हें उन्होंने समय-समय पर प्रकाशित किया था। ये संस्कृत और हिन्दी दोनों में हैं, और उनके विचारों, मन्तव्यों एवं कार्य विधि को जानने के लिए बहुत उपयोगी हैं। इसी प्रकार महर्षि के लिखे हुए बहुत-से पत्र भी संकलित किये गये हैं, जिनका उपयोग न केवल महर्षि के व्यक्तित्व व कृतित्व को प्रकट करने के लिए है, अपितु उनकी भाषा तथा गद्य शैली पर भी जिनसे उत्तम प्रकाश पड़ता है। महर्षि के बहुसंख्यक पत्र हिन्दी (आर्य भाषा) में हैं, पर कुछ पत्र संस्कृत में भी हैं, जिनका भाषा की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व है। संस्कृत भाषा केवल धार्मिक और दार्शनिक विचारों को प्रतिपादित करने तथा काव्यों के लिए ही उपयुक्त नहीं है, अपितु सर्वसाधारण लोकव्यवहार के लिए भी उसका भली भाँति प्रयोग किया जा सकता है, यह महर्षि के संस्कृत में लिखे पत्रों से स्पष्ट हो जाता है। महर्षि के अनेक संस्कृत पत्र चम्पू शैली में भी हैं, जो इस क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा के परिचायक हैं।

तेईसवाँ अध्याय

सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम और स्वामी दयानन्द सरस्वती

(१) विवादग्रस्त प्रश्न

सन् १८६७ में हरिद्वार में कुम्भ के मेले के अवसर पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाखण्ड खण्डिनी पताका की स्थापना कर वेदविरुद्ध मतों का खण्डन तथा वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन प्रारम्भ किया था। धर्म का प्रचार करते हुए स्वामी जी कहाँ-कहाँ गए और किस प्रकार उन्होंने आर्यसमाजों की स्थापना की, इस सम्बन्ध में समुचित जानकारी उपलब्ध है। सन् १८६० (१४ नवम्बर) में स्वामी जी मथुरा गए थे, और वहाँ उन्होंने दण्डी स्वामी विरजानन्द जी से संस्कृत व्याकरण तथा आर्षग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त करना शुरू किया था। सन् १८६३ में विद्याध्ययन को पूर्ण कर उन्होंने गुरुजी से विदा ली थी, और सद्धर्म की स्थापना तथा समाज सुधार के महान् कार्य का श्रीगणेश कर दिया था, यद्यपि यथार्थ रूप में इस कार्य का प्रारम्भ सन् १८६७ के कुम्भ के मेले से हुआ था। स्वामी जी के १८६० से पहले के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में बहुत कम बातें अब तक ज्ञात हो सकी हैं। कलकत्ता में निवास करते हुए स्वामी जी ने अपने जीवन-वृत्त पर कुछ प्रकाश डाला था, जो बाद में 'थियोसोफिस्ट' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। पूना में उन्होंने जो व्याख्यान दिए थे, उनमें से एक व्याख्यान में भी स्वामी जी ने अपनी प्रारम्भिक जीवनी के विषय में कतिपय बातें बतायी थीं। स्वामी जी के चरित्र के सम्बन्ध में यही दो ऐसे आधार हैं, जिनकी प्रामाणिकता को सब कोई स्वीकार करते हैं। इनका अनुशीलन करते हुए कतिपय विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर गया, कि नवम्बर, १८६० में स्वामी विरजानन्द सरस्वती के पास विद्याध्ययन के प्रयोजन से मथुरा जाने से पहले के ढाई-तीन वर्षों की अपनी जीवनी के विषय में स्वामी जी ने कोई प्रकाश नहीं डाला। सन् १८५५ में कुम्भ के मेले के अवसर पर हरिद्वार जाने का उल्लेख स्वामी जी ने पूना के व्याख्यान में भी किया है, और थियोसोफिस्ट में प्रकाशित 'आत्मचरित' में भी। कुम्भ के मेले में स्वामी जी ने चण्डी के जंगल में निवास किया था, और वहाँ से वे हिमालय की ओर चले गए थे। हिमालय के क्षेत्र में टिहरी, केदार, गुप्त काशी, त्रियुगी नारायण, गौरीकुण्ड, जोशीमठ, बदरीनारायण आदि कितने ही स्थानों की उन्होंने यात्रा की, और हिम से ढकी हुई चोटियों को लाँघते हुए वे बहुत दूर तक चले गये। हिमालय में स्वामी

जी के पर्यटन का क्षेत्र कितना विस्तृत था, इसका संकेत पूना के दसवें व्याख्यान के इन शब्दों में विद्यमान है—"महादेव कैलास के रहने वाले थे। कुबेर अलकापुरी के रहने वाले थे। यह सब इतिहास केदारखण्ड में वर्णन किया गया है। हम स्वयं भी इन सब ओर घूमे हुए हैं। जिस पहाड़ पर कि पुरानी अलकापुरी थी उस पर भी इस विचार से गया था…" सन् १८५५ में कुम्भ के मेले की समाप्ति पर जब स्वामी जी चण्डी के जंगल से उत्तर की ओर गए थे, तभी उन्होंने कैलाश, अलकापुरी आदि की भी यात्रा की थी। एक साल के लगभग हिमालय के क्षेत्र में पर्यटन कर एप्रिल, १८५६ में स्वामी जी मैदान में वापस आ गए थे। थियोसोफिस्ट में प्रकाशित 'आत्मचरित' में अपने जीवन की अगली घटनाओं का उल्लेख स्वामी जी ने इस प्रकार किया है—"उन्हें छोड़कर मैं काशीपुर गया और वहाँ से द्रोण सागर जहाँ मैंने सारा शीत काल व्यतीत किया। वहाँ से मुरादाबाद होता हुआ सम्भल पहुँचा। गढ़मुक्तेश्वर को पार करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि मैं गंगा के तट पर पुनः आ गया हूँ…गंगा तट पर कुछ समय कालयापन करके मैं फर्रुखाबाद पहुँचा और फिर श्रोनजीरस होता हुआ छावनी के पूर्वी मार्ग से सम्वत् १९१२ की समाप्ति पर कानपुर पहुँचा। पाँच मासों में मैं कानपुर और इलाहाबाद के मध्य में अनेक स्थानों पर घूमा। भाद्रपद के आरम्भ में मैं मिर्जापुर पहुँच कर असूलजी के आश्रम के निकट लगभग एक मास ठहरा, तथा आश्विन के कृष्णपक्ष में बनारस पहुँच कर वरुणा तथा गंगा के संगम स्थान पर एक गुफा में जा टिका, जो उन दिनों भूमानन्द सरस्वती के अधिकार में थी। वहाँ से काकाराम, राजाराम तथा अन्य शास्त्रियों से मिला, किन्तु वहाँ केवल बारह दिन ठहरने के पश्चात् जिसकी मुझे खोज थी उसके लिए यात्राएँ पुनः प्रारम्भ कर दीं। चण्डालगढ़ में दुर्गाखोह के मन्दिर में दस दिन बिताने के उपरान्त चावल खाना सर्वथा त्याग कर केवल दूध पर रहकर दिन-रात योगाभ्यास में लगा रहने लगा।…इसके पश्चात् मैंने पर्वतों व नर्मदा के उद्गम स्थान की ओर अपनी यात्रा जारी रखी। मैंने एक बार भी मार्ग नहीं पूछा तथा निरन्तर दक्षिण की ओर बढ़ता रहा।" दक्षिण के जंगलों तथा उनमें यात्रा की कठिनाइयों के उल्लेख के साथ स्वामी दयानन्द सरस्वती का आत्मचरित्र समाप्त हो जाता है।

सन् १८५५ में हरिद्वार में कुम्भ के पश्चात् अपने जीवन की जिन घटनाओं पर स्वामी जी ने आत्मचरित्र में प्रकाश डाला है, उनके अनुसार एक साल से कुछ कम समय उन्होंने हिमालय के क्षेत्र में व्यतीत किया था, और फिर मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर और फर्रुखाबाद होते हुए वे कानपुर पहुँच गए थे। सन् १८५६ के पाँच महीने उन्होंने कानपुर और इलाहाबाद के बीच में बहुत-से स्थानों पर बिताए। बाद में (सितम्बर, १८५७ में) वे मिर्जापुर पहुँच गए थे, और वहाँ से विन्ध्याचल पर्वत तथा नर्मदा नदी के क्षेत्र में यात्रा करते हुए वे निरन्तर दक्षिण की ओर अग्रसर होते गए थे। सन् १८५७ में ब्रिटिश शासन का अन्त कर देने के प्रयोजन से जिस स्वाधीनता संग्राम का प्रारम्भ हुआ था, उसका प्रधान क्षेत्र मेरठ से कानपुर, इलाहाबाद तथा वाराणसी तक था, यद्यपि उसकी ज्वालाएँ बिहार, मध्य प्रदेश तथा दिल्ली तक भी पहुँची थीं। १८५६ और १८५७ में स्वामी जी उस प्रदेश में विचरण कर रहे थे, जो स्वाधीनता संग्राम का मुख्य केन्द्र था, और उसके पश्चात् वे दक्षिण की ओर अग्रसर हो गए थे। प्रश्न यह उत्पन्न होता है, कि क्या स्वामी जी स्वाधीनता संग्राम के क्षेत्र में विचरण करते हुए उससे सर्वथा

तटस्थ रहे, या उसमें उनका भी कोई कर्तृत्व था। इस प्रश्न पर सबसे पूर्व श्री पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालंकार ने विचार किया, और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हमारा राजस्थान' में उन्होंने इसका विवेचन निम्नलिखित प्रकार से किया—"एप्रिल, १८५५ से जबकि उस (स्वामी दयानन्द) का दूसरा समवयस्क (नाना धोंधों पन्तराव) भारत का पेशवा बनने के बाद क्रान्तियज्ञ के समारम्भ में दीक्षित होने जा रहा था, मार्च, १८५७ तक वह (दयानन्द) गंगा के साथ गंगोत्तरी और बदरीनाथ से बनारस तक गढ़वाल, रुहेलखण्ड, दोआब और काशी के प्रदेशों में घूमता रहा, जहाँ तब क्रान्ति की तैयारियाँ जनता में भीतर-ही-भीतर जोरों से की जा रही थीं। १८५६ के मई मास में वह (दयानन्द) नाना के नगर कानपुर गया, और आगे पाँच मास तक कानपुर-इलाहाबाद के बीच ही चक्कर काटता रहा। फिर बनारस, मिर्जापुर, चुनार होकर मार्च, १८५७ में जब क्रान्ति की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकी थीं और नाना साहब के सैकड़ों सन्देश-वाहक साधु-फकीरों आदि के रूप में पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन देश के हर कोने में क्रान्ति का सन्देश लेकर रवाना हुए और स्वयं नाना साहब और (उनके मन्त्रदाता) अजीमुल्ला भी क्रान्ति आरम्भ करने की तारीख निश्चित कर उसकी सारी तैयारी अपनी आँखों से देख लेने को तीर्थ यात्रा करने निकले, तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर चुनार होकर नर्मदा स्रोतों के लिए दक्खिन की ओर निकल पड़ा। अपने आरम्भिक जीवन का परिचय देने के लिए दयानन्द की स्वलिखित जीवनी का यहाँ एकाएक अन्त हो जाता है। आगे तीन वर्ष क्रान्ति युद्ध के दिनों में वह कहाँ रहा और क्या करता रहा इसकी कोई विगत उसने कभी नहीं दी। यह कहना तो कठिन है कि क्रान्तियुद्ध या उसके संगठन के प्रति उसका क्या रुख रहा और उसने भी उसमें कोई भाग लिया या नहीं, तो भी उसकी जीवन घटनाओं का जो संक्षिप्त-सा विवरण ऊपर दिया गया है, उससे यह बात तो स्पष्ट हो ही सकती है कि क्रान्ति की तैयारियाँ आदि से उसे निकट परिचय करने का अवसर अवश्य मिला। यह बात मान लेना आसान नहीं कि दयानन्द के सदृश भावना-प्रवण और चेतनावान् हृदय और मस्तिष्क का युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा हो और उस युद्ध की सफलता-विफलता की उस पर कोई प्रतिक्रिया न हुई हो। अतः उसकी उन तीन वर्षों के बारे में यह पूरी चुप्पी भी कम अर्थ-भरी प्रतीत नहीं होती।" (हमारा राजस्थान, पृष्ठ २६७-६८)।

श्री पृथ्वीसिंह मेहता ने सन् '५७ के स्वाधीनता संग्राम में स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगदान के सम्बन्ध में जो सम्भावना प्रकट की थी, अनेक विद्वानों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ, और उन्होंने ऐसे तथ्य प्रस्तुत करने प्रारम्भ किए, जिन्हें सत्य स्वीकार कर लेने पर स्वामी जी के स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय रूप से हाथ बटाने की बात सम्भावना मात्र न रहकर यथार्थ घटना बन जाती है। दैनिक हिन्दुस्तान तथा साप्ताहिक आर्योदय आदि अनेक समाचार-पत्रों में इस विषय पर लेख प्रकाशित हुए, और आर्य-समाज के अनेक मनीषी विद्वान् यह प्रतिपादित करने में तत्पर हो गए कि १८५७ की क्रान्ति में स्वामी जी ने न केवल सक्रिय रूप से भाग ही लिया था, अपितु उसका नेतृत्व भी किया था।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री ने किया। श्री दीनबन्धु बंगाल आर्यप्रतिनिधि सभा के मन्त्री रह चुके थे, और कलकत्ता आर्यसमाज के

साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने चालीस वर्ष के लगभग अथक् परिश्रम करके स्वामी जी का एक ऐसा जीवन चरित्र प्रकाशित किया, जो सर्वथा अज्ञात था। 'ऋषि की अज्ञात जीवनी' के रूप में यह जीवनचरित्र सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के साप्ताहिक पत्र 'सार्वदेशिक' में प्रकाशित हुआ, और बाद में स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती द्वारा 'योगी का आत्मचरित्र' नामक ग्रन्थ में इसे विशद विवेचना के साथ प्रकाशित किया गया। इस जीवनचरित्र में सन् १८५५ से १८६० तक के काल की स्वामी जी की जीवनी पर भी प्रकाश डाला गया है, और स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है, कि सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के नेताओं को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष में स्वामी जी द्वारा मार्ग प्रदर्शन किया गया था। श्री दीनबन्धु जी का कथन था, कि १८७२-७३ में जब स्वामी जी कलकत्ता में निवास कर रहे थे, कतिपय बंगाली महानुभावों के समक्ष उन्होंने संस्कृत में अपना जीवनवृत्त सुनाया था, जिसका बंगाली भाषा में अनुवाद उसी समय कर लिया गया था। यह अनुवाद अनेक बंगाली विद्वानों द्वारा किया गया था, और चिर काल तक इसके विविध भाग उन्हीं के घरों में पड़े रहे। चिर काल पश्चात् श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री ने बड़े परिश्रम से उनका पता किया और हिन्दी में अनुवाद कर 'सार्वदेशिक' में उन्हें प्रकाशित कराया। बाद में ये ही 'योगी का आत्मचरित्र' में प्रकाशित हुए। किन बंगाली सज्जनों ने स्वामी जी की संस्कृत में कही जीवनी को बँगला में अनूदित किया था, और किन घरों से उसके विविध भाग उपलब्ध किए गए, इसका पूरा-पूरा विवरण श्री दीनबन्धु द्वारा प्रकाशित कर दिया गया है। जिन महानुभावों के घरों से स्वामी जी की जीवनी के ये भाग प्राप्त किए गये, उनमें श्री रमेशचन्द्र दत्त आई० सी० एस०, ब्राह्मसमाज के आचार्य अनाथकृष्ण शील, प्रसिद्ध विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी, आदिब्राह्मसमाज के आचार्य श्री क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर और साधारण ब्राह्मसमाज के आचार्य श्री सीतानाथ तत्वभूषण के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री मधुसूदन आचार्य वाचस्पति, श्री त्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य विद्याभूषण, श्री शिवचन्द्र राय विद्यार्णव और श्री अवन्तिकान्त चक्रवर्ती न्यायरत्न आदि विद्वानों ने स्वामी जी के संस्कृत विवरण का बँगला में अनुवाद किया था।

श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री ने बारह सम्भ्रान्त एवं प्रतिष्ठित बंगाली घरों से स्वामी जी की जो जीवनी संकलित की, उससे बहुत-सी नवीन बातें ज्ञात होती हैं। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम से स्वामी जी के सम्बन्ध के विषय में उसमें जो बातें दी गयी हैं, उन्हें संक्षेप से इस प्रकार सूचित किया जा सकता है—

(१) सन् १८५५ के कुम्भ के मेले के अवसर पर स्वामी जी हरिद्वार गए थे, और इसके लिए उन्होंने पुष्कर से हरिद्वार तक पैदल यात्रा की थी। मार्ग में अजमेर, मारवाड़, जयपुर, अलवर आदि सर्वत्र उन्होंने देखा कि जनता में एक विशेष प्रकार की उत्तेजना विद्यमान है। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि सर्वत्र धधकनी प्रारम्भ हो गयी थी, और दिल्ली तथा मेरठ के क्षेत्र में उसने प्रचण्ड रूप प्राप्त कर लिया था। साधु लोग विद्रोह की अग्नि को भड़काने में विशेष रूप से तत्पर थे। बहुत-सी गुप्त समितियों की स्थापना हो गयी थी, और अंग्रेजों के गुप्तचर विद्रोहियों का पता करने के लिए सर्वत्र नियुक्त थे।

(२) हरिद्वार में स्वामी जी ने गंगा के पूर्वी तट पर चण्डी पर्वत की उपत्यका में

डेरा जमाया था। वहाँ निवास करते हुए रूद्रानन्द नामक संन्यासी से उन्हें ज्ञात हुआ कि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह के प्रधान नेता हरिद्वार आ रहे हैं। स्वामी जी भी उनसे मिलना चाहते थे। इसके लिए उन्हें अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। स्वामी जी के हरिद्वार पहुँचने के तीन दिन बाद ही नाना साहब धुन्धु पन्त, अजीमुल्ला खाँ, बाला साहब, ताँत्या टोपे और बाबू कुंअरसिंह—ये पाँच व्यक्ति स्वामी जी से मिलने के लिए उनके डेरे पर आये, और स्वाधीनता संग्राम की योजना पर उनसे विचार-विमर्श किया।

(३) ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संघर्ष के सन्देश को जनता तक पहुँचाने के लिए स्वाधीनता संग्राम के नेताओं ने जिन साधनों का अवलम्बन किया था, उनका सुझाव स्वामी जी द्वारा ही उन्हें दिया गया था। सैनिकों में गुप्त सन्देश पहुँचाने के लिए कमल पुष्प और सर्वसाधारण जनता में इसी कार्य के लिए चपाती की परिपाटी का अवलम्बन किया जाए, यह सुझाव स्वामी जी का ही था।

(४) बंगाल के श्री गोविन्दनाथ राय और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने भी चण्डी की उपत्यका में स्थित डेरे पर आकर स्वामी जी से भेंट की थी।

(५) कुम्भ के अवसर पर हजारों साधु हरिद्वार में एकत्र थे। स्वामी जी ने इस प्रयोजन से उन्हें संगठित करने का प्रयत्न किया, ताकि वे अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में नानासाहब आदि नेताओं की सहायता कर सकें। इस सहायता का क्रियात्मक रूप यह था, कि साधु लोग कमल पुष्पों द्वारा अंग्रेजी छावनियों के भारतीय सैनिकों में और चपातियों द्वारा जनसाधारण में विद्रोह का सन्देश पहुँचाएँ और उन्हें विदेशी व विधर्मी ब्रिटिश शासन का अन्त कर देने के लिए प्रेरित करें। स्वामी जी ने साधुओं से कहा कि वे उत्तर में मेरठ की तरफ और, पूर्व में बारिकपुर की तरफ और दक्षिण में भेलोर की तरफ कार्य शुरू कर दें। पर दिल्ली के योगमाया के मन्दिर के त्रिशूल बाबा से सम्पर्क बनाए रखें। वहाँ से आपको सब समाचार मिलते रहेंगे, और आपके समाचार उनके पास पहुँचते रहने चाहिएँ। इस प्रकार साधुओं का एक संगठन बनाकर स्वामी जी हिमालय चले गए।

'योगी का आत्मचरित्र' में स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन की जो ये बातें लिखी गयी हैं, यदि वे सचमुच स्वामी जी द्वारा स्वयं कही गयी थीं, तो उनके सत्य होने में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। पर महापुरुषों के सम्बन्ध में उनके भक्त अनेक ऐसी बातें प्रसिद्ध कर देते हैं, जो सत्य नहीं होतीं। कृष्ण, बुद्ध, क्राइस्ट आदि सबके सम्बन्ध में यही हुआ है। क्या यह सम्भव नहीं है कि स्वामी जी के प्रति भक्ति व श्रद्धा के आवेश में श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री ने 'आत्मचरित्र' की शैली पर इन बातों का उल्लेख कर दिया हो। यह आशंका डा० भवानीलाल भारतीय ने परोपकारिणी सभा, अजमेर के मुखपत्र 'परोपकारी' के अक्टूबर, १९७३ के अंक में 'सन् १८५७ का सिपाही विद्रोह और स्वामी दयानन्द' संज्ञक लेख में अभिव्यक्त की थी। इस लेख में उन्होंने लिखा था—(१) यदि उक्त अज्ञात जीवनी को प्रामाणिक मानकर स्वामी जी का गदर में भाग लेना उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाए जिस रूप में दीनबन्धु जी ने प्रस्तुत किया है तो अज्ञात जीवनी में उल्लिखित गदर विषयक सन्दर्भों की पुष्टि १८५७ की क्रान्ति के सम्बन्ध में लिखे गए अन्यान्य इतिहास ग्रन्थों से भी होनी चाहिए तथा घटनाओं के पौर्वा-पर्य की पूर्ण संगति स्वतः ही लग जानी चाहिए। (२) यदि गदर की अन्यान्य इतिहास-

सिद्ध घटनाओं के साथ अज्ञात जीवनी में वर्णित प्रसंगों की संगति नहीं लगती तथा ऐतिहासिक घटनाओं, ऋषि जीवन के प्रसिद्ध प्रसंगों तथा उनके विचारों के साथ इस सामग्री का तालमेल नहीं बैठता तो निश्चय ही अज्ञात जीवनी की प्रामाणिकता के समक्ष एक प्रश्नवाचक चिह्न लग जाता है। (३) इस स्थिति में एक निष्पक्ष एवं पूर्वाग्रहमुक्त इतिहासकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह १८५७ की प्रामाणिक घटनाओं की रोशनी में अज्ञात जीवनी में उल्लिखित बातों की परख करे और यह पता लगाए कि इस समग्र सामग्री का ऐतिहासिक मूल्य कितना है। क्या यह काल्पनिक तो नहीं है अथवा किसी प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिए तो इसे नहीं गढ़ा गया है ?

सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम या सिपाही विद्रोह पर बहुत-सा साहित्य लिखा जा चुका है। उसके सम्बन्ध में लेखकों व इतिहासकारों के दृष्टिकोण में अन्तर भी बहुत है। डा० भारतीय इस साहित्य का विवेचनात्मक रूप से अध्ययन करने के अनन्तर इस परिणाम पर पहुँचे, कि सिपाही विद्रोह की इतिहाससिद्ध घटनाओं के साथ श्री दीनबन्धु द्वारा प्रस्तुत स्वामी जी की अज्ञात जीवनी में वर्णित प्रसंगों की संगति नहीं बैठती। डा० भारतीय के अनुसार, "१८५७ के नेताओं को एक सीमा तक ही देशभक्त अथवा स्वातन्त्र्यचेता कहा जा सकता है। उनका अंग्रेजों से संघर्ष अपने-अपने राज्यों, जागीरों और जमींदारियों की रक्षा के लिए ही हुआ था। यदि नानासाहब, झाँसी की रानी आदि का उनके राज्यों का स्वामी होना अंग्रेजी सरकार मान लेती तो वे कदापि अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार नहीं उठाते। अतः अज्ञात जीवनी के लेखकों का स्वामी जी से इन लोगों का हरिद्वार में भेंट कराना, वहाँ देश की दशा की विस्तृत चर्चा करना आदि का उल्लेख सर्वथा कल्पना-प्रसूत है। लक्ष्मीबाई और नानासाहब को घटनाओं के विषम-चक्र ने ही अंग्रेजों का विरोध करने के लिए बाधित कर दिया था, अन्यथा उनकी अंग्रेजी राज्य के प्रति वफादारी अन्य राजा और नवाबों से किसी प्रकार कम नहीं थी।" यही बात बाबू कुंअरसिंह के सम्बन्ध में भी सही है। ताँत्या टोपे ने विद्रोह में जो कर्तृत्व प्रदर्शित किया था, उसका कारण उसका नानासाहब की सेवा में होना था। राष्ट्रीय भावना या देशभक्ति से प्रेरित होकर उसने विद्रोह में भाग नहीं लिया था। डा० भारतीय का यह भी मत है कि नानासाहब, झाँसी की रानी और कुंअरसिंह आदि को न चाहते हुए भी विद्रोह में शामिल होना पड़ा था। अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा उन द्वारा नहीं दी गयी थी। सर्वप्रथम मेरठ में क्रान्ति के विस्फोट के बहुत समय बाद उन्होंने विद्रोह में भाग लिया, और वह भी तब जबकि सिपाहियों ने उन्हें ऐसा करने के लिए विवश कर दिया था। इस दशा में 'अज्ञात जीवनी' का यह कथन कि नाना साहब आदि १८५७ के विद्रोह के लिए सिपाहियों को प्रेरणा देने वाले थे, और यह विद्रोह एक सुनियोजित योजना का परिणाम था, संगत प्रतीत नहीं होता।

डा० भवानीलाल भारतीय के समान पण्डित श्रीराम शर्मा ने भी 'योगी का आत्म-चरित्र' पुस्तक में प्रकाशित स्वामी दयानन्द सरस्वती की अज्ञात जीवनी को अप्रामाणिक प्रतिपादित किया है। 'परोपकारी' के जून, १९७२ के अंक में 'स्वामी दयानन्द की अज्ञात जीवनी' शीर्षक उनका जो लेख प्रकाशित हुआ था, उसमें इस जीवनी की अनेक असंगतियाँ प्रदर्शित की गयी हैं। १८५७ के विद्रोह के सम्बन्ध में शर्मा जी का कथन है, कि "१८५५ में स्वामी दयानन्द इतने विख्यात नहीं हुए थे कि क्रान्तिकारी नेता उन्हें नील पर्वत पर

आ पकड़ लेते। थियोसोफिस्टों में तो इस समय चण्डी के जंगल में उनका योगाभ्यास करने का ही वर्णन है, परन्तु इन सारे नेताओं का इस समय इकट्ठा होना संदिग्ध ही नहीं असम्भव है।" योगी का आत्मचरित्र में वर्णित स्वामी जी के जीवन की अन्य अनेक बातों का विवेचन कर शर्माजी ने यह परिणाम निकाला है कि "जिन टुकड़ों को स्थान-स्थान से कलकत्ता में इकट्ठा कर यह आत्मचरित्र रचा गया है वह कदापि स्वामी दयानन्द द्वारा कथित संस्कृत का बँगला अनुवाद नहीं है।"

'परोपकारी' में ही अंग्रेजी में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका शीर्षक Yogi ka Atmacharitra : another nail in the coffin of a fake autobiography था। इसके लेखक आस्ट्रेलिया की नेशनल यूनिवर्सिटी (कैन्बरा) के प्राध्यापक डाक्टर जे० टी० एफ० जोर्डन्स हैं। परोपकारी के मार्च, १९७४ के अंक में प्रकाशित इस लेख में डाक्टर जोर्डन्स ने 'योगी का आत्मचरित्र' को एक जाली पुस्तक प्रतिपादित किया है। इस पुस्तक के अनुसार हिमालय का पर्यटन करते हुए स्वामी जी लद्दाख भी गए थे, और वहाँ के हिमिस बौद्ध मठ में उन्होंने तिब्बती भाषा में लिखित क्राइस्ट की एक जीवनी का अवलोकन किया था। इस जीवनी से क्राइस्ट के सम्बन्ध में स्वामी जी ने जो जानकारी प्राप्त की थी, उसका विवरण भी 'योगी का आत्मचरित्र' में विद्यमान है। डा० जोर्डन्स का कहना है, कि यह विवरण 'The Unknown Life of Christ' नामक पुस्तक से लिया गया है, जिसे निकोलस नोतोविच ने फ्रेंच भाषा में लिखा था, और जिसका अंग्रेजी अनुवाद १८९५ में लण्डन से प्रकाशित हुआ था। जोर्डन्स के अनुसार 'योगी का आत्मचरित्र' में दी गयी क्राइस्ट की जीवनी नोतोविच की उस पुस्तक से ली गयी है, जो १८९५ में अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी। अतः उसका स्वामी जी द्वारा कथित होना सर्वथा असम्भव है। यह एक बात ही इस पुस्तक को जाली सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

डाक्टर जोर्डन्स ने Dayanand Saraswati—His Life and Ideas नाम से एक महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ लिखा है, जिसका प्रकाशन सन् १९७५ में हुआ था। इसका प्रथम परिशिष्ट 'स्वामी दयानन्द और सिपाही विद्रोह' विषय पर है। 'योगी का आत्मचरित्र' पुस्तक के जाली व अप्रामाणिक होने के कारणों का विवेचन करते हुए इस परिशिष्ट में पहले क्राइस्ट की जीवनी के १८९५ में प्रकाशित नोतोविच की पुस्तक पर आधारित होने की बात कही गयी है, और फिर इस कथन पर सन्देह प्रकट किया गया है कि पण्डित दीनबन्धु ने बंगाली घरों से वस्तुतः कोई ऐसे हस्तलेख प्राप्त किए थे, जो स्वामी जी द्वारा संस्कृत में वर्णित उसकी जीवनी के बंगला अनुवाद थे। डा० जोर्डन्स ने लिखा है कि "दीनबन्धु ने हस्तलिखित लेखों को बंगाली घरों से प्राप्त करने के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ दी हैं, उनकी सच्चाई को पता करने का न मेरे पास समय ही था और न इच्छा ही। फिर भी कलकत्ता की एक यात्रा में मैंने यह सूची (उन बंगाली घरों की सूची जिनसे दीनबन्धु जी ने बँगला लेख प्राप्त किये थे) साधारण ब्राह्मसमाज के डी० के० विश्वास को दिखायी। वह इस सूची के एक व्यक्ति के नाम से परिचित थे, पर अब तक उसकी मृत्यु हो चुकी थी। डी० के० विश्वास ने मुझे बताया कि यह व्यक्ति उनका अत्यन्त घनिष्ठ मित्र एवं सहयोगी था, और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सब कागजात को उन्होंने भली भाँति सँभाल लिया था। इस व्यक्ति ने कभी यह संकेत नहीं दिया था, कि

उसके पास कोई ऐसे लेख भी विद्यमान थे। कलकत्ता की जल्दी में की गयी यात्रा में मैं इतना ही पता कर सका। मुझे सन्देह है कि दीनबन्धु की सूची में जो ग्रन्थ नाम दिये गए हैं, विवेचना द्वारा उनकी प्रामाणिकता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी।"

डा० जोर्डन्स के एक शिष्य आर० थ्वाएतस (R. Thwaytis) ने भी "दयानन्द सरस्वती और १८५७ का सिपाही विद्रोह" विषय पर एक निबन्ध लिखा था (सन् १८७३)। यह निबन्ध अभी अप्रकाशित है, पर इसकी प्रतिलिपि प्राप्त कर ली गयी है। इस निबन्ध में श्री थ्वाएतस ने १८५७ के विद्रोह में स्वामी दयानन्द के योगदान के प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है, और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है, कि स्वामी जी का इस विद्रोह में कोई कर्तृत्व नहीं था। 'योगी का आत्मचरित्र' में नानासाहब, अजीमुल्ला खाँ आदि विद्रोह के नेताओं के हरिद्वार जाने और चण्डी की उपत्यका में स्वामी दयानन्द सरस्वती से भेंट करने की जो बात लिखी गयी है, श्री थ्वाएतस के अनुसार उसकी असत्यता इस एक बात से ही सूचित हो जाती है कि अजीमुल्ला १८५५ के प्रारम्भिक महीनों में भारत में थे ही नहीं। जुलाई, १८५५ में वह क्रीमिया में थे, जहाँ कि ब्रिटेन से भारत वापस आते हुए वह कुछ समय के लिए ठहरे हुए थे। अजीमुल्ला खाँ यदि जुलाई, १८५५ तक ब्रिटेन से भारत वापस ही नहीं आए थे, तो एप्रिल, १८५५ में कुम्भ के समय उनका हरिद्वार जा सकना कैसे सम्भव है?

श्री थ्वाएतस ने अन्य भी अनेक ऐसी युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिन द्वारा उन्होंने 'योगी का आत्मचरित्र' पुस्तक में वर्णित घटनाओं को निराधार तथा इस पुस्तक को जाली सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर जहाँ तक स्वामी दयानन्द सरस्वती की नानासाहब, अजीमुल्ला खाँ आदि से हरिद्वार में भेंट होने की बात है, वह इसी एक युक्ति से असत्य सिद्ध हो जाती है कि सन् १८५५ के पूर्वार्द्ध तथा उसके बाद भी अजीमुल्ला खाँ भारत में थे ही नहीं। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम या सिपाही विद्रोह में स्वामी दयानन्द सरस्वती का कोई योगदान था या नहीं, यह प्रश्न अब केवल आर्यसमाज तक ही सीमित नहीं रहा है। डाक्टर जोर्डन्स के ग्रन्थ तथा श्री थ्वाएतस के निबन्ध के कारण इस विवाद का क्षेत्र विस्तृत हो गया है, और इस बात की आवश्यकता है कि इस पर गम्भीरता से विचार किया जाए। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि यह विचार पूर्णतया निष्पक्ष तथा पूर्वाग्रह-मुक्त ढंग से किया जाना चाहिए। डा० भवानीलाल भारतीय के इस मन्तव्य से किसी का भी विरोध नहीं हो सकता।

(२) स्वाधीनता संग्राम या सिपाही विद्रोह

सन् १८५७ में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारत के बड़े भाग में जो विद्रोहाग्नि प्रदीप्त हो गयी थी, और जिसके परिणामस्वरूप कुछ समय के लिए ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिल गयी थीं, उसका स्वरूप सिपाही विद्रोह (Sepoy Mutiny) का था या स्वाधीनता संग्राम का, इस प्रश्न पर इतिहासकारों में बहुत मतभेद रहा है, और अब तक भी वह मतभेद विद्यमान है। इस विद्रोह या विस्फोट के जो इतिहास शुरू में लिखे गए, उनमें इसे ब्रिटिश सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों के गदर के रूप में प्रस्तुत किया गया था, और इसका कारण यह बताया गया था कि अंग्रेज अफसर हिन्दुस्तानी सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं को कोई महत्त्व नहीं देते थे, जिसके परिणामस्वरूप उनमें विद्रोह की

भावना उत्पन्न हो गयी थी। सेना में उच्च वर्णों के जो सिपाही थे, वे छुआछूत मानते थे, समुद्र यात्रा को पाप समझते थे और चरबी से परहेज करते थे। अंग्रेज अफसरों ने उनकी इन भावनाओं की परवाह न कर यह नियम बनाया था, कि प्रत्येक सिपाही को यह शपथ लेनी होगी कि उसे जहाँ कहीं लड़ाई पर भेजा जाएगा वहाँ जाने में उसे कोई ऐतराज नहीं होगा (१८५६)। इस नियम के अनुसार हिन्दुस्तानी सिपाहियों को समुद्र पार जाने के लिए विवश किया जा सकता था। इसी समय सिपाहियों को ऐसी राइफलें दी गयीं, जिनका कारतूस दाँत से काटना पड़ता था। कारतूस के ऊपर कुछ चरबी लगी रहती थी। सिपाहियों में यह अफवाह फैल गयी कि यह चरबी गाय और सुअर की होती है। इससे हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के सिपाहियों में धर्मभ्रष्ट हो जाने की आशंका पैदा हो गयी। क्योंकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना में सब उच्च पद अंग्रेजों के पास थे और इन अंग्रेज अफसरों का हिन्दुस्तानी सिपाहियों के प्रति व्यवहार अपमानजनक हुआ करता था, अतः इन सिपाहियों में असंतोष पहले से ही विद्यमान था। इन बातों से वे भड़क उठे, और उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। बहुत-से ऐसे राजा, नवाब, जागीरदार और जमींदार आदि भी इस विद्रोह में सम्मिलित होते गए, जिन्हें अंग्रेजी शासन के कारण नुकसान पहुँचा था और जिनके राज्य व जागीरें कम्पनी की सरकार द्वारा जब्त कर ली गयी थीं। सिपाहियों के गदर को इन लोगों ने एक उत्तम अवसर माना, और वे उनका साथ देने के लिए उद्यत हो गए। नानासाहब, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और बाबू कुंअरसिंह सदृश जिन लोगों ने सन् १८५७ के विद्रोह में भाग लिया, उनके सम्मुख देशप्रेम या राष्ट्रभक्ति की कोई भावना नहीं थी। अंग्रेजी शासन से उन्हें नुकसान पहुँचा था, इस कारण वे उससे असंतुष्ट थे और जब उन्होंने देखा कि सिपाही लोग अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने को उद्यत हैं, तो वे भी उनका साथ देने को उद्यत हो गए। शुरू में सन् १८५७ के विद्रोह पर जो पुस्तकें लिखी गयीं, उनमें प्रायः इसी विचार का प्रतिपादन किया गया था।

पर धीरे-धीरे ऐसे तथ्य सामने आने लगे, जिनके कारण सन् १८५७ के विस्फोट के सम्बन्ध में इतिहास के विद्वानों की धारणा में परिवर्तन आने लगा। ये तथ्य दो प्रकार के थे। एक प्रकार के तथ्यों से यह सूचित होता था कि इस विद्रोह के पीछे एक सुनियोजित षड्यन्त्र की सत्ता थी, और उस षड्यन्त्र की योजना तैयार करने में अजीमुल्ला खाँ और नानासाहब का प्रमुख हाथ था। दूसरे प्रकार के तथ्यों से यह ज्ञात होता था कि सन् १८५७ का विद्रोह केवल सिपाहियों का ही नहीं था, अपितु सर्वसाधारण जनता के बहुत से ऐसे लोग भी उसमें शामिल थे सेना के साथ जिनका कोई भी सम्बन्ध नहीं था। अनेक स्थान तो ऐसे भी थे, जहाँ कि जनता ने विद्रोह पहले किया और सिपाहियों ने बाद में। श्री शान्तिभूषण चौधरी ने अपने ग्रन्थ Civil Rebellion in the Indian Mutinies में इन तथ्यों को प्रस्तुत कर सफलतापूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि सन् १८५७ के विद्रोह को सिपाहियों का गदर कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि असैनिक तत्त्वों का भी उसमें महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। श्री चौधरी द्वारा प्रस्तुत कुछ तथ्यों का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा, क्योंकि उससे १८५७ के विस्फोट के वास्तविक स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। उसमें लिखा है, कि मेरठ के हिन्दू ताल्लुकदारों की जागीरों के सैकड़ों ग्रामवासियों ने बादशाह के लिए युद्ध करने की अपनी इच्छा की घोषणा की

(Hundreds of villagers in the holdings of Hindu talukdars of Meerut declared their intention to fight for the king)। यह बात श्री चौधरी ने बहादुरशाह के मुकदमे से ली है। मुजफ्फरनगर में सिपाहियों का विद्रोह २१ जून को शुरू हुआ था, पर वहाँ की असैनिक जनता ने उससे पहले ही विद्रोह प्रारम्भ कर दिया था (In Muzaffarnagar civil rebellion preceded the mutiny of the 4th irregulars on 21 June, 1857)। यही सहारनपुर जिले में भी हुआ था। वहाँ भी सैनिकों के विद्रोह से पहले ही आम लोगों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था। २० मई, १८५७ के दिन नारायण नाम का एक ब्राह्मण सिपाहियों को भड़का रहा था। वह पकड़ा गया, और उसी दिन उसे फाँसी पर लटका दिया गया। (A Brahman named Narayan was found tampering with the loyalty of the Sepoys. He was hanged on the evening of the same day)। डॉड द्वारा लिखित The History of the Indian Mutiny में लिखा है, कि जब लखनऊ पर अंग्रेजों का फिर से कब्जा हो गया, तो वे यह देखकर आश्चर्यचकित रह गए कि लखनऊ के गली-कूचों और सब स्थानों पर कितने ऐसे पोस्टर लगे हुए हैं और कितने ऐसे परचे बाँटे गए हैं, जिनमें कि नगर निवासियों को अपने धर्म व जाति पर मर मिटने के लिए प्रेरित किया गया है। ये कुछ तथ्य यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि सन् १८५७ का विस्फोट केवल सिपाहियों का गदर ही नहीं था, अपितु असैनिक जनता का भी उसमें महत्त्वपूर्ण योगदान था और उसने एक ऐसे व्यापक संघर्ष का रूप प्राप्त कर लिया था जिसमें भारतीय जनता के उद्बुद्ध वर्गों के बहुत-से लोग हाथ बटा रहे थे।

अगला प्रश्न यह है, कि क्या सन् १८५७ का विद्रोह किसी सुनियोजित षड्यन्त्र का परिणाम था, और क्या उसकी योजना में नानासाहब और अजीमुल्ला खाँ आदि का विशेष कर्तृत्व था। इस सम्बन्ध में ६ जून, १८५७ के Homeward Mail का यह कथन अत्यन्त महत्त्व का है—"Recent discoveries prove that a conspiracy had been set on foot with the view of organising a general and simultaneous rising of the entire native army, who were to murder all Europeans in the country. A considerable mass of this correspondence has been discovered in possession of the principal native officers of the 34th, and these documents fully prove the complicity of a large number of the highest of our native military officers throughout Bengal." अभी पिछले दिनों जो तथ्य सामने आए हैं, उनसे यह सिद्ध हो गया है कि सम्पूर्ण हिन्दुस्तानी सेना द्वारा एक साथ विद्रोह कर देने के लिए एक षड्यन्त्र रचा गया था। इस षड्यन्त्र में देश में निवास करने वाले सब यूरोपियनों की हत्या की योजना थी। चौंतीसवीं पलटन के प्रमुख हिन्दुस्तानी अफसरों के ऐसे पत्र बहुत बड़ी संख्या में ढूँढ़ लिये गए हैं, जिनसे यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि बंगाल भर के हमारी सेना के उच्चतम हिन्दुस्तानी अफसर इस षड्यन्त्र में शामिल थे। 'होमवर्ड मेल' के इस कथन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि १८५७ का विद्रोह एक सुनियोजित षड्यन्त्र का परिणाम था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना से बहुत-से हिन्दुस्तानी अफसर उसमें सम्मिलित थे।

यह तो सर्वथा स्पष्ट है, कि सन् १८५७ का विद्रोह एक सुनियोजित षड्यन्त्र का परिणाम था। गाय और सुअर की चरबी लगे कारतूसों की अफवाह से सैनिक भड़क गए, और उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध गदर कर दिया और बाद में झाँसी की रानी, नानासाहब और कुंअरसिंह भी मौका देखकर उसमें शामिल हो गए, यह मन्तव्य यथार्थ घटनाओं के अनुरूप नहीं है। अंग्रेजी शासन का अन्त कर देने के लिए विवेकपूर्वक एक योजना तैयार की गयी थी, और सैनिकों तथा जनसाधारण को इस योजना को सफल बनाने में उत्सापूर्वक योगदान देने के लिए प्रेरित करने के प्रयोजन से उनकी धार्मिक भावनाओं को प्रयुक्त किया गया था, यह मन्तव्य अधिक युक्तिसंगत है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है, कि यदि सन् १८५७ के विद्रोह की पीठ पर किसी सुनियोजित षड्यन्त्र की सत्ता थी, तो इस षड्यन्त्र को किन व्यक्तियों ने तैयार किया था। इस सम्बन्ध में श्री सी० टी० मेटकाफ का यह कथन ध्यान देने योग्य है—"कौन कहता है कि हिन्दू जनसाधारण में उत्तेजना उत्पन्न करने के लिए नाना (नानासाहब) ने जो कार्य किया, उस पर ऐतिहासिकों ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। ("Who says that the historians have not taken adequate notice of the part Nana had taken in stirring up the Hindu population.") ये पंक्तियाँ सन् १८९८ में प्रकाशित C.T. Metcalfe की पुस्तक Two Native Narratives of the Mutiny से ली गयी हैं। जनता में विद्रोह की भावना का संचार करने के सम्बन्ध में नानासाहब के कर्तृत्व को को टी० आर० होम्स ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"वह (नानासाहब) चिरकाल से देसी राजाओं को विद्रोह के लिए प्रेरित कर रहा था।" (He (Nana) had been long trying to stir up native chieftains." Holmes T. R. : A History of the Indian Mutiny) होम्स के कथन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र में नानासाहब का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था, और वह चिरकाल से देसी राजाओं में विद्रोह की भावना उत्पन्न करने में संलग्न था। यह बात नहीं थी, कि सिपाहियों को गदर करते देख उसमें भी उस अवसर से लाभ उठाकर अपने खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लेने की इच्छा उद्बुद्ध हो गयी हो।

सन् १८५७ का विद्रोह एक सुनियोजित षड्यन्त्र का परिणाम था, यह मान लेने पर भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या नानासाहब और उनके साथियों ने अंग्रेजों के शासन का अन्त कर देने की योजना राष्ट्रीय भावना और देशभक्ति से प्रेरित होकर तैयार की थी, या इसमें कोई अन्य हेतु थे, यथा अपने राज्यों या जागीरों को पुनः प्राप्त करने की आकांक्षा। १८५७ के विस्फोट ने जो व्यापक भयंकर रूप धारण कर लिया था, हिन्दू और मुसलमान सब जिस ढंग से उसमें सम्मिलित हो गए थे, और कम्पनी के खिलाफ जिस प्रकार की उत्तेजना उस समय सर्वत्र प्रादुर्भूत हो गयी थी, उसको प्रेरक शक्ति कतिपय रजवाड़ों व जागीरदारों की स्वार्थपूर्ति थी, और उन्होंने ही सर्वसाधारण जनता को अंग्रेजों को भारत से खदेड़ देने के लिए भड़का दिया था, यह स्वीकार कर सकना सुगम नहीं है। सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के भारतीयों में उस समय यह विचार जोर पकड़ गया था, कि कम्पनी की अंग्रेजी सरकार उनके धर्म को नष्ट कर देने के लिए कृतसंकल्प है। भारत सरकार द्वारा कम्पनी के बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स के नाम ४ जुलाई, १८५७ को लिखे हुए एक पत्र की अग्रलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

"Of this disastrous and extraordinary revolt the only one of the causes that is quite certain is, what appears to us almost an insane, but what is not the less a rooted and universal persuation in the minds of the sepoys and the people of the North Western Provinces, that it is the fixed design of the British Government to interfere by force with the religious liberty of the people." ये पंक्तियाँ एक ऐसे पत्र से ली गयी हैं, जो कि विद्रोह के प्रारम्भ होने के कुछ ही समय बाद भारत सरकार द्वारा बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स को लिखा गया था। इसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है, कि न केवल सिपाहियों में ही, अपितु सर्वसाधारण लोगों में भी यह विचार पूरी तरह जोर पकड़ गया है कि ब्रिटिश सरकार शक्ति का प्रयोग कर लोगों की धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने के लिए कटिबद्ध है। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी समाचार-पत्र फ्रेंड आफ इण्डिया ने २ जुलाई, १८५७ के अंक में लिखा था, कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रमुख धार्मिक नेता अपने धर्मों की रक्षा के लिए काँप रहे हैं, और हमारे मित्र व हम पर आश्रित रजवाड़े हमसे की गयी सन्धियों को रद्दी कागज के टुकड़े समझने लग गए हैं। विद्रोह के प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् भारत में जो वातावरण उत्पन्न हो गया था, वह फ्रेंड आफ इण्डिया के इन वाक्यों से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। अंग्रेजी सरकार भारत से हिन्दू धर्म और इस्लाम का अन्त कर देने के लिए तुली हुई है, यह बात हिन्दुस्तानी सैनिकों और सर्वसाधारण लोगों में कतिपय व्यक्तियों द्वारा प्रचारित की जा रही थी, और उन्हीं के प्रचार का यह परिणाम था कि सर्वत्र विद्रोह की भावना व्याप्त हो गयी थी। इसीलिए भारत सरकार ने यह आवश्यकता अनुभव की थी, कि जनता के इस विचार का निराकरण करने के लिए एक घोषणा-पत्र प्रचारित किया जाए। भारत सरकार के सचिव मि० सी० बीडन ने जून, १८५७ में एक घोषणा-पत्र जारी किया था, जिसमें स्पष्टतया यह उल्लेख है, कि न केवल सेना में अपितु जनता के अन्य वर्गों में भी उनके वर्ग को नुकसान पहुँचाए जाने की बात फैलायी जा रही है। गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल को यह ज्ञात है, कि हिन्दू और मुसलमान सैनिक तथा प्रजा के अन्य वर्ग, सबको यह समझाने का प्रयत्न किया जा रहा है कि सरकार के कार्यों द्वारा उनके धर्म के लिए संकट उपस्थित हो गया है।

उस समय के रिकार्डों का अध्ययन करने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सन् १८५७ के विस्फोट के पीछे एक सुनियोजित षड्यन्त्र था, जिसमें सिपाही और सर्वसाधारण लोग सब शामिल थे। इसी को दृष्टि में रखकर सन् १८५७ का छठा कानून (Act No. VI of 1857) गवर्नर जनरल-इन-कौन्सिल द्वारा जारी किया गया था, जिसके अनुसार सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाले तथा विद्रोह के लिए भड़काने वाले लोगों के लिए मौत की सजा का विधान किया गया था। (११ दिसम्बर, १८५७ बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स को पत्र)।

गवर्नर-जनरल की कौंसिल की जो बैठक १६ मई, १८५७ के दिन हुई थी, उसके विवरण में यह अंकित है कि बंगाल प्रेजिडेन्सी तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों के निवासियों में यह बात व्यापक रूप से प्रचारित कर दी गयी है कि सरकार उनके धर्म एवं जाति विषयक मामलों में हस्तक्षेप कर रही है और यह बात ऐसे लोगों द्वारा फैलायी जा

रही है जिनके इरादे बहुत बुरे हैं।

विद्रोह के नेताओं द्वारा एक घोषणा की गयी थी, जो कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले उर्दू के अखबार 'दूरबीन' के ८ जून, १८५७ के अंक में प्रकाशित हुई थी। इस घोषणा की कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित थीं—"मेरठ और दिल्ली की अंग्रेजी फौजों के नेताओं की ओर से सरकार के सब कर्मचारियों तथा हिन्दू व मुसलमान प्रजा के नाम। फिरंगियों ने यह पक्का इरादा कर लिया है कि पहले वे सिपाहियों का धर्म भ्रष्ट कर देंगे, और उसके बाद बहुत जल्दी अपनी सब रियाया को जबर्दस्ती ईसाई बना लेंगे। इसीलिए लार्ड (गवर्नर-जनरल) ने यह हुकुम जारी किया है कि सुअर और बैल की चरबी से युक्त कारतूस दिये जाएँ। यदि दस हजार सिपाही उन्हें लेने से इन्कार करें, तो उन्हें तोप से उड़ा दो, और यदि पचास हजार सिपाही कहना न मानते हों तो उन्हें बर्खास्त कर दो। यही कारण है जो अपने धर्म की रक्षा के लिए हमने जनता का साथ दिया है, और यहाँ हमने एक भी काफिर को जिन्दा नहीं छोड़ा है। हमने दिल्ली के बादशाह को अपना राजा बना लिया है। जो पलटन उसके प्रति वफादार होगी और उसकी अधीनता स्वीकार करेगी तथा यूरोपियनों को कतल करेगी, उसका वेतन दुगना कर दिया जाएगा।...इस संकट के समय में सब हिन्दुओं और मुसलमानों को साथ मिलकर काम करना चाहिए।"

सन् १८५७ के विद्रोह के नेता किस प्रकार सुनियोजित ढंग से कार्य कर रहे थे, और ब्रिटिश सरकार को पलट देने के कार्य में सबका सहयोग लेने के लिए प्रयत्नशील थे, यह कलकत्ता से बँगला और हिन्दी दोनों भाषाओं में प्रकाशित होने वाले 'समाचार-सुदर्शन' पत्र के ६ जून, १८५७ के अंक के इन वाक्यों से स्पष्ट है—"अंग्रेजों को देश से बाहर निकाल देने के लिए मूर्ख विद्रोही सब उपायों का अवलम्बन कर रहे हैं। अलवर, रीवाँ, रामपुर, भरतपुर, पटियाला, ग्वालियर, काश्मीर, नेपाल आदि के सब राजाओं को उन्होंने इस आशय के पत्र लिखे थे कि वे अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े हों और हमारे साथ मिल जाएँ। पर ये राजा इसके लिए उद्यत नहीं हुए, और वे पत्र उन्होंने ब्रिटिश सरकार को भेज दिए।" यदि १८५७ का विस्फोट सिपाहियों का गदर मात्र होता, तो क्या साधारण सिपाहियों व उनके हिन्दुस्तानी अफसरों (सेना में उस समय जिनकी अधिक ऊँची स्थिति नहीं होती थी) के लिए यह सम्भव था, कि वे इतने व्यापक रूप से विविध रजवाड़ों को अपने साथ मिल जाने के लिए प्रेरित करने का प्रयत्न कर सकते। निःसन्देह यह कार्य किन्हीं ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जा रहा था, जो स्वयं भी राजाओं के वर्ग के ही थे। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इन षड्यन्त्रकारी व्यक्तियों में नानासाहब का स्थान महत्त्वपूर्ण था। जो लोग अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए भारतीय जनता तथा हिन्दुस्तानी सिपाहियों को भड़का रहे थे, उनके लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों की धार्मिक भावनाओं का प्रयोग करें, और उनका धर्म खतरे में है, यह नारा बुलन्द करें। अंग्रेजी सरकार की नीति और क्रिश्चियन मिशनरियों के कार्यकलाप द्वारा हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों के लिए एक गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया था, इस बात से इन्कार कर सकना सम्भव नहीं है।

सन् १८५७ के विद्रोह में हिन्दुस्तानी सिपाहियों के अतिरिक्त सर्वसाधारण जनता के उद्बुद्ध वर्ग—ब्राह्मण, मौलवी, साधु आदि का कितना महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था, इसे

स्पष्ट करने के लिए कुछ घटनाओं का उल्लेख करना उपयोगी होगा। 'फ्रेंड आफ इण्डिया', कलकत्ता के १८ जून, १८५७ के अंक में यह समाचार प्रकाशित हुआ था, कि रविवार के दिन किले (दिल्ली के किले) में एक ब्राह्मण पकड़ा गया, जो एक सिपाही को अंग्रेजों के प्रति वफादारी व भक्ति से च्युत करने का प्रयत्न कर रहा था। उसे फाँसी पर चढ़ाने तथा उसकी गिरफ्तारी के बीच के समय का उपयोग उससे राजा (बहादुरशाह) के खिलाफ साक्षी प्राप्त करने के लिए कर लिया गया।

सन् १८७६ में प्रकाशित शेफर्ड की पुस्तक (A Personal Narrative of the Outbreak and Massacre at Cawnpore) में विशद रूप से यह वर्णन किया गया है कि १८५७ ईस्वी के जून मास के प्रारम्भिक दिनों में कानपुर में किस ढंग से अत्यधिक उत्तेजना फैली हुई थी, और मुसलमान हरे झण्डे के नीचे तथा हिन्दू महावीर के झण्डे के नीचे एकत्र होकर नारेबाजी कर रहे थे। यह तो स्पष्ट ही है कि मुसलमानों और हिन्दुओं को अपने-अपने झण्डे के नीचे संगठित करना उनके धार्मिक नेताओं का ही कार्य था। उस समय के भारतीय समाचार-पत्रों में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोहात्मक लेख भी प्रकाशित हो रहे थे, और दूरबीन, सुल्तान-उल-अखबार, समाचार सुदर्शन आदि पत्रों के खिलाफ इसके लिए कार्यवाही भी की गयी थी।

यदि यह मान भी लिया जाए, कि सन् १८५७ के विस्फोट के पीछे एक सुनियोजित षड्यन्त्र की सत्ता थी और नानासाहब सदृश अनेक व्यक्ति उसका नेतृत्व कर रहे थे, तो अगला प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उनके प्रयत्न के परिणामस्वरूप जो विद्रोह हुआ क्या उसे राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम कहा जा सकता है, विशेषतया उस दशा में जबकि जनता तथा सैनिक वर्ग को धर्म के नाम पर अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काया जा रहा था। क्या अजीमुल्ला खाँ और नानासाहब आदि को स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिए प्रेरित कर रही थी और क्या विद्रोहियों के सम्मुख भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आदर्श विद्यमान था? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह उपयोगी होगा, कि राष्ट्रीयता क्या है, और उसका कब तथा किस प्रकार विकास हुआ, इस पर कुछ विचार कर लिया जाए। राष्ट्रीयता का जो अभिप्राय आज समझा जाता है, वह इतिहास में एक नयी बात है। मध्य युग में संसार के किसी भी देश में राष्ट्रीयता के तत्त्व की सत्ता नहीं थी। सामन्त-पद्धति के कारण उस समय लोगों की भक्ति या वफादारी अपने जागीरदार या सामन्त के प्रति हुआ करती थी, देश के प्रति नहीं। जिन लोगों की भाषा, धर्म, संस्कृति एवं परम्पराएँ एक हों, वे एक राष्ट्रीयता के अंग होते हैं और उनका अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य होना चाहिए यह विचार मध्य युग में उत्पन्न ही नहीं हुआ था। यूरोप के जर्मनी, फ्रांस, इटली आदि देश तब अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त थे, जिनमें प्रायः संघर्ष होते रहते थे। जब बूर्बों राजवंश में लुई चौदहवें सदृश शक्तिशाली राजाओं ने फ्रांस के अन्य सब राजाओं व सामन्तों को पूर्णतया अपना वशवर्ती बना लिया, तभी वहाँ फ्रांस के राष्ट्रीय राज्य (Nation State) का प्रादुर्भाव हुआ। ये राजा बेल्जियम को नहीं जीत सके थे, यद्यपि वहाँ के निवासी भी उसी प्रकार फ्रेंच थे, जैसे कि फ्रांस के अन्य प्रदेशों के। इसीलिए बेल्जियम एक पृथक् राज्य रहा, और फ्रांस का अंग नहीं बना। जर्मनी के सैकड़ों छोटे-बड़े राज्यों को संगठित करने का कार्य प्रिंस बिस्मार्क द्वारा उन्नीसवीं सदी में किया गया, और उसकी राष्ट्रीय

एकता तो उसके भी बाद पूरी हुई। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी इटली में अनेक राज्यों की सत्ता थी, और उनमें राष्ट्रीय एकता की अनुभूति का अभाव था। सन् १८५७ तक यूरोप के प्रायः सभी देशों में वंशक्रमानुगत राजाओं के एकतन्त्र शासन विद्यमान थे, जिनकी दृष्टि में स्वदेश व स्वराष्ट्र की तुलना में अपनी सत्ता, शक्ति व स्थिति का महत्त्व कहीं अधिक था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने यूरोप में जिन नयी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव किया था, अन्य देशों का तो प्रश्न ही क्या फ्रांस तक में वे भली भाँति क्रियान्वित नहीं हुई थीं। इस दशा में यह कहना तो सर्वथा असंगत होगा कि नानासाहब आदि विद्रोह के नेता उस ढंग की राष्ट्रीय भावना से अंग्रेजी शासन का अन्त कर देने के लिए प्रयत्नशील थे, जैसी कि अब विश्व के बहुसंख्यक देशों में विकसित हो गयी है। पर अर्ध-विकसित रूप में राष्ट्रीय भावना उस काल में भी विद्यमान थी। अंग्रेजों का धर्म हमारे धर्म से भिन्न है, उनकी भाषा, रहन-सहन, खान-पान, रीतिरिवाज आदि सब हमसे भिन्न हैं, वे परदेसी हैं, गैर हैं, और उनका हमारे देश पर शासन समुचित नहीं है, यह भावना तब अवश्य विकसित होने लग गयी थी, और नानासाहब आदि ने इसी का उपयोग कर हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक नेताओं को अपने पक्ष में किया था और सर्वसाधारण जनता तथा सिपाहियों को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिए प्रेरित किया था। विद्रोहियों के सम्मुख केवल स्वार्थ ही नहीं था, उच्च आदर्श भी उनके सामने था—यह आदर्श था अपने धर्म की रक्षा, और अपनी उन विशेषताओं की रक्षा जिन द्वारा किसी राष्ट्र का निर्माण होता है। इसीलिए वे सैनिकों के अतिरिक्त सर्व-साधारण जनता को भी अपने साथ ले सकने में समर्थ हुए थे। यह सही है कि उन्होंने ग्वालियर, पटियाला आदि के राजाओं का साहाय्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। पर ऐसा करना सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि जन-आन्दोलनों की सफलता के लिए भी सम्भ्रान्त वर्ग का सहयोग आवश्यक होता है, और इसी वर्ग के व्यक्तियों द्वारा जनसाधारण में आन्दोलन व संघर्ष के लिए उत्साह उत्पन्न किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि १८५७ तक भारत में राष्ट्रीय भावना का समुचित रूप से विकास नहीं हुआ था, पर धर्म, भाषा आदि वे तत्त्व अवश्य विद्यमान थे जिनसे राष्ट्रीयता का विकास होता है। विद्रोह के नेताओं ने इन्हीं तत्त्वों का सहारा लेकर अंग्रेजों के विरुद्ध ऐसा गम्भीर व भयंकर विस्फोट उत्पन्न कर दिया था, जिसके कारण ब्रिटिश साम्राज्य जड़ से हिल गया था। इस दृष्टि से देखने पर सन् १८५७ के विस्फोट को स्वाधीनता संग्राम कहना अयुक्तियुक्त नहीं होगा। अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना भी एक उच्च आदर्श का ही सूचक है। सारे भारत की स्वतन्त्रता और सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रीय एकता ऐसे उच्च आदर्श हैं, जिन तक आज भी नहीं पहुँचा जा सका है, और आज भी भारतीयों की दृष्टि इतनी विशाल नहीं हुई है कि प्रान्तीयता, पृथक् भाषा, सम्प्रदाय आदि की संकीर्ण भावनाओं से वे पूरी तरह ऊपर उठ सकें। इस स्थिति में अब से सवा सदी के लगभग पहले यह कैसे सम्भव था कि विद्रोहियों और उनके नेताओं के सम्मुख राष्ट्रीयता का वही आदर्श हो जो उस समय यूरोप के देशों में भी नहीं था और आज तक भी भारत में भली भाँति विकसित नहीं हो सका है। पर इसमें सन्देह नहीं कि १८५७ के विस्फोट को उन्हीं तत्त्वों से शक्ति प्राप्त हो रही थी, जिनसे राष्ट्रीय भावना विकसित होती है। इस अर्थ में उसे स्वाधीनता संग्राम कहना युक्तिसंगत है।

(३) सन् १८५७ के विस्फोट में साधु-संन्यासियों का योगदान

पिछले प्रकरण में जो तथ्य प्रस्तुत किये गए हैं, उन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि सन् १८५७ के विस्फोट को स्वाधीनता संग्राम कहना अयुक्तियुक्त नहीं है, और नाना-साहब, अजीमुल्ला खाँ आदि नेताओं ने उसके लिए एक सुनिश्चित योजना तैयार की थी। पर यह प्रश्न अब भी शेष रह गया है कि क्या अंग्रेजों के विरुद्ध योजना इन नेताओं की अपनी थी, या अंग्रेजों के विरुद्ध एक साथ मिलकर उठ खड़े होने के लिए उन्हें अन्य कोई शक्ति प्रेरित कर रही थी। इस प्रश्न का युक्तिसंगत उत्तर प्राप्त करने के लिए उस गवाही पर दृष्टिपात करना उपयोगी होगा, जो सीताराम बाबा ने मेजर एच० बी० देवरों (Major H. B. Devereue) और कैप्टिन जे० एल० पीअर्स (J. L. Pearce) के कमीशन के सम्मुख दी थी। सीताराम बाबा को दक्षिण में माइसूर के समीप इस अपराध में गिरफ्तार किया गया था, कि दक्षिण के राजाओं और जागीरदारों के नाम ऐसे पत्र उस द्वारा ले जाए जा रहे थे, जिनमें कि उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह में साथ देने के लिए प्रेरित किया गया था। वह उत्तरी भारत और दक्षिण के विद्रोहियों के बीच सम्पर्क का कार्य कर रहा था, और इसी के लिए पत्र ले जाते हुए उसे पकड़ा गया था। उसके विरुद्ध अभियोग की जाँच मेजर देवरों तथा कैप्टिन पीअर्स के कमीशन द्वारा की गयी थी। १८ जून से २५ जून, १८५८ तक आठ दिन सीताराम की गवाही हुई, और अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र का संचालन करने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में उससे पूछताछ की गयी। सीताराम बाबा पहले कुछ भी बताने को तैयार नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सैनिक कमीशन द्वारा उसे दारुण यन्त्रणा दी गयी, और विवश होकर उसे कुछ तथ्य बताने पड़ गए।

सीताराम बाबा से पूछा गया—"इस पत्र को देखो। यह तुम्हारे पास से मिला था। बताओ, इसे किसने लिखा है और किसने यह तुम्हें दिया है?" इस पर सीताराम ने कहा, "मैं अपनी बलि देने को तैयार हूँ, पर मैं दूसरों के जीवन की बलि नहीं दूँगा। मैं कुछ भी बताने को तैयार नहीं हूँ। यदि मैंने कुछ भी बताया, तो बहुत-से बड़े आदमी तकलीफ उठाएँगे।" बाद में सीताराम कुछ खुला, और उसने सैनिक कमीशन को बताया, कि अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का संचालन दस्स बाबा द्वारा किया जा रहा है, जो नाना-साहब का गुरु है। वह बहुत वृद्ध है, उसकी आयु १२५ वर्ष की है, और वह काँगड़ा से परे कालीबार का निवासी है। उसका एक शिष्य दीनदयाल (Deen Dayalla) है, जो दक्षिणी भारत में काम कर रहा है, और यहाँ हम लोगों के साथ है। दीनदयाल द्वारा ही दस्स बाबा ने तिरुपति के शिवराम बाबा को पत्र भेजे हैं। माइसूर आदि दक्षिण के विविध स्थानों के जागीरदारों व राजाओं को भी पत्र भेजे गए हैं, जिनमें उत्तरी भारत में विद्रोहियों की विजयों का उल्लेख करते हुए उन्हें भी विद्रोह में शामिल होने के लिए प्रेरित किया गया है।

दस्स बाबा द्वारा षड्यन्त्र का प्रारम्भ कब और कैसे किया गया, यह प्रश्न पूछे जाने पर सीताराम बाबा ने सैनिक कमीशन को बताया कि दस्स बाबा ने अंग्रेजों के विरुद्ध इस षड्यन्त्र का श्रीगणेश बीस साल पहले किया था, जबकि उसने सिन्धिया तथा अन्य अनेक राजाओं को अंग्रेजों से लड़ने के लिए प्रेरणा दी थी। पर तब उसे सफलता

प्राप्त नहीं हुई थी। पर अब से कोई छह साल पहले उसने उज्जैन जाकर सिन्धिया राजा की दादी बैजीबाई से मुलाकात की थी। बैजीबाई अंग्रेजों के विरुद्ध योजना तैयार कर रही थी, जिसके सम्बन्ध में सारी जानकारी उसने दस्स बाबा को दे दी। बैजीबाई की योजना को लेकर दस्स बाबा नानासाहब के पास गया, और उसे यह परामर्श दिया कि वह बैजीबाई के साथ मिलकर काम करे। नानासाहब भी अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष की तैयारी कर रहा था। दस्स बाबा के परामर्श के अनुसार नानासाहब बैजीबाई के साथ सहयोग करने को उद्यत हो गया, और इस प्रकार उन दोनों के षड्यन्त्रों में सम्बन्ध स्थापित हो गया।

दस्स बाबा के प्रतिनिधि के रूप में दीन दयाल नाम का जो साधु दक्षिणी भारत में कार्य कर रहा था, उसके सम्बन्ध में भी सीताराम की गवाही से अनेक बातें ज्ञात होती हैं। जब सीताराम को गिरफ्तार किया गया, तो दीनदयाल दक्षिण में था। वह बहुत-से पत्र अपने साथ लाया था, जिन्हें अपने एजेण्टों द्वारा वह दक्षिणी भारत के प्रमुख व्यक्तियों के पास भिजवा रहा था। उसके पास बहुत-सी हुण्डियाँ भी थीं, जो दक्षिण के विविध सम्पन्न साहूकारों के नाम थीं। इनके कारण उसके सम्मुख धन की कोई समस्या नहीं थी। दस्स बाबा के षड्यन्त्र की सफलता के लिए उसे सब कुछ कर सकने के अधिकार प्राप्त थे। दीनदयाल के साथ अनेक अन्य भी साधु कार्यरत थे, जिनकी संख्या बीस के लगभग थी। इन्होंने जो मालाएँ, बाजूबन्द आदि पहने हुए थे, पत्र उनमें छिपाकर रखे हुए थे। कुछ पत्र तो उन्होंने अपने जटाजूट में भी छिपाए हुए थे। सीताराम ने कमीशन को सूचना दी, कि यह दीनदयाल दस-बीस दिन में बैंगलोर पहुँच रहा है।

सीताराम की गवाही बहुत लम्बी है। लिखित रूप में वह ५८ पृष्ठों में आयी है। उसमें कितनी ही अन्य भी ऐसी बातें हैं, जो उस षड्यन्त्र पर प्रकाश डालती हैं, जिसका निर्माण दस्स बाबा द्वारा किया गया था, और जिसकी सफलता के लिए कितने ही साधु-संन्यासी कार्य कर रहे थे। सीताराम की गवाही से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सन् १८५७ का विस्फोट एक सुनिश्चित योजना का परिणाम था, जिसके रचयिता एक वृद्ध साधु थे। बाबा साधु-संन्यासियों को कहा जाता है, और यह कल्पना असंगत नहीं होगी कि 'दस्स बाबा' से दशनामी संन्यासी अभिप्रेत हैं। शंकराचार्य ने संन्यासियों के दस (सरस्वती, पुरी, गिरि, सागर, अरण्य, पर्वत, वन, आश्रम, तीर्थ और भारती) संगठन बनाए थे, जिनके सदस्यों को 'दशनामी' कहा जाता है। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए इन संन्यासियों का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व रहा है। भारतीय इतिहास के मध्य युग में ये शस्त्र भी धारण करते थे, और इनकी सेनाएँ उस समय के युद्धों में भाग भी लिया करती थीं। पालनपुर (पंजाब), अहमदाबाद, कच्छ (गुजरात), उदयपुर, मारवाड़ (राजस्थान) आदि के हिन्दू मन्दिरों की रक्षा के लिए इन्होंने मुसलिम आक्रान्ताओं से अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थीं। मुगल साम्राज्य और उसके खण्डहरों पर स्थापित विविध राज्यों की राजनीति में ये संन्यासी भाग लिया करते थे और जिस किसी के ये पक्ष में हों, उसकी सहायता के लिए सैन्यशक्ति भी प्रयुक्त करते रहते थे। बक्सर के युद्ध (सन् १७६३) में ये अंग्रेजों के खिलाफ लड़े थे, और अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बंगाल और बिहार में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विरुद्ध जो व्यापक विद्रोह हुआ था, वह इन संन्यासियों की ही कृति था। इसीलिए इतिहास में उसे 'संन्यासी विद्रोह' कहा जाता है। सन् १७६३

में शुरू होकर इस विद्रोह ने बहुत व्यापक व उग्र रूप प्राप्त कर लिया था, और अंग्रेजी सेना के कितने ही अफसर व सैनिक सशस्त्र संन्यासियों द्वारा मौत के घाट उतार दिए गए थे। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है, कि १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में भी दशनामी संन्यासियों के महानिर्वाणी अखाड़े द्वारा नानासाहब और झाँसी की रानी के पक्ष में सैनिक सहायता प्रस्तुत की गयी थी (A Short History of Akhara Mahanirvani—A History of Naga Sanyasis)। जब दशनामी साधु सन्'५७ के विस्फोट के अवसर पर शस्त्र लेकर भी रणक्षेत्र में उतर आए थे, तो सीतानाम बाबा के इस कथन को कैसे अविश्वसनीय कहा जा सकता है, कि एक दस्स बाबा (दशनामी संन्यासी) ही इस संग्राम का प्रधान नेता था, और उसी द्वारा इसकी योजना बनायी गयी थी। नानासाहब उसका शिष्य था, और उसी की प्रेरणा से उसने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध का झण्डा खड़ा किया था। सीताराम बाबा ने इस बाबा (संन्यासी) का नाम नहीं बताया। सम्भव है, कि उसे उसका नाम मालूम ही न हो, क्योंकि उसका सम्बन्ध बाबा दीनदयाल से था, और दक्षिणी भारत में तिरुपति के निवासी शिवराम बाबा से ही उसे सम्पर्क रखना था। यह भी सम्भव है, कि नानासाहब पेशवा के गुरु और उसे तथा सिन्धिया राजा की दादी को अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित करने वाले इस महान् संन्यासी के प्रति अत्यधिक सम्मान की भावना के कारण सीताराम ने उसका नाम लेना उचित न समझा हो। दशनामी संन्यासियों की राजनीति तथा युद्धों में हाथ बँटाने की जो पुरानी परम्परा थी, उसे दृष्टि में रखते हुए यह मान सकना सर्वथा समुचित व सम्भव है, कि एक वृद्ध दशनामी संन्यासी ने ही भारत से अंग्रेजों के शासन का अन्त कर देने की वह योजना बनायी थी, जिस द्वारा सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम लड़ा गया। इस योजना के अनुसार सैनिकों तथा सर्वसाधारण लोगों को अंग्रेजों के खिलाफ भड़काने के लिए कितने ही साधु-संन्यासी भारत के विविध नगरों, छावनियों तथा देहात में नियुक्त थे। यह बात न केवल सीताराम की गवाही से प्रमाणित है, अपितु उस समय के कितने ही अन्य रिकार्डों में भी इसका उल्लेख है।

सन् १८९६ में जे० एफ० फान्थोर्न (J. F. Fanthorne) द्वारा लिखी हुई एक पुस्तक अंग्रेजी भाषा में 'मरियम— १८५७ के भारतीय गदर की कहानी' (Marium—A Story of the Indian Mutiny of 1857) नाम से प्रकाशित हुई थी। मूल पुस्तक फ्रेंच में थी, जो १८९६ से पर्याप्त समय पहले लिखी गयी थी। पुस्तक उपन्यास के रूप में है, पर इसका आधार सन् १८५७ के विस्फोट की वास्तविक घटनाएँ हैं। यह माना जाता है, सन् १८५७ के भारतीय गदर का वृत्तान्त ही उपन्यास के रूप में इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। यह गदर या स्वाधीनता संग्राम एक सुचारु रूप में निर्धारित षड्यन्त्र या योजना का परिणाम था, और उसमें साधु-संन्यासी सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे, यह इस पुस्तक से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। इस पुस्तक के चौथे अध्याय का निम्नलिखित विवरण इस सम्बन्ध में उल्लेख के योग्य है—

अब १५ मई का दिन आ पहुँचा है, और षड्यन्त्र ने गहरा होना प्रारम्भ कर दिया है। जैसा कि पहले ही तय कर लिया गया था, एक रात अनेक षड्यन्त्रकारी रहस्यमय बाबाजी के डेरे पर आए। गुलाब बाड़ी के समीप यह डेरा लगाया गया था, और एक दिन पहले ही बाबाजी नगर के बीच से होकर इस डेरे पर आए थे। वे एक

हाथी पर बैठकर आए थे, और उनके ऊपर चाँदी की मूठ वाली चँवर डुलायी जा रही थी। बहुत-से लोग घोड़ों पर व पैदल उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। सैकड़ों आँखें उत्सुकतावश उसकी ओर लगी हुई थीं, पर उस रहस्यमय व्यक्ति ने किसी की ओर ध्यान नहीं किया, और वह आगे बढ़ता गया। बहुत अच्छी तरह सजा हुआ रथ भी उसके पीछे-पीछे जा रहा था। उसका शरीर अत्यन्त सुदृढ़ था। उसके रँगे हुए बाल जटाजूट के रूप में सिर के चारों ओर लिपटे हुए थे। उसने गेरुए रंग का एक लम्बा चोगा पहना हुआ था। उसने एक कौपीन पहनी हुई थी, और उसके पैर नंगे थे। गले में उसने रुद्राक्ष की माला पहनी हुई थी, और माथे पर उसने रामानन्दी तिलक लगाया हुआ था। उसका चेहरा कुछ उदास प्रतीत होता था और वह बिलकुल निश्चल रूप से बैठा हुआ था। उसके विषय में यह कहा जाता था कि वह अयोध्या का एक जागीरदार था, जो साधु बनकर हिन्दुस्तानी सैनिकों में विद्रोह के बीज बोता हुआ परिभ्रमण कर रहा था। लोग उसे त्रिलोकनाथ बाबा कहते थे। यह एक सर्वविदित रहस्य था, कि मेरठ में उसे बहुधा हिन्दुस्तानी पलटनों की बैरकों में देखा जाता था, और सिपाही उसके डेरे पर आते-जाते रहते थे। सरकारी पदाधिकारियों को उसके आगमन का तो पता था, पर उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते-आते रहने में उसका क्या प्रयोजन था। इस विषय में उन्होंने कभी कोई जाँच भी नहीं की थी। सार्वजनिक रूप से वह कभी भाषण नहीं देता था। उसके अनुयायियों और साथियों का कहना था, कि वह एक आचार्य है जो तीर्थयात्रा पर निकला हुआ है। सबको यह कथन विश्वसनीय प्रतीत होता था। जो लोग उससे मिलने के लिए उसके डेरे पर आए थे, उनमें अब्दुल रऊफ खाँ, निजाम अली खाँ, कालका प्रसाद, घनश्यामसिंह और जोरावर सिंह आदि मुख्य थे। रात के दस बजे का समय उनसे मिलने के लिए नियत किया गया था, और उन्हें सूचित कर दिया गया था कि जब वे गधे के रेंकने का शब्द सुनें, तभी बाबाजी के डेरे में प्रवेश करें। हिन्दुओं ने 'बाबाजी राम-राम' कहकर उनका अभिवादन किया, और मुसलमानों ने झुककर उन्हें सलाम किया। उत्तर में बाबाजी ने हाथ उठाकर और "खुशी रहो, आनन्द रहो, बच्चा" कहकह उन्हें आशीर्वाद दिया। वहाँ उपस्थित सब लोग पहले ही एक-दूसरे से परिचित थे। काशीप्रसाद उनका अगुआ था। उसने बाबाजी से कहा—सब तैयारी हो चुकी है, केवल इशारे की देर है। फिर उसने पूछा—'कहिए, बाबाजी, अन्यत्र के क्या समाचार हैं?' इस पर बाबाजी ने कहा—'बच्चा, मैं सब जगह घूम आया हूँ। उत्तर से दक्षिण, कालका से आगरा, पूर्व से पश्चिम, सतलुज से पटना—सर्वत्र मैंने यात्रा कर ली है। लाठियाँ और चपातियाँ सब जगह दी गयी हैं, एक शहर से दूसरे शहर को। इन्हें ग्रहण कर लोग अगले शहर भेज देते हैं। उस चिरप्रतीक्षित महान् दिन के लिए सब तैयारी पूरी हो गयी हैं। दुष्टों का भाग्य अभी से कम्पायमान होना शुरू हो गया है। बच्चा, मालूम होता है कि तुम सब तैयार हो, पर हमारे बहादुर सिपाहियों का क्या हाल है? क्या वे भी तैयार हैं?"

बाबाजी के प्रश्न का उत्तर घनश्यामसिंह ने 'हाँ' में दिया। इस पर बाबाजी ने पूछा—"क्या दुष्टों को भी इन सब बातों की कोई सूचना है? क्या उन्हें मालूम है कि उनके पैरों के नीचे से धरती खिसकनी शुरू हो चुकी है?" इसके उत्तर में अब्दुल रऊफ खाँ ने कहा—"उनको इस बात की जरा भी खबर नहीं है, मैं यह विश्वासपूर्वक कह रहा

हूँ।" मध्य रात्रि तक इसी प्रकार बातचीत चलती रही।

सन् १८५७ के विस्फोट की कहानी को आगे बढ़ाते हुए बाद में यह लिखा गया है कि साजिश ने अब गम्भीर रूप धारण कर लिया था। नये-नये लोग उसमें शामिल होते जा रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था, कि हिन्दू और मुसलमान अपने वैमनस्य को भुलाकर एक हो गए हैं, और दोनों की यह सम्मिलित आकांक्षा है कि सरकार को जड़ से हिला दें। सब जगह गद्दार भरे हुए हैं, यहाँ तक कि जिलों के प्रधान हाकिमों की नाक के नीचे भी ये गद्दार विद्यमान हैं। एक ओर कुदरत अली और उसके साथी और दूसरी ओर कालकाप्रसाद और उसके साथी हिन्दुओं और मुसलमानों के परस्पर विरोधी हितों में सामंजस्य स्थापित करने में सक्रिय रूप से संलग्न हैं। कोई दो सप्ताह हुए, जब सरफराज अली यहाँ आया था। वह गोरखपुर का रहने वाला है, और अंग्रेजी हुकूमत का सुविख्यात शत्रु है। एक मई को मजहर करीम के घर पर एक बैठक हुई। इसमें मुसलमानों के अतिरिक्त कालका प्रसाद, शीतलसिंह और दौलतराय आदि हिन्दू भी उपस्थित थे। सरफराज अली ने इस सभा में एक भाषण दिया, जिसमें उसने कहा कि अंग्रेज लोग इस देश में व्यापारी के रूप में आए थे, पर उन्होंने यहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। सूबेदारों के आपसी झगड़ों का लाभ उठाकर वे किसी एक पक्ष में हो गए, और इस प्रकार कर्णाटक, बंगाल आदि पर उन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। हिन्दुस्तानी सिपाहियों की सहायता से ही उन्होंने इस देश को जीता है, और यहाँ अपनी सरकार कायम की है। फिर भी वे हमें सुअर, गधा और काला आदमी कहते हैं, और पग-पग पर हमें अपमानित करते हैं। उनके पादरी सारे देश में फैले हुए हैं। वे हमारे देशवासियों के भोलेपन तथा अज्ञान का फायदा उठाकर उन्हें अपने धर्म से विमुख करने में तत्पर हैं, और क्रिश्चिएनिटी के विष बीजों को इस सारे देश में वपन करने में संलग्न हैं। सरफराज अली का भाषण सुनकर लोगों को जोश आ गया और वे अंग्रेजी शासन का अन्त कर देने के लिए तन, मन, धन से विद्रोहियों का साथ देने को उद्यत हो गए।

सन् १८५७ के विस्फोट का क्या स्वरूप था, किस प्रकार उसने एक ऐसे आन्दोलन तथा सशस्त्र संघर्ष का रूप प्राप्त कर लिया था, जिसमें सैनिक और असैनिक, हिन्दू और मुसलमान, साधु-संन्यासी और मौलवी—सब एक जुट हो ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे, और किस सुनियोजित ढंग से इस विद्रोह का संचालन किया जा रहा था, 'मरियम' उपन्यास से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। इसे न सिपाहियों का गदर कहना समुचित होगा, और न ही राजाओं व जागीरदारों का अपनी खोई हुई जागीरों तथा राज्यों को शक्ति के प्रयोग द्वारा पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न। यह एक ऐसी सुविचारित योजना का परिणाम था, जिसके निर्माण में कतिपय साधु-संन्यासियों का प्रधान हाथ था और जिसे जनता के विविध वर्गों का सक्रिय समर्थन प्राप्त था। इसका संचालन नाना-साहब, अजीमुल्ला खाँ और ताँत्या टोपे आदि कर रहे थे, पर उनको प्रेरणा देने वाले कुछ ऐसे धार्मिक नेता थे जिनके सम्मुख न केवल धर्म की रक्षा का ही प्रश्न था, पर जिनमें यह अनुभूति भी प्रबल रूप से विद्यमान थी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन विदेशी है और भारतवासियों से अंग्रेज शासक घृणा करते हैं, और उन्हें अपमानित करते रहते हैं। दशनामी संन्यासियों ने अपनी पुरानी परम्परा का अनुसरण कर इस विद्रोह या स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया था, और उन्हीं के एक वृद्ध संन्यासी ने

अंग्रेजी शासन का अन्त कर देने की यह योजना बनायी थी, जिसके परिणामस्वरूप सन् १८५७ में भारत का बहुत बड़ा भाग कम्पनी की हुकूमत के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। यह सही है, कि अब तक वे पत्र प्रकाश में नहीं आये हैं, जो दस्स बाबा द्वारा विद्रोह में सम्मिलित हो जाने के लिए प्रेरणा देने के प्रयोजन से विविध राजाओं, जागीरदारों तथा अन्य लोगों को बहुत बड़ी संख्या में भेजे जा रहे थे। पर इन पत्रों की सत्ता केवल सीताराम की गवाही से ही प्रमाणित नहीं होती, अपितु अन्य सूत्रों से भी इसकी पुष्टि होती है। ऐसे एक सूत्र का उल्लेख इस अध्याय में किया भी जा चुका है।

(४) सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम और स्वामी दयानन्द सरस्वती

यह स्वीकार कर लेने पर कि सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में साधु-संन्यासियों का भी महत्वपूर्ण कर्तृत्व था, प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ये साधु-संन्यासी कौन थे और क्या स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इनमें सम्मिलित थे, जिसकी सम्भावना 'हमारा राजस्थान' में श्री पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालंकार ने प्रतिपादित की थी, और पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री द्वारा संकलित 'योगी का आत्मचरित्र' में जिसका स्पष्ट रूप से उल्लेख है। सीताराम बाबा ने माइसूर के सैनिक कमीशन के सम्मुख जो गवाही जून, १८५८ में दी थी, उसमें अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र का निर्माण करने वाले दस्स बाबा (दशनामी संन्यासी) का नाम उसने नहीं बताया था, यद्यपि उसकी आयु तथा निवास स्थान के सम्बन्ध में जानकारी उसने दे दी थी। दो अन्य साधु-संन्यासियों का इस गवाही में नाम से उल्लेख किया गया था, दीनदयाल और शिवराम। 'मरियम—१८५७ के भारतीय गदर की कहानी' उपन्यास में भी त्रिलोक नाथ नामक एक बाबा या संन्यासी का वर्णन है, जो कि मेरठ में हिन्दुस्तानी सैनिकों को विद्रोह के लिए भड़का रहा था, और षड्यन्त्रकारी जिसके डेरे पर प्रेरणा प्राप्त करने के लिए आते-जाते रहते थे। उपन्यास लेखक अपनी रचना में प्रायः नकली नामों का प्रयोग किया करते हैं। सम्भवतः, हाथी पर चढ़कर विद्रोह का संगठन करने वाले सुदृढ़ शरीर के संन्यासी का त्रिलोकबाबा नाम भी वास्तविक नहीं है। अंग्रेजी रिकार्डों व अन्य साधनों से सन् १८५७ के विद्रोह या स्वाधीनता संग्राम के विषय में जो जानकारी अब तक उपलब्ध की जा सकी है और उसका उपयोग कर जो इतिहास अब तक लिखे गए हैं, उनसे उन साधुओं का कोई परिचय नहीं मिलता जो इस संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार के सैनिक अफसरों तथा शासक पदाधिकारियों का सीधा सम्पर्क संघर्ष के इस काल में उन्हीं लोगों से था, जो शस्त्र लेकर ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए रणक्षेत्र में उतर आये थे। इन भारतीय सेना-नायकों के पीछे जो शक्तियाँ काम कर रही थीं, उनसे उनका सीधा सम्पर्क नहीं था। इस दशा में यदि सन् १८५७ की घटनाओं में अंग्रेज अफसरों ने उनके विषय में विवरण न दिये हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। पर जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है अंग्रेजों द्वारा संकलित विवरणों में भी इस संघर्ष में साधु-संन्यासियों के कर्तृत्व के संकेत विद्यमान हैं, यद्यपि उनके नाम आदि वहाँ नहीं दिये गए हैं।

यह स्वाभाविक है कि यदि सन् १८५७ के विस्फोट में साधु-संन्यासियों ने वस्तुतः भाग लिया हो, तो उसकी कोई स्मृति भारत में विद्यमान हो, और यदि उसका विवरण

उपलब्ध न भी हों, तो भी उसके कुछ संकेत ही यहाँ पाये जा सकें। इस दशा में हमारा ध्यान सोरम (जिला मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश), की सर्वखाप पंचायत के महामन्त्री चौधरी कबूल सिंह की ओर जाता है, जिनके पास उस पंचायत के पुराने रिकार्ड एवं विवरण सुरक्षित दशा में विद्यमान हैं। प्राचीन भारत के राजनीतिक व सामाजिक जीवन में पंचायतों का बहुत महत्त्व था। स्थानीय स्वशासन के सम्बन्ध में ही उन्हें महत्त्व-पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं थे, अपितु अपने क्षेत्र के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयों की व्यवस्था उन द्वारा की जाया करती थी। मध्य काल में भी ये पंचायतें कायम रहीं। तुर्क-अफगान तथा मुगल सम्राटों ने इन्हें नष्ट नहीं किया। इनका अन्त अंग्रेजों द्वारा किया गया, जिन्होंने कि मालगुजारी वसूल करने के अधिकार तक भी इन पंचायतों से ले लिये। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक ये पंचायतें विद्यमान थीं, और भारत के सामु-दायिक जीवन में इनका समुचित महत्त्व था। इन पंचायतों के प्रधान एवं मंत्री आदि निर्वाचित न होकर कुलक्रमानुगत होते थे, और ये पद कतिपय विशिष्ट कुलों में ही स्थिर रहते थे। प्राचीन समय के कुरु जनपद में स्थित सोरम की यह पंचायत बहुत महत्त्वपूर्ण थी, और इसके मन्त्री कुल में जो रिकार्ड अब तक सुरक्षित हैं, वे अत्यन्त महत्त्व के हैं। इस रिकार्ड में मीर मुश्ताक मीर इलाही मीरासी का उर्दू में लिखा हुआ एक पत्र विद्यमान है, जिससे सूचित होता है कि स्वामी विरजानन्द नामक एक हिन्दू साधु उन लोगों में सम्मिलित थे, जो सन् ५७ के विस्फोट के लिए जनता को तैयार कर रहे थे। यह उचित होगा कि इस पत्र को अविकल रूप से यहाँ दे दिया जाए।

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

सन् १८५६ बमुताबिक सम्वत् १९१३ की एक पंचायत मथुरा के तीर्थगाह पर मुनक्किद हुई। उसमें हिन्दू मुसलमान और दूसरे मजहब के लोगों ने शिर्कत की थी। इस पंचायत में **'एक नाबीना हिन्दु दर्वेश'** को लाया गया था, एक पालकी में बिठाकर। उनके आने पर सब लोगों ने उनका अदब किया। जब यह एक चौकी पर बैठ गया, तब हिन्दु-मुसलमान फकीरों ने इसकी कदम-बोसी की। इसके बाद सब पंचायत के लोगों ने इनका अदब किया। सबके अदब के बाद नाना साहब पेश हुआ। मौलवी अजीमुल्ला खान, रंगू बापू, और शहनशाह बहादुरशाह का शाहजादा, इन सबने इनके अदब में अशरफियाँ पेश कीं। इसके बाद एक हिन्दू एक मुसलमान फकीर ने कहा कि हमारे आका की जुबाने मुबारिक से जो तकरीर होगी, इसे तसल्ली के साथ सब लोग सुनें। और वह इस मुलक के लिए बहुत मुफीद साबित होगी और यह वली-उल्लाह साधु बहुत बहुत जबानों का आलिम और हमारा और हमारे मुल्क का बुजुर्ग है। खुदा की मेहरबानी ये ऐसे बुजुर्ग हमें मिले, यह खुदा का हम पर बड़ा एहसान है।

दर्वेश की तकरीर का आगाज—सबसे पहले उन्होंने खुदा की तारीफ की और फिर उर्दू में उसका तर्जुमा किया। इस बुजुर्ग ने यह कहा था कि **आजादी जन्नत और गुलामी दोजख है। अपने मुल्क की हकूमत गैर मुल्की हकूमत के मुकाबिले में हजार दर्जा बेहतर है। दूसरों की गुलामी हमेशा बेइज्जती और बेशर्मी का बायस है।** हमें किसी कौम से और किसी मुल्क से कोई नफरत नहीं है। **हम तो खल्के खुदा की बहबूदी**

के लिए खुदा से दुआ माँगते हैं। मगर हुकमराह (रान) कौम खासकर फरंगी जिस मुल्क में हकूमत करते हैं, उस मुल्क के बाशिन्दों के साथ इन्सानियत का बर्ताओ नहीं करते और कितनी भी अपनी अच्छाई की तारीफ करें मगर उस मुल्क के बाशिन्दों के साथ मवेशियों से गिरा हुआ बर्ताओ करते हैं। खुदा की खककत में सब इन्सान भाई-भाई हैं, मगर गैर-मुल्की हुकमराह (हुक्मरान) कौम उन्हें भाई न समझकर, गुलाम समझती है। किसी भी मजहबी किताब में ऐसा हुकम नहीं है कि अशरफुलमख्लूकात के साथ दगा की जाए तो अल्लाह के हुकम के खिलाफवर्जी की जाए। इस वास्ते **मातहत लोगों का कोई ईमान है न उनकी शान है।** फरंगियों में बहुत-सी अच्छी भी बातें हैं। मगर सियासी मामले में आकर वह अपने कौल-फेल को न समझकर फौरन बदल जाते हैं और हमारी अच्छाई और नेक-सिलाकी फौरन ठुकरा देते हैं। इसकी असल वजूहात यह हैं कि हमारे मुल्क को अपना वतन नहीं समझते हैं। हमारे मुल्क का बच्चा-बच्चा उनकी खैर-ख्वाही का दम भरे फिर भी अपने वतन के कुत्ते को हमारे इन्सानों से अच्छा समझते हैं। यही सब कमी का बायस है। उन्हें अपने ही वतन से मुहब्बत है। इसलिए हम सब बाशिन्द-गाने हिन्द से इल्तिजा करते हैं कि जितना वह अपने मजहब से मुहब्बत करते हैं, उतना ही इस मुल्क के हर इन्सान का फर्ज है कि वह वतन-परस्त बने और मुल्क के हर बाशिन्दे को भाई-भाई जैसी मुहब्बत करे। जब तुम्हारे दिलों के अन्दर वतन-परस्ती आ जाएगी। हिन्द के रहने वाले सब आपस में हिन्द-भाई हैं और बहादुर शाह शाहनशाह है। तस्दीक करदह मीर मुस्ताक मीर इलाही कासिद सर्वखाप पंचायत।

नोट—महात्मा संन्यासी का नाम मालूम किया तो उनका नाम स्वामी विरजानन्द था और बहुत अर्सा से मथुरा में रहते हैं और संस्कृत की तालीम देते हैं और अल्ला तआला के मोतकिद हैं।

मीर मीरासी के पत्र में जिस पंचायत की बैठक का उल्लेख है, वह सम्वत् १९१३ या सन् १८५६ में हुई थी। उसमें नाना साहब, अजीमुल्ला खाँ, रंगू बापू और बहादुर-शाह का एक शहजादा उपस्थित थे, और उनके सम्मुख स्वामी विरजानन्द ने एक भाषण दिया था, जिसमें अंग्रेजों के शासन की बुराइयाँ प्रदर्शित करके स्वराज्य की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। इस पत्र में स्वामी जी के मुख से जो बातें कहलायी गई हैं, वे इतनी स्पष्ट हैं कि उन पर किसी भी प्रकार की टिप्पणि करना निरर्थक है। मीर मीरासी का यह पत्र पुराने कागज पर हाथ से लिखा हुआ है, और उसके पुरानेपन तथा प्रामाणि-कता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। उसे पढ़कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के नेताओं का स्वामी विरजानन्द जी के साथ सम्पर्क था, और वे सब उनका बहुत आदर करते थे। निःसन्देह, उन साधु-संन्यासियों में स्वामी विरजानन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान था जो सैनिकों तथा सर्वसाधारण लोगों को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए प्रेरित कर रहे थे। यहाँ यह निर्दिष्ट कर देना भी उपयोगी है, कि स्वामी विरजानन्द जी दशनामी संन्यासी थे, और उनका सम्बन्ध शंकराचार्य द्वारा स्थापित संन्यासी सम्प्रदाय के साथ था।

सन् १८५६ में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह की तैयारियाँ तेजी के साथ हो रही थीं, और स्वामी विरजानन्द भी उसी के लिए कार्य कर रहे थे। इसी सिलसिले में वे सर्वखाप पंचायत में आये थे। उनके व्याख्यान से लोगों में उत्साह का संचार हो गया

था, और बहुत-से युवक अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई के लिए सेना में भरती होने को तैयार हो गए थे। बहुत-सी युवतियों ने भी स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने के लिए अपनी सेवा अर्पित की थीं। सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड में इन युवतियों के नाम भी सुरक्षित हैं।

पर स्वामी विरजानन्द जी को वह 'दस्स बाबा' नहीं माना जा सकता, जिसका उल्लेख सीताराम बाबा ने अपनी गवाही में किया है। सन् १८५७ में उनकी आयु ७९ साल से अधिक नहीं थी। दस्स बाबा की आयु १२५ वर्ष के लगभग थी, और वे चिर-काल से अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की तैयारी में संलग्न थे। सम्भवतः, उनकी आयु के सम्बन्ध में सीताराम ने अतिशयोक्ति से काम लिया है। पर वह बहुत बृद्ध थे, यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है। दस्स बाबा कौन थे, इस विषय में भी सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड से कुछ प्रकाश पड़ता है। श्री निहालसिंह आर्य ने इस रिकार्ड का सावधानी से अनुशीलन कर स्वामी विरजानन्द के गुरु स्वामी पूर्णानन्द और उनके भी गुरु स्वामी ओमानन्द के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्रस्तुत की है, जो महत्त्व की है। श्री आर्य का कहना है कि सोरम की सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड में ग्यारह पन्ने उन्हें ऐसे प्राप्त हुए, जिन्हें मौलवी जहीर अहमद ने लिखा था। मीर मिरासी के समान ये भी उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में हुए थे, और सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की घटनाओं से भली भाँति परिचित थे। उनके लिखे हुए ग्यारह पन्नों में से तीन में स्वामी ओमानन्द और पूर्णानन्द द्वारा आयोजित तीन सभाओं का विवरण दिया हुआ है, जिसमें कि इन संन्यासियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध संग्राम की योजना से सैनिक नेताओं तथा असैनिक जनता के सम्भ्रान्त व्यक्तियों को अवगत किया था। शेष आठ पन्नों में सर्वखाप पंचायत के उन युवकों के वीर कृत्यों का वर्णन है, जिन्होंने कि विद्रोही हिन्दुस्तानी सेना में भरती होकर अंग्रेजों से लड़ाई लड़ी थी। सन् १८५७ में स्वामी पूर्णानन्द की आयु ११० वर्ष थी, और स्वामी ओमानन्द की १६० वर्ष।

सर्वखाप पंचायत सोरम के रिकार्ड के अनुसार पहली सभा सन् १८५५ के प्रारम्भ काल में हरिद्वार में हुई थी, जिसमें बहादुरशाह जफर का पुत्र फिरोजशाह, राय सहाब मराठा (सम्भवतः नाना साहब), बाला साहब मराठा, रंगू बापू, अजीमुल्ला खाँ और रमजान बेग उपस्थित थे। कुल उपस्थिति १५०० के लगभग थी। ब्रिटिश सरकार के हिन्दुस्तानी सैनिकों में विद्रोह की भावना का प्रसार करने लिए कमल के फूल और चपाती के वितरण की योजना इसी सभा में स्वामी ओमानन्द द्वारा तैयार की गई थी। दूसरी सभा ५ अक्टूबर, १८५५ को गढ़ गंगा के मेले के अवसर पर मेले के क्षेत्र से कुछ दूरी पर आयोजित की गई थी। स्वामी पूर्णानन्द इसके प्रधान थे, और साईं फखरुद्दीन उपप्रधान। फखरुद्दीन पीरान कलियर (हरिद्वार और रुड़की के बीच में स्थित एक मुसलिम धर्म-स्थान) रहा करते थे, और हिन्दू सन्त-महात्माओं से उनका अच्छा मेल-जोल था। गढ़ गंगा की सभा की उपस्थिति ढाई हजार के लगभग थी। सभा में स्वामी पूर्णानन्द ने जो भाषण दिया था, मौलवी जहीर अहमद ने उसका सार इस प्रकार लिखा है—"मुल्क को फिरंगी के भरोसे मत छोड़ो, वे बेदीन हैं। इनका कोई कौल फेल नहीं है। ये राजा नहीं, बल्कि तिजारती लुटेरे और जरपरस्त हैं। ये हमारे मुल्क की तमाम मखलूक के हर इन्सान की जिन्दगी के दुश्मन हैं और ये तुम्हारा खून और गोश्त खा जाएँगे। इनसे बचो। ये तुम्हारी नस्लों को नेस्तनाबूद कर देंगे और मुल्क में खुद आबाद होकर रहेंगे।

इन्हें अपने मुल्क से निकालो।" तीसरी सभा दस दिन बाद ११ अक्टूबर, १८५५ को हरिद्वार के पहाड़ में की गई थी। इसे भी स्वामी पूर्णानन्द ने आयोजित किया था। इसमें ५६५ साधु उपस्थित थे, जिनमें १६५ मुसलमान साधु थे। मौलवी जहीर अहमद ने इस सभा में सम्मिलित हुए कुछ प्रमुख साधुओं के नाम भी दिए हैं, जिनमें प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द का नाम भी है, और साथ ही 'गोल मुख वाले नौजवान' दयानन्द का भी। सभा में स्वामी पूर्णानन्द और साईं फखरुद्दीन ने भाषण दिये थे, और लोगों को देश के उत्थान की प्रेरणा दी थी।

स्वामी पूर्णानन्द का निवास कनखल (हरिद्वार) में था, और वे अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् एवं सन्त थे। उन्हें पूर्णदास सन्त भी कहते थे। इनकी आयु सन् १८५७ में ११० वर्ष की थी, और सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड के अनुसार अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की योजना को तैयार करने में इनका प्रमुख कर्तृत्व था। सम्भवतः, यह कल्पना असंगत नहीं है, कि माइसूर के सैनिक कमीशन के सम्मुख गवाही देते हुए सीताराम बाबा ने जिन्हें 'दस्स बाबा' कहा है, वे स्वामी पूर्णानन्द ही थे। शुरू में अपने गुरु स्वामी ओमानन्द के साथ मिलकर उन्होंने विद्रोह की योजना बनायी थी, और जब ओमानन्द अत्यन्त वृद्ध हो गए, तो वे ही नाना साहब आदि को मार्ग दिखाते रहे। सन् १८५५ में कुम्भ के अवसर पर स्वामी दयानन्द उनसे मिले थे, और उनसे विद्या पढ़ने की इच्छा प्रकट की थी। पूर्णानन्द भी वृद्ध थे। अतः उन्होंने दयानन्द से कहा था, कि स्वामी विरजानन्द के पास जाकर विद्याध्ययन करें। पर साथ ही यह भी कहा था, कि विद्या पढ़ने से पहले देश के सुधार तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के कार्य में जी-जान से जुट जाएँ। इसके बाद स्वाधीनता संग्राम के लिए जो सभाएँ हुईं, स्वामी दयानन्द उनमें सम्मिलित होते रहे। सम्वत् १९१३ (सन् १८५६) में हुई जिस सभा का मीर मीरासी द्वारा लिखित विवरण इस प्रकरण में ऊपर दिया गया है, स्वामी दयानन्द उसमें भी उपस्थित थे।

सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की योजना यद्यपि ओमानन्द और पूर्णानन्द द्वारा तैयार की गई थी, पर उसे क्रियान्वित करने में स्वामी विरजानन्द का कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का था। विद्रोह के प्रारम्भ होने से पहले के तीन साल उन्होंने उसकी तैयारी में लगाये थे। उनके शिष्यों ने देश में यह प्रचार किया था, कि जो कोई मथुरा की यात्रा करेगा, उसके कुल के सब पाप नष्ट हो जाएँगे। श्रीकृष्ण जी और बलदेव जी ने भगवान् गिरि गोसाईं को सुपने में दर्शन दिए थे, और यह कहा था कि इस वर्ष हमारे जन्मस्थान में आकर जो कोई तीर्थ करेगा, उसकी सात पीढ़ियाँ तर जाएँगी। मुसलमान फकीरों ने यह फतवा दिया था, कि जो कोई शुरू भादों में आठ रोज तक मथुरा मसजिद में नमाज पढ़ेगा, उसको बड़ा सवाब होगा। इस प्रचार का यह परिणाम हुआ कि सन् १८५७ के पहले के तीन वर्षों में हिन्दू और मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में मथुरा आते रहे और साधुओं तथा फकीरों द्वारा उनमें अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह में सम्मिलित हो जाने के लिए प्रेरणा दी जाती रही। स्वामी विरजानन्द ने सोच समझ कर मथुरा को अपना केन्द्र बनाया था। उनका जन्म पंजाब में हुआ था, पर विद्याध्ययन के लिए वे चिर काल तक कनखल, काशी आदि में रहे थे। स्वामी पूर्णानन्द उनके गुरु थे, जिनसे उन्होंने सत्य शास्त्रों के साथ-साथ देशभक्ति तथा धर्म में सुधार की भी शिक्षा प्राप्त की थी। सन् १८४४ में वे अलवर चले गये थे, और वहाँ के राजा विनयसिंह को उन्होंने संस्कृत

पढ़ाई थी। अलवर रहते हुए वे अन्य भी अनेक राजाओं तथा जागीरदारों के सम्पर्क में आये थे। अलवर से मथुरा अधिक दूर नहीं है, अतः जब स्वामी विरजानन्द ने अपने गुरु द्वारा बतायी गई योजना को क्रियान्वित करने के लिए सक्रिय रूप से योगदान देने का निश्चय किया, तो उन्होंने मथुरा को अपना केन्द्र बनाया जो श्रीकृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है, और अजमेर, फतेहपुर सीकरी आदि के मुसलिम धर्मस्थलों की यात्रा करने वाले लोगों के भी मार्ग में पड़ता है। मथुरा को अपना केन्द्र बनाकर स्वामी विरजानन्द ने १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के लिए साधु-संन्यासियों को संगठित किया और स्वतन्त्रता के सैनिकों को अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध के लिए प्रेरणा प्रदान की।

सोरम की सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड में सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की अनेक घटनाओं का भी उल्लेख है। पर इस इतिहास के लिए उनका विशेष उपयोग नहीं है। पर इस रिकार्ड में कुछ बातें ऐसी हैं, जिनको उल्लिखित करना आवश्यक है। एक स्थान पर सफेद घोड़ों पर सवार दो बलवान् साधुओं का वर्णन है, जिनमें से एक का नाम मूलशंकरा लिखा गया है, और दूसरे का महन्त धर्मगिरि। अन्य अनेक स्थानों पर एक गोल मुख वाले बलवान् नवयुवक का उल्लेख है, जिसका नाम दयानन्द था। यह मूलशंकर या दयानन्द स्वामी विरजानन्द के नेतृत्व में कार्य करने में तत्पर थे, और उन साधु-संन्यासियों में यह भी एक थे, जो देश की स्वाधीनता के लिए सक्रिय रूप से संघर्ष में संलग्न थे। कई स्थानों पर इनके नाम को उल्लिखित किया जाना यह सूचित करता है, कि स्वामी पूर्णानन्द की योजना के अनुसार कार्य में तत्पर हजारों साधु-संन्यासियों में दयानन्द का स्थान विशेष महत्त्व का था। सन् १८५५ में दयानन्द की आयु ३१ वर्ष थी। अतः यह स्वीकार कर सकना तो सम्भव नहीं है, कि दो वर्ष पश्चात् प्रारम्भ होने वाले स्वाधीनता संग्राम के वही संयोजक एवं संचालक थे, विशेषतया उस दशा में जब कि उनके गुरु स्वामी विरजानन्द तथा उनके भी गुरु स्वामी पूर्णानन्द इस स्वातन्त्र्य-यज्ञ का पौरोहित्य कर रहे हों। पर एक सशक्त युवा संन्यासी के रूप में स्वामी दयानन्द का भी इस संघर्ष में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा, यह मान सकने में कोई विशेष बाधा नहीं है।

सोरम की सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड प्रामाणिक हैं या नहीं और इतिहास के लिए उनकी साक्षी किस अंश तक स्वीकार्य है, इस विषय पर भी कुछ विचार आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह दृष्टि में रखना चाहिए कि ये रिकार्ड प्रधानतया उर्दू में हैं और मुसलमानों के लिखे हुए हैं। इनका समय भी वही है, जब कि स्वाधीनता संग्राम की ज्वालाएँ सारे देश को व्याप्त कर रही थीं। स्वामी दयानन्द और उनके गुरु स्वामी विरजानन्द के ऐतिहासिक महत्त्व की वृद्धि के प्रयोजन से किसी आर्यसमाजी ने इन्हें लिख दिया हो, यह कल्पना सर्वथा असंगत है। जहाँ से ये रिकार्ड उपलब्ध हुए हैं, वहाँ से मध्य युग के इतिहास की घटनाओं के अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण विवरण मिले हैं, जिनके आधार पर पी-एच० डी० के तीन शोध प्रबन्ध भी तैयार किये जा चुके हैं। पंचायतों का भारत के सार्वजनिक जीवन में जो महत्त्व रहा है, उसके कारण महत्त्वपूर्ण घटनाओं की स्मृति को सुरक्षित रखने का कार्य भी उन द्वारा किया जाता था। सब पंचायतों का महत्त्व एक बराबर नहीं था। पर अनेक प्रदेशों में ऐसी सर्वखाप पंचायतें विद्यमान थीं, जिनकी स्थिति व शक्ति बड़े-बड़े जागीरदारों व सूबेदारों के समकक्ष थी। सम्भ्रान्त एवं शक्ति-

सम्पन्न कुलों व जातियों के जीवनवृत्त को सुरक्षित रखने का कार्य जैसे भाटों द्वारा किया जाता था, वैसे ही व्यापक क्षेत्र की इन पंचायतों के गौरवपूर्ण कृत्यों की स्मृति उनके मन्त्रियों के पास सुरक्षित रहा करती थी।

सर्वखाप पंचायत, सोरम के रिकार्ड के अनुसार स्वामी विरजानन्द के दो प्रमुख शिष्य रामगिरि गोसाईं और मुद्दीशाह थे, जिन्होंने कि मेरठ की छावनी में हिन्दुस्तानी सिपाहियों को अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह के लिए प्रेरित किया था। रामगिरि गोसाईं के पास एक हाथी था, जिस पर चढ़कर वह सर्वत्र आया-जाया करता था। फान्थोर्न ने 'मरियम—१८५७ के भारतीय गदर की कहानी' उपन्यास में हाथी पर सवार होकर मेरठ के क्षेत्र में सैनिकों को भड़काने वाले जिस बाबा (साधु) का चित्रण किया है, वह यदि रामगिरि गोसाईं ही हो, तो आश्चर्य नहीं। स्वामी विरजानन्द के नेतृत्व में जो बहुत-से साधु-संन्यासी और मुसलिम पीर-फकीर स्वाधीनता संग्राम के लिए सैनिकों और जन साधारण में कार्य कर रहे थे, उनके कार्य-कलाप की स्मृति जहाँ सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड में सुरक्षित है, वहाँ पिछले प्रकरण में उद्धृत सरफराज अली के भाषण से भी उसका आभास मिल जाता है।

श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री द्वारा महर्षि दयानन्द सरस्वती का जो 'आत्मचरित्र' प्रकाश में लाया गया है, उसके अनुसार सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की योजना तैयार करने में उनका महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था, और कुम्भ के अवसर पर (सन् १८५५ में) नाना साहब, अजीमुल्ला खाँ, झाँसी की रानी आदि ने हरिद्वार में उन से भेंट की थी और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया था। श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री द्वारा संकलित महर्षि के 'आत्मचरित्र' के प्रामाणिक होने में न केवल सन्देह ही किया गया है, अपितु उसे जाली भी प्रतिपादित किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि इस आत्मचरित्र में अनेक ऐसी बातें हैं, जिन पर सहसा विश्वास करना सुगम नहीं है। लद्दाख के हिमिस मठ में जाकर वहाँ ईसा मसीह की ऐसी जीवनी का अवलोकन करने जिसमें कि उनके भारत आकर वेद-शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण करने का वर्णन है, और थोड़े से समय में लद्दाख, मानसरोवर, कैलास, उत्तराखण्ड आदि हिमालय के सुविस्तृत तथा दुर्गम क्षेत्र का पर्यटन आदि की सत्यता पर विवेचकों का सन्देह करना अस्वाभाविक नहीं है। महर्षि के इस आत्मचरित्र की प्रामाणिकता पर किसी भी पूर्वाग्रह के बिना विवेचना की जानी चाहिए। इसका उपाय यह है, कि बँगला भाषा के जिन लेखों को संकलित कर यह आत्मचरित्र प्रस्तुत किया गया है, उनके लिखे जाने के काल का पता किया जाए, और जिन परिवारों से उन्हें प्राप्त किया गया कहा जाता है, उनसे उनके सम्बन्ध में पूछताछ की जाए। इस विषय में आवश्यक प्रयत्न किया जा रहा है। अब तक जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, उनसे विदित हुआ है कि बँगला भाषा के जिस हस्तलेख में स्वामी दयानन्द सरस्वती के कुम्भ के मेले (सन् १८५५) के अवसर पर स्वाधीनता संग्राम के नेताओं से मिलने का वर्णन हैं, वह स्वयं पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री का लिखा हुआ है, और वह पचास साल से अधिक पुराना नहीं है। कतिपय अन्य हस्तलेख ऐसे भी हैं, जो दीनबन्धु जी के लिखे हुए नहीं हैं, और अधिक पुराने हैं। दीनबन्धु जी का अब स्वर्गवास हो चुका है, और उनसे इस विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती। जिन घरों से इन हस्तलेखों को प्राप्त हुआ कहा जाता है, उनसे इनके विषय में जो पूछताछ की गई, उसका कोई संतोषजनक

परिणाम नहीं निकला। एक शताब्दी से भी अधिक समय पुरानी बातों का कोई विवरण उनसे प्राप्त नहीं किया जा सका, और न ही उन घरों के व्यक्ति यह बता सके कि उनके पूर्व-पुरुषों से स्वामी दयानन्द सरस्वती से सम्बद्ध कोई हस्तलेख प्राप्त किये गये थे या नहीं। इस दशा में श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री द्वारा संकलित 'आत्मचरित्र' की प्रामाणिकता के विषय में निर्णय को अभी स्थगित ही रखना होगा, और इसके सम्बन्ध में और अधिक खोज के लिए प्रयत्न जारी रखना पड़ेगा।

'योगी का आत्मचरित्र' के अनुसार सन् १८५५ में कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में स्वाधीनता संग्राम के नेताओं के साथ स्वामी दयानन्द का विचार-विमर्श हुआ था। नाना साहब, अजीमुल्ला खाँ, कुंअरसिंह आदि ने स्वामी जी से जो प्रश्न किये थे और स्वामी जी ने उनके जो उत्तर दिए थे, वे सब इस आत्मचरित्र में विशद रूप से वर्णित हैं। कुम्भ के अवसर पर सन् १८५५ में स्वाधीनता संग्राम के नेता हरिद्वार गए थे, और वहाँ उन्होंने साधुओं से मिलकर मन्त्रणा की थी, इसका विवरण सोरम की सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड में भी विद्यमान है। पर वहाँ स्वाधीनता संग्राम के लिए प्रेरणा व परामर्श देने वाले साधुओं के नाम स्वामी ओमानन्द और स्वामी पूर्णानन्द दिए गए हैं। सोरम के रिकार्ड में ११ अक्टूबर, १८५५ में हरिद्वार में हुई एक अन्य सभा का भी वर्णन है, जिसमें स्वामी पूर्णानन्द के अतिरिक्त स्वामी विरजानन्द और स्वामी दयानन्द भी उपस्थित थे। इस सभा में उपस्थित व्यक्तियों में नाना साहब और अजीमुल्ला खाँ आदि के नाम नहीं हैं। हरिद्वार में हुई जिस सभा में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की योजना तैयार की गई थी, उसमें नाना साहब आदि ने जिन साधु-संन्यासियों से परामर्श किया था, वे स्वामी ओमानन्द और स्वामी पूर्णानन्द थे, स्वामी दयानन्द नहीं। वे तब हरिद्वार में अवश्य विराजमान थे, पर साधुसमाज में उनकी स्थिति अभी सर्वोच्च नहीं हुई थी। स्वाधीनता संग्राम में उनका महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व तब प्रारम्भ हुआ, जब स्वामी विरजानन्द के शिष्य तथा सहायक के रूप में वे अंग्रेजों के विरुद्ध मैदान में उतर आये थे।

सन् १८७२-७३ में कलकत्ता के कतिपय सम्भ्रान्त व्यक्तियों के सम्मुख स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जो चर्चा की थी, वह संस्कृत भाषा में थी। यह सर्वथा सम्भव है, कि कुम्भ के अवसर पर (सन् १८५५) हरिद्वार में जो सभा हुई थी, उसके विषय में जानकारी देते हुए उन्होंने स्वामी ओमानन्द और स्वामी पूर्णानन्द का ही उल्लेख किया हो, पर जिन बंगाली सज्जनों ने उनसे यह चर्चा सुनी थी, सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की घटनाओं से भली भाँति परिचित न होने के कारण बँगला भाषा में उन्हें प्रस्तुत करते हुए उनसे कुछ भूल हो गई हो, और उन्होंने स्वामी ओमानन्द या स्वामी पूर्णानन्द से हुई बातचीत का उल्लेख स्वामी दयानन्द के नाम से कर दिया हो। नाना साहब आदि से हुई बातचीत जिस रूप में 'योगी का आत्मचरित्र' में वर्णित की गई है, उस पर आधुनिकता की स्पष्ट छाप है। ताँत्या टोपे के प्रश्न के उत्तर में जन विद्रोह के जो कारण उसमें स्वामी जी के मुख से कहलाये गए हैं, वे किसी आधुनिक इतिहासज्ञ की लेखनी से लिखे प्रतीत होते हैं। सम्भव है, कि नाना साहब, ताँत्या टोपे आदि से विचार-विमर्श करते हुए साधु-संन्यासियों द्वारा उन्हें जो बातें कही गई हों, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बंगाली सज्जनों के समक्ष उनकी चर्चा कर दी हो, और उन्होंने न केवल अपनी भाषा में ही, अपितु अपनी ही शैली में भी उन्हें लिखित रूप दे दिया हो। यह भी स्पष्ट है कि

जिस रूप में यह लेख (नाना साहब आदि के साथ भेंट से सम्बन्ध रखने वाला लेख) इस समय उपलब्ध है, वह श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री के हाथ से लिखा हुआ है, और सन् १८७२-७३ का लिखा हुआ नहीं है। हो सकता है कि वेदशास्त्री जी ने भी मूल लेख को बहुत पल्लवित और पुष्पित कर दिया हो। मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से यह प्रवृत्ति होती है, कि जिसे वे पूजनीय मानते हैं उसके सम्बन्ध में अतिशयोक्ति करने में संकोच नहीं करते। यदि श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री ने भी स्वामी जी के प्रति श्रद्धा से आविष्ट होकर उनके मुख से कही गई बातों को बढ़ा-चढ़ा कर तथा आधुनिक रूप देकर प्रस्तुत कर दिया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

पर यह स्वीकार करना होगा, कि सन् १८५५ में कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में साधु-संन्यासियों तथा नाना साहब आदि स्वाधीनता संग्राम के नेताओं के बीच हुए परामर्श की जो बात है, वह सर्वथा निराधार नहीं है। दीनबन्धु जी द्वारा प्रस्तुत 'आत्म-चरित्र' के अतिरिक्त सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड में भी उसकी स्मृति सुरक्षित है, और एक दस्स बाबा (दशनामी संन्यासी) के स्वाधीनता संघर्ष के संचालक होने की बात सीताराम बाबा ने भी सैनिक कमीशन के सम्मुख दी गई गवाही में कही थी।

नाना साहब आदि क्रान्तिकारी नेताओं ने हरिद्वार में स्वाधीनता संग्राम की योजना के सम्बन्ध में कुम्भ के अवसर पर एकत्र हुए साधु-संन्यासियों के साथ विचार-विमर्श किया था, इस मन्तव्य की सत्यता पर विचार करते हुए सिपाही विद्रोह के प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार केय् और मल्लेसन के ग्रन्थ 'भारतीय गदर का इतिहास' (History of the Indian Mutiny, by Sir I. W. Kaye and Colonel G. B. Malleson) के निम्नलिखित कथन को भी दृष्टि में रखना चाहिए, "हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत वापस लौट आने के शीघ्र बाद वह (अजीमुल्ला खाँ) नाना साहब के साथ लखनऊ गया था, जहाँ उन दोनों ने कुछ समय निवास किया था। बाद में इन दोनों की जोड़ी तीर्थ-यात्रा के बहाने पहाड़ों की ओर चल पड़ी थी। एक हिन्दू और एक मुसलमान दोनों मिल कर तीर्थयात्री बने हुए ग्राण्ड ट्रंक रोड पर विद्यमान सैनिक छावनियों को देखते हुए अम्बाला तक चले गए थे।" इस कथन में यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वाधीनता संग्राम के इन प्रमुख नेताओं ने तीर्थयात्रियों के वेस में ग्राण्ड ट्रंक रोड से लखनऊ से अम्बाला तक की यात्रा की थी, और उनका उद्देश्य पहाड़ी क्षेत्र तक जाना था। सन् १८५५ में और उसके बाद भी पर्याप्त समय तक लखनऊ, दिल्ली और अम्बाला, सहारनपुर आदि के बीच रेलवे लाइनें नहीं बनी थीं। पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाला राजमार्ग (ग्राण्ड ट्रंक रोड) दिल्ली होता हुआ अम्बाला जाता था, और मुरादाबाद तथा सहारनपुर के बीच उस समय कोई सीधी सड़क नहीं थी। इस दशा में लखनऊ से हरिद्वार जाने वाले यात्रियों के लिए सुविधाजनक मार्ग यही था कि वे पहले दिल्ली जाएँ और वहाँ से अम्बाला जाकर शिवालिक पर्वतमाला की उपत्यका से होते हुए हरिद्वार पहुँचें। अजीमुल्ला खाँ और नाना साहब ने यात्रा के लिए चाहे किसी अन्य मार्ग का भी प्रयोग किया हो, पर यह मानना अवश्य युक्तिसंगत है कि तीर्थयात्रियों के वेश में पहाड़ों की ओर जाने का उनका लक्ष्य हरिद्वार था, जहाँ सन् १८५५ के एप्रिल मास में कुम्भ का मेला होने वाला था।

पेशवा बाजीराव की मृत्यु २८ जनवरी, सन् १८५१ के दिन हुई थी। बाजीराव का कोई पुत्र नहीं था। अतः ब्रिटिश सरकार उसके राज्य को सीधे अपने शासन में ले आना चाहती थी। नाना साहब पेशवा की गद्दी का दावेदार था, और अपने दावे को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ग्राफ डाइरेक्टर्स के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए उसने अजीमुल्ला खाँ और रंगोजी बापू को लण्डन भेजा था। ये दोनों किस समय लण्डन गए थे, इस सम्बन्ध में मतभेद हैं। केय के अनुसार वे सन् १८५३ की ग्रीष्म ऋतु में लण्डन पहुँचे थे, और बिडल (Biddle) नामक अंग्रेज वकील की सहायता से नाना साहब के दावे की उन्होंने पैरवी की थी। पर वे सफल नहीं हुए थे, और केय के अनुसार रंगोजी बापू दिसम्बर, १८५३ में वापस लौट आया था। सम्भव है, कि अजीमुल्ला खाँ भी रंगोजी बापू के साथ ही भारत आ गया हो। उस दशा में सन् १८५५ के प्रारम्भ में उसके और नाना साहब के हरिद्वार की यात्रा के लिए चल पड़ने को असंगत नहीं कहा जा सकता। पेशवा की गद्दी को बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स द्वारा प्राप्त कर सकने में असफल हो जाने पर नाना साहब और अजीमुल्ला खाँ के लिए यही मार्ग शेष रह गया था, कि भारत से अंग्रेजों के प्रभुत्व का अन्त कर बलपूर्वक अपने राज्य को प्राप्त किया जाए। सीताराम बाबा ने सैनिक कमीशन के समक्ष दी गई गवाही में कहा था, कि सन् ५७ के विस्फोट के प्रारम्भ होने से तीन साल पहले से नाना साहब और उसके साथी अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र में तत्पर हो गए थे। १८५३ के अन्त में अजीमुल्ला खाँ और रंगोजी बापू के भारत लौटने के बाद शीघ्र ही (१८५४-५५ में) विद्रोह की तैयारी शुरू कर दी गई होगी, यह मन्तव्य असंगत नहीं कहा जा सकता। इस तैयारी के सिलसिले में ही नाना साहब और अजी-मुल्ला खाँ तीर्थयात्रियों का वेश बनाकर शिवालिक उपत्यका में स्थित हरिद्वार गए थे।

सन् १८५५ के प्रारम्भ में अजीमुल्ला खाँ के हरिद्वार जाने के मन्तव्य के विरुद्ध एक बात यह कही जाती है कि टाइम्स, लण्डन के संवाददाता सर विलियम रसेल के अनुसार जून, जुलाई १८५५ में अजीमुल्ला खाँ क्रीमिया में था, और सेबेस्टपोल के समीप रसेल की उससे मुलाकात भी हुई थी। यदि कुम्भ के समय (एप्रिल, १८५५) में अजीमुल्ला खाँ हरिद्वार में था, तो जून में क्रीमिया कैसे पहुँच सकता था? इस सम्बन्ध में दो बातें सम्भव हैं, या तो सर विलियम रसेल की डायरी में तिथि लिखने में कोई भूल हो गयी हो, और या नाना साहब तथा अजीमुल्ला खाँ आदि ने एप्रिल मास से पहले (मार्च के पूर्वार्द्ध में या उससे भी पहले) हरिद्वार में साधु-संन्यासियों से भेंट की हो। सोरम के रिकार्ड के अनुसार यह भेंट सन् १८५५ के प्रारम्भ समय में हुई थी। यह असम्भव नहीं है, कि नाना साहब आदि की साधुओं के साथ हरिद्वार में भेंट संक्रान्ति या वैशाखी से कुछ समय पहले ही हो गई हो, और स्वाधीनता संग्राम की जो योजना वहाँ तैयार की गई थी, उसके लिए रूस की सहायता प्राप्त करने के प्रयोजन से अजीमुल्ला खाँ क्रीमिया चला गया हो। मार्च के मध्य में हरिद्वार से चलकर जून के मध्य में क्रीमिया पहुँच सकना उस समय में भी असम्भव नहीं था, विशेषतया अजीमुल्ला खाँ सदृश एक सामर्थ्यवान् साधनसम्पन्न राजप्रतिनिधि के लिए। उन दिनों रूस और ग्रेट ब्रिटेन एक दूसरे के कट्टर शत्रु थे, और क्रीमिया के युद्ध में एक दूसरे से लड़ाई में संलग्न थे। केय ने लिखा है, कि नाना साहब और रूस में सम्पर्क विद्यमान था, और अंग्रेजों के

विरुद्ध लड़ाई में वह रूस की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। अजीमुल्ला खाँ इसी प्रयोजन से क्रीमिया गया था, और वहाँ उसने रूसी अफसरों के साथ सम्पर्क भी स्थापित किया था। नाना साहब का यह मन्त्री फ्रेन्च और अंग्रेजी भाषाएँ अच्छी तरह जानता था और यूरोपियन लोगों के रहन-सहन तथा व्यवहार आदि से भली भाँति परिचित था। उसके क्रीमिया जाने और वहाँ लड़ाई के लिए बनाई गयी खाइयों (trenches) में रूसियों से मिलते रहने का एक निश्चित उद्देश्य था। ग्रेट ब्रिटेन से भारत वापस लौटते हुए वह क्रीमिया नहीं गया था, अपितु १८५३ के अन्त में भारत आ कर और १८५४-५५ में स्वाधीनता संग्राम की योजना तैयार हो जाने पर उसने एक बार फिर पश्चिम की ओर प्रस्थान किया था, और क्रीमिया जाकर रूस की सहायता प्राप्त करने की कोशिश की थी।

सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के सम्बन्ध में इस अध्याय में जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह संग्राम या विद्रोह एक सुनियोजित षड्यन्त्र या योजना का परिणाम था, जिसके नेता व संचालक एक दशनामी संन्यासी थे। सोरम की सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड के अनुसार उनका नाम स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती था। स्वामी विरजानन्द उनके शिष्य थे, और वे सैनिकों व सर्वसाधारण लोगों को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिए प्रेरित करने में संलग्न थे। इसी प्रयोजन से उन्होंने साधुओं की एक बहुत बड़ी मण्डली संगठित की थी, जिसके एक सदस्य युवा दयानन्द भी थे। दक्षिणी भारत में स्वाधीनता संग्राम के लिए जो पत्र वहाँ के राजाओं व जागीरदारों को भेजे जा रहे थे, उन्हें अभीष्ट स्थान तक पहुँचाने के लिए साधु-संन्यासियों की जो मण्डली काम कर रही थी, उसके मुखिया भी सम्भवतः यही दयानन्द थे। दीनबन्धु वेदशास्त्री द्वारा संकलित ऋषि दयानन्द सरस्वती के आत्मचरित्र में १८५७ के अन्त तथा १८५८ के पूर्वार्द्ध में उनके दक्षिणी भारत में होने का उल्लेख है और सीताराम बाबा की गवाही में दक्षिण में कार्यरत साधुओं के प्रमुख को दीनदयाल कहा गया है। सीताराम को यन्त्रणाएँ देकर विद्रोह के सम्बन्ध में जानकारी देने के लिए विवश किया गया था, पर स्वाधीनता संग्राम के सर्वप्रधान संचालक का पूरा नाम फिर भी उसने नहीं बताया था। क्या यह कल्पना असंगत होगी, कि दयानन्द को ही उसने दीनदयाल कह दिया हो। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब किसी के असली नाम को छिपाने के लिए दूसरे नाम का प्रयोग किया जाता है, तो दूसरा नकली नाम असली नाम की छाया लिये रहता है। सम्भवतः, यही बात दयानन्द और दीनदयाल के सम्बन्ध में हुई थी।

जो तथ्य इस अध्याय में प्रस्तुत किये गए हैं, उनसे यह संकेत अवश्य प्राप्त हो जाता है, कि स्वामी विरजानन्द और स्वामी दयानन्द का सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में योगदान था। पर अभी इसे पूर्ण ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकृत कर सकने में इतिहास लेखक अवश्य संकोच अनुभव करेंगे। आवश्यकता इस बात की है, कि इस विषय में शोध को जारी रखा जाए। नये-नये तथ्यों के प्रकाश में आते रहने के साथ-साथ इतिहास में संशोधन किये जाते रहते हैं। किसी भी इतिहास ग्रन्थ को अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। आर्यसमाज का यह विस्तृत इतिहास सात भागों में लिखा जा रहा है, उसके चतुर्थ भाग का विषय 'आर्यसमाज और राजनीति' है। जब तक इस भाग के प्रकाशन का समय आएगा, सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में

स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगदान के सम्बन्ध में कुछ अन्य तथ्य अवश्य प्रकाश में आ जाएँगे, क्योंकि इसके लिए समुचित प्रयत्न किया जा रहा है। हमने यहाँ संक्षिप्त रूप से वे तथ्य प्रस्तुत कर दिए हैं, जिन्हें सम्मुख रखकर शोध को जारी रखा जा सकता है, और जिन द्वारा किसी सही परिणाम पर पहुँचने की आशा की जा सकती है।

सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम सफल नहीं हुआ था। उसके संचालकों तथा सक्रिय कार्यकर्ताओं में इस विफलता के परिणामस्वरूप जो मनोभावना विकसित हुई होगी, उसकी कल्पना कर सकना कठिन नहीं है। साधारण लोग विफलता से निराश हो जाते हैं, पर मनीषी व सशक्त व्यक्ति विफलता के कारणों पर विचार करते हैं, और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुनः प्रयत्न प्रारम्भ कर देते हैं। यदि आवश्यकता समझें, तो वे अपनी कार्यनीति को परिवर्तित कर देने में भी संकोच नहीं करते। स्वामी दयानन्द सरस्वती उन व्यक्तियों में थे, जो स्वाधीनता संग्राम की असफलता से निराश नहीं हुए, अपितु उसके कारणों का गम्भीरता से विवेचन कर अपने उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न जिन्होंने जारी रखा।

भारत में विदेशियों का शासन कायम रहने के कारणों को स्वामी जी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, "विदेशियों के आर्यावर्त में राजा होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयम्वर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचारादि कर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।" (सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५३-५४)। आपस की फूट ने भारत का किस प्रकार विनाश किया, इसे उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"भारत की फूट से कौरव-पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख सागर में डुबा मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक चलकर दुःख उठा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाए।" (स० प्र०, दशम समुल्लास, पृष्ठ २५४) सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की विफलता का एक प्रधान कारण आपस की फूट व एकता का अभाव था। कितने ही राजा, नवाब, जागीरदार और समर्थ लोग इस अवसर पर अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती को यह सब देख कर जो तीव्र वेदना हुई, वह उनके ऊपर उद्धृत वाक्यों में स्पष्ट रूप से विद्यमान है। उन्होंने भली भाँति समझ लिया था, कि जब तक भारत के विविध सम्प्रदायों व मतमतान्तरों में भेदभाव दूर नहीं होंगे, विविध राजशक्तियों में से विद्वेष व विरोध का अन्त होकर एक साथ काम करने की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होगी, और जनता के सब वर्ग मिलकर एक नहीं हो जाएँगे, विदेशी शासन से छुटकारा पा सकना सम्भव नहीं होगा। साथ ही, उन्होंने यह भली भाँति समझ लिया था कि इस देश में जो बहुत-सी सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न हो गई हैं (बालविवाह, बेमेल विवाह, भोगविलास में फँसना और जनसाधारण का अशिक्षित होना आदि), और लोगों के आचरण जो वेदों की शिक्षा के प्रतिकूल हो गए हैं, उनमें सुधार किये बिना भी भारत का स्वतन्त्र हो सकना कठिन है। अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने के प्रयत्न तभी सफल हो पायेंगे, जबकि शिक्षा के प्रसार, धर्मानुकूल आचरण, समाज सुधार आदि द्वारा

आर्य जनता में शक्ति सामर्थ्य का संचार हो जाएगा। पर प्रश्न यह था, कि आर्यों की दुर्दशा का कैसे अन्त किया जाए ? इस विषय में स्वामी जी का यह विचार था, कि आर्यों की आन्तरिक निर्बलता का कारण यह है कि वे सत्य सनातन वैदिक धर्म से विमुख हो ऐसे मतों को मानने लगे हैं जिनके मन्तव्य वेदविरुद्ध हैं। ऐसा एक मन्तव्य मूर्तिपूजा है। स्वामी जी के विचार में मन्दिरों में मूर्तियों की प्रतिष्ठा कर एक सर्वथा अशक्त सत्ता की पूजा की जाती है। उन्होंने लिखा है—"जब सम्वत् १९१४ (सन् १८५७) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर की मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्ति कहाँ गई थी ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता दिखाई और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति मक्खी की टाँग भी नहीं तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और यह भागते फिरते। भला यह तो कहो जिसका रक्षक मार खाये उसके शरणागत क्यों न पीटे जाएँ।" (सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ३१२)। स्वामी जी के इन शब्दों में वह दारुण वेदना तथा आक्रोश भी अभिव्यक्त हुए हैं, जो स्वाधीनता संग्राम की विफलता के कारण उनके हृदय में विद्यमान थे।

भारत की पराधीनता और आर्य जाति की दुर्दशा तथा अधःपतन के कारणों को भली भाँति समझकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने समाज सुधार तथा सच्चे वैदिक धर्म की शिक्षाओं के प्रचार पर ध्यान दिया। आर्य जाति में जीवन तथा शक्ति का संचार करने और आर्यावर्त (भारत) देश को विदेशियों के शासन से मुक्त करा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लक्ष्य सदा उनके सम्मुख रहे। इस महान् कार्य के लिए अपने को तैयार करने के प्रयोजन से सन् १८६० में वे मथुरा गए। स्वामी विरजानन्द जी से वे पहले ही परिचित थे, क्योंकि स्वाधीनता संग्राम में वे उनके सहयोगी रहे थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि स्वामी विरजानन्द ने भी यह समझ लिया था, कि जब तक आर्यावर्त के धर्म एवं समाज में सुधार नहीं किया जाएगा, उसे विदेशी शासन से स्वतन्त्र करा सकना सम्भव नहीं होगा। आर्यजाति जो सच्चे धर्म मार्ग से च्युत हो गई है, उसका मूल कारण विरजानन्द जी यह मानते थे कि इस जाति के पण्डित व विद्वान् ऐसे ग्रन्थ पढ़ते हैं जो आर्ष नहीं हैं और जिनमें कितने ही मिथ्या मन्तव्य प्रतिपादित हैं। वे आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन पर जोर देते थे, जिससे कि आर्य लोग सत्य धर्म को जान जाएँ, और उसका अनुसरण कर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकें। इसके लिए उन्होंने गम्भीर रूप से प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था, और इसी प्रयोजन से सन् १८५९ में भारत के गवर्नर लार्ड केनिंग द्वारा आगरा में आयोजित दरबार के अवसर पर उन्होंने एक सार्वभौम सभा के संगठन का प्रयत्न किया था। वे चाहते थे कि सब धर्मावलम्बियों की ऐसी महासभा के आयोजन में जयपुर के महाराजा रामसिंह विशेष रूप से कार्य करें, और देशी रियासतों के राजाओं तथा देश के सम्माननीय विद्वानों को उसमें भाग लेने के लिए निमन्त्रित करें। पर सार्वभौम सभा की यह योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी। महाराजा रामसिंह के अतिरिक्त काश्मीर और ग्वालियर के राजाओं को भी स्वामी विरजानन्द ने इस सभा में रुचि लेने के लिए प्रेरित किया था, पर उनसे भी उन्हें निराश ही होना पड़ा। सार्वभौम सभा के संगठन में विरजानन्द जी का यही लक्ष्य था, कि आर्यों में जो बहुत-से परस्पर विरोधी मत-मतान्तर प्रादुर्भूत हो गये हैं, उनके स्थान पर एक ऐसे धर्म की स्थापना हो, जिसे सब कोई स्वीकार कर सकें। ऐसा सच्चा धर्म प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन से ही स्थापित

किया जा सकता था। स्वामी विरजानन्द जो कार्य पूरा नहीं कर सके, उनके शिष्य दयानन्द ने उसे जारी रखा, और उसी को पूरा करने के लिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। यह कार्य विविध मत-मतान्तरों का निराकरण कर सत्य सनातन वैदिक धर्म की स्थापना और भारत में प्रचलित सामाजिक बुराइयों, अन्धविश्वासों तथा पाखण्ड को दूर कर आर्यों में नवजीवन तथा शक्ति का संचार करना था, ताकि वे विदेशी शासन का अन्त कर स्वराज्य स्थापित करने तथा विश्व का नेतृत्व करने के योग्य हो सकें। डा० एच० डी० ग्रिसवोल्ड ने सन् १८९२ में इसी बात को एक अन्य ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत किया था—

"पण्डित दयानन्द का उद्घोष था 'वेदों की ओर वापस चलो'। इस धार्मिक उद्घोष के साथ, स्पष्टतः न सही, यह उद्घोष भी जुड़ा था कि 'भारत भारतीयों के लिए है'। इन दोनों उद्घोषों को साथ मिलाकर देखने पर यह सिद्धान्त सम्मुख आ जाता है कि भारत में धर्म और राजनीतिक प्रभुता दोनों भारतीयों के ही हाथों में रहनी चाहिए। दूसरे शब्दों में इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि भारत में भारतीयों का अपना धर्म रहे और भारत की प्रभुसत्ता भारतीयों के ही हाथों में रहे। पहले लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि भारत के धर्म में सुधार कर उसके विशुद्ध वैदिक रूप को प्रचलित किया जाए। दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के सम्बन्ध में आर्यसमाज के संस्थापक का यह मत था कि वेदों की विशुद्ध शिक्षाओं को अपना लेने पर भारतीय लोग धीरे-धीरे इस योग्य हो जाएँगे कि अपना शासन स्वयं कर सकें, और इस प्रकार अन्ततोगत्वा उन्हें पूर्ण स्वाधीनता भी प्राप्त हो जाएगी।"[1]

डा० ग्रिसवोल्ड ने ये वाक्य स्वामी जी के देहावसान के केवल नौ साल बाद लिखे थे। सन् १८५७ के विस्फोट की विफलता से उन्हें विश्वास हो गया था, कि राजनीतिक स्वाधीनता के लिए यह अनिवार्य है, कि पहले धर्म और समाज में सुधार किए जाएँ। अपना शेष सम्पूर्ण जीवन उन्होंने इसी कार्य में लगाया था।

---

1. "The watch-word of Pandit Dayanand was 'Back to Vedas'. With this religious watch-word another watch-word was implicitly, if not explicitly, combined, namely 'India for the Indians'. Combining these two, we have the principle, both religious and political that the religion of India as well as the sovereignty of India ought to belong to the Indian people. In other words, Indian religion for the Indians and Indian sovereignty for the Indians. In order to accomplish the first end Indian religion was to be purified by the return to the Vedas. With regard to the second end, the founder of Arya Samaj seems to have taught that a return to the pure teachings of the Vedas would gradually fit the people of India for the self-rule and that, independence would ultimately come to them." H. D. Griswold : Indian Evengelical Review, January, 1892.

परिशिष्ट

पंजाब में आर्यसमाज की अनुपम सफलता का विवेचन

सन् १८७७ के एप्रिल मास में महर्षि ने लाहौर में जो ज्योति जगायी थी, बहुत शीघ्र उसने सम्पूर्ण पंजाब को प्रकाशित कर दिया और हिन्दुओं के सबसे सशक्त, प्रगतिशील एवं सुधारवादी आन्दोलन की स्थिति प्राप्त कर ली। बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना सबसे पहले हुई थी। उत्तर प्रदेश में महर्षि ने धर्म प्रचार के लिए सबसे अधिक समय लगाया था, और अपने जीवन के अन्तिम अनेक वर्ष उन्होंने राजस्थान में व्यतीत किये थे। पर भारत के इन अन्य प्रदेशों में आर्यसमाज ने वह स्थिति प्राप्त नहीं की, जो उसे पंजाब में प्राप्त हुई। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि आर्यसमाज की पंजाब में इस असाधारण सफलता के क्या कारण थे।

पंजाब सन् १८४९ में अंग्रेजों के अधीन हुआ था। इससे पूर्व इस प्रदेश पर सिक्खों का शासन था।

सन् १८७७ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जब पंजाब में कार्य प्रारम्भ किया, तो इस प्रदेश को अंग्रेजों के प्रभुत्व में आये हुए केवल २८ वर्ष हुए थे। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि को उनकी अधीनता में आये हुए इससे बहुत अधिक समय हो चुका था। बंगाल में ब्रिटिश शासन का सूत्रपात सन् १७५७ में हो गया था, और अवध तथा रुहेलखण्ड १७७५ तक अंग्रेजों के प्रभुत्व में आ चुके थे। एक सदी के लगभग के विदेशी व विधर्मी शासन ने इन प्रदेशों के निवासियों की मनोवृत्ति को किस प्रकार प्रभावित किया होगा, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। अंग्रेजी भाषा एवं अंग्रेजी शिक्षा की जड़ें वहाँ मजबूत होने लग गई थीं, और क्रिश्चियन पादरी भी वहाँ जोर-शोर से अपने कार्य में तत्पर थे। अंग्रेजी शिक्षा के कारण वहाँ ऐसे लोग पर्याप्त संख्या में उपलब्ध थे, जो शासन कार्य में अंग्रेजों के सहायक हो सकते थे, और जो विदेशी शासकों के साथ सहयोग करना गौरव की बात समझते थे। अपने धर्म तथा संस्कृति के प्रति हीन भावना उनमें विकसित होने लग गई थी, और अंग्रेजों का एक उच्च सभ्यता के प्रतिनिधि होने का विचार उनमें बद्धमूल होता जा रहा था। पर पंजाब में अभी यह दशा नहीं आयी थी। अंग्रेजी शिक्षा का वहाँ प्रारम्भ हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। अंग्रेजों को पंजाब का शासन करने में सहायता देने के लिए शुरू में जिन कर्मचारियों की आवश्यकता हुई, उन्हें वे पंजाब से प्राप्त नहीं कर सके, क्योंकि अभी वहाँ अंग्रेजी शिक्षा का विशेष प्रचार नहीं हुआ था। ये कर्मचारी अन्य भारतीय प्रदेशों (प्रधानतया बंगाल) से लाये गये, जिसके कारण पंजाबियों (चाहे वे मुसलमान, हिन्दू व सिक्ख कोई भी क्यों न हों) का अपने प्रदेश के शासन में अधिक स्थान नहीं रह गया। कुछ ऐसी ही स्थिति उत्तर प्रदेश आदि भारत के अन्य प्रदेशों की भी थी। वहाँ भी बंगाली राजकर्मचारी अच्छी बड़ी संख्या में थे, और साथ ही वकील, डाक्टर एवं अध्यापक

आदि भी। क्योंकि सबसे पूर्व बंगाल में ब्रिटिश शासन स्थापित हुआ था और अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ भी सबसे पूर्व वहीं हुआ था, अतः ऐसे बंगाली लोग अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध थे जो अंग्रेजी भाषा जानने के कारण शासन कार्य में अंग्रेजों के सहायक हो सकते थे, उन द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में शिक्षक का कार्य कर सकते थे, और ब्रिटिश न्यायालयों में वकील के रूप में भी प्रस्तुत हो सकते थे। अंग्रेजी शासन स्थापित हो जाने पर ये सुशिक्षित बंगाली पंजाब में बड़ी संख्या में आ गये थे, और वहाँ के सरकारी कार्यों में अंग्रेज अफसरों का हाथ बँटाने लगे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के लिए पंजाब के सुशिक्षित वर्ग में ऐसे लोगों की संख्या पर्याप्त अधिक हो गई जो पंजाबी नहीं थे। धर्म और संस्कृति की दृष्टि से ये बंगाली प्रधानतया दो प्रकार के थे, ईसाई और ब्राह्मसमाजी। अंग्रेज शासकों और क्रिश्चियन मिशनरियों के सम्पर्क से बंगाल के बहुत से सम्पन्न व सुशिक्षित परिवारों ने ईसाई धर्म की दीक्षा ले ली थी और पाश्चात्य संस्कृति एवं अंग्रेजी भाषा को अपना लेने के कारण शासन में उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। नयी अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर बंगाल में ब्राह्मसमाज के रूप में जिस सुधार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, वह भी ईसाई धर्म तथा पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित था। ब्रिटिश शासन के स्थापित हो जाने पर बंगाल से जो लोग अच्छी बड़ी संख्या में पंजाब गये, उनमें ब्राह्मसमाजी भी थे। क्योंकि ये हिन्दू थे और उपासना एवं धार्मिक कृत्यों के लिए हिन्दू शास्त्रों का प्रयोग करते थे, अतः इनके लिए पंजाब के हिन्दुओं को प्रभावित कर सकना अधिक सुगम था। यही कारण है कि जब सन् १८७७ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पंजाब में अपना कार्य प्रारम्भ किया, तो ईसाइयों के साथ-साथ ब्राह्मसमाजी भी वहाँ अपने प्रभाव की वृद्धि में तत्पर थे। पंजाब के इतिहास में यह एक ऐसा काल था, जिसके लिए वहाँ के निवासी गौरव अनुभव नहीं कर सकते थे। राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से पंजाब के लिए यह काल अधोगति का था। ऐसी दशा थी, जब महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पंजाब में पदार्पण किया, और वहाँ के निवासियों में नयी स्फूर्ति, नये जीवन तथा नयी आशा का संचार किया।

पंजाब में महर्षि को प्रधानतया ईसाई प्रचारकों का सामना करना पड़ा, जो वहाँ अंग्रेजी शासन की स्थापना के पश्चात् अपने धर्म का प्रचार करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्न कर रहे थे। क्रिश्चियन मिशनरियों का पंजाब में प्रवेश सिक्खों के शासन काल में ही हो गया था। सन् १८३४ में जॉन सी० लोरी नाम के अमेरिकन पादरी ने लुधियाना में ईसाई चर्च की स्थापना कर दी थी, और उसे केन्द्र बना कर क्रिश्चियन मिशनरी पंजाब में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए तत्पर हो गये थे। १८३५ में इस चर्च ने एक प्रेस भी स्थापित कर दिया था, जिस द्वारा हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, फारसी और कश्मीरी भाषाओं में अच्छी बड़ी संख्या में पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित की जाने लगी थीं। स्वतन्त्र पंजाब के निवासी विदेशी ईसाइयों के प्रचार कार्य को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। इसी कारण १८४५ में लुधियाना के क्रिश्चियन प्रेस को आग भी लगा दी गई थी। पर जब १८४९ में पंजाब पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया, तो क्रिश्चियन मिशनरियों के लिए अपना कार्य कर सकना बहुत सुगम हो गया। अंग्रेज सैनिकों और शासकों का सहयोग एवं संरक्षण उन्हें प्राप्त था, क्योंकि उनके विचार में ईसाई धर्म का प्रचार पंजाब में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व के लिए उपयोगी था।

सन् १८४६ के प्रारम्भिक महीनों में पंजाब अंग्रेजों के अधीन हुआ था। कुछ ही समय पश्चात् नवम्बर, १८४६ में जान न्यूटन और फॉरमैन के नेतृत्व में क्रिश्चियन मिशनरी लाहौर गये, और दिसम्बर, १८४६ में उन्होंने वहाँ ईसाई चर्च की स्थापना कर दी, और एक वर्ष के थोड़े से समय में उन्होंने दक्षिण में मुलतान तथा पश्चिम में अटक तक बहुत से चर्च स्थापित कर दिये थे। अगली चौथाई सदी में यह स्थिति आ गई थी, कि पंजाब में सर्वत्र ईसाई मिशनों तथा गिरजाघरों का जाल-सा छा गया था। पूर्व में अम्बाला से लगाकर पश्चिम में पेशावर तथा डेरा इस्माईल खाँ तक और उत्तर में हिमालय की उपत्यका से दक्षिण में मुलतान तथा डेरा गाजीखाँ तक सर्वत्र क्रिश्चियन मिशन स्थापित हो गये थे, और उन्हें केन्द्र बनाकर ईसाई पादरी सर्वसाधारण जनता को अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए जी-जान से उद्योग कर रहे थे। उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हो रही थी, और सन् १८८० तक ३३,००० से भी अधिक पंजाबी ईसाई धर्म को अपना चुके थे। अपने धर्म के प्रचार के लिए क्रिश्चियन पादरियों ने स्कूलों तथा चिकित्सालयों की भी स्थापना की और उन्हें भी अपने धर्म के प्रचार का साधन बनाया। यही नहीं, जनता के निर्धन व पिछड़े हुए वर्ग को ईसाई बनाने के प्रयोजन से लाहौर की चर्च मिशनरी सोसायटी ने सन् १८६८ में एक ईसाई बस्ती (क्रिश्चियन कोलोनी) स्थापित की, जिसके लिए १९३५ एकड़ जमीन सरकार से पट्टे पर प्राप्त कर ली गई। इस जमीन पर पानी लगता था, और खेती के लिए यह बहुत उपयुक्त थी। चर्च मिशनरी सोसायटी ने इस जमीन को उन लोगों में वितरित कर दिया, जिन्होंने कि ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। ये लोग प्रायः भूमिहीन अछूत (हरिजन) थे, जो न केवल निर्धन थे, अपितु समाज में भी जिनकी स्थिति अत्यधिक हीन थी। ईसाइयों ने इन्हें जहाँ खेती के लिए जमीन प्रदान की, वहाँ साथ ही इनके रहने के लिए साफ-सुथरे घरों का निर्माण कराया और स्कूल व चिकित्सालय आदि की सुविधाएँ भी उनके लिए जुटाईं। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पंजाब के पिछड़े हुए दलित लोग क्रिश्चिएनिटी के प्रति आकृष्ट होने लगते, और इस धर्म के अनुयायियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जाती। पंजाब में दलित या अछूत जातियों की कोई कमी नहीं थी। ईसाई पादरियों ने उनकी ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। क्रिश्चियन धर्म को अपना लेने से उन्हें अनेक लाभ थे। जहाँ इससे उनकी सामाजिक स्थिति ऊँची होती थी, वहाँ साथ ही आर्थिक दृष्टि से भी उन्हें आत्मनिर्भर होने का अवसर प्राप्त होता था। मिशनों द्वारा स्थापित स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कर सरकारी नौकरी पा सकना भी उनके लिए सम्भव हो जाता था। यही कारण है, जो उन्नीसवीं सदी के तृतीय चरण में दलित वर्ग में क्रिश्चिएनिटी का विशेष रूप से प्रचार हुआ। सियालकोट सदृश जिलों में, जहाँ अछूत लोग अच्छी बड़ी संख्या में रहते थे, ईसाइयों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई और सन् १८८१ तक इस वृद्धि की गति ३००० प्रतिशत तक पहुँच गई। ये अछूत व दलित लोग हिन्दू थे, और इतनी तेज गति से इनका ईसाई बनते जाना हिन्दू धर्म के लिए अत्यन्त खतरे की बात थी।

क्रिश्चियन धर्म का प्रचार केवल दलित वर्ग में ही नहीं हो रहा था, ऊँची जातियों के युवक भी इस धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे थे। क्रिश्चियन मिशनों द्वारा जो अनेक शिक्षणालय पंजाब में स्थापित किये गये थे, ऊँची जातियों के विद्यार्थी भी उनमें

शिक्षा प्राप्त करते थे और ईसाई अध्यापकों के सम्पर्क में आकर क्रिश्चिएनिटी के प्रति आकर्षण अनुभव करने लगते थे। इस धर्म के प्रति आकर्षण का एक अन्य कारण भी था। ईसाई शिक्षणालयों में अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त कर और अंग्रेजों के रहन-सहन तथा रीति-नीति से परिचय प्राप्त कर पंजाबी युवकों के लिए सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करना सुगम हो जाता था, और यदि कहीं वे ईसाई भी बन जाएँ तब तो शासनतन्त्र में सम्मिलित हो सकने का उनका मार्ग भी प्रशस्त हो जाता था। ऊँची जातियों के अनेक पंजाबी युवकों ने इसी कारण क्रिश्चिएनिटी को अपना लेना अपने लिए हितकर समझा, और इससे भी पंजाब में ईसाई धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली।

जिस समय पंजाब में क्रिश्चियन मिशनों का कार्यकलाप पूरे जोर पर था, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वहाँ पदार्पण किया और उनके धर्म प्रचार का यह परिणाम हुआ कि पंजाब में ईसाई धर्म के प्रचार में अवरोध उत्पन्न हो गया और वहाँ के निवासी एक विदेशी धर्म व संस्कृति के प्रभाव में आने से बच गए। ईसाई धर्म से पंजाबियों की रक्षा करने में महर्षि का क्या कर्तृत्व था, इसे श्री ठाकुर कृष्णसिंह बारहट ने इन शब्दों में प्रकट किया है, "फिर पंजाब देश में पादरी लोगों ने पंजाबियों को उपदेश देकर ईसाई बनाना शुरू कर दिया। वहाँ जाकर दयानन्द सरस्वती ने तीन लाख मनुष्यों को ईसाई मत में जाने से बचाकर वेदमतावलम्बी बनाया।" ठाकुर कृष्णसिंह बारहट महर्षि दयानन्द सरस्वती के समकालीन थे, और उन्होंने ही महर्षि को उदयपुर बुलाकर महाराणा सज्जन सिंह से उनकी भेंट करायी थी। वे महर्षि के कार्यकलाप से भली भाँति परिचित थे, और भारत में सत्य आर्य धर्म की स्थापना तथा देश की उन्नति के लिए जो प्रयत्न महर्षि द्वारा किए गये थे, उनका उन्हें भली भाँति ज्ञान था। महर्षि के देहावसान के कुछ समय पश्चात् सन् १८८४ में उन्होंने डायरी के रूप में राजस्थान का इतिहास लिखना शुरू किया था, जिसमें महर्षि के जीवनवृत्त पर भी संक्षेप से प्रकाश डाला गया था। ऊपर लिखी पंक्तियाँ ठाकुर बारहट की इसी डायरी से ली गई हैं। महर्षि के कर्तृत्व से पंजाब के लोग किस प्रकार और कितनी बड़ी संख्या में ईसाई होने से बच गये थे, श्री बारहट का कथन इस पर अच्छा प्रकाश डालता है।

महर्षि जो क्रिश्चिएनिटी से हिन्दुओं की रक्षा कर सके, उसका प्रधान कारण यह था कि उन्होंने हिन्दू (आर्य) धर्म के उस विशुद्ध रूप को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया था, जिसके मन्तव्य व सिद्धान्त तर्कसंगत तथा विज्ञान के अनुरूप थे और जिसकी नैतिक मान्यताएँ व सदाचरण सम्बन्धी धारणाएँ अत्यन्त उदात्त व उत्कृष्ट थीं। इस आर्य धर्म में न सामाजिक ऊँच-नीच को कोई स्थान था और न ही छुआछूत को, सब मनुष्य एक बराबर थे, सबको शिक्षा पाने तथा योग्यता के अनुसार कार्य तथा स्थिति प्राप्त करने का समान अवसर था, और सत्य-असत्य का निर्णय बुद्धि व तर्क द्वारा किया जाता था। इस धर्म को अपना लेने पर कोई मनुष्य जन्म या जाति के कारण अछूत व दलित नहीं रह जाता था, और महर्षि के विचारों से प्रभावित युवकों में अपने देश, धर्म व संस्कृति के प्रति ऐसा गौरव का भाव उत्पन्न हो जाता था, जिसके कारण वे क्रिश्चिएनिटी सदृश विदेशी धर्म को हीन दृष्टि से देखने लगते थे। पंजाब में महर्षि जो लाखों लोगों को ईसाई होने से बचा सके, उसका यही कारण था। वे हिन्दू (आर्य) धर्म का

एक ऐसा रूप प्रस्तुत कर रहे थे, जो ईसाई धर्म की तुलना में सब प्रकार से उत्कृष्ट था।

पर पंजाब में महर्षि दयानन्द सरस्वती को एक अन्य धार्मिक आन्दोलन का भी सामना करना पड़ा, जो ब्राह्मसमाज के रूप में था। पंजाब में ब्राह्मसमाज की सबसे पहले स्थापना सितम्बर, १८६२ में लाहौर में हुई थी। उसके बाद शीघ्र ही अमृतसर, रावलपिण्डी, मुलतान, रोपड़, शिमला और डेरा गाजीखाँ आदि नगरों में भी ब्राह्मसमाज की स्थापना की गई, और बंगालियों के साथ-साथ सुशिक्षित पंजाबी भी उनके सदस्य बनने लगे। पंजाब के लोग उसी प्रकार ब्राह्मसमाज के प्रति आकृष्ट होने लगे, जैसे कि वे क्रिश्चिएनिटी की ओर हो रहे थे। अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए ब्राह्मसमाज ने भी हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में पुस्तिकाएँ प्रकाशित करनी प्रारम्भ कीं, और उनके मुद्रण के लिए एक प्रेस भी स्थापित किया (१८७७)। ब्राह्मसमाज द्वारा पंजाब में एक मासिक पत्र का प्रकाशन भी शुरू किया गया। इस प्रकार पंजाब के शिक्षित लोगों के लिए ब्राह्मसमाज के मन्तव्यों से परिचय प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हो गया, और उनमें इस नये सुधार आन्दोलन को अपना लेने की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी। उस समय ऐसे पंजाबी बहुत ही कम थे, जो विद्या, ज्ञान एवं संस्कृति में बंगालियों का मुकाबिला कर सकते। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि पंजाब के सार्वजनिक जीवन का नेतृत्व बंगालियों के हाथ में आ जाए, और पंजाबी लोग उन्हें अपनी तुलना में उच्च समझकर उनकी सभा सोसायटियों में सम्मिलित होने में गौरव अनुभव करने लगें। पंजाब में ब्राह्मसमाज की सफलता का यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था। सन् १८६७ में ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध नेता बाबू केशव चन्द्र सेन और श्री देवेन्द्रनाथ टेगोर लाहौर आये, और उनके प्रवचनों को सुनकर तथा सम्पर्क में आकर बहुत से पंजाबी ब्राह्मसमाज के प्रति आकृष्ट होने लगे।

पंजाब में जिस ढंग से ब्राह्मसमाज की शक्ति बढ़ रही थी और शिक्षित एवं सम्भ्रान्त वर्ग के पंजाबी जिस प्रकार उसके प्रभाव में आते जा रहे थे, उससे जनता में असन्तोष तथा विरोध भाव भी उत्पन्न होने लगा था। पंजाब में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो सनातन पन्थी एवं रूढ़िवादी थे। ब्राह्मसमाज द्वारा स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह आदि का जो प्रचार किया जा रहा था, वह उन्हें पसन्द नहीं था। उनमें यह विचार उत्पन्न होने लग गया था, कि ब्राह्मसमाजी भी प्रच्छन्न क्रिश्चियन ही हैं। साथ ही, अनेक ऐसे पंजाबी भी थे, जो समाज सुधार आदि के तो पक्षपाती थे, पर अपनी धार्मिक मान्यताओं व परम्पराओं से अधिक दूर नहीं हटना चाहते थे। आधुनिकता की जो प्रवृत्ति ब्राह्मसमाज में जोर पकड़ रही थी, उसे ये अपने धर्म तथा संस्कृति के प्रतिकूल समझते थे। हिन्दू धर्म और सामाजिक संगठन में जो अनेकविध विकृतियाँ प्रादुर्भूत हो गई थीं, उन्हें दूर करना इन्हें भी अभीष्ट था, पर ब्राह्मसमाज द्वारा प्रतिपादित मार्ग इन्हें स्वीकार्य नहीं था। अंग्रेजी भाषा और नयी शिक्षा से ये भी परिचित थे, और नये ज्ञान-विज्ञान से परिचय के कारण देश की दुर्दशा का भी इन्हें बोध था। यद्यपि पंजाब में नयी शिक्षा का प्रसार अभी शुरू ही हुआ था, पर दिल्ली में सन् १८२७ के आसपास ही ऐसे शिक्षणालय स्थापित होने प्रारम्भ हो गये थे, जिनमें आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की पढ़ाई की व्यवस्था थी। पंजाब के अनेक युवकों ने इनमें शिक्षा प्राप्त की थी, और दिल्ली के शिक्षित व सम्पन्न लोगों में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था जो

धर्म में सुधार का पक्षपाती था। दिल्ली के समीप उत्तर प्रदेश (जिसे उस समय उत्तर-पश्चिमी प्रान्त कहा जाता था) के पश्चिमी जिलों में भी नयी शिक्षा का सूत्रपात होने लग गया था। मेरठ और आगरा आदि नगरों में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा शुरू हो गयी थी, और वहाँ से पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित भी होने लग गई थीं। पंजाब के युवकों का समीप के इन नगरों के साथ सम्पर्क था, और वहाँ की गति-विधियों से भी ये प्रभावित हो रहे थे। इसी का यह परिणाम था, कि जहाँ एक ओर पंजाब के शिक्षित लोग क्रिश्चिएनिटी और ब्राह्मसमाज की ओर आकृष्ट हो रहे थे, वहाँ दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो अपने धर्म एवं संस्कृति पर कायम रहते हुए सुधार व प्रगति के मार्ग की तलाश करने में तत्पर थे। ऐसे व्यक्तियों में मुंशी कन्हैया-लाल अलखधारी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दू धर्म और समाज में सुधार की आवश्यकता को वह प्रबल रूप से अनुभव करते थे, और इसी प्रयोजन से उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की थी। सन् १८५३ में उन्होंने 'चिरागे-हकीकत' (सत्य या यथार्थ का दीपक) पुस्तक प्रकाशित की, और कुछ वर्ष पश्चात् १८५८ में ज्ञान प्रेस नाम से आगरा में एक मुद्रणालय स्थापित किया, जिससे धार्मिक विषयों के अतिरिक्त नये ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें भी प्रकाशित की जाने लगीं। भगवद्गीता, उपनिषदें तथा योग-वासिष्ठ सदृश धार्मिक ग्रन्थों का मुंशी अलखधारी ने उर्दू में अनुवाद किया, जिसके कारण संस्कृत न जानने वाले सर्वसाधारण लोगों के लिए भी इन धर्मग्रन्थों को पढ़ सकना सम्भव हो गया। उन्होंने ईसा की जीवनी और इस्लाम पर भी कुछ पुस्तकें लिखीं, ताकि हिन्दू इन धर्मों के मन्तव्य से परिचित हो जाएँ और इन के प्रचारक उन्हें सुगमता से अपनी ओर आकृष्ट न कर सकें। हिन्दू धर्म और समाज के संगठन में सुधार के अपने प्रयत्नों की सफलता के प्रयोजन से मुंशी अलखधारी ने मार्च, १८७३ में लुधियाना में एक सभा भी संगठित की, जिसका नाम 'नीति प्रकाश सभा' रखा गया। पर यह सभा पंजाब की जनता को अपने प्रभाव में नहीं ला सकी, और मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी हिन्दू धर्म में सुधार के लिए जो प्रयत्न कर रहे थे, उन्हें उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं हुई। पर भारत की दशा सुधारने के लिए मुंशी जी को जो उत्साह था, उसके कारण वे महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा आयोजित उस सभा में सम्मिलित हुए, जो उन्होंने सन् १८७७ के जनवरी मास के प्रारम्भ में दिल्ली दरबार के अवसर पर बुलायी थी। दिल्ली में जिन लोगों ने महर्षि को पंजाब में आने के लिए निमन्त्रित किया था, उनमें मुंशी अलखधारी भी थे। निस्सन्देह, मुंशी जी पंजाब के उस वर्ग के प्रतिनिधि थे, जो अपने धर्म व संस्कृति को कायम रखते हुए सुधार का पक्षपाती था।

मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी द्वारा स्थापित 'नीति प्रकाश सभा' के समान कुछ अन्य संगठन भी इस काल में पंजाब में इस प्रयोजन से स्थापित किये गए ताकि हिन्दू धर्म व समाज में सुधार किए जाएँ। ऐसे संगठन 'सत् सभा' और 'हिन्दू सभा' थे। 'सत् सभा' के संस्थापकों में पंजाबी और बंगाली दोनों थे। लाला बिहारीलाल और पण्डित भानुदत्त ने बाबू नवीनचन्द राय और श्री एस० पी० भट्टाचार्य के साथ मिलकर इस सभा को स्थापित किया था। पर यह सभा ब्राह्मसमाज से अधिक भिन्न नहीं थी, और उसके मन्तव्यों तथा कार्यविधि से प्रभावित थी। लाला बिहारीलाल पहले ब्राह्मसमाज के सदस्य भी रह चुके थे। ब्राह्मसमाज से सत् सभा का मुख्य भेद मन्तव्यों का न होकर

स्वरूप का था। उसमें पंजाबियों की प्रधानता थी, और प्रचार आदि के लिए मुख्यतया पंजाबी भाषा का आश्रय लिया जाता था। एक ईश्वर में विश्वास, मूर्तिपूजा का विरोध, स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह का समर्थन आदि सत् सभा के मन्तव्यों में सम्मिलित थे, जिसके कारण पंजाब के सुशिक्षित व्यक्ति उसके प्रति आकर्षण अनुभव करते थे।

सत् सभा के समान पंजाब के अनेक नगरों में 'हिन्दू सभा' के नाम से भी एक संगठन की सत्ता थी। नीति प्रकाश सभा, सत् सभा और हिन्दू सभा उस नवजागरण की प्रतीक थीं, जो उन्नीसवीं सदी के तृतीय चरण में पंजाब में उत्पन्न हो रहा था। पंजाब के लोगों को यह अनुभव होने लग गया था, कि उनके धार्मिक मन्तव्यों, परम्परागत रूढ़ियों और समाज संगठन में परिवर्तन व सुधार की आवश्यकता है। वे यह भी समझने लग गये थे, कि ब्रिटिश शासन के स्थापित हो जाने के परिणामस्वरूप क्रिश्चियन मिशन जिस प्रबलता से लोगों को अपने धर्म का अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, उसका मुकाबला हिन्दू तभी कर सकेंगे जब कि वे अपने घर को सुव्यवस्थित कर लें। ब्राह्मसमाज उनमें गहराई से प्रवेश नहीं कर सका था, क्योंकि उसकी आधुनिकता उनकी दृष्टि में समुचित नहीं थी, और क्रिश्चिएनिटी से वह उन्हें बहुत भिन्न नहीं प्रतीत होता था। इस दशा में नीति प्रकाश सभा सदृश संगठनों का निर्माण स्वाभाविक तो अवश्य था, पर इन सभाओं को वह समर्थ नेतृत्व नहीं प्राप्त था, जिसकी इस समय पंजाब को आवश्यकता थी।

हिन्दू धर्म तथा समाज में सुधार की जो भावना पंजाब से जागृत हो रही थी, उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना भी अवश्यम्भावी था। इस प्रतिक्रिया का नेतृत्व श्री श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा किया गया। ब्राह्मसमाज, ईसाई मिशन तथा मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी सदृश सुधारवादी सनातन हिन्दू धर्म के रूढ़िवाद एवं संकीर्णता पर जिस ढंग से आक्षेप करने में तत्पर थे, पण्डित श्रद्धाराम को उससे उद्वेग हुआ, और उन्होंने हिन्दुओं के परम्परागत धर्म का उसके रूढ़िवादी रूप में ही समर्थन करने का निश्चय किया। इसी प्रयोजन से उन्होंने लुधियाना में एक विद्यालय की स्थापना की, जिसमें संस्कृत भाषा तथा शास्त्र-पुराणों की शिक्षा की व्यवस्था थी। यह विद्यालय सन् १८६७ में स्थापित किया गया था, और अपरिवर्तनवादी सनातनी हिन्दू यह आशा करते थे कि इसमें शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी क्रिश्चियन और ब्राह्मसमाजी प्रचारकों द्वारा पौराणिक धर्म पर किये जाने वाले आक्षेपों का युक्तियुक्त ढंग से उत्तर दे सकेंगे।

पण्डित श्रद्धाराम की दृष्टि में मुंशी अलखधारी द्वारा जिस सुधार आन्दोलन का सूत्रपात किया गया था, हिन्दू धर्म को उससे अधिक खतरा था, क्योंकि उसके पक्षपाती व समर्थक अपने को हिन्दू कहते थे। इसीलिए पण्डित श्रद्धाराम ने मुंशी जी पर यह आक्षेप करना प्रारम्भ किया कि वह हिन्दू हैं ही नहीं। उनका कहना था कि मुंशी अलखधारी न सिर पर शिखा रखते हैं, और न यज्ञोपवीत पहनते हैं। रसोई को गोबर से लीपने को वह घृणा की दृष्टि से देखते हैं, और भोजन करने के लिए वह मेज-कुर्सी का प्रयोग करते हैं। जातिभेद उन्हें स्वीकार्य नहीं है। और श्रुति-स्मृति के प्रामाण्य को वह नहीं मानते। यह कैसे सम्भव है, कि ऐसे व्यक्ति के प्रयत्न से हिन्दू धर्म फल-फूल सके।

पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी सनातन पौराणिक धर्म के समर्थन के लिए जो प्रयत्न कर रहे थे, अनेक हिन्दू पण्डित व सम्भ्रान्त व्यक्ति उसकी ओर आकृष्ट हुए और

उनके साथ सहयोग करने के लिए उद्यत हो गये। पण्डित शालिग्राम, आचार्य तुलसीदेव, पण्डित गोपीनाथ और मुंशी यमुनाप्रसाद आदि कितने ही व्यक्तियों ने उनका साथ दिया और उनके साहाय्य से पण्डित श्रद्धाराम ने लुधियाना में 'हिन्दू धर्म प्रसारक सभा' नाम से एक सभा का संगठन किया, जिसका उद्देश्य सनातन धर्म के पौराणिक रूप का समर्थन करना और विधर्मियों द्वारा उस पर किए जा रहे आक्रमणों का प्रतिरोध करना था। 'धर्म रक्षा' नामक एक पुस्तक भी पण्डित श्रद्धाराम ने प्रकाशित की, जिसमें हिन्दू धर्म के विरोधियों—मुसलमान, ईसाई और ब्राह्मसमाजियों की कड़ी आलोचना की गई थी। बाद में पण्डित श्रद्धाराम ने 'सनातन धर्म रक्षिणी सभा' नाम से एक अन्य सभा की भी स्थापना की थी, जिसमें कि उन्हें उन सभी पण्डितों का सहयोग प्राप्त था, जो पौराणिक सनातन धर्म के समर्थक तथा सुधार की प्रवृत्तियों के कट्टर विरोधी थे। पर हिन्दू धर्म की रक्षा कर सकने का सामर्थ्य न इन सनातनी सभाओं में था, और न मुंशी अलखधारी सदृश सुधार के पक्षपातियों में। उन्होंने नीतिप्रकाश सभा सदृश जो सभाएँ संगठित की थीं, उनके नेताओं में न समुचित विद्वत्ता थी, और न संगठन शक्ति। इस दशा में वे उन विकृतियों को दूर कर ही कैसे सकते थे, जो हिन्दू धर्म और समाज में प्रादुर्भूत हो गई थीं। पंजाब को एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी, जो वेद-शास्त्रों का प्रकाण्ड विद्वान् हो, जो सत्य सनातन आर्य धर्म के विशुद्ध रूप का युक्ति-संगत ढंग से प्रतिपादन कर सके और जिसमें उन विधर्मियों का सामना करने की सामर्थ्य हो जो हिन्दुओं के मिथ्याविश्वासों, कुरीतियों तथा सामाजिक बुराइयों की आलोचना कर जनता को आर्य धर्म से विमुख हो जाने के लिए प्रेरित कर रहे थे। विदेशी ब्रिटिश शासन की स्थापना तथा नयी शिक्षा के सम्पर्क के कारण पंजाब के लोगों में अपनी परम्परागत मान्यताओं की उपयोगिता एवं सचाई के प्रति सन्देह की भावना उत्पन्न हो रही थी। उनके सम्मुख एक प्रश्नचिह्न विद्यमान था। अंग्रेज शासकों तथा क्रिश्चियन मिशनरियों के सान्निध्य के कारण वे यह विचार करने लगे थे, कि उनके राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अधःपतन के कारण क्या उनके धार्मिक विश्वास ही तो नहीं हैं। उनमें असन्तोष था, बेचैनी थी और साथ ही थी प्रगति की आकांक्षा। पर प्रश्न यह था कि इसके लिए उन्हें किस मार्ग का आश्रय लेना चाहिए। पण्डित श्रद्धाराम सदृश रूढ़िवादियों के प्रचार से वे संन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। उनमें वह सामर्थ्य था ही नहीं जो उन्हें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जा सकता। क्रिश्चिएनिटी और ब्राह्मसमाज के प्रति भी उनका झुकाव नहीं होता था, क्योंकि इनके मन्तव्य उन्हें पराये प्रतीत होते थे। सत् सभा और हिन्दू सभा आदि के रूप में जो संगठन इस काल में पंजाब में स्थापित हुए थे, उनमें वह शक्ति नहीं थी, जो पंजाब के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती और उनकी समस्या का समाधान कर सकती। यह स्थिति थी, जब महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पंजाब में प्रवेश किया (मार्च, १८७७) और वहाँ के निवासियों को एक ऐसा मार्ग प्रदर्शित किया, जिस पर चलकर वे अपने धर्म तथा संस्कृति को कायम रखते हुए भी उन्नति की दौड़ में अन्य धर्मावलम्बियों का सफलता-पूर्वक मुकाबला कर सकते थे। पंजाब में महर्षि के प्रकट होते ही सत् सभा और हिन्दू सभा सदृश संस्थाओं की स्थिति प्रायः नगण्य हो गई। उनके बहुत से सदस्य महर्षि के विचारों से प्रभावित होकर आर्यसमाज में सम्मलित हो गये, और कुछ ही समय में इन सभाओं की सत्ता की ही समाप्ति हो गई। पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी सदृश रूढ़िवादी

पौराणिक लोगों ने महर्षि का विरोध करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। उन्होंने महर्षि के विरुद्ध केवल कटु वचनों का ही प्रयोग नहीं किया, अपितु उनके व्याख्यानों के अवसर पर उपस्थित सभाजनों पर ईंट-पत्थरों की वर्षा की, महर्षि के सहयोगियों व सहायकों पर घातक आक्रमण किये और उन्हें कत्ल कर देने की भी धमकियाँ वे देते रहे। पर कट्टर पौराणिकों के महर्षि के विरोध के इन प्रयत्नों को सफलता प्राप्त नहीं हुई। महर्षि की अगाध विद्वता तथा शास्त्र ज्ञान के सम्मुख पौराणिक पण्डितों के लिए टिक सकना सम्भव नहीं हुआ, और धीरे-धीरे उनके विरोध की उग्रता कम होती गई। पण्डित श्रद्धाराम सदृश पौराणिकों के पाण्डित्य में वह गहराई नहीं थी, जिससे कि वे महर्षि के सम्मुख टिक सकते।

पर पंजाब में महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज को ब्राह्मसमाज तथा क्रिश्चिएनिटी से जो संघर्ष करना पड़ा, वह अधिक गम्भीर था। महर्षि के कारण पंजाब में ब्राह्मसमाज के प्रचार व प्रभाव पर जो प्रतिकूल असर पड़ रहा था, उससे ब्राह्म नेताओं का चिन्तित व उद्विग्न होना सर्वथा स्वाभाविक था। पंजाबी युवक अब आर्य-समाज की ओर आकृष्ट होने लग गये थे, और ब्राह्मसमाज से दूर होते जा रहे थे। जो लोग हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता और कुरीतियों के विरोधी थे, पहले उनके सम्मुख केवल दो विकल्प थे, या तो वे क्रिश्चियन हो जाएँ और या ब्राह्मसमाज में सम्मिलित जाएँ। पर अब उनके सम्मुख एक तीसरा विकल्प भी उपस्थित हो गया था। आर्यसमाज के सदस्य बनकर जहाँ उन्हें अपने परम्परागत धर्म से दूर हटने की आवश्यकता नहीं रहती थी, वहाँ साथ ही वे उन सुधारों को भी अपना सकते थे जिनका प्रतिपादन ब्राह्मसमाज और क्रिश्चियन मिशनों द्वारा किया जा रहा था। इतना ही नहीं, महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा जिन मन्तव्यों का निरूपण किया जा रहा था, वे तर्कसंगत थे और विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरते थे। पंजाब के युवकों के सम्मुख अब अपने धर्म का एक ऐसा स्वरूप प्रस्तुत हो गया था, जिस पर वे गर्व अनुभव कर सकते थे और जिसे वे अन्य धर्मों व सम्प्रदायों से ऊँचा समझ सकते थे।

ब्राह्मसमाज द्वारा यह प्रतिपादित किया जाता था, कि क्रिश्चिएनिटी और इस्लाम आदि सभी धर्म सत्य पर आधारित हैं, और क्राइस्ट तथा मुहम्मद सदृश सब धर्म-प्रवर्तकों का समान रूप से आदर किया जाना चाहिए। इसीलिए ब्राह्मसमाजी प्रचारक अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिए अन्य धर्मों के धर्मग्रन्थों का भी सहारा लिया करते थे। यह बात उस मनोवृत्ति के प्रतिकूल थी, जिसका प्रादुर्भाव महर्षि दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के कारण पंजाब में हो गया था। श्री रुचिराम साहनी ने अपने एक अप्रकाशित ग्रन्थ में उस समय के पंजाबी हिन्दुओं की इस मनोवृत्ति को इस प्रकार प्रकट किया है—"मैंने बीसों बार स्वयं देखा है और यह पूर्णतया स्पष्ट तथ्य है कि जब कभी क्राइस्ट या मुहम्मद का नाम एक महान धर्म-गुरु के रूप में आदर के साथ लिया जाता था, तो समाज (ब्राह्मसमाज) का भवन तुरन्त खाली हो जाता था, और ब्राह्म-समाज के थोड़े से सदस्यों के अतिरिक्त प्रायः अन्य सब उठ कर चले जाते थे। कितनी बार ब्राह्मसमाज के भवन से उठकर जाते हुए लोगों को यह कहते हुए मैंने सुना है, 'ओह, ये तो ईसाई हैं। ये तो मुहम्मद के अनुयायी हैं, इनका अपना कोई धर्म नहीं है, इनकी अपनी कोई राष्ट्रीयता व संस्कृति नहीं है।' इसी प्रकार की कितनी ही अन्य बातें

ब्राह्मसमाजियों के विषय में कही जाती थीं।" (Kenneth W. Jones द्वारा लिखित Arya Dharm नामक पुस्तक के ४१वें पृष्ठ पर उद्धृत) उस समय के पंजाबी हिन्दू ब्राह्मसमाज से न केवल दूर हटने लगे थे, अपितु उनके प्रबल विरोधी भी हो गये थे। ब्राह्मसमाजी नेता इस नयी प्रवृत्ति से परेशान थे, और आर्यसमाज का विरोध करना अपनी स्थिति को कायम रखने के लिए आवश्यक समझते थे। इसीलिए उनके नेता एवं प्रचारक श्री शिवनारायण अग्निहोत्री ने बहुत-सी ऐसी पुस्तिकाएँ लिखीं, जिनमें महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का खण्डन करने का प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार की पुस्तिकाओं में 'मजहब और अक्ल', 'बुनियादुल ईमान', 'ब्राह्म धर्म', 'ब्राह्म धर्म की व्याख्या', 'ब्राह्म धर्म संहिता', 'दयानन्दी कलयुगी मजहब' आदि उल्लेखनीय हैं। ये सब पुस्तिकाएँ उर्दू में लिखी गई थीं, जिसके कारण साधारण पढ़े-लिखे पंजाबी भी इन्हें पढ़ सकते थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा जो वेदभाष्य किया जा रहा था, श्री शिवनारायण अग्निहोत्री ने उसके खण्डन में भी एक पुस्तक लिखी थी। पर इनका कोई विशेष प्रभाव जनता पर नहीं पड़ा। पंजाब के लोग ब्राह्मसमाज की तुलना में आर्यसमाज को अपने लिए अधिक ग्राह्य मानने लगे, क्योंकि उसके अनुयायी होकर वे अपने धर्म पर स्थिर रह सकते थे, और प्रचलित कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए उन्हें किसी अन्य धर्म से प्रेरणा व शिक्षा लेने की आवश्यकता नहीं होती थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती उन सब सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे, जिनका प्रतिपादन ब्राह्मसमाज द्वारा किया जाता था। पर साथ ही, उनका यह भी मन्तव्य था, कि हिन्दू धर्म व समाज में जो भी कुरीतियाँ प्रविष्ट हो गई हैं, जो भी अन्धविश्वास उत्पन्न हो गये हैं, उन सबका मूल कारण सत्य सनातन वैदिक धर्म की शिक्षाओं को भुला देना ही है। वे वेदशास्त्रों के प्रमाणों से मनुष्य मात्र की समता का प्रतिपादन करते थे, समाज में ऊँच-नीच का विरोध करते थे, स्त्री शिक्षा का समर्थन करते थे, और एक परमेश्वर की पूजा का उपदेश देते थे। महर्षि के अनुसार वैदिक धर्म के विशुद्ध स्वरूप को स्वीकार कर लेने पर वे सब बुराइयाँ स्वयं दूर हो जाएँगी, जो हिन्दू धर्म में उत्पन्न हो गई हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पंजाब के उद्बुद्ध लोग महर्षि के इस मन्तव्य का स्वागत करते, और अपने धर्मशास्त्रों में पूर्ण आस्था रखते हुए सुधार तथा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने का प्रयत्न करते। आर्यसमाज उन्हें ब्राह्मसमाज के मुकाबले में 'अपना' प्रतीत होता था। कुरीतियों के निवारण तथा सुधार की आवश्यकता को वे स्वीकार करने लगे थे, पर ऐसे उपायों द्वारा जिनसे कि उन्हें अपने धर्म तथा शास्त्रों से विमुख न होना पड़े। महर्षि दयानन्द सरस्वती ऐसे ही उपायों का प्रतिपादन करने में तत्पर थे। ब्राह्मसमाज और महर्षि द्वारा स्थापित आर्यसमाज में पंजाब के हिन्दुओं की दृष्टि में क्या अन्तर था, यह जून, १८८२ के आर्य मैगजीन के निम्नलिखित सन्दर्भ से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—

"उन (महर्षि दयानन्द सरस्वती) के चिन्तन का ढंग, उनके रहन-सहन की पद्धति, और उनके कार्य की प्रणाली पूर्णतया राष्ट्रीय थी। उन पर उस प्रकार के आक्षेप करने की कोई गुंजाइश ही नहीं थी, जैसे कि ब्राह्मसमाजियों पर किये जाते थे। वे ऐसे कार्य करते थे, जिन्हें करने की कोई ब्राह्मसमाजी कल्पना भी नहीं कर सकता था। वे हमारे घरों में चले आते थे, हमें सोते से जगाते थे, और उन पण्डित-पुरोहितों की

आलोचना करते थे जो हमें सूर्योदय के बाद इतनी देर तक बिस्तर में पड़े रहने देते थे। यह कार्य वे दीनता के साथ या हाथ जोड़कर नहीं करते थे, अपितु ऐसे अधिकार के साथ सम्पन्न करते थे जिसका विरोध कर सकना किसी के लिए सम्भव ही नहीं था।" सामाजिक सुधार का प्रयत्न ब्राह्मसमाज द्वारा भी किया जा रहा था। विधवा विवाह आदि का समर्थन ब्राह्म लोग भी करते थे। पर इसके लिए वे वेद-शास्त्रों का आश्रय नहीं लेते थे, जिसके कारण पुराणपन्थी व रूढ़िवादी लोगों के लिए नये सुधारों का विरोध कर सकना और उनके विरुद्ध जनता को भड़का सकना सम्भव हो जाता था। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती जिस ढंग से वेद-शास्त्रों के प्रमाणों के साथ स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह आदि का समर्थन करते थे, उसका विरोध कर सकना पुराणपन्थी पण्डे-पुरोहितों के लिए सुगम नहीं था। आर्य मैगजीन के अनुसार "पहले जब कोई व्यक्ति विधवा का विवाह करने का प्रयत्न करता था तो उसे यह भय बना रहता था कि कहीं उसे जात-बिरादरी से बहिष्कृत न कर दिया जाए। किसी भी हिन्दू के लिए इससे भयंकर कोई बात नहीं हो सकती थी। पर अब यह दशा नहीं रह गई है। जब उन्हें यह बताया जाता है, कि विधवा विवाह शास्त्रसम्मत है और वेदों में भी उसकी अनुमति है, तब उसके औचित्य को स्वीकार न करने में उन्हें हिचकिचाहट होने लगती है।" ब्राह्मसमाजियों को वेद-शास्त्रों में प्रगाढ़ आस्था नहीं थी। इस कारण हिन्दू जनता के लिए उन द्वारा प्रतिपादित सुधारों को स्वीकृत कर लेना सुगम नहीं होता था। पर जब महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायी आर्यसमाजी लोग वेद-शास्त्रों के आधार पर उन्हीं सुधारों का प्रतिपादन करते थे, तो हिन्दुओं के लिए उन्हें मान लेने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती थी। आर्यसमाजी लोग ब्राह्मसमाज के अनुयायियों पर यह आक्षेप भी करते थे, कि उन्होंने न केवल अपने आचार-विचार में, अपितु रहन-सहन में भी पाश्चात्य संस्कृति को अपना लिया है। आर्य मैगजीन के मई, १८८२ के अंक में इस सम्बन्ध में लिखा गया था, कि अनेक (ब्राह्मसमाजी) लोग बिना किसी संकोच के कोट, पैण्ट और हैट धारण करने लग गये हैं। उनके सहयोगी व सहकर्मी इस पर कोई एतराज नहीं करते। इससे प्रोत्साहित होकर वे और आगे बढ़ने लगे हैं, और खुले तौर पर होटलों में जाकर तथा मेज-कुर्सी पर बैठकर छुरी-काँटे से भोजन करने लग गये हैं। उन्होंने यूरोपियन लोगों के रीति-रिवाजों तथा व्यवहार की नकल करना प्रारम्भ कर दिया है।"

ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना के पश्चात् पंजाब में भी अंग्रेजी भाषा तथा नवीन शिक्षा का सूत्रपात हो गया था, और पंजाबी हिन्दुओं में भी एक ऐसा वर्ग उत्पन्न होने लग गया था, जिसे आधुनिक दृष्टि से सुशिक्षित कहा जा सकता था। पहले यह वर्ग क्रिश्चिएनिटी और ब्राह्मसमाज की ओर आकृष्ट होता था। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती के पंजाब में पदार्पण करने के पश्चात् यह वर्ग आर्यसमाज की ओर आकृष्ट होने लगा, और इसी द्वारा पंजाब में आर्यसमाज को वह नेतृत्व प्राप्त हुआ, जिसके कारण वहाँ महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के प्रचार में निरन्तर वृद्धि होती गई।

संक्षिप्त ग्रन्थ-सूची

(कतिपय ग्रन्थ जिनका इस इतिहास में उपयोग किया गया है)

सत्यार्थप्रकाश (सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, सन् १९७३)

महर्षि दयानन्द सरस्वती—ऋग्वेद भाष्य और यजुर्वेद भाष्य।

महर्षि कृत—ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, १९५१)

महर्षि कृत—संस्कार विधि।

महर्षि कृत—पञ्चमहायज्ञ विधि।

महर्षि कृत—गोकरुणानिधि।

महर्षि के पूना व्याख्यान—उपदेश मञ्जरी।

महर्षि कृत—आर्याभिविनय।

महर्षि कृत—आर्योद्देश्य रत्नमाला।

मुंशीराम—ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार।

भगवद्दत—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन।

युधिष्ठिर मीमांसक—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (परिशिष्ट तथा द्वितीय भाग)।

ऋषि दयानन्द के विविध शास्त्रार्थ—काशी, हुगली, जालन्धर, मेला चाँदापुर, बरेली, अजमेर, मसूदा और उदयपुर।

लेखराम—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र (हरिश्चन्द्र विद्यालंकार द्वारा सम्पादित, १९७२)।

घासीराम—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र (दो भाग) देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संकलित जीवनवृत्त पर आधारित।

देवेन्द्रनाथ मुखोपध्याय—विरजानन्दचरित।

रामविलास शारदा—आर्य धर्मेन्द्र जीवन।

स्वामी सत्यानन्द—श्रीमद्दयानन्दप्रकाश।

इन्द्र विद्यावाचस्पति—महर्षि दयानन्द।

प्रेमी—उत्तराखण्ड के वन पर्वतों में ऋषि दयानन्द।

हरिश्चन्द्र विद्यालंकार—महर्षि दयानन्द सरस्वती।

चिम्मनलाल गोस्वामी—सरस्वतीन्द्र जीवनचरित्र।

सच्चिदानन्द सरस्वती—योगी का आत्मचरित्र (पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री द्वारा संकलित हस्तलेखों का अनुवाद)।

गोपालराव हरि—दयानन्द दिग्विजयार्क।

लाजपतराय—महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम।

यदुवंश सहाय—महर्षि दयानन्द।

भगवद्दत—ऋषि दयानन्द स्वरचित जीवनचरित्र।

चमूपति—हमारे स्वामी।
दीवानचन्द—महर्षि दर्शन।
वैद्यनाथ शास्त्री—दयानन्द सिद्धान्तप्रकाश।
वैद्यनाथ शास्त्री—दर्शनतत्त्व विवेक।
वैद्यनाथ शास्त्री—आर्य सिद्धान्त सागर।
रामेश्वरानन्द सरस्वती—महर्षि दयानन्द और राजनीति।
युधिष्ठिर मीमांसक—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास।
गणेशप्रसाद—फर्रुखाबाद का इतिहास।
भवानीप्रसाद—बिजनौर मण्डल आर्यसमाज का इतिहास।
भवानीलाल भारतीय—परोपकारिणी सभा का इतिहास।
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का इतिहास।
सार्वदेशिक सभा का संक्षिप्त इतिहास।
आर्यसमाज गणेशगंज (लखनऊ) का इतिहास।
आर्यसमाज की प्रगतियों एवं आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का पचहत्तर वर्षीय इतिहास।
नरदेव शास्त्री—आर्यसमाज का इतिहास।
इन्द्र विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज का इतिहास।
आर्यसमाज कानपुर का इतिहास।
मेरठ आर्यसमाज के सौ वर्ष।
प्रेमी—ऐतिहासिक नगर मेरठ और महर्षि दयानन्द।
शताब्दी समारोह स्मारिका, बदायूँ।
आर्यसमाज देहरादून शताब्दी स्मारिका।
प्रयाग कुम्भ स्मारिका।
आर्यसमाज स्थापना शताब्दी स्मारिका, आर्यसमाज अजमेर।
आर्यसमाज शताब्दी समारोह स्मारिका, अमृतसर।
आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह स्मारिका, रोहतक।
आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह स्मारिका, मुरादाबाद।
आर्यसमाज मण्डी बाँस (मुरादाबाद) का वार्षिक विवरण सन् १९६२।
आर्यसमाज हींग की मण्डी (आगरा) का इतिहास।
मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास (गुजराती)।
आर्यसमाज मीरजापुर का इतिहास।
हरयाणा के आर्यसमाज का इतिहास।
गंगाप्रसाद उपाध्याय—सायण और दयानन्द।
पिण्डीदास ज्ञानी—१८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम में महर्षि दयानन्द सरस्वती का क्रियात्मक योगदान।
सत्यप्रिय शास्त्री—भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में आर्यसमाज का योगदान।
पृथ्वीसिंह मेहता—हमारा राजस्थान।
सत्यकेतु विद्यालंकार—दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति।
सत्यकेतु विद्यालंकार—मध्य एशिया और चीन में भारतीय संस्कृति।
भगवतशरण उपाध्याय—बृहत्तर भारत।

Gajra, T. D. : The Life of Swami Dayanand Saraswati.
Ghose, Aurobindo : Bankim, Tilak, Dayanand.
Gokul Chand : The Luther of India.
Jordens, J. T. F. : Dayanand Saraswati.
Bahadur Mal : Dayanand.
Parameswaran, : C. Dayanand and the Indian Problems.
Vishwa Prakash : Life and Teachings of Swami Dayanand.
Durga Prasad : Maharshi Dayanand Saraswati.
Sarda, Harbilas : Life of Dayanand Saraswati.
Sarda, Harbilas : Dayanand Commemoration Volume.
Chajju Ram : Life and Teachings of Swami Dayanand.
Arjan Singh : Dayanand Sarswati.
Singh, B. K. : Swami Dayanand.
Sharma, B. M. : Swami Dayanand.
Lajpat Rai : A History of the Arya Samaj.
Forman, H. : The Arya Samaj, Its Teachings and an Estimate.
Griswold, H. D. : The Arya Samaj.
Jones, K. W. : Arya Dharam.
Littingstan, F. : The Brahma Samaj and Arya Samaj.
Satya Prakash : A Critical Study of Philosophy of Dayanand.
Scott, T. J. : Missionary Life in the Villages of India.
Vaidyanath Shastri : The Arya Samaj, its Cult and Creed.
Ewing, C. R. : A Prince of the Church in India.
Sivanath Shastri : History of the Brahma Samaj.
Collet, S. D. : The Brahmo Year Book for 1876 and 1877.
Farquhar, J. N. : Modern Religious Movements in India.
Kane, P. V. : History of Dharmashastras, 5 Vols.
Majumdar, B. B. : History of Indian Social and Political Ideas from Rammohan to Dayanand.
Malhotra, Shanta : Political Thought of Swami Dayanand.
Mazoomdar, P.C. : The Life and Teachings of Keshab Chandra Sen.
Yajnik, Indulal : Shyamji Krishna Varma.
Jinarajdas, C. : The Golden Book of the Theosophical Society.
Delavan & Leonard : A Hundred years of Missions.
Sarda, H. B. : Shyamji Krishna.
Majumdar, R. C. : History of the Freedom Movement in India.
Tara Chand : History of the Freedom Movement in India.
Jadunath Sarkar : A History of Dasnami Naga Sanyasis.
Fanthorne, J. F. : Mariam—A Story of India Mutiny of 1857.
Thwaytis, R. : Dayanand Saraswati and Sepoy Mutiny of 1857.
Chaudhry, S. B. : Civil Rebellion in the Indian Mutinies.
Metcalfe, C. T. : Two Narratives of the Mutiny.
Holmes, T. R. : A History of the Indian Mutiny.
Kaye & Malleson : History of the Indian Mutiny.
Savarkar, V. D. : The Indian War of Independence.

आर्य स्वाध्याय केन्द्र के सहायक सदस्य

१. श्री रामकृष्णप्पा, माइसूर (कर्णाटक)
२. आचार्य, आर्य गर्ल्स पोस्ट-ग्रेजुएट कालिज, अम्बाला कैन्ट (हरयाणा)
३. श्रीमती कमला आर्या, लुधियाना।
४. पण्डित सत्यप्रिय शास्त्री, आचार्य, ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार।
५. प्रिंसिपल आर० के० कालिज, नवां शहर दोआबा (जालन्धर)।
६. प्रिंसिपल बी० एल० एम० गर्ल्स कालिज, नवां शहर दोआबा (जालन्धर)
७. श्रीमती एस० डी० जौहरी, हास्पिटल रोड, लखीमपुर-खीरी।
८. श्रीमती सुशीला पण्डित, आर्य कन्या गुरुकुल, पोरबन्दर।
९. डाक्टर रामरंग बाटला, अम्बाला कैन्ट (हरयाणा)
१०. श्री सुरेन्द्र धीर, लण्डन।
११. श्रीमती वेदवती शर्मा, लण्डन।
१२. श्री वीरेन्द्र वर्मा, लण्डन।
१३. श्री प्रधान आर्यसमाज, राजा मण्डी, आगरा।
१४. श्री योगेन्द्र अवस्थी, करौल बाग, नयी दिल्ली।
१५. श्री शशिशेखर रस्तौगी, हलदौर (बिजनौर)
१६. आचार्य, दयानन्द कालिज, हिसार।
१७. प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालिज आफ ऐजुकेशन, अबोहर (पंजाब)।
१८. प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालिज, पुंडरी (पंजाब)
१९. प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालिज, अम्बाला सिटी (हरयाणा)
२०. प्रिंसिपल, एम० एल० कालिज फॉर बॉय्स, बटाला (पंजाब)
२१. प्रिंसिपल, के० पी० एम० डी० ए० वी० कालिज, नकोदर (पंजाब)
२२. प्रिंसिपल, महाराजा हरिसिंह, एग्रि० स्कूल, नौबानी (जम्मू)
२३. प्रिंसिपल, हंसराज महिला महाविद्यालय, जालन्धर।
२४. प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालिज ऑफ एजुकेशन, अमृतसर।
२५. प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालिज, जालन्धर।
२६. प्रिंसिपल, माता मिस्रीदेवी डी० ए० वी० महिला कालिज, गिद्दड़बहा।
२७. प्रिंसिपल, दयानन्द कालिज, हिसार।
२८. प्रिंसिपल, जे० सी० डी० ए० वी० कालिज, दसूया (पंजाब)
२९. प्रिंसिपल, दयानन्द कालिज आफ आर्टस एण्ड सायन्स, शोलापुर।
३०. प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालिज, काँगड़ा।
३१. प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालिज, चण्डीगढ़।
३२. श्री अर्जुनलाल नरेला, नया बाजार, नीमच कैन्ट (मन्दसौर)
३३. प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालिज, सढौरा (अम्बाला)
३४. प्रधान, आर्यसमाज, नवां शहर दोआबा (जालन्धर)
३५. श्री हरिश्चन्द्र, गुरु तेगबहादुर नगर, इलाहाबाद।
३६. प्रिंसिपल, डी० ए० वी कालिज, अबोहर (पंजाब)
३७. प्रिंसिपल एस० जी० डी० ए० वी० कालिज, भटिण्डा (पंजाब)
३८. प्रिंसिपल डी० ए० वी० कालिज, अमृतसर।
३९. प्रिंसिपल, एम० सी० एम० डी० ए० वी० कालिज फॉर वी मेन।

(शेष पृष्ठ ७२२ पर)

"आर्यसमाज का इतिहास" के अन्य भागों के प्रतिपाद्य विषय

दूसरा भाग—आर्यसमाज का देश-देशान्तर में विस्तार

भारत के विविध प्रदेशों में नये आर्यसमाजों की स्थापना, और उनकी संख्या, प्रभाव एवं कार्यक्षेत्र में निरन्तर वृद्धि। भारत के सुदूर प्रदेशों (आन्ध्र, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, उड़ीसा आदि) और दुर्गम क्षेत्रों (कुमायूं, गढ़वाल, हिमाचल प्रदेश आदि) में आर्यसमाजों की स्थापना। अफ्रीका, मारीशस, फिजी, थाईलैण्ड, ईराक, बरमा, मलायीसिया, वेस्ट इन्डीज, ग्रेट ब्रिटेन, सुरीनाम, गुयाना, अमेरिका आदि विदेशों में आर्यसमाज का प्रसार। ८६ (सन् १८८३) से बढ़कर आर्यसमाजों की संख्या ५,००० के लगभग कैसे और किन के प्रयत्नों से हुई।

तीसरा भाग—शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का कार्यकलाप

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में शिक्षा की दशा, महर्षि के शिक्षा विषयक मन्तव्य आर्यसमाज द्वारा शिक्षणालयों की स्थापना, डी० ए० वी० स्कूल व कालिज, गुरुकुल, संस्कृत पाठशालाएँ, कन्या विद्यालय, आर्यस्कूल व कालिज—इन सब का विशद विवरण तथा इनके कार्यकलाप का विवेचन। विदेशों में स्थापित आर्य शिक्षा-संस्थाएँ। वेद तथा प्राचीन भारतीय ज्ञान के शोध के सम्बन्ध में आर्य-समाज का कार्य तथा उसमें संलग्न संस्थाएँ।

चौथा भाग—समाजसुधार के क्षेत्र में आर्यसमाज का कार्यकलाप

सामाजिक कुरीतियों—परदा प्रथा, बालविवाह, दहेज, मृतक भोज आदि का विरोध, स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह आदि का समर्थन, जातपाँत और सामाजिक ऊँच-नीच का विरोध, दलितोद्धार, अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन, मद्य माँस के सेवन का विरोध, अन्धविश्वासों का खण्डन, अनाथालयों तथा विधवाश्रमों की स्थापना, बाढ़, दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित लोगों की सहायता।

पाँचवाँ भाग—आर्यसमाज और राजनीति

सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में महर्षि दयानन्द का योगदान, स्वदेशी, देश-प्रेम तथा राष्ट्रीय भावना का महर्षि द्वारा प्रचार, भारत के स्वाधीनता-संघर्ष में आर्यसमाज तथा उससे प्रेरणा प्राप्त करने वाले आर्य नर-नारियों का कर्तृत्व।

छठा भाग—महर्षि दयानन्द सरस्वती के धार्मिक और दार्शनिक मन्तव्य और उनके प्रतिपादन के सम्बन्ध में आर्यसमाज का कर्तृत्व।

सातवाँ भाग—आर्यसमाज के प्रमुख संन्यासी-महात्माओं, विद्वानों, नेताओं, प्रचारकों, कार्यकर्ताओं और दानवीरों तथा उनके परिवारों का सचित्र परिचय।

(पृष्ठ ७२१ से आगे)

४०. प्रिंसिपल, आर० आर० बावा डी० ए० वी० कालिज फॉर गर्ल्स, बटाला।
४१. प्रिंसिपल, एस० डी० ए० एम० हायर सेकेण्डरी स्कूल, जालन्धर।
४२. प्रिंसिपल, एस० एम० के० डी० ए० वी० कालिज फॉर वीमेन, अमृतसर।
४३. श्री स्वामी ओमानन्द जी महाराज, नरेला।
४४. पं० मनोहर विद्यालंकार, दिल्ली।

शब्दानुक्रमणिका

अंग्रेजी शासन के दोष ४१६
अंग्रेजी शिक्षा १२६, ४१३
अकबर १०२, १०३, १०४
अङ्कोरवात ७१
अजमेर में आर्यसमाज की स्थापना ३२१
अजीमुल्लाखाँ ६७७, ६८०, ६८८, ७०१-२
अद्वैत मत खण्डन २७, २५७
अद्वैतवाद ३८६, ३९६
अनिरवसित ४४०
अपरा विद्या ४०३, ६४७
अमृतसर २९७, ५९७, ६१८
अमृतसर २९७, ५९७, ६१८
अलखधारी ५६०, ५६३, ६१६, ७१३
अलबरूनी ९४, ४४१
अल्लोपनिषद् ९७
अवतारवाद का बिरोध ३८१, ३८५
अवनिजनाश्रय पुलकेशीराज ८३
अशोक ४२, ४३, ५२
अष्टांगिक आर्य मार्ग ३६
अष्टाध्यायी भाष्य ६६८
असत्कार्यवाद ३९२
अस्पृश्यता ४९९-५००
असीरिया २६
अहमदाबाद २४२, ५२१
आगरा में आर्यसमाज की स्थापना ३१६
आठ गप्पें २०६
आत्मानन्द ६३३
आत्माराम ३३७
आत्मकथा (आत्मचरित्र) ५४३, ६७१
आमू (वंक्षु) ६४, ८२
आर्य उपदेशक मण्डली ६३५, ६३६
आर्यदर्पण ६३८
आर्य धर्म एवं सभ्यता में विकृति ३५-७, ८५
आर्य धर्म सभा ४२६
आर्य धर्म में सुधार के आन्दोलन ३७-४१
आर्यप्रकाश २३१, २३८
आर्य प्रेस ६३७
आर्य भाषा ४२१, ४२१, ४२३
आर्य भूषण ६३८
आर्य मित्र २३६, ३१८
आर्य मैगजीन ६३३, ६३७, ७१६
आर्य राजसभा ४२६
आर्य विद्यालय ४७७, ५८१, ५८२
आर्य विद्यासभा ४२६
आर्यसमाज ३२, ३०५, ३१८, १३२, १७६, ५७७, ५९८
आर्यसमाज की स्थापना ३१३, ३१६, ३१७, ३४१, ३५५; के अट्ठाइस नियम २४५; के उद्देश्य ३६०; के नये नियम और उपनियम २९८-३०६; का संगठन ३०५, ६२१; के साप्ताहिक अधिवेशन ३०६
आर्य समाचार ६३८
आर्यसमाज को आत्मनिर्भर बनाना ५१४
आर्याभिविनय २५८, ६६७
आर्यावर्त १८, २८, ३२, २०, २१, २२, ५०१
आर्योद्देश्य-रत्नमाला २९७, ३०७, ६७०
आर्यों की शक्ति का ह्रास ३१, ३३
आर्य शक्ति का पुनरुत्थान १०६
आर्ष पद्धति ६४८
आल्काट (२०) १६८, १६६, ५४२, ३४६-६०
आश्रमव्यवस्था ५०
आर्थिक दशा उन्नीसवीं सदी के मध्य में १४०-१४७

आर्थिक व्यवस्था (महर्षि के विचार) ४६३-४६५
इण्डियन एसोसियेशन ४१४
इण्डियन नेशनल कांग्रेस ४१४
इण्डियन मिरर २३३, २८६, २९३
इण्डिया हाउस ५१०
इण्डोनेशिया ६४
इन्दुप्रकाश ५२१, २३६, २४०
इन्द्रमणि २६६, २८१, ३४०, ५१७, ५१८, ५१९, ५७०, ५७१
इन्द्र वर्मा राजा ७३
इस्लाम ६२६, ६६४
ईसाईयत की आलोचना १८३
ईसाई धर्म का प्रचार १२९, १७९
ईश्वरानन्द संन्यासी ६३३
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर २२७
उग्र सुधार आन्दोलन १६०
उत्तर प्रदेश में आर्यसमाजों की स्थापना ३२२-२५, ३३९
उदयपुर शास्त्रार्थ ६३९
उपदेश मञ्जरी २५४, ४९९, ५०४
उपरला हिन्द ६३
उमरावसिंह ५५०, ६४०
उव्वट २८५, २८९
उमेशचन्द्र बैनर्जी ४१४
उषवदात ७८
एकेश्वरवाद ३७९, ३८०
एजटेक सभ्यता २८
एर्लङ्गदेव ५९, ६०
ओमानन्द संन्यासी ६६६-६९
ओल्ड डायरी लीव्स ३७४
औद्योगिक क्रान्ति ११५, ४१०-२
कट्टर सुधार आन्दोलन १६०
कबीर १०१, ४४१, ६१५, ६६५
कबूलसिंह चौधरी ६६४
कमलनयन शर्मा ६१९
कमलनयनाचार्य २५३
कम्बुज ५५, ५६, ६८-९, ७०-१
कर्णवास २०६, २१४, २१५
कर्णसिंह २१४, २१५
कर्मफल का सिद्धान्त ४०६, ४३८
कलकत्ता २२७, २२८, २२९
कुम्भ ३१४, ३१५, ६९९, ७००
कुशद्वीप २७
कुशाण ७९, ६११, ६१५
कृष्ण ३८४, ६२१
कृष्णदास सेवकलाल ४४८
केशवचन्द्र सेन १६२-६४, १७३-७८
२२५-२७, ५२८-३०
कानपुर में आर्यसमाज ३१७, ५८७
कापालिक ८७
काशी २११, २२३, २७५, ३१८, ५८८
काशी शास्त्रार्थ (३५) ३३३, ६६९
कार्ल मार्क्स ४५०
कालमुख ८८
कालीचरण ५७६
कुंवरसिंह ६७७-८, ६८१
कृपाराम ५६१, ५६२
खजुराहो ९०
खड़कसिंह ६१७
खत्री २६, २७, ४९
गंगाधर रंगनाथ कुलकर्णी ६१४
गंगाप्रसाद ५५९
गणेशप्रसाद शर्मा ६४०
गन्धार २४, ६२
गर्दभतापनी उपनिषद्
गुजरात मित्र २४०
गुण कर्मानुसार चातुर्वर्ण्य ४४३-४
गुरुकुल ४४६, ४४७, ४७३-७५
गुरुडम का विरोध ६३२
गुरुदासपुर २९७
गोपालराव हरि ५७७
गोपालरावहरि देशमुख २७०, ५२०-५२४
गोशाला ५९९, गौरक्षा ५८०
गोकरुणानिधि ३१४, ३२०, ६७०
गोकृष्यादिरक्षिणी सभा ३२०

गौतम अहिल्या की कथा
गौतमीपुत्र श्रीसातकर्णि ५३
चक्रवर्ती राज्य २३-३१, ४२६-३३
चण्डी पर्वत १६३, ६७६-७, ६७६-८०
चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ५४, ८०, ८५
चम्पा ५६, ५७, ७२
चाँदापुर २७७, ३३३
चित्तौड़गढ़ ३२२
चिम्मनलाल वैश्य १८६
चैतन्य १०१, ४४१
चोखमेला १०२, ४४१
जजिया १०३, १०५
जमुनादास विश्वास ५५८
जम्बुद्वीप २२, २५
जयकृष्णदास राजा ५३०
जयपुर में आर्यसमाज ५६५
जसवन्तसिंह ३२६, ३२७
जाति ब्राह्मण ४३६-४०, ४८
जाति-भेद ४८, ५० ४४३
जान स्टुअर्ट मिल ४१३
जालन्धर ५६८
जावा (यवद्वीप) ५८
जीव ४०४-४०६
जीवनदास ६३८, ६४०
जुगलकिशोर ६४०
जेहलम आर्यसमाज ५६६
जैन धर्म ४२, ६२३
जोतीराव गोविन्दराव फुले ५२६-८
जोर्डन्स, जे० टी० एफ० ६७६-८०
टंकारा १६१
टाइम्स आफ इण्डिया २४१
टोडरमल १०३
ठाकुरदास
तिलक ५१०
तुकमानसिंह ५६८
तुनह्वांग ७६
तुलसीदास १०५
त्रिलोक बाबा ६६३
त्रिविष्टप १८
त्रैतवाद ३८६-३९९
थ्वायेतस ६८०
थियोसोफिकल १६७
थियोसोफिकल सोसायटी १६७, १६६, १७०, ३५३, ३५६, की गोलमाल पोलपाल ३६०-३७६
दण्ड की व्यवस्था ४३४
दस्स बाबा ६८८
दानापुर ५८६
दिनचर्या स्वामीजी की ३२८
दिल्ली २७६, २७७, ३१३, में आर्यसमाज ६०१
दिल्ली दरबार में स्वामीजी २७८-८
दीने-इलाही १०४
दामोदरदास सुन्दरदास २६५-७३, २६७
दीनदयाल ६६३, ७०३
दीनबन्धु वेदशास्त्री ६७५-६
दूरबीन पत्र ६८५
देवनागरी ५११-५१६, ५८२
देवल मुनि ६१२, ६१७, ६५३
देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय १८८, १६१
देवेन्द्रनाथ ठाकुर २१६, ४६३ ५३८-४०, ६१८-१६
देश हितैषी ६३८
देशोपकार ६३७
देहरादून आर्यसमाज ३१५, ३५८, ५६०
देवपुत्र शाहिशाहानुशाहि ५३
द्वैताद्वैत (३८) ३६०, ३६१
धर्मार्थ सभा ४२६, ४२७
धामपुर ५६८, ५६६
धार्मिक दशा (उन्नीसवीं सदी के मध्य में) १४७-१५६
नई शिक्षा १२३-४, २१७
नगीना ५६८
नजीबाबाद ५६६
नमक कानून ४१६
नवजागरण का स्वरूप और महत्त्व १५६

नवनीतक ७६
नाग-पारशिव वंश ५३
नाथ सम्प्रदाय ८८
नानक १०१
नानासाहब ६७५-८१, ७०१, ६८०, ६८१, ६८८
नायन्सार ८८
नारायण स्वामी ५७१
नारायणी ६१५
नाहरसिंह ३२३, ३२५, ३२६, ३४०, ५९५
नियोग ४९७, ४९२, ४९४, ४९५, ४९६,
निरवसित ४४०
निर्भयराम सेठ ५७५
निहालसिंह आर्य ६६६
नैरुक्त पद्धति २५३, ४०३, ६४६, ६४७
नोतोविच ६७६
पंचमहायज्ञ विधि २५८, ६६६
पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ६३१
पंजाब में आर्यसमाज की सफलता के कारण ३०७-१०, ७०५-७१७
पंजाब में आर्यसमाजों की स्थापना २९०-२९८
पठन-पाठन की विधि ४७५-४७८
पतंजलि ४७, ४३६, ४४०
परमहंस सभा २३७
परा विद्या ४०३, ६४७
परोपकारिणी सभा ३१३, ३१६, ३३९-४५
पाखण्ड-खण्डिनी पताका १७२, १९९, २०३
पारसी सुधार आन्दोलन १६४
पाशुपत सम्प्रदाय ४७
पेलिओ ७६
पुनर्विवाह ४९४
पुष्टिमार्ग ८९, २३८
पुष्पमित्र शुंग ४२, ४४
पूना २५२, २५४, २५५
पूर्णवर्मा ५९
पूर्णानन्द १९६, ६९६-७००
प्रवरसेन ५३-५४
प्रार्थना समाज १६४, २१७, २३७, २३८, २४१
फिरोजपुर ५९७-८
फर्रुखाबाद (२८) २७४-२७८, ५६६, ५७३
फूनान ५५
बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय १२८
बंगदर्शन २५६
बख्तावर सिंह ५७२
बम्बई आर्यसमाज २४५, ५२२
बम्बई आर्यसमाज के नियमों में संशोधन ६०५
बल्लभ सम्प्रदाय ८९, २५७, ३३८
बरमा ७३, ७४, ७५
बरेली शास्त्रार्थ ६३६
बस्तीराम ६००
बहुसुवर्णक यज्ञ ६०
बालविवाह ४८७-४९२, ४८८, ५२७
बाली ६१, ६६
बिजनौर जिले में आर्यसमाज ५६५, ५६७
बुद्ध ४०, ६२१, ६२२, ६५८
बोगज-कोई २६
बोरोबदूर ५८, ६७
बोर्नियो ६०
ब्राह्मसमाज १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १७७, १७८, २१६, २१९, २२४, ४२०, ४२१, ४८२, ५२६, ५३६, ६१८, ७१५-६ १६८-७०, ३३६-३७०
ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन ४१३
भक्ति मार्ग ७८, ८६
भद्रेश्वर शिव ७२
भवानीलाल भारतीय ६७७-८
भागवत खण्डनम् २०२, २०४, २५७, ६६७
भारत सुदशा प्रवर्तक ५७३, ५७५, ५७६, ५८५, ६३८
भ्रान्ति निवारण २६०, ३०६
मध्वाचार्य २९१
मनुस्मृति २०, ४३६, ४५६, ४६५, ५०४, ६११, ६५३

मरियम १८५७ के विद्रोह की कहानी ६६३
मसूदा ३२१, ३२२, ६६६
महात्मा मुंशीराम ३१६
महादेव गोविन्द रानाडे २५४, १५५, ५२४
महाराजा प्रतापसिंह ३२६
माधोप्रसाद ३५८, ३५६, ३६०, ३६२
मिर्जापुर आर्यसमाज ५६२, ५६३
मीमांसकोपसभा ५७७
मीर मिरासी ६६४-५
मुक्ति (मोक्ष) ४०७, ४०८, ४५७
मुरादाबाद ३१६, ५७७
मूर्ति पूजा ४५, ३८१, ३८२, ३८५, ३८६
मूलराज ३०१, ३०२
मेरठ आर्यसमाज ५५१, ६३६, ६४०
मैकाले ४८०
मैक्समूलर २८६
मोनियर विलियम्स ५५४
यशोधराश्रम ७०
यास्काचार्य ४०४
याज्ञवल्क्य स्मृति ४३६, ६१३
युधिष्ठिर ३३, ३४
योगाचार ८६
योगी का आत्मचरित्र १८८, ६७६, ६७६-
रमाबाई पण्डिता ३१८, ५३१, ५३२, ५३४
रहीम खाँ (डाक्टर) २६३
राजसूय ५१
राजस्थान में वैदिक धर्म का प्रचार ३२१
राजाराम मोहनराय १२३, १५८, १७७,
राजार्य सभा ४२६, ४२८
रामकृष्ण परमहंस १६६
रामगिरि गोसाईं ६६६
रामानन्द १००, १०४, ४४१, ६१५, ६३५
रामानुजाचार्य ३६०
राव युधिष्ठिरसिंह ५६६
राव राजा तेजसिंह ३२६
रावलपिण्डी २६७, ५६६
राष्ट्रीयता का स्वरूप ६८६-७
रिवाड़ी ३१३, ५६६
रुचिराम साहनी ७१५
रुड़की आर्यसमाज ५४८, ३१२, ३३०
रैदास १०१, ४४१, ४४२
रोहतक आर्यसमाज ६००
लक्ष्मीदत्त शास्त्री ६३६-६४०
लक्ष्मीबाई ६७७-८, ६८१
लखनऊ २७५, २८२, ३१८, ५८८
लाहौर आर्यसमाज २६१-६८, ६०७, ६३०
लुधियाना २६१
लेखराम १८८, १६१, ५१७, ५६४
लोकहितवादी ५२०
वज्रयान ८६, ८७
वर्णाश्रम-व्यवस्था ४४५-६, ६५५-७
वाजपेय ५१
वाम मार्ग ८५, ८८
वार्षिकोत्सव ६३८, ६३८
वाल्हिक (बल्ख) ५४, ६५, ८१, ८५
वासुदेव कृष्ण ३८, ४५
व्रात्यस्तोव ६६
विकासवाद ४००, ४०१
विजयनगर साम्राज्य ६६
विज्ञानवाद ३८६
विज्ञानेश्वर ४५६
विदेश यात्रा ५००-५०३
विद्यारण्य ६१३
विद्यार्थसभा ४२६, ४२७
विधवा विवाह १५८, ४६२, ४६३
वियतनाम ७१
विरजानन्द १६८, ६६४-७००, ७०३, ७०५
विलियम जोन्स ४७६-४८६, ४८०
विल्सन १५४, २८६
विवेकानन्द १६६, १६७
विशुद्धानन्द सरस्वती २०४
विष्णुध्वज (स्तम्भ) ५४, ८०
वीरसेन ५३
वेदान्तध्वान्तनिवारण २५७
वेद भाष्य २८२-२६०, ५१३, ५२२, ५४४,
वेदाङ्गप्रकाश ६६८

वैदिक यन्त्रालय ३१८, ३४४
वैष्णवधर्म ७२, ८१
व्यवहारभानु ६३१
व्रात्य ६१०
व्रात्यस्तोम ६१०
शंकराचार्य ३६०, ३६१ ३६२, ३६६
शक ७८, ८०, ६१०, ६११, ६१५
शास्त्रार्थ २११, २१२, २१३, २३३
शाहजहाँपुर ३१७, ५७२
शाहपुरा ३२६
शिक्षा २३३, ४४४, ४४६, ४६९
शिक्षापत्री ध्वान्तिनिवारण २५७, ६६७
शिवपद ५६
शुद्धि ९८, ५६२, ५६३, ६०९
शूद्र २३३, ४४४, ४५३, ४६६
शून्यवाद ३८९
शैलेन्द्र राजा ५८
शैव धर्म ४७, ७२, ८७
श्रद्धाराम ७१३-१५
श्यामजीकृष्ण वर्मा ५०७-५११, ५४१
श्रमण परम्परा ३३६
श्राद्ध ४०९
श्रीलंका ७४, ७५
श्रीविजय ५८, ५९
षट्कसम्पत्ति ४०७
षड्दर्शनों में समन्वय ३९२-३९६
संस्कार विधि २५८
संस्कृतवाक्य प्रबोध ६६८
सज्जनसिंह महाराणा ३२३, ३२४, ३४०
सतनामी सम्प्रदाय ६१५
सत्यपीर ६१५
सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण ६४९-६५३
सत्यार्थप्रकाश सर्वांगसम्पूर्ण ग्रन्थ ६५३
सनातन धर्म रक्षिणी सभा २९६, १६६
समर्थदान ३४४, ३५८, ५४० ५४१, ५४५
समाजवाद ४५०, ४५१, ४५४
सम्यक् संबुद्ध ८६
[illegible] १६५, २८०
सरस्वतीन्द्र जीवन चरित्र १८९, २७१
सहजानन्द ५६५-६, ५६७, ५६९, ६३३
सहारनपुर ३५८
सामाजिक दशा (उन्नीसवीं सदी में) १५६
सायणाचार्य २५५, २८९, ३९७-८, ६५४-७
सिपाही विद्रोह ६८०-८७
सीताराम बाबा ६८८, ७०२
सुन्दरलाल ३४४, ५५७
सुबोध पत्रिका २४०
सुवर्ण भूमि ५५
सूरजमल ११०
सेण्ट पीटर ६२४, ६२५
सेवकलाल कृष्णदास ६३०
सोरम की सर्वखाप पंचायत ६९४-९९
स्त्री शिक्षा ४४४, ४५८, ४६२, ५२६
स्वदेशी ४२०-४२३
स्वर्ग ४०८, ४०९
स्वाधीनता संग्राम का स्वरूप ६८०-७
स्वामी नारायण मत का खण्डन २५२
स्वीकार पत्र ३२५, २३९
सुराज व स्वराज्य ४१८, ४१९, ४२०
हरदोई ५७३
हरिद्वार १९६, २०२, ३१४, ३५८, ५४१,
५४२, ६७६, ६८०, ६९९ ७०१
हरिश्चन्द्र चिन्तामणि २८१, ३४९, ३५१,
३५३, ३५७, ५१२-१५, ५२४, ५३४,
५९१
हिन्दू कालिज १२४
हिन्दू धर्म में नई जागृति ९९
हिन्दू सभा २९२
हुगली शास्त्रार्थ ६६९
हेमचन्द्र चक्रवर्ती २२३
हेलियदोर ७८, ६१०
ह्यूम २८७
ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका २७५, ५०७,
४०४, ६४७
…की अज्ञात जीवनी ६७६